नाभाजी-कृत--

श्री भक्त माल

वृन्दावन

२०१७

प्रकाशक—
श्रीवियोगी विश्वेश्वर,
श्री अ० भा० श्रीनिम्बार्काचार्य-पीठ,
परशुरामपुरी, (सलेमाबाद)

कार्य-सम्वाहक—
ब्र० श्री नरहरिदास जी, निम्बार्काचार्य-पीठ

मुद्रक—
ला० छाजूरा
श्रीसं
श्रीनिकु

श्रीसर्वेश्वरो जयति

श्रीभक्तमाल

भक्ति-रस-बोधिनी-टीका

एवं

भक्ति-रसायनी व्याख्या सहित

व्याख्याकार—

श्रीरामकृष्णदेव गर्ग, एम. ए., शास्त्री

प्र० सम्पादक—

श्रीव्रजवल्लभशरण, वेदान्ताचार्य पञ्चतीर्थ

सम्पादक—

श्रीगोविन्द शर्मा एम. ए., शास्त्री

श्रीसूर्यकान्त गोस्वामी, प्रभाकर

सम्वत् २०१७ सन् १९६०

श्रीवृन्दावनधाम

अनन्त श्री विभूषित जगतगुरु श्री निम्बार्काचार्य
पीठाधिपति श्री श्री जी श्री राधा सर्वेश्वरशरण देवाचार्यजी महाराज
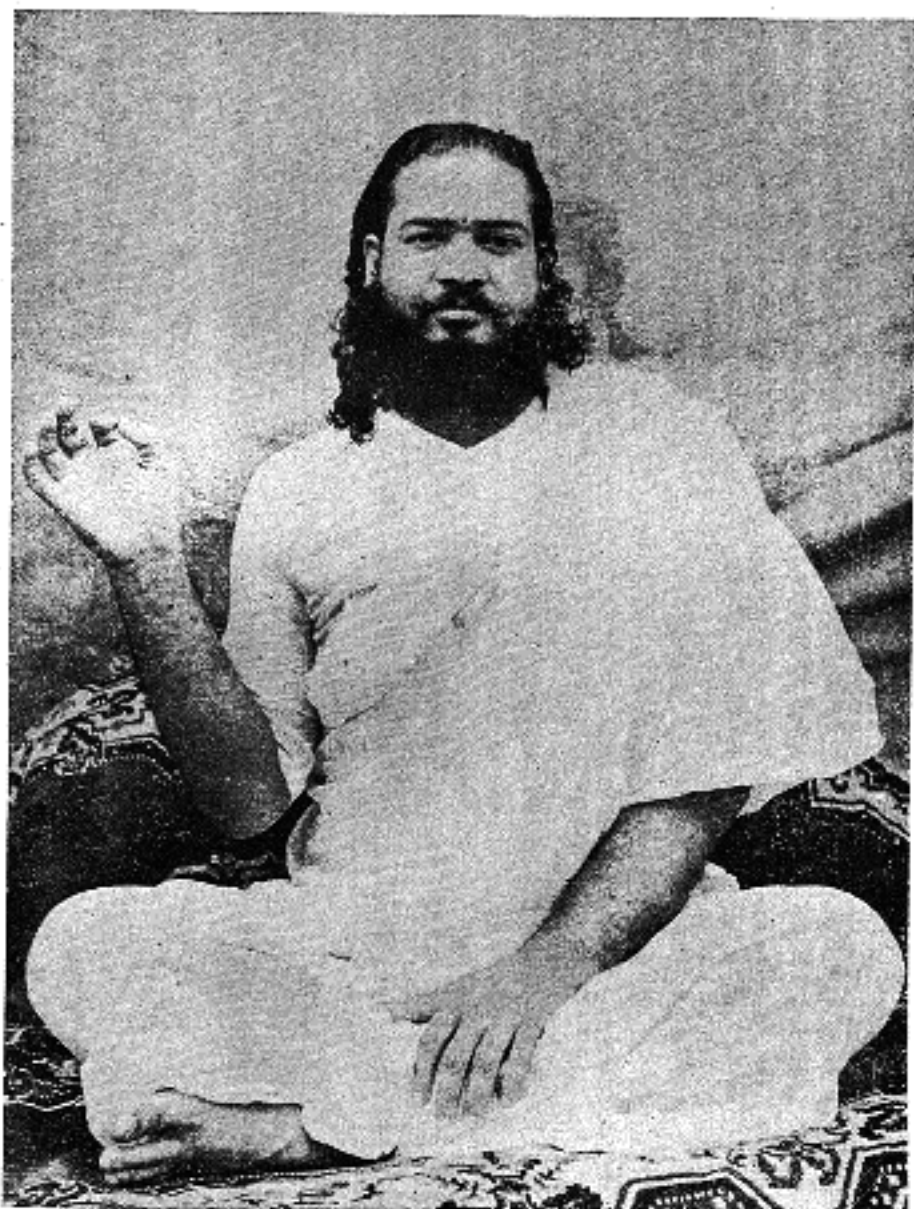
अ० भा० श्री निम्बार्काचार्य पीठ, परशुरामपुर (सलेमाबाद) राजस्थान

वैष्णव-जगत के जाज्वल्यमान रत्न अखिल-भारतीय श्रीनिम्बार्काचार्य-पीठाधिपति—

श्री श्रीजी श्रीराधासर्वेश्वरशरणदेवाचार्यजी महाराज

★

आचार्य श्री का आविर्भाव वैशाख शु० १ शुक्रवार, सम्वत् १९८६ वि० को हुआ था। भक्तिका अंकुर तो नैसर्गिक विद्यमान था ही, आषाढ़ शु० २ रविवार, वि० सम्वत् १९९७ में ११ वर्षकी अवस्थामें ही श्रीनिम्बार्काचार्य पीठाधिपति श्री श्रीजी श्रीबालकृष्णशरणदेवाचार्यजी महाराजसे आपने वैष्णव परम्परानुसार नैष्ठिक-दीक्षा ली। कुछ काल-उपरान्त श्रीगुरुदेवके परमधाम प्रवेशके बाद ज्येष्ठ शु० २ शनिवार वि० सं० २००० में अ० भा० श्रीनिम्बार्काचार्य-पीठपर आप विराजमान हुए। तदनन्तर वृन्दावनमें निवास करते हुए भजन-साधनके साथ-साथ अध्ययन किया। उस समय देख-रेख आदि की समुचित सुव्यवस्था चतु:सम्प्रदाय के श्रीमहन्त व्रजविदेही श्रीधनंजयदासजी (काठिया बाबा) ने बड़ी श्रद्धा एवं उत्साहसे की। यहाँ चार वर्ष निवास करनेके उपरान्त आप श्री ने कुछ दिन (कृष्णगढ़, रैनवाल) के गोलोकवासी महन्त श्रीराधिकादासजीके अनुरोधसे वहाँपर भी निवास किया। इसके बाद पुनः आचार्य-पीठ, सलेमाबाद, परशुरामपुरीमें विराजना हुआ।

श्रीपरशुरामदेवाचार्यजीने हिन्दू-धर्मपर आक्रमण करनेवाले 'सलीमशाह चिश्ती' का मान-मर्दन कर इस पुनीत स्थलकी स्थापना की थी। यहाँ रसिकवर जयदेवजीके संसेव्य श्रीराधामाधवके अद्भुत दर्शन हैं। श्रीआचार्य-पीठके परम्परागत संसेव्य भगवान् श्रीसर्वेश्वरका विग्रह अत्यन्त प्राचीन एवं सूक्ष्म है। लता-पताओंसे सुरम्य यह पुनीत स्थल दर्शनीय है।

श्रीसर्वेश्वर-प्रभुकी शृङ्गार एवं भोग-राग आदि सेवा आचार्यश्री स्वयं करते हैं। वहाँपर पीठारूढ़ होनेके बाद सतत यात्राओं द्वारा सम्पूर्ण भारतके कोने-कोने में वैष्णवता एवं भक्ति-भागीरथी की अजस्र-धाराको आपने प्रवाहित किया है। 'स्पेशल ट्रेन' द्वारा समस्त तीर्थोंकी यात्रा करते हुए धार्मिक जनताको दिव्य सन्देश दिया—उन्हें सच्चे एवं कल्याणकारी मार्गपर अग्रसर किया। इसी प्रकार प्रयाग, हरिद्वार, उज्जैन, नासिक आदि तीर्थोंमें आयोजित समस्त कुम्भों एवं अर्ध-कुम्भोंपर निम्बार्क-नगरका निर्माण कराकर कथा, कीर्तन, सत्संग, सन्त-सेवा, रासलीला, सदुपदेश, यज्ञ आदि के विशाल आयोजनों द्वारा जनता के सामने धर्मका आदर्श उपस्थित किया है। जिस किसी भी प्रान्त या नगरमें आचार्य श्री का पधारना हुआ, श्रद्धालु भावुक-भक्तोंकी भीड़ लग गई। समस्त धार्मिक एवं साहित्यिक तथा राष्ट्रके प्रगतिशील महानुभाव आपकी सरलता, सौम्यता, शान्ति-प्रियता, सच्चरित्रता आदि सद्गुणोंकी भूरि-भूरि प्रशंसा करते हैं। भारतीय संस्कृति एवं वैष्णव-धर्मके प्रचार-प्रसारमें सतत संलग्न आचार्य श्रीके द्वारा देशको एक नई जागृति एवं बहुतसे पथ-विभ्रान्त जनोंको मङ्गलमय सन्मार्गका अवलम्ब मिला है। आपके ही संरक्षण में प्रकाशित "श्रीसर्वेश्वर" गत सात वर्षों से जनता-जनार्दन की सेवा करता आ रहा है।

अपनी बात

★

भक्तिके क्षेत्रमें जितना महत्त्व भगवद्-गुणानुवाद का है उससे भी अधिक महत्त्व भगवानके परम प्रिय भक्तोंकी पुनीत गाथाओंके पठन, श्रवण एवं मनन का है। श्रीध्रुवदासजीने कहा है—

हरिको निज जसतें अधिक, भक्तन जसपर प्यार।

श्रीमद्भागवतमें भी कहा है—

या निर्वृतिस्तनुभृतां तव पाद-पद्मध्यानाद्भवज्जनकथाश्रवणेन वा स्यात्।
सा ब्रह्मणि स्वमहिमन्यपि नाथ मा भूत् किं त्वन्तकासिलुलितात्पततां विमानात् ॥

—नाथ आपके चरण-कमलोंका ध्यान करनेसे और आपके भक्तोंके पवित्र चरित्र सुननेसे प्राणियोंको जो आनन्द प्राप्त होता है, वह निजानन्द-स्वरूप ब्रह्ममें भी नहीं मिल सकता, फिर जिन्हें कालकी तलवार काटे डालती है, उन स्वर्गीय विमानोंसे गिरनेवाले पुरुषोंको तो वह सुख मिल ही कैसे सकता है ?

इन भक्तों द्वारा संसारके भूले-भटके प्राणियोंको सन्मार्गपर चलनेका सत्संकेत निरन्तर प्राप्त होता रहा है। धन्य हैं ये प्रातःस्मरणीय महानुभाव जिन्होंने अपने आपको मनसा, वाचा, कर्मणा प्रभुको समर्पित कर दिया है। भक्तिके गगनमें चमकती हुई इन भक्तोंकी नक्षत्र-मण्डलीका जब दर्शन होता है तो अनजाने ही मन एक अपूर्व आनन्दसे भर जाता है और उसे प्रभुकी अहैतुकी कृपामें विश्वास होने लगता है।

इन भुवन-वन्द्य भक्तोंकी पुनीत गाथाएँ अनादिकालसे विश्वके इतिहासमें गाई जारही हैं और अनन्तकाल तक गाई जाती रहेंगी। इन दिव्य विभूतियोंके पावन सन्देश, अनुपम त्याग, अद्वितीय तितिक्षा, पुनीत क्रिया-कलापों एवं आदर्श चरित्रोंका समस्त विश्व चिरकाल तक ऋणी रहेगा। लोक-कल्याणके लिए उनका आदर्श कितना स्तुत्य था ! वस्तुतः उनका एक-मात्र यही लक्ष्य था—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत् ॥

—सब सुखी हों, सब नीरोग हों, सबका कल्याण हो, कोई भी दुःखका भागी न बने।

कितनी पवित्र दृष्टि थी इन महानुभावों की ! इनके लिए संसारके समस्त प्राणी समान थे। इन्हें न तो जाति-कुलका अभिमान था, न अपने-पराएका ज्ञान। भगवद्भक्तिसे युक्त श्वपच और चाण्डाल भी इनकी दृष्टिमें पूज्य और श्रद्धास्पद थे। उनके यह विचार मानव-जगत् तक ही सीमित नहीं थे, खग-मृग, जड़-चेतन, चर-अचर—समस्त सृष्टि-मात्रके प्रति उनकी यह मङ्गलाकांक्षा और उदात्तभावना समान थी—

किरात-हूणान्ध्र-पुलिन्द-पुल्कसा आभीर-कंका यवना खसादयः।
येऽन्ये च पापा यदुपाश्रयाश्रयाः शुध्यन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नमः ॥

(श्रीमद्भागवत, स्क० २, अ० ४, श्लो० १८)

इन दिव्य विभूतियोंने संसारके किसी एक भागमें या किसी समय विशेषमें अवतार ग्रहण किया हो, ऐसी बात नहीं है। ये महापुरुष तो विश्वके प्रत्येक कोनेमें, प्रत्येक जातिमें, प्रत्येक कालमें और प्रत्येक वर्गमें अवतीर्ण हुए तथा जीव-मात्रके कल्याणमें जुट गए। अपनेसे द्वेष करने वालोंपर भी इन्होंने कृपाकी वर्षा की, भटकते हुए प्राणियोंको मार्ग दिखाया, भूले हुए मनुष्योंका पथ प्रशस्त किया और अज्ञानान्धकारमें भ्रमित मानवको दिव्य-ज्योति प्रदान की। संसारकी कैसी भी, किसी भी यातनासे संत्रस्त मानवको उनकी सद्भक्तिसे परमानन्द प्राप्त हुआ, उनके चरणोंका आश्रय लेनेपर पूर्ण शान्ति मिली।

केवल इतना ही नहीं, इन भक्तोंका राष्ट्रहितमें भी पूर्ण योगदान था। चरित्र-निर्माणका पूर्ण ध्यान रखते हुए उन्होंने गम्भीरता-पूर्वक विचारकर सर्वलोक और सर्वकाल-व्यापी सद्धर्मका निरूपण किया, विश्व विधानकी रचना की और मानव-संस्कृतिके समक्ष एक शाश्वत, चिरन्तन और दिव्य मङ्गलमय मार्गका उद्घाटन किया। श्रुति-स्मृति-पुराण-उपनिषद् और गीता, महाभारत, रामायण आदिके अतिरिक्त अनेक नीति-शास्त्र और न्याय-शास्त्रोंकी रचना इन्होंने की। श्रीनिम्बार्क, श्रीरामानुज, श्रीरामानन्द, श्रीविष्णुस्वामी, श्रीमध्व, श्रीभट्ट, श्रीहरिव्यास, श्रीचैतन्य, श्रीस्वामी हरिदास, श्रीहितहरिवंश, गोस्वामी रूप और सनातन, श्रीसूरदास, श्रीतुलसीदास, मीराँबाई, कबीर आदिकी उदात्त भावनाएँ और परम पवित्र विचार क्या लोक-मङ्गलमें कम सहयोगी हुए हैं? इनके उपकारोंका युगयुगान्तर तक मानव-समाज ऋणी रहेगा।

ये भक्त-गण संसारमें रहते हुए भी कमल-पत्रके समान सदैव सांसारिकतासे दूर रहे। संसारकी मिथ्या चमक-दमकमें कभी भी ये अपना मार्ग नहीं भूले। काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह, मात्सर्य आदि प्रबल शत्रुओंका तो भगवच्चरणाश्रयी इन महानुभावोंपर प्रभाव हो ही कैसे सकता था, जबकि स्वर्ग और मोक्ष का आकर्षण भी प्रभु-चरणारविन्दके सामने इन्हें हलाहलके समान स्वादहीन और त्याज्य था। जैसाकि श्रीवृन्दावनके रसिक-भक्त श्रीनारायण स्वामीजीने कहा है—

> **ब्रह्मादिक के भोग सुख, विषसम लागत ताहि।**
> **'नारायण' ब्रजचन्द्र की लगन लगी है जाहि॥**

इन भक्तोंने स्वयं तो संसार-सागरको पार करके, शाश्वत सुख प्राप्त किया ही, साथ ही अन्य लोगोंके लिए भी भक्तिका ऐसा पुल निर्माण कर दिया जिसके द्वारा अद्यावधि समस्त प्राणी उस परमानन्दको प्राप्त कर रहे हैं और भविष्यमें अनन्तकाल तक करते रहेंगे। श्रीमद्भागवतमें भगवानकी स्तुति करते हुए देवगण कहते हैं—

> **स्वयं समुत्तीर्य सुदुस्तरं द्युमन्, भवार्णवं भीममदभ्रसौहृदाः।**
> **भवत्पदाम्भोरुहनावमत्र ते, निधाय याताः सदनुग्रहो भवान्॥**

(श्रीमद्भागवत, स्क० १०, अ० २, श्लोक ३१)

इतना ही नहीं, अनन्तकोटि ब्रह्माण्डनायक स्वयं श्रीहरि भी भक्तोंके पीछे-पीछे लगे फिरते हैं एवं उनके चरणोंकी रजके स्पर्शसे अपने आपको परम पवित्र मानते हैं—

> **निरपेक्षं मुनिं शान्तं निर्वैरं समदर्शिनम्।**
> **अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यङ्घ्रि – रेणुभिः॥**

(श्रीमद्भागवत, स्कं० ११, अ० १४, श्लोक १६)

भगवानको भक्त बहुत प्यारे लगते हैं। ब्रह्मा, शङ्कर, सगेभाई बलराम और साक्षात् श्रीलक्ष्मीजी उन्हें इतनी प्रिय नहीं हैं जितने ये भक्तगण—

> **न तथा मे प्रियतम आत्मयोनिर्न शङ्करः।**
> **न च संकर्षणो न श्रीर्नैवात्मा च यथा भवान्॥**

(श्रीमद्भागवत, स्कं० ११, अ० १४, श्लो० १५)

श्रीनाभाजी महाराजने भक्तोंके इन्हीं पवित्र चरित्र-रूपी सुमनोंका गुम्फन करके भक्तमालकी रचना की है। इस सरस-सौरभमयी, विचित्र सुमन-मालिकाको श्रीयुगल-सरकार निरन्तर अपने श्रीकण्ठमें धारण किए रहते हैं।

भगवान भक्तमालकी कथा बड़े ध्यानसे सुनते हैं। इस संबन्धमें एक अत्यन्त सरस प्रसंग देखिए—

एक बार जयपुरके गोविन्ददेवजीके मन्दिरमें कामवन-निवासी श्रीगोवर्धनदासजी पधारे। ये

श्रीप्रियादासजीके परम मित्र थे। गोविन्ददेवजीके पुजारी श्रीराधारमणदासजी एवं अन्य लोगोंने इनसे भक्तमालकी कथा कहनेका आग्रह किया और इन्होंने कहना आरम्भ कर दिया।

अभी कथा सम्पूर्ण न हो पाई थी कि श्रीगोवर्धनदासजीको किसी विशेष कार्यवश सांभर जाना पड़ा। कुछ दिन पश्चात् जब वे लौटे और कथा कहना पुनः प्रारम्भ किया तो यह भूल गए कि पहले किस स्थान पर कथाको विश्राम कराया था। उन्होंने सब लोगोंसे पूछा—'किसीको पता है, कथा कहाँ तक हुई थी?' श्रोताओंने उत्तर दिया—'हम तो घरके काम-काजमें ऐसे लगे रहते हैं कि कुछ ध्यान ही नहीं रहता।'

इतने ही में श्रीगोविन्ददेवजी मन्दिरमें-से बोल उठे—"उस दिन रैदासजीके चरित्रपर कथाका विश्राम हुआ था। हम तो नित्य-प्रति आगे बैठकर सुनते रहते हैं।"

श्रीगोविन्ददेवजीके श्रीमुखसे यह बात सुनकर श्रोताओंको परम हर्ष हुआ और कथामें सबकी निष्ठा दृढ़ हो गई।

वास्तवमें यह भक्तमाल भक्तोंका वह सचल मन्दिर है जिसमें भावुकजन भक्त, भक्ति, भगवान और गुरु—चारोंके दर्शन एक ही स्थानपर कर सकते हैं। यह वह अलौकिक कल्पवृक्ष है जिसके आश्रयमें आकर किसीको भी निराश नहीं लौटना पड़ता है, यह वह परमपावनी मन्दाकिनी है जिसमें अवगाहन कर अनादिकालसे असंख्य जन चिरशान्ति लाभ करते चले आरहे हैं।

प्रस्तुत भक्तमाल अपनी कतिपय विशेषताओंको लेकर प्रकाशित हुआ है। इसके सम्पादनमें इस बात का पूर्ण ध्यान रखा गया है कि एक ओर जहाँ यह विद्वत्समाजके लिए उपादेय हो, वहाँ दूसरी ओर कम पढ़े-लिखे बाल-वृद्ध, नर-नारी आदि भक्त-वृन्दोंके लिए भी उपयोगी सिद्ध हो सके। इसमें भाषाकी सरलता, सरसताका पुट, कथाओंका नियोजन एवं सम्वादोंका आकर्षण भक्तोंको प्रेमके पवित्र लोककी सुख-दायक यात्रा करानेमें पूर्ण समर्थ होगा। जहाँ प्रेम ही साध्य है और प्रेम ही साधन, जहाँ सच्चे प्रेमको देख कर श्रीहरि गुण-अवगुणोंपर ध्यान दिए बिना ही कृपा करनेको दौड़ पड़ते हैं, जहाँ समस्त आडम्बरोंसे रहित होकर भक्त सत्य, शुद्ध और निष्काम भावनासे इष्टकी अनन्य उपासनामें तत्पर रहता है उस पवित्र भक्तमालको जो पढ़ेंगे, संग्रह करेंगे उन्हें पूर्ण आत्म-सन्तोष मिलेगा।

इसके प्रकाशनमें बहुत-सी समस्याएँ सामने उपस्थित हुईं। उन सबके परिहारमें श्री भक्तवर रामजीलालजीने सब प्रकारका योग दिया और इस कार्यको सम्पन्न कराया। यह कहना असंगत न होगा कि इस भक्त-परिवार पर श्रीबिहारीजी महाराजकी पूर्ण कृपा है, जिन्होंने अपनी छत्र-छायामें इस परिवारको आवास दिया है और इसके द्वारा अनेकों आदर्श सेवाएँ श्रीव्रज-वृन्दावनमें करा रहे हैं। श्रीरामजीलालजीके भतीजे बा. हरगूलालजी तो धार्मिक-जगतकी एक विभूति ही हैं। आपने श्यामा-श्यामकी इस पुनीत क्रीडास्थलीमें निरन्तर निवास करते हुए सेवाके लिए ही अपना सब कुछ अर्पण कर रक्खा है। इनसे प्रेरणा लेकर अनेक श्रद्धालु धनिक परिवार भी यहाँ निवास कर रहे हैं और उनके द्वारा इस व्रज प्रदेशमें बहुत-सी सेवायें हो रही हैं। इनके लिए क्या कहा जाय, इनका तो यह कार्य ही है।

प्रस्तुत ग्रंथके टीकाकार वृन्दावन-निवासी श्रीरामकृष्णदेव गर्ग, एम० ए० शास्त्री हिन्दी एवं संस्कृत-भाषाके सिद्धहस्त लेखक, कुशल कहानीकार तथा निष्पक्ष आलोचक हैं। आपने बड़ी तत्परता, लगन एवं परिश्रमसे प्रस्तुत कार्यको पूर्ण किया है। सरल, सरस और चलती भाषाका प्रयोग आपने इसीलिए किया है कि यह ग्रन्थ सामान्य पढ़े-लिखे पाठक-गण एवं विद्वद्-वर्ग—सभीके लिए लाभ-प्रद हो सके। टीकाके अतिरिक्त श्रीगर्गजीने ग्रंथ-सम्पादन एवं संशोधनमें भी पूर्ण योग दिया है। इस पुनीत कार्यके लिए हम उनके चिरकृतज्ञ हैं।

इस ग्रन्थके शोधकार्यके लिए ग्रन्थोंकी बृहद् राशि एकत्रित करनेमें सबसे बड़ा योग श्रीउदयशंकरजी शास्त्री (हिन्दी-विद्यापीठ, आगरा विश्वविद्यालय) ने दिया है। आपने केवल अपने निजी संग्रहसे ही नहीं

अपितु अन्यान्य प्रसिद्ध पुरातत्त्व संग्रहालयों एवं पुस्तकालयोंसे प्रामाणिक चित्र एवं ग्रन्थ-सम्बन्धी सभी प्रकारका सहयोग प्रदान किया है। इस सम्बन्धमें यदि यों कहा जाय कि आपकी इस सहायताके बिना ग्रन्थका इतने सुन्दर रूपमें निकलना सर्वथा असम्भव था तो कोई अतिशयोक्ति न होगी। शास्त्रीजीके इस पुनीत कार्यके लिए हम हृदयसे आभारी हैं। साहित्यिक क्षेत्रमें आज ऐसे ही कार्यशील, उदारचेता महानुभावोंकी आवश्यकता है।

इस ग्रंथको उपादेय बनानेमें श्रीवृन्दावन-निवासी स्वनामधन्य पं० जगन्नाथप्रसादजी भक्तमाली, बाबा श्रीसर्वेश्वरदासजी (काठिया) एवं श्रीसुरेन्द्र शर्मा, एम० ए० शास्त्रीके जो अमूल्य सुझाव प्राप्त हुए हैं उनके लिए हम इन महानुभावोंके चिरकृतज्ञ हैं।

उपर्युक्त महानुभावोंके अतिरिक्त बाबा श्रीमाधुरीदासजी, (संचालक—निम्बार्क-महाविद्यालय, वृन्दावन), बन्धुवर महन्त श्रीसर्वेश्वरदासजी (दतिया), पं. श्रीसीतारामजी चिड़ावावाले (वृन्दावन) लक्ष्मीनारायणजी लुधियानेवाले, नारायणदासजी बेरीवाले (निम्बार्क-कम्पनी, कानपुर), ला० छाबूरामजी रानीलावाले, वृन्दावन), लाला ओंकारमलजी (मुनीम—सेठ हरगूलालजी, वृन्दावन) आदि महानुभावों के द्वारा भी हमें इस कार्यमें प्रोत्साहन एवं सहयोग मिलता रहा है। हम इन सभी महानुभावोंके आभारी हैं।

इस प्रकारके पुनीत कार्योंमें लाला श्रीनानूरामजी बेरीवाले सदा-सर्वदासे सक्रिय सहयोग देकर हमें प्रोत्साहित करते चले आरहे हैं। इस ग्रन्थके प्रकाशनमें भी आपने पर्याप्त सहायता प्रदान की है। आप धार्मिक युवक-समाजके गौरव हैं। आपकी सेवा-कार्यमें परम्परागत सुदृढ़ निष्ठा है। श्रीविहारीजी महाराजसे प्रार्थना है कि आपकी यह निष्ठा उत्तरोत्तर अभिवृद्धि को प्राप्त होती रहे।

ला० श्रीनानूरामजीकी प्रेरणासे ही वाराणसी-निवासी श्रीलक्ष्मीनारायणजी पोद्दारने भी इस ग्रंथके प्रकाशनमें उदारतापूर्ण सहयोग दिया है।

प्रस्तुत ग्रंथमें सभी महानुभावोंका उत्कर्ष ही वर्णन किया गया है, फिर भी प्रमाद या असावधानी वश कहीं कोई त्रुटि आगई हो तो उसके लिए सन्त-जन एवं विज्ञ पाठक हमें क्षमा करेंगे।

यद्यपि प्रूफ आदि पर समुचित ध्यान दिया गया है, फिर भी अशुद्धियां रह जाना स्वाभाविक है। पाठक महानुभाव उन्हें सुधार लें। ग्रन्थमें जो कुछ विशेषता है वह प्रातःस्मरणीय भक्तोंकी पुनीत कृपाका ही प्रसाद है और जो त्रुटियाँ हैं वे हमारी असावधानी और प्रमादके कारण हैं, अतः उन सबके लिए एक बार पुनः क्षमा प्रार्थना करते हुए अखिल-रसामृत-सिन्धु श्रीनिकुञ्जविहारीके श्रीचरणोंमें यही निवेदन है कि—

तुम पं बात सबं बनि आवै, तुम ही लेहु सुधारि।
जो कछु करो होय पुनि सोई, कुंजबिहारिनि चारि॥

विनीत—
विश्वेश्वर शरण

अक्षयतृतीया, [illegible] ७।

भूमिका

★

भक्त-महिमा पर लिखनेकी प्रवृत्ति—

विश्वके वाङ्मयमें वेदोंका स्थान सर्व-प्रथम है, इस बातको संसारके सभी विद्वान् स्वीकार कर चुके हैं। वेदोंमें भी ऋग्वेदका प्राचीनताकी दृष्टिसे समीक्षक विद्वान् विशेष आदर करते हैं। ऋग्वेदमें यद्यपि अनेकों विषयोंका प्रतिपादन किया गया है तथापि भगवत्-तत्त्व, उसकी उपासना (भक्ति), उसके उपदेशक (गुरु) एवं उसके उपासक (भक्त)—इन चारोंके वर्णनमें ही मुख्यतया वह पर्यवसित है।

भग भक्तस्य ते वयमुदशेम तवावसा, मूर्धानं राय आरभे। ऋग्वेद ।१।२।१३

साधुर्नगृध्नुरस्तेव शूरो यातेव भीमस्त्वेष समत्सु। ऋग्वेद ।१।५।१४

इस प्रकारके मन्त्रोंमें 'भक्त' और 'साधु' इन शब्दोंका उल्लेख है। प्रत्येक शब्द अनेकार्थक होता है, अतः भाष्यकार और टीकाकार प्रसंगानुसार उसका अभीष्ट अर्थ अपनाते हैं। यहाँ भी 'भक्त' और 'साधु' शब्दोंकी यही स्थिति समझनी चाहिये। तथापि 'सिद्ध' और 'सच्चरित्र' आदि अर्थ इन शब्दोंमें सन्निहित है; वह कभी भी व्यभिचरित नहीं होता।

वासयसीव वेधसस्त्वन्नः कदान इन्द्रवचसोबुबोधः। ऋ० ५।४।१४

मानो अग्ने चीर ते परादा दुर्वाससे०। ऋ० ५।१।२६

विद्वद्वर श्रीनीलकण्ठने इन मन्त्रोंका क्रमशः द्रौपदी-चीर-हरण और दुर्वासाके शापसे पाण्डवोंकी रक्षारूप 'भक्त-गाथा-परक' अर्थ किया है।

इन मन्त्रोंमें वस्तुतः पाण्डव-गाथा सिद्ध होनेपर भी वेदोंमें अर्वाचीनताकी आशंका नहीं की जा सकती, क्योंकि "सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्०" इस निर्णयके अनुसार पूर्व कल्पोंमें भी पाण्डव आदि भक्तोंकी स्थिति सिद्ध होती है।

ऋग्वेदमें भक्तोंकी महिमाको सूक्ष्म-रूपसे प्रकट करनेवाले अनेक मन्त्र हैं। वशिष्ठ, विश्वामित्र आदि भक्त एवं ऋषि-महर्षियोंका उल्लेख तथा सूक्ष्म परिचय यजुर्वेद आदि वेदों एवं शतपथ आदि ब्राह्मण-ग्रन्थोंमें अनेक स्थलोंपर मिलता है।

इसी प्रकार गार्गी, अजातशत्रु, याज्ञवल्क्य, मैत्रेयी, आश्वल, आर्तभाग, उषस्त, कहोल, उद्दालक, शाकल्य, रैक्व, गुरुभक्त सत्यकाम, औपमन्यव, सत्ययज्ञ, इन्द्रद्युम्न, जनक, बुडिल, कैकेय, सनकादिक, नारद, नचिकेता, पिप्पलाद आदि अनेकों भक्तोंके आख्यान छान्दोग्य, कठ, प्रश्न आदि उपनिषदोंमें भरे पड़े हैं।

पुराणोंमें तो भक्ति, भक्त, गुरु और भगवान्—इनका विस्तृत वर्णन है ही। यद्यपि पुराणोंका लक्षण सर्ग, विसर्ग आदि दस एवं पाँच विषयोंका प्रतिपादन करना ही माना जाता है, तथापि उन सबका अन्तर्भाव भक्ति, भक्त, भगवान् और गुरु—इन चारोंमें ही हो सकता है। वस्तुतः पुराण आदि समस्त शास्त्रोंका मुख्य प्रतिपाद्य विषय भगवत्-तत्त्व ही है; किन्तु उसका प्रतिपादन भक्ति, भक्त एवं उसके उपदेशकोंका प्रतिपादन किए बिना पूर्ण हो ही नहीं सकता; क्योंकि भगवान्के गुण-स्वरूप-लीला आदिके वर्णन करनेमें इन सबका वर्णन भी पूर्ण अपेक्षित है।

पुराणोंमें जो दुष्ट-दुराचारी असुरोंकी चर्चा मिलती है वह उनका मुख्य वर्ण्य विषय नहीं है, अपितु सदाचारी साधु-भक्तोंकी विशेषता बतलानेके उद्देश्यसे ही उनका संकलन किया गया है। जहाँ भक्त और भगवान्‌का नामोल्लेख है वहाँ उन दोनोंके सम्पर्कको स्थापित करनेवाले उपदेशक (गुरु) और भक्ति इन दोनोंकी उपस्थिति स्वतःसिद्ध है।

महापुराणोंमें भक्तोंके सम्बन्धकी सबसे अधिक चर्चा श्रीमद्भागवतमें पाई जाती है और यही कारण है कि इसको सबसे अधिक प्रतिष्ठा प्राप्त हुई है। शौनकादि ऋषिगण, परीक्षित, जनमेजय, शुक, कुन्ती, द्रौपदी, ध्रुव, पृथु, नारद, प्रचेता, प्रियव्रत, ऋषभ, भरत, अजामील, चित्रकेतु, प्रह्लाद, मन्वन्तर, गजेन्द्र, दुर्वासा, धन्वन्तरि, कश्यप, बलि, नृग, च्यवन, अम्बरीष, हरिश्चन्द्र, विश्वामित्र, कपिल, खट्वाङ्ग, गाधि, परशुराम, नहुष, ययाति, पुरु, यदु, रंतिदेव, वसुदेव, देवकी, नन्द, यशोदा, गर्ग, गोप, गोपी, यज्ञपत्नी, अक्रूर, कुब्जा मुचुकुन्द, जाम्बवान्, रुक्मिणी आदि अष्ट महिषियाँ, उद्धव, भृगु, निमि, जायन्त, द्रुमिल, चमस, करभाजन, ऐल, याज्ञवल्क्य, भरद्वाज, मार्कण्डेय आदि अनेक भक्तोंके सरस चरित्रोंसे यह महापुराण परिपूर्ण है।

श्रीराम-कथा-रूप वाल्मीकीय रामायण और महाभारत यद्यपि ऐतिहासिक ग्रन्थ माने जाते हैं और उनमें राजवंश एवं उनके पारस्परिक युद्ध, जय, पराजय आदि का उल्लेख ही विशेष रूपसे मिलता है, तथापि भक्तोंके चरित्रोंसे वे रिक्त नहीं। उनमें भी विभीषण आदि सैकड़ों भक्तोंकी गाथाएँ मिलती हैं। इस लिए निश्चित रूपसे प्रस्तुत श्रीभक्तमालके रचयिताकी प्रवृत्तिमें उपर्युक्त वेद-पुराण आदि सभी शास्त्र प्रेरक कहे जा सकते हैं।

अरबी आदि भाषाओंके भक्तमाल—

अरबी भाषाके ग्रन्थोंमें 'कुरान' कितना प्राचीन है, इस सम्बन्धमें विद्वानोंका परस्पर मतभेद हो सकता है, किन्तु इसलाम-धर्मका यह सर्वमान्य धार्मिक ग्रन्थ है, इसमें किसीको सन्देह नहीं। उसकी रचनाके सम्बन्धमें भी इतना कहना तो असंगत न होगा कि आजसे तेरह सौ वर्ष पूर्ववर्ती मुहम्मद साहबके समयमें या उनसे भी कुछ काल पूर्व कुरानका निर्माण हुआ होगा। कुरानमें भक्तोंकी महिमाका उल्लेख मिलता है, इस सम्बन्धमें तपस्वी जुनैदके एक वचनका भाव यहाँ उद्धृत किया जाता है—

"ईश्वरके बन्दोंकी कथा-वार्ता तो ऐसा-साधारण लश्कर है, जो दुर्बलको बलवान् और निराश को आशावान् बनाता है। 'कुरान शरीफ' में भी कहा है कि ऐ मुहम्मद! तुम्हारे आगे पूर्व-कालके साधु-सन्तोंका वर्णन इस लिए किया जाता है कि तुम्हारा मन बलवान् आशान्वित और तेजस्वी बने।"‡

मुहम्मद साहबके समकालीन सन्तोंके चरित्रोंपर अरबी भाषामें 'तज़्किरतुल औलिया' आदि पुस्तकें लिखी गई थीं। इसके लेखकने इस ग्रन्थको लिखनेमें 'शरहुल कल्ब', 'कश्फुल असरार', और 'मारफतुलनफ्स परंव'—इन तीन पुस्तकोंका आधार लिया था।

उपर्युक्त 'तजकर तुल औलिया' का भारतमें 'तापस-माला' के नामसे बंगला भाषामें अनुवाद हुआ था। बादमें 'मुस्लिम महात्माओ' नामक गुजराती भाषाकी पुस्तक लिखी गई। उन्हींका हिंदी अनुवाद श्रीगोपाल नेवटियाने किया जो 'मुस्लिम-सन्तोंके चरित' नामसे वि० सं० १९९१ में प्रकाशित हुआ। उसके प्रथम भागमें तीस सन्तोंके चरित्र हैं। हिन्दी-अनुवादकने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि

‡ मुस्लिम सन्तोंके चरित (पहिला संस्करण) आरम्भिक पृष्ठ।

इस पुस्तकमें वर्णित चरित्र काल्पनिक नहीं हैं, अपितु ऐतिहासिक हैं। उस पुस्तकमें 'आविस' नामक एक सन्तका चरित्र आया है। इन आविसको मुहम्मद साहबका समकालीन बतलाया गया है।[1] 'जाफ़र सादिक' नामक भक्त तो मुहम्मद साहबके दौहित्र ही थे।[2]

'तज़करतुल औलिया' के आरम्भिक सन्दर्भका निम्नलिखित अंश भक्तोंकी महिमाके सम्बन्धमें विशेष महत्त्वपूर्ण है—

"धर्मात्मा महापुरुषोंकी जीवन-कथाओंके समान उपकारक वस्तु इस संसारमें और कोई नहीं। इन तपस्वियोंके उपदेश भी उनके अनुभवोंके फल-स्वरूप ही होते हैं।"

इसी प्रकार मिश्र, ईराक, इङ्गलैण्ड आदि देशोंमें भक्त-महिमापर प्राचीन एवं अर्वाचीन कथाएँ उपलब्ध होती हैं। क्रिश्चियन, पारसी आदि धर्मोंके संस्थापक ईसामसीह, जरथुस्त्र आदि धार्मिकोंकी गणना भी भक्तोंकी कोटिमें ही की गई है। अतः उनके इति-वृत्तोंको भी भक्त-चरित्रोंके अन्तर्गत ही माना जा सकता है।

इस प्रकारका प्रवाह सभी देश और और सभी भाषाओंमें किसी न किसी रूपसे चलता आया है जो उत्तरवर्ती रचनाकारोंको ऐसी रचनाओंके लिए उत्साही एवं प्रेरित करता रहा है।

नाभाजीसे पूर्व हिन्दी-रचनाकारों की वाणियोंमें भक्त-महिमाका उल्लेख—

समीक्षक विद्वानोंकी दृष्टिसे वि० सं० ७०० से १३४४ तक हिन्दी-साहित्यका पूर्वारंभिक काल माना जाता है। उसके पश्चात् १४४४ तक उत्तरारंभिक और १५६० तक पूर्वमाध्यमिक काल माना गया है। तदनन्तर १६८० तक प्रौढ़माध्यमिक काल कहलाता है; क्योंकि इस (१२० वर्ष के) समयकी रचनाएँ पर्याप्त मात्रामें प्राप्त होती हैं। १६८१ से १७९० तक के समयको पूर्वालंकृत और १७९१ से १८८९ के मध्यवर्ती समयको उत्तरालंकृत काल माना है।[3]

भक्तमाल के रचना-कालके सम्बन्धमें आगे विचार किया जायगा। यहाँ इतना ही दिग्दर्शन करा देना अपेक्षित है कि पूर्वमाध्यमिक कालकी हिन्दी रचनाओंमें भी भक्ति-साहित्य प्रचुर मात्रामें उपलब्ध होता है। भक्तमालकारको उससे अवश्य प्रेरणा प्राप्त हुई थी।

भक्तमालमें वर्णित महानुभावोंमें श्रीपरशुरामदेवाचार्य कृत 'परशुराम सागर' और श्रीहरिरामजी रचित 'व्यासवाणी' इन दोनों ग्रन्थोंमें कुछ भक्तोंका सुयश मिलता है। यह तो निश्चित ही है कि श्रीपरशुराम-देवाचार्यजी हरिराम व्यासजीसे पूर्ववर्ती थे। यही कारण है कि 'परशुराम-सागर' की अपेक्षा 'व्यासवाणी' में श्रीरूपसनातनजी, श्रीप्रबोधानन्दजी, श्रीहितहरिवंशजी, श्रीस्वामी हरिदासजी, श्रीबिहारिनिदासजी आदि महानुभावोंके नाम अधिक मिलते हैं। किन्तु इन दोनों ही रचना-कारोंने कोई स्वतन्त्र भक्त-नामावली नहीं लिखी और भक्तोंका जो वर्णन किया गया है वह भी बहुत संक्षेप में है।

श्रीरामानन्द स्वामीकी परम्परामें अनन्तानन्दजीका नाम इस सम्बन्धमें विशेष उल्लेखनीय है। उन्होंने स्वतन्त्र-रूपसे कुछ भक्तोंकी "परिचइयाँ" बनाई हैं। उनका रचना-काल सम्वत् १६५७ माना जाता है।[4]

१—तु०सं०च० पृ० ६। २—वही पृ० १। ३—मिश्र-बन्धु-विनोद, प्रथम भाग, पृ० २०, २१। ४—वही पृ० ३६२ सं० २०३।

श्रीरामानन्द स्वामीके शिष्योंमें अनन्तानन्दजीका नाम सर्वप्रथम लिया जाता है और श्रीरामानन्दजीका समय १३५६ से १४६७ तक माना गया है।* इससे यह सम्भावना होती है कि "परिचइयों" के लेखक 'अनन्त' कोई दूसरे होंगे अथवा रचना-काल निर्धारण करनेमें भूल हुई होगी। यह विषय विचारणीय एवं खोज-साध्य है। हमारा उद्देश्य तो यहाँ केवल इतना बतलाना है कि भक्तमालसे पूर्व ही ये परिचइयाँ लिखी जा चुकी होंगी। इसके अतिरिक्त इसी प्रकार की अन्य सामग्री भी नाभाजी से पूर्व वर्तमान थी। यह भी कहना असङ्गत नहीं है कि इससे पहले भी कई महानुभावोंने भक्तमालोंकी रचना की थी। इस मान्यताकी पुष्टि नाभाजी के—

भक्तमाल जिन जिन कथी, तिनकी जूठन पाय।
मो मति सारु अछिर द्वै, कीन्हौं सिलौ बनाय ॥ सं० २१०

इस दोहेसे भी हो रही है। श्रीनारायणदासजी एवं नाभाजीके गुरुदेव श्रीअग्रदासजीने भी प्रस्तुत भक्तमाल के रचयिताको प्रेरित किया था—

'श्रीगुरु अग्रदेव आज्ञा दई, भक्तनि को जस गाव'

इन वचनोंसे यह स्पष्ट है। साथ ही अग्रदासके नामकी छापके कुछ छन्द इस भक्तमालमें भी उपलब्ध होते हैं, चाहे वे अग्रदासजी द्वारा रचित हों, चाहे उनके किसी शिष्यने रचकर उन्हें भेंट किए हों। वस्तुतः बात क्या है, इस सम्बन्धमें कितनी ही विप्रतिपत्तियाँ उठाई जाती हैं और लेखकोंका भी इस सम्बन्धमें मतभेद है।

प्रस्तुत भक्तमालके रचयिता और उनका परिचय—

यह प्रायः सर्वत्र प्रसिद्ध है कि इस भक्तमालके रचयिता श्रीनाभाजी हैं, किन्तु जब इसके अध्ययन करनेपर किसी भी छप्पयमें उनका नाम नहीं मिलता तो यह विषय स्वतः शंकास्पद हो जाता है। पुरानी हस्त-लिखित प्रतियोंकी अन्तिम पुष्पिकामें भी नारायणदास ही नाम मिलता है। कुछ लोगों का कहना है कि नाभाजीका ही वैष्णव-संस्कारके बाद यह (नारायणदास) गुरु-प्रदत्त नाम है। अतएव नाभाजी और नारायणदासजी दोनों एक ही व्यक्ति हैं। विद्वानोंका यह कथन ठीक भी प्रतीत होता है; क्योंकि वैष्णव-सम्प्रदायोंमें यह नियम सदासे ही प्रचलित है। जिस व्यक्तिको वैष्णवी दीक्षा दी जाती है उसका नाम-संस्कार भी किया जाता है और 'दासान्तं नाम योजयेत्' इस विधानके अनुसार भगवन्नामोंके अन्तमें दास, शरण, प्रपन्न आदि शब्दोंके साथ नाम रखा जाता है। अतएव 'नाभा' का 'नारायणदास' नामकरण होना युक्ति-सङ्गत ही जान पड़ता है। यह भी बहुत सम्भव है कि 'नारायणदास' नाम-संस्कार हो जानेपर भी वे अपने पूर्व नामसे पुकारे जाते रहे हों और दोनों ही नाम प्रचलित हो गए हों। ध्रुवदासजीने अपनी भक्तनामावलिमें 'नारायणदास' नामसे ही उनका स्मरण किया है। किन्तु प्रियादासजीने भक्तमालकी टीकाके आरम्भमें यह स्पष्ट कर दिया है कि भक्तमालके रचयिता श्रीनाभाजी थे। एक दूसरे टीकाकार श्रीलालदासजीने भी श्रीनाभाजीकी प्रशस्ति लिखी है। श्रीरामानन्द-सम्प्रदायके ग्रन्थों एवं बहुश्रुत वृद्धोंके वचनोंसे भी इन दोनों नामोंकी एकता पुष्ट होती है।

---

* कुछ लेखकोंने श्रीरामानन्द स्वामीका परमधाम-गमन सं. १५०५ में माना है (भक्तिसुधास्वाद, पृष्ठ २८२)

सम्वत् १८३१ में लिखी हुई एक भक्तमालकी प्रतिके अन्तमें दो छन्द मिलते हैं। सम्भवतः वे टिप्पणीकार श्रीवैष्णवदासजी द्वारा रचे गए हैं, अथवा अन्य किसीके भी हो सकते हैं, किन्तु इतना तो निश्चित है कि वे सम्वत् १८३१ से पहलेके रचे हुए हैं। उनसे यही सिद्ध होता है कि भक्तमालके रचयिता श्रीनाभाजी ही थे। वे दोनों छन्द इस प्रकार हैं—

१—सतयुग त्रेता सहित, साथि द्वापुर कलि सबही।
कहत सुनत मन मोद, मनो ठाढ़े ढिग तब ही॥
सुदिढ़ सम्पदा चारि, प्रेम आनंद उर आनै।
यथा युगति जो पै, जैसोई प्रगट बखानै॥
माला भगति सुहाग की, अवलम्बन तुमही लहन।
बलि जाऊँ बुधि बिस्तार की संतजनन महिमा कहन॥

२—उन हरि आज्ञा पाय रची ब्रह्माण्ड उपायो।
इन गुरु आज्ञा पाय, सन्तनि कौ निरख्यौं गायो॥
चार जुगनि के भक्त, गुननि की गूँथी माला।
प्रेमसूत्र में पोय रची, महा हृदय बिशाला॥
रघुनन्द कहै आश्चर्य कहा सीता पति जाकों जयौ।
नाभि कमल विधि विष्णु के अग्रनाभि नाभौ भयौ॥

कुछ विद्वान् अपनी आनुमानिक धारणापर भक्तमालको संयुक्त कृति मानते हैं। उनका यह अनुमान भ्रान्त भी हो सकता है।

नाभाजीकी अन्य रचनाओंके दो उदाहरणों द्वारा श्रीनाभाजीको अग्रदासजीका शिष्य और श्रीनारायणदासजीको श्रीअग्रदासजीका सहचर मानकर दोनोंकी विभिन्नताका जो अनुमान किया गया है, वह धारणा भी भ्रान्त ही है, क्योंकि उन्हीं उदाहरणोंसे यह स्पष्ट है कि श्रीनाभाजी श्रीअग्रदासजीके शिष्य और सहचर दोनों ही थे। नीचेके उद्धरण देखिए—

१—नाभा श्री गुरुदास, सहचर अग्रकृपाल को।
बिहरत सकल विलास, जगत विदित सिय सहचरी॥

२—श्री अग्रदेव करुणा करी, सिय पद नेह बढ़ाय।

३—श्री अग्रदेव गुरुकृपा ते, बाढ़ी नव रस बेलि।

जिस प्रकार इन पंक्तियोंसे श्रीनाभाजीने श्रीअग्रदासजीको अपना गुरु और अपनेको उनका सहचर बतलाया है, उसी प्रकार दूसरे स्थानोंपर भी वे अपना नाम श्रीनारायणदास बतलाते हुए अपनेको श्रीअग्रदासजीका शिष्य और सहचर बतलाते हैं।—

सहचर श्री गुरुदेव के नाम नारायणदास।
जगत प्रचुर सिय सहचरी, बिहरत सकल विलास॥

भक्तमालकी भाँति अष्टयाम रचनेके लिए भी श्रीअग्रदासजीने श्रीनाभाजीको आज्ञा दी थी।

भव-सागर दुस्तर महा, तोहिं मगन लखि पाय ।
सदय हृदय जिनको सरस, तब यह दई रजाय ॥
(नागरी प्रचारिणी-पत्रिका, वर्ष ६३ अङ्क ३-४ पृष्ठ ४३७)

एक विशेष तर्क पर विचार—यद्यपि भक्तमालमें कुछ छप्पय श्रीअग्रदासजीके नामकी छापके हैं और उनसे इस धारणाको थोड़ा बल मिलता है, किन्तु इतनेसे ही यह सिद्ध नहीं हो सकता कि आरम्भके चौबीसों छप्पय श्रीअग्रदासजीकी ही रचना है। यदि पाँचवें और इक्तीसवें छप्पयमें श्रीअग्रदासजीका नाम आनेसे उन दो छप्पयोंके बीचमें आनेवाले चौबीस छप्पयोंको श्रीअग्रदासजीकी रचना माना जा सकता है, तो आगे भी दो-सौ एक तक की संख्यावाले सभी छन्द श्रीअग्रदासजीके क्यों न माने जावें ? उनमें भी तो अग्रदासजीका नाम है। इस प्रकार तो छप्पय—संख्या पाँचसे लेकर दो-सौ एक संख्या तक सभी छप्पय श्रीअग्रदासजीकृत होने चाहिए, किन्तु ऐसा माननेसे श्रीनाभाजी एवं श्रीनारायणदासजी द्वारा लिखी भक्तमाल अत्यन्त थोड़ी रह जाती है, अतः यह धारणा सर्वथा असङ्गत है। यदि रचनाकार चाहे तो अपने मन्तव्यकी पुष्टिके लिए अन्य कवियोंकी रचनाका कुछ भाग या विशेष तुक अपने काव्यमें सम्मिलित कर सकता है। हिन्दी और संस्कृतकी बहुत-सी रचनाओंमें ऐसा देखा भी जाता है। इसी कारण इस भक्तमालको संयुक्त कृति न मानकर केवल श्रीनाभा (नारायण-दासजी) की रचना मानना ही युक्ति-संगत और उचित जान पड़ता है।

हाँ, यह भी बहुत सम्भव है कि अन्य पुस्तकोंकी भाँति भक्तमालमें भी कुछ छन्द पीछेसे जोड़ दिए गए हों। 'शिवसिंह सरोज' के अध्ययनसे यह बात और पुष्ट हो जाती है। उसमें भक्तमालके केवल १०८ ही छप्पय माने गए हैं। इनमें दोहे भी सम्मिलित हैं, किन्तु वर्तमान भक्तमालमें कुल छन्द २१४ हैं। इससे यह ज्ञात होता है कि १०६ छन्द बादमें जोड़े गए हैं। यह धारणा कुछ हस्त-लिखित प्राचीन प्रतियोंके अवलोकनसे और भी अधिक प्रबल हो जाती है। सम्वत् १७७० में प्रतिलिपि कीगई एक भक्तमालमें छन्दोंकी कुल संख्या १९८ ही है। विक्रम सं० १७७६ में प्रतिलिपि की गयी मूल भक्तमालमें भी १३-१४ छन्द कम हैं। उसमें श्रीगदाधरदासजी (छ० सं० १८६) से लालमती (छ० सं० २००) तक के १४ छप्पयोंमें केवल श्रीगिरधरग्वाल और श्रीगोपालीबाई—इन दो भक्तोंके ही छप्पय हैं; शेष श्रीभगवतमुदितजी आदिसे सम्बन्धित १२ छप्पय उपलब्ध नहीं होते। वस्तुतः ये छप्पय श्रीप्रियादासजी द्वारा टीका रचे जानेके पश्चात् बढ़ाए गए होंगे। उस प्रतिमें ५-६ छप्पय और भी हैं जो अन्य प्रतियोंमें उपलब्ध नहीं होते। इस सम्बन्धमें अधिक विवरण पृ० ८६८ पर दिया गया है।

जब श्रीनाभाजी और श्रीनारायणदासजीके नामकी एकता सिद्ध हो जाती है और श्रीअग्रदासजी के छन्दोंको ग्रन्थकार द्वारा ही स्वयं अपनानेकी बात निश्चित हो जाती है, तब यह बात सिद्ध हो जाती है कि श्रीनाभाजी और नारायणदासजी दोनों एक ही व्यक्ति हैं और भक्तमाल इन्हीं श्रीनाभाजी की रचना है, अतः भक्तमालके रचनाकारके रूपमें उनका परिचय यहाँ दिया जाता है।

इस ग्रन्थके आरम्भमें स्पष्ट-रूपसे यह उल्लेख मिलता है कि ग्रन्थकार (श्रीनाभाजी) श्रीअग्रदासजीके शिष्य थे, वे श्रीकृष्णदासजीके और वे उन श्रीअनन्तानन्दजीके शिष्य थे जो श्रीरामानन्द स्वामीके साक्षात्-शिष्योंमें सर्व-प्रमुख रहे हैं। इस प्रकार भक्तमालकार श्रीनाभाजी (श्रीनारायणदासजी) श्रीरामानन्द-सम्प्रदाय-सागरके एक जाज्वल्यमान रत्न थे।

नाभाजी की जाति एवं आदि-अवस्था—

श्रीप्रियादासजीने भक्तमालकी टीका 'भक्ति-रस-बोधिनी' के कवित्त सं० १२-१३ में श्रीनाभाजीकी आदि-अवस्थाका वर्णन किया है । उसके अनुसार उनका जन्म प्रसिद्ध हनुमान-वंशमें हुआ था । वे जन्मान्ध थे । दुर्भिक्ष (अकाल) के समयमें उनके माता-पिता उन्हें जंगलमें छोड़ गए थे । दैवयोगसे उसी जंगलमें श्रीकील्हजी और श्रीअग्रजी आ निकले । उस पाँच वर्षके अन्धे-अनाथ बालकको एकान्त जंगलमें भटकता हुआ देखकर श्रीकील्हजीको दया आगई । उन्होंने अपने कमण्डलुसे थोड़ा-सा जल लेकर बालककी आँखोंपर छींटे लगाए तो उनमें ज्योति आगई और बालकको दिखाई देने लगा । वे दोनों महानुभाव उस बालकको गलता (जयपुर) में आए और श्रीकील्हजीकी अनुमतिसे श्रीअग्रदासजी ने उन्हें मन्त्र सुनाया । जब यह बालक कुछ बड़ा हुआ तो इसे स्थानकी सेवा-टहल करनेमें लगा दिया । श्रीनाभाजीकी प्रारम्भसे ही साधु-सेवा और सन्तोंके सीथ-प्रसादमें विशेष रुचि थी । उसीके प्रभावसे उनकी बुद्धिका विकास हुआ और उन्होंने भक्तमालकी रचना की । इसमें श्रीनाभाजीने जिस भक्तका जैसा स्वरूप था वैसा ही वर्णन किया है ।

(श्रीप्रियादासजीकी टीकाके दोनों कवित्त और उनका अर्थ इसी ग्रन्थके पृ० २२-२६में दिया गया है ।)

यह प्रसिद्ध हनुमान-वंश कौन-सा है, इस सम्बन्धमें कई धारणाएँ हैं । श्रीरूपकलाजीने अन्यान्य कल्पकोंके आधारपर चार विकल्प दिखलाए हैं । [1]—(१) महाराष्ट्र या लांगुलीय-ब्राह्मण श्रीरामदासजी के भाईके वंश के, (२) डोमवंशके, (३) ब्रह्माजीके अवतार श्रीलाखाभक्तकी जाति के और (४) अयोनिज । चतुर्थ विकल्पकी पुष्टि उन्होंने हनुमत-जन्म विलासके नामानुरागी मुंशीराम अम्बेसहायजीके आधारपर इस प्रकार की है—"किसी समय श्रीकपि वंशीय श्रीहरि योगाभ्यास कर रहे थे । श्रमके कारण उनके पसीना आगया जिससे वे कुछ लज्जित हुए । शंकरजीने यह जानकर उस श्रम-बिन्दुको अपने पास छिपाकर रख लिया । भविष्यमें जब कलियुगका विशेष प्रभाव देखा तब श्रीशङ्करजीने उस बिन्दुको आकाशमें उछाल दिया और वह भूमिपर गिर पड़ा, उसीसे श्रीनाभाजी प्रकट हुए । हरि (कपि) नेत्र बन्द किए हुए थे, तदनुसार उस बालकके भी नेत्र बन्द ही रहे । श्रीनाभाजीका वास्तविक नाम 'नभोभूज' है ।[2]

श्रद्धालु व्यक्ति इस घटनापर विश्वास कर सकते हैं और अघटन-घटना पटीयसी मायापति प्रभुके लिए यह कोई आश्चर्यकी बात नहीं है, तथापि तार्किक आलोचक इस घटनाको सहसा सत्य माननेको तय्यार नहीं हो सकते । उनके मतसे यह कल्पना ही कही जायगी । इसी प्रकार ब्रह्माजीके अवतार माननेवाली बातकी भी सङ्गति लगानी पड़ेगी । लांगुलीय-ब्राह्मण तो अपने आपको हनुमान-वंशीय मानते ही हैं, इसके अतिरिक्त नाई (हज्जाम) भी अपनेको हनुमान-वंशीय मानते हैं ।[3] इसलिए यह कह सकना बड़ा कठिन है कि श्रीनाभाजी कौनसे वानर-वंशमें उत्पन्न हुए थे । कुछ लोगोंकी धारणा का संकेत करते हुए श्रीरूपकलाजीने श्रीनाभाजीकी वंश-डोम-(डाम) जातिका खण्डन किया है ।

श्रीबालकरामजीने श्रीनाभाजीकी आदि-अवस्थाका वर्णन करते हुए कहा है कि 'एक बार श्रीकील्हजी एवं श्रीअग्रदासजी किसी उत्सवमें सम्मिलित होकर लौट रहे थे । रास्तेमें चलते-चलते उन्हें दो मार्ग मिले । जब वे उनमेंसे एकपर आगे बढ़ने लगे तभी आकाश-वाणी हुई—' तुम जिस मार्गसे

१—२ भक्ति-सुधा-स्वाद तिलक टीका पत्र ६५१ । ३ न्यायो ब्राह्मण-वर्ण निर्णय पुस्तक ।

जा रहे हो उसे त्याग कर दूसरे मार्गपर जाओ। इस रास्तेपर तुम्हें मेरा एक भक्त मिलेगा जो पूर्व-जन्ममें ब्राह्मण था, किन्तु थोड़ी-सी 'भक्त-कुभाव' सम्बन्धी चूक हो जानेके कारण उसे इस जन्ममें नीच-कुलमें जन्म लेना पड़ा है। वह अन्धा भी है। सन्त-सेवा द्वारा अब वह पवित्र हो जावेगा और आपके कमण्डलुके जलके स्पर्शसे उसकी आँखें देखने लगेंगी।''

आकाश-वाणीके अनुसार जब दोनों महानुभाव उस रास्तेपर गए तो सभी बातें सत्य सिद्ध हुईं। श्रीअग्रदासजीके द्वारा अपना परिचय पूछा जानेपर श्रीनाभाजीने कहा—

कहु मरुवास दुकाल परांना। जननी मोहि यहाँ लगि आना ॥
अब तजि गई भूख डर चीना। डोली जाति हमारी हीना ॥
यह कहि वचन नयन जल छायो। अधम अनाथ शरण तव आयो ॥
तब करि कृपा संग लै आवा। आज्ञा कील अगर अपनावा ॥

उन्होंने यह भी प्रकट किया कि सन्तकी अवज्ञा करनेके कारण उन्हें नीच शरीर मिला था। उनका वह नीच शरीर बादमें सन्तोंकी सेवा करनेसे पुन: गोस्वामी-पद प्राप्त कर सका—

सन्त-अवज्ञा नीच तन, भयो पुन्य संत सेइ।
जन्म जोग्यता पाइ पुनि, नाभ गुसाईं भेइ ॥

श्रीबालकरामजीने भी एक छप्पय द्वारा संक्षेपमें श्रीनाभाजीका परिचय निम्न प्रकार दिया है—

भक्तमाल-जस-बरण महा अनुभव की रासी।
अंस बंस उदोत राम परताप बिलासी ॥
जात पांत भ्रमजाल तास वेश्या मिट जायक।
हंस-ज्ञान निरपच्छ नभो पुकज पद पायक ॥
अधम जीव-संसौ-हरण करण सर्म भगती प्रगट।
गुरु अग्रदास परसाद तैं नाभ प्राभ ज्यों बुध अघट ॥२४७॥

नाभाजीका जन्म-स्थान—

श्रीप्रियादासजीने यद्यपि श्रीनाभाजीके जन्म-स्थानका उल्लेख नहीं किया, तथापि उसका पता हमें बालकरामकी टीका भक्त-दाम-गुण-चित्रनीसे लग जाता है। श्रीबालकरामने नाभाजीके शब्दोंमें ही उनका जन्म-स्थान मरुस्थल बतलाया है और उनकी उत्पत्ति ढोल बजानेवाली (राणा डूम) जातिमें मानी है। मरुस्थलमें प्राय: सुना गया है और देखा भी जाता है कि अनावृष्टि (अकाल) के कारण गरीब परिवार के व्यक्ति अपना घरबार त्याग देते हैं और पालन करनेमें असमर्थ होनेपर अपनी सन्तानको भी जहाँ तहाँ किसीके अर्पण कर देते हैं। नाभाजीके सम्बन्धमें भी कदाचित् ऐसा ही हुआ हो। क्षुधा-पीड़ित एवं सन्तानका पालन करनेमें असमर्थ माता-पिता द्वारा उन्हें जङ्गलमें छोड़ दिया गया हो। इसके अतिरिक्त भक्तमालमें प्रयुक्त राजस्थानी शब्दोंके आधारपर भी यही अनुमान लगाया जाता है कि नाभाजीका जन्म-स्थान मारवाड़ प्रदेश ही था। अधिकतर राजस्थानके भक्तोंका चरित्र वर्णन करनेका कारण भी यही है। इन सब प्रमाणोंसे नाभाजीके प्रदेशका पता तो लग जाता है, किन्तु उनके माता-पिता, कुल, ग्राम आदि का कोई पता नहीं लगता।

दीक्षागुरु—

नाभाजीके दीक्षा-गुरु स्वामी श्रीअग्रदासजी थे, भक्तमालके आरम्भिक दोहों, टीकाओं और टिप्पणियोंसे यह बात स्पष्ट है। जन-श्रुति भी इसी प्रकारकी प्रचलित है।

समय—

श्रीरामानन्द स्वामीका समय सं० १३५६ से १४६७ माना जाता है।× उनके प्रशिष्य पयोहारी श्रीकृष्णदासजी जब गलतामें आये उस समय आमेरके राज्यासनपर महाराजा पृथ्वीराज विराजमान थे। उनका शासन-काल सम्वत् १५५६ फाल्गुन सुदी ५ से सम्वत् १५८४ कार्तिक सुदी ११ तक माना गया है।⊛ यदि विक्रम सं० १५८० के आस-पास पयोहारीजीका गलतामें आना माना जाय और सम्भवतः २० वर्ष बाद कील्हजी एवं अग्रजी उनके शिष्य हुए हों तो अनुमानतः सम्वत् १६०० अग्रदासजी की विरक्त अवस्थाका समय ठहरता है।

पयोहारी श्रीकृष्णदासजीकी कोई रचना देखनेमें नहीं आई है। मिश्र-बन्धु-विनोद, प्रथम भाग, पृ० १७० पर सम्वत् १६०० के रचनाकारोंमें यद्यपि उनके नामकी छापका एक पद उद्धृत किया गया है, किन्तु वह संदिग्ध प्रतीत होता है। सम्भवतः वह पद किसी दूसरे कृष्णदासका है, श्रीरामोपासक कृष्णदासजीका नहीं। मिश्र-बन्धुओं द्वारा पयोहारी शब्द जोड़ देनेके कारण भ्रम उत्पन्न हो जाता है।

सरस्वती-भवन, अयोध्याके संग्रहमें श्रीकृष्णदासजीके अष्टयाम (संस्कृत) का पता कुछ दिन पहले लगा था। खोजनेपर सूचीमें उसकी हस्त-लिखित प्रतिका संक्षिप्त विवरण भी मिल गया, किन्तु सारा संग्रह मथ डालनेपर भी मूल प्रति उपलब्ध न हो सकी। (द्रष्टव्य डा० भगवती प्रसादसिंह, रा० भ० रसिक सम्प्रदाय पृ० ८६)

रसिक-प्रकाश-भक्तमाल, पृ० १३ के उल्लेख से ज्ञात होता है कि 'पुष्करमें १२ वर्षका व्रत लेकर उन्होंने षडक्षर राममन्त्रका जाप किया था।' अनुष्ठानके मध्यमें ही उनकी निष्ठासे प्रसन्न हो श्रीजानकीजीने साक्षात् दर्शन देकर उन्हें कृतार्थ किया था। व्रत पूरा करके वे पुष्करसे गलता गए। वहां उनकी अद्भुत आध्यात्मिक शक्तिसे परास्त होकर तारानाथ नामक योगी अपने अनुयायियों-सहित उनके शरणागत हुआ। आमेरके राजा पृथ्वीसिंहने भी उनका शिष्यत्व ग्रहण किया।

कहा जाता है कि लोमश और हनुमानजीकी भांति श्रीकृष्णदासजी भी चिरजीवी हैं। प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूपसे लोगोंको उनसे प्रेरणाएँ प्राप्त हुई हैं। देवरिया जिलेमें पैकौली गद्दीके संस्थापक महात्मा लक्ष्मीनारायणजी पयहारीको श्रीकृष्णदासजी ने दर्शन देकर कृतार्थ किया था। पयहारी-जीवन-चरित्रमें ऐसा उल्लेख मिलता है कि हाथीके रूपमें आकर उन्होंने लक्ष्मीनारायणदासजीको मन्त्रोपदेश दिया था।

पयहारीजीके आविर्भाव और तिरोधान के सम्वतोंका पता लगना कठिन है। प्रस्तुत भक्तमाल छप्पय ३८ और १८५ से इतना पता अवश्य चलता है कि वे दाहिमा (दाधीच) ब्राह्मण-कुलमें

× कुछ लेखकोंने उनका अन्तर्धान समय सं० १५०५ भी माना है, भक्ति-सुधा० पृ० २८२।

⊛ हितैषीका जयपुराङ्क (विशेषाङ्क) पृ० ५६।

हुए थे और उस कुलके ब्राह्मण प्रायः राजस्थानमें ही अधिक मिलते हैं, अतः यह निश्चित कहा जा सकता है कि उनका जन्म राजस्थान प्रदेशमें ही हुआ था और अधिकतर निवास भी उनका गलता (राजस्थान) में ही रहा था।

श्रीकृष्णदासजी के दो शिष्य—कील्हजी और अग्रजी प्रसिद्ध हुए, किन्तु इन शिष्योंके समय आदि की जानकारी प्राप्त नहीं होती। श्रीकील्हजी की तो किसी रचनाका भी पता नहीं चलता। हाँ, अग्रजीकी कुछ रचनाएँ अवश्य मिलती हैं। प्रसंगवश उनपर थोड़ा विचार करलेना आवश्यक है।

मिश्र-बन्धु-विनोद, प्रथम भाग, पृष्ठ ३८६, संख्या १६१ पर 'अगर' नामसे एक कविका उल्लेख किया गया है। उनकी रचनाओंको शान्त-रस प्रधान एवं साधारण बतलाते हुए उनका जन्म-काल १६२६ और रचना-काल १६५० लिखा गया है।

द्वितीय भाग पृ० ८२५ पर भी 'अग्रनारायण' नाम मिलता है। ना० प्र० स० काशीकी खोज रिपोर्ट सन् १९०४ के आधारपर उनकी रचना 'भक्ति-रस-बोधिनी'—भक्तमालकी टीका और उनका रचना-काल १८४४ बतलाया गया है। इससे यह स्पष्ट होता है कि यह अग्रनारायण अग्रदासजीसे भिन्न होंगे।

तृतीय भाग पृ० १२३६ सं० २२६६ पर 'अग्रअली' और उनकी रचना 'अष्टयाम' का उल्लेख है। सन् १९०९–११ की नागरी प्रचारिणीकी खोज-रिपोर्ट सं० २ पर भी इसका विवरण दिया गया है। सन् १९०३ के खोज विवरण सं० ९० पर उनकी कुण्डलियोंका 'हितोपदेश उपाख्यां बावनी' के रूपमें उल्लेख किया गया है।

वस्तुतः अग्रदासजी की अष्टयाम, ध्यान मंजरी, कुण्डलियाँ, पदावली, रानीमंगल आदि कई रचनाएँ हैं। इनमें अग्रदास, अग्रअलि, अग्रस्वामी आदि कई नामोंकी छाप मिलती है। डा० भगवती-प्रसाद सिंहने अपने निबन्ध 'रामभक्तिमें रसिक-सम्प्रदाय' के पृ० ३१८, ३८१ और ४२६ पर उनके एक 'अग्रसागर' ग्रन्थका उल्लेख और किया है। इसे पढ़नेके लिए श्रीरामचरणदासजी को अपना तिलक भी बदल देना पड़ा था। क्योंकि युगल तिलक वाले सखी-भावके साधक ही उसे देख सकते हैं। सम्भव है, इसी प्रतिबन्धके कारण वह ग्रन्थ प्रकाशमें नहीं आया और आगे चलकर लुप्त हो गया। जिस प्रकार डा० सिंहने इस सम्प्रदायकी बीसों प्रकारकी परम्पराओंका उल्लेख किया है उसी प्रकार श्रीभुवनेश्वर-प्रसाद मिश्र 'माधव' एम० ए० ने भी अपने निबन्ध 'रामभक्ति साहित्यमें मधुर उपासना' में बीसों प्रकारकी परम्पराएँ दी हैं। उन परम्पराओंमें रामानन्दजी किसीमें २२वें, किसीमें ३१वें, किसीमें ३२वें और ३४वें और किसीमें ५७ वीं संख्या तक दिखलाए गए हैं। किन्तु अग्रदासजी या नाभाजीके समयके सम्बन्धमें उपर्युक्त दोनों ही लेखकोंने कोई निश्चय नहीं किया।

गलता और रेवासाके प्राचीन पट्टे परवानोंसे श्रीअग्रदासजीका समय निश्चित किया जा सकता है, किन्तु किसी लेखकने उनपर विचार करनेका प्रयास नहीं किया। अतः प्रामाणिक सामग्रीके अभावमें अनुमानके अतिरिक्त और कोई अवलम्ब नहीं मिल सकता है।

भक्तमालमें वर्णित भक्तोंकी नामावलीपर विचार—

प्रस्तुत भक्तमालमें कुछ छप्पय तो ऐसे हैं जिनमें एक छप्पयमें केवल एक ही भक्तका वर्णन किया

गया है और कुछ ऐसे हैं जिनमें एक छप्पय में कई भक्तोंका नामोल्लेख कर दिया गया है। इन छप्पयों में कहीं-कहीं भक्तोंके ग्राम, गोत्र या अन्य विशेषणोंका वर्णन भी कर दिया गया है, अतः टीकाकारोंने कितने ही ग्रामों या विशेषणोंको भी भक्त मानकर उनका उल्लेख भक्तनामावलिमें कर दिया है जिससे भक्तोंकी संख्या में बहुत कुछ उलट-फेर हो गया है। ऐसा हो जानेका मूलकारण भक्तोंके नामोंकी विप्रतिपत्ति ही कही जा सकती है।

भक्तोंके मूल नामका पता लगानेमें श्रीरूपकलाजीने अवश्य ही स्तुत्य कार्य किया है। यदि उन्हें श्रीप्रियादासजी-कृत 'भक्त-सुमिरणी' एवं श्रीबालकरामजी-कृत 'भक्तदाम-गुणचित्रनी' टीका मिल गई होती तो उनका यह कार्य विशेष सफल हो सकता था।

उन्होंने प्रचलित कलेवरके अनुसार पूर्वार्धमें ३८२ और उत्तरार्धमें ६५०, इस प्रकार कुल १०३२, भक्त माने हैं। किन्तु श्रीप्रियादासजीने अपनी 'भक्त सुमिरणी' में उत्तरार्धके लगभग पौने छः सौ नाम दिए हैं। जिन भक्तोंके दोबारा नाम आए हैं, 'भक्त सुमिरणी' में उनका उल्लेख प्रायः नहीं किया गया है।

बालकरामजीने अपनी एक-सौ आठ रचनावृन्दवाली टीकामें जो संख्या दी है वह किसी-किसी छप्पयमें प्रियादासजी द्वारा दी गई संख्यासे मेल खाती है, किसी छप्पयमें अन्तर भी रहता है। उनके अनुसार भक्तमाल के उत्तरार्धमें वर्णित भक्तोंकी संख्या लगभग छः सौ बैठती है।

यद्यपि मालाएँ १८, २७ और कभी-कभी हजार मणियों तक की भी होती हैं, किन्तु अधिकतर १०८ मणियों की ही बनाई जाती हैं। इस संख्याका विधान भी मिलता है। इस दृष्टिसे विचार करनेपर भक्तमाल रूपी माला की भी १०८ मणियाँ होना उचित है; किन्तु इसकी मणियाँ न तो १०८ ही हैं और न एक हजार ही। यदि दुबारा आए हुए भक्तोंके नामोंको भी गिन लिया जाय तब भी यह संख्या एक हजार तक नहीं पहुँचती।

प्रचलित पाठवाली प्रतियोंके अनुसार २३ छप्पय पूर्वार्धके और ४६ छप्पय उत्तरार्धके, इस प्रकार करीब ६९ छप्पय ऐसे हैं जिनमें एक-एकमें कई भक्तोंका नामोल्लेख पाया जाता है। १६ दोहे और ३ छप्पय उपक्रम, उपसंहार एवं भक्तों तथा भक्तमालकी प्रशंसासे सम्बन्धित हैं बाकी लगभग १२५ छप्पयोंमें प्रत्येक में एक-एक भक्तका चरित्र वर्णित है; किन्तु उनमें भी श्रीरामानुज, श्रीरामानन्द, श्रीकृष्णदासजी पयहारी, श्रीकील्हजी, श्रीअग्रदासजी आदि का वर्णन दो-दो छप्पयोंमें हुआ है। इनके अतिरिक्त सम्वत् १७७६ में प्रतिलिपि की गई भक्तमालकी प्रतिमें वे १२ छप्पय नहीं मिलते जो प्रचलित प्रतियोंमें छप्पय सं० १८६ से १९३ तक और १९६ से १९९ तक प्राप्त होते हैं। इस प्रकार विवेचन करनेसे एक-एक भक्तके चरित्रका उल्लेख करनेवाले १०८ ही छप्पय शेष रह जाते हैं।

भक्तमालको संयुक्तकृति माननेवालोंके अनुसार यदि इन १०८ छप्पयोंको ही नाभाजीकी रचना माना जाय तो १०८ भक्त-मणियोंकी यह माला हो सकती है और ऐसी धारणा असम्भव भी नहीं कही जा सकती। क्योंकि नाभाजीके थोड़े ही समय पश्चात् होनेवाले श्रीध्रुवदासजीने भी १०८ भक्तोंकी ही नामावलि लिखी थी। उस नामावलिमें भी बहुतसे नाम ऐसे हैं जो भक्तमालके उन छप्पयोंमें मिलते हैं जिनमें एक-एक भक्तका ही वर्णन है, किन्तु कहीं-कहीं ऐसे भी नामोंका उल्लेख किया है जो सामूहिक नामोंवाले भक्तमालके छप्पयोंमें उल्लिखित हैं।

कुछ लेखकोंने ध्रुवदासजीकी भक्तनामावलीमें १२२ नाम माने हैं, किन्तु 'नाइक', 'दोनों सन्त', 'दम्पति', 'जुगल' आदि नामोंको देखकर यह धारणा बन जाती है कि उक्त नामावलीके नामोंमें भी लेखकोंको अवश्य भ्रान्ति हुई है।

सम्भवतः ६८ और ६६ वें दोहेके पूर्वार्द्ध द्वारा श्रीध्रुवदासजीने एक ही भक्तका उल्लेख किया है। 'चतुरदास' और 'चिन्तामणि' दो भिन्न-भिन्न भक्त न होकर एक ही हैं 'चिंतामणि' शब्दका प्रयोग चतुरदासके विशेषणके रूपमें किया गया जान पड़ता है, क्योंकि श्रीनिम्बार्क-सम्प्रदाय में उनकी ख्याति इस विशेषण के साथ ही है।

यद्यपि 'सहस अठयासी' (छ० सं० १६) जैसे शब्दोंकी संख्याको जोड़नेपर तो नामावलि-सूचीमें कई सहस्रनाम हो जाते हैं, किन्तु श्रीरूपकलाजीने वर्ण-क्रमानुसार भक्तोंके नामोंकी जो सूची लिखी है उसमें 'सहस अठयासी'—जैसे शब्दोंको एक नाममें ही रखकर कुल ६२५ नाम दिए हैं। उक्त सूचीमें जिन नामोंका उल्लेख जितनी बार हुआ है वे उतने ही बार दिए गए हैं। प्रस्तुत अङ्ककी वर्ण-क्रमानुसार दी गई भक्तोंकी सूचीमें ऐसा नहीं किया गया। इसमें तो भिन्न-भिन्न पृष्ठोंमें उल्लिखित एक नामकी संख्या एक ही रक्खी गई है। अतः इस अङ्कके अनुसार वह संख्या ७४३ तक ही पहुँची है। इनमें साठके लगभग महिला-भक्त हैं।

इनमें पूर्वार्द्धके छप्पयोंमें कुछ ऐसे नाम बढ़ सकते हैं, जिनमेंसे केवल एकको अपनाकर शेष नाम छोड़ दिए गये हैं। जैसे स्मृति या स्मृतिकारोंके १८ नाम हैं, किन्तु इस अङ्कमें 'स्मृति' इस एक नामको ही अपनाया गया है।

'भक्ति-प्रदीप', 'भक्तकल्पद्रुम' और 'भक्ताम्बुनिधि' आदि नामों से जो २४ निष्ठाओंमें विभक्त नामों वाली भक्तमाल हैं उनका मूलाधार भी नाभाजी-कृत भक्तमाल ही कहा जा सकता है, किन्तु उनमें भी किसीमें २६० और किसीमें २६६ नामोंका संकलन है। इनमें लगभग ५० तो द्वापर आदि पूर्ववर्ती त्रियुगी भक्तोंके नाम हैं और शेष कलियुगके भक्तोंके हैं, किन्तु इनमें भी कुछ नाम ऐसे हैं जो भक्तोंकी निष्ठाओंके अनुसार एकसे अधिक बार उल्लिखित हैं। हरिव्यासजीका नाम 'अहिंसा दया' में भी है और धर्म प्रचार निष्ठा में भी। 'कोल्हू' 'अल्हू' नामके यद्यपि दो भक्त हैं, किन्तु इनकी गणना एकमें कर ली गई है। किसी प्रतिमें 'अल्हू' 'कोल्हू' रूपमें दोबारा भी दे दिया गया है।

यद्यपि इस सम्बन्धमें प्रस्तुत ग्रन्थमें काफी शोध किया गया है, किन्तु फिर भी जब तक पुरानी पाण्डुलिपि न मिल जाय तब तक यह कह सकना असम्भव है कि नाभाजीने कितने और कौन-कौनसे भक्तोंका उल्लेख किया है।

भक्तमालका कथा और लेखन-रूपमें प्रचार—

भक्त-महिमा-सम्बन्धी कथाओंका प्रचार संस्कृत-आदि भाषाओंमें युग-युगान्तरसे चला आ रहा है। दक्षिणके प्राचीन आल्वार भक्तोंकी कथायें द्राविड़-भाषामें लिखी गई थीं जो नाभाजीके भक्तमालसे बहुत प्राचीन मानी जाती हैं। श्रीशठकोप आदि आचार्योंकी कथायें भी प्रचलित थीं। उनका संस्कृतमें अनुवाद हुआ जो आज 'दिव्य-सूरिवैभव' और 'आचार्य-वैभव', 'गुरुपरम्परा-प्रभाव' आदि नामोंसे उपलब्ध हो रहा है। आचार्य श्रीरामानुजसे पूर्ववर्ती श्रीसरोयोगी, भूतयोगी, महदाह्वय, भक्तिसार

शठकोप, मधुरकवि, कुलशेखर सूरि, विष्णुचित्त, आण्डाल (गोदाम्बा), भक्ताङ्घ्रिरेणु, मुनिवाहन परकाल सूरि आदिका समय द्वापर सं० ८६२९६२ से कलियुग सं० ३९८ तक अर्थात् १४३६, वर्ष बारह आचार्योंका समय माना गया है ।

उनके पश्चात् श्रीनाथ मुनि से लेकर श्रीवेदान्तदेशिक स्वामी तक अठारह आचार्योंका समय कलि सम्वत्सर ३६८५ से ४३७१ तक ६७६ वर्ष माना गया है ।*

श्रीनिम्बार्क-सम्प्रदायके आचार्योंका भी चरित्र इसी प्रकार 'परम्परातत्व' आदिके रूपसे मिलता है । गोरखनाथजी के अनुवर्ती सन्तोंका इतिवृत्त भी इसी प्रकार पुरानी हिन्दी में मिलता है । समय-समयपर आनेवाले उत्सव-महोत्सवोंमें उन आचार्य-चरित्रोंकी कथाका प्रचार पुराने समय से ही रहा है, किन्तु उन कथाओंका पठन-श्रवण विशेषतया उन-उन सम्प्रदायोंके भक्तजनों तक ही परिसीमित रहा है ।

जब हिन्दी, व्रजभाषा और प्रान्तीय भाषाओंमें भक्ति-महिमा सम्बन्धी रचनाओंका सृजन हुआ तब उसका भी कथा-प्रवचन रूपमें प्रचार होने लगा ।

सोलहवीं शताब्दीमें ऐसे भक्तोंका विशेषरूपसे आविर्भाव हुआ जिन्होंने भगवानके चरित्र व्रज, अवधी, राजस्थानी आदि अन्यान्य भाषाओंमें लिखे । वे रचनाएँ जन-भाषामें होनेके कारण विशेष लोकप्रिय हुईं और कथा-प्रवचन आदि में उनका विशेष उपयोग होने लगा ।

प्रस्तुत भक्तमालकी रचना भी भक्तिके इसी प्रवाहमें सत्रहवीं शतीमें हुई और इसका प्रयोग भी कथा-प्रवचनोंमें किया जाने लगा । इसकी रचनाके उपरान्त पूर्व-रचित भक्तचरित्रोंकी कथाओंका प्रचार शनैः शनैः कम होने लगा, क्योंकि कथाकारोंको सूत्ररूपमें जितनी सामग्री इस लघुकाय ग्रन्थमें मिलने लगी उतनी अन्यत्र विशेष प्रयत्न करने पर ही प्राप्त हो पाती थी । इसलिए उन्होंने कथा-प्रवचनके रूपमें इसे अपनाया और इसका प्रचार प्रारम्भ हो गया ।

श्रोता-जनोंको जब इसकी सरस कथाएँ रुचने लगीं तो इसकी प्रतिलिपि होना आरम्भ हुआ । यद्यपि अभी तक ऐसी प्रति प्राप्त नहीं हो पाई है जो ग्रन्थकार द्वारा लिखी गई हो या उनके समयमें प्रतिलिपि की गई हो, तथापि शोध द्वारा १७२४ तक की प्रतियाँ प्राप्त हो गई हैं ।

टीका और टिप्पणियाँ—

कुछ समय बाद भक्तमालपर टीकाएँ और टिप्पणियाँ लिखी जाने लगीं । गद्यात्मक और छन्दोबद्ध शैलीमें बहुत-सी टीकाएँ लिखी गईं । उनमें सं० १७६९ में लिखी गई श्रीप्रियादासजीकृत— 'भक्ति-रस-बोधिनी' टीकाका सर्वाधिक प्रचार हुआ । सम्वत् १८३३ में बालकरामने 'भक्तदाम-गुण-चित्रनी' नामक एक छन्दोबद्ध टीका लिखी । उनके पश्चात् श्रीव्रजजीवनदासजीने पद्यात्मक भक्तमालकी रचना की । श्रीरामदयालजी, जगन्नाथजी आदि ने भी गद्यमयी टीकाएँ लिखीं । फिर तो इसका ऐसा प्रचार हुआ कि हिन्दी-उर्दू आदि बहुत-सी भाषाओंमें इसके कई अनुवाद हो गये ।

टिप्पणीकारोंमें पहला नाम जमालका और दूसरा नाम वैष्णवदासजीका है । ये वैष्णवदासजी दो व्यक्ति रहे होंगे, उनमें टिप्पणीकार निम्बार्कीय थे और दूसरे श्रीप्रियादासजीके पौत्र थे, किन्तु

---

* द्रष्टव्य गुरुपरम्परा-प्रभाव, आरम्भ से पृ० ३१ तक ।

कुछ सज्जन उन्हें भी निम्बार्क-सम्प्रदायानुयायी ही बतलाते हैं। इनका समय १७८२ माना है (मि० बं० वि०, द्वि० भाग ८२६) टिप्पणीरूपमें भक्तमालकी टीका करनेवालोंमें एक लालदासजी भी हुए हैं।

भक्तमालके आधारपर रचना—

विक्रमी सम्वत् १७५७ में दादू-पन्थी सन्त श्रीराघवदासजीने एक भक्तमालकी रचना की थी, जो नाभाजीके अनुसार अधिकतर छप्पय छन्दोंमें ही लिखी गई थी। जहाँ-तहाँ साखी आदि अन्य छन्दोंका भी उसमें प्रयोग मिलता है। श्रीनाभाजीने जिन भक्तोंका उल्लेख किया है उनके अतिरिक्त राघवदासजी ने और भी बहुतसे भक्तोंका समावेश कर दिया है।

इस भक्तमालपर सम्वत् १८५८ में श्रीचतुरदासजीने छन्दोबद्ध टीका की थी। जहाँ-तहाँ इसकी हस्त-लिखित प्रतियाँ मिलती हैं। सम्भवतः इसका मुद्रण नहीं हो सका है। ज्ञात होता है, नाभाजीके भक्तमालका अधिकतर प्रचार होनेके कारण राघवदासजीकृत भक्तमाल विशेष प्रकाशमें नहीं आ सका। शायद इसी कारण इसका मुद्रण भी नहीं हो पाया हो।

वि० सं० १८०६ में श्रीद्यालदासजी ने एक विस्तृत भक्तमालकी रचना की। पुराणोंमें वर्णित भक्तोंकी नामावली जैसी नाभाजीने दी है, द्यालदासजीने भी उसी प्रकार दी है, किन्तु उन्होंने ऋषियों की धर्मपत्नी आदि बहुतसे भक्तोंकी संख्या बढ़ा दी है, साथ ही साथ जैन, इस्लामी, गोरख-पंथी, नाथ, दादू-पंथी, निरंजनी, रामस्नेही आदि अन्यान्य सम्प्रदायोंके भक्तोंका भी वर्णन किया गया है। इस भक्त-मालमें भी छप्पय-छन्द ही अपनाये गये हैं और उपक्रम-उपसंहारमें कुछ दोहोंका प्रयोग किया गया है।

उपर्युक्त दोनों भक्तमालोंके अतिरिक्त भारतेन्दुजी आदि द्वारा रची हुई और भी कई भक्तमाल हैं, जो १९ वीं, २०वीं शताब्दियोंमें रची गई हैं। इन सबका सूक्ष्म परिचय 'भक्तमाल-साहित्य-सूची' में दिया गया है।

भक्तमालका अनुवाद—

संस्कृत-भाषामें भी इसका अनुवाद हुआ है और अङ्गरेजी, उर्दू, मराठी, गुजराती, बङ्गला आदि और भी प्रादेशिक भाषाओंमें अनुवाद मिलता है।

साहित्यक, ऐतिहासिक और धार्मिक दृष्टिसे भक्तमालका महत्त्व—

यद्यपि इस भक्तमालमें संक्षिप्त परिचयके साथ-साथ अधिकतर भक्तोंकी नामावली दी गई है, तथापि १६वीं, १७वीं शताब्दीकी रचनाओंमें इसका भी साहित्यिक महत्त्व आँका जा सकता है। वह इसके पदोंकी सरलता, सरसता और स्वाभाविकता आदि के द्वारा स्पष्ट झलकता है। यद्यपि रचयिताने आलङ्कारिक वर्णन-शैली नहीं अपनाई, तथापि यत्र-तत्र वह स्वभावतः ही बन गई है, उदाहरणार्थ—"काश्मीरिकी छाप पाप तापन जग मण्डन" (छ० ७४) "श्रीभट सुभट प्रगट्यो अघट रसरसिकन मन मोद घन" (छप्पय ७५) इन तुकोंमें अनुप्रास, उपमा आदि कई अलङ्कारोंकी स्पष्टतया प्रतीति हो रही है।

यद्यपि भक्ति-साहित्यमें शब्दालंकार या अर्थालंकारोंकी अपेक्षा नहीं रहती और न चमत्कार की ही विशेष आवश्यकता, होती है अतएव भक्त-चरित्र-रूप भक्तमालमें उनके न रहनेसे कोई न्यूनता

भी नहीं हो सकती थी, तथापि इसके पदोंमें जहाँ-तहाँ मिलनेवाले अलंकारोंकी छटा इतना मनोमुग्धकारी रस वर्षा देती है कि विवश होकर साहित्यिकोंको भी इसकी साहित्य-कोटिमें गणना करनी पड़ती है।

भक्तमालके छन्दोंके सम्बन्धमें विचार—

प्रचलित प्रतियोंके अनुसार इसका कलेवर दोहा, छप्पय और कुण्डलिया—इन तीन प्रकारके छन्दोंमें पूर्ण हुआ है। दोहोंका नाम साखी भी दिया गया है। यह छन्द तेरह-ग्यारह मात्राओंके क्रम से ४८ मात्राओंमें पूर्ण होता है। भक्तमालके उपलब्ध दोहोंमें कहीं-कहींपर अधिक मात्रा भी मिलती हैं, जैसे—(छ० सं० २१०) "जो हरि प्राप्ति की आस है", "नतर सुकृत भुँजे बीज ज्यों" इन पहले और तीसरे दोनों ही चरणोंमें 'संयुक्ताद्यदीर्घ' नियम न माननेपर भी मात्रा अधिक हैं।

इसी प्रकार बहुतसे छप्पयोंमें भी मात्राधिक्य मिलता है। उदाहरणार्थ—

जदुनन्दन रघुनाथ, रामानन्द गोविन्द मुरली सोती; (छ० १०३) गङ्गागौरी कुँवरि, उबीठा गोपाली गनेशदे रानी (छ० १०४), नरवाहन वाहन बरीश जापू जैमल बीदावत (छ० १०५) इत्यादि और भी कई ऐसे छप्पय हैं। यह मात्राधिक्य अधिकतर उन छप्पयोंमें हुआ है जिनमें एकाधिक भक्तोंके नामोंका उल्लेख है।

रचनाकाल—

नाभाजीने अपनी किसी भी रचनामें रचनाकालका उल्लेख नहीं किया, अतः अनुमानके आधारपर ही लेखकोंने इसका रचनाकाल निर्धारित किया है। प्रचलित प्रतियोंमें जिन महानुभावोंका वर्णन है उनमें कुछ भक्तोंका समय निश्चित है। जैसे—गोस्वामी श्रीविट्ठलनाथजीका परमधाम सं० १६४२ और गो० श्रीतुलसीदासजीका परमधाम समय १६८० माना जाता है।

गो० श्रीतुलसीदासजी सम्बन्धी छप्पयमें अब "और रहत" इन वर्तमान सूचक शब्दोंका प्रयोग मिलता है, जिससे अनुमान किया जाता है कि गोस्वामी तुलसीदासजीके वर्तमानकालमें अर्थात् १६४२-१६८० के मध्यकालमें भक्तमालकी रचना हुई होगी।

यद्यपि ऐसे वर्तमानकाल-सूचक शब्दोंका प्रयोग "उद्धव रघुनाथी चतुरो नगन कुंजओक जे बसत अब" इस १४७ वें छप्पयमें भी है जिससे निश्चित होता है कि भक्तमाल उस समय रचा गया था जबकि श्रीनागा (चतुरचिंतामणिदेव) जी कुंज ओकों (गुहों) में विराजमान थे।

वल्लभकुली-वैष्णवोंकी वार्ताओंके अनुसार जब श्रीवल्लभाचार्य ब्रजका भ्रमण कर रहे थे, तब श्रीनागाजीकी ४० वर्षकी अवस्था थी। यदि वल्लभाचार्यजीकी उस समय २० या तीस वर्षकी अवस्था रही हो तो वह समय १५५७-१५६७ निर्धारित होता है, तदनुसार भक्तमालका बहुत-सा भाग उस समय रचा जा चुका होगा। ऐसा भी अनुमान लगाया जा सकता है। किन्तु भगवतमुदितजीके सम्बन्ध का छप्पय मिलनेके कारण इसका रचनाकाल वि० सं० १७०० से भी अर्वाचीन हो जाता है।

वस्तुतः वह छप्पय प्रक्षिप्त है और इस प्रकार और भी कई छप्पय पीछेसे जोड़े हुए हैं, अतः जब तक इसका मूल पाठ और परिणाम निश्चित न हो जाय। तब तक इसका रचनाकाल निश्चित होना कठिन है, तथापि ऊहापोह करनेपर हम इस निष्कर्षपर पहुँचते हैं कि वि० सं० १७०० एवं १६८० से पूर्व ही मूल भक्तमाल रचा गया होगा।

भक्तमालमें प्रतिपादित भक्ति-पद्धति—

भक्ति-रहस्यके विवेचकोंने दास्य, वात्सल्य, सख्य, उज्ज्वल आदि भक्तिके पाँच रस निश्चित किये हैं। भक्तमालके मूल छप्पयोंमें उनका कहीं निर्देश नहीं मिलता, किन्तु उपर्युक्त सभी रसोंके पोषक भक्तोंका चरित्र इसमें मिलता है। वस्तुतः उनका लक्ष्य भी भक्तोंका वर्णन ही था। गुरु, उपास्य और भक्त इन तीनोंके भिन्न होते हुए भी ग्रन्थकारने उन्हें भक्तिसे अभिन्न माना है। उज्ज्वल-रसके पोषक भगवान् श्रीनिम्बार्काचार्यका भी यही भिन्नाभिन्न (द्वैताद्वैत) सिद्धान्त है।

श्रीनाभाजीकी परम्परागत भावनाका अन्वेषण किया जाय तो पता चलता है कि उनके गुरुदेव श्रीअग्रअलीजी इसी भावनाके उपासक थे, अतएव उनके द्वारा उपदिष्ट श्रीनाभा (नारायण) दासजी भी मधुर-रसके उपासक थे। यह उनके रचे हुए अष्टयामसे भी स्पष्ट होता है। किन्तु भक्तमाल सर्वोपयोगी ग्रन्थ है। सभी रसोंके पोषक भक्तोंका इसमें चरित्र है, अतः उपासना-पद्धति भी इससे सभी रसोंको समझना चाहिये। वस्तुतः देखा जाय तो "रामते अधिक राम कर दासा" इसमें इसी मन्तव्यकी पुष्टि होती है। अतः भक्तोंकी उपासना ही भक्तमालकी भक्ति-पद्धति कही जा सकती है।

भक्तमाल द्वारा जन-कल्याण—

अहंता, ममता, अभिमान और विद्वेष आदि विकारोंके कारण ही जीव संसारके बन्धनमें बँधता है, यदि ये विकार न रहें तो दुःखमय संसारमें रहते हुए भी जीवोंको परम सुख अनुभव हो सकता है। भक्तोंके चरित्रोंका मनन करनेसे अहंता, ममता और अभिमान आदि दोष छूट सकते जिससे जन-साधारणका वास्तविक कल्याण होना सहज है। कितने ही साधु-स्वभाव-सज्जनोंका इससे कल्याण हुआ हो रहा है और होता भी रहेगा।

भक्तमालके अनुशीलन द्वारा चित्त-शुद्धि, पारस्परिक प्रेमाभिवृद्धि और राष्ट्र-उन्नति—

यह एक निश्चित नियम है—"यो यमुपास्ते स तथैव भवति"—अर्थात् जो व्यक्ति जैसे देव या मानवकी उपासना (सेवा) करता है या सम्पर्क रखता है वह वैसा ही बन जाता है। इसी प्रकार कथा-वार्ताका भी प्रभाव पड़ता है। भक्तमालमें ऐसे भक्तोंकी गाथायें हैं जिनके चित्त स्वच्छ थे और जो भगवानकी अंशकला एवं विभूति-स्वरूप थे। उनकी जीवनियोंका अनुशीलन करनेसे साधकका चित्त अवश्य शुद्ध हो सकता है।

आज परस्पर प्रेम-भावका जो अभाव-सा दिखाई दे रहा है जिसके कारण एक व्यक्ति दूसरेसे कलह एवं द्वेष करता है। जहाँ पारस्परिक विद्वेष है वह परिवार, प्रान्त और देश उन्नत नहीं हो सकता। ऐसे घर, प्रान्त और देशपर किसी भी समय कोई भी आक्रमण कर सकता है और वैभवको ध्वस्त कर सकता है। राष्ट्र-उन्नतिमें पारस्परिक विद्वेष सदासे बाधक रहा है। आज भी यह विस्तृत होता जा रहा है, अतः राष्ट्रकी उन्नतिके लिए पारस्परिक विद्वेष मिटाना आवश्यक है और यह तभी हो सकता है जब चित्त शुद्ध हो। इसलिये भक्तमालका अनुशीलन विशेष अपेक्षित है।

भक्तमालके अनुशीलन द्वारा भगवत्-प्राप्ति में सहयोग—

यह प्रत्यक्ष देखा जाता है कि अपने प्रियका सन्मान करनेवाले पर सभी व्यक्ति सन्तुष्ट होते हैं। जैसे कोई व्यक्ति अपने प्रिय पुत्रके लालन-पालन करने वालेपर प्रसन्न होता है, उसी प्रकार भगवान भी

अपने प्रिय भक्तोंके सम्मान करनेसे अवश्य सन्तुष्ट होते हैं। स्वयं प्रभुकी यह उक्ति है—"मद्भक्तितोऽपि मद्भक्तपूजाऽभ्यधिका" अर्थात्—मैं उनपर विशेष प्रसन्न होता हूँ जो मेरे भक्तोंकी श्रद्धा-पूर्वक सेवा-शुश्रूषा करते हैं, क्योंकि मेरी पूजा से मेरे भक्तोंकी पूजा विशेष फलदायिनी है।

इसलिये भगवत्प्राप्तिके लिये साधन करनेवालोंको भी भक्तमालके पठन, श्रवण और मनन करनेसे विशेष सहयोग मिलता है। यही कारण है कि वैष्णव-पद्धतिमें कालक्षेपके विधानोंमें भक्तगाथा के पठन-पाठनका भी एक विधान है, जिसका अनुसरण सदासे ही होता रहा है।

भक्तमालकी भाषा और पाठ-भेद—

जैसे श्रीनाभाजीके अष्टयाममें व्रज और बिहारी आदि प्रादेशिक भाषाओंके शब्दोंका प्रयोग अधिक मिलता है उसी प्रकार भक्तमालमें भी कई प्रादेशिक भाषाओंके शब्द मिलते हैं, किन्तु इसमें व्रज और राजस्थानी-भाषाओंके शब्दोंका बाहुल्य है।

कुछ सज्जनोंने काशाओंकी भाषाके शब्दोंका भी अनुमान किया है, किन्तु ये शब्द मेवाड़, मारवाड़ आदि राजस्थानके प्रान्तोंकेही हैं। इस सम्बन्धमें छप्पय सं० १४१ की टीकामें थोड़ा दिग्दर्शन कराया गया है।

भक्तमालके छन्दोंमें यत्र-तत्र पाठभेद भी है। यह कहीं-कहींपर मात्राओंकी और कहींपर अक्षरोंकी न्यूनाधिकताके रूपमें है, जो प्रायः हस्त-लिखित सभी प्रतियोंमें मिलता है और लिपिकारों द्वारा किया गया जान पड़ता है।

प्राचीन प्रतियोंकी शोध और उनकी प्राप्ति—

जब इस ग्रंथके प्रकाशनका निश्चय हुआ तो कार्यालयमें संग्रहीत तीन-चार प्रतियोंके अनुसार ही यह कार्य आरम्भ कर दिया गया था, जो धीरे-धीरे चला। शनैः शनैः जहाँ-तहाँ इस ग्रंथके प्रकाशनकी सूचना पहुँचाई गई और भक्तमालकी पुरानी प्रतियोंके अन्वेषणार्थ प्रेमी सज्जनोंसे अनुरोध किया गया। जब पूर्वार्द्ध प्रकाशित हो चुका तब सूचनायें मिलने लगीं और पुरानी हस्त-लिखित प्रतियाँ भी आने लगीं।

शोध-कार्यालयोंकी खोज-रिपोर्टोंके अनुसार जहाँ-तहाँ पहुँच कर कुछ प्रतियाँ देखी गईं और कुछके सम्बन्धमें पत्र-व्यवहार द्वारा ज्ञान प्राप्त किया गया। जितनी प्रतियाँ प्राप्त हो सकीं, उनका संग्रह भी किया गया।

कई एक भक्तोंके जन्म-स्थान आदिका पता लगनेपर उन स्थानोंका भी अवलोकन किया और वहाँके वयोवृद्ध विशेषज्ञोंसे उन भक्तोंके सम्बन्धमें जानकारी भी प्राप्त की गई। इस प्रकार एक ओर प्रकाशन और एक ओर अन्वेषण—दोनों ही कार्य साथ-साथ चलते रहे और ग्रन्थकी पूर्तिके समय तक कुछ न कुछ विशेष सामग्री प्राप्त होती ही रही।

विवशता—

समय निकलनेके पश्चात् सामग्री या सूचना प्राप्त होनेके कारण उसका उपयुक्त स्थानपर उपयोग नहीं हो सका। जब पूरा भक्तमाल छप चुका तब कई एक भक्तोंका परिचय प्राप्त हुआ। ऐसे भक्तोंमें

एक "झाँझू" भक्त भी हैं, वे हरसोलीके रहनेवाले खण्डेलवाल-ब्राह्मण थे और भगवान श्रीरामके अनन्य उपासक थे। उनका नामोल्लेख छप्पय ६६ में हुआ है।

इसी प्रकार भक्तमालकी रचनाके समयमें विद्यमान और उससे भी पूर्ववर्ती बहुतसे विशिष्ट भक्तोंके चरित्र इस ग्रन्थमें नहीं दिये जा सके, क्योंकि यह ग्रन्थ नाभाजी-कृत भक्तमालमें आए नामोंके अनुसार ही प्रकाशित किया गया है। अतः बहुतसे वैष्णव और वैष्णव-सम्प्रदायोंकी उप-शाखाओंसे सम्बन्धित दादूजी, नानकजी, रामचरणदासजी (रामसनेही), महापुरुष हरिदासजी (निरंजनी) आदि महानुभावों का उल्लेख नहीं किया जा सका।

भक्तमालकी 'भक्ति-रस-बोधिनी' टीकाके अतिरिक्त श्रीवैष्णवदासजी-कृत टिप्पणी भी एक बड़ी उपयोगी वस्तु थी। कुछ सज्जन तो उसे भक्तमालका प्राण ही समझते थे और उसीके लिये वे इस ग्रन्थकी आशा लगाये हुए थे, किन्तु इसका कलेवर बिना टिप्पणीके ही इतना बढ़ गया कि जिसकी बिलकुल आशा ही नहीं थी। टिप्पणी साथ रहनेसे यद्यपि उपयोगिता विशेष बढ़ जाती, तथापि अर्थ और समय दोनोंकी ही अधिक अपेक्षा रहती और कलेवरके विशेष बढ़ जानेसे पढ़ते-पढ़ते साधारण पाठक भी ऊब जाते। इन सब विवशताओंके कारण टिप्पणी नहीं दी जा सकी और पाठभेद भी कहीं-कहीं ही दिया जा सका है।

सभी महानुभावोंके चित्र देनेका भी निश्चय किया गया था, किन्तु खोज करनेपर भी प्रामाणिक चित्र बहुत थोड़े ही प्राप्त हो सके हैं। बहुतसे ऐसे सज्जनोंसे अनुरोध किया गया जिनके पास चित्र और ब्लाक थे, उन्होंने भेजनेका आश्वासन भी दिया, किन्तु अन्तमें कई दिनों तक निहोरा करते रहने पर भी उन्होंने नहीं दिये। अतः जितने चित्र प्राप्त हो सके, उनपर ही सन्तोष करना पड़ा।

आभार-प्रदर्शन—

सामग्री-चयन, बौद्धिक-मानसिक-शारीरिक योग, ग्रन्थ चित्र आदि देने-दिखलाने और पत्रोत्तरों द्वारा परामर्श आदि द्वारा योग देनेवालोंमें पं० श्रीउदयशंकरजी शास्त्री आगरा, पं० श्रीकंठमणि शास्त्री नाथद्वारा, श्रीमोतीलालजी मेनारिया, सरस्वती-भवन उदयपुर, अध्यक्ष-उपाध्यक्ष—राजस्थान पुरातत्व मन्दिर और मास्टर सीतारामजी लालस जोधपुर, श्रीअगरचन्दजी नाहटा और राजकीय पुस्तकालयाध्यक्ष बीकानेर, डा० श्रीनारायणदत्तजी शर्मा मथुरा, महन्त श्रीहरिवल्लभदासजी शास्त्री अल्तेड़ा, स्वामी श्रीमंगलदासजी वैद्य तथा पं० रामगोपालजी शास्त्री जयपुर, पंडितराज स्वामी श्रीभगवदाचार्यजी तथा महान्त श्रीभगवानदासजी खाकी अयोध्या, पं० श्रीजगन्नाथजी भक्तमाली वृन्दावन, बाबू प्रभुदयालजी मीतल मथुरा आदि महानुभावोंके नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। उनका यह पत्र परिकर आभारी है।

—व्रजवल्लभशरण वेदान्ताचार्य, पञ्चतीर्थ

भक्तमाल और उसके टीकाकार

[लेखक—पं० श्रीउदयशङ्करजी शास्त्री, हिन्दी-विद्यापीठ, विश्वविद्यालय, आगरा]

भक्तमालकार श्रीनाभाजीके नामसे सभी साहित्य-प्रेमी सुपरिचित हैं। ये गलता-गादीके संस्थापक पयोहारी श्रीकृष्णदासजीके शिष्य श्रीअग्रदासजीके कृपापात्र शिष्य थे, यद्यपि उन्होंने अपनी जीवनीके सम्बन्धमें भक्तमालमें कहीं भी उल्लेख नहीं किया, तथापि टीकाकार श्रीप्रियादासजीने बारहवें और तेरहवें कवित्त द्वारा थोड़ा प्रकाश डाला है। उन्होंने टीकाके आरम्भमें यह संकेत भी कर दिया है कि मुझे टीका करनेकी प्रेरणा श्रीनाभाजीसे ही प्राप्त हुई है, किन्तु यह प्रेरणा मानसिक रही होगी, क्योंकि उन दोनोंकी समसामयिकता सिद्ध नहीं होती।

श्रीनाभाजीकी जातिके सम्बन्धमें विभिन्न धारणायें हैं। बाल्यकालमें उनकी स्थिति दयनीय थी। वस्तुतः भक्त महापुरुषोंको उच्च जाति, कुल और समृद्ध देशकी अपेक्षा नहीं रहती, वे जहाँ कहीं भी प्रकट हो जायें वही जाति, कुल और देश धन्य हो जाता है।

किस स्थानमें रहकर उन्होंने भक्तमालकी रचना की थी, इसका पता नहीं चलता; किन्तु श्रीअग्रदासजी और नाभाजीकी मधुररस-उपासनाके आधारपर सम्भवतः इसका अधिकांश भाग वृन्दावनमें ही रचा गया होगा। वृन्दावनमें रची हुई श्रीप्रियादासजीकी टीकासे यह अनुमान विशेष पुष्ट होता है। वृन्दावनमें भक्त-गाथाओंकी भी पुरानी परम्परा चली आ रही है।

धार्मिक और साहित्यिक दोनों ही दृष्टियोंसे भक्तमाल अपना जो महत्त्व रखता है टीका टिप्पणियों द्वारा वह विशेष बढ़ा है। चाहे कोई कितना ही महत्वपूर्ण ग्रन्थ क्यों न हो, यदि उसपर भाष्य या टीका न हो तो उसका वह महत्त्व छिपा हुआ ही रहता है, अतएव वह ग्रन्थ भी प्रकाशमें नहीं आ पाता। स्थूलकाय ग्रन्थोंके सम्बन्धमें चाहे यह नियम लागू न हो, किन्तु सूक्ष्म कलेवर वाले ग्रन्थोंका तो जीवन ही इन टीका-टिप्पणियोंको माना गया है। सम्भवतः यही सोच-समझकर श्रीनाभाजी द्वारा श्रीप्रियादासजीको इसकी टीका करनेके लिये आन्तरिक प्रेरणा की गई होगी और सर्वप्रथम उन्होंने ही इसकी टीका लिखी होगी।

श्रीप्रियादासजीका भी कहीं कोई स्वतन्त्र परिचयात्मक मुद्रित या अमुद्रित ग्रन्थ अभी तक हमें उपलब्ध नहीं हुआ। उनका जो कुछ परिचय मिलता है, वह इसी भक्तमालकी 'भक्ति-रस-बोधिनी' टीका में है। कवित्त सं० १ और ६३३ के आधारपर पता चलता है कि ये श्रीचैतन्य-सम्प्रदायके अनुयायी थे और उनके गुरुदेवका नाम श्रीमनोहरदासजी था। उन्होंने सं० १७६९ फाल्गुन बदी ७ को भक्तमालकी टीका पूर्ण की थी। इनके अतिरिक्त कुछ सज्जनोंकी धारणा है कि वे वृन्दावनमें रहा करते थे और कभी-कभी जयपुर भी जाते-आते रहते थे। कुछ लोग उन्हें बंगाली मानते हैं, किन्तु टीकाके शब्दोंपर विचार करनेसे ज्ञात होता है कि व्रजप्रदेश या व्रजके निकटवर्ती राजस्थानमें ही उनकी जन्म-स्थली रही होगी। उन्होंने वृन्दावनमें ही भक्तमालकी 'भक्ति-रस-बोधिनी' टीका लिखी थी जो बहुत ही प्रसिद्ध हुई। इसकी सैकड़ों हस्त-लिखित एवं मुद्रित प्रतियाँ मिलती हैं।

उन्होंने इस टीकाके सहारे जिस भक्तिभावको प्रवाहित किया था वह आज भी पल्लवित पुष्पित

होरहा है। उनके बाद उनके पौत्र वैष्णवदासजीने "भक्ति उरवशी"[1] नामक टीका लिखी थी। ये वैष्णवदासजी मथुरामें किसी सरकारी पदपर नियुक्त थे। तीसरी टीका सं० १८६८ में रोहतक-निवासी लाला भुमानीरामने की थी। फिर सं० १९१३ में पंजाबके लाला तुलसीरामने 'भक्तमाल-प्रदीप' नामसे फारसीमें अनुवाद किया था। उसीका मुख्य आधार लेकर पडरौनाके राजा ईश्वरीप्रताप रायने "भक्त-कल्पद्रुम" नामसे हिन्दी अनुवाद प्रकाशित करवाया; जिसमें २४ निष्ठाओंमें २६३ महात्माओंका गुणानुवाद है। १७ निष्ठाओंका तो उन्होंने लाला तुलसीरामके समान ही क्रम रक्खा था, किन्तु ७ निष्ठाओंका बदल दिया था।[2]

उन २४ निष्ठाओंमें जिन सन्तोंके चरित्र नहीं आये उनका समावेश करते हुए रीवाँ-नरेश महाराजा रघुराजसिंहजूने सं० १९४५ में "रामरसिकावली" भक्तमालकी रचना की थी। इसमें तीन-सौ से अधिक सन्तोंके चरित्र हैं। उसका संशोधन एवं परिवर्धन युगलानन्दजी (युगलदास कबीर-पंथी) ने किया था।

इस ग्रन्थके अनुसार नित्यानन्द नामके महात्माने भी भक्तोंसे सम्बन्धित किसी ग्रन्थकी रचना की थी जो अप्राप्त है। खेतड़ी (राजस्थान) निवासी लाला हरिवरजीने एक 'हरिभक्तिप्रकाशिका' टीका लिखी थी, जिसे पं० श्रीज्वालाप्रसादजी मिश्रने संशोधन करवा कर सं० १९७२ में बम्बईसे प्रकाशित करवाया।

अयोध्याके महात्मा श्रीरसरंगमणिजीने "वार्तिक-प्रकाश" नामक एक टीका लिखी है जो रामोपासक सन्तोंमें प्रसिद्ध हुई। श्रीवृन्दावनके एक हंडिया स्वामीका भी टीकाकारोंमें नाम लिया जाता है, किन्तु उन्होंने टीका नहीं की, केवल वैष्णवदासजीकी टिप्पणि-सहित सं० १९५६में प्रतिलिपि की थी। अन्तमें अपने परिचयके ४-५ सवैया लिख देनेके कारण उनकी टीकाकारके रूपमें प्रसिद्धि होगई।

नाभाजीके भक्तमालके अतिरिक्त और भी भक्तमाल लिखी गईं और उनकी टीकाएँ भी हुईं उसी धारामें छपरा-निवासी, शङ्करदासजीके पुत्र एवं अयोध्यास्थ रामचरणजीके शिष्य श्रीजीवाराम (युगलप्रिया) ने सं० १८६६ में एक "रसिक प्रकाश भक्तमाल" की रचना की और रामोपासक रसिक-भक्तोंका इतिवृत्त संग्रह किया। उनके शिष्य जानकी रसिकशरणजीने वि० सं० १९१९ में उसपर "रसिक-प्रबोधिनी" नामकी टीका लिखी। २३५ छप्पय और ५ दोहेके मूल ग्रन्थपर ६१६ कवित्तोंमें वह टीका पूर्ण हुई है। इन टीकाओंमें प्रियादासजीकी टीका और श्रीनिम्बार्क-सम्प्रदायके सन्त श्रीवैष्णव-दासजीकी टिप्पणि प्रधान है, श्रीवैष्णवदासजीकी टिप्पणि अनेक शास्त्र और हिन्दी काव्योंके पद्योंसे सम्पन्न होनेके कारण भक्तमालका प्राण समझी जाती है। यह सं० १७८२ में लिखी गई थी। 'भक्तमाल बोधिनी' टीका और 'भक्तमाल प्रसंग' भी उन्होंने लिखे थे। कुछ लेखकोंने भ्रमसे 'भक्तमाल-माहात्म्य' सहित इन तीनों ग्रन्थोंके रचयिताको एक ही व्यक्ति मान लिया है और उनका रचना-काल सं० १८८४ बतलाया है, किन्तु प्र० वै० रि० के अनुसार एक वैष्णवदासजीका समय सं० १७८२ निश्चित होता है. (मि० ब० वि०, द्वि० भा०, पृ० ८२६)। अतः वे दोनों वैष्णवदास भिन्न-भिन्न थे।

इनके अतिरिक्त मार्त्तण्ड बुआने सं० १९३३ में मराठी भाषामें छन्दोबद्ध टीका की थी। संस्कृत, बंगला, अंग्रेजी, उर्दू आदि भाषाओंमें भी कई अनुवाद हुए जिनसे भक्तमालका प्रचार-प्रसार उत्तरोत्तर बढ़ता ही जारहा है।

---

१ इस नामकी टीकाके एक रचयिता लालदासजी भी होगये हैं।

२ भक्तकल्पद्रुम पत्र, ११-१२।

भक्तमाल—रामानुज-रामानन्द

[लेखक—श्रीकाशीपण्डितसभासे 'पण्डितराज' इत्युपाधि-सम्मानित वेदोपनिषद्-ब्रह्मसूत्र-भाष्यकार परमहंस परिव्राजक स्वामी श्रीभगवदाचार्यजी महाराज।]

भक्तमाल एक बहुत ही प्रसिद्ध ग्रन्थ है। जिसके कर्त्ता श्रीनाभाजी थे जो श्रीरामानन्द-सम्प्रदायके अनुयायी थे। 'भक्तमाल' शब्द ही अपने स्वरूपका साक्षी है। भक्तमालमें भक्तोंकी माला है—भक्तोंका गुण-गान है। 'भक्त' शब्द बहुत व्यापक है। रामके भक्तको ही भक्त नहीं कहा जाता कृष्णके भक्तको भी भक्त कहते हैं और शिवके भक्तको भी भक्त कहते हैं। इतना ही नहीं देवीके भक्तको भी भक्त कहते हैं। श्रीनाभाजीकी दृष्टि बहुत पवित्र और बहुत उदार थी। अतः उन्होंने राम-भक्त या कृष्ण-भक्त या राम-भक्ति या कृष्ण-भक्तिका उच्चारण न करके इतना ही मङ्गला-चरणके प्रथम दोहेमें कहा है कि—

भक्ति भक्त भगवन्त गुरु, चतुर नाम बपु एक।
इनके पद बन्दन किए, नाशत विघ्न अनेक ॥१॥

चौथे दोहेमें भी नाभाजीने लिखा है—

अग्रदेव आज्ञा दई, भक्तन को यश गाउ।
भव-सागर के तरन को, नाहिन और उपाउ ॥४॥

इन दोनों दोहोंमें भक्त शब्द आया है, वह केवल अमुक देवके भक्तके लिये नहीं, प्रत्युत सभी देवोंके भक्तोंके लिए आता है। इसमें विवाद करना केवल जड़ता है। प्रथम दोहेमें 'भगवन्त' शब्द आया है। वह केवल नाभाके उपास्य देव श्रीराम के लिए ही नहीं है, परन्तु कृष्ण और शङ्करके लिए भी है। अत एव नाभाजीने अपने मङ्गला-चरणके दोहेमें कहीं भी रामका नाम नहीं लिया है, हरिका नाम लिया है, 'हरि' शब्द रूढ़ नहीं है यौगिक है अथवा अधिक-से-अधिक इतना ही कह सकते हैं कि वह योगरूढ़ है, परन्तु योगरूढ़ उसे मानने की अपेक्षा यौगिक ही मानना अधिक अनुकूल है और नाभाजीके प्रति विशुद्ध न्याय है। नाभाजीने भक्तमालके ३७वें छप्पयमें शङ्कराचार्यका भी उल्लेख किया है। वह छप्पय यह है—

उत शृंखल अज्ञान जिते अन ईश्वरवादी।
बुद्ध कुतर्की जैन और पाखण्ड हि आदी॥
बिमुखनि को दियो दण्ड ऐंचि सन्मारग आने।
सदाचार की सींव विश्व कीरति हि बखाने॥
ईश्वरांश अवतार महि मरजादा मांडी अघट।
कलियुग धर्मपालक प्रगट आचारज शंकर सुभट॥

श्रीशङ्कराचार्य न तो रामभक्त थे और न रामावतार थे। वह शङ्करावतार माने जाते हैं। उनका भी इस भक्तमाल में इसी ३७ वें छप्पयमें वर्णन हुआ है। अतः 'हरि' शब्द यौगिक ही है। मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि भक्तमालमें केवल विष्णु-भक्तोंका ही उल्लेख नहीं है, शिवके भक्तोंका भी है। यह एक बात स्पष्ट हुई।

अब दूसरी बात—श्रीरामानन्द-सम्प्रदायकी परम्पराके निर्णय-कालमें मैं कह चुका हूँ कि भक्तमालमें किसी सम्प्रदायकी परम्परा नहीं है। उसमें केवल भक्तोंका वर्णन है। यह वर्णन कहीं सक्रम है और कहीं अक्रम, कहीं-कहीं विक्रम भी है।

भक्तमाल के ३१ वें छप्पय में—"श्रीरामानन्द रघुनाथ ज्यों दुतिय सेतु जगतरन कियो" यहीं से ही इस छप्पयका आरम्भ होता है और अन्तमें भी यही आता है। यदि इसे परम्पराबोधक छप्पय मानें तो रामानन्द, अनन्तानन्द, कबीर, सुखानन्द, सुरसुरानन्द, नरहर्यानन्द, पीपा, भावानन्द, रविदास, धना, सेन, सुरसुरानन्द—ये सब क्रमशः आचार्य-कोटिमें आते जायेंगे। अर्थात् रामानन्दके गुरु अनन्तानन्द और उनके गुरु कबीर, इस प्रकार आगे भी क्रम चलेगा। यदि नीचेके छठे पदसे गणना करें तो रामानन्दके शिष्य नरहरि (सुरसरि), उसके शिष्य सेन, उनके शिष्य धना आदि और अन्तमें अनन्तानन्दके शिष्य रामानन्द। सब गड़बड़ है। यदि भक्तमालको परम्परा-ज्ञापक ग्रन्थ माना जाय तो उपर्युक्त ही अक्रम विक्रम रामानुज-सम्प्रदायमें भी प्राप्त होता है। २५ वें छप्पयके अनुसार ऊपर से परम्परा की गणना करें तो लक्ष्मी, विष्वक्सेन, शठकोप, बोपदेव, श्रीनाथ, पुण्डरीकाक्ष, राममिश्र, पराङ्कुश, यामुनाचार्य, रामानुजाचार्य—इस प्रकारसे गुरु-परम्परा चलती है। अर्थात् लक्ष्मीके गुरु विष्वक्सेन, उनके गुरु शठकोप उनके गुरु बोपदेव आदि। नीचेसे गणना करें तो लक्ष्मीके गुरु रामानुज, उनके गुरु यामुनाचार्य आदि। यदि ऊपर से 'सम्प्रदाय सिरोमणि...' इस पंक्तिको छोड़कर परम्परा गिनें तो विष्वक्सेन परम्पराके प्रारम्भक बनते हैं—लक्ष्मी नहीं। तब 'श्रीसम्प्रदाय' यह संज्ञा ही श्रीरामानुज-सम्प्रदायमें-से मिट जाती है जो जगत् के किसी भी तटस्थ विद्वान् को इष्ट नहीं है। अतः बहुत सरलताके साथ यह समझा जा सकता है कि भक्तमाल गुरु-परम्परा-वर्णन करनेके लिए नहीं लिखा गया है, प्रत्युत भक्तोंके यशोगानके लिए लिखा गया है।

अब रह जाता है भक्तमालके २४ वें छप्पय का विचार। उसमें चार सम्प्रदायोंके आचार्योंके नाम गिनाए गए हैं। उसमें प्रथम नाम 'रामानुज' का है। परम्पराके युद्धकालमें मैंने इस 'रामानुज' शब्दको 'रामानूक का अपभ्रंश माना है। रामानूक का अर्थ है—रामम् अनुकायति इति—रामका निरन्तर उच्चारण करनेवाला।

ऐसे रामानन्दजी ही हैं, रामानुजजी नहीं। तब 'रमापद्धति' 'रामानुज' में भी रमा-पद्धति रामानुक (नूक)' ही समझना चाहिए। रामानूकसे रामानन्द ही गृहीत हो सकते हैं, रामानुज नहीं। अब न तो सङ्कटकाल है और न युद्धकाल है 'रामानूक' यह तो युद्धकाल का अस्त्र-शस्त्र था। अब शान्ति-काल है। अब निर्णीतकाल है। अब यह दृढ़ता-पूर्वक कहा जा सकता है कि श्रीनाभाजी के समय में श्रीरामानुज स्वामीका डिण्डिम उत्तर भारतमें भी बज रहा था और लोगोंने भ्रमसे, भयसे, लोभसे अथवा अन्य किसी कारणसे रामानुज स्वामीको चार आचार्योंमें गिन लिया था। रामानन्द स्वामी चार आचार्योंमें परिगणित नहीं हुए। इससे केवल लेख-दोष या लेखक-दोष ही प्रतीत होता है—वस्तु-दोष नहीं। यदि लेखक-दोष या लेख-दोष न होता तो आज प्रचलित क्रमके अनुसार चारों सम्प्रदायोंकी गणनामें रामानन्द सम्प्रदायका प्रथम नाम न होता। यह भी कह सकते हैं कि ये चारों उपर्युक्त आचार्य दाक्षिणात्य थे। रामानुजका इस छप्पय में वर्णन हो रहा है यह भी दाक्षिणात्य के ही नाते से चारों सम्प्रदायोंकी आचार्य-कोटिमें उस देशके लिए गिने गए। इसमें किसीको भी कोई आपत्ति नहीं है। जब सम्प्रदायोंका चतुष्क बनाया गया होगा उस कालमें यहांके श्री सम्प्रदायाचार्य श्रीरामानन्द स्वामी गिने गए। रामानुज और रामानन्दमें दोनों ही श्रीसम्प्रदायके न तो प्रवर्तक हैं और न स्थापक हैं, वे दोनों ही केवल सम्वर्धक हैं। उपास्य देव नारायणके साथ चलता

हुआ सम्प्रदाय दक्षिण में प्रतिष्ठित था और उसके सम्वर्धक श्रीरामानुज थे और रामके साथ चलता हुआ श्रीसम्प्रदाय उत्तर देशमें प्रतिष्ठित था और उसके सम्वर्धक रामानन्द थे। एक ही सम्प्रदाय दो देशोंमें—प्रान्तोंमें दो नामोंसे प्रतिष्ठित हो गया। नारायणकी अनादि शक्ति लक्ष्मी मानी गई हैं, अतः रामानुज-सम्प्रदायमें नारायण और लक्ष्मीसे परम्परा चलती है। रामकी अनादि शक्ति सीता मानी गई हैं अतः रामानन्द-सम्प्रदायमें राम और सीतासे परम्परा चलती है। विवादके लिए कोई स्थान नहीं है। आजका युग आन्तरिक कलह के लिए अनुकूल नहीं है। व्यर्थकी बातोंसे पारस्परिक मैत्री-बन्धन को न तो शिथिल ही बनाना चाहिए और न समूलोच्छिन्न ही करना चाहिए। उत्तर भारतमें चारों वैष्णव सम्प्रदायोंका जो सुमेल है उसे नष्ट कर देनेसे हानिके सिवा कोई भी लाभ नहीं है। चारों सम्प्रदायोंकी परस्पर हित-रक्षण करते रहनेमें ही शोभा है और निश्चिन्तता है। अन्यथा जैसा मैं ऊपर कह आया हूँ एक मालाके दाने अलग-अलग बिखर जाएँगे और मालाका नाम तथा महत्त्व सदाके लिए विनष्ट और अदृश्य हो जा.गा।

अन्तमें मै अपने भावको स्वल्पाक्षरोंमें स्पष्ट करना चाहता हूँ और वह यह है कि भक्तमालमें किसी भी सम्प्रदायकी परम्परा नहीं है। भक्तमालके २४ वें छप्पयके बादका दोहा या तो प्रक्षिप्त है और या दाक्षिणात्य आचार्य रामानुजके प्रसङ्गमें लिखा गया है। भक्तमालके २०२ छप्पयोंमें अन्यत्र कहीं भी बीचमें दोहा नहीं है, अतः यह बहुत सम्भव है कि यह दोहा पीछेसे मिला दिया गया होगा। क्यों मिला दिया गया होगा, इस प्रश्नका कोई उत्तर नहीं है। श्रीरामचरितमानसमें सैकड़ों चौपाइयाँ प्रक्षिप्त हैं और निस्सन्देह प्रक्षिप्त हैं, कारण की गवेषणा केवल मूर्खता है।

श्रीरामानुज पद्धति प्रताप अवनि अमृत ह्वै अनुसर्यो ॥ ३० ॥

यह पद तो इतना ही सिद्ध करता है कि रामानुज और रामानन्द का सम्प्रदाय श्री सम्प्रदाय ही था। रामानुज प्रथम हो चुके थे। रामानन्दका अवतार पीछेसे हुआ है। अतः रामानन्द स्वामीको रामानुज-सम्प्रदायका प्रताप कह दिया गया है। ये दोनों ही सम्प्रदाय विशिष्टाद्वैतवादी हैं, अतः रामानन्दको रामानुज-पद्धतिका प्रताप बना दिया गया। इस वचनसे केवल सम्प्रदायका ऐक्य सिद्ध होता है न कि आचार्य-परम्परा का ऐक्य। भ्रम दूर हो चुका है।

रामानुज और रामानन्दका सम्प्रदाय एक है, परन्तु आचार्य-परम्परा भिन्न-भिन्न हैं। आज स्वामी—नारायण सम्प्रदाय प्रचलित है। इसकी आचार्य-परम्पराका दोनों सम्प्रदायोंके साथ ऐक्य न होने पर भी उसका वेदान्त-सिद्धान्त विशिष्टाद्वैत ही है। इसी प्रकार रामानुज और रामानन्द-संप्रदाय की आचार्य-परम्परा भिन्न-भिन्न होनेपर भी विशिष्टाद्वैतके दोनों ही उपासक हैं।

भक्तमालको युद्ध-क्षेत्र नहीं बनाना चाहिए। उसमें न तो किसी सम्प्रदाय—विशेषका आदर है और न किसी कम विशेषका; वह तो भक्त-ग्रन्थ है—सामान्य ग्रन्थ है।

विष्णुकाञ्चीके स्वामी श्रीअनन्ताचार्यजी शुद्ध और प्रसिद्ध श्रीरामानुजीय विशिष्टाद्वैतवादी थे, इसमें तो किसीको भी तनिक भी सन्देहके लिए अवकाश नहीं है। उन्होंने अपने यहां अपने प्रेसमें अद्वैतमतके प्रचारके लिए नहीं, परन्तु ज्ञानके लिए 'अद्वैत-मत-बोधक' एक पुस्तक हिन्दीमें प्रकाशित की। है बहुत वर्ष व्यतीत हो गए। उन्हें कोई अद्वैतवादी न कहता है और न कह सकता है। वह सामान्य

ग्रन्थ है। साम्प्रदायिक ग्रन्थ विशिष्ट ग्रन्थ होता है। सामान्य ग्रन्थ लिखने से कोई पहाड़ टूटकर सिर पर नहीं गिरता है। गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी विशिष्टाद्वैतवादी थे यह तो आज बहुमत हो चुका है तथापि उनका रामचरितमानस विशिष्टाद्वैतवादियोंकी पद्धतिसे बहुत दूर जाता है। एतावता उन्हें अविशिष्टाद्वैतवादी नहीं कहा जा सकता।

वाचस्पति मिश्रने सभी दर्शनोंपर भाष्य एवं टीकाएँ की हैं, एतावता उन्हें किसी भी एक मतका अनुयायी नहीं कहा जा सकता। मैंने स्वयं भी 'वेदान्तनो अभ्यास' नामक एक ग्रन्थ गुर्जर-भाषामें अद्वैत-वेदान्तको समझानेके लिए लिखा है, एतावता मुझे अद्वैतवेदान्ती कहने वाला भ्रान्त ही माना जायगा।

युगका अनुसरण करके सैकड़ों वर्षोंसे चले आते हुए श्रीरामानन्द, निम्बार्क, मध्व और विष्णुस्वामी—इन चारों आचार्योंके पवित्र सम्प्रदायोंकी पारस्परिक सद्भावनामें ठेस लगानेवाली कोई भी कार्यवाही नहीं होनी चाहिए।

—भगवदाचार्य

इस लेख में प्रारम्भिक दोहोंके अतिरिक्त जिन छप्पयोंकी संख्याके १७, २१, २४, २५, ३० इन अङ्कों का उल्लेख है, वस्तुतः पुस्तकमें उनकी संख्या क्रमशः ४२, ३६, ३७, ३८ और ३५ है। प्रारम्भिक चार दोहोंकी संख्या पृथक् माननेपर २८ वाँ छप्पय तो २५ वीं संख्यामें परिगणित होता ही है। सम्भवतः अग्रिम छप्पयोंकी संख्या मध्यवर्ती दोहेको जोड़ कर दी गई होगी। अतः उपर्युक्त अङ्कोंके क्रम को पाठक स्वयं मिला लेवें।

—सम्पादक

अनुक्रमणिका

❀ अनुक्रमणिका ❀

चित्र-सूची

★

महन्त श्रीहरिवल्लभदासजी खाकी मु० मनोहरा (जयपुर) के संग्रह एक हस्तलिखित भक्तमाल की पाण्डुलिपि।

श्री सर्वेश्वर

भक्त सर्वस्व—श्री जुगल किशोर

जनम जनम जिनके सदा, हम चाकर निसि भोर।
त्रिभुवन पोषन सुधाकर, ठाकुर जुगल किशोर॥

❀ श्रीसर्वेश्वरो जयति ❀

श्री भक्तमाल

भक्तिश्च भक्ता भगवान् गुरुश्च नामानि चत्वारि शरीरमेकम् ।
तत्पादपंकेरुहवन्दनेन समस्त - विघ्नाः शमनं प्रयान्ति ॥

श्री हंसं सनकादिकान् मुनिवरं वीणाधरं नारदम्,
श्रीनिम्बार्कपदाम्बुजं हृदि सदा ध्यायन् परान् देशिकान् ।
नत्वा भक्तगणं तदीय–महिमा–विद्योतिनी मालिका,
भाषाग्रन्थसुगुम्फिता कृतिरियं सर्वेश्वरे राजताम् ।

सर्वेश्वर सनकादि मुनि, निम्बारक भगवान ।
परम्परागत सकल गुरु-चरण-कमल धरि ध्यान ॥
चरण-कमल धरि ध्यान भक्तजन जुग-जुग नामी ।
जिनकी महिमा-माल रची श्री नाभा स्वामी ॥
प्रिया तिलक युत वही सुजन-जन-मानस-सुखकर ।
सरस सुभाषा उरहिं धरौं वल्लभ सर्वेश्वर ॥

भक्ति-रस-बोधिनी

महाप्रभु कृष्णचैतन्य मनहरण जू के चरण कौ ध्यान मेरे नाम मुख गाइयै ।
ताही समय नाभाजू ने आज्ञा दई लई धारि टीका विस्तारि भक्तमाल की सुनाइयै ॥
कीजिये कवित्त बन्ध छन्द अति प्यारो लगै जगै जग माँहि कहि वानी विरमाइयै ।
जानों निजमति ऐ पै सुन्यौं भागवत शुक-द्रुमनि प्रवेश कियौ ऐसेई कहाइयै ॥१॥

यह कवित्त श्रीप्रियादासजी द्वारा लिखी गई "भक्ति-रस-बोधिनी" टीकाका मंगलाचरण है। इस टीकाके लिखे जानेका कारण बताते हुए श्रीप्रियादासजी कहते हैं–मैं मनोहर–महाप्रभु श्रीकृष्णचैतन्यके चरणोंका तो (हृदयमें) ध्यान कर रहा था और मुखसे नाम-संकीर्त्तन । उसी समय श्रीनाभाजीने आज्ञा दी जिसे मैंने शिरोधार्य कर लिया (वह आज्ञा इस प्रकार थी कि) आप विस्तार-पूर्वक टीका करके भक्तमाल सुनायें। (इस टीका को) कवित्त-बद्ध कीजिए; (क्योंकि) यह छन्द अत्यन्त प्रिय लगता है, जिससे यह (भक्तमालकी टीका) सारे संसारमें प्रकाशित हो जाय। इस प्रकार कहकर नाभाजीकी वाणीने विराम लिया। (तो मैंने निवेदन किया कि) हे महाराज! मैं अपनी बुद्धिको भली भाँति जानता हूँ। फिर भी मैंने भागवतमें सुना है कि शुकदेवजीने वृक्षोंमें प्रवेश किया था (और उनसे वचन कहलवाये थे)। ऐसे ही आप भी (मेरे हृदय में प्रवेश करके) मुझसे कहलवाइये ।

"महाप्रभु श्रीकृष्णचैतन्य" से अभिप्राय गौड़ीय सम्प्रदायके प्रवर्त्तक, कलिपावनावतार श्रीचैतन्य-महाप्रभुका है। इस मंगलाचरणसे ज्ञात होता है कि श्रीप्रियादासजी चैतन्य-सम्प्रदायके थे।

मनहरण :—इसका सांकेतिक अर्थ "मनोहररायजी" भी है जो श्रीप्रियादासजीके गुरुदेवका नाम था।

नाम सुख गाइए :—कलियुगमें भगवन्नाम-संकीर्त्तनकी महिमा अधिक है। विशेषकर महाप्रभु-चैतन्य ने नाम-संकीर्तन पर अधिक जोर दिया है।

नाभाजू ने आज्ञा दई :—वास्तवमें नाभाजीका समय तो श्रीप्रियादासजीसे बहुत पूर्व था। 'भक्तमाल' का रचनाकाल विद्वानोंके मतानुसार सं० १६४२ से १६८० के बीचमें है और प्रियादासजीने अपनी टीका सं० १७६९ में समाप्त की, जैसा कि टीकाके अन्तिम कवित्तसे स्पष्ट है। अतः नाभाजी और प्रियादासजी समकालिक तो हो नहीं सकते। इसलिए इसका भावार्थ यही लेना होगा कि 'नाभाजीने हृदय में प्रेरणा उत्पन्न की'।

सुक˙˙˙कहाइये :—इसका संकेत श्रीभागवत्की उस कथाकी ओर है जिसके अनुसार जब शुकदेवजी के घर छोड़कर वनमें चल देने पर पुत्र-शोकसे व्याकुल व्यासजी 'पुत्र ! पुत्र !!' पुकारते उनके पीछे चले तो वनके वृक्ष-वृक्षसे "शुक मैं हूँ; शुक मैं हूँ" की ध्वनि आने लगी, मानो शुकदेवजीने उन वृक्षोंमें प्रवेश करके उनसे ऐसे वचन कहलवाये। इस संकेतसे श्रीप्रियादासजीकी नम्रता और दैन्यका आभास होता है।

भक्ति-रस-बोधिनी

रची कविताई सुखदाई लागै निपट सुहाई औ सचाई पुनरुक्ति लै मिटाई है।
अक्षर मधुरताई अनुप्रास जमकाई अति छबि छाय मोद झरी सी लगाई है।।
काव्य की बड़ाई निज मुख न भलाई होति नाभाजू कहाई याते प्रौढ़ि कै सुनाई है।
हृदै सरसाई जोपै सुनियै सदाई यह "भक्ति रसबोधिनी" सुनाम टीका गाई है ।।२।।

इस कवित्तमें अपनी कविताकी विशेषताएँ बताते हुए श्रीप्रियादासजी कहते हैं कि :—(नाभाजीकी आज्ञासे मैंने ऐसी) कविताकी रचनाकी है, जो सुख देनेवाली और अत्यन्त सुहा-वनी लगती है, जिसमें सत्यता है और पुनरुक्ति (दोष) को भी मिटा दिया गया है। अक्षरोंकी मधुरता, अनुप्रास और यमक आदि (अलंकारों) से अत्यन्त शोभा पाकर यह (कविता) आनन्दकी झड़ी-सी लगा देती है। (अपनी) कविताकी बड़ाई अपने मुखसे करना अच्छा नहीं होता, (किन्तु मेरी यह रचना तो) नाभाजीने कहलवाई है, इसीसे (इतनी प्रशंसा) प्रौढ़तापूर्वक सुनाई है। चाहे इसे सदा सुनते रहें, फिर भी हृदयमें सरसता बनी रहती है। इसीसे इस टीका का सुन्दर नाम "भक्ति-रस-बोधिनी" कहा गया है। अर्थात् यह भक्ति-रस का बोध कराने वाली है।

अक्षर˙˙˙जमकाई :—इन गुणालंकारादिके उल्लेखसे श्रीप्रियादासजीका यही अभिप्राय प्रतीत होता है कि पाठक इसे कोरी शुष्क टीका ही न समझें। टीका होते हुए भी यह काव्यके मौलिक गुणोंसे भरपूर है।

काव्यकी बड़ाई :—अपने काव्यकी प्रशंसा अपने मुखसे करना शिष्टताकी सीमासे बाहर है। किन्तु प्रियादासजी इस टीकाको अपनी रचना ही नहीं मानते । इसे श्रीनाभाजीकी कृति समझकर ही वे इसके गुणोंका बखान कर रहे हैं । इस प्रकार आत्मप्रशंसा-दोषका उन्होंने परिहार कर दिया है।

हुवै सरसाई ‥सदाई :—इसका अर्थ यों भी हो सकता है कि–"यदि कोई इस टीकाको सदा सुनता रहेगा तो उसका हृदय सरल हो जायगा" । किन्तु इसकी अपेक्षा यह अर्थ अधिक अच्छा लगता है कि सदा सुनने पर भी यह हृदयको सरस लगती है । क्योंकि एक ही बातको बार-बार सुनते रहनेसे फिर उसमें उतना आकर्षण नहीं रहता । कुछ-न-कुछ नीरसता आ ही जाती है । किन्तु इस टीकामें यह विशेषता है कि बारम्बार सुनने पर भी मन नहीं ऊबता, अपितु और अधिक सरस होता चला जाता है । इसी लिए इसका नाम "भक्ति-रस-बोधिनी" रक्खा गया है।

भक्ति-रस-बोधिनी

श्रद्धाई फुलेल औ उबटनौ श्रवण-कथा मैल अभिमान अंग-अंगनि छुड़ाइये ।
मनन सुनीर अन्हवाइ अंगुछाइ दया नवनि वसन पन सोधो लै लगाइये ॥
आभरन नाम हरि साधुसेवा कर्णफूल मानसी सुनथ संग अंजन बनाइये ।
भक्ति-महारानी को सिंगार चारु बीरी चाह रहे जो निहारि लहै लाल प्यारी गाइये ॥३॥

जिस प्रकार शृङ्गार के पूर्व तैल-मर्दन, स्नान और सुन्दर वस्त्रादि की आवश्यकता होती है, वैसे ही भक्तिदेवीके स्वरूप को सजाने के लिये श्रद्धा, कथा-श्रवण, अभिमान-त्याग आदि का होना आवश्यक है । इसी बात को भक्त-शिरोमणि श्रीप्रियादासजी ने एक रूपक द्वारा स्पष्ट किया है—

अर्थ :—श्रद्धाके फुलेल और कथा-श्रवणके उबटन द्वारा अभिमान-रूपी मैलको प्रत्येक अंगसे दूरकर देना चाहिए । (इसके बाद) मननके सुन्दर जलसे स्नान कराकर दयाके अँगोछे से पोंछकर और नम्रताके वस्त्रोंसे सुसज्जित करके (उस भक्तिको) पन (प्रतिज्ञा,टेक) रूपी सुगंधित द्रव्य लगाना चाहिए । (तब) नाम (संकीर्तन) के आभूषण, हरि तथा साधु-सेवा के कर्णफूल और मानसी सेवाकी सुन्दर नथसे (भक्ति-महारानीको सजाकर) सत्संगरूपी अंजन लगाना चाहिए । इस प्रकारसे जो लोग भक्ति-महारानीका शृङ्गार करके (उसे) चाह (भगवद्दर्शन की अभिलाषा) की बीड़ी (पान) खिलाकर (सर्वदा उसके सुन्दर स्वरूपका) दर्शन करते रहते हैं, वे ही श्रीप्रिया-प्रियतमको प्राप्त करते हैं, ऐसा (पुराण आदि शास्त्रोंमें) गाया गया है ।

श्रद्धा-फुलेल—जैसे शृङ्गारसे पूर्व स्नान और तैल-मर्दन आदि किया जाता है, उसी प्रकार भक्ति-भावका आधार भी श्रद्धा ही है । 'वेदगुरुवाक्येषु विश्वासः श्रद्धा' । बिना श्रद्धाके, प्रारम्भमें, किसी प्रकारके भक्ति-भाव का हृदयमें उदय होना और स्थिर रहना असम्भव है । श्रीजीव गोस्वामीने भी श्रद्धाको ही प्रथम स्थान देते हुए कहा है– " आदौ श्रद्धा ततः साधुसंगोऽथ भजनक्रिया " ।

इसीलिए श्रद्धाको फुलेल कहा गया है । गीतामें भी श्रद्धाके अनुसार ही फल-प्राप्ति बतलाते हुए कहा गया है :—

"श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः"

अर्थात्—जैसी जिसकी श्रद्धा होती है वैसा ही उसका स्वरूप हो जाता है। पातञ्जल योग-सूत्र तथा उसके भाष्यमें भी श्रद्धाकी प्राथमिकता और प्रमुखता स्पष्ट है :—

'श्रद्धाचेतसः सम्प्रसादः। साहि जननीव कल्याणी योगिनं पाति।' (पातञ्जल योगसूत्र १-२०)

(श्रद्धा चित्तकी प्रसन्नता है, वह माताके समान कल्याण करने वाली और योगी (भक्त) की रक्षा करने वाली है।)

कथा श्रवण—(उबटना) जिस प्रकार तैल-मर्दनके बाद उबटनेकी आवश्यकता होती है, उसी प्रकार जब मनुष्यके हृदयमें श्रद्धाका उदय हो जाता है तब भगवान्‌के गुण-गान और लीला-श्रवणकी ओर उसकी प्रवृत्ति होती है। उसे कथा-श्रवणमें एक अनोखा आनन्द प्राप्त होता है और उस आनन्दके कारण वह आत्म-विभोर होकर अपनेपनको, अभिमानको भूल जाता है। इसी बातको टीकाकारने भी स्पष्ट किया है।

मैल-अभिमान—भगवद्भक्तिको प्राप्त करनेके लिए मैलरूपी अभिमानका त्याग अत्यन्त आवश्यक है। यह भक्तिमें बाधक होता है, जैसा कि स्वामी श्रीभगवत रसिकदेवजीने कहा है :—

विद्या रूप महत्व कुल, धन जोबन अभिमान।
षट कण्टक देखै जहाँ, रहै न भक्ति निदान॥

और भी :—

जातिर्विद्या महत्वं च रूपयौवनमेव च।
यत्नेनैते परित्याज्याः पंचैते भक्ति-कण्टकाः॥

(जाति, विद्या, बड़प्पन, रूप, यौवनके अभिमानको यत्नपूर्वक छोड़ देना चाहिए; क्योंकि ये पाँचों भक्ति-मार्गमें बाधक हैं)

भक्तिके क्षेत्रमें तो ज्ञान, दान, तप, यज्ञ, पवित्रता, व्रत आदि मुक्ति-प्रद साधनोंका भी कोई विशेष आदर नहीं, क्योंकि इनमें भी उस अभिमानका आजाना स्वाभाविक है।

भक्तवर प्रह्लादजीने भी यही कहा है :—"प्रीयतेऽमलया भक्त्या हरिरन्यत् विडम्बनम्।" (हरि तो निर्मल (निरभिमान) भक्तिसे ही प्रसन्न होते हैं) इसीलिए अभिमानको मैल बतलाकर त्याज्य कहा है।

मनन-सुनीर—जिस प्रकार शरीरके मैलको दूर करनेके लिए सुनीर (शुद्ध जल) की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार उपर्युक्त आन्तरिक मैलोंको मनन द्वारा दूर किया जासकता है।

कथा-श्रवण आदि साधनों द्वारा भक्त जिन-जिन बातोंको ग्रहण करता है, उनपर बार-बार विचार करनेको मनन कहते हैं। शास्त्र-चर्चा, पुराण-श्रवण, साधु-संगति द्वारा ग्रहण किये गये भाव स्वभावके रूपमें परिणत हुए बिना स्थायी नहीं रह पाते हैं। जबतक ये ज्ञानके रूपमें होते हैं तब तक वासनाके किसी भी झोंकेसे पृथक् हो सकते हैं। मननका महत्व श्रीमद्भागवतके माहात्म्यकी धुंधकारीकी कथासे स्पष्ट हो जाता है। जब श्रीमद्भागवतकी सप्ताह-कथा सुननेके अनन्तर केवल उस धुंधकारीके लिए ही विमान आया, तब विष्णु-पार्षदोंसे गोकर्णजीने प्रश्न किया था कि कथा तो इन सब लोगोंने भी सुनी है, फिर इन सबको विमान क्यों नहीं आया ? उस समय भगवत्-पार्षदोंने उत्तर दिया—

श्रवणस्य विभेदेन फलभेदोऽत्र संस्थितः । श्रवणं तु कृतं सर्वैर्न तथा मननं कृतम् ॥

अर्थात्—श्रवणके भेदसे फलका भी भेद हो जाता है । कथाको सबने सुना, पर उसका वैसा मनन नहीं किया जैसा कि धुंधकारीने । अतएव मननको मैलनाशक सुनीर कहा गया है ।

दया अंगोछा—स्नान करनेके बाद जैसे शरीर पोंछनेके लिए (वस्त्र) अंगोछाकी आवश्यकता होती है, उसी प्रकार मननके बाद भक्तके हृदयमें दयाका होना भी आवश्यक है ।

समय पर यथाशक्ति दूसरेके दुःखमें सम्मिलित होकर उसके निवारणमें यथोचित योग देना ही दया है । 'परदुःखासहनं दया ।' दया भक्तिका प्रमुख अंग है । प्राणियोंके दुःखोंसे द्रवीभूत होना और उनके दुःखोंको अपना दुःख समझना ही भक्तका स्वभाव होता है । इसीलिए वैष्णवोंके तीन कर्त्तव्यों-जीव-दया, भगवान्‌की भक्ति और उनके भक्तोंकी सेवामें जीव-दयाको प्रथम स्थान देते हुए भगवान्‌ने कहा है—

"वैष्णवानां त्रयं कर्म दया जीवेषु नारद ।
श्री गोविन्दे पराभक्तिस्तदीयानां समर्चनम् ॥" (बा० पं०)

इसी स्वभावके कारण प्रह्लादने भगवान्‌से यही मांगा था :—

"न त्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं नापुनर्भवम् ।
कामये दुःख-तप्तानां प्राणिनामार्ति-नाशनम् ॥"

अर्थात्—हे प्रभो ! मुझे राज्य, स्वर्ग और मुक्ति आदि कुछ भी नहीं चाहिए । मेरी कामना तो केवल यही है कि अनेकों संतापोंसे संतप्त प्राणियोंके समस्त दुःख दूर हों ।

शेषावतार स्वामी श्रीरामानुजाचार्यजीसे सम्बन्धित बातोंसे भी दयाका महत्व स्पष्ट है । अपने गुरुदेवसे दीक्षा एवं मंत्र लेते समय उन्होंने यह सुना कि इस मंत्रका एकबार श्रवण ही जीवोंको सांसारिक बंधनोंसे छुटकारा दिलाकर वैकुण्ठ प्राप्त करा देता है, अतः यह परम गोप्य है । यह सुनकर आचार्य-चरणके हृदयमें दयाकी भावना बलवती हो गई और गुरु-आज्ञाके प्रतिकूल साधारण जन-समूहको उस मंत्रसे वैकुण्ठ दिलानेकी दृष्टिसे वे गोपुर पर चढ़कर उच्चस्वरसे मंत्रका उच्चारण करने लगे, जो बहुत्तर व्यक्तियोंके कानोंमें पड़ा और वे सिद्ध होगए । बादमें जब गुरुदेवने इस सबके किये जानेका कारण पूछा तो उन्होंने यही कहा कि यदि अनेक मनुष्योंको वैकुण्ठमें भेजकर मुझ अकेलेको गुरु-आज्ञाके उल्लंघनके कारण नरक भी भोगना पड़े, तो यह मेरे लिये श्रेयस्कर ही है । यह उदात्त विचार सुनकर गुरुदेवने उन्हें हृदयसे लगा लिया ।

इसी प्रकार दयाका उदाहरण आगे भक्त-चरितोंमें केवलरामजीकी गाथासे स्पष्ट है ।
गोस्वामीजीने भी दया पर बहुत जोर देते हुए कहा है—

दया-धर्म को मूल है पाप मूल अभिमान ।
तुलसी दया न छांड़िये जब लग घट में प्रान ॥

नम्रता-वसन— जिस प्रकार शरीर मार्जनके उपरान्त वस्त्र पहिना जाता है, उसी प्रकार नम्रता ही भक्तिका परिधान (वस्त्र) है ।

नम्रताकी तुलना वस्त्रोंसे करके टीकाकारने अपने सूक्ष्म-निरीक्षणका बड़ा ही सुन्दर परिचय दिया है । उत्तम जातिके वस्त्रोंकी नरमाई प्रसिद्ध है ; उन्हें चाहे जैसे मोड़ा जा सकता है । भक्तकी भी नम्रता इसी प्रकार की होती है । कहा भी है :—

तृणादपि सुनीचेन तरोरपि सहिष्णुना ।
अमानिना मानदेन कीर्तनीयः सदा हरिः ॥

अर्थात्—अपने कोतिनकेसे भी नीच समझकर, वृक्षसे भी अधिक सहनशील होकर, अपने सम्मानको त्यागकर एवं दूसरोंके सम्मानमें तत्पर हो भक्तको हरिका कीर्तन करना चाहिए।

('नवनि'-के सम्बन्धमें श्रीगोपालदास जोबनेरीका आख्यान आगे भक्त-चरितोंमें देखना चाहिए)

नाम आभरण—जिस प्रकार किसी भी सुन्दरसे सुन्दर स्वरूपके लिए आभूषणोंकी अपेक्षा है—विना आभूषणके शृङ्गार अधूरा है, उसी प्रकार भगवन्नाम-जाप भी भक्तिका अलंकार है।

श्रुति-स्मृतिके विधि-विधान द्वारा किये गए जितने भी कर्म-धर्म, ज्ञान-ध्यान, योग-यज्ञ, दान-पुण्य आदि सत्कार्य हैं वे सभी विना भगवन्नामके अपूर्ण हैं, कहा भी है :—

मंत्रतस्तंत्रतश्छिद्रं यच्छिद्रं यज्ञकर्मणि ।
सर्वं भवतु निश्छिद्रं हरेर्नामानुकीर्त्तनात् ॥

सन्त-वाणियोंमें भी इस प्रकार वर्णित है—

"कोटिन्मं क्रतु विनाम रचि, विधि सौं करें बनाइ।
एक नाम बिन कृष्ण के, सबै अविधि ह्वै जाइ॥"

धर्मग्रन्थों और पुराणोंमें तथा सन्त-वाणियोंमें ऐसे अनेकों उदाहरण भरे पड़े हैं, जिनसे भगवन्नामके उच्चारणका महत्व स्पष्ट है। उल्टा नाम जपने वाले वाल्मीकि, पुत्रके बहानेसे आधा नाम उच्चारण करके भगवद्धाम प्राप्त करनेवाले अजामिल, तोताके स्नेहके कारण अज्ञानसे भी हरिका नाम बोलने वाली गणिका, केवल एकबार नारायण नाम पुकारनेवाला गजराज और निरन्तर भगवन्नामका पाठ पढ़ानेवाले भक्त-शिरोमणि प्रह्लाद आदिके वृत्तान्तसे सभी परिचित हैं। इसीलिए गोस्वामी तुलसीदासजीने सविस्तार नामकी महिमाका वर्णन करके अन्तमें यही कहा कि :—

"कहौं कहाँ लगि नाम बड़ाई। राम न सकहिं नामगुन गाई॥

इसीलिए भक्ति-महारानीका सर्वश्रेष्ठ आभूषण भगवन्नाम ही बतलाया गया है। भक्तके छोटेसे छोटे और बड़ेसे बड़े सभी कार्य नाम-ध्वनिके साथ ही होने चाहिए। भगवान्‌का नाम किस प्रकार आदर-सहित हृदयमें रखना चाहिए, यह आगे भक्तोंके चरित्रोंमें अन्तर्निष्ठ राजाके कथानकसे स्पष्ट है।

साधु-सेवा कर्ण फूल—साधु-सेवा भी भक्तिका प्रमुख अंग है, जैसा कि शुक-मुनिने कहा है—

"महत्सेवां द्वारमाहुर्विमुक्तेः।"

अर्थात्—भव सागर से विमुक्त होने का उपाय महात्माओंकी सेवा ही है।

इसी श्लोक में महात्मा कौन हैं, इस प्रश्न के उत्तर में आगे कहा है :—

"महान्तस्ते समचित्ताः प्रशान्ता, विमन्यवः सुहृदः साधवो ये।"

अर्थात्—महात्मा वे ही हैं, जो प्राणिमात्रमें समान दृष्टि रखनेवाले, प्रशान्त, क्रोध-रहित, अकारण दूसरों पर स्नेह रखनेवाले और परोपकारी हैं।

साधु-सेवामें हरि-सेवा भी हो जाती है। भगवान्‌ने कहा भी है :—

'साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयं त्वहं, मदन्यत् ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि॥ (श्रीमद्भागवत)

अर्थात्—साधुगण मेरे हृदय हैं और साधुओंका हृदय मैं हूँ। वे मुझे छोड़ और किसीको नहीं जानते और मैं भी उनके सिवा और किसीको नहीं जानता।

इस वाक्यके अनुसार सेवाके दो अङ्ग हुए—साधु-सेवा और हरि-सेवा। कर्णफूल भी दो होते हैं और दोनोंका सौन्दर्य की अभिवृद्धिमें बराबर योग रहता है। उसी प्रकार साधु-सेवा और हरि-सेवा भी अभिन्न हैं और दोनोंका बराबर महत्व है। इस सम्बन्धमें भगवान्‌ने तो भक्तोंको ही बड़ा बतलाते हुए यहाँ तक कह डाला है :—

'मद्भक्तपूजाभ्यधिका सर्वभूतेषु मन्मतिः'

रसिक सन्तोंका भी यही मत है :—

'सन्तनि बिन हरि ना मिलै, हरि ने कही पुकार।
सो सेवत सुमिरत बिना, बूढ़ैगी मँझधार॥'
'अन्तर्यामी गर्भ मत खग्त सुन्दरी माहिं।
तुलसी पूजे एक के दोऊ पूजे जाहिं॥'

साधु-सेवा और हरि-सेवा दोनोंके उदाहरण आगे भक्तोंके चरित्रमें क्रमशः महाजन सदाव्रती तथा रानी रत्नावतीमें पाये जाते हैं जो वर्णनगम्य हैं। वास्तवमें सन्तोंकी महिमा कौन कह सकता है :—

'बिधि हरि हर कवि कोविद बानी। कहत साधु महिमा सकुचानी॥'

पन-सोंधों—(टेक-रूपी सुगन्ध) जिस प्रकार वस्त्र पहनने के उपरान्त इत्र आदि लगाया जाता है, उसी प्रकार भक्ति-महारानीके नम्रतारूपी वस्त्रमें टेक या अनन्यता-रूपी इत्र-सुगन्ध लगाना आवश्यक है। सुगन्ध चित्तको प्रसन्न करती है और समीपवर्ती जनोंको भी आनन्दित करके प्रभावित करती है। ठीक यही गुण अनन्यता या टेकमें भी है। यह भक्तके चित्तको प्रसन्न करती है और अन्य जनोंको प्रभावित करती है। सुगन्ध जिस प्रकार चारों ओर फैलती है उसी प्रकार अनन्यभक्ति की टेक भी सर्वत्र व्याप्त हो जाती है। अपनी टेक के कारण ही गोस्वामी तुलसीदासजी ने पपीहे को प्रेम का आदर्श माना है :—

पपिहा पन को ना तजै, तजै तो तन बेकाज।
तन छूटे तो कछु नहीं, पन छूटे है लाज॥

इस प्रकारका पन राजा आसकरण एवं जैमलसिंहजीके चरित्रोंमें आगे वर्णन किया गया है।

मानसी-सेवा-सुनथ—जिस प्रकार नथ अत्यन्त सूक्ष्म होने पर भी अलंकारोंमें अपना प्रमुख स्थान रखती है वही महत्व मानसिक-सेवाका भी है। यह सेवाका अत्यन्त सूक्ष्म और भावगम्य रूप है। मानसी-सेवाके द्वारा उपासना करने वाले व्यक्तिको बाह्य साधनोंकी आवश्यकता नहीं होती। उसकी तो समस्त चित्त-वृत्तियाँ ही सब ओरसे सिमटकर आराध्यकी सेवाका अङ्ग बन जाती हैं।

जिस प्रकार गोल नथका आदि अन्त नहीं होता उसी प्रकार मानसी सेवा भी अपने आपमें परिपूर्ण होती है; न उसमें देशकालकी अपेक्षा है और न शौच-अशौचकी स्थितिके ज्ञानकी आवश्यकता। वह तो सब समय, सब स्थानोंमें और सभी स्थितियोंमें समान-रूपसे की जा सकती है। इस रूपकमें एक और ध्यान देने योग्य बात यह है कि नथमें दो मोती होते हैं और दोनों मोतियोंके बीच एक लाल मणि। मानसिक सेवामें भी विवेक और वैराग्य—दो सत्वगुण सम्पन्न मोती हैं और युगल-स्वरूपके प्रति सच्चा अनुराग ही बीचकी लाल मणि है। यों तो अनेकों रसिक-सन्त और भक्तोंके चरित्रोंमें मानसिक सेवाके उदाहरण पाये जाते हैं, किन्तु इसके महत्वपर रघुनाथदास गोस्वामीके चरित्रकी निम्नलिखित घटनाने विशेष प्रकाश डाला है :—

रघुनाथदास गोस्वामी मानसी सेवाके उपासक थे। एकबार उनके अस्वस्थ होने पर वैद्यने बतलाया

कि आपने खीर खाई है। उनके पास रहनेवाले सभी व्यक्तियोंने जब कहा कि गोस्वामीजीने तो छाछ (मट्ठा) के अतिरिक्त बारह वर्षसे और कुछ खाया ही नहीं। तो वैद्यने भी जोर देकर अपने निदानको सत्य ही बतलाया। तब गोस्वामीजीने कहा—"मैंने मानसिक सेवामें युगल-सरकारके भोग लगाकर खीर अवश्य खाई है।" यह सुनकर सभी को बड़ा आश्चर्य हुआ कि मानसिक सेवासे भोग लगाकर खीर खानेका प्रभाव इस स्थूल रूपमें भी प्रकट होगया।

इसीसे पुराणों में 'मानसी सा परा स्मृता' कहकर मानसिक सेवाको सर्वोच्च स्थान दिया गया है।

सबते अधिक मानसी पूजा । जामें साक्षात् भाव नहिं दूजा ॥

संग—सत्संग-अंजन—जिस प्रकार आँखोंमें अञ्जन लगानेसे उनकी ज्योति और सुन्दरता बढ़ जाती है, उसी प्रकार सत्संग-रूपी अंजनके प्रयोगसे भाव-भक्तिका स्वरूप भी स्पष्ट दिखाई देने लगता है। वास्तवमें सत्संग ही एक ऐसा सुलभ साधन है, जो जन्म-जन्मान्तरोंसे भगवद्विमुख जीवको उसका साक्षात्कार कराकर परमानन्द प्राप्त कराता है। संसारके समस्त पुरुषार्थोंका साधन भी यही सत्संग है। गो० तुलसीदासजीने भी कहा है :—

मति कीरति गति भूति भलाई । जब जेहिं जतन जहाँ जेहिं पाई ॥
सो जानब सतसंग प्रभाऊ । लोकहु बेद न आन उपाऊ ॥ (श्रीरामचरितमानस)

तात्त्विक दृष्टिसे देखा जाय तो सत्संगकी महत्ताको तप भी नहीं प्राप्त कर सकता है। तपमें कठिनता है और सत्संगमें सरलता। एकबार इसी प्रसंगको लेकर ऋषि विश्वामित्रजी और महर्षि वशिष्ठजीमें विवाद उठ खड़ा हुआ। विश्वामित्रजीने बड़े स्वाभिमानसे वशिष्ठजीसे कहा—"ब्रह्मर्षे ! संसारमें तप सर्वश्रेष्ठ है। देखते नहीं, मैं तपके प्रभावसे क्षत्रियसे ब्राह्मण होगया हूँ ?" वशिष्ठजीने प्रत्युत्तर दिया कि—"तप तो श्रेष्ठ है ही, परन्तु उसे सर्वश्रेष्ठ नहीं कहा जासकता, क्योंकि तप तो असुर भी कर लेते हैं। मेरे विचारसे सत्संग सर्वश्रेष्ठ है।" इसी सर्वश्रेष्ठताके निर्णय पर वाद-विवाद बढ़ गया। विश्वामित्रजी तपको श्रेष्ठ बतलाते थे और वशिष्ठजी सत्संगको। निर्णयके लिए जब मध्यस्थका प्रश्न उठा तो दोनोंने श्रीशेषजीको चुना।

दोनों पहुँचे शेषजीके पास और अपना-अपना मत सामने रक्खा। शेषजीने कहा—"उत्तर तो मैं दे सकता हूँ, परन्तु इस पृथ्वीका भार किसीको सँभालना पड़ेगा।" विश्वामित्रजी अपने तपका गर्व लिये आगे बढ़े और कहने लगे—"मैं अपने तपके प्रभावसे इसका भार धारण करूँगा।" जैसे ही पृथ्वीको उठाने लगे, वे उसके भारको न धारण न कर सके और घबड़ाकर वहाँसे हट गये। तब फिर वशिष्ठजी आगे आए और—"मेरा आधी घड़ीके सत्संगका जो पुण्य हो उसके बलसे मैं पृथ्वीका भार उठा सकूँ", यह कहकर उन्होंने भूभारको फूलकी भाँति धारण कर लिया। तब विश्वामित्रजीने शेषजीसे कहा—"भगवन् ! अब आप हमारे विवादका निर्णय करदें।" शेषजी बोले—"ऋषिवर ! अब भी क्या निर्णय करना शेष रह गया ? आपके सारे जीवनके तपका फल भी आधी घड़ीके सत्संगके बराबर नहीं हो सका।"

अतः सत्संगके द्वारा सभी कुछ सम्भव हो सकता है—

"कहा न होय सत्संग ते, देखो तिलकरु तेल ।
बास मोल सब फिर गयो, पायो नाम फुलेल ॥" (श्रीध्रुवदासजी)

श्रीमद्भागवतमें भी भगवान्ने कहा है कि—

> सत्सङ्गेन हि दैतेया यातुधानाः खगाः मृगाः ।
> बहवो मत्पदं प्राप्तास्त्वाष्ट्र-कायाधवादयः ॥

और भी कहा है :—

> नयन निकट काजर बसै पै दरपन दरसाय ।
> त्यौं साधुन के संग बिन हरि छबि हिय न लखाय ॥

चाह-बीड़ो (लालसा-पान)—जिस प्रकार शृङ्गार करनेके बाद पान-सेवनसे ही सौन्दर्यकी परिपूर्ति होती है, उसी प्रकार दर्शनकी उत्कट-लालसामें ही भक्तिकी परिपूर्णता है। यह उत्कट अभिलाषा पूर्वोक्त क्रमके अनुशीलन द्वारा मानसी-सेवा प्राप्त होनेपर सच्चे रसिक-भक्तोंके संगसे होती है। इसके उदाहरण सूर, तुलसी, मीरा, नरसी आदि हैं, किन्तु आदर्श रूपमें इस चाहकी साक्षात्प्रतिमा हैं प्रातः-स्मरणीया भुवनवन्द्या वे व्रजांगनाएँ, जिन्हें श्रीश्यामसुन्दरके दर्शनके बिना एक निमेष भी युगके समान व्यतीत होता है।—

"त्रुटिर्युगायते त्वामपश्यताम्" (श्रीमद्भागवत)

लाल-प्यारी—प्रियाप्रियतम प्रेमा-भक्तिके चरमलक्ष्य अखिल-रसामृतसिन्धु श्रीयुगलकिशोर ही हैं।

गाइये—"गाया गया है" अर्थात्—पुराण-शास्त्र इत्यादिमें भी कहा गया है, किन्तु श्रीप्रियादासजीने इस रूपकमें भक्तिमहारानीके शृङ्गारका जो क्रम निश्चित किया है, वह अपने ढँगका निराला ही है। प्रसंगवश इस संबन्धमें भक्तिसे इष्टकी प्राप्तिका विभिन्न ग्रन्थों और महानुभावों द्वारा निर्धारित क्रम द्रष्टव्य है :—

१—श्रीमद्भागवत	२—श्रीहरिभक्तिरसामृत-सिन्धु	३—श्रीमहावाणी	४—स्वा० भगवतरसिकदेव	५—श्रीप्रियादास
श्रवण	श्रद्धा	रसिकोंका संग	भागवत-श्रवण	श्रद्धा
कीर्तन	साधुसंग	दया	नवधा-भक्ति	कथा-श्रवण
स्मरण	भजन-क्रिया	धर्म-निष्ठा	गुरुदीक्षा	निरभिमानता
पाद-सेवन	अनर्थ-निवृत्ति	कथा-श्रवण	धामनिवास	मनन
अर्चन	निष्ठा	(इष्ट) पद-पंकजानुराग	तन्मयता	दया
वन्दन	रुचि	(इष्ट) रूपासक्ति	रासकी भावना	नम्रता
दास्य	आसक्ति	प्रेमाधिक्य	उज्ज्वलरस-रीति	पन (अनन्यता)
सख्य	भाव	नामरूप-लीलागान	—	नाम (जप)
आत्म-निवेदन	प्रेम	दृढ़ता	—	साधु-सेवा
—	—	रस-प्रवाह	—	मानसी-सेवा
—	—	—	—	सत्संग
—	—	—	—	चाह

ऊपर दी गई तालिकाके प्रमाण-रूपमें उन-उन ग्रन्थों तथा महानुभावोंके उद्धरण नीचे दिए जाते हैं—

> १—श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् ।
> अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ॥ (श्रीमद्भागवत)

२—आदौ श्रद्धा ततः साधुसंगोऽथ भजनक्रिया। ततोऽनर्थनिवृत्तिश्च ततोनिष्ठा रुचिस्ततः॥
अथासक्तिस्ततो भावस्ततः प्रेमाभ्युदञ्चति। साधकानामयं प्रेम्णः प्रादुर्भावो भवेत् क्रमात्॥ (भक्तिरसामृतसिन्धु)

३—पहिलें रसिक जननकों सेवें। दूजी दया हिये धरि लेवें॥
तीजी धर्म सुनिष्ठा गुनि हैं। चौथी कथा अतृप्त ह्वै सुनि हैं॥
पंचमि पद पंकज अनुरागें। षष्ठी रूप अधिकता पागें॥
सप्तमि प्रेम हिए बिरधावें। अष्टमि रूप ध्यान गुन गावें॥
नौमी दृढ़ता निश्चैं गहिवें। दसमी रसकी सरिता बहिवें॥
या अनुक्रम करि जे अनुसरहीं। सनैं-सनैं जगते निरवरहीं॥
परमधाम परिकर मधि बसहीं। श्रीहरिप्रिया हितू संग लसहीं॥ (महावाणी)

४—प्रथम सुनै भागवत भक्तमुख भगवत बानी
द्वितीय आराधै भक्ति व्यास नव भाँति बखानी॥
तृतीय करै गुरु दृढ़ अनन्य सर्वज्ञ रसीलौ।
चौथे होइ विरक्त बसै वनराज जसीलौ॥
पाँचे भूले देह सुधि छठे भावना रास की।
सातें पावै रीति-रस श्री स्वामी हरिदास की॥ (भगवत् रसिकदेव)

५—श्रीप्रियादासजीके प्रमाणके लिए देखिए पृष्ठ संख्या ३

भक्ति-रस-बोधिनी

शान्त दास्य सख्य वात्सल्य औ शृंगार चारु, पाँचो रस सार विस्तार नीके गाये हैं।
टीका को चमत्कार जानौगे विचारि मन, इनके स्वरूप मैं अनूप लै दिखाये हैं॥
जिनके न अश्रुपात पुलकित गात कभू, तिनहू को भावसिन्धु बोरि सो छकाये हैं।
जौ लौं रहैं दूरि रहैं विमुखता पूरि, हियौ होय चूर-चूर नैकु श्रवण लगाये हैं॥४॥

प्रस्तुत कवित्तमें श्रीप्रियादासजीने भक्ति-रस-बोधिनी में बतलाया है कि इस टीकाके पढ़ने मात्रसे ही भक्ति-हीन हृदयोंमें किस प्रकार भक्तिकी अजस्र धारा प्रवाहित होने लगती है।

अर्थ :—शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और उज्ज्वल शृङ्गार—भक्तिके इन पाँचों रसोंका वर्णन 'भक्तिरस-बोधिनीमें' विस्तारसे किया गया है। पाठक अपने मनमें विचार करनेसे ही इस टीकाका चमत्कार जान पायेंगे कि भक्तिके पाँचों स्वरूपोंका मैंने कैसा अनूठा वर्णन किया है। जिनके नेत्रोंमें न तो कभी प्रेमानन्दके आँसू आते हैं और न शरीरमें रोमाञ्च होता है, उन नीरस-हृदय व्यक्तियोंको भी भावरसके समुद्रमें डुबाकर मैंने तृप्त कर दिया है। जब तक वे इस 'भक्तिरस-बोधिनीसे' दूर रहते हैं, तभी तक भक्तिसे विमुख रहते हैं, किन्तु यदि इसका रस तनिक भी उनके कानोंमें पड़ गया तो उनका हृदय चूर-चूर होकर भक्तिरसमें सराबोर हो जायगा।

साहित्यशास्त्रमें नव रसों का वर्णन किया गया है, परन्तु भक्तिरसके आचार्योंने उनमें-से केवल पाँच रसोंको ही अपनाया है। जैसा श्रीहरिव्यासदेवाचार्यजीने लिखा है :—

अथ भक्तेः पंचरसाः :—

"शान्तं दास्यं च वात्सल्यं सख्यमुज्ज्वलमेव च। अमी पञ्चरसा मुख्याः ये प्रोक्ता रसवेदिभिः॥" (सिद्धान्त-रत्नाञ्जलि)

अर्थात् भक्तिके पाँच रस होते हैं—शान्त, दास्य, वात्सल्य, सख्य और (उज्ज्वल) शृङ्गार। रसज्ञों द्वारा ये ही पाँच रस मुख्य कहे गये हैं।

इन्हीं पाँचों रसोंमें-से अपनी-अपनी रुचिके अनुसार भक्तोंने किसी एकको अपने इष्टकी प्राप्तिका साधन बताया है—

> बहुत भाँति लीला चरित तिनेहूँ भक्त अपार ।
> अपनी अपनी रुचि लिए करत भक्ति विस्तार ॥

इन सभी प्रकारके रसोपासकोंके उदाहरण भक्तमालमें पाए जाते हैं।

शान्त-रस—शान्त-रसका स्थायी भाव है—निर्वेद। इसमें सांसारिक विषयोंसे अलग होकर भक्त इष्टको परब्रह्म परमात्मारूपसे देखता है और फिर उसीकी भक्तिमें तल्लीन होकर वह शान्ति-लाभ करता है—

> प्रायः शम-प्रधानानां ममता-गंधवर्जिता ।
> परमात्मतया कृष्णे जाता शान्तीरतिर्मता ॥

ज्ञानमार्गीय भक्त पहले ज्ञानके द्वारा संसारके विषयोंसे विरत होकर श्रीकृष्णको ही परमात्मा मानकर प्रेम करते हैं। उनकी इस प्रकारकी रतिको ही 'शान्ति' कहा जाता है। शिव, सनकादि तथा नवयोगेश्वर आदि इसी कोटिके भक्त हैं।

दास्य-रस—इस रसमें सेव्य-सेवक भावकी प्रधानता है; क्योंकि दासका काम सेवा करना ही है। इस रसमें ऐश्वर्यभावका आधिक्य रहता है और सेवकको अपने स्वामीके गौरव और मर्यादाका पद-पद पर ध्यान रखना पड़ता है। इस रसका उपासक नवधा भक्ति द्वारा अपने प्रभुकी उपासना करता है। वैकुण्ठ, साकेत और द्वारका आदिका समस्त परिकर इसी रसका उपासक है।

सख्य-रस—इस रसके अनुसार साधक अपने इष्टमें सखा-भाव रखता है। दास्यकी भाँति इसमें उपास्यके प्रति गौरव या भय-संकोचका भाव नहीं रहता। दो मित्र जिस प्रकार एक-दूसरेका विश्वास करते हैं और एक-दूसरे की गोपनीय बातोंको जानते हैं, वैसेही इस रसका उपासक भी इष्टके प्रति समानताका व्यवहार करता है। यहाँ भक्तको अपने इष्टके ऐश्वर्यसे कोई प्रयोजन नहीं होता; प्रयोजन होता है उसके साहचर्यसे, उसके हृदयकी मधुर भावनाओंसे। वह इष्टके साथ खेलता है, हँसता है, बोलता है और समय पड़नेपर उसे खरी-खोटी भी सुनाता है। सख्य-रसके उदाहरण सुबल—श्रीदामा आदि सखा हैं जिनका प्रेम इतना अधिक है कि ये श्रीनन्दनन्दनको अपने समान ही समझते हैं। देखिए, वृन्दावनमें गोचारण करते समय श्रीकृष्णके मनमें नृत्यसंगीत सीखनेकी लालसा जागती है। सखाओंसे पता लगता है कि तोष इस विषयमें सबसे निपुण हैं। फिर क्या है ? तोषके लिए आवाजों-पर-आवाजें लगती हैं, तब कहीं तोष पधारते हैं। श्रीकृष्णके बहुत मनुहारें करनेपर वे नृत्यसंगीत सिखानेको राजी होते हैं; सो भी शर्तों सहित और वे शर्तें साधारण-सी हैं। पहली तो यह है कि श्रीकृष्ण तोषको अपना गुरु मानें और दूसरी यह कि भूलचूक होने पर पिटनेको भी तैयार रहें। खैर, गर्ज बावली होती है। शर्तें मानली गई और शिक्षा आरम्भ होने ही वाली थी कि बीचमें ही मधुमंगल बोल पड़ा—"भाई, इस समय नाचगान कोई भी क्यों न सिखाये, कन्हैयाका गुरु तो मैं ही रहूँगा।"

यह सुनकर श्रीदामा भला कैसे चुपरहते ? ऐंठ कर बोले—"वाह ! यह भी खूब रही। असली गुरु तो मैं बैठा हूँ।"

बस इसी बातपर सब सखाओंमें झगड़ा होने लगता है और सब अपने-अपनेको उस कृष्णका गुरु घोषित करने लगते हैं, जिसे वेद, शास्त्र, पुराण, ऋषि, मुनि और संसार 'जगद्गुरु' कहता है। यही है इस रसका अनूठापन, जहाँ योगीन्द्रदुर्लभगति श्रीकृष्ण भी अपने समस्त ऐश्वर्य और वैभवको तिलांजलि देकर इन गँवार ग्वालों की जूठन और गाली खानेमें सुख मानते हैं।

इसी प्रकार गोविन्दस्वामी और सूरदास आदि 'अष्टसखा' भी इसी सख्य-रसके उपासक थे। सूरदास ने भी श्रीकृष्णको सुनाकर कहा है—

आज हौं एक-एक करि टरिहौं।
कै हमहीं कै तुमहीं माधौ अपुन भरोसे लरिहौं॥

वात्सल्य-रस—इस रसमें ममतापूर्ण वात्सल्यभावसे इष्टकी उपासना की जाती है। जैसे किसी भी अशोभनीय कार्यको करनेपर पुत्रको माता डाँटती है, फटकारती है और कभी-कभी पीटती भी है, उसी प्रकारका व्यवहार वात्सल्य-रसका उपासक अपने आराध्यके साथ करता है। इस रसके सर्वश्रेष्ठ उपासक नन्द और यशोदा हैं। व्रजरानी श्रीयशोदाकी प्रशंसामें तो श्रीशुकदेवजीने यहाँ तक कह दिया है—

नेमं विरिञ्चो न भवो न श्रीरप्यङ्गसंश्रया।
प्रसादं लेभिरे गोपी यत्तत् प्राप विमुक्तिदात्॥

जिस कृपाको श्रीमुकुंदसे गोपी यशोदाने प्राप्त किया, उस कृपाको ब्रह्मा, शङ्कर और स्वयं श्रीविष्णुप्रिया लक्ष्मी भी नहीं प्राप्त कर सकी।

वेद, वेदान्त और उपनिषद् जिसके लिए 'नेति-नेति' पुकारते रहते हैं, वही पूर्णब्रह्म स्वयं माँ यशोदा की गोदमें लेटकर दूध पीता है। जिसके भयसे स्वयं भय भी भीत रहता है, वही नीलमणि माताके भयसे थर-थर काँपता है और मार खानेकी धमकी भी चुपचाप सहनकर जाता है। जिसने अपने माया-पाशमें समस्त स्थावर और जंगमको बाँध रखा है, वही मैयाके स्नेह-पाशमें स्वयं बँध जाता है। भूखसे व्याकुल होकर वह बिलखकर भी मैयाका आँचल पकड़कर आँसू बहाता है। वात्सल्य-रसका अनिर्वचनीय उदाहरण है नन्द-यशोदा का यह प्रेम। सूरने इस प्रेमको कितने सुन्दर शब्दोंमें चित्रित किया है। देखिए—

मैया मोरी मैं नहिं माखन खायौ।
भोर भयौ गैयनके पाछैं मधुबन मोहि पठायौ।
चार पहर बंसीवट भटक्यौ साँझ परे घर आयौ॥
मैं बालक बहियनको छोटौ छींकौ केहि बिधि पायौ।
ग्वाल-बाल सब बैर परे हैं बरबस मुख लपटायौ॥
तू जननी मनकी अति भोरी इनके कहे पतियायौ।
जिय तेरे कछु भेद उपजि है जानि परायौ जायौ॥
यह लै अपनी लकुट कमरिया बहुतहिं नाच नचायौ।
'सूरदास' तब बिहँसि जसोदा लै उर कण्ठ लगायौ॥

शृङ्गार-रस—साहित्य-शास्त्रमें शृङ्गारको रसराज माना गया है; क्योंकि शेष आठों रसोंके स्थायी-भाव इसमें संचारी-रूपसे आजाते हैं, जब कि अन्य रसोंके संचारीभाव इने-गिने हैं। इसी प्रकार भक्तिके क्षेत्र-में भी आचार्योंने उज्ज्वल (शृङ्गार) रसको पाँचों रसोंका राजा माना है, क्योंकि इस रसमें ही अन्य चारोंके भावोंका समावेश होजाता है। लौकिक 'रति' में जो कि साहित्यशास्त्रके शृङ्गार-रसका स्थायी-भाव है, न तो

सदा एकरसता रहती है और न माधुर्य ही, क्योंकि उसमें स्वसुखकी भावना आदिसे अन्त तक बनी रहती है। जहाँ स्वसुख और स्वार्थ ही प्रधान है वहाँ उज्ज्वलता कहाँ? इसलिए भगवत्-विषयक 'रति' (प्रेम) से उत्पन्न आनन्द उज्ज्वल-श्रृङ्गार कहा गया है। यह सदा एकरस, मधुर और तत्सुखप्रधान है। इसकी यही विशेषता इसे सांसारिक कलुषित-श्रृङ्गारसे ऊपर उठाकर उज्ज्वलतम बना देती है।

उपर्युक्त चारों रसोंके उपासक अपने-अपने रसमें डूबे रहते हैं; फिर भी रसज्ञोंने उज्ज्वल श्रृङ्गाररसको ही सर्वश्रेष्ठ माना है। अनन्य-रसिक मुकुटमणि श्रीस्वामी बिहारिनदेवजीने "सब रसकौ रस तिलक सिंगार" कहकर उस रसकी श्रेष्ठता बतलाई है और यही बात हित-कुलभूषण श्रीध्रुवदासजीने भी निम्न-प्रकारसे कही है :—

> सबमें जो लीला चरित भयौ जु बहुत प्रकार।
> सबकौ सार विहार (श्रृङ्गार) है, रसिकन कियौ निरधार॥

इस रसमें दास्यकी दासता, सख्यकी निःसंकोचता तथा वात्सल्यका लाड़-चाव सब कुछ होनेके साथ-साथ विधि-निषेधका परित्याग करके मन-वचन-कर्मसे आत्म-समर्पण भी है। इस रसका श्रेष्ठ उदाहरण है—व्रज-वनिताएँ जिनके शुद्ध प्रेम, सच्चे आत्म-समर्पण, तत्सुखी भावना और समस्त लोक-मर्यादाओंके त्यागके कारण अखिल-लोकचूड़ामणि श्रीकृष्ण भी इनके हाथ बिक जाते हैं। व्रजगोपियोंका यह प्रेम लौकिक वासनामयी चेष्टाओंसे कोसों दूर है। इसीलिए तो शिव, ब्रह्मा एवं उद्धव आदि इन गोपियोंकी चरण-रजकी वाञ्छा करते रहते हैं। स्वयं श्रीकृष्णने भी इस सम्बन्धमें कहा है :—

> मन्माहात्म्यं मत्सपर्यां मच्छ्रद्धां मन्मनोगतम्।
> जानन्ति गोपिकाः पार्थ, नान्ये जानन्ति तत्त्वतः॥ (आदिपुराण)

—हे अर्जुन! मेरी महिमा, मेरी सेवा, मेरी इच्छाओं और मेरे मनोगत भावोंको तो एकमात्र व्रज-वनिताएँ ही ठीक-ठीक जानती हैं, और कोई दूसरा नहीं।

चैतन्य-चरितामृतमें भी केवल इसी विशुद्ध श्रृङ्गारको श्रीकृष्णकी प्राप्तिका उपाय बतलाते हुए कहा गया है :—

> परिपूर्ण कृष्ण प्राप्ति एइ प्रेमा हइते।
> एइ प्रेमार वश कृष्ण कहे भागवते॥

यद्यपि व्रज-वनिताओंका यह प्रेम श्रृङ्गाररसका आदर्श है, तथापि समय-समयपर प्रदर्शित ऐश्वर्य-लीलाओं एवं मथुरा-द्वारिका-गमनके समय गोपियोंके विरहके कारण इस प्रेममें जो एक रसकी सुखानुभूति नहीं रह पाई, इसीलिए हम इसे श्रृङ्गार-रसका आदर्श तो कह सकते हैं, किन्तु सर्वोच्च आदर्श नहीं। विशुद्ध, उज्ज्वल और पूर्णतम श्रृङ्गार-रस एवं प्रेमकी चरमसीमा तो श्रीवृन्दावन-नवनिकुञ्ज-मन्दिरकी निभृत-शान्त-केलिकुञ्जोंमें ही है, जहाँ अनादिकालसे अनवरत रूपमें अखिल-रसामृत-मूर्ति श्रीलाड़िलीलाल नित्य-विहार करते रहते हैं। दोनों एक दूसरेके जीवन-प्राण हैं। वहाँ स्थूलविरह-वियोगकी तो कोई चर्चा ही नहीं है। क्योंकि सुखकी साक्षात् प्रतिमा इनकी सहचरियाँ हैं। इस उज्ज्वल श्रृङ्गार-रसके चरम ध्येय ये निकुञ्जविहारी श्रीश्यामाश्याम ही हैं और ये ही अनन्य रसिकोंके एकमात्र सेव्य हैं।

जैसा कि श्रीरूपरसिकदेवजीने कहा है :—

> अति अपार माधुर्य्यमय, आदि अनादि स्वतंत्र।
> सेवैं सुख सब सहचरी, किमिव न पावहिं अंत्र॥

भक्ति-रस-बोधिनी

पंचरस सोई पँच-रंग फूल थाके नीके पियके पहिराइबे को रचिके बनाई है।
बैजयन्ती दाम भाववती अलि 'नाभा' नाम लाई अभिराम स्याममति ललचाई है॥
धारी उर प्यारी, किहूँ करत न न्यारी, अहो! देखो गति न्यारी ढरि पायन को आई है।
भक्ति छवि भार ताते नमित, शृंगार होत, होते बश लखे जोई याते जानि पाई है॥५॥

इस कवित्तमें भक्तमालको श्रीहरि की पचरंगी बैजयन्ती-माला बतलाकर इसकी प्रियता, सुन्दरता, महिमा और प्रभावका वर्णन किया गया है—

अर्थ—(ऊपरके कवित्तमें जिन शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और शृङ्गार—इन पाँच रसोंका वर्णन किया गया है) ये पाँच रस मानों पचरंगे फूलोंके सुन्दर गुच्छे हैं। (भगवान्की भक्तिभावना से ओतप्रोत नाभा नामकी अली (सखि) ने अपने प्रियतम श्रीकृष्णको पहिनाने के लिए इन्हीं पाँच रंगके फूलोंसे बैजयन्ती माला गूँथ कर बनाई है। भक्तिकी यह माला इतनी सुन्दर है कि इसे देखकर श्यामसुन्दरका मन भी ललचा गया है। भगवान्ने इस प्यारी मालाको अपने श्रीअङ्ग पर धारण किया है और वह उन्हें इतनी अच्छी लगी है कि वे कभी इस मालाको अपने कण्ठसे अलग नहीं करते हैं। इस मालाकी विलक्षणता तो देखिए कि (गलेमें धारण करनेपर भी) यह ढरककर पैरोंसे आ लगी है। इससे यह जाना जाता है कि यह माला भक्तिके सौन्दर्य-भारसे झुकाई है और इससे श्रीश्यामसुन्दरके शृङ्गारमें और अधिक सुन्दरता आगई है। इस प्रकार जो इस पचरंगी बैजयन्ती मालाका दर्शन करता है, वह भगवान्के वशमें हो जाता है। अर्थात्—उन भक्तोंके चरित्रोंको सुनकर अपने हृदयमें भगवान्की भक्तिका आविर्भाव हो जानेसे वह प्रभुका अनन्य-भक्त बन जाता है। अथवा भक्तको भक्तिके सौन्दर्य-भारसे युक्त और विनम्रतासे अवनत देखकर भगवान् स्वयं उसके वश होजाते हैं।

इस कवित्तमें 'भक्तमाल'को शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और शृङ्गार-रसके पाँच रंग-बिरंगे फूलोंका हार बतलानेका कारण यही है कि इसमें समस्त रसोंके उपासक भक्तोंके चरित्रोंका निर्विशेष भावसे वर्णन किया गया है। भक्त उपर्युक्त पाँचों प्रकारमें से किसी एक प्रकार द्वारा अपने आराध्यकी आराधना करता है और उसीमें उसे परमानन्दकी उपलब्धि होती है। इस मौलिक भेदके होते हुए भी सभी भक्तोंका हृदय एक भावतन्तुसे अपने आराध्यसे जुड़ा रहता है जिसे 'भक्ति' कहा जाता है। वह भक्ति ही सभी प्रकारकी उपासनाका मूल-आधार है।

भाववती सखी नाभा नाम—श्रीप्रियादासजीने नाभादासजीको 'नाभा' नामकी श्यामकी सखी बतलाया है। इस कथनसे यह निष्कर्ष निकलता है कि श्रीप्रियादासजीके अनुसार श्रीनाभादासजी सखीभावके उपासक थे।

ढरि पायनको आई है—इससे भक्तोंकी नम्रताकी ओर प्रियादासजीने संकेत किया है। भगवान्को अपने भक्त बहुत प्यारे हैं, इसी लिए वे हमेशा उनको अपने हृदयमें स्थान देते हैं, किन्तु भक्त अपने नम्र-

स्वभावके कारण भगवान्‌के हृदयमें वास पानेपर भी उनके चरण-कमलोंकी ही चाह किया करते हैं। मालाको गलेमें धारण करनेपर भी ढरककर पैरोंमें आनेका यही कारण है।

भक्तिछबि–शृङ्गार होत—इस वाक्यके टीकाकारोंने भिन्न-भिन्न अर्थ लगाए हैं। पहिला तो यह है कि भक्तिके सौन्दर्यसे भगवान्‌की शोभा बढ़ती है। यहाँ शोभाका अर्थ महिमा लगाना पड़ेगा। अर्थात् भक्तों द्वारा भगवान्‌का गौरव बढ़ता है। दूसरा अर्थ है—भक्ति-द्वारा शृङ्गार–अर्थात् उज्ज्वल रसकी वृद्धि होती है। श्रीकृष्ण उज्ज्वल रसके प्रधान आलम्बन और अधिष्ठातृ देवता हैं। उनकी रूप-माधुरीको देखकर प्रेममें पगी गोपियोंके हृदयमें जो भक्ति-भावना उत्पन्न होती है, वही उज्ज्वल शृङ्गारकी जननी है। इसीलिए कहा है कि भक्तिकी छविके भारसे शृङ्गार नमित होता है–सुन्दर लगता है। तीसरा अर्थ यह भी है कि भक्तमालको अपने श्रीअंगमें धारण करने पर उस मालाकी भक्तिके सौन्दर्य भारसे श्रीहरि का और समस्त शृङ्गार नमित होजाता—अर्थात् नीचा पड़ जाता है।

भक्ति-रस-बोधिनी

भक्ति तरु पौधा ताहि विघ्न डर छेरी हू को, वारि दै विचार, वारि सींच्यौ सतसंग सौं।
लाग्यौई बढ़न, गोंदा चहूँ दिसि कढ़न, सो चढ़न अकास जस फैल्यौ रसहूरंग सौं॥
सन्त उर आलवाल शोभित विशाल छाया, जिये जीव जाल, ताप गये यों प्रसंग सौं।
देखौ बढ़वारि, जाहि अजाहू की शंका हुती ताहि पेड़ बांधे फूलैं हाथी जीते जंग सौं॥६॥

इस कवित्तमें भक्तिके विकासको वृक्षके रूपक द्वारा समझाया गया है।

अर्थ—भक्तिका वृक्ष जब पौधाकी अवस्थामें होता है, तो उसे बकरीके बच्चेसे भी हानिका भय रहता है, किन्तु जब इस पौधेमें विचाररूपी बाढ़ (घेरा) लगाकर इसे सत्संगरूपी पानीसे सींचा जाता है, तो यह बढ़ने लगता है। इसमें चारों ओरसे शाखा-प्रशाखाएँ फूटने लगती हैं। यह आकाशकी ओर फैलने लगता है और अनेकों प्रकारसे इसकी ख्याति होने लगती है। सन्तोंके हृदयरूपी आलवाल (थामलेमें) स्थित इस विशाल भक्ति-वृक्षकी छायामें आकर अनेक तापोंसे संतप्त प्राणी शान्ति-लाभ करते हैं। इस वृक्षकी आश्चर्यजनक वृद्धिको तो देखो कि जिस वृक्षको कभी बकरी के बच्चेसे भी भय था उसीसे आज युद्धको जीतने वाले (भक्तिके विघ्न-कारक) बड़े-बड़े हाथी भी बँधे हुए झूम रहे हैं।

पेड़ जब पौधेकी अवस्थामें होता है तो उसे छोटे-छोटे पशुओंसे भी भय रहता है, किन्तु जब उसे सुरक्षित रखकर बराबर उसकी सिंचाई की जाती है तो वह विशाल वृक्षके रूपमें होजाता है और इस समय उसे सबसे अधिक बलवान् पशु हाथीसे भी भय नहीं रहता और अनेकों प्रकारके जीव-जन्तु उसके आश्रयमें निवास करते रहते हैं। उसकी छायामें आकर रास्तागीर और पशु-पक्षी गर्मीसे अपनी रक्षा करते हैं। ठीक उसी प्रकार भक्ति-वृक्षकी भी दशा है। जब मानवके हृदयमें नई-नई भक्तिका प्रादुर्भाव होता है तो संसारके छोटे-छोटे आकर्षण ही उसके मनको अपनी ओर खींच लेते हैं और उसका वह अभिनव-भक्तिका भाव समाप्त होजाता है। इस समय यदि वह उन सांसारिक प्रलोभनोंकी झूठी महत्तापर विचार करके जान ले कि ये तो भ्रममात्र हैं—इनमें आनन्द कहाँ? तो उसके हृदयमें भक्तिका अंकुर सुरक्षित रहेगा।

उस भक्ति-भावनाको बलवती बनानेके लिए आवश्यकता होती है सत्संगकी। सत्संगकी सहायतासे यह भक्ति का अंकुर प्रतिपल बढ़ेगा और इसमें दृढ़ता आयेगी। श्रीमद्भागवतमें भी एकस्थान पर भगवान्‌ने कहा है—

सतां प्रसंगान्मम वीर्य-संविदो भवन्ति हृत्कर्ण-रसायनाः कथाः ।
तज्जोषणादाश्वपवर्गवर्त्मनि श्रद्धारतिर्भक्तिरनुक्रमिष्यति ॥

अर्थात्—सन्तोंका सत्संग करनेसे मेरे पराक्रमसे सम्बंधित वे कथाएँ सुननेको मिलती हैं, जो हृदय और कानोंके लिए रसायनका काम करती हैं। इन कथाओंका श्रवण करनेसे मोक्ष (संसारसे छुटकारे) के मार्गमें क्रमशः श्रद्धा, रति और भक्ति होती है।

इस प्रकार सत्संगके द्वारा भक्तके हृदयकी भक्ति अविचल हो जाती है। इस अवस्थामें संसारका कोई भी प्रलोभन भक्तको नहीं डिगा सकता है। इस भक्तके आश्रयमें अब और दूसरे जीव भी सांसारिक सन्तापोंसे मुक्ति प्राप्त कर सकते हैं।

वारि सींच्यौ सतसंग सौं—प्रियादासजीने सत्संगकी उपमा जलसे दी है। जल दो प्रकारका होता है—मीठा और खारा। इसी प्रकार सत्संग भी सजातीय और विजातीय भेदोंसे दो प्रकारका होता है। जहाँ एकही इष्ट होता है और भजन-रीति भी एकही प्रकारकी होती है, वहाँ सजातीय सत्संग होता है जो मीठे पानीके समान है। श्रीध्रुवदासजीने कहा है—

इष्ट मिलै अरु मन मिलै, मिलै भजन रस-रीति ।
मिलिए तहाँ निसंक ह्वै, कीजै तिनसों प्रीति ॥

भक्तिके विशाल वृक्षके नीचे सभी प्रकारके साधकोंको आश्रय मिलता है। चाहे ज्ञानी हो या योगी, शान्ति उसे भक्तिमें ही मिलती है।

झूलें हाथी जीते जंगसौं—वे हाथी कौनसे हैं? सम्भवतः ये ज्ञान, वैराग्य, यश, महत्त्वादिकके हाथी हैं, जो कर्म-क्षेत्र और ज्ञान-क्षेत्रमें विजयी होनेपर भी भक्तिके विशाल वृक्षसे बाँध दिये जाते हैं। अर्थात्-जिन समस्याओंका समाधान ज्ञान, कर्म या योग द्वारा नहीं हो पाता है, वे भक्ति-मार्गमें आकर अनायास ही सुलझ जाती हैं।

हाथियोंके बाँधनेका दूसरा तात्पर्य यह भी हो सकता है कि भगवान्‌का भक्त हाथी-जैसे प्रबल-विघ्नोंको भी अपने वशमें कर लेता है। प्रह्लाद, ध्रुव, भीष्म, विभीषण आदि अनेकों भक्त ऐसे हैं जिनका विघ्न-बाधाएँ कुछ भी नहीं बिगाड़ सकीं।

भक्ति-रस-बोधिनी

जाको जो स्वरूप सो अनूप लै दिखाय दियो, कियो यों कवित्त पट मिहीं मध्य लाल है ।
गुण पै अपार साधु कहैं आँक चारि ही में, अर्थ विस्तार कविराज टकसाल है ॥
सुनि संत सभा झूमि रही, अलि श्रेणी मानों घूमि रही, कहैं यह कहा धौं रसाल है ।
सुने हे अगर अब जाने मैं अगर सही, चोवा भये नाभा सो सुगन्ध भक्तमाल है ॥७॥

अर्थ—(श्रीनाभाजीने) प्रत्येक महात्माके चरित्रके अनूठेपनको (उसकी विशेषताको अपनी) कविता द्वारा स्पष्ट कर दिया है। वह कविता ऐसी है जैसे झीने-वस्त्रके अन्दर रक्खी

हुई लालमणि (जैसे बहुत पतले-वस्त्रके अन्दर रखी हुई लालमणिकी प्रभा उस वस्त्रके झीने छेदोंमें-से बाहर छन आती है, वैसे ही नाभाजीकी कविताकी शब्दावलीमें-से अर्थ छन-छनकर बाहर प्रकट होता है। साधु-सन्तोंकी महिमा अनन्त है, (किन्तु नाभाजीने अपनी कवित्व-शक्तिके प्रभावसे) थोड़े ही अक्षरोंमें (सन्तोंके गुणोंका इस खूबीके साथ) वर्णन किया है कि एकके बाद दूसरा अर्थ करते जाइए। नाभाजीकी वाणी, इस प्रकार, किसी कविराजकी टकसाल है। (टकसाल थोड़ी-सी जगहमें बन जाती है, लेकिन उसमें अनन्त सिक्के रोज ढलते हैं।) सन्तोंकी सभा इसे सुनकर (भक्तमालकी कविताका रसास्वादन कर) आनन्दमें झूम उठती है, मानों (सन्त-रूपी) भौंरोंकी पंक्ति (भक्तचरित्ररूपी सुगंधित फूलोंपर चारों ओर) मँडरा रही हो। मैं (आश्चर्यसे यह) कहते हैं कि यह (कविता) कैसी विचित्र रसभरी है। (श्रीप्रियादासजी कहते हैं कि) मैंने अगर (स्वामी श्रीअग्रदेवजी) का नाम सुना तो था, परन्तु आज यह (उनकी महिमाकी वास्तविकताका) अनुभव होगया कि वह सचमुच अगर (सुगन्धि-विशेष) ही हैं; जिनसे (जिनकी कृपासे) नाभाजी जैसे चोवा (इत्र) उत्पन्न हुए हैं और उन्हीं (नाभाजी-रूपी चोवा) की सुगन्ध यह भक्तमाल है।

इस कवित्तमें श्रीप्रियादासजीने श्रीनाभाजी तथा उनकी कविप्रतिभाका परिचय दिया है और साथही उनके गुरु श्रीअग्रदासजीका भी नामनिर्देश कर दिया है।

पट मिहीं मध्य लाल है—पुराने जमानेमें जौहरी लोग किसी बहुमूल्य-रत्नको पतले कपड़ेमें ढक-कर ग्राहकोंको दिखाया करते थे। नाभाजी उसी प्रकार अपनी सरस एवं सुन्दर शब्दावली द्वारा अनेक अर्थोंकी विचित्र और चमत्कारपूर्ण व्यंजना करने में समर्थ हुए हैं।

भक्ति-रस-बोधिनी

बड़े भक्तिमान, निशिदिन गुणगान करें, हरें जग-पाप जाप हियौ परिपूर है।
जानि सुखमानि हरि सन्त सनमान सचे, बचेऊ जगत रीति, प्रीति जानी मूर है॥
तऊ दुराराध्य कोऊ कैसे कै अराधि सके, समझो न जात, मन कंप भयौ चूर है।
शोभित तिलक भाल, माल उर राजै, ऐ पै बिना भक्तमाल भक्ति-रूप अति दूर है॥८॥

श्रीप्रियादासजीके इस कवित्तसे यह स्पष्ट होता है कि भक्तिका सच्चा अधिकारी बननेके लिए भक्तोंके चरित्रोंका श्रवण करना आवश्यक है। जो उपासक भक्तोंके चरित्रोंकी अवहेलना करके अन्य साधनोंका आश्रय लेता है, वह भक्तिके सूक्ष्म स्वरूपको नहीं पहिचान सकता।

अर्थ—यद्यपि कुछ साधक भक्तिसे युक्त हैं, रात-दिन श्रीहरिका गुणगान करते रहते हैं, संसारके पापोंको हरने वाले हैं और हृदयमें भगवान्‌के नामोंका उच्चारण करते रहते हैं, वे हरि और सन्तोंके स्वरूपको जानते हैं एवं उनका सत्कार करके आनन्दका अनुभव करते हैं तथा संसारके प्रपंचों (मायाजाल) से दूर हैं और प्रेमको ही संसारमें सार मानते हैं, इतने पर भी

उनके लिए भक्तिकी आराधना करना बड़ा कठिन है। उसकी आराधना कोई कर भी कैसे सकता है ? वह (भक्तिका स्वरूप) समझमें आता ही नहीं है—हृदय काँपकर चूर-चूर हो जाता है। चाहे माथे पर सुन्दर तिलक हो, चाहे गलेमें माला (कंठी), किन्तु बिना भक्तमालके (श्रवण किए) भक्तिका स्वरूप बहुत ही दूर रहता है।

भगवत्कृपाको प्राप्त करनेके लिए जिन गुणोंकी आवश्यकता है वे भक्तोंके चरित्रको सुननेसे ही आते हैं। जो साधक भक्तोंके चरित्रोंको न सुन कर अकेले साधनामें लगे रहते हैं, उनमें किसी भी समय अभिमानका विकार पैदा हो सकता है। नारद—जैसे महामुनिको भी यह अभिमान होगया था कि मैंने कामको जीत लिया है। अन्तर्निष्ठ राजाकी धर्मपत्नी रानी भक्तिमतीको भी अपनी भक्तिका अभिमान होगया था, परन्तु जब उन्हें अपने पतिके हृदयमें छिपी हुई भक्तिका ज्ञान हुआ, तो उनका (भ्रम) दूर होगया और वह दीन हो गईं। श्रीपीपाजीने जब श्रीधर भक्तकी भक्तिको देखा तो उनकी तुलनामें अपनेको बहुत ही छोटा समझने लगे। इस प्रकार भक्तिके स्वरूपको स्थिर करनेके लिए भक्तोंके चरित्रोंका श्रवण परमावश्यक है।

अब तक कहे गए आठ कवित्त श्रीप्रियादासजीने भूमिकाके रूपमें रचे हैं, जिनमें मंगलाचरण, भक्ति-महारानीका स्वरूप-वर्णन, सत्संगकी महिमा, श्रीनाभाजीका गुणानुवाद तथा भक्तमालका यशोगान किया है। यहाँसे आगे श्रीनाभाजीका मूल-ग्रन्थ तथा उस पर श्रीप्रियादासजीकी टीका आरम्भ होती है।

मूल

दोहा—भक्त भक्ति भगवन्त गुरु, चतुर नाम वपु एक।
इनके पद वन्दन किये, नाशैं विघ्न अनेक॥ १॥

ग्रन्थके प्रारम्भमें विघ्नोंका विनाश करनेके लिए मंगलाचरणके रूपमें इष्टदेवकी वन्दना कीजाती है। मंगलाचरण तीन प्रकारके होते हैं—आशीर्वादात्मक, नमस्कारात्मक और वस्तुनिर्देशात्मक।

यह दोहा वस्तु निर्देशात्मक और नमस्कारात्मक दोनों प्रकारके मंगलाचरणोंका एकही उदाहरण है। इसकी प्रथम पंक्तिमें वस्तु—अर्थात् प्रतिपाद्य विषयका उल्लेख है और दूसरीमें शुद्ध नमस्कार। साधारणतया वन्दनीय इष्ट एक ही होता है; लेकिन यहाँ तो चार हैं। यह कैसे ? इस शंकाका समाधान श्रीनाभादासजीके मंगलाचरण से स्वयं ही हो जाता है।

अर्थ :—भगवद्भक्त, भगवद्भक्ति, भगवान् और गुरु—कहनेको ये चार हैं, लेकिन वास्तव में इनका स्वरूप एक ही है। इनके चरणोंमें नमस्कार करनेसे समस्त विघ्नोंका विनाश हो जाता है।

भक्ति—भक्त :—भक्ति-शास्त्रके अनुसार भक्ति भगवान्‌की अन्तरंग-स्वरूपा-शक्ति है। प्रभु-कृपासे इसी शक्तिका जब मनुष्योंके हृदयोंमें उदय होता है, तब वह विषयोंसे पराङ्मुख हो जाता है और उसे भगवान्‌से अनुराग होने लगता है। यही अनुराग-लक्षणा-भक्ति भगवद्-प्राप्तिका मुख्य साधन है।

भक्तिकी व्याख्या विभिन्न ग्रन्थों, ऋषि-मुनियों एवं आचार्योंने अनेक प्रकारसे की है, जिनमें-से कुछ उद्धरण यहाँ दिए जाते हैं :—

१—सा परानुरक्तिरीश्वरे । (शाण्डिल्य—भक्ति—सूत्र—१।१।२)

—आराध्यके प्रति अनन्य अनुराग ही भक्ति है ।

२—सात्वस्मिन् परमप्रेमरूपा अमृतस्वरूपा च । (ना० भ० सू० २)

—भगवान्के प्रति होनेवाले परम-प्रेमको ही भक्ति कहते हैं ।

३—द्रुतस्य भगवद्धर्माद्धारावाहिकतां गता ।
सर्वेशे मनसो वृत्तिर्भक्तिरित्यभिधीयते । (भक्तिरसायन—१ । ३)

—भगवत्-गुणके श्रवणसे प्रवाहित होनेवाली भगवद्-विषयिणी धारावाहिक वृत्तिको ही भक्ति कहते हैं ।

४—कृपास्य दैन्यादि-युजि प्रजायते, यया भवेत् प्रेमविशेषलक्षणा ।
भक्तिर्ह्यनन्याधिपतेर्महात्मनः, सा चोत्तमा साधनरूपिकाऽपरा ॥
(श्रीनिम्बार्काचार्यकृत-वेदान्त कामधेनु)

—परिपूर्ण माधुर्य—सौन्दर्यनिधिसागर श्रीसर्वेश्वरकी कृपासे ही उनकी प्रेमविशेषलक्षणा भक्ति प्रस्फुरित होती है । जिसमें विनम्रता आदि गुण हों उन्हीं पर प्रभु कृपा करते हैं । परा और अपरा भक्ति के दो भेद हैं । उनमें प्रेमरूपा परा (उत्तमा) है और साधन-रूपा अपरा है ।

५—अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम् ।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा ॥ (भक्तिरसामृत-सिन्धु)

—अन्य अभिलाषाओंसे रहित, ज्ञान-कर्म आदिसे अनावृत श्रीकृष्ण-प्रीतिके अनुकूल आचरण करना ही भक्ति है ।

इन सभी व्याख्याओंमें एकही बात विभिन्न प्रकारसे कही गई है । सभीका भाव एकही है । सभीने संसारसे पराङ्मुख हो श्रीश्यामाश्यामके चरणकमलोंमें अटूट अनुरागको ही भक्ति कहा है । जिनके हृदयमें इस प्रकारकी भक्तिका संचार होता है, उन्हींकी 'भक्त' संज्ञा होती है और भगवान्का निवास—स्थान भी प्रेममय होनेके कारण एकमात्र भक्त-हृदय ही है । जब हृदय एकान्त भक्तिनिष्ठ होजाता है, तब प्रेमी-प्रेमपात्रसे अपनी तदाकारताका अनुभव करता है और तभी प्रेमपात्र भगवान्‌भी अपने भक्तोंसे तदाकारताका प्रकाश करते हैं :—

वैष्णवो मम देहस्तु तस्मात् पूज्यो महामुने ।
अन्य सर्वं परित्यज्य वैष्णवान् भज सुव्रत ॥

—हे मुनिराज ! वैष्णव तो मेरा स्वरूप है, अतः अन्य साधनोंके फेरमें न पड़कर वैष्णवोंकी ही सेवा करनी चाहिए ।

भगवान् और गुरु—भगवत्प्राप्तिमें गुरुको सर्वश्रेष्ठ माना गया है । जन्म-जन्मान्तरोंसे प्रभुसे बहिर्मुख जीवको गुरु ही उनकी ओर प्रेरित करता है, उन्हें सद्-असद्का ज्ञान कराकर सांसारिक मायाके अन्धकारसे छुड़ाता है । (न विना गुरु संबन्धं ज्ञानस्याधिगमः कुतः) अन्यथा बिना गुरुके ज्ञानकी प्राप्ति कहाँ ? इसीलिए भगवान्ने कहा है—

आचार्यं मां विजानीयात् नावमन्येत कर्हिचित्।
न मर्त्यबुद्ध्यासूयेत सर्वदेवमयो गुरुः॥ (श्रीमद्भागवत)

अर्थात्—आचार्य (गुरु) को मेरा ही स्वरूप समझना चाहिए, उनका कभी भी अपमान नहीं करना चाहिए और न उनमें मनुष्य-बुद्धि ही करनी चाहिए; क्योंकि गुरुमें सब देवताओंका वास होता है। इसीलिए यह कहा गया है कि—

यस्य देवे पराभक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिताः ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥

अर्थात्—अपने इष्टमें जिसकी एकान्त भक्ति है और जो गुरुको भी स्वयं इष्ट करके मानता है, उस महात्माके हृदयमें ही तत्त्व ज्ञानका प्रकाश होता है।

सन्त-वाणियोंमें भी इसी बातको स्पष्ट किया गया है—

ज्यौं गुरु त्यौं गोविंद बिनु गुरु गोविंद छिन नाहीं।
ज्यौं नावरुहा हन्दु (त्यौं) निगुरा पंथ न पावहीं॥
गुरु सेवत गोविंद मिल्यौ गुरु गोविंदै आहि।
बिहारिदास हरिदास की जीवन है मुख चाहि॥ (स्वामी श्रीविहारिनिदेवजी)

स्वामी श्रीललितकिशोरीदेवजने तो यहाँ तक कह दिया है कि—

गुरु सेये हरि सेइये हरि सेये गुरु नाँहि।
गुरु चाहै हरिको भजै तिनसे दोऊ आँहि॥

कबीरदासने भी कहा है—

गुरु गोविन्द दोनों खड़े, काके लागौं पाँय।
बलिहारी गुरु आपने गोविन्द दियो दिखाय॥

चारों तत्त्वोंकी एकता—ऊपर भगवान्‌की ह्लादिनी शक्ति–भक्तिका उल्लेख किया गया है। यही शक्ति भक्ति, भक्त, भगवान् और गुरु—इन चार रूपोंमें प्रकट होती है। समुद्रमें, मेघमें, जलमें और जलाशयमें एक ही जल-तत्त्व स्थित रहता है। समुद्र जलनिधि है; उसमें से उठी हुई भाप आकाशमें टिक कर मेघका रूप धारण करती है, मेघमें से निकली हुई जलधाराएँ स्थलपर एकत्र होकर जलाशयका रूप धारण करती हैं। इसी प्रकार भक्ति या ह्लादिनी-शक्ति या भगवत्-कृपाका उद्गम-स्थान भगवान् हैं, भक्तिका दाता गुरु है और भक्तिका पात्र भक्त है। ये चारों एक-दूसरे से अभिन्न हैं।

जैसा कि श्रीस्वामी विहारिनदेवजीने कहा है—

भक्ति, भक्त अरु भागवत गुरु भगवत निज जानि।
बिहारिदास यह भाव मन और सबै मति हानि॥

अनुबन्ध-चतुष्टय—ग्रन्थको प्रारम्भ करनेसे पूर्व अनुबन्ध-चतुष्टयका उल्लेख करना आवश्यक है। ये अनुबन्ध संख्यामें चार होते हैं—१. विषय, २. प्रयोजन, ३. संबन्ध और ४. अधिकारी। नाभाजीने उपर्युक्त वन्दनामें निम्नलिखित प्रकारसे इन चारोंकी ओर संकेत किया है—

भक्ति-रसका विषयावलंबन भगवान् है, आश्रयालम्बन भक्त और गुरु हैं, अतः भक्ति, भक्त, गुरु और भगवान्‌के बीचमें भगवान् साध्य-तत्त्व—अर्थात् विषय है; भक्ति साधन-तत्त्व अर्थात् प्रयोजन है। गुरु और भगवान्‌के साथ भक्तका साध्य-साधक सम्बन्ध है। भक्त इसके अधिकारी हैं।

भक्ति-रस-बोधिनी

हरि गुरु दासनि सौं साँचो सोई भक्त सही, गही एक टेक फेरि उरते न टरी है ।
भक्ति रस रूप को स्वरूप यहै छबि सार, चाख हरिनाम लेत अँसुवन झरी है ॥
वही भगवन्त सन्त प्रीति को बिचार करै, धरै दूरि ईशता हू, पाँडुन सों करी है ।
गुरु गुरुताई की सचाई लै दिखाई जहाँ गाई श्री पैहारीजू की रीति रंगभरी है ॥६॥

टीकाकार श्रीप्रियादासजीने इस कवित्त में भक्त, भक्ति, भगवान् और गुरुकी परिभाषा की है तथा व्यंजना-द्वारा चारोंकी एकताका प्रतिपादन किया है ।

अर्थ—सच्चा भक्त वही है जो हरि, गुरु और दासों (भगवान्‌के भक्तों) के प्रति सच्ची प्रीति और निष्कपट व्यवहार करता है, तथा एक बार भगवान्‌के प्रति भक्तिका संकल्प करके उस पर सर्वदा दृढ़ रहता है । रसरूपा भक्तिका सुन्दर सार और स्वरूप वही है जहाँ भगवान्‌का नाम लेते ही आँखोंसे प्रेमके आँसू झर-झर करके झरने लगते हैं । भगवान् वही हैं, जो सन्तों (भक्तों) का हमेशा ध्यान रखते हैं और उनके लिए अपनी भगवत्ताको एक ओर उठाकर रख देते हैं; जैसा श्रीकृष्णने पाण्डवोंके साथ (राजसूय-यज्ञमें) किया था । गुरुकी गुरुता तथा सचाईको भक्तमालमें वर्णित श्रीकृष्णदास पयोहारीजीके चरित्रसे समझना चाहिए ।

ईश्वरके प्रति प्रबल अनुराग-युक्त व्यक्तिको ही 'भक्त' माना जाता है, परन्तु टीकाकारने भक्तका लक्षण व्यापक दृष्टिसे किया है । उसका अनुराग गुरु और भक्तजनोंमें भी उसी कोटिका होना चाहिए जैसा कि भगवान्‌में । इन तीनोंमें किसी प्रकारका तारतम्य नहीं समझना चाहिए । लालाचार्यजीका चरित्र इसका दृष्टान्त है । कोई प्रतिकूल घटना होने पर भी हरि, गुरु और दासोंके प्रति अविचल अनुरागमें अन्तर नहीं आना चाहिए । रानी रत्नावती इसका उदाहरण हैं । उनके पति माधवसिंहने बहुत विरोध किया, किन्तु रानीने अपनी प्रतिज्ञाको नहीं तोड़ा । जो भक्त हरिसे सच्चे रहे हैं उनमें मीरा बाई, कर्मैती बाई, सींवाँ भगतके नाम उल्लेखनीय हैं और गुरुसे सच्चे रहने वालोंमें श्रीपादपद्माचार्य, रसिक-मुरारीदेव, चाटमजी, तत्त्ववेत्ताजी आदि । श्रीसदाव्रतीजी, व्यासजी, त्रिलोचनजी आदिने भक्तोंके प्रति सच्चे रहनेका आदर्श उपस्थित किया है ।

प्रेमलक्षणा-भक्तिका स्वरूप निर्देश करते हुए श्रीशुक मुनिने उसकी यह पहिचान बताई है—

> वाग् गद्गदा द्रवते यस्य चित्तं हसत्यभीक्ष्णं रुदति क्वचिच्च ।
> विलज्ज उद्गायति नृत्यते च मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति ॥ (श्रीमद्भागवत—स्कन्ध ११)

अर्थात्— (हरिका नाम स्मरण करते ही) जिसका कंठ रुक जाता है, हृदय पिघलकर पानी-पानी हो जाता है; जो कभी हँसने लगता है, कभी रोने लगता है और कभी लौकिक लज्जाका परित्याग कर नाचने-गाने लगता है, वह मेरा भक्त तीनों भुवनोंको पवित्र कर देता है ।

भगवान्‌के प्रेममें इस प्रकार तन्मय होकर नाचने-गानेवालोंमें श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभु, कात्यायनी बाई, मीराबाईके नाम स्मरणीय हैं ।

भगवान्‌के स्वरूपकी व्याख्या करते हुए श्रीप्रियादासजी कहते हैं कि जिस प्रकार भक्त भगवद्-

भक्ति-परायण होते हैं; वैसे ही भगवान् भी भक्त-भक्तिमान् होते हैं—अर्थात् वे भक्तोंकी भक्ति करते हैं। ऐसेमें भगवान् अपनी ईश्वरताके अभिमानको एक ओर रखकर अपने भक्तोंकी प्रीतिको सर्वाधिक महत्त्व प्रदान करते हैं—यहाँ तक कि अपने भक्तोंकी दासता स्वीकार करनेमें भी संकोच नहीं करते। युधिष्ठिर द्वारा आयोजित राजसूय यज्ञमें भगवान्ने ब्राह्मणोंके चरण धोये और उनकी जूठी पत्तलें उठाईं। इससे पूर्व महाभारत युद्धमें अर्जुनका रथ हाँकना उन्होंने स्वीकार किया। 'भक्तके परवश होकर ही भगवान्ने त्रिलोचन भक्तके घरपर रहकर तेरह महीनों तक निष्ठापूर्वक सन्तोंकी सेवा की। यह चरित्र आगे 'भक्तमाल' में वर्णित है।

सच्चे गुरुके आदर्शको बतानेके लिए टीकाकारने श्रीपयहारीजीके चरित्रका उल्लेख किया है। जिस प्रकार पयोहारीजी अपने शिष्योंसे किसी प्रकारकी कामना नहीं करते थे, उसी प्रकार गुरुको सर्वथा निस्पृह रहना चाहिए। श्रीपयहारीजीके चरित्रका वर्णन करनेके प्रसंगमें ग्रन्थकार श्रीनाभाजीने गुरुमें चार तत्त्वोंका होना आवश्यक बताया है—

(१) जाके सिर कर धर्यौ तासु कर तर नहिं अड्यौ।
(२) अर्प्यौ पद निर्बान सोक निर्भय करि छड्यौ।
(३) तेजपुंज बल भजन महामुनि ऊरधरेता।
(४) निर्वेद अवधि........।

गुरुका प्रथम लक्षण है—निस्पृहता। श्रीपयहारीजीने जिस शिष्यके माथे पर हाथ रक्खा उसके हाथोंके नीचे अपना हाथ कभी नहीं पसारा। गुरुका दूसरा लक्षण यह है कि उसमें इतनी योग्यता होनी चाहिए कि शिष्यगणोंको निर्भय पदवीपर पहुँचा दे—अर्थात् उन्हें शोकरहित करके भक्तिका अधिकारी बना दे और भगवान्से साक्षात्कार करा दे। चौथा लक्षण यह है कि गुरु ब्रह्मचर्यके बलसे युक्त हो और सात्त्विक तेजसे जगमगाता रहे।

मूल

दो०—मंगल आदि विचारि रह, वस्तु न और अनूप।
हरिजन कौ यश गावते, हरिजन मंगलरूप ॥२॥
सब सन्तन निर्णय कियौ, श्रुति पुराण इतिहास।
भजिबे को दोई सुघर, कै हरि, कै हरिदास ॥३॥
अग्रदेव आज्ञा दई, भक्तन कौ यश गाउ।
भवसागर के तरन कौं, नाहिन और उपाउ ॥४॥

अर्थ—संसारमें जो वस्तुएँ मंगलकारी समझी जाती हैं उनकी यथार्थतापर विचार करनेके बाद एक यही बात शेष रह जाती है कि भगवान्के भक्तोंका गुणानुवाद सरीखी और कोई वस्तु अनोखी नहीं है। भगवद्भक्तोंका गुणगान करते-करते भगवान्के भक्त मंगलमय हो जाते हैं; उन्हें अपने कल्याणके लिए अन्य किसी सांसारिक शुभ-साधनोंकी जरूरत नहीं रहती ॥२॥

सब साधु-सन्तोंने तथा वेद, पुराण, इतिहास आदि शास्त्रोंमें निश्चित रूपसे यही सिद्धान्त स्थिर किया है कि भजन और उपासना के लिए या तो हरि या हरिके दास ही सबसे श्रेष्ठ हैं ॥३॥

स्वामी श्रीअग्रदेवजीने (नाभाजीको) आज्ञा दी कि भक्तोंके चरित्रोंका वर्णन करो; क्योंकि संसार-समुद्रसे पार उतरनेका इससे सुगम अन्य कोई उपाय नहीं है ॥४॥

श्रीनाभाजीने 'भक्ति भक्त भगवन्त गुरु' इस प्रथम दोहेमें वस्तुनिर्देशात्मक मंगलाचरण करते हुए प्रतिपाद्य विषयको भगवत-तत्वसे अभिन्न बतलाया है। दूसरे दोहेमें उन्होंने अपनी प्रतिज्ञाको स्पष्ट किया है जोकि हरिजनों (भगवद्भक्तों) का यशोगान करना है। तीसरे दोहेमें भक्तोंकी महिमाको ही सर्वश्रेष्ठ ठहराते हुए उनके गुणानुवाद करनेका कारण बताया है कि यह सिद्धान्त उनका स्वयंका नहीं है, वरन् वेदपुराण आदि धर्मशास्त्रों द्वारा समर्थित है। चौथे दोहेमें ग्रन्थकारने इस ग्रन्थका प्रतिपाद्य विषय हरिजनों का यशोगान करना ही बतलाया है, और पहले दोहेमें प्रेम-लक्षणा-भक्तिको प्रयोजन तत्व कहा है, यहाँ भी यह समझ लेना चाहिए कि प्रेमा-भक्तिका लाभ आनुषंगिक है। प्रधान साध्य भगवद्भक्तोंकी भक्तिका अनुशीलन करना ही है। उनके भजनकी रीतिका अनुभव करनेसे ही भक्तिका जन्म होता है और भक्ति से ही प्रभुकी प्राप्ति होती है।

आगेके चार कवित्तोंमें प्रियादासजीने ग्रन्थकर्ता श्रीनाभाजीके जीवनमें घटित घटनाओंके द्वारा सन्तों की अहैतुकी कृपाका प्रभाव दिखलाया है तथा उनके जीवन चरित्रका संक्षिप्त वर्णन भी किया है।

भक्ति-रस-बोधिनी

मानसी स्वरूप में लगे हैं अग्रदास जू वै, करत बयार नाभा मधुर सँभार सौं।
चढ़्यो हो जहाज पै जु शिष्य एक, आपदा मैं करयो ध्यान, खिच्यौ मन छुट्यौ रूपसार सौं॥
कहत समर्थ गयौ बोहित बहुत दूरि आवौ छवि पूरि, फिर ढरौ ताही ढार सौं।
लोचन उघारि कै निहारि, कह्यो बोल्यौ कौन? वही जौन पाल्यौ सीथ दै दै सुकुँवार सौं॥१०॥

अर्थ— श्रीअग्रदासजी महाराज एक बार मानसी उपासनामें लीन थे और नाभाजी महाराज धीरे-धीरे उनको पंखा झल रहे थे। इधर यह हो रहा था, उधर अग्रदासजी महाराजका एक शिष्य जो कि जहाज द्वारा समुद्र-यात्रा कर रहा था, (जहाजके एकाएक रुक जानेसे) आपत्ति में फँस गया। उस शिष्यने तुरन्त अपने गुरु श्रीअग्रदासजीका स्मरण किया और (उसका फल यह हुआ कि) श्रीअग्रदासजीका ध्यान रूपके सार (सुन्दरतम) भगवान्‌की एकान्त मानसी-सेवासे हट गया। अपने गुरुके इस ध्यान-विक्षेपको नाभाजी न सह सके और (अपने पंखेकी हवाकी शक्ति से रुके जहाजको समुद्रमें चालू करते हुए) गुरुजीसे बोले—"महाराज, वह जहाज तो (अपनी यात्रामें) बहुत दूर निकल गया; आप अब अपने चित्तको उसी रूप और शोभाके धाम (भगवान्) में लगा दीजिए।" (यह सुनते ही) श्रीअग्रदासजीने अपनी आँखें खोलीं और सामने किसीको बैठा हुआ देखकर पूछा—"कौन बोला?" (श्रीनाभाजीने हाथ जोड़कर उत्तर दिया)— वही (आपका दास) जिसे सीथ-प्रसाद दे-देकर आपने पाला है।

भक्ति-रस-बोधिनी

अचरज दयो नयो यहाँ लौं प्रवेश भयो, मन सुख छयो जान्यो संतन प्रभाव को।
आज्ञा तब दई यह भई तोपै साधु कृपा, उनहीं को रूप गुण कहो हिय भाव को॥
बोल्यो कर जोरि याको पावत न ओर छोर, गाऊँ रामकृष्ण नहीं पाऊँ भक्ति दाव को।
कही समुझाइ वोइ हृदय आइ कहैं सब, जिन लै दिखाइ दई सागर में नाव को॥११॥

अर्थ—(श्रीनाभाजीके उपर्युक्त कथनको सुनकर गुरु अग्रदासजीको) एक नवीन आश्चर्यका अनुभव हुआ (और वह मनमें सोचने लगे कि) इसकी यहाँ तक पहुँच होगई कि यहाँ बैठे ही बैठे दूरस्थित समुद्रमें होनेवाली घटनाका प्रत्यक्ष कर लिया। भक्तकी इस महिमाको देखकर उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई और वह जान गए कि यह सब सन्तों के प्रसाद-ग्रहण करनेका ही प्रभाव है कि (नाभा को ऐसी सूक्ष्मदृष्टि प्राप्त हुई)। तब श्रीअग्रदासजीने आज्ञा दी—"वत्स! तुमपर साधुओंकी कृपा हुई है, अब तू उन्हीं भक्त-सन्तोंके गुण, स्वरूप तथा हृदयके भावोंका गान कर" नाभाजीने यह आज्ञा सुनी तो हाथ जोड़कर बोले—"(महाराज!) मैं भगवान् रामकृष्णके चरित्र तो गा सकता हूँ, पर सन्तों के चरित्रों का आदि-अन्त पाना तो बड़ा कठिन है, (क्यों कि वह तो अत्यन्त रहस्यमय है) भला मैं भक्तिके रहस्यको कैसे समझ सकता हूँ!" तब स्वामी अग्रदासजीने उन्हें समझाते हुए कहा—"वही (भगवान् तुम्हारे हृदयमें प्रविष्ट होकर भक्तों के तथा अपने) सब रहस्योंको खोलकर बतायेंगे जिन्होंने समुद्रमें जहाजको तुम्हें दिखा दिया।"

इस कवित्तमें टीकाकारने यह बताया है कि श्रीनाभाजीको इस ग्रन्थको लिखनेकी प्रेरणा कहाँसे और किस परिस्थितिमें मिली। इस कवित्तसे यह भी स्पष्ट है कि ग्रन्थ रचनेसे पूर्व ही श्रीनाभाजीको अलौकिक वस्तु प्राप्त होगई थी और उसका कारण था, साधु-सन्तोंमें दृढ़ निष्ठा तथा एकान्त भावसे सेवा।

भक्ति-रस-बोधिनी

हनूमान् वंश ही में जनम प्रशंस जाको, भयो दृगहीन सो नवीन बात धारिये।
उमरि बरष पाँच, मानि कै अकाल आँच, माता बन छोड़ि गई बिपति बिचारिये॥
कील्ह औ अगर ताहि डगर दरश दियो, लियो यों अनाथ जानि, पूछी सो उचारिये।
बड़े सिद्ध जल लै कमण्डलु सों सींचे नैन, चैन भयो खुले चख, जोरी को निहारिये॥१२॥

अर्थ—श्रीनाभाजीका पूर्व नाम नारायणदास था। इनका जन्म प्रशंसनीय हनुमान् वंशमें हुआ था। (आपके जन्म-संबन्धमें) एक आश्चर्यजनक बात यह थी कि आप नेत्र-हीन (अन्धे) पैदा हुए थे। जब आप केवल पाँच वर्षके थे तभी दुर्भिक्ष आगके समान चारों ओर फैल गया। यह देखकर माता उन्हें वनमें छोड़कर चली गई और अब नाभाजी पर एक नई विपत्ति आई। संयोगसे (जब नाभाजी वनमें भटक रहे थे) कील्हदेव और अग्रदासजी दो महात्मा उसी रास्ते से निकले और नाभाजीको इस प्रकार अनाथ जान कर (उनके माता-पिताके संबन्ध में) कई बातें पूछीं, जिनका कि उन्होंने उत्तर दिया। तब कील्हदेवजीने अपने कमण्डलुसे जल लेकर नाभाजी

की बन्द आँखोंमें छींटे दिए । महात्माओंकी कृपासे नाभाजीको नेत्र-लाभ हुआ और अपने सामने दो महात्माओंको खड़ा देखकर उन्हें बड़ी शान्ति मिली ।

श्रीप्रियादासजीने इस कवित्तमें उन प्रश्नोत्तरोंका वर्णन नहीं किया जो श्रीकील्हदेव और बालक नारायणदासजी (श्रीनाभाजी) के बीच हुए थे । वे सन्त-समाजमें निम्नलिखित रूपसे प्रचलित हैं—

श्रीकील्हदेवजी—"बालक ! तुम कौन हो ?"

बालक—"महाराज, मुझे नहीं मालूम मैं कौन हूँ" (उत्तरका गूढ़ तात्पर्य यह था कि संसारके सब प्राणी जिन तीन गुण और पाँच तत्वोंसे बने हैं, उनसे मैं किसी प्रकार भिन्न नहीं हूँ । ऐसे में मैं क्या बताऊँ कि मैं कौन हूँ ।)

श्रीकील्हदेव—"तुम कहाँसे आये हो ?"

बालक—"यह तो भूल है" (तात्पर्य यह कि जीव अपनी भूल (अज्ञान) के कारण कर्मानुसार अनेक जन्म लेता है; यहाँ किसका आना और किसका जाना ? वास्तव में आवागमन–जैसी कोई वस्तु ही नहीं ।)

श्रीकील्हदेव—"तुम्हारा पालनकर्ता कौन है ?"

बालक—"जो सबका पालक है, वही मेरा भी है ।"

कहते हैं, बालक नाभाके इन वचनोंसे श्रीकील्हदेव इतने प्रभावित हुए कि उसे तत्काल अपने साथ लेगए ।

भक्तमालके टीकाकार श्रीसीतारामशरण भगवान्प्रसाद रूपकलाने श्रीनाभाजीके वंशके सम्बन्धमें कई एक मान्यताओंका उल्लेख किया है । उनमेंसे एकके अनुसार तैलङ्ग (दक्षिण) में गोदावरीके निकट 'श्रीरामदास' नामक एक महाराष्ट्र ब्राह्मण थे । यह हनुमानजीके अंशावतार माने जाते थे और उच्च कोटि के राम-भक्त थे । हनुमान-वंशके आदि पुरुष यही थे ।

भक्तमालके एक टीकाकार राजा श्रीरघुराजसिंहजीके मतके अनुसार श्रीनाभाजी कांगूली ब्राह्मण थे । कोई-कोई उन्हें डोमवंशज बताते हैं । उत्तर भारतमें डोमोंकी गणना शूद्रोंमें की जाती है, लेकिन कुछ विद्वानोंने इसका प्रतिवाद करते हुए लिखा है कि पश्चिम मारवाड़ आदि देशोंमें डोम क्षत्रियोंके समकक्ष माने जाते हैं और प्रतिष्ठाकी दृष्टिसे देखे जाते हैं ।

श्रीनाभाजीके निम्नजातीय होनेके सम्बन्धमें एक कथा इस प्रकार कही जाती है—एक बार राजा मानसिंहजी अग्रदासजीसे अत्यन्त अनुनय-विनय करके श्रीनाभाजीको अपने साथ ले गए जिससे उनके सदुपदेशोंका लाभ उठा सकें । श्रीनाभाजीमें राजाकी अपूर्व श्रद्धा और विश्वास देखकर राजदरबारके पण्डितों को बड़ी ईर्ष्या हुई । उन्हें परास्त करने तथा नीचा दिखानेके लिए पण्डित-लोग प्रायः तरह-तरहके गूढ़ प्रश्न किया करते थे, परन्तु श्रीनाभाजी इनका उत्तर अत्यन्त सरलतासे दे दिया करते थे । कभी-कभी ऐसा भी होता था कि श्रीनाभाजीके उत्तर पण्डितोंके लिए इतने गूढ़ हो जाते थे कि वे उन्हें समझ ही नहीं पाते थे । यह देखकर पण्डितोंने मिलकर श्रीनाभाजीका मान-भङ्ग करनेकी एक योजना बनाई और उसके अनुसार एक दिन राजाकी उपस्थितिमें उनसे प्रश्न किया—"आपने अपने जन्मसे किस जाति और कुलको अलंकृत किया है ?" श्रीनाभाजीने उनका मनोगत अभिप्राय समझ कर कहा—

मृतक चीर जूठनि बच्छन, काग बिष्ट अरु मित्र ।
शिव निरमालय आदि दै, ये सब वस्तु पवित्र ॥

अर्थात्—कफ़न, गायके बछड़ेकी जूठन, कौवाकी विष्ठा, मित्र और शिव-निर्माल्य—ये सब पवित्र माने जाते हैं ।

श्रीनाभाजीके कहनेका तात्पर्य यह था कि जिस प्रकार कौवाकी बीटसे उत्पन्न पीपलका पेड़ सब मनुष्योंका पूजनीय होता है, उसी प्रकार किसी भी कुलमें उत्पन्न भागवत जाति-पाँतिकी कसौटीसे ऊँचा होता है ।

कई एक पौराणिक दन्त-कथाएँ भी इस सम्बन्धमें प्रचलित हैं । कहते हैं, श्रीनाभाजी ब्रह्माके अवतार थे । ब्रह्माजीने एक बार व्रजके सब गोपालों और बछड़ोंको अपहरण कर लिया था । इसपर श्रीकृष्णने अपनी मायासे वैसे ही अन्य ग्वाल-बालों तथा वत्सोंकी सृष्टि करदी और बहुत समय तक व्रजके लोगोंको इसका पता ही नहीं लगा कि ब्रह्माजी उन्हें चुराकर ले गए हैं । बादमें ब्रह्माजीने जब श्रीकृष्ण भगवान्से अपने अपराधके लिए क्षमा-याचना की, तब श्रीकृष्णने उन्हें केवल इतना ही दण्ड दिया कि तुम कलियुगमें नेत्र-हीन होकर जन्म लोगे, लेकिन यह अन्धपन केवल पाँच वर्ष तक ही रहेगा । बादमें महात्माओंकी कृपासे तुम्हें दिव्य-ज्योति प्राप्त होगी । इस प्रकार नाभाजी ब्रह्माजीके ही अवतार थे ।

भक्ति-रस-बोधिनी

पायँ परि आँसू आये, कृपा करि संग लाये, कील्ह आज्ञा पाइ मंत्र अगर सुनायो है ।
'गलतें' प्रगट साधु-सेवा सों विराजमान, जानि अनुमान ताही टहल लगायो है ॥
चरण प्रछालि संत सीत सों अनन्त प्रीति, जानी रस-रीति, ताते हृदय रंग छायो है ।
भई बढ़वारि ताको पावै कौन पारवार, जैसो भक्तिरूप सो अनूप गिरा गायो है ॥१३॥

अर्थ—श्रीनाभा स्वामी (दोनों महात्माओंका ऐसा अनुग्रह देखकर) उनके पैरोंपर गिर पड़े और उनकी आँखोंसे आँसू बह निकले । महात्मागण श्रीनाभाजीको अपने साथ 'गलता' नामक स्थानमें ले आये । तब श्रीकील्हदेवकी आज्ञा पाकर श्रीअग्रदेवने उन्हें मंत्रोपदेश दिया । 'गलता' के आश्रममें जिस साधु-सेवाका प्राकट्य हुआ था । उसे दृष्टिमें रखते हुए और श्रीनाभाजी की साधु-सेवाका अनुमान लगाकर उन्हें यह काम सौंपा गया कि वे सन्तोंकी टहल (सेवा) किया करें । (इस प्रकार) सन्तोंके चरण धोते-धोते तथा उनके उच्छिष्टको प्रसादरूपमें ग्रहण करते-करते श्रीनाभाजीका महात्माओंके सीथ (जूठन) से अनन्त प्रेम होगया और उन्हें भक्ति-रसका आस्वाद मिल गया । परिणाम यह हुआ कि उनका अन्तःकरण अनूठे प्रेम-रंगमें सराबोर होगया और इस दिशामें वह इतने ऊँचे चढ़ गए कि साधारण जनको उसका अनुमान भी नहीं हो सकता । भक्तिके इस स्वानुभूत स्वरूपका ही वर्णन उन्होंने 'भक्तमाल' में अपनी अनुपम वाणीसे किया है ।

सन्तोंकी जूठन ग्रहण करके ज्ञान और भक्ति प्राप्त करनेके अनेक उदाहरण भागवत सम्प्रदायके ग्रन्थोंमें मिलते हैं । नारदजी अपना पूर्व इतिहास बताते हुए श्रीमद्भागवतमें कहते हैं—

उच्छिष्टलेपाननुमोदितो द्विजैः सकृत् स्म भुञ्जे तदपास्तकिल्बिषः ।
एवं प्रवृत्तस्य विशुद्धचेतसस्तद्धर्म एवात्मरुचिः प्रजायते ॥ (भा० १।५।२५)

अर्थात्—ब्राह्मणोंसे आज्ञा पाकर मैंने उनका उच्छिष्ट अन्न ग्रहण किया, तब मेरे सब पाप दूर हो गए। शुद्ध हृदयसे जो इस प्रकार साधु-सेवामें प्रवृत्त होता है, उसकी ही आत्म-ज्ञानमें रुचि पैदा होती है।

मूल (छप्पय)

जय जय मीन वराह, कमठ, नरहरि, बलि बावन,
परशुराम, रघुवीर, कृष्ण कीरति जगपावन ।
बुद्ध, कलकी, व्यास, पृथु, हरि, हंस, मन्वन्तर,
यज्ञ, ऋषभ, हयग्रीव, ध्रुव वरदेन, धन्वन्तर ॥
बद्रीपति, दत्त, कपिलदेव, सनकादिक करुणा करौ,
चौबीस रूप लीला रुचिर श्री अग्रदास उर पद धरौ ॥५॥

अर्थ—मीन, वाराह आदि चौबीस अवतारोंकी मंगलाचरणके रूपमें जयजयकार करने के उपरान्त ग्रन्थकार उन्हें संम्बोधन करते हुए प्रार्थना करते हैं कि आपके चौबीसों रूपावतार जो विभिन्न लीलाओंके कारण बड़े मनोरम हैं, मेरे हृदय-पटल पर अपने चरण-कमलों को विराजमान करें और साथ ही गुरु अग्रदासजीके चरण भी मेरे हृदयपर स्थित रहें । अथवा-चौबीसों अवतारों की सुन्दर लीलाएँ मेरे हृदयमें बसकर उसे प्रकाशमान करें ।

अवतारोंका संक्षिप्त परिचय

उपर्युक्त छप्पयमें उल्लिखित चौबीस अवतारोंमें मत्स्य, कच्छप, वाराह, नृसिंह, वामन, परशुराम और रामचन्द्र त्रेतायुगके हैं, श्रीकृष्ण और व्यास द्वापरके, बुद्ध और कल्कि कलियुगके और शेष सत्ययुगके हैं। मीन-रूप धारण करके भगवान्‌ने शंखासुरका वध किया और सत्यव्रतको प्रलयकालका दृश्य दिखाया। वाराह ब्रह्माकी नासिकासे प्रकट हुए। उन्होंने हिरण्याक्षको मारकर पाताललोकमें-से पृथ्वीका उद्धार किया। कमठावतारमें समुद्र-मन्थनके समय मन्दर-गिरिको अपनी पीठपर धारण किया और देवताओंकी सहायता की। नृसिंहावतारमें हिरण्यकशिपुको मारकर अपने भक्त प्रह्लादकी रक्षा की। परशुराम अवतारमें भगवान्‌ने रेणुकाके गर्भसे पैदा होकर बाईस बार पृथ्वीको क्षत्रियोंसे शून्यकर ब्राह्मणोंको दान दिया। दशरथ-सुत श्रीरामने मर्यादापुरुषोत्तमके रूपमें रावणका संहार किया और अपने प्रिय भक्त विभीषणको लंकाके राज्यपर प्रतिष्ठित किया। द्वापरमें देवकी और वसुदेवके घरमें प्रकट होकर दुष्टोंका दमन किया और गीताके रूपमें कर्मयोग तथा भक्तियोगके सिद्धान्तोंका प्रतिपादन किया एवं व्रज-प्रदेशमें अपनी मधुर लीलाओं द्वारा रसिक भक्तोंको आह्लादित किया। बुद्धावतारमें अहिंसा, जीवदया और सर्व-भूत-मैत्रीका उपदेश देकर समस्त विश्वमें एक नवीन धार्मिक क्रान्तिको जन्म दिया। कल्कि-अवतार घोर कलियुगके आनेपर जिला मुरादाबादके संभल नामक ग्राममें होगा, ऐसा पुराणोंमें लिखा है। महर्षि पाराशरके पुत्र व्यास सत्यवतीके गर्भसे पैदा हुए। वेदोंका विभाजन करनेके कारण उन्हें 'वेद-व्यास' कहा

जाता है। आप अठारह पुराणोंके रचयिता माने जाते हैं। हरि-अवतारमें हरिणीसे पैदा होकर आपने ग्राहको मारा। हंसावतारमें ब्रह्माजीको ज्ञानोपदेश किया, मन्वंतर-रूपमें लाखों दुष्टोंका संहार कर संसार को आनन्द प्रदान किया और यज्ञ-रूपमें आकूती मातासे जन्म लेकर वैदिक मार्गका उद्धार किया। ऋषभ अवतारमें तत्व-ज्ञानका उपदेश दिया और हयग्रीवके रूपमें लुप्त हुए वेद-ज्ञानका पृथ्वी पर फिर प्रचार किया। एक पैरपर खड़े होकर सहस्रों वर्षों तक तपस्या करनेवाले बालक ध्रुवको अक्षय धाम देनेवाले विभु स्वयं शंखचक्र-गदाधारी होकर प्रकट हुए। धन्वन्तरि-अवतारमें अमृत-कलश लेकर संसारको अनेक प्रकारकी आधि-व्याधियोंसे मुक्त किया। नरनारायण-रूपमें बद्रिकाश्रममें तपस्या की। कर्दम-देवहूतीके पुत्र कपिल-ऋषि सांख्य-दर्शनके प्रवर्तक हुए और संसारको एक नया तत्व-ज्ञान दिया। सनक, सनन्दन, सनत्कुमार और सनातन सृष्टिके सर्वप्रथम ज्ञानीके रूपमें अवतरित हुए।

इस स्थल पर यह शंका की जा सकती है कि श्रीनाभाजीके गुरुदेवने उन्हें भक्तजनोंका गुणगान करने की जब आज्ञा दी थी, तब प्रारम्भमें चौबीसों अवतारोंकी वन्दना करनेकी संगति कैसे बैठ सकती है। इसके कई एक उत्तर दिए जाते हैं। पहला यह कि साधारणतः वैष्णव-महानुभावगण जब प्रदेश जाते हैं तब अपने इष्टदेवका बटुआ सदैव अपने पास रखते हैं। किसी स्थान पर पहुँचते ही सर्व-प्रथम वे ठाकुर-मन्दिरमें अपना बटुआ रखते हैं। उस बटुआको छोड़कर कोई महात्मा कहीं नहीं जाता। इस दृष्टान्तसे यह सिद्ध होता है कि यदि कोई भक्तजनोंकी लीलाको अपने हृदयमें धारण करना चाहता है, तो सबसे पहले उन भक्तोंके उपास्य इष्टदेवकी मूर्ति और उसकी रुचिरलीलाको हृदयंगम करना होगा। अभिप्राय यह है कि भक्तोंकी जाति एक होनेपर भी उनके उपास्य एक नहीं है, अतः भक्तोंके चरित्रोंको समझनेके लिए उनके आराध्य देवताओंको पहले समझना होगा।

दूसरा समाधान इस प्रकार है कि भक्तोंके हृदयोंमें जैसे भगवान् निवास करते हैं, उसी प्रकार भक्तोंके हृदय भी तद्रूप अपने-अपने इष्टदेवोंके चरणोंमें सदा संलग्न रहते हैं। प्रायः देखा जाता है कि यदि हम किसीके प्रेमीको प्रसन्न करना चाहते हैं, तो यह आवश्यक होजाता है कि हम उस प्रेमीके सामने उसके प्रेमपात्रकी प्रशंसा करें। प्रस्तुतमें सन्त-लोग, जिनके चरित्रोंका गान करना है, प्रेमी हैं और मीनादिक अवतार उनके प्रेमपात्र हैं। चौबीस अवतारोंकी वन्दना करनेसे उन सबकी रुचिर-लीला श्रीगुरुदेवकी कृपासे अपने हृदयमें प्रकाशित होती है और तब उनके भक्तजनोंके चरित्र भी प्रकाशित हो जाते हैं।

तीसरा उत्तर यह है कि सन्तोंके चरित्रोंको सुननेके लिए श्रोताओंका होना भी आवश्यक है, अतः श्रीनाभाजीने मीनादि अवतारोंको श्रोताओंके रूपमें प्रारंभमें उपस्थित किया है।

चौथा समाधान जोकि अधिक तर्क-संगत प्रतीत होता है, यह है कि चौबीस अवतारोंकी वन्दना द्वारा श्रीनाभा-स्वामीने यह दिखलाया है कि जैसे मीन, वराह आदि तिर्यक् योनिके जीव हैं, किन्तु यही जब अंशावतारके रूपमें उपस्थित होते हैं, तब लोक-वन्दनीय हो जाते हैं उसी प्रकार कबीर, रैदास आदि नीच-जातिमें उत्पन्न होनेपर भी भगवान्के भक्त होनेके कारण वन्दनीय हैं, क्योंकि इनमें भगवान्की एक ही ह्लादिनी शक्ति श्रीभक्ति-महारानीका उसी प्रकार पूर्ण प्रकाश होता है जैसा कि उच्च कुलोंमें उत्पन्न अन्य भक्तोंमें। अतः इन भक्तोंसे किसी प्रकार घृणा नहीं करनी चाहिए। जो ऐसा करते हैं उन्हें शास्त्रोंमें नारकी व्यक्ति कहा गया है। लिखा भी है—

अर्च्ये विष्णौ शिलाधीर्गुरुषु नरमतिर्वैष्णवे जातिबुद्धिः,
विष्णोर्वा वैष्णवानां कलिमलमथने पादतीर्थेऽम्बुबुद्धिः।
श्रीविष्णोर्नाम्नि मंत्रे सकलकलुषहे शब्द–सामान्य बुद्धि,
विष्णौ सर्वेश्वरेशे तदितरसमधी र्यस्य वै नारकी सः॥

—विष्णुकी प्रतिमाको जो पत्थर समझता है, गुरुओंको साधारण मनुष्यकी तरह देखता है, कलियुगके पापोंको मेटनेवाले विष्णु अथवा वैष्णवोंके चरणोदकको केवल जल मानता है, विष्णुके निज-मन्त्रको साधारण शब्द-समुदायके रूपमें ग्रहण करता है और सब देवताओंके अधिपति विष्णुमें जो अन्य देवोंकी अपेक्षा विशेषता नहीं देख पाता, वह नारकी है।

असलमें अवतारोंमें प्राकृत देह-बुद्धि होनेसे मीन-वराह आदि तिर्यक् जातिके अवतारों तथा श्रीराम-कृष्ण आदि मानव-अवतारोंमें भिन्नताकी प्रतीति होती है जोकि अज्ञानमूलक है। इस संबन्धमें यह जान लेना चाहिए कि अवतारोंके तीन हेतु हैं—(१) अनुग्रह, (२) निग्रह और (३) धर्म-संस्थापन। जीव-जातको अवतार-लीलाओं-द्वारा अपनी ओर आकृष्ट करना तथा आदर्श चरित्रों-द्वारा विविध आदर्श उपस्थित करना अवतारोंका उद्देश्य होता है। उदाहरणके लिए, भगवान्‌के भक्तगण ज्ञान-विज्ञानको नाश करनेवाले कामको जीत सकें, इसलिए श्रीकृष्णने योगमाया द्वारा रास-लीलाका दृश्य उपस्थित करके देवताओं तकको भी कृतार्थ करदिया और वे भगवत्प्रविष्ठ होगए—

अनुग्रहाय भक्तानां मानुषं देहमाश्रितः।
भजते तादृशीः क्रीडा या श्रुत्वा तत्परो भवेत्॥ (श्रीमद्भागवत १०–३३–३७)

—भक्तोंपर कृपा करनेके लिए मनुष्य-देह धारणकर भगवान् ऐसी लीलाएँ करते हैं जिन्हें देख-सुनकर मनुष्य उनके चरणोंमें अनुराग करने लगता है।

ऊपर कहे गए अवतारोंके उद्देश्योंपर विचार करनेसे यह स्पष्ट हो जाता है कि विभिन्न अवतारोंमें विभिन्न देह धारण करना भी भगवानकी क्रीड़ामात्र है। ये सब देह नित्य हैं, शाश्वत हैं और जन्म-मरण से रहित हैं। कहा भी है—

सर्वे नित्याः शाश्वताश्च देहास्तस्य परात्मनः।
हानोपादानरहिता नैव प्रकृतिजाः क्वचित्॥

भक्ति-रस-बोधिनी

जिते अवतार सुख-सागर न पारावार, करें बिस्तार लीला जीवन उधार कौं।
जाही रूप माँझ मन लागै जाको, पागै ताही, जागै हिय भाव वही, पावै कौन पार कौं॥
सब ही हैं नित्त, ध्यान करत प्रकाशै चित्त, जैसे रंक पावै वित्त, जो पै जानै सार कौं।
केशनि कुटिलताई ऐसे मीन सुखदाई, अगर सुरीति भाई, बसौ उर हार कौं॥१४॥

अर्थ—भगवानके जितने भी अवतार हैं, सब सुखके अनन्त समुद्र हैं। प्रत्येक अवतारमें लीलाका विस्तार जीवोंके उद्धार (कल्याण) करनेके लिये होता है। भक्तका मन भगवान्‌के जिस रूपके प्रति आकृष्ट होजाता है, उसीमें रम जाता है और तब उसी अवतारसे सम्बन्धित भावनाएँ हृदयमें तरंगित होने लगती हैं। (चूँकि अवतार अनन्त-सुख-समुद्र हैं, अतः) इन

भाव-रूपी तरंगोंका भी कोई पारावार नहीं। सब अवतार नित्य हैं (उनमें जन्म-मरणकी बुद्धि रखना भ्रम है) और ध्यान करने मात्रसे ही हृदयको आनन्द और ज्ञानसे प्रकाशित कर देते हैं। तब उस भक्तको ऐसा अनुभव होता है जैसे दरिद्रको धन मिल गया हो। लेकिन इस प्रकारके अमूल्य और सुखद अनुभव तभी होते हैं जब सार पदार्थका कुछ ज्ञान हो; अन्यथा नहीं। जिस प्रकार केशोंकी कुटिलता (टेढ़ा होना) भी उनका भूषण माना जाता है, वैसे ही मीन, वाराह आदि तिर्यक् शरीर भी भगवान्‌के सम्बन्धसे भक्तोंको सुख ही प्रदान करते हैं। श्रीनाभाजीकी अभिलाषा है कि सब अवतारोंके प्रति भगवत्की एक ही भावना रखनेकी जो श्रीअग्रदासजीकी रीति है वही उनके हृदयमें भी हार बनकर विराजमान हो—अर्थात् श्रीनाभा-स्वामीजी भी भगवान् के सब अवतारोंके प्रति इष्ट-बुद्धि रक्खें।

टीकाकारने "जैसे रंक पावै वित्त, जो पै आवै सार को"—इन पंक्तियों द्वारा यह व्यंजना की है कि अवतारका रहस्य न जाननेसे उसमें भाव-शक्ति नहीं होती है और भावके बिना भगवान् हृदयमें प्रकट भी नहीं होते; क्योंकि वह तो भावके आधीन हैं। कहा है—

भक्त्या तुष्यति केवलं न च गुणैर्भक्तिप्रियो माधवः।

इस बातको स्पष्ट करनेके लिए उदाहरण दिया गया है उस दरिद्रका जिसे मणि हाथ पड़ जाती है। यदि वह मणिका मूल्य नहीं जानता, तो वह उसके लिए पत्थरका टुकड़ा-मात्र है।

श्रीतुलसीदासजीने भी इसी भावको व्यक्त करते हुए लिखा है—

'नाम निरूपन नाम जतन ते, सोउ प्रकटत जिमि मोल रतन ते।'

———

मूल (छप्पय)

अंकुस, अंबर, कुलिस, कमल, जव, धुजा, धेनुपद।
संख, चक्र, स्वस्तिक, जंबूफल, कलस, सुधाहृद॥
अर्धचन्द्र, षटकोन, मीन, बिन्दु, ऊरधरेखा।
अष्टकोन, त्रैकोन, इन्द्रधनु, पुरुष-विशेषा॥
सीतापति-पद निज बसत एते मंगलदायका।
चरण-चिह्न रघुवीर के सन्तन सदा सहायका॥ ३॥

अर्थ—अंकुश, वस्त्र, वज्र, कमल, जौ, ध्वजा, गायका खुर, शंख, चक्र, सांतिया, जामुन का फल, घड़ा, अमृत-सरोवर, आधा चन्द्रमा, षट्कोण, मछली, ऊर्ध्वरेखा, अठकोण, त्रिकोण, इन्द्रधनुष, पुरुषकी आकृति—ये बाईस चिह्न सीतापति श्रीरामचन्द्रजीके चरणोंमें सदा विराजमान रहते हैं। ये चिह्न भक्तोंका कल्याण करनेवाले तथा उन्हें आनन्द देनेवाले हैं।

कई महात्माओंके मतमें ये चरणचिह्न अड़तालीस होते हैं, कुछ अठारह रेखाओंका ही वर्णन करते हैं और कुछ केवल सात का । गोस्वामी तुलसीदासजीने तो केवल चार चिह्नोंका ही उल्लेख किया है— ध्वज, वज्र, अंकुश और कमल । श्रीनाभाजीने जिन बाईस चिह्नोंकी वन्दनाकी है उनमें अंकुश, अंबर, वज्र, कमल, जौ, ध्वजा, चक्र, स्वस्तिक, ऊर्ध्वरेखा, अष्टकोण और पुरुष—ये ग्यारह दाहिने चरणके हैं और शेष वाम चरण के ।

भक्तिरस-बोधिनी

सन्तनि सहाय काज धारे नृप राम राज चरण सरोजनि में चिन्ह सुखदाइये ।
मन ही मतंग मतवारो हाथ आवै नाहिं ताके लिये अंकुस लै धारयौ हिय ध्याइये ।।
ऐसे ही कुलिस पाप पर्वत के फोरिबे को भक्ति निधि जोरिबे को कंज मन ल्याइये ।
जो पै बुधवन्त रसवन्त रूप सम्पति में करि लै विचार सब निसि दिन गाइये ।।१५।।

अर्थ—राजराजेश्वर भगवान् श्रीराघवेन्द्रने साधु-सन्तोंकी सहायता करनेके लिए सुख देने वाले इन चिन्होंको अपने चरण-कमलोंमें धारण किया है । मन-रूपी मदमस्त हाथी किसी प्रकार भी वशमें नहीं आताहै, इसीलिए आपने अंकुशका चिन्ह धारण किया है,जिससे भक्तगण उसका हृदयमें ध्यानकर मनपर विजय प्राप्त कर सकें । इसी प्रकार पापोंके पहाड़को ढहानेके लिए कुलिश (वज्र)के चिन्हका तथा भक्तिके अमूल्य खजानेको जोड़नेके लिए कमलके चिन्हका ध्यान करना चाहिए । जो बुद्धिमान रसिक भक्त हैं उन्हें इसी प्रकार श्रीहरिके चरणकमलोंके चिन्होंकी आकृति पर विचार करके उन सभीके गुणोंका गुणगान करना चाहिए । भाव यह है कि भगवानके चरण-कमलोंमें जिन यन्त्रोंकी रेखाएँ हैं उन यन्त्रोंका ध्यान और गुणगान करके भक्तिके बाधक तत्वों को दूर कर दीजिए ।

१०६,२२

मूल (छप्पय)

विधि, नारद, संकर, सनकादिक, कपिलदेव, मनु भूप ।
नरहरिदास जनक, भीषम, बलि, शुकमुनि, धमस्वरूप ।।
अंतरंग अनुचर हरिजू के जो इनको जस गावैं ।
आदि अन्त लौं मंगल तिनको श्रोता वक्ता पावैं ।।
अजामेल परसंग यह निर्णय परम धर्म के जान ।
इनकी कृपा और पुनि समझै द्वादस भक्त प्रधान ।।

अर्थ—(१) ब्रह्मा, (२) नारद, (३) शिव, (४) सनक, सनन्दन, सनातन सनत्कुमार, (५) कपिलदेव, (६) मनु, (७) प्रह्लाद, (८) जनक, (९) भीष्म, (१०) बलि, (११) शुकमुनि, और (१२) धर्मस्वरूप यमराज । ये (बारहों भक्त) भगवान्के अत्यन्त विश्वासपात्र सेवक हैं । इनका

गुणगान जो करते हैं उन महाभक्तोंके यशको कहनेवाले तथा सुननेवाले आदि-अन्ततक मंगल (सुख) पाते हैं। (द्वादश भक्तोंके यशोगान करनेवाले तो महाभक्त की पदवीसे विभूषित होते ही हैं, पर उन महाभक्तोंका यशोगान करनेवालोंका स्थायी कल्याण होता है।) अजामिलकी घटनाके प्रसंगमें 'धर्मराज' ने अपना यही निर्णय दिया है कि भागवत-धर्मका रहस्य ये बारह-जन ही उत्तम रीतिसे जानते हैं।) इन सबकी कृपा होनेपर दूसरे लोग भी भागवत-धर्मका रहस्य समझ सकते हैं।

इस छप्पयके 'अजामेल परसंग' से प्रारम्भ होने वाले पाँचवें चरणका अर्थ करनेमें कई टीकाकार उलझनमें पड़ गए हैं। ❀श्रीरूपकलाजी लिखते हैं—"परम धर्मके निर्णयमें श्रीअजामिलजीका प्रसंग जानने योग्य है। यह अर्थ कुछ युक्ति-संगत नहीं जान पड़ता। अजामिलके प्रसंगमें यमराजने धर्मका निर्णय नहीं किया है, बल्कि सर्व-प्रधान भक्तोंका और उनमें अपने आपको भी शामिल किया है। यमराजकी उक्ति इस प्रकार है—

स्वयंभूर्नारदः शंभुः कुमारः कपिलो मनुः।
प्रह्लादो जनको भीष्मो बलिर्वैयासकिर्वयम्॥ (श्रीमद्भागवत ६-३-२०-२१)

अच्छा यह होगा कि दूसरे चरणके अन्तमें आये हुए 'धर्म-स्वरूप' शब्दको नारदका विशेषण न मानकर बारहवें भक्त (यमराज) का नामोल्लेख माना जाय। श्रीरूपकलाजीने ऐसा न कर 'परम धर्म' के ऊपर १२ अङ्क बनाया है। ऐसा करने पर यथातथा अर्थ-संगतिके बिठाये जाने पर भी यह छप्पय समाप्तपुनरात्तत्व नामक साहित्यिक दोषसे ग्रस्त हो जाता है।

श्रीब्रह्माजी

भगवान्के उपर्युक्त द्वादश भगवदाचार्योंमें श्रीब्रह्माजीका नाम सर्व-प्रथम आता है। सृष्टिके प्रारम्भमें प्रलय-सिन्धुमें सोनेवाले भगवान् विष्णुकी नाभीसे एक दिव्य-ज्योतिर्मय कमल उत्पन्न हुआ था। उसी कमलकी कर्णिकासे श्रीब्रह्माजी प्रकट हुए। जब उन्होंने आँखें खोलीं तो चारों ओर सागरकी उत्ताल लहरोंके अतिरिक्त वे और कुछ भी न देख सके। अन्तमें वे उस कमलके नालके अन्दर उतर गए और वहाँ सहस्रों वर्षोंतक उसके रहस्यका पता लगाते रहे, किन्तु कुछ भी पता न लगनेपर निराश होकर उन्हें ऊपर कमलपर लौट आना पड़ा। जब वे कमलके फूल पर वापस आगये तो सहसा उन्हें—'तप-तप' ऐसा सुनाई पड़ा। उस आदेशके अनुसार उन्होंने तप करना आरम्भ कर दिया, तपके द्वारा चित्तके स्थिर हो जानेपर उन्हें अन्तःकरणमें शेषशायी भगवान् विष्णुके दर्शन हुए। ब्रह्माजीने उनका स्तवन करना प्रारम्भ किया। उसी समय भगवान् ने उनसे कहा—

"ब्रह्माजी! विज्ञानके सहित जो मेरा परम गोपनीय ज्ञान है, उसे रहस्यों एवं अङ्गोंके साथ मैं आपको बतलाता हूँ, आप उसे ग्रहण करें। मैं जिस प्रकारका हूँ, मेरा जो भाव है, जो रूप है, जो गुण है और जो कर्म है उन सबका यथावत तत्वज्ञान आपको मेरी कृपासे हो जाय।"

❀ देखिये नवलकिशोर प्रेस, लखनऊसे प्रकाशित भक्तमाल पृष्ठ संख्या ६०

इतना कहनेके बाद भगवान्‌ने ब्रह्माजीको चार श्लोकोंमें मूल-भागवतका उपदेश दिया जिनमें भगवान्‌ने अपना स्वरूप, ज्ञान, लीला, भाव, गुण आदिके बारेमें बतलाया है ।

इसके बाद उन्होंने यह भी कहा कि परम समाधिके द्वारा इस मतपर आधारित रहनेसे कल्पोंतक सृष्टि करने पर भी आप कभी भी मोहित नहीं होंगे ।

इस प्रकार ब्रह्माजीको श्रीविष्णुभगवान्‌से जो तत्व-ज्ञान प्राप्त हुआ था उसीका उपदेश उन्होंने देवर्षि नारदको उनकी प्रार्थनापर किया और भगवान्‌की कृपासे अपने हृदयमें स्फुरित चौबीस अवतारोंके चरित्रोंको भी सूत्र-रूपमें सुनाया । इसी ज्ञान और लीला-चरित्र को महर्षि नारदसे श्रीव्यासजीने प्राप्त किया और उन्होंने उसे अठारह सहस्र श्लोकोंमें वर्णन करके श्रीमद्भागवतके रूपमें अपने पुत्र श्रीशुकदेवजीको सिखाया । इस क्रमसे श्रीमद्भागवतके रूपमें लोकमें उस दिव्य और अनन्त ज्ञानका विस्तार हुआ जो श्रीविष्णुभगवान्‌के द्वारा प्रजापति ब्रह्माजीको प्राप्त हुआ था । इसीका सविस्तार वर्णन श्रीमद्भागवतके द्वितीय स्कन्धके अध्याय नौ में किया गया है ।

देवर्षि नारद

देवर्षि नारद भक्तिके प्रधानाचार्य हैं । उनका कार्य हमेशा श्रीहरिका गुणानुवाद करना तथा जीवको उनके चरण-कमलोंकी ओर प्रेरित करना है । वे सदैव जन-जनके मनमें भक्तिका संचार करनेके प्रयत्नमें अपनी वीणापर श्रीश्यामा-श्यामके गुणोंका संकीर्तन करते हुए तीनों लोकोंमें विचरण करते रहते हैं ।

पूर्व कल्पमें नारदजी उपबर्हण नामके एक गन्धर्व थे । एक बार ब्रह्माजीके यहाँ सभी गन्धर्व, किन्नर आदि श्रीहरिके गुण-संकीर्तनके लिए एकत्रित हुए । उपबर्हण भी वहाँ गये, किन्तु अपने रूप-सौन्दर्यके दर्पमें उन्मत्त वे अपनी सुन्दरियोंको साथ ले गये । भगवानके गुणानुवादमें इस शारीरिक सौन्दर्य और रूपकी क्या कीमत ? वहाँ तो स्त्रियोंको शृङ्गार-भावनासे साथ लेजाना ही बड़ा अपराध है । इसीलिए उपबर्हणका यह प्रमाद देखकर ब्रह्माजीने उन्हें शूद्र-योनिमें जन्म लेने का शाप दे दिया ।

महापुरुषोंका क्रोध भी कल्याणके लिए होता है, इसीलिए उस शापके फलसे वे एक ऐसी शूद्रा दासीके पुत्र हुए जो वेदवादी,सदाचारी ब्राह्मणोंकी सेवा करने वाली थी । इस दासीके बालक होने पर भी शील-समानता आदि सद्‌गुण उनमें स्वाभाविक थे । जब वह बालक पाँच वर्षका हुआ तो उसकी माँ के सम्बन्धियोंमें और कोई जीवित नहीं रह गया था । उसी समय वर्षा-ऋतु में कुछ सन्तोंने वहाँ अपना चातुर्मास्य बिताया । बालककी माता उनकी सेवा-शुश्रूषामें लगी रहती थी और बालक भी उनकी सेवा किया करता था तथा उन्हींका सीथ-प्रसाद खाकर उनके मुखसे भगवान्‌की चर्चाको बड़े प्रेमसे सुना करता था ।

चातुर्मास्य समाप्त हुआ तो सभी सन्त जाने लगे । उसी समय उन्होंने उस दासीके बालक

को देखा और उसके नम्रता आदि गुणोंके कारण उसे भगवान्‌के स्वरूपका ध्यान तथा नामके जप का आदेश कर दिया।

साधुओंके चले जानेके कुछ समय बाद ही एक दिन अपने स्वामीकी गायको दुहते समय उस बालककी माताको साँप डस गया और वह मर गई। इस प्रकार माताकी ममत्वमयी वत्सलता के सांसारिक बन्धनसे छूटकर वह बालक एकमात्र प्रभुके भरोसे पर रहने लगा।

वहाँसे उत्तर दिशाकी ओर वह बालक भगवान्‌के विश्वासके बलपर आगे बढ़ता चला गया और जब एक सरोवरके किनारे पर पहुँचते-पहुँचते थक गया, तो वहाँ विश्राम के लिए रुक गया। उसने सरोवरका शीतल जल पिया और पास ही पीपलके पेड़की छायामें बैठकर सन्तों द्वारा बत-लाई विधिसे प्रभुका ध्यान करने लगा। अचानक उसके हृदयमें भगवान् प्रकट होगए और एक दिव्य ज्योतिसे उसका अन्तःकरण उद्भासित हो उठा, किन्तु वह प्रकाश बिजली की चमकके समान आते-ही-आते समाप्त भी हो गया और वह बालक उसके लिए पागलोंके समान विकल हो उठा। उसकी विकलताके कारण आकाश-वाणीने उसे सान्त्वना देते हुए कहा—"इस जन्ममें तुम मुझे देख नहीं सकते हो; क्योंकि जिनका चित्त पूर्ण निर्मल है वे ही मेरे दर्शनके अधिकारी हैं। यह एक झाँकी तो मैंने कृपाकर तुम्हें इसलिए दिखलाई है कि इसके दर्शनसे तुम्हारा चित्त मुझमें लग जाय।"

नारदजीने अपना मस्तक भूमि पर झुकाकर भगवान्‌को प्रणाम किया और उनका गुण गाते हुए इस धरती पर विचरते रहे। समय आने पर उन्होंने अपना शरीर त्याग दिया। इसके बाद उस कल्पमें उनका जन्म नहीं हुआ और कल्पान्तमें वे ब्रह्माजीमें प्रविष्ट होगए। सृष्टिके प्रारम्भ में उनकी उत्पत्ति ब्रह्माजीके मनसे हुई। अब भगवान् जो कुछ भी करना चाहते हैं उसकी वैसी ही चेष्टा देवर्षि नारद द्वारा की जाती है।

देवर्षि नारदजीके कार्य और गुणोंका संकीर्तन कौन कर सकता है? प्रह्लादको भगवद्भक्ति का उपदेश उन्होंने गर्भमें ही किया था। माता-पिताको त्यागकर भगवान्‌की खोजमें निकले बालक ध्रुवको भगवान्‌के प्राप्त करने की उपासना और पद्धति उन्होंने ही बतलाई थी। प्रजापति-दक्षके ग्यारह सहस्र पुत्रोंको भगवान्‌की भक्तिके अधिकारी समझकर उन्हें विरक्त बनाने वाले ये नारद ही थे। भगवान्‌की भक्तिमें रात-दिन लगे रहने वाले नारदको यद्यपि प्रजापति द्वारा दो घड़ीसे अधिक किसी भी स्थान पर न ठहर सकनेका शाप मिला था, किन्तु इसे भी प्रभुकी कृपामानकर उन्होंने वरदान समझा।

सत्रह पुराणोंकी रचनाके बाद भी अशान्त-चित्त महर्षि वेदव्यासको परमानन्द-स्वरूप श्रीनन्दनन्दनकी लोकमंगलकारी दिव्य-लीलाओंको श्रीमद्भागवतके रूपमें गायनका उपदेश देकर उन्होंने ही कृतार्थ किया था।

श्रीशिवजी

त्रिमूर्तिमें से आप एक हैं । एक ओर जहाँ शिव सृष्टिका संहार करते हैं, वहाँ दूसरी ओर जगत्‌के कल्याणकर्ता होनेसे आपका नाम 'शिव' है । टीकाकार श्रीप्रियादासजीने श्रीशिवजीके सम्बन्धमें निम्न-लिखित तीन कवित्त कहे हैं—

भक्ति-रस-बोधिनी

द्वादश प्रसिद्ध भक्तराज कथा-भागवत अति सुखदाई, नाना विधि करि गाये हैं ।
शिव जू की बात एक बहुधा न जाने कोऊ, सुनि रस साने हियो भाव उरझाये हैं ॥
सीता के वियोग राम बिकल विपिन देखि, शंकर निपुण सती वचन सुनाये हैं ।
कैसे ये प्रवीन ईश ? कौतुक नवीन देखौं, मनेउ करत अंग वैसे ही बनाये हैं ॥२०॥

अर्थ—भागवत आदि पुराणोंमें बारह भक्तराजोंकी सुख देनेवाली कथायें अनेक प्रकारसे कही गई हैं, लेकिन शिवजीके सम्बन्ध की एक घटना प्रायः बहुतेरे लोगोंको नहीं मालूम । इस अपूर्व आख्यानको सुनकर हृदय भक्तिजन्य आनन्दसे विभोर हो उठता है और (श्रीरामचन्द्रजी में शिवकी एकान्त निष्ठाको देखकर) आश्चर्यसे एक विचित्र उलझनमें फँस जाता है । श्रीराम-चन्द्रजीको सीताके वियोगमें दुखी होकर वन-वन भटकता हुआ देखकर सतीजीने प्रवीण शंकरजी से कहा—"यह कैसे सर्वज्ञ परमात्मा हैं ? (जो स्त्रीके वियोगमें साधारण व्यक्तिकी भाँति घबड़ा उठे हैं।) यह तो आज एक नवीन कौतुक देखनेमें आरहा है !" (इस पर सतीजी श्रीरामचन्द्रजी की परीक्षा लेनेको उद्यत होगईं और) शिवजीके बहुत मना करने पर भी सतीजीने सीताका रूप धारण कर लिया ।

भक्ति-रस-बोधिनी

सीता ही स्वरूप वेष लेश हू न फेरफार, रामजू निहारि नेकु मन में न आई है ।
तब फिरि आय कें बहुविधि सुनाइ दई शंकर को, अति दुख पाय समझाई है ॥
इष्ट को स्वरूप धर्यो, तातें तनु परिहर्यो, पर्यो बड़ो सोच मति अति भरमाई है ।
ऐसे प्रभु भाव पगे, पोथिन में जगमगे, लगे मोकों प्यारे, यह बात रीझि गाई है ॥२१॥

अर्थ—श्रीसतीजीका वेष बिलकुल सीताजीका जैसा था—तनिक भी कहीं अन्तर नहीं था । श्रीरामचन्द्रजीने उसे देखा, लेकिन उनके मन पर उसका कुछ भी असर नहीं हुआ । तब श्रीसतीजी ने यह सब शिवजीको सुना दिया । सुनकर श्रीशिवजीको बड़ा कष्ट हुआ और उन्होंने तरह-तरह से उन्हें समझाया और अन्तमें कहा—'तुमने मेरे इष्ट-देवता, स्वामिनी श्रीसीताजीका रूप धारण किया, अतः मैंने तुम्हारे शरीरसे पत्नी-भाव छोड़ दिया ।' इस पर श्रीसतीजी बड़ी चिन्तामें फँस गईं और उनकी बुद्धि भ्रममें पड़ गई । (श्रीशिवजी की आज्ञानुसार सतीजीको यह शरीर छोड़ना पड़ा ।) प्रभु शिवजीका हृदय रामभक्तिमें इस प्रकार सराबोर है । पुराण आदि ग्रन्थोंमें उनकी भक्ति-गाथा अब भी लोगोंको चमत्कृत कर देती है । टीकाकार श्रीप्रियादासजीको शिवजी अत्यन्त प्रिय लगते हैं, इसीलिए उन्होंने रीझ-रीझकर इस आख्यानको छन्दोबद्ध किया है ।

भक्ति-रस-बोधिनी

चले मग जात उभै खेरे शिव दीठि परे, करे परनाम, हिय भक्ति लागी प्यारी है।
पारवती पूछें किये कौन को जू ? कहो मोसौं, दीसत न जन कोऊ, तब सो उचारी है॥
बरस हजार दस बीते तहाँ भक्त भयो, नयो और ह्वै है दूजौ ठौर बीते धारी है।
सुनि कै प्रभाव हरिदासनि सौं भाव बढ्यौ, रढ्यौ कैसे जात, चढ्यौ रंग अति भारी है॥२२॥

अर्थ—एक बार श्रीशिव और पार्वतीजी दोनों जारहे थे कि रास्तेमें शिवजीको गाँवके दो-खेरे (टीले) दिखाई दिये। उन्होंने उन दोनों टीलोंको प्रणाम किया, क्योंकि उनके हृदयको भक्तोंकी भक्ति बड़ी प्यारी लगती है। इस पर श्रीपार्वतीजीने पूछा—"प्रभो! आपने यह प्रणाम किसको किया? कृपया मुझे बतलाइए। यहाँ प्रत्यक्षमें तो कोई व्यक्ति दिखाई नहीं देता।" इस पर शिवजीने उत्तर दिया—"दस हजार वर्ष पहले (इनमें से एक टीलेपर) एक भक्त रहते थे और यह जो दूसरा टीला है, उस पर इतना ही समय बीत जानेपर भविष्यमें एक और भक्तराज निवास करेंगे।" यह सुनकर हरि-भक्तोंके प्रति पार्वतीजीके हृदयका अनुराग और भी बढ़ गया। इस अनुरागका वर्णन कैसे किया जा सकता है, क्योंकि उन पर (पार्वतीजी पर) तो भक्तिका गहरा रंग चढ़ गया था।

सनकादि

ब्रह्माजीके संकल्पसे उत्पन्न चार कुमार—सनक, सनन्दन, सनातन और सनत्कुमार भक्ति-मार्गके मुख्याचार्य हैं। पहिले ब्रह्माजीने उन्हें सृष्टि-विस्तारमें लगाना चाहा, किन्तु उनकी स्वाभाविक रति श्रीहरिका नाम-संकीर्तन तथा उनके गुण-गानमें थी, अतः पिताकी उस आज्ञाको न मान कर राजसी और तामसी प्रवृत्तियोंसे दूर ये चारों कुमार भगवान्‌के यशोगानमें ही तल्लीन रहने लगे। वे भगवान्‌की लीलाओंका वर्णन करते और सुनते, इसमें उन्हें बड़ा आनन्द आता था। इनकी वाणी हमेशा 'हरिः शरणम्' का जाप करती रहती थी।

ये सनकादि कुमार देशकालके बन्धनोंसे मुक्त हैं। हमेशा ये पाँच वर्षकी अवस्थामें रहकर त्रिलोकीमें किसी भी स्थानपर जा सकते हैं। कभी श्रीहरिके गुण-गान सुननेके लिए ये श्रीशङ्करजी के पास जाते हैं, तो कभी सहस्र-मुखसे उनकी लीलाओंका वर्णन सुननेके लिए पाताल-लोकमें श्रीशेषजीके पास। इनका जीवन हरिमय है। मुखसे भगवान्‌का नामोच्चारण, हृदयमें भगवान्‌का ध्यान, बुद्धिसे भगवान्‌का चिन्तन और कानोंसे उनकी रसमयी लीलाओंका श्रवण! कभी-कभी वे पृथ्वीपर भी पधारते हैं। महाराज पृथुको तत्व-ज्ञान इन्होंने ही दिया था। नारदजीने भी इन्हींसे श्रीमद्भागवतका श्रवण किया था।

एक बार विष्णुलोकके द्वारपालोंने इनका अपमान किया था, तो इन्होंने उन्हें शाप दिया जिसके कारण जय-विजयको तीन योनियोंमें राक्षसी-शरीर धारण करना पड़ा।

गोस्वामी तुलसीदासजीने इनके सम्बन्धमें लिखा है—

ब्रह्मानन्द सदा लयलीना । देखत बालक बहु कालीना ॥
रूप धरे जनु चारिहु बेदा । समदरसी मुनि बिगत बिभेदा ॥

श्रीकपिलदेव

भगवान्ने तत्त्व-ज्ञानका उपदेश करनेके लिए सृष्टिके आरम्भमें स्वायम्भुव मन्वन्तरमें प्रजापति कर्दमके यहाँ उनकी पत्नी देवहूतिसे कपिल-रूपमें अवतार ग्रहण किया । कपिलदेवने सबसे पहले अपनी माताको तत्त्व-ज्ञान और भक्तिका उपदेश दिया, जिसके द्वारा उन मनुपुत्री देवहूतिका स्थूल-शरीर भी दिव्य होगया ।

माताको जिस ज्ञानका उपदेश कपिलमुनिने किया था उसका बड़ा सुन्दर वर्णन श्रीमद्-भागवतके तृतीय स्कन्धमें है । इस स्कन्धमें अनेकों दोषोंसे पूर्ण इस मानव-जीवनको क्लेशयुक्त बतलाया गया है । जब व्यक्तिको इसकी निस्सारता और दुःखोंका ज्ञान होता है, तो उसका भगवान्के चरणोंमें अनुराग होने लगता है । तब भगवान्के नामका जप, उनकी मंगलमयी लीलाओंका ध्यान और उनके दिव्य गुणोंका कीर्तन करनेमें मन लगता है । बिना भगवान्की शरण लिए हृदय शुद्ध नहीं होता, इसलिए मनुष्यको बड़ी सावधानीसे संसारके विषय-भोगोंसे अपने मनको हटाकर उसे भगवान्के चरणोंमें लगाना चाहिए । यह भगवान् कपिलके उपदेशका बहुत ही संक्षिप्त सार है ।

माताको उपदेश देकर कपिलजी, आज जहाँ गंगासागर-संगम है, वहाँ चले गये । समुद्रने उन्हें स्थान दिया । सागरके भीतर वे अब तक तपस्या कर रहे हैं । भगवान् कपिल भागवतधर्मके मुख्य बारह अवतारोंमें हैं । ये भारतीय सांख्यदर्शनके प्रवर्तक हैं । इस सिद्धान्तके अनुसार सत्व, रज, तम—त्रिगुणात्मिका अव्यक्त प्रकृतिसे महत्तत्त्व उत्पन्न होता है । महत्तत्त्वसे अहंकार, अहंकारसे पाँच तन्मात्राएँ और पाँच महाभूत और पञ्चीकृत महाभूतोंसे यह पृथ्वी और इसपर के विविध रूप । वास्तवमें भगवान् कपिल मुनिका सांख्यशास्त्र जीवको सांसारिक कष्टोंसे मुक्ति दिलानेवाला है ।

श्रीमनु

जब ब्रह्माजीने देखा कि उनकी मानसिक सृष्टि नहीं बढ़ रही है, तो उन्होंने अपने शरीरसे एक दम्पति उत्पन्न किये । उनके दाहिने अङ्गसे मनु तथा बाएँसे उनकी पत्नी शतरूपा प्रकट हुईं । सृष्टि-विस्तारके लिए जब मनुने स्थलकी माँगकी तो ब्रह्माजीकी प्रार्थनापर भगवान्ने वाराह-रूप धारण करके पृथ्वीका उद्धार किया । पृथ्वीका उद्धार हो जानेपर मनु अपनी पत्नीके साथ तप करने लगे; क्योंकि तप या भगवद्-भजन आदि से वासनामयी चित्त-वृत्तियोंके बिना पवित्र किए सन्तानोत्पत्ति नहीं करनी चाहिए, अन्यथा वासनासे उत्पन्नकी गई सन्तानमें वासनाही प्रधान होती है । जब मनु-महाराजको भगवान्के दर्शन होगए, तब उनकी आज्ञासे उन्होंने प्रजा-विस्तार करना शुरू किया

और अपनी पत्नी शतरूपासे प्रियव्रत एवं उत्तानपाद नामके दो पुत्र और आकूति, देवहूति तथा प्रसूति नामकी तीन कन्याएँ उत्पन्न कीं। बादमें इन स्वायम्भुव मनु-महाराजकी सन्तानसे ही पृथ्वी पर समस्त मनुष्योंकी उत्पत्ति हुई। महाराज मनुके दो पुत्रोंमें प्रथम प्रियव्रत परम भगवद्भक्त हुए। उन्होंने ही इस वसुन्धराको सप्तद्वीपवती बनाया। दूसरे पुत्र उत्तानपादके ध्रुवजी-जैसे अनन्य भक्त पैदा हुए। मनुकी कन्याओंमें आकूतिका विवाह महर्षि रुचिसे हुआ। देवहूतिका महर्षि कर्दम से और प्रसूतिका ब्रह्माके मानस-पुत्र दक्षसे। महाराज मनुने अपनी सन्तानको कल्याण-पथ पर चलानेके लिए 'मानव-धर्मशास्त्र' का उपदेश किया जो आज भी मनुस्मृतिके नामसे उपलब्ध है।

सुदीर्घ काल तक राज्य भोगनेके बाद भी जब उन्हें चिदानन्दकी प्राप्ति नहीं हुई, तो वे अपनी पत्नी शतरूपाके साथ तपस्या करनेके लिए चले गए। एकान्त शान्त-स्थानमें दोनोंने जाकर कठोर तपस्या प्रारम्भ कर दी। देवता वरदान देनेके लिए आए और मनुसे वर माँगनेको कहा, किन्तु महाराज मनुकी अभिलाषा तो शोभाधाम प्रभुके दर्शनकी थी, इसलिए वे अविचलितरूपसे कठोरतम तपस्या करते रहे। उनका शरीर सूख गया और अस्थिमात्र ही जब शेष रहगया, तो आकाश-वाणीमें प्रभुने उनसे वरदान माँगनेको कहा। उस असाधारण आकाश-वाणीने जब मनु और शतरूपाके हृदयमें प्रवेश किया, तो एक दिव्य आनन्दसे उनका अन्तःकरण खिल उठा और उन्होंने भूमिपर मस्तक नवाकर भगवान्से प्रार्थनाकी कि हे भगवान्! अगर आप हमपर प्रसन्न हैं, तो हमें प्रत्यक्ष आकर दर्शन दीजिए, हम भगवान् शङ्करके हृदयमें निवास करनेवाले आपके श्रुतिमय-रूपको जी-भरकर देखना चाहते हैं।

भक्तवत्सल भगवान्ने मनुकी प्रार्थना मान ली और अपनी पराशक्ति श्रीलक्ष्मीजीके साथ उन दम्पतीको दर्शन देकर कृतार्थ किया। श्रीहरिकी रूप-माधुरीको देख कर उनकी अतृप्त आँखें अपलक हो उस दिव्यरूप-सागरमें निमग्न हो गईं। भगवान्ने अब प्रकट होकर फिर वरदान माँगनेको कहा, तो मनु अत्यन्त संकोचसे हृदयमें सँजोई अमर अभिलाषाको प्रभुके सामने रखते हुए बोले—"दयानिधान! आप परम उदार हैं, आपके लिए अदेय कुछ भी नहीं है, किन्तु फिरभी मुझे उसे माँगनेमें बड़ा संकोच होरहा है।" भगवान्ने जब बार-बार निःसंकोच माँगनेको कहा, तो माँगा—'आपके समान पुत्र मुझे प्राप्त हो।' सुनकर भगवान् हँस पड़े उस निश्छल याचनापर और स्वयं ही मनुका पुत्र होना स्वीकार किया। शतरूपाने भी यही वरदान माँगा और कहा—जो भक्त आपको परम प्रिय हैं, उनको जो सुख, जो भक्ति और जो ज्ञान प्राप्त होता है, वही हमें भी कृपा करके प्रदान कीजिए।

भगवान् वरदान देकर चले गए। त्रेतामें जब महाराज मनुने अयोध्याके राजा दशरथके रूपमें और शतरूपाने रानी कौशल्याके रूपमें इस धरतीपर जन्म लिया, तब भगवान् भी रामके रूपमें अयोध्यामें अवतरित हुए और राक्षसोंका नाश कर सन्तोंको आनन्द दिया।

श्रीभक्त प्रह्लाद

पृथ्वीका उद्धार करते समय भगवान्‌ने वाराह अवतार धारणकर हिरण्याक्षको मार दिया था, इससे उसका भाई बड़ा क्रोधित हुआ और अपने भाईका बदला लेनेके लिए हिमालयपर जाकर घोर तपस्या करके ब्रह्माजीसे वरदान प्राप्त किया कि—'मैं अस्त्र-शस्त्रसे, किसी प्राणीसे, रातमें, दिनमें, जमीनपर, आकाशमें कहीं भी न मरूँ।'

इधर जब दैत्यराज तपस्या कर रहा था तभी देवताओंने राक्षसोंपर आक्रमण करके उन्हें परास्त कर दिया और देवराज इन्द्र हिरण्यकशिपुकी पत्नी कयाधूको बंदिनी बनाकर ले जाने लगा। मार्गमें देवर्षि नारद मिले। जब नारदने पूछा कि इस परम साध्वी पतिव्रताको बन्दी बनाकर कहाँ ले जारहे हो? तो इन्द्रने कहा—"ऋषिराज! यह कयाधू गर्भिणी है। इसकी सन्तान होनेपर उसका वध कर दिया जायगा।" नारदने बतलाया कि इसके गर्भमें भगवान्‌का परमभक्त है; न तो वह माराही जा सकता है और न वह तुम्हारे लिए भयका ही कारण है; अतः तुम इसे छोड़ दो।"

देवर्षिकी बात सुनकर इन्द्र कयाधूको छोड़कर अपने लोक को चले गए और अनन्याश्रिता वह कयाधू देवर्षिके आश्रममें रहने लगी। नारदजी उसे भगवद्-भक्तिका उपदेश दिया करते थे, जिसे गर्भस्थ बालक प्रह्लादने धारण किया और जन्म लेनेके बाद भी उसे भूले नहीं।

हिरण्यकशिपु तपस्याके बलसे परम बली हो गया और उसने समस्त देवलोकको जीत लिया। जब प्रह्लादका जन्म हुआ तो वे मुनिके भगवान्‌की भक्तिके उपदेशको भूले नहीं; बल्कि पाठशालामें जाकर पिताकी आज्ञाके विपरीत श्रीहरिके भजन और राम-नाम संकीर्तनका उपदेश अपने अन्य साथियोंको भी करने लगे। एक बार प्रह्लाद घर आए तो पिताने उन्हें अपनी गोदीमें लेकर पूछा—"बेटा! बताओ तो, तुमने इतने दिनसे क्या पढ़ा?" प्रह्लादने कहा—"पिताजी यह असत्-संसार दुःख-स्वरूप है, इसलिए मनुष्यको इसके भोगोंमें न फँसकर परमानन्द-स्वरूप श्रीहरिका स्मरण और भजन करना चाहिए।" हिरण्यकशिपु जोरसे हँस पड़ा और गुरु-पुत्रोंसे कहा—"आप इस प्रह्लादको सुधारिए, इसे कुलोचित धर्म, अर्थ, कामका उपदेश दीजिए।" गुरु-पुत्रोंने प्रह्लादको अपने यहाँ लाकर पूछा—"तुम्हें यह उल्टा ज्ञान किसने दिया है?" तो प्रह्लादने उत्तर दिया—"गुरुदेव! यह मैं हूँ और यह दूसरा है, यह तो अज्ञान है। यह सारा संसार इसी अज्ञानमें भूला हुआ है। जिस-किसी भक्तपर उन कृपालुकी दया होती है, तभी उनकी ओर प्रवृत्ति होती है। मेरा हृदय भी प्रभुकी कृपासे उनकी ओर स्वयं ही आकर्षित होगया है।"

गुरुपुत्रोंने उन्हें डाँटा, धमकाया और अनेकों प्रकारकी नीतियोंकी शिक्षा देने लगे। यद्यपि भक्त-प्रह्लादको यह सभी ज्ञान नहीं रुचता था, फिर भी उन्होंने गुरुओंकी कभी अवज्ञा नहीं की और न उस विद्याका अपमान ही किया। जब गुरु-पुत्रोंने प्रह्लादको पूर्ण-शिक्षित समझा

तब हिरण्यकशिपुके पास उन्हें ले गए। दैत्यराजने फिर अपने पुत्रसे पूछा—"बतलाओ बेटा! तुम्हारी समझमें अब सबसे उत्तम ज्ञान क्या है?" भक्ति-हृदय प्रह्लादजीने उत्तर दिया—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पाद-सेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्म-निवेदनम्॥

—विष्णु भगवान‌के गुणोंका श्रवण, कीर्तन और स्मरण, उनके चरण-कमलोंकी सेवा, उन प्रभुकी पूजा, उनके प्रति दास्य और सख्य-भाव तथा अपने-आपको उनके समर्पण कर देना, यही सबसे उत्तम ज्ञान है, यही सबसे उत्तमकार्य है और यही मानव-जीवनका फल है। सम्पूर्ण क्लेशों और अनर्थोंका नाश तभी होता है जब बुद्धि भगवानके श्रीचरणोंमें लगे, किन्तु बिना भगवानके भक्तोंकी चरण-रजके मस्तकपर धारण किए इस प्रकारकी निर्मल बुद्धि होती ही नहीं है।

पाँच वर्षका नन्हा-सा बालक त्रिभुवन-पति दैत्यराजके सामने किस प्रकार उसके शत्रुका पक्ष लेकर निडरतासे सत्यपर अटल था! सभी शान्त, मौन और चित्राङ्कितसे हो गए। उसी समय दैत्यराज काँप उठा, क्रोधसे उसकी आँखें जलने लगीं और गरज कर बोला—"जाओ, मार दो इस दुष्टको, इसकी बोटी-बोटी अलग कर दो!" सभी दैत्य एक साथ सशस्त्र उस बालक पर टूट पड़े, पर वह निर्भय होकर प्रभु-स्मरण करता हुआ खड़ा रहा। हथियार उनके शरीरका स्पर्श पाकर नष्ट हो गए, पर प्रह्लादके अङ्गोंमें कहीं खरोंच भी नहीं आई।

हिरण्यकशिपु केवल इतने से ही शान्त न हुआ। उसने प्रह्लादको मारनेके लिए कोई भी उपाय अछूता न छोड़ा। वे मद-मस्त हाथीके पैरोंके नीचे डाले गए, पर गजराजने उठा कर उन्हें मस्तकपर बिठा लिया। उनको साँपोंकी कोठरीमें छोड़ा गया, पर वे विषधर सामान्य केंचुएके समान हो गए। शेर उनके सामने आकर कुत्तेके समान पूँछ हिलाने लगा। विष उनके पेटमें जा कर अमृत हो गया। पहाड़ोंसे फेंके जानेपर भी वे अचल रहे; सागरकी गम्भीरता भी उनके लिए हानि नहीं पहुँचा सकी। होलिका उन्हें लेकर आगमें प्रवेश कर गई। उसे गर्व था अपने उस वस्त्र का जिसके धारणसे अग्निका प्रभाव उसके शरीरपर नहीं होता था; पर आगकी भीषण लपटोंमें वह जल कर राख हो गई और भक्तवर प्रह्लाद मानों पुष्पोंकी सेजसे उतर कर निकल आए। उन्होंने फिर दैत्यराजको समझाते हुए कहा—"पिताजी! आप भगवानसे द्वेष करना छोड़ दें। आपने देखा नहीं, भगवानके प्रभावके सामने सभी प्रयत्न असफल रहे? आप भी हरिका स्मरण करें, ध्यान करें और उनके आश्रयमें जा कर निडर हो जायँ। वे प्रभु बड़े दयालु हैं।" दैत्यराज क्रोधसे काँप उठा और प्रह्लादसे बोला—"अरे मूर्ख! तू किसके बलपर मेरा इतना अपमान करता है? कहाँ है तेरा वह सहायक? कहाँ है तेरा वह हरि? मैं अभी तेरी गर्दन काटता हूँ! देखूँ, कौन आता है तेरी रक्षा करनेके लिए?" प्रह्लादने नम्रता-पूर्वक कहा—"पिताजी! वह प्रभु तो इस अखिल सृष्टिमें सब जगह रमा हुआ है। कण-कण और अणु-अणुमें उसकी सत्ता विद्यमान है। वे मुझमें भी हैं, आपमें भी हैं, इस खड्गमें भी हैं और आपके पासवाले इस खम्भेके भीतर भी हैं।

'खम्भेके भीतर भी!' दैत्यराज चौंका। वह अपने अज्ञानके कारण इस रहस्यमय सत्यको समझ न सका। उसने अपनी गदा उठाई और पूरे बलसे खम्भेके मध्यमें जमा दी। खम्भा बीचसे फट गया और उसके मध्यसे एक भयंकर आकृतिवाले नृसिंहजी पैदा हुए। उनके तेजसे दिशाएँ जल उठीं। वे गर्जते हुए हिरण्यकशिपु पर झपटे और उस अप्रतिम शक्तिशालीका, ब्रह्माके वरदानकी समस्त मर्यादाओंका ध्यान रखते हुए, प्रभुने संहार कर दिया।

दैत्यराज मर गया, पर नृसिंहजीका क्रोध शान्त न हुआ। वे अब भी गर्जना कर रहे थे। देवताओंमें किसीकी भी शक्ति नहीं थी कि उनके सामने जायँ। स्वयं ब्रह्माजी और शंकरजी भी दूर खड़े थे। अंतमें ब्रह्माजीने भक्तवर प्रह्लादको ही उनके पास भेजा। प्रह्लाद निडरता-पूर्वक जाकर भगवान्‌के चरणोंसे लिपट गए। भगवान्‌ने अपने प्रियभक्त को छातीसे लगा लिया और उसे गोदी में बिठाकर बोले—

क्वेदं वपुः क्व च वयः सुकुमारमेतत् क्वेमाः प्रमत्तकृत-दारुण-यातनास्ते।
नालोचितं विषममेतदभूतपूर्वं क्षंतव्यमंग यदि मे समये विलम्बः॥

(नृसिंह पुराण)

बेटा प्रह्लाद! मुझे आनेमें बहुत देर हो गई, तुझे अनेकों कष्ट सहने पड़े; तू मुझे क्षमा कर दे। भगवान्‌के श्रीमुखसे ऐसी वाणी सुनकर भक्तवर प्रह्लादका हृदय भर आया और अनेकों प्रकारसे उनकी प्रार्थना करने लगे। भगवान्‌ने उनसे वर माँगनेको कहा तो प्रह्लादजीने कहा—"भगवन्! क्या आप मेरी परीक्षा लेना चाहते हैं? जो सेवक अपनी सेवाके बदले वरदान चाहता है, वह सेवक नहीं, व्यापारी है। अगर फिर भी आप मुझे वरदान देना ही चाहें तो मुझे यही दान दीजिए कि कभी भी मेरे हृदयमें किसी प्रकारकी कामना पैदा न हो तथा मेरे पिता और गुरु-पुत्र जो आपके विरोधी थे, उनको भी आप निष्पाप कर दीजिए।" भगवान्‌का हृदय आनन्दसे भर गया। वे बोले—"प्रह्लाद! जिस वंशमें मेरा भक्त पैदा होता है वह वंशका वंश अपने सभी प्रकारके पापोंसे छूट जाता है, फिर तुम्हारे पिता और अन्य दैत्योंका तो कहना ही क्या!" भगवान्‌ने यह वर भी दिया कि मैं कभी भी प्रह्लादकी सन्ततिका वध नहीं करूँगा। इस प्रकार अपने वंशको कल्प-पर्यंत उन्होंने अमर बनाया और बादमें अपने परम-भागवत पौत्र बलिके साथ सुतलमें चले गए जहाँ वे तभीसे भगवान्‌की आराधनामें मग्न रहते हैं।

योगि-राज राजा जनक

विदेहराज भक्त श्रीजनकजीकी उत्पत्ति ऋषियों द्वारा महाराज निमिके शरीर-मन्थनसे हुई है। मातासे उत्पन्न न होनेके कारण इनका नाम विदेह पड़ा और मन्थनसे पैदा होनेके कारण ये मैथिल पुकारे जाने लगे। इसी लिए इस वंशमें आगे होने वाले राजा भी मैथिल और जनक कहलाए। भुवन-वन्द्या भगवती सीताके पिता महाराज सीरध्वजको भी जनक नामसे पुकारनेका

यही कारण है। सीरध्वज जनक सर्वगुण-सम्पन्न,असाधारण ज्ञानी,धर्म-धुरंधर और नीति-निपुण महान् पण्डित थे; किन्तु इन सबसे अधिक थे वे श्रीरामके चरण-कमलोंके सच्चे स्नेही। उनकी पुत्री सीताका विवाह भी श्रीरामचन्द्रजीके साथ हुआ था, यह प्रसिद्ध ही है।

पुराणोंमें जनक 'राजर्षि' की उपाधिसे विभूषित किए गये । आप अपने युगके महान् ब्रह्मज्ञानी और योगिराज थे। आध्यात्म ज्ञान प्राप्त करनेकी अभिलाषा रखनेवाले अनेकों ऋषि-महर्षि आपके दरबारमें आया करते थे। बृहदारण्यकोपनिषद्में राजा जनकके ब्रह्मज्ञानसे संबंधित अनेकों आख्यान दिए गए हैं।

भीष्म-पितामह

भक्तप्रवर भीष्म महाराज शन्तनुके पुत्र थे। भगवती भागीरथी श्रीगंगाजी इनकी माता थीं। भीष्मजीका पहला नाम 'देवव्रत' था। एक बार इनके पिता शन्तनुकी दृष्टि दाशराजकी पालिता पुत्री सत्यवती पर पड़ी। देखते ही उसके सौन्दर्य पर वे मुग्ध हो गये। दाशराजने प्रस्ताव रखा कि शन्तनुकी पहली सन्तान राज्यको अधिकारिणी न बनकर मेरी पुत्रीकी सन्तति ही राज्यका अधिकार प्राप्त करे, तभी सत्यवतीका विवाह शन्तनुसे किया जासकता है। महाराज शन्तनु न तो अपने पुत्र भीष्मका राज्याधिकार ही छीनना चाहते थे और न वे सत्यवतीके प्रति आसक्तिको ही अपने मनसे निकाल सके। फल यह हुआ कि वे सदा चिन्तित और उदास रहने लगे। जब भीष्मको यह पता लगा तो उन्होंने दाशराजसे राज्याधिकारके त्यागकी प्रतिज्ञा कर ली। जब दाशराजने यह शंका की कि भीष्मकी सन्तान राज्यके लिए झगड़ सकती है तो भीष्मने आजन्म ब्रह्मचारी रहनेकी प्रतिज्ञा करके उसके मनकी इस शंकाको भी निर्मूल कर दिया। इसी भीषण प्रतिज्ञाके कारण उनका नाम 'भीष्म' पड़ा। उनकी इस प्रतिज्ञासे सन्तुष्ट होकर महाराज शन्तनुने उन्हें आशीर्वाद दिया कि बेटा! आजसे मृत्यु तुम्हारे अधीन हुई। तुम जब मरना चाहोगे तभी मरोगे, अन्यथा मृत्यु तुम्हारा कुछ भी नहीं बिगाड़ सकेगी। भीष्मजीने अपनी प्रतिज्ञा का पालन भी किया। उनके धनुर्विद्याके गुरु परशुरामजी जब काशिराजकी कन्या अम्बाके विवाहकी प्रार्थना लेकर आए तो उन्होंने कहा—"गुरुदेव! मैं स्वर्गके सिंहासनके लोभसे भी सत्य को नहीं छोड़ सकता, फिर एक सामान्य राजकुमारीकी तो बात ही अलग रही।" इसी प्रसंगमें गुरु-शिष्यमें संग्राम भी हुआ, किन्तु भीष्मजी अपनी प्रतिज्ञा पर अटल रहे और देवताओं की प्रार्थना पर परशुरामजीको ही शान्त होना पड़ा। माता सत्यवतीने दोनों पुत्रोंके मर जानेके बाद भीष्मजीसे सिंहासन पर बैठनेको और विवाह करने को जब कहा, तो उन्होंने यही कहा कि संसारके समस्त जड़-जंगम चाहे अपनी प्रकृति बदल दें, परन्तु भीष्म एक बार की गई प्रतिज्ञाको निभाना ही सीखा है, छोड़ना नहीं।

यहाँ एक शंका उठती है कि ऐसे महापुरुष और धर्मात्मा होने पर भी भीष्मके कौरवोंकी

ओर से लड़नेका क्या कारण था? इसका एकमात्र उत्तर यही है कि वे आश्रयदाताकी सहायता करना अपना धर्म समझते थे, इसीलिए महाभारतके युद्धमें वे कौरवों की ओरसे लड़े थे, किन्तु दुर्योधनकी अन्यायमूलक नीतिकी सदाही उन्होंने निन्दा की। धर्म-प्रिय होनेके कारण ही उन्होंने अपने मरनेका उपाय पाण्डवोंको बतला दिया और युधिष्ठिरको अपने वधके लिए आज्ञा दी।

वे भगवान् श्रीकृष्णके अनन्यभक्त थे और श्रीकृष्णका भी भीष्मके प्रति कम अनुराग नहीं था। इसीलिए बड़े-बड़े योधाओं और महारथियोंके सामने श्रीकृष्णने अपनी प्रतिज्ञाको तोड़कर शस्त्र ग्रहण किया और अपने भक्त भीष्मकी प्रतिज्ञाकी रक्षा की।

युद्ध-समाप्तिके बाद जब युधिष्ठिरका राज्याभिषेक होगया तब एक दिन युधिष्ठिर रात्रिके समय भगवान् श्रीकृष्णके पास गये। उस समय श्रीकृष्ण न-जाने किसके ध्यान में अचल बैठेथे। उनका रोम-रोम पुलकित हो रहा था। युधिष्ठिर ने पूछा—"प्रभो! भला आप किसका ध्यान कर रहे हैं?" भगवान् ने बतलाया—'शर-शैया पर महाराज भीष्म मेरा ध्यान कर रहे थे, इसलिए मैं भी उनका ध्यान करनेमें लग गया था, मेरा मन भी उनके पास चला गया।' भगवान् ने फिर कहा—"युधिष्ठिर! धर्म एवं वेदके सर्वश्रेष्ठ ज्ञाता, नैष्ठिक ब्रह्मचारी पितामह-भीष्मके न रहनेपर संसारसे ज्ञानका सूर्य अस्त हो जायगा। तुमको उनसे उपदेश लेना चाहिए।

भगवानकी आज्ञासे सभी भाई भीष्मजीके पास गये। उनकी शर-शैयाके चारों ओर अनेकों ऋषि-मुनि उनसे धर्म-चर्चा कर रहे थे। श्रीकृष्णने उनसे युधिष्ठिर आदि राजकुमारों के लिए उपदेश करनेको कहा, तो भीष्म बोले-'महाराज आप जगद्गुरुके सामने मैं उपदेश करूँ, यह कैसे सम्भव हो सकता है? फिर इस समय तो मेरा मन भी अशान्त है। बाणोंके शरीरमें लगे होनेसे असह्य वेदना हो रही है। आप ही इन राजकुमारोंको उपदेश देकर कृतार्थ करें।' श्रीकृष्ण भगवान् ने बतलाया—"मैं स्वयं उपदेश न करके आपसे इसलिए कह रहा हूँ कि इससे मेरे भक्त की कीर्तिका विस्तार होगा।" भगवान्की कृपासे भीष्मका शारीरिक क्लेश शान्त होगया और उनके मनमें भी स्थिरता आगई। उन्होंने युधिष्ठिरको उपदेश दिया और सूर्यके उत्तरायण होनेपर एकसौ पैंतीस वर्षकी अवस्थामें पीताम्बरधारी भगवान् श्रीकृष्णके दर्शन करते हुए इस नश्वर देहको त्याग अनन्त में जा मिले।

भक्तराज बलि

महादानी बलि भक्त-प्रवर प्रह्लादके पौत्र और विरोचनके पुत्र थे। दैत्य-कुलमें उत्पन्न होनेके कारण देवताओंसे इनका स्वाभाविक वैमनस्य था, अतः बलिने पृथ्वीपर एक-छत्र राज्य स्थापित करनेके बाद स्वर्गपर आक्रमण कर दिया और देवताओंको परास्त किया। पराजित देवता ब्रह्माके पास गए और उनके साथ भगवान्की स्तुति करके उन्हें प्रसन्न किया। भगवान्ने बतलाया कि दैत्योंके साथ सन्धि करके उनकी सहायतासे समुद्रका मंथन करो और अमृत प्राप्त कर तुम लोग

अमर हो जाओ। ऐसा ही हुआ; समुद्र मंथन किया गया और अमृतके उत्पन्न होनेपर भगवान्ने अपना मोहिनीरूप बनाकर दैत्योंको मोहित किया और देवताओंको अमृत-पान कराया। इस पर बलि बहुत बिगड़ा। दानव और देवताओंमें संग्राम हुआ, पर अब देवताओंको न जीता जा सका। बलि तथा उसके दूसरे साथी इन्द्रके वज्रसे प्राणहीन हो युद्ध-स्थलमें सो गए। जीवित दैत्य सभी मृत दैत्योंको उठाकर अस्ताचल पर्वतपर ले गए जहाँ उन्हें श्रीशुक्राचार्यजीने अपनी संजीवनी विद्यासे जीवित कर दिया।

बलि ब्राह्मण और गुरुके भक्त तो पहिले ही से थे। अब उनकी आस्था और बढ़ गई। उन्होंने विश्वजित् यज्ञ किया जिसकी पूर्ति पर अग्निने प्रकट होकर उन्हें एक दिव्य घोड़ोंसे जुता हुआ रथ, एक असाधारण धनुष, अक्षय बाण तथा अभेद्य कवच दिया। अब दैत्यराजने फिर स्वर्गपर आक्रमण करके उसे अपने अधीन कर लिया।

गुरु शुक्राचार्य चाहते थे कि बलिको ही इन्द्र बना दिया जाय, इसलिए उन्होंने उनसे अश्वमेध यज्ञ करना प्रारम्भ कराया और निन्नानवें यज्ञ समाप्त कर लिए गए।

यह सब देख माता अदितिको बड़ा दुःख हुआ। वे अपने पति कश्यपके पास गईं और उनसे आज्ञा लेकर भगवान्की आराधना करने लगीं। भगवान् प्रकट हुए और उन्होंने बतलाया कि जिससे ब्राह्मण और गुरु प्रसन्न हैं, जो धर्मका रक्षक है, उसके प्रति बल प्रयोग करना उचित नहीं। फिरभी तुमने मेरी आराधना की है, इसलिए कोई उपाय अवश्य करूँगा। तुम निश्चिन्त रहो।

भगवान् देव-माता अदितिके यहाँ वामन-रूपसे अवतीर्ण हुए। महर्षि कश्यप ने उनका यज्ञोपवीत कराया। इसके बाद वामन भगवान् राजा बलिकी यज्ञशालाकी ओर चल दिए। सौवाँ अश्वमेध-यज्ञ नर्मदाके उत्तर-तटपर गुरु शुक्राचार्यजीकी अध्यक्षतामें चल रहा था। सबने देखा कि सूर्यके तेजके समान तेजस्वी ब्रह्मचारी-वेषमें एक वामन हाथमें कमण्डल और पलाश-दण्ड लेकर चले आ रहे हैं। बलिने उन्हें आसनपर बिठाया, उनकी पूजा की और उनका चरणोदक ग्रहण करके आदरपूर्वक कहा—हे महाराज! आपके आगमनसे मैं परिवार-सहित कृतार्थ होगया; अब आप अपने शुभागमनका कारण मुझे निःसंकोच बतलाइए। क्योंकि आप किसी-न-किसी उद्देश्यसे ही यहाँ आए होंगे।

वामन भगवान् ने कहा—"मुझे तीन पैरके बराबर भूमिकी आवश्यकता है।" वामन-रूपको देखकर और उसकी तीन डगकी माँगको सुनकर बलिको हँसी आगई और उन्होंने अधिक भूमि लेनेके लिए जब आग्रह किया तो वामन ने केवल तीन पग ही की याचना की।

राजा बलि भूमिका संकल्प करने लगे तो शुक्राचार्यजी ने उन्हें रोककर कहा—"ये ब्रह्म-चारी-रूपमें साक्षात् विष्णु हैं और तीन डगोंमें सारी त्रिलोकी नाप लेनेको आये हैं। तुम अपना संकल्प पूरा नहीं कर पाओगे और उसके फलस्वरूप समस्त साम्राज्यका दान कर देने पर भी तुम्हें

नरक ही भोगना पड़ेगा । परन्तु राजा बलिने उनकी बात नहीं मानी । इस पर शुक्राचार्यजीने उन्हें समस्त ऐश्वर्यके नाश होनेका शाप दे दिया ।

बलिने जब संकल्प कर दिया तो वामन भगवान्ने अपना विराट-रूप धारण करके एक पदमें समस्त पृथ्वी नाप ली और दूसरा पद ब्रह्मलोक तक जा पहुँचा । भगवान्ने कहा—"बलि ! तुम्हें अपने राज्यका बड़ा दर्प था । तुमने मुझे तीन पग भूमि दी है; तुम्हारा समस्त राज्य तो केवल दो पैरोंके बराबर हुआ । अब तीसरा पग कहाँ नापूँ ?" परम-दानी और सत्यवादी बलिने अत्यन्त नम्रतासे कहा—"भगवन् ! राज्यका अधिकारी राज्यसे बड़ा होता है, आप तीसरे पैर में मुझे नाप लीजिए ।" भगवान्ने तीसरा पद बलिके मस्तकपर रख दिया । बलि धन्य होगये । भगवान्ने बलिसे कहा—"जो अपने आपको मेरे लिए सौंप देता है मैं भी फिर उसीका हो जाता हूँ । तुमने अपने दान और त्यागसे मुझे जीत लिया है ।" इसके बाद जमीनमें पड़े बलिको हाथ पकड़ कर भगवान्ने उठाया और हृदयसे लगाकर कहा—"पुत्र ! तुम भी अब अपने पितामह प्रह्लादके पास जाओ और वहीं अनन्त-काल तक सुतलका राज्य करो । मैं भी आजसे सदा-सर्वदा तुम्हारे द्वारपर उपस्थित रहूँगा । तुम्हें नित्य मेरे दर्शन होंगे । एक-सौ-एक अश्वमेध करनेके बाद तुम इन्द्र हो जाते । अगले सावर्णि मन्वन्तरमें मैं स्वयं तुम्हें इन्द्रासन पर बिठाऊँगा ।"

बलि दयालु भगवान्के चरणोंपर गिर पड़े और अत्यन्त विनीत स्वरमें बोले—"भगवन् ! आप दैत्योंके द्वार-रक्षक रहेंगे ?" इतना कहते ही उनकी आखोंमें प्रेमाश्रु छलक आए । शुक्राचार्यने वह यज्ञ समाप्त कराया । बलि अब अपने पितामहके साथ सुतलमें निवास करते हैं और भगवान् उनके द्वार पर विराजते हैं ।

श्रीशुकदेवजी

श्रीशुकदेवजी भगवान् श्रीकृष्णके नित्य-धाममें परिकर-पार्षदोंके साथ श्रीकिशोरीजीके लीला-शुकके रूपमें रहते हैं । श्रीश्यामा-श्याम जब भक्तों और रसिकोंके ऊपर कृपाकर अपनी दिव्य लीलाओंके विस्तारके लिए व्रज-प्रदेशमें आविर्भूत हुए, तो शुक भी उस दिव्य लोकसे उड़कर भगवान् शङ्करके लोकमें पहुँचे । वहाँ भगवान् शङ्कर हिमाद्रि-तनया श्रीपार्वतीजी को नन्दनन्दनकी वह रहस्यमयी गाथा सुना रहे थे, जिसका श्रवण-मात्र ही प्राणीको अमरत्व प्रदान करनेवाला है । श्रीशुक भी एक उत्तुङ्ग शिखरकी गोदमें बैठकर उस अमर-कथा को सुन रहे थे । सुनते-सुनते पार्वती उस माधुरीमें इतनी आत्मलीन हो गईं कि हुँकारि का भी विस्मरण हो गया । श्रीशुकने सोचा कि अगर 'हूँ ! हूँ !!' की आवाज बन्द होगई तो शङ्कर भगवान् समझेंगे कि पार्वती सो गईं और फिर उनकी यह अमर-कथा भी विराम ले लेगी । यह सोचकर वे पार्वतीके स्थान पर हुँकारि देते रहे और भगवान् शङ्कर अपनी कथा कहते गये । कुछ समय बाद भगवान् शङ्करको जब यह ज्ञात हुआ, तो वे अपना त्रिशूल लेकर

उन्हें मारनेके लिए दौड़े, क्योंकि सामान्य-पक्षी उस कथाके अधिकारी नहीं हैं। परन्तु श्रीशुक शीघ्र ही कैलाशकी सीमासे बाहर व्यास-आश्रममें आकर मुख द्वारा उनकी पत्नीके उदरमें प्रवेश कर गए और वह अमर-कथा तथा दिव्य-ज्ञान उनके हृदयमें ज्योंके त्यों बने रहे।

श्रीशुकदेवजीके गर्भमें आनेके सम्बन्धमें इस कथाके अतिरिक्त और भी अनेकों कथाएँ शास्त्रोंमें आती हैं जो सभी कल्प-भेदसे सत्य हैं। एक स्थानपर श्रीशुकदेवजीको बादरायण श्रीव्यासकी वटिका नामकी पत्नीसे उत्पन्न हुआ कहा गया है। एक बार श्रीव्यासजी और वटिका अनन्त-ज्ञान और अपार तेजोमय-रूपवाले धैर्य-शील पुत्रकी प्राप्तिके लिए भगवान् शङ्करकी विहार-स्थली सुमेरु-शृङ्गपर जाकर तपस्या करने लगे। यद्यपि श्रीव्यासजी महाराज स्वयं दृष्टि-मात्रसे असंख्य योग्य पुत्र उत्पन्न करनेकी सामर्थ्य रखते थे, परन्तु पुत्र-प्राप्तिके हेतु भगवान्की कृपाके लिए तपस्या करनेके विधानको प्रारम्भ करनेकी इच्छासे उन्होंने ऐसा करना स्वीकार किया था। श्रीव्यासजी महाराजकी तपस्यासे प्रसन्न होकर भगवान् शङ्करने इनको वरदान देकर कृतार्थ किया और समयपर व्यास-पत्नी वटिकाने गर्भ धारण किया।

श्रीशुकदेवजी मायाके भयसे अपनी माताके गर्भमें बारह वर्ष तक रहे। उनको पता था कि भगवान्की माया बड़ी बलवती है। वह उदरसे बाहर आते ही जीवको अज्ञानके आवरणसे ऐसा ढक देती है कि उसे न तो पहली बातोंका ही ध्यान रहता है और न भविष्यके सम्बन्धमें ही जानकारी रहती है। उन्होंने योग-बलसे आकार अत्यन्त सूक्ष्म बना रक्खा था, जिससे माताको उनके कारण किसी प्रकारका कष्ट नहीं उठाना पड़ता था। बारह वर्ष बीत गए। श्रीशुकदेवजी गर्भ में ही बने रहे। उनसे भगवान् व्यास और अन्य ऋषि-मुनियोंने गर्भसे बाहर आनेके लिए आग्रह किया, किन्तु उन्होंने यही कहा—"यह जीव जब तक गर्भमें रहता है, उसका ज्ञान प्रकाशित रहता है, उसे संसारकी असारताका ध्यान रहता है, भगवान्में उसकी भक्ति रहती है और विषयोंके प्रति उसका वैराग्य रहता है; किन्तु इस मायामय संसारमें आते ही उसका ज्ञान अज्ञानमें बदल जाता है। वह भगवान्को भूल जाता है और विषयोंमें फँस जाता है। संसारके प्रति उसकी आसक्ति बढ़ जाती है और वह सद्-असद् का विचार किए बिना अकर्ममें लग जाता है जो दुःख और जन्म-मरणके चक्रको गति-शील बनानेका कारण होते हैं।

देवर्षि नारदने भी शुकदेवजीसे जब बाहर आनेका आग्रह किया, तो उन्होंने उनसे भी मायाके भयकी बात कह कर संसार में आनेकी असमर्थता प्रकट की। श्रीनारदजीकी कृपासे भगवान् श्रीकृष्णने जब स्वयं जाकर श्रीशुकदेवजीको दर्शन दिए और उन्हें आश्वासन देते हुए कहा कि संसारमें आने पर भी मेरी माया तुम्हारा स्पर्श नहीं करेगी, तो उन्होंने इस धरती पर जन्म लिया और जन्म लेते ही वनकी ओर चल पड़े। कठिन तपस्या और लम्बी प्रतीक्षाके बाद भी पुत्रकी इस विरक्ति और वन-गमनको देखकर व्यासजी महाराज व्याकुल हो उठे और अपने नव-जात सुकुमार पुत्रके पीछे विकलवाणीसे "हे पुत्र! हे पुत्र!!" पुकारते हुए भागने लगे।

श्रीशुकदेवजीकी समदर्शिता और उनकी अखण्ड एकात्मकतासे प्रेरित होकर वृक्ष-वृक्ष पुत्र-प्रेममें विह्वल उन व्यासजीके पुकारने पर 'मैं शुक हूँ, मैं शुक हूँ,' ऐसा कहने लगा।

भगवान् व्यास अत्यन्त व्याकुल हो अपने प्रिय-पुत्रको पुकारते चले जारहे थे। रास्तेमें वे एक सरोवरके किनारेसे होकर जारहे थे। उस सरोवरके जलमें कुछ देवाङ्गनाएँ नग्न हो स्नान कर रहीं थीं। जब उन्होंने शुकदेवजीको आता हुआ देखा, तो वे पूर्ववत् क्रीडा-विहार करती रहीं, किन्तु श्रीव्यासजीको आता देख लज्जाके कारण सरोवरसे बाहर आकर उन्होंने अपने-अपने वस्त्र पहिन लिए। व्यासजीको यह देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होंने पूछा—"देवियो! अभी इस रास्तेसे मेरा युवक-पुत्र दिगम्बर अवस्थामें गया है। आपने न तो उससे लज्जाकी और न उसका कोई विशेष ध्यान ही दिया। फिर मुझ वृद्धसे इतनी लज्जा करनेकी क्या आवश्यकता है?"

बड़ी नम्रतासे देवाङ्गनाओंने उत्तर दिया—"महर्षे! आप हमें क्षमा करें। आपके पूछने पर हमें इतना कहना पड़ रहा है। आप वृद्ध होने पर भी इतना तो पहिचानते ही हैं कि कौन स्त्री है और कौन पुरुष है; परन्तु आपके पुत्र श्रीशुकदेवजीको तो स्त्री और पुरुषके भेदका ही पता नहीं। इसलिए श्रीशुकदेवजीके सामने लज्जा करना और न करना बराबर है।"

उन देवियोंकी यह बात सुनकर श्रीव्यासजी लौट आए। उन्होंने सोचा, जिसे स्त्री-पुरुष का अन्तर नहीं मालूम, उसे माता-पिताके सम्बन्धका ही कब ज्ञान होगा? परन्तु श्रीव्यासजीका शुकदेवजीके प्रति अपार स्नेह था, अतः वे ऐसी युक्ति सोचने लगे जिससे वे अपना कुछ समय अपने प्रिय पुत्रके साथ बिता सकें।

व्यासजी समझ गये कि सांसारिक आकर्षणसे शुक रीझने वाले नहीं। उन-जैसे आत्माराम भगवान्के भक्तको तो भगवान्का दिव्यरूप और मंगलमय चरित्र ही आकर्षित कर सकता है, इसलिये उन्होंने एक श्लोक बनाकर अपने शिष्यों को याद करा दिया और उनसे कहा कि तुम सब यह श्लोक वनमें उस स्थानपर जाकर सुनाना जहाँ श्रीशुकदेवजी हों। ब्रह्मचारी जब समिधा और कुशा लेने जंगलमें गए, तो श्रीशुकदेवजीको देखकर उन्होंने यह श्लोक बड़े प्रेमसे गाया—

बर्हापीडं नटवरवपुः कर्णयोः कर्णिकारं बिभ्रद्वासः कनककपिशं वैजयन्तीं च मालाम्।
रन्ध्रान् वेणोरधरसुधया पूरयन् गोपवृन्दैर्वृन्दारण्यं स्वपदरमणं प्राविशद् गीतकीर्तिः॥

श्रीशुकदेवजीके कानोंमें जब यह मधुर ध्वनि सुनाई पड़ी, तो सुन्दर रागपर मुग्ध हुई मृगी के समान वे खिंचे हुए चले आए और ब्रह्मचारियोंसे उस श्लोकके सिखानेका आग्रह करने लगे। वे ब्रह्मचारी श्रीशुकदेवजीको व्यासजीके पास ले आए। व्यासजीने न केवल उन्हें यही एक श्लोक सिखाया, अपितु सम्पूर्ण श्रीमद्भागवत्का प्रेमपूर्वक अध्ययन कराया।

श्रीशुकदेवजी निर्विकार और समदर्शी महापुरुष थे। एक बार अपने गुरुदेव तथा पिता श्रीव्यासजी महाराजकी आज्ञासे वे मिथिला गये। वहाँ जाकर जब राजमहलमें प्रवेश करने लगे

तो द्वार-पालने इनको रोक दिया। उसे आशा थी कि श्रीशुकदेवजी रोके जानेके कारण नाराज होंगे; परन्तु वे निर्विकार,शान्तचित्त महलके द्वार पर धूपमें ही खड़े होगये। उनको न तो मार्गकी थकावटका ज्ञान था और न द्वारपाल द्वारा किये अपमानका। थोड़ी देरके उपरान्त दूसरा द्वार-रक्षक उनके पास आया और बड़े प्रेमभाव तथा सम्मानके साथ उनको राजमहलके एक कक्षमें लेगया। वहाँ उनकी विधि-विधान एवं श्रद्धाके साथ पूजा की गई। लोगोंका अनुमान था कि अब श्रीशुकदेवजीके शान्त और गम्भीर मुखपर आनन्द और उल्लासकी रेखा दौड़ पड़ेगी; परन्तु वहाँ जाकर भी शुकदेवजी अपने हृदयकी उस अनन्त माधुरीमें डूबे रहे और आकृतिसे कोई विशेष प्रकारका भाव स्पष्ट नहीं हुआ। इसके बाद उनको अन्तःपुरके 'प्रमदवन' में ले जाया गया, जहाँ अनेकों सुन्दरी वराङ्गनाएँ उनकी सेवाके लिए तत्पर थीं। नाँच-रंगके प्रदर्शन और हावभावकी चेष्टाओंसे भी श्रीशुकदेवजी पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। इन विलासमयी भावनाओंके विकारसे सर्वथा विरत वे भगवानके चिन्तनमें लगे रहे। इसके बाद श्रीशुकदेवजीको वे वराङ्गनाएँ बगीचेकी सैर करानेके लिए लेगईं। वहाँ भी उनके हाव-भाव और विलासमयी चेष्टाओंका प्रभाव श्रीशुकदेवजीके विशुद्ध मानसका स्पर्श न कर सका। उन्हें इन्द्रासनके समान सुन्दर रत्न-खचित सिंहासन पर बिठाया गया, पर वहाँ वे कुशासनके समान भगवान्‌की अचिन्त्य रूप-माधुरीमें निमग्न हो ध्यानस्थ हो गए। अपने चारों ओर व्याप्त रूप-राशिको देखकर न तो उनके अन्तःकरणमें आनन्दकी सिहरन ही हुई और न क्रोधका आविर्भाव ही।

राजा जनक भी अपने मंत्री तथा पुरोहितोंको साथ लेकर श्रीशुकदेवजीके दर्शन करने आए। वे उन्हें महलोंके अन्दर लेगए और सम्मानपूर्वक उनकी पूजा की। श्रीजनकजीसे उन्होंने अध्यात्म-विद्याका उपदेश ग्रहण किया, यद्यपि वे जन्म से ही परम-ज्ञानी, विरक्त, उन्मत्तकी भाँति अपने आपमें आनन्दमग्न तथा हृदयमें चिदानन्द-स्वरूपकी झाँकीका दर्शन करनेवाले हैं।

जब राजा परीक्षित ऋषिकुमारोंके शापकी सूचना प्राप्तकर अपने ज्येष्ठ-पुत्र जनमेजयको राज्याभिषिक्त करके गंगाके किनारे पर अनशन कर रहे थे और बहुतसे ऋषि-मुनि उनपर कृपा करनेके लिए गंगाकी तीरभूमि पर जाकर उन्हें सदुपदेशों द्वारा सान्त्वना प्रदान कर रहे थे, उसी समय श्रीशुकदेवजी भी विचित्रोंके समान हृदयानन्दमें डूबे हुए वहाँ पधारे। आपके आते ही सभी ऋषि उठ खड़े हुए। परीक्षितके द्वारा उच्चासन देकर उनकी विधिवत् पूजा की गई। उसी स्थान पर उन्होंने परीक्षितके आग्रहपर उन्हें सात दिनमें पूरी श्रीमद्भागवतकी कथाका उपदेश किया और अनेक शंकाओंका समाधान कर परम-पवित्र भागवत-मार्गको प्रशस्त बनाया।

श्रीशुकदेवजी भक्तिके आचार्य तो हैं ही, साथ ही शांकर अद्वैतके आद्याचार्योंमें भी उनका प्रमुख स्थान है। आप नन्दनन्दन श्रीकृष्णके समान ही सदा किशोर-अवस्थामें रहकर हृदयमें निरन्तर श्रीव्रजेन्द्रनन्दनका स्मरण करते रहते हैं।

❀ श्रीधर्मराजजी ❀

श्रीधर्मराजजी नित्यदेव हैं, फिर भी सृष्टिक्रमके कारण भगवान् सूर्यनारायण उनके पिता और विश्वकर्माकी पुत्री संज्ञा उनकी माता हैं।

धर्मराजके दो रूप हैं—यमराज और धर्मराज। पापात्मा जीवोंको उनके पापोंका फल देते समय ये यमराजका रूप धारण करते हैं। उस समय इनकी आकृति बड़ी भयंकर होती है और भगवद्विमुख जीवोंको ये बड़ी कठोरतासे दण्ड विधान करते हैं। इस दण्ड देनेका उद्देश्य भी जीवको मङ्गलमय मार्गपर चलानेका होता है। नारकी यातनाके भोगके बाद जीवको फिर इस कर्मभूमिमें भेजा जाता है, इस आशासे कि इस बार वह भगवान्की भक्ति करके उन आनन्दघनको प्राप्त करले, जो उसके वास्तविक लक्ष्य हैं।

दूसरा रूप है, उनका धर्मराजका। यह रूप परम भागवत है। पुण्यात्मा जब शरीर त्याग कर धर्मराजके दूतोंके द्वारा उनके पास लाये जाते हैं, तब वे उनको अपना वही सौम्य-सुन्दर रूप दिखलाते हैं और उन महाभागोंको उनके पुण्यके अनुसार तत्तत् लोकोंमें भेजते हैं।

यमराज ने अपने दूतोंको भक्ति-तत्त्वका उपदेश करते हुए कहा है—

इदमेव हि माङ्गल्यमिदमेव धनार्जनम्। जीवितस्य फलं चैतद् यद् दामोदरकीर्तनम्।

—यह दामोदरका नाम-गुण-कीर्तन ही मंगल कार्य है, यही सच्चे धनका संग्रह है और यही जीवनका फल है। हे दूतो! जो महापुरुष ऐसे भगवान्का भक्तिपूर्वक स्मरण करते हैं, वे मेरे द्वारा दण्ड पाने योग्य नहीं हैं। उन्होंने यदि पहिले कभी पाप भी किया है तो भगवद्-गुणानुवादसे वह भी नष्ट हो जाता है। जो भगवान्के भक्त हैं, उनकी रक्षा तो उनकी कौमोदकी (गदा) सर्वदा करती रहती है, तुम उनके पास भी नहीं जाना। जो जीव काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह, मत्सरता आदिमें फँसकर विषय-वासनाओंमें लगा रहता है, जिसका मन-मिलिन्द भगवच्चरणारविन्द-मकरन्दका पान न करके उनसे विमुख रहता है, वही तुम्हारे इस पाश में बँधने योग्य है, उसे ही तुम इस अनन्त यातनामयी यमपुरीमें लाया करो।

वास्तवमें यमराजके दण्ड-विधानके भयसे अनेकों जीव-जन्तु भगवान्की आनन्दमयी माधुरीकी ओर प्रेरित होते हैं और जब उस सच्चिदानन्दकी प्राप्ति हो जाती है तो वे अनन्त काल तक भगवद्-धाम में निवासकर अक्षय आनन्द और अपार सुख भोगते हैं।

श्रीधर्मराज स्वयं उच्च कोटिके भगवद्-भक्त हैं, जैसा कि श्रीनाभाजीके छप्पयमें कहा गया है। धर्मराजकी भगवद्-भक्तिका परिचय अजामिलके उपाख्यानमें मिलता है। इसी उपाख्यान से उन्हें भगवान्का प्रमुख भक्त माना गया है। इसीका वर्णन श्रीप्रियादासजीने निम्नलिखित दो कवित्तोंमें किया है:—

भक्ति-रस-बोधिनी

धरचौ पितु मातु नाम अजामेल साँच भयो, भयो अजामेल छूटो तिया शुभ जातकी।
कियो मद पान, सो सयान गहि दूरि डारचो, मारचो तनु वाही सौं जो कीन्हों लै कै पातकी॥
करि परिहास काहू दुष्ट ने पठाये साधु, आए घर, देखि बुद्धि आइ गई सातकी।
सेवा करि सावधान सन्तन रिझाइ लियो 'नारायण' नाम धरचो गर्भ बाल बात की॥२३॥

अर्थ—माता-पिताके द्वारा रक्खा गया 'अजामेल' नाम अन्वर्थ (सत्य) सिद्ध हुआ; क्योंकि उस (ब्राह्मण-पुत्र) का (मेल) संपर्क एक (अजा) वेश्यासे हो गया (परिणाम यह हुआ कि) उसने उच्च ब्राह्मण कुलमें उत्पन्न हुई (अपनी विवाहिता) स्त्रीका परित्याग कर दिया और शराब पीने लगा, जिससे उसका समस्त विवेक नष्ट हो गया। (इस प्रकार जिस वेश्या-संग और मद्यपान) ने उसे पापी बनाया था, उसीमें उसने अपना शरीर नष्ट कर दिया। (इसी बीचमें) किसी दुष्टने मजाक करनेके लिए (यह कह कर कि अजामिल सन्तोंकी बड़ी सेवा करता है) कुछ साधुओंको उसके घर भेज दिया। उनके दर्शन करते ही उसके मनमें सात्विक बुद्धि आ गई और उसने बड़ी सावधानीसे सेवाद्वारा सन्तोंको प्रसन्न कर लिया। चलते समय साधुओंने आशीर्वाद देते हुए कहा कि तेरे एक पुत्र होगा और तू उसका नाम 'नारायण' रख देना।

साधुओंके दर्शन मात्रसे ही समस्त पाप नष्ट हो जाते हैं, इसी प्रसंगमें गोस्वामीजीने भी कहा है:—

तन करि मन करि वचन करि, देत न काहू दुःख।
तुलसी पातक नसत हैं, देखत उनके मुख॥
मुख देखत पातक नसैं, पाप मलिन ह्वै जावैं।
तुलसी ऐसे सन्त जन, पूरब भाग मिलावैं॥

इस प्रसंगको और भी रुचिकर बनानेके लिए भक्तोंने बड़ी-बड़ी सुन्दर उद्भावनाएँ की हैं और उनमें से एक यह है कि साधु लोग जब अजामिलके यहाँ पहुँचे, तब वह शिकार खेलने बाहर चला गया था। साधुओंको आया हुआ देखकर वेश्याको पहले तो बड़ा आश्चर्य हुआ, पर अन्तमें उसकी समझमें आगया। वह साधुओंके विश्रामका प्रबन्ध कर अजामिलको खोजनेके लिए निकल पड़ी। सौभाग्यसे शिकारसे लौटता हुआ अजामिल मिल गया। वेश्याने उसे रास्तेमें ही रोककर कहा—"तुमको साधु समझकर कुछ सन्त लोग तुम्हारे घर आए हैं और वहीं विश्राम कर रहे हैं।" अजामिलने कांधेपर-के हिरनको पृथ्वीपर रखते हुए कहा—"मेरी समझमें नहीं आया, तुम क्या कह रही हो?"

वेश्याने कहा—"पहले तुम स्नान करलो, तब बताऊँगी।"

अजामिल जब स्नान कर चुका, तो वेश्याने उसके चन्दन लगा कर तुलसीकी माला धारण कराई और कहा—"अब घर चल कर साधुओंका सत्कार करो, नहीं तो हमारी बड़ी हँसी होगी।"

अजामिलने कहा—"कहाँ सात्विकी वृत्ति के साधु-महात्मा लोग और कहाँ कुमार्गगामी मैं! भला उनसे मिलकर मुझे क्या कहना होगा, यह तो बता दो?"

वेश्याने कहा—"कहना कि आपने बड़ी कृपाकी जो घर पधारे। आप हमारे स्वामी हैं, मैं आपका दास हूँ।"

वेश्याको मालूम था कि अजामिल नशेमें है, अतः परीक्षा लेनेके लिए उसने पूछा—"अच्छा, बताओ तो क्या कहोगे ?"

अजामिल—"कहूँगा कि—मैं आपका स्वामी हूँ, आप लोग दास हैं । ठीक है न ?"

वेश्या—"नहीं ! नहीं ! ऐसे नहीं कहते !"'अच्छा, तुम केवल उन्हें प्रणामकर हाथ जोड़कर चुप-चाप बैठ जाना, बाक़ी मैं सब देख-भाल लूँगी ।" अजामिलने ऐसा ही किया ।

भक्ति-रस-बोधिनी

आइ गयो काल मोहजाल में लपटि रह्यौ, महाबिकराल यमदूत ह्वौ दिखाइये ।
वोही सुत 'नारायण' नाम जो कृपा कै दियो, लियो सो पुकारि सुर आरत सुनाइये ॥
सुनत ही पारषद आये वाही ठौर दौरि, तोरि डारे पास कह्यौ धर्म समुझाइये ।
हरि लै बिडारे जाय पति पै पुकारे कहि 'सुनो वजमारे !' मत जावो हरि गाइये ॥२४॥

अर्थ—इस प्रकार अज्ञानके जालमें पड़े हुए अजामिलका सारा जन्म बीत गया और मृत्यु-समय आ पहुँचा । उसने देखा कि महाभयंकर यमराजके दूत उसे लेनेके लिए आगए हैं । उसने अपने उसी पुत्रको जिसका कि सन्तोंने 'नारायण' नाम रखा था, बड़े आर्त और दीनता-भरे स्वरसे पुकारा । 'नारायण' नामके सुनते ही विष्णु भगवान्के पार्षद दौड़ कर उसी जगह आये (जहाँ अजामिल अन्तिम श्वास ले रहा था) आते ही उन्होंने (यमदूतों द्वारा बाँधे गए) पाशों को तोड़ डाला । (यमदूतोंने ऐसा करनेका कारण पूछा तो) पार्षदोंने उन्हें धर्मका मर्म समझाया । (इतना ही नहीं,) उन्होंने यमदूतोंको डाँट-डपट कर वहाँसे भगा दिया । जब यमदूतोंने यह सब वृत्तान्त धर्मराजको सुनाया, तब वह बोले—'अरे तुम लोगोंपर गाज गिरे ! जहाँ हरिका नामोच्चारण होता हो वहाँ कभी मत जाना ।'

इस प्रसंगमें धर्मराजने अपने दूतोंको समझाते हुए जो कहा है, उसका श्रीमद्भागवतमें बड़ा सुन्दर वर्णन किया गया है । लिखा है:—

ते देवसिद्धपरिगीतपवित्रगाथा, ये साधवः समदृशो भगवत्प्रपन्नाः ।
तान् नोपसीदत हरेर्गदयाभिगुप्तान्, नैषां वयं न च वयः प्रभवाम दण्डे ॥

—'जो समदर्शी साधु भगवान्को ही अपना साध्य और साधन समझकर उनपर निर्भर हैं, बड़े-बड़े देवता और सिद्ध उनके पवित्र चरित्रोंका प्रेमसे गान करते रहते हैं । हे मेरे दूतों ! भगवान्की गदा उनकी सदा रक्षा करती रहती है । उनके पास तुम कभी भूलकर भी मत फटकना । उन्हें दण्ड-देने की सामर्थ्य न हममें है और न साक्षात् कालमें ही ।

सन्तवाणियोंमें अनेकों स्थानोंपर श्रीहरि के नामोच्चारणके अपरिमित उदाहरण भरे पड़े हैं ।

हरि जस गावत सब सुधरे ।
नीच अधम, अकुलीन, विमुख, खल, केतिक गनों तुरे ॥
नाऊ, छीपा, जाट जुलाहो सन्मुख जाय जुरे ।
तिन-तिन कौं सुख दियौ साँवरे साहिब बिरद दुरे ॥
विवस अजामिल सुत के हित ह्वै अखरा उचरे ।
बिहारिदास प्रभु कोटि अजामिल पतित पवित्र करे ॥ (स्वामी श्रीबिहारिनदेवजी)

मूल (छप्पय)

विष्वक्सेन जय, विजय, प्रबल बल, मंगलकारी ।
नन्द, सुनन्द, सुभद्र, भद्र जग आमयहारी ॥
चंड, प्रचंड, बिनीत, कुमुद, कुमुदाच्छ करुणालय ।
सील, सुसील, सुषेन भाव भक्तन प्रतिपालय ॥
लक्ष्मीपति प्रीणन* प्रवीन भजनानन्द भक्तन सुहृद ।
मो चितवृति नित तहँ रहौ जहँ नारायण पारषद ॥८॥

अर्थ—ग्रन्थकार इस छप्पयमें अपनी यह अभिलाषा प्रकट करते हैं कि मेरी चित्त-वृत्ति वहाँ रहे, जहाँ नारायणके विष्वक्सेन आदि सोलह पार्षद रहते हैं । ये मंगल करनेवाले, संसारके (दुःख, शोक, अविद्या-रूपी) रोगको नाश करनेवाले, दयालु और भावपूर्ण भक्तोंकी रक्षा करने वाले हैं । ये लक्ष्मीपतिको सेवा द्वारा प्रसन्न करनेकी कलामें अत्यन्त निपुण हैं और भजनानन्द भक्तोंकी सीमा तक पहुँच गए हैं ।

भक्ति-रस-बोधिनी

पारषद मुख्य कहे सोरह सुभाव सिद्ध, सेवा ही की रिद्धि हिये राखी बहु जोरि कै ।
श्रीपति नारायण के प्रीणन प्रवीण महा, ध्यान करैं जन पालैं भाव दृग कोरि कै ॥
सनकादि दियो श्राप प्रेरिकै दिवायो आप, प्रगट ह्वै कह्यो पीयो सुधा जिमि घोरि कै ।
यही प्रतिकूलताई जो पै यही मन भाई, याते रीति हद गाई धरी रंग बोरि कै ॥२५॥

अर्थ—ये सोलह पार्षद श्रीवैकुण्ठनाथ नारायणके नित्यसिद्ध पार्षदोंमें प्रधान हैं । इन्होंने प्रभुकी सेवा-रूपी सम्पत्तिको ही अपने हृदयमें संचित करके रखा है । ये लक्ष्मीपति नारायणको (सेवा द्वारा) प्रसन्न करनेमें अत्यन्त निपुण हैं । भगवद्धाम-निवासी ये पार्षद श्रीहरिका ध्यान करते हैं तथा अपने भक्त के भावके अनुसार कृपाकटाक्षसे अर्थात् दृष्टिकोरसे भक्तजनोंका पालन करते हैं । जब भगवानकी प्रेरणासे सनकादि ऋषियोंने जय-विजयको शाप दिया (कि तुम तीन योनि तक राक्षस-कुलमें जन्म लोगे) तब श्रीनारायणने प्रत्यक्ष दर्शन देकर कहा कि इस शापको (मेरी ही इच्छा समझकर) अमृतके समान घोलकर पी जाओ—अर्थात् प्रसन्नतापूर्वक इसे स्वीकार करो । इसपर जय-विजयने असुर-योनिमें जन्म लेकर भगवान्के प्रतिकूल आचरण अंगीकार किया और कहा कि यदि आपकी ऐसी ही इच्छा है तो हमें (आपकी और आपके भक्तों की) प्रतिकूलता (विरुद्ध आचरण) भी स्वीकार है । इसीलिए उपासनाकी इस रंगीली रीतिको हद (सीमा) कहा गया है ।

* प्रीणन, मीनन—पाठान्तर ।

मूल (छप्पय)

कमला, गरुड़, सुनन्द आदि षोड़स प्रभु-पद रति ।
हनुमंत,जामवंत, सुग्रीव, विभीषण, सिबरी खगपति ।।
ध्रुव, उद्धव, अंबरीष, विदुर, अक्रूर, सुदामा ।
चन्द्रहास, चित्रकेतु, ग्राह, गज, पांडव नामा ।।
कौषारव, कुन्ती, बधू, पट ऐंचत लज्जा हरी ।
हरिवल्लभ सब प्रारथौं जिन चरन-रेनु आसा धरी ।।८।।

अर्थ—(नाभाजी कहते हैं कि) मैं कमला, गरुड़ आदि भक्त, सुनन्द आदि सोलह पार्षद, हनुमानसे लेकर कुन्ती-पर्यन्त अन्य भक्त तथा पाण्डव-वधू द्रौपदी, जिसकी लज्जाको (दुश्शासन द्वारा भरी सभामें) वस्त्र खींचे जानेपर भगवानने रक्खा था—इन हरिके प्रिय भक्तोंकी प्रार्थना करता हूँ । इन्हीं भक्तोंकी चरण-रेणुकी अभिलाषा मैंने अपने हृदयमें धारण की है ।

भक्तिरस-बोधिनी

हरि के जे वल्लभ हैं दुर्लभ भुवन माँझ, तिनही की पदरेणु आसा जिय करी है ।
योगी, यती, तपी तासौं मेरो कछु काज नाहिं, प्रीति परतीति रीति मेरी मति हरी है ।।
कमला, गरुड़, जाम्बवान, सुग्रीव आदि, सबै स्वादरूप कथा पोथिन में धरी है ।
प्रभु सौं सचाई जग कीरति चलाई अति, मेरे मन भाई सुखदाई रसभरी है ।।२६।।

अर्थ—हरिके जो प्यारे भक्त हैं, वे संसारमें दुर्लभ हैं, उन्हींकी चरण-धूलिको प्राप्त करने की आशा मैंने हृदयमें लगा रक्खी है । (कोरे) योगी, यती, तपस्वी तो यहाँ बहुत हैं, पर मेरा उनसे कोई प्रयोजन नहीं है । मेरी बुद्धि (मन) को तो (भगवान्‌के भक्तोंके) प्रेम, निष्ठा तथा भजन-रीतिने आकृष्ट कर लिया है । लक्ष्मी, गरुड़, जाम्बवान्, सुग्रीव आदि की भक्तिरसके माधुर्यसे परिपूर्ण कथाएँ पुराणादि धर्म-ग्रन्थोंमें लिखी हैं । (भक्तोंने) भगवान्‌से सच्ची प्रीति करके संसारमें जो अपनी कीर्तिका विस्तार किया है, वह मुझे बहुत अच्छा लगा है, क्योंकि इन भक्तोंकी मधुर गाथा सुनने-सुनानेसे हृदयको सुख मिलता है ।

भक्तोंकी प्रीति अहैतुकी और तत्सुखी होती है । उनकी स्वयं की कोई इच्छा नहीं होती । उनको तो प्रेमी-पात्रके सुखमें सुख होता है और उनके दुःखमें दुःखकी अनुभूति होती है । इसीलिए वे तीनों लोकों के राज्य, ब्रह्मत्व यहाँ तक कि मुक्तिकी भी कामना नहीं करते हैं । अतः नाभाजीने ऐसे भक्तोंकी चरण-रजको मस्तकपर धारण करनेकी अभिलाषा की है ।

श्रीमद्भागवतमें कहा है—

न नाकपृष्ठं न च सार्वभौमं न पारमेष्ठ्यं न रसाधिपत्यम् ।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा समञ्जस त्वा विरहय्य काङ्क्षे ॥

—भगवान्‌के चरणारविन्दकी जो शरण हैं, उन्हें न तो स्वर्गकी कामना है, न ब्रह्मत्वकी चाह; न न सारे संसारपर राज्य करनेकी इच्छा, न पातालपर अधिकार जमानेकी अभिलाषा, न योगाभ्याससे प्राप्त होनेवाली सिद्धियोंसे प्रयोजन और न मुक्तिकी कामना। श्रीमद्भागवतमें जड़भरत द्वारा राजा रहूगणको उपदेश देते समय भी भक्तोंकी चरण-रजका महत्व स्पष्ट किया गया है—

रहूगणैतत् तपसा न याति न चेज्यया निर्वपणाद् गृहाद् वा।
नच्छन्दसा नैव जलाग्निसूर्यैर्विना महत्पादरजोऽभिषेकम्॥

—महापुरुषोंकी चरणरजसे स्नान किए बिना उस परमात्माको यज्ञ, तपस्या, वैदिक कर्मानुष्ठान, गृहस्थधर्मका पालन, वेदाध्ययन तथा जल, सूर्य, अग्निकी उपासना आदि किसी भी साधनसे प्राप्त नहीं किया जा सकता है।

प्रीति, परतीति, रीति—'प्रीति' से तात्पर्य आनन्दपूर्ण अनुराग (प्रेम) से है। प्रेम यदि झूठा है तो उसमें आनन्द कहाँ? सच्चे प्रेममें ही आनन्द अनुस्यूत रहता है और यह स्वयं अपना फल है—साध्य है। इस एक प्रेमके अभावमें समस्त लौकिक उपलब्धियाँ नीरस प्रतीत होती हैं।

कविवर नन्ददासजी कहते हैं—

पाप, पुन्य अरु कर्म लोह सोने की बेरी,
पायन बन्धन दोऊ कोऊ मानो बहुतेरी।
ऊँच कर्म ते स्वर्ग है, नीच कर्म ते भोग,
प्रेम बिना सब पचि मरे विषय वासना रोग—
सखा सुन स्याम के॥

जब भगवान्‌को किसी भी लौकिक सिद्धिकी अपेक्षा नहीं है तो फिर उनके लाड़ले भक्तोंको भला क्यों होने लगी। उन्हें तो वही अच्छा लगता है, जो उनके आराध्यको रुचता है। अत: प्रभुकी प्राप्तिका साधन केवल प्रेम है। जैसा श्रीध्रुवदासजीने कहा है—

संजम, व्रत, सतमख करत, वेद, पाठ, तप नेम।
इन कर हरि पइयत नहीं, बिन आए उर प्रेम॥

यह तो हुई प्रीतितत्वकी बात। अब हम आते हैं 'प्रतीति' पर। 'प्रतीति' से मतलब है—अविचल विश्वास। विश्वास किसमें? प्रभुकी दयालुतामें, उनकी कृपापरवशतामें और शरणागत-पालकतामें। यह विश्वास भक्ति भावनाका प्राण है। परन्तु इस विश्वासका लक्ष्य किसी प्रकारकी फल कामना न हो। प्रीति और प्रतीति स्वयं फल हैं। इनसे प्राप्त होनेवाला आनन्द अन्यत्र दुर्लभ है। अत: इसके अधिकारी भक्तजन भी विरले ही मिलते हैं। यही सोचकर ग्रन्थकारने इन दुर्लभ भक्तोंकी चरण-रजमें अवगाहन करनेकी अभिलाषा प्रकट की है।

'रीति'—तीसरा तत्व है। रीति से मतलब उपासनाकी परिपाटीसे है। विभिन्न उपासकोंने उपासनाकी भिन्न-भिन्न रीतियोंका अनुसरण किया है। उनकी इस रीतिको जाननेके लिए उन भक्तोंकी चरण-रजकी कृपाके अतिरिक्त और कोई साधन नहीं है। समस्त रसिकों और भक्तोंका यही मत है—

रसिक अनन्य उपासका जिते दास हरिदास।
तिन-तिनकी लै चरण-रज सिर धरी बिहारीदास॥ (स्वामी श्रीबिहारिनदेवजी)

जिनके जाने जानिए कुंवरचन्द सुकुमार।
तिनकी पद रज सीस धरि झुकके यहै अपार॥ (श्रीध्रुवदासजी)

भक्ति-रस-बोधिनी

रतन अपार-सार सागर उधार किये, लिये हित चायकै बनाइ माला करी है ।
सब सुख-साज रघुनाथ महाराज जू कौं, भक्ति सौं विभीषण जू आनि भेंट धरी है ॥
सभा ही की चाह अवगाह हनुमान गरे डारि दई, सुधि भई, मति अरबरी है ।
राम बिन काम कौन ? फोरि मणि दीन्हे डारि, खोलि त्वचा नाम ही दिखायो, बुद्धि हरी है ॥२७॥

अर्थ—देवता और दैत्योंने समुद्रका मन्थन कर बहुत-से अमूल्य रत्नोंको उसमेंसे निकाला था । (सब देवताओंको जीत लेनेके कारण ये रत्न रावणके हाथ लगे और रावणका वध हो जाने पर लंकाके राज्यपर अभिषिक्त विभीषणको उत्तराधिकारमें प्राप्त हुए ।) विभीषणने अत्यन्त उत्सुकतासे इनकी एक माला बनाई और उसे संसारकी समस्त सुख-समृद्धिसे विभूषित श्रीरामचन्द्र जीके चरणोंमें भक्तिपूर्वक समर्पित कर दिया । (उपस्थित लोगोंने मालाको देखा तो उनका हृदय उसे लेनेके लिये लालायित हो उठा ।) श्रीरामचन्द्रजीने यह देखकर कि सारी सभाका झुकाव मालाकी तरफ है, हनुमानके गलेमें उसे डाल दिया । मालाका स्पर्श होते ही हनुमानजी को (जोकि अब तक भगवानके रूप-सुधा-पानमें तन्मय हो रहे थे) होश हुआ । उनकी बुद्धि अस्तव्यस्त हो गई । (मालाको उन्होंने उलट-फेर कर देखा तो उसे रामनाम रहित पाया । (उनके मुँहसे निकल पड़ा)—"राम-नामके बिना यह अपने किस मतलबकी है ?" तब उन्होंने मालाकी एक-एक मणिको तोड़ डाला । (विभीषणने पूछा—'आपके शरीरपर भी तो कहीं राम-नाम अङ्कित नहीं है, फिर इसे क्यों धारण किए हुए हैं' ? इसपर) हनुमानजीने अपने शरीरकी त्वचाको चीरकर दिखाया (तो लोगोंको पता लगा कि उनके रोम-रोमपर राम-नाम अङ्कित है)' यह देखकर । उपस्थित जन समस्त आश्चर्यचकित होगए ।

हनुमानजीकी भक्ति-भावनाके प्रसंगमें टीकाकारने इस कवित्तमें रामके नामको अधिक महत्त्व दिया है । नाम-जाप भक्ति-सिद्धान्तका एक प्रमुख तत्त्व माना जाता है । कहा भी है—

राम त्वत्तोऽधिकं नाम इति मे निश्चिता मतिः ।
त्वयैका तारितायोध्या नाम्ना च भुवनत्रयम् ॥

—हे राम! आपका नाम आपसे भी बड़ा है; क्योंकि आपने तो केवल एक अयोध्याका ही उद्धार किया, लेकिन आपके नामने तो तीनों लोकोंको तार दिया ।

हनुमानजीकी भाव-प्रबलताको समझनेके लिए लैला-मजनू से सम्बन्धित एक लौकिक घटनाका विवरण नीचे दिया जाता है—

एक बार एक साहूकार बलख-बुखारासे दिल्लीको आ रहा था । रास्तेमें उसे मजनू मिला । मजनू ने पूछा—"कहाँ जाओगे ?" साहूकारने उत्तर दिया—"दिल्ली ।" मजनूने कहा—"तो लैलासे हमारा एक सन्देश कह देना ।" साहूकारने रथ रोक लिया और बोला—"बताओ, क्या सन्देश देना है ?" मजनूने कहा—"रथको रोकनेकी जरूरत नहीं है; मैं साथ-साथ चल रहा हूँ ।" उसे अपना प्रेम-सन्देश कहते-कहते कई दिन, कई रातें बीत गईं, लेकिन वह पूरा नहीं हुआ । साहूकारने एक दिन झवक कर कहा—

"तुम्हारा सन्देश सुनते-सुनते मेरी नींद हराम होगई। आखिर यह कभी पूरा होगा कि नहीं ?"

× × × ×

दिल्ली पहुँचकर साहूकारने लैलाको मजनूका सन्देश देनेके साथ-साथ उसकी दुर्दशाका भी वर्ण किया और अन्तमें बोला—"मजनू तो तुम्हारे विरहमें सूखकर ठठरी होगया है, लेकिन तुम इतनी प्रस रहती हो, इसका क्या कारण है ?"

लैला बोली—"प्रसन्न क्यों न रहूँ ? मेरे रोम-रोममें मजनू जो बसा हुआ है ! विश्वास न हो त देख लो ना।"

यह कह कर लैलाने अपने हाथकी एक अँगुली चीर डाली। साहूकारने देखा कि कागजपर जितनी खूनकी बूँदें पड़ीं, उतनी ही मजनूकी तस्वीरें बन गई हैं।

श्रीविभीषण

भक्ति-रस-बोधिनी

भक्ति जो विभीषण की कहै ऐसो कौन जन, ऐ पै कछु कही जाति सुनो चित लाइकैं।
चलत जहाज परी अटकि विचार कियो, कोऊ अंगहीन नर दियो ले बहाइ कैं॥
लाइ लग्यो टापू ताहि राक्षसनि गोद लियो, मोद भरि राजा पास गये किलकाइ कैं।
देखत सिंहासन ते कूदि परे नैन भरे, याही के आकार राम देखे भाग पाइ कैं॥२८॥

अर्थ—ऐसा कौन व्यक्ति है, जो विभीषणजीकी भक्तिका वर्णन कर सके ? तो भी यहाँ उस सम्बन्धमें कुछ कहनेका साहस किया जाता है, सो उसे ध्यानसे सुनिये। (किसी समय एक व्यापारीका जहाज समुद्रमें चलते-चलते किसी कारणवश अटक गया।) तब सेठने सोचा कि समुद्रके देवता वरुणको बलि देनी चाहिए, यह निश्चय कर किसी अङ्गहीन मनुष्यको समुद्रमें फेंक दिया। दैवयोगसे वह लंकाके टापूपर जा लगा और लंकानिवासी राक्षसोंने उसे गोदमें उठा लिया। इसके पश्चात् वे प्रसन्न होते हुए और किलकिलाते हुए उसे राजा विभीषणके पास लेगए। विभीषणजी उसे देखते ही सिंहासनसे कूद पड़े और आँखोंमें आँसू भरकर बोले—"मेरे स्वामी श्रीरामचन्द्रजीकी भी आकृति ऐसी ही है। मेरे अहोभाग्य ! जो मुझे ऐसे दर्शन हुए।"

भक्ति-रस-बोधिनी

रचि सो सिंहासन पै लै बैठाए ताही छनि, राक्षसनि रीझि देत मानि शुभ घरी है।
चाहत मुखारविन्द अति ही अनन्द भरि, ढरकत नैन नीर टेकि ठाढ़ो छरी है॥
तऊ न प्रसन्न होत छिन-छिन छीन ज्योति, हूजिये कृपाल कहो मेरी मति हरी है।
करो सिन्धु पार मेरे यही सुख सार, दिये रतन अपार ल्याये वाही ठौर फेरी है॥२९॥

अर्थ—विभीषणने उस पुरुषको बहुमूल्य वस्त्र, चन्दन, आभूषण आदि से अलंकृत कर आदर सहित सिंहासनपर बिठाया और उस अवसरको अपने जीवनका बहुमूल्य समय समझकर

उन्होंने अपने अनुचर राक्षसोंको विविध प्रकारके पुरस्कार दिये । इसके अनन्तर विभीषण छड़ी लेकर प्रतीहार (द्वारपाल) की भाँति उसके सामने खड़े होगए । वह अत्यन्त आनन्दमें मग्न होकर उस व्यक्तिके मुखारविन्दके दर्शन करने लगे । उस समय विभीषणके नेत्रोंसे प्रेमाश्रु बरस रहे थे । इतना करने पर भी विभीषणने देखा कि वह प्रसन्न नहीं हुआ, बरन् उसके मुखकी कान्ति धीरे-धीरे मलिन होती जा रही थी । इसपर विभीषणने हाथ जोड़कर प्रार्थना की—"भगवन् मेरे ऊपर अनुग्रह करके मुझे कुछ सेवा करनेका आदेश दीजिए; मैं समझ नहीं पा रहा हूँ कि आप इतने उदास क्यों हैं ?" यह सुनकर वह बोला—"मुझे तो परम आनन्द इसमें मिलेगा कि आप मुझे समुद्र पार करा दें ।" विभीषणजीने विशाल धन-राशि भेंटके रूपमें उसे समर्पित की और तब उसी जगहपर उसे पहुँचा दिया जहाँसे कि राक्षस उसे पकड़कर ले गए थे ।

भक्ति-रस-बोधिनी

राम-नाम लिख सीस मध्य धरि दियो या कें, यही जल पार करै भाव साँचो पायो है ।
ताही ठौर बैठ्यो मानो नयो और रूप भयो, गयो जो जहाज सोई फिरि करि आयो है ॥
लियो पहिचान पूछ्यो सब सों बखान कियो, हियो हुलसायो, सुनि, बिनै कै चढ़ायो है ।
पर्यो नीर कूदि, नेकु पाय न परस कर्यो, हर्यो मन देखि रघुनाथ नाम भायो है ॥३०॥

अर्थ—(जब उस मनुष्यने समुद्र पार करानेकी प्रार्थना की तब) विभीषणने राम-नाम लिखकर (एक वस्त्रमें बाँध दिया और) उसके सिरपर रख दिया और कहा—यही (राम-नाम) तुम्हें समुद्र पार उतारेगा । (जिस नामके प्रतापसे संसारके जीव विशाल भव-सागरसे पार हो जाते हैं, उसके लिए जलका समुद्र पार करा देना भला क्या कठिन था !) उस व्यक्तिने विभीषणके भाव (रामके प्रति दृढ़ निष्ठा) को सर्वथा सत्य पाया; (क्योंकि विभीषणकी भाँति स्वयं भी विश्वास कर वह उसी पहले स्थानपर पहुँच गया ।) रामनामके प्रभावमें आकर उसे ऐसा लगा जैसे उसने नवीन देह धारण की हो । जहाज भी (राम-नामके प्रतापसे) फिर वहीं लौटकर आ गया । उसमें बैठे हुए यात्रियोंने उसे पहिचान लिया और सारा वृत्तान्त पूछा (कि तुम बचकर कैसे निकल आये ?) । उसने सब कह सुनाया । सुनकर सब लोगोंको बड़ी प्रसन्नता हुई और उन्होंने अत्यन्त अनुनय-विनय करके उसे जहाजपर चढ़ा लिया । (राम-नामके माहात्म्यका प्रत्यक्ष परिचय देनेके लिए) वह एक बार जहाजसे समुद्रमें कूद पड़ा और दिखला दिया कि किस प्रकार उसके पैर भीगे तक नहीं । यह देखकर सबका मन राम-नामकी तरफ आकर्षित होगया और उन परम कृपालु भगवान्‌के नाममें उनका अगाध प्रेम होगया ।

वास्तवमें राक्षसोंके साथ रहकर भी उनकी हिंसात्मकता, पापाचारिता और निर्दयतासे दूर रह परम भागवत बनकर हमेशा अपने प्रभुका ध्यान करते रहना उन जैसे महाभागके लिए ही सम्भव था ।

श्रीशबरी

त्रेतायुगका समय था। दण्डकारण्य वनमें अनेकों ऋषि मुनि रहकर जप-तप, होम-यज्ञ आदि किया करते थे। आश्रमोंसे निकलकर होम-धूम वनमें चारों ओर फैलकर उसे पवित्र बनाता रहता था। इसी आश्रममें अपनेको सब तरह धन-जन पति पुत्रादिकसे हीन समझकर एक बूढ़ा भगवानकी भक्ति और महात्माओंकी सेवामें तल्लीन रहा करती थी।

भक्ति-रस-बोधिनी

बन में रहति नाम 'सबरी' कहत सब, चाहत टहल साधु, तनु न्यूनताई है।
रजनी के शेष, ऋषि आश्रम प्रवेश करि लकरीन बोझ धरि आव, मन भाई है॥
न्हाइवे को मग झारि, कांकरनि बीनि डारि, बेगि उठ जाय, नेकु देत न लखाई है।
उठत सवारे कहैं 'कौन धौं बुहारि गयो भयो हिये सोच' कोऊ बड़ो सुखदाई है॥३१॥

अर्थ—वह उसी वनमें निवास करती थी और सब लोग उसे 'शबरी' के नामसे पुकारते थे। साधु-सन्तोंकी टहल-सेवा करनेकी ओर उसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति थी, लेकिन नीची जाति की होनेके कारण (साधुओंके पास जानेमें) वह झिझकती थी। फिर भी वह इतना अवश्य करती थी कि रात्रिके अन्तिम प्रहरमें ऋषियोंकी कुटियोंमें चुपचाप घुसकर लकड़ीके बोझ डाल आती। यह साधु-सेवा उसे अच्छी लगती थी। जिस रास्तेसे ऋषि-जन स्नान करने पंपासरपर जाया करते थे, वह उसे झाड़ देती, वहाँसे कंकड़ियोंको बीनकर फेंक देती और जल्दीसे चली जाती थी (ताकि कोई उसे देख न ले)। ऋषि-गण प्रातःकाल उठकर देखते तो एक-दूसरेसे पूछते—"यह झाड़ू कौन दे गया है?" थोड़ी देरके लिए वे एक विचित्र उलझनमें पड़ जाते, पर अन्तमें उनके मुँहसे यही शब्द निकलते—"यह तो कोई अत्यन्त सज्जन व्यक्ति जान पड़ता पड़ता है जो हमें इस तरह सुख पहुँचाता है।"

भक्ति-रस-बोधनी

बड़ेई असंग वे 'मतंग' रस-रंग-भरे, धरे देखि बोझ कह्यौ कौन चोर आयो है?
करै नित चोरी, अहो! गहो वाहि एक दिन, बिना पाए प्रीति वाकी मन भरमायो है॥
बैठे निशि चौकी देत शिष्य सब सावधान, आइ गई, गहि लई, काँपि, तनु नायो है।
देखत ही ऋषी जलधारा बही नैनन ते, बैनन सों कह्यो जात कहा कछु पायो है?॥३२॥

अर्थ—(आश्रम-वासियोंमें) एक 'मतंग' नामक ऋषि जो बड़े अनासक्त (निर्लिप्त) थे और भगवान्की भक्तिके रसमें सराबोर रहते थे, एक दिन लकड़ियोंके बोझको अपनी कुटियामें रक्खा देखकर बोले—"आश्रममें यह कौन चोर आता है जो चोरीसे सेवा करता है? उसे किसी दिन पकड़ना चाहिए, क्योंकि उसके ऐसे प्रेमके साक्षात् दर्शन किये बिना मेरा मन व्याकुल रहता है।" इसपर सब शिष्योंने सावधान रहकर रात-भर पहरा दिया और शबरीके आनेपर उसे पकड़ लिया। वह बेचारी शिष्योंके पकड़े जानेपर काँपने लगी और पैरोंपर गिर पड़ी। उसे

देखते ही ऋषि मतंगके नेत्रोंसे प्रेमाश्रु झर-झर कर बह निकले और उन्हें शबरीके दर्शनसे जो अलभ्य आनन्द हुआ, वह क्या कहनेमें आता है? अर्थात्, मतंग ऋषिने अपनेको इतना बड़भागी माना कि शब्दों द्वारा उनके सौभाग्यका वर्णन करना असम्भव है।

भक्ति-रस-बोधिनी

डीठि हू न सौंही होत मानि तन गोत छोत, परी जाय सोच-सोत कैसे के निकारिये।
भक्ति को प्रताप ऋषि जानत निपट नीकें, कोऊ कोटि विप्रताई या पै वारि डारिये॥
दियो बास आश्रम में श्रवण में नाम दियो, कियो सुनि रोष सबै कीनो पाँति न्यारिये।
सबरी सों कह्यो तुम राम-दरसन करो, मैं तो परलोक जात आज्ञा प्रभु पारिये॥३३॥

अर्थ—(किन्तु) अपने नीचे कुलका ध्यान करके लज्जाके कारण उसकी आँखें जमीनमें झुकी जारही थीं। उधर ऋषिको यह चिन्ता सवार थी कि शबरीके हृदयमें से इस भावनाको कि नीची जातिकी होनेके कारण वह अछूत है, कैसे बाहर निकाला जाय। भगवान्‌की शरणमें आनेपर नीच-ऊँच सब बराबर हो जाते हैं, यह विचार उन्होंने शिष्योंसे कहाकि यह शबरी इतनी पवित्र है कि इसपर कई करोड़ ब्राह्मणत्व (ब्राह्मण होनेका अभिमान) न्योछावर किये जा सकते हैं। अन्तमें उन्होंने शबरीको आश्रममें रख लिया और उसके कानमें निज-मंत्रका उपदेश दिया। इसपर और ऋषिगण बड़े नाराज़ हुए और उन्होंने मतंग ऋषिको समाजसे अलग कर दिया। कुछ समय बीतनेपर वह शबरीसे बोले—"यहाँ रहकर तुम एक दिन श्रीरामचन्द्रजीके प्रत्यक्ष दर्शनका सुख प्राप्त करोगी, किन्तु मैं तो प्रभुकी आज्ञाके अनुसार अब परलोक (भगवद्धाम) को जारहा हूँ।"

भक्ति-रस-बोधिनी

गुरु के वियोग हिये दारुन लै शोक दियो, जियो नहीं जात, ऐपै राम आशा लागी है।
न्हाइबे को घाट निशि जात ही बुहारि सब, भई यों अबारि ऋषि देख रिस पागी है॥
छुयो गयो नेकु कहूँ खीजत अनेक भाँति, करिकै विवेक गयो न्हान यह भागी है।
जल सों रुधिर भयो नाना कृमि भरि गयो, नयो पायो सोच तऊ जानै न अभागी है॥३४॥

अर्थ—गुरु मतंग ऋषिसे वियोग हो जानेके कारण शबरीके हृदयको बड़ी भारी चोट लगी। जीवन दूभर होगया था, पर जीवित इसलिये थी कि श्रीरामचन्द्रजीके दर्शनकी आशा मनमें लगी थी। जिस मार्गसे मुनि स्नान करने जाया करते थे, उसे वह रातमें ही जाकर झाड़ आती थी। एक दिन कुछ देर होगई तो किसी ऋषिने इसे देख लिया। इसपर शबरीको बड़ा कष्ट हुआ कि आज मैं ऋषिके सामने पड़ गई। संयोगसे वह ऋषि शबरीसे कुछ छूगए और गुस्सेमें भरकर उन्होंने न-जाने क्या-क्या कह डाला। अन्तमें सोच-विचार करनेके बाद ऋषि नहानेके लिए फिर सरोवरको लौट गए। यह देखकर शबरी डरसे भाग खड़ी हुई। ऋषि जब दुबारा सरोवरपर पहुँचे और डुबकी लगाई तो देखा कि तालाबका सारा जल खून हो गया है

और उसमें अनेक प्रकारके कीड़े रेंग रहे हैं। अब मुनिको यह नई चिन्ता सवार हुई, लेकिन वह इतने अभागे और विवेक-हीन निकले कि उन्हें वास्तविक भेद अन्त तक नहीं जान पड़ा। (मुनिवर इसी धोखेमें रहे कि शबरीका शरीर छूकर सरोवरमें स्नान करनेके कारण ही जल रुधिर बन गया, जब कि वास्तविक बात यह थी कि शबरीके प्रति दूषित भावनाके कारण उनका शरीर इतना पातकी हो गया कि उसके स्पर्शसे जल रुधिरमें बदल गया।)

भक्ति-रस-बोधिनी

लावै बन बेर लागी राम की औसेर भल, चाखें धरि राखे फिर मीठे उन जोग हैं।
मारग में आइ, रहे लोचन बिछाय, कभूं आवें रघुराय, दृग पावें निज भोग हैं॥
ऐसे ही बहुत दिन बीते मग जोहत ही, आइ गए औचक सो, मिटे सब सोग हैं।
ऐ पै तनु नूनताई आई सुधि, छिपी जाइ, पूछें आप 'सबरी' कहाँ? ठाढ़े सब लोग हैं॥३५॥

अर्थ—शबरीको भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके आनेकी बड़ी तलामली लगी थी; इसलिए वह बनमें-से बेर बीनकर लाती और चाखकर जो मीठे लगते, उन्हें प्रभुके योग्य समझकर रख लेती थी। रास्तेमें खड़ी होकर वह सदा भगवान् रामके आगमनकी प्रतीक्षामें आँखें बिछाए रहती थी कि कब श्रीरामचन्द्रजी आवें और कब मैं उनके दर्शनकर अपने नेत्रोंको सफल करूँ। इसी प्रकार जब बाट देखते-देखते बहुत दिन बीत गए, तब अचानक एक दिन श्रीरघुनाथजी आगए। शबरी सब दुःख भूल गई। (प्रसन्नताकी ऐसी हालतमें भी) उसे अपने शरीरके नीच-कुलमें उत्पन्न होनेकी याद बनी रही, इसीलिए श्रीरामचन्द्रके आते ही, वह भागकर छिप गई। इसपर श्रीरामचन्द्रजीने उपस्थित सब बन-वासियोंसे पूछा—"शबरी कहाँ गई?"

भक्ति-रस-बोधिनी

पूछि पूछि आए तहाँ स्योरी को अस्थान जहाँ, कहाँ वह भागवती? देखौं दृग प्यासे हैं।
आइ गई आश्रम में जानि के पधारे आप, दूर ही ते साष्टांग करी चख भासे हैं॥
रचकि उठाइ लई, बिथा तनु दूरि गई, नई नीर झरी नैन, परे प्रेम पासे हैं।
बैठे सुख पाइ फल खाय कै सराहे, वेहू कह्यौ—कहा कहौं मेरे मग दुख नासे हैं॥३६॥

अर्थ—आश्रमवासी मुनियोंसे पूछते-पूछते भगवान् उस स्थान पर आये, जहाँ शबरी रहती थी और लोगोंसे पूछा—"वह सौभाग्यशालिनी कहाँ है? हमारी आँखें उसे देखने के लिए आतुर हैं।" शबरीको जब यह मालूम हुआ कि उसके राम आश्रममें पधारे हैं, तो (उसके मनमें-से नीचताकी भावना मिट गई) जहाँसे प्रभु दिखाई पड़े वहींसे साष्टांग प्रणाम किया। भगवान् श्रीरामचन्द्रने उसके पास जाकर उसे ललक कर उठा लिया। प्रभुके हाथका स्पर्श होते ही शबरी के सब दुःख दूर होगए और नेत्रोंसे नए प्रकारके आँसू बरसने लगे। (अब तक भगवान्के वियोगमें वह गरम आँसू बहाती रही थी; ये आँसू प्रेम और प्रभु-प्राप्तिके आनन्दके थे।) शबरी

के नेत्र अब भगवान्‌के प्रेम-पाशमें फँस गए थे, अथवा प्रेमके पासे उसके अनुकूल पड़ गए थे, (अतः आनन्दके आँसुओं का उमड़ना स्वाभाविक था।) इसके अनन्तर भगवान्‌ने सुखपूर्वक आसन ग्रहण किया और (शबरी के द्वारा भेंट किए गए) बेरोंको खाकर उनके अपूर्व मिठास की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए बोले—"क्या कहूँ, आज ऐसे मीठे फल खिलाकर तुमने रास्ते की मेरी सब थकान दूर करदी।"

चाखे धरि राखे—शबरी पके हुए फलोंको चाख-चाखकर प्रभुके लिए रखती थी, इसका उल्लेख पद्म-पुराणमें इस प्रकार है—

फलानि च सुपक्वानि मूलानि मधुराणि च।
स्वयमास्वाद्य माधुर्यं परीक्ष्य परिभक्ष्य च॥
पश्चान्निवेदयामास राघवाभ्यां दृढव्रता।
× × ×

—शबरीने पके हुए फलोंको और मीठे कन्दोंको स्वयं चख-चखकर और परीक्षा करके बादमें भगवान् श्रीरामके लिए निवेदन किया।

शबरीके द्वारा दिए गए इन बेरोंकी सराहनाका वर्णन विभिन्न कवियोंने अनेक प्रकारसे किया है। एक कविकी उद्भावनाएँ देखिए—

बेर बेर बेर लै सराहैं बेर बेर बहु, "रसिक बिहारी" देत बन्धु कहँ फेर फेर।
चाखि-चाखि भाखें यह वाहू तें महान् मीठो, लेहु तो लखन यों बखानत हैं हेर हेर॥
बेर बेर दैबे को सबरी सुबेर बेर, तऊ रघुवीर बेर बेर ताहि टेर टेर।
बेर जनि लाओ बेर बेर जनि लाओ बेर, बेर जनि लाओ बेर लाओ जनि बेर बेर॥

इतना ही नहीं, भक्ति-सुधा-रससे पूर्ण शबरीके बेर इतने मधुर थे कि भगवान् श्रीराम उनकी सराहना करना कहीं भी नहीं भूले—

घर, गुरु-गृह, प्रिय-सदन, सासुरे, भई जब जहँ पहुनाई।
तब तहँ कहि सबरी के फलनि की, रुचि माधुरी न पाई॥

तथा—

तत्ववेत्ता तिहु लोकमें, भोजन किए अपार।
कै सबरी कै बिदुर घर, रुचि मानी द्वै बार॥

भक्ति-रस-बोधिनी

करत हैं सोच सब ऋषि बैठे आश्रम में, जल को बिगार सो सुधार कैसे कीजिये।
आवत सुने हैं वन पथ रघुनाथ कहूँ आवैं जब, कहैं याको भेद कहि दीजिये॥
इतने ही माँझ सुनो, सबरी के विराजे आन, गयो अभिमान, चलो पग गहि लीजिये।
आप, रघुनाथ कह्यो "नीर को उपाय कहो", गही पग भीलिनी के छुए स्वच्छ भीजिये॥३७॥

अर्थ—उधर आश्रममें बैठे ऋषि इस चिन्तामें थे कि सरोवरका जल जो खराब होगया है, वह किस तरह ठीक हो। इतनेमें ही उन्होंने सुना कि कहीं वनके मार्गसे श्रीरामचन्द्रजी चले

आ रहे हैं। (ऋषियोंने सोचा) जब प्रभु आवेंगे, तब उन्हींसे इसका कारण पूछेंगे (कि सरोवर का जल रुधिरमय और कीड़ोंसे भरा हुआ कैसे होगया और इसे कैसे शुद्ध किया जाय।) इस बीच ऋषियोंको समाचार मिला कि श्रीरामचन्द्र आ पहुँचे हैं और शबरीके यहाँ ठहरे हैं। यह संवाद सुनते ही उनके ऋषित्वका अभिमान चूर-चूर होगया और एक-दूसरेसे कहने लगे—"आओ चलकर उनके चरणोंमें प्रणाम करें।" कुछ अनिच्छासे, कुछ झिझकते हुए तब वे आये और प्रभुसे कहा—"कोई ऐसा उपाय बताइए, जिससे तालावका पानी शुद्ध हो जाय।" प्रभुने उत्तर दिया—"इस भीलिनीके पैरोंको छूकर अपने अपराधका प्रायश्चित्त करो और तब इन्हें ले जाकर इनके चरणोंका स्पर्श सरोवरके जलसे कराओ। तभी जल निर्मल हो सकेगा और तुम लोग पहलेकी तरह स्नान कर सकोगे।"

भगवान्‌की आज्ञासे शबरीको जलाशयमें प्रवेश कराया गया और उसका स्पर्श पाते ही जल पूर्ववत् निर्मल हो गया। ऋषियोंके आश्चर्यका ठिकाना न रहा। वे भक्तिमती शबरीके महत्त्व को समझ गए। उनके सामने ही शबरीने भगवान्‌की आज्ञा पाकर उस पार्थिव शरीरको त्याग दिया और उनके परम-धामको सिधार गईं।

टीकाकार श्रीप्रियादासजीने सात कवित्तों द्वारा शबरीकी भक्ति-भावना और उसके चमत्कारपूर्ण प्रभावका वर्णन किया है। सेवाकी प्रेरणा शबरीको आश्रमके पवित्र वातावरणसे मिली थी। साधु-सन्तों की परिचर्या-द्वारा ही वह आश्रमकी चर्याका अंग बन सकती थी। अपनी योग्यताके अनुसार उसने यह भी निर्णय कर लिया कि इस सेवाका स्वरूप क्या होना चाहिए और उसे अपना लिया—लेकिन चोरी-चोरी। नीच जातिमें उत्पन्न होनेका अभिशाप जो उसके जीवनसे लगा हुआ था! ऋषिवर मतंगको पहले तो आश्चर्य हुआ—आखिर सेवा और चोरीकी संगति क्या? लेकिन शीघ्र ही सारा रहस्य उनकी समझमें आगया। अवश्य ही यह कोई ऐसा व्यक्ति है, जो अपनी आत्माके परितोषके लिए ही ऐसा करता है। उसे किसीको अनुगृहीत करनेकी जरूरत न थी और न किसी प्रतिदान या पुरस्कारकी ही। शायद सेवा ही उसका साध्य है—एकमात्र लक्ष्य है। शबरीके सामने आते ही उनकी सब शंकाओंका समाधान होगया। अब कुतूहलका स्थान ले लिया आनन्दने और आँखोंसे आँसुओंकी झड़ी लग गई। चले थे दूसरेकी भक्तिका परिचय प्राप्त करने और दे गए परिचय अपना-अपनी श्रद्धाका, अपनी भक्तवश्यताका।

श्रद्धा करनेका कारण था। वह उस जातिमें पैदा हुई थी जिसमें मृगया और शिकारी कुत्तोंकी संगति सामान्य-चर्या है, क्रूरता धर्म है और मांस-भक्षण दैनिक आहार है। इन लोगोंसे ज्यादा निन्दनीय और कौन होगा? उन भीलोंके परिवारका कोई एक व्यक्ति ऐसा हो सकता है, यह किसने सोचा होगा? मतंग मुनिने देखा, उनके सामने शबरी प्रश्नके रूपमें खड़ी थी, लेकिन प्रश्नका उत्तर भी वह स्वयं थी। भगवान् वेदव्यासजीके शब्द उन्हें स्मरण हो आए—

किरातहूणान्ध्रपुलिन्दपुल्कसा आभीरकंकायवनाःखसादयः।
येऽन्ये च पापा यदुपाश्रयाश्रयाः शुध्यन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नमः॥

—किरात (भील), हूण, आन्ध्र आदि निम्न जातिके लोग तथा अन्य सभी पापी जिनके आश्रयमें जाकर शुद्ध हो जाते हैं, वे बड़े समर्थ हैं। नीच-ऊँचका भेद समाजमें देखा जाता है, भगवान्‌के दरबार

में तो सब एक पंक्तिमें खड़े होते हैं । यदि ऐसा नहीं है तो जिन बड़े-बड़े पापियोंको भगवान्‌ने तारा है, उनके पास सिवा भक्तिके और था ही क्या ?

व्याधस्याचरणं ध्रुवस्य च वयो विद्या गजेन्द्रस्य का ?
कुब्जायाः किमु नाम रूपमधिकं किं तत् सुदाम्नो धनम् ?
वंशः को विदुरस्य यादवपतेरुग्रस्य किं पौरुषम् ?
भक्त्या तुष्यति केवलं न हि गुणैर्भक्तिप्रियो माधवः ॥

—भला व्याधका आचरण क्या कोई अच्छा था ? ध्रुवकी अवस्था ही कितनी थी ? गजेन्द्रको क्या ज्ञान था ? कुब्जा कोई असाधारण रूपवती थी क्या ? सुदामाके पास क्या दौलत थी ? विदुर किस उच्च कुलमें पैदा हुए थे और राजा उग्रसेनने क्या कोई पराक्रम दिखाया था ? बात यह है कि भगवान् तो केवल भक्तिसे प्रसन्न होते हैं, न कि गुणोंसे; क्योंकि भक्ति उन्हें सबसे प्यारी है ।

तो क्या शबरीको उनके ऐश्वर्य और भक्त-प्रेमका कुछ ज्ञान था ? क्या उसे पता था कि वे नीच और पतितोंको भी अपनी शरणमें ले लेते हैं ? शायद नहीं । वह तो पवित्र जीवनकी कायल थी । पूर्वजन्मके किसी पवित्र संस्कारके फलस्वरूप वह अब तक इतना ही जान पाई थी, कि उसके अपने वर्गके लोगोंका जीवन इन ऋषियोंके जीवनकी तुलनामें अत्यन्त हेय है । इस ज्ञानके साथ ही उसमें वैराग्य-भावनाका उदय हुआ और वह वनमें एकान्त जीवन बिताने लगी । मुनि-मतंगकी कृपासे जब शबरीको मन्त्र-दीक्षा मिली, तब हुआ पहले-पहल उसे यह ज्ञान कि जिन सन्तोंकी सेवासे उसे इतना सुख मिलता है, वे भी किसीके कृपा-कटाक्षकी बाट देखते रहते हैं और उसकी सेवाके निमित्त इन ऋषियोंका जीवन समर्पित हो चुका है । कौन है वह ? कैसा है ? क्या उसके दर्शन हो सकते हैं ? यह शबरीको कुछ नहीं पता था ।

मुनि-मतंगने शबरीको बताया—"वह भगवान् श्रीरामचन्द्रजी हैं । बड़े कृपालु हैं—इतने कि एक-दिन स्वयं इस आश्रममें पधारकर तुम्हें दर्शन देंगे ।"

मतंगका यह आश्वासन-मात्र नहीं था, बल्कि दृढ़ विश्वास था—यह विश्वास कि जन्म-जन्मान्तर तक तप करनेवाले ऋषि भले ही पिछड़ जायँ, पर शबरीके लिए भगवान् दौड़े आएँगे । ऐसा क्यों ? इस-लिए कि शबरी जानती ही नहीं थी कि अभिमान कहते किसे हैं । नीची जातिमें उत्पन्न होनेका यह एक ऐसा अमूल्य लाभ था, जिससे बड़े-बड़े तपस्वी वंचित रहते हैं । फिर शबरीकी सेवा स्वयं साध्य थी, साधन नहीं । साधुओंकी सेवाकर स्वर्ग जानेकी अभिलाषा उसके पैदा ही नहीं हो सकती थी । स्वर्ग तो भक्ति-विहीन कर्म-धर्म करनेवालोंके लिए सुरक्षित है और मोक्ष ब्रह्मज्ञानियोंके लिए । वह तो बेचारी ज्यादासे ज्यादा मुनियोंका मार्ग बुहार सकती थी ।

—वास्तवमें भगवान्‌को प्रसन्न करनेके लिए इससे सीधा तथा सरल उपाय और कोई है ही नहीं । आदि पुराणमें भगवान्‌ने स्वयं अपने श्रीमुखसे कहा है—

ये मे भक्तजनाः पार्थ न मे भक्ताश्च ते जनाः ।
मद्भक्तानां च ये भक्तास्ते मे भक्ततमा मताः ॥

—मेरी आराधना करनेवाले भक्त मेरे उतने भक्त नहीं हैं, जितने कि वे लोग जो मेरे भक्तोंकी भक्ति करते हैं ।

मतंग-मुनिको यह चिन्ता न थी कि शबरी-जैसी नीच जातिकी स्त्रीको सेविकाके रूपमें अंगीकार कैसे किया जाय । इस सम्बन्धमें उन्हें किसी प्रकारका संशय या संकोच नहीं था; क्योंकि इसका निर्णय

भगवान् स्वयं उद्धवको दे चुके हैं—

भक्त्याहमेकया ग्राह्यः श्रद्धयात्मा प्रियः सताम् । भक्तिः पुनाति मन्निष्ठान् श्वपाकानपि सम्भवान् ॥

—केवल श्रद्धापूर्ण भक्ति द्वारा मुझे प्राप्त किया जा सकता है । मैं साधुओंकी प्रिय आत्मा हूँ । मेरी भक्ति मुझमें श्रद्धा रखनेवाले चांडालोंको भी पवित्र कर देती है ।

तो इस सम्बन्धमें मतंगको कोई दुविधा नहीं थी । उन्हें तो सोच दूसरा ही था—"परो जाय सोच-सोत कैसे कै निकारिए ।" इस शबरीको यह दुख है कि नीच जातिकी होनेके कारण मैं साधु-सेवा की अधिकारिणी नहीं हूँ । सो इसके इस काँटेको कैसे निकाला जाय ? इसका एक ही उपाय था और वह यह कि साहस करके उन रूढ़ियोंको तोड़ फेंका जाय, जो ऋषियोंको पकड़कर बैठ गई हैं । मतंगने यह करके दिखा दिया और संसारके सामने एक आदर्श उपस्थित करके वे सदाके लिए इस लोकसे विदा हुए ।

शबरीके ऊपर यह दूसरी आपत्ति आई । अब तक तो वह भगवान्‌के वियोगमें ही विकल थी; पर इस गुरुके वियोगने तो उसे मानो मथ डाला । सच पूछा जाय तो यह विकलता नहीं थी—व्यथा नहीं थी, बल्कि शबरीकी सद्‌गतिके लिये भूमिका तैयार हो रही थी; क्योंकि भक्तमें जबतक विकलता नहीं पैदा होगी, तब तक भगवान् क्यों मिलने लगे ? आत्म-शुद्धिका यह तो प्रधान साधन है ।

कवित्त संख्या ३० में ऋषियोंके उस अज्ञान और आत्माभिमानका वर्णन किया गया है जिससे बड़े-बड़े ऋषियोंको भी अन्त तक छुटकारा नहीं मिलता । देहाभिमान और आत्माभिमान दोनोंने उन्हें बुरी तरह जकड़ रक्खा था—यहां तक कि भक्त और अभक्तमें की भेद-दृष्टि भी उनकी लुप्त हो चुकी थी । धर्मके बाह्य आचारोंको वे धर्मकी आत्मा समझ बैठे थे । हृदयमें छूआछूतकी संकीर्णता अभी बाकी थी । ऐसेमें दिल्ली अभी दूर थी । प्रभु श्रीरामचन्द्रजी जब आश्रममें पधारे, तब तक भी इनका क्षोभ शान्त नहीं हुआ था । कैसी विचित्र बात है ! भगवान्‌के सामने जब ये आए, तब इन्होंने न शरणमें लेनेकी प्रार्थनाकी और न सद्‌गतिकी कोई अभिलाषा प्रकट की । बस, एक ही धुन सवार थी—"नीर को उपाय कहो ।" वह अवसर था इन ऋषियोंकी आँखें खोलनेका । भगवान्‌ने अपनी व्यवस्था देदी—"गहो पग भीलनी के ।" विषको विष मारता है; काँटा काँटेसे निकलता है । अभिमानको मारनेका एक ही उपाय है—अपनेको तृणसे भी तुच्छ समझो, शबरीसे भी हीन । अपराध तुमने किया है तो प्रायश्चित्त कौन करेगा?

भगवान्‌ने ऋषियोंसे शबरीके चरण छूनेको जो कहा, वह केवल इसलिये नहीं कि ऐसा करनेसे उनके अन्तःकरणकी शुद्धि होगी। साथ-ही-साथ वह उस आदर्शकी भी स्थापना करना चाहते थे, जिसका वर्णन गो० तुलसीदासजीने नीचे लिखे दोहेमें किया है—

तुलसी रामहि ते अधिक राम-भक्त जिय जान,
साहिब ते सेवक बड़ो जो निज धर्म सुजान ।
राम बाँधि उतरे उदधि कूदि गयो हनुमान ॥

सन्तोंका जो एक बारका अपराधी है, वह भगवान्‌की दृष्टिमें लाख बारका दोषी है । देखिए—

जो दोषी है सन्त को हरि-दोषी लख बार ।
भजन करत, सेवा करत बूड़ैगो मँझधार ॥
कोटि जन्म सेवो हरी, सन्तनि सों करि रोष ।
हरि कबहूँ रीझैं नहीं, दिन-दिन बाढ़ै दोष ॥ (स्वा० ललितकिशोरीजी

अधिक बढ़ायत आपसे जन-महिमा रघुबीर ।
शबरी पदरज परसते स्वच्छ भयो सरनीर ॥

इस प्रसंगमें भागीरथीका चरित्र भी उल्लेखनीय है । राजा भगीरथ जब गंगाजीको स्वर्गसे पृथ्वीतल पर लाए, तो गंगाजीने पूछा—"राजन् ! यह तो बताइए कि संसारके पापी तो मुझमें स्नान कर शुद्ध हो जायेंगे, पर मैं उनके पापोंका बोझ किस प्रकार सह सकूँगी ?" भगीरथने उत्तर दिया—"गंगे ! भगवान् के प्रिय भक्त सारे संसारको पवित्र करते हैं, उनके अंग-स्पर्श से ही तुम्हारे वे सारे पाप नष्ट हो जायेंगे ।

अब हम (कवित्त-संख्या ३६ में वर्णन किए) उस अंशपर आते हैं जिसमें कि आश्रममें बैठकर शबरीके दिए फल खानेके बाद प्रभु श्रीरामचन्द्रजीने कहा—"कहा कहौं मेरे मग दुख नाशे हैं ।" इस समस्त प्रसंगमें भगवान्के मुखारविन्दसे निकले हुए ये शब्द तनिक ध्यान देने योग्य हैं । प्रभुने शबरीकी सेवासे प्रसन्न होकर उससे कोई वर माँगनेको नहीं कहा और न उसे अपनी भक्ति में निरन्तर लीन रहने का उपदेश किया । लगता है, जैसे भगवान् इस सम्बन्धमें काफी सतर्क रहे कि शबरीको उनके ऐश्वर्य या महिमा का ज्ञान न हो जाय । यदि ऐसा हो गया—यदि कहीं शबरीको इस बात की झलक भी मिल गई कि श्रीरामचन्द्रजी परब्रह्म हैं, तो प्रभुके और शबरीके बीचमें उनकी विशाल सत्ता दीवार बन कर खड़ी हो जायगी । शबरीके हाथों बेर खानेमें जो आनन्द था, वह ब्रह्म-ज्ञानके करोड़ों उपदेशोंमें भी नहीं मिल सकता था । प्रभुकी प्रभुताके आतंकके नीचे तो वह बेचारी दबकर रह जाती । भगवान्ने सोचा, "इस भीलिनीके भोले हृदयके सौन्दर्यको किसी भी मूल्यपर नष्ट नहीं होने देना चाहिए । और तो और, इसे यह भी नहीं मालूम होने देना चाहिए कि मैंने इसे अनुगृहीत किया है ।" इसीलिए उन्होंने यह कहा—"क्या बताऊँ, यहाँ आकर तो मेरी रास्ते की सब थकावट दूर हो गई ।" अभिप्राय यह था कि शबरीको निहाल करने का तो प्रश्न ही नहीं उठता था । वहाँ जाकर तो, उल्टे वह स्वयं लाभान्वित हुए । भगवान्की इसी विशेषता को ध्यानमें रखकर किसी कविने ठीक ही कहा है—

मीठे-मीठे चाखि-चाखि बेर लाई भीलनी ।
कौन-सी आचारवती, नहीं रूप-रंग-रती, जातिहू में कुलहीन कही है कुचीलनी ।
जूठे फल खाये, राम सकुचे न भाव जानि, तुम तो प्रभु ऐसी करी रस की रसीलनी ॥
कौन-सी तपस्या कीनी वैकुण्ठ-पदवी दीनी, विमान में चढ़ी जात ऐसी है सुशीलनी ।
सांची प्रीति करे कोई 'अमरदास' तरे सोई, प्रीति ही सों तरि गई गोकुल-अहीरनी ॥

जिन गोपियोंकी बात ऊपरके पदमें कही गई है, उनसे तो श्रीकृष्णने स्पष्ट कहा था कि मैं तुम लोगोंका ऋणी हूँ । यह उदारता सिवा प्रभुके और किसमें हो सकती है ?

श्रीजटायुजी

जटायु विनतानन्दन अरुणके पुत्र थे । उनका एक भाई था जिसका नाम था सम्पाती । एक बार दोनों भाई उड़ानकी होड़ लगाकर आकाशमें बहुत ऊँचे उड़ गए, किन्तु जब सूर्यकी गर्मी असह्य होने लगी तब जटायु तो नीचे उतरकर पञ्चवटीपर रहने लगे, पर सम्पाती सूर्यके पास तक पहुँच गया । भला सूर्य की प्रचण्ड गर्मीको वह कैसे सहन कर सकता था ? उसके पंख झुलस गए और वह आकाशसे गिरकर सागरके किनारेपर आ पड़ा । उधर पंचवटीवासी जटायुसे वनवासके समय भगवान् श्रीरामचन्द्रजीकी भेंट हुई । श्रीरामचन्द्रजीने, पूज्य पिताजीके साथी होनेके कारण पक्षिराज जटायुका बड़ा सम्मान किया ।

भक्तिरस-बोधिनी

जानकी हरण कियो रावण मरण काज, सुनि सीता-वाणी खगराज दौरचो आयो है।
बड़ी ये लराई लीन्ही, देह वारि फेरि दीन्ही राखे प्राण, राम-मुख देखिबो सुहायो है ॥
आये आप, गोद सीस धारि दृग-धार सींच्यो, दई सुधि, लई गति, तनहू जरायो है।
दशरथवत् मान, कियो जल दान, यह अति सनमान, निज रूप धाम पायो है ॥३८॥

अर्थ—जब रावणने प्रभु श्रीरामचन्द्रजीके हाथसे मरनेके लिये दंडकवनमें से सीताका अपहरण किया, तो सीताजीका विलाप सुनकर पक्षियोंके राजा जटायुजी दौड़कर आये। उन्होंने रावणके साथ भयंकर युद्ध किया और अन्तमें अपने प्रभुके निमित्त अपना शरीर-बलिदान कर दिया। आप अन्तिम समयमें श्रीरामचन्द्रजीके मुखारविन्दका दर्शन करना चाहते थे, अतः शीघ्र प्राण नहीं त्यागे। इतनेमें (सीताजीको खोजते हुए) श्रीरामचन्द्रजी घटना-स्थल पर आये और जटायुके मस्तकको अपनी गोदमें रखकर उसे प्रेमपूर्ण आँसुओंसे भिगो दिया। जटायु इसके बाद श्रीरामजीको सीताजीका समाचार देकर सद्गतिको प्राप्त हुए। श्रीरामचन्द्रजीने ही अपने हाथों जटायुका दाह-संस्कार किया और उन्हें अपने पूज्य पिता दशरथजीके समान मानकर अत्यन्त सम्मानके साथ तर्पण किया। इस प्रकार जटायुको स्वयं श्रीरामचन्द्रजीने अपने धाम वैकुण्ठ को पहुँचा दिया।

जटायुको श्रीदशरथके समान जो सम्मान दिया गया, उसका कारण यह था कि जटायुकी श्रीदशरथजीसे परम मित्रता थी। कहते हैं, एक बार श्रीदशरथजीके राज्यमें जलका दुर्भिक्ष पड़ गया। इसकी व्यवस्था करनेके लिये श्रीदशरथजी पहले इन्द्रके पास पहुँचे। इन्द्रने उन्हें शनिके पास भेजा। शनिने उनके साथ अत्यन्त बुरा बर्ताव किया—यहाँतक कि रथ-सहित उन्हें स्वर्गसे धकेल दिया। स्वर्गसे गिरते हुए श्रीदशरथजीको एक पर्वतकी शिखरपर बैठे हुए जटायुने थाम लिया और इस प्रकार उनकी प्राण-रक्षा की। तभीसे दोनोंके बीच अगाध प्रीति होगई थी। इसी सम्बन्धके कारण श्रीरामचन्द्रजी ने जटायुको अपने पिताके तुल्य माना।

जटायुके प्रति श्रीरामजीके स्नेहके सम्बन्धमें कवियोंने अनेक सुन्दर छन्दोंकी रचना की है। उनमें से कुछ यहाँ दिये जाते हैं—

दीन मलीन अधीन ह्वै अंग बिहंग परेउ छिति छिन्न दुखारी।
राघव दीन दयालु कृपालु को देखि दुखी करुणा भई भारी ॥
गीध को गोद में राखि कृपानिधि नैन-सरोजनि में भरि बारी।
बारहिं बार सुधारत पंख, जटायु की धूरि जटान सों झारी ॥१॥

श्री रघुनाथ जू लै कर हाथ निहारैं औ नैननि ते जल ढारैं।
एक ह्वै बात है सीता पिया कै सो काहू सनेह-कथा कै बिचारैं ॥
तजि मोहि चले तजि मोको तुम्है, हमैं सोहि सिधारे है संग सिधारैं।
यों कहि राम गरे भरि फेरि जटायु की धूरि जटान सों झारैं ॥२॥

श्रीअम्बरीषजी

परम भागवत राजा अम्बरीष वैवस्वत मनुके प्रपौत्र तथा राजर्षि नाभाग के पुत्र थे। सप्तद्वीपवती इस सम्पूर्ण पृथ्वीके स्वामी होनेके कारण वे अतुल ऐश्वर्य तथा अपार भोग-सामग्रीके अधिकारी होकर भी विषयोंमें बिल्कुल अनासक्त और वैराग्यवान् थे। वास्तवमें जिसने श्रीहरिकी उस अमर और अपरिमित रूपमाधुरीका पान किया है, उसे मायाकी मोहकता करीलके फूलके समान सार-हीन और असत्य प्रतीत होती है। अतएव वे दिन-रात भगवान्‌के ध्यानमें तल्लीन रहते थे। उनका मन समस्त सांसारिक वासनाओंसे दूर रहकर सदा भगवान्‌के चरणारविन्दका चंचरीक बना रहता था। उन्हें न अपने राजत्वका अभिमान था, न शरीरका ध्यान। इसीसे अपने इस प्रियभक्तकी रक्षाके लिए भगवान्‌ने सुदर्शन चक्रको नियुक्त कर रखा था।

एक बार भक्तवर राजा अम्बरीषके यहाँ द्वादशीके दिन ऋषि दुर्वासा पधारे। राजाने उचित शिष्टाचारके बाद जब उनसे भोजन करनेकी प्रार्थना की तो वे बोले—"हम अभी स्नान करके आते हैं, तब भोजन करेंगे।" संयोग ऐसा हुआ कि द्वादशी उस दिन दो ही दण्ड थी। अतः इस भयसे कि ऋषिके आते-आते पारायण-वेला निकल न जाय, राजाने ब्राह्मणोंके परामर्शसे भगवान्‌का चरणोदक ग्रहण कर लिया। जब दुर्वासाजीको यह ज्ञात हुआ तो उन्होंने समझा कि राजाने उनकी अवज्ञा की है। राजाकी भक्ति-भावनासे समस्त साधु परिचित थे। उन्होंने कहा—

भक्ति-रस-बोधिनी

> **अम्बरीष भक्त की जो रीस कोऊ करै और, बड़ो मतिबौर किहूँ जान नहीं भाखिये।**
> **दुरवासा रिषि सीख लुनी नहीं काहू साधु, मानि अपराध सिर जटा खैंचि नाखिये॥**
> **लई उपजाइ कालकृत्या विकरालरूप, भूप महाधीर रह्यौ ठाढ़ो अभिलाखिये।**
> **चक्र दुख मानि लै कृशानु तेज रास करी, परी भीर ब्राह्मण को भागवत साखिये॥३६॥**

अर्थ—"महाराज अम्बरीषकी भक्तिकी यदि और कोई समानता करे तो उसे महान् निर्बुद्धि समझना चाहिये; क्योंकि उनकी भक्ति-भावनाका किसी प्रकार वर्णन नहीं किया जा सकता।"

दुर्वासा ऋषिने किसी साधुकी शिक्षाको नहीं माना और राजाको अपराधी समझ लिया। इसीलिए राजाके ऊपर कुपित होकर उन्होंने अपनी जटाओंको खोलकर पृथ्वीपर पटक दिया। फिर उन्होंने भयंकर कृत्याको उत्पन्न करके उसे राजाको भस्म करनेकी आज्ञा दी। राजा यह सब देखकर भी तनिक विचलित नहीं हुआ, बल्कि ऋषिको प्रसन्न करनेकी अभिलाषा लेकर खड़ा ही रहा। भगवान्‌के सुदर्शन चक्रने (जो कि राजाकी रक्षाके लिए सदा आस-पास ही रहता था) इसपर बड़ा दुःख अनुभव किया और अग्निके समान अपने प्रचण्ड तेजसे कृत्याको जलाकर भस्म कर दिया। (इतना कर चुकनेके बाद) सुदर्शन-चक्र अब ब्राह्मण दुर्वासाकी ओर दौड़ा। दुर्वासा अपनी जानपर बन आई देख वहाँसे भाग खड़े हुए। श्रीमद्भागवतमें यह प्रसंग इसी प्रकार वर्णित हुआ है।

भक्ति-रस-बोधिनी

भाज्यो दिशा-विशा सब लोक लोकपाल पास, गयो नयो तेज चक्र चून किये डारे हैं।
ब्रह्मा शिव कही यह गही तुम टेव बुरी, दासन को भेद नहीं जान्यो वेद धारे हैं॥
पहुँचे बैकुण्ठ जाय कह्यो दुःख अकुलाय, हाय! हाय! राखो प्रभु! जरो तन जारे हैं।
मैं तो हौं अधीन तीन गुन को न मान मेरे, भक्त-वात्सल्य गुन सब ही को टारे हैं॥४०॥

अर्थ—सुदर्शन-चक्रसे डरकर दुर्वासा ऋषि चारों दिशाओं तथा तीनों लोकोंमें भागते फिरे और यम, इन्द्र, वरुण, कुबेर—इन चारों लोकपालोंकी शरणमें गए, लेकिन किसीने भी नहीं बचाया। चक्रका प्रतिक्षण तीव्र होता हुआ तेज (ज्वाला) ऋषिको जलाकर चूर-चूर किये डालता था। अन्तमें जब ब्रह्मा और शिवकी शरणमें गये, तो उन्होंने कहा—"ऋषिवर! यह तुम्हारी बड़ी बुरी आदत हो चली है कि भगवानके प्रिय भक्तोंका गुण वेद भी गाते हैं, उनका वास्तविक भेद (रहस्य) न समझकर तुम उनसे उलझ जाते हो।" इसके अनन्तर दुर्वासाजी बैकुण्ठमें पहुँचे और दुःखसे घबड़ाकर त्राहि! त्राहि!! करते हुए उन्होंने हरिसे पुकार की—'भगवन्! मेरी रक्षा कीजिए; यह चक्र तो मेरे अंगोंको जलाये डाल रहा है! (हे प्रभो! शास्त्र बतलाते हैं कि आप शरणागत-पालक हैं, भक्तजन-आर्तिनाशक हैं और ब्रह्मण्यदेव हैं। मैं आपके इन तीनों गुणों द्वारा रक्षा किए जानेका पात्र हूँ; क्योंकि इस समय आपकी शरणमें आया हूँ, चक्र-द्वारा सताया गया हूँ और ब्राह्मण हूँ।') भगवान्ने उत्तर दिया—"ऋषे! आप ठीक कहते हैं; पर क्या करूँ, मैं लाचार हूँ। मैं तो स्वतन्त्र नहीं हूँ—भक्तोंके अधीन हूँ। रही शरणागत-पालकता आदि गुणोंकी, सो उनका महत्त्व मेरे लिए अधिक नहीं है; क्योंकि भक्त-वत्सलता एक ऐसा गुण है जिसके सामने ये तीनों गुण तुच्छ पड़ जाते हैं।"

भक्ति-रस-बोधिनी

मोकों अति प्यारे साधु उनकी अगाध मति, करचो अपराध तुम सह्यो कैसे जात है?
धाम, धन, बाम, सुत, प्राण, तनु त्याग करें, ढरें मेरी ओर निसि भोर मोसों बात है॥
मेरेउ न सन्त बिनु और कछु साँची कहौं, जाओ वाही ठौर जाते मिटै उतपात है।
बड़ेई दयाल सदा दीन प्रतिपाल करें, न्यूनता न धरें कहूँ भक्ति गात गात है॥४१॥

अर्थ—भगवान्ने कहा—"साधु-जन मुझे अत्यन्त प्रिय हैं; क्योंकि उनकी मुझमें अगाध श्रद्धा है। तुमने मेरे उन्हीं भक्तोंके प्रति अपराध किया, यह भला मैं कैसे सहन कर सकता हूँ? भक्त-गण मेरे लिए अपना घर-द्वार, स्त्री-पुत्र, प्राण और शरीर सब कुछ त्याग देते हैं और सब प्रकारसे मेरे हो जाते हैं। रात-दिन मेरे सम्बन्धकी चर्चा करनेके अतिरिक्त उनके और कोई काम नहीं है। सच बात तो यह है कि मेरे पास भी इन सन्तोंकी देख-भालके अतिरिक्त और कुछ काम नहीं है। इसलिए अब तुम उन्हीं अम्बरीषकी शरणमें जाओ जिससे कि यह सब उपद्रव शान्त हो। (तुम्हें यह संकोच नहीं करना चाहिए कि अम्बरीष तुम्हें क्षमा नहीं करेंगे) वे बड़े

दयावान् और शरणमें आये हुए दीनोंका पालन करनेवाले हैं । उनकी आत्मामें द्रोह, मात्सर्य-जैसी किसी बुरी भावनाके लिए स्थान नहीं है, क्योंकि उनका अङ्ग-अङ्ग मेरी भक्तिसे परिपूर्ण है।"

—भगवान्के उक्त कथनका समर्थन शास्त्रोंके वचनसे भी प्रमाणित होता है । ब्रह्मवैवर्त पुराणमें लिखा है—

लक्ष्मीः प्राणाधिका शश्वन्नास्ति कोऽपि ततोऽधिका ।
भक्तान् द्वेष्टि स्वयं सा चेत् तूर्णं त्यजति तां विभुः ॥

—लक्ष्मीजी भगवान्को प्राणोंसे भी प्यारी हैं—उनसे अधिक प्रिय उन्हें और कोई नहीं है । किन्तु यदि वे भी भक्तोंसे वैर करने लगें, तो भगवान् उनको भी तुरन्त त्याग देंगे ।

शिवजीका कथन है—

महति प्रलये ब्रह्मन् ब्रह्माण्डेऽपि जलप्लुते ।
न तत्र नाशो भक्तानां सर्वेषां च भविष्यति ॥

—चाहे सर्वत्र प्रलय हो जाय और समस्त ब्रह्माण्ड जलमें डूब जाय, किन्तु ऐसी स्थितिमें भी भक्तोंका नाश नहीं हो सकता है ।

भक्ति-रस-बोधिनी

ह्वै करि निरास ऋषि आयो नृप पास चल्यो, गर्ब सों उदास पग गहे दीन भाख्यो है ।
राजा लाज मानि मृदु कहि सनमान करयो, ढरयो चक्र ओर कर जोर अभिलाख्यो है ।।
भक्त निसकाम कभूं कामना न चाहत हैं, चाहत हों विप्र दूरि करो दुख चाख्यो है ।
देखि कै विकलताई सदा सन्त सुखदाई, आई मनमांझ सब तेज ढांकि राख्यो है ।।४२।।

अर्थ—(ऊपर कहे गए हरिके वचनोंको सुनकर) ऋषि दुर्वासा निराश होकर तथा अभिमानसे उदासीन होकर—अर्थात् अपने अभिमानको तिलांजलि देकर—वहाँसे चल दिये और राजा अम्बरीषके पास आये । आते ही ऋषिने राजाके पैर पकड़ लिए और दीनता-भरी वाणीसे क्षमा माँगी । इस पर राजाको बड़े संकोचका अनुभव हुआ । उन्होंने कोमल वचनोंसे मुनिका आदर-सम्मान किया और तब सुदर्शन चक्रकी ओर मुँह करके हाथ जोड़कर इस प्रकार अपनी अभिलाषा प्रकट करते हुए प्रार्थना की—"हे सुदर्शनदेव ! भगवान्के भक्तोंको कुछ नहीं चाहिए—उनकी कोई अभिलाषा नहीं होती—तो भी मैं इतनी अवश्य प्रार्थना करूँगा कि इन ब्राह्मणने बहुत दुःख भोग लिया है, अतः अब आप इनका दुःख दूर करिए ।" भक्त-जनोंको सुख देनेवाले सुदर्शन-चक्रके मनमें राजाकी प्रार्थना सुनकर तथा उन ब्राह्मण दुर्वासाको अत्यन्त घबड़ाया हुआ देख कर दया आ गई और उन्होंने अपने सब तेजको समेट लिया ।

भक्ति-रस-बोधिनी

एक नृप सुता सुनि अंबरीष भक्ति-भाव, भयो हिय भाव ऐसो बर कर लीजियै ।
पिता सौं निशंक ह्वै के कही पति कियो मैं ही, विनय मानि मेरी बेग चीठी लिख दीजियै ।।
पाती लै कै चल्यो विप्र छिप्र वही पुरी गयो, नयो चाव जान्यो ऐपै कैसे लिया भीजियै ।
कही तुम जाय रानी बैठी सत आय, मोको बोल्यो न सुहाय प्रभु सेवा मांझ भीजियै ।।४३।।

अर्थ—राजा अम्बरीषकी भगवान्‌में ऐसी भक्ति देखकर किसी राजाकी लड़कीके हृदयमें यह विचार आया कि उन्हें पति-रूपमें वरण करना चाहिए—अर्थात् उनके साथ विवाह कर लेना चाहिये। ऐसा निश्चय करके उसने बिना किसी संकोच और लज्जाके अपने पिताजीसे कहा—"मैंने अम्बरीषको अपना पति मान लिया है, अतः मेरी विनय मानकर राजाको इस आशय का एक पत्र लिख दीजिये।" एक ब्राह्मण इस प्रकारका पत्र लेकर चला और शीघ्र ही उस नगरीमें पहुँच गया जहाँ अम्बरीष रहते थे। राजाने पत्र पढ़कर ब्राह्मणसे कहा—"मैंने राज-कन्या की इस नूतन अभिलाषा को समझ लिया है, पर इतनेपर भी मैं कैसे उसे पत्नीके रूप में स्वीकार करूँ? तुम उससे जाकर कहना—"मेरी तो पहले ही सौ रानियाँ घरमें बैठी हैं। उनसे मुझे बातें करना तक अच्छा नहीं लगता, क्योंकि मैं तो प्रभुकी सेवामें दिन-रात लगा रहता हूँ और उन्हींके रंगमें सराबोर हूँ।"

भक्ति-रस-बोधिनी

कह्यो नृपसुता सों कीजिये यतन कौन, पौन जिमि गयो आयो काम नाहीं बिया को।
फेरिकै पठायो सुख पायो मैं तो जान्यो वह, बड़े धर्मज्ञ काके लोभ नाहीं तिया को॥
बोली अकुलाय मन भक्ति ही रिझाय लियो, कियो पति मुख नहीं देखौं और पिया को।
जाइ के निशंक यह बात तुम मेरी कहौ, चेरी जो न करो तो पै लेवो पाप जिया को॥४४॥

अर्थ—ब्राह्मणने राजाके यहाँसे लौटकर कहा—"अब क्या उपाय किया जाय? मैं हवा की तरह गया और आया, पर काम रत्तीभर (बियाभर) भी नहीं हुआ। राज-कन्याने ब्राह्मण को फिर वापिस करते हुए कहा—"राजाका उत्तर सुनकर मुझे बड़ा आनन्द हुआ। मैंने समझ लिया कि वे बड़े धर्मात्मा हैं और उन्हें स्त्रीका कोई लोभ नहीं है।" वह घबड़ाकर फिर कहने लगी—"उनकी भक्तिने ही मुझे उनपर लट्टू कर दिया है और मैं उन्हें अपना पति बना चुकी हूँ। अब मैं और किसी दूसरे पुरुषका मुँह नहीं देखूँगी। तुम साफ-साफ उनसे कह देना—यदि मुझे वे अपनी दासी नहीं बनायेंगे, तो मेरे प्राण लेनेके पापके भागी बनेंगे।"

भक्ति-रस-बोधिनी

कही विप्र जाय सुनि चाय महराय गयो, दयो लै खड्ग यासों फेरा फेरि लीजियै।
भयो जु विवाह उछाह कहूँ मात नाहिं, आई पुर अम्बरीष देखि छबि भीजियै॥
कह्यो नव मन्दिर में भारि कै बसेरा देवो, देवो सब भोग विभो नाना सुख कीजियै।
पूरब जनम कोऊ मेरे भक्ति गन्ध हुती, याते सनबंध पायो यहै मानि धीजियै॥४५॥

अर्थ—ब्राह्मणने फिर जाकर राजासे राजकन्याका संकल्प कहा, तो अम्बरीष उसका ऐसा प्रेम देखकर अधीर हो उठे और ब्राह्मणको अपनी तलवार देते हुए कहा—"इसके साथ भाँवर डाल लेना।" विवाह हो जानेपर राज-कन्या आनन्दके कारण फूली नहीं समाई। वह अब अपने पतिके नगरको आई। अम्बरीषने राज-कन्याकी प्रेम-पूर्ण रूप-माधुरीको देखा तो (यह सोच

र कि मेरी तरह यह भी भगवान्‌की भक्त है) आनन्दसे विह्वल हो गये । उन्होंने अन्तःपुरकी विकाओंको आज्ञा दी—"नये मन्दिरमें इनके रहनेका प्रबन्ध करो और सब प्रकारके भोग-विलास साधन प्रस्तुत करो, जिससे कि ये विविध प्रकारके सुख भोग सकें । मैं तो ऐसा मानता हूँ क मेरा और इनका पूर्व जन्मका कोई भक्ति-भावना-प्रधान सम्बन्ध है, इसी कारण मैंने इन्हें इस रूपमें प्राप्त किया है ।"

भक्ति-रस-बोधिनी

रजनी के सेस पति-भौन में प्रवेश कियो, लियो प्रेम साथ, ढिग मन्दिर के आइये ।
बाहिरी टहल पात्र चौका करि रीझि रही, गही कौन आय जामें होत न लखाइये ॥
आवत ही राजा देखि लगे न निमेष क्यों हूँ, कौन चोर आयो मेरी सेवा ले चुराइये ।
देखी दिन तीनि, फेरि चीन्ह के प्रवीन कही, ऐसो मन जो पै प्रभु माथे पधराइये ॥४६॥

अर्थ—एक दिन रातके अन्तिम प्रहरमें रानीने अकेले—केवल पतिके प्रेमको साथ लेकर—पतिके महलमें प्रवेश किया और भगवान्‌के मन्दिरके पास पहुँचकर ऊपरी सेवा—अर्थात् ठाकुरजीके बर्तन माँजना, चौका लगाना आदि करके मनमें प्रसन्न होती हुई अपने महलोंको चली आई, जिससे कि कोई देख न ले । इस प्रकार रातमें चुपचाप सेवा करते हुए रानीको कौन पकड़ता ? राजाने यह देखा तो बड़ा चकित हुआ । अब रातको उनके पलक कैसे लगते ? वह तो इस सोचमें थे कि यह कौन चोर है, जो इस प्रकार-चुपकेसे मेरी सेवा-सम्पत्तिको चुरा ले जाता है ? तीन दिन तक राजाने छुपकर देखा और रानीको पहिचानकर कहा—"यदि भगवान् की सेवामें तुम्हारी ऐसी रुचि है तो अपने सिरपर ही सेवाका भार क्यों नहीं ले लेतीं; अर्थात्—अपने महलोंमें ही एक मन्दिर बनवालो और वहीं सेवा किया करो ।"

भक्ति-रस-बोधिनी

लई बात मानि मानो मंत्र लै सुनायो कान, होत ही बिहान सेवा नीकी पधराई है ।
करति सिंगार फिर आपु ही निहारि रहै, लहै नहीं पार दृग झरी-सी लगाई है ॥
भई बढ़वार राग-भोग सों अपार भाव, भक्ति-विस्तार-रीति पुरी सब छाई है ।
नृप हू सुनत भव लागी चोप देखिबे की, आए ततकाल मति अति अकुलाई है ॥४७॥

अर्थ—राजाकी बात रानी इतनी जल्दी मान गई, मानो गुरु-मंत्र कानमें पड़ गया हो । प्रातः काल होते ही रानीने अपने मन्दिरमें ठाकुरजीकी मूर्तिको विधिपूर्वक विराजमान कर दिया । ठाकुरजीका शृङ्गार वह अपने हाथों करती और उनकी सुन्दर शोभाको एकटक निहारा करती । ठाकुरजीकी युगलमूर्ति उसे प्रतिक्षण और भी सुन्दर होती हुई दीख पड़ती और इस प्रकार उनकी अनन्त छविको देखते-देखते उसकी तृप्ति ही नहीं होती थी । आनन्दकी अधिकतासे रानीकी आँखोंसे आँसुओंकी झड़ी-सी लग जाती । धीरे-धीरे श्रीकृष्ण-प्रेममें रानीका हृदय डूबता ही चला गया और उनके भोग-रागमें रुचि दिन-दूनी बढ़ती चली गई । परिणाम यह हुआ कि रानीकी बढ़ती हुई

भक्तिकी कहानी और भगवान्की उपासना करनेकी उसकी रीतिकी चर्चा सारे नगरमें फैल गई। राजाके कानोंमें जब यह बात पहुँची तो उनकी भी रानीके ठाकुरके दर्शन करनेकी इच्छा इतनी प्रबल हुई कि वे एकदम अधीर हो उठे।

भक्ति-रस-बोधिनी

हरे हरे पाँव धरें, पौरियान मने करें, खरे अरबरे, कब देखौं भागभरी कों।
गए चलि मन्दिर लौं, सुन्दरि न सुधि अंग, रंग भीजि रही, दृग लाइ रहे झरी कों॥
बीन लै बजावै, गावै, लालन रिझावै, त्यों-त्यों अति मन भावै, कहै धन्य यह घरी कों।
द्वार पै रह्यौ न जाय, गए ढिग ललचाय, भई उठि ठाढ़ी देखि राजा गुरु हरी कों॥४८॥

अर्थ—राजा धीरे-धीरे पैर रखते हुए (कि आहट होनेसे रानीको पता न लग जाय) और द्वारपालोंसे (इशारेसे) मना करते हुए (कि मेरे आनेकी सूचना देनेकी जरूरत नहीं है) मन्दिरके पास पहुँचे। उनका मन ऐसी सौभाग्य-शालिनी रानीको देखनेके लिए अत्यन्त आतुर हो रहा था। जाकर क्या देखते हैं कि रानीको अपने शरीरका भी होश नहीं है, भगवान्के प्रेमानन्दमें वह सराबोर है और आँखोंसे अनवरत आँसू गिर रहे हैं। वीणा बजाती हुई और भगवान्का गुण-गान करती हुई वह अपने लाल (प्यारे) को प्रसन्न कर रही है। राजाने ज्यों-ज्यों इस दृश्यको देखा, त्यों-ही-त्यों रानी उन्हें अधिकाधिक प्यारी लगने लगी और वह मन में कहने लगे—"अहोभाग्य मेरे जो यह समय देखनेको मिला।" उनसे अब दरवाजे पर खड़ा न रहा गया। भगवद्-दर्शनका और भी निकटसे आनन्द लेनेके लिये वे ललचाकर रानीके पास ही जा खड़े हुए। राजाको देखकर रानी उठकर खड़ी हो गई, क्योंकि वह उसके पति, गुरु और हरि तीनों थे।

यहाँ शंका हो सकती है कि यदि रानी भगवान्के ध्यानमें इतनी मग्न थीं कि उन्हें अपने अङ्गोंकी भी सुधि भूल गई थी, तो राजाकी उपस्थितिका पता उन्हें कैसे लग गया? इसका समाधान करनेके लिए प्रियादासजीने लिखा है—'देखि राजा, गुरु, हरी को।' पहले तो राजा होना कोई साधारण बात नहीं। राजामें ईश्वरीय अंश रहता है। भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें इसी लिए कहा है—"नराणां च नराधिपः।" अर्थात्—मैं मनुष्योंमें राजा हूँ। दूसरे, अम्बरीष केवल राजा ही नहीं थे, वे गुरु भी थे, क्योंकि उन्होंने ही रानीको अपना निजी ठाकुर-विग्रह विराजमान कर सेवा करनेका उपदेश दिया था। यह एक प्रकारकी दीक्षा ही थी। भला गुरुके आगमनकी अवहेलना रानी कैसे कर सकती थी? वह तो एक भारी अपराध होता। तीसरे, पति और गुरु होनेके कारण राजा श्रीकृष्ण-तुल्य थे।

भक्ति-रस-बोधिनी

वैसे ही बजाओ बीन तानिनि नवीन लैकै, भीन सुर कान परें जात मति खोइए।
वैसे रंग भीजि रहौं कही सो न जाति मो पै, ए पै मन नैन चैन कैसे करि गोइए॥
करि कै अलापचारी फेरि कै सँभारि तन, आइ गयो स्याम रूप ताहि मांझ भोइए।
प्रीति रसरूप भई, राति सब बीति गई, नई कछु रीति अहो! जा में नहिं सोइए॥४९॥

अर्थ—(अपने आनेसे रानीकी सेवामें जो विघ्न पड़ा, वह राजासे देखा नहीं गया। रानीको खड़े होनेसे रोकते हुए) राजाने कहा—"नई-नई तान लेकर जिस प्रकार वीणा बजा रही थीं, वैसे ही बजाती रहो, ताकि तुम्हारे गाने-बजानेका मधुर और भीना स्वर मेरे कानोंमें पड़ता रहे। मेरा मन तथा बुद्धि इस संगीतमें खो गये हैं—अर्थात् मेरा सारा अस्तित्व संगीतमें डूब गया है। भगवान्के प्रेम-रंगमें तुम जिस प्रकार भीग रही हो, उसका बखान मुझसे नहीं हो सकता। ऐसी दशामें मेरे मन तथा नेत्रोंको जो शान्ति, जो सुख मिल रहा है, उसे मैं कैसे छिपा सकता हूँ? (वाणीसे उस आनन्दका वर्णन भले ही न किया जा सके, पर मेरे हृदय और नेत्र तो उसे स्पष्ट बता रहे हैं)।" इस बार रानीने अलापचार करके और तानको सँभालकर फिरसे जो गाया, तो रानी और राजाके ध्यानमें भगवान्की अनुपम रूप-माधुरीकी छवि ज्यों-की-त्यों उतर आई और वे दोनों उसीमें लीन हो गए। दोनोंकी भगवद्-विषयक प्रीति अब शुद्ध आनन्द-स्वरूपा हो गई और इसी प्रकार उस अनुरागके समुद्रमें डूबते-उतराते सारी रात बीत गई और पता भी न लगा। प्रीतिकी रीति कुछ ऐसी ही अनोखी है। उसमें नींद कहाँ?

भक्ति-रस-बोधिनी

बात सुनी रानी और राजा गए नई ठौर, भई सिरमौर अब कौन वाकी सर है।
हम हूँ लै सेवा करें, पति-मति वश करें, धरें नित्य ध्यान विषय-बुद्धि राखी धर है॥
सुनि कै प्रसन्न भये अति अम्बरीष ईस लागी चोप फैल गई भक्ति घर-घर है।
बढ़ै दिन-दिन चाव, ऐसोई प्रभाव कोई, पलटै सुभाव होत आनँद को भर है॥५०॥

अर्थ—और रानियोंने जब सुना कि राजा पिछली रात नई रानीके मन्दिरमें गए थे और रात-भर वहीं कीर्तन किया, तो उन्होंने सोचा कि भगवद्-भक्तिके कारण यह नई रानी तो राजा की सिरमौर हो गई—अर्थात् सब रानियोंसे अधिक कृपापात्र बन गई, अब इसकी समानता (सर) भला कौन कर सकता है? तब सबने यह निश्चय किया कि हमें भी इसी प्रकार भगवान्की सेवा करके पतिके मनको अपने वशमें कर लेना चाहिये। फिर तो सब रानियाँ विषयोंकी ओर से अपनी प्रवृत्तिको हटाकर भगवान्का ध्यान करने लगीं। अम्बरीषको जब यह मालूम हुआ तो उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई। अब तो प्रजा-जनोंको भी भगवान्की सेवा करनेकी चाट पड़ गई और घर-घरमें हरि-भक्तिका प्रचार हो गया। यह चाव दिन-दिन बढ़ता ही चला गया। भक्ति का ऐसा ही विलक्षण प्रभाव है। इससे मनुष्यका स्वभाव बिल्कुल बदल जाता है और वह आनन्द-मय हो जाता है।

भगवान्की भक्तिके द्वारा मनुष्यका स्वभाव कैसे बदल जाता है, इसका एक दृष्टान्त नीचे दिया जाता है—

एक व्यक्ति किसी वनिक महाजनकी पुत्रीपर आसक्त हो गया और उसे लगा कि उसे वह लड़की नहीं मिली तो प्राण नहीं रहेंगे। लड़कीके विरहमें वह व्याकुल रहने लगा और घर-द्वारका सब काम-काज

छोड़कर पड़ गया। अपने पतिकी इस प्रकार दिन-दिन गिरती हुई हालतको देखकर उसकी स्त्रीने इसका कारण पूछा तो उसने सच-सच सारा हाल कह सुनाया। उसकी स्त्रीने, इसपर, उसे आश्वासन दिया कि आप चिन्ता मत कीजिए; मैं इसका अभी उपाय किये देती हूँ। यह कहकर वह महाजनकी लड़कीके पास स्वयं गई और उससे सब हाल कहकर बोली—"यह मेरे पतिकी प्राण-रक्षाका प्रश्न है। यदि वह मर गया, तो यह पाप आपको लगेगा।" लड़की बड़े धर्म-संकटमें पड़ गई। एक ओर अपने चरित्रकी रक्षा करनी थी और दूसरी ओर एक व्यक्तिके प्राण बचानेका सवाल था। अन्तमें उसे एक उपाय सूझा। उसने उस स्त्रीसे कहा—"अपने पतिसे जाकर यह कह दीजिए कि वह वनमें जाकर एकान्तमें श्रीकृष्णके चरणों का चिन्तन करें। भगवान्‌का ध्यान करते-करते जब वे तन्मय होने लगेंगे, तब मैं एक-दिन अवश्य आऊँगी।" उस व्यक्तिने ऐसा ही किया और गृह-दारा सबका परित्याग कर भगवान्‌की आराधनामें जुट गया। धीरे-धीरे उसकी कीर्ति इतनी फैली कि दूर-दूरसे लोग उसके दर्शनार्थ आने लगे। एक दिन महाजनकी बेटीने भी सोचा कि चलकर देखना चाहिए कि कैसा भजन करता है। वह मिठाई-पकवानके कई थाल सजाकर वहाँ पहुँची और प्रणाम कर निवेदन किया—"महाराज! कृपाकर आँखें खोलिए; मैं आपके लिए प्रसाद लाई हूँ। इसे ग्रहणकर मुझे कृतार्थ कीजिए।" इतना कहनेपर भी जब उस व्यक्तिकी समाधि नहीं टूटी तो महाजनकी पुत्रीने सब लोगोंको हटाकर एकान्तमें कहा—"महाराज! मैं वही हूँ, जिसके लिए आपने इतने दिनोंतक भजन किया है। अब मैं आ गई हूँ।" उस व्यक्तिने धीरे-धीरे आँखें खोलीं और मुस्कराकर कहा—"महाजनकी पुत्री! यह तुमने ठीक कहा कि तुम वही हो, पर मैं तो अब वह नहीं रहा।"

श्रीविदुरजी

श्रीविदुरजी यमराजजीके अवतार थे। माण्डव्य ऋषिके शापके कारण यमराजको दासीके गर्भसे अवतार लेकर धृतराष्ट्र तथा पाण्डुका भाई होना पड़ा था। विदुरजी महाराजा धृतराष्ट्रके प्रेमी थे। परम धार्मिक होनेके कारण वे महाराज धृतराष्ट्रको सदा सच्ची और हितकारी सलाह दिया करते थे। जब दुर्योधनने पाण्डवोंको लाक्षागृहमें जलानेका प्रयत्न किया तब श्रीविदुरजीने ही उनकी रक्षा की थी। कौरवोंके द्वारा भरी सभामें द्रौपदीको अपमानित किए जानेपर वे उन्हें धिक्कारते हुए सभासे बाहर चले गए थे। पाण्डवोंके वनवासके समय देवी कुन्ती तेरह वर्षतक इन्हींके पास रही थीं। श्रीविदुरजीने कभी भी अन्याय, असत्य और दुराचारका पक्ष नहीं लिया। श्रीप्रियादासजी द्वारा वर्णित इस प्रसंगसे उनकी भक्ति-भावनाका पता चलता है।

यह घटना उस समयकी है जब श्रीकृष्ण पाण्डवोंके दूत बनकर सन्धिका संदेश लेकर कुरुराज दुर्योधनसे मिलने गए थे। दुर्योधन जानता था कि पाण्डवोंपर श्रीकृष्णका बड़ा प्रभाव है, अतः नीतिके अनुसार उसने श्रीकृष्णका स्वागत करनेके लिए सारे नगरको तरह-तरहसे सजवाया और भाँति-भाँति के व्यञ्जन भोजनके लिए उनके सामने प्रस्तुत किये। श्रीकृष्णने उनकी ओर देखा भी नहीं और विदुरजी के यहाँ आतिथ्य ग्रहण किया।

भक्ति-रस-बोधिनी

न्हात ही विदुरनारि अंगनि पखारि करि, आइ गए द्वार कृष्ण बोलि कै सुनायो है ।
सुनत ही स्वर सुधि डारि लै निदरि, मानो राख्यो मद भरि, दौरि आनि कै चितायो है ॥
डारि दियो पीतपट, कटि लपटाय लियो, हियो सकुचायो, वेष वेगि ही बनायो है ।
बैठी ढिग आइ, केरा छीलि छिलका खवाइ, आयो पति खीझ्यो, दुःख कोटि गुनो पायो है ॥५१॥

अर्थ—जिस समय भगवान् श्रीकृष्ण विदुरजीके दरवाजेपर पहुँचे उस समय उनकी स्त्री नग्न होकर नहा रही थी । आते ही श्रीकृष्णने बाहरसे आवाज लगाई । विदुरानीने सुनते ही श्रीकृष्णकी आवाज पहिचान ली और सुध-बुध भूल गई, जैसे उस स्वरमें कोई आकर्षण हो । वस्त्र पहने बिना ही वह ज्यों-की-त्यों दौड़ आई और किवाड़ खोलकर भगवान्के दर्शन किये । भगवान्ने जब उनका यह हाल देखा, तो झटसे कमरसे लिपटा हुआ पीताम्बर उनके शरीरपर डाल दिया । अब विदुरानीको होश आया । वह बड़ी लज्जित हुई और जल्दी ही अन्दर जाकर कपड़े पहिन आई । इसके अनन्तर वह श्रीकृष्णके पास आकर बैठ गई और खिलानेके लिए लाए हुए केलोंको छील-छीलकर (प्रेममें बेसुध होनेके कारण) केलाके बजाय छिलका खिलाने लगीं । इतनेमें पतिदेव श्रीविदुरजी भी आगए । उन्होंने यह दृश्य देखा, तो अपनी पत्नीपर बहुत झल्लाये । विदुरानीको जब अपनी भूल मालूम हुई तो उन्हें बड़ा कष्ट हुआ ।

करोड़ों कामदेवोंसे भी अधिक सुन्दर श्रीकृष्णकी रूप-माधुरीकी पहली झलकपर तन-मनकी सुधि भूल जानेका सुन्दर वर्णन रीतिकालीन बहुतेरे कवियोंने किया है । एक बानगी देखिए—

फूली साँझ के सिंगार, खुटी तारी जुही हार, सोने सी लपेटी गोरी सीने की-सी आई है ।
'आलम' न चेरफन्द जाने कछु चन्दमुखी, दीपक बराकन को नन्दभवन आई है ॥
जोति के जुरत ही नैं जुरे नैना दुरे जाइ, चातुरी अचेत भई चितयो कन्हाई है ।
बाती रही हाती छबि छाती रखमाती पर, पाँगुरी भई है मानि आँगुरी लगाई है ॥

भक्ति-रस-बोधिनी

प्रेम को विचार आप लागे फलसार देन, चैन पायो हिये, नारि बड़ी दुखदाई है ।
बोले रीझि श्याम तुम कीनों बड़ो काम ऐपै स्वाद अभिराम वैसो वस्तु मैं न पाई है ॥
लियो सकुचाय, कर काटि डारौं हाय ! प्राण-प्यारे को खवाये छीलि छिलका न भाई है ।
हित ही की बात दोऊ, कोऊ पार पावै नाहिं, नीके कै लड़ावै सोई जानै, यह गाई है ॥५२॥

अर्थ—अपनी पत्नीके प्रेमके कारण हुई भूलको विचारकर श्रीविदुरजी भगवान्को केला के फल खिलाने लगे । अब उनके हृदयको शान्ति मिली । फिर भी बार-बार यही सोचते रहे कि इस स्त्रीने छिलका खिलाकर भगवान्को बड़ा कष्ट दिया । इसपर भगवान्ने प्रसन्न होकर कहा—"विदुरजी ! आपने यह काम ठीक किया कि मुझे केले खिलाये, पर सच बात तो यह है कि इतनेपर भी जैसा स्वाद उन छिलकोंमें मिला था, वैसा इन केलोंकी गहरमें नहीं मिला ।" उधर श्रीविदुरानी अपने मनमें कह रही थी—"हाय ! इन हाथोंको मैं कैसे काट डालूँ जिन्होंने

असली केला तो छीलकर फेंक दिया और छिलका खिला दिया। यह क्या उन्हें अच्छे लगे होंगे ?" टीकाकार श्रीप्रियादासजी कहते हैं, कि छिलका और केलाकी गहर दोनों प्रेमके ही कारण भगवानको खिलाए गए थे। वास्तवमें प्रेम की थाह पाना कठिन है। प्रेमके तत्त्वको वही पहिचानता है, जो भगवान्‌को लाड़ लड़ाता है—अर्थात् जिसका प्रत्येक सेवाकार्य प्रेमानन्द से प्रेरित होता है। मैं तो उस प्रेमका गायक-मात्र हूँ। प्रेमके रसको भला मैं क्या जानूँ ?

श्रीसुदामाजी

भक्ति-रस-बोधिनी

बड़ो निष्काम सेर चून हू न धाम, ढिग आई निज भाम, प्रीति हरि सों जनाई है।
सुनि सोच परयो हियो खरो अरबरयो, मन गाढ़ो लैके करयो बोल्यो हाँ जू सरसाई है॥
आवो एक बार वह बदन निहार आवो, जो पै कछु पावो, ल्यावो मो को सुखदाई है।
कही भली बात सात लोक में कलंक ह्वै है, जानिहैं याही लिये कीनी मित्रताई है॥५३॥

अर्थ—श्रीसुदामाजी भगवान् श्रीकृष्णके निष्काम भक्त थे। गरीब होनेके कारण घरमें कभी सेर-भर आटा भी नहीं जुटता था। एक दिन उनकी धर्मपत्नीने उनके पास जाकर उन्हें याद दिलाई कि आप और श्रीकृष्ण तो परम मित्र हैं। पत्नीकी बात सुनकर और उसके मन का अभिप्राय समझकर सुदामाजी बड़े असमंजसमें पड़ गए, लेकिन मनको मजबूत बनाकर बोले "हाँ, उनका और मेरा बड़ा सरस सम्बन्ध है।" इसपर ब्राह्मणीने कहा-"एक बार उनके पास जाकर देखा (साक्षात्) तो कर आओ और जो कुछ (थोड़ा-बहुत) वहाँसे मिले, ले आओ; मुझे उतने से ही बड़ा सुख होगा।" सुदामाजीने कहा-"बात तो ठीक कही तुमने, पर मेरे लिए तो सारे संसारमें मुँह दिखानेको जगह नहीं रह जायगी। लोग कहेंगे कि सुदामाने श्रीकृष्णसे इसीलिए मित्रता की थी।"

इस प्रसंगको लेकर नरोत्तमदास की कल्पनाका सुन्दर चमत्कार नीचे दिये गए पदोंमें देखिये—

आवति है लाज भारी जात व्रजराज पै, बखन समाज देखि खरी मरि जाइये।
एक ही पिछौरी सो तो ठौर-ठौर फाटि रही, ओढ़िये जिहा को जासों भास उढ़ि म्हाइये॥
भेंट ऐसी नाहीं जो ले जाइए भगवंत जू पै, संतक भई है मारि कै लौं समुझाइये।
देह पर माँस जौं लौं नासिका में श्वास तौ लौं, क्यों उपहास माँगि मीत न लजाइये॥

❀ ❀ ❀ ❀

तैं तो कही नीकी सुनि बाल-दिन ही कौं, यही रीति मिताई की नित प्रीति सरसाइये।
मित्र के मिलैं ते चित चाहिये परसपर, मित्र के जो जेंहए तो आपहू जेंवाइये॥
वे हैं महाराज जोरि बैठत समाज भूप, तहाँ यहि रूप जाइ कहा सकुचाइये।
सुख-दुख करि दिन काटे ही बनेंगे भूलि, बिपति परे पै द्वार मित्र के न जाइये॥

भक्ति-रस-बोधिनी

तिया सुनि कहै कृष्ण-रूप क्यों न चहै ? जाय, दहै दुख आप ही सों, वचन सुनाये हैं।
आई सुधि प्यारे की बिचारे, मति टारें अब, धारे पग, मग झूमि द्वारावती आये हैं॥
देखि कै बिभूति सुख उपज्यो अभूत कोऊ, चाख्यो मुख-माधुरी के लोचन सिसाये हैं।
डरपत हियो ड्योढ़ी लाँघि मन गाढ़ो कियो, लियो कर गहि चाह तहाँ पहुँचाये हैं॥५४॥

अर्थ—पतिका उत्तर सुनकर ब्राह्मणीने कहा-"द्वारका जाकर श्रीकृष्णके सुन्दर रूपका दर्शन क्यों नहीं करना चाहते आप ? उनके तो दर्शन करने मात्रसे ही संसारके सब दुःख आप ही आप भस्म हो जाते हैं।" यह सुनकर सुदामाजीको श्रीकृष्णके मनोहर रूपका स्मरण हो आया और इधर-उधरका विचार करनेके बाद उन्होंने हीनताकी भावनाको अपने मस्तिष्कमें से निकाल दिया। चल दिए वे और अपने मित्रसे मिलनेके आनन्दमें मार्गमें झूम-झूमकर पैर रखते हुए द्वारका पहुँचे। वहाँ श्रीकृष्णका अतुल वैभव देखकर उनके हृदयको बड़ा अभूतपूर्व सुख और आश्चर्य हुआ। द्वारका को देखते-देखते अब आगे बढ़े थे। उनके नेत्र अपने मित्रके अनुपम रूप-माधुर्य-रूपी अमृतका पान करनेके लिये प्यासे थे। अन्तमें वे डरते हुए ड्यौढ़ियोंपर पहुँचे और उन्हें पारकर मनमें साहस बटोरकर राज-भवनमें पहुँच गए, मानो भगवान्‌के दर्शनकी उत्कट अभिलाषाने हाथ पकड़कर उन्हें वहाँ पहुँचा दिया हो।

कवि नरोत्तमदासजीके शब्दोंमें सुदामाकी स्त्रीकी उक्ति इस प्रकार है—

विप्रके भगत हरि जगत विदित बन्धु, लेत सब ही की सुधि ऐसे महा दानि हैं।
पढ़े एक चटसार कही तुम कैयो बार, लोचन अपार वै तुम्हैं न पहिचानि हैं॥
एक दीनबन्धु, कृपासिन्धु, फेरि गुरु-बन्धु, तुम सम कौन दीन जाको जिय जानि हैं।
नाम लेत चौगुनी, गए तें द्वार सौगुनी सो, देखत सहस्रगुनी प्रीति प्रभु मानि हैं॥

भक्ति-रस-बोधिनी

देख्यो स्याम आयो मित्र चित्रवत रहे नैंकु, हित को चरित्र दौरि रोइ गरे लागे हैं।
मानो एक तन भयो लयो ऐसे लाय छाती, नयो यह प्रेम, छूटे नाहिं अंग पागे हैं॥
आई दुबराई सुधि, मिलन छुटाई तातें, आने जल रानी, पग धोए भाग जागे हैं।
सेज पधराय, गुरु-चरचा चलाइ, सुखसागर बुड़ाय आपु प्रति अनुरागे हैं॥५५॥

अर्थ—श्रीश्यामसुन्दरने देखा कि मेरे मित्र पधारे हैं। इस आकस्मिक आगमनसे चकित होकर कुछ क्षणके लिए वे चित्रकी तरह जहाँके तहाँ खड़े रह गए। फिर प्रेमके आवेशमें जैसा होता है, उसी प्रकार आँखोंसे आँसू बहाते हुए दौड़कर सुदामाको गलेसे लगा लिया। कुछ समयके लिए वे इस प्रकार मिले रहे मानो दोनों का शरीर एक होगया हो। यह अलौकिक प्रेम ऐसा था कि दोनों के अंग छुड़ाए नहीं छूटते थे। इसी बीचमें भगवान्‌को याद हो आया कि सुदामा तो अत्यन्त दुर्बल हैं। इन स्मृतिने उन दोनोंके अंगोंको एक-दूसरेसे अलग कर दिया। इतने ही में श्रीरुक्मिणीजी जल ले आईं। श्रीकृष्णने अपने हाथोंसे सुदामाके चरण धोए और अपने भाग्यको सराहा। बादमें

शय्यापर उन्हें विराजमान करके उस समयकी चर्चा छेड़ी, जब दोनों सान्दीपन गुरुके यहाँ विद्याध्ययन करते थे। उन दिनोंका वर्णनकर श्रीकृष्णने अपने मित्रको आनन्द-सागरमें निमग्न कर दिया और स्वयं भी मित्रके प्रेममें सराबोर होगए।

श्रीनरोत्तमदासजीने भी इस दृश्यका वर्णन बड़ा सुन्दर किया है। उनका एक सवैया देखिए—

> ऐसे बेहाल बेवाइन सों भये, कंटक जाल गुथे पग जोये।
> हाय सखा दुख पायो महा, तुम आए इतै न कितै दिन खोये॥
> देखि सुदामा की दीन दशा, करुणा करिके करुणा-निधि रोये।
> पानी परात को हाथ छुयो नहिं, नैनन के जल सों पग धोये॥

भक्ति-रस-बोधिनी

> चिरवा छिपाए कांख, पूछे कहा ल्याए मोकों ! अति सकुचाइ भूमि लखें, दृग भीजे हैं।
> खेंचि लई गाँठि, मूठि एक मुख माँझ दई, दूसरी हूँ लेत स्वाद पाय आप रीझे हैं॥
> गह्यौ कर रानी सुखसानी प्यारी वस्तु यह, पावो बाँटि, मानो श्रीसुदामा प्रेम धीजे हैं।
> श्यामजू विचारि दीनी सम्पति अपार विदा भए, पै न जानी सार बिछुरन छीजे हैं॥५६॥

अर्थ—श्रीकृष्णने बगलमें चिउड़ा छिपाए सुदामाको देखा, तो पूछने लगे—"मेरे लिये क्या लाये हो ?" संकोचके कारण सुदामासे चिउड़ा देते नहीं बना। वे पृथ्वीकी ओर देखने लगे और (अपनी गरीबीका खयालकर) उनकी आँखोंमें आँसू छलछला आए। (भगवान्‌का धैर्य टूट गया) उन्होंने चावलोंकी पोटलीको खींच लिया और उसमें से एक मुट्ठी भरकर अपने श्रीमुखमें डाल लिए; फिर दूसरी ली और वह आपको इतनी स्वादिष्ट लगी कि प्रसन्न होकर तीसरी मुट्ठी भी भर ली। इसपर महारानी श्रीरुक्मिणीजीने आपका हाथ पकड़ लिया और कहने लगीं—"ऐसी आनन्ददायक वस्तुको आप अकेले-ही-अकेले न खाइए; हम सबको भी बाँटिए।" श्रीरुक्मिणीजीने ऐसा इसलिए कहा कि उन्हें चावल सुदामाके प्रेमका मूर्तिमान स्वरूप जान पड़े (अतः उन्हें चाखकर वे भी उस प्रेमका कुछ अनुभव करना चाहती थीं, जिसके कारण उनके स्वामी इतने विह्वल होगए थे।) भगवान्‌ने सोच-विचारकर, इन चावलोंके बदलेमें सुदामाको अपार सम्पत्ति दे दी और वह द्वारकासे विदा हुए। सुदामाको इस रहस्यका कुछ भी पता न था। वे तो अपने मित्रके वियोगमें दुःखका अनुभव करते हुए घरकी ओर जा रहे थे।

इस सम्बन्धमें एक अन्य कविकी उक्ति देखिए—

> हूक हियरामें काम कामिनि परी है रोर, मैटत सुदामें श्याम बने ना खवात ही।
> सिरोमनि रिद्धिनमें सिद्धिनमें शोर परयो, काहि धौं कसकि ठाढ़ी काँपै कमला तहीं॥
> नरलोक, नागलोक, नगलोक सुरलोक, थोक-थोक काँपै हरि देख मुसकात ही।
> हाको परयो इन्द्रमें, वाको लोकपालनमें चाको परयो चक्रनिमें चिरवा चबात ही॥

भक्ति-रस-बोधिनी

आए निज ग्राम, वह अति अभिराम भयो नयो पुर द्वारिका सो देखि मति गई है ।
त्रिया रंग भीनी संग सतनि सहेली लीनी कीन्हीं मनुहार यों प्रतीति उर भई है ॥
वही हरि ध्यान, रूप-माधुरी को पान, तासों राखैं निज प्रान, जाके प्रीति रीति नई है ।
भोग की न चाह ऐसे तनु निरबाह करैं, हरैं सोई ख्याल सुखजाल रसमई है ॥५७॥

अर्थ—जब सुदामा द्वारकासे लौटकर अपने गाँव आए तो क्या देखते हैं कि उनका वह गाँव एक सिरेसे नया बननेके कारण अत्यन्त सुन्दर हो गया है और द्वारकाकी तरह ही दिखाई पड़ रहा है । नगरकी ऐसी रचना देखकर उनकी बुद्धि भ्रममें पड़ गई । लेकिन जब पतिके अनुरागमें भरी हुई उनकी धर्मपत्नी सैकड़ों नवयुवती सहेलियोंके साथ महलसे नीचे उतरकर आई और अत्यन्त आदर-पूर्वक उनका स्वागत किया, तब उन्हें यह विश्वास हुआ कि वह उन्हींका घर है । (भगवान्‌के दिए हुए इस अतुल ऐश्वर्यको पाकर सुदामा उसमें लिप्त नहीं हुए बल्कि) वे पहलेकी ही तरह भगवान्‌के ध्यानमें डूबे रहकर उनकी रूप-माधुरीका पान किया करते । भगवान्‌में उनकी अनूठी प्रीति थी और उसका आस्वाद लेनेकी रीति (प्रकार) भी नित्य नवीन थी । वे अपने शरीरका ऐसे निर्वाह करते थे मानो उन्हें भोगकी कोई अभिलाषा ही नहीं है । वे वही काम किया करते जिससे उन्हें सात्विक सुख मिलता और हृदय भगवत्-प्रेममें मग्न रहकर सदा रससे परिपूर्ण रहता ।

श्रीकृष्ण और सुदामाके प्रसंगको लेकर संस्कृत और हिन्दीके कवियोंने बड़ी-बड़ी सुन्दर कल्पनायें की हैं । उन्होंने भगवान्‌की दीनबन्धुताके साथ-साथ यह भी बताया है कि सच्चे ब्राह्मणका आदर्श कैसा होना चाहिए । त्यागकी भावनाके साथ चलनेवाली मित्रताका जैसा अनूठा उदाहरण यहाँ मिलता है, वैसा अन्यत्र नहीं ।

सुदामा प्रारम्भसे ही निस्पृह थे । सांसारिक वैभवकी ओर उनका तनिक भी खिंचाव नहीं था । श्रीमद्भागवतमें उनके पवित्र-जीवनकी चर्चा करते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं—

प्रायो गृहेषु ते चित्तमकाम विहितं तथा । नैवाति प्रीयसे विद्वन् धनेषु विदितं हि मे ॥

मुझे मालूम है, निष्काम तुम्हारा मन घरमें नहीं लगता और न तुम्हारी धनमें ही आसक्ति है ।

यह है सुदामाका चरित्र ! द्वारका जानेसे पूर्व वे अपनी स्त्रीसे कहते हैं—"औरन को धन चाहिए बावरि, बाम्हन को धन केवल भिच्छा ।" स्त्रीके कहनेसे वे गए तो केवल इस लोभसे कि वहाँ भगवान्‌के दर्शनका अपूर्व लाभ होगा—

अयं हि परमो लाभ उत्तमश्लोकदर्शनम् ।

श्रीकृष्णके राजसी ठाटबाट को देखकर भी सुदामाके मनमें ईर्ष्या पैदा नहीं हुई और न उन्होंने क्षणभरके लिए यह सोचा कि ये कितने सौभाग्यशाली हैं और मैं कितना दरिद्र हूँ ! वे जानते थे कि भगवान्‌ने जान-बूझकर मुझे दीन-हीन बनाया है; कहीं ऐसा न हो कि यह गरीब धन पाकर मदमत्त हो जाय और मुझे भुला दे । द्वारकासे जब वे खाली हाथ लौटते हैं, तब भी उन्हें किसी प्रकारके दुःख का

अनुभव नहीं होता। चिन्ता है तो केवल एक–'स्त्रीसे जाकर क्या कहूँगा ?' इसकी एक तरकीब सूझ गई उन्हें। कह दूँगा–"मैं निधि पाई सो राहमें छिनाई काहू।"

निराश लौटते हुए सुदामाको अगर खीझ आती है, तो अपने मित्र श्रीकृष्णपर नहीं, बल्कि अपनी स्त्रीपर। सोचते हैं, लेकर मुझे भेज दिया वहाँ ! मूर्ख कहीं की ! श्रीकृष्णके पैंतरे अभी जानती ही नहीं–

द्रौपदीको चीर दियें गोपिनके छीन लिए, ग्राह ते बचायो गज रंगभूमि मारे हो

वह इस हाथसे लेता है, तब दूसरेसे देता है। उधर गोपियोंके चीर झपट लिए, तो इधर द्रौपदी को उन्हें देकर वाह-वाह लूट ली। एक गजको ग्राहके मुँहसे बचाया, तो दूसरे (कुवलयापीड़) को कंसके दरबारमें मार दिया। ऐसी है उसकी करतूत !

संसारका समस्त वैभव पाकर भी सुदामाने यही चाहा कि मैं भगवान्‌का मित्र अथवा दास बनकर रहूँ—इस जन्ममें ही नहीं, जन्म-जन्मान्तरोंमें। श्रीमद्‌भागवतमें सुदामाकी इस अभिलाषाका वर्णन करते हुए लिखा है—

तस्यैव मे सौहृद सख्यमैत्री दास्यं पुनर्जन्मनि जन्मनि स्यात्। महानुभावेन गुणालयेन विषज्जतस्तत्पुरुषप्रसंगः ॥

सुदामाजी भगवान्‌के दास अथवा सखा बनकर ही संतुष्ट नहीं हैं। महानुभाव श्रीकृष्णसे जिन भक्तों का आध्यात्मिक संपर्क है, उनकी संगतिमें रहनेकी भी उन्होंने कामना की है। आगे चलकर सुदामा कहते हैं–"जिन भक्तोंपर भगवान्‌की कृपा होती है, उन्हें वे सांसारिक सम्पत्ति अथवा राज्य नहीं देते, क्योंकि वे जानते हैं कि धन पाकर लोग अभिमान करने लगते हैं, जो उनके अधःपतनका कारण बन जाता है।

यहाँ यह प्रश्न उठता है कि सुदामाको स्वर्गका वैभव फिर क्यों दिया ? इसका उत्तर स्वयं सुदामा ने दिया है। वे कहते हैं कि भगवान् तो बड़े विचक्षण हैं। वे जानते हैं कि सुदामा अभी अविवेकी है—'अदीर्घबोध' है। संसारके सुखोंके बीच रहते हुए उनसे जो वितृष्णा—वैराग्य पैदा होता है, वही सच्चा विवेक है, इसलिए कुछ दिन इन सुखोंको इसे भोगने दिया जाय।

श्रीचन्द्रहासजी

भक्ति-रस-बोधिनी

हुतो नृप एक ताको सुत 'चन्द्रहास' भयो, परी यों बिपति, धाइ ल्याई और पुर है।
राजा को दिवान, ताके रही घर आन, बाल आपने समान संग खेलै रसछुर है॥
भयौ ब्रह्म-भोज, कोई ऐसोई संयोग बन्यो, आये वे कुमार जहाँ विप्रन को सुर है।
बोलि उठे सबै 'तेरो सुताको जो पति यहै, हुयो चाहै, जानो, सुनि गयो लाज घुर है॥५८॥

अर्थ—(केरल देशमें) एक राजा थे। उनके पुत्र 'चन्द्रहास' हुए। दुर्भाग्यसे पिता एक युद्धमें मारे गए, और माता सती होगई। परिवारपर भयानक संकट आया हुआ देखकर बालक चन्द्रहासकी धाय उसकी रक्षा करनेके लिए उसे लेकर कुन्तलपुर पहुँची और राजाके दीवान (दुष्टबुद्धि) के घरमें शरण ली। चन्द्रहास जब पाँच वर्षके हुए तब वह धायभी परलोक सिधार गई और वे अनाथ रह गए।) वे अपने बराबरवाले बालकोंके साथ जब 'रसछुर' नामक खेल

खेला करते थे। (यह खेल भगवत्-संबन्धी है। भगवान्‌के प्रति बालक चन्द्रहासकी रुचि श्रीनारदजी की कृपासे हुई थी। वे एक दिन आकर चन्द्रहासको शालग्रामकी एक बटिया देकर कह गए थे कि इसको धोकर रोज पिया करना तथा इसे अपने मुँहमें सुरक्षित रखना, ताकि किसीको पता न लगे।

एक दिन धृष्टबुद्धिके यहाँ ब्राह्मणोंको भोजनके लिये आमंत्रित किया गया। संयोग ऐसा बना कि चन्द्रहास अपनी बाल-मंडलीके साथ खेलते-खेलते वहाँ जा पहुँचे जहाँ ब्राह्मणोंका मुखिया बैठा था। (उसी समय धृष्टबुद्धिने उन मुखियाके पास आकर पूछा—"मेरी कन्याको कैसा वर मिलेगा ?") उत्तरमें ब्राह्मणने चन्द्रहासकी ओर संकेत करते हुए कहा—"यह तेरी पुत्रीका भावी पति है, इस बातको हम निश्चयपूर्वक कह सकते हैं।" यह सुनते ही मंत्री लज्जाके मारे जमीनमें गड़ गया।

भक्ति-रस-बोधिनी

परघो सोच भारी 'कहा करौं !" यों बिचारी-"अहो ! सुता जो हमारी ताको पति ऐसो चाहिए।
डारो याहि मारि, या को यहै है बिचार" तब बोलि नीच जन कह्यो-"मारो, हिय दाहिए ॥"
लैके गए दूर, देख बाल छबिपूर "हम कोनि परी भूर, दुख ऐसो अवगाहिए।"
बोले अकुलाय "तोहि मारेंगे, सहाय कौन !"मांगौ एक बात 'जब कहौं तब चाहिए" ॥५६॥

अर्थ—धृष्टबुद्धिको बड़ी चिन्ता हुई कि अब क्या करना चाहिये। उसके मनमें बार-बार यह विचार आ रहा था कि कहाँ तो मेरी पुत्री और कहाँ यह दासी-पुत्र चन्द्रहास ! इसका एक-मात्र उपाय यही है कि इस लड़केको मार डाला जाय। यह निश्चय करके उसने नीच आदमियोंको बुलाकर कहा—"इसको मार डालो, यह मेरा हृदय जलाता है।" मंत्रीकी आज्ञासे घातक लोग चन्द्रहासको दूर जंगलमें ले गये, लेकिन उसकी बाल-सुलभ सुन्दरता और भोलेपनको देखकर अपनेको बार-बार धिक्कारते हुए कहने लगे—"हमारी जातिपर धूल पड़े, जो हमें (अनाथ बालकों की हत्या-रूपी)ऐसे दुःख भोगने पड़ते हैं।" अब वे घबड़ाकर चन्द्रहाससे पूछने लगे—"हम तुझे मारेंगे—बता, तेरा रक्षक कौन है ?"

चन्द्रहासने कहा—"मैं तो केवल एक बात माँगता हूँ। मैं जब कहूँ, तब मुझ पर प्रहार करना।"

भक्ति-रस-बोधिनी

मानि लीन्हीं बोल वे, कपोल मधि गोल एक गंडकी को सुत काढ़ि सेवा नीकी कीनी है।
भयो तदाकार यों निहारि, सुख सार भरि, नैनन की कोर ही सों आज्ञा वध दीनी है॥
गिरे मुरझाय, दया आइ, कछु भाय भरे, ढरे प्रभु ओर, मति आनँद सों भीनी है।
हुती छठी आँगुरी सो काट लई, दूसन हो, भूषन ही भयो, जाइ कही साँच चीन्ही है॥६०॥

अर्थ—घातकोंने बालककी बात मान ली। इसके बाद चन्द्रहासने अपने गालमें से शालग्राम की मूर्तिको बाहर निकाला और प्रेमपूर्वक विधिवत् उनकी पूजा की। उस सुन्दर प्रतिमाको एकाग्र-

चित्तसे देखते हुए ऐसे मग्न हो गए कि उन्हें शरीरका ध्यान ही नहीं रहा और अपने-आपको शालग्रामकी मूर्तिमें ही विलीन कर दिया। जब वह आनन्दके सागरमें इस प्रकार हिलोरें ले रहे थे, तभी उन्होंने अपनी आँखोंकी कोरसे संकेत कर अपना वध करने की आज्ञा दे दी। (बालकको मारनेके लिए उद्यत होते ही) घातकगण अचेत होकर गिर पड़े। होश आनेपर उनके मनमें दयाका संचार हुआ और (चन्द्रहासका प्रभाव उनपर ऐसा पड़ा कि) वे भी प्रीति-भावसे परिपूर्ण होकर भगवान्की ओर झुक गए और प्रभुका ध्यान करते-करते प्रेमानन्दमें विभोर हो गए। उन्होंने (अपना कर्त्तव्य पालन करनेके लिए केवल इतना किया कि) चन्द्रहासकी छठवीं अँगुली को काट डाला। अशुभ अंग होनेके कारण जो एक दोष माना जाता था, उसका काट दिया जाना अब भूषण हो गया। तब उन्होंने राजाके मंत्रीसे जाकर कह दिया कि चन्द्रहासको मार दिया गया है और प्रमाण-स्वरूप कटी हुई अँगुली दिखा दी। धृष्टबुद्धिने भी सच मान लिया।

भक्ति-रस-बोधिनी

वहँ देश भूमिमें रहत लघु भूप और, और सुख सब, एक सुत चाह भारी है।
निकस्यौ विपिनि आनि, देखि याहि मोद मानि, कीन्हीं खग छाँह, घिरी मृगी पाँति सारी है॥
दौरिकै निसंक लियो, पाइ निधि रंक जियो, कियो मन भायो, सो बधायो, भीर वारी है।
कोउ दिन बीते, नृप भए चित चीते, दियो राज को तिलक, भाव-भक्ति विस्तारी है॥६१॥

अर्थ—उसी कुन्तलपुरके राजाके राज्यके एक भागमें एक छोटा राजा और रहता था। भगवान्की कृपासे उसे सब प्रकारके सुख प्राप्त थे, केवल एक पुत्र नहीं था, जिसकी कि उसे बड़ी कामना थी। एक दिन वह अकस्मात् जंगलमें जा निकला। राजाने वहाँ चन्द्रहासको देखा, तो बड़ा प्रसन्न हुआ; क्योंकि जहाँ ये बैठे हुए थे, वहाँ एक पक्षीने इनके सिरपर छाया कर रक्खी थी और हिरनियोंका समूह इन्हें चारों ओर से घेरकर खड़ा था। (इससे राजाको यह विश्वास हो गया कि ये इतने शान्त और सद्भावनापूर्ण थे कि वनके पशु-पक्षी तक उनका विश्वास करते थे और उनका दुःख दूर करनेमें लगे हुए थे।) राजाने दौड़ कर उन्हें अपनी गोदमें उठा लिया और ऐसा प्रसन्न हुआ जैसे खजाना पाकर किसी दरिद्रके प्राण लौट आये हों। तब बालकको घर लाकर राजाने इच्छानुसार मंगल-समारोह किया जिसमें बधाइयाँ गाई गईं, नाच-रंग हुए और बहुत-सा धन गरीबोंको लुटाया गया। कुछ दिन बीत आनेपर अपनी इच्छा-पूर्तिके लिए राजाने चन्द्रहासका राज्य-तिलक कर दिया। चन्द्रहासने भी राजा बनकर राज्यमें भगवद्-भक्तिका खूब प्रचार किया।

भक्ति-रस-बोधिनी

रही जाके देश सो नरेश कछु पावै नाहीं बाहुबल जोरि दियो सचिव पठाइ कै।
आयो घर जानि, कियो अति सनमान, सो पिछान लियो वही बाल मारो छल छाइकै॥
दई लिख चीठी, जाहु मेरे सुत हाथ दीजै, कीजै वही बात जा को आयो लै लिखाइकै।
गए पुर पास बाग सेवा मति पागि करी, भरी दृग नींद नेक, सोयो सुख पाइकै॥६२॥

अर्थ—जिस राजाके राज्यमें कलिंग देश था, उसे अब वहाँ से करके रूपमें कुछ नहीं मिलता था; (क्योंकि राजा चन्द्रहास राज्यकी आमदके अधिक अंशको साधु-सेवामें ही खर्च कर डालते थे), इसलिए कुन्तलपुरके राजाने अपने बाहु-बल (पराक्रम) पर भरोसा रखकर मंत्री धृष्टबुद्धि को जोर देकर कलिंग देशके राजाकी नगरी चन्दनावतीमें भेजा। मंत्रीको घर आया जानकर चन्द्रहासजी तथा राजा कलिन्दने उनका बड़ा सत्कार किया।

मंत्रीने चन्द्रहासजीको देखा, तो तुरन्त पहिचान लिया कि यह तो वही लड़का है, जिसे मैंने कपट-जाल बिछा कर मारनेकी योजना बनाई थी। (अब उसने एक दूसरी युक्ति निकाली।) उसने एक चिट्ठी लिखी और चन्द्रहासजीको उसे देते हुए कहा—"इसे लेजाकर मेरे पुत्रको देना और कहना कि इसमें जो कुछ लिखा है उसे जल्दी करा दीजिए।" कुन्तलपुर पहुँचकर चन्द्र-हासजी वहाँके एक पासके बागमें ठहरे और आनन्दसे पहले श्रीशालग्रामकी सेवा की और फिर (प्रसाद ग्रहण करनेके बाद) वहीं विश्राम किया। वहाँ उन्हें इतना सुख मिला कि नींद आगई।

भक्ति-रस-बोधिनी

खेलत सहेलिनि सों आइ वाही बाग मांझ करि अनुराग, भई न्यारी, देखि रीझी है।
पाग मधि पाती छवि माती झुकि खैंच लई, बाँची खोलि, लिख्यो विष दैन, पिता खीझी है॥
'विषया' सुनाम अभिराम, दृग अंजन सों विषया बनाई मन भाई रस भीजी है।
आई मिली आलिन में लालन को ध्यान हिये, पिये मद मानो, गृह आइ तब धीजी है॥६३॥

अर्थ—उसी बागमें (जिसमें कि चन्द्रहास सो रहे थे) 'विषया' नामक मंत्रीकी लड़की अपनी सहेलियों सहित खेलती हुई आ पहुँची। वह चन्द्रहासकी मनोहर मूर्तिको देखकर उसपर लट्टू हो गई और उसके प्रेममें आसक्त होगई। (अपने प्रियतमको मनभर कर देखनेके उद्देश्यसे) वह अपनी सखियोंसे अलग हो गई और तब रूपके मदसे झूमती हुई वह सुन्दरी ज्योंही चन्द्र-हासके पास आई, त्योंही उसे एक पत्र वहाँ पड़ा हुआ दिखाई दिया। जरा-सा झुक कर उसने वह पत्र ले लिया और खोलकर पढ़ा, तो पता लगा कि पिताने चन्द्रहासको विष देकर मार डालनेके लिए अपने पुत्र मदनको लिखा है। इस पर अपने पितापर उसे बड़ा क्रोध आया। उस लड़की का सुन्दर नाम 'विषया' था। उसने अपनी आँखोंके काजलसे पत्रमें लिखे हुए 'विष' शब्द के आगे 'या' अक्षर जोड़ कर उसे 'विषया' बना दिया (अब अर्थ यह होगया कि इस पत्रके ले जाने वालेके लिए तुरन्त 'विषया' को दे देना।) पत्रमें यह परिवर्तन करके धृष्टबुद्धिकी पुत्री आनन्द में निमग्न होती हुई फिर अपनी सखियोंके समूहमें आ मिली। वहाँसे वह हृदयमें अपने प्रिय चन्द्रहासका चिन्तन करती हुई बेसुध-सी, जैसे कोई नशीली वस्तु खा ली हो, घर आ गई।

भक्ति-रस-बोधिनी

उठ्यो चन्द्रहास, जिहि पास लिख्यो ल्यायो, जायो देखि मन भायो गाढ़े गरे सों लगायो है ।
दई कर पाती, बात लिखी सो सुहाती, बोलि विप्र घरी एक मांझ ब्याहऊ करायो है ।।
करी ऐसी रीति, हारे बड़े नृप जीति, लिख देत गई बीति, चाव पार पै न पायो है ।
आयो पिता नीच, सुनि घूमि आई मीच मानो, वानो लखि दूलह को, शूल सरसायो है ।।६४।।

अर्थ—चन्द्रहास उठे और जिसे चिट्ठी देनेको कहा गया था, उसके पास उसे लेकर पहुँचे । उसने जब पत्रमें अपने मनकी-सी बात लिखी देखी तो प्रसन्नतासे चन्द्रहासको गलेसे लगा लिया और बोले—"तुमने मेरे हाथमें जो पत्र दिया है, उसमें मेरी मन-चीती बात लिखी है ।" तब शीघ्र ही ब्राह्मणको बुलाकर एक घड़ीमें ही विवाह-लग्नका निश्चय कर उसने चन्द्रहास के साथ अपनी बहिनका पाणिग्रहण कर दिया । इस उत्सवको उसने इतने धूम-धामसे किया कि बड़े-बड़े राजा भी नीचा देख गए । इस अवसर पर हाथ खोलकर उसने खर्च किया, पर उसका उत्साह पूर्ण नहीं हुआ । इतनेमें ही नीच धृष्टबुद्धि वहाँ ऐसे आ पहुँचा मानो मृत्यु इधर-उधर घूम-घामकर लौट आई हो । उसने जब चन्द्रहासको दूलहके वेषमें देखा तो उसके हृदयमें शूल-सरीखे चुभने लगे

भक्तिरस-बोधिनी

बैठ्यो लै एकान्त "सुत ! करी कहा भ्रान्त यह ?" कह्यो सो निसान्त, कर पाती लै दिखाई है ।
बांचि आंच लागी, मैं तो बड़ोई अभागी, पै पै मारों मति पागी, बेटी रांड़ ही सुहाई है ।।
बोलि नीच-जाती बात कही "तुम जावो मठ, आवै तहाँ कोऊ, मारि डारौ मोहि भाई है" ।
चन्द्रहासजू सों भाष्यो "देवी पूजि आवो अजू ! मेरी कुलपूज, सदा रीति चली आई है" ।।६५।।

अर्थ—एकान्तमें बैठकर धृष्टबुद्धिने अपने पुत्रसे पूछा—"यह क्या किया ?" मदनसेनने इसके उत्तरमें पत्र लेकर दिखा दिया । पत्रको पढ़ते ही मंत्रीके शरीरमें जैसे आग लग गई । उसने कहा—"हाय ! मैं बड़ा अभागा निकला !" किन्तु फिर उसने सोचा कि इस चन्द्रहासको मारे बिना नहीं रहूँगा; क्योंकि ऐसा नीच पति पानेकी अपेक्षा तो बेटीका विधवा होना अच्छा । अब उसने नीच जातिके पुरुषोंको बुलाकर कहा—"तुम लोग देवीके मठको जाओ और वहाँ जो कोई पहुँचे उसे मार देना ।" फिर चन्द्रहासजी से बोला—"आप देवीका पूजन कर आइए, क्योंकि विवाहके बाद देवीकी पूजा करनेकी हमारी प्राचीन वंश-परम्परा है ।"

भक्ति-रस-बोधिनी

चलेई करन पूजा, देशपति राजा कही "मेरे सुत नाहीं, राज याही को लै दीजिए ।"
सचिव सुवन सों जु कह्यो "तुम ल्यावो जावो, पावो नहीं फेरि समय, अब काम कीजिए ।"
दौरयो सुत चाह चाह, मग ही में लियो आह, दियो सो पठाइ, नृप रंग माहि भीजिए ।
देवी अपमान ते न डरौ, सनमान करौ, आत मार डारयो, यासौं भाख्यो भूप 'लीजिए' ।।६६।।

अर्थ—चन्द्रहासजी जब (मंत्रीके कहने पर) देवीकी पूजा करने चले, तो कुन्तलपुरके राजाने अपने मनमें कहा—"मेरे कोई पुत्र नहीं है, इस लिए इसी (चन्द्रहासजी) को राज्य दे दिया जाय तो अच्छा हो।" ऐसा सोचकर मंत्री-पुत्र मदनसे बोले—"तुम अभी जाओ और चन्द्रहासको ले आओ, फिर समय नहीं मिलेगा, अतः अभी काम कर लेना चाहिये। (यह सुनकर) मदन आनन्दमें भरकर बड़े चावसे दौड़ा और रास्तेमें ही चन्द्रहासजीसे मिलकर उन्हें यह कह राजाके पास भेज दिया कि राजाको इस समय उत्साह हो रहा है, (अतः जल्दी जाकर पहले राज्य प्राप्त कर लो); इसका डर मत करो कि पूजा न करनेसे देवी रुष्ट हो जायगी। उनका सम्मान करनेके लिए मैं जा रहा हूँ।"

मठमें पहुँचते ही मदनको वधिकोंने मार डाला। इधर जब चन्द्रहासजी राजाके पास पहुँचे तो राजाने कहा—"यह लीजिए राज्य।" (और चन्द्रहासजी राजा बना दिये गये।)

भक्ति-रस-बोधिनी

काहू आनि कही "सुत तेरो मारो नीचनि ने," सींचन शरीर दृग जल झरी लागी है।
चल्यो तत्काल, देखि गिरयो है बिहाल, सीस पाथरि सों फोरि मरयो ऐसोई अभागी है॥
सुनि चन्द्रहास चलि वेगि मठ पास आये, ध्याये पग देवता के, काढ़ि अंग रागी है।
कह्यो, तेरो द्वेषी याहि कोध करि मारयो मैं ही, "उठें दोऊ दीजै दान" जिये बड़भागी है॥६७॥

अर्थ—जब किसीने आकर मंत्रीको समाचार दिया कि तुम्हारे पुत्रको घातकोंने मार डाला है तो आँखोंसे आँसुओंका प्रवाह उमड़कर उसके शरीरको भिगोने लगा। सुनते ही तत्काल वह दौड़कर देवीके मठमें पहुँचा और पृथ्वीपर पछाड़ खाकर गिर पड़ा। उस अभागेकी अन्तमें यह दशा हुई कि पत्थरोंसे सिर पटककर मर गया। चन्द्रहासजी को जब यह मालूम हुआ तो शीघ्रतासे मठमें आये और देवीकी वन्दना करनेके बाद अपना शीश काटनेके लिए उद्यत हो गये। देवीने प्रकट होकर चन्द्रहाससे कहा—"यह तेरा द्वेषी था, इसलिए मैंने इसको पुत्र-सहित मार डाला है।" तब चन्द्रहासजीने उन दोनों पिता-पुत्रोंके जीवन-दानके लिए देवीसे प्रार्थना की और वे दोनों फिर जी पड़े।

भक्ति-रस-बोधिनी

करयो ऐसो राज सब देश भक्तराज करयो, द्विज को समाज जाकी भक्ति कहा भाखिये
हरि हरि नाम अभिराम धाम-धाम सुनें, और काम कामना न सेवा अभिलाखिये॥
काम, कोध, लोभ, मद आदि लै के दूर किये, जिये नृप पाइ ऐसो नैननि में राखिये।
कही जितो बात आदि अन्त लौं सुहात हिये, पढ़े उठि प्रात फल जैमुनि है साखिये॥६८॥

अर्थ—श्रीचन्द्रहासजीने इस रीतिसे राज्य-शासन चलाया कि देशके सब प्रजा-जन हरि-भक्त हो गये। जो लोग आठों प्रहर श्रीचन्द्रहासजीके पास ही रहते थे उनकी भक्तिका वर्णन करना तो अत्यन्त कठिन है। राज्यके प्रत्येक घरमें, बालक, वृद्ध, वनिता सबके मुँहसे सुन्दर हरि-नाम

सुननेको मिलता था। सिवा भगवान्‌के भजनके अन्य किसी वस्तुकी किसीको इच्छा ही नहीं थी। हृदयमें निरन्तर भक्तिके वासके कारण काम, क्रोध आदि विकारोंके पनपनेके लिए जगह ही नहीं रह गई थी। श्रीचन्द्रहासजीके समान हरि-भक्ति-परायण राजा पाकर सबका जीवन सफल हो गया था। ऐसे राजाको सब लोग आँखोंमें अंजनकी तरह रखना चाहते थे। श्रीचन्द्रहासजीका यह वृत्तान्त, जैसा आदिसे अन्त तक यहाँ वर्णन किया है, उसे प्रातः काल उठकर मनन करनेसे सद्‌गति होती है, ऐसा व्यासजीने लिखा है।

श्रीचन्द्रहासके प्रसंगका मनन करनेसे भक्ति-सिद्धान्तके कुछ अनमोल तत्त्व जाननेको मिलते हैं, जो कि नीचे दिए जाते हैं—

सर्व-प्रथम हमारी दृष्टि श्रीचन्द्रहासके चरित्र पर जाती है। हम देखते हैं कि जीवनके प्रारम्भसे ही वे अपने संस्कारके कारण भगवान्‌की भक्तिमें लीन रहते थे। बालकपनमें ही 'रसकुर' खेलका खेलना इसका प्रमाण है। भक्तिके लिए यह आवश्यक है कि भक्तके अन्तःकरणकी वृत्तियां तदाकार हो जायें। श्रीचन्द्रहासजीके लिए यह कार्य शालग्रामकी मूर्तिने किया। जगतके सब व्यापार करते हुए भी उनके मनका केन्द्र अपने इष्ट-देव ही रहे। फल यह हुआ कि जो सिद्धि बड़े-बड़े कर्म-योगियोंको अनेक प्रकारके अनुष्ठानों द्वारा भी प्राप्त नहीं होती, वह श्रीचन्द्रहासजीको बहुत प्रारम्भमें ही मिल गई। बालक चन्द्रहास को वधिक जब मारनेके लिए जंगलमें लेजाते हैं, तब वे प्राणोंका मोह कर रोते-बिलखते नहीं, क्योंकि वे भक्ति की उस अन्तिम अवस्थामें पहुँच चुके थे, जहाँ राग-विराग, सुख-दुःख आदि द्वन्द्व अन्तःकरणको नहीं छू पाते। उनके द्रवीभूत चित्तमें भगवदाकारता इस प्रकार प्रविष्ट हो गई थी कि संसारके सब प्राणियोंमें वे भगवान्‌के सिवा अन्य किसीको देख ही नहीं सकते थे। उत्तम भागवतका यही लक्षण बतलाया गया है। जो ईश्वर से प्रेम करता है, उनके अधीन जीवोंमें मैत्रीके भाव रखता है, मूर्ख और पामरोंसे दयाका व्यवहार करता है और शत्रुओंकी उपेक्षाकी दृष्टिसे देखता है, वह तो मध्यम भागवत कहलाता है—

ईश्वरे तदधीनेषु बालिशेषु द्विषत्सु च। प्रेममैत्रीकृपोपेक्षा यः करोति स मध्यमः॥ (श्री० भा० ११ स्क० २)

श्रीचन्द्रहास-जैसे उत्तम कोटिके भक्तोंमें तो छानबीनकी यह भावना सदाके लिए पहले ही जलकर भस्म हो जाती है। साधारणतया प्रेम-लक्षणा भक्तिके उदय होनेका क्रम इस प्रकार है कि पहले भगवत्-सम्बन्धी धर्मोंका पालन करने एवं पुण्य-गाथाओंका श्रवण-मनन करनेसे भगवत्-चेतना हृदयको प्रकाशित करती है, तब वैराग्य होता है और अन्तमें प्रेम-लक्षणा भक्तिकी प्राप्ति। संस्कारी भक्त इस क्रमका उल्लंघन करते देखे गए हैं। अन्तः करणकी शुद्धिके लिए उन्हें न तो धर्मानुष्ठानोंकी अपेक्षा रहती है और न अन्य साधनोंकी। प्रह्लाद, बलि, विभीषण, सुग्रीव, हनुमान तथा व्रजकी गोपियाँ, ये सब साक्षात् भगवत्-सेवा के अधिकारी थे—

केवलेन हि भावेन गोप्यो गावो नगा मृगाः। येऽन्ये मूढधियो नागाः सिद्धा मामीयुरञ्जसा।

(श्री भा० ११ स्क० १२)

भगवान्‌के भक्तों पर आया हुआ संकट केवल अपना फर्ज अदा कर निवृत्त हो जाता है, नहीं तो जो घातक मंत्रीके आदेशसे चन्द्रहासको मारनेके लिए जंगलमें ले गए थे, उनकी बुद्धि ऐसी किस प्रकार

बदल गई कि वे केवल उनकी छठी अँगुली काटकर ही संतुष्ट हो गए। इसी प्रकारकी दो घटनाएँ यहाँ और लिखी जाती हैं—

(१) एक राजाने अपनी रानीका आग्रह मानकर भगवान्‌की आराधना शुरू कर दी। एक दिन ठाकुरजीके भोगके लिए गंडेरी छीलते समय राजाकी अँगुली कटकर अलग गिर गई। राजाने मनमें सोचा कि भगवान्‌की भक्ति करनेका क्या यही फल है? इस शंकाका समाधान रानीने कर दिया। बोली- 'राजन्! इस छोटी-सी घटनाके कारण आपको भगवान्‌की सेवासे विमुख नहीं होना चाहिए, क्योंकि सेवाके प्रभावसे कभी-कभी छुरी भी काँटा हो जाती है। बात राजाकी समझमें आई नहीं। संयोगसे एक दिन राजा शिकार खेलते-खेलते जंगलमें बहुत दूर निकल गया। उसे अकेला पाकर कुछ अघोरियोंने पकड़ लिया और बलि देनेके लिए देवीके मन्दिरमें ले गए। वहाँ जब उन्होंने देखा कि व्यक्ति अंग-भंग है, तो उसे बलिके अयोग्य समझ कर छोड़ दिया।

(२) एक ब्राह्मणने अपनी जन्म-पत्रिका दिखाई तो मालूम हुआ कि उसे एक दिन गधेपर बिठा कर और काला मुँह करके सारे नगरमें घुमाया जायगा। ब्राह्मणको चिन्ता सवार हो गई और इसका उपाय पूछनेके लिए वह अपने गुरुके पास पहुँचा। गुरुने कहा—"वह दिन जब आये, तब मुझसे कहना; उपाय हो जायगा। लेकिन आजसे तुम यहाँ आकर कथा-वार्ता श्रवण किया करो।" ब्राह्मणने ऐसा ही किया। जब बहुत दिन बीत गए तब उसने एक दिन अपने गुरुजीसे कहा—"महाराज! गत रात को मैंने स्वप्नमें देखा है कि लोगोंने मुझे गधेपर बिठालकर सारे नगरमें मेरा जलूस निकाला है, सो अब यह स्वप्न सत्य होनेवाला है; कृपया कोई उपाय करिए।" गुरुजीने हँसकर कहा—"जागृत और स्वप्नकी दो अवस्थाएँ हम लोगोंके लिए भिन्न हैं; भगवान्‌के यहाँ इनमें कोई अन्तर नहीं देखा जाता। तुम निश्चिन्त रहो। जो स्वप्नमें हो गया है, वह जागृत अवस्थामें फिर नहीं होगा।"

श्रीमैत्रेय ऋषि

भक्ति-रस-बोधिनी

'कौषारव' नाम जो बखान कियो नाभाजूने मैत्रे अभिराम ऋषि जान लीजै बात में।
आज्ञा प्रभु दई, जाहु "विदुर" है भक्त मेरो, करो उपदेश रूप गुन गात गात में॥
'चित्रकेतु' 'प्रेमकेतु' 'भागवत-ख्यात, ज्यातें पलट्यो जनम प्रतिकूल फल घात में।
'अक्रूर' आदि 'ध्रुव' भये सब भक्त-भूप 'उद्धव' ते प्यारेन की ख्याति पात-पात में॥६६॥

अर्थ—ऋषि मैत्रेयके पिताका नाम 'कुषारु' था, इसलिए श्रीनाभाजीने उन्हें 'कौषारव नामसे पुकारा है। मैत्रेय ऋषिको भगवान्‌ने आज्ञा दी कि जाओ, मेरे भक्त विदुरको आप इस प्रकार ज्ञान और भक्तिका उपदेश करो कि मेरे नाम, रूप गुणकी महिमा उनके रोम-रोममें समा जाय। (यह प्रसंग उस समयका है जब भगवान् अन्तर्धान होनेसे पूर्व अपने प्रिय सखा और परम भक्त उद्धवको उपदेश कर रहे थे। उस समय मैत्रेय ऋषि भी उपस्थित थे। भगवान्‌की आज्ञा से मैत्रेयजीने जो उपदेश विदुरजीको दिया, वह श्रीमद्भागवतके तृतीय स्कन्धमें वर्णित है।)

प्रेमकी ध्वजा श्री चित्रकेतुजीकी कथा श्रीमद्भागवतमें विख्यात है। उन्होंने कितनी ही योनि पलटनेके बाद अन्तमें प्रतिकूल जन्म (वृत्रासुर-दैत्यका) प्राप्त किया और पूर्व-जन्मके संस्कारके कारण इन्द्रके वज्राघातको फूलके समान सह कर परम पदके अधिकारी बने।

टीकाकार प्रियादासजी कहते हैं कि अक्रूर, ध्रुव, उद्धव आदि भक्त-शिरोमणियोंकी गाथा विस्तार-पूर्वक श्रीमद्भागवत-पुराणके प्रत्येक पृष्ठ पर अंकित है।

चित्रकेतु शूरसेन प्रदेशोंके सार्वभौम राजा थे। उनकी लाखों स्त्रियाँ थीं, लेकिन सन्तान कोई न थी। अङ्गिरा ऋषिके यज्ञ करनेसे उनके एक पुत्र हुआ, जिसे रानियोंने विष देकर मार डाला। पुत्र-शोक विह्वल हो राजा-रानी बार-बार पछाड़ खाने लगे। उन्हें इस प्रकार शोकाविष्ट देखकर देवर्षि नारद-सहित अङ्गिरा वहाँ आये और राजाको समझानेकी चेष्टा की। इतने पर भी जब राजाका मोह दूर नहीं हुआ, तब श्रीनारदजीने मृतकके जीवात्माको सम्बोधन करते हुए कहा—"तुम्हारे ये माता-पिता, उनके मित्र, बन्धु-बान्धव सब तुम्हारे लिए शोकमें व्याकुल हैं; उठो और अपने कलेवरमें प्रवेश कर राज्यके सुखोंका उपभोग करो।"

इसपर जीवात्माने संसारकी असारता तथा उसके अनित्य सम्बन्धोंका वर्णन करते हुए नारद से कहा—"अपने कर्मानुसार मैं देव, पशु-पक्षी और मानव आदि योनियोंमें सैकड़ों बार घूमता रहा हूँ; भला तुम मेरे कब-कब माता-पिता हुए? जीवलोकके सम्बन्ध बाजारमें घूमनेवाली मुद्राकी तरह हैं। जब तक वह जिस व्यक्तिके हाथमें रहती है, तभी तक उसकी रहती है। अतः मेरे लिए शोक मत करो।"

यह कह कर जीव चला गया। राजाने तब मोहको छोड़कर अपने पुत्रका दाहकर्म किया और फिर श्रीनारदजी से ज्ञानोपदेश ग्रहणकर विद्याधरकी पदवीको प्राप्त हो गया। इस रूपमें योगी चित्रकेतु ने लाखों वर्षों तक स्वर्ग सुलभ भोगोंको भोगा। एक दिन वह विष्णुदत्त नामक विमानमें बैठकर आकाश में उड़ा जा रहा था, तभी उसने देखा कि भगवान् शिव मुनियोंकी सभामें पार्वतीजीके साथ गल-बाँहिं डाल कर बैठे हुए हैं। इस कृत्यको अनुचित समझ कर वह वहाँ जा पहुँचा और भगवान् शिवका उपहास करने लगा। शिव तो हँसकर चुप हो गए, लेकिन पार्वतीजी पर यह नहीं सहा गया। उन्होंने उसे शाप दिया—"जा दुष्ट! तू आसुरी योनिमें जन्म ले, ताकि फिर कभी महात्माओंमें इस प्रकार दोष देखनेका तुझे साहस न हो।"

यही चित्रकेतु गिरिजाके शापके प्रभावसे 'वृत्र' नामक दैत्य हुआ और पूर्वजन्मके पवित्र संस्कारों के कारण इन्द्रके द्वारा मारा जाकर सद्गतिको प्राप्त हुआ। यह छठे स्कन्धके चौदहवें अध्यायमें वर्णित है।

श्रीकुन्तीजी

भक्ति-रस-बोधिनी

कुन्ती करतूति ऐसी करै कौन भूतप्रानी, मांगति बिपति, जासों भाजें सब जन हैं।
देख्यो मुख चाहौं लाल! देखे बिन हिये साल, हूजिये कृपाल, नहीं दीजै वास बन हैं॥
देखि बिकलाई प्रभु आँखें भरि आई, फेरि घर ही को ल्याई, कृष्ण प्रान तन धन हैं।
श्रवन वियोग सुनि तनक न रह्यो गयो, भयो बपु न्यारो अहो! यही साँचे पन हैं॥७०॥

अर्थ—संसारमें ऐसा कौन व्यक्ति है, जो कुन्ती-जैसे करतब करके दिखलावे ? जिससे सब लोग दूर भागते हैं, उसी विपत्तिको कुन्तीने भगवान्‌से माँगा । द्वारकाको प्रस्थान करते हुए श्रीकृष्णसे उन्होंने कहा—"मैं सदैव आपके मुखारविन्दके दर्शन करना चाहती हूँ, क्योंकि उसे देखे बिना मेरे हृदयमें शूल चुभने-जैसी पीड़ा होती है । यदि आप इतनी कृपा करनेको तैयार नहीं हैं, तो हमें वनवास दे दीजिए, (क्योंकि वहाँ आपके दर्शनोंका लाभ मिलता रहता था ।") कुन्तीजीको इस प्रकार वियोगके भयसे व्याकुल देखकर प्रभुकी आँखोंमें आँसू आ गये और परिणाम यह हुआ कि कुन्तीजी आग्रह करके श्रीकृष्णको फिर वापिस ले आईं । श्रीकृष्ण आपके तन-मन-धन थे—सर्वस्व थे । जब भगवान् भूमिका भार हलका करके वैकुण्ठ-धाम चले गए, तो इस दुःखदायी समाचारको सुनकर कुन्तीसे न रहा गया और वह भी शरीरको त्यागकर परम धामको चली गईं । सच्चा प्रण ऐसा ही होता है ।

कुन्तीकी भक्ति-भावनाका मर्म पहिचाननेके लिए नीचे दिया हुआ श्लोक देखिए—

विपदः सन्तु नः शश्वत्तत्र तत्र जगद्गुरो ! भवतो दर्शनं यत् स्यादपुनर्भवदर्शनम् ॥

—हे जगत् के गुरु, हमारी अभिलाषा है कि हमपर बार-बार विपत्तियाँ आकर पड़ें, ताकि आपके दर्शन करनेका सौभाग्य हमें प्राप्त हो और उस दर्शनके द्वारा हमारा आवागमन छूट जाय ।

श्रीद्रौपदीजी

भक्ति-रस-बोधिनी

द्रौपदी सती की बात कहे ऐसो कौन पटु, खेंचत ही पट, पट कोटि गुने भए हैं ।
'द्वारिका के नाथ !' कहि बोली जब साथ हुते, द्वारिका सौं फेरि आए भक्तबानी नए हैं ॥
गये दुरवासा ऋषि बन में पठाए नीच धर्मपुत्र बोले बिनय आयें पन लए हैं ।
भोजन निवारि तिय आइ कही शोच परयो, चाहे तनु त्याग कह्यो "कृष्ण कहुँ गए हैं" ॥७१॥

अर्थ—पतिव्रता द्रौपदीकी महिमाका वर्णन करनेकी सामर्थ्य भला किसमें है ? दुष्ट दुश्शासनके भरी सभामें उनके शरीर परसे वस्त्र खींचनेकी चेष्टा करते ही एक वस्त्रके करोड़ वस्त्र हो गए । अपनी लज्जाकी रक्षा करनेके लिए जब द्रौपदीने पुकार लगाई—'हे द्वारकाके नाथ !' तब द्रौपदीके हृदयमें अविचल निवास करते हुए भी भगवान् अपने भक्तके वचनको पूरा करनेके लिए द्वारकासे दौड़े आए ।

एक बार नीच दुर्योधनके द्वारा भेजे हुए दुर्वासा ऋषि वनमें युधिष्ठिरजीके पास पहुँचे और बोले—'हम नित्य-क्रिया करके अभी आते हैं' (इतनेमें तुम भोजन बना रक्खो ।) दुर्वासाजीके जाते ही द्रौपदीने सूचना दी कि भोजन आदि तो सबका-सब समाप्त होगया और अब कुछ भी नहीं बचा है, तो धर्म पुत्रको बड़ी चिन्ता हुई और उन्होंने शरीर-त्याग करनेका विचार प्रकट किया । इस पर द्रौपदीने कहा—"(आप इतनी चिन्ता क्यों करते हैं ?) भगवान् क्या कहीं चले गए हैं ? (वह हमारी सहायता अवश्य करेंगे ।)"

पुराणमें लिखा है कि सूर्यनारायणने प्रसन्न हो पाण्डवों को एक टोकनी दी थी जिसका चमत्कार यह था कि जब तक द्रौपदीजी सबको भोजन करा कर उसे धो नहीं डालती थीं, तब तक वह सब प्रकारके भोजन देती थी। दुर्भाग्यसे उस दिन ऐसा हुआ कि दुर्वासा-ऋषि जब पाण्डवोंके यहाँ पहुँचे तो द्रौपदी सबको खिला-पिलाकर टोकनी धो चुकी थीं। इसीलिए धर्मराजको चिन्ता हुई कि दुर्वासा तथा उनके साथ आए हुए दस हजार शिष्योंके भोजनका प्रबन्ध कहाँ से होगा।

भक्ति-रस-बोधिनी

सुन्यो भागवती को बचन भक्ति भाव भरयो, फरयो मन, आए श्याम, पूज्यो हिये काम है।
आवत ही कही 'मोहि भूख लागी देवो कछु' महा सकुचाये, मानैं प्यारो नहीं धाम है॥
"विश्व के भरनहार धरे हैं अहार अजू हम सौं दुरावो" कही बानी अभिराम है।
लख्यो शाक-पत्र पात, जल संग पाय गए पूरन त्रिलोकी विप्र गिनै कौन नाम है॥७२॥

अर्थ—सौभाग्यशालिनी द्रौपदीकी यह बात कि-'भगवान् क्या कहीं चले गए हैं?' कान में पड़ते ही भगवान् बैठे न रह सके। उनका मन अपने भक्तके पास जल्दी-से-जल्दी पहुँच जानेके लिए आतुर हो उठा। श्यामसुन्दर तत्काल आ पहुँचे और इस प्रकार भक्तके हृदयकी अभिलाषा को पूर्ण किया।

आनेके साथ ही भगवान् द्रौपदीसे बोले—"भाई! मुझे भूख लगी है, कुछ खानेको दीजिये।" द्रौपदीको यह सोच कर बड़ा संकोच हुआ कि प्राणोंसे भी अधिक प्यारे श्रीकृष्ण खानेको माँग रहे हैं, पर घरमें कुछ नहीं है। द्रौपदीको असमंजसमें पड़ा देखकर भगवान्ने मधुर वाणीसे कहा—"अनेक प्रकारके व्यंजनों द्वारा जो सारे संसारका पेट भर सकती है, वह टोकनी तो घरमें रक्खी है, भला उसे हमसे क्यों छुपा रही हो?"

द्रौपदीने भगवान्को विश्वास दिलानेके लिए धुली हुई टोकनीको लाकर सामने रख दिया। उसमें शाकका एक पत्ता कहीं चिपका रह गया था। उसे निकालकर भगवान् खा गए और ऊपरसे जल पी लिया। भगवान्के ऐसा करते ही तीनों लोकोंका पेट भर गया; बेचारे ब्राह्मण दुर्वासा और उनके शिष्योंका तो कहना ही क्या!

द्रौपदीकी लाज बचानेके प्रसंगको लेकर अनेक कवियोंने बड़ी सुन्दर और अनूठी उक्तियाँ कही हैं। इनमें-से कुछ नीचे दी जाती हैं—

दुर्जन दुःशासन दुकूल गह्यो "दीनबन्धु!" दीन ह्वै कै द्रुपद-दुलारी यों पुकारी है।
आपनो सबल छाँड़ि ठाढ़े पति पारथ से भीम महाभीम ग्रीवा नीचे करि डारी है॥
अम्बर लौं अम्बर पहाड़ कीन्हों, शेष कवि, भीषम, करण, द्रोण सभी यों बिचारी है;
नारी मध्य सारी है, कि सारी मध्य नारी है, कि सारी ही की नारी है कि नारी ही की सारी है॥

इस कवित्तमें श्लेष और सन्देह अलंकारोंकी छटा तो देखने योग्य है ही, परन्तु साथमें यह चित्र भी आँखोंके सामने उपस्थित हो जाता है, जिसमें साड़ीके लगातार खींचने और लपेटोंके खुलनेके कारण श्रीकृष्ण

की दुहाई देती हुई द्रौपदीका शरीर बराबर घूमता रहा होगा। इन समस्त क्रियाओंको कविने 'नारी मध्य सारी है, कि सारी मध्य नारी है'—इत्यादि शब्दों द्वारा बड़े अनूठे ढंगसे व्यंजित किया है।

कहा करै बैरी प्रबल जो सहाय रघुबीर। दस हजार गज बल घट्यो, घट्यो न दस गज चीर॥

विरोधाभास अलंकारका यह भी एक सुन्दर उदाहरण है। 'सूर' की वाणीमें भी इस घटनाका वर्णन सुनिए—

द्रौपदी हरि सों टेर कही।
भीषम, करन, द्रोन दुस्सासन देखत बाँह गही॥
लेत उसास निरास सभा में नैनन नदी बही।
पाँचों बन्धु पीठ दे उठे, ह्याँ मैं सकुचि रही॥
सुनि सुध लेउ द्वारिकावासी, फाटत नाँहि मही।
मो पति पाँच, पाँच के तुम पति, ह्याँ पति कछु न रही॥
तुम मति ईस स्याम सुन्दर जू जितनी मैं जु सही।
दीनानाथ! कहावत हौ प्रभु साँची बिरद रही॥
हो जगदीस राख हरि औसर प्रगट पुकार कही।
सूरदास प्रभु तुम सब लायक मो पति राख लई॥

ऐसा लगता है मानो द्रौपदीकी लाज बचानेके बाद भी भगवान् उस करुण पुकार को कभी नहीं भूल सके, जो द्रौपदीने लगाई थी—

हा कृष्ण! द्वारकावासिन्! क्वासि यादवनन्दन! इमामवस्थां संप्राप्तामनाथां किम् उपेक्षसे?

—हे द्वारकावासी श्रीकृष्ण! हे यादवनन्दन! तुम कहाँ हो? देखो, मैं किस हालतमें हूँ। ऐसेमें भी क्या मेरी रक्षा नहीं करोगे?

यह पुकार न-जाने कब तक भगवान्‌के हृदयको कचोटती रही होगी। तभी तो वे कहते हैं—

यद् गोविन्देति चुक्रोश कृष्णा! मां दूरवासिनम्। ऋणमेतत् प्रवृद्धं मे हृदयान्नापसर्पति।

—मैं दूर द्वारकामें था। द्रौपदीने आवाज लगाई—"गोविन्द!!! यह पुकार ऋण (कर्ज) बन कर मेरी छातीपर रक्खी है और दुःख इस बातका है कि यह ऋण बढ़ता ही जा रहा है, घटता नहीं।

श्री नाभा स्वामीके छप्पय सं० ६ में आये हुए जिन भक्तोंके चरित्र का उल्लेख श्री प्रियादासजीने नहीं किया है, उनका संक्षिप्त वर्णन आगे दिया जाता है।

श्रीकमलाजी

श्रीकमलाजी शेषशायी भगवान विष्णुकी अन्तरंग-स्वरूपा शक्ति हैं। वे सर्वदा उनके साथ ही निवास करती हैं, किन्तु फिर भी लीला-भेदसे उनकी उत्पत्ति समुद्रसे मानी जाती है। देवताओं और राक्षसोंने जब सागर-मन्थन किया था, तब कामधेनु, उच्चैःश्रवा, चन्द्रमा, ऐरावत, कौस्तुभ-मणि, कल्पवृक्ष और अप्सराओंके उपरान्त श्रीकमलाजी समुद्रसे उत्पन्न हुईं। इनकी बिजली के समान चमकीली छटासे दिशाएँ जगमगा उठीं। इनके सौन्दर्य, यौवन, औदार्य और रूप-रंग से सबका मन चलायमान हो गया। देवता, दानव और मानव—सभी उनको प्राप्त करनेकी कामना करने लगे। स्वयं देवराज इन्द्र उनके बैठनेको बड़ा सुन्दर सिंहासन ले आए। नदियोंने परम

रूपवती युवतियोंका रूप धारण कर स्वर्ण-कलशोंमें अभिषेकके लिए पवित्र जल उपस्थित किया। पृथ्वीने अभिषेकके योग्य औषधियाँ, गायोंने पञ्चगव्य और वसन्तने सुन्दर सुस्वादु फल-फूल लाकर श्रीलक्ष्मीजीकी सेवामें अर्पित किए। श्रीकमलाजीका अभिषेक किया जाने लगा। गन्धर्वोंने मङ्गल-संगीतकी तान छेड़ दी, नर्तकियाँ नाच-नाच कर गाने लगीं। भगवती लक्ष्मी तब सिंहासन पर विराजमान हुईं। दिग्गजोंने जलसे भरे कलशोंसे उनको स्नान कराया। वेद ब्राह्मणोंके रूपमें मन्त्रोंका उच्चारण करने लगे। समुद्रने पीला रेशमी वस्त्र भेंट किया। वरुणने सौरभमयी वैजयन्ती-माला समर्पित की। प्रजापति विश्वकर्माने भाँति-भाँतिके गहने, सरस्वतीने मोतियोंका हार, ब्रह्माजीने कमल और नागोंने दो सुन्दर कुण्डल श्रीकमलाजीको प्रदान किये।

इसके बाद ब्राह्मणोंके स्वस्त्ययन पाठ कर चुकने पर श्रीलक्ष्मीजी अपने हाथमें सुन्दर कमलोंकी माला लेकर सर्वगुण-सम्पन्न पुरुषका वरण करने चलीं, परन्तु गन्धर्व, यक्ष, असुर, सिद्ध, चारण, देवता आदिमें कोई भी ऐसा न मिला जो निर्दोष और समस्त उत्तम गुणोंसे युक्त हो। अन्तमें उन्होंने अपने चिदाश्रय सच्चिदानन्दको पहिचान लिया और वह माला उनके ही गलेमें डाल दी। वास्तवमें श्रीलक्ष्मीजीके एकमात्र आश्रय श्री भगवान् विष्णु ही हैं। उन्होंने परम-प्रेममयी इन कमलाजीको अपने हृदयस्थलमें स्थान दिया है।

श्रीगरुड़जी

श्रीगरुड़जी भगवान्के ज्ञानसम्पन्न नित्यमुक्त परिकर हैं। वेदोंके अधिष्ठातृ देवता एवं वेदात्मा होनेके कारण इनको शास्त्रोंमें सर्वज्ञ कहा गया है। श्रुतियोंमें भी इनका वर्णन 'सर्ववेदमय विग्रह' के रूपमें आया है। श्रीमद्भागवत्से भी स्पष्ट हो जाता है कि वेदके बृहद्रथ एवं रथन्तर नामक दो भेद ही इनके पंख हैं। जब गरुड़जी उड़ते हैं तो इन्हीं पङ्खोंसे साम-गानकी ध्वनि निकलती है। भगवान्के नित्यमुक्त परिकर होनेपर भी इनका जन्म कश्यप और विनता से माना गया है, इसीलिए इनका नाम 'वैनतेय' भी है।

श्रीगरुड़जी भगवान्के नित्य-सङ्गी एवं सदा उनकी सेवामें रहनेवाले प्रिय दास हैं। ये भगवान् विष्णुके वाहन हैं, अतः इनकी पीठपर श्रीहरिके चरण-चिन्ह अङ्कित हो गए हैं। वह जीव ही धन्यातिधन्य है, जिसे भगवान्के चरणोंका स्पर्श मिल गया हो, फिर उसका तो कहना ही क्या जिसकी पीठको भगवान्के वे चरणारविन्द सदा-सर्वदा स्पर्श करते रहते हों।

श्रीगरुड़जीका भगवान्के दास, सखा, वाहन, आसन, ध्वजा, वितान एवं व्यजनके रूप में वर्णन आता है। असुरादिकोंके साथ संग्राम करते समय भगवान् श्रीगरुड़को अपने प्रधान सेनापतिका पद देकर समस्त भार इनके ऊपर छोड़ देते हैं, क्योंकि उनको इनपर पूर्ण विश्वास है।

भगवान्की कृपा एवं प्रेरणासे इन्होंने एक पुराणका कथन श्रीकश्यपजीको किया था।

यही पुराण श्रीवेदव्यासके द्वारा सङ्कलित होकर अष्टादश पुराणोंमें गरुड़-पुराणके नामसे प्रसिद्ध हुआ। श्रीगरुड़जी सदा भगवान्‌के साथ रहनेवाले उनके परम प्रिय सेवक हैं, अतः प्रभुके भक्तों को भी वे प्राणोंके समान प्रिय हैं। भक्त-जन श्री गरुड़जीके कृपाकांक्षी होकर अपने आपको भगवान्‌के दरबारमें उपस्थित कर सकनेमें समर्थ होते हैं। वास्तवमें सदा प्रभु-चरणोपासक श्रीगरुड़जी भक्तिके साक्षात् स्वरूप और भक्तोंके सर्वस्व हैं।

श्रीजाम्बवान्‌जी

श्रीजाम्बवान् सृष्टि-कर्त्ता ब्रह्माके अवतार थे। जब रात-दिन संसारके सृजनमें लगे ब्रह्माने देखा कि इस प्रकार भगवान्‌का भजन तो बनता नहीं है और विना प्रभुके भजनके संसारमें की गई समस्त क्रियाएँ व्यर्थ हैं, तो उन्होंने अपने एक रूपसे ऋक्ष-राज जाम्बवान्‌के रूपमें इस धरतीपर जन्म लिया और रात-दिन अपने जीवनको भगवान्‌के मङ्गलमय स्वरूपके ध्यानमें, उनके भजन एवं गुणानुवादमें तथा उनकी सेवामें विताने लगे।

जब सत्ययुगमें भगवान्‌ने वामनावतारमें विराट्‌रूप धारण कर बलिको बाँध लिया, तो जाम्बवान् भी उनके दर्शन करनेके लिए आए। इस समय भगवान्‌के उस विराट् स्वरूपको देखकर ऋक्षराजके मनमें बड़ा आनन्द हुआ। उन्होंने अपने हाथमें भेरी ली और उसे बजाते हुए समस्त दिशाओंमें भगवान्‌की कीर्ति-पताका फहरा आए और उन विराट् भगवान्‌की सात प्रदक्षिणा केवल दो घड़ीमें ही समाप्त कर ली।

जब त्रेतायुग आया तो जाम्बवन्त कपिराज सुग्रीवके मन्त्री बने; क्योंकि आयु, विद्या, बल, बुद्धि और विवेकमें सबसे अधिक बढ़े-चढ़े होनेके कारण वे ही सभीको उचित सलाह दे सकते थे। वानर जिस समय माता सीताकी खोजमें निकले और हताश होकर समुद्रके किनारे आकर बैठ गए तो जाम्बवन्तने ही यह सम्मति प्रकट की कि पवनके समान बलवाले पवन-पुत्र ही लङ्का जा सकते है। उन्होंने हनुमान्‌जीको उनके बलका स्मरण कराया और उन्हें लङ्का भेजा। राम-रावण-युद्धमें जाम्बवान् मानो प्रधान मंत्री ही थे। सभी कार्योंमें श्रीराम इनकी सम्मति लिया करते थे। लङ्का-युद्धमें जब मेघनादकी मायाने सबको व्याकुल कर दिया था, उस समय भी श्रीजाम्बवान्‌को वह माया स्पर्श न कर सकी। यह सब प्रभुके भजनका प्रताप ही तो था। सेनामें सबसे वृद्ध जाम्बवान्‌के मुष्टि-प्रहारसे राक्षस-राज मेघनाद और रावण-सरीखे वीरवर भी मूर्च्छित हो जाते थे। लङ्का-विजयके बाद राज्याभिषेक हो जानेपर सुग्रीव, अङ्गद आदिके विदा करते समय जब श्रीरामचन्द्रजीने इनसे भी जाने को कहा तो इन्होंने तब तक श्रीराम-दरबारको नहीं त्यागा जब तक प्रभुने उन्हें द्वापरमें दर्शन देनेका आश्वासन नहीं दे दिया।

जाम्बवान्‌की इच्छा हमेशा यह रहती थी कि कोई मुझे द्वन्द्व-युद्धमें संतुष्ट करे। लङ्का

युद्धमें रावण भी उनके सामने नहीं टिक सका था। अतः जाम्बवान्‌की यह अभिलाषा रहती ही रही। भगवान् तो भक्त-वाञ्छा-कल्पतरु ठहरे। भक्तोंकी अभिलाषाको पूरा करना तो उनका व्रत है, अतः अपने भक्त जाम्बवान्‌की इस अभिलाषाको उन्होंने द्वापरमें पूरा किया।

द्वापरमें सत्राजित् नामक एक श्रेष्ठ यादवने सूर्यकी अर्चना करके स्यमन्तक-मणि प्राप्त कर ली थी। मणिकी सुन्दरताको देखकर श्रीकृष्णने उससे कहा कि इस मणिको महाराज उग्रसेन को दे दो। लोभवश सत्राजित्‌ने ऐसा करनेसे मना कर दिया। संयोग-वश उस मणिको गलेमें डालकर सत्राजित्‌का छोटा भाई प्रसेनजित् जङ्गलमें शिकारके लिए गया। वहाँ उसे एक सिंहने मार डाला। अब मणि सिंहके हाथ लगी और वह उसे लेकर ऋक्षराज जाम्बवान्‌की गुफा में गया। जाम्बवान्‌ने उसे मारकर मणि ले ली एवं उसे अपने बच्चेको खेलनेके लिए दे दिया।

उधर जब प्रसेनजित् शिकारके पश्चात् वापस नहीं पहुँचा तो सत्राजित्‌को शङ्का हुई कि श्रीकृष्णने मेरे भाईको मारकर उससे मणि छीन ली है। धीरे-धीरे यह प्रवाद चारों ओर फैल गया। श्रीकृष्ण इस अकीर्तिको दूर करनेके लिए मणिका पता लगानेको चल दिए और प्रसेनजित्‌के मरे घोड़ेसे सिंहका मार्ग खोजते हुए जाम्बवान्‌की गुफामें जा पहुँचे। जब श्रीकृष्ण गुफाके अन्दर गए तो इनको देखकर गुफामें कोलाहल मच गया। हल्ला-गुल्ला सुनकर जाम्बवान् बाहर आए और दोनोंमें द्वन्द्व-युद्ध होने लगा। सत्ताईस दिन तक दोनों एक-दूसरे पर मुष्टि-प्रहार करते रहे। अन्तमें केशवके वज्रके समान लगनेवाले घूँसोंसे जब जाम्बवान्‌का शरीर चूर-चूर हो गया तो वे सोचने लगे—'निश्चय ही ये मेरे प्रभु राम हैं, क्योंकि इस त्रिलोकीमें ऐसा दूसरा कोई भी दानव-दैत्य या देवता नहीं जो मुझे परास्त कर सके।' जब श्रीकृष्णने देखा कि भक्तकी द्वन्द्व-युद्धकी अभिलाषा पूरी हो गई है तो उन्होंने जाम्बवान्‌को धनुर्धारी रामके रूपमें दर्शन दिए। अपने प्रभुको पहिचान कर ऋक्षराज उनके चरणोंपर गिर पड़े। भगवान्‌ने प्रसन्न होकर अपना वरद हस्त उनके शरीरसे लगाया तो युद्धसे उत्पन्न हुई पीड़ा, श्रान्ति और क्लेश सब दूर हो गए। ऋक्षराजने उस मणिको प्रभुके चरणोंमें समर्पित कर अपनी कन्या जाम्बवतीको भी उनके पदारविन्दकी सेवा करनेके लिए दे दिया। इस प्रकार ऋक्षराजने चारों युगोंमें भगवान्‌का गुण-गान करते हुए अन्तमें अपना सर्वस्व अपने प्रभुके चरणोंमें अर्पित कर दिया।

श्रीसुग्रीवजी

श्रीसुग्रीवजी भगवान् राघवेन्द्रके परम भक्त थे। इनका एक बड़ा भाई था जिसका नाम था—वाली। वाली किष्किन्धापुरीका राजा था। दोनों भाइयोंमें आपसमें बड़ा प्रेम था। एक दिन मय का पुत्र मायावी नामक राक्षस मध्य-रात्रिमें महलके द्वारपर आया और वालीको युद्धके लिए ललकारने लगा। महाबलशाली वाली भला यह कैसे सह सकते थे ? वे दौड़ पड़े राक्षसके पीछे। वह राक्षस जाकर एक गुफामें घुस गया। सुग्रीव भी बड़े भाईके साथ पीछे-पीछे दौड़े आए।

उनसे पन्द्रह दिन तक द्वारपर प्रतीक्षा करनेको कह कर वाली राक्षसका पीछा करते हुए गुहामें प्रवेश कर गए। श्रीसुग्रीवजी वहाँ पूरे एक माह तक भाईके आनेकी प्रतीक्षा करते रहे। अन्तमें रक्तकी एक छोटीसी धारा गुफाके द्वारसे बाहर आई। श्रीसुग्रीवने समझा कि राक्षसने भाईको मार दिया है और अब आकर मुझको भी मारेगा। इसलिए वे गुफाके द्वारको एक भारी शिलासे बन्द कर घर वापस आ गए। मंत्रियोंने जब राज्यको राजा-रहित देखा तो श्रीसुग्रीवका आग्रहपूर्वक राज्याभिषेक कर दिया।

कुछ समय बाद राक्षसको मार कर वाली लौटे। जब उन्होंने गुफाके दरवाजेको शिलासे बन्द देखा तो उन्हें क्रोध आया। शिला हटाकर नगरमें आनेपर जब उन्होंने राज्य-सिंहासनपर सुग्रीव को देखा तो वे आपेसे बाहर हो गए। उन्होंने सुग्रीवको पीटा और उसका राज्य-धन-धान्य सब कुछ अपहरण कर उन्हें नगरसे निकाल दिया।

सुग्रीवजी प्राण-रक्षाके लिए मतंग ऋषिके आश्रम ऋष्यमूक-पर्वतपर चले गए और वहाँ भगवान्‌का भजन कर अपना जीवन बिताने लगे। हनुमान् आदि चार मंत्रियोंने भी उनका साथ दिया।

सीता-हरणके उपरान्त जब रामचन्द्रजी उन्हें खोजते हुए ऋष्यमूक-पर्वतके पास आए तो सुग्रीवजी डर गए। उन्होंने समझा कि वालीने मेरा प्राणान्त करनेके लिए ही इन शूर-वीरोंको भेजा है। उन्होंने हनुमान्‌जी को इस सम्बन्धमें पता लगानेके लिए भेजा। हनुमान्‌जी आए श्रीरामचन्द्रजीके पास और जब वे पहिचान गए कि ये तो अखिल लोक-नायक भगवान् श्रीराम हैं तो उन्हें सुग्रीवके पास ले गए। भगवान् रामने दुखी सुग्रीवको अपना मित्र बनाया और सात ताड़के वृक्षोंको गिराकर वालीके वधका आश्वासन दिया। श्रीरामचन्द्रजी सुग्रीवको लेकर वालीका संहार करनेके लिए गए। कितने ही दिनों तक दोनों भाइयोंमें भयंकर संग्राम होता रहा। अन्तमें भगवान्‌ने एक बाण ऐसा तक कर मारा कि वालीका प्राणान्त हो गया।

श्रीरामचन्द्रजीकी आज्ञासे श्रीसुग्रीवजीको राजा बनाया गया और वाली-पुत्र अङ्गद युवराज बने। राज्याभिषेकके उपरान्त सुग्रीवने अपनी सारी सेनाको सीताके खोज निकालनेकी आज्ञा दी। श्रीहनुमान्‌जी लङ्का जाकर माता जानकीका समाचार लाए। रावणसे सीताको लौटा देनेका आग्रह किया गया। जब वह राजी नहीं हुआ तो संग्राम छिड़ गया। श्रीसुग्रीवजीने अपने प्रभु रामके लिए अपना तन, मन, धन— सब लगा दिया। अन्तमें श्रीरामकी विजय हुई। वे लङ्का-विजयके उपरान्त जब अयोध्या वापस आए तो श्रीसुग्रीवजी भी प्रेमके कारण उनका साथ नहीं छोड़ सके और दीर्घ काल तक अयोध्यामें अपने प्रभुकी आराधना करके उनके विशेष आग्रहसे किष्किन्धा-पुरीमें वापस आ गए।

श्रीसुग्रीवजी भगवान् रामके प्रिय सखा थे। उन्होंने स्थान-स्थानपर यही कहा है कि तुम्हारे समान मित्रता निभानेवाला इस संसारमें दूसरा और कोई भी नहीं है। वास्तवमें श्रीसुग्रीवजीके समान आदर्श निस्वार्थ सखा संसारमें विरले ही होते हैं। उनका समस्त जीवन राम-काज, राम-भजन और राम-स्मरणमें ही बीता। वस्तुतः राम-सखा सुग्रीवजीने ही जीवनका सच्चा फल प्राप्त किया है। भगवान्‌ने स्वयं भी उन्हें "सुग्रीवः पञ्चमो भ्राता"—श्रीसुग्रीवजी मेरे पाँचवे भाई हैं– कहकर सम्बोधित किया है।

श्रीध्रुवजी

स्वायम्भुव मनुके पुत्र उत्तान पादके दो रानियाँ थीं—सुनीति एवं सुरुचि। राजा अपनी छोटी रानी सुरुचिको बहुत चाहते थे। समय आनेपर दोनों रानियोंके एक-एक पुत्र पैदा हुआ। बड़ी रानी के पुत्रका नाम ध्रुव था और छोटी रानी के पुत्रका उत्तम। छोटी रानीको अधिक चाहनेके कारण राजा उत्तमपर ही अधिक प्यार करते थे।

एक दिन राजा उत्तानपाद उत्तमको गोदीमें लेकर खिला रहे थे। उसी समय ध्रुव भी वहाँ आगए और पिताकी गोदमें चढ़नेके लिए मचलने लगे। रानीने जब सौतेले पुत्रको इस प्रकार राजाकी गोदके लिए मचलते हुए देखा तो ईर्ष्या और गर्वसे बोली–"बेटा! राजाकी गोदमें बैठनेका अधिकारी तो वही हो सकता है जिसने मेरे पेटसे जन्म लिया है। तू इस कामके लिए चेष्टा क्यों करता है? अगर तेरी भी इच्छा राजाकी गोदमें बैठनेकी है तो पहले जाकर तपस्या कर और फिर मेरे पेटसे जन्म लेकर महाराजाकी गोदका अधिकारी बन, अन्यथा यह सौभाग्य तुझे प्राप्त नहीं हो सकता।" रानीकी बात ध्रुवके घर कर गई। वह एक साथ रो उठा और भागकर अपनी माँके पास गया। बालकको इस प्रकार रोता देख माँने उसे गोदमें उठा लिया और जब उससे रोने का कारण पूछा तो उसने छोटी माँकी बातोंको दुहरा दिया। सुनीतिको बड़ा कष्ट हुआ। उसने रोते हुए ध्रुवसे कहा—"बेटा! संसारमें सभी लोग अपने कर्मोंके कारण दुःख-सुख भोगते हैं। छोटी रानी ठीक कहती है। तूने जन्म तो लिया है मुझ अभागिनीके उदरसे और चाहता है राजाकी गोदमें बैठना। यह कैसे हो सकता है? इसलिए छोटी माँने जो शिक्षा दी है, उसका तुम्हें अक्षरशः पालन करना चाहिए। वास्तवमें सब कुछ भगवान् के भजनके ही आधीन है। जिन कमल-नयन भगवान्‌का भजन करके ब्रह्माजी पितामह और सृष्टिकर्ता बन गए, तुम्हें भी उन्हीं भगवान्‌का ध्यान करना चाहिये। उन परम दयालु भगवान्‌के अलावा तुम्हारा दुःख दूर करनेवाला दूसरा इस त्रिलोकी में कोई नहीं है। वे भगवान् समस्त ऐश्वर्य के स्वामी हैं और सब कुछ करने में समर्थ हैं। तुम उन दयामय नारायणकी ही शरण जाओ, तभी तुम्हारी अभिलाषा पूर्ण हो सकती है।"

माताकी बातको ध्रुवने सुना और सुनकर हृदयमें उतार लिया। वे पिताका राज्य, वैभव और माताकी ममता सब कुछ छोड़ कर भगवानको पानेके लिए जंगलकी ओर चल दिए। न तो उन्हें अपने खानेकी चिन्ता थी, न पीनेकी। उन्हें यह भी पता नहीं था कि जंगलमें किस प्रकार के हिन्सक जन्तु रहते हैं; क्योंकि वे बिलकुल अबोध थे, उनकी अवस्था अभी पाँच वर्षकी ही तो थी। ध्रुव जब सब कुछ छोड़कर चल पड़े तो मार्गमें उन्हें नारदजी मिले। पहले तो नारदजीने ध्रुव को अनेकों प्रकारके भय और प्रलोभन देकर वापिस लौटाना चाहा, किन्तु जब बालक ध्रुवकी दृढ़ताके सामने उनके सब प्रयत्न असफल हो गए तो बालक को द्वादशाक्षर मन्त्रकी दीक्षा देकर यमुना-किनारे मधुवनमें भजन करनेका आदेश दिया और स्वयं राजा उत्तानपादके पास गये। देवर्षिने देखा कि ध्रुवके वनमें चले जानेके बाद राजा पश्चात्तापकी ज्वालामें जले जा रहे हैं। नारद ने उन्हें समझाया और आश्वासन देकर शान्त किया।

जब तक भगवानके अस्तित्व, दयामयता और सर्व-शक्तिमत्तामें जीवका अटल विश्वास नहीं होता, तब तक भगवानके भजनमें मन लगाना असंभव है। ध्रुवका भगवानमें अटल विश्वास था, उन्हें भगवानकी भक्तवत्सलतामें तनिकभी संशय नहीं था। उन्होंने एक बार भी यह नहीं सोचा कि भगवान मुझे नहीं मिलेंगे। वे नारदजीके आदेशानुसार कालिन्दीके किनारे रम्य मधुवनमें पहुँचे, यमुनाके पवित्र-निर्मल जलमें स्नान किया और फूल-फलोंसे भगवान्‌की पूजा करके द्वादशाक्षर-मंत्रका जाप करने लगे। पहले महीने तीन दिन उपवास करके चौथे दिन कैथ और बैर खा लिया करते थे। दूसरे महीने केवल एक दिन वृक्षसे स्वयं गिरे हुए पत्ते या सूखी घास खाकर भगवानके भजनमें मग्न रहने लगे। तीसरे महीने नौ दिन बीत जाने पर केवल एक बार वे जल पीते थे। चौथे महीने उन्होंने बारह दिनमें केवल एक बार वायु-भोजन करना आरम्भ कर दिया और पाँचवे महीने तो उन्होंने स्वास लेना भी छोड़ दिया। इस प्रकार कठोर-तम तपस्यासे प्राणोंको अपने वशमें करके पाँच वर्षके बालक ध्रुव एक पैरसे खड़े होकर भगवानका ध्यान करने लगे।

पाँच वर्षके ध्रुवने समस्त लोकोंके आधार भगवानको अपने अखण्ड ध्यानसे हृदय-स्थलमें बन्द कर लिया। उनके श्वास न लेनेसे त्रिलोकीका निश्वास बन्द होने लगा। देवता घबड़ाए और वे भागे शेषशायी भगवान विष्णुके पास, अपनी तथा संसारके जीवोंकी रक्षाके लिए। भगवानने आश्वासन दिया—"बालक ध्रुव मेरे ध्यानमें प्राणायाम साध रहा है, इसी कारण संसारका वायु-प्रवाह रुका हुआ है। मैं अभी जाकर उसको इस कठोर तप से निवृत्त करता हूँ।"

भगवान गरुड़ पर चढ़ कर भक्तराज ध्रुवके पास आए, किन्तु ध्रुव हृदयस्थ तदीय स्वरूप के ध्यानमें इतने तल्लीन थे कि उन्हें श्रीनारायणके आगमनका पता भी नहीं चला। भगवानने जब अपना स्वरूप उनके हृदयमें अन्तर्निहित किया तो वे व्याकुल हो उठे, किन्तु आँखें खोल कर

जब सामने देखा तो अनन्त सौन्दर्य-माधुर्य-मूर्ति भगवान सामने खड़े-खड़े मुस्करा रहे थे। ध्रुव का बाल-हृदय आनन्दके महासागरमें डूब गया। वे एक टक देखते रहे भगवानकी उस रूप-माधुरीको और हाथ जोड़ कर भगवानकी प्रार्थना करनेको तैयार हुए, पर क्या प्रार्थना करते? वे कुछ समझ न सके। भगवानने मुस्कराती आँखोंसे भोले ध्रुवकी ओर देखा और उनके मनकी भावनाओंको समझ कर अपने अखिल-श्रुति-स्वरूप शङ्खको उनके कपोलसे स्पर्श करा दिया। उसी समय ध्रुवके हृदयमें समस्त विद्याओंका आविर्भाव हो गया; ज्ञानके आकाशसे उनका हृदय जगमगा उठा। उन्होंने फिर प्रेमसे भगवान नारायणकी स्तुति की।

जब ध्रुव शान्त होगये तो भगवान उनको वर देते हुए बोले—"बेटा ध्रुव! यद्यपि तुमने मुझसे किसी प्रकारका वरदान नहीं माँगा है, परन्तु मैं स्वयं तुम्हें वह पद देता हूँ जो बड़े-बड़े ज्ञानी, योगी और तपस्वियोंको दुष्प्राप्य है और समस्त तारे तथा नक्षत्र जिसकी प्रदक्षिणा किया करते हैं। वह पद ऐसा है, जहाँ जाकर फिर इस संसारमें आनेकी आवश्यकता नहीं। तुम अपने पिताके अनन्तर दीर्घ-काल तक इस धरतीका राज्य भोगो और फिर उस अक्षय-लोकमें आकर निवास करो।" वरदान देकर भगवान अन्तर्धान हो गए।

भगवानको अपने सामने न पाकर ध्रुवको बड़ा दुःख हुआ। वे विकल होकर पश्चाताप करने लगे—"मैंने संसार-चक्रसे मुक्त कर देने वाले भगवानको पाकर भी भोगोंको ही माँगा। वह ध्रुव-पद, जिसकी मैंने चाह की थी, कल्पान्त में जाकर कभी न कभी नष्ट अवश्य ही होगा। यह मैंने क्या किया?" इस प्रकार अपनेको धिक्कारते हुए वे घर लौट गये।

इधर जब राजा उत्तानपादने देखा कि ध्रुव वनमें चले गये हैं, तभीसे उनका स्वभाव पलट गया। वे ध्रुवकी माता सुनीतिका सच्चे हृदयसे सम्मान करने लगे। और जब उन्होंने यह सुना कि ध्रुव पधार रहे हैं तो उनके आनन्दका ठिकाना न रहा। चारों ओरसे नगरकी सजावट की गई। राज-मार्ग और वीथिकाओंको सुगंधित द्रव्योंसे अभिषिंचित किया गया तथा महाराज समस्त नगर-निवासियोंके साथ अपने प्रिय पुत्रका स्वागत करनेके लिए नगर-द्वार पर आकर प्रतीक्षा करने लगे। इतने ही में प्रवेश करते हुए ध्रुवजी दिखलाई दिए। महाराज उत्तानपादने जब देखा कि उनका प्रिय पुत्र सामने पड़ कर साष्टाङ्ग प्रणाम कर रहा है तो वे हाथी से नीचे उतर पड़े और ध्रुवको उठा कर गलेसे लगा लिया। आनन्दके कारण उनके शरीरमें रोमाञ्च होगया, आँसुओंकी धारा आँखोंसे फूट पड़ी और कण्ठ गद्-गद् होगया। पिताके चरण-स्पर्शके उपरान्त श्रीध्रुवजी विमाताके चरणोंमें लोट गए। सुरुचि को अपने किए का स्मरण हो आया, पर आनन्दके कारण उसने सर्व-प्रिय पुत्र ध्रुवजीको गोदमें उठा लिया और प्रेमाधिक्यसे कण्ठ रुक जानेके कारण केवल उन्हें आशीर्वाद देकर ही वह मौन हो गई। माता सुनीतिके तो मानो प्राण ही लौट आए थे। नागरिकोंके हृदयका आनन्द जय-जय-कारके रूपमें चारों ओर सहस्रों उत्सवोंमें

फूट पड़ा। नगरमें चारों ओर आनन्द छागया। इसी आनन्दके वातावरणमें महाराज श्रीध्रुव-जीको राजमहलमें लिवा लाए।

कुछ समयके पश्चात् महाराज उत्तानपादको वैराग्य होगया और वे राज्य-भार श्रीध्रुवके ऊपर त्याग कर तपोवनमें भगवानका भजन करने चले गए। इसी समय एक बार सुरुचिका पुत्र उत्तम आखेट करते-करते कुवेरकी अलकापुरीके पास हिमालयपर पहुँच गया। वहाँ यक्षोंसे विवाद होगया और उन्होंने उसे मार डाला। अपने भाईके मरनेका समाचार सुनकर श्रीध्रुवजीको बड़ा दुःख हुआ। उन्होंने कुवेरकी नगरीपर आक्रमण कर दिया। बड़ा घमासान युद्ध हुआ। अन्तमें ब्रह्मलोकसे महाराज मनु आए और उन्होंने ध्रुवको समझाकर कहा—"बेटा! ये यक्ष उपदेव हैं। इनके स्वामी श्रीकुवेरजी हैं। वे भगवान शंकरके सखा हैं, उनका सम्मान तुमको करना चाहिए।" ध्रुवजीने मनुकी आज्ञा मान ली और युद्ध बन्द कर दिया। श्रीध्रुवजीकी यह शिष्टता देख कर कुवेरजीको बड़ी प्रसन्नता हुई और उन्होंने ध्रुवके पास आकर उनसे वरदान माँगने को कहा। ध्रुवजीने प्रसन्नतापूर्वक वरदान माँगा—"भगवानके चरणोंमें मेरा अविचल प्रेम हो, मुझे यही वरदान चाहिए।" श्रीकुवेरजी वरदान देकर अदृश्य होगए और ध्रुव अपनी राजधानीको वापस चले आए।

भोगोंसे अनासक्त रह कर भगवानका भजन करते हुए ध्रुवने दीर्घ-काल तक राज्य किया। अन्तमें तप करनेके लिए बदरिकाश्रम चले गए। वहाँ अविचल चित्तसे भगवानका ध्यान करते रहनेके बाद भगवत्-पार्षदों द्वारा उनके लिए एक दिव्य विमान लाया गया। श्रीध्रुवजी विमानपर चढ़े तो उनका शरीर दिव्य होगया और वे भगवानके आदेशसे उनके पार्षदों के साथ चल दिए। मार्गमें उन्हें अपनी माताका स्मरण हो आया। उसी समय भगवानके पार्षदों ने आगे-आगे विमानसे जाती हुई देवी सुनीतिको दिखा दिया। भगवानके भक्त अपने सम्पूर्ण वंशका उद्धार कर देते हैं। आज भी श्रीध्रुवजी अपने अविचल धाममें रह कर भगवानका भजन करते हैं। रात्रिमें चमकने वाला ध्रुवतारा उन्हींका ज्योतिर्मय धाम है।

श्रीउद्धवजी

उद्धवजी भगवान् श्रीकृष्णके सबसे प्रिय-सखा थे। उनका शरीर श्रीनन्दनन्दनके समान ही मनोहर और श्याम-वर्णका था। वे श्रीबृहस्पतिजीके शिष्य तथा नीति और तत्त्वज्ञानके प्रकाण्ड पण्डित थे। एक बार भगवान श्रीकृष्णने व्रज-गोपियोंको सान्त्वना देनेके बहाने इन्हें व्रज-प्रदेशमें भेजा ताकि शुष्क-ज्ञानके उपासक उद्धवजी प्रेमकी माधुरीका कुछ अनुभव कर अपने जीवनको सफल बना सकें। उद्धवजी श्रीश्यामसुन्दरका सन्देश लेकर व्रजराज श्रीनन्दके यहाँ पहुँचे तो जिस स्नेह और प्रेमसे उनका स्वागत-सत्कार किया गया, उसे देखकर उनके तत्त्वज्ञान

की पिटारी जर्जरित होने लगी। एकान्त पाकर श्रीकृष्ण-प्रेमामृत-लालिता ब्रज-बालाएँ उनके चारों ओर आकर एकत्रित हो गईं और नाना प्रकारके प्रश्न उद्धवजीसे करने लगीं। श्रीउद्धवजीने उन्हें बतलाया—"आप जिन श्रीकृष्णके विरहमें इतनी व्याकुल हो रही हैं वे तो हम, तुम क्या, जीव-मात्र और समस्त जड़-चेतनमें व्याप्त हैं। उन सर्वव्यापी निर्गुण ब्रह्मसे संयोग-वियोग कैसा? वे तो अब भी तुम्हारे सामनेके समस्त पदार्थोंमें व्याप्त हैं; फिर उनके लिए विरह कैसा?" गोपियोंने उद्धवकी इन तत्त्वज्ञानकी बातोंको सामान्य-रीतिसे ठुकरा दिया और बोलीं—"उद्धव! पता नहीं, तुम जाने किस कृष्णकी बात कह रहे हो? हम तो उन कृष्णको चाहने वाली हैं, जिनके माथेपर मोर-मुकुट है, हाथमें वंशी है, कमरमें पीताम्बर धारण करनेवाले हैं, जो हमारे घर आ-आकर माखन खाते हैं, नाचते हैं, गाते हैं और अनन्त कामदेवकी छविसे हमारे लोचनोंको परमानन्द प्रदान करते हैं। उद्धव! तुम एक बार यह कह दो कि वे ही प्राण-प्यारे श्रीकृष्णचन्द्र हमें मिल जाएँगे, फिर हम तुम्हारी सभी बात माननेको तैयार हैं।"

इस प्रकार गोपियोंके प्रेम-रसमें पगे वचनोंको सुनकर ज्ञानके धनी उद्धवकी बुद्धि विचलित होगई और प्रेमके स्वरूपकी उस एक झलकसे ही उनकी ज्ञान-चक्षुओंके सामने चकाचौंध छा गया। वे सोचने लगे—"वास्तवमें संसारमें जन्म लेना तो इन गोपियोंका ही सार्थक है; क्योंकि भव-भयसे भीत ऋषि-मुनि-ज्ञानी और तपस्वी तथा हम जिस चिदानन्द-स्वरूप ब्रह्मकी केवल अनु-कम्पाके चाहनेवाले हैं, उसके साथ इनका ऐसा मधुर सम्बन्ध और इतनी प्रगाढ़ प्रीति है।" आनन्दमें उद्धव झूम उठे और भगवानसे प्रार्थना करते हुए बोले—"हे व्रजेश-नन्दन! मुझे तो इस वृन्दावनका ही कोई पक्षी बना दो या कोई पशु बना दो या गुल्म-लता बना दो या कोई तृण ही बना दो, जिससे प्रेमकी प्रतिमा इन ब्रज-गोपियोंकी चरण-रेणुका स्पर्श पाकर मैं अपने आपको कृतार्थ कर सकूँ।"

उद्धवजी उसी रसमें आप्लुत द्वारका पहुँचे और इन्हीं ब्रजाङ्गनाओंके पुनीत प्रेमका स्मरण कर श्रीद्वारकाधीशके साथ रहने लगे। जब श्रीकृष्णका स्वधाम पधारने का समय हुआ तो द्वारकामें चारों ओर अपशकुन होने लगे। श्रीउद्धवजी समझ गए और भगवानके सामने जाकर बोले—"प्रभो! मैं तो आपका दास हूँ, आपका सीथ-प्रसाद खाकर रहता हूँ और आपके पहने हुए कपड़े पहिन कर अपना शरीर ढकता हूँ।" आप मेरा त्याग न करें, मुझे भी आप अपने साथ ही अपने धाम ले चलें। श्रीकृष्णने उद्धवजीको आश्वासन दिया और तत्त्वज्ञानका उपदेश देकर उन्हें बदरिकाश्रममें जाकर निवास करनेकी आज्ञा दी।

श्रीकृष्ण चले गए अपने धाम और उद्धव बेचारे देखते रह गए। भगवान्‌की आज्ञा थी बदरिकाश्रम जानेकी और उनकी अभिलाषा थी श्रीब्रज-प्रदेशमें निवास करनेकी; अतः श्रीउद्धव जी अपने स्थूल रूपसे तो बदरिकाश्रम चले गए और सूक्ष्म रूपसे श्री गोवर्धनके पास लताओंमें छिपकर रहने लगे। जब महर्षि शाण्डिल्यके उपदेशसे वज्रनाभने गोवर्धनके समीप संकीर्तन-

महोत्सव किया, तब लता-कुञ्जोंसे निकल कर श्रीउद्धवजीने वज्रनाभ एवं व्रज-गोपिकाओंको श्रीमद्भागवतकी कथाका श्रवण कराया और एक महीने पश्चात् सबको श्रीनिकुञ्जमें लिवा ले गए।

इन समस्त कार्योंसे प्रतीत होता है कि निर्गुण ब्रह्मके उपासक श्रीउद्धव भगवान श्रीकृष्णके कितने भक्त थे। तभी तो उनके लिए व्रजेन्द्र-नन्दनने कहा है—

न तथा मे प्रियतम आत्मयोनिर्न शङ्करः।
न च सङ्कर्षणो न श्रीर्नैवात्मा च यथा भवान्॥

—मुझे तुम्हारे जैसे प्रेमी भक्त जितने प्रिय हैं, उतने ब्रह्मा, शङ्कर, बलराम, लक्ष्मी और अपनी आत्मा भी नहीं है।

राजा चित्रकेतु

शूरसेन देशमें प्राचीन समयमें चित्रकेतु नामके एक राजा थे। बुद्धि, विद्या, बल, धन, यश, सौन्दर्य, स्वास्थ्य आदि सब था उनके पास। उनमें उदारता, दया, क्षमा, प्रजावात्सल्य आदि सद्गुण भी पूरे थे। उनके सेवक नम्र और अनुकूल थे। मन्त्री नीति-निपुण तथा स्वामिभक्त थे। राज्यमें भीतर-बाहर कोई शत्रु नहीं था। राजाके बहुत-सी सुन्दरी रानियाँ थीं। इतना सब होनेपर भी राजा चित्रकेतु सदा दुखी रहते थे। उनकी किसी रानीके कोई सन्तान नहीं थी। वंश नष्ट हो जायगा, इस चिन्तासे राजाको ठीक निद्रा तक नहीं आती थी। एक बार अङ्गिरा ऋषि सदाचारी भगवद्भक्त राजा चित्रकेतुके यहाँ पधारे। महर्षि राजापर कृपा करके उन्हें तत्त्वज्ञान देने आये थे, किन्तु उन्होंने देखा कि मोहवश राजाको पुत्र पानेकी प्रबल इच्छा है। ऋषिने सोच लिया कि जब यह पुत्र-वियोगसे दुखी होगा, तभी इसमें वैराग्य होगा और तभी कल्याण के सच्चे मार्गपर चलने योग्य होगा। अतः राजाकी प्रार्थनापर ऋषिने त्वष्टा देवताका यज्ञ किया और यज्ञसे बचा अन्न राजाको देकर कह दिया कि "इसको तुम किसी रानीको दे देना।" महर्षिने यह भी कहा कि "इससे जो पुत्र होगा, वह तुम्हें हर्ष-शोक दोनों देगा।"

उस अन्नको खाकर राजाकी एक रानी गर्भवती हुई। उसके पुत्र हुआ। राजा तथा प्रजा दोनोंको अपार हर्ष हुआ। अब पुत्र-स्नेहवश राजा उसी रानीसे अनुराग करने लगे। दूसरी रानियोंकी याद ही अब उन्हें नहीं आती थी। राजाकी उपेक्षासे उनकी दूसरी रानियोंके मनमें सौतिया डाह उत्पन्न होगया। सबने मिलकर उस नवजात बालकको एक दिन विष दे दिया और बच्चा मर गया। बालककी मृत्युके कारण शोकसे राजा पागल-से हो गये। राजाको ऐसी विपत्तिमें देख उसी समय वहाँ देवर्षि नारदके साथ महर्षि अङ्गिरा आये। वे राजाको मृत-बालकके पास पड़े देख समझाने लगे—"राजन्! तुम जिसके लिये इतने दुखी हो रहे हो, वह तुम्हारा कौन है? इस जन्म से पहले वह तुम्हारा कौन था? जैसे रेतके कण जलके प्रवाहसे कभी एकत्र हो जाते हैं और फिर अलग-अलग हो जाते हैं, वैसे ही कालके द्वारा विवश हुए प्राणी मिलते और अलग होते रहते हैं। यह

पिता-पुत्रका सम्बन्ध कल्पित है। ये शरीर न जन्मके पूर्व थे, न मृत्युके पश्चात् रहेंगे। अतः तुम इनके लिये शोक मत करो।"

राजाको इन वचनोंसे कुछ सान्त्वना मिली। उसने पूछा—"महात्मन्! आप दोनों कौन हैं? मेरे-जैसे विषयोंमें फँसे मूढ़-बुद्धि लोगोंको ज्ञान देनेके लिये आप-जैसे भगवद्भक्त सिद्ध महापुरुष निःस्वार्थ भावसे पृथ्वीमें विचरण करते हैं। आप दोनों मुझपर कृपा करें। मुझे ज्ञान देकर इस शोकसे बचायें।"

महर्षि अङ्गिराने कहा—"राजन्! मैं तो तुम्हें पुत्र देनेवाला अङ्गिरा हूँ और मेरे साथ ये ब्रह्मपुत्र देवर्षि नारदजी हैं। तुम ब्राह्मणोंके और भगवानके भक्त हो, अतः तुम्हें क्लेश नहीं होना चाहिये। मैं पहले ही तुम्हें ज्ञान देने आया था, पर उस समय तुम्हारा चित्त पुत्र-प्राप्तिमें लगा था। अब तुमने पुत्रके वियोगका क्लेश देख लिया। इसी प्रकार स्त्री, धन, ऐश्वर्य आदि भी नश्वर हैं। उनका वियोग भी चाहे जब सम्भव है और ऐसा ही दुखदायी है। ये राज्य, गृह, भूमि, सेवक, मित्र, परिवार आदि सब शोक, मोह, भय और पीड़ा ही देनेवाले हैं। ये स्वप्नके दृश्योंके समान हैं। इनकी यथार्थ सत्ता नहीं है। अपनी भावनाके अनुसार ही ये सुखदायी प्रतीत होते हैं। द्रव्य, ज्ञान और क्रियासे बना इस शरीरका अभिमान ही जीवको क्लेश देता है। एकाग्र चित्तसे विचार करो और एकमात्र भगवान्को ही सत्य समझकर उन्हींमें चित्त लगाकर शान्त हो जाओ।"

राजाको बोध देनेके लिये देवर्षि नारदने जीवका आवाहन करके बालक को जीवित कर उससे कहा—"जीवात्मन्! देखो। ये तुम्हारे पिता-माता, बन्धु-बान्धव तुम्हारे लिये व्याकुल हो रहे हैं। तुम इनके पास क्यों नहीं रहते?"

जीवात्माने कहा—"ये किस-किस जन्ममें मेरे माता-पिता हुए थे? मैं तो अपने कर्मोंका फल भोगनेके लिये देवता, मनुष्य, पशु-पक्षी आदि योनियोंमें अनन्त कालसे जन्म लेता आ रहा हूँ। सभी जीव परस्पर कभी पिता, कभी पुत्र, कभी मित्र, कभी शत्रु, कभी सजातीय, कभी रक्षक, कभी आत्मीय और कभी उदासीन बनते हैं। ये लोग मुझे अपना पुत्र मानकर रोते क्यों हैं? शत्रु मानकर प्रसन्न क्यों नहीं होते? जैसे व्यापारियोंके पास वस्तुएँ आती और चली जाती हैं, एक पदार्थ आज उनका है, कल उनके शत्रुका है, वैसे ही कर्मवश जीव नाना योनियोंमें जन्म लेता घूमता है। जितने दिन जिस शरीरका साथ है, उतने दिन ही उसके सम्बन्धी अपने हैं। यह स्त्री-पुत्र-घर आदिका सम्बन्ध यथार्थ नहीं है। आत्मा न जन्मता, न मरता है। वह नित्य, अविनाशी, सूक्ष्म, सर्वाधार, स्वयंप्रकाश है। वस्तुतः भगवान ही अपनी मायासे गुणोंके द्वारा विश्वके नाना-रूपोंमें व्यक्त हो रहे हैं। आत्माके लिये न कोई अपना है, न पराया। वह एक है और हित-अहित करनेवाले शत्रु-मित्र आदि नाना बुद्धियोंका साक्षी है।

साक्षी आत्मा किसी भी सम्बन्ध तथा गुण-दोषको ग्रहण नहीं करता। आत्मा तो कभी मरता नहीं। वह नित्य है और शरीर नित्य है नहीं, फिर ये लोग क्यों व्यर्थ रो रहे हैं ?"

जीवात्माके इतना कह कर चले जाने पर सबका मोह दूर हो गया। विष देनेवाली रानी को भी बादमें बड़ा पश्चात्ताप हुआ। यह सुनकर महाराज चित्रकेतु महर्षि अंगिरा और देवर्षि नारद के पास आकर उनसे भगवत्प्राप्ति का साधन पूछने लगे। नारदजीने उनको भगवान् शेष का ध्यान तथा स्तुति-मन्त्र बतलाया। उसी स्तुति-रूप विद्याका राजाने केवल जलके सहारे रह कर सात दिन तक अखण्ड जप किया। इसके प्रभावसे वे विद्याधरोंकी योनिमें आ गए और कुछ समय पश्चात् अपनी मनोगतिके अनुसार भगवान् शेषके पास पहुँच गए। वहाँ अनेकों ऋषि, मुनि, योगी और ज्ञानियोंसे सेवित भगवान् संकर्षणके दर्शन किए और उनसे तत्त्वज्ञान का उपदेश प्राप्त किया। भगवान्के उपदेशसे राजाका मोह-जन्य अज्ञान जाता रहा और वे समस्त कामनाएँ, सम्पूर्ण इच्छाएँ एवं सब प्रकारके अहंकारको त्यागकर परमात्मामें मन लगाने लगे।

अब इन्हें अपनी तपश्चर्या और योगके बलसे इतनी शक्ति प्राप्त होगई थी कि ये चौदहों लोकोंमें बिना रोक-टोकके जा सकते थे। एक बार वे आकाश मार्गसे होकर जारहे थे कि उनकी दृष्टि शिवलोक पर पड़ी। वहाँ उन्होंने देखा कि भगवान् शंकर महर्षियों, देवर्षियों और देवगणोंके समाजके मध्य भी अपनी पार्वतीको अङ्कमें लेकर बैठे हैं। चित्रकेतु उस दृश्यको देखकर भगवान् शंकर और पार्वतीकी आलोचना करने लगे। चन्द्रमौलि तो केवल उस आलोचनाको सुनकर हँस दिए, पर पार्वतीजीको क्रोध आ गया और उन्होंने चित्रकेतुको शाप दिया कि—"तू बड़ा उद्धत और अविनीत है, इस देव-योनिके योग्य नहीं। जा, इस कुकृत्यके कारण तुझे असुर-योनि प्राप्त हो।"

शाप सुनकर चित्रकेतुको न तो दुःख हुआ और न भय ही; किन्तु वे माता पार्वतीके साथ शिष्ट व्यवहार करनेके लिए विमानसे उतर पड़े और उनके चरण पकड़ कर बोले—"माता! मुझे आपके द्वारा दिया गया शाप स्वीकार है; पर मेरे अशिष्ट व्यवहारसे उत्पन्न हुई अपने हृदय की विकृतिको दूर कर आप मुझे क्षमा कर दीजिए, जिससे कि शाप देनेके बाद भी आपके हृदयको किसी भी प्रकार कष्ट न हो।"

इस प्रकार क्षमा माँग कर चित्रकेतु विमानमें बैठ कर चल दिए। उनकी इस स्थितिको देखकर पार्वतीको बड़ा आश्चर्य हुआ। शंकरजीने उन्हें बतलाया—"देवि! भगवान्के आश्रित रहनेवाले भक्त किसीसे डरते नहीं; क्योंकि कोई भी स्थिति उनके अन्तःकरणको विचलित नहीं कर सकती है। वे स्वर्ग, नरक तथा मोक्षमें भी समान दृष्टि रखते हैं। वे जानते हैं कि जीव भगवानकी लीलासे ही सुख-दुःख, जन्म-मरण एवं शाप-अनुग्रहके अधिकारी होते हैं। ये चित्रकेतु

भी वैसे ही शान्त, समदर्शी एवं भगवान्‌के अनन्य भक्त हैं। यदि इनकी क्रिया इस प्रकारकी है तो इसके लिये तुम्हें आश्चर्य नहीं करना चाहिए।"

श्रीशंकर भगवान्‌के इन शब्दोंसे पार्वतीका आश्चर्य दूर होगया और उनके शापके कारण परम-भक्त श्रीचित्रकेतुजी त्वष्टाके यज्ञमें दक्षिणाग्निसे वृत्रासुरके रूपमें प्रकट हुए और उस योनि में भी भगवान्‌के परम-भक्त रह कर इन्द्रके द्वारा उस आसुरी शरीरका अन्त कर देनेपर भगवान की अनन्त ज्योतिमें जा मिले।

गज-ग्राहजी

श्रीगजराजजी पूर्व-जन्ममें इन्द्रद्युम्न राजा तथा श्रीग्राहजी हाहा-नामके एक गन्धर्व थे। दोनोंको ऋषियोंके शापके कारण यह योनि भोगनी पड़ी थी। ये दोनों कथाएँ यहाँ संक्षेपमें दी जाती हैं—

गजेन्द्रजीः—इन्द्रद्युम्न नामका एक राजा था। वह अपने मंत्रियोंपर राज्यका भार छोड़ कर एकान्त पर्वतकी घाटीमें जाकर भजन करने लगा। वह सुबहसे शामतक मौन रहकर भगवान्‌के ध्यानमें मस्त रहता था।

एक बार संयोगवश ऋषीश्वर श्रीअगस्त्यजी वहाँ आ निकले। वे घूमते-घामते राजाके पास भी पहुँचे, पर अभिमानके कारण न तो उस राजाने खड़े होकर ऋषिराजका अभिवादन ही किया और न उनको उचित आदर-सत्कारसे ही प्रसन्न किया। महर्षिको उसके इस व्यवहार पर क्रोध आया और उन्होंने शाप दिया कि—'तू मदमस्त हाथी हो जा'—क्योंकि अपने अभिमानके मदमें वह हाथीके समान ही बैठा रहा था। ऋषिराजके इसी शापके कारण वह इन्द्रद्युम्न राजा बड़ा शक्तिशाली गजराज हुआ।

ग्राहजीः—एक बार श्वेतद्वीपके एक सरोवरमें श्रीदेवल-मुनि स्नान कर रहे थे। हाहा नामक गन्धर्व भी वहीं पासमें क्रीड़ा कर रहा था। उसने खेल ही खेलमें पानीके भीतरसे आकर मुनिका पैर इस प्रकारसे पकड़ लिया मानो कोई ग्राह हो। मुनि डर गए। उनको डरा हुआ देख कर गन्धर्व पानीसे बाहर निकल कर हँसने लगा। मुनि सब रहस्य समझ गए और उन्होंने उसकी इस क्रियासे क्रुद्ध होकर उसे ग्राह बन जानेका शाप दे दिया। उसी शापके परिणाम-स्वरूप उस गन्धर्वको ग्राह बनना पड़ा और वह उसी तालाबमें रहने लगा।

संयोगवश एक दिन अगस्त्य ऋषिके शापके कारण हाथी बना इन्द्रद्युम्न नामका राजा भी अपने परिकरके साथ घूमता हुआ उसी सरोवरके किनारे आ पहुँचा। वहाँ उसने अपनी हथनियों और साथियोंके साथ जल पिया। जब वह सरोवरमें विहार करनेके लिए जाना ही चाहता था कि उसी ग्राहने उसका पैर पकड़ लिया और लगा उसे सरोवरके बीचमें खींचने। गजेन्द्र सावध न हुआ।

वह अपने पैरको छुड़ाने लगा। दोनों ओरसे खींचा-तानी होने लगी। अपने बलसे जब गज-राजका काम नहीं चला तो उसने अपने अन्य साथियोंको भी सहायताके लिए बुलाया, पर वे भी कुछ न कर सके और ग्राह हाथीको अथाह पानीमें खींचता ही ले गया। जब गजराजकी हथिनियों और साथियोंने देखा कि यह तो अब मरने ही वाला है, हम इसके पीछे अपने प्राण क्यों त्यागें, तो वे उसे छोड़कर अपने निवास-स्थानपर चले गए। फिर भी ग्राह अपने बल पर सहस्र-वर्ष-पर्यन्त लड़ता रहा। अन्तमें उसकी शक्ति समाप्त हो गई। जब उसकी सूँड़ केवल तिल-भर ऊपर रह गई तो उसे दीन-वत्सल, अशरण-शरण भगवान् विष्णुका स्मरण आया—"वे त्रिलोकके रक्षक क्या मेरी रक्षा नहीं करेंगे ?" भगवानकी याद आते ही उसकी आँखें बहने लगीं। उसने सरोवरमें खिले कमलके फूलोंमें से एक फूल अपनी सूँड़से तोड़ा और उसे दीन-रक्षक भगवान विष्णुकी ओर करके आर्त-स्वरसे स्तुति करने लगा।

भगवान तो इस प्रकारकी पुकारकी प्रतीक्षा करते रहते हैं। गजराजके आर्त-नादको सुनकर आर्तिहरण भागे उस गजेन्द्रकी रक्षाके लिए अपने गरुड़को भी त्यागकर, और आते ही ग्राहको मारकर गजेन्द्रका उद्धार किया। ग्राह भगवानके हाथका स्पर्श पाकर पुनः गन्धर्व बन गया और अनेक प्रकारकी स्तुति करके अपने निवास-स्थानको चला गया। श्रीगजराजजी भी भगवानके दर्शनसे समस्त पापों और शापसे छूटकर चतुर्भुजरूप धारण करके भगवानके धामको चले गये।

भक्त-पाण्डव

महाराज पाण्डुके दो रानियाँ थीं—कुन्तीदेवी और माद्री। कुन्ती देवीके धर्मके अंशसे धर्मराज युधिष्ठिर, वायुके अंशसे भीम एवं इन्द्रके अंशसे अर्जुन—ये तीन पुत्र पैदा हुए। दूसरी रानी माद्रीके गर्भसे अश्विनीकुमारोंके अंशसे नकुल एवं सहदेव—ये दो पुत्र पैदा हुए। पाँचों भाई पाण्डव कहलाए। इनमें आपसमें बड़ा सौहार्द था। सभी भाई बाल्यकालसे ही धार्मिक, सत्यवादी, न्यायी, क्षमावान, सरल, दयालु, और भगवानके परम भक्त थे। धर्मावतार महाराज युधिष्ठिर सबसे बड़े थे, अतः सब भाई बिना विचारे उनकी आज्ञा माननेमें अपने प्राणोंकी भी चिन्ता नहीं करते थे। महाराज पाण्डु अपने पुत्रोंको अल्पायु छोड़कर ही इस संसारसे विदा हो गए। उनके साथ देवी माद्री भी सती हो गईं और पाण्डवोंके पालन-पोषणका भार कुन्ती देवीपर आ पड़ा। उन्होंने ही उनका लालन-पालन किया।

महाराज पाण्डुके मरनेपर अन्धे धृतराष्ट्र सिंहासनपर बैठे। उनके प्रायः समस्त पुत्र, अधार्मिक, असत्यवादी, अन्यायी, क्रूर, कुटिल एवं अभिमानी थे। उनका सबसे बड़ा पुत्र दुर्योधन तो पाण्डवोंसे अकारण ही द्वेष रखता था। भीमका तो वह महान् शत्रु था। उसने

भीमको मारनेके लिए विष खिलाकर गंगाजीमें फिकवा दिया। भाग्यवश वे बहकर नाग-लोकमें जा पहुँचे जहाँ नागोंके द्वारा काटे जानेपर कौरवों द्वारा दिए गए विषका असर जाता रहा और वे पुनः स्वस्थ दशामें वापस लौट आए। कुन्ती-सहित पाँचों पाण्डवोंको लाक्षागृहमें आग लगाकर जला डालनेकी योजना भी दुर्योधनने बनाई, परन्तु विदुरजी द्वारा इस कुकृत्यकी सूचना पाण्डवोंको मिल गई, जिससे वे अपने प्राण बचा सके।

पाँचों भाइयोंमें भीमसेन शरीरसे बहुत विशाल थे। उनके समान बलवाला उस समय भी कोई नहीं था। वे बड़े-बड़े योद्धाओं और राक्षसोंको इशारे-मात्रसे मीलों उठाकर फेंक दिया करते थे। विशाल-काय जंगली हाथियोंको भी आसानीसे पछाड़ फेंकना तो उनके बाएँ हाथ का खेल था। वनमें पाँचों भाइयों और माता कुन्तीको पीठपर चढ़ाकर मीलों मार्ग तय करना उनकी ही सामर्थ्य थी। धनुर्विद्यामें अर्जुनके जोड़का कोई भी नहीं था। उनका लक्ष्य कभी भी नहीं चूका। वे राजा द्रुपदकी पुत्री द्रौपदीके स्वयंवरमें गए और वहाँ मत्स्य वेध कर द्रौपदीको प्राप्त किया। वह माता कुन्तीके आदेशसे पाँचों भाइयोंकी पत्नी बनीं। यह समाचार जब धृतराष्ट्र को मिला, तब उन्होंने पाँचों भाइयोंको हस्तिनापुर बुलाया और उन्हें आधा राज्य दे दिया। पाण्डवोंके न्याय, नीति, धर्म और सत्य-शासनमें सुख पनपने लगा और पाण्डवोंका ऐश्वर्य दिन-रात बढ़ने लगा। धर्मराज युधिष्ठिरने राजसूय यज्ञ किया और दिग्विजय करके राज-राजेश्वर बन गए।

इस प्रकार जब पाण्डवोंका वैभव बढ़ने लगा तो कौरवोंको इनसे आन्तरिक द्वेष हुआ। धृतराष्ट्रकी आज्ञासे युधिष्ठिरको न चाहते हुए भी जुआ खेलना पड़ा। जुएमें पाण्डव अपना सारा राज्य हार गये। द्रौपदीका चीर-हरण किया गया और अन्तमें बारह वर्षका वनवास एवं एक वर्षका अज्ञातवास करना पड़ा। इतना कर चुकनेपर भी जब पूर्व निर्णयके अनुसार उन्हें राज्य नहीं दिया गया तो युद्धकी आग भड़क उठी। महाभारत हुआ और कितनी ही अक्षौहिणी सेनाएँ, महारथी और महाराजाओंके प्राणान्तके बाद कौरवोंका विनाश हुआ। महाराज युधिष्ठिर राजा हुए और छत्तीस वर्ष तक सत्य और न्यायपूर्वक राज्य कर चुकनेपर भगवान श्रीकृष्णके स्वधाम चले जानेके कारण विकल हो अपने पौत्र परीक्षितको राज्य देकर पाँचों भाई हिमालय पर्वतपर महाप्रयाण के लिए चले गए।

भगवान श्रीकृष्णचन्द्र हमेशा पाण्डवोंके साथ रहे। उन्होंने अपनी समस्त भगवत्ताको त्यागकर जो अर्जुनके रथवानका कार्य सँभाला इसका कारण पाण्डवोंकी सत्य, न्याय और सदाचारकी प्रवृत्ति ही थी। इसीके कारण उन्होंने अपने मान-अपमान, हानि-लाभ और यश-अपयशकी चिन्ता न करके हर स्थितिमें प्रत्येक प्रकारसे पाण्डवोंकी सहायता की। उनके कष्टों और आपत्तियोंको टाला तथा पग-पग पर उनके मङ्गलकी योजना की।

यों तो ये पाँचों भाई आपसमें बड़े प्रेमसे रहा करते थे, परन्तु फिर भी अपने बड़े भाई युधिष्ठिरकी आज्ञाका पालन सभी प्राण-पणसे करते थे । युधिष्ठिरने जुआ खेला और उनके दोषसे सभी भाइयोंको वनवासका कष्ट भोगना पड़ा, पर शायद उनमेंसे किसीने भी इस कष्टका कारण उन्हें सोचा भी नहीं होगा । इधर युधिष्ठिरजी भी अपने छोटे भाइयोंपर पुत्रके समान सच्चा प्रेम किया करते थे। इसी प्रकार सभी भाई श्रीकृष्ण भगवानके भी परम प्रिय थे । उनके प्रत्येक कार्य इनके इशारेपर होते थे । अर्जुनके तो भगवान श्रीकृष्ण प्राणोंसे भी प्यारे थे । वास्तवमें पाण्डवोंकी कोई क्या प्रशंसा करेगा, जिनके प्रेमके कारण भगवान श्रीकृष्ण दूत बने, सारथी बने, और सब प्रकारसे उनकी रक्षा करते रहे । वस्तुतः इन पाण्डवोंके भाग्यकी तो कोई सीमा ही नहीं है ।

(मूल छप्पय)

योगेश्वर, श्रुतिदेव, अंग, मुचकुन्द, प्रियव्रत जेता ।
पृथू, परीक्षित, शेष, सूत, शौनक, परचेता ॥
सतरूपा, त्रयसुता, सुनीति, सती, सबही, मन्दालस ।
यज्ञपत्नि, व्रजनारि, किये केशव अपने बस ॥
ऐसे नरनारी जिते तिनही के गाऊँ जसैं ।
पद पंकज बाँछौं सदा जिनके हरि नित उर बसैं ॥१०॥

जिन भक्तों के हृदय में भगवान सदा निवास करते हैं, उनके चरण-कमलों की मैं सदा सेवा करना चाहता हूँ । नव योगीश्वर तथा श्रुतिदेव से आरम्भ कर व्रज - गोपियों तक को उन्होंने अपने प्रेमके वशमें कर लिया था । अन्य ऐसे ही जितने भी स्त्री या पुरुष-भक्त हैं, सबके यशका मैं गान करता हूँ ।

भक्ति-रस-बोधिनी

जिन ही के हरि नित उर बसैं तिन ही को पद रेनु चैनु दैनु आभरण कीजिये ।
योगेश्वर आदि रस-स्वाद मैं प्रवीन महा, विप्र श्रुतिदेव ताकी बात कहि दीजिये ॥
आए हरि घर देखि गयो प्रेम भरि हियो, ऊँचो कर करि, पट फेरि, नाचि भीजिये ।
जिते साधु संग तिन्हैं चिंत न प्रसंग कियो, कियो उपदेश 'मोसों बड़ि पाँव लीजिये' ॥७३॥

अर्थ— जिन भक्तोंके हृदयमें भगवान वास करते हैं, उन्हींके चरणोंकी धूलिको मस्तक पर धारण करना चाहिये; क्योंकि उसीसे मनको अखण्ड शान्ति मिलती है । नव-योगेश्वर आदि भक्त उन्हींके अन्तर्गत हैं । ये सब भगवानकी भक्तिके आनन्दका अनुभव करनेमें अत्यन्त कुशल

है—अर्थात् इन्हें सभी रस-रीतिका ज्ञान है। ब्राह्मण श्रीश्रुतिदेव भी इन्हीं भक्तोंकी कोटिमें आते हैं। (यह जनकपुरमें रहते थे। एक समय श्रीकृष्णचन्द्र निमि-वंशी राजा श्रीबहुलाश्वजीसे मिलने जनकपुर पहुँचे और वेष बदलकर अपने कुछ साथियोंके साथ श्रीश्रुतिदेवके घरपर भी गए।) भगवानको अपने घर आया हुआ देखकर श्रीश्रुतिदेवके आनन्दका वार-पार नहीं रहा और वे दोनों हाथोंको ऊँचाकर एवं कपड़ोंको घुमा-घुमा कर नाचने लगे। भगवानके प्रेममें वे इतने बेसुध हो गये कि उन्होंने साथमें आए हुए संतोंकी ओर ध्यान भी नहीं दिया—यहाँ तक कि न तो उन्हें प्रणाम किया और न नियमपूर्वक स्वागत। यह देख कर श्रीकृष्णने अपने भक्तोंकी भक्ति करनेका उपदेश देते हुए कहा—'मेरे भक्त मुझसे बढ़ कर हैं। इनके चरणोंकी वन्दना करो।

अन्य भक्तों का संक्षिप्त परिचय

योगीश्वर—ये संख्या में नौ कहे जाते हैं। इनका परिचय श्री नाभाजी आगे चलकर देंगे।

श्रीश्रुतिदेवजी

मिथिलाके प्रजावत्सल एवं भक्तराज बहुलाश्वके नगरमें श्रुतिदेव नामके एक भगवानके परम भक्त एवं गरीब ब्राह्मण रहते थे। वे बुद्धिमान, सुशील एवं शान्त स्वभावके थे। जो कुछ मिल जाता उसी पर संतोष कर सन्ध्या-तर्पण आदिमें विश्वास रखनेवाले आसक्तिहीन भक्त थे। भक्त-शिरोमणि राजा बहुलाश्व एवं परम भक्त ब्राह्मण श्रुतिदेव दोनों ही भगवान श्रीकृष्णके अनन्य भक्त थे।

बहुत दिनतक भगवानके दर्शनकी अभिलाषा रखनेपर दोनोंको उनके दर्शनका सौभाग्य प्राप्त हुआ। भगवान द्वारिकाधीश रथपर चढ़कर मिथलापुरीमें आए। दोनों—बहुलाश्व एवं श्रुतिदेवने जब उनके आगमनका समाचार सुना तो प्रसन्नतासे नाच उठे। सभी नगर-वासियोंके साथ दोनों अनेकों प्रकारके उपहार-भेंट लेकर नगरके बाहर आये और श्रीकृष्ण एवं उनके साथ आए नारदजी, वामदेवजी, अत्रिजी, व्यासजी, परशुरामजी, अरुणिजी, शुकदेवजी, बृहस्पतिजी, कण्वजी, मैत्रेयजी, च्यवनजी आदि सभी ऋषि-मुनियोंको प्रणाम किया। राजा बहुलाश्व एवं श्रुतिदेव दोनोंही अपनी भक्तिकी प्रगाढ़ताके कारण यह समझ रहे थे कि भगवान् मेरे ही कारण इस मिथिलामें पधारे हैं, अतः दोनोंने उनसे अपने-अपने घर चलनेका आग्रह किया। भगवान तो सर्वज्ञ ठहरे। दोनोंके मनकी बात समझ कर उन्होंने अपने तथा समस्त ऋषियोंके दो-दो रूप बना दिए और फिर दोनोंके घर जाकर उनकी मानसिक अभिलाषा पूर्ण की। विप्रवर श्रुतिदेवने जब अपने प्रभुको ऋषि-मुनियोंके साथ अपनी कुटियापर देखा तो आनन्दके कारण उनका स्वागत सत्कार करना तो भूल गए और ताली बजा-बजा कर नाचते कूदते हुए उनका कीर्तन करने लगे।

अपने भक्तकी इस तल्लीनता को देखकर भगवानके मनमें भी आनन्दका स्रोत फूट निकला। वे भी सुधि-बुधि भूलकर अपने भक्तकी उन मोदमयी केलियों को खड़े-खड़े देखते रहे। कुछ देर पश्चात् स्वयं श्री श्रुतिदेवजीको ध्यान आया और उन्होंने यथासाध्य सभीको कुशासन, चटाई, पीढ़ा आदि देकर बिठाया। उन्होंने भगवान श्रीकृष्णके चरण धोकर चरणामृत-पान किया, उनकी पूजा-अर्चनाकी और अनेक प्रकारकी स्तुतियोंसे उनकी प्रार्थनामें तल्लीन होगए।

कुछ समय पश्चात् जब वे थोड़े सावधान हुए तो भगवान श्रीकृष्णने उन्हें सन्तोंका माहात्म्य समझाया और उनका पूजन करनेको कहा। अब तक श्रुतिदेवने जान-बूझकर ऋषियोंका पूजन नहीं किया हो, ऐसी बात नहीं थी। वे तो अपनेको भी भूल गए थे। जब भगवानके याद दिलाने पर उन्हें ध्यान आया तो उन्होंने समस्त साधु-सन्तोंकी सेवा भी उसी श्रद्धा और भक्तिसे की, जिससे श्रीद्वारकाधीशकी की थी। कुछ काल पर्यन्त श्रुतिदेवकी कुटीमें निवासकर भगवान उनसे विदा लेकर द्वारका चले गए और श्रुतिदेवजी भी उनका चिन्तन करते हुए कुछ समयके पश्चात् उनके नित्य-धाममें चले गए।

महाराज श्रीअङ्गजी

परम धर्मात्मा भगवद्भक्त महाराज अङ्ग सोमवंशके प्रधान राजा थे। वे विठूरके रहनेवाले थे। इनके पिताका नाम उल्मुक और माताका नाम पुष्करिणी था। ये जन्मसे ही शील-सम्पन्न, साधु-स्वभाव, ब्राह्मण भक्त और परम महात्मा थे। एक बार राजर्षि अङ्गने अश्वमेध यज्ञका अनुष्ठान किया। उसमें ब्राह्मणोंके आवाहन करने पर भी देवता अपना भाग लेने नहीं आए। तब ऋत्विजोंको बड़ा आश्चर्य हुआ। वे महाराज अङ्गसे बोले—"महाराज! हम आहुतिके रूपमें जो घृत आदि पदार्थ हवन करते हैं, उसे देवता स्वीकार नहीं कर रहे हैं। हमको पता है कि आपकी होम-सामग्री श्रद्धासे इकट्ठी की गई है और परम पवित्र एवं निर्दोष है। यज्ञका प्रारम्भ पूर्ण विधिविधानसे किया गया है। इस यज्ञमें तो उन देवताओंका किसी प्रकार भी तिरस्कार किया नहीं गया, फिर ये लोग अपना-अपना भाग क्यों नहीं लेते?"

यह सुन महाराज अङ्गको बड़ी चिन्ता हुई। उन्होंने याजकोंकी आज्ञासे मौन तोड़कर सदस्योंसे इसका कारण पूछा। सदस्योंने बतलाया—"महाराज! इस जन्ममें तो आपसे किसी प्रकारका भी अपराध हुआ नहीं है। पहले जन्मका आपका एक अपराध अवश्य है। उसीके कारण आपको सन्तान-प्राप्ति नहीं हुई है, अतः आप पहले सन्तान-प्राप्तिके लिए यज्ञ कीजिए। उस यज्ञमें साक्षात् यज्ञ-पुरुष श्रीहरिका आवाहन किया जायगा। भगवान तो भक्त के आधीन ठहरे। वे अपने भक्तका समस्त अपराध भूल जाते हैं और जिस स्थान पर उनका भक्त जैसी कामना करता है वैसा ही फल देते हैं। इसलिए वे अवश्य ही यज्ञमें उपस्थित होंगे और अपना

भाग ग्रहण कर आपको सन्तान प्रदान करेंगे। जब साक्षात् श्रीहरि अपना भाग ग्रहण करने लगेंगे, तो देवता भी फिर अपने भागको अस्वीकार नहीं कर सकते।"

पुत्रेष्टि-यज्ञ कराया गया और भगवान विष्णुकी पूजाके लिए पुरोडाश नामक चरु समर्पित किया गया। अग्निमें आहुति डालते ही सोनेके हार और शुभ्र वस्त्रोंसे विभूषित भगवान विष्णु सिद्ध खीर लेकर अग्नि-कुण्डसे प्रकट हुए। राजाने वह खीर ग्रहणकी और अपनी पत्नीको खिला दी। भगवानकी कृपासे उसके यथासमय वेन नामका एक पुत्र उत्पन्न हुआ। वह अपने नाना काल (मृत्यु) के से आचरणका था, अतः बाल्य-काल से ही वह दुराचारी और अधार्मिक था। निरीह पशु-पक्षियोंकी हत्या करना, निर्दोष मनुष्योंको सताना, मैदानों और मार्गोंमें आनन्द-पूर्वक खेलनेवाले बालकोंको बिना कारण मारना आदि उसके नित्यके व्यापार थे। उसके इन व्यवहारोंसे अत्यन्त खिन्न होकर महाराज अङ्ग एक दिन विरक्त-चित्त हो सब कुछ त्याग कर घरसे निकल पड़े। जब प्रजाजनों एवं मन्त्रियोंको इसका पता लगा तो वे राजाके लिए अत्यन्त व्याकुल हो उन्हें वन-वन खोजने लगे; परन्तु उनका पता नहीं लगा। महाराज अङ्ग जङ्गलके घने भागमें जाकर शुद्ध मनसे दत्तचित्त होकर भगवानका भजन करने लगे और अन्तमें इस नश्वर शरीरको त्याग कर परमधामको चले गए। यह प्रसङ्ग श्रीमद्भागवतके चतुर्थ स्कन्धके तेरहवें अध्यायमें सविस्तार वर्णित है।

महाराज श्रीमुचुकुन्दजी

श्रीमुचुकुन्दजी इक्ष्वाकु वंशके परमप्रतापी राजा मान्धाताके पुत्र थे। बल-पराक्रममें ये इतने बढ़े-चढ़े थे कि देवता लोग भी इनकी सहायताके लिए लालायित रहते थे।

एक बार असुरों एवं देवताओंमें बड़ा संग्राम हुआ। जब देवता हारने लगे तो उन्होंने महाराज मुचुकुन्दसे सहायताकी प्रार्थना की। उन्होंने देवराजकी प्रार्थना स्वीकार करली और राक्षसोंसे लड़नेके लिए चले गए। जब दैत्योंसे युद्ध करते-करते उन्हें बहुत समय व्यतीत हो गया तो इन्द्रने उनके पास आकर कहा—"राजन्! आपको हमारी सहायता करते हुए हजारों वर्ष होगए। यहाँ का एक वर्ष धरतीके तीन सौ साठ सालके बराबर होता है। आप इतने दीर्घकाल से अपने राज्य-वैभव एवं पत्नी-पुत्रादिको त्यागकर हमारी सेवा कर रहे हैं। इतना समय बीत जाने के बाद न तो आपकी राजधानीका ही धरतीपर कहीं पता होगा, न आप अपने पारिवारिक जनोंसे ही मिल पावेंगे। हम आपके इस पुनीत कार्यसे परम प्रसन्न हैं। आप हमसे मोक्षको छोड़ कर अन्य जो कुछ भी माँगना चाहें, माँग सकते हैं।"

राजा मुचुकुन्द अपनी मानवीय बुद्धिके कारण कुछ अन्य वस्तु माँगनेकी बात न सोच सके। उस समय उनको नींद बहुत सता रही थी, अतः उन्होंने इन्द्रसे कहा—"मुझे आप ऐसा

वरदान दीजिए कि मैं आरामसे सो सकूँ । मेरे सोनेमें जो भी विघ्न उपस्थित करे, वह तुरन्त ही भस्म हो जाय।"

इन्द्रने कहा—"ऐसा ही होगा। आप आरामसे पृथ्वी पर जाकर शयन कीजिए। जो कोई भी आपको जगाएगा वह भस्म हो जायगा।" इन्द्रसे वरदान पाकर महाराज मुचुकुन्द भूतल पर आए और जङ्गलमें जाकर एक एकान्त, शान्त गुहामें सो गए। उन्हें सोते-सोते कितने ही वर्ष बीत गए और द्वापर आगया। उस समय भगवान कृष्णने पृथ्वी पर अवतार लिया। तभी कालयवन नामक एक राक्षसने आकर मथुराको घेर लिया। भगवान उसको मरवानेकी इच्छासे तथा मुचुकुन्द पर कृपा करनेके लिए उसे ललकार कर भागने लगे। काल-यवन भी क्रोध करके उनके पीछे भागा। श्रीकृष्ण भागते-भागते उसी गुफामें जाकर घुस गए, जिसमें महाराज मुचुकुन्द इन्द्रसे सोनेका वर पाकर शयन कर रहे थे। श्रीकृष्णने अपना पीताम्बर उतार कर धीरेसे उनके ऊपर डाल दिया और आप तमाशा देखनेके लिए पास ही छिप कर बैठ गये। कुछ समय बाद कालयवन भागता हुआ आया और गुफामें झाँका तो पीताम्बर ओढ़े सोते हुए राजा उसे दिखाई पड़े। उसने समझा, श्रीकृष्ण सोनेका बहाना करके यहाँ आ छिपे हैं और बिना सोचे समझे उन्हें छेड़ना आरम्भ कर दिया। महाराज मुचुकुन्दकी नींदमें विघ्न पड़ा। वे जागे तो सामने कालयवन पर उनकी दृष्टि पड़ी। फिर क्या था? वह देखते ही देखते भस्म हो गया। अब राजा इधर-उधर देखने लगे। उन्होंने देखा, सम्पूर्ण गुहा एक दिव्य प्रकाशसे जगमगा रही है। जब उन्होंने पीछे मुड़ कर देखा तो मन्द-मन्द मुस्कराते सजल-जलदाभ भगवान श्रीकृष्णचन्द्रजी सामने खड़े दिखाई दिए। उन्होंने उन्हें अपना परिचय दिया, उनका परिचय लिया। जब महाराजको मालूम पड़ा कि ये तो समस्त जड़-जङ्गममें व्याप्त सर्वेश्वर श्रीकृष्ण भगवान हैं, तो उन्होंने प्रेमविह्वल हो उनके चरण पकड़ लिए। भगवानने अपनी आजानुबाहुओं से उन्हें उठाकर अपनी छातीसे लगा लिया। मुचुकुन्द कृतार्थ होगए, उस दिव्य चिदानन्द मूर्तिका स्पर्श पाकर। श्रीकृष्णने उनको वरदान माँगनेका प्रलोभन दिया, पर महाराजको अब संसारके विषैले भोग कब अच्छे लगते? उन्होंने कहा—"स्वामी! यदि आप देना ही चाहते हैं, तो यही दीजिए कि मेरी आपके चरण-कमलोंमें अखण्ड प्रीति हो और मैं संसारके समस्त भोगोंसे मुक्त रहकर आपकी उपासना कर सकूँ।"

भगवानके दर्शनके बाद फिर शरीर और उपासनाकी क्या आवश्यकता? पर वे तो ठहरे भक्त-वत्सल! जैसी भक्तकी अभिलाषा हो उन्हें तो वैसा ही करना।

भगवान वर देकर चले गए। महाराज मुचुकुन्दने समय आने पर अपने इस शरीरको त्याग दिया और भगवानकी उपासना करनेके लिए विशुद्ध ब्राह्मणके घरमें जन्म लिया। वे शान्तभावसे भगवानके चरणारविन्दमें दत्तचित्त रहकर प्रभुकी उपासना करते और उन्हींके मनो-

मुग्धकारी स्वरूपके ध्यानमें अपने क्षण-क्षणको सफल बनाते। इस प्रकार बहुत समय तक भगवानकी भक्तिमें लीन रह कर वे प्रभुके साथ अनन्य भावसे रहनेके लिए इस संसारसे दिव्य-धाममें चले गए।

श्रीप्रियव्रतजी

श्रीप्रियव्रतजी महाराज मनुके पुत्र थे। बाल्यकालसे ही वे भगवानके परम भक्त थे। नारदजी की कृपासे उन्हें तत्त्व-ज्ञान प्राप्त हो गया था। वे संसारके सच्चे स्वरूपको पहिचान गए थे। वे जानते थे कि यह तो सब स्वप्नके समान ही अस्थायी है। इसमें अनुरक्त होना समझदार आदमी का काम नहीं। संसारमें यदि कोई व्यक्ति अपने जीवनको सफल बनाना चाहता है तो उसे चाहिए कि वह भगवानके श्रीचरणोंपर अपने जीवनको चढ़ा दे, बस इसीमें उसका मङ्गल है। यही सोच कर वे गन्धमादन पर्वत पर नारदजीके पास चले गए। वहाँ वे श्रीनारदजीसे भगवान की मनोहर गाथाओंका श्रवण करते और उनके ध्यानमें सदा ही लगे रहते। जब महाराज मनु प्रजासृष्टि करने लगे तो उन्होंने राज्यसञ्चालनका भार अपने पुत्र प्रियव्रत पर छोड़ना चाहा, किन्तु प्रियव्रतने उसे स्वीकार नहीं किया; क्योंकि वे तो संसारके विषयोंको पहले ही विषके समान समझते थे।

प्रियव्रत के द्वारा राज्य अस्वीकार कर देने पर भगवान ब्रह्मा अपने हंस पर विराजमान होकर उन्हें समझानेके लिए आए। जब नारदजी एवं प्रियव्रतने सृष्टिकर्ता स्वयम्भूको आते देखा तो वे उठ खड़े हुए और उनके चरणोंमें प्रणाम करके हाथ जोड़ कर सामने खड़े हो गए। श्रीब्रह्माजीने उन्हें समझाया—"बेटा प्रियव्रत! सर्व-लोक-नियन्ता श्रीसर्वेश्वर प्रभुने जो भी कर्त्तव्य तुम्हारे लिए निर्धारित किया है, उसे करना तुम्हारा पहला धर्म है।"

"मैं, शङ्करजी या महर्षिगणोंमेंसे कौन नहीं चाहता कि सब कुछ त्याग कर आनन्द-कन्द भगवानके पवित्र और मनोमुग्धकारी चरित्रोंका गान-श्रवण करते हुए उन्हींके ध्यानमें रात-दिन लगा रहा जाय। परन्तु ऐसा नहीं कर पाते हैं; क्योंकि हमें तो उनके आदेशका पालन पहले करना है, अपनी रुचिका ध्यान पीछे। अतः भगवान श्रीसर्वेश्वरकी जैसी आज्ञा है, उसीके अनुसार आपको कार्य करना चाहिए। हाँ, यह बात अवश्य है कि संसारिक कार्योंको भगवानकी आज्ञा मानकर करो। उनमें आसक्त मत हो जाओ। जैसे कमल जलके अन्दर रहता है और 'जलज' कहलाता है, परन्तु जलके स्पर्शसे वह सदा दूर रहता है, उसी प्रकार तुम भी अनासक्त रह कर संसारके समस्त कार्योंको करो। जो स्वकर्म-पालनको भगवानकी आज्ञा मानकर करता है और किसी भी शुभाशुभका कर्त्ता स्वयंको नहीं मानता, उसके वे लौकिक-कार्य ही भगवानकी पूजा, उपासना और भजन हैं। इसलिए भगवदाज्ञाको शिरोधार्य करके अनासक्तभाव से कर्म करते हुए पिता-दत्त राज्यका पालन करो।"

प्रजापति ब्रह्माकी आज्ञासे प्रियव्रत नगरमें आए। उन्होंने राज्य-भार अपने ऊपर ले लिया और विश्वकर्माकी पुत्री बर्हिष्मतीसे विवाह करके गृहस्थ-आश्रममें प्रवेश किया। उनके दस पुत्र और एक कन्या उत्पन्न हुई।

प्रियव्रत सम्पूर्ण ब्रह्माण्डके शासक थे। उन्होंने देखा कि सूर्यके प्रकाशसे जब पृथ्वीके एक भागमें अँधेरा हो जाता है तभी दूसरे भागमें प्रकाश होता है। इससे प्रजाको कष्ट होता है। यह सोचकर सभी भागोंमें अखण्ड प्रकाश रखनेकी अभिलाषा से वे अपने दिव्य रथ पर सवार होकर सूर्यके पीछे-पीछे अँधेरेवाले भागमें दौड़ लगाने लगे। सात दिन तक पृथ्वीके किसी भी स्थान पर अँधेरा ही नहीं हुआ। अन्तमें ब्रह्माजीने उनको इस कार्यसे रोक दिया। उनके रथके पहियोंके चलनेसे जो धरती खुद गई वे सात समुद्र बन गए और उनके द्वारा विभक्त यह पृथ्वी सप्तद्वीपवती हो गई। उन्होंने अपने सात पुत्रोंको तो सात द्वीपोंका राज्य दे दिया और तीन पुत्र आजन्म ब्रह्मचारी रहकर परमहंस बन गए।

इतना विशाल अखण्ड साम्राज्य, इतनी सम्पत्ति और वैभव, ऐसी तेजस्वी सन्तति और इस प्रकारकी पतिपरायणा साध्वी पत्नी—सभी से वे विरक्त थे। फिर भी वे अपनेको उनमें अनुरक्त समझकर धिक्कारा करते थे। पुत्रोंको राज्य देनेके बाद वे समस्त भोग, ऐश्वर्य और लौकिक आनन्दोंको त्याग कर श्रीनारदजीके पास गन्धमादन पर चले गए और वहाँ परम-कृपालु चिदानन्द-सिन्धु श्रीसर्वेश्वर भगवानमें दत्तचित्त होकर उनका चिन्तन करने लगे।

महाराज श्रीपृथुजी

राजर्षि अङ्गकी पत्नी सुनीथाका पुत्र वेन अत्यन्त उग्र और अधार्मिक था। वह प्रजाके लोगोंको अकारण ही कष्ट दिया करता था। उसके इन अत्याचारोंसे दुखी हो ऋषि लोगोंने उसके पास जाकर उसे समझाया। जब उसकी समझमें कुछ भी न आया और ऋषियोंके कहने पर भी उसने अपना रवैया नहीं बदला, तो उन्होंने उसके शरीरको निर्जीव कर दिया। सुनीथा को अपने पुत्रके प्राणान्त हो जानेका बड़ा दुःख हुआ और उसने उसके निर्जीव शवको ही सुरक्षित रक्खा। राजारहित राज्यमें चोरों डाकुओं, लुटेरों और बदमाशोंकी संख्या बेरोक-टोक बढ़ने लगी। तब ऋषियोंने उसी वेनका शरीर लेकर उसका मन्थन किया। उसके मन्थनसे सर्व-प्रथम एक नाटे, काले पुरुषकी उत्पत्ति हुई। उसके बाद उनके दाहिने अङ्गसे एक आजानुबाहु परम-प्रतापी पुरुष एवं वामाङ्गसे एक सुन्दर स्त्री पैदा हुई। वे पुरुष भगवानके अंशसे उत्पन्न पृथु हुए और स्त्री लक्ष्मीजीके अंशसे उत्पन्न होनेवाली उनकी पत्नी अर्चि थीं। उनके हाथके चक्र एवं अन्य चिन्होंके आधार पर ऋषियोंको पता लग गया कि ये तो साक्षात् सर्वेश्वर भगवानके अवतार हैं। उन्होंने उनका विधि-विधानसे अभिषेक किया तथा भविष्य-ज्ञाता ऋषियों

के द्वारा संकेत पाकर बन्दियोंने उनकी भविष्यकी लीलाओंका वर्णन कर उनकी कीर्तिका ज्ञान किया।

जब अधर्म बढ़ता है तो धरती पर भुखमरी, महामारी और अकाल पड़ने लगता है। राजा वेनके समयमें भी अधर्म और अत्याचारके कारण पृथ्वीमें डाला गया बीज उगता नहीं था, वृक्षों पर फल नहीं लगते थे और आकाशसे समय पर पानी नहीं बरसता था। पृथुके समयमें भी यही हाल रहा। महाराज पृथुने देखा कि धरती बोए हुए अन्नको अपनेमें छिपा जाती है, उसमेंसे न तो अङ्कुर ही निकलता है और न अनाजके दाने ही पैदा होते हैं, तो उनके क्रोधका ठिकाना न रहा और वे धरतीको दण्ड देनेके लिए तैयार हुए। धरती तेजस्वी पृथुको धनुष पर बाण चढ़ाए देख कर घबड़ाई और उनसे बचनेके लिए चारों ओर भागने लगी; परन्तु महाराज पृथुका एक-छत्र राज्य होनेसे वह जाती भी तो कहाँ? अन्तमें पृथ्वीको रुकना पड़ा। उसने महाराज पृथुकी स्तुति की तथा अनाज न पैदा करनेका कारण बताते हुए कहा—"मैंने बीजोंको पापियोंके द्वारा दुरुपयोगमें आते देख अपनेमें रोक लिया और अधिक समय हो जाने पर वे मुझमें पच गए। अब तो आपको कोई दूसरा उपाय करना चाहिए।"

पृथ्वीकी सलाहसे उन्होंने गो-रूपा इस धरतीको दुहा और अनेकों प्रकारकी औषधियाँ एवं अनाजके दाने पैदा हुए। महाराज पृथुने ऊँची-नीची जमीनको बराबर करवाया, जिससे अधिक अन्न पैदा हो सके। उन्होंने प्रजाके हितके लिए नगर एवं गाँव बसाए।

महाराज पृथु परम-धर्मात्मा, भगवद्-भक्त, न्याय-नीति पर चलने वाले राजा थे। उन्होंने बड़े-बड़े यज्ञ किए। जब उन्होंने निन्यानबे अश्वमेध समाप्त कर लिए तो इन्द्र घबड़ाया; क्योंकि उसका नाम शतक्रतु है और सौ यज्ञ पूरे होजाने पर राजा पृथु भी शतक्रतु हो जाते। अतः वह बार-बार यज्ञके घोड़ेको चुरा कर ले जाने लगे और बार-बार पृथु-पुत्र उसे छीन कर लाने लगे। अन्तमें जब इन्द्र नहीं माना तो पृथु महाराजको क्रोध आया और वे इन्द्रको सजा देनेको तैयार हुए। ऋषियोंने उन्हें समझाया—"महाराज! यज्ञमें दीक्षित व्यक्ति किसीको दण्ड दे ऐसी मर्यादा नहीं है। हम आपके द्वेषी इन्द्रको अग्निमें आहुति डाल कर भस्म कर देंगे।"

जब ऋषिगण आहुति डालने लगे तो प्रजापति ब्रह्माने प्रकट होकर कहा—"महाराज! सौ अश्वमेध यज्ञ करके आपको इन्द्र तो होना नहीं है। आप तो भगवान्‌के भक्त हैं, अतः यह यज्ञ समाप्त कर दीजिए। आपको अकारण ही देवराज इन्द्र पर क्रोध नहीं करना चाहिए।" प्रजापतिकी आज्ञासे यज्ञकी पूर्णाहुति दे दी गई। उनके इस कार्यसे प्रसन्न होकर देवराज-सहित भगवान उनके पास आए। इन्द्र उनके सामने आने पर बड़ा लज्जित हुआ और उनके पैरों पर पड़ कर क्षमा याचना की। महाराज पृथुने उनको उठा कर छातीसे लगा लिया। भगवानके दर्शन करके पृथु धन्य हो गये। उनका शरीर पुलकायमान होगया और वे हाथ जोड़कर उनकी स्तुति करने लगे। भगवानने प्रसन्न होकर उनसे वरदान माँगनेको कहा, तो राजर्षि पृथु बोले—

न कामये नाथ तदप्यहं क्वचिन्न यत्र युष्मच्चरणाम्बुजासवः ।
महत्तमान्तर्हृदयान्मुखच्युतो विधत्स्व कर्णायुत मेष मे वरः ॥

—जहाँ आपके चरण-कमलोंका मधु-मकरन्द नहीं है, ऐसा कोई भी स्थान, कोई भी भोग, कोई भी वस्तु मैं नहीं चाहता । महापुरुषोंके हृदयमें आपके चरणोंका वह अमृत रहता है और वाणी द्वारा आपकी लीला एवं गुण-वर्णनके रूपमें वह निकलता है । उसे पान करनेके लिए मेरे एक सहस्र कान हो जायँ, मुझे यही वरदान दीजिए ।

इस प्रकार प्रार्थना करने पर अपनी भक्तिका वरदान उनको प्रदान कर भगवान चले गए ।

एक बार प्रयागराजमें महाराज पृथु एक बड़ा भारी यज्ञ कर रहे थे । उस यज्ञमें देवता, ब्रह्मर्षि, राजा व ब्राह्मण एवं प्रजाजन आदि सभी उपस्थित थे । उसी समय महाराजने प्रजाको उपदेश देते हुए कहा—"जो राजा प्रजासे कर लेता है, उसे दण्ड देता है और उसकी धर्म-शिक्षा एवं आध्यात्मिक मार्गकी चिन्ता नहीं करता, वह प्रजाके समस्त पापोंके फलोंको भोगने-वाला होता है; अतः आपसे मेरा करबद्ध यही निवेदन है कि आप दत्तचित्त होकर संसारके विषय-भोगोंसे विरत रह कर धर्म एवं भगवानमें अपना अमूल्य समय व्यय कीजिएगा ।" इस प्रकार जब महाराज धर्म करनेका आदेश देकर उसकी उपयोगिता, आवश्यकता एवं अनिवार्यता बतला चुके तो समस्त उपस्थित जनसमूह उनकी इस धार्मिक वृत्तिकी प्रशंसा करने लगा । उसी समय आकाशसे चार दिव्य-तेजोमय पुरुष धरतीपर उतरते दिखाई दिए । वे सनकादि कुमार थे । राजाने उनका स्वागत-सत्कार किया । उनको उच्च सिंहासन पर विराजमान कराकर अनेक प्रकारकी अर्चन-पूजा एवं स्तुतिके बाद महाराजने उनसे अपनी तृषा-शान्तिके लिए प्रश्न किया—"आप त्रिकालज्ञ, परम ज्ञानवान और भगवानके परम-भक्त हैं । कृपा करके यह बत-लाइये कि जीवका वास्तविक कल्याण किसमें है ?" सनकादि कुमारोंने उनको श्रीसर्वेश्वर भगवानकी परा भक्तिका उपदेश किया और उनके भजन-स्मरण एवं उनके भक्तोंके समादर-सेवाको ही जीवका सबसे बड़ा मङ्गल बतलाया । सनकादि कुमारोंने भक्त पृथुराजको परा भक्तिका उपदेश किया और पुनः अन्य लोकोंमें विचरण करनेके लिए चले गए ।

इसके उपरान्त भी महाराज पृथु भगवानकी भक्ति और भक्तजनोंकी सेवामें रत रहकर कितने ही वर्षों तक राज्य करते रहे और अन्तमें सनकादि कुमारोंके द्वारा निर्दिष्ट परा भक्तिके द्वारा अपने आपको स्थिर करके शरीरको चेतना-हीन बना दिया । यह देख महाराज पृथुकी पतिव्रता पत्नी अर्चिने चिता बनाई और अपने पतिके साथ सती हो गई । देवताओंने आकाशसे पुष्प-वर्षा की, गन्धर्वोंने वाद्य बजाए और दोनों भक्त सदाके लिए श्रीसर्वेश्वर प्रभुके सान्निध्यमें पहुँच कर परमानन्द लाभ करने लगे ।

परीक्षित :—परीक्षितजी का चरित्र आगे कवित्त-संख्या ९७ में देखिए।

श्रीशेषजी

शास्त्रोंमें भगवानके पाँच प्रकारके स्वरूपोंका वर्णन किया गया है। उनमेंसे संसारका सृजन, पालन, संहार और रक्षा करनेवाला स्वरूप व्यूह कहा गया है। व्यूह चार प्रकारके होते हैं—वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध। इनमेंसे संकर्षण जीव-तत्त्वका अधिष्ठाता माना जाता है। इस व्यूहमें दो गुणों—ज्ञान एवं बलका प्राधान्य है। यही शेष अथवा अनन्तके रूपमें पातालमें रहकर पृथ्वीके भारको धारण करनेमें समर्थ हैं। प्रलयकालमें श्रीसर्वेश्वर प्रभुकी आज्ञा से ये अपने मुखसे आगकी भयंकर लपट निकालते हैं, जिससे सम्पूर्ण विश्व भस्म हो जाता है। ये क्षीर-सागरमें भगवान विष्णुके पर्यङ्क-रूपमें रहते हैं, इसीसे भगवान का नाम 'शेषशायी' है। शेषजीके सहस्र मुख हैं, वे सहस्रों मुखोंसे सदा भगवानका गुणानुवाद करते रहते हैं और उनकी लीलाओंका वर्णन करते-करते कभी भी नहीं थकते हैं। भगवानके दर्शन करनेवाले भक्त-जीवको शेषजीसे बड़ी सहायता मिलती है। ये उनको भगवानकी शरण दिलानेमें सहायक हैं। इनका वर्णन भगवानके निवास (शय्या), आसन, पादुका, वस्त्र, पाद-पीठ, तकिया तथा छत्रके रूपमें किया गया है। देवता, सिद्ध, चारण, गन्धर्व, यक्ष, किन्नर, नाग आदि समस्त जन इनका यशोगान एवं गुण-वर्णन करते रहने पर भी इनका अन्त नहीं पाते हैं, इसीलिए इनका नाम 'अनन्त' है। त्रिलोकीके प्रत्येक स्थान पर इनकी पूजाकी जाती है; क्योंकि ये विश्वके आधार-भूत भगवान विष्णुको धारण करते हैं। ये भगवानका सहयोग करनेके लिए उनके साथ अवतार भी धारण करते हैं; श्रीरामावतारमें ये लक्ष्मणके रूपमें एवं श्रीकृष्णावतारमें ये बलरामके रूपमें अवतीर्ण हुए थे। ये भगवानके नित्य-मुक्त, अखण्ड ज्ञानमय, अनन्त-शक्ति-सम्पन्न परिकरमें गिने जाते हैं।

श्रीसूतजी तथा शौनकादि

सूतजी तथा शौनकादि अट्ठासी हजार ऋषीश्वरोंसे कौन परिचित नहीं होगा? महाराज सूतजी शौनकादि ऋषियोंकी प्रार्थनापर समस्त पुराणोंका श्रवण उन्हें कराया करते हैं। ये श्रोता-वक्ता दोनों ही भगवानके परम भक्त एवं उनकी दिव्य लीलाओंके अमृत-रसका स्वाद पहिचानने वाले ऋषीश्वर हैं। हजारों वर्षों तक लगातार ये अरण्य-वास करते हुए, कन्द-मूल एवं जङ्गली फलोंके परिमित आहारसे अपने जीवनकी स्थितिको बनाए रखते हैं और आनन्द-कन्द भगवानकी पवित्र गाथाओंके अमृत-रसके सहारे जीवित रहते हैं। सूतजीके समान पुराण-वेत्ता कौन होगा, जिनको समस्त पौराणिक गाथाएँ विकल्पोंके ज्ञान-सहित कण्ठस्थ हैं और जो अट्ठासी हजार ऋषियोंकी शङ्काओंका सन्तोष-जनक समाधान कर सकनेमें समर्थ हैं? इनको

पुराणोंमें व्रतोंका माहात्म्य और तीर्थोंकी महिमा तथा कथा-श्रवणका फल, जो कुछ भी आज दिखाई पड़ता है, वह सब इन्हीं महर्षियोंकी कृपाके कारण है ।

ऋषि शौनक नैमिषारण्यके अट्ठासी हजार ऋषियोंमें सबसे प्रधान थे । शुनकके पुत्र होनेके कारण इनको शौनक कहते थे और भृगु-वंशमें उत्पन्न होनेसे इनका नाम भार्गव पड़ा । इनका जैसा कथा-रसिक भक्त अन्यत्र कहीं भी सुलभ नहीं है । भगवानकी कथा किस प्रकार नियमसे सुननी चाहिए, भगवानका चरित्र सुनकर किस प्रकार अनुमोदन करना चाहिए, कथामें किस प्रकार एकाग्रता रखनी चाहिए और समयका सदुपयोग किस प्रकार करना चाहिए आदि सभी बातोंकी शिक्षा हमको श्रीशौनकजी से मिलती है ।

भगवानके भजनमें इनकी कितनी निष्ठा थी, यह उनके इन वचनोंसे जाना जा सकता है—

आयुर्हरति वै पुंसामुद्यन्नस्तं च यन्नसौ । तस्यर्ते यत्क्षणो नीत उत्तमश्लोकवार्तया ॥
तरवः किं न जीवन्ति भस्त्राः किं न श्वसन्त्युत । न खादन्ति न मेहन्ति किं ग्रामपशवोऽपरे ॥
श्वविड्वराहोष्ट्रखरैः संस्तुतः पुरुषः पशुः । न यत्कर्णपथोपेतो जातु नाम गदाग्रजः ॥

—जिसका समय भगवान श्रीकृष्णके गुणोंके गान अथवा श्रवणमें व्यतीत हो रहा है, उसके अतिरिक्त अन्य सभीकी आयु व्यर्थ जा रही है । ये भगवान सूर्य प्रति-दिन उदय और अस्तसे उसकी आयु छीनते जारहे हैं । जीनेके लिए तो वृक्ष भी जीते हैं, लुहारकी धौंकनी भी श्वास लेती है, गाँवके पशु भी मनुष्योंके समान खाते-पीते और मल-मूत्र त्यागते हैं, फिर उनमें और मनुष्योंमें क्या अन्तर है ? जिसने भगवान श्रीकृष्णकी लीला एवं कथा-श्रवणमें मन नहीं लगाया, वह तो कुत्ते, ग्राम-सूकर, ऊँट और गधे से भी गया-बीता है ।

इन सभी बातोंसे स्पष्ट है कि महर्षि सूत एवं शौनकादि अट्ठासी हजार ऋषीश्वर भगवान की कथा-वार्ता और गुण-गानमें कितने निमग्न रहने वाले थे ।

भक्त-श्रीप्रचेतागण

आदिराज पृथुके वंशमें उत्पन्न बर्हिषद् नामक राजाके उसकी रानी शतद्रुतिसे दस पुत्र पैदा हुए जो प्रचेता कहलाए । इनकी आकृति-प्रकृति एवं शील-स्वभावमें इतना साम्य था कि कोई भी व्यक्ति इनको अलग-अलग नहीं पहिचान सकता था । ये दसों पुत्र विषयोंमें अनासक्त रहकर बाल्यकालसे ही भगवानकी भक्तिमें रत रहते थे । इनके पिताने जब पूर्व-पुरुषोंकी मुक्तिके लिए वंशका चलना अनिवार्य बतलाया तो इन्होंने विचार किया कि सदाचारी सन्तानके अति-रिक्त और कौन पूर्व-पुरुषोंको मुक्त करनेमें समर्थ हो सकता है ? सदाचारी सन्तान बिना भगवानकी कृपाके प्राप्त नहीं हो सकती, अतः भगवानको प्रसन्न करनेके लिए ये जङ्गलमें तपस्या करने चले गए ।

प्रचेताओंने पश्चिम समुद्रके किनारे एक बड़ा सुन्दर सरोवर देखा । संगीतकी ध्वनि वहाँ चारों ओरकी मनोमुग्ध-कारिणी प्रकृतिको मुखरित बना रही थी । मृदङ्ग आदिकी उस ध्वनिको

सुनकर प्रचेतागण आश्चर्यसे चारों ओर देखने लगे। उसी समय अपने स्वच्छ वृषभ पर बैठकर सरोवरके निर्मल जलसे निकलते आशुतोष भगवान शङ्कर दिखाई दिए। प्रचेतागणके पास जाकर उन्होंने प्रेमसे कहा—"राजपुत्रो! मुझे त्रिलोकीमें सबसे ज्यादा प्यारे भगवान विष्णु हैं; परन्तु उनसे भी अधिक वे प्रिय हैं जो श्रीहरिकी शरण हैं। तुम भगवानके परमभक्त हो, अतः मैं तुम्हें एक दिव्य स्तोत्र बतलाता हूँ। एकाग्र मनसे भगवानका ध्यान करते हुए उस स्तोत्रका जाप करनेसे तुमको समस्त मङ्गल प्राप्त होंगे और तुम्हारी मनोकामना पूर्ण होगी।" भगवान शङ्करने उस दिव्य-स्तोत्रको प्रचेताओंको बतलाया और स्वयं अपने वृषभके साथ अन्तर्धान होगए।

प्रचेताओंको बड़ी प्रसन्नता हुई। भगवान आशुतोषने हमारे ऊपर कृपा की है। हमारे समान सौभाग्यशाली कौन है? वे भगवान शङ्करके आदेशानुसार स्तोत्रका जाप करते हुए दश सहस्र वर्षों तक तप करते रहे। अन्तमें उनके तपसे प्रसन्न होकर भगवानने उनपर कृपा की। वे उन्हें दर्शन देनेके लिए तपस्थली पर आविर्भूत हुए और उनके सौभ्रातृत्वकी भूरि-भूरि प्रशंसा की। भगवान श्रीसर्वेश्वरको अपनी आँखोंके सामने खड़ा देखकर प्रचेताओंकी बुद्धि विचलित हो गई। उनकी रूप-माधुरीके स्रोतमें प्रचेताओंका समस्त विवेक बह गया। वे विशुद्ध भावसे भगवानकी स्तुति करते हुए दत्तचित्त होकर उनके दर्शन करते रहे। भगवानने उनको लोक-प्रसिद्ध पुत्र पानेका आशीर्वाद दिया; परन्तु पुत्रके लिए प्रचेताओंकी कामना कब थी? वह तो केवल वंश-रक्षाके लिए आवश्यक समझा गया था, अतः प्रचेताओंने भगवानसे करबद्ध प्रार्थना की—"प्रभो आप स्वयं हम पर प्रसन्न हुए हैं और कृपाकर हमें योगिजन-दुर्लभ इस भव्य स्वरूपके दर्शन कराये हैं। हमारी आपके चरणोंमें यही प्रार्थना है कि हमारा मन सदा आपके पदारविन्दका चञ्चरीक बना रहे। हम आपकी मायासे मोहित होकर नाना प्रकारके कर्म करने के कारण जिस किसी भी योनिमें जन्म लें, वहाँ हमें सज्जनोंका सङ्ग अवश्य मिलता रहे; क्योंकि सत्संगतिके बराबर आनन्ददायी न तो संसारका कोई भी इन्द्रिय-भोग है और न स्वर्गका ही कोई सुख है।"

भगवानने प्रचेताओंको मनोनुकूल वरदान दिया और उनको प्रसन्न करके अन्तर्धान हो गए। प्रचेता भगवानसे वरदान पाकर अपने घर लौट आए। वहाँ ब्रह्माजीके आदेशानुसार वृक्षों-द्वारा समर्पित मारिषा नामकी कन्यासे उन्होंने विवाह किया। उससे भगवान शङ्करका अप-राध करके प्राण त्यागनेवाले दक्षने पुत्ररूपमें जन्म ग्रहण किया। जब ब्रह्माजीने उस पुत्रको फिर प्रजापति बना दिया, तब प्रचेता पत्नीको अपने पुत्रके पास त्याग कर फिर भगवानके भजनके लिए चल दिए। उसी समय देवर्षि नारदजी उनके पास आए। उन्होंने उन्हें तत्त्वज्ञानका उपदेश किया। उसे ग्रहण करके कुछ समय तक भगवानका भजन-ध्यान और स्मरण करके वे भगवानके परम-धाममें जाकर रहने लगे।

श्रीशतरूपाजी-- ये महाराज मनुकी पत्नी थीं । इनका चरित्र 'मनु' के प्रसंगमें पृष्ठ २७ पर देखिए ।

सुतात्रय

महाराज मनु और शतरूपासे उत्पन्न तीन पुत्रियाँ— प्रसूति, आकूति और देवहूति परम भगवद्भक्त एवं पतिपरायणा थीं । ये प्रियव्रत एवं उत्तानपादकी बहिनें थीं । इनमें प्रसूतिका विवाह महाराज दक्षसे, आकूतिका विवाह श्रीरुचि ऋषिसे तथा देवहूतिका विवाह मुनि कर्दमसे हुआ था । तीनों बहिनें पातिव्रत्यका आदर्श और सदा भगवानकी भक्तिमें लीन रहने वाली देवियाँ थीं । ये अद्वितीय सुन्दरी, सुशीला, धर्म-परायणा और श्रेष्ठ गुणोंवाली थीं ।

मुनि कर्दमकी पत्नी देवहूतिके गर्भसे तो साक्षात् भगवानने कपिलजीके रूपमें अवतार लिया था । उन्होंने अपने पिताको उपदेश किया और माताको सांख्य-शास्त्र तथा भक्ति-योगका ज्ञान कराया । उनका यह उपदेश श्रीमद्भागवतके तृतीय स्कन्धके पचीसवें अध्यायसे लेकर बत्तीसवें अध्याय तक में वर्णित है । उनमें से कुछ श्लोक यहाँ दिए जाते हैं—

त एते साधवः साध्वि सर्वसङ्गविवर्जिताः ।
सङ्गस्तेष्वथ ते प्रार्थ्यः, सङ्गदोषहरा हि ते ॥ (३ । २५ । २१)

—हे पतिव्रते ! साधु वही कहलाते हैं, जो सब संसारके विषयोंको त्याग देते हैं । तुम्हें ऐसे ही साधुओंकी संगतिकी कामना करनी चाहिये, क्योंकि वही आसक्तिसे उत्पन्न सभी दोषोंको हर लेने वाले हैं ।

अनिमित्ता भागवती भक्तिः सिद्धेर्गरीयसी ।
जरयत्याशु या कोशं निगीर्णमनलो यथा ॥ (३ । २५ । ३३)

—ज्ञानयोग, कर्मयोग आदिसे प्राप्त होनेवाली सिद्धिसे भगवानमें अहैतुकी (बिना कारणके) प्रीति कहीं उत्तम है, क्योंकि वह सब विकारोंको उसी प्रकार नष्ट कर देती है, जैसे अग्नि काठके समूहको ।

न कर्हिचिन्मत्पराः शान्तरूपे नङ्क्ष्यन्ति नो मेऽनिमिषो लेढि हेतिः ।
येषामहं प्रिय आत्मा सुतश्च, सखा गुरुः सुहृदो दैवमिष्टम् ॥ (३ । २५ । ३८)

—मुझमें प्रीति रखनेवाले लोग, जो मुझसे पुत्रकी तरह स्नेह करते हैं, मित्रकी भाँति मुझमें विश्वास रखते हैं, गुरुके समान मुझसे उपदेश ग्रहण करते हैं, सुहृदकी तरह हितकर मानते हैं और इष्टके समान पूज्य समझते हैं, वे शुद्ध सत्वस्वरूप वैकुण्ठमें कभी भोगोंसे वञ्चित नहीं रहते और न मेरा सदा चलनेवाला कालचक्र ही उनका कुछ बिगाड़ता है ।

आत्म-कल्याणकी भावना रखने वाले व्यक्तिको इस ज्ञानका अध्ययन गम्भीरतासे करना चाहिए । भगवान कपिल माता देवहूतिको उपदेश करके वनमें चले गए और देवहूति कुछ समय तक पुत्र द्वारा बतलाए प्रकारसे भगवानकी भक्तिमें लीन रह कर अन्तमें समस्त सांसारिक दोषों से रहित होकर परमानन्द-स्वरूप भगवानको प्राप्त होगईं । आज भी उनकी तपस्याका स्थान सरस्वती नदीके किनारे पर सिद्धपदके नामसे प्रसिद्ध है ।

भक्तिमती श्रीसुनीतिजी

देवी सुनीति महाराज उत्तानपादकी धर्मपत्नी थीं। वे परम रूपवती, गुण-सम्पन्न, साध्वी, और भगवदाश्रयिणी थीं। उनके पति यद्यपि अपनी दूसरी रानी सुरुचिके प्रति विशेष अनुराग-युक्त रहकर इनके प्रति उदासीन रहते थे, किन्तु फिर भी इनके हृदयमें पतिके प्रति किसी प्रकार की दूषित भावना नहीं आई। भगवद्-भक्त बालक ध्रुव इन्हींके पुत्र थे। जब ध्रुवकी विमाताने ध्रुवसे कठोर वाक्य कहते हुए यह कहा—"कि राज्य सिंहासन एवं राज्यका अधिकारी तो वही हो सकता है, जिसने मेरे उदरसे जन्म लिया है, अगर तू भी इस गोदमें बैठना चाहता है तो पहले जाकर भगवानका भजन कर," तो ध्रुवको बड़ा दुःख हुआ। वह अपनी माताके पास आया और रोकर विमाताका व्यवहार सुना दिया। उस समय सुनीतिको भी बड़ा दुःख हुआ। उसके हृदयमें सौतके प्रति विद्वेषकी आग जल उठी, किन्तु जब उसने विवेक-पूर्वक सुरुचि की शिक्षा पर विचार किया तो वह सहम गई—"ठीक ही है भगवद्भक्तिसे श्रेष्ठ और क्या है!" उसने अपने मनको सन्तोष दिया और अपने प्राण-प्यारे पुत्रसे बोली—"बेटा! तुम्हारी विमाताने जो भी शिक्षा तुम्हें दी है, वह ठीक है। बिना भगवानकी कृपाके संसारमें कुछ भी सम्भव नहीं और जिसपर भगवानकी कृपा होगई, उसके लिए कुछ भी दुर्लभ नहीं है।" उन्होंने अपने पुत्र ध्रुवको उन्हींकी शरणमें जानेका आदेश देते हुए कहा—

> तमेव वत्साश्रय भृत्यवत्सलं मुमुक्षुभिर्मृग्यपदाब्जपद्धतिम् ।
> अनन्यभावे निजधर्मभाविते मनस्यवस्थाप्य भजस्व पूरुषम् ॥
> नान्यं ततः पद्मपलाशलोचनाद् दुःखच्छिदं ते मृगयामि कंचन ।
> यो मृग्यते हस्तगृहीतपद्मया श्रियेतरैरङ्ग विमृग्यमाणया ॥
>
> (श्रीमद्भागवत–स्क० ४, अ० ८ २२,२३)

—बेटा! तू भी उन भक्त-वत्सल भगवानका ही आश्रय ले। जन्म-मृत्युके चक्रसे छूटनेकी इच्छा रखने वाले मुमुक्षु लोग निरंतर उन्हींके चरण-कमलोंके मार्गकी खोज किया करते हैं। तू स्वधर्म पालनसे पवित्र हुए अपने चित्तमें श्रीपुरुषोत्तम भगवानको बिठा ले तथा अन्य सबका चिन्तन छोड़ कर केवल उन्हींका भजन कर। बेटा! उन कमल-लोचन श्रीहरिको छोड़कर मुझे तो तेरे दुःखको दूर करने वाला और कोई दिखाई नहीं देता। देख, जिन्हें प्रसन्न करनेके लिए ब्रह्मा आदि देवता ढूंढते रहते हैं, उन्हीं श्रीहरिको दीपककी भाँति हाथमें कमल लिए श्रीलक्ष्मीजी भी निरन्तर खोज किया करती है। (तू उन्हीं भगवान की शरण जा)।

इन सब बातोंसे पता लगता है कि भगवानपर रानी सुनीतिका अटूट विश्वास था। उसे उनकी भक्तपालकतामें किंचिन्मात्र भी सन्देह नहीं था। तभी तो उसने पाँच वर्षके नादान बालकको सिंह, व्याघ्र और जंगली हाथियोंसे भरे वनमें भगवानकी आराधनाके लिए भेज दिया। वास्तवमें देवी सुनीति जैसी भक्तिपरायण नारियाँ इस धरतीपर बहुत ही कम पैदा हुई हैं।

———

श्रीमन्दालसाजी

श्रीमन्दालसाजी गन्धर्वराज विश्वावसुजीकी कन्या थीं। इनका विवाह परम यशस्वी एवं तेजस्वी महाराज शत्रुजित्के पुत्र कुवलयाश्वसे हुआ था। मन्दालसा भगवद्-भक्तिमें निमग्न रहनेवाली एक पति-परायणा सुन्दरी थीं। उनकी यह प्रतिज्ञा थी कि जो भी मेरे गर्भसे जन्म लेगा, उसे फिर गर्भमें आनेकी आवश्यकता नहीं पड़ेगी। विवाहके उपरान्त उनका पहला पुत्र हुआ। राज्यमें चारों ओर आनन्द छा गया। राजाने उनका नामकरण-संस्कार कराया और उस नवजात शिशुका नाम रखा गया 'विक्रान्त'। परिवारके सब लोग बड़े प्रसन्न हुए, पर मन्दालसा उस नामको सुन कर हँसने लगीं। उन्होंने बाल्यकालसे ही बच्चेको समझाना आरम्भ किया—"हे तात! तेरा कुछ भी नाम-धाम नहीं है। तू समस्त बन्धनोंसे नित्य-मुक्त है। यह शरीर पञ्च महाभूतोंका बना है, पर तेरा इससे कोई सम्बन्ध नहीं। संसारमें सभी सुख मोहजन्य हैं। उनका आकर्षण मिथ्या और सदाचारके मार्गसे डिगा देनेवाला है। इन्द्रियोंके भोग दुःख रूप हैं, ऐसा ज्ञानी लोग समझते हैं; किन्तु जो अविवेकी हैं, उनको तो दुःख-रूप ये सांसारिक भोग भी सुख देनेवाले लगते हैं।"

इस प्रकार माता मन्दालसाने अपने पुत्रको बाल्यकालसे ही ऐसा उपदेश किया, जिससे उसको संसारका सच्चा ज्ञान हो गया और ममताशून्य होकर उसने अपने मनको गार्हस्थ्य-धर्मकी ओर नहीं जाने दिया।

राजाके दूसरा पुत्र पैदा हुआ तो उसका नाम 'सुबाहु' रखा गया। इस बार भी मन्दालसा को बड़ी हँसी आई और उस बालकको भी बाल्य-कालसे ही उपदेश देकर परम बुद्धिमान् और ज्ञानी बना दिया। तीसरा पुत्र उत्पन्न होनेपर उसका नाम राजाने 'शत्रुमर्दन' रखा। यह सुनकर मन्दालसा बहुत देर तक हँसती रही। उसने इस तीसरे बच्चेको भी निष्काम कर्मका उपदेश किया और उसको संसार एवं इसके विषयाकर्षणोंसे विरक्ति करा दी। यथासमय मन्दालसाके चौथा पुत्र उत्पन्न हुआ। जब राजा उसका नामकरण करनेको चले तो मन्दालसा मन्द-मन्द मुस्कराने लगी। राजा उनको मुस्कराती हुई देखकर बोले—"देवि! जब कभी भी मैं नामकरण करता हूँ तो तुम बहुत हँसती हो, इसका क्या कारण है? क्या मेरे द्वारा रखे गए तुम्हारे पुत्रोंके विक्रान्त, सुबाहु और शत्रुमर्दन नाम अच्छे नहीं हैं? यदि ये नाम अच्छे नहीं हैं तो इस बार तुम अपना मन-चाहा नाम रख लो।"

मन्दालसाने कहा—"महाराज! आपकी आज्ञाका पालन करना मेरा परम कर्त्तव्य है; अतः आपके आदेशानुसार इस चौथे पुत्रका नाम मैं रख दूँगी।" मन्दालसाने उसका नाम

मार्कण्डेय पुराण में इनका नाम मन्दालसा न लिखकर मदालसा लिखा गया है।

'अलर्क' रखा और कहा—"यह अलर्क अपने कार्य, ज्ञान और बुद्धिसे संसारमें विख्यात होकर बड़ा भगवद्भक्त होगा।"

राजा आश्चर्यमें डूब गये और बोले—"देवि! आप तो मेरे द्वारा दिए गए नामोंपर हँसा करती थीं, पर वास्तवमें तो तुम्हारे द्वारा दिया यह असंगत नाम 'अलर्क' ही हास्यास्पद है। बतलाइए तो, इस नाममें क्या विशेषता है?"

मन्दालसाने समझाया—"महाराज! नाम तो केवल व्यावहारिक कार्योंके निर्वाहके लिए ही रखा जाता है, अन्यथा उसकी संगति होती ही कब है? आपने भी अपने पुत्रोंके नाम निरर्थक ही रखे हैं। देखिए, आपके पहले पुत्रका नाम 'विक्रान्त' है। विक्रान्तका अर्थ है–गति, और गति एक स्थानसे दूसरे स्थानपर जानेको कहते हैं। जब यह पुरुष (आत्मा) सर्वव्यापक, आकारहीन, अमूर्त, अगतिशील, अज, अमर और अचल है तो फिर उसका नाम 'विक्रान्त' कैसे रखा जा सकता है? हे पृथ्वीनाथ! उसी प्रकार दूसरे पुत्रका नाम 'सुबाहु' है। वह भी निरर्थक है; क्योंकि निराकार आत्माकी बाहु कैसे हो सकती है? आपके तीसरे पुत्रका नाम है 'अरिमर्दन'। वह नाम भी बिलकुल असंगत है। जब समस्त प्राणियोंके अन्दर एक ही आत्मा है तब कौन किसका शत्रु हो सकता है? मूर्तिमान् शरीरका मूर्तिमान् शरीर मर्दन कर सकता है, पर अमूर्त आत्माका अमूर्त आत्मा किसी भी प्रकारसे मर्दन नहीं कर सकता। जब इतने निरर्थक नाम सङ्गत हो सकते हैं और लोक-व्यवहारके उपयोगके हैं तो 'अलर्क' नाम ही आपको असङ्गत कैसे प्रतीत होता है?"

राजा उसकी बात मान गए। मन्दालसा इस चौथे पुत्रको भी वही ज्ञान प्रदान करने लगी। इसपर राजाने उन्हें रोककर कहा—"तुम यह क्या कर रही हो? पहले पुत्रों की भाँति इसको भी ऐसा उपदेश देकर मेरी वंश-परम्पराका उच्छेद करनेपर क्यों तुली हो? यदि तुमको मेरी आज्ञाका पालन करना है तो इस पुत्रको प्रवृत्ति-मार्गमें लगाओ; नहीं तो वंशोच्छेदनके उपरान्त पितरोंका पिण्डदान समाप्त हो जायगा और विभिन्न योनियोंमें पड़े हुए जीव असन्तुष्ट रहकर महान कष्ट उठावेंगे। देवता, मनुष्य, पितर, भूत, प्रेत, गुह्य, पक्षी, कृमि और कीटका जीवन भी तो गृहस्थके आधीन है। अतः इस पुत्रको तो ऐसा उपदेश करो कि यह अपने क्षत्रियोचित कार्योंमें लग कर इहलोक एवं परलोक–दोनों लोकोंमें उत्तम फल प्राप्त कर सके।"

पति-परायणा मन्दालसाने पतिकी आज्ञासे ऐसा ही किया। उन्होंने अपने चौथे पुत्र अलर्कको ऐसी शिक्षा दी जिससे वह गृहस्थ-धर्म स्वीकार करे। उसे सद्‌गृहस्थ बनानेके लिए उन्होंने राजनीति, वर्णाश्रम-धर्म; गृहस्थके कर्त्तव्य, श्राद्ध-कर्म, श्राद्धमें विहित और अविहित वस्तु, गृहस्थोचित सदाचार, त्याज्य-ग्राह्य वस्तु, शौच-अशौच, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य आदिका विस्तार से उपदेश किया।

मातासे उपदेश ग्रहण करके अलर्कने युवावस्थामें विधि-पूर्वक अपना विवाह किया। उसके अनेक पुत्र हुए। वह यज्ञ-द्वारा भगवानका भजन करने एवं हर प्रकारसे पिताकी आज्ञा का पालन करनेमें लगा रहता था। जब राजा ऋतध्वज वृद्ध होगए तो उन्होंने अपने पुत्रका राज्याभिषेक कर दिया और स्वयं देवी मन्दालसाके साथ वनमें जानेको तैयार हुए। उस समय मन्दालसाने अपने प्रिय पुत्र अलर्कको एक सोनेकी अँगूठी देते हुए कहा—"बेटा! गृहस्थ-धर्म का अवलम्बन करके राज्य करते समय तुम्हारे ऊपर यदि प्रिय-बन्धुके वियोगसे, शत्रुओंकी बाधासे अथवा धनके नाशसे होने वाला कोई असह्य दुःख आ पड़े तो मेरी दी हुई इस अँगूठीसे यह उपदेश-पत्र निकाल करके तुम अवश्य पढ़ना; क्योंकि ममतामें बँधा रहनेवाला गृहस्थ दुःखों का केन्द्र होता है।"

यह कह कर महाराज ऋतध्वज एवं महारानी मन्दालसा तपस्या करनेके लिए वनमें चले गए और अलर्क माताके द्वारा बतलाई गई राजनीतिसे राज्य करने लगे।

बहुत काल बीत जाने पर एक बार मन्दालसाको ध्यान आया कि मेरा पुत्र अलर्क अभी तक विषय-भोगोंमें फँसा हुआ है। वह यदि इसी प्रकार आनन्दसे राज्य करता रहेगा तो उसे किसी प्रकार भी वैराग्य पैदा नहीं होगा। ऐसा विचार कर उन्होंने अपने पुत्र सुबाहुको आदेश दिया कि वह अलर्कको किसी प्रकार इस मोह और मायाके बन्धनसे मुक्त करनेकी कोशिश करे। माताकी आज्ञा से सुबाहु अपने भाईको माया-मोहके बन्धनसे छुड़ानेका विचार करने लगे। अन्तमें उन्होंने यही उचित समझा कि अलर्कके किसी शत्रु राजाका सहारा लेना चाहिए। ऐसा विचार कर वे काशिराजके पास गए और प्रणाम करके अलर्क पर आक्रमण करने की प्रार्थना की। परम बलशाली एवं शक्ति-सम्पन्न महाराज काशिराजने ऐसा ही किया। थोड़े समय के युद्धके उपरान्त ही अलर्ककी सम्पूर्ण शक्ति नष्ट हो गई। उसके ऊपर आपत्तिका वज्र टूटने वाला था। वह घबड़ाया। उसी समय उसने अपनी माताजी की दी हुई अँगूठीमें से उपदेश-पत्र निकाला और पढ़ा :—

सङ्गः सर्वात्मना त्याज्यः स चेत्त्यक्तुं न शक्यते। स सद्भिः सह कर्त्तव्यः सतां सङ्गो हि भेषजम्॥
कामः सर्वात्मना हेयो हातुं चेच्छक्यते न सः। मुमुक्षां प्रति तत्कार्यः सैव तस्यापि भेषजम्॥

—सङ्गका सब प्रकारसे त्याग करना चाहिए; किन्तु यदि उसका त्याग न किया जा सके तो सत्पुरुषोंका सङ्ग करना चाहिए, क्योंकि सत्पुरुषोंका सङ्ग ही उसकी औषधि है। कामनाको सर्वथा छोड़ देना चाहिए, परन्तु यदि वह छोड़ी न जा सके तो मुक्तिकी कामना करनी चाहिए; क्योंकि मुक्तिकी इच्छा ही उस कामनाको मिटानेकी दवा है।

इस उपदेशको पढ़कर अलर्कके मनमें भगवत्प्राप्तिकी कामना पैदा हुई और वे सत्सङ्गके लिए व्याकुल हो उठे। वे आसक्ति-हीन, परम सौभाग्यशाली, पापशून्य महात्मा दत्तात्रेयजीके पास गए। कुछ समय तक उनके साथ सत्सङ्ग किया और उनसे तत्त्व-ज्ञान प्राप्त करके सब विकारोंसे

मुक्त बन गए। दत्तात्रेयजीने उन्हें समस्त ज्ञान देकर कहा कि—"अब तुम जाकर पृथ्वी पर मुक्तावस्थामें विचरण करके भगवानकी भक्तिमें अपना मन लगाओ।"

दत्तात्रेयजीको प्रणाम करके निरासक्त ज्ञानी अलर्क काशिराजके पास आए और अपने भाई सुबाहुके सामने ही उनसे बोले—"काशिराज! राज्यकी इच्छा रखनेवाले तुम इस बढ़े हुए राज्यको भोगो या इसे चाहो तो सुबाहुको दे दो।"

काशिराजने कहा—"युद्ध तो क्षत्रियका परम धर्म है, तुम उससे विरत होकर अधर्मका मार्ग स्वीकार कर रहे हो।" अलर्क बोले—"महाराज! आपकी बात बिलकुल ठीक है, परन्तु अपनी माताकी कृपा एवं दत्तात्रेयजीकी उपकार-भावनासे मुझे सच्चा ज्ञान प्राप्त हो गया है। मैं उस स्थितिपर पहुँच गया हूँ, जहाँ न कोई किसीका शत्रु है, न कोई किसीका मित्र। न कुछ सुख है न दुःख। वहाँ संसारमें व्याप्त द्वन्द्वोंका स्पर्श भी नहीं है।"

अलर्कके ऐसा कहने पर सुबाहु "धन्य-धन्य" कहते हुए अपने भाई का अभिनन्दन करके काशिराजसे बोले—"महाराज! मैं जिस कार्यके लिए आपकी शरणमें आया था, वह पूरा हो गया। अब मैं जाता हूँ। आपका कल्याण हो।"

काशिराज इन बातोंका अर्थ नहीं समझ सके। उनके पूछने पर सुबाहुने सब समाचार काशिराजको सुना दिया। अन्तमें सुबाहु अपने छोटे भाई अलर्कके साथ जङ्गलमें तपस्या करने एवं भगवानकी भक्तिमें तल्लीन रहनेके लिए चले गए। काशिराज भी अपने ज्येष्ठ-पुत्रको राज्य देकर वनमें भगवानके दर्शनोंके लिए चले गए।

श्रीपार्वतीजी—श्रीपार्वतीजीका चरित्र श्रीशिवजीके प्रसङ्गमें पृष्ठ ३५ पर देखिए।

श्रीयज्ञ-पत्नीजी

एक बार मथुराके कुछ याज्ञिक ब्राह्मण जङ्गलमें यज्ञ कर रहे थे। वहीं गोपाल गायें चरा रहे थे। उन्होंने जब देखा कि ग्वाल-बालोंको भूख लग रही है तो उन्हें यज्ञ करनेवाले ब्राह्मणोंके पास भेज दिया। वहाँ जाकर जब उन्होंने भोजनकी याचना की तो उन्हें बुरी तरहसे फटकार दिया गया। वे लौटकर श्यामसुन्दरके पास आए और उनसे सारा समाचार कहा। श्रीकृष्णने उनको फिर याज्ञिकोंकी पत्नियोंके पास भेजा। ग्वाल-बालोंने जाकर जब याज्ञिकोंकी पत्नियोंको समाचार सुनाया तो वे आनन्दसे झूम उठीं। अनेक प्रकारके मिष्टान्न तैयार किये गए, थालियाँ सजाई गई और वे उनको स्वयं लेकर चल दीं उस स्थानपर जहाँ श्रीनन्दनन्दन विराजमान थे।

उसी समय एक याज्ञिक की पत्नी अपने पतिको भोजन खिला रही थी। उसने अपनी सखियोंको प्रसन्नता-पूर्वक सुन्दर-सुन्दर थाल सजाए उस मञ्जुल-मूर्तिका दर्शन करनेको जाते देखा।

उसकी आँखोंके सामने श्यामसुन्दरकी दिव्य-माधुरी थिरकने लगी। वह भी उठी और प्रेमसे उन्हीं आनन्द-घनके लिए ले जानेको थाल सजाने लगी। उसी समय भोजन करते पतिने उसे डपटा—"कहाँ जानेको तैयार हो रही है?"

"उन्हीं मनमोहनके दर्शन करने को", पत्नीने सरल स्वभावसे उत्तर दिया।

पतिदेव एकदम गरज उठे—"मैं जो यहाँ बैठा भोजन कर रहा हूँ! क्या यही है तेरा पातिव्रत धर्म कि पतिकी आज्ञाका उल्लंघन करके स्वेच्छाचारिणी बने? तू कहीं नहीं जा सकती।"

स्त्रीने नम्रतासे कहा—"महाराज आप भोजन तो कर ही चुके, अब तो वृथा ही मुझे दोष देते हैं। फिर मैं तो आपके भी स्वामी सजल-जलदाभ नीलमणि श्रीश्यामसुन्दरके दर्शन करने जा रही हूँ। इसमें स्वेच्छाचारिताकी क्या बात है?"

अब तो पतिदेव और भी बिगड़ गए। बोले—"अपने स्वामीकी आज्ञाका उल्लंघन करके भी जाने का आग्रह करना तेरा धर्म है क्या? तू मेरी आज्ञाके बिना पैर भी नहीं उठा सकती।"

पत्नीने फीकी हँसी हँसकर कहा—"देव! वास्तविक और सच्चे स्वामी तो वही आनन्द-घन श्रीव्रजेन्द्र-नन्दन हैं। उन्हींकी आज्ञाका उल्लंघन आप करा रहे हैं।"

"नहीं! तू मेरी आज्ञाके बिना नहीं जा सकती।" पतिजी बीचमें ही बौखला उठे।

"मैं जाकर रहूँगी। मुझे कोई नहीं रोक सकता! दुनियाँ में किसकी सामर्थ्य है जो मुझे मेरे स्वामीके पास जाने से रोक ले।"

"अच्छा तो देखता हूँ, तू कैसे जाती है?" पतिने क्रोधसे काँपते हुए कहा और उसका शरीर रस्सीसे कसकर आँगनमें डाल दिया।

"बस कि अभी और कुछ करना है?" पत्नीने बड़े मीठे शब्दोंमें कहा—"अब भी उनके पास जा सकती हूँ।"

"हूँ, जा क्यों नहीं सकती? यह नहीं पता है कि मैं यहाँ से तब तक जानेका नाम भी नहीं लूँगा जब तक कि वे कुल-बधुएँ लौट कर नहीं आ जातीं।"

पत्नी पतिकी बातोंपर धीरे से हँस दी और फिर बोली—"आप शारीरिक-शक्तिसे शरीर को वशमें कर सकते हैं, बाँधकर आँगनमें डाल सकते हैं, टुकड़े-टुकड़े कर सकते हैं; परन्तु आप मन और आत्माके स्वामी नहीं। उनको न तो आप बाँध ही सकते हैं और न मञ्जुल-मूर्ति श्यामसुन्दरके पास जानेसे रोक ही सकते हैं। चाहे आप लाख उपाय कर लें, परन्तु मेरा मन, मेरी आत्मा तो उन प्रियतम प्यारे, नन्ददुलारे श्यामसुन्दरके पास सबसे पहले जायगी। उसे कोई नहीं रोक सकता।"

इतना कह कर उसने अपनी दोनों आँखें बन्द कीं और भगवानकी माधुरी-मूर्तिका ध्यान करने लगी। उसे लगा मानो मनमोहन उसके सामने खड़े हैं। उनके माथे पर मोरका मुकुट और अनेकों अमूल्य हीरे-मोतियोंसे जड़ा किरीट है। शरद्-चन्द्रके समान ज्योतिष्मान् उनका मुख चारों ओर सुन्दरता बखेर रहा है। नीलपद्म-से चपल लोचनोंकी मोहकताको देखकर तो वह ठगी-सी रह गई। कन्धों पर पड़ा रेशमी पीताम्बर, चरण-पर्यन्त झूमती हुई वन-माला, हाथमें सुन्दर वंशी और नख से शिख तक मोती, मरकत मणि, माणिक्यसे जड़े हुए सुन्दर आभूषण, अहा! कितना मोहक है यह स्वरूप!! कितनी सुन्दर है यह मनोमुग्धकारिणी छटा!!! उसका मन मनमोहनमें जा मिला। उसकी आत्मा उसके सच्चे प्रियतममें समा गई।

यज्ञ-पत्नियोंकी इसी दशाको लक्ष्य करके परमहंस-शिरोमणि श्रीशुक-मुनि कहते हैं--

... ...

अभिसस्रुः प्रियं सर्वाः समुद्रमिव निम्नगाः।
निषिद्धमानाः पतिभिर्भ्रातृभिर्बन्धुभिः सुतैः।
भगवत्युत्तमश्लोके दीर्घश्रुतधृताशयाः॥

(श्रीमद्भागवत १०।२३।१९,२०)

—जिस प्रकारसे नदियाँ अनेकों विघ्नोंके सामने आने पर भी अबाध गतिसे आगे बढ़ती जाती हैं और अपने लक्ष्य स्थान समुद्रमें मिलकर ही शान्तिलाभ करती हैं। उसी प्रकारसे ये यज्ञ-पत्नियाँ भी पति-पुत्रादिके रोकने पर भी अपने वास्तविक प्रियतम भगवान श्रीश्यामसुन्दरसे मिलनेके लिए चल दीं; क्योंकि उन त्रिभुवन-मोहनके ललित-गुण-लीला-सौन्दर्य-माधुर्य आदिका वर्णन सुन-सुन कर वे इसके लिए पहलेसे ही कृत-संकल्प थीं।

यज्ञ-पत्नियोंका यह सच्चा अनुराग ही उनके लिये फलदायक सिद्ध हुआ। जिन्होंने लोकके बन्धनोंको तृण सम त्यागकर श्रीभगवानकी शरण चाही और अपने शरीर तकका मोह छोड़ दिया उस ईश्वरमें सगुण लीलानायकमें लीन होनेको आतुर होनेवाली इन मुक्तात्मा यज्ञ-पत्नियोंका चरित्र आदर्श रूप विद्यमान है।

इसी चरित्रको संक्षेपमें एक कविने कितने सुन्दर ढङ्गसे व्यक्त किया है। देखिये :—

नाम सुन्यौ प्रथमै सुनिकै हरि देखन की मन लालसा लागी।
आन प्रत्यछ लख्यौ तिनको अपने को गुनी बड़भागी॥
श्रीजदुनाथ अनूप स्वरूप हिए धरि मूँदि दृगौं अनुरागी।
मोहन सौं मिलिके मनमें मखनारि भुलाइ दई बिरहागी॥

सच्चे प्रेमकी प्रतिमा–श्रीव्रजाङ्गनाएँ

अशेष सौन्दर्य-माधुर्य-निकेतन श्रीभगवानकी सभी लीलाएँ नित्य हैं; किन्तु रसिकोंके लिए रस-विस्तारार्थ समय-समयपर वे इन लीलाओंका प्रकाशन करते रहते हैं। इसी प्रकार आज से लगभग पाँच हजार वर्ष पूर्व इन भुवनवन्द्या प्रातःस्मरणीया श्रीगोपीजनोंने सच्चे प्रेमका आदर्श स्थापित करनेके लिए प्रकट रूपसे इस व्रज-प्रदेशमें अवतार लेकर उन्हीं लीलाओंका विस्तार किया था। इन व्रज-गोपियोंको जो आह्लाद व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण द्वारा प्राप्त हुआ, वह सुख, वह प्रेम, वह औदार्य और किसी अवतारमें भक्तोंको प्राप्त नहीं हुआ। वहाँ उन्हें वह अनन्यता नहीं दिखाई दी, जो गोपियोंके प्रेममें थी। वृहद् वामन-पुराणकी एक वार्तासे व्रज-गोपियोंके इस पुनीत प्रेमके महत्त्वका दिग्दर्शन कराया जाता है।

एक समय भृगुजी अपने पिताजीके पास गए और प्रणाम करके अत्यन्त विनीत भावसे बोले—"पिताजी! मेरे हृदयमें एक शंका दिन-प्रति-दिन बढ़ती जारही है। आप सर्वज्ञ हैं, अतः उसका समाधान आपसे हो सकता है। कृपा करके मुझे बतलाइए कि श्रीशुक-सनकादिक नारदादि ऋषिमुनियोंने अन्य किसी वस्तुकी चाहना न करके व्रजाङ्गनाओंकी चरणरजकी ही याचना क्यों की?" ब्रह्माजीने उत्तर दिया—"बेटा! व्रज-गोपिओंको तुम साधारण स्त्री मत समझो। ये तो साक्षात् श्रुति-कन्याएँ हैं। इन व्रजगोपियोंके समान और कौन हो सकता है, जिन्होंने त्रिभुवन-मोहन श्रीश्यामसुन्दरको अपनी प्रेमभरी चितवनोंसे आधीन कर रक्खा है? मालूम पड़ता है तू अभी तक अज्ञानमें भूला हुआ है, जिसके कारण इस रहस्यको तू नहीं जान सका है। इनकी चरण-रज सभीके लिए दुर्लभ है। मैंने भी इसकी प्राप्तिके लिए बहुत वर्षों तक तपश्चर्याकी थी, किन्तु मैं भी उसे प्राप्त नहीं कर सका। तूने व्रजकी रस-माधुरी समझी नहीं है। जिस व्यक्तिके जितने दिन उस रसके बिना बीते, समझ लो कि उसके उतने दिन बेकार चले गए। जिस भगवान श्रीकृष्णको ज्ञानी ज्ञानमें ढूँढ़ा करते हैं, भजनानन्दी भजनके सहारे प्राप्त करना चाहते हैं, वे व्रजकी इन गोपियोंके दरवाजे पर खड़े-खड़े उनकी प्रतीक्षा करते रहते हैं। जो भगवान सब भक्तोंके सिरमाथे हैं, वे ही इन व्रजाङ्गनाओंके प्रेम-पाशमें आबद्ध होकर सेवकके समान उनकी आज्ञा पालनेके लिए तैयार रहते हैं। इसी बात को श्रीध्रुवदासजीने बयालीस-लीलामें कहा है—

जोइ-जोइ व्रज बनिता कहैं, सोइ-सोइ लेत हैं मानि।
नाचत ज्यों कठपूतरी तिनके आगे आनि॥
ज्ञानी खोजत ज्ञान में भजनी भजन अपार।
ते हरि ठाढ़े रहत हैं व्रजबेनिन के द्वार॥
सब भक्तन के सिरन पर हरि-ईश्वर नन्दलाल।
व्रजमें सेवक ह्वै रहे अद्भुत प्रेम की चाल॥

श्रीसूरदासजीने तो इसी बातको और भी विस्तारसे कहा है—

... ...

बेन करताल दै लाल गोपाल सों, पकरि ब्रजबाल कपि ज्यों नचावैं ॥
कोउ कहै ललन पकराहु मोहि पाँवरी, कोउ कहै लाल बलि लाउ पीढ़ी ।
कोउ कहै ललन गहाव मोहि सोहनी, कोउ कहै लाल चढ़ि जाहु सीढ़ी ॥
कोउ कहै ललन देखौ मोर कैसे नचैं, कोउ कहै भ्रमर कैसे गुंजारैं ।
कोउ कहै पौरि लगि दौरि आओ लाल, रीझि मोतिन के हार वारैं ॥
जो कछु कहैं ब्रज-बधू सोइ-सोइ करत, तोतरे बैन बोलन सुहावैं ।
रोय परत वस्तु जब भारी न उठै तबै, चूम मुख जननी उरसों लगावैं ॥
बैन कहि लोनी पुनि चाहि रहत बदन, हँस रसमुक बीच लै-लै कलोलैं ।
धामके काम ब्रजबाम सब भूलि रहीं, कान्ह बलराम के संग डोलैं ॥
'सूर' गिरिधरन मृदु-चरित मधु-पान कै, और अमृत कछु आन लागैं ।
और सुख रंकको कौन इच्छा करै, मुक्ति हू लौन-सी खारी लागैं ॥

कलिन्दनन्दिनी श्रीयमुनाजीके तटपर बृहद्-वन नामका एक अतिशय सुन्दर वन था । इस वनके पार्श्वदेशोंमें अनेकों ब्रज बसे हुए थे । इन ब्रजोंमें अगणित गोप निवास करते थे । प्रत्येक गोपके पास अपार गो-धन था । गो-पालन ही इनकी एकमात्र जीविका थी । सब घरोंमें दूध-दही की नदियाँ बहा करती थीं । इनका जीवन बड़े सुखसे बीतता था । इन्हीं गोपोंके घर श्रीगोपीजनों का अवतरण विश्वमें श्रीकृष्ण-प्रेमका आदर्श स्थापित करनेके लिए हुआ था । इन गोपियोंके अनन्त यूथ थे, जिनमें कुछ यूथ तो नित्य-सिद्धा गोपिकाओंके थे, जो भगवान श्रीव्रजेन्द्रनन्दनके प्रत्येक अवतारके साथ इस धराधामपर अवतीर्ण होते रहते हैं । शेष गोपियाँ साधन सिद्धा कही जाती हैं । ये अनेकों प्रकारसे भगवानसे उनके मधुर-प्रेमकी याचना करके इस अवतार में अपनी मनोवाञ्छाको पूरा कर पायीं थीं । इन गोपियोंमें ऋषि-कन्याएँ, मुनि-कन्याएँ, श्रुति-कन्याएँ आदिके अनेकों भेद हैं—

मुनि-कन्या ऋषि-कन्या जिती । श्रुति-कन्या साधन सिद्धा तिती ॥
नित्यसिद्धा गोपकन्या जानों । श्रीकृष्ण अनादि तैसें ये मानों ॥

(स्वामी श्रीरसिकदेवजी कृत—"रससार")

इन ब्रजाङ्गनाओंके प्रेमादर्शकी पराकाष्ठाका शुक-सनकादि ऋषियोंने उद्धव-आदि भक्तोंने शास्त्र-पुराणकार मुनियोंने एवं आचार्य सन्तोंने विशद रूपसे किया है । इतना ही नहीं, स्वयं भगवान श्रीकृष्णने भी इनके प्रेमकी भूरि-भूरि प्रशंसा की है । श्रीमद्भागवतमें श्रीशुकदेवजीके शब्दोंमें उद्धवजी कहते हैं—

एताः परं तनुभृतो भुवि गोपवध्वो गोविन्द एव निखिलात्मनि रूढभावाः ।
वाञ्छन्ति यद् भवभियो मुनयो वयं च किं ब्रह्मजन्मभिरनन्तकथारसस्य ॥

(श्रीमद्भागवत १०।४७।५८)

—इस पृथ्वी पर केवल गोपियोंका ही शरीर धारण करना श्रेष्ठ एवं सफल है; क्योंकि ये सर्वात्मा भगवान श्रीकृष्णके उस परम प्रेममय दिव्य महाभावमें स्थित हो गई हैं जिसके लिए संसारके भयसे डरे हुए मुमुक्षु-जन, बड़े-बड़े मुनि और हम सदा वाञ्छा करते रहने पर भी प्राप्त नहीं कर पाते हैं। यदि भगवान की कथाका रस नहीं मिला, उसमें रुचि नहीं हुई तो अनेक महाकल्पों तक बार-बार ब्रह्मा होनेसे भी क्या लाभ ?

गोपियोंके इस प्रेमके कारण भगवान श्रीकृष्णने तो यहाँ तक कह दिया है—

न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां स्वसाधुकृत्यं विबुधायुषापि वः।
या माभजन् दुर्जरगेहशृङ्खलाः संवृश्च्य तद् वः प्रतियातु साधुना॥
(श्रीमद्भा० १०।३२।२२)

—हे गोपियो! तुमने घरकी बड़ी कठिन बेड़ियोंको तोड़कर मेरी सेवा की है। तुम्हारे इस साधु कार्यका मैं देवताओंके समान आयु पाकर भी बदला नहीं चुका सकता। तुम ही अपनी उदारतासे मुझे उऋण करना।

गोपियोंकी प्रशंसा करते समय अपने परम भक्त अर्जुनसे भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं—

मन्माहात्म्यं मत्सपर्यां मच्छ्रद्धां मन्मनोगतं।
जानन्ति गोपिकाः पार्थ नान्ये जानन्ति तत्त्वतः॥ (आदि-पुराण)

—हे अर्जुन! मेरी महिमा, मेरी सेवा, मेरी इच्छाओं और मेरे मनोगत भावोंको तो एक-मात्र गोपिकाएँ ही ठीक-ठीक जानती हैं, दूसरा कोई नहीं।

स्वामी श्रीबिहारिनदेवजीने व्रजाङ्गनाओंके विशुद्ध प्रेमपर प्रकाश डालते हुए कहा है—

साँचे प्रेमकी गुरु गोपी।
सबै निसंक चलीं हरि सनमुख लै अपने उर ओपी॥
सुत-पति परिहरि मन न कछू धरि बरजत क्रोध न कोपी।
मेटि मिली मरजाद लाज पे लोक-वेद आरोपी॥
मगन भई सुन्दर स्वरूप-सुख सब वासना अलोपी।
'श्रीबिहारिदास' रस रमीं स्याम संग सब बाधिकन दै ओपी॥

हिन्दी-साहित्यके उद्भट महारथी "श्रीघनआनन्द" ने तो इनके प्रेमका वर्णन बहुत ही विशद रूपसे किया है। कुछ दोहे देखिए—

गोपिनि की पदवी अगम, निगम निहारत जाहि।
पद-रज बिधि से चाहहीं, कौन लहै फिर ताहि॥
महाभाग व्रजकी बधू, निज बस किये गुपाल।
रिनी रहै हित मानि कै, सुकृती परम रसाल॥
गोपिन की रस गुपत अति, प्रगट करै तिहि कौन।
सुक सनकादिक सुमिरि कै, चकित रहत धरि मौन॥

परम अमल अति ही अमित, हरि-व्रज-बधू विलास ।
जाँचत हैं विधि सम्भु से, श्रीव्रजमण्डल-बास ॥
श्रीपद-अंकित व्रजमही, छवि न कही कछु जाय ।
क्यों न रमा हूँ को हियो, वा सुखकों ललचाय ॥

गोपियोंका यह प्रेम अत्यन्त दुर्लभ है। इसमें देवताओंका भी अधिकार नहीं। जो जन श्रीव्रजेन्द्रनन्दनके रसके रसिक हैं, व्रज-प्रेमके प्रेमी हैं, व्रज-भावके भावुक हैं, वे ही इस अत्यन्त उच्च प्रेम-रसका पान किया करते हैं। यह प्रेम कामगन्ध-हीन, विषयाभिलाष-शून्य स्वसुखकी भावनासे रहित एवं गोपीभावके अवलम्बनसे प्राप्त होने वाला है। गोपियोंका श्रीकृष्णके प्रति अनुराग काम नहीं, प्रेम है; क्योंकि प्रेम और काममें बड़ा ही अन्तर है। काम जहर मिला हुआ मधु है। प्रेम अलौकिक सुधा है। काम थोड़ी ही देरमें दुःखके रूपमें बदल जाता है, प्रेमकी प्रत्येक कसक सुख-सुधाके स्वादसे परिपूर्ण है। काममें इन्द्रिय-भोग सुख-रूप दिखाई देने पर भी परिणाममें दुःख-रूप है; प्रेम सदा अतृप्त होने पर भी नित्य परम-सुख-रूप है। काम खण्ड है, प्रेम अखण्ड है। काम क्षयशील है; प्रेम नित्य-वर्धनशील है। काममें विषय-तृष्णा है, प्रेममें विषय-विस्मरण है। कामका सम्बन्ध नश्वर शरीरसे है और प्रेमका सम्बन्ध नित्य आत्मा से।

गोपियोंके इसी विशुद्ध प्रेमकी ओर संकेत करते हुए चैतन्य-चरितामृतमें कहा गया है—

निजेन्द्रिय-सुख-हेतु कामेर तात्पर्य । कृष्ण-सुख तात्पर्य गोपी-भाव वर्य ॥
निजेन्द्रिय-सुख-वाञ्छा नहे गोपीकार । कृष्ण-सुख-हेतु करें सङ्गम-विहार ॥
आत्म-सुख-दुःख गोपी ना करे विचार । कृष्ण-सुख-हेतु करे सब व्यवहार ॥
कृष्ण विना आर सब करि परित्याग । कृष्ण-सुख-हेतु करे शुद्ध अनुराग ॥

मूल (छप्पय)

प्राचीनबर्हि, सत्यव्रत, रहुगण, सगर, भगीरथ ।
बाल्मीकि, मिथिलेश गए जे-जे गोबिन्द-पथ ॥
रुक्मांगद, हरिचन्द, भरत, दधीचि उदारा ।
सुरथ, सुधन्वा शिविर, सुमति अतिबलि की दारा ॥
नील, मोरध्वज, ताम्रध्वज, अलरक की कीरति राचिहौं ।
अंघ्री अम्बुज पांसु को जन्म-जन्म हौं जाचिहौं ॥११॥

अर्थ—प्राचीनबर्हीसे लेकर अलर्क तक २१ भक्तोंकी चरण-रजकी कामना मैं जन्म-जन्मान्तरके लिए करता हूँ।

महर्षि–वाल्मीकि

भक्ति-रस-बोधिनी

जन्म पुनि जन्म को न मेरे कछु सोच अहो ! सन्तपद-कंज-रेनु सीस पर धारिये।
प्राचीनबर्हि आदि–कथा परसिद्ध जग, उभै बालमीकि बात चित्त तें न टारिये॥
भये भील संग भील, ऋषि संग ऋषि भये, भये राम-दरशन लीला बिसतारिये।
जिन्हें जग गाय फिहू सके ना अघाय चाय, भाय भरि हियो भरि नैन भरि ढारिये॥७८॥

अर्थ— प्रियादासजी अपने सम्बन्धमें कहते हैं कि मुझे इस बातकी चिन्ता नहीं है कि (मुक्ति न मिलनेपर) मुझे बार-बार जन्म लेकर इस संसारमें आना पड़ेगा; क्योंकि ऐसी स्थितिमें मुझे सन्तोंकी चरण-रजको अपने मस्तक पर लगानेका सौभाग्य तो प्राप्त होगा। प्राचीनबर्हि आदि भक्तोंकी कथा तो पुराणोंमें लिखी है और संसारके सब लोग उससे परिचित हैं; परन्तु दोनों वाल्मीकि-ऋषियोंके चरित्रको हृदयसे कभी नहीं दूर करना चाहिये। आदि-कवि वाल्मीकि अपने जीवनके प्रारम्भमें भीलोंके साथ भील बनकर रहे और बादमें ज्ञान होने पर ऋषियोंके सत्संगमें रह कर ऋषि हो गये। आपको प्रभु श्रीरामचन्द्रजीने प्रत्यक्ष दर्शन दिया था। आपने विस्तार-पूर्वक श्रीरामजीके चरित्रका श्रीवाल्मीकि रामायणमें ऐसा वर्णन किया है कि उसे गाते और श्रवण करते संसारको कभी तृप्ति ही नहीं होती, बल्कि रामचरित्रको गाने वालों और सुननेवालोंका हृदय उत्कण्ठा और चाव (उत्साह) से परिपूर्ण हो जाता है और आनन्दके कारण नेत्रोंसे आँसुओंकी धारा बहने लगती है।

ऋषि वाल्मीकिका जन्म ब्राह्मण-कुलमें हुआ था, परन्तु वे पले थे एक व्याधके परिवार में। वे रास्तेमें आते-जाते पथिकोंको लूटा करते थे। एक दिन कश्यप, अत्रि आदि सप्तर्षि उधर होकर निकले। वाल्मीकिने उसी प्रकार उनका भी पीछा किया और उन्हें भी मारना चाहा, तो ऋषियोंने उनसे पूछा—"अपने जिन स्त्री-पुत्र और बान्धवोंका पालन तुम मनुष्यों और जीव-जन्तुओंका वध करके करते हो, उनके पापमें वे लोग भागीदार होते हैं कि नहीं ?" वाल्मीकिने कहा—"मुझे नहीं मालूम।" तब ऋषियोंने कहा—"एक काम करो। हम सब यहीं बैठे हैं; तुम जरा घर पूछ कर आओ।" वाल्मीकिने जब उन लोगोंसे उसी प्रकार पूछा तो सबने एक स्वरसे यही उत्तर दिया कि उनमें-से कोई वाल्मीकिके पापमें साझीदार बननेको तैयार नहीं है। यह सुन कर वाल्मीकिको बड़ी निराशा हुई। उन्होंने मनमें कहा—"ये सब लोग केवल अपने स्वार्थके साथी हैं; फिर मैं इनके लिए निरपराध प्राणियोंकी हत्याका पाप अपने सिरपर क्यों लूँ ?" वे ऋषियोंके चरणों पर गिर पड़े और अपने उद्धारका उपाय पूछा। इसपर ऋषियोंने उन्हें 'राम-राम' जपनेको कहा, लेकिन उस समय वह इतने बुद्धिहीन थे कि बार-बार कहने पर भी 'राम-राम' का उच्चारण नहीं कर पाये। ऋषिगण उन्हें उसी नामके रटनेका उपदेश देकर अपने-अपने स्थानको चले गये और वे भी 'राम-राम' के स्थान पर उल्टा नाम जपते हुए वहीं निवास करने लगे।

हजारों वर्ष बीत जानेपर वही ऋषिगण फिर उधरसे निकले और अपनी सन्तदृष्टिसे उन्होंने उस स्थानकी खोज निकाला जहाँ श्रीवाल्मीकि तपस्या कर रहे थे। हजारों वर्षोंसे एक स्थानपर समाधि

लगाए बैठे रहनेके कारण उनका शरीर बाँबियोंसे ढक गया था, अतः उनका "वाल्मीकि" यह नाम-करण किया।

महर्षि वाल्मीकिके सम्बन्धमें श्रीतुलसीदासजी की निम्नलिखित पंक्तियाँ प्रसिद्ध हैं—

उल्टा नाम जपत जग जाना। बाल्मीकि भये ब्रह्म समाना ॥१॥

और भी कहा है :—

कूजन्तं रामरामेति मधुरं मधुराक्षरम्।
आरुह्य कविता-शाखां वन्दे वाल्मीकि-कोकिलम् ॥२॥

—कवितारूपी डालीपर बैठ कर 'राम-राम' के मधुर अक्षरोंका उच्चारण करते हुए वाल्मीकि-रूपी कोयलको मैं नमस्कार करता हूँ।

श्रीवाल्मीकि ऋषिको संसार के 'आदि कवि' होनेका श्रेय प्राप्त है। कहते हैं, अपने ऋषि-जीवन में एक दिन इन्होंने देखा कि प्रेम-मग्न होकर विहार करते हुए सारस-पक्षीके जोड़ेमें-से एकको किसी व्याधने तीरसे मार दिया। अपने साथीको मरा हुआ देख कर दूसरा सारस बड़े करुण-स्वरसे चीखने लगा। यह दृश्य देख कर ऋषिके हृदयमें करुणाका स्रोत उमड़ आया और उनके मुखसे निम्नलिखित छन्दोमयी वाणी फूट निकली—

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत् क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम् ॥

अरे व्याध! तूने काम-केलिमें मोहित सारसके जोड़ेमें-से एकको जो मार गिराया है, इस अप-राधके कारण तू सैकड़ों वर्षों तक किसी प्रकारका गौरव प्राप्त नहीं कर सकेगा।

श्वपच वाल्मीकि

भक्ति-रस-बोधिनी

हुतो बाल्मीकि एक सुपच सुनाम, ताको स्याम लै प्रगट कियो भारथ में गाइए।
पांडवन मध्य मुख्य धर्मपुत्र राजा, आप कीनो यज्ञ भारी ऋषि आए भूमि छाइए ॥
ताको अनुभाव शुभ शंख सो प्रभाव कहै, जो पै नहीं बाजे तो अपूरनता आइए।
सोई बात भई बहु बाज्यो नाहिं सोच पर्यो, पूछें प्रभु पास "याकी न्यूनता बताइए" ॥७५॥

अर्थ—जातिके श्वपच (चांडाल) वाल्मीकि नामक भगवानके परम-भक्त एक महात्मा थे। श्यामसुन्दर श्रीकृष्णचन्द्रने उन्हें कैसे प्रकट किया, यह कथा विस्तार-पूर्वक महाभारतमें वर्णित है।

पाँचों पाण्डवोंमें धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिर सबसे बड़े थे। महाभारतका युद्ध समाप्त होने पर आपने अश्वमेध यज्ञ किया, जिसमें इतने ऋषि-मुनियोंने भाग लिया कि तिल-भर जगह भी खाली नहीं रही। यज्ञ सांगोपांग पूर्ण हुआ, इसको सूचित करनेके लिए—अर्थात् यज्ञके

प्रभावका परिचय देनेके लिए वहाँ एक शङ्ख रख दिया गया था। यज्ञकी समाप्तिपर वह अपने आप बज उठता। यदि नहीं बजे, तो समझिए कि यज्ञ पूर्ण नहीं हुआ—कोई कहीं त्रुटि रह गई।

ऐसा ही हुआ। वह शङ्ख नहीं बजा और सब लोग यह देखकर चिन्तामें पड़ गए। यज्ञ में श्रीकृष्ण पाण्डवोंके सदा पास रहते थे। उनसे पूछा गया—"प्रभो! यज्ञमें क्या कसर रह गई जो शङ्ख नहीं बजा?"

भक्ति-रस-बोधिनी

बोले कृष्णदेव याको सुनो सब भेव एवै नीके मान लेव बात बुरी समझाइये।
भागवत संत रसवंत कोऊ जैयो नाहि ऋषिन समूह भूमि चहूँ दिशि छाइये॥
जो पै कहो 'भक्त नाहीं', नाहीं कैसे कहौं, यहीं गांस एक और कुल जाति को बहाइये।
दासनि को दास अभिमान को न बास कहूँ, पूरन को आस तो पै ऐसो लै जिवाइये॥७६॥

अर्थ—शङ्ख न बजनेका कारण बतानेके उद्देश्यसे भगवान बोले—"इस भीतरी भेदको सुनिये और सुनकर भली-भाँति उसे मान लीजिए—अर्थात् उसके अनुसार आचरण करिये। यह मैं तुम्हें एक रहस्यकी बात बता रहा हूँ। यज्ञकी पूर्णाहुतिके अवसरपर यद्यपि हजारों ऋषि-मुनियोंने भोजन किया—यहाँ तक कि चारों दिशाओंमें वे छा-से गए, लेकिन किसी भी भगवानके रसिक-भक्तने भोजन नहीं किया। यों तो कैसे कहूँ कि यज्ञमें आए हुए ऋषिगण मेरे भक्त नहीं हैं, पर फिर भी इन लोगोंके बारेमें कहनेके लिए मेरे मनमें एक बात रह गई है (और वह यह कि ये सब ज्ञानी कहाने वाले ऋषि अपनेमें-से जाति, कुल तथा अपनी उच्चताका अभिमान नहीं निकाल सके हैं)। मेरा प्रिय भक्त तो मेरे दासोंका दास बनकर रहता है और जाति-कुलके अभिमानको भक्तिकी निर्मल धारामें बहा देता है। इन चीजोंकी गन्ध भी उसे नहीं सुहाती। यदि तुम्हें यज्ञको पूर्ण करनेकी अभिलाषा है, तो ऐसे किसी भक्तको भोजन कराओ।"

भक्ति-रस-बोधिनी

ऐसो हरिदास पुर आस-पास दीसै नाहिं, बास बिनु कोऊ लोक लोकनि में पाइये।
"तेरेई नगर माँझ निशि दिन भोर सांझ आवै जाय ऐपै काहू बात न जनाइये॥"
सुनि सब चौंकि परे, भाव अचरज भरे, हुवे मग नैन "अजू! बेगि ही बताइये।
कहा नाव? कहाँ ठाव? जहाँ हम जाय देखें, लेवैं करि भाग, धाय पाय लपटाइये"॥७७॥

अर्थ—श्रीकृष्णका उपर्युक्त उत्तर सुनकर श्रीयुधिष्ठिर बोले—"इस प्रकारका हरि-भक्त हमारे नगरके आस-पास कोई नहीं दिखाई देता। (सच बात तो यह है कि) वासना (इच्छा) से रहित (अथवा अभिमानकी गन्धसे शून्य) भक्त तो इस लोक का तो कहना ही क्या, किसी लोकमें कदाचित् ही मिले।" तब श्रीकृष्णने कहा—"तुम्हारे ही नगरमें इस प्रकारके एक भक्त रहते हैं और दिन-रात, सुबह-शाम उनका यहाँ आना-जाना रहता है। फिर भी (आश्चर्य यह

है कि) कोई उन्हें पहिचानता नहीं और न वे ही अपने यथार्थ स्वरूपको दूसरोंके सम्मुख प्रकट करते हैं।'' यह सुनते ही सब आश्चर्यमें पड़ गए और उनके हृदय तथा नेत्र उस सन्तके दर्शन करनेके लिये अधीर हो उठे। वे कहने लगे—''भगवन्! शीघ्र बताइए कि उनका नाम-धाम क्या है? ताकि हम लोग उनका दर्शनकर अपने भाग्यको सराहें और दौड़कर उनके चरणोंमें लिपट जायँ।''

भक्ति-रस-बोधिनी

जिते मेरे दास कभूं चाहैं न प्रकास भयो, करौं जो प्रकास, मानैं महा दुखदाइये।
मोको परचो सोच यज्ञपूरन की लोच हिये लिये वाको नाम जिनि गाम तज जाइये॥
''ऐसो दुख कहो जामें रहो न्यारे प्यारे! सदा, हमहीं लिवाइ ल्याइ नीके कै जिवाइये।''
''जावो 'बालमीक' घर बड़ो अवलीक साधु, कियो अपराध हम दियो जो बताइये'' ॥७८॥

अर्थ—श्रीकृष्णचन्द्रने तब पाण्डवोंसे कहा—''इस संसारमें जितने मेरे दास हैं, वे कभी अपने आपको प्रकट करना नहीं चाहते और यदि मैं उन्हें प्रकाशमें लाता हूँ, तो उन्हें अत्यन्त कष्ट होता है। अब मैं बड़े धर्म-संकटमें पड़ गया हूँ; क्योंकि एक ओर तुम्हारे यज्ञको पूर्ण हुआ देखा चाहता हूँ और उधर मुझे इसका डर है कि मेरे बतानेसे कहीं वे नगर छोड़ कर बाहर न चले जायँ।''

इसपर श्रीयुधिष्ठिरने कहा—''आप ऐसी तरह से बताइये कि आप तो अलग ही रहें और हम उन्हें जाकर अपने साथ ले आवें और अच्छी तरह भोजन करादें।'' भगवान बोले—''वाल्मीकिके घर चले जाओ; वे बड़े सच्चे साधु हैं। लेकिन हमने किया यह भी अपराध ही कि उनका परिचय आपको दे दिया।''

भक्ति-रस-बोधिनी

अर्जुन औ भीमसेन चलेई निमंत्रन को, अन्तर उघारि कही भक्तिभाव दूर है।
पहुँचे भवन जाय, चहुँ दिसि फिरि आइ, परे भूमि झूमि, घर देख्यो छबिपूर है॥
आए नृपराजनि को देखि, तजे कायनि को, लाजन सौं काँपि-काँपि भयो मन चूर है।
पायन को धारिये जू, जूठन ले डारिये जू, पायग्रह टारिये जू कीजे भाव भूर है॥७९॥

अर्थ—अर्जुन और भीमसेन जब वाल्मीकिके घर जानेको उद्यत हो गए, तब भगवानने उन्हें सावधान करते हुए स्पष्ट शब्दोंमें कहा—''देखो जा तो रहे हो, पर भक्तिकी भावना बड़ी टेढ़ी खीर है; (ऐसा न हो कि कोई विकार मनमें आ जाय, नहीं तो इतनेसे ही भक्ति दूषित हो जायगी।)

श्रीकृष्णके बताये हुए पतेपर दोनों चारों ओर घूम-घामकर वाल्मीकिके घरके सामने आए, और उन्हें देखते ही प्रेमसे झूमते हुए भूमिकी ओर झुककर प्रणाम किया। अन्दर जाकर देखा,

तो घरको बड़ा सुन्दर और स्वच्छ पाया। वाल्मीकिजीने जब राजाधिराजके भाइयोंको अपने घर पर आया हुआ देखा, तो सब काम छोड़ दिये और लज्जा एवं संकोचसे काँपते हुए एकदम शिथिल होगये। अर्जुनने तब प्रार्थना की—भगवन्! हमारे घर पधारिये और अपना उच्छिष्ट अन्न वहाँकी भूमिपर पटक कर हमारे अनर्थोंको दूर कीजिए, जिससे हम सब अपनेको भाग्यशाली मानें।"

भक्ति-रस-बोधिनी

"जूठनि लै डारौं, सदा द्वार को बुहारौं, नहीं और को निहारौं प्रभू! यही साँचो पन है।"
"कहो कहा?" ऐसो कछु पाछे लै जिवावो हमें जानो गई रीति भक्तिभाव तुम तन है॥
तब तो लजानौ, हिये कृष्ण पै रिसानौ, नृप चाही सोई ठानौ, मेरे संग कोऊ जन है।
भोर ही पधारो अब यही उर धारो और भूलि न विचारो कही भली जोपै मन है॥८०॥

अर्थ—वाल्मीकिजीने जब पाण्डवोंको अपनी प्रशंसा करते हुए सुना, तो कहने लगे—"अजी! मैं तो सदासे आप लोगों की जूठन उठाता रहा हूँ और आपके दरवाजे पर झाड़ू लगाता रहा हूँ। मैं और किसीकी तरफ नजर उठाकर भी नहीं देखता हूँ, यह मेरी प्रतिज्ञा है।"

अर्जुनने चकित होकर कहा—"महात्मा जी! आप यह कह क्या रहे हैं? चलिए, पहले भोजन करिये और तदुपरान्त हमें अपने हाथोंसे भोजन कराइए। हमसे आपके सम्बन्धकी कोई बात अब छिपी नहीं है। हमें मालूम है कि आपके शरीरमें भगवानकी भक्तिका पूरी तरह निवास है।"

वाल्मीकि यह सब सुनकर बड़े लज्जित हुए और मन ही मन श्रीकृष्णचन्द्र पर खीझने लगे कि मुझे प्रकट कर अच्छा नहीं किया। फिर वे बोले—"आप लोग राजा हैं—सब प्रकारसे समर्थ हैं; मेरा तो कोई सहायक भी नहीं कि मैं आपकी बात को टाल सकूँ।"

अर्जुन बोले—"छोड़िये इन सब बातोंको। कृपा कर कल प्रातःकाल होते ही हमारे घर को पवित्र कीजिये। अपने मनमें आप यही सोचिये कि हमें इनके यहाँ जाना है; और किसी प्रकारके ऊहापोहकी आवश्यकता नहीं।"

इस पर वाल्मीकिजीने कहा—"यदि आप लोगोंकी यही इच्छा है, तो ऐसा ही सही।"

भक्ति-रस-बोधिनी

कही सब रीति, सुनि धर्मपुत्र प्रीति भई, करी लै रसोई, कृष्ण द्रौपदी सिखाई है।
"अनेक प्रकार सब व्यंजन सुधारि करो, आजु तेरे हाथनि की होति सफलाई है॥"
ल्यायो जा लिवाय, कहै "बाहिर जिमाइ देवो", कही प्रभु "आप ल्यावो अंकभरि भाई है।"
आनि कै बैठायो पाकशाला में रसाल थाल लैल, आप्यो ग्रास, हरि वस्त्रकी लगाई है॥८१॥

अर्थ—भीमसेन और अर्जुनने लौट कर जब वाल्मीकिकी भक्तिके स्वरूपका (अथवा उनकी अभिमान-रहित-वृत्तिका) वर्णन किया, तो सुनते ही धर्मराज श्रीयुधिष्ठिरके मनमें वाल्मीकिके प्रति प्रेम उमड़ आया। इसके अनन्तर जब द्रौपदी रसोई बनाने लगीं, तो श्रीकृष्णने निर्देशन करते हुए कहा—"तुम्हारे हाथोंकी सफलता आज इसीमें है कि जितने भी प्रकारके व्यंजन बनाना तुम्हें आता है, सबको भलीभाँति बनाओ।" (भोजन तैयार होने पर) स्वयं युधिष्ठिर वाल्मीकि को घरसे अपने साथ ले आये। वाल्मीकिजीने कहा—"मुझे बाहर ही भोजन करा दीजिए।" परन्तु श्रीकृष्णचन्द्रने।" नहीं माना। उन्होंने अन्दर रसोई-घरमें उन्हें बिठाया और ज्योंही प्रेमसे परोसे गए भोजनका मधुर-ग्रास वाल्मीकिजीने मुँहमें डाला, त्योंही शङ्ख बज उठा। श्रीकृष्णने जब देखा कि शङ्ख बजा तो सही, पर ठीक-ठीक नहीं, तो उन्होंने एक छड़ी उसमें जमा दी।

भक्ति-रस-बोधिनी

"सीत सीत प्रति क्यों न बाज्यो ? कछु लाज्यो कहा ? भक्तिको प्रभाव तें न जानत यों आनिए।"
बोल्यो सकुलाय—"जाय पूछिये जू द्रौपदी कों, मेरो दोष नाहिं, यह आपु मन आनिए॥"
मानी सांच बात "जाति-बुद्धि आई देखि याहि, सब ही मिलाई मेरी चातुरी बिहानिए।"
पूछे तें, कही है वाल्मीकि "मैं मिलायो याते आदि प्रभु पायो पाऊँ स्वाद जनमानिए" ॥८२॥

अर्थ—प्रभु श्रीकृष्णने शङ्खसे पूछा—"बताओ, तुम प्रत्येक सीथ पर ठीक-ठीक क्यों नहीं बजे ? क्या तुम्हें लज्जा आ गई ? मुझे तो ऐसा लगता है कि तू पाण्डवोंकी भक्तिके प्रभावको नहीं जानता।" इस पर शङ्ख घबड़ाकर बोला—"मेरे ठीक-ठीक न बजनेका कारण द्रौपदीजीसे पूछिए; लेकिन यह बिना सन्देहके मान लीजिये कि इसमें मेरा तनिक भी दोष नहीं है।" द्रौपदीजीसे जब पूछा गया, तो उन्होंने कहा—"शङ्ख सत्य कहता है। बात यह है कि मैंने जब सब पकवानोंको एक-साथ मिलाकर खाते हुए देखा, तो मेरे मनमें यह भाव उठा कि जिस जाति में यह पैदा हुए हैं, वह व्यञ्जनोंकी कद्र करना क्या जाने ? यह तो मेरी पाक-विद्याका अपमान है!" प्रभुने वाल्मीकिजीसे जब सब पदार्थोंको इस प्रकार मिलाकर खानेका कारण पूछा, तो उन्होंने कहा—"इन सब पदार्थों का भोग आप पहले ही लगा चुके हैं। अब आप ही अनुमान लगा लीजिए कि उन्हें मैं स्वादकी दृष्टिसे पृथक्-पृथक् कैसे खा सकता हूँ ? ऐसा करनेसे तो भोजनमें प्रसाद-बुद्धि नष्ट हो जाती।"

—कवित्त-संख्या ७५ से लेकर ८२ तक में श्रीप्रियादासजीने श्री वाल्मीकिके चरितका विस्तार-पूर्वक वर्णन किया है। ऐसा करनेमें उनका प्रधान उद्देश्य यह दिखाना है कि भगवानके प्रति हीनताकी भावना रखकर कोई यज्ञ—लौकिक अथवा पारमार्थिक—पूरा नहीं होता। भक्तोंकी कोई जाति-बिरादरी नहीं होती। कहा भी है—"जात-पांति पूछे नहीं कोई, हरिको भजे सो हरि को होई।" राजा मोरध्वज के राज्य में तो—

अन्त्यजा अपि तद्राष्ट्रे शङ्ख-चक्रांकधारिणः । संप्राप्य वैष्णवीं दीक्षां दीक्षिता इव संबभुः ॥

—अन्त्यज (अछूत जातिके) लोग भी शंख, चक्र धारण करते थे और वैष्णवी दीक्षा पाकर ऐसे सदाचारी होगए थे जैसे वैदिक दीक्षासे युक्त उच्च वर्णके लोग।

इसी आशयको प्रकट करनेके लिए किसीने कहा है—

अन्त्यज विमुख द्विजन ते नीको ।
जिहिं साधी सेवा साधुन की, सावधान सब जीको ॥
यद्यपि जड़ मलीन पामर अति, जाति बरन कुल फीको ।
पै हरि भजन प्रभाव भाव तें, भये वंश मधि टीको ॥

× × ×

उत्तम कुल मलीन अन्तरगत ज्यों सुभाव केकी को ।
बचन स्वरूप मधुर नर्तन छवि असन भुजग भुजगी को ॥
बंदनीय यशवंत बहुत विधि साधु सुपच सुपची को ।
लागत मुख हरि विमुख विप्र को दुखप्रद ज्यों घटकी को ॥
दुर्लभ नर सरीर सुभ तामैं यह निरधारि सही को ।
रहुन प्रधान जात-कुल सों कछु काज सरै नाहिं नीको ॥

शंख-चरित्रको श्रीनामदेवजीने भी अपने सीधे-सादे ढङ्गसे अनोखा ही लिखा है—

आशंका उपजी इक मनमें, अर्जुन कहेउ कृष्ण सों छिन में ।
कोटिन यज्ञ विराम्हन जैंये, पूरन नहीं सु कोने भैये ?

श्रीकृष्णके कारण बता देने पर पाण्डव कहते हैं—

प्रभु हम ऊँच, ऊँच कुल पूजें हम जान्यो यह निर्मल भाय ।
इनहूँ सों कोउ निर्मल ह्वै है तौ हम भूले देहु बताय ॥

श्रीकृष्ण कहते हैं—

बाल्मीकि है जाति सपगरो, जाके राजा आये धाइ ।
आवे ये, जग पूरो ह्वै है, मनसा पूरन काम सँवारि ॥

इसके उपरान्त—

अर्जुन भीम नकुल सहदेवा राजा सहित सु पहुँचे जाइ ।
करि दंडवत चरन गहि लीने बाल्मीकि के लागे पाइ ॥

इस पर श्रीवाल्मीकिजी कहते हैं—

तुम तो ऊँच, ऊँच कुल जनमे, हम तो नीच महा कुल माहिं ।
ऊँच-नीच की शंका अबै, तात तिहारे आवै नाहिं ॥

पाण्डवोंने कहा—

तुम तो या जग सकल सिरोमनि, तुम सम कुल और नाहिं कोई ।
कृपा करौ अरु भवन पधारौ, तुम्हें चले यज्ञ पूरन होई ॥

इसके बाद घटना आगे चलती है—

> जब वाल्मीकि राजाके आयो, प्रेमप्रीति सों लियो अहार ।
> जितने ग्रास जेंवते लीने, शंख जु बाज्यो तितनी बार ॥
> भूधर कहैं हाथ सों भाजों, खंड-खंड करिहौं चकचूर ।
> हमरो साधु जेंवते ग्रास जु, कणि-कणि काहे न बाज्यो कूर ?
> देव-देव ! मोहि दोष न दीजै, दोष जु कोई द्रोपदी माँहि ।
> ऊँच-नीच की संका आई याते कण-कण बाज्यो नाँहि ॥
> परख्या साधु पारखा आई, जग में ज्योंति जिमायो सोई ।
> जा जेंये जग पूरन हूवो, नामदेव कहैं सिरोमनि सोई ॥

भक्तमाल के टीकाकारोंने इस प्रसंगको बहुत ही रचपच कर लिखा है और पग–पग पर दृष्टान्त देकर कथानक को अत्यन्त सरस और शिक्षाप्रद बनानेका प्रयत्न किया है। इनमें से यहाँ केवल दो दृष्टान्त दिए जाते हैं—

कवित्त,संख्या ७७ में श्रीप्रियादासजीने श्रीकृष्णके मुँहसे वाल्मीकिजीके स्वभावके बारेमें कहलवाया है—'काहू बात न जनाइए ।' अर्थात्—बातें करके वे अपनेको प्रकट नहीं करते हैं। इस पर दृष्टान्त है—

पुत्रकी कामना रखनेवाले किसी राजाको सौभाग्यसे एक सिद्धके साथ भेंट हो गई। राजाने सिद्धजी का अत्यन्त आदर-सम्मान किया और अन्तमें हाथ जोड़कर बोले—"भगवन्! मेरे कोई पुत्र नहीं है, सो आप मुझे पुत्रका वरदान दीजिए।" सिद्धने कहा—"राजन् ! सच बात तो यह है कि तुम्हारे प्रारब्धमें पुत्र-सुख बदा ही नहीं है, पर यदि तुम्हारा अत्यन्त आग्रह है, तो मैं स्वयं पुत्रके रूपमें तुम्हारे यहाँ प्रकट हो सकता हूँ।" यह कह कर सिद्ध चले गए। कुछ समय बाद उन्होंने अपना शरीर त्याग दिया और रानीके गर्भमें आ गए। समय आनेपर जब राजाके पुत्र हुआ, तो उसके हर्षकी सीमा न रही, यहाँ तक कि वह यह भी भूल गया कि कोई सिद्ध मिला था और यह उन्हींका प्रसाद है। धीरे-धीरे लड़का बड़ा हुआ, लेकिन सब प्रकारसे सुन्दर और स्वस्थ होते हुए भी वह बोलता न था। राजाने समझ लिया कि लड़का गूंगा है।

एक दिन राजा शिकार खेलने गए और साथमें अपने पुत्रको भी तमाशा दिखानेके लिए ले गए। संयोगसे लड़का सेवकोंके साथ आगे निकल गया। रास्तेमें एक तीतर बोल रहा था। उसे देखते ही राजपुत्र के मुँहसे निकल पड़ा—"बोला कि मरा !" तीतरको सेवकोंने उसी समय तीरसे मार गिराया और फिर राजा साहिबको शुभ समाचार सुनाया कि कुँवर साहब बोलने लगे हैं। राजाने अपने पुत्रका अब विवाह कर दिया और उसमें बहुत धन खर्च किया। लेकिन राजपुत्र फिर ज्यों-का-त्यों हो गया। इसपर राजाने उस सेवकको बुलाया और कहा कि तुमने झूठ बोलकर हमारा इतना खर्चा करा दिया; कुँवरजी तो बोलते ही नहीं है। इस अपराधका तुम्हें दण्ड भोगना होगा। कुँवरने उसी समय अचानक कहा—"बोला कि मरा !" राजाने इसका मतलब पूछा, तो कुँवरने कहा—"मैंने तुम्हें वरदान देकर अपने लिए एक सङ्कट खड़ा कर लिया। न मैं वर देनेके लिए कुछ बोलता और न मुझे पुत्रके रूपमें तुम्हारे घरमें आना पड़ता। यह सब बोलनेके ही कारण हुआ है; क्योंकि तीतर बोला सो मारा गया

और आपका यह सेवक आपको समाचार देनेके लिए बोला, इसी लिए इसको भी दण्ड भोगना पड़ेगा। सारांश यह है कि साधुओंको बोलकर अपनी असलियत नहीं प्रकट करनी चाहिए। साधुका कल्याण तो अपनेको संसारसे गुप्त रखनेमें ही है।"

(२) कवित्त-संख्या ७९ में टीकाकार कहते हैं—"तजे कामनि को।" अर्थात् पाण्डवोंको अपने घरपर आया हुआ देख कर श्रीवाल्मीकिजी काम-काज छोड़ कर जैसे अपने असली स्वरूपमें थे, वैसे ही चले आये। भावार्थ यह है कि भक्तकी पहिचान उसका स्वरूप है। इसपर दृष्टान्त—

किसी समय वृन्दावनमें एक श्वपची रहती थी; नाम था बूजो। श्रीगोविन्ददेवजीकी कुञ्जकी वह टहल किया करती। उसका यह नित्यका नियम था कि अपना काम समाप्त करनेके उपरान्त वह नहा-धोकर, उज्ज्वल वस्त्र तथा कंठी-तिलक धारणकर एकान्तमें भगवानकी उपासना किया करती थी। एक दिन वह जल भरनेके लिए यमुनाजी गई। वहीं पासमें एक ब्राह्मणी भी जल भर रही थी। बूजोने उससे कहा—"जरा ठहर जाओ; कहीं ऐसा न हो कि तुम्हारे छींटे मेरे घड़ेको अपवित्र कर दें।" यह सुन कर ब्राह्मणी क्रोधसे पागल हो गई। बोली—"मैं क्या तुमसे भी ज्यादा नीच हूँ ?" बूजोने बहुत समझाया कि मैं ठाकुरजीकी पूजाके लिए जल भर रही हूँ, इसलिए मैंने ऐसा कहा, पर ब्राह्मणीकी समझ में न आया और उसने घर पहुँच कर अपने पतिसे सारा हाल कह सुनाया। मामला अब राज-दरबारमें पहुँचा। राजा ने बूजोसे कहा—"ब्राह्मणकी अपेक्षा तुम नीच जातिकी हो, अतः तुमको ऐसी बात नहीं कहनी चाहिए थी।" बूजोने उत्तर दिया—"सरकार! वृन्दावनमें ऊँच-नीचका भेद नहीं मानना चाहिए; क्योंकि यहाँ तो सब भागवत रहते हैं। भागवतोंकी एक ही जाति होती है।"

राजाने उस दिन कोई निर्णय नहीं दिया। कह दिया कि और किसी दिन तुम लोगों की पेशी होगी। दूसरे दिन उसने कर्मचारियोंको हुक्म दिया कि दोनों फरीकोंको जिस हालतमें हों, फौरन अदालतमें हाजिर किया जाय। आज्ञानुसार दोनों अदालतमें लाई गईं। राजाने देखा कि दोनों स्त्रियोंमें से एक स्वच्छ वस्त्र पहिने हुए है, गलेमें कण्ठी है और माथेपर चन्दन लगा है और दूसरी फटे-मैले कपड़े पहिने है। उसके हाथ-पैर गन्दे हैं और सारे शरीरसे दुर्गन्ध आ रही है। अदालतमें उपस्थित लोगोंसे राजा ने कहा—"पहिचानिये इनमें कौन ब्राह्मणी है और कौन श्वपच जाति की ?" इसपर ब्राह्मणीके घर वाले बहुत ही लज्जित हुए और उलटे पैरों चुपचाप घरको लौट गए।

श्रीप्राचीनबर्हिजी

श्रीप्राचीनबर्हि आदिराज पृथुके वंशमें उत्पन्न हुए थे। इनके पिताका नाम हविर्धान था। इनके गय, शुक्ल, कृष्ण, सत्य, जितव्रत—ये पाँच भाई और थे। प्रजापति ब्रह्माकी आज्ञासे प्राचीनबर्हिने देवता, असुर, गन्धर्व, मुनि, सिद्ध, मनुष्य और नाग सभीको वशमें करके समुद्र की पुत्री परमसुन्दरी शतद्रुतिसे विवाह किया।

महाराज प्राचीनबर्हि यज्ञादि कर्म-काण्ड और योगाभ्यास में परम कुशल थे। उन्होंने विभिन्न स्थानोंपर अनेकों यज्ञ किए। उनके यज्ञकी कुशाओंसे सम्पूर्ण पृथ्वी आच्छादित हो गई।

हजारों पशुओंको बलि चढ़ा दिया गया। यह देख परम कृपालु, अध्यात्मविद्या-विशारद श्रीनारदजी ने आकर उनसे कहा—"राजन् ! यज्ञादि कर्मों द्वारा तुम अपना कौन-सा कल्याण करना चाहते हो ? दुःखके नाश और आनन्दकी प्राप्तिका नाम कल्याण है और वह कल्याण कर्मोंके ग्रहणसे नहीं, त्यागसे सम्भव है।"

प्राचीनबर्हिने श्रीनारदकी बात मान ली और जन्म-बन्धनके चक्रसे छूटनेके लिए विशुद्ध ज्ञान और भक्तिके उपदेशके लिए आग्रह किया। नारदजीने कहा—"देखो, राजन् ! तुमने यज्ञ में निर्दयता-पूर्वक जिन हजारों पशुओंकी बलि दी है, वे आकाशमें स्थित तुम्हारे द्वारा दी गई पीड़ाओंको याद कर-करके तुमसे बदला लेनेकी भावनासे तुम्हारी ओर देख रहे हैं। जब तुम मर कर परलोकमें जाओगे, तब ये अत्यन्त क्रोधमें भरकर तुम्हें अपने लोहेके सींगोंसे छेदेंगे।"

इतना कहकर नारदजीने पुरञ्जन राजाके आख्यान द्वारा उसे ब्रह्म, जीव, माया, संसार, कर्म-बन्धन, इन्द्रिय-सुख-भोग आदिके सच्चे स्वरूपको भली-भाँति समझाया। राजा पुरञ्जनका यह आख्यान श्रीमद्भागवतके स्कन्ध चारमें पचीस अध्याय से उनतीस अध्याय तक सविस्तार वर्णित है।

नारदजी प्राचीनबर्हिको जीव और ब्रह्मके स्वरूपका दिग्दर्शन कराकर उनसे भली प्रकार सत्कृत हो सिद्ध-लोकको चले गए। तदनन्तर महाराज प्राचीनबर्हि भी प्रजापालनका भार अपने पुत्रोंपर छोड़कर कपिलाश्रमको चले गए। वहाँ समस्त विषयासक्ति से पराङ्मुख होकर निष्कर्म भावसे श्रीहरिके चरणकमलोंका भक्ति-पूर्वक चिन्तन करते हुए सारूप्य-पदको प्राप्त हुए।

श्रीसत्यव्रतजी

श्रीसत्यव्रतजी द्रविड देशके राजा थे। वे अत्यन्त उदार और भगवत्परायण तपस्वी थे। एक बार वे कृतमाला नदीके जलसे तर्पण कर रहे थे। उसी समय उनकी अञ्जलिके जलमें एक छोटी-सी मछली आ गई। राजा सत्यव्रतने अञ्जलिमें आई मछलीको फिरसे नदीमें डाल दिया। उस मछलीने बड़ी करुणाके साथ सत्यव्रतसे कहा—"राजन् ! आप बड़े तपस्वी और दयालु हैं। आपको पता है कि पानीमें रहनेवाले जन्तु अपनी जातिवालोंको ही खा डालते हैं। मुझे भी इसीलिए इस नदीमें रहनेमें बड़ा भय है। कृपा करके आप मुझे इससे बाहर निकाल दीजिए।"

राजा सत्यव्रतको दया आगई। उन्हें क्या पता था कि सर्वलोक-नियन्ता भगवान विष्णु ही उनके ऊपर कृपा करनेको इस रूपमें आए हैं। उन्होंने मछलीको अपने जल-पात्रमें रख लिया और उसे आश्रममें ले आए। दूसरे ही दिन वह मछली इतनी बड़ी हो गई कि कमण्डलुमें उसके लिए स्थान ही न रहा। उस समय मछलीने राजासे कहा—"महाराज ! अब तो इस पात्रमें मैं किसी प्रकार भी नहीं रह सकती। कृपा करके मेरे लिए एक बड़ा-सा स्थान नियत कर दीजिए।"

राजाने उस मछलीको उठाकर एक बड़े मटकेमें डाल दिया। वहाँ डालने पर वह मछली दो ही घड़ीमें तीन हाथ बढ़ गई। तब राजाने उस मछलीको उठा कर एक सुन्दर सरोवरमें डाल दिया। कुछ समयमें ही मछलीका आकार इतना बढ़ गया कि सरोवरमें भी अब और स्थान शेष न रहा। मत्स्यने फिर राजासे कहा—"मुझे किसी बड़े अगाध जलाशयमें शरण दीजिए।"

इस प्रकार राजाने सैकड़ों तालाब बदल दिए। तालाबके आकारके ही अनुसार मछलीके शरीरकाका विस्तार होता गया। अब राजाको बड़ी चिन्ता हुई। उन्होंने उठाकर मछलीको फिर समुद्रमें छोड़ना चाहा तो मछलीने कहा—"वीर! समुद्रमें बड़े-बड़े मगर आदि जल-जन्तु रहते हैं। आप कृपया मुझे किसी दूसरे स्थान पर रख दीजिए।"

मत्स्य-भगवानकी ऐसी बात सुन कर और थोड़ेसे समयमें ही उनके इस आश्चर्य-जनक विस्तारको देख राजा पहिचान गए कि ये तो सर्वशक्तिमान भगवान विष्णु हैं। उन्होंने अनेक प्रकारसे मत्स्य-भगवानकी स्तुति करते हुए कहा—"जीवों पर अनुग्रह करनेके लिए ही आपने जल-चरका रूप धारण किया है। हे पुरुषोत्तम! आप जगत्‌की उत्पत्ति, पालन और प्रलयके अधिकारी हैं। हम शरणागत भक्तोंके लिए आप ही आत्मा और आश्रय हैं। यद्यपि आपके सभी लीलावतार प्राणियोंके अभ्युदयके लिए ही होते हैं, तथापि मैं यह जानना चाहता हूँ कि आपने यह रूप किस उद्देश्यसे ग्रहण किया है।"

मत्स्य-भगवानने कहा—"आजसे सातवें दिन तीनों लोक समुद्रमें विलीन हो जायेंगे। उस समय जब तीनों लोक प्रलयकालकी जल-राशिमें डूबने लगेंगे, तब मेरी प्रेरणासे तुम्हारे पासमें एक विशाल नौका आयेगी। उस समय तुम समस्त प्राणियोंके सूक्ष्म शरीरको लेकर उस नौका पर चढ़ जाना और धान्य तथा अन्य सभी प्रकारके बीजोंको भी साथमें रख लेना। उस समय न तो किसी भी स्थानपर स्थल दिखाई देगा और न प्रकाशकी किरण ही; केवल ऋषियोंकी दिव्य-ज्योतिके सहारे ही तुम महासागरमें विचरण करना। जब प्रचण्ड आँधी चलनेके कारण नाव डगमगाने लगेगी तब मैं इसी रूपमें वहाँ आ जाऊँगा और तुम लोग वासुकि-नागके द्वारा उस नाव को मेरे सींगमें बाँध देना। इसके बाद मैं उस नावको खींचता चलूँगा और तुम जब तक ब्रह्माजीकी रात समाप्त न हो तब तक उसमें बैठकर विचरण करना। तब तुम्हारे द्वारा प्रश्न पूछने पर मैं तुम्हें उपदेश करूँगा। तब मेरी कृपासे तुम्हारे हृदयमें मेरी वास्तविक महिमा (परब्रह्म) प्रकट होगी।"

इसके बाद भगवान अन्तर्धान होगए और निश्चित समय पर ऐसा ही हुआ जैसा राजा सत्यव्रतको बतलाया गया था। राजाने भगवानके आदेशानुसार समस्त बीजोंको नौकामें रखा और सप्त-ऋषियोंके साथ स्वयं भी उसपर चढ़ गया। भगवान मछलीके स्वरूपसे प्रलयकालके अन्त

तक उस नौकाकी रक्षा करते रहे और उसी समय राजा सत्यव्रतको परब्रह्मका ज्ञान भी करा दिया। प्रलयान्तमें उन्होंने हयग्रीव नामके असुरका वध किया और उससे लेकर चारों वेद ब्रह्माजीको दे दिए।

इस कल्प में भगवानकी कृपासे ज्ञान-विज्ञानसे युक्त सत्यव्रत वैवस्वत मनु हुए और उन्होंने ही सृष्टिका विस्तार किया। धन्य हैं सत्यव्रत जैसे राजर्षि जो अपने पुण्य-कर्म और भक्ति-भावना के कारण भगवानकी अहैतुकी कृपाके अधिकारी बनते हैं।

श्रीमिथिलेशजी—इनका विस्तृत वर्णन श्रीनाभास्वामीजी आगे करेंगे।

श्रीनीलध्वजजी

यह माहिष्मतीके रहने वाले एक प्रसिद्ध राजा थे। एक बार उनके पुत्र प्रवीरने अर्जुनके यज्ञके घोड़ेको बाँध लिया, लेकिन युद्ध होने पर पराजित हो गया। भाग कर प्रवीर अपने पिता के पास पहुँचा। पिताने अपने जामाता अग्निदेवसे सहायता माँगी और फिर दोनों ओरकी सेनाओंमें घोर संग्राम छिड़ गया। कहते हैं, अग्निने जब अपने प्रभावसे अर्जुन पक्षकी बहुत-सी सेनाका विध्वंस कर दिया, तब अर्जुनने ब्रह्मास्त्र चलाया, लेकिन वह सफल नहीं हुआ। इसके अनन्तर श्रीकृष्णके कहने पर अर्जुनने वैष्णवास्त्र चलाया, जिसके प्रभावसे प्रवीरकी सेना छिन्न-भिन्न होकर भाग खड़ी हुई और अग्निदेव भी अपनी जान लेकर संग्राम-भूमिको छोड़ गए। श्रीनीलध्वजको जब भगवानकी शक्तिका ज्ञान हुआ, तो उन्होंने अर्जुनको घोड़ा लौटा दिया और प्रद्युम्नजीकी कृपासे हरि-भक्तिका लाभ कर वैकुण्ठधामको चले गए।

श्रीरहूगणजी

श्रीरहूगणजी सौवीर देशके राजा थे। एक बार वे श्रीकपिलदेवजीसे ज्ञानोपदेश ग्रहण करनेके लिए पालकीमें बैठ कर आ रहे थे। जब वे इक्षुमती नदीके किनारे पहुँचे तो राजाकी पालकी उठानेके लिए कहारोंके जमादारको एक पालकी-वाहककी आवश्यकता पड़ी। जब उसने चारों ओर तलाश किया तो दैवयोगसे एक हृष्ट-पुष्ट शरीर वाले ब्राह्मण-देवता दिखाई दिए। उन गठीले अङ्गवाले ब्राह्मण-कुमारको बल-पूर्वक पकड़कर पालकीके नीचे लगा दिया गया। ये महाराज सदा भगवद्ध्यानमें तल्लीन रहनेवाले श्रीभरतजी थे। वे चुपचाप पालकीको उठा कर चल दिए।

रास्तेमें चींटी आदि छोटे-छोटे जीव-जन्तु रेंग रहे थे। श्रीभरत पालकीको ले जाते समय इस बातका भी ध्यान रखते थे कि कहीं ये असहाय जीव मर न जायँ। इसलिए पालकी टेढ़ी

सीधी होने लगी। यह देखकर राजा रहूगण उनसे व्यंगपूर्ण वाणीमें बोले—"मेरे भैया ! ऐसा लगता है कि अकेले ही बहुत दूरसे इस पालकीको ढोनेके कारण तुम बहुत थक गए हो; क्योंकि तुम बहुत दुर्बल हो और बुढ़ापेके कारण तुम्हारा शरीर काम नहीं देता।"

इसके उत्तरमें जड़ भरतने ऐसा ज्ञानपूर्ण उत्तर दिया कि राजाकी आँखें खुल गईं। उनका मोह-जन्य अज्ञान जाता रहा और वह समझ गया कि ये सामान्य पालकी-वाहक नहीं हो सकते, ये तो कोई ऊँचे ब्रह्म-ज्ञानी हैं। इसके बाद राजा उनके चरणों पर गिर पड़े और उनसे क्षमा माँगी। जड़ भरतने राजाके पूछने पर उन्हें ज्ञानोपदेश दिया। उस परमात्मतत्त्वके श्रवणसे उनके अन्तःकरणमें अविद्यावश आरोपित देहात्मबुद्धिका विनाश हो गया।

राजा रहूगणने दिव्य-ज्ञानको धारण करनेके बाद आदर-पूर्वक जड़ भरतका सत्कार किया, स्तुति की और परम महात्मा-भक्तिके होकर अपने राज-गृहमें लौट आए। वहाँ पर वे माया-जन्य ममत्वको त्याग कर परमानन्द-मूर्ति भगवान श्रीहरिके ध्यान और स्मरण में लग गए।

महाराज सगरजी

श्री सगरके पिताका नाम बाहुक था। एकबार बाहुकसे उनके शत्रुओंने राज्य छीन लिया। वे पत्नी-सहित वनमें जाकर रहने लगे। वृद्धावस्था आने पर जब बाहुकका शरीरान्त हो गया तो उनकी पत्नी भी पतिके साथ सती होनेको तैयार हुई, परन्तु महर्षि और्वको यह ज्ञात था कि इसके गर्भ है। इसलिए उन्होंने उसे सती होनेसे रोक दिया। जब उसकी सौतोंको यह मालूम हुआ तो उन्होंने भोजनके साथ उसे गर (विष) दे दिया। उस विषका गर्भ पर कोई असर न पड़ा, बल्कि उस विषको लिए हुए ही एक बालकका जन्म हुआ। इसीलिए गर (विष) के साथ पैदा होनेके कारण उसका नाम सगर पड़ गया।

सगर महाप्रतापी राजा थे। इनके दो रानियाँ थीं—केशिनी और सुमति। केशिनीसे एक पुत्र असमञ्जस पैदा हुआ और सुमतिसे साठ हजार पुत्रोंकी उत्पत्ति हुई। महाराज सगरने अपने राज्यमें रहनेवाले तालजङ्घ, यवन, शक, हैहय आदि बर्बर जातिके लोगोंको अपनी राज-सत्ताके अधीन किया और उन्हें अनेकों प्रकारके शारीरिक दण्ड दिए।

राजा सगरने अपने गुरु और्व ऋषिकी आज्ञासे अश्वमेध-यज्ञके द्वारा वेदमय परमात्म-स्वरूप सर्वशक्तिमान् भगवानकी आराधना की। जब यज्ञका घोड़ा छोड़ा गया तो इन्द्र उसे चुरा ले गया। घोड़ेको न देख कर यज्ञके अपूर्ण रहनेके भयसे सगरके पुत्रोंको बड़ी भारी चिन्ता हुई। उन्होंने आकाश-पाताल छान डाला। धरतीको खोद कर उसके गर्भमें घोड़ेको तलाश किया। अन्तमें जब वे उसे ढूँढते हुए कपिल-मुनिके आश्रम पर गए तो उन्हें अपना यज्ञका घोड़ा उनके पास खड़ा हुआ दिखाई दिया। मुनि समाधिस्थ थे। सगर-सुतोंने समझा कि यह घोड़ेको

चुराकर ले आया है और अब हम लोगोंके भयसे आँख बन्दकर ढोंग दिखाने लगा है। वे शस्त्र हाथमें लेकर 'चोर ! चोर !! यही है हमारे घोड़ेको चुरानेवाला पापी! मार दो इसे अभी ! इसका मस्तक अलग कर दो !' इस प्रकार कहते हुए आगे बढ़े। श्रीकपिल-मुनिकी समाधिमें व्यवधान उपस्थित हुआ। उन्होंने अपने पलक उठाए तो साठ हजार सगरके पुत्रोंमें से कोई भी जीवित न बचा---सभी मुनिकी तपस्याके तेजमें जलकर राख हो गए।

इसके बाद राजा सगरकी आज्ञासे असमञ्जसके पुत्र अंशुमान घोड़े को ढूँढ़ने निकले। वे इधर-उधर उसे तलाश करते हुए कपिल-मुनिके आश्रम पर आए तो देखा कि यज्ञके घोड़ेके पास ही उनके चाचाओंका शरीर राख हुआ पड़ा है। अंशुमानने कपिल-मुनिके चरणोंमें प्रणाम किया और हाथ जोड़कर अनेकों प्रकारसे उनकी स्तुति की। भगवान कपिल प्रसन्न हो गए। उन्होंने यज्ञ-पशुको ले जानेकी आज्ञा दे दी और कहा कि तुम्हारे चाचाओंका उद्धार तो तब होगा जब कोई गङ्गाजीकी प्रार्थना करके उनको स्वर्गसे पृथ्वी पर लावेगा और उनके जलका स्पर्श इनको प्राप्त होगा।

अंशुमान यज्ञ-अश्वको लेकर अपने बाबाके पास आया। सगरने अपना यज्ञ समाप्त किया और राज्यका भार अंशुमानके ऊपर छोड़कर वनमें भगवानकी भक्ति करने चले गए।

राजा श्रीभगीरथजी

यह राजा अंशुमानके पौत्र और दिलीपके पुत्र थे। कपिलदेवजीको स्तुति द्वारा प्रसन्न कर राजा अंशुमानने जब अपने साठ हजार पूर्वजोंके उद्धारका उपाय पूछा तो ऋषिने कहा---"यदि तुम स्वर्गसे गंगाजीको पृथ्वी पर ला सको, तो उनके जलके स्पर्शसे ये सब जीवित हो उठेंगे।" अंशुमानने इसके लिए अनेक वर्षों तक घोर तप किया, परन्तु सफल नहीं हुए। उनके स्वर्गवासी होने पर दिलीपने भी प्रयत्न किया, पर समय पाकर वह भी चल बसे। अन्तमें दिलीपके पुत्र श्रीभगीरथने यह कार्य अपने हाथमें लिया और उनकी तपस्यासे प्रसन्न होकर देवी गंगाने पृथ्वी पर उतर कर सगरके पुत्रोंको जीवन-दान दिया। राजा भगीरथ द्वारा लाये जानेके कारण ही श्रीगङ्गाजीका नाम भागीरथी पड़ा।

श्रीरुक्मांगदजी

भक्ति-रस-बोधिनी

रुक्मांगद बाग शुभ गन्ध फूल पागि रह्यो, करि अनुराग देववधू लेन आवहीं।
रहि गई एक, काँटो चुभ्यो पग अंगन को, सुनि नृपमाली पास आए सुख पावहीं।
कही "को उपाय स्वर्गलोक को पठाइ दीजै" "करै एकादशी जलधरैं कर जावहीं।"
"व्रत को तो नाम यहि ग्राम कोऊ जाने नाहिं", "कीनो ही अजान काल्हि त्यावो गुन गावहीं"॥८३॥

अर्थ—राजा रुक्मांगदका बाग भाँति-भाँतिके सुन्दर और पवित्र फूलोंकी सुगन्धसे महक रहा था। बागके इस वैभवसे खिंच कर अप्सरायें भी स्वर्गसे उतर कर फूल लेने वहाँ आया करती थीं। एक दिन संयोगसे किसी अप्सराके पैरमें बैंगनका काँटा गड़ गया और वह आकाशको न उड़ सकी। अपने मालियोंसे यह समाचार सुन कर राजा उसके पास आये और प्रसन्न होकर पूछा—"क्या कोई ऐसा तरीका है जिससे कि आपको वापिस स्वर्ग भेजा जा सके?" अप्सराने कहा—"यदि कोई ऐसा व्यक्ति, जिसने एकादशी व्रत रक्खा हो, जल लेकर व्रतके पुण्यका संकल्प मेरे नामसे कर दे, तो मैं स्वर्ग जा सकती हूँ।" राजाने कहा—"इस व्रतका तो कोई नाम भी इस नगरमें नहीं जानता—करना तो दूर रहा।" इसपर अप्सराने कहा—"कल एकादशी थी; सम्भव है, कोई अनजाने भूखा रह गया हो। यदि ऐसा व्यक्ति मिल जाय, तो उसके फलसे ही मैं स्वर्ग चली जाऊँगी और आपके इस ऋणको कभी नहीं भूलूँगी।"

भक्ति-रस-बोधिनी

फेरी नृप डौंड़ी, सुनि, बनिक की लौंड़ी भूखी रही ही कनौड़ी, निशि जागी, उन मारियै।
राजा ढिग आनि करि दियौ जलदान, गई पौं तिय उड़ानि निज लोक को पधारियै॥
महिमा अपार देखि भूप ने विचारी याकौ, "कोउ अन्न खाय ताको बाँधि मारि डारियै।"
याही के प्रभाव भाव-भक्ति विस्तार भयो, नयो चोज सुनो सब पुरी लै उधारियै॥८४॥

अर्थ—अब राजाने अपने नगरमें घोषणा करा दी कि पहले दिन जो कोई भूखा रहा हो, उसे इनाम दिया जायगा। ढिंढोराको सुनकर किसी बनियाकी दासी, जिसे किसी कसूर पर बनियेने मारा था और जो इसी लज्जासे रात-भर सोई नहीं थी और न कुछ खाया-पिया था, राजाके पास पहुँची। राजाने उससे व्रतके पुण्यका संकल्प अप्सराके निमित्त करा दिया। अप्सरा उड़ कर अपने धामको चली गई।

राजाने व्रतका ऐसा अमित प्रभाव देखकर राज्यभरके लोगोंको व्रत रखनेका आदेश निकाल दिया और यह भी घोषणा करा दी कि इस दिन जो अन्न खायगा उसे बाँध कर मरवा डाला जायगा। इसका परिणाम यह हुआ कि समस्त राज्यमें भगवद्-भक्तिका विस्तार होगया और दूसरी आश्चर्य-जनक बात यह हुई कि अन्तमें सब प्रजा-जन वैकुण्ठ-धाममें पहुँच गए।

एकादशी-व्रतके माहात्म्यके सम्बन्धमें हमें नहीं भूलना चाहिए कि राजर्षि अम्बरीषके अतुल प्रभावका कारण एकादशी-व्रत ही था। जिनके घरमें श्रीकृष्णने अवतार ग्रहण किया था, वह नन्दराय भी एकादशी-व्रत करते थे। वरुणदेवने नन्दरायका अपहरण द्वादशीके ही दिन किया था, जब कि वह स्नान करनेके लिए यमुनाजीमें उतरे थे। बादमें स्वयं श्रीकृष्ण उन्हें छुड़ा कर लाए थे।

पद्मपुराणका प्रमाण है—

सर्वपापप्रशमनं पुण्यमात्यन्तिकं तथा।
गोविन्दस्मरणं नृणामेकादश्यामुपोषणम्॥

—गोविन्दका स्मरण करना तथा एकादशी-व्रत करना—ये दोनों उपाय मनुष्योंके समस्त पापों का नाश करने वाले हैं तथा इनके द्वारा अक्षय पुण्य-लाभ होता है।

रुक्मांगदजीके चरित्रके सम्बन्धमें यह शंका की जा सकती है कि उन्होंने दण्डका भय दिखा कर लोगोंसे उनकी इच्छाके विरुद्ध एकादशी-व्रत करनेका आग्रह क्यों किया ? इसका सीधा-सा उत्तर यही है कि राजाका यह कर्त्तव्य है कि जिन साधनोंसे, उसकी धारणाके अनुसार, प्रजाका कल्याण होता हो उनका अवलम्बन करे। सम्राट् अशोकने बुद्ध-धर्मके प्रचारके लिए अलग-अलग मन्त्री तथा कर्मचारी नियुक्त किये थे, जिनका काम नियत धर्म-परिपाटीका पालन न करने वाले लोगोंको दण्ड देकर सन्मार्ग पर लाना था। गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीने कहा है—"भय बिनु प्रीति न होइ।" सांसारिक लोगोंकी मनोवृत्ति ही ऐसी होती है कि जब तक उन्हें बाध्य न किया जाय, तब तक वे अच्छे कार्योंकी तरफ भी प्रवृत्त नहीं होते। नीतिका एक श्लोक है—

नियतविषयवर्ती प्रायशो दण्डयोगात् , जगति परवशेऽस्मिन् दुर्लभः साधुवृत्तः।
कृशमपि विकलं वा व्याधितं वा जरं वा, पतिमपि कुलनारी दण्डभीत्याभ्युपैति॥

—इस परतन्त्र संसारमें स्वभावसे ही अच्छे आचरण करने वाले लोग विरले होते हैं। प्रायः देखा जाता है कि दण्डके भयसे ही वे अपने निश्चित कर्तव्योंका पालन करते हैं। उदाहरणके लिए, स्त्री अपने दुर्बल, रोगी अथवा वृद्ध पतिका साथ सामाजिक लाञ्छनके भयसे ही देती है।

राजा रुक्मांगदकी पुत्री

भक्ति-रस-बोधिनी

एकादशी-व्रत की सचाई लै दिखाई राजा, सुता की निकाई सुनो नीके चित लाइकैं।
पिता घर आयो पति, भूख ने सतायो अति, माँगे लियो पास, नहीं दियो यह भाइकैं॥
"आजु हरिवासर सो ता सर न पूजै कोऊ, डर कहा मीच को" यों मानी सुख पाइकैं।
तजे उन प्रान, पाये बेगि भगवान, बधू हिये सरसान भई, कह्यो मन गाइकैं॥८५॥

अर्थ—राजा श्रीरुक्मांगदने एकादशी-व्रतकी सत्यताको प्रत्यक्ष करके दिखला दिया। अब उनकी पुत्रीकी गुणवत्ता सावधानीसे एकाग्रचित्त होकर सुनिये। उसका पति एक समय अपनी ससुराल आया। आते ही तीव्र भूख लगनेके कारण उसने अपनी स्त्रीसे भोजन लानेके लिए कहा। उस दिन एकादशी होनेके कारण राजाकी पुत्रीने उसे भोजन देनेसे इन्कार कर दिया। (इस पर पतिने कहा—"मैं इतना भूखा हूँ कि भोजन न मिलनेसे, सम्भव है, मेरे प्राणों का अन्त हो जाय। राजपुत्री फिर भी विचलित नहीं हुई और बोली—) "आज एकादशी है। पवित्रतामें इस दिनकी समता कोई दिन नहीं कर सकता। एकादशी-व्रत रखते हुए यदि प्राण चले जायँ, तो डरनेकी क्या बात है! ऐसे धर्म-संकटके अवसर पर अपने भावमें दृढ़ रहनेमें ही राजपुत्रीने आनन्द माना। उधर भोजन न मिलनेके कारण उसके पति चल ही तो बसे और

सीधे भगवानके धाम वैकुण्ठमें पहुँच गए । यह देख कर राजपुत्रीका हृदय भगवानकी भक्तिसे ओत-प्रोत हो गया और वह भी पतिके स्वर्गवासी हो जानेके बाद तुरन्त उन्हींकी सेवामें पहुँच गई ।

आगेके कवित्तमें श्री प्रियादासजीने श्रीहरिश्चन्द्रसे लेकर श्रीदधीचि तक के भक्तोंका परिचय सामूहिक रूपसे दिया है ।

भक्ति-रस-बोधिनी

सुनो 'हरिचन्द' कथा, विथा बिन राज्य दियो, तथा नहीं राखी बेचि सुत, तिया तन है ।
'सुरथ', 'सुधन्वा' जू सों दोष के करत मरे 'शंख' औ 'लिखित', विप्र भयो मैलो मन है ॥
इन्द्र औ अगिनि गए 'शिवि' पै परीक्षा लैन, काढ दियो मांस रीझि साँचो जान्यो पन है ।
'भरत', 'दधीचि' आदि भागवत बीच गाए सबनि सुहाये जिन दियो तन, धन है ॥८६॥

अर्थ—अब राजा श्रीहरिश्चन्द्रजीकी कथा सुनिये, जिन्होंने किसी प्रकारका दुःख अनुभव किये बिना (मुनि विश्वामित्रको) समस्त राज्य-वैभव दे डाला । (राज्य छोड़ कर हरिश्चन्द्र अपने स्त्री-पुत्र-सहित काशी चले गए) वहाँ उन्होंने उनको तथा अपने शरीरको बेच दिया—कुछ भी पास नहीं रक्खा । श्रीसुरथ और सुधन्वा ऐसे भगवद्भक्त थे कि उनकी भक्तिके प्रभाव से शंख और लिखित नामक दो ब्राह्मण, जो अत्यन्त कलुषित हृदयके थे और दोनोंसे वैर मानते थे, मर गये । राजा शिविके धर्मकी परीक्षा लेनेके लिए इन्द्र और अग्नि (बाज और कबूतर का रूप धारण करके) उनके यहाँ गए । (बाजके डरसे शरणमें आए कबूतरकी प्राण-रक्षाके लिए) राजा शिविने अपने शरीरका सब मांस काट-काट कर दे दिया । यह देख दोनोंको विश्वास हो गया कि राजा (सच्चे धर्मात्मा और) अपना प्रण निबाहने वाले हैं । श्रीजड़ भरत और ऋषि दधीचिकी कथाका श्रीमद्भागवत पुराणमें विस्तार-पूर्वक वर्णन किया गया है । परोपकारके लिये अपना शरीर और सर्वस्व अर्पण करनेके कारण ये समस्त संसारके प्रिय हो गये ।

सत्यवादी हरिश्चन्द्र

विश्वामित्रजीके प्रतापसे सशरीर स्वर्ग जाने वाले एवं वहाँसे देवताओंके द्वारा गिराये जाने पर आज भी ज्योतिर्मय नक्षत्रके रूपमें बीच आकाशमें स्थित त्रिशंकुके पुत्र महाराज हरिश्चन्द्र थे । आप दानी उदार, विशाल-हृदय एवं महा पराक्रमी तो थे, ही पर सबसे अधिक प्रसिद्धि इनकी सत्यवादिताके कारण है । इनकी प्रतिज्ञा थी कि—

चन्द्र टरै सूरज टरै, टरै जगत व्यौहार ।
पै राजा हरिचन्द्र की, टरै न सत्य विचार ॥

महाराज हरिश्चन्द्रकी सत्य-निष्ठाकी ख्याति त्रिभुवनमें फैली हुई थी। देवराजने भी उनकी दान-शीलता और सत्य-परायणताकी बात देवर्षि नारदसे सुनी। भूतलवासी राजाकी ऐसी विशुद्ध कीर्ति सुनकर इन्द्रको द्वेष होने लगा। उन्होंने इनके सत्य और दानकी परीक्षाके लिए विश्वामित्रजीको राजी कर लिया।

एक दिन महाराज हरिश्चन्द्र जब सो रहे थे तो विश्वामित्रजीकी प्रेरणासे उनको एक स्वप्न हुआ, जिसमें उन्होंने अपना समस्त राज्य-ऐश्वर्य विश्वामित्रजीको दानमें दे दिया था। दूसरे दिन जब सवेरा हुआ तो विश्वामित्रजी राजमहलके द्वारपर आ पहुँचे और स्वप्नमें हरिश्चन्द्र द्वारा दानमें दिए गए राज्यको माँगा। महाराज हरिश्चन्द्रने बिना विचारे ही सम्पूर्ण पृथ्वीका राज्य विश्वामित्रको सौंप दिया और स्वयं काशीपुरी जानेका निश्चय किया; क्योंकि शास्त्रोंके अनुसार काशी शिवजीके त्रिशूलपर स्थित होनेके कारण पृथ्वीकी सीमासे बाहर है। पर उनके वहाँ जानेके पूर्व ही विश्वामित्रजीने उन्हें रोक कर कहा—"महाराज! आप तो बहुत बड़े ज्ञानवान् और पराक्रमी राजा हैं। इतने बड़े राज्यके दान कर देनेके बाद इसके अनुकूल बिना दक्षिणा दिए ही चल दिए!"

पर अब महाराज हरिश्चन्द्रके पास था क्या? जो दो क्षण पहिले सम्पूर्ण पृथ्वीका चक्रवर्ती सम्राट् था, वह अब दुनियाका सबसे बड़ा रङ्क हो चुका था। श्रीहरिश्चन्द्रजीने दक्षिणा देना स्वीकार कर लिया और वे अपने पुत्र रोहिताश्व एवं पत्नी शैव्याके साथ काशीपुरीको चले गए। वहाँ जाकर उन्होंने अपनी जीवन-सङ्गिनी परम-साध्वी पत्नीको एक ब्राह्मणके हाथ बेंच दिया। पुत्र भी माँ के साथ चला गया; किन्तु इतने धनसे भी दक्षिणाका काम नहीं चला। अन्तमें उन्होंने स्वयंको भी एक चाण्डालके हाथ बेंच दिया और इस प्रकार प्राप्त धनसे विश्वामित्रजीकी दक्षिणा के भारसे मुक्त हो गए। अब वे एक चाण्डालके दास थे और श्मशान-घाट पर रह कर मृतक-कर वसूल किया करते थे।

उधर चक्रवर्ती सम्राट्की महारानी शैव्या ब्राह्मणके घर बुहारने, बर्तन साफ करने, गोबर उठाने आदिका काम करने लगीं। कुमार रोहिताश्व, जिसकी आज्ञा-पालनमें सैकड़ों नौकर तैयार खड़े रहा करते थे, ब्राह्मणके यहाँ पूजाकी सामग्री एकत्र करता, गाएँ चराता और इधर-उधरके कार्योंमें सुबहसे शाम तक लगा रहता।

एक दिन सन्ध्याका समय था। अन्धकार धीरे-धीरे बढ़ रहा था। उसी समय रोहिताश्व को ब्राह्मणके आदेशसे पूजाके लिए उद्यानमें पुष्प लेनेके लिए जाना पड़ा। वहाँ उसे एक काले साँपने डस लिया। वह धरती पर गिर पड़ा और मर गया। बेचारी शैव्या—वही शैव्या, जिसने कभी कल्पनामें भी दुःखका अनुभव नहीं किया था, आज अपने मृत-पुत्र को दोनों भुजाओं पर टिकाए दुःखोंका उफनता हुआ महा-सागर अपने अन्दर दबाए शोक-प्रतिमा-सी

बैठी थी। कोई दो शब्द कह कर उसे धीरज दिलानेवाला भी तो नहीं था। अँधेरी-रात, आकाश में बिजलीकी कड़क, धरती पर सहस्रों बरसाती स्रोतोंका प्रवाह; पर वह चक्रवर्ती सम्राट्की पट्ट-महिषी अकेली ही उस शोकके हिमालयको अपने ऊपर लाद कर श्मशान-घाटकी ओर चल दी। विपत्तिका अन्त केवल यहीं नहीं था। श्मशान पर पहुँचते ही आहट पाकर चाण्डालके द्वारा नियुक्त किये गए राजा हरिश्चन्द्र वहाँ उपस्थित हो गए और कर माँगने लगे। पर शैव्याके पास कर देनेको था ही क्या? वह अपनी मैली साड़ीके आधे भागमें पुत्रकी मृत-देहको लपेटे थी और आधा भाग उसके लज्जा-निवारणका साधन बना था। राजाके कर माँगनेपर वह रो पड़ी। रुदन, क्रन्दन और चीत्कारसे राजाने उसे पहिचान लिया। कितनी भयंकर थी वह स्थिति! एक पिता श्मशान में कर ग्रहण करने के लिए नियुक्त है। उसकी पत्नी—कङ्गालिनी पत्नी उसीके एक-मात्र पुत्रके मृत-शरीरको लेकर दाह-क्रिया के लिए आती है और वह अविचल, अडिग रहकर कर-वसूलीपर अड़ा है। सब कुछ जानकर भी शैव्या एक नारी ही थी। वह विचलित हो कह उठी—"देव! यह आपका ही एक-मात्र पुत्र रोहिताश्व है। क्या आप अपने पुत्रको नहीं पहिचानते?"

हरिश्चन्द्रने हृदयमें उठते हुए तूफान को दबा दिया और अपने धर्मपर स्थिर रहते हुए कहा—"भद्रे! जिस धर्मके लिए मैंने राज्य छोड़ा, तुम्हें छोड़ा, चाण्डालका दास बना, तुम ब्राह्मणकी दासी बनीं और प्रिय पुत्र रोहिताश्व परलोकवासी हुआ, उसी धर्मको आज तुम मुझसे छुड़वाना चाहती हो। देवि! तुम मेरी सहचरी हो, सहधर्मिणी हो। तुमने सब समय मेरी सहायता की है। आज भी मेरे धर्म-पालनमें सहयोग देकर अपने सच्चे स्वरूपका परिचय दो।"

शैव्या पतिव्रता थी। यह कैसे सम्भव होता कि वह पतिके प्रतिकूल चलती, पतिके धर्मका आदर न करती? पतिका धर्म उससे श्मशानका कर माँग रहा था; पर उसके पास क्या रक्खा था देने को? अन्तमें उसने उसी अपनी साड़ीके आधे भागको देना चाहा, जिसमें उसने रोहिताश्वको लपेट रखा था। हरिश्चन्द्रने उसीको लेना स्वीकार कर लिया। ऐसी दशामें शैव्या क्या करती? उसने अपनी साड़ीको आधे भागसे पकड़ कर फाड़ना चाहा कि वहाँ पर ही भगवान विष्णु प्रकट हो गए। वह श्मशान-घाट एक दिव्य-स्थलीके रूपमें परिणत हो गया। रोहिताश्व जी उठा। देवराज इन्द्र और विश्वामित्र जी वहाँ आकर उपस्थित हो गए। चाण्डाल बन कर महाराज हरिश्चन्द्रकी परीक्षा लेनेवाला धर्म भी वहाँ आया। पुष्प-वर्षा और वाद्य-संगीत द्वारा आकाशमें विमानों पर स्थित देवाङ्गनाओंने हर्ष मनाया।

भगवानने हरिश्चन्द्रको भक्तिका वरदान दिया। इन्द्रने उनसे पत्नीके साथ स्वर्ग चलनेकी प्रार्थना की। हरिश्चन्द्रने कहा—"देवराज! मैं एक प्रजा-पालक हूँ। अपने अधीनस्थ जनोंको धरतीपर बिलखता छोड़कर मैं स्वर्ग नहीं जा सकता।"

इन्द्रने फिर कहा—"महाराज! आप तो अनन्त पुण्योंके प्रतापसे अक्षय काल तक स्वर्ग-

वासी बन सकते हैं, किन्तु समस्त प्रजा-जनोंको ऐसा अवसर नहीं मिल सकता; क्योंकि सभीके कर्म भिन्न-भिन्न प्रकारके हैं।'' महाराज हरिश्चन्द्रने कहा—''देवराज! आप मेरे पुण्यके प्रभावसे ही समस्त प्रजाको स्वर्ग ले जाइए। मैं सबके पापोंका फल भोगनेको अनन्त काल तक नरकमें रह-लूँगा, पर अपनी प्रिय प्रजाको यह दुःख नहीं सहने दूँगा; क्योंकि प्रजाके पुण्य और पापका उत्तरदायित्व भी राजाके ही ऊपर होता है।''

महाराजकी ऐसी उदारता और इतनी प्रजा-वत्सलता देखकर देवराज सन्तुष्ट हो गए और महाराज अपने प्रजा-जनोंके साथ ही सशरीर स्वर्गमें चले गए। बादमें विश्वामित्रजीने अयोध्याको फिरसे बसाया और कुमार रोहिताश्वको वहाँके सिंहासन पर अभिषिक्त करके उन्हें सम्पूर्ण पृथ्वीका एकछत्र अधिपति बना दिया।

श्रीसुरथजी

महाराज सुरथ कुण्डलपुरके अधिपति थे। ये परम धार्मिक भगवद्भक्त एवं सदाचारी राजा थे। इनका शरीर प्रजा-जनोंके कल्याणमें सर्वदा लगा रहता था। ये सदा इस बातका ध्यान रखते थे कि उनकी प्रजा वर्णाश्रम-धर्मका पालन तो करती है, कोई वेदोंके विरुद्ध तो आचरण नहीं करता है और भगवान श्रीरामजीका स्मरण तो सब करते हैं।

एक दिन स्वयं यम इनकी भक्ति-भावनाकी परीक्षा लेनेके लिए एक तपस्वी जटाधारीके वेशमें इनकी राज-सभामें आया। महाराज अपने सामन्तों, सभासदों और मन्त्रियोंके साथ भगवच्चर्चा कर रहे थे। सभी परम वैष्णवसे दिखाई देते थे। वे गलेमें तुलसीकी माला, माथे पर चन्दनका तिलक और मस्तकपर तुलसी-दल धारण किए थे। मुनि-वेषधारी यमराजको देखकर राजा उनके सम्मानमें तुरन्त खड़े हो गए। आसन प्रदान करके यथोचित सत्कार किया, पूजा-अर्चनाकी और हाथ जोड़कर बोले—''आज आप परम भागवतके दर्शन करके मेरा जीवन धन्य हो गया। आप कृपा करके अब मुझे त्रिभुवन-पावनी हरि-कथा सुनाइए।''

''हरि कथा!'' राजाकी बात सुनकर मुनि हँसते हुए बोले—''कौन हरि और कैसी हरि-कथा? हो तो राजा और बात करते हो मूर्खों की-सी! अरे! संसारमें कर्म प्रधान है; जैसा काम करोगे, वैसा फल पाओगे। तुम भी आजसे केवल स्वकर्त्तव्यका पालन करो। व्यर्थ में 'हरि-हरि' पुकारनेसे क्या लाभ?''

''आप हरिकी निन्दा क्यों करते हैं?'' राजाने क्षुब्ध हो नम्रतासे कहा—''क्या आपको पता नहीं कि कर्मोंके भोग भोगनेवाले इन्द्रादि देवता और ब्रह्मा आदि प्रजापतिको भी पुण्य-क्षीण हो जाने पर फिर पतित होकर संसारमें प्रवेश करना पड़ता है? पर भगवद्-भक्तका पतन कभी नहीं होता है। जो ऐसे भगवानकी निन्दा करता है, वह अनन्त काल तक नरकमें पड़ा

रहकर यमराज द्वारा दी गई अनेकों यातनाओंको भोगता है । आप तो ब्राह्मण हैं; फिर भी आप भगवानकी निन्दा करते हैं ?"

इतना सुनकर धर्मराज अपने वैष्णव-रूपमें राजाके सामने प्रकट होगए । उन्होंने राजासे वरदान माँगनेको कहा । धर्मराजके तेजस्वी स्वरूपको देखकर महाराज उनके चरणोंपर गिर पड़े और वरदान माँगा—"महाराज ! जब तक भगवान रामावतार लेकर यहाँ नहीं पधारें, तब तक मेरी मृत्यु न हो, बस मुझे यही वरदान दीजिए ।" यमराज ऐसा ही वरदान देकर अन्तर्धान हो गए ।

तभीसे श्रीसुरथजी भगवानके रामावतारकी प्रतीक्षा करने लगे । अन्तमें त्रेतायुग आया, रामावतार हुआ । लङ्का-विजयके उपरान्त जब राजराजेश्वर श्रीरामजीने अश्वमेध यज्ञ किया तो उनका घोड़ा, सुरथके राज्यकी सीमाके पाससे जारहा था । श्रीरामके दर्शन करनेका यह शुभ-अवसर था । उन्होंने अपने सेवकोंको यज्ञाश्वको पकड़ लानेकी आज्ञा दी । ऐसा ही किया गया । अब युद्ध अवश्यंभावी था । राजा सुरथ अपने दस पुत्रों सहित युद्धके मैदानमें आ डटे । उधर अश्वकी रक्षाके लिए रामानुज श्रीशत्रुघ्नजी पीछे-पीछे अनन्त सैन्यबलके साथ चले आ रहे थे । जब उन्होंने सुरथ द्वारा यज्ञाश्वके पकड़े जानेका समाचार सुना तो अङ्गदको दूत बनाकर भेजा । अङ्गदने भगवान श्रीरामका प्रताप-बल वर्णन करके बिना युद्ध किए ही घोड़ेको छोड़ देनेका आग्रह किया, परन्तु सुरथने उनकी बात नहीं मानी और कहा—"मैं भगवान श्रीरामका दास हूँ । अपने दसों पुत्रोंके साथ मैं और मेरा यह राज्य-ऐश्वर्य—सभी उनके चरणोंकी ही निधि है; किन्तु जब तक वे स्वयं मैदानमें मुझसे लड़नेके लिए नहीं आवेंगे, तब तक मैं इस घोड़ेको किसी प्रकार भी छोड़ने वाला नहीं और न श्रीरामके अतिरिक्त मुझे आपकी सेना का कोई भी वीर हरा ही सकता है ।"

अङ्गद लौट आये और युद्ध आरम्भ हुआ । शत्रुघ्नके द्वारा चलाए गए शस्त्रास्त्रोंको सुरथने काटकर टुकड़े-टुकड़े कर दिया । अन्तमें उन्होंने रामास्त्रका प्रयोग करके शत्रुघ्न सहित अङ्गद, हनुमान आदि सब सेनानियोंको बाँध लिया । तब हनुमानजी के स्मरण करने पर भगवान राम-लक्ष्मण अन्य ऋषि-मुनियोंके साथ वहाँ पर आए । भगवान श्रीराघवेन्द्रको आता हुआ देखकर सुरथ उनके पैरोंसे लिपट गए । भगवान श्रीराम उनके हृदयके प्रेमको पहिचान गए । उन्होंने श्री सुरथजीको उठाकर छातीसे लगा लिया और उनके प्रेम एवं पराक्रमकी भूरि-भूरि प्रशंसा की ।

पुरुषोत्तम रामने अपनी कृपा-दृष्टिमात्रसे ही अङ्गदादि समस्त सैनिकोंको बन्धन-मुक्त कर दिया । उनके शरीरके घाव भी भर गए और वे पहले समान होकर भगवान श्रीरामके चरणोंमें लेट गए । श्रीराम समस्त परिकरके साथ राजा सुरथके राज्यमें चार-दिन तक निवास करके

अपनी राजधानीको वापिस आ गए। राजा सुरथ भी अपने पुत्र चम्पक को समस्त राज्य-भार सौंपकर श्रीरामके पीछे-पीछे अयोध्या आए और वहाँ दीर्घकाल तक श्रीराघवेन्द्रकी सेवा करके अन्तमें दिव्य साकेत-धामको चले गए।

भक्तराज श्रीसुधन्वाजी

श्रीसुधन्वाजी चम्पकपुरीके महाराज हंसध्वजके पुत्र थे। महाराज हंसध्वज बड़े धर्मात्मा, प्रजा-पालक, शूरवीर और भगवद्भक्त थे। उनके राज्यमें, जो भगवद्भक्त और एक पत्नी-व्रतका पालन करने वाला नहीं होता था, उसे आश्रय नहीं दिया जाता था चाहे वह कितना ही ऊँचा विद्वान् या अन्य असामान्य गुणोंसे युक्त ही क्यों न हो।

एक बार पाण्डवोंके अश्वमेध-यज्ञ करते समय यज्ञका घोड़ा इनके राज्यकी सीमाके पाससे जा रहा था। महाराजने उसे देखा और सोचने लगे—"मैं वृद्ध हो गया, पर अभी तक भगवान श्रीकृष्णके दर्शनोंका सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ। अब इस घोड़ेको रोकनेके बहानेसे युद्ध-भूमिमें जाकर अर्जुनके सारथि भगवान श्रीकृष्णके दर्शन करके अपने जीवनको सफल बना सकता हूँ।" घोड़ा रोक लिया गया और पाण्डवोंके साथ युद्ध करनेके लिए सेना सजाई जाने लगी। राज-गुरु शङ्ख तथा लिखितकी आज्ञासे सम्पूर्ण राज्यमें घोषणा कर दी गई कि जो निर्धारित समय तक युद्ध-स्थलमें नहीं पहुँचेगा उसे खौलते हुए तेलके कड़ाहेमें डाल दिया जायगा। राजाज्ञा के अनुसार सभी सेनाध्यक्ष, महारथी और शूर-वीर निर्धारित समय पर रणक्षेत्रमें आ डटे। सुधन्वाके अन्य भाई सुबल, सुरथ, सम और सुदर्शन भी ठीक समय पर युद्ध-भूमिमें आगए; पर सुधन्वा समय पर न आ सका। पहिले तो वे माताके पास आज्ञा लेनेके लिए गए। माताने प्रेमसे पुत्रको आसन दिया और कहा—"बेटा! तू युद्धमें जा तो रहा है, पर मेरे पास विजयी होकर लौटना। मुझे घोड़े, हाथी या रथोंकी आवश्यकता नहीं है। मेरी कामना तो श्रीहरिके दर्शनोंकी है; अगर सम्भव हो सके तो उनको ही अपने साथ लाना। उनके पराक्रम को देखकर डर मत जाना; क्योंकि उन पुरुषोत्तमके सम्मुख अगर तू वीर-गतिको प्राप्त करेगा तो तेरी इकीस पीढ़ियाँ तर जायँगी।"

इस प्रकार माताके पाससे आज्ञा लेकर राजकुमार बहिन कुवलाके पास आये। वहाँसे अन्तःपुरमें अपनी रानी प्रभावतीके पास गए। वे पहिलेसे ही आरती सजाकर उनके आनेकी प्रतीक्षा कर रही थीं। पति-परायणा एवं परम-साध्वी प्रभावतीसे आज्ञा लेकर जब वे रण-भूमि में आये तो निर्धारित समय पर न आनेके कारण उनके लिए खौलता हुआ तेलका कड़ाह तैयार था।

महाराजने शङ्ख और लिखितके पास दूत द्वारा सन्देश भेजा कि राजकुमार सुधन्वा देरसे आया

है' उसके लिये क्या व्यवस्था की जानी चाहिए ?'' यह सुनकर राज-पुरोहितोंने समझा कि राजा अपने पुत्रके प्रति दयायुक्त होकर उसे बचानेका प्रयत्न कर रहे हैं। उनको बड़ा क्रोध आया और वे दूतसे बोले—''जब सबके लिए एक ही आज्ञा है तब व्यवस्था पूछनेकी क्या आवश्यकता थी ? हंसध्वज पुत्रके कारण अपने वचनोंको आज झूठा करना चाहता है। जो अधर्मी लोग मोह या भयसे अपने वचनोंका पालन करना नहीं चाहते, वे तथा उसके आश्रयमें रहने वाले समस्त व्यक्ति नरकमें जाकर दारुण दुःख भोगते हैं; अतः हम ऐसे असत्यभाषीके राज्य में रहना नहीं चाहते हैं।'' इतना कह कर ऋषि शङ्ख एवं लिखित राज्य त्याग कर चल दिए।

जब राजाने दूतसे समाचार प्राप्त किया तो उन्हें बड़ा दुःख हुआ। उन्होंने राजकुमार सुधन्वाको तेलके कड़ाहमें डालनेका आदेश दिया और स्वयं राज-पुरोहितोंको मनानेके लिए चल दिए।

राजकुमारको जलानेका आदेश जब मन्त्रीको मिला तो उसे बड़ा दुःख हुआ। सुधन्वा यह नहीं चाहते थे कि मन्त्री मेरे पिताकी आज्ञाका उल्लंघन करे। उन्होंने मन्त्रीको समझाया और स्वयं कड़ाहमें कूदनेको तैयार हो गए। वे उस समय भगवानसे प्रार्थना करने लगे—''हे दीनवत्सल ! मुझे मृत्युसे भय नहीं, पर इस प्रकार मर कर मुझे आपके दर्शनका सौभाग्य प्राप्त नहीं हो पाया। मैं आया तो मरनेके लिए ही था, पर इस प्रकार नहीं, बल्कि आपके चरणकमलोंमें गिरकर, आपके भक्तके बाणोंसे घायल होकर।

इस प्रकार एक-मात्र भगवानके दर्शनकी अभिलाषा अपने मनमें लेकर उन्हींका स्मरण एवं नामोच्चारण करते हुए सुधन्वा कड़ाहके खौलते हुए तेलमें कूद पड़े; पर अग्नि उनके लिए शीतल हो गई थी। देखने वालोंको लगा मानों वे तेल पर तैर रहे हैं। उनका एक रोम भी झुलसने न पाया। इस आश्चर्यको सुनकर राजा-सहित राज-पुरोहित भी वहाँ आगए। राजकुमारको इस प्रकारसे जलते हुए तेलके कड़ाहमें भी अदग्ध देखकर शङ्खको सन्देह हुआ—''अवश्य ही इसमें कोई चाल है, अन्यथा जलते कड़ाहमें राजकुमारका शरीर ज्योंका त्यों कैसे रहता ?'' उन्होंने तेलकी परीक्षाके लिए एक हरा नारियल लेकर उसे कड़ाहमें डाल दिया। राजकुमार भगवद्-ध्यानमें इतने तल्लीन थे कि उन्हें कुछ ध्यान ही न था। गरम तेलमें पड़ते ही नारियल तड़ाकसे फूट गया और उसमेंसे उछले हुए दो टुकड़े बड़े जोरसे शङ्ख और लिखितके सिरमें लगे। शङ्खने अन्य लोगोंसे पूछा—''सुधन्वाने कड़ाहमें कूदनेके पूर्व किसी औषधिका सेवन या किसी मन्त्रका जाप तो नहीं किया था ?'' इस पर उन्होंने बतलाया कि वे केवल भगवानका ध्यान और नामोच्चारण करके कड़ाहमें स्वयं ही कूद गए थे। शङ्खकी आँखें खुल गईं। पश्चात्तापकी ज्वालासे उनका हृदय जलने लगा और उसीके कारण वे स्वयं भी जलते हुए कड़ाहमें कूद पड़े। राजकुमारकी प्रार्थनापर उनके लिए भी कड़ाहका तेल शीतल हो गया। मुनिने उन्हें

छातीसे लगा लिया और बोले—"राजकुमार ! तुम धन्य हो। मैं ब्राह्मण हूँ, शास्त्रज्ञ और धर्म-वेत्ता हूँ, पर भगवानसे विमुख रहनेके कारण सबसे बड़ा मूर्ख और नीच हूँ। राजकुमार ! आज तुमने अपने परिवार और इस असंख्य सेनाके साथ मुझे भी पवित्र कर दिया। हम सभीका जीवन आज सफल हो गया। अब तुम कड़ाहसे निकलो और धर्म-युद्धके लिए तैयार हो जाओ। धनुर्धारी अर्जुनको संग्राममें तुम्हारे अतिरिक्त अन्य कोई भी सन्तुष्ट नहीं कर सकता है।"

मुनिके साथ सुधन्वा कड़ाहसे बाहर आए और युद्ध प्रारम्भ हो गया। सुधन्वाका ध्यान बराबर भगवान श्रीकृष्णचन्द्रके चरणारविन्दमें लगा हुआ था। उनके पराक्रमसे चारों ओर खलबली मच गई। वृषकेतु, प्रद्युम्न, कृतवर्मा, सात्यकी आदि प्रधान वीर अपने-अपने दलों के साथ घायल होकर पीछे लौट गए। अन्तमें अपनी शूरताका दर्प लिए अर्जुन सामने आया। सुधन्वाको अपने प्रभु पर विश्वास था, वे उसीके सहारे लड़ रहे थे। अर्जुन जब आया और उसका रथ भगवान श्रीकृष्णसे रहित दिखाई दिया तो सुधन्वाने कहा—"अर्जुन ! प्रत्येक युद्धमें आप विजयी होते रहे, इसका कारण आपका पराक्रम नहीं, भगवान श्रीकृष्णका आपके रथका सारथी होना था। आज आप उनको कहाँ छोड़ आए ? मुझे लगता है, श्रीश्यामसुन्दरने मेरे साथ युद्ध न करनेकी इच्छासे ही आपको त्याग दिया है। अब श्रीकृष्णसे रहित आप मेरे सामने डट भी सकेंगे, इसमें भी सन्देह है।"

अर्जुनको क्रोध आ गया। उसने बाण-वर्षा आरम्भ कर दी, पर सुधन्वाने उन्हें काट-काट कर तिलके बराबर टुकड़े कर गिराये। अर्जुनका रथ टूट गया। सारथी मैदान छोड़कर भाग गया और अर्जुन घायल होकर एक ओर जा गिरे। तब सुधन्वाने कहा—"पार्थ ! मैंने पहिले ही कहा था कि तुम बिना अपने श्याम-वर्णके सारथीके इस संग्राममें सफलता प्राप्त नहीं कर सकते। देखो, तुम्हारा रथ टूट गया, सारथी भाग गया और तुम घायल हो गए। अगर अब भी अपनी विजय चाहते हो तो उन्हीं श्यामसुन्दरका स्मरण कर उन्हें अपनी सहायताके लिए बुलाओ।" लाचार अर्जुनने श्रीकृष्णका मन ही मन स्मरण किया कि माधव मुस्कराते सामने आगए और रथको सँभाल लिया। अर्जुन एवं सुधन्वा दोनोंने भगवानके चरणारविन्दमें प्रणाम किया। श्रीकृष्णकी रूप-माधुरीको देखकर भक्तवर सुधन्वा स्तब्ध हो गए, उनकी आँखें प्रातःकालीन कमलके समान खिल उठीं। इसी समय अर्जुनने धनुष टंकारा और सुधन्वा सावधान होकर उससे बोला—"धनञ्जय ! श्रीश्यामसुन्दर तुम्हारी सहायताके लिए आ गए हैं, तुम्हारी विजय निश्चित है, अब तो तुम किसी न किसी प्रकारकी प्रतिज्ञा करके मुझ पर विजय प्राप्त करो।" अर्जुनको भगवानके भक्तकी शक्तिका ध्यान न रहा। वे भुजाओंके बल एवं गाण्डीव के भरोसे पर प्रतिज्ञा कर बैठे।

उन्होंने तीन बाण तूणीरसे निकाले और कहा—"अगर मैं केवल इन तीन बाणोंकी

सहायतासे ही तेरा मस्तक न काट डालूँ तो मेरे पूर्वज पुण्य-हीन होकर अन्तकाल तक नरकमें गिर पड़ें ।" यह सुनकर सुधन्वाने भी हाथ उठाया और कहा—"श्रीकृष्ण साक्षी हैं, अगर मैं तुम्हारे तीनों बाणोंको काटकर जमीन पर न गिरा दूँ तो मुझे घोर नरक प्राप्त हो।"

युद्ध आरम्भ हुआ। सुधन्वाने भगवानका स्मरण करके अभिमान-रहित हो बाण चलाना प्रारम्भ किया और अर्जुनके रथको चार-सौ हाथ पीछे हटा दिया। श्रीकृष्ण और अर्जुन दोनों घायल हुए। रथका कुछ भाग नष्ट भी हो गया। तब श्रीकृष्णने अर्जुनसे कहा—"कौन्तेय ! यह सुधन्वा बड़ा बाँका वीर है, तूने बिना मेरी सम्मतिके ही ऐसी कठोर प्रतिज्ञा क्यों कर ली? क्या तुझे पता नहीं कि वह एक-पत्नी-व्रत है, अतः उसके शरीरमें अपरिमित बल है?"

अर्जुनने कहा—"भगवन् ! आपके रहते मेरे सामने काल भी नहीं ठहर सकता। मेरी प्रतिज्ञा अवश्य ही पूरी होगी। इतना कह कर उसने एक बाण धनुष पर चढ़ाया। श्रीकृष्णने उस बाण पर गोवर्द्धन-धारणका पुण्य अर्पित किया। बाण चला और सुधन्वाने गोवर्द्धनधारी श्रीकृष्णका ध्यान करके एक बाणसे अर्जुनके बाणके दो टुकड़े कर दिए। पृथ्वी काँप उठी। अर्जुनने दूसरा बाण साधा। श्रीकृष्णने अपने अनन्त पुण्योंका फल इस बाणके ऊपर रख दिया। अर्जुनने बाण चला दिया और सुधन्वाने भगवानका स्मरण करके इस बाणको भी केवल एक ही बाणसे काट गिराया। अब क्या था ? अर्जुन हतोत्साह हो गया। धरा डग-मगा गई। देवता सुधन्वाकी प्रशस्ति गा-गा कर पुष्प-वर्षा करने लगे।

अर्जुनने श्रीकृष्णकी आज्ञासे तीसरा बाण सँभाला। माधवने उसको अपने समस्त पुण्यों का फल प्रदान किया। बाणके पिछले भागमें ब्रह्माजीको विराजमान किया, बीचमें बैठनेके लिए कालको आज्ञा दी और आप स्वयं एक रूपसे बाणके अग्र-भाग पर आ कर बैठ गए। सुधन्वाने सब दृश्य देखा। आज उसकी आत्मा परम प्रसन्न थी—"केवल मेरा उद्धार करनेके लिए भग-वान कैसा स्वाँग रच रहे हैं !" वे मन ही मन ऐसा विचार कर अर्जुनसे बोले—"धनञ्जय ! श्रीकृष्णके इतने प्रयत्न करने पर भी मुझे विश्वास है कि मैं तेरे इस बाणको भी काट दूँगा। यद्यपि विजय तुम्हारी ही होगी; क्योंकि मैं अब जीवनका फल पा गया, अतः जीवित रहना नहीं चाहता हूँ।" अर्जुनका बाण छूटा। सुधन्वाने 'भक्तवत्सल भगवानकी जय!' बोल कर उसकी काट छोड़ दी और देखते ही देखते एक प्रचण्ड घोषके साथ अर्जुनके बाणके बीचमें से दो टुकड़े हो गए। सुधन्वाकी प्रतिज्ञा पूरी हुई। पाण्डव-दलमें हाहाकार मच गया। किन्तु भगवानको अर्जुनकी प्रतिज्ञा भी पूरी करनी थी; क्योंकि वे भी उनके लिए आत्म-समर्पण कर चुके थे। बाण कट गया पर, उसका अगला भाग गिरा नहीं। उसने ऊपर उठ कर सुधन्वाका मस्तक काट दिया। भक्तवर सुधन्वाका शरीर तो रण-भूमिमें गिर गया और मस्तक उड़कर भगवानके चरणारविन्दमें आ गया। श्रीकृष्णने उसे उठाया अपने हाथसे। उसी समय उनके

हाथका स्पर्श पाकर उसके मुख-मण्डलसे एक दिव्य प्रकारकी ज्योति निकली और अखिल-लोक-नियन्ता नटवर-नागर श्रीश्यामसुन्दरके शरीरमें जा छिपी।

राजा शिवि

महाराज शिवि उशीनर के पुत्र थे। ये प्रारम्भसे ही दयावान, परोपकारी, शरणागत-वत्सल, भगवद्भक्त एवं परम धार्मिक थे। इनके गुणोंकी ख्याति देवलोक तक पहुँच चुकी थी। देवराज इन्द्रने इनके धर्मकी परीक्षा लेना चाही। एक समय जब राजा शिवि यज्ञ कर रहे थे, अचानक एक कबूतर उनकी गोदमें आ गिरा और उनके वस्त्रोंमें छिप गया। उसका शरीर काँप रहा था और हृदयकी गति बढ़ गई थी। उसी समय कबूतरका पीछा करता हुआ एक बाज भी आया और वह भी राजाके सामने ही यज्ञ-स्थलीमें उतर गया। जब उसने देखा कि राजा शिविने उसकी शिकारका कबूतर अपने वस्त्रोंमें छिपा रखा है तो वह मनुष्यकी वाणीमें उनसे बोला—"महाराज! यह कौनसा धर्म है आपका? आप एक प्राणीके जीवनकी रक्षा कर रहे हैं और दूसरेके प्राण लेनेको तैयार हैं। क्या आपको पता नहीं कि यह कबूतर मेरा भोजन है। यदि मैं इसको नहीं खाऊँगा तो मेरा जीवित रहना दूभर हो जायगा और मेरे मर जानेके बाद मेरा कुटुम्ब भी जीवित नहीं रह सकता। महाराज! आप धर्मका ढोंग कर रहे हैं। वास्तवमें यह धर्म नहीं है।"

राजाने नम्रतासे कहा—"तुम्हारा उद्देश्य इसको मारना है या उदर-पूर्ति करना?"

बाज—"पृथ्वीनाथ! मुझे तो उदर-पूर्ति करनी है।"

शिवि—"यदि तुम्हारा उद्देश्य उदर-पूर्तिका है तो कबूतरको छोड़ दो अपने खानेके लिए तुम जो चाहो सो वस्तु ले सकते हो। तुम्हारे लिए भण्डार खुला है।"

बाज—"दीनवत्सल! मैं मांसाहारी जीव हूँ। आप मुझे कबूतरके मांसके स्थान पर और किसी पक्षीका मांस दे दीजिए जिससे मैं सन्तुष्ट होकर अपने घर जाऊँ।"

शिवि—"बाज! तुमने ठीक कहा, परन्तु प्रत्येक प्राणीको अपना शरीर प्यारा है। जब दूसरे पक्षीको मार कर उसका मांस तुम्हें दिया जायगा, तब क्या धर्म होगा?"

बाज एक क्षण मौन रह कर फिर बोला—"महाराज! एक बात मेरी समझमें आई है। आप कबूतरके बराबर मांस अपने शरीरसे काट कर दे दीजिए; मैं उसीसे सन्तुष्ट होकर चला जाऊँगा। इससे कबूतरकी जान बच जायगी, मैं भोजन पा सकूँगा और आपके धर्मकी रक्षा हो जायगी।"

शिवि—"हाँ, पक्षिराज! यह बात तुमने बिलकुल ठीक कही। मैं अभी तुम्हें अपने शरीरसे कबूतरके बराबर मांस काट कर दिये देता हूँ।"

राजा शिविने तराजू मँगाई। उसके एक पलड़े में कबूतरको बिठाया और दूसरेमें अपने शरीरका मांस काट-काट कर चढ़ाने लगे। शिवि जैसे-जैसे अपने शरीरका मांस काटकर चढ़ाते जाते थे, वैसे-ही-वैसे कबूतर और अधिक भारी होता जाता था। राजाने धीरे-धीरे अपने शरीर का सब मांस काट कर तराजूपर चढ़ा दिया, पर वह कबूतरके बराबर नहीं हुआ। अन्तमें राजाने स्वयं ही तराजूपर चढ़नेके लिए पैर उठाया और बाजसे बोले—"तुमको मेरे शरीरमें जहाँ-जहाँ मांस दिखाई दे, वहाँ-वहाँसे खाकर अपना पेट भरना।"

राजाके ऐसे वचन सुनकर आकाशसे पुष्प-वर्षा होने लगी, जय-जयकारसे समस्त दिशाएँ गूँज उठीं। राजाने मुड़कर बाजकी ओर देखा तो उसके स्थानपर देवराज इन्द्र दिखाई दिए। कबूतर भी अग्निदेवके रूपमें राजाके सामने आ गया। तुरन्त ही महाराज शिविका शरीर अक्षत होकर और भी अधिक दिव्य हो गया। इसका कुछ भी रहस्य महाराज शिविकी समझमें न आया। वे केवल आश्चर्यान्वित होकर चारों ओर देखने लगे।

इसी समय इन्द्रदेवने कहा—"राजन्! मैं इन्द्र हूँ। मैंने तुम्हारी शरणागत-वत्सलताकी परीक्षा करनेके लिए आया था। वास्तवमें तुम परम धार्मिक और शरणागत-रक्षक हो। तुमने बड़ोंसे कभी ईर्ष्या नहीं की है, छोटोंका कभी अपमान नहीं किया है और बराबर वालोंसे कभी स्पर्धा नहीं की है; अतः तुम संसारमें सर्वश्रेष्ठ हो। तुम इसी दिव्य-रूपसे पृथ्वीपर रहकर चिरकाल तक निष्कण्टक राज्य करो।" इतना कहकर अग्निदेवके साथ इन्द्र अन्तर्धान होगए।

शिविने देवराजके कथनानुसार इस पृथ्वीका पालन किया, पर उनका मन हमेशा भगवान वासुदेवके चरणारविन्दोंमें लगा रहता था। अन्तमें समय आने पर महाराज शिवि इस भौतिक संसारको त्याग कर परमधामको चले गए।

श्रीभरतजी

राजा श्रीरहूगणके प्रसंगमें श्रीभरतजीका उल्लेख हो चुका है। भरतके पिताका नाम श्रीऋषभदेव था। भरतजी प्रारम्भसे ही भगवन्निष्ठ थे और नव योगीश्वरोंमें सबसे बड़े थे। पिता के बाद राज्य पाकर आपने बहुत यज्ञ किये। यज्ञोंके द्वारा अन्तःशुद्धि हो जाने पर धीरे-धीरे भगवान वासुदेवके प्रति आपकी भक्ति बढ़ती गई और अन्तमें अपने ज्येष्ठ पुत्रको राज-पाट सँभाल कर आप तप करनेके उद्देश्यसे पुलहाश्रमको चले गए।

एक दिन गण्डकी नदीके तटपर आप बैठे थे कि वहाँ एक गर्भवती हरिणी जल पीनेके लिये आई। उसके जल पीते समय अचानक पासमें कहीं सिंह बड़े जोरसे गरजा। डर कर ज्यों ही वह उछली कि उसका गर्भपात हो गया और बच्चा नदीके जलमें आ गिरा। हरिणी भागती

हुई किसी कन्दरामें जाकर मर गई। दयावश बच्चेको भरतजीने उठा लिया और अपने आश्रममें ले आए। दिन-रात उस मातृहीन बच्चेके लालन-पालनमें लगे रहनेके कारण भरतजीके सब यम-नियम एक-एक कर छूट गये। अब उनका सारा समय उसके लिए कोमल घास लाने, पानी पिलाने तथा वनके घातक जीवोंसे उसकी रक्षा करनेमें बीतता था। जहाँ-कहीं जाते वे, उसे गोद में या कन्धेपर रखकर अपने साथ ले जाते और ज़रा-सा आँखोंसे ओझल हो जाने पर घबड़ा उठते। इस प्रकार उनकी सब मनोवृत्तियोंके उस मृगके बच्चेपर केन्द्रित हो जानेके कारण जब उन्होंने शरीर छोड़ा, तब भी उसीके सम्बन्धमें सोचते रहे। परिणाम यह हुआ कि दूसरे जन्ममें भरतजीको मृग-योनिमें जन्म लेना पड़ा।

किन्तु इस जन्ममें भी उन्हें पूर्व-जन्मकी याद बनी रही। वे इस बातको याद कर बार-बार पछताते थे कि जब मैं भगवानकी आराधना करनेके लिए स्त्री-पुत्र-राज्य सबको छोड़ कर पुलहाश्रममें रहने लगा, तब मेरी बुद्धि ऐसी क्यों भ्रष्ट हो गई कि मैं एक हरिणके बच्चेके मोह में फँस गया। धीरे-धीरे मृग-रूप भरतजीका निर्वेद बढ़ता गया और वे अपनी माँ को छोड़ कर फिर पुलहाश्रममें आकर रहने लगे तथा भूखे-प्यासे रहकर जीवन बिताते हुए अपने मृत्यु-समयकी प्रतीक्षा करते रहे। अन्तमें आपने मृग-शरीरको छोड़कर एक ब्राह्मणके घरमें जन्म लिया और वहाँ भी आपका नाम 'भरत' पड़ा।

ब्राह्मणके रूपमें भी आप बालकपनसे ही विरक्त होकर भगवानका चिन्तन करते हुए अकेले ही घूमा करते। किसीसे बोलना-चालना आपको अच्छा नहीं लगता था और इसलिए लोग उन्हें पागल, गूँगा और बहरा समझते थे। भरतजीको इष्ट भी यही था। एक दिन भीलों के किसी राजाको बलि देनेके लिए आदमीकी ज़रूरत पड़ी। खोजते-खोजते उसके अनुचरोंने जड़-भरतजीको देखा और उन्हें पकड़ कर ले गए। उन्हें नहला-धुलाकर और फूलोंकी माला इत्यादिसे सजाकर भद्रकालीके सामने लाया गया और तलवार उठाकर ज्यों ही उनकी बलि देने को वे उद्यत हुए, त्यों ही कालीने प्रकट होकर उन सबको वहीं मार गिराया।

राजा रहूगण द्वारा भरतजीसे पालकी उठवानेका प्रसंग पीछे दिया जा चुका है।

महर्षि श्रीदधीचिजी

महर्षि दधीचि ब्रह्मज्ञानी थे। उनका आश्रम साभ्रमती एवं चन्द्रभागाके सङ्गमपर था। वे अहर्निश भगवानके ध्यानमें लगे रह कर कठिन तप किया करते थे। एक बार अश्विनीकुमार इनके पास ब्रह्मविद्याका ज्ञान प्राप्त करनेके लिए आए। इन्द्र अश्विनीकुमारोंको हीन दृष्टिसे देखा करते थे, अतः उन्होंने यह प्रतिज्ञा कर रखी थी कि जो कोई इन कुमारोंको ब्रह्मविद्याका उपदेश करेगा, मैं उसका मस्तक काट डालूँगा। इन्द्रके भयसे कोई भी इनको ज्ञानोपदेश नहीं करता था;

किन्तु जब इन्होंने महर्षि दधीचिसे ब्रह्म-विद्याके उपदेशके लिए प्रार्थना की तो वे तैयार हो गए। अश्विनीकुमार नहीं चाहते थे कि महर्षिका मस्तक देवराज काट ले जायँ। उन्होंने एक उपाय किया। वे एक घोड़ेका मस्तक काट लाए और उसे महर्षिके मस्तकके स्थानपर लगा दिया एवं मस्तकको औषधियोंमें लपेटकर सुरक्षित रख दिया। अब महर्षि अपने अश्व-मुखसे अश्विनी-कुमारोंको ब्रह्मविद्याका उपदेश करने लगे। जब इन्द्रको इसकी सूचना मिली तो वे आए और उनके घोड़ेके मस्तकको काटकर ले गए। अश्विनीकुमारोंने सुरक्षित रक्खा हुआ उनका पहला मस्तक फिरसे लगा दिया। इस प्रकार इन्द्रकी नीचताका कोई भी प्रभाव दधीचिके ऊपर नहीं पड़ा और अश्विनीकुमार भी ब्रह्मविद्याका उपदेश ग्रहण कर सके।

इस घटनाके कुछ समय बाद त्वष्टाके अग्नि-कुण्डसे एक वृत्रासुर नामका दैत्य पैदा हुआ। वह बड़ा पराक्रमी था। उसने चारों ओर अपना प्रभाव जमा रक्खा था; यही नहीं, स्वर्गलोक पर भी उसने अधिकार कर लिया और देवराज इन्द्रको वहाँसे मार भगाया। असहाय इन्द्र अपने देव-परिकरके साथ ब्रह्माजीके पास गए और अपना दुःख उन्हें सुनाया। ब्रह्माजीने शेष-शायी भगवान विष्णुकी स्तुति की। श्री विष्णु भगवान प्रकट हुए और उन्होंने कहा—"महर्षि दधीचिकी उत्कट तपस्याके कारण उनकी हड्डियाँ अजय, दृढ़ एवं तेजस्विनी हो गई हैं। उन हड्डियोंसे यदि वज्र बनाया जाय तो उस वज्रकी सहायतासे देवराज दैत्यका संहार कर सकते हैं; किन्तु महर्षिको मारकर उनकी हड्डियोंको प्राप्त नहीं किया जा सकता है, क्योंकि वे मेरे आश्रित हैं। हाँ, देवता स्वयं उनके पास जाकर उनसे हड्डियोंकी याचना करें तो वे अवश्य ही दे देंगे।"

भगवान अन्तर्धान हो गए और देवता महर्षि दधीचिके आश्रममें गए। वहाँ जाकर उन्होंने अनेक प्रकारकी स्तुति करके उनको प्रसन्न कर लिया और उनसे हड्डियोंकी याचना की। महर्षि दधीचिने हड्डियाँ देना तो स्वीकार कर लिया, पर एक-बार तीर्थ-यात्रा करनेकी अभिलाषा प्रकट की। देवराजने नैमिषारण्यमें समस्त तीर्थोंका आवाहन किया। महर्षि दधीचिने वहाँ स्नान किया और आसन लगा कर बैठ गए। वे मन तथा प्राणोंको हृदयमें लीन करके भगवान के ध्यानमें लग गए और उनकी आत्मा देवताओंके लिए शरीरको त्यागकर परमात्मा में जा मिली। इस प्रकार हड्डियोंसे विश्वकर्माने वज्रकी रचना की और उसकी सहायतासे इन्द्रने राक्षसराज वृत्रासुरका संहार किया। धन्य थे वे महर्षि दधीचि जिन्होंने जान-बूझकर अकारण अपकार करनेवाले इन्द्रको अपनी हड्डियोंका दानकर श्रेष्ठतम परोपकारका आदर्श प्रस्तुत किया था। उसी आदर्शके कारण आज तीनों-लोकोंमें महर्षि दधीचिका यश छाया हुआ है। वे देवताओं और देवराजके भी पूजनीय बन गए हैं। यह भगवानकी भक्तिका ही प्रभाव था कि वे इतने सरल-भावसे उस शरीरका त्याग कर सके, जिसे मानव आत्मा मान कर उसकी रक्षामें सम्पूर्ण जीवनको व्यतीत कर देता है।

श्रीविन्ध्यावलीजी

भक्ति-रस-बोधिनी

विन्ध्यावली तिया सी न देखी कहूँ तिया नैन, बाँध्यो प्रभु-पिया, देखि कियो मन चोगुनो।
"करि अभिमान दान देन बैठ्यो तुमही को, कियो अपमान मैं तो मान्यौ सुख सौगुनो" ॥
त्रिभुवन छीनि लियो, दियो बैरी देवतान प्रानमात्र रहे, हरि मान्यौं नहीं औगुनो।
ऐसी भक्ति होय जो पै जागो रहो सोइ, अहो! रहो भव माँझ ऐ पै लागै नहीं औगुनो ॥८७॥

अर्थ—विन्ध्यावली-जैसी स्त्री कहीं देखने व सुननेमें नहीं आती जिसने श्रीवामन भगवान द्वारा अपने पतिदेव बलिको बाँधा गया देख कर भी अपना मन तनिक भी मैला नहीं किया, वरन् और चौगुनी प्रसन्न हुई। भगवानकी स्तुति करते हुए विन्ध्यावलीने कहा—"अपने अज्ञान-जनित दानके अभिमानके कारण ये मेरे पति तीनों लोकोंके स्वामी आपको ही दान देने बैठे। अपनेको दानी और आपको भिक्षुक मान कर इन्होंने आपका अत्यन्त अनादर किया और आपने दण्ड देकर जो इनका अभिमान दूर किया, उसमें मैं सौगुनी प्रसन्न हुई हूँ।" (रानी विन्ध्यावलीकी भगवद्भक्ति कितनी आदर्श थी!) भगवानने इनके स्वामीसे तीनों लोकों का राज्य छीन कर इनके शत्रु देवताओंको दे डाला और इनके पतिके पास केवल प्राण ही शेष रह गए थे, लेकिन इस कारण इन्होंने प्रभुको दोषी नहीं ठहराया, बल्कि अपने पतिमें ही अभिमान रूपी अवगुण देखा। यदि किसीमें इस प्रकारकी भक्ति हो, तो उसीको वास्तवमें जागता हुआ समझना चाहिए, (भले ही वह औरोंकी दृष्टिमें, अत्यन्त निष्क्रिय होनेके कारण, सोता हुआ लगता हो।) ऐसा व्यक्ति संसारमें रहता हुआ भी प्रकृतिके माया, मोह आदि गुणोंसे अछूता रहता है—अर्थात् सांसारिक कर्मोंको यथावत् करता हुआ भी उनसे बँधता नहीं है।

इस कवित्तके अन्तिम चरणका भाव हमें गीताके नीचे दिए श्लोकका स्मरण दिलाता है—

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी। यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥

—सम्पूर्ण भूत-प्राणियोंके लिये जो रात्रि है, उस नित्य, शुद्ध, बोधस्वरूप परमानन्दमें भगवत्को प्राप्त हुआ योगी पुरुष जागता है और जिस नाशवान् क्षणभंगुर सांसारिक सुखमें सब प्राणी जागते हैं, तत्वदर्शी मुनिके लिए वह रात्रि है।

श्रीमोरध्वजजी

भक्ति-रस-बोधिनी

अर्जुन के गर्व भयो, कृष्ण प्रभु जानि लयो, बढ्यो रस भारी, याहि रोग ज्यौं मिटाइये।
'मेरो एक भक्त आहि, तोको लै दिखाऊँ ताहि, भए विप्र बृद्ध, संग बाल, चलि आइये' ॥
पहुँचत भाष्यो जाइ 'मोरध्वज राजा कहाँ? बेगि सुधि देवो", काहू बात जा जनाइये।
"सेवा प्रभु करो, नेकु रहो, पाउँ धरो, जाइ कहो तुम बैठो, कही प्राण-सी लगाइये ॥८८॥

अर्थ—एक बार अर्जुनको यह अभिमान हुआ कि मैं श्रीकृष्णका बड़ा भक्त हूँ। भगवान ने सोचा—"इस अर्जुनको सखा-भावसे अङ्गीकार कर मैंने बड़ा आनन्द दिया, जिसका इसे अभिमान होगया है। यह एक प्रकारका रोग है; इसे दूर करना चाहिये। ऐसा सोच कर आप अर्जुनसे बोले—"मेरा एक भक्त है; चलो मैं तुम्हें उसे दिखा लाऊँ। ऐसा करो कि मैं एक बूढ़े ब्राह्मणका रूप रखलूँ और तुम बालक बन जाओ, तब चलें।"

उस निश्चयके अनुसार दोनों वेष बदलकर महाराजा मोरध्वजके यहाँ पहुँचे और द्वारपालों से पूछा—"राजा मोरध्वज कहाँ है? शीघ्र जाकर उन्हें सूचना दो कि दो ब्राह्मण आये हैं।" किसीने जाकर राजाको इस बातकी सूचना देदी। राजाने कहलवाया—"मैं प्रभुकी सेवा कर रहा हूँ, तनिक प्रतीक्षा करिये और विराजिए; अभी-अभी-मैं आपके चरण-स्पर्श करनेके लिए उपस्थित होता हूँ।"

यह उत्तर सुनते ही ब्राह्मणके आग-सी लग गई।

भक्ति-रस-बोधिनी

चले अनखाय, पाँय गहि अटकाय, जाय नृप को सुनाय, ततकाल दौरे आये हैं।
"बड़ी कृपा करी, आज करी काम-बेलि मेरी, निपट नवेल फल पाँय पाते पाये हैं॥
दीजै आज्ञा मोहि सोई कीजै, सुख लीजै यही, पीजै वाणी-रस, मेरे नैन लै सिराये हैं"।
सुनि क्रोध गयो, मोद भयो सो परिक्षा हिये लिये चित-चाव ऐसे वचन सुनाये हैं॥८६॥

अर्थ—ब्राह्मण कुपित होकर चलने लगे, तो द्वारपालोंने पैर पकड़ कर उन्हें रोक लिया और राजासे सब वृत्तान्त जाकर कह दिया। सुनते ही राजा दौड़े आए और विनय-पूर्वक बोले—"आपने बड़ी कृपाकी जो मुझ अधमको अपने आगमनसे कृतार्थ किया। आज मेरी अभिलाषा-रूपी लता फल-फूल गई; क्योंकि आपके चरणरूपी नवीन फल मुझे प्राप्त होगए। कृपया आज्ञा दीजिए ताकि मैं उसका पालन करूँ और आनन्दका भागी बनूँ तथा आपके मधुर वचन-रूपी अमृतका पान करूँ। आपके दर्शनोंसे मेरे नेत्र आज शीतल होगए हैं।"

राजाके ऐसे शब्द सुनकर ब्राह्मणका क्रोध शान्त होगया और उनके नम्रता-पूर्ण आचरण को देखकर वे बड़े प्रसन्न हुए। चूँकि वे राजाकी परीक्षा लेनेके उद्देश्यसे वहाँ गए थे, अतः अत्यन्त उत्साहसे बोले—

भक्ति-रस-बोधिनी

"देवे की प्रतिज्ञा करो", "करी जु प्रतिज्ञा हम, जाहि भाँति सुख तुम्हें सोई मोको भाई है"।
"मिल्यो मग सिंह मांहि बालक को खाए जात, कह्यो खावो मोहि, 'नहीं, यही सुखदाई है'॥
"काहू भाँति छोड़ौ", 'नृप आधो जो शरीर आवै, तौहो याहि तजौं', कहि बात सो जनाई है"।
बोलि उठी तिया, "अरधंगी मोहि आइ देवो", पुत्र कहे, "मोको लेवो", ':और सुधि आई है" ॥९०॥

अर्थ—"राजन् ! पहले वायदा करो कि मैं जो मागूँगा, वही दोगे।" इस पर राजाने कहा—"मैं प्रतिज्ञा करता हूँ, जिस बातसे आपको सुख मिलेगा, वही मुझे भी अच्छी लगेगी मैं वही करूँगा।" ब्राह्मण बोले—"हमें मार्गमें एक सिंह मिला जो इस बालकको खा जाना चाहता था। मैंने उससे कहा—'इस बालकको छोड़ दो और मुझे खा लो,' लेकिन सिंहने कहा—'मुझे तो इसे ही खाकर सुख मिलेगा।' तब मैंने सिंहसे कहा—'इस बालकको किस शर्तपर छोड़ सकते हो कि नहीं ?' सिंह बोला—'यदि राजा मोरध्वजका आधा शरीर मुझे खानेको मिल जाय, तो इसे छोड़ सकता हूँ, अन्यथा नहीं।"

राजा और ब्राह्मणके बीच इस सम्वादको रानी भी सुन रही थी। उसने कहा—"मैं राजाकी अर्धाङ्गिनी हूँ, इसलिए मुझे सिंहके खानेके लिए भेज दीजिए।" राजाके पुत्र ताम्रध्वजने भी इसी प्रकार अपना शरीर अर्पण करने के लिये कहा। इसी बीचमें ब्रह्मदेव बोल उठे—"एक बात मुझे और याद आगई।"

भक्ति-रस-बोधिनी

सुनो एक बात, "सुत तिया लै करौंत गात चीरैं धीरैं भीरैं नाहिं", पीछे उन भाखिये।
कीन्ह्यो वाही भाँति, अहो ! नासा लगि आयो जब, ढरयो दृग नीर भीर वाकरि न चाखिये॥
चले अनखाय गहि पांय सो सुनाये बैन "नैन जल बायौं अंग काम किहि नाखिये"।
सुनि भरि आयो हियो, निज तनु श्याम कियो, दियो सुखरूप, व्यथा गई, अभिलाषिये॥६१॥

अर्थ—"सिंहकी बात और सुन लीजिए। उसने कहा कि राजाको इस प्रकारसे चीरा जाय कि राजाका पुत्र आराका एक सिरा पकड़े और रानी दूसरा। दूसरी शर्त यह कि दोनों राजाके शरीरको धीरे-धीरे चीरें और तीनोंमें से एक भी कायरताका कोई लक्षण प्रकट न होने दे।"

तीनोंने ऐसा ही किया, लेकिन सिरको चीरता हुआ आरा जब नासिका पर आया, तो राजाकी बाईं आँख से आँसू बहने लगे। यह देख ब्राह्मणने कहा—"राजन् ! तुम तो कातर हो रहे हो ! ऐसा होनेसे तो सिंह तुम्हारे मांसको नहीं खाएगा।"

यह मिथ्या आरोप सुन कर राजाको तैश आ गया, लेकिन उन्होंने ब्राह्मणके पैर छूते हुए कहा—"भगवन् ! आप देख सकते हैं कि मेरी बाईं आँखसे आँसू निकल रहे हैं, दाहिनी बिलकुल सूखी है। आँसूका कारण यह है कि मेरा बाँया अंग आपके कोई काम नहीं आया, अतः फेंक दिया जायगा।"

राजाकी यह बात सुनते ही भगवानका हृदय करुणासे द्रवित होगया और प्रसन्न होकर वह श्यामसुन्दर के रूपमें राजाके सामने प्रकट हो गए। तदुपरान्त उन्होंने अपने अमृत-शीतल करसे राजाके शरीरको छूकर उसे स्वस्थ बना दिया। भगवानके दर्शन करते ही राजा अपने सब कष्टों को भूल गए। तब भगवानने कुछ वर देनेकी इच्छा प्रकट की।

भक्ति-रस-बोधिनी

"मोपै तो न दियो जाय निपट रिझाइ लियो, तऊ रीझि दिये बिना मेरे हिय साल है।
माँगो वर कोटि, चोट बदलो न चूकत है, सूकत है मुख, सुधि आए वही हाल है॥"
बोल्यो भक्तराज—"तुम बड़े महाराज, कोऊ थोरोइ करत काज, मानो कृत जाल है।
एक मोको दीजै दान," "दीयो जू बखानो बेगि","साधु पै परीक्षा जिनि करो कलिकाल है" ॥९२॥

अर्थ—प्रभुने कहा—"राजन्! मैं सोच नहीं सकता कि तुम्हें बदलेमें क्या दूँ? तुमने अपने असाधारण त्यागसे मुझे इतना प्रसन्न कर दिया है कि कुछ कहते नहीं बनता। फिर भी रीझ कर यदि मैं कुछ न दूँ, तो मेरे मनमें यह बात सदा काँटेकी तरह खटकती रहेगी। मैं जानता हूँ कि तुम्हारे करोड़ों वर माँगने और मेरे उन्हें देनेसे उस कष्टका बदला नहीं चुकेगा जो मैंने तुम्हें दिया है। राजन्! तुम्हारी उस अवस्थाका स्मरण करते ही, जब कि तुम्हारा शरीर चीरा जारहा था, मेरा मुँह सूखने लगता है।"

भगवान की यह प्रेममयी वाणी सुनकर भक्तराज मोरध्वज बोले—"महाराज! आप बड़े उदार हैं। आपको प्रसन्न करनेके लिए जो थोड़ा-सा भी कार्य करता है, उसे आप बड़ा भारी सत्कर्म करके मानते हैं। अस्तु! यदि आप मुझे कुछ देना ही चाहते हैं तो एक वर दीजिए।"

भगवान अधीर होकर बोले—"जल्दी बताओ, राजन्!"

मोरध्वजजी ने कहा—"कलियुगमें भक्त-सन्तोंकी परीक्षा कभी न कीजिएगा; बस इतना ही आश्वासन वरके रूपमें मुझे चाहिए।"

भगवानके चले जानेके उपरान्त भक्त-मोरध्वज फिर अपने आराध्यकी अर्चनामें तल्लीन रहने लगे।

श्रीमोरध्वज अथवा श्रीशिवि—जैसे आख्यानों पर त्याग अथवा अहिंसाकी शिक्षा देनेवाली बौद्ध-कथाओंका प्रभाव स्पष्ट-रूपसे परिलक्षित होता है। बौद्ध-ग्रन्थोंमें तथा उत्तरकालीन संस्कृत-नाटकोंमें जीमूतवाहनका ठीक इसी प्रकारका एक आख्यान देखनेको मिलता है। संक्षेप में वह इस प्रकार है:—

गरुड़ भगवान पातालमें रहनेवाले नागोंको मार कर खा जाया करते थे। जितने नाग उनके भोजनके लिए पर्याप्त होते थे, उससे अधिक वे मार दिया करते थे। यह देख कर नागराजने उनसे यह तय किया कि एक नाग नित्य आपके भोजनके लिए समुद्र-तट पर भेज दिया जाया करेगा। गरुड़जीने इस प्रस्तावको मान लिया और तबसे नियमानुसार एक नाग खाने लगा।

दैवयोगसे एक दिन शङ्खचूड़ नामक नागकी बारी आई। वह अपनी माताका इकलौता पुत्र था, अतः माँ के शोककी सीमा न थी। समुद्र के तीर पर बैठी हुई वह जोर-जोरसे विलाप कर रही थी और शङ्खचूड़ उसे तरह-तरहसे समझा रहा था। उसी समय जीमूतवाहन वहाँ होकर निकले और रोनेका शब्द सुनकर कारण जाननेके लिए ठहर गए। जब उन्हें सारा वृत्तान्त मालूम हुआ तो उन्होंने शङ्खचूड़ की मातासे कहा—"तुम्हारे पुत्रकी प्राण-रक्षाके लिए मैं अपना शरीर गरुड़जीको सौंप दूँगा; आप शोक

न करें।" लेकिन माता और पुत्र दोनोंमें से एकने भी उनकी बात नहीं मानी। धीरे-धीरे करके गरुड़जी के आनेका समय होगया और शङ्खचूड़ भी शिवजीको अन्तिम प्रणाम करनेके लिए चला गया। उसके पीछे उसकी माँ भी हो ली। इस अवसरको देख कर जीमूतवाहन शीघ्र आकर उस पत्थर पर बैठ गए जो कि बलिके लिए नियत था। क्षण-भर बाद गरुड़जी आकाशसे उतरे और चोंचसे जीमूतवाहनको उठा कर उड़ गए तथा पासके पहाड़की एक ऊँची चट्टानपर बैठकर खाने लगे। खाते समय गरुड़जीको यह देख कर बड़ा आश्चर्य हुआ कि उनका शिकार बजाय रोने और चिल्लानेके मुस्करा रहा है। खाते-खाते वे थोड़ी देरके लिए रुक गए। तब जीमूतवाहनने गरुड़जीसे कहा—

शिरामुखैः स्यन्दत एव रक्तमद्यापि देहे मम मांसमस्ति।
तृप्तिं न पश्यामि तवाप्यहं तु किं भक्षणात् त्वं विरतो गरुत्मन्॥

—अभी तो नाड़ियोंसे रुधिर निकल रहा है और मेरे शरीरमें मांस भी विद्यमान है। हे गरुड़! आपका पेट तो भरा नहीं है, फिर आप खाते-खाते ठहर कैसे गए?

जीमूतवाहन यह कह ही रहे थे कि शङ्खचूड़ घटना-स्थलपर आ पहुँचा। जीमूतवाहनको उस अवस्थामें देखकर उसने गरुड़जीसे कहा—"यह आप क्या अनर्थ कर रहे हैं? क्या आपको नहीं मालूम कि जीव-मात्रकी रक्षा करनेवाले ये महापुरुष जीमूतवाहन हैं?" जीमूतवाहनका यश गरुड़जी के कानोंमें भी पहुँच चुका था। वे सन्न रह गए और स्वर्गसे अमृत लाकर उन के घायल शरीरको स्वस्थ कर दिया। उन्होंने आगेके लिए प्रतिज्ञाकी कि मैं जीवहिंसा कभी नहीं करूँगा।

× × × ×

शङ्का—श्रीमोरध्वज तथा राजा शिबि जैसे-आख्यानोंको पढ़नेके बाद स्वाभाविक-रूपसे यह शङ्का उठती है कि परम भगवद्भक्त होते हुए भी इन महापुरुषोंके शरीर-दानका सम्बन्ध भगवद्विषयक भक्तिसे क्या था? श्रीमोरध्वजजी को ही लीजिए। ब्राह्मणके कहने पर बालककी प्राण-रक्षाके लिए जब उन्होंने अपना शरीर दिया तब उन्हें यह तो विदित नहीं था कि उनके सामने ब्राह्मणका रूप धारण कर स्वयं भगवान खड़े हैं। यदि कहा जाय कि किसी अचिन्त्य, अलौकिक रहस्यमयी शक्तिके द्वारा उन्हें भगवानकी उपस्थितिका ज्ञान होगया होगा, तो ऐसा मान लेने पर श्रीमोरध्वजजीके शरीर-त्यागका महत्त्व कम हो जाता है; क्योंकि ऐसा मन्दबुद्धि कौन होगा कि ऐसा अमूल्य अवसर पाकर, जबकि भगवान स्वयं मुँह करके माँग रहे हों, अपना शरीर उनके अर्पण न कर देगा?

समाधान—श्रीमोरध्वज अथवा राजा शिबि कर्णके समान केवल दानी ही न थे, भगवानके परम-भक्त भी थे। एकान्त साधना द्वारा ये महात्मागण उस स्थितिमें पहुँच गए थे जहाँ 'मैं' और 'मेरा-पन' बिलकुल नष्ट हो जाता है। यह वह अवस्था है जो 'सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि' (अपनेमें सब प्राणियोंको तथा सब प्राणियोंमें अपनेको देखना) से भी बहुत आगे की है। इस दशामें विचरण करनेवाला भक्त भगवानकी सत्ताके अतिरिक्त और कुछ नहीं देख सकता। उसके न केवल अपने कर्म ही भगवानके लिये किए जाते हैं, बल्कि और लोग जो कर्म करते हैं, उन्हें भी वह भगवत्-सम्बन्धी ही समझता है। इस दृष्टिसे ब्राह्मणकी आज्ञा स्वयं भगवानका आदेश था। श्रीमोरध्वज न किसीकी प्राण-रक्षाके लिए शरीर देने जा रहे थे और न आत्म-निवृत्तिके लिए। उनके लिए जैसी भगवत्-सेवा, वैसा ही

शरीरका मांससे चिरवाना था। इस कोटिके भक्तोंको, इसलिए, केवल दानवीर समझ लेना भ्रम होगा। वे निस्सन्देह दानवीरोंकी कोटिमें आते हैं,लेकिन बलि–जैसे दानियोंकी, न कि कर्ण–जैसे; क्योंकि वीरताके भावसे संकीर्ण होते हुए भी उनकी रति भगवद्विषयक ही थी। वे पहले भक्त थे और पीछे दानी।

श्रीअलर्कजी

भक्ति-रस-बोधिनी

अलर्क की कीरति में राँचौं नित, साँचौ हिये, किये उपदेश हू न छूटै विष-वासना।
माता मन्दालसा की बड़ी यह प्रतिज्ञा सुनो "आवे जो उदर माँझ फिरी गर्भ आस ना"॥
पति को निहोरो ताते रह्यो छोटो कोरो; ता को लै गये निकासि, मिलि काशी नृप शासना।
मुद्रिका उघारि कौ निहारि दत्तात्रेय जु को भये भवपार करी प्रभु की उपासना॥९३॥

अर्थ—श्रीअलर्कके गुण-गानमें मैं सच्चे हृदयसे अनुरक्त रहूँ। प्रायः सांसारिक विषयोंको भोगनेकी लोगोंकी इच्छा उपदेश करनेसे भी दूर नहीं होती, किन्तु श्रीअलर्क पर अपनी माताके उपदेशका ऐसा प्रभाव पड़ा कि उन्हें संसारको त्यागते जरा भी देर नहीं लगी। श्रीअलर्ककी माता मन्दालसाकी यह कठिन प्रतिज्ञा थी कि जो जीव मेरे गर्भमें आकर वास करेगा वह दोबारा गर्भमें आनेकी आशा (संभावना) से सदाके लिए छूट जायगा—अर्थात् वह सदा-सदाके लिए भगवानके चरणोंमें रहनेका अधिकारी हो जायगा। (आपके कई पुत्र हुए और सब विरक्त होकर वनमें तपस्या करनेके लिये चले गए।) जब सबसे छोटे अलर्कका जन्म हुआ, तो पिताने श्रीमन्दलसाजीसे अनुनय-विनय करके उसे राज-काज सँभालनेके लिए अपने पास रख लिया। (कुछ समय बाद मन्दालसाजी अपने पतिदेवके साथ वनको चली गईं और वहाँ अपने विरक्त पुत्रोंका सात्विक जीवन देख कर बड़ी प्रसन्न हुईं। यह सोचकर उन्हें बड़ा खेद हुआ कि मेरा एक पुत्र ही भगवानकी भक्तिसे वंचित रह गया। उन्होंने अपने तपस्वी पुत्रोंसे कहा कि जैसे बने वैसे अलर्कको सांसारिक प्रपंचसे छुड़ाकर अपने–जैसा बना लो ताकि मेरी प्रतिज्ञा पूर्ण हो और उसका भी कल्याण हो। माताकी आज्ञा शिरोधार्य कर ज्येष्ठ पुत्र अपने भाई राजा अलर्कसे मिले और भगवद्भक्तिका उपदेश दिया, पर वह सफल नहीं हुए। अलर्क राज्यके लोभमें आकंठ फँसे हुए थे। इसपर उन्होंने एक दूसरा उपाय सोचा। उन्होंने अपने मामा काशिराजसे अलर्कके राज्य पर चढ़ाई करनेको कहा। काशिराजने ऐसा ही किया और एक विशाल सेना ले जाकर अलर्ककी राजधानीके चारों ओर घेरा डाल दिया।) अपने ऊपर संकट आया हुआ जानकर अलर्कने, वन जाते समय अपनी माताके द्वारा दी गई, मुद्रिकाको खोला और उसके अन्दर रखे हुए पत्रको पढ़ कर तथा श्रीदत्तात्रेयजीके उपदेशसे प्रभावित होकर राज्यको छोड़कर वन चले गए और वहाँ रात-दिन प्रभुकी परिचर्य्यामें मग्न रह कर इस संसार-सागरसे सदाके लिए पार हो गए। (श्री अलर्कका विशेष चरित्र देवीमन्दालसाके प्रसङ्गमें देखिए)

मूल (छप्पय)

रिभु इक्ष्वाकरु, ऐल, गाधि, रघु, रै, ग, शुचि शतधन्वा।
अमूरति अरु रन्ति, उतंग, भूरि, देवल, वैवस्वतमन्वा॥
नहुष, जजाति, दिलीप, पूरु, यदु, गुह, मान्धाता।
पिप्पल, निमि, भरद्वाज, दच्छ सरभंग, सँघाता॥
संजय, समीक, उत्तानपाद, याज्ञवल्क्य जस जग भरे।
तिन चरन धूरि मो भूरि सिर जे-जे हरि-माया तरे॥१२॥

अर्थ—श्रीऋभुजीसे लेकर श्रीयाज्ञवल्क्य तक भगवानके जो तीस भक्त, उनके मायारूपी संसारसे पार होगए, उनकी बहुत-सी चरणरजको मैं अपने मस्तक पर धारण करता हूँ।

श्रीरन्तिदेवजी

भक्ति-रस-बोधिनी

अहो! रंतिदेव नृप सन्त दुसकन्त-वंस अति ही प्रसंस सो अकाशवृत्ति लई है।
भूखे को न देखि सकै, आवै सो, उठाय देत, नेति नहि करै, भूखे देह छीन भई है॥
चालिस औ आठ दिन पाछे जल अन्न आयो, दियो विप्र शूद्र नीच श्वान, यह नई है।
हरि ही निहारे उन मांझ, तब आए प्रभु, आए, जग-दुख जिते भोगौं भक्ति छई है॥६४॥

अर्थ—प्रसिद्ध राजा दुष्यन्तके वंशमें प्रशंसनीय श्रीरन्तिदेवजीका जन्म हुआ। विना प्रयत्न किये अकस्मात् जो कुछ खानेको मिल जाता उसीसे आप प्राण धारण करते थे। किसीको भूखा रहते हुए आप नहीं देख सकते थे, इसलिए आकाशीय वृत्तिसे थोड़ा-सा जो कुछ भोजन मिलता उसीको उठा कर भूखोंको दे डालते थे। किसीसे मना करना आपने सीखा ही न था। इसका परिणाम यह हुआ कि उचित मात्रामें भोजन न मिलनेके कारण आपका शरीर अत्यन्त क्षीण होगया। एक बार ऐसा हुआ कि आपको सैंतालीस दिन विना आहारके बीत गए। अड़तालीसवें दिन जब अन्न और जल प्राप्त हुआ, तो उसे आपने पहले किसी ब्राह्मणको, फिर एक शूद्रको और जो कुछ बचा उसे एक भूखे कुत्तेको दे दिया और स्वयं विना खाये रह गए। राजा श्रीरन्तिदेवने उन सबमें भगवानके ही दर्शन किए। उनकी इस प्रकारकी दया-भावना और समदृष्टि देखकर प्रभुने आकर दर्शन दिये और वर माँगनेको कहा। प्रभुके दर्शन पाकर आप धन्य हो गए। आपने उनसे यह वर माँगा कि मुझमें जीवमात्रके दुःखको भोगनेकी शक्ति पैदा हो जाय और इस प्रकार उन सबके कष्ट दूर हो जायँ।

श्रीमद्भागवतके अनुसार कुत्तों और उसके मालिकको बचा हुआ अन्न दे देनेके बाद राजा श्रीरन्तिदेवके पास केवल पानी शेष रह गया। उसे उठाकर वह पीने ही वाले थे कि इसी बीचमें पुल्कस

जातिका कोई अन्य व्यक्ति आ पहुँचा और राजासे पानी माँगा। उसकी दीनताभरी वाणीको सुनकर राजा अपनी भूख-प्यास भूल गए और जीवोंकी दशापर दुःखी होते हुए बोले—

न कामयेऽहं गतिमीश्वरात् परामष्टर्द्धियुक्तामपुनर्भवं वा।
आर्तिं प्रपद्येऽखिलदेहभाजामन्तः स्थितो येन भवन्त्यदुःखाः॥ भा० ९-२१-१२

—ईश्वरसे मैं यह नहीं माँगता हूँ कि मुझे अणिमादि आठों सिद्धियाँ मिल जायँ या मेरी मोक्ष हो जाय। मेरी कामना तो यह है कि मैं सब प्राणियोंके हृदयमें समाकर उनके कष्टोंको अपने ऊपर ले लूँ, ताकि उनके दुःख दूर हो जायँ।

क्षुत्तृट्श्रमो गात्रपरिश्रमश्च दैन्यं क्लमः शोकविषादमोहाः।
सर्वे निवृत्ताः कृपणस्य जन्तोर्जिजीविषोर्जीवजलार्पणान्मे॥ ९-२१-१३

—अहा! प्यासके कारण दीन हुए इस पुल्कस व्यक्तिकी भूख, प्यास, शारीरिक-थकावट, खेद, शोक, मोह—सब मेरे जल देनेसे दूर होगए।

बादमें विष्णु भगवानकी मायासे बने हुए तीनों लोकोंकी मायाके स्वामी राजा श्रीरन्तिदेवके समक्ष प्रकट होकर, उन्हें लुभानेके लिए, तरह-तरहके वर देनेको तैयार होगये, लेकिन उन्होंने उन सबको नमस्कार कर विदा किया—किसीसे कुछ नहीं माँगा। राजाकी भक्तिका प्रभाव आस-पासके योगियों पर ऐसा पड़ा कि सबके सब ज्ञानका गोरखधन्धा छोड़कर नारायणकी उपासना करने लग गए।

इस सम्बन्धमें श्रीमद्भागवतका निम्नलिखित श्लोक भी द्रष्टव्य है—

नैरपेक्ष्यं परं प्राहुर्निःश्रेयसमनल्पकम्।
तस्मात् निराशिषो भक्तिर्निरपेक्षस्य मे भवेत्॥ ११-२०-३५

अत्यन्त अभिलाषा-रहित होना ही सबसे बड़ा मोक्ष है, इसलिए मेरा (भगवानका) भक्त वही हो सकता है जो कामना-रहित है और अपने लिए किसी वस्तुकी अपेक्षा नहीं रखता।

श्रीगुहजी

भक्ति-रस-बोधिनी

भीलन को राजा गुह राम अभिराम प्रीति भयो बनवासी मिल्यो मारग में आइकै।
करो यह राज जू बिराजि सुख दीजे मोको, बोले चैन-साज तज्यों आज्ञा पितु पाइकै॥
कारण वियोग अकुलात दृग अश्रुपात पाछे लोटु आत, यह सकै कौन गाइकै।
रहे नैन मूँदि "रघुनाथ बिनु देखों कहा?" अहा! प्रेम-रीति, मेरे हिये रही छाइकै॥९३॥

अर्थ—शृङ्गवेरपुरके रहनेवाले भीलोंके राजा गुहकी भगवान श्रीरामचन्द्रजीके चरण-कमलोंमें अतिशय प्रीति थी। जब प्रभु वनवासके लिये पधारे तो उनका आगमन सुनकर गुहजी मार्गमें ही उनसे मिले और प्रार्थना की—"महाराज यह राज्य आपका ही है। आप राजा बन कर यहाँका शासन कीजिए; मुझे बड़ी प्रसन्नता होगी।"

श्रीरामचन्द्रजीने उत्तरमें कहा—"मैं तो पिताकी आज्ञासे अब राजसी ठाठ छोड़ कर आया हूँ, (अतः फिर राजा बननेका प्रश्न ही नहीं उठता ।)

श्रीरामचन्द्रजीके चले जाने पर उनके वियोगमें निषादराजका मन व्याकुल रहने लगा । उनकी आँखोंसे दिन-रात आँसू बहते रहते—यहाँ तक कि रोते-रोते बादमें आँसुओंकी जगह रुधिर टपकने लगा। गुहजीकी उस अवस्थाका वर्णन करना कठिन है। वह अब अपनी आँखें बन्द किये रहते और जब कोई पूछता तो कहते—"श्रीरघुनाथजीके सिवा और भला किसे देखूँ ?" टीकाकार श्रीप्रियादासजी कहते हैं कि गुहजीके प्रेमकी यह विलक्षण रीति मेरा सर्वस्व बन कर रह गई है। मैं चाहता हूँ कि भगवानके चरणोंमें मेरी भी ऐसी अविचल प्रीति और निष्ठा हो ।

निषादराजके इस प्रसंगको महाकवि श्रीतुलसीदासने बहुत रच-पच कर लिखा है। अपने प्रभुके आगमनसे पुलकित होकर श्रीगुहने उनका चरणामृत लेनेके लिए क्या किया, वह नीचेके कवित्तमें देखिये—

प्रभु रुख पाइके बुलाय बाल घरनी कौं, बन्दि कै चरण चहूँ दिशि बैठे घेरि-घेरि ।
छोटी-सी कठौती भरि आनि पानी गंगा को, धोइ पायँ पियत पुनीत बारि फेरि-फेरि ।।
'तुलसी' सराहैं ताको भाग सानुराग, सुर बरषि सुमन जय-जय कहैं टेरि-टेरि ।
बिबिध सनेह-सानी बानी असयानी, सुनि, हँसे राघौ जानकी लषन तन हेरि-हेरि ।।

तुलसीदासजीने इस कवित्त द्वारा भक्त और भगवानके मिलनेकी एक जीती-जागती तस्वीर खड़ी कर दी है। प्रभु श्रीराम बीचमें बैठे हैं; उनके चारों ओर गुहका परिवार है। अपने इष्टदेवका चरणामृत लेनेके लिए कोई बड़ा पात्र ढूँढ़ निकालने का समय और अवकाश नहीं था, इसलिए छोटी-सी कठौती को ही लकर सबके सब व्यस्त होगए हैं। चरणामृत पीनेकी तृष्णा किसी प्रकार भी शान्त नहीं होना चाहती, इसलिए बार-बार गंगाजीमें से भरकर लाते हैं। पैर धोते जा रहे हैं और प्रेममें बेसुध होकर न-जाने क्या-क्या कह रहे हैं। श्रीरामचन्द्रजी इस भोलेपन पर न्यौछावर हो रहे हैं। बीच-बीचमें वह श्रीलक्ष्मणजी और श्रीजानकीजीकी ओर देख लेते हैं, मानों कह रहे हों—"देख लो ! इसे कहते हैं प्रेम ! इन बेचारोंके पास अभिमान करनेके लिए क्या है ?—न ज्ञान है, न कुल है, न वाणी है, न वेष है, न आचार-विचार है। इन्हें क्या यह आशा थी कि इस जन्ममें कभी मे मेरा साक्षात्कार कर सकेंगे ? परन्तु फिर भी न जाने कबसे प्रतीक्षा करते आरहे हैं। इतना दूर रह कर इतना पास होते हुए किसी को न देखा होगा !

ऐसा लगता है कि श्रीलक्ष्मणजी, श्रीजानकीजी तथा स्वर्गवासी देवताओं और मुनियोंको प्रेमका वह अलौकिक दृश्य भगवानको दिखाना था, नहीं तो ऐसा क्यों होता कि—

जासु के नाम अजामिल से खल कोटि नवी भव बूड़त काढ़े ।
जे सुमिरें गिरि मेरु सिला-कन होत, अजा-खुर बारिध बाढ़े ।।
तुलसी जिहि के पद-पंकज सों प्रगटी तटनी जु हरें अघ गाढ़े ।
ते प्रभु हैं सरिता तरिबे कहँ माँगत नाव करार पैं ठाढ़े ।।

बात यह है कि प्रेमके जगत्‌में लौकिक नियम एक भी लागू नहीं होता। प्रीतिकी परिपाटी ही विलक्षण है—

> प्रीति की रीति कछु नहिं राखति, जाति न पाँति नहीं कुल गारो।
> प्रेम के नेम कहूँ नहिं दीसत लाज न कानि लग्यो सब खारो॥
> लीन भयो हरि सौं अभ्यन्तर, आठहु जाम रहै मतवारो।
> 'सुन्दर' कोउ न जानि सकै यह प्रेम के गाँव को पैंडो हि न्यारो॥

भक्ति-रस-बोधिनी

> चौदह बरस पाछे आए रघुनाथ नाथ, साथ के जे भील कहैं—"आए प्रभु देखिये"।
> बोल्यो-"अब पाऊँ कहाँ होति न प्रतीति क्यों हूँ", प्रीति कर मिले राम, कहि "मोको पेखिये"॥
> परसि पिछाने लपटाने सुख-सागर समाने, प्राण पाये मानो भाल भाग लेखिये।
> प्रेम की जु बात क्योंहूँ बानी में समात नाहिं अति अकुलात कही कैसे के विसेखिये॥६६॥

अर्थ—चौदह वर्ष बाद पुष्पक-विमान पर चढ़कर लंकासे लौटते हुए श्रीरामचन्द्रजी जब अपने प्रिय मित्रसे मिलनेके लिए श‍ृङ्गवेरपुर उतरे, तो निषादराजके साथियोंने उन्हें दौड़कर खबर दी—"प्रभु आये हैं, उनसे मिल लीजिए।" उन्हें विश्वास नहीं हुआ। बोले—"मेरा ऐसा भाग्य कहाँ कि प्रभुको फिरसे पा जाऊँ!" (इतनेमें ही श्रीरामचन्द्रजी आ पहुँचे और भुजाओंसे गुह को भेंटते हुए बोले—"देखो, मैं आ गया हूँ!" (भगवानके वियोगमें रोते-रोते गुहजी की आँखें मारी गईं थीं, इसलिए) उनके श्रीअङ्गका स्पर्श होते ही उन्हें पहिचान लिया और प्रभुसे लिपट गए। गुहजीको ऐसा लगा जैसे वे आनन्दके समुद्रमें डुबकियाँ ले रहे हों—जैसे गए हुए प्राण फिर लौट आये हों, मानों भाग्यकी रेखाएँ अपने पूर्ण सौभाग्यके साथ चमक उठी हों। टीकाकार श्रीप्रियादासजी कहते हैं कि ऐसे अलौकिक प्रेमका वर्णन वाणी द्वारा नहीं किया जा सकता; क्योंकि उसमें इतनी शक्ति ही नहीं है कि उसे पूराका पूरा ग्रहण कर ले। वह तो मनके भावोंको शब्दोंका रूप देनेके लिए घबड़ाकर रह जाती है। ऐसेमें इस प्रेमकी विशेषता को व्यक्त करनेकी सामर्थ्य वाणीमें कहाँ?

महर्षि श्रीऋभुजी

महर्षि ऋभु ब्रह्माके मानस-पुत्र हैं। यद्यपि स्वभावसे ही ये ब्रह्म-तत्त्वज्ञ एवं निवृत्ति-परायण-भक्त हैं, तथापि सद्‌गुरु-मर्यादाकी रक्षाके लिए इन्होंने अपने बड़े भाई सनत्सुजातसे दीक्षा ली। इनकी क्रियाएँ बिलकुल सहज थीं। यहाँ तक कि मल-मूत्र त्याग एवं वस्त्र-धारणका भी इनको ध्यान नहीं रहता था। शरीरके अतिरिक्त इनकी कोई भी कुटी नहीं थी।

एक बार यों ही विचरण करते हुए ये पुलस्त्य ऋषिके आश्रममें जा पहुँचे। वहाँ

पुलस्त्यका पुत्र निदाघ वेदोंको रट रहा था। जब ऋभु उसके पास गए तो वह उठा और आगे आकर इनको प्रणाम किया। ऋभुको निदाघपर दया आगई। उन्होंने उसे अधिकारी समझकर कहा—"निदाघ! जीवनका वास्तविक उद्देश्य आत्मज्ञान प्राप्त करना है। आत्मज्ञानकी अभिलाषा और प्रयत्नसे दूर रहकर तोतेके समान केवल वेदोंका बारम्बार उच्चारण करना कोई महत्त्व नहीं रखता। तुम उस पवित्र ज्ञानके अधिकारी हो, अतः उसीका सम्पादन करो।

. महर्षिकी बात निदाघके मनमें बैठ गई। वह ब्रह्मज्ञानके लिए व्याकुल होने लगा। उसने अपने पिता का आश्रम त्याग दिया और महर्षिके साथ हो लिया। वह उनके साथ भ्रमण करता हुआ तत्त्व-ज्ञानका उपदेश प्राप्त करने लगा। निदाघको आत्म-ज्ञानका उपदेश देकर ऋभुने उसे गार्हस्थ्य-जीवनमें प्रवेश करनेकी आज्ञा दे दी। महर्षिकी आज्ञासे निदाघ पिताके आश्रमको लौट आया और अपना विवाह हो जाने पर देविका नदीके तटपर वीरनगर के पास स्थित उपवनमें आश्रम बनाकर कर्मपरायण हो गृहस्थ-धर्मका पालन करने लगा।

कुछ दिनके बाद दयालु महर्षिको अपने प्रिय शिष्यका ध्यान आया तो वे उसके घर पर आए। निदाघ उनको न पहिचान सका; फिर भी गार्हस्थ्य-धर्मके अनुसार उसने उनका अतिथि-सत्कार किया, अर्घ्य-पाद्य निवेदन कर भोजन कराया और हाथ जोड़कर बोला—"महाराज! आपकी भोजनसे तृप्ति तो हो गई न? आप आ कहाँसे रहे हैं और आपका कहाँ जाने का विचार है? आपका शुभ निवास-स्थान कहाँ पर है?"

इन सभी प्रश्नोंका उत्तर महर्षि ऋभुने तत्त्ववेत्ताके समान दिया। उन्होंने बतलाया कि 'मैं' आत्मा है। वह न कभी अतृप्त है और न कभी उसकी तृप्ति ही होती है। वह सर्वव्यापी है, अतः प्रत्येक स्थानपर आते-जाते रहने पर भी कहीं भी नहीं आ-जा पाता। वह प्रत्येक स्थानपर व्याप्त है, फिर भी उसका कोई निश्चित निवास नहीं।"

आगन्तुक महर्षिकी इन बातोंको सुनकर निदाघ बड़े प्रभावित हुए और प्रसन्न होकर उनके चरणों पर गिर पड़े। ऋभुने उन्हें बतलाया कि वे उसके गुरु हैं। निदाघने एक बार फिर परम प्रसन्न हो ऋषिके चरणोंका स्पर्श किया। इसके बाद ऋभु विदा होकर अन्यत्र विचरण करने चले गए।

बहुत दिनोंके पश्चात् एक दिन वीरपुर नरेशकी सवारी निकल रही थी। मार्गमें दर्शकों के कारण बड़ी भीड़ हो रही थी। किनारेपर निदाघ भी भीड़ निकल जाने पर अपने घर जाने की प्रतीक्षामें खड़ा था। उसी समय ऋभुजी फिर कहींसे आ निकले और इस बार स्वयं निदाघ से उस भीड़का कारण पूछा।

निदाघने उत्तर दिया—"राजाकी सवारी निकल रही है, उसीके दर्शकोंकी यह भीड़ है।"

महर्षिने फिर प्रश्न किया—"तुम तो जानकार मालूम पड़ते हो। मुझे ज़रा यह तो बतलाओ कि इस भीड़में राजा कौन सा है और दर्शक कौनसे हैं?"

निदाघ—"जो इस पहाड़के समान ऊँचे काले हाथी पर सवार है वह तो राजा है और अन्य सब दर्शक हैं!"

ऋभुजी—"मेरी समझमें नहीं आया कि हाथी कैसे नीचे है और राजा कैसे ऊपर है? साफ़-साफ़ बतलाओ।

ऋभुकी बात सुनकर निदाघने कुछ देर सोचा और फिर तुरन्त मुनिकी पीठपर उछल कर जा बैठा और बोला—"देखो! मैं राजाके समान ऊपर हूँ और तुम हाथीके समान नीचे हो।"

ऋभुने बड़ी शान्तिसे कहा—"अगर मैं हाथीके समान और तुम राजाके समान हो तो बतलाओ फिर 'मैं' और 'तुम' कौन हैं?"

इतना सुनते ही निदाघको आत्म-ज्ञानका ध्यान आगया और वह अपने गुरुको पहिचान कर उनके चरणों पर गिर पड़ा। उसने हाथ जोड़कर क्षमा माँगी और कहा—"आप मेरे गुरु ऋभु हैं; मैं आपको पहिचान नहीं पाया। आपके समान अद्वैत-संस्कार-संस्कृत चित्त किसीका नहीं है। मैंने बड़ा भारी अपराध किया है। आप तो सन्त हैं; आपका स्वाभाव क्षमाशील है। कृपाकर मेरे अपराधके लिए मुझे क्षमा कर दीजिए।"

ऋभुने फिर कहा—"संसारमें मुझे नहीं पता कि कौन अपराधी है और कौन क्षमाशील है? यदि एक वृक्षकी दो शाखायें परस्पर रगड़ खा जायँ तो इसमें कौनसीका दोष है? निदाघ! तुम आत्म-ज्ञानको व्यावहारिक रूप दो। मैंने पहले तुम्हें व्यतिरेक मार्गसे आत्माका उपदेश किया था। उसे तुम भूल गए। अब अन्वय-मार्गसे किया है। इसका पालन करो। यदि इन दोनों मार्गों पर विचार करोगे तो संसारमें रहकर भी तुम सांसारिकताके प्रभावसे अलग रह सकोगे।" इसके बाद निदाघसे अनेक प्रकारसे सत्कृत होकर ऋभुजी पुनः स्वेच्छाके अनुसार विचरण करने चले गए। उनकी कृपासे निदाघको आत्म-तत्वका बोध होगया। आज भी महर्षि ऋभु हमारे पास न जाने कब और किस रूपमें आते होंगे और न जाने कितने अज्ञानी निदाघों को उन्होंने आत्म-निष्ठ बना दिया होगा।

दूसरी कथा—दूसरे ऋभुजी एक और भी हुए हैं। ये ब्राह्मण-बालक थे। ये नित्य-प्रति प्रेमसे शिव-लिङ्गकी पूजा किया करते थे। इनकी भक्तिसे प्रसन्न होकर एक बार भगवान शंकर ने इनको प्रत्यक्ष दर्शन देकर कृतार्थ किया और वर माँगनेको कहा। बाल-बुद्धि जो ठहरी। आप बोले—"यदि आपसे भी बड़ा कोई हो तो आप मुझे उसके दर्शन कराइये। शिवजी चक्करमें पड़ गए। इतने ही में श्रीहरि वहाँ प्रकट हो गए। उनके सौन्दर्यको देखकर ऋभु चित्र-लिखे से स्तब्ध स्थित रह गए। श्रीहरिने उनसे वर-माँगनेको कहा। ऋभुजी अब क्या माँगते?

उनकी समस्त कामनाएँ आज भगवानका दर्शन करके पूरी हो गई थीं। वे प्रभुके चरणोंमें गिर पड़े और उनकी अनेक प्रकारसे स्तुति करके मौन हो गए। फिर दूसरे ही क्षण बोले—"भगवन्! मुझे अपनी अनपायिनी भक्ति देकर कृतार्थ कीजिए।" श्रीहरि 'तथास्तु' कहकर अन्तर्धान होगए।

श्रीइक्ष्वाकुजी

इनकी उत्पत्ति सूर्य-वंशमें उत्पन्न होने वाले महाराज मनुकी नासिकासे हुई थी। ये बड़े प्रतापी थे। इनके सौ पुत्र थे। महाराज इक्ष्वाकुने अनेकों यज्ञोंका अनुष्ठान किया। एक बार ये अष्टका-श्राद्ध कर रहे थे। उसमें पवित्र पशुओंके मांसकी आवश्यकता पड़ी। महाराजने अपने पुत्र विकुक्षिको आज्ञा दी—"बेटा! जल्दीसे जाकर श्राद्धके योग्य पवित्र पशुओंका शिकार करके मांस ले आओ। विकुक्षि शिकारके लिए जंगलकी ओर चल दिए। वहाँ उन्होंने कितने ही पवित्र पशुओंका वध किया। जब ये लौटने लगे तो परिश्रमके कारण उनका शरीर चूर-चूर हो रहा था। भूख भी लग आई थी। वे इस बातको भूल गए कि श्राद्धके लिए लाए पशुओंको स्वयं न खाना चाहिए और एक खरगोशको खाकर अपनी भूख शान्त कर ली। विकुक्षिने बचा हुआ मांस लाकर अपने पिताजी को दे दिया। इक्ष्वाकुने अपने गुरुजीसे उसे प्रोक्षण करनेको कहा तो उन्होंने बतलाया कि यह मांस तो दूषित एवं श्राद्धके अयोग्य है। गुरुजीके बतलाने पर राजाको अपने पुत्रकी करतूतका पता लग गया। उन्हें शास्त्रीय विधिका उल्लंघन करने वाले अपने पुत्र पर बड़ा क्रोध आया और उसे देशसे निकाल दिया। इसके अनन्तर गुरुदेवने इक्ष्वाकुसे ज्ञान-चर्चा की। उस परम-ज्ञानको प्राप्त करके उन्होंने योगाभ्यास द्वारा अपने शरीरको त्याग दिया और परमधाममें जाकर निवास करने लगे।

श्रीपुरूरवाजी

यह बुधके पुत्र थे; माताका नाम था इला। इसीसे इन्हें 'ऐल' भी कहा जाता है। इनके रूप, गुण, उदारता और पराक्रमकी प्रशंसा सुनकर उर्वशी नामक अप्सरा इनपर मुग्ध होगई। मित्रावरुणके शापसे उर्वशीको जब पृथ्वीतल पर आना पड़ा, तब वह पुरूरवाके साथ रहने लगी, लेकिन उसकी दो शर्तें थीं। पहिली तो यह कि वह जिन दो भेड़के बच्चोंको अपने साथ लाई थी और पुत्रवत् मानती थी, उनकी रक्षाका भार राजा अपने सिरपर ले। दूसरी यह कि वह राजाको कभी नग्न-अवस्थामें न देखे। पुरूरवाने दोनों शर्तें स्वीकार कर लीं।

इसी बीचमें इन्द्र उर्वशीके विरहमें व्याकुल हो उठे और गन्धर्वोंको बुलाकर आज्ञा दी कि जैसे बने, उर्वशीको लाया जाय। इन्द्रकी आज्ञासे गन्धर्व भेड़के बच्चोंको आधी रातमें चुरा

कर ले चले । उधर बच्चोंकी पुकारसे पुरूरवा सोतेसे जाग पड़े और तलवार लेकर नंगे ही गन्धर्वोंके पीछे भागे । गन्धर्वोंने बच्चोंको तो छोड़ दिया, लेकिन बिजली चमका कर नग्न पुरूरवाको उर्वशीको दिखला दिया । परिणाम यह हुआ कि प्रतिज्ञा-भंग हो जानेके कारण उर्वशी राजाको छोड़कर चली गई ।

राजा उसे खोजते-खोजते कुरुक्षेत्र पहुँचे और लौट चलनेके लिए उससे तरह-तरहसे अनुनय-विनय किया । उर्वशीने कहा—"राजन् ! स्त्रियोंका विश्वास करके तुमने बड़ी भूल की । ये किसीकी सगी नहीं होतीं । अपने जरासे स्वार्थके लिए ये अपने पति और भाइयोंको मरवा डालती हैं । इनकी मायासे तुम छूटनेकी चेष्टा करो ।"

राजा फिर भी नहीं माने । तब उर्वशीने प्रतिज्ञा की कि मैं साल-भर बाद तुम्हारे पास एक रातके लिए फिर आऊँगी और तुम्हारे लिए कई पुत्रोंको जन्म दूँगी । राजा चले गए । एक साल बाद उर्वशी फिर आई और राजाको विरहसे अत्यन्त व्याकुल देखकर बोली—"इन गन्धर्वोंकी कृपासे तुम मुझे प्राप्त कर सकते हो ।" गन्धर्वोंसे याचना करने पर उन्होंने राजाको आगकी एक स्थाली (चरु पकानेका पात्र-विशेष) दी । राजा इतने मूढ़ हो गये थे कि उस पात्रको ही उर्वशी समझ कर बहुत दिनों तक जंगलोंमें घूमते रहे । अन्तमें जब उन्हें ज्ञान हुआ, तो स्थालीको एक पीपलके पेड़के नीचे रख कर घर लौट गये । त्रेतायुगके प्रारम्भ होने पर राजाने उसी पीपलके पेड़के नीचे पहुँच कर पीपल और शमी (छोंकरा) की लकड़ियोंसे अरणी (आग पैदा करने का यन्त्र) बनाया और आग पैदा की । इसके बाद त्रयी विद्याकी सहायतासे अग्निमें पुत्रकी भावना की और श्रीविष्णुभगवानका यज्ञ किया । कहते हैं, सत्युगमें प्रणवरूप (ओंकार) एक वेद था, एक ही नारायणदेव थे, एक ही अग्नि थी और हंसस्वरूप एक ही वर्ण था । त्रेतामें राजसगुण प्रधान होनेके कारण यज्ञादि कर्मोंका अनुष्ठान करनेके लिए पुरूरवाने आहवनीय आदि तीन प्रकारकी अग्नियोंको जन्म दिया और वेदका तीन भागों में विभाजन किया । इस प्रकार यज्ञेश्वरकी आराधना में अपना शेष जीवन बिता कर पुरूरवा अपनी प्रजा-सहित-गन्धर्वलोकको चले गए ।

श्रीगाधिजी

यह बड़े तपस्वी थे । विश्वामित्र ऋषि आपके ही पुत्र थे । जमदग्नि-ऋषि गाधि-ऋषिके दौहित्र (धेवते) थे । जमदग्निके ही परशुराम हुए, जिन्होंने इकीसवार क्षत्रियोंका संहार कर अपना बदला लिया ।

श्रीरघुजी

महाराज रघु इक्ष्वाकु-वंशीय राजा दिलीपके पुत्र थे। दिलीपने महर्षि वशिष्ठकी गाय-नन्दिनीकी सेवा करके इन्हें प्राप्त किया था। महाराज रघुने कितने ही अश्वमेध यज्ञ किए। एक-बार जब आप यज्ञ कर रहे थे तो इन्द्र यज्ञाश्वको चुरा ले गया। रघुने उसका पीछा किया। वे इन्द्रसे बड़ी वीरतासे लड़े। महाराज रघु जब किसी प्रकार परास्त होते दिखाई नहीं दिए तो इन्द्रने अपने वज्रका प्रयोग किया। वज्रकी चोटसे मूर्छित होकर रघु संग्राम-भूमिमें गिर पड़े, परन्तु थोड़ी देर बाद जब उन्हें होश आया तो वे फिर युद्धके लिए उद्यत हो गए। रघुकी इस वीरतासे इन्द्र बड़े प्रसन्न हुए और उन्हें इन्द्रासनको छोड़कर शेष सब यज्ञका फल दे दिया।

महाराज रघुने अपने शासन-कालमें अनेकों प्रकारके यज्ञ किए। एक-बार विश्वजित्-यज्ञमें अपना समस्त धन इन्होंने दान कर दिया। इनके स्वयंके पास भी नित्यके व्यवहारके लिए केवल मिट्टीके बर्तन ही शेष रह गए थे। उसी समय वरतन्तुका शिष्य कौत्स अपनी गुरु-दक्षिणाके लिए चौदह कोटि-भार स्वर्ण माँगनेके लिए इनके पास आया। जब उसने महाराजके पास प्रवेश किया तो उनको पूर्णरूपेण अर्थहीन एवं निष्किञ्चन देखकर उसका साहस यह न हुआ कि गुरु-दक्षिणाके लिए उनसे याचना करे और वह राजा रघुको बिना कुछ अपना अभिप्राय बताए ही लौटने लगे। महाराजने उन्हें रोका और उनसे आनेका कारण पूछा।

ब्राह्मण-कुमारने कहा—"महाराज! मैंने आपकी दानशीलताके बारेमें सुना था, आप अद्वितीयदानी हैं किन्तु यहाँ आकर मुझे मालूम पड़ा कि आपने विश्व-जित् यज्ञमें अपना समस्त धन याचकोंको दानकर दिया है और अब कुछ भी शेष नहीं है। ऐसी दशामें शायद आप मेरा मनोरथ पूरा न कर सकें।"

राजाने कहा—"नहीं ब्राह्मण-कुमार! आप मुझे अपना अभिप्राय बतलाइए; मैं अवश्य उसे पूरा करनेकी कोशिश करूँगा।"

कौत्सने कहा—"राजन्! गुरुदेवके चरणोंमें रहकर जब मैं समस्त विद्याओंको प्राप्त कर चुका तो मैंने गुरुजीसे प्रार्थनाकी कि वे अन्य छात्रोंके समान मुझसे भी गुरु-दक्षिणा ग्रहण करें; किन्तु मेरे द्वारा की गई गुरु-सेवाको ही उन्होंने गुरु-दक्षिणा मानकर मुझसे गुरु-दक्षिणाके लिए आग्रह न करनेको कहा। मैंने समझा कि गुरुदेव मुझे गरीब जानकर मेरी उपेक्षा कर रहे हैं, अतः मैंने गुरु-दक्षिणा माँगनेपर विशेष जोर दिया। इस प्रकार अतिशय आग्रहसे गुरुजीको कुछ क्रोध आ गया और बोले—"अच्छा, नहीं मानता है तो चौदह कोटि सुवर्ण-मुद्राएँ हमको लाकर दे। राजन्! मैं इसी राशिके लिए आपके पास आया था।"

महाराज रघुने कहा—"यदि क्षत्रिय-राजाके दरवाजेसे एक विद्वान् ब्रह्मचारी ब्राह्मण निराश लौटे तो उसके राज-पाट धन-धान्य और कोषको सौ-बार धिक्कार है! आप कुछ समय तक प्रतीक्षा कीजिए; मैं कुबेर पर चढ़ाई कर आपकी गुरु-दक्षिणाका प्रबन्ध करूँगा।"

सेनाध्यक्षोंको सेना सजानेकी आज्ञा दी गई । बातकी बातमें सब सैनिक तैयार हो गए । दूसरे दिन प्रातःकाल चलनेका निश्चय किया गया । सवेरा हुआ तो कोषाध्यक्ष रघुके पास आया और बोला—"महाराज ! आपके पराक्रमसे स्वयं भयभीत हो रातमें कुबेरने अपार स्वर्णकी वर्षा की है । अब आपको उसपर आक्रमण करनेकी आवश्यकता नहीं है ।"

महाराज रघु कोषागारमें गए तो उन्हें चारों ओर असंख्य स्वर्ण-मुद्राएँ दिखाई दीं । उन्होंने सब मुद्राओंको घोड़े, ऊँट और खच्चरों पर लदवाया और ब्राह्मण-कुमारके सामने पहुँचा दिया ।

ब्राह्मण-कुमारने देखा कि मुद्राएँ तो नियत संख्यासे बहुत अधिक हैं । वे राजासे कहने लगे—"महाराज ! मैं इतनी स्वर्ण-मुद्राओंका क्या करूँगा ? मुझे तो केवल चौदह कोटि की ही आवश्यकता है ।"

राजाने कहा—"ऋषिकुमार ! आपने ठीक कहा; किन्तु ये सब स्वर्ण-मुद्राएँ केवल आपके ही लिए आई हैं । आपके निमित्त आए धनका प्रयोग अगर मैं करता हूँ, तो मुझे न-जाने कौन-सा नरक भोगना पड़ेगा ।"

ऋषिकुमारने बहुत मना किया, परन्तु महाराजने उस धनको स्वीकार न किया । अन्तमें चौदह कोटि स्वर्ण-मुद्राएँ तो ब्राह्मण-कुमार ले गए और शेष धनको महाराजने अन्य ब्राह्मणोंको लुटा दिया । ऐसा दाता कौन होगा जो याचकोंके मनोरथ इस प्रकार पूर्ण करे ?

महाराज रघुका सर्वस्व दानके लिए ही था । एक बार इनकी सुन्दरी स्त्रीपर किसी ब्राह्मण की दृष्टि पड़ गई । ब्राह्मण शिवका उपासक था । राज-महिषीके समान सुन्दर युवतीकी प्राप्ति असम्भव समझ कर वह अपने आराध्यके सम्मुख गया और वैसी ही सुन्दर स्त्रीके पानेकी अभिलाषासे अपना मस्तक काट कर मरने लगा । महाराजको इसका समाचार मिला । उन्होंने राज्य-सहित अपनी स्त्रीको ब्राह्मण-देवके लिए सौंप दिया ।

इस प्रकार एक नहीं, अनेकों प्रकारसे प्रजा-जनोंकी मनोकामनाको पूरा करते हुए महाराज रघुने इस धरतीपर शासन किया । अन्तमें समस्त राज्य-भार अपने पुत्र अजपर छोड़कर आप भगवानका भजन करनेके लिए वनमें चले गए ।

श्रीगयजी

श्रीगयजी भगवानके परम-भक्त श्रीप्रह्लादजीके वंशमें पैदा हुए थे । उन्हें श्रीप्रह्लादजीके निम्नलिखित उपदेशपर पूरा विश्वास था—

> नालं द्विजत्वं देवत्वमृषित्वं वासुरात्मजाः ।
> प्रीणनाय मुकुन्दस्य न वृत्तं न बहुज्ञता ॥ (श्रीमद्भा० ७।७।५१)

—भगवान मुकुन्दको प्रसन्न करनेके लिए केवल द्विज (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) होना ही पर्याप्त नहीं है और न देवता अथवा ऋषि होना ही। क्योंकि वे दयामय न तो सूखे सदाचारसे प्रसन्न होते हैं, न बहुतसे शास्त्रोंके ज्ञान से।

इसी कारण वे सब कुछ त्यागकर भगवानको प्रसन्न करनेके लिए तपस्या करने लगे। उनकी तपस्या बड़ी कठोर थी। वे सहस्रों वर्षों तक एक पैरसे खड़े रहे। उनका चित्त भगवान में लग गया था और हृदयमें उनकी माधुरीका साक्षात्कार हो जानेके कारण उनका रोम रोम प्रसन्न हो रहा था। उस रसके कारण, दीर्घ कालसे बिना कुछ खाए ही, उनका शरीर हृष्ट-पुष्ट एवं तेजस्वी रहता था। उनके शरीरसे निकलनेवाले किरण-पुञ्जसे दिशाएँ आलोकित रहती थीं। अनेक बार ब्रह्मा एवं शङ्कर उन्हें विभिन्न प्रकारके लालच एवं वरदान देनेके लिए आए, किन्तु गयजीको उस आनन्दके सामने कोई भी वस्तु ऐसी न लगी कि जिसके लिए वे इनसे याचना करते। उनका तो यह विचार था कि सदा-सर्वदा अनन्तकाल तक इसी प्रकार हृदयस्थ भगवान की माधुरीका आस्वादन करते रहें।

इस कठोर तपस्या और नित्यप्रति बढ़ते हुए दिव्य तेजको देखकर इन्द्रके हृदयमें अनेक प्रकारकी शङ्काएँ होने लगीं। इसी भयसे वह कई बार इनकी तपस्याको समाप्त करने एवं इनका अन्त करनेके लिए स्वयं आया और अपने अन्य सहयोगियोंको भेजा; परन्तु उनके प्रयत्नोंका प्रभाव श्रीगयजी पर कुछ भी न पड़ा। उनके अस्त्र-शस्त्र भक्तके शरीरका स्पर्श पाते ही टुकड़े हो जाते थे। न तो गयके शरीरपर उनका कुछ प्रभाव ही होता था और न इनके हृदयमें इनके प्रति क्रोध या प्रतिक्रियाके भाव ही पैदा होते थे; क्योंकि उनको इन सब बातोंका ध्यान ही नहीं था।

इस प्रकार गयका तेज बढ़ता ही गया। ब्रह्माजीको बड़ी चिन्ता होने लगी। कहीं ऐसा न हो कि इस तेजके बढ़ने से सत्त्व-गुणकी वृद्धि सीमा पार कर जाय एवं सृष्टिके रजोगुण और तमोगुण बिलकुल नष्ट हो जायँ और अकालमें ही प्रलयकी तैयारी हो जाय। वे भगवानके पास गए और चिन्ताका कारण उन्हें बतलाया। विश्व-नियन्ताने इसका उपचार बतला दिया और ब्रह्माजी श्रीगयके पास आकर बोले—"असुरराज! तुम तो मुझसे कोई वरदान माँगते नहीं, किन्तु आज मैं तुमसे एक वरदान माँगने आया हूँ। मुझे यज्ञ करना है। मैं देखता हूँ धरतीका कोई भी भाग इतना पवित्र नहीं जितना कि तुम्हारा यह शरीर, अतः मैं इसको भूमिके-रूपमें प्रयुक्त करना चाहता हूँ।"

गयने कहा—"प्रजापति! मेरे शरीरका इससे श्रेष्ठ उपयोग क्या होगा? इस कार्यके लिए आप मेरे शरीरको काममें ला सकते हैं।" इतना कहकर वे लेट गए। ब्रह्माजीने वेदी तैयार की, यज्ञ प्रारम्भ किया और ऋषियोंके साथ सैकड़ों वर्षों तक इस यज्ञको करते रहे। गयजी बिना हिले-डुले शान्त पड़े रहे। जब उस यज्ञकी समाप्ति हुई तो उन्होंने उठना चाहा। ब्रह्माजीके

आश्चर्यकी सीमा न नहीं रही। इतने समय तक शरीरपर अग्नि जलती रहने पर भी गयका अङ्ग बिलकुल नहीं जला था। सृष्टिकर्ताको बड़ा भय हुआ। उन्होंने फिर भगवानको पुकारा। भगवानकी प्रेरणासे समस्त देवता अपना विशालरूप धारण करके गयके प्रत्येक अङ्गपर आकर स्थित हो गए और साक्षात् भगवान गदा लेकर उनकी छातीपर आ जमे। यह सब देखकर गयने कहा—प्रजापति! अगर मैं चाहूँ तो इस स्थितिमें भी उठ सकता हूँ, क्योंकि इन्हीं भगवानकी कृपासे मुझे पहले अपरिमित बल प्राप्त हो चुका है; किन्तु मैं ऐसा करूँगा नहीं। जब तक मेरे स्वामी मेरे वक्षपर स्थित हैं तब तक मैं हिल भी नहीं सकता, क्योंकि यह मेरे स्वामीका अपमान होगा। हाँ, यदि मेरे आराध्य ऊपरसे हट जाँय तो मैं तुरन्त उठ सकता हूँ। आप लोगोंमें से किसीकी शक्ति नहीं कि मुझे दबा सके।" गयकी यह बात सुनकर भगवानको प्रसन्नता हुई। उन्होंने उनसे वर माँगनेको कहा। गयने वरदानमें माँगा—"भगवन्! जो कोई मेरे शरीरपर अपने पितरोंको पिण्ड दान करे, उसके पितर मुक्त हो जायँ। भगवानने उनको ऐसा ही वरदान दिया। तभीसे गयका शरीर स्वयं ही एक तीर्थ हो गया और भगवान हमेशा उनके हृदय-प्रदेशपर विराजमान रहते हैं।

× × × ×

श्रीमद्भागवतमें भी एक दूसरे गयका वृत्तान्त वर्णित है। ये गय प्रियव्रतजीके वंशमें पैदा हुए थे। इनके पिताका नाम श्रीद्युति था। इनके उदार गुणोंके कारण श्रीमद्भागवतमें इनको विष्णुका अवतार माना गया है। प्रारम्भसे ही ये प्रजाका पालन सच्चे हृदयसे किया करते थे। इन्होंने अपने जीवन-कालमें अनेकों यज्ञ किए और ब्रह्मज्ञान प्राप्त किया। इसके बाद ब्रह्म-ज्ञानियोंकी सेवामें रात-दिन लगे रहनेपर इनके मनमें भक्तिका प्रादुर्भाव हुआ और इन्होंने सम-दृष्टि प्राप्त की। इस सम-भावके कारण अपने-पराएकी भावनाके समाप्त हो जानेपर इनके हृदयका अभिमान बिलकुल जाता रहा और अब ये भगवानके भजनमें रात-दिन लगे रहने लगे। श्रीमद्भागवतमें इनकी प्रशंसा करते हुए श्रीशुकदेवजीने कहा है—

गयं नृपः कः प्रतियाति कर्मभिर्यज्वाभिमानी बहुविद्धर्मगोप्ता।
समागतश्रीः सदसस्पतिः सतां सत्सेवकोऽन्यो भगवत्कलामृते॥ (श्रीमद्भा० ५।१५।६)

—ऐसा कौनसा राजा है जो महान् ज्ञानी और धर्मकी रक्षा करनेवाले महाराज गयकी बराबरी कर सके? वे सज्जनोंके सेवक थे, इसी कारण लक्ष्मीवान् थे। उन्हें तो भगवानकी कला ही समझना चाहिए।

श्रीशतधन्वाजी

श्रीशतधन्वाजी श्रीकृष्णकी पत्नी सत्यभामाके पिता सत्राजित्के भाई थे। सत्राजित्के पास स्यमन्तक-मणि थी और वे कृष्णके सम्बन्धी थे, इस लिए शतधन्वा इनसे शत्रुता मानते थे।

एक-बार जब भगवान श्रीकृष्ण श्रीबलरामजीके साथ हस्तिनापुर गए हुए थे, तब अक्रूर और कृतवर्मा शतधन्वाके पास आकर कहने लगे—"इस समय सत्राजित् अकेला है। ऐसे में जाकर उससे स्यमन्तक-मणि क्यों नहीं छीन लेते ? देखो ! यह बड़ा नीच है। उसने अपनी कन्या सत्यभामाका विवाह हमसे करनेका वचन दिया था, पर अपमान करके उसने उसे श्रीकृष्णको ब्याह दिया है। इस नीचताके बदले तुम उसको मारकर स्यमन्तक-मणि ले लो।"

अक्रूर और कृतवर्माके बहकानेमें शतधन्वा आ गए और वे सोते हुए सत्राजित्को मारकर मणि लेकर चम्पत हो गए। सत्यभामाको पिताके मारे जानेका बड़ा शोक हुआ। वह अनेकों प्रकारसे विलाप करती हुई श्रीकृष्ण भगवानके पास हस्तिनापुर गईं और अपने पिताकी हत्याका सब हाल उनको कह सुनाया।

श्रीकृष्ण एवं बलरामको बड़ा दुःख हुआ। वे सत्यभामाके साथ द्वारका लौट आए और शतधन्वाको मारनेकी योजना बनाने लगे। जब शतधन्वाको श्रीकृष्णके आगमन एवं उनकी इच्छाका पता लगा तो वे अत्यन्त घबड़ाए और कृतवर्मा एवं अक्रूरके पास जाकर सहायता माँगी। पर श्रीकृष्णके सामने युद्ध करनेसे दोनोंने मना कर दिया। जब इस प्रकारका कोरा उत्तर शतधन्वाको मिला तो वे विचलित हो गए और उनकी आँखोंके सामने मृत्युका भय नाचने लगा। उन्होंने मणि अक्रूरके पास जमा कर दी और स्वयं तेज चलनेवाले घोड़ेपर सवार होकर अपनी जान बचानेके लिए भाग निकले। श्रीकृष्ण और बलरामने उनका पीछा किया। वे भी वेगसे चलनेवाले घोड़ोंके रथमें बैठकर चल दिए। मिथिलाके पास एक उपवनमें आकर शतधन्वाका घोड़ा गिर पड़ा। यह देख वे भयसे काँपने लगे। श्रीकृष्ण और बलरामने जब उन्हें पैदल भागते देखा तो वे भी रथसे उतरकर उनके पीछे पैदल ही भागने लगे। श्रीकृष्णने अपना सुदर्शनचक्र उनकी गर्दनमें फेंक कर मारा तो सिर कटकर जमीन पर गिर पड़ा। शतधन्वा कृतार्थ हो गए। मरते समय चारों ओर उन्हें सैकड़ों कृष्ण और सुदर्शनचक्र नजर आने लगे। मरने के बाद भगवान् की अहैतुकी कृपासे वे दिव्य-धाममें चले गए।

श्रीदेवलजी श्रीअमूर्तजी

श्रीदेवलजी ब्राह्मण-कुमार थे। इनका मन बाल्यकालसे ही भगवानकी भक्तिमें लीन रहता था। ये बड़े सदाचारी, धर्मात्मा, ज्ञान-सम्पन्न, भगवन्निष्ठ और परोपकारी थे। ये रात-दिन मनमें भगवानकी मधुर लीलाओंका चिन्तन एवं ध्यान किया करते थे। वे सदा मौन ही रहा करते थे। श्रीअमूर्तजी भी परम निष्ठावान् भक्त थे। इनको हरिदास भी कहते हैं। ये भी रात-दिन भगवानके ध्यानमें मस्त रहा करते थे। इन दोनों महात्माओंकी बाल्यकालसे ही भगवानमें सहज प्रीति थी।

श्रीरयजी

ये महाराज पुरूरवाके पुत्र थे । इनकी माता उर्वशी नामकी अप्सरा थी । इनके जय, विजय, आयु, श्रुतायु, सत्यायु—ये पाँच भाई और थे । रय अपने सब भाइयोंमें प्रतापी और ज्ञानी थे । इनको भगवानकी विशेष कृपा प्राप्त थी ।

भक्त-मुनि उतङ्क

सौवीर नगरमें एक सुन्दर बगीचा था । उसमें एक बड़ा भव्य एवं विशाल विष्णु-भगवानका मन्दिर था । महात्मा उतङ्क उस बगीचेमें रहकर मन्दिरमें भगवान विष्णुकी पूजा किया करते थे । वे भगवानकी सेवामें रात-दिन लगे रहनेवाले परम-शान्त, निस्पृह, दयालु और महात्मा थे ।

एक दिन कणिक नामका व्याध-डाकू मन्दिरके सामनेसे निकलकर जा रहा था । उसकी दृष्टि मन्दिरके ऊपर लगे हुए स्वर्ण-कलश पर पड़ी । उसे देखकर कणिकने अनुमान लगाया कि मन्दिरके अन्दर अपार धन-सम्पत्ति होगी । रात में वह मन्दिरमें घुस गया । महात्मा उतङ्क उस समय भगवानके ध्यानमें निमग्न होकर उनका भजन कर रहे थे । डाकूने देखा कि जागते हुए व्यक्तिके सामने से धन ले जाना बड़ा मुश्किल है, अतः मुनिको मार डालनेके लिए उसने तलवार खींच ली, पर उतङ्कजीका ध्यान न टूटा । वे उसी प्रकार शान्त बैठे रहे । यह देख कणिक आगे बढ़ा और महात्माकी छाती पर लात मारकर उन्हें पीछे पटक दिया । उसने एक हाथसे उनकी चोटी पकड़ी और दूसरे हाथ में तलवार लेकर उनका मस्तक काटनेको तैयार हो गया । महात्माजी न तो डरे ही और न किसी प्रकारका क्रोध ही दिखलाया । उन्होंने अपनी आँखें खोलीं और सामान्य दृष्टिसे केवल डाकूकी ओर देखा । उतङ्ककी नजर से नजर मिलते ही डाकू व्याकुल-सा हो गया और उनके शरीरसे दूर हटकर बड़े आश्चर्य से उनकी ओर देखने लगा ।

उतङ्कने बड़े मीठे शब्दोंमें डाकूसे कहा—"भद्र ! मैंने तुम्हारा क्या अपराध किया है, जो तुम मुझको मारनेको उद्यत हो ? सज्जन लोग तो पापीको भी नहीं मारते । उनका क्रोध पापीके पापको नष्ट करनेवाला होता है, पापीको नहीं, फिर तुम तो अकारण ही शक्ति-हीन और निर्दोष मानवको सताते हो । क्या इसमें भी आप अपने किसी विशेष कल्याणकी आशा करते हैं ? भगवान तो ऐसे व्यक्तिसे प्रसन्न होते हैं जो अपकारीके प्रति भी उपकार कर सके, सतानेवाले की भी मङ्गल-कामना करे । पाप करनेके लिए तो पृथ्वीपर अनन्त योनियाँ हैं । यह मानव-शरीर तो भगवान कृपा करके इसलिए देते हैं कि जीव अपने आपको पापसे बचा सके और यदि यह मानव शरीर भी पाप करनेमें लगा दिया जाय तो बड़ा अनर्थ हो जायगा । यदि तुम मनुष्य [illegible]

और आत्मिक शान्ति चाहते हो तो मद, मोह और अभिमानका त्याग कर भगवानका भजन करो। तभी तुम्हारा मानव-देह सफल होगा और तुम्हारा कल्याण होगा।

मुनि उतङ्ककी इस अमृतमयी वाणी का प्रभाव डाकूपर ऐसा पड़ा कि उसका हृदय बिलकुल पलट गया। पहले किए पापोंका पश्चात्ताप करके वह रोने लगा। उसके शरीरमें रोमाञ्च हो गया, अङ्ग-अङ्ग काँपने लगा। जब वह इस पश्चात्तापकी जलनको न सह सका तो मुनिके चरणोंसे लिपट गया और उनसे क्षमा माँगने लगा। ऐसा चमत्कार था महात्मा उतङ्क की वाणीमें कि उसने पापकी ओर द्रुत गतिसे बहनेवाले हृदयको एक पलमें ही पुण्यकी ओर मोड़ दिया, दुःख और दाहकी ओर बढ़नेवाली आत्माको अक्षय आनन्द-सिन्धुके किनारे लाकर खड़ा कर दिया। किन्तु डाकूका वह पापी शरीर उस आनन्दका अधिकारी कैसे हो सकता था? प्राणोंने उसे त्याग दिया। मुनिने भगवानका चरणामृत मृत शरीर पर डाला तो डाकू उनके सामने दिव्य-देह धारण करके खड़ा हो गया और उनकी स्तुति करने लगा। उसी समय भगवानके पार्षद विमान लेकर आ गए। दिव्य-वेषधारी कणिकने एक बार फिर महात्माजीसे क्षमा माँगी और विमानमें चढ़कर भगवानके नित्यधाममें चले गए।

दयामय भगवानके इस दिव्य कौतुकको देखकर उतङ्क चकित रह गए और अनेकों प्रकार की दिव्य स्तुतियोंसे उनकी प्रशंसा करने लगे। उनके हृदयमें भक्तिका आविर्भाव होते ही कण्ठ गद्-गद् हो गया और शरीर पुलकित होने लगा। भक्तिप्रिय माधव उसी समय परम-लावण्य-मय तेज-युक्त रूपसे उतङ्कके सामने प्रकट होगए। उनकी रूप-राशिको देखकर महात्माका कण्ठ रुँध गया, आँखोंसे प्रेमाश्रु बहने लगे और वे मुंहसे केवल इतना ही कह सके—"मुरारे! रक्षा करो!! रक्षा करो!!!" भगवानने प्रसन्न हो कर उनसे वरदान माँगनेको कहा तो उन्होंने बड़ी नम्रतासे कहा--

> किं मां मोहयसीश त्वं किमन्यैर्देव मे वरैः।
> त्वयि भक्तिर्दृढा मेऽस्तु जन्मजन्मान्तरेष्वपि॥

—हे भगवन्! आप इस प्रकार वरदानोंकी बातसे मुझे क्यों मोहित करते हैं? मैं तो केवल यही चाहता हूँ कि जन्म-जन्मान्तरोंमें जहाँ-कहीं भी जन्म लूँ, आपकी दृढ़-भक्ति मेरे अन्तरमें प्रवाहित होती रहे।

भगवान ऐसा ही वर देकर मुनिके द्वारा सत्कृत हो अन्तर्धान हो गए और मुनि भगवान की भक्तिमें तल्लीन रहने लगे। समय आनेपर वे भी दिव्यरूप धारणकर भगवद्धाममें चले गए।

श्रीनहुषजी

सूर्यवंशी श्रीनहुष अयोध्याके राजा थे। आप सौ अश्वमेध यज्ञ पूरे कर लेने पर स्वर्गपर राज्य करने लगे। उस समय इन्द्र मुनि गौतमके शापसे भागे-भागे डोल रहे थे। इन्द्रका पद प्राप्तकर नहुषको बड़ा अभिमान हो गया और उन्होंने इन्द्राणी को अपनी पत्नी बनाकर रखनेका निश्चय

किया। इस आशयका सन्देश उन्होंने इन्द्राणीके पास जब भेजा, तो उन्होंने कहला भेजा कि नहुष अपनी पालकीमें सप्तर्षियोंको लगाकर यदि आवें तो मैं उन्हें पतिरूपमें स्वीकार कर लूँगी। नहुष इन्द्राणीकी चालको न पहिचान सके और सप्तर्षियोंसे अपनी पालकी उठवा कर चले। इधर नहुषको इन्द्राणीके पास पहुँचनेकी जितनी जल्दी थी, उधर ऋषिगण उतना ही धीरे पालकी को लेकर चलते थे। यह देख कर नहुषको क्रोध आगया और ऋषियोंसे चिल्लाकर उन्होंने कहा—"सर्प! सर्प!!"—अर्थात् 'जल्दी चलो।' इसी समय उनका पैर किसी ऋषिके कन्धे से छू गया और उसने शाप दे दिया—'सर्पो भव', अर्थात्—'सर्प हो जा।' यह कहते ही नहुष सर्प होकर मृत्युलोकमें आगए। बादमें श्री युधिष्ठिरने उनका उद्धार किया।

श्रीययातिजी

ये श्रीनहुष राजाके पुत्र थे। एक दिन शिकारके लिए वनमें विचरते हुए उन्होंने शुक्राचार्य की पुत्री देवयानीको कुएँमेंसे निकाला और उसीसे विवाह कर लिया। असुरोंके राजाकी पुत्री शर्मिष्ठा और असुरोंके गुरु शुक्रकी कन्या देवयानी दोनों सहेलियाँ थीं। एक दिन दोनों जब किसी जलाशयमें स्नान कर रही थीं, तब गलतीसे शर्मिष्ठाने देवयानीके कपड़े पहिन लिए। देवयानी इस पर बहुत रुष्ट हुई और उसने शर्मिष्ठाको बहुत फटकारा। शर्मिष्ठाने उसे उठाकर एक कुएँमें धकेल दिया।

ययाति द्वारा कुएँमेंसे निकाले जानेपर देवयानीने अपने पितासे सब वृत्तान्त कहा। उधर दानवेन्द्रको जब यह मालूम हुआ, तो वह शुक्राचार्यके पैरोंपर गिर पड़ा और क्षमा करने की प्रार्थना की। देवयानीने इसपर एक शर्त रक्खी—वह यह कि जिससे वह विवाह करे उसीके यहाँ शर्मिष्ठा उसकी दासी बनकर रहे। निदान शर्मिष्ठाको देवयानीकी परिचारिका बनकर ययातिके यहाँ रहना पड़ा। संयोगसे ययातिका शारीरिक सम्बन्ध शर्मिष्ठासे हो गया और उसके तीन पुत्र हुए—द्रुह्यु, अनु और पूरु। इस बीचमें देवयानी नाराज होकर अपने पिताके घर चली गई। शुक्राचार्यको भी बड़ा रोष आया और उन्होंने शाप देकर ययातिको बुड्ढा बना दिया।

लेकिन ययातिकी भोगेच्छा अभी शान्त नहीं हुई थी। उन्होंने एक-एक करके अपने दोनों बड़े पुत्रोंसे उनकी जवानी माँगी, लेकिन उन्होंने देना स्वीकार नहीं किया। अन्तमें राजाने अपने सबसे छोटे पुत्र पूरुके समक्ष भी वही प्रस्ताव रक्खा। पितृभक्त पूरुने खुशी-खुशी अपना यौवन पिताको दे दिया और स्वयं वृद्ध होकर भगवानका भजन करने लगा।

एक हजार वर्ष तक ययातिने अपने पुत्रके यौवनसे सांसारिक भोगोंको भोगा, पर उनकी तृप्ति नहीं हुई। इस पर उन्हें बड़ा वैराग्य हुआ और अपने कनिष्ठ पुत्रसे अपना बुढ़ापा माँगकर वनमें तपस्या करनेके लिए चले गए। वहाँ संसारके यावन्मात्र विषयोंसे अपना मन खींचकर

उन्होंने भगवान वासुदेवमें लगा दिया और अन्तमें भगवद्धामको प्राप्त हुए। यह चरित्र श्रीमद्भागवतके नवम स्कन्धके १८वें और १९वें अध्यायमें सविस्तार वर्णित है।

महाराज दिलीपजी

महाराज दिलीप भगवान श्रीरामके वृद्ध प्रपितामह थे। ये परम भगवद्भक्त, प्रजावत्सल, धार्मिक और पराक्रमी थे। विशाल राज्य था, परन्तु फिर भी ये रात-दिन चिन्तित रहते थे; क्योंकि इनके कोई सन्तान नहीं थी। एक बार इसी उद्देश्यको लेकर वे अपने गुरु वशिष्ठजीके आश्रममें गए। वहाँ जाकर गुरुदेवको प्रणाम किया और अपने आगमनका कारण बतलाया।

महाराजकी सन्तति-कामनाको सुनकर महर्षि वशिष्ठने योग-बलसे सन्तान-निरोधका कारण जानकर दिलीपसे कहा—"राजन्! अनजानमें आपसे एक अपराध हो गया है, उसी कारण आपको पुत्रकी प्राप्ति नहीं हुई है।" महाराजने उत्सुकतापूर्वक कहा—"गुरुदेव! अपराध करना तो मानवका स्वभाव है, किन्तु कृपया इतना और बतलाइए कि यह अपराध किसका, कहाँ और कब हुआ है तथा उससे मुक्त होनेका क्या उपाय है।"

महर्षि वशिष्ठने बतलाया—"राजन्! एकबार आप देवासुर-संग्राममें देवताओंकी सहायताके लिए गए थे। जब आप वहाँसे लौट रहे थे तो मार्गमें देवताओंकी गाय कामधेनु खड़ी थी। आपने अपनी धुनमें उस ओर ध्यान नहीं दिया, अतः उसका यथोचित सम्मान न हो सका। इस असावधानीको ही उसने अविनीतता समझ लिया और आपको निस्सन्तान होनेका शाप दे दिया। उस शापको भी आप आकाश-गंगाके प्रवाहसे होनेवाले शब्दके कारण नहीं सुन सके। अब सन्तान-प्राप्तिका एक ही उपाय है कि उस गायको प्रसन्न किया जाय।"

दिलीपने कुछ व्यस्त-भाव से पूछा—"ऋषिराज! वह गाय तो अब न जाने कहाँ होगी?" श्रीवशिष्ठजी ने कहा—"वह तो अब यहाँ है कहाँ, पर उसकी पुत्री मेरे पास है। आप उसकी पूजा कीजिए। आपका मनोरथ पूरा हो जायगा।"

गुरुकी आज्ञा शिरोधार्य कर राजा दिलीप नन्दिनीकी सेवामें लग गए। पत्नी-सहित वे रात-दिन उसीकी देख-भाल करने लगे। सुबह उठकर गायका दर्शन करना, उसकी पूजा करना, उसके वत्सको दूध पिलाना, वशिष्ठजीके होमके लिए दूध दुहना और फिर बछड़ेके दूध पी लेने पर गायको जङ्गलमें चराने ले जाना—यही उस समय उनकी दिनचर्या बन गई थी। जङ्गलमें वे गायको स्वतन्त्र छोड़कर उसके पीछे-पीछे घूमा करते थे। जब गायको भूख लगती, तो वे उसे हरी-हरी घास खिलाते, जब वह प्यासी होती, तो निर्मल एवं सुस्वादु जलके सरोवरके पास ले जाते। वह बैठती तो वे भी बैठ जाते और उसके चलने पर वे चलने लगते। इस प्रकार छाया के समान नन्दिनीकी सेवा करते-करते इक्कीस दिन समाप्त हो गए।

एक दिन जङ्गलको जाते समय गाय एक बड़े सघन वृक्ष-समूहमें से होती हुई घोर वनमें पहुँच गई। महाराज भी नित्यकी भाँति उसके पीछे ही चलते चले गए। जब वे एक वृक्षके नीचे पहुँचे तो अचानक एक शेरने नन्दिनीपर हमला किया। राजा चौंके। उन्होंने अपना धनुष सँभाला और तरकससे बाण निकालनेको हाथ कन्धेपर ले गए, परन्तु बाणके पृष्ठ-भागका स्पर्श पाते ही हाथ जड़के समान अचल होगया। इस हाथके बँध जानेसे राजाकी समस्त शक्ति व्यर्थ हो गई। तब उन्होंने शेरकी ओर देखा और कहा—"मैं समझ गया। आप सामान्य सिंह नहीं हैं, आप कोई देवता हैं। इस गायको आप छोड़ दीजिए और इसके बदले आप जो कुछ भी चाहें, मुझसे ले लीजिए।"

"नहीं राजन्!" सिंहने समझाया—"यह वृक्ष भगवती पार्वतीजी का है। यह उनको अत्यन्त प्रिय है। भगवान शङ्करने इसकी रक्षाके लिए अपनी इच्छासे उत्पन्न करके मुझे यहाँ रक्खा है। उनकी आज्ञा है कि जो कोई भी इस वृक्षके नीचे आए उसे ही मैं भक्षण करूँ। इसलिए इस गायको अब मुझसे कोई भी नहीं बचा सकता।" महाराज दिलीपने अत्यन्त शान्त-भावसे कहा—"मृगराज! यह गाय मेरे गुरुकी है। आप कृपाकर इसे छोड़ दीजिए। इसके बदले आप मुझे खाकर अपनी क्षुधा शान्त कर लीजिए।"

सिंहने आत्मीयता दिखाते हुए कहा:—

> एकातपत्रं जगतः प्रभुत्वं, नवं वयः कान्तमिदं वपुश्च।
> अल्पस्य हेतोर्बहु हातुमिच्छन्, विचारमूढः प्रतिभासि मे त्वम्॥

—राजन्! संसारका एकछत्र राज्य, नई उम्र और ऐसा सुन्दर शरीर! एक तुच्छ गायके लिए इतना सब त्यागनेको जो तुम तैयार हो रहे हो, सो लगता है तुममें विचार करने की बिलकुल शक्ति नहीं है।

"महाराज! यह मूढ़ता अच्छी नहीं, इसमें किसी प्रकारका कल्याण होनेकी सम्भावना नहीं। आप राजा हैं, अखण्ड पृथ्वीके एक-छत्र अधिपति हैं और एक सामान्य गायकी रक्षाके लिए अपने आपको समाप्त कर देना चाहते हैं। आप कुशलतापूर्वक घर लौट जाइए और इस गाय-जैसी एक लाख गाय प्रदानकर वशिष्ठजीको प्रसन्न कीजिए।"

सिंहने बहुत समझाया, पर महाराजने एक न मानी। वे सिंहके आगे नतमस्तक हो आँखें मूँदकर खड़े हो गए और शेर के प्रहारकी प्रतीक्षा करने लगे। कुछ समय तक इस प्रकार खड़े रहने पर भी जब सिंहने प्रहार न किया तो उन्होंने आँखें ऊपर उठाई और सामने देखा तो न वहाँ सिंह था और न पार्वतीका प्रिय पेड़ ही। गाय शान्त-भावसे सामने चर रही थी। राजाको स्तम्भित देखकर गायने कहा—"राजन्! यह सब मेरी माया थी। मैंने तुम्हारी परीक्षा की थी। अब तुम पुत्र प्राप्त करनेके अधिकारी हो। तुम मेरा दूध अभी दुहकर पी लो। तुम्हारे परम-तेजस्वी पुत्र पैदा होगा।"

महाराजने कहा—"देवि ! आपका आशीर्वाद शिरोधार्य है, किन्तु जब तक आपका वत्स दूध नहीं पी लेता, गुरुजीके होमको दूध नहीं दुह लिया जाता और गुरुकी आज्ञा नहीं मिल जाती तब तक मैं दूध नहीं पी सकता।" यह सुनकर नन्दिनी बहुत प्रसन्न हुई।

सन्ध्या-समय गाय गुरु वशिष्ठके आश्रममें आई। गुरुको राजाने सब समाचार सुनाया। वशिष्ठजीने राजाको आशीर्वाद दिया और यथासमय राजा एवं रानीको नन्दिनीका दूध पिलाया। रानीने गर्भ धारण किया और उनसे 'रघु' नामका पुत्र पैदा हुआ। इन्हींके नामसे उस वंशका नाम रघुवंश पड़ा। अपनी समस्त कामनाओंके पूर्ण हो जाने पर महाराज दिलीप भगवानके भजनमें तल्लीन रहने लगे और समय आने पर भगवद्धामको प्राप्त हुए।

× × ×

श्रीमद्भागवतमें दिलीपको अंशुमानका पुत्र लिखा है। उन्होंने पिताकी भाँति श्रीगङ्गाजीको पृथ्वीपर लानेके लिए घोर तप किया, परन्तु सफल नहीं हुए। श्रीभगीरथ आपके पुत्र थे।

एक दिन राजा दिलीप जब पूजा कर रहे थे, तब रावण एक ब्राह्मणका वेश रख कर उनकी शक्तिकी परीक्षा लेने पहुँचा। उसी समय दिलीपने एक कुश और थोड़ा-सा जल लेकर दक्षिण दिशाकी ओर फेंका। रावणके द्वारा ऐसा करनेका अभिप्राय पूछने पर दिलीपने बतलाया—"अभी कुछ क्षण पहिले वनमें विचरती हुई गायोंमें से एकको सिंहने धर दबाया था। इस कुशने बाण बनकर उस सिंहको मार दिया है।" रावणने फिर पूछा—"जल फेंकने का आपका उद्देश्य क्या है?" दिलीप बोले—"यही बाण इस समय रावणकी लङ्काको जलाए दे रहा है, सो उस आगको बुझानेके लिए जल जरूरी था।"

रावण उसी समय डरकर लङ्का पहुँचा। राजा दिलीपने जैसा कहा था वैसा सत्य पाया। इसके बाद उसने फिर कभी अयोध्या आनेका नाम नहीं लिया।

श्रीयदुजी

ऊपर कह आए हैं कि राजा ययातिकी दो स्त्रियाँ थीं—शर्मिष्ठा और देवयानी। इनमें देवयानीके गर्भसे यदु पैदा हुए जिनसे यादव-वंश चला। श्रीदत्तात्रेयजीकी कृपासे यदुको विवेक उत्पन्न हुआ और अन्तिम अवस्थामें वनमें जाकर भगवद्-भजन किया और सद्गतिके भागी बने। इन्हींके वंशमें परात्पर पूर्णब्रह्म भगवान श्रीकृष्णने अवतार कर अनेकों लीलाएँकी थीं।

श्रीमान्धाताजी

चक्रवर्ती मान्धाता अकेले ही पृथ्वीके सातों द्वीपों पर शासन करते थे। कहते हैं, इनके राज्यमें सूर्य अस्त नहीं होता था। इन्होंने बहुतेरे यज्ञ किए और ब्राह्मणोंको भारी धन-

धन-राशि दक्षिणामें दी। मान्धाताके पचास कन्याएँ थीं। सौभरि ऋषिने इनसे एक कन्या माँगी। राजाने इन्हें अपनी पसन्दकी कन्याको वरण करनेके लिए अन्तःपुरमें भेज दिया जहाँ कि पचासोंने इनको पतिरूपमें वरण कर लिया। बहुत दिन तक इन कन्याओंके साथ विलासमय जीवन बिताकर सौभरिको अपनी भूलका पता लगा और तब वे वनमें जाकर तपश्चर्यामें प्रवृत्त हुए।

श्रीनिमिदेवजी

यह इक्ष्वाकु राजाके पुत्र थे। एक बार इन्होंने यज्ञ करना चाहा और ऋषि वशिष्ठको अपना पुरोहित बनाया। यज्ञ प्रारम्भ करानेके बाद इन्द्रके बुलाने पर वशिष्ठ स्वर्ग चले गए और राजासे कह गए कि मेरी प्रतीक्षा करना। इधर राजाने और ऋत्विजोंको बुलाकर यज्ञका कार्य चालू कर दिया। लौटकर वशिष्ठने जब यह देखा, तो उनके क्रोधका पारावार नहीं रहा और उन्होंने निमिको शाप दे डाला—"तू विदेह हो जा"—अर्थात् मृत्युको प्राप्त हो। राजाने भी वशिष्ठको शाप देकर विदेह कर दिया। यज्ञकी समाप्ति पर्यन्त मुनियोंने राजाकी देहको सुगन्धित मसालोंमें सुरक्षित रक्खा और तब देवताओंके आने पर उनसे प्रार्थना की कि वे राजाको फिरसे शरीर प्रदान करें। निमि इसपर राजी न हुए। दुःख, शोक और भयके निवास-स्थान शरीरमें फिर लौटने की उनकी इच्छा निवृत्त हो चुकी थी। इसपर देवोंने कह दिया—"तुम विदेह रहोगे, लेकिन तुम्हारा निवासस्थान लोगोंकी आँखोंके पलक होंगे।" उसी समयसे लेकर मिथिलाके राजा 'विदेह' कहलाने लगे। आगे चल कर सुप्रसिद्ध राजर्षि जनक इसी वंश में पैदा हुए।

श्रीदक्षजी

ये प्राचीनबर्हीके पुत्र थे। विष्णुके आदेशसे पाञ्चजनीमें इन्होंने हर्यश्व आदि पुत्र पैदा किए। दक्षको आशा थी कि इनके द्वारा सृष्टि आगे बढ़ेगी और इसी उद्देश्यसे उन्होंने इन सबको 'नारायण सर' नामक तीर्थ पर भेजा, लेकिन वहाँके पवित्र जलका आचमन करते ही इनकी अन्तरात्मा निर्मल होगई और सब के सब तपस्यामें जुट गए। इसी समय नारद भगवान ने इनको दर्शन दिया और उनके उपदेशसे इन्होंने सन्तान पैदा करनेकी बातको ही मनसे निकाल दिया। दक्षने पाञ्चजनीमें फिर एक हजार पुत्र पैदा किये, लेकिन उनका भेंटा श्रीनारद के साथ होगया और वे भी तप करते हुए परलोक-गामी हुए। अब दक्षको नारद ऋषिपर बड़ा क्रोध आया। उन्होंने उन्हें खूब खोटी-खरी सुनाई। प्रजापतिने फिर दक्षसे अनुरोध किया कि

प्रजाकी सृष्टि करिए। अबकी उन्होंने असिक्नीसे विवाह किया और उससे साठ कन्याएँ हुईं। इन कन्याओंने सृष्टिके क्रमको आगे बढ़ाया।

महर्षि शरभङ्ग

दण्डकारण्यमें अनेकों ऊर्ध्वरेता ब्रह्मवादी मुनि तपस्या किया करते थे। उन्हीं ऋषियोंमें शरभङ्ग भी थे। उन्होंने सांसारिक भोगोंके प्रति उत्पन्न होनेवाली मनकी आसक्तिको अनेकों योगाभ्यासों और प्राणायाम-साधनों द्वारा समूल नष्ट कर दिया था। वे समस्त ममता एवं स्पृहा आदि से दूर थे।

अपनी कठोर तपस्यासे इन्होंने ब्रह्मलोकको जीत लिया। अमरावतीके स्वामी देवराज इन्द्र अन्य देवताओंके साथ इनको धरतीसे ब्रह्मलोक तक पहुँचानेके लिए आए। सूर्य एवं अग्निकी कान्तिके समान देदीप्यमान, देवाङ्गनाओं द्वारा चमर व्यजनादि से सेवित श्वेत छत्रके नीचे अद्वितीय शोभासे युक्त इन्द्रको रथमें विराजमान देखकर महर्षि उनके साथ जानेकी तैयारी करने लगे। उसी समय इनको पता चला कि भगवान श्रीराघवेन्द्र अनुज लक्ष्मण एवं भगवती सीता के साथ इसी आश्रमको पधार रहे हैं। इस समाचारके प्राप्त करते ही इनका हृदय भक्ति-भावसे भर गया। आहा! जिन भगवान श्रीरामके चरण-कमलकी प्राप्तिके लिए लौकिक एवं वैदिक समस्त धर्मपालन किए जाते हैं और फिर भी उनके भेदको नहीं जाना जाता, उन्हीं भगवानने जब स्वयं मेरे ऊपर कृपा की है, तब मैं मूढ़तावश ब्रह्मलोकमें चला जाऊँ, तो मुझसे बड़ा अभागा और कौन होगा? उन्होंने अपनी तपस्याका समस्त फल मन ही मन प्रभु रामचन्द्रजीके चरणोंमें समर्पित कर दिया और रात-दिन उनके आनेकी प्रतीक्षामें रहकर हृदयमें प्रेम-जनित विरह-भावका अनुभव करने लगे। पल युगके समान बीतने लगा। अन्तमें भगवान श्रीराम देवी-सीता और लक्ष्मण के साथ आए। मुनि दर्शन कर कृतार्थ होगए और उनकी रूप-माधुरीका पान करनेमें वे निमेष-क्रिया भी भूल गए। प्रेम-विह्वलताके कारण कण्ठ गद्-गद् होगया। आँखोंसे अविराम प्रेमाश्रुओं की वर्षा होने लगी। वे अत्यन्त नम्र-भावसे भगवान श्रीरामसे बोले—"हे कृपासिन्धो! एक वर तो आपसे मुझे माँगना है।" महर्षिकी स्पष्ट वाणी सुनकर श्रीराम मुस्करा दिए। मुनिको लगा जैसे कोटि-कोटि जन्ममें मानव होनेका फल एक पलमें ही पा लिया हो। वे बोले—

> सीता-लखन समेत प्रभु, नील जलद तनु श्याम।
> मम हिय बसहु निरन्तर, सगुन-रूप श्रीराम॥

प्रभुसे यह वरदान पाकर मुनि शरभङ्गने अपना शरीर योगबलसे भस्म कर दिया। हड्डी, माँस, मज्जा—सब कुछ जलकर खाक होगया। फिर वे प्रभुके सामने दिव्य शरीर धारण करके अवतीर्ण हुए और उनकी आज्ञासे समस्त दिव्य लोकोंको पारकर साकेत-धाममें पहुँच गए।

श्रीसञ्जयजी

ये धृतराष्ट्रके मन्त्री तथा पुरोहित थे। धृतराष्ट्रने जब श्रीकृष्णसे महाभारत देखनेकी इच्छा प्रकट की, तब भगवानने सञ्जयको दिव्यदृष्टि दी, जिसके प्रभावसे घरपर बैठे सञ्जयने धृतराष्ट्रको युद्धका पूरा हाल सुनाया। धृतराष्ट्रके शरीर-त्याग करनेके बाद आप भी विरक्त होगए और तपस्या-द्वारा भगवद्धामको गये।

श्रीउत्तानपादजी

ये प्रियव्रतके भाई थे। इनकी दो रानियाँ थीं—सुरुचि और सुनीति। परम भागवत श्री-ध्रुव सुनीतिके ही गर्भसे पैदा हुए थे। ध्रुवजीको भगवानका साक्षात्कार हो जानेके बाद राजा उत्तानपाद उन्हें राज्य सौंपकर वनको चले गए और वहाँ अनवरत भगवानका ध्यान करते हुए परम-गति को प्राप्त हुए।

श्रीयाज्ञवल्क्यजी एवं श्रीभरद्वाजजी

ये सुप्रसिद्ध वैदिक ऋषि हुए हैं। ये ज्ञान, कर्मकाण्ड और भक्ति-रहस्यके पारंगत माने जाते हैं। दोनों ही परम ब्रह्मज्ञानी थे। श्रीयाज्ञवल्क्यजी को तो स्वयं सूर्यदेवने विद्या-दान किया था।

श्रीभरद्वाज मुनि प्रयागमें रहा करते थे। उनकी भगवान श्रीरामचन्द्रजीके चरणारविन्दोंमें पवित्र प्रीति थी। वे अपने जीवनको एक तपस्वीके समान व्यतीत किया करते थे। वे अत्यन्त चतुर, दयामय, परोपकारी एवं शीलयुक्त थे। साधुओंकी सेवा करना एवं भगवानका भजन करना—ये दो ही उनके कर्त्तव्य थे। प्रतिवर्ष माघके महीनेमें मकर-संक्रान्तिके अवसरपर दूर-दूरसे अनेकों व्यक्ति तीर्थराज प्रयागमें स्नान करनेके लिए आया करते थे। वे अत्यन्त श्रद्धापूर्वक त्रिवेणीके संगमपर स्नान, सत्सङ्ग, दान, पुण्य एवं हरिचर्चा किया करते थे। महर्षि भरद्वाजका आश्रम बड़ा पवित्र था। वहाँ उस पुण्य पर्वपर अनेकों ऋषियोंका जमाव रहता था। वे स्नान करते तथा भगवानके गुणोंका गान, ब्रह्म-ज्ञानकी चर्चा, धर्मका वर्णन, भक्तिके स्वरूपका निर्धारण एवं अनेक प्रकारके ज्ञानकी बातें श्रीभरद्वाजजीके आश्रममें करते।

एक बार अपने आश्रममें निवास करते हुए भरद्वाजजीके मनमें शंका पैदा हुई कि श्रीराम तो भगवान हैं, फिर मानवके समान अपनी पत्नी सीताके लिए 'हाय! हाय!' करनेका क्या कारण है? उन्होंने इसका मूलभाव निकालना चाहा, किन्तु शङ्का और भी गहनरूप धारण करती गई।

उसी समय संक्रान्तिका पुनीत पर्व आगया। अनेकों ऋषि-मुनि आए, सत्सङ्ग किया और अपने-अपने आश्रमों को वापस चले गए। उस समय श्रीयाज्ञवल्क्यजी भी आए हुए थे।

वे अत्यन्त ही ज्ञानवान्, भक्ति हृदय एवं भगवत्-तत्त्वके ज्ञाता थे। भरद्वाजको अपनी शङ्काका समाधान याज्ञवल्क्यजीसे होता हुआ दिखाई दिया।

उन्होंने समस्त ऋषि-मुनियोंके चले जानेपर इनके चरणोंमें प्रणाम किया। अत्यन्त आदर-सत्कार एवं पूजा-अर्चनके उपरान्त वे हाथ जोड़कर श्रीयाज्ञवल्क्यजीके सामने बैठ गए और बोले—"महाराज! वेद-शास्त्रोंका आपने भली प्रकार मन्थन किया है। आप भगवानके स्वरूप एवं उनकी समस्त लीलाओंसे अवगत हैं। मेरे हृदयमें उनके सम्बन्धमें एक शङ्का उठ खड़ी हुई है। आप मुझसे सब प्रकारसे बड़े हैं। आपसे मैं किसी प्रकारका दुराव करना नहीं चाहता; क्योंकि गुरुसे कपट करनेसे शङ्का अपना स्थान हमेशा बनाए रखती है। इसीलिए मैं अपने हृदयकी शङ्काको आपसे कहता हूँ। कृपया आप उसका निराकरण करके मुझे इस अज्ञानसे बचाइए।"

इतना सुनकर याज्ञवल्क्यने भरद्वाज मुनिसे उनके हृदयकी शङ्का पूछी तो वे बोले—"हे कृपासागर! भगवान श्रीरामके नामका तो प्रभाव अमित है। संसारका कोई भी कार्य ऐसा नहीं जो राम-नाम उच्चारण मात्रसे पूरा न हो जाय। संत, पुराण, उपनिषद्—सभीका इस सम्बन्धमें एक ही मत है। 'राम' नामके उच्चारणसे जब जीव समस्त तापों और संतापोंसे मुक्त होकर परम पवित्र एवं आनन्द-स्वरूप हो जाता है तो फिर रामके ऊपर विपत्ति कैसे आ सकती है। मैंने सुना था, कि श्रीराम अपनी पत्नीके विरहमें वन-वन भटकते फिरे थे और बड़ी कठिनतासे वानर-भालुओंको इकट्ठा करके रावणका संहार कर पाए थे। तब क्या यह उन्हीं 'राम' के नामका प्रभाव है या ये 'राम' दशरथ नन्दन-रामके अतिरिक्त कोई अन्य हैं? कृपा करके इस सम्बन्धमें मुझे विस्तारपूर्वक बतलाइए।

याज्ञवल्क्यजी जानते थे कि भरद्वाज परम-ज्ञानी हैं; वे तो केवल इस शङ्का समाधानके बहानेसे भगवान श्रीराघवेन्द्रके गुणोंका श्रवण करना चाहते हैं। उन्होंने कहा—"महर्षे! आप भगवानकी समस्त लीलाओं और कार्योंसे परिचित हैं। न आपके हृदयमें कोई शङ्का है, न आप उसका समाधान चाहते हैं। आपकी अभिलाषा तो केवल भगवान रामके गुण-श्रवणकी है, अतः मैं आपके समक्ष त्रिलोक-पावनी राम-कथाका गान करता हूँ। आप सावधान होकर सुनिए।"

इतना कह कर उन्होंने श्रीरामका समस्त चरित्र भरद्वाजको सुनाया और वे दत्तचित्त होकर उसे दीर्घकाल तक सुनते रहे। श्रीयाज्ञवल्क्यजीने श्रीराघवेन्द्रके चरित्रके समस्त रहस्योंको परम-भक्त भरद्वाजजीके समक्ष कहा। श्रीरामके जन्मका कारण—धनुषयज्ञ, वनगमन, सीताहरण, निशाचर कुलोद्धार, लङ्का विजयके उपरान्त सीता सहित अयोध्या-आगमन एवं रामराज्यकी विशेषताओंका सविस्तार वर्णन उन्होंने किया। वास्तवमें श्रीभरद्वाजजी एवं श्रीयाज्ञवल्क्यजीके समान श्रीराम-कथाके श्रोता-वक्ता विरले ही हैं।

———

मूल (छप्पय)

कवि, हरि, करभाजन, भक्ति-रत्नाकर भारी ।
अन्तरिच्छ अरु चमस अनन्यता पधति उधारी ॥
प्रबुध, प्रेमकी रासि, भूरिदा आविरहोता ।
पिप्पल, द्रुमिल प्रसिद्ध भवाब्धि पार के पोता ॥
जयन्ती-नन्दन जगत के त्रिविध ताप आमय हरन ।
निमि अरु नव योगेश्वरा पादत्रान की हौं सरन ॥१३॥

अर्थ—महाराज श्रीनिमि और नव-योगेश्वरोंकी पादुका (खड़ाऊँ) की मैं शरण हूँ । नव-योगेश्वरोंमें सर्वश्री कवि, हरि और करभाजन भक्तिके अगाध समुद्र हैं; अन्तरिक्ष और चमस भागवत-धर्ममें अनन्यताके प्रवर्तक हैं; प्रबुध प्रेमकी राशि हैं, आविर्होता ज्ञानके उदार दानी हैं और पिप्पल तथा द्रुमिल प्राणियोंको संसार-सागरसे पार उतारने वाले हैं । (श्रीऋषभ-देवकी पत्नी जयन्तीदेवीके सौ पुत्रोंमें से) ये नव-योगेश्वर संसारके आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक तीनों प्रकारके दुःखोंका तथा समस्त मानसिक व्याधियोंका नाश करने वाले हैं ।

ऋषभदेवजीके सौ पुत्रोंमें ६ नवद्वीपोंके स्वामी हुए, ८१ कर्मतन्त्रके प्रवर्तक ब्राह्मण और ९ योगेश्वर । पूर्ण आत्मज्ञानी ये नव योगेश्वर जड़-चेतन विश्वको भगवानके रूपमें देखते हुए सुर-लोक, सिद्ध-लोक, गन्धर्व-लोक आदिमें स्वच्छन्द विचरण किया करते थे । एक बार ये राजा निमि द्वारा आयोजित यज्ञमें जा पहुँचे । सूर्यके समान तेजस्वी इन योगियोंको देख कर सब लोग उठ खड़े हुए और उनका यथोचित सत्कार किया । राजा निमिने इस अमूल्य अवसरका लाभ उठानेके लिए उनसे भागवत-धर्मका उपदेश देनेकी प्रार्थना की । योगेश्वरोंके ये उपदेश श्रीमद्भागवतके एकादश स्कन्धमें विस्तारसे दिए गए हैं । ये भक्तोंके हृदयके हार बन गए हैं ।

श्रीनाभाजीने नव-योगेश्वरोंके पादत्राणकी शरणमें रहनेकी कामना प्रकट की है । इसी आशय का निम्नलिखित श्लोक श्रीवेदाचार्यका है—

कर्मावलंबकाः केचित् केचित् ज्ञानावलम्बकाः ।
वयं तु हरिदासानां पादत्राणावलम्बकाः ॥

—कुछ लोग भगवत्-प्राप्तिके लिए कर्म-मार्गका अनुसरण करते हैं, दूसरे ज्ञान-मार्ग का । हमने तो भगवानके भक्तोंकी जूतियोंका सहारा लिया है ।

मूल (छप्पय)

श्रवन परीछित, सुमति व्यास-सावक कीरतन।
सुठि सुमिरन प्रहलाद, पृथु पूजा, कमला चरननि मन॥
बन्दन सुफलक-सुवन, दास दीपत्ति कपीश्वर।
सख्यत्वे पारथ, समर्पन आतम बलि धर॥
उपजीवी इन नाम के एते त्राता अगति के।
पदपराग करुना करौ नियता नवधाभक्ति के॥१४॥

अर्थ— श्रवण-भक्तिमें निष्ठा रखनेवाले राजा परीक्षितजी, कीर्तन-भक्तिमें पारङ्गत व्यास ऋषिके पुत्र प्रतिभाशाली श्रीशुकदेवजी, स्मरण-भक्तिके उपासक प्रह्लादजी, भगवानकी चरण-सेवामें आठों पहर रत रहनेवाली लक्ष्मीजी, विधिपूर्वक पूजा करनेमें प्रवीण राजा पृथु, बन्दन-भक्तिमें लीन सुफलकके पुत्र अक्रूर, सेवक-भावसे श्रीरामचन्द्रजीको भजनेवाले ज्योतिपुञ्ज हनुमान्, मित्र-भावसे श्रीकृष्णकी आराधना करनेवाले अर्जुन और आत्म-समर्पणमें प्रवीण राजा बलि—ये नव प्रकारकी भक्तिके प्राप्त करनेवाले (परीक्षित आदि) महानुभाव दयाकर अपनी चरण-रज मुझे देकर कृतार्थ करें।

श्रवणादि नामक नव प्रकारकी भक्ति जिनका प्राण है, ऐसे ऊपर कहे भक्तगण उन लोगोंकी सदा रक्षा करते हैं जिनके लिए अन्य कोई गति नहीं है—अर्थात् संसार-चक्रसे छूटकर बच निकलनेकी अभिलाषा रखनेवाले जिन लोगोंके लिए ज्ञान, कर्म आदि के मार्ग रुके हुए हैं, उनके उद्धारका एकमात्र साधन भगवद्भक्ति है, जिसकी पद्धति उपर्युक्त भागवतोंसे सीखी जा सकती है।

—भक्तिके नव प्रकार निम्नलिखित-रूपसे बताये गए हैं :—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥ (श्रीमद्भागवत् ७।५।२३)

श्रीनाभाजीकी छप्पयके आशयका एक श्लोक नीचे देखिए :—

श्रीकृष्णश्रवणे परीक्षिदभवद् वैयासकिः कीर्तने,
प्रह्लादः स्मरणेऽङ्घ्रिपद्मभजने लक्ष्मीः पृथुः पूजने।
अक्रूरस्त्वभिवादने कपिपतिर्दास्ये च सख्येऽर्जुनः,
सर्वस्वात्मनिवेदने बलिरभूत् कैवल्यमेते विदुः॥

श्रीपरीक्षितजी

भक्ति-रस-बोधिनी

श्रवणरसिक कहूँ सुने न परीछित से, पान हूँ करत लागी कोटि गुन प्यास है।
मुनि मन मांझ क्यों हूँ आवत न ध्यावत हूँ वही गर्भमध्य देखि आयो रूप-रास है॥
कही सुकदेवजू सों टेव मेरी लीजै जानि, प्रान लागे कथा, नहीं तछक को त्रास है।
कीजिये परीक्षा उर आनी मति सानी अहो! मानो जिरमानी जहाँ जीवन निरास है॥६७॥

अर्थ—परीक्षित सरीखे भक्त कहीं सुननेमें नहीं आए, जो भगवानकी कथा सुनकर ही अपूर्व आनन्दका अनुभव करते हों। (ऐसे भक्तोंको श्रवण-रसिक कहते हैं।) ज्यों-ज्यों वे भगवत्-कथाका पान (कानों से) करते थे, वैसे ही वैसे उनकी प्यास (कथा सुननेकी अभिलाषा) करोड़ों गुनी बढ़ती चली जाती थी। अनवरत रूपसे ध्यान करते हुए भी मुनिगण मन द्वारा जिनका साक्षात्कार करनेमें असमर्थ रहते हैं, उन्हीं रूपके समुद्र (अनुपम सुन्दर) भगवानका दर्शन आपने माताके गर्भमें किया। श्रीशुकदेवजीसे आपने कहा—"मेरी प्रवृत्तिके सम्बन्धमें आप यह समझ लीजिये कि भगवानकी कथामें ही मेरे प्राण लगे हुए हैं, अतः मुझे तक्षक सर्पके काटने की कोई चिन्ता नहीं है। आप चाहें, तो मेरी परीक्षा करके देख सकते हैं।"

राजाकी यह बात सुनते ही श्रीशुकदेवजीको निश्चय होगया कि परीक्षितका मन (मति) अब कथामें ही लिप्त है। परीक्षित राजाकी कहाँ तक प्रशंसाकी जाय? सातवें दिन कथा-समाप्ति पर श्रीशुकदेवजीकी वाणीके विश्राम लेते ही उनकी जीवन-लीलाकी भी इतिश्री होगई।

श्रीपरीक्षितजीका विशेष परिचय यहाँ दिया जाता है—

अभिमन्युके संग्राममें वीरगति प्राप्त कर लेनेके पश्चात् कौरव-पाण्डव—दोनोंके वंशको चलानेवाला यदि कोई था तो वह था उत्तराके गर्भका शिशु। अश्वत्थामा उस गर्भगत शिशुको भी नष्ट करना चाहता था, अतः उसने ब्रह्मास्त्रका प्रयोग किया। सारा विश्व उसकी भयङ्करता से काँप गया। उत्तराके भयका भी कोई ठिकाना न रहा। वह भयसे विह्वल हो श्रीकृष्णकी शरणमें गई। भगवानने उसे अभयदान दिया और शिशुकी रक्षाके लिए अति सूक्ष्मरूप धारण कर उत्तराके गर्भमें प्रवेश कर गए। शिशुने देखा कि एक प्रचण्डतेजका सागर-सा उमड़ता हुआ उसे नष्ट करनेके लिए चला आरहा है। उसी समय भगवान श्रीकृष्णके सूक्ष्म-स्वरूपपर भी बालककी दृष्टि पड़ी, उसने देखा कि अँगूठेके बराबर आकारवाला एक ज्योतिर्मय रूप सुवर्ण के कुण्डल पहिने और हाथमें गदा लिए सामने खड़ा है। वह अपनी गदा घुमाकर ब्रह्मास्त्रके तेजको इस प्रकार शान्त कर रहा है, जैसे सूर्य कुहरेको मिटा देता है। ब्रह्मास्त्रका प्रभाव समाप्त हो जानेपर वह रूप भी अदृश्य होगया। जन्म होनेपर इसी बालकका नाम परीक्षित पड़ा।

गर्भके समय परीक्षित ब्रह्मास्त्रके प्रभावके कारण मृत-से पैदा हुए थे, किन्तु भगवान श्रीकृष्ण

की कृपासे वे जीवित होगए। जब ये अभिमन्युके पुत्र परीक्षित बड़े होगए तो पाण्डव इनको राज्य सौंपकर हिमालय पर चले गए और महाराज परीक्षित राज्यमें सुव्यवस्था स्थापित करनेमें लग गए।

एक बार जब ये दिग्विजय करने निकले तो मार्गमें इनको एक श्वेत साँड़ दिखाई दिया। उसके तीन पैर टूटे हुए थे। पास ही एक गाय खड़ी थी, जो अपनी आँखोंसे अविराम अश्रु बरसा रही थी। वहीं एक काले रङ्गका शूद्र सिरपर मुकुट धारण किए खड़ा था और एक डण्डेसे दोनोंको पीट रहा था। जब परीक्षितको यह मालूम पड़ा कि वह शूद्र कलि था, जो वृषभ-रूप धर्म एवं गौ-रूप पृथ्वीको पीट रहा था तो उन्होंने उसे मारनेके लिए अपनी तलवार खींच ली। शूद्र-रूप कलिने अपना मुकुट उतारकर राजा परीक्षितके चरणोंमें रख दिया और उनके पैरोंसे लिपट गया। महाराजने कहा—"कलि! तुम अपनी जान बचाना चाहते हो तो तुरन्त मेरे राज्यकी सीमासे बाहर चले जाओ।" कलिने हाथ जोड़कर प्रार्थना की—"महाराज! आप तो चक्रवर्ती सम्राट् हैं, सम्पूर्ण पृथ्वीपर आपका राज्य है। यह कैसे सम्भव हो सकता है कि मैं आपके राज्यमें न रहूँ। हाँ, मुझे कोई निश्चित स्थान बतला दीजिए। मैं आपकी आज्ञा कभी नहीं तोड़ूँगा और हमेशा आपके द्वारा निर्दिष्ट स्थानपर ही रहूँगा।" परीक्षितने कलिको रहने के लिए जुआ, शराब, स्त्री, हिंसा और स्वर्ण—ये पाँच स्थान बतला दिए। ये ही पाँच स्थान अधर्म-रूप कलिके निवास हैं।

एक बार राजा परीक्षित आखेट करते हुए जंगलमें भटक गए। धूप, गर्मी और थकान के कारण उन्हें प्यास लगी। वे पानी की तलाशमें भटकते हुए शमीक ऋषिके आश्रममें आये। ऋषि भगवानके ध्यानमें समाधिस्थ थे। राजाने कई बार उनसे पानीकी याचना की, पर उनका ध्यान न टूटा। राजा प्याससे व्याकुल एवं परिश्रान्त थे। वे झुँझला गए और ऋषिको केवल ढोंगी समझ कर पास पड़े एक मृत सर्पको उनके गलेमें डालकर चले आए। पासमें ही सरोवरके किनारे ऋषि-कुमार खेल रहे थे। उनमें शमीकके पुत्र भी थे। जब उनको परीक्षितके इस कुकृत्यका पता चला, तो वे बड़े क्रुद्ध हुए और शाप दे दिया—"इस दुष्ट राजाको आजसे सातवें दिन तक्षक काट लेगा।"

घर जाकर परीक्षितको अपने उस कार्यका ध्यान आया। वे मनही मन पश्चात्ताप करने लगे। उसी समय ऋषिकुमारके शापका समाचार उन्हें प्राप्त हुआ। शापकी बातको सुनकर वे मृत्युके भयसे व्याकुल होकर विलाप नहीं करने लगे, अपितु अपनी सद्‌गतिकी कामना करते हुए राज्यका भार अपने पुत्र जनमेजयपर छोड़कर गङ्गाके किनारेपर गए। अनेकों ऋषिगण परम धर्मात्मा राजा परीक्षितपर कृपा करके उन्हें सान्त्वना देने एवं भगवत्-सम्बन्धी चर्चा करने के लिए वहाँ आए। भगवानके ध्यानमें मग्न श्रीशुकदेवजी भी वहाँ आ पहुँचे। परीक्षितने उनका पूजन किया। श्रीशुकदेवजीने राजाकी प्रार्थनापर उन्हें सात दिनमें सम्पूर्ण श्रीमद्भागवत का उपदेश किया। अन्तमें भगवानके ध्यानमें अपनी चित्त-वृत्तियोंका अभिनिवेश करके तक्षक

के डसनेसे पूर्व ही श्रीपरीक्षितजी भगवद्धाममें पहुँच गए। बादमें तक्षकने उनको डसा। विषकी तीव्रताके कारण उनका सारा शरीर भस्म हो गया, किन्तु इस असह्य वेदनाका अनुभव करनेके लिए इस समय वे उस शरीरमें थे ही नहीं।

श्रीपरीक्षितकी कथा श्रीमद्भागवतके प्रथम स्कन्धमें अध्याय ८ से लेकर अध्याय १९ तक सविस्तार वर्णित है।

श्रीशुकदेवजी

भक्ति-रस-बोधिनी

गर्भ ते निकसि चलि बन ही में कीनो वास, व्यास से पिता को नहिं उत्तर हू दियो है।
दसम श्लोक सुनि गुनि मति हरि गई, लई नई रीति, पढ़ि भागवत लियो है॥
रूप गुन भरि सह्यो जात कैसे करि, आए सभा नृप, ढरि भीज्यो प्रेम-रस हियो है।
पूछें भक्त भूप ठौर-ठौर परे भौंर जाय गाय उठे अबै मानो रंगभर कियो है॥९८॥

अर्थ--श्रीशुकदेवजी माताके गर्भमेंसे निकलते ही वनकी ओर चल दिये और वहीं रहने लगे। घर-द्वार छोड़कर पुत्रको इस प्रकार जाते देख पिता श्रीवेदव्यासजीने 'पुत्र! पुत्र!!' कह कर कई बार पुकारा, लेकिन श्रीशुकदेवजीने कोई उत्तर नहीं दिया। एक दिन एक लड़केके मुँह से श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धका एक श्लोक सुनकर आप मुग्ध होगये और तब आपने एक नई रीति यह अपनाई कि जिन व्यासजीकी पुकारका उत्तर भी नहीं दिया था, लौटकर उन्हीं के पास आये और भागवत-पुराणका अध्ययन किया। श्रीमद्भागवतमें वर्णित भगवान श्रीकृष्ण के रूप और गुणोंकी महिमासे इनका हृदय इतना परिपूर्ण होगया कि उसका भार हृदयपर सहते नहीं बना। (उस समय जब कि ऋषि-पुत्रके शापसे राजा परीक्षित राज-काज छोड़ कर गङ्गाजीके तटपर आत्मोद्धारके निमित्त आये और मुनियोंको बुलाया, तब) श्रीशुकदेवजी सहसा राजाके द्वारा आयोजित सभामें पधारे और भगवत्-प्रेमसे भरा उनका हृदय राजाके उद्धार के लिए द्रवित होगया (और श्रीमद्भागवतकी कथा प्रारम्भ कर दी गई।) कथाके प्रसंगमें राजा परीक्षित जगह-जगहपर सन्देहके भँवर-जालमें पड़ जाते (और श्रीशुकदेवजीसे पूछते कि ऐसा क्यों हुआ?); उस समय श्रीशुकदेवजी प्रेममें विभोर होकर उत्साहके साथ भगवानकी लीलाओंको इन्हें गाकर सुनाते, मानो प्रेम-रङ्गकी झड़ी लग गई हो।

रूप गुन भरि······रंग कियो है—इन अन्तिम दो चरणोंका अर्थ कुछ विज्ञ टीकाकारोंने इस प्रकार किया है—जिस समय राजा परीक्षित गङ्गा-तटपर आए और उन्होंने विभिन्न स्थानोंसे एकत्रित ऋषियोंसे अपनी सुगतिका उपाय पूछा, तो ऋषिगण चक्करमें पड़ गए कि सात दिनकी थोड़ी-सी अवधि में राजाके उद्धारका क्या उपाय बतावें? उसी समय श्रीशुकदेवजी आ पहुँचे······इत्यादि।

यह अर्थ तब ही सकता है जब कि चतुर्थ चरणमें आई हुई 'पूछें' क्रियाका पाठान्तर 'पूछे' मान लें और उसका अर्थ करें—"भूप-भक्तने पूछा (कि मेरे उद्धारका उपाय बताइए)" लेकिन यहाँ दूसरी कठिनाई यह उपस्थित होती है कि क्रम-भंग हो जाता है। कवित्तके तृतीय चरणके उत्तरार्धमें जब श्रीशुकदेवजी आ गए, तो चतुर्थ चरणमें परीक्षितका ऋषियोंसे अपने उद्धारका उपाय पूछना असङ्गत बैठता है। इस प्रकारका प्रश्न तो पहले ही कर दिया गया था; श्रीशुकदेवजी पधारे हैं बाद में। अतः हमारी समझमें 'पूछें' पाठ ही अधिक उपयुक्त बैठता है।

श्रीशुकदेवजीके वृत्तका सविस्तार वर्णन पृष्ठ सं० ४५ पर दिया जा चुका है।

श्रीप्रह्लादजी

भक्ति-रस-बोधिनी

सुमिरन साँचो कियो, लियो देखि सब ही में एक भगवान् कैसे काटे तरवार है।
काटिबो खड़ग जल बोरिबो सकति जाकी, ताहि को निहारै चहुँ ओर सो अपार है॥
पूछे तें बतायो खंभ, तहाँ ही दिखायो रूप, प्रगट अनूप भक्तवानी ही सों प्यार है।
दुष्ट डारयो मारि, गरे आँतें लई डारि, तऊ कोप को न पार, कहा कियो यों विचार है॥९९॥

अर्थ—भक्तशिरोमणि प्रह्लादने सच्चे हृदयसे भगवानका चिन्तन किया और फलस्वरूप संसारकी सब वस्तुओंमें एक ही परम-तत्वको व्याप्त पाया। ऐसे भक्तको तलवार कैसे काट सकती थी? क्योंकि खड्गमें काटनेकी तथा जलमें डुबोनेकी शक्ति जहाँसे मिली, उसी असीम, अनन्त भगवत्-तत्वको प्रह्लाद अपने चारों ओर देखते थे। (पुत्र प्रह्लादकी इन बातोंमें विश्वास न कर) जब हिरण्यकशिपुने पूछा—'बता, तेरा भगवान कहाँ है?' तो आपने सामनेका खंभा बता दिया। (इसपर कुपित होकर उस राक्षसने स्तम्भमें एक मुक्का मारा।) मुक्काके लगते ही भगवानने प्रकट होकर अपना अनुपम रूप दिखाया; क्योंकि आपको तो अपने भक्तकी वाणी अत्यन्त प्रिय है—भक्तकी बातका भारी पक्षपात है। इस प्रकार अपने भक्तके हितार्थ प्रकट होकर भगवानने दुष्ट हिरण्यकशिपुको वहीं मार गिराया और फिर उसकी आँतें निकालकर अपने गलेमें मालाकी तरह डाल लीं। इतने पर भी नृसिंह भगवानका क्रोध शान्त नहीं हुआ। न-जाने आपने और क्या करनेकी ठान ली थी!

भक्ति-रस-बोधिनी

डरे शिव अज आदि, देख्यो नहीं कोप ऐसो, आवत न ढिग कोऊ, लछिमी हूँ त्रास है।
तब तो पठायो प्रह्लाद अहलाद महा, अहो भक्तिभाव पग्यो आयो प्रभु पास है॥
गोद में उठाय लियो, सीस पर हाथ दियो, हियो हुलसायो, कही बानी मिले रास है।
आई जग दया लगि परयो श्रीनृसिंह जू को, अरयो यों छुड़ायो करयो माया-जाल नास है॥१००॥

अर्थ—यह देख ब्रह्मा-शिव आदि देवता भी भय खा गये। उन्होंने प्रभुके क्रोधका ऐसा

विराट् रूप कभी देखा ही न था। और, तो और लक्ष्मीजी को भी उनके पास जाते हुए डर लगता था। तब ब्रह्मादिकने प्रह्लादजीको क्रोध शान्त करनेके लिए उनके पास भेजा। परम-प्रेमानन्दमें डूबे हुए वे प्रभुके पास पहुँचे। उन्होंने उन्हें गोदमें उठा लिया और उनके सिरपर हाथ फेरने लगे। प्रभुका स्पर्श पाकर प्रह्लादका हृदय आनन्दसे भर गया और विनयपूर्वक वे श्रीनृसिंह-प्रभुकी स्तुति करने लगे। (प्रभुने उनसे वर माँगनेको कहा।) इस पर प्रह्लादजीको जीवोंपर दया आगई और उनका दुःख दूर करनेके लिए आपने प्रभुके चरणोंमें गिरकर यह वर माँगा कि अपनी मायासे प्राणियोंको मुक्त करिए; क्योंकि उसके कारण उनका ज्ञान नष्ट होगया है। यह वर प्राप्त करनेके लिए प्रह्लादजी बालककी तरह प्रभु के सामने अड़ गए।

भक्त प्रह्लादका सविस्तार चरित्र पृष्ठ ३६ पर देखिए।

—पत्थरके खम्भमें से भगवानके प्रकट होने की घटनाको लेकर गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं कि जबसे भगवान इस प्रकार प्रकट हुए तभीसे दुनिया भगवानके प्रस्तरमय विग्रहको पूजने लगी—

काढ़ि कृपान कृपा न कहूँ पितु काल कराल बिलोकि न भागे।
राम कहाँ? सब ठाउँ हैं, खंभ में?, हाँ, सुनि हाँक नृकेहरि जागे॥
बैरी बिदारि भये बिकराल, कहे प्रहलादहि के अनुरागे।
प्रीति-प्रतीति बढ़ी 'तुलसी', तब ते सब पाहन पूजन लागे॥

श्रीलक्ष्मीजी—का चरित्र पृ० सं० ६१ पर एवं श्रीपृथुजी—का चरित्र पृ० सं० ११३ पर देखिए।

श्रीअक्रूरजी

भक्ति-रस-बोधिनी

चले अकरूर मधुपुरी तें, बिसूर, नैन चली जल-धारा, कब देखौं छबिपूर को।
सगुन मनावै, एक देखिबोही भावै, देह-सुधि बिसरावै, लोटै, लखि पग-धूर को॥
बंदन-प्रवीन, चाहु निपट नवीन भई, दई शुकदेव कहि जीवन की मूर को।
मिले राम कृष्ण, मिले पाइकै मनोरथ को, सिले दृग रूप कियो हियो चूर-चूर को॥१०१॥

अर्थ—श्रीकृष्णको लिवा लानेके लिए कंसके द्वारा भेजे गए अक्रूर मथुरासे गोकुलकी ओर चले तो भगवानके वियोगमें दुखी होती हुई (बिसूरती) उनकी आँखोंसे आँसुओंकी धारा बह निकली। मार्गमें जाते हुए सोचते जाते थे कि वह कौन-सा क्षण होगा जब मैं शोभाके धाम भगवान श्रीकृष्णको इन आँखोंसे देखूँगा। चलते समय उन्हें शुभ शकुन हुए थे; (रास्तेमें उन्हें हरिण दाईं ओर चरते हुए मिले थे) वे बार-बार यही मना रहे थे कि इन शकुनोंका उन्हें मन-चाहा फल मिले। भगवानके दर्शनके सिवा और उन्हें कुछ अच्छा ही न लगता था। भगवान के सम्बन्धमें सोचते-सोचते उन्हें अपना देहानुसन्धान नहीं रहा। व्रजमें प्रवेश करते ही जब उन्हें

श्रीकृष्णके चरण-चिह्न धूलिपर अङ्कित दिखाई दिए, (जिन्हें कि अक्रूरने ध्वज, अङ्कुश आदि चिह्नोंसे पहिचान लिया) तो वे उस रजमें लोटने लगे। वन्दनात्मक भक्तिके मर्मज्ञ अक्रूरके हृदय में अब प्रीतिका उदय हुआ जोकि उनके लिए एक बिलकुल नई भावना थी। श्रीशुकदेवजीने श्रीमद्भागवतमें प्रीतिसे उत्पन्न इस प्रकारकी उत्कण्ठा (विकलता) को भक्तोंके जीवनका आधार कह कर वर्णन किया है। (गोकुलमें पहुँचकर) अक्रूरजीको बलराम और श्रीकृष्ण, दोनों भाइयोंके दर्शन हुए और आगे बढ़ कर वे उनसे मिले। अपना मनोरथ पूर्ण हुआ मान कर उनकी आँखें खिल उठीं। इस मिलनके फलस्वरूप उनका हृदय आनन्दसे मानो चूर-चूर होगया।

अक्रूर वन्दनात्मिका भक्तिके उपासक माने जाते हैं। श्रीमद्भागवतमें दिये गए वर्णनके अनुसार रथपर चढ़नेके क्षणसे ही लेकर वे मन-ही-मन यही योजना बनाते रहे कि वे श्रीकृष्णका साक्षात्कार होते ही किस प्रकार उनके चरणोंमें साष्टांग प्रणाम कर अपनेको कृतार्थ करेंगे। वे सोच रहे थे— "जब मैं भगवानके चरणोंपर झुकूँगा, तब वे अपने हस्तकमलको मेरे सिरपर रखेंगे कि नहीं? मुझे पूरा विश्वास है कि कंसका भेजा हुआ जानकर भी मुझे वे अपना शत्रु नहीं मानेंगे; क्योंकि वे सब प्राणियोंके अन्तरकी बातको जानते हैं। मुझे मालुम है कि भगवानका न कोई प्यारा है और न कोई शत्रु, तो भी वे भक्तोंका आदर करते हैं।

भगवानके चरणोंकी वन्दना करनेकी अभिलाषा अक्रूरमें इतनी तीव्र होगई कि उनका गोकुल तक पहुँचने का धैर्य जाता रहा और मार्गमें भगवानके चरण-चिह्नोंको देख कर उनका आलिङ्गन करनेके लिए वे धूलमें ही लोट लगाने लगे।

बिसूर—भक्तमालके प्रसिद्ध टीकाकार श्रीरूपकलाजीने इस कवित्तमें आए हुए 'बिसूर' शब्दका अर्थ 'रूप-चिन्तन करना' लगाया है जोकि भ्रमात्मक है। व्रजवासियोंकी साधारण बोल-चालमें इसका प्रयोग काफी होता है और अर्थ होता है—दुःखसे विलाप करना।

खिले दृग—कवित्तके चतुर्थ चरणमें कुछ पुस्तकोंमें "पाइकै मनोरथको हिले दृगरूप" यह पाठान्तर पाया जाता है। इसमें वह सौन्दर्य नहीं जो 'खिले दृग'में है, अतः हमने इसे ही ठीक माना है।

श्रीहनुमानजीका चरित्र पृष्ठ नं० ५५ पर सताईसवें कवित्तमें एवं **श्रीअर्जुनका** चरित्र पृ० सं० १०५ पर भक्त पाण्डवके प्रसङ्गमें देखिए।

श्रीबलिजी

भक्ति-रस-बोधिनी

दियो सरबस्व करि अति अनुराग बलि, पागि गयो हियो प्रह्लाद सुधि आई है।
गुरु भरमावै, नीति कहि समुझावै, बोल उर में न आवै, कैसी भीति उपजाई है॥
कह्यो जोई कियो साँचो भाव पन लियो, अहो दियो डर हरि हूँ ने, मति न चलाई है।
रीझे प्रभु, रहे द्वार, भये बस हारि मानो, श्री शुक बखानी, प्रीति-रीति सोई गाई है॥१०२॥

अर्थ—राजा बलिने बड़े प्रेमसे भगवानको सर्वस्व अर्पण कर दिया। ऐसा करते समय उन्हें अपने पितामह श्रीप्रह्लादका स्मरण हो आया (जिन्होंने भक्तिके प्रतापसे बड़ी-से-बड़ी आपत्तियोंको पार किया था।) गुरु शुक्राचार्यने नीतिका उपदेश देकर इन्हें भ्रममें डालना चाहा और कई प्रकारसे डराया भी (कि ये ब्राह्मण नहीं हैं, वरन् स्वयं विष्णु हैं जो एक पैरसे स्वर्ग और दूसरेसे पृथ्वीको नाप लेंगे और तीसरे पैरके लिए स्थान न होनेके कारण तुझे नरकमें ढकेल देंगे), लेकिन बलिके हृदयमें उनकी एक भी बात नहीं उतरी। एक बार मुँहसे जो कह दिया, उसे ही आपने पूरा किया और अपनी प्रतिज्ञापर अटल रहे। श्रीहरिने भी इन्हें नरक भेजनेकी कह कर बहुत डराया, लेकिन इतने पर भी बलि अपने भक्ति-मार्गसे तिल-भर भी नहीं हटे।

बलिकी ऐसी दृढ़ निष्ठा देखकर भगवान उनसे अत्यन्त प्रसन्न हुए और उनके द्वारपाल बन कर रहने लगे। इस प्रकार भगवानने अपने भक्तसे हार मानी और उसके वशमें होगए। इस पवित्र चरित्रका वर्णन श्रीशुकदेवजीने भागवत-पुराणमें किया है और उसीके अनुसार बलि-राजाके प्रेमकी पद्धतिका हमने यहाँ ज्ञान किया है।

बलिके सम्बन्धमें विशेष वर्णन पृ० सं० ४३ पर पढ़िए।

मूल (छप्पय)

शंकर, शुक, सनकादि, कपिल, नारद, हनुमाना।
विश्वकसेन, प्रहलाद, बलिरु, भीषम, जगजाना॥
अर्जुन, ध्रुव अंबरीष, विभीषण महिमा भारी।
अनुरागी अक्रूर, सदा उद्धव अधिकारी॥
भगवन्त भुक्त अवशिष्ट की कीरति कहत सुजान।
हरिप्रसाद रस स्वाद के भक्त इते परवान॥१५॥

अर्थ—भगवानको भोग लगाकर प्रसादके रसका अनुभव करने वाले श्री शङ्कर आदि सोलह प्रसाद-निष्ठ भक्त हैं, जो भगवानके भोगसे बचे हुए अन्नकी महिमा वर्णन करनेमें परम निपुण हैं।

पद्मपुराणका इसी आशयका श्लोक इस प्रकार है—

बलिर्विभीषणो भीष्मः कपिलो नारदोऽर्जुनः। प्रह्लादो जनको व्यासः अम्बरीषः पृथुस्तथा॥
विष्वक्सेनो ध्रुवोऽक्रूरो सनकाद्याः शुकादयः। वासुदेवप्रसादाद्यं सर्वे गृह्णन्तु वैष्णवाः॥

महाप्रसाद-ग्रहण करने की अभिलाषा रखनेवाले उद्धवजी श्रीकृष्णसे कहते हैं—

त्वयोपभुक्तस्रग्गन्धवासोऽलंकारचर्चिताः ।
उच्छिष्टभोजिनो दासास्तव मायां जयेमहि ॥

—भगवन् ! आपके श्रीअङ्गपर धारण की गई माला, सुगन्धित द्रव्य और वस्त्र आदि से आपके दास हम लोग अपने आपको सुशोभित करते हैं और आपकी उच्छिष्ट (जूठन) खाकर आपकी मायाको जीतते हैं ।

पद्मपुराणमें भी कहा है :—

तीर्थकोटिशतैर्भूतो यथा भवति निर्मलः ।
करोति निर्मलं देहं भुक्तशेषं तथा हरेः ॥

—जिस प्रकार जीव करोड़ों तीर्थोंमें स्नान कर निर्मल हो जाता है, वैसे ही भगवानके भोगसे बचे हुए पदार्थोंको ग्रहण करनेवालेकी देह पवित्र हो जाती है ।

हरिके प्रसादकी तुलनामें अपने को अशुद्ध बताती हुई एकादशीका वचन है—

क्व पल्वलपयोबिन्दुः क्व पीयूषपयोनिधिः ।
क्वाहमेकादशी मन्दा क्व प्रसादो हरेस्तथा ॥

—कहाँ छोटी-सी तलैयाके जलकी बूँद और कहाँ अमृतका समुद्र ! कहाँ मैं मन्द (प्रभाव-हीन) एकादशी और कहाँ हरिका प्रसाद !

———

मूल (छप्पय)

अगस्त्य, पुलस्त्य, पुलह, चिमन, बसिष्ठ, सौभरि ऋषि ।
कर्दम, अत्रि, रिचीक, गर्ग, गौतम, व्यासशिषि ॥
लोमश, भृगु, दालभ्य, अङ्गिरा, शृङ्गि प्रकासी ।
मांडव्य, विश्वामित्र, दुर्वासा सहस अठासी ॥
यागवलि, यामदग्नि, मायादर्श, कश्यप, परवत, पाराशर पदरज धरौं ।
ध्यान चतुर्भुज चित धरयो, तिन्हैं शरण हौं अनुसरौं ॥१६॥

अर्थ—भगवानके चतुर्भुज रूपका ध्यान जिन भक्तोंने किया है, मैं उनकी शरण हूँ । इन छब्बीस भक्तों के अतिरिक्त अठासी हजार भक्त और ऐसे हैं जो भगवानके इस रूपकी उपासना करते हैं ।

भक्तों के संक्षिप्त चरित्र

महर्षि अगस्त्य

महर्षि अगस्त्यकी उत्पत्तिके सम्बन्धमें अनेकों कथाएँ प्रचलित हैं। कुछके अनुसार तो वे घड़ेसे उत्पन्न बतलाए जाते हैं, कुछमें पुलस्त्यकी पत्नी हविर्भू के गर्भसे विश्रवाके साथ इनकी उत्पत्तिका वर्णन आता है और कुछके अनुसार स्वायम्भुव मन्वन्तरमें पुलस्त्यके पुत्र दत्तोलि ही अगस्त्यके नामसे विख्यात हुए। कल्प-भेदसे ये सभी बातें ठीक उतरती हैं।

एक बार जब वृत्रासुरको इन्द्रने मारडाला तो कालेय नामके दैत्य आकर समुद्रमें छिप गए। वे दिनभर तो पानीके अन्दर रहते और रात होनेपर जङ्गलोंमें रहने वाले ऋषि-मुनियों को सतानेके लिए बाहर निकल आते। कितने ही समय तक वे रातको इसी प्रकार आ-आकर वशिष्ठ, च्यवन, भरद्वाज आदि महर्षियोंके आश्रमोंमें रहने वाले ऋषि-मुनियोंके मांससे अपना भोजन करते रहे। लाचार होकर देवता महर्षि अगस्त्यजीकी शरणमें गए। उनके प्रार्थना करने पर ऋषि-मुनियोंकी रक्षाके लिए वे विकल हो उठे। उन्होंने एक ही चुल्लूमें सागरका समस्त जल पी डाला। सागरके गर्भमें छिपे हुए राक्षस सामने आ गए। देवोंने उनमेंसे कुछका तो संहार कर दिया और कुछ फिर भी बचकर पातालमें जाकर छिप गए।

एक बार ब्रह्महत्याके पापके कारण इन्द्रको अपने पदसे च्युत हो जाना पड़ा। उस समय इन्द्रासनपर राजा नहुष अधिष्ठित हुए। इन्द्र होनेपर अधिकारके मदसे उसकी बुद्धि विमोहित होगई। उन्होंने सोचा कि इन्द्राणी को अपनी पत्नी बनाए बिना इन्द्रका पद अधूरा है। जब इन्द्राणीसे इसके लिए प्रार्थना की गई तो बृहस्पतिजीकी सलाहसे उन्होंने उसको कहला भेजा कि अगर नहुष किसी ऐसी सवारीपर आए जिसपर आज तक कोई भी न चढ़ा हो तो मैं उसकी बात मान सकती हूँ। नहुष चिन्तामें पड़ गए। दूसरे ही क्षण सवारीका ध्यान आ गया उन्हें। उन्होंने सवारी होनेके लिए ऋषियोंको बुलाया। ऋषियोंको मानापमानका तो कोई ध्यान था ही नहीं; नहुषसे आदेश पाकर आ लगे सब पालकीके नीचे। राजा नहुष अब उसपर सवार हुए। वे इन्द्राणीके पास शीघ्रातिशीघ्र पहुँचना चाहते थे। इसलिए उन्होंने एक कोड़ा हाथमें ले रक्खा था और ऋषियोंको "सर्प! सर्प!!"—जल्दी चलो! जल्दी चलो!! कहकर प्रताड़ित करने लगे। यह बात महर्षि अगस्त्यसे न देखी गई। उन्होंने शाप देकर नहुषको 'सर्प' बना दिया। नहुषको अपने पापोंकी उचित सजा मिल गई।

रामावतारके समय भगवान श्रीराघवेन्द्र इनके आश्रम पर आए। महर्षि अगस्त्यका मन उनके दर्शन करते ही नाचने लगा। उन्होंने उनका आदर-सत्कार किया, स्तुति-स्तवन किए

एवं उनके साथ वार्तालाप तथा संसर्गसे अपने जीवनको सफल बनाया। महर्षिने श्रीरामचन्द्रको अनेक प्रकारके शस्त्रास्त्र दिये और उनको सूर्योपस्थानकी पद्धति बतलाई।

महर्षि अगस्त्यके द्वारा दीक्षित होकर सुतीक्ष्णके मनमें श्रीरामजीके प्रति अत्यधिक प्रगाढ़ प्रेम हो गया था। वे अपनत्व भूलकर भगवान श्रीरामजीके लिए इतने व्याकुल हो गए कि आगे आनेवाले भक्त इनकी भक्तिको आदर्श मानकर अपनी साधनाको सफल बनाने लगे।

लङ्का-विजयके उपरान्त जब श्रीरामजीका राज्याभिषेक हुआ तो महर्षि अगस्त्य वहाँ पहुँचे। उन्होंने भगवान श्रीरामजीको अनेकों प्रकारकी कहानियाँ सुनाई। इनके द्वारा कही गई अधिकांश कथाएँ वाल्मीकि-रामायणके उत्तरकाण्डमें उपलब्ध हैं। 'अगस्त्य-संहिता' नामक एक उपासना-ग्रंथकी इन्होंने रचना की है।

एक बार अगस्त्यजीके मनमें भगवानके दर्शन करनेकी अभिलाषा पैदा हुई। वे ब्रह्माजी की आज्ञासे वैङ्कटेश पर्वतपर जाकर उनके आविर्भावकी प्रतीक्षा करने लगे। उधर भगवानका परम-भक्त राजा शंख भी भगवानके दर्शन पानेको उनकी भक्तिमें रत था। श्रीहरिने आकाशवाणी द्वारा उसको भी श्रीअगस्त्यके पास वैङ्कटेश पर्वतपर जाकर दर्शन करनेकी आज्ञा दी। भगवानका वहाँ आविर्भाव हुआ। महात्मा शङ्ख और महर्षि अगस्त्यके साथ अनेकों देवताओं और मुनियोंको भगवानके चतुर्भुज रूपका दर्शन प्राप्त हुआ। राजा शङ्ख और महर्षि अगस्त्य दोनों को निर्मल भक्तिका वरदान देकर भगवान अन्तर्धान हो गए।

कई बार विन्ध्याचल सूर्यके सामने आकर उनके प्रकाशको रोक लेता था, जिससे सूर्य की किरणें संसारमें नहीं आ पाती थीं और वहाँ बराबर अन्धकार बना रहता था। देवताओंने अगस्त्यजीसे प्रार्थना की। महर्षि अगस्त्य अपने शिष्य विन्ध्याचलके पास आए। महर्षिको देखते ही उसने उनके चरणोंमें साष्टाङ्ग प्रणाम किया। उन्होंने उसे उसी प्रकार पड़े रहनेका आदेश दे दिया। वह आज-पर्यन्त उसी प्रकार प्रणत पड़ा है।

श्रीअगस्त्यजी भगवानकी कृपासे सप्तर्षियोंमें अपना स्थान प्राप्त कर सके। उनकी तपस्याके तेज से समस्त राक्षस डरते थे; रावण भी उनसे भय खाता था। उनकी भक्ति भगवानको बहुत प्रिय थी। इसी भक्तिके कारण वे कल्पान्त तक अमर रहकर श्रीहरिके भजनका सौभाग्य प्राप्त कर सके।

श्रीपुलस्त्यजी एवं श्रीपुलहजी

श्रीपुलस्त्यजी एवं पुलहजी आपसमें भाई-भाई थे। ये ब्रह्माजीके नौ प्रजापतियोंमें-से थे। दोनों भाइयोंमें भगवानके प्रति अनुराग था। ये संसारमें रहकर भगवानका स्मरण करते हुए अपने कर्त्तव्योंका पालन किया करते थे। अन्तमें अपने सदाचार, परोपकार, कर्त्तव्य-निष्ठा एवं धार्मिक प्रवृत्तिके कारण उन्हें मोक्ष प्राप्त हुई।

महर्षि श्रीच्यवनजी

महर्षि च्यवन बड़े तपस्वी मुनि थे। वे अपने आश्रममें निवास करते हुए अनन्त काल तक समाधिस्थ रहकर भगवानका ध्यान किया करते थे। वे न कुछ खाते थे और न पीते ही थे। यहाँ तक कि स्वाँस लेना भी त्याग दिया करते थे।

एक बार वे इसी प्रकार समाधिस्थ थे। दीर्घ-कालसे अङ्ग-सञ्चालन न करनेके कारण दीमकोंने अपनी बाँबीसे उनको पूर्ण रूपसे ढक दिया था, उनकी आँखोंके सामने केवल दो सूराख-से बन गए थे जिनमेंसे उनके नेत्र टिमटिमाया करते थे।

उसी समय उनके आश्रममें राजा शर्याति अपनी पुत्री सुकन्याके साथ घूमनेके लिए आए। सुकन्या अपनी सखियोंके साथ प्रकृतिका सौन्दर्य देखकर मुग्ध होती हुई वनमें चारों ओर घूम रही थी। सहसा उसकी निगाह महर्षि च्यवनकी नेत्र-ज्योतिपर पड़ी। कौतूहलवश सुकन्याने एक काँटा उठाकर उन ज्योतियोंको वेध दिया। इससे उनमें से खून बहने लगा। उसी समय राजा शर्यातिके सैनिकोंका मल-मूत्र रुक गया और उनके पेटमें बड़ी वेदना होने लगी। राजा को बड़ा आश्चर्य हुआ। वे अपने सैनिकोंसे बोले—"अरे! तुम लोगोंने कहीं महर्षि च्यवनके प्रति अपराध तो नहीं कर दिया है जिससे तुमको यह कष्ट उठाना पड़ा हो?" यह बात सुनकर सुकन्याको ध्यान आया और वह डरती-डरती अपने पितासे बोली—"पिताजी! मुझसे अज्ञात-रूपसे एक अपराध होगया है।" उसने अपने पिताको जङ्गलमें घटित सम्पूर्ण घटनाको सुनाया।

अपनी कन्याकी यह बात सुनकर शर्याति बड़े घबड़ाए। वे समाधिस्थ च्यवनके पास गए और अनेकों प्रकारसे प्रार्थना करके उनको प्रसन्न किया। इसके बाद उनका अभिप्राय समझ कर उन्होंने अपनी कन्याका विवाह उनसे कर दिया और तब अपनी राजधानीमें आए। उधर परम क्रोधी च्यवनको अपने पतिके रूपमें प्राप्त कर सुकन्या बड़ी सावधानीसे उनके मनोनुकूल बर्ताव करके उन्हें प्रसन्न रखनेकी कोशिश करने लगी।

कुछ समयके उपरान्त एक दिन च्यवन-ऋषिके आश्रममें अश्विनीकुमार आए। महर्षिने बड़ी श्रद्धासे उनका आदर-सत्कार किया और कहा—"आप दोनों समर्थ हैं, अतः आप मुझे युवावस्था प्रदान कीजिए। मेरा रूप एवं अवस्था ऐसी हो जाय, जैसी कि युवतियाँ चाहती हैं। मैं जानता हूँ कि आपको देवताओंने सोम-रस पीनेके अधिकारसे वञ्चित कर रखा है, फिर भी मैं आपको यज्ञमें सोमरसका भाग दूँगा।"

महर्षिकी बातोंसे अश्विनीकुमार बड़े प्रसन्न हुए और बोले—"आइए, हम आपकी अभि-लाषा पूरी करते हैं।" वे उन्हें सिद्धोंके कुण्डमें लेगए और उन्हें उसके जलमें प्रवेश कराया। सरोवरके बाहर आते ही च्यवनकी स्थिति बिलकुल ऐसी ही होगई जैसी कि वे चाहते थे।

कुछ समयके उपरान्त च्यवन-ऋषिने शर्यातिके आग्रहपर उनका यज्ञ कराया। सोमयज्ञका अनुष्ठान किया गया। सोमपानके अधिकारी न होनेपर भी शर्यातिने अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार अश्विनीकुमारोंको सोमपान कराया। इन्द्रको यह कब सहन होता? उसने शर्यातिको मारनेके लिए वज्र उठाया, पर महर्षि च्यवनने वज्रके सहित उनका हाथ स्थिर कर दिया। तबसे सब देवताओंने अश्विनीकुमारोंको सोमपानका अधिकारी मान लिया। जिन तपस्वी महर्षिने इन्द्र की परम्पराको पलटकर अनधिकारी अश्विनीकुमारोंको भी सोमपायी बना दिया, उनकी महानता का कैसे वर्णन किया जा सकता है?

श्रीवशिष्ठजी

श्रीवशिष्ठजी मित्रावरुणके पुत्र थे। बादमें निमिके शापसे देह-परित्याग करनेके उपरान्त वे आग्नेय-पुत्र कहलाए। सती-शिरोमणि भगवती अरुन्धती उनकी पत्नी हैं। पहले कल्पमें ये ब्रह्माजीके मानस-पुत्र थे। उस समय जब सृष्टिकर्त्ताने इनको सूर्यवंशका पौरोहित्य सौंपा तो इन्होंने अस्वीकार कर दिया; क्योंकि इस कार्यको पुराणोंमें श्रेष्ठ नहीं माना गया है। यह देख ब्रह्माजीने इनको समझाया—"बेटा! पुरोहित-कर्म शास्त्रोंके अनुसार श्रेष्ठ नहीं है और फिर तुम-जैसे त्यागी-तपस्वीको तो और भी इसकी आवश्यकता नहीं है तथापि मैंने यह कार्य जो तुम्हें सौंपा है, इसका कारण यह है कि तुम्हारी मनोकामना इस वंशके पौरोहित्यसे ही सफल होगी। आगे चलकर इसी वंशमें मर्यादा-पुरुषोत्तम भगवान श्रीराम जन्म लेंगे। तुम्हें उन अखिल-ब्रह्माण्डनायक राघवेन्द्रका गुरुत्व प्राप्त होगा। बतलाओ, उससे बढ़कर इस जीवनकी सार्थकता और क्या हो सकती है?" ब्रह्माकी बात वे मान गए और तब सूर्यवंशका पौरोहित्य उन्होंने स्वीकार कर लिया।

पहले ये सम्पूर्ण सूर्यवंशके पुरोहित थे, किन्तु बादमें राजा निमिसे विवाद हो जानेपर वे अयोध्याके पास एक कुटिया बना कर रहने लगे। अब ये केवल इक्ष्वाकु-वंशका ही पौरोहित्य करते थे।

श्रीवशिष्ठजी अयोध्या नरेशके सर्वाङ्गीण कल्याणकी सर्वदा चेष्टा किया करते थे। जब अनावृष्टिसे अकाल पड़ता तो वे तपोबलसे वर्षा करके प्रजाका कल्याण करते, जब अतिवृष्टि, या रूपकों और शत्रुओंका प्रकोप होता तो उसे भी शमन करनेमें ये ही समर्थ सिद्ध होते। तप द्वारा गङ्गाजीको लानेमें हताश भगीरथको प्रोत्साहित कर पुनः अपने प्रयत्नपर अग्रसर करने वाले श्रीवशिष्ठजी ही थे। निःसन्तान दिलीपको नन्दिनीकी सेवा द्वारा पुत्रकी प्राप्ति वशिष्ठजीने ही करवाई थी।

एक बार विश्वामित्रजी सेना-सहित श्रीवशिष्ठजीके आश्रममें आए। महर्षिने

उनका आदर-सत्कार किया। भोजनके समय केवल नन्दिनी-गायके दुग्धसे बने पाककी सहायता से वे समस्त सेनाके साथ विश्वामित्रको संतृप्त कर सके। गाय का ऐसा अद्वितीय प्रभाव देख कर विश्वामित्रजीने उसे प्राप्त करनेकी अभिलाषा प्रकट की, किन्तु वशिष्ठजी उस गायको किसी भी मूल्यपर देनेको राजी नहीं हुए। अन्तमें राज-मदसे उन्मत्त विश्वामित्रने उसे शक्तिके द्वारा छीन लेनेकी चेष्टा की। महान् तेजस्वी वशिष्ठने अपने तपोबलसे अपार सैन्य-दलकी सृष्टि करके विश्वामित्रजीकी समस्त सेनाका विध्वंस कर दिया। विश्वामित्रजीको मुँहकी खानी पड़ी। वे पराजित हुए, पर उनके हृदयमें वशिष्ठजीके प्रति द्वेषका भाव और भी प्रबल हो गया।

इस बार वे भगवान शङ्करजीकी शरणमें गए। विश्वामित्रने अनेक प्रकारकी स्तुति और तपश्चर्याके द्वारा उनसे कितने ही दिव्य शस्त्रास्त्र प्राप्त किए। इस बार विशेष उत्साह और विजयकी आशा लेकर वे महर्षिके सामने आए। दोनों ओरसे उत्तर-प्रत्युत्तर हुए, पर इस बार भी विश्वामित्रकी कामना अधूरी ही रही। महर्षि वशिष्ठके ब्रह्मदण्डके सामने उन्हें पराजित ही होना पड़ा।

अब उन्होंने उग्र तप करके ब्राह्मणत्व प्राप्त करनेकी चेष्टा की। उन्होंने महर्षिके एक-सौ पुत्रोंका विनाश कर दिया, पर शान्त-चित्त वशिष्ठका मन अनुद्वेलित ही रहा। उनके हृदयमें न तो क्रोध ही जागा और न किसी प्रकारकी प्रतिहिंसाकी भावना ही पैदा हुई। एक दिन रातमें विश्वामित्रजी वशिष्ठजीको मारनेके लिए आए। शान्त-स्निग्ध निशा, प्रकृतिके प्रत्येक अङ्गको धवलित करने वाली शीतल ज्योत्स्ना, मन्द-मन्द मुस्कानके समान प्रवाहित होने वाला सौरभमय शीतल पवन! सबकी ओरसे आँखें मूँदकरके विश्वामित्रजी लुकते-छिपते, वृक्ष-लताओंसे टकराते चले आरहे थे वशिष्ठजीकी हत्या करने। आश्रमके पास विश्वामित्रजी आए। वे पीछे ही लताओंके झुरमुटमें छिप गए यह देखनेके लिए कि वशिष्ठजी कहाँ है और क्या कर रहे हैं? उसी समय इनको सुनाई पड़ा। वशिष्ठजी अपनी पत्नीसे कह रहे थे—"सचमुच, बड़-भागी तो वे श्रीविश्वामित्र ही हैं, जो इस निर्मल चन्द्र-ज्योत्स्नामें उग्र तप करके भगवानको प्रसन्न करनेकी चेष्टा करते हुए अपने जीवनको सफल बना रहे हैं।"

विश्वामित्रजीने वशिष्ठकी बातोंका यह अंश सुना तो उनका हृदय पश्चात्तापसे भर गया। उनकी आत्मा उनको धिक्कारने लगी—"छिः! विश्वामित्र! जो व्यक्ति एकान्तमें तेरे क्रिया-कलापोंकी प्रशंसा करके तुझे धन्यतम बतला रहा है, उसीकी अकारण हत्या करनेके लिए तू कटिबद्ध है।"

इस बार भी वशिष्ठकी क्षमा-शीलता और सहिष्णुताके सामने विश्वामित्रजीकी हार हुई। वे शस्त्र फेंक कर आश्रममें गए और वशिष्ठजीके चरणोंमें गिर पड़े। वशिष्ठजीने उन्हें हृदयसे लगा लिया और सबसे पहिले उनको ब्रह्मर्षि स्वीकार किया।

अन्तमें वह समय आया जिसके लिये इच्छा न होनेपर भी वशिष्ठजीने पुरोहित-कर्म स्वीकारा था। श्रीरामजीका अयोध्याके महाराज दशरथके घर जन्म हुआ। उन्होंने उनके समस्त संस्कार कराए। वे उनके गुरु बने और योगवाशिष्ठ–जैसे ज्ञानके मूर्तरूप ग्रंथका उन्होंने श्रीरामजीको उपदेश किया। उनका हृदय श्रीरामजीके प्रेममें पगा था। कोई भी कार्य वह श्रीरामजीकी मनोकामनाके विपरीत करना नहीं चाहते थे। उनका विश्वास था कि—

'राखे राम रजाय रुख, हम सबकर हित होय।'

उनकी अभिलाषा प्रभु श्रीरामजीकी अभिलाषाके साथ मिल गई थी, आराध्यकी भावना के साथ अपनी इच्छाकी तदाकारतासे बढ़कर भक्तिकी और क्या पराकाष्ठा हो सकती है? अपनी इसी भक्तिभावना और लोक-मंगल-कामनाके कारण आज भी वशिष्ठजी देवी अरुन्धती के साथ सप्तर्षियोंके मण्डलमें सुशोभित हैं।

श्रीसौभरिजी

जिस समय मान्धाता सप्त-द्वीपवती इस पृथ्वीके एकछत्र अधिपति थे, उस समय यमुना किनारेके एक परम रमणीक स्थलमें सौभरि नामके एक महातपस्वी मुनि रहा करते थे। वे यमुना-स्नान करते और सांसारिक विषयोंसे अनभिज्ञ रहकर तपस्यामें अपना समय लगाते।

एक बार यमुनामें डुबकी लगानेके बाद जब वे अपनी तपश्चर्यामें निमग्न थे, तो उन्हें एक मत्स्यराज दिखाई पड़ा। वह अपनी पत्नियोंके साथ विहार कर रहा था। उस संयोग सुखकी कल्पनासे उनका मन विचलित हो उठा और वे विवाह करनेकी अभिलाषा करने लगे। महाराजा मान्धाताके पास जाकर उन्होंने अपनी इच्छा व्यक्त की और यह भी कहा कि वे अपनी पचास कन्याओंमेंसे एकका विवाह उनके साथ कर दें। मुनिकी बातको मान्धाता टाल नहीं सकते थे। पर उनकी वृद्धावस्थाको देखकर उन्होंने कहा—"भगवन्! मेरी पचास कन्याओंमें से जो भी आपको चुन ले आप उसीको ले लीजिए।"

महाराजके मनका भाव समझनेमें सौभरि ऋषिको देर न लगी। वे सोचने लगे—"राजाने वृद्धावस्थाके कारण मेरी आकृतिके बेडौल हो जानेके कारण ही ऐसी बात कही है। वह जानता है कि जिसके मुँहपर झुर्रियाँ पड़ गई हैं, गर्दन हिलने लगी है, शरीर काँपने लगा है, ऐसे बुड्ढेको कोई भी कन्या पतिरूपमें स्वीकार करना नहीं चाहेगी। अच्छी बात है। मैं अपनी तपस्याके बलसे अपने आपको इतना सुन्दर बनाऊँगा कि राजकन्याओंकी तो बात दूर रही, देव-कन्याएँ और गन्धर्व-कन्याएँ भी मेरे लिए व्याकुल हो उठें।" उन्होंने ऐसा ही किया। वे अपनी वृद्धावस्थाको त्यागकर एक स्वस्थ-सुन्दर नवयुवकके समान बन गए।

फिर क्या था, राजाज्ञाके अनुसार उनको सजे-सजाए अन्तःपुरमें पहुँचा दिया गया।

सौभरिकी रूप-सम्पदाको देखकर सभीका मन उनसे जा लगा । वे सभी उनको पतिरूपमें पाने के लिए प्रयत्नशील हो गई—'ये तो मेरे योग्य हैं, तुम व्यर्थ ही इनके प्राप्त करनेकी कामनासे मन क्यों ललचाती हो ?' अन्तमें सभीका ऐसा आग्रह देख कर सौभरिने सबको अपनी पत्नी बना लिया और सानन्द गार्हस्थ्य-जीवन बिताने लगे । अपनी तपस्याके बलसे उन्होंने सुन्दर सौरभमय पुष्पोंवाली वाटिकाओंका, शीतल अमृतोपम जलवाले सरोवरोंका, ऊँचे-ऊँचे राज-प्रसादोंको भी तिरस्कृत करनेवाले महलोंका एवं इन्द्रके वैभवसे भी बढ़कर भोग-सामग्रियोंका निर्माण अपने विहारके लिये किया । इस प्रकार अपनी तपस्याके प्रभावसे अपनेको सरोज-पुञ्जोंसे युक्त सुरभित सरोवरोंसे घिरे हुए महलोंमें बहुमूल्य शय्या, आसन, वस्त्र-आभूषण, स्नान, अनुलेपन, सुस्वादु भोजन और पुष्प-मालाओंके द्वारा अपनी पत्नियोंके साथ विहार करने लगे । उनके इस ऐश्वर्य, वैभव एवं रमणको देखकर महाराज मान्धाताकी बुद्धि भी विधकित होगई ।

दीर्घकाल तक ऋग्वेदाचार्य श्रीसौभरिजी इस प्रकारसे सांसारिक सुखोंमें फँसे रहे, किन्तु उनकी कामना एवं भोगेच्छा शान्त न हुई, अपितु दिन-प्रति-दिन बढ़ती रही । एक दिन उनका मन कुछ स्वस्थ था । चित्तपरसे भोगोंके आकर्षणका प्रभाव जब कुछ क्षणके लिये समाप्त हुआ तो वे अपनी इस स्थितिपर पछताते हुए कहने लगे—

अहो इमं पश्यत मे विनाशं तपस्विनः सच्चरितव्रतस्य ।
अन्तर्जले वारिचर-प्रसङ्गात् प्रच्यावितं ब्रह्म चिरंभृतं यत् ॥

—अरे, मैं तो बड़ा तपस्वी था । मैंने भलीभाँति अपने व्रतोंका अनुष्ठान किया था । मेरा यह अधःपतन तो देखो ! मेरा वह ब्रह्मतेज, जिसको अनन्तकालकी दीर्घ तपस्यासे उपार्जित किया था, एक मछलीके क्षणिक संसर्गसे विनष्ट होगया ।

अपने उस तपस्वी-कालकी इस वर्तमान दशासे तुलना करने पर उनका मन एक विचित्र प्रकारकी ग्लानिसे भर गया । "कहाँ वह शान्त-सन्तोषी एकान्त जीवन और कहाँ यह प्रति-पल मनः-स्थितिको विकम्पित करने वाली वासनामयी दशा ! हाय ! मैंने मायाके द्वारा विवेक-बुद्धिके नष्ट हो जानेके कारण अपना मन किस निन्दनीय कार्यमें लगा दिया !"

इस प्रकार पश्चात्तापसे उत्तप्त-हृदय मुनि सौभरि संन्यास लेकर वनको चले गए । उनकी पत्नियोंने भी उन्हींके साथ वनकी यात्रा की । वहाँ सौभरिने तपस्याके द्वारा अपने भौतिक शरीरको सुखा डाला और वे आत्माको पहले समान ही तेजस्वी बनानेमें लग गए । दीर्घकाल तक तप करते-करते जब उनकी आत्मा विकृति-रहित होगई तो वह शरीर त्याग कर परमात्मामें जा मिली ।

मुनिकी तपस्याके प्रभावसे ही उनकी पत्नियाँ भी सती होगईं और उन्होंने भी अपने पतिका मार्ग ही अनुसरण किया ।

—०—

श्रीकर्दमजी

महर्षि कर्दम ब्रह्माजीके पुत्र थे। प्रजापतिने सृष्टि-विस्तारके लिए इनसे कहा, किन्तु इन्होंने पहले तपस्या करनेका विचार किया और इसीलिए वे सरस्वती नदीके किनारे जाकर तपस्या करने लगे। दीर्घकाल तक भगवच्चिन्तन करनेके बाद इनको श्रीहरिके दर्शन प्राप्त हुए। भगवान ने आकर श्रीकर्दमसे कहा—"आजसे तीसरे दिन प्रजापतिके पुत्र मनु आपके पास आवेंगे, उनके साथ उनकी पत्नी शतरूपा और कन्या देवहूति भी होंगी। वे तुमसे अपनी परम-सुन्दरी कन्याका विवाह कर देंगे। तब तुम्हारा मनोरथ सिद्ध होगा और तुम प्रजापति ब्रह्माकी आज्ञा का पालन कर सकोगे।" भगवान इतना कहकर अन्तर्धान होगये।

तीसरे दिन महाराज मनु अपनी पत्नी एवं कन्याके साथ श्रीकर्दमके आश्रममें आए। सबने महर्षिको प्रणाम किया। उनको आशीर्वाद देनेके उपरान्त जब कर्दमने उनसे आश्रममें आनेका कारण पूछा तो महाराज मनुने कहा—"महाभाग! यह देवहूति मेरी कन्या है, जो प्रियव्रत एवं उत्तानपादकी बहिन है। इसकी अभिलाषा शील-गुण आदि में अपने समान ही पति प्राप्त करनेकी है। इसने देवर्षि नारद से आपके शील, स्वभाव और गुणोंके सम्बन्धमें सुना है, अतः आपको पतिरूपमें प्राप्त करना चाहती है। मेरी भी यही अभिलाषा है कि आप इस कन्याको अङ्गीकार करके मुझे अनुगृहीत करें।"

श्रीकर्दमजीने भगवानके आदेशानुसार मनुकी कन्याको स्वीकार तो कर लिया, किन्तु उन्होंने एक शर्त लगादी। वे बोले—"मैं सन्तानोत्पत्ति तक ही गृहस्थाश्रममें रहूँगा, इसके बाद संन्यास लेकर भगवानके भजनमें ही शेष जीवन बिताऊँगा।" सभीको यह शर्त स्वीकार थी। देवहूतिका विवाह कर्दमजीके साथ कर दिया गया। महाराज मनुने कन्याके साथमें अनेकों प्रकारके वस्त्र, आभूषण एवं गृहस्थोचित सामग्री प्रदान की।

विश्वास पवित्रता, उदारता, संयम, शुश्रूषा, प्रेम और मधुर भाषण आदि गुणोंसे सुशोभित देवहूति तन, मन, प्राणसे प्रेमपूर्वक अपने पतिकी सेवामें लग गई। काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह, कपट आदि दोष कभी भी उनके मनमें नहीं आते थे। इस प्रकार पतिको परमेश्वर मानकर उनकी सेवा करते हुए उनको कितने ही वर्ष व्यतीत होगए।

एक दिन अपनी सेवामें सतत लगी रहनेवाली देवहूतिको अत्यन्त कृश देखकर कर्दमका हृदय उनके प्रति दयासे भर गया। वे उनसे बोले—"प्रिये! दीर्घकाल से तुम मेरी सेवा करती चली आरही हो; मैं तुम्हारी सेवासे बड़ा प्रसन्न हूँ। मेरी तपस्या से संसार के समस्त भोग सम्भव हैं। तुमको जिस भोगके भोगनेकी अभिलाषा हो वह मुझे बतलाओ!" पतिकी बात सुनकर देवहूतिने बड़े संकोचसे अपनी सन्तान-विषयक अभिलाषा प्रकट की। कर्दमने अपनी प्रेयसीकी मनोकामना पूरी करनेका निश्चय किया। उनकी इच्छा-मात्रसे एक बड़ा सुन्दर विमान

आकाश से उतरकर आया । कर्दम पत्नी सहित उसपर सवार होगए । असंख्यों दास-दासियों से युक्त हो उन्होंने अनेकों वर्षों तक विहार किया । कुछ समयके पश्चात् देवहूतिके गर्भसे नौ कन्याओंका जन्म हुआ । सभी कन्याएँ बड़ी सुन्दर और उत्तम गुणवाली थीं ।

अब कर्दमकी प्रतिज्ञा पूरी हो चुकी थी । उनका संन्यास लेनेका समय आगया था । जब महर्षिने अपनी प्रिय पत्नीको उस शर्तका ध्यान दिलाया तो वे बोलीं—"महाराज ! आप अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार अब वन तो जारहे हैं, किन्तु फिर भी मैं आपकी शरण हूँ । आपको मेरी एक विनय और माननी होगी । इन कन्याओंको वरोंके हाथमें सौंप देना आपका ही काम है । साथ ही जब आप वनको चले जायँ, उस समय मेरे जन्म-मरणरूप शोक और बन्धनको दूर करने वाला भी कोई यहाँ होना चाहिए ।" देवहूतिका तात्पर्य पुत्र-प्राप्ति से था ।

महर्षि कर्दमने कहा—"तुम धैर्य धारण करो । कुछ दिनमें भगवान स्वयं तुम्हारे गर्भसे जन्म लेंगे । अब तुम संयम, नियम, तप और दान आदि कार्योंमें अपना मन लगाओ एवं श्रद्धा तथा भक्तिसे भगवानकी आराधना करती रहो ।"

इसी बीच ब्रह्माजी नौ प्रजापतियोंके साथ वहाँ आए । उनके आदेशसे महर्षि कर्दमने अपनी नौ कन्याओंका विवाह उन प्रजापतियोंसे कर दिया । कला मरीचिको, अनसूया अत्रिको, श्रद्धा अङ्गिराको, हविर्भू पुलस्त्यको, गति पुलहको, क्रिया क्रतुको, ख्याति भृगुको और अरुन्धती वशिष्ठ मुनिको व्याही गई ।

तदनन्तर देवहूतिके गर्भसे भगवान कपिलने अवतार ग्रहण किया । धन्य होगई देवहूति ! उन्हें संसारमें जन्म लेनेका लाभ प्राप्त होचुका था । भगवान कपिलने अनेकों प्रकारसे अपने पिता कर्दमको उपदेश दिया । तत्पश्चात् वे विरक्त होकर जङ्गलमें चले गए और सर्वात्मभूत भगवानका भजन करके उन्होंने परमपद प्राप्त किया ।

श्रीअत्रिजी

महर्षि अत्रि ब्रह्माजीके मानस-पुत्र हैं । कर्दमकी पुत्री एवं कपिलकी भगिनी अनसूया इनकी पत्नी थीं । ब्रह्माजीने इस दम्पतिको सृष्टि करनेका आदेश दिया तो इन्होंने सृष्टि-कार्यसे पूर्व तपस्या करनी चाही और बड़ी घोर तपस्या की । इनकी तपस्याका उद्देश्य सन्तानोत्पत्ति न होकर भगवानका साक्षात्कार था । दोनों दम्पति प्रभु-ध्यान में तल्लीन थे । उसी समय ब्रह्मा, विष्णु, महेश—तीनों ही देवताओंने आकर उनको दर्शन दिए, किन्तु वे अपने ध्यानमें इतने मग्न थे कि इन देवताओंके आनेका उन्हें पता ही न चला ! जब देवताओंने ही उनको जगाया तो वे उठकर उनके चरणोंपर गिर पड़े और गद्गद्-कण्ठसे तीनोंकी स्तुति करने लगे । इनके प्रेम और निष्ठाको देखकर तीनोंको बड़ी प्रसन्नता हुई और उन्होंने इनसे वरदान माँगनेको कहा ।

ब्रह्माकी इनके लिए सृष्टि-विस्तार करनेकी आज्ञा थी, इसलिए इन्होंने तीनों देवताओंको पुत्र-रूप में माँग लिया। भक्ति-परवशताके कारण भगवानको वरदान स्वीकार करना पड़ा और तीनों देवताओंमें-से विष्णुजी दत्तात्रेयके रूपमें, ब्रह्माजी चन्द्रमाके रूपमें और शङ्करजी दुर्वासाके रूपमें अत्रिके यहाँ आविर्भूत हुए।

देवी अनसूयाको अपने इन तीनों बालकोंके अतिरिक्त और कुछ अच्छा ही नहीं लगता था। वे दिन-भर इन्हींको खिलाने-पिलाने और बहलानेमें लगी रहती थीं। जिनकी चरण-धूलि के लिए बड़े-बड़े योगी और ज्ञानी तरसते हैं, उन्हीं त्रिदेवको अपने आँगनमें शिशु-रूपमें विचरण करता देखकर सती अनसूया और महर्षि अत्रि कृतार्थ होगए।

श्रीराम वनवासके समय अपने छोटे भाई लक्ष्मण और सीताके साथ अत्रिके आश्रममें आए एवं पातिव्रत्य, सतीत्व और भक्ति की एकमात्र प्रतिमा अनसूयाको जगज्जननी जानकी जीके लिए स्त्री-धर्मोपदेशका सौभाग्य प्राप्त हुआ। उस समय भगवान श्रीरामकी महर्षि-अत्रिने भक्ति एवं श्रद्धा-पूर्वक स्तुतिकी और उनसे यही निवेदन किया कि—

'चरण सरोरुह नाथ जनि, कबहु तजै मति मोर।'

श्री अत्रिजीकी भगवान श्रीरामके चरण-कमलोंमें अपूर्व निष्ठा थी। वे आजीवन उन्हींका स्मरण, ध्यान एवं संकीर्तन करते रहे और अन्तमें उन्हींको प्राप्त होगए।

श्रीऋचीकजी एवं श्रीजमदग्निजी

श्रीऋचीकजीका जन्म भृगुवंशमें हुआ था। वे बड़े प्रभावशाली एवं भगवद्भक्त थे। एक बार वे महाराज गाधिके पास गए और उनकी कन्या सत्यवती (परशुरामकी बहिन) को माँगा। गाधिने देखा कि कन्या तो अभी यौवनको प्राप्त भी नहीं हुई है और मुनि वृद्ध हो चुके। इस स्थितिमें अयोग्य वरसे कन्याका विवाह किस प्रकार किया जाय? वे इस प्रकार विचारकर ऋषिसे बोले— "मुनिवर! हम लोग कुशिक वंशके हैं। आपको हमारी कन्याका मिलना असम्भव है। हाँ, एक बात है। यदि आप मुझे एक हजार ऐसे घोड़े शुल्क रूपमें दे सकें, जिनका शरीर तो चन्द्रमाके समान धवल हो, परन्तु एक-एक कान श्याम वर्णका हो, तो मैं अपनी कन्याका विवाह आपके साथ कर सकता हूँ। ऋचीकने जब यह बात सुनी तो वे राजाका आशय समझ गए। वे वरुणके पास गए और वहाँ से वैसे ही एक हजार घोड़े लाकर गाधिको दे दिए। इस प्रकार सुन्दरी सत्यवतीका विवाह ऋषि-ऋचीकके साथ होगया।

एक बार महर्षि ऋचीककी पत्नी एवं सास दोनोंने पुत्र-प्राप्तिकी इनसे प्रार्थना की। ऋषिने उनकी प्रार्थना स्वीकार कर ली और दोनोंके लिए अलग-अलग मन्त्रोंसे चरु पकाया। सासका चरु क्षत्रिय-तेजसे युक्त था और सत्यवतीके चरुमें ब्रह्मत्व निहित किया गया था। इसी बीच महर्षि स्नान करनेके लिए चले गए।

सत्यवतीकी माँने समझा कि मुनिने अपनी पत्नी सत्यवतीके लिए उसके चरुसे अवश्य ही श्रेष्ठ चरु बनाया होगा, इसलिए उसने उसका चरु माँग लिया। सत्यवतीने अपना चरु तो माँ को दे दिया और अपनी माँके चरुको स्वयं खा लिया। जब मुनिको दोनोंके बीच किए गए इस कार्यका पता लगा तो वे अपनी पत्नीसे बोले—"तुमने बड़ा अनर्थ कर डाला; क्योंकि जिस चरुके अन्दर क्षत्रिय-अंश निहित था, वह तुमने खा लिया है, अतः तुम्हारा पुत्र तामसी एवं घोर प्रकृतिका तथा सब लोगोंको दण्ड देनेवाला होगा और तुम्हारा भाई ब्राह्मण-अंश से उत्पन्न होनेके कारण एक श्रेष्ठ ब्रह्मवेत्ता होगा।"

सत्यवती पतिकी बात सुनकर घबड़ा गई। वह उनके पैरोंमें गिरकर प्रार्थना करती हुई बोली—"स्वामी! ऐसा मत करो। यदि कोई उपाय हो तो अब इस व्यवस्थाको बदल दो।" इस पर ऋचीकने पत्नीकी बात मान ली। वे बोले—"अच्छी बात है। अब पुत्रके बदले तुम्हारा पौत्र उग्र प्रकृतिका होगा, पुत्र नहीं।" यथासमय सत्यवतीके गर्भसे पुत्रोत्पत्ति हुई, जिसका नाम जमदग्नि रखा गया। पुत्रोत्पत्तिके बाद सत्यवती समस्त लोकोंको पवित्र करने वाली परम पुण्यमयी कौशिकी नदी बन गई और महर्षि ऋचीक तपस्या करनेके लिए वनमें चले गए।

जमदग्निने रेणु ऋषिकी सुन्दरी कन्या रेणुकासे विवाह किया। उससे वसुमान् आदि कई पुत्र पैदा हुए। उनमें सबसे छोटे परशुरामजी थे, जिन्होंने इक्कीस बार इस पृथ्वीको क्षत्रियों से शून्य कर दिया था।

उन दिनों हैहयवंशका अधिपति था अर्जुन। उस क्षत्रिय राजकुमारने दत्तात्रेयजीको प्रसन्न करके एक हजार भुजाएँ एवं युद्धमें अपराजित रहनेका वरदान माँग लिया था। उसे सभी सिद्धियाँ प्राप्त थीं। वह सूक्ष्म-से-सूक्ष्म और स्थूल-से-स्थूल रूप धारण करके संसारमें वायुके समान सर्वत्र बेरोक-टोक विचरण कर सकता था। एक दिन दैववशात् शिकार खेलता हुआ वह जमदग्नि मुनिके आश्रमपर आ निकला। महर्षिके आश्रममें यज्ञ-कार्योंका अनुष्ठान करनेके लिए कामधेनु रहती थी। उसी गायके दूधसे उन्होंने राजा सहस्रबाहुका सेना, मन्त्रियों और वाहनों सहित स्वागत किया। सहस्रबाहुने कामधेनुका चमत्कार देखा। उसे लगा—जैसे मुनि का ऐश्वर्य उससे कई गुना बढ़ा-चढ़ा हो। जमदग्निको राजाकी दुष्ट प्रकृतिका क्या पता था? वे स्वागत-सत्कारके उपरान्त भजन-साधन आदि कार्योंमें लग गए। उधर सहस्रबाहुने बिना उनसे पूछे ही अपनी सेनाको आदेश दिया कि वे उस गायको खोलकर महलोंमें ले जायँ। सैनिकोंने ऐसा ही किया। वे वत्स-सहित अबरन गायको माहिष्मती पुरी ले आए।

उनके चले जानेपर परशुरामजी आश्रममें आए। उन्हें राजा सहस्रबाहुकी नीचता और उसके द्वारा किये गए पिताजीके अपमानका पता लगा तो वे चोट खाए हुए साँपके समान व्याकुल हो उठे। उन्होंने अपने फरसा, तरकस, धनुष और ढालको सँभाला और भूखे सिंहके समान सहस्रबाहु

की सेनाके पीछे दौड़ गए। उन्होंने नगरके मार्गमें ही उसे आ दबाया। एक ओर हजार बाहुओंका दैत्याकार हैहयाधिपति अर्जुन और दूसरी ओर चमचमाते फरसेसे उसकी सेनाका विध्वंस करनेवाले परशुराम। घमासान युद्ध हुआ। अन्तमें सहस्रबाहुका मस्तक काट डाला गया और परशुराम गायको लौटाकर आश्रममें ले आए। जब जमदग्निको सब समाचार ज्ञात हुआ तो वे बड़े दुखी होकर बोले—"बेटा! मानता हूँ कि तुम बड़े भारी वीर हो, किन्तु इस शक्ति से भी बढ़कर क्षमा है। तुमने अष्ट लोकपालोंके अंशसे पैदा हुए नरपति सहस्रबाहुका वध करके प्रखर पाप कमाया है। तुम नहीं जानते बेटा! कि सार्वभौम राजाका वध ब्रह्महत्यासे भी बढ़कर है। जाओ! अब तुम समस्त तीर्थोंका सेवन करके भगवानका स्मरण करो जिससे तुम्हारे पाप नष्ट हो जायँ।"

एक दिन परशुरामकी माता रेणुका गङ्गामें जल भरनेके लिए गईं, तो क्या देखती हैं कि गन्धर्वोंका राजा चित्ररथ अप्सराओंके साथ जल-विहार कर रहा है। रेणुकाको वह दृश्य बड़ा अच्छा लगा और वह यह भूल गईं कि जमदग्निजीको होमके लिए विलम्ब हो जायगा। जल लेकर जब वह आश्रममें पहुँची, तो होमका समय निकल चुका था। शापके भयसे थर-थर काँपती हुई वह ऋषिके सामने अपराधीकी भाँति खड़ी हो गईं। मुनिने योग-बलसे जान लिया कि रेणुकाने मानसिक व्यभिचार किया है, अतः उन्होंने परशुरामको आज्ञा दी कि वह अपनी माँ और भाइयों को मार डाले। परशुरामने पिताकी आज्ञाका तत्काल पालन किया और क्षण-भर बाद तेज फरसेकी धारसे कटे हुए सिर पृथ्वीपर लोटते दिखाई देने लगे। पुत्रकी इस आज्ञाकारितापर जमदग्नि बड़े प्रसन्न हुए और वर माँगनेको कहा। परशुरामने यही माँगा कि उनकी माता तथा भाई जीवित हो जायँ। ऋषिने पुत्रकी अभिलाषा पूर्ण की और मरे हुए सब लोग इस प्रकार उठकर खड़े होगए जैसे सोकर उठे हों।

सहस्रबाहुके पुत्र पिताके वधसे क्षुब्ध हुए बैठे थे और बदला लेनेकी सोच रहे थे। एक दिन जब परशुराम और उनके भाई कहीं चले गए थे, वे अवसर पाकर आश्रमपर चढ़ आए और जमदग्नि ऋषिको मार डाला। इसका बदला, बादमें, परशुरामजीने इक्कीस बार क्षत्रियोंको मारकर चुकाया।

श्रीगर्गजी

ये यदुवंशियोंके पुरोहित थे। श्रीकृष्णजीका नामकरण-संस्कार इन्हींके द्वारा कराया गया था। ये श्रीकृष्णजीके परम भक्त एवं उपासक थे। गर्ग-संहिता इनकी एक प्रख्यात रचना है। इसमें इन्होंने भगवान श्रीकृष्णकी मधुर लीलाओंका गान बड़े मनोहर ढङ्गसे किया है।

श्रीगौतमजी

श्रीगौतमजी षट्-शास्त्रोंमें से न्याय-शास्त्रके आचार्य थे। इनका आश्रम सरयू-नदीके किनारे था। आज भी कार्तिककी पूर्णिमाको वहाँ मेला लगता है। उस स्थानपर इनकी पत्नी अहिल्याजीकी मूर्ति है।

अहिल्याजी पञ्चकन्याओं—(अहिल्या, द्रोपदी, तारा, कुन्ती और मन्दोदरी) में मानी जाती हैं। ये अत्यन्त सुशीला, परम सुन्दरी एवं विशेष गुणवती थीं। इनके असामान्य रूपके कारण इन्द्र-पर्यन्त समस्त देवता इनको प्राप्त करनेकी कामना रखते थे, अतः यह प्रश्न उपस्थित हुआ कि ये किसको मिलनी चाहिए। श्रीब्रह्माजीने इसकी व्यवस्था करदी। उन्होंने कहा—"जो एक दण्ड (२४ मिनट) में इस त्रिभुवनकी परिक्रमा कर आवेगा, वही इस परम सुन्दरी कन्याको वरण कर सकता है।"

ब्रह्माजीकी बात सबने मानली। वे अपने-अपने वाहनोंपर सवार होकर त्रिलोकी की परिक्रमा करनेके लिए चल पड़े। इधर गौतमजी भी उस सुन्दरीको प्राप्त करना चाहते थे। उनकी श्रीशालग्राममें विशेष निष्ठा थी। जब सब देवता शीघ्रगामी वाहनोंपर सवार होकर परिक्रमाके लिए चल दिए तब गौतमजीके इष्ट श्रीशालग्रामजीने उन्हें प्रेरित किया, जिसके अनुसार इन्होंने उनकी मूर्तिको स्थापित करके उसीकी प्रदक्षिणा कर ली। ऐरावत आदि वाहनोंपर द्रुतगतिसे जाते हुए इन्द्रादि देवताओंने देखा कि गौतमजी सबसे आगे बड़ी तेजीसे चले जारहे हैं। ब्रह्माजी ने भी स्वीकार किया कि श्रीगौतमजीने अपनी प्रदक्षिणा नियत समयसे पूर्व ही समाप्त कर ली है, अतः रूपवती अहिल्याका विवाह श्रीगौतमके साथ ही होना चाहिए। सभी देवताओंको ब्रह्माजी का यह निर्णय मानना पड़ा और अहिल्याजी गौतमको ब्याह दी गईं।

श्रीगौतमजी सरयू नदीमें नित्यप्रति स्नान करते एवं अन्य दैनिक कार्योंको करनेके बाद शालग्रामकी सेवामें लग जाते। भगवानकी कृपासे समस्त ऋद्धि-सिद्धियाँ उनको प्राप्त होगई थीं। वे अपने तपोबलसे सदा आगन्तुक ऋषि-मुनियोंका स्वागत बड़े सत्कारसे किया करते थे। इनकी कृपासे ही इनकी पत्नी श्रीअहिल्याजीको भगवान श्रीरामके दर्शन हुए। निमि-वंशके गुरु महर्षि शतानन्दजी इन्हींके पुत्र थे।

व्यास-शिष्य—(शुकदेवजी) का चरित्र पृ० सं० ४५ पर देखिए।

श्रीलोमशजी

ये वही ऋषिराज हैं जिन्हें हजारों वर्षों तक भगवानने अपने उदरमें रखकर अपनी महिमा और चरित्र दिखलाये। अन्तमें उन चरित्रोंको देखते-देखते लोमशजी जब ऊब गये, तो

भगवानने इन्हें बाहर निकाल दिया। बाहर निकलनेपर इन्हें लगा जैसे ये भगवानके उदरमें क्षण-भर ही रहे हों। दूसरी बार इन्होंने जब फिर भगवानकी मायाका विस्तार देखनेकी इच्छा प्रकट की, तो उन्होंने प्रलयका भयङ्कर दृश्य इन्हें दिखाया। उसे देखकर ये इतने घबड़ा गये कि भगवानसे अपनी माया समेट लेनेकी प्रार्थना की। भगवानने ऐसा ही किया और इनकी भक्तिसे प्रसन्न होकर इन्हें चिरजीवी होनेका वर दिया।

कहते हैं, एक समय वह आया जब अपनी लम्बी आयुसे ये उकता गए और भगवानसे मृत्युका उपाय पूछा। भगवानने कहा कि यदि तुम जल-अन्नकी या ब्राह्मणकी निन्दा करो, तो उस दुष्कार्यसे तुम्हारी मृत्यु हो सकती है। बड़े प्रसन्न होकर लौटते हुए ऋषि आश्रमको जारहे थे कि रास्तेमें इन्हें एक छोटी-सी पोखर मिली जिसका जल शूकरोंने लोट-लोट कर गन्दा कर दिया था। उसके किनारे पर एक स्त्री बैठी हुई थी। उसकी गोदमें दो बालक थे। ऋषिने देखा कि उसने पहले एक बच्चेको दूध पिलाया और फिर उसे धोकर दूसरे को। ऋषिको बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होंने उस स्त्रीसे जब स्तन धोनेका कारण पूछा, तो उसने बतलाया कि उसके दो बच्चोंमेंसे एक ब्राह्मणसे पैदा है और दूसरा उसके पतिसे जो किसी नीच जातिका था। ब्राह्मण से पैदा हुए बच्चेको वह स्तन धोकर दूध पिलाती थी। लोमश ऋषिका ब्राह्मणके चरणोदकको पीनेका नित्यका नियम था, अतः उन्होंने उसी पोखरके गन्दे जलसे उस ब्राह्मण-बालकके पैर धोकर आचमन कर लिया। उसी समय भगवानने प्रकट होकर कहा—"ऋषिवर! ब्राह्मणका ऐसा भक्त कभी नहीं मर सकता, अतः तुम मृत्युका मोह छोड़कर युगयुगान्तर तक मेरे भजन में रत रहो।"

श्रीभृगुजी

सरस्वती नदीके तीर पर एकबार ऋषिगण यज्ञ कर रहे थे कि उनमें इस विषयपर तर्क-वितर्क छिड़ गया कि ब्रह्मा, विष्णु, महेशमें कौन बड़ा है। तीनोंकी परीक्षा लेनेके लिए भृगुको नियुक्त किया गया। भृगु सबसे पहले अपने पिता ब्रह्माजीके पास गये और बिना नमस्कार-आदि किए लठ्ठकी तरह सामने खड़े होगए। ब्रह्माजीको बड़ा क्रोध आया, पर पुत्र जानकर पीगए। इसके बाद भृगु शिवजीके पास पहुँचे। अपने भाईको आता हुआ देखकर शिवजी आलिंगन करनेके लिए बढ़े, पर भृगु पीछे हट गए और शिवजीसे बोले—"तू कुमार्गगामी है, श्मशानमें घूमता है; मैं तेरा स्पर्श नहीं करूँगा।" शिवजी क्रोधसे लाल आँखें किए त्रिशूल उठाकर उन्हें मारनेके लिए दौड़े, लेकिन पार्वतीने पैरों पड़कर उन्हें शान्त किया। भृगुजी सबसे अन्तमें वैकुण्ठमें गए जहाँ कि विष्णु भगवान लक्ष्मीजीकी गोदमें सिर रखकर सोरहे थे। भृगुजी ने जाते ही उनकी छातीमें लात जमादी। भगवानने तत्क्षण उठकर भृगुके पैरको पकड़ कर कहा—"आपके चोट तो नहीं लगी?" परीक्षा समाप्त हुई। निर्णय होगया। भृगुजीकी आँखोंमें

भक्ति और प्रेमानन्दके आँसू छलछलाने लगे और भगवानकी स्तुति-द्वारा प्रसन्न कर वे लौट आए। उन्होंने ऋषियोंको निर्णय बतला दिया और स्वयं विष्णु भगवानकी भक्तिमें तल्लीन रहने लगे।

श्रीदालभ्यजी

श्रीदालभ्यजी भगवान दत्तात्रेयजीके शिष्य थे। श्रीदत्तात्रेयजीने इनको भगवद्भक्तिका ज्ञान कराया। उन्हींकी कृपासे इनको श्रीहरिके दर्शन प्राप्त हुए। अपने भजन-तप एवं गुरु-कृपासे इनको जो भी ज्ञान प्राप्त हुआ वह 'दालभ्य संहिता' में संगृहीत है।

श्रीअङ्गिराजी

महर्षि अङ्गिरा देवताओंके गुरु श्रीबृहस्पतिजीके पिता थे। श्रीनारदजीने आपको भक्तिका उपदेश किया था। आप भगवान वासुदेवके अनन्य भक्त थे। आपके द्वारा रचित 'आङ्गिरस-संहिता' प्रसिद्ध है। जब इन्होंने देखा कि बृहस्पतिजी योग्य हो गए हैं तो ये भगवानकी भक्तिमें लग गए और उनका ध्यान करते हुए नित्यधामको प्राप्त हुए।

श्रीऋषि शृङ्गजी

ये विभाण्डक मुनिके पुत्र थे। इन्होंने अपने पितासे ही विद्या-अध्ययन किया था। ये कभी भी ग्राम या नगरको नहीं गए थे, अतः इन्हें सांसारिकताका कुछ भी ज्ञान नहीं था। ये लौकिक व्यवहारसे दूर गहन वनमें पिताके आश्रममें ही रहा करते थे।

एक बार अङ्ग-देश (बिहार) में बड़ा भयङ्कर दुर्भिक्ष पड़ा। अन्न और चारेके अभावमें प्रजाजन 'त्राहि-त्राहि' करने लगे। पशु भूखके कारण प्राण त्यागने लगे। अपने राज्यमें इस भयङ्कर संकटको देखकर वहाँके राजा रोमपादको बड़ी चिन्ता हुई। उन्होंने ज्योतिषियोंको बुलाकर इस अनावृष्टिका उपाय पूछा। ज्योतिषियोंने बतलाया कि अगर किसी प्रकार ऋषि शृङ्गजी आवें तो वर्षा हो सकती है। इसपर ऋषिको जालमें फँसानेके लिए राजाने उनके पास कुछ सुन्दरी वेश्यायें भेजीं और वे नौकामें सवार होकर वहाँ पहुँची जहाँ ऋषि रहते थे। ऋषि शृङ्गके पिता विभाण्डक, संयोगसे, वहाँ उपस्थित नहीं थे। बाहर जाते समय वह अपनी कुटियाके चारों ओर एक रेखा खींच गए थे और अपने पुत्रसे कह गए थे कि रेखा-मण्डलसे बाहर मत निकलना। शृङ्गी ऋषिने संगीतकी मधुर ध्वनिको सुना, तो वे रेखाको लांघकर बाहर आगए और वेश्याओंके ललित विलासोंको दूरसे देखने लगे। वह सब उन्हें इतना मनोरम लगा कि धीरे-धीरे उनसे उनकी घनिष्ठता बढ़ गई और रोजका आना-जाना शुरू होगया। एक दिन

एक वेश्याने उनसे कहा—"हमारे देशकी यह रीति है कि लोग अपने प्रेमका परिचय परस्पर आलिंगन करके देते हैं।" भोले ऋषि इस कपट-चालको नहीं समझ सके और वेश्याकी बातों में आगए। अब उन लोगोंके बिना ऋषिका थोड़ी देरके लिए भी अपने आश्रममें मन नहीं लगता। दौड़-दौड़ कर वह उन्हींके पास जाते और घंटों तक उनके संगीत और नृत्यका आस्वादन करते रहते। एक दिन जब वह संगीतमें तल्लीन होकर देहानुसन्धान खो चुके थे, नौका छोड़ दी गई और इस प्रकार उन्हें अंग-देशमें पहुँचा दिया गया। ऋषिके पैर रखते ही रोमपादके राज्यमें वर्षा होने लगी और दुष्कालका भय जाता रहा।

श्रीमाण्डव्यजी

श्रीमाण्डव्य मुनि भगवानके परम भक्त थे। वे समस्त सांसारिक प्रपञ्चोंसे दूर रहकर सदा श्रीहरिके ध्यानमें लगे रहते थे। एक बार रात्रिके समय वे अपनी कुटीके सामने ध्यानस्थ हो भगवानकी लीलाओंका स्मरण कर रहे थे। उसी समय कुछ चोर राजा सुकेतुके कोषसे अपार सम्पत्ति चुराकर इनके आश्रमके पास आकर उसका विभाजन कर रहे थे। इतने ही में राजाके सिपाही वहाँ आ गए। उन्हें देखकर चोर भागने लगे। एक चोरने भागते-भागते एक मणि-माला ध्यानस्थ मुनिके गलेमें भी डाल दी। सिपाहीने इनको भी चोर समझा और उनके साथ इनको भी बंदी बना लिया। राजाने सबको शूलीपर चढ़ानेकी आज्ञा देदी। एक-एक करके सब चोर शूलीपर चढ़ा दिए गए। अन्तमें मुनिकी भी बारी आई। उनको भी शूली पर चढ़ाया गया। पर वे भगवानके ध्यानमें इतने तल्लीन थे कि उन्हें उसकी पीड़ाका अनुभव ही न हुआ और शूली टूट गई। तीन बार मुनिको शूली दी गई पर उसका प्रभाव इनपर न हुआ और ये जीवित ही बच गए।

यह आश्चर्य देख राज-पुरुषोंका भय बढ़ गया। राजाके पास भी इसकी खबर पहुँची। उन्होंने मुनिको सभामें उपस्थित करनेका आदेश दिया। राजाज्ञाके अनुसार मुनि राजसभामें लाए गए। राजा देखते ही उन्हें पहिचान गए। वे सिंहासनसे उतर कर उनके चरणोंपर गिर पड़े और अपने इस अपराधके लिए क्षमा माँगी। राजाका शरीर काँप रहा था। उन्हें भय था कि मुनि अभी क्रोधित होकर कहीं राज्य-ऐश्वर्य न समाप्त करदें; परन्तु ऐसा नहीं हुआ। मुनि अत्यन्त ही नम्र वाणीमें बोले—"राजन्! इसमें तुम्हारा कुछ भी अपराध नहीं है; तुम निर्दोष हो। यह यमराजकी चूक है। मैं अभी जाकर इसका उत्तर उसे देता हूँ।

वे चल दिए यमराजके पास। उनके क्रोधसे वह धर्मराज भी डर गया और अत्यन्त त्रस्त वाणीमें बोला—"महाराज! यह न तो मेरा दोष है, न राजा का; दोष है आपके पूर्व जन्ममें किए कुकृत्य का। आपने पहले जन्ममें अपनी बाल्यकालकी चपलताके कारण एक

पतङ्गको काँटेसे छेद दिया था। उसी अपराधके कारण आज आपको यह दण्ड भोगना पड़ा है।"

मुनिको उसकी बात सुनकर क्रोध आ गया। वे बोले—"दुष्ट! उस समय मैं बालक था—अज्ञानी, अबोध; ऐसे बालकका दोष तो धर्म-शास्त्र भी नहीं मानते। यह तूने बड़ी नीचता का कार्य किया है। जा, इस अपराधके बदले तू मृत्यु-लोकमें जन्म लेकर दास हो जा।" ऋषि आश्रमपर लौट आए और यमराजने दासीकी योनिसे विदुरके रूपमें जन्म लिया।

आश्रममें आकर ऋषि माण्डव्य फिर भगवानकी भक्तिमें लग गए और दीर्घकाल तक उनकी लीलाओंका अनुशीलन करके अन्तमें परमधामको प्राप्त हुए।

महर्षि श्रीविश्वामित्रजी

श्रीविश्वामित्रजीका जन्म कुशक वंशमें हुआ था। इनके पिताका नाम गाधि था। महर्षि विश्वामित्रकी एक बार नन्दिनी गायके लिए श्रीवशिष्ठजीसे अनमन होगई थी, जिसका सविस्तार वर्णन 'श्रीवशिष्ठजी' के प्रसङ्गमें किया जा चुका है।

विश्वामित्रजीके समान कठोर तपस्या करने वाले विरले ही होते हैं। परन्तु काम और क्रोधके कारण उनका बहुत-सा तप नष्ट हो गया। एक बार वे बड़ी उग्र तपस्या कर रहे थे। उस कठोर तपको देखकर देवराज डर गए। उन्होंने मेनका नामकी एक सुन्दर वेश्याको विश्वामित्रजीकी तपस्याको भङ्ग करनेके लिए भेजा। वह अपने उद्देश्यमें सफल हुई और दीर्घ-कालका सञ्चित तप विश्वामित्रजीके पाससे जाता रहा।

इसी प्रकार एक बार त्रिशङ्कुको सशरीर स्वर्ग पहुँचानेके लिए वे यज्ञ कर रहे थे। यज्ञमें अन्य मुनि तो उपस्थित हो गए, पर वशिष्ठ-पुत्र नहीं आए। इसपर विश्वामित्रजीको बड़ा क्रोध आया और उन्होंने उन सौ-के-सौ पुत्रोंको मार दिया। इससे भी उनकी तपस्याका ह्रास ही हुआ। अन्तमें यज्ञकी पूर्तिपर त्रिशङ्कु स्वर्ग पहुँच गए, पर देवताओंने उन्हें वहाँसे ढकेल दिया और वे उल्टे पृथ्वीकी ओर गिरने लगे। यह देख विश्वामित्रजीने उनको वहीं बीच आकाशमें रोक दिया और आज भी वे 'त्रिशङ्कु' तारेके रूपमें दिखाई देते हैं।

तपके प्रभावसे ऐसे अद्भुत कार्य करने पर भी जब इनको ब्रह्मर्षि नहीं स्वीकार किया गया तो ये दूसरी सृष्टि रचने लगे। इन्होंने अपनी एक नई ही दुनियाँ बनाकर तैयार कर दी। इस अव्यवस्थाको देखकर ब्रह्माजीको बड़ी चिन्ता हुई और उन्होंने श्रीविश्वामित्रजीको ब्रह्मर्षि स्वीकार कर लिया।

बार-बार काम क्रोधादिके शिकार हो जानेके कारण वे समझ गए थे कि ये तपके सब

से बड़े शत्रु हैं। इसीलिए अन्तमें आकर उन्होंने इनका पूर्ण रूपसे परित्याग कर दिया था। उनके आश्रममें अकसर रावणके द्वारा भेजे गए मारीच-सुबाहु आदि निशचर अनेकों राक्षसोंको अपने साथ लेकर चले आते थे और हड्डी, रक्त, मांस, मल-मूत्र आदि वर्षाकर यज्ञ वेदिकाओंको अपवित्र किया करते थे। महान् तपस्वी महर्षि विश्वामित्र सामान्य क्रोधसे ही इन समस्त राक्षसों का संहार कर सकते थे, पर अब इस प्रकारकी भावना भी उन ब्रह्मर्षिके हृदयमें नहीं आती थी; क्योंकि वे जानते थे कि क्रोधके समान तपका संहारक और दूसरा कोई नहीं है।

समस्त राक्षसोंको मारकर धरतीका भार उतारनेके लिए महाराज दशरथके यहाँ भगवान श्रीरामजीका अवतार हुआ। जब विश्वामित्रजीको इसका पता चला तो वे राक्षसोंका संहार करानेके लिए महाराज दशरथसे श्रीलक्ष्मणजीके सहित श्रीरामचन्द्रजीको माँग लाए और उनको यज्ञकी रक्षा करनेके लिए नियुक्त करके वे निश्चिन्त होकर यज्ञ करने लगे। इस बार भी राक्षसों के सरदार मारीच-सुबाहु एवं ताड़का अपने दल सहित आश्रमपर आए, किन्तु श्रीरामजीने एक ही बाणमें समस्त विघ्नोंको शान्त कर दिया। मारीच बाणके लगते ही सात समुद्र पार जा गिरा। सुबाहु और ताड़काकी राक्षस-शरीरसे मुक्ति होगई। श्रीरामजीकी यह अप्रतिम प्रतिभा देखकर विश्वामित्रजीको उनकी परात्परताका विश्वास होगया। उन्होंने अनेकों प्रकारके शस्त्रास्त्र श्रीराघवेन्द्रको प्रदान किए।

कुछ समय बाद श्रीजनक-सुताके स्वयंबरका समाचार श्रीविश्वामित्रजीको मिला। वे श्रीराम-लक्ष्मणको लेकर वहाँ गए। श्रीरामजीने उनकी प्रेरणासे धनुष तोड़ा और मैथिलीके साथ विवाह किया। वे बरातके साथ अयोध्या आए। वहाँ पर्याप्त समय तक महाराजसे सत्कृत एवं पूजित होकर अपने आश्रमको वापिस आगए। श्रीरामजीके वनवासके समय जब जनकजी श्रीरघुनाथजीसे मिलनेको गए तो श्रीविश्वामित्रजी भी उनके साथ गए थे और जब वे लौटे तभी वे भी वापस आए।

इस प्रकार ब्रह्मर्षि विश्वामित्रजीका समस्त जीवन तप और परोपकारमें ही व्यतीत हुआ। वे वेदमाता गायत्रीके द्रष्टा माने जाते हैं। उनके अनेक धर्म-ग्रन्थ हैं। अखिल लोकनायक भगवान श्रीरामजी जिन विश्वामित्रजीको अपना गुरु मानते थे और अपने कमल-कोमलकरों से जिनके चरण चापा करते थे-उन महर्षि श्रीविश्वामित्रजीसे बढ़कर भाग्यशाली और कौन हो सकता है?

श्रीदुर्वासाजी

ये अत्रि-ऋषिके पुत्र थे। आप अपने क्रोधके लिए पुराणोंमें प्रसिद्ध हैं। अम्बरीष राजा के प्रसङ्गमें पृ० सं० ६७ पर इनका विस्तृत चरित्र देखिए।

श्रीजाबालिजी

ये महाराज दशरथके मन्त्रि-मण्डलके प्रभावशाली ऋषि थे। यद्यपि आप नास्तिक-सम्प्रदायके प्रवर्तक माने जाते हैं, पर वास्तवमें हृदयसे ये भगवानके भक्त थे और इसी आशय से ये नास्तिक विचारोंका प्रदर्शन भी करते थे; क्योंकि वाद-विवादके द्वारा ही तत्त्व-ज्ञानमें सहायता मिलती है।

श्रीमायादर्श (मार्कण्डेयजी)

मुनि मृकण्डु मार्कण्डेयजीके पिता थे। जब उनके कोई सन्तान उत्पन्न न हुई तो वे भगवान शंकरकी भक्तिमें लग गए। उन्होंने अपनी पत्नीके साथ घोर तपस्या की। आशुतोष भगवान शिव प्रसन्न हो गए। उन्होंने मृकण्डुको पुत्र होनेका वरदान दिया। उन्हींकी कृपासे मार्कण्डेयजी उनके पुत्र हुए।

जब मार्कण्डेय सोलहवें वर्षमें लगे तो इनके पिता अत्यन्त दुःखी रहने लगे। उनकी उदासीको देखकर पुत्र मार्कण्डेयने इसका कारण पूछा। तब उन्होंने बतलाया—"बेटा! तुमको भगवान शङ्करने केवल सोलह वर्षकी अवस्था दी है। वह सोलहवाँ वर्ष अब चल रहा है। इस वर्षके अन्त तक तुम्हारी आयु समाप्त हो जायगी। मैं रात-दिन इसी चिन्ताके कारण शोकाकुल और उदास रहता हूँ।"

यह सुनकर मार्कण्डेयजी बोले—"पिताजी! आप इसकी चिन्ता छोड़ दें। मैं भगवान शङ्करको प्रसन्न करके ऐसा वरदान प्राप्त कर लूँगा कि मेरी मृत्यु कभी न हो।"

यह कहकर अपने माता-पिताकी आज्ञासे मार्कण्डेय भगवान शङ्करको प्रसन्न करनेके लिए तप करनेको चले गए। उन्होंने दक्षिण समुद्रके किनारे जाकर विधिवत् शिवलिङ्गकी स्थापना की और उसकी आराधना करने लगे। सोलह वर्ष समाप्त होनेपर काल आया। उस समय मार्कण्डेयजी मृत्युञ्जय-स्तोत्रका जाप कर रहे थे। उन्होंने कालसे कहा—"आप कुछ समय प्रतीक्षा कीजिए। मैं अभी मृत्युञ्जय-स्तोत्रका स्तवन कर रहा हूँ।"

काल यह माननेको तैयार न हुआ तो मार्कण्डेयने उसे फटकार दिया। वह बड़ा क्रोधित हुआ और आवेशमें आकर मार्कण्डेयको ग्रसना चाहा। उसी समय शिवलिङ्गसे साक्षात् भगवान आशुतोष प्रकट हो गए। उन्होंने भयङ्कर गर्जना करके कालकी छातीपर खींच करके जो लात मारी तो वह दूर जा गिरा। मार्कण्डेय अपने आराध्यके चरणोंसे लिपट गए और फिर उसी स्तवनका पाठ करने लगे।

कुछ विद्वान् मायादर्शको पृथक् भक्त मानते हैं, परन्तु उनका चरित्र पृथक् प्राप्त नहीं होता।

अब वे नैष्ठिक ब्रह्मचर्यका व्रत लेकर हिमालयकी क्रोड़में पुष्पभद्रा नदीके किनारेपर ऋषि-रूप-धारी भगवान नरनारायणकी आराधनामें लग गए। उन्होंने अपना मन सब ओर से हटाकर भगवान वासुदेवके चरणोंमें लगा रखा था। इस प्रकार तपस्या करते-करते जब बहुत समय व्यतीत हो गया तो इन्द्रको भय होने लगा। वे शङ्का करने लगे कि कहीं मार्कण्डेय इन्द्रासनके लिए तो इतनी उत्कट तपस्या नहीं कर रहे हैं। देवराजने उनकी तपस्याको भङ्ग करनेके लिए वसन्त, कामदेव एवं पुञ्जिकस्थली नामकी अप्सराको भेजा। तीनों मुनिके आश्रम में आए। वसन्तके प्रभावसे वृक्ष पुष्पित हो झूमने लगे, कोकिल कूकने लगीं और शीतल-मन्द सुगन्धित वायु चलने लगी। उस तपस्थलीमें विकीर्ण वसन्तके सौन्दर्यके अनुसार अपना शृङ्गार करके अप्सरा पुञ्जिकस्थली मुनिके सम्मुख गेंद खेलती हुई अपने मादक यौवन और नयन लुभाने वाले उमरते सौन्दर्यको लेकर आगे बढ़ी। कामदेवने भी सम्मोहन बाण चढ़ाया और उसे कर्ण-पर्यन्त खींचकर मुनिके ऊपर छोड़ दिया। किन्तु सभीके प्रयत्न विफल रहे। भगवान नरनारायणकी कृपासे किसीका मुनि मार्कण्डेयके मनपर प्रभाव नहीं पड़ा। मुनिको भगवानके ध्यानमें इस प्रकार तल्लीन देखकर सभी डरके मारे भाग गए। अब मार्कण्डेय और दृढ़तासे भगवानके भजनमें तल्लीन रहने लगे।

जब इस प्रकार की तपस्या करते-करते मार्कण्डेयको बहुत काल व्यतीत हो गया तो एक दिन उनके हृदयमें भगवान नारायणके दर्शनकी अभिलाषा पैदा हुई। वे उनके लिए अत्यन्त व्याकुल होगए। अन्तमें भगवानको उनकी प्रार्थना माननी पड़ी और सजल जलदाभ श्यामशरीर धारण करके वे मार्कण्डेयके सामने आ खड़े हुए। मुनि गद्गद् होगए। वाणी अपना मार्ग भूल गई। कितना सुन्दर शरीर! कितनी आकर्षक आँखें! एक क्षणके लिए वे स्तब्ध होगए। दूसरे क्षण जब उनकी चेतना आई तो वे सोचने लगे "भगवान न-जाने कबसे खड़े हैं और मैं पागलोंका-सा अभिनय कर रहा हूँ।" वे भगवानके चरणोंमें गिर पड़े और फिर उनकी भलीभाँति पूजा-अर्चना की। भगवानने सन्तुष्ट होकर उनसे वर माँगनेको कहा।

मार्कण्डेयजीने स्तुति करते हुए भगवानसे कहा—"प्रभो! प्राणीका परम पुरुषार्थ है आपके श्रीचरणोंका दर्शन प्राप्त करना। जिनको आपके दर्शन मिल गए उसे फिर अब क्या पाना शेष रह गया? किन्तु मैं वरदान माँगूँ—ऐसी आपकी आज्ञा है। इस लिए कृपा-निधान! मुझे एक बार अपनी मायाका दर्शन कराइए।"

भगवान वरदान देकर अन्तर्धान होगए और मुनि विशेष प्रसन्नतासे पुनः अपनी तपश्चर्या में लग गए। उसी समय उन्होंने क्या देखा कि चारों दिशाओंसे काली-काली घटाएँ गम्भीर गर्जन करती चली आरही हैं। देखते ही देखते भयङ्कर गर्जन और बिजलीकी चमकके साथ घनघोर वर्षा होने लगी और चारों दिशाओंसे पानीका उमड़ता हुआ महासागर आकर मिल-गया। सम्पूर्ण पृथ्वी जल-मग्न होगई। न वृक्ष-लता दिखाई देते थे न कोई दुर्ग-प्रासादका

शिखर। मुनि घबड़ाकर पानीके ऊपर तैरने लगे। उन्होंने चारों ओर देखा—प्रलय हो चुका था। न कोई वनस्पतिका चिह्न शेष था और न कोई जीव ही दिखाई देता था। सारा सागर उत्ताल लहरों की लपेटमें निमग्न हो गया। पानी की सतहपर तैरते मुनि कभी तो विशाल तरंगाघातसे इधरको जा गिरते और कभी उधर को। बहुत देर तक ऐसा होता रहा। अब मुनि थबड़ा गए। उसी समय उन्होंने उस जल-राशिके बीच नव-नव किसलयोंसे सुसज्जित एक सुन्दर वटका वृक्ष देखा। मुनिको कुछ साहस हुआ। वे उधर ही तैरते हुए चल दिए। पास जाकर उन्होंने देखा कि वटवृक्षकी ईशान-कोणकी शाखा पर आपसमें दो पत्तोंके सटजाने से एक बड़ा सुन्दर दोना सा बन गया है। उस दोनेमें एक बड़ा सुन्दर नव जलधरके समान श्यामवर्णका शिशु पड़ा-पड़ा अपने दाहिने चरणके अँगूठेको मुखमें लेकर चूँस रहा है। उसके हाथ-पैर अत्यन्त सुकुमार एवं लाल वर्णके बड़े सुन्दर हैं। त्रिभुवन-सुन्दर उसके मुखारविन्दपर धवल हासकी छटा दर्शनीय है। उसके बड़े-बड़े नील कमलसे नेत्र मानो प्रसन्नतासे खिले हुए हैं। सूर्य, चन्द्र एवं नक्षत्र-हीन आकाशके नीचे व्याप्त जलराशिके ऊपर छाए अन्धकारको शिशुके मुखमण्डलसे निकलता हुआ एक प्रकाश नष्ट कर रहा है। मुनिको बड़ा आश्चर्य हुआ। वे शिशुके और पास गए और उसके चरणोंमें प्रणाम किया।

बालकके पास आते ही मुनिकी सब थकावट दूर होगई। उनका मन उस शिशुको गोदमें उठानेके लिए लालायित होगया। वे आगे बढ़कर उसे अपने अङ्कमें उठा लेना चाहते थे कि उसी समय उसके श्वासके कारण वे बालक की नासिकाके द्वारा उसके उदरमें खिंचे चले गए। वहाँ उन्होंने वही सब वर्तमान देखा जो कुछ समय पूर्व संसारमें दिखलाई दे रहा था। सूर्य, चन्द्र, तारक-मालाएँ, नदी, पहाड़, झरने, द्रुम, लता, वन, उत्तुंग प्रासाद, निकेतन, यहाँ तक कि अपने आश्रम और स्वयंको भी मुनिने उदरमें देखा। विश्वकी समस्त जड़-चेतन, वस्तुओं के देखते उनके अनेक युग बीत गए; पर उसका वारपार वे न पासके। आश्चर्य चकित, एवं भयभीत हो उन्होंने अपनी आँखें बन्द करलीं। इसी समय वे शिशु-रूप भगवानकी नासिकाके छिद्रसे श्वासके साथ बाहर आकर उसी प्रलय-सिन्धुमें फिर आ पड़े। अब भी सागर उसी प्रकार गरज रहा था। उसकी थपेड़ोंको सहते मुनि जब आगे बढ़े तो फिर उनकी निगाह उसी सौन्दर्य-मूर्ति शिशुपर पड़ी। वे आगे बढ़कर उस बालकसे ही इस सबका रहस्य पूछना चाहते थे, पर अचानक ही वह सब दृश्य बदल गया। अब न तो वहाँ सागरकी गरजती लहरें थीं, न बालक और न वह वट वृक्ष ही। मुनिने देखा कि वे तो पुष्पभद्रा नदीके किनारे पर वैसे ही बैठे हैं। मुनि समझ गए कि यह सब भगवानकी ही माया है। उनका हृदय आनन्दसे भर गया और वे अत्यधिक श्रद्धा एवं दृढ़ विश्वाससे उनके ध्यानमें मग्न गए।

उसी समय अपने वाहनपर सवार होकर श्रीशङ्कर भगवान पार्वतीजीके साथ वहाँ पर आए। पार्वतीजीने जब मार्कण्डेय मुनिको ध्यानस्थ देखा तो उन्हें दया आगई। वे महादेवजीसे

बोलीं—"नाथ ! ये मुनि सब ओर से अपने मनको हटाकर अचल तपस्यामें लगे हैं। आप इनपर कृपा कीजिए, क्योंकि तपस्वियोंको उनके तपका फल प्रदान करनेमें आप समर्थ हैं।"

भगवान शङ्करने कहा—"प्रिये ! ये मुनि मार्कण्डेय हैं। ये भगवानके निष्काम भक्त हैं। इनकी तपस्याका कारण तो भगवानको प्रसन्न करना है, किसी भी वरदानकी प्राप्ति नहीं। इनके समान भगवद्भक्त परम-भागवतसे बातें करनेमें मैं अपना सौभाग्य समझता हूँ। अतः इनसे मैं वार्तालाप अवश्य करूँगा।

इतना कहकर शङ्करजी मुनिके पास गए, पर उनको इनके आने का पता ही न चला। वे तो भगवानके ध्यानमें समस्त बाह्य संसारको भूले हुए थे। शङ्करजीने योगबलसे उनके हृदयमें प्रवेश किया तो मुनिका ध्यान भङ्ग होगया। उन्होंने घबड़ाकर आँखें खोल दीं। सामने श्रीशङ्कर भगवती पार्वतीके साथ खड़े थे। मार्कण्डेयके आनन्दकी सीमा न रही। उन्होंने आदर-पूर्वक उनका सत्कार किया। भगवान शङ्कर बड़े प्रसन्न हुए; उन्होंने ऋषिसे वरदान माँगनेको कहा। मुनिने हाथ जोड़कर कहा—"दयामय ! यदि आप मुझपर प्रसन्न हैं तो मुझे यही वरदान दीजिए कि भगवानमें मेरी अविचल भक्ति हो, आप में मेरी श्रद्धा हमेशा बनी रहे और भगवान के भक्तोंके लिए मेरे मनमें अनुराग हो।"

वरदान देकर भगवान शङ्कर पार्वतीके साथ कैलासपर चले गये। मार्कण्डेय मुनि भगवानकी कथाओंमें बड़ी रुचि रखनेवाले थे। समस्त पुराणोंका कथन इन्होंने ही अपने शिष्यों को किया है।

श्रीकश्यपजी

इस जड़-चेतन समस्त सृष्टिके कर्ता पितामह भगवान ब्रह्मा हैं। उन्होंने सृष्टिकी इच्छासे मरीचि, अत्रि, अङ्गिरा, पुलस्त्य, पुलह और क्रतु— ये छः मानस-पुत्र उत्पन्न किए। इनमें कश्यप महर्षि मरीचिके पुत्र थे। दक्ष प्रजापतिने अदिति, दिति, दनु, काला, दनायु, सिंहिका, क्रोधा, प्राधा विश्वा, विनता, कपिला, मनु और कद्रू—इन अपनी तेरह कन्याओंका विवाह इनके साथ कर दिया। सम्पूर्ण सृष्टिकी उत्पत्ति इन्हीं तेरह कन्याओंसे है। संसारके समस्त स्थावर-जङ्गम पशु-पक्षी, देवता-दैत्य, मनुष्य—ये सब कश्यप भगवान की ही सन्तान हैं।

अपनी सब पत्नियोंमें अदिति कश्यपको सबसे अधिक प्यारी हैं। इन्द्रादि समस्त देवता और द्वादश आदित्य इन्हींकी सन्तान हैं। भगवान वामनने भी इन्हींके यहाँ अवतार लिया था। कश्यप-अदितिने भगवानको प्रसन्न करनेके लिए अनन्त काल तक तपस्या की थी। इसी तपके कारण उनकी सन्तानमें यह शक्ति प्राप्त हुई कि उनके लिए निराकार भगवानको भी साकार-रूप धारण करके आना पड़ा और उनके प्रेममें अपनी भगवत्ताको भूलकर उनके अनुसार नाच नाँचना पड़ा।

भगवान कश्यपकी अनेक कथाएँ पुराणोंमें भरी पड़ी हैं। यहाँ तो केवल उनके सम्बन्ध में इतना ही कह देना पर्याप्त है कि वे भगवानके परम-भक्त इस चराचरमय संसारके आदि-पिता हैं।

श्रीपर्वतजी

ये एक विख्यात महर्षि हैं। इनका वर्णन 'अद्भुतरामायण' में आता है। उसके अनुसार एक कल्पमें श्रीपर्वतजीके शापके कारण ही श्रीलक्ष्मीनारायणने अवतार लेकर रावण और कुम्भकर्ण का वध किया था। आप भगवानके बड़े भक्त थे।

श्रीपाराशरजी

महर्षि पराशरजी बड़े ज्ञानी एवं भगवद्भक्त थे। महाराज जनकको इन्होंने नीति, ज्ञान और वैराग्य-सम्बन्धी अनेक उपदेश दिए थे। इनकी पत्नी सत्यवती एक धीवर-राजकी पुत्री थी। अठारह पुराणोंके प्रणेता एवं वेदोंका विभाग करनेवाले भगवान वेदव्यास इन्हींके पुत्र थे। व्यासजी महाराजके समान ज्ञानी भक्त जिनके पुत्र हैं, उन पराशर-मुनिके गुणोंका ज्ञान कर सकना किसकी सामर्थ्य में है? 'पाराशर-गीता' इनका विख्यात ग्रन्थ है।

मूल (छप्पय)

महापुराण

ब्रह्म, विष्णु, शिव, लिङ्ग, पद्म, स्कन्द विस्तारा।
वामन, मीन, बराह, अग्नि, कूरम उदारा॥
गरुड़, नारदी भविष्य, ब्रह्मवैवर्त श्रवण शुचि।
मार्कण्ड, ब्रह्माण्ड कथा नाना उपजै रुचि॥
परम धर्म श्रीमुख कथित चतुःश्लोकी निगम सत।
साधन साध्य सत्रह पुराण, फलरूपी श्रीभागवत॥१७॥

अर्थ—उपर्युक्त अठारह पुराणोंमें ब्रह्मपुराणसे लेकर ब्रह्माण्ड-पुराण तक सत्रह पुराण साधन हैं और अठारहवाँ पुराण श्रीमद्भागवत साध्य है। इसमें भगवानने स्वयं अपने श्रीमुखसे सब धर्मोंमें श्रेष्ठ भागवतधर्मका निरूपण किया है। श्रीमद्भागवतके भी अन्तर्गत 'चतुःश्लोकी भागवत' को तो सबका सार कहना चाहिए। इन पुराणोंको सुनने तथा कथारूपमें सुनानेसे भक्ति के प्रति रुचि जागृत होती है।

(अठारहों पुराणोंकी श्लोक-संख्या चार लाख है।)

मूल (छप्पय)

(अठारह स्मृतियाँ और उनके रचयिता)

मनुस्मृति, अत्रेय, वैष्णवी, हारितक, यामी।
याज्ञवल्क्य, अंगिरा, शनैश्चर, सामर्तक नामी॥
कात्यायनि, सांख्लय, गौतमी, वासिष्ठी, दाखी।
सुरगुरु, आतातापि, पराशर, क्रतु मुनि भाखी॥
आशा पास उदारधी, परलोक लोक साधन सो।
दस-आठ स्मृति जिन उच्चरी तिन पद-सरसिज भाल मो॥१८॥

अर्थ—मनुस्मृतिसे लेकर क्रतुस्मृति तक अठारह स्मृतियाँ जिन महामुनियोंने रची हैं, उनके चरण-कमलोंको मैं अपने मस्तक पर लगाता हूँ। ये स्मृतियाँ संसारी अभिलाषाके कठिन जालसे छुड़ाती हैं। इनके रचे जानेका उद्देश्य अत्यन्त उदार है—अर्थात् इन्हें लोक-कल्याण की कामनासे ऋषियोंने बनाया है। ये इस लोक और परलोक दोनोंको सुधारती हैं, अतः साधन-रूपा हैं।×

मूल (छप्पय)

(श्रीराम-सचिव)

धृष्टी, विजय, जयन्त, नीतिपर शुचिर विनीता।
राष्टरवर्धन निपुण, सुराष्टर परम पुनीता॥
अशोक सदा आनन्द धर्मपालक तत्ववेत्ता।
मंत्रीबर्ज सुमंत्र चतुर्जुंग मंत्री जेता॥
अनायास रघुपति प्रसन्न भवसागर दुस्तर तरैं।
पावैं भक्ति अनपायिनी जे राम-सचिव सुमिरन करैं॥१९॥

अर्थ—श्रीरामचन्द्रजीके (ऊपर लिखे गए) आठ मन्त्रियोंका जो लोग स्मरण करते हैं,

---

× स्मृतियाँ वे ग्रन्थ हैं जिनमें जन्मसे लेकर मरण-पर्यन्त मनुष्योंके समस्त कर्तव्योंका समय-समयके लिए विधान किया गया है। वर्ण और आश्रम-धर्मके अतिरिक्त इनमें अग्निहोत्र आदि कर्म, दण्ड-व्यवस्था, राज-शासन-प्रणाली आदिसे सम्बन्धित सब नियमोंका संग्रह है। छप्पयमें गिनाई गई मनुस्मृति, आत्रेयस्मृति, वैष्णवस्मृति, हारितस्मृति, याम्यस्मृति, याज्ञवल्क्यस्मृति, आंगिरसस्मृति, शनैश्चर-स्मृति, सांवर्तकस्मृति, कात्यायनस्मृति, सांखल्यस्मृति, गौतमस्मृति, वासिष्ठस्मृति, दाक्ष्यस्मृति, बार्हस्पत्य-

उनकी श्रीरामजीके चरणोंमें अमिट भक्ति हो जाती है और बिना किसी प्रयत्नके श्रीरामचन्द्रजी उन पर प्रसन्न हो जाते हैं, जिसका फल यह होता है कि वे संसार-समुद्रसे पार उतर जाते हैं। (इन मन्त्रियोंमें) श्रीधृष्टिजी, जयन्तजी और विजयजी—ये अत्यन्त नीति-निपुण, सुशील और परम पवित्र भावनाओंसे युक्त हैं। श्रीराष्ट्रवर्धनजी भी नीति-संचालनमें परम प्रवीण हैं और श्रीसुराष्ट्रजी अतिशय पवित्र विचारोंके हैं। श्रीअशोकजी सदा भगवानकी प्रेमा-भक्तिमें मग्न रहनेवाले हैं और श्रीधर्मपालजी परम तत्त्वज्ञानी भागवत हैं। सुमन्त्रजी इन सब मन्त्रियोंमें प्रधान हैं और इतने अनुभवी और विद्वान् कि चारों युगोंमें इनके समान नीति-कुशल और स्वामि-भक्त मन्त्री खोजनेसे नहीं मिलेगा।

मूल (छप्पय)

(श्रीराम-सहचरवर्ग)

दिनकरसुत, हरिराज, बालिबछ, केसरि-औरस।
दधिमुख, दुबिद, मयंद, ऋच्छपति सम को पौरस॥
उल्का सुभट सुषेन, दरीमुख, कुमुद, नील, नल।
सरभरु, गवै, गवाच्छ पनस गँधमादन अतिबल॥
पद्म अठारह यूथपाल रामकाज भट भीर के।
शुभ-दृष्टि-वृष्टि मोपर करौ जे सहचर रघुबीर के॥२०॥

अर्थ—श्रीरामचन्द्रजीके सदा साथ रहने वाले सखागण मुझपर अपनी कल्याणकारी दृष्टि डालें और कृपाकी वर्षा करें। (इनके नाम इस प्रकार हैं—) सूर्यपुत्र श्रीसुग्रीव, अङ्गद, केशरीनन्दन हनुमान, दधिमुख, द्विविद, मयन्द, रीछोंके राजा जाम्बवान् जिनके समान वीर और कोई नहीं, परम योद्धा उल्कामुख, सुषेण, दरीमुख, कुमुद, नील, नल, शरभ, गवय, गवाच, पनस, महाबली गन्धमादन आदि अठारह पद्मयूथपति तथा सेनाके अन्य शूर-वीर जो संकट के समय श्रीरामचन्द्रजीके काम आते हैं।

स्मृति, शातातपस्मृति, पाराशरस्मृति और क्रतुस्मृतिके रचयिता क्रमशः श्रीमनुजी, श्रीअत्रिजी, श्रीविष्णुजी, श्रीहारीतजी, श्रीयमराजजी, श्रीयाज्ञवल्क्यजी, श्रीअंगिराजी, श्रीशनैश्चरजी, श्रीसंवर्तजी, श्रीकात्यायनजी: श्रीशङ्खजी, श्रीगौतमजी, श्रीवशिष्ठजी, श्रीदक्षजी, श्रीबृहस्पतिजी, श्रीशातातपजी, श्रीपराशरजी और श्रीक्रतुमुनिजी हैं। इन स्मृतियोंके अतिरिक्त और भी कई प्रसिद्ध स्मृतियाँ हैं; जैसे—आपस्तंब, औशनस, भारद्वाज, काश्यप पाराशर आदि।

मूल (छप्पय)

(नव नन्दगण)

धरानन्द, ध्रुवनन्द, तृतिय उपनन्द सु नागर।
चतुर्थ तहाँ अभिनन्द नन्द सुख-सिन्धु उजागर॥
सुठि सुनन्द पशुपाल, निर्मल निहचल अभिनन्दन।
करमा, धरमानन्द, अनुज बल्लभ जगबन्दन॥
आस-पास वा बगर के जहँ बिहरत पशुप स्वछन्द।
ब्रज बड़े गोप 'पर्जन्य' के सुत नीके नव नन्द॥२१॥

अर्थ—व्रज-भूमिके आदरणीय गोप पर्जन्यजीके नव सुन्दर पुत्र थे, जो 'नव नन्द' के नाम से प्रसिद्ध थे। इनके नाम हैं—सर्वश्री (१) धरानन्द, (२) ध्रुवनन्द, (३) उपनन्द जो एक विदग्ध व्यक्ति थे, (४) अभिनन्द, (५) सुखके समुद्र और यशस्वी नन्द, (६) पशुओं का पालन करने वाले तथा निश्चित रूपसे संसारको आनन्दित करने वाले सुनन्द, (७) कर्मानन्द, (८) धर्मानन्द तथा (९) सबसे छोटे भाई वल्लभजी। गोप-गण जहाँ स्वतन्त्रतापूर्वक विचरण करते थे उस स्थानके निकट ये नौ नन्द रहते थे।

मूल (छप्पय)

नन्दगोप, उपनन्द, ध्रुव धरानन्द, महरि जसोदा।
कीरतिदा वृषभानु कुँअरि सहचरि (विहरति) मनमोदा॥
मधु, मंगल, सुबल, सुबाहु, भोज, अर्जुन, श्रीदामा।
मंडली ग्वाल अनेक श्याम संगी बहु नामा॥
घोष निवासिनि की कृपा, सुर-नर-वाँछित आदि अज।
बाल-वृद्ध नर-नारि गोप, हौं अर्थी उन पाद-रज॥२२॥

अर्थ—जिन घोष-निवासियोंकी कृपाकी ब्रह्मादिक देवगण तथा मनुष्य कामना करते हैं, उन बालक-वृद्ध, स्त्री-पुरुष ग्वालोंकी चरण-रजको मैं (अपने मस्तक पर धारण करना) चाहता हूँ। इन गोपोंके नाम हैं—(१) श्रीनन्दगोप, (२) उपनन्द, (३) ध्रुवनन्द, (४) धरानन्द, (५) महरि यशोदाजी, (६) स्मरण द्वारा कीर्ति देनेवाली श्रीवृषभानुकी धर्म-पत्नी श्री'कीर्ति', (७) राजा वृषभानु, (८) मनको आनन्द देनेवाली सखियों-सहित वृषभानु-नन्दिनी श्रीराधिका,

(९) मधु, (१०) मङ्गल, (११) सुबल, (१२) सुबाहु, (१३) भोज, (१४) अर्जुन गोप, (१५) श्रीदामा तथा (१६) श्यामसुन्दर श्रीकृष्णके अनेक नामधारी अनेक सखा आदि।

मूल (छप्पय)

(श्रीकृष्णचन्द्रके सोलह सखा)

रक्तक पत्रक और पत्रि सब ही मन भावैं।
मधुकंठो मधुवर्त रसाल बिसाल सुहावैं॥
प्रेमकन्द मकरन्द सदा आनँद चंद्रहासा।
पयद बकुल रसदान सारदा बुद्धिप्रकासा॥
सेवा समय बिचारि कैं चारु चतुर चितकी लहैं।
ब्रजराज सुवन सँग सदन बन अनुग सदा तत्पर रहैं॥२३॥

अर्थ—भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रके सोलह सखा बड़े सुन्दर और सेवा करनेमें प्रवीण हैं। ये अपनी-अपनी सेवाका स्वरूप और अवसर जानते हैं और भगवानकी रुचिको पहिचानते हैं। क्या घर और क्या बाहर वनमें—ये व्रजके राजा नन्दजीके पुत्रके साथ सदा अनुचर बन कर रहते हैं। इनका विवरण इस प्रकार हैं—

(१) रक्तक, (२) पत्रक और (३) पत्री ये तीनों सबको प्यारे लगते हैं। इनके अतिरिक्त अन्य सखा ये हैं—(४) मधुकंठ, (५) मधुवर्त, (६) रसाल, (७) विशाल, (८) प्रेमकन्द, (९) मकरन्द, (१०) सदानन्द, (११) चन्द्रहास, (१२) पयद, (१३) बकुल, (१४) रसदान, (१५) शारद और (१६) बुद्धिप्रकाश।

मूल (छप्पय)

(सप्तद्वीपके भक्तजन)

जम्बू और पलच्छि, साल्मलि, बहुत राजरिषि।
कुस पवित्र पुनि क्रौंच कौन महिमा जाने लषि॥
साक बिपुल बिस्तार प्रसिद्ध नामी अति पुहकर।
पर्वत लोकालोक ओक टापू कंचनधर॥
हरिभृत्य बसत जे जे जहाँ तिन सौं नित प्रति काज।
सप्त द्वीप में दास जे ते मेरे सिरताज॥२४॥

अर्थ—पृथ्वी-मंडलके सातों द्वीपोंमें तथा उनसे बाहर लोकालोक पर्वत और काँचन टापू पर जहाँ-जहाँ जितने भगवानके दास (भृत्य) रहते हैं, मेरा उन्हींसे प्रयोजन है और वही मेरे सिर-मुकुट हैं—अर्थात् उन्हींके आदर्शोंको शिरोधार्य कर मैं चलता हूँ। सातों द्वीपोंके नाम ये हैं—जम्बूद्वीप, प्लक्षद्वीप, शाल्मलिद्वीप, कुशद्वीप, क्रौंचद्वीप, शाकद्वीप और पुष्करद्वीप।

—इन द्वीपोंकी लम्बाई-चौड़ाई इस प्रकार कही जाती है—जम्बूद्वीप से प्लक्षद्वीप दूना है, प्लक्षद्वीप से शाल्मलिद्वीप दूना और प्रथमसे चौगुना है। कुशद्वीप शाल्मलिद्वीपसे दूना है। इस प्रकार सातवाँ पुष्कर-द्वीप प्रथम जम्बूद्वीपसे चौंसठ गुना बैठता है। ये द्वीप अपने वृक्षोंके नामसे विख्यात हैं—जैसे जामुन, पाकड़ी, सेमर, कुश आदि। इन द्वीपोंपर राजा प्रियव्रतकी सन्तान शासन करती है। प्रत्येक द्वीपमें सात राजे, सात पर्वत और सात नदियाँ हैं। ये भिन्न-भिन्न प्रकारके इक्षुरसोद, घृतोद, क्षीरोद आदि समुद्रोंसे घिरे हुए हैं।

मूल (छप्पय)

(जम्बुद्वीपके भक्तजन)

इलावर्त्त आधीस संकरषन अनुग सदासिव।
रमनक मच्छ मनु दास हिरन्य कूर्म अर्जम इव॥
कुरु बराह भू भृत्य बर्ष हरि सिंह प्रह्लादा।
किंपुरुष राम कपि भरत नरायन बीनानादा॥
भद्रासु ग्रीवहय भद्रस्रव केतु काम कमला अनूप।
मध्य द्वीप नव खंड में भक्त जिते मम भूप॥२५॥

अर्थ—(१) इलावर्त खण्डके अधिपति भगवान श्रीसंकर्षण हैं और उनके सेवक श्रीसदाशिव हैं। (२) रमणक खण्डके स्वामी श्रीमत्स्य भगवान हैं और उनके सेवक मनुजी हैं। (३) हिरण्मक-खंडके मालिक श्रीकूर्म भगवान हैं और उनके दास अर्यमा हैं। (४) कुरु-खंडके स्वामी श्रीवाराह भगवान हैं और उनकी परिचारिका भूमिदेवी हैं। (५) हरिवर्ष-खंडके अधीश्वर श्रीनृसिंह भगवान हैं और उनके सेवक प्रह्लाद हैं। (६) किम्पुरुष-खंडके श्रीरामचन्द्रजी स्वामी हैं और सेवक हैं श्रीहनुमानजी। (७) भरत-खंडके पालक श्रीनारायण हैं और उनके परिचारक हैं श्रीनारदमुनि। (८) भद्राश्व-खंडके स्वामी श्रीहयग्रीव भगवान हैं और उनके सेवक हैं श्रीभद्रश्रवा। केतुमाल-खंडके अधिपति श्रीकामदेव हैं और उनकी सेविका हैं अनुपम कमला।

ग्रन्थकार कहते हैं, मध्यद्वीप अर्थात् जम्बुद्वीपके नव खंडों में जितने भगवानके भक्तजन हैं वे राजा हैं (और मैं उनकी प्रजा)।

मूल (छप्पय)

(श्वेतद्वीपके भक्त)

श्री नारायण (को) बदन निरन्तर ताही देखैं ।
पलक परैं जो बीच कोटि जमजातन लेखैं ॥
तिन के दरसन काज गए तहँ बीनाधारी ।
स्याम दई कर सैन उलटि अब नहिं अधिकारी ॥
नारायन आख्यान दृढ़ तहाँ प्रसंग नाहिन तथा ।
स्वेतदीप में दास जे श्रवन सुनौ तिनकी कथा ॥२६॥

अर्थ—श्वेतद्वीपमें रहनेवाले भक्तोंकी कथा अपने कानोंसे सुनिये । ये लोग श्रीनारायणके मुख-चन्द्रको निरन्तर देखा करते हैं । यहाँ तक कि पलक मारनेसे जो व्यवधान पड़ जाता है उसे भी ये करोड़ों नरकोंकी पीड़ाके समान मानते हैं ।

एक बार श्रीनारदजी भगवानके इन भक्तोंके दर्शन करनेके लिये श्वेतद्वीपमें पधारे । नारदजीको आते हुए देखकर श्रीनारायणने उन्हें इशारा करके लौट जानेको कहा, क्योंकि भगवानकी रूप-माधुरीसे छके हुए ये लोग श्रीनारदजीकी ज्ञान-चर्चा सुननेके अधिकारी नहीं रह गए थे । इनकी तो श्रीनारायणकी प्रेमा-भक्तिकी कथाओंमें अविचल निष्ठा है । ज्ञानके प्रसङ्गका आदर वहाँ ऐसा नहीं है जैसा कि और जगह है ।

भक्ति-रस-बोधिनी

स्वेतदीपवासी सदा रूप के उपासी, गए नारद बिलासी, उपदेश आस लागी है ।
दई प्रभु सैन जिनि आवो इहि ऐन, दृग देखैं सदा चैन, मति-अति अनुरागी है ॥
फिरे दुख पाइ जाइ, कही श्रीवैकुण्ठनाथ, साथ लिए चले लखें भक्ति अंग पागी है ।
देख्यो एक सर, लग रह्यो ध्यान धरि, रिषि पूछैं कहो हरि, कह्यो बड़ो बड़भागी है ॥१०३॥

अर्थ—श्वेतद्वीपमें रहनेवाले भक्तगण भगवानके रूपकी आराधना करते हैं—अर्थात् उनकी रूप-माधुरी ही उनका एकमात्र साध्य है । समस्त ब्रह्माण्डमें ज्ञानोपदेशकी आशासे भ्रमण करनेवाले नारदमुनि एक बार वहाँ गए । उन्हें यह भरोसा था कि और स्थानोंकी तरह उन्हें श्वेतद्वीपमें भी उपदेश करनेका अवसर मिलेगा । भगवानने इशारेसे उनसे कहा—"इधर मत आना; इन्हें तो अपनी आँखोंसे मेरा दर्शन करनेमें परम सुख मिलता है । इनका मन मेरी रूप-माधुरीमें ही अनुरक्त है ।"

निराश होकर मनमें दुख पाते हुए श्रीनारदजी वहाँसे लौट दिये और सीधे वैकुण्ठधाम जाकर श्वेतद्वीपमें जो उनसे बीती थी, सब कह सुनाई । इस पर श्रीवैकुण्ठनाथ उन्हें साथ लेकर

यह दिखानेके लिए श्वेतद्वीप गए कि यहाँके निवासियोंके रोम-रोममें भगवानकी भक्ति किस प्रकार घर कर गई है। श्वेतद्वीप पहुँच कर दोनोंने एक तालाब देखा और ठहर गए। वहाँ एक पक्षी ध्यान लगाए बैठा था। ऋषिने प्रश्न किया—"भगवन्! यह पक्षी इस प्रकार क्यों निश्चल बैठा है?" भगवान बोले—"नारद! इसके बड़े भाग्य हैं जो यह यहाँ रह कर भगवानकी भक्तिमें इस प्रकार मग्न है।"

भक्ति-रस-बोधिनी

बरष हजार बीते, भए नहीं चितचीते, प्यासोई रहत, ऐपै पानी नहीं पीजिये।
पावे जो प्रसाद जब जीभ सो सवाद लेत, लेत नहीं और, याकी मति रस भीजिये॥
सीजै बात मानि, जल जान करि डारि दियो, लियो चोंच भरि, द्दग भरि बुधि धीजिये।
अचरज देखि, चष लगे न निमेष, किहूँ चहूँ दिशि फिरयो, अब सेवा याकी कीजिये॥१०४॥

अर्थ—भगवानने कहा—"देखो नारद! इसे इसी प्रकार ध्यान लगाते हुए एक हजार वर्ष बीत गए, लेकिन इसके मनकी अभिलाषा पूरी नहीं हुई। यह प्यासा रहता है, पर पानी नहीं पीता। इसके भोजनका यह हाल है कि जब इसको मेरा प्रसाद मिलता है तभी जीभसे भोजनका स्वाद लेता है। इसकी बुद्धि मेरी भक्तिमें ऐसी सराबोर होगई है! मैंने तुमसे जो कुछ कहा है, उसे ठीक वैसा ही मान लो—सन्देह करनेकी जरूरत नहीं।" यह कहकर भगवानने जल पीकर उस पक्षीके सामने रख दिया। उसने चोंच भरकर जल पी लिया। जल-प्रसाद ग्रहण करते ही उसकी आँखोंमें प्रेमानन्दके आँसू छलछलाने लगे और बुद्धि भी आनन्द से परिपूर्ण होगई। नारदजीने यह आश्चर्य देखा तो टकटकी लगा कर देखते ही रह गए—पलकोंका आँखोंसे लगना बन्द होगया। उन्होंने पक्षीकी परिक्रमा की और कहने लगे—"मेरा मन तो ऐसा करता है कि मैं यहाँ रह कर इसीकी सेवा किया करूँ।

भक्ति-रस-बोधिनी

चलो आगे देखो, कोऊ रहे न परेखो, भाव-भक्ति कर लेखो, गए द्वीप, हरि गाइये।
आयो एक जन धाइ, आरती-समय बिहाइ, सैंचि लिये प्रान, फेरि वपु याको आइये॥
कही इन कही, पति देख्यो नहीं महीं परयो, हरयो याको जीव, तन गिरयो, मन भाइये।
ऐसे पुत्र आदि आए, सांचे हितमें दिखाये, फेरि के जिवाए, ऋषि भाए चित लाइये॥१०५॥

अर्थ—नारदजीकी बात सुनकर भगवानने कहा—"अभी आगे और देखो। कहीं ऐसा न हो कि कोई दृश्य देखे बिना रह जाय और फिर तुम पछताना करो। यहाँके भक्तोंकी भक्ति-भावनाको अच्छी तरह देखो और समझ लो।" इस प्रकार बातें करते हुए दोनों श्वेतद्वीपके आन्तरिक भागमें पहुँच गये जहाँ कि (एक मन्दिरमें) हरिके गुणोंका कीर्तन हो रहा था।

इतने ही में एक व्यक्ति आया और यह जानकर कि आरतीका समय निकल गया और

वह दर्शनसे वंचित हो गया, उसने प्राणोंको निराशाके आवेशमें लम्बा जो खींचा, तो वे निकल गए। उसके बाद ही उसकी स्त्री आई और उसने भी पतिकी तरह पूछा—"आरती हो गई क्या?" भगवानने कहा—"हो गई। तेरे पतिको भी आरतीके दर्शन नहीं मिले, इसलिये वह मरकर पृथ्वी पर पड़ा है।" इसपर उस स्त्रीके प्राण भी वहीं निकल गए और उसका शरीर धमसे धरती पर गिर पड़ा। इसी प्रकार उनके बाद उनके पुत्र आदि आए और आरती न मिलनेके शोकमें मर गए। भगवानने नारदको इस प्रकार प्रत्यक्ष दिखला दिया कि उन भक्तोंका कैसा सच्चा प्रेम था। इनकी भक्तिसे प्रसन्न होकर भगवानने सबको जीवित कर दिया। इस आख्यान को ऋषियोंने अपने शिष्योंको बतलाया है। अन्य भक्तोंको भी इस चरित्रका मनन करना चाहिए।

—श्रीनारदजीके श्वेतद्वीप जानेका प्रसङ्ग श्रीनाभाजीने महाभारतके शान्तिपर्वसे लिया है। इसके अध्ययनसे विदित होता है कि यह श्वेतद्वीप भारतवर्षके उत्तरमें कहीं स्थित था। वहाँ के निवासियोंका रंग श्वेत रहा होगा और वे नारायणके एकान्त उपासक थे।

पश्चिमी विद्वानोंने अनुमान लगाया है कि यह श्वेतद्वीप भारतके उत्तरमें बैक्ट्रिया देशके ईसाई-मतके अनुयायी श्वेतांग व्यक्तियोंका उपनिवेश है। इस देशमें वे पेलोइनसे ईसाई धर्मके प्रचारार्थ आये होंगे। इससे यह निष्कर्ष निकाला गया है कि भक्ति-धर्मका उपदेश पहले-पहल नारदजीने ईसाइयों से लिया और तदनन्तर उसका भारतवर्षमें प्रचार किया। श्रीबलदेव उपाध्यायने इस उपहसनीय तर्क का खण्डन अपने "भागवत-संप्रदाय" नामक ग्रन्थमें किया है।*

मूल (छप्पय)

(अष्ट-कुल नाग)

इलापत्र मुख अनंत अनंत कीरति बिस्तारत।
पद्म, संकु, पन प्रगट ध्यान उर ते नहिं टारत॥
अंसु कंवल, बासुकी, अजित आग्या अनुवरती।
करकोटक, तच्छक, सुभट सेवा सिर धरती॥
आगमोक्त सिव-संहिता "अगर" एकरस भजन रति।
उरग अष्टकुल द्वारपाल सावधान हरिधाम थिति॥२७॥

अर्थ—श्री अग्रदेवजी कहते हैं कि नागोंके आठ कुलोंको चलानेवाले महानागोंका विवरण शिव संहिता-तंत्र नामक आगम में दिया गया है। ये भगवानके भजनमें अनन्य-भावसे प्रीति

* देखिए "भागवत सम्प्रदाय" पृष्ठ १०१।

रखते हैं। इनकी स्थिति श्रीभगवानके निजधाम वैकुण्ठमें है। द्वारपालके रूपमें ये प्रभुकी सेवा सदा सावधान रह कर करते हैं। इनके नाम इस प्रकार है :—

(१) एलापत्र और अनन्त (शेषजी) अपने अनन्त मुखों से भगवानकी कीर्तिका गान करते और उसका प्रचार करते हैं। (२) पद्म और (३) शंकु अपनी सर्व-विदित प्रतिज्ञाके अनुसार अपने मनको भगवानके ध्यानसे क्षण-भरके लिए भी नहीं हटाते। (५) अंशुकंबल और (६) वासुकी अजित की आज्ञा के अनुसार चलते हैं। (७) कर्कोटक तथा (८) तक्षक दोनों श्री प्रभुकी सेवा-रूपी भूमिको अपने सिर पर धारण किए रहते हैं।

॥ समाप्तोऽयं पूर्वार्द्धः ॥

भक्तमाल

उत्तरार्द्ध

मूल (छप्पय)

(श्री) रामानुज (नूक)[1]उदार सुधानिधि अवनि कल्पतरु ।
विष्णुस्वामी बोहिथ सिन्धु-संसार पार करु ॥
मध्वाचारज मेघ भक्ति-सर ऊसर भरिया ।
निम्बादित्य आदित्य कुहर अज्ञान जु हरिया ॥
जन्म करम भागवत धरम सम्प्रदाय थापी अघट ।
चौबीस प्रथम हरि वपु धरे(त्यों)चतुर्व्यूह कलियुग प्रगट ॥२८॥

दोहा

रमा पद्धति रामानुज[2] (नूक), विष्णुस्वामि त्रिपुरारि ।
निम्बादित्य सनकादिका, मधुकर गुरु मुख चारि ॥२९॥[3]

अर्थ—श्री, सनक, रुद्र और ब्रह्म, ये चार प्रधान वैष्णव-संप्रदाय हैं। आगे चलकर इन्हीं चारों संप्रदायोंके संवर्धक अनेक आचार्य हुए। जैसे—श्रीसंप्रदायके दक्षिण-भारतमें संवर्धक श्रीरामानुज और उत्तर भारतमें श्रीरामानन्द, ये आचार्य बड़े उदार थे, धर्मकी सामाजिक उपयोगिताके संबन्धमें उनका दृष्टिकोण संकुचित नहीं था। भक्तिरूपी अमृतके वे अगाध समुद्र और इस पृथ्वी पर सब कामनाओंको पूर्ण करने वाले वे कल्पवृक्ष थे।

रुद्र संप्रदायके संवर्धक प्रधानाचार्य श्रीविष्णुस्वामी संसार-सागरको पार करनेके लिये जहाज थे। ब्रह्म-संप्रदायके संवर्धक श्रीमध्वाचार्य भक्ति-रहित अतएव ऊसर धरतीके तालाबोंके समान शुष्क हृदयोंको भगवानके प्रेमरससे हरा-भरा करनेके लिये मेघ थे। श्रीसनकादिकोंके संप्रदायके संवर्धक श्रीनिम्बादित्य (निम्बार्क) आचार्य अज्ञानरूपी कुहरेको नाशकर भक्ति और ज्ञानको फैलाने वाले साक्षात् सूर्य ही थे।

भगवानके निमित्त अर्पण किए जन्म, भगवत्-सम्बन्धी कार्य, भागवत धर्म तथा चारों संप्रदायों के अचल संस्थापक ये आचार्य हुए हैं। जैसे भगवानने संसारका कल्याण करनेके लिये चौबीस

१।२. सभी प्राप्त प्रतियोंमें 'रामानुज' ही पाठ मिलता है, किन्तु कुछ विद्वानोंने ककारान्त 'रामानुक' पाठ उचित माना है। ३ छप्पयकी ही गतार्थ होनेके कारण छप्पय प्रवाहमें आये हुए इस दोहेको कुछ लोग प्रक्षिप्त मानते हैं, किन्तु १७७६ की लिखी हुई प्रतिमें इस दोहेके अतिरिक्त १७२ और १७३ वीं संख्यामें दो दोहे और भी मिलते हैं, जो अन्य प्रचलित टीका प्रतियों में नहीं मिलते। सम्भव है, प्रक्षिप्त समझ कर लिपिकारोंने उन्हें छोड़ दिया हो, किन्तु इस दोहेको स्थान क्यों मिलता रहा, यह विचारणीय है।

अवतार ग्रहण किये वैसे ही कलियुगमें भागवत धर्मके संस्थापक आचार्य इस चतुर्व्यूहके रूपमें प्रकट हुए।

वैष्णव-धर्मके मूल उपादान

धर्मग्लानि और अधर्मके अभ्युत्थानको रोकनेके लिये जिस प्रकार स्वयं भगवान् अवतार धारण करते हैं, उसी प्रकार अज्ञान-अन्धकारमें डूबे हुए पथविभ्रान्त जनोंको सत्पथ दिखानेके लिये, भगवानके अंशकला एवं परिकर-स्वरूप आचार्योंका भूतलपर आविर्भाव होता है। ये आचार्य स्वयं प्रभुकी भक्ति करते हुए जनताको आदर्श पद्धतिका उपदेश करते हैं। उन दैविक आचार्योंमें चार प्रमुख माने गये हैं। इन्होंने नवधाभक्तिके प्रचार द्वारा प्राणियोंको शाश्वती शान्तिका सुगमातिसुगम राजमार्ग दिखलाकर अगाध संसार-सागरमें डूबनेसे बचाया।

श्रीनाभाजीने वैष्णव-धर्मके चार आचार्यों द्वारा कलियुगमें चार सम्प्रदाय स्थापित करनेकी बात लिखी है। इससे किसीको यह भ्रम नहीं होना चाहिए कि इन चार शाखावाले वैष्णव-धर्मका कलियुगमें ही आविर्भाव हुआ होगा। इन आचार्योंने कोई अभूतपूर्व कपोल-कल्पित नया मत नहीं चलाया था, अपितु अनादि-कालसे चली आने वाली पुरानी पद्धतिका ही प्रसार किया था। यही कारण है कि पुराने प्रवर्तकोंकी पद्धतिको परिपुष्ट करनेवाले निम्बादित्य, रामानुज, रामानन्द विष्णुस्वामी, मध्व—इत्यादि महानुभावोंकी लोकमें प्रख्याति हुई। वस्तुतः वैष्णव-धर्म और उसकी चारों शाखायें अनादि हैं।

पुराण तन्त्र और धर्म-शास्त्रोंके अतिरिक्त वेदमें भी, जिसे भारतीय विद्वान् अनादि और अनन्त मानते हैं सूक्ष्म-रूपसे वैष्णव-धर्मका उल्लेख मिलता है। उपनिषद् वेदोंको भगवानका निःश्वास बतलाते हैं+ अर्थात् वेद परमात्माके प्राणरूप हैं। जैसे कोई प्राणी अपने प्राणोंको उत्पन्न नहीं कर सकता, उसी प्रकार ईश्वरके प्राण-(निःश्वास) रूप वेदोंके सम्बन्धमें भी समझना चाहिए। आलोचक ऐतिहासिकोंकी चाहे उतनी श्रद्धा न हो, किन्तु उनकी दृष्टिमें भी विश्वका सबसे पुराना साहित्य वेद ही है।

वेदोंमें स्पष्ट-रूपसे दो परिपाटियाँ लक्षित होती हैं। एक पद्धति अग्निषोम आदि यज्ञोंमें पशुबलिकी छूट देने वाली है× और दूसरी है भूत-प्राणियोंकी हिंसाको सर्वथा रोकने वाली।=

नाम-उपासना वैष्णव-धर्मकी एक प्रसिद्ध पद्धति है। ऋग्वेदमें उसका कई स्थानों पर विधान मिलता है।

❀ यद्यपि चतुस्सम्प्रदायान्तर्गत श्रीसम्प्रदायके संवर्धकोंमें कालक्रमानुसार श्रीरामानुजका नाम पहले आता है, किन्तु उनका प्रचारक्षेत्र दक्षिण ही रहा है, अतः, सम्भवतः, उत्तर भारतके संगठित चतुस्सम्प्रदायमें श्रीरामानन्दका ही नाम समाविष्ट रहा हो। श्रीध्रुवदासजीने भी सम्वत् १६७६ में रचित अपने भक्तनामावलीमें चार सम्प्रदाय और उनके बावन द्वारोंका नामोल्लेख इसी प्रकारसे किया है—

रामानन्द थिन राम कृष्ण नीबानन्द राजें, विष्णु स्वामि नारद माधव सुधा बिराजें।
चक्रव्यूह सनकादि जिमि निस्तारण अवतार हैं, बाणी चार प्रकार मुख अनभय एक अपार है॥३२२॥
… … … … … … … …चार संपरदा पद प्रताप द्वारा बावन लाखिये॥३२३॥

सम्भव है, उत्तर भारतके संगठित चतुस्सम्प्रदायमें रामानन्द-सम्प्रदाय ही गृहीत हुआ हो, किन्तु रामानुज-संप्रदाय भी सर्वथा पृथक् नहीं रहा, उसका प्रतिनिधित्व भी रामानन्द सम्प्रदायने ही किया होगा।

+अस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतदृग्वेदो० बृ० २।४।१०। ×अग्निषोमं पशुमालभेत्। =मा हिंस्यात्सर्वं भूतानि।

उदाहरणार्थ—"हम सभी मानव मरण-धर्म-रहित अमृत-स्वरूप आपके सुन्दर नामोंका मनन-चिन्तन करते हैं।×"

"नामकी उपासना करो। प्रभुके नाम बड़े ही सुन्दर हैं। उनका हम मनन करते हैं।"*

बहुतसे मन्त्रोंमें कथा-कीर्तन, पूजा-अर्चा आदि वैष्णव-धर्मकी उपासना-पद्धतिके अंगोंका भी उल्लेख मिलता है।‡

भागवत-धर्मके अनुयायी नरेशोंके शिलालेखोंमें वासुदेव-पूजाकी चर्चा वैष्णव-धर्मसे ही सम्बन्धित है। महाभारत, पुराण और तन्त्रोंमें इसी तथ्यका उत्तरोत्तर स्पष्टीकरण होता दिखाई देता है।

यद्यपि भविष्य-पुराणके वर्तमान कलेवरकी प्राचीनताके सम्बन्धमें ऐतिहासिक विश्वास कम होगया है, तथापि उसके पुराने पाठ जो यत्र-तत्र मिलते हैं वे अविश्वसनीय नहीं माने जाते। पद्मपुराणके एक श्लोकमें वैष्णव-धर्मके प्रवर्तक—श्री, रुद्र, सनक, ब्रह्मा—इन चारोंकी सम्प्रदायोंका कलियुगमें होनेका उल्लेख मिलता है।ψ इनकी संगति रामानुज, विष्णुस्वामी, निम्बादित्य, मध्वाचार्यसे लगाई जाती है। सम्भवतः इसी दृष्टिसे नाभाजीने "रमापद्धति रामानुज..." यह दोहा लिखा है। वास्तवमें सभी सम्प्रदायोंका मूल सम्बन्ध है भी उन्हीं चारोंसे। अतएव नाभाजी भी "सम्प्रदाय थापी प्रगट" इस पदसे चारों वैष्णव-सम्प्रदायोंको अनादि बतलाते हैं।

पुराणोंकी अपेक्षा महाभारतपर ऐतिहासिकोंका अधिक विश्वास है; उसमें श्रीभगवद्गीताकी उक्तियाँ निर्विवाद रूपसे ग्राह्य मानी जाती हैं। गीतामें भगवद्भजन करनेवाले भक्तोंके चार ही विभाग मिलते हैं।% यद्यपि वहाँ निम्बादित्य, रामानुज आदिका नामोल्लेख नहीं है। श्री-रुद्र-सनकादिकोंका भी स्पष्ट संकेत नहीं है; तथापि आर्त-शब्दसे रुद्र, जिज्ञासुसे ब्रह्मा, अर्थार्थीसे लक्ष्मी और ज्ञानीसे सनकादिकोंकी ओर भगवानका अभिप्राय दिखाई देता है। भस्मासुरसे पीड़ित होकर श्रीशङ्कर भागे और उस आर्त अवस्थामें प्रभुकी शरण ली। उनकी आन्तरिक पुकारपर प्रभुने प्रकट हो कर शङ्करजीके कष्टकी निवृत्ति की।⁝ ब्रह्माजीने अपने मूलको जाननेके लिये कमल-नालमें ऊपर-नीचे कई चक्कर लगाये, तब भगवानने उनकी जिज्ञासाका समाधान किया।⁝ लक्ष्मीजी स्वयं अर्थ-रूप हैं और सनकादिकोंकी ज्ञानियोंमें प्रख्याति है ही। अतः "आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी" गीताके ये चारों शब्द शङ्कर, ब्रह्मा, लक्ष्मी और सनकादिक—इन चारोंके साथ वैष्णव-धर्मकी कड़ी जोड़ते हैं। वास्तवमें गीताका यह सातवाँ अध्याय आरम्भसे अन्त तक वैष्णव-धर्म (भगवदासक्ति—भक्ति) के विवरणमें ही पर्य्यवसित हुआ है। "मय्यासक्तमनाः, श्रद्धयार्चितुमिच्छति, श्रद्धया युक्ता, मद्भक्ता, मामाश्रित्य, मामेव ये प्रपद्यन्ते, वासुदेवः सर्वमिति,

× "मर्ता अमर्त्यस्य ते भूरि नाम मनामहे।" ऋग्वेदः २ अ० अ० ८ मं० ८ अनु० २ सू० ६ मं० ४।

* "नाम उपास्व चारु नाम मनामहे।" ऋग्वेदः प्र० अ० २ अ० ४ सू० ३ मं० १।

‡ कथा देवानां कतमस्य यामनि, सुचन्तु नाम शृण्वतां मनामहे।
को मृळाति कतमो नो मयस्करत्, कतम ऊती अभ्यावर्तति॥ ऋग्वेदः ८।३।६

ψ कलौ खलु भविष्यन्ति चत्वारः साम्प्रदायिकाः। श्रीब्रह्मरुद्रसनका वैष्णवाः क्षितिपावनाः॥ —पद्मपुराण

% आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ। —भगवद्गीता ७।१६।

⁝ भागवत।

इत्यादि वाक्योंमें श्रद्धा, श्रवण, पूजा, सेवा, भक्ति, प्रपत्ति, विश्वके कण-कणमें अपने उपास्य प्रभुको देखना आदि वैष्णव-धर्मकी सभी प्रक्रियाओंके मूल-सूत्र सन्निहित हैं।

यद्यपि उपर्युक्त चारों ही प्रणालियों (सम्प्रदायों) वाले वैष्णवों (भक्तों) को भगवानने उदार बतलाया है, तथापि ज्ञानी (सनकादिककी) प्रणालीमें विशेष प्रियता दिखलायी है। शायद इसी अभिप्रायसे नाभाजीने भी अपने छप्पयमें अन्तिम स्थान सनकादि-पद्धतिके पोषक श्रीनिम्बादित्यको दिया है। कुछ भी हो, परन्तु वैष्णव-धर्म और उसकी चारों ही शाखायें प्राचीन हैं। श्रीकपिलदेवने भी श्रीमाता देवहूतीको भक्ति-योगका स्वरूप बतलाते समय उसके चार विभागोंका स्पष्ट संकेत किया था। =

भक्ति-रस-बोधिनी

निम्बादित्य नाम जाते भयो अभिराम कथा, आयो एक दंडी ग्राम, न्यौतो करी, आए हैं।
पाक को अबार भई, संध्या मानि लई जती, "रती हूँ न पाऊँ" वेद-वचन सुनाए हैं॥
आँगन में नीब, तापे आदित दिखायो वाहि, भोजन करायो, पाछे निशि चिन्ह पाए हैं।
प्रगट प्रभाव देखि, जान्यो भक्ति-भाव जग, दिये पाय, नाँव परयो, हरयो मन, गाए हैं॥१०६॥

अर्थ—भगवान निम्बार्काचार्यका 'निम्बादित्य' नाम कैसे पड़ा, इनकी कथा बड़ी सुन्दर है। एक दिन उनके गाँवमें एक दंडी स्वामी आये। आपने उन्हें भोजन करनेके लिए अपने यहाँ आमंत्रित किया। स्वामीजी आगये, परन्तु उनके लिए रसोई तैयार करते-करते देर होगई और सूर्य अस्त हो गया। यती (संन्यासी) ने देखा कि सन्ध्या हो गई है तो उसने वेद-वाक्य का प्रमाण देकर कहा—"अब तो रत्ती-भर भी नहीं खाऊँगा।"

इस पर आश्रममें खड़े हुए नीमके पेड़पर श्रीनिम्बार्काचार्यने सूर्य दिखा दिया और यतीजीको भोजन करा दिया। भोजन आदिसे निश्चिन्त होकर यतीने देखा कि रात उगनेके चिन्ह स्पष्ट-रूप से दिखाई दे रहे हैं। फिर तो उसने बिना किसी सन्देहके जान लिया कि यह निम्बार्क मुनिका ही प्रभाव है कि सन्ध्या हो जाने पर भी सूर्य निकाल दिया। अवसर पाकर समस्त संसारमें इनके भक्ति-भावकी प्रसिद्धि होगई और 'निम्बादित्य' नाम पड़ गया। टीकाकार कहते हैं कि भगवान श्रीनिम्बार्काचार्यके इन गुणोंपर मैं मुग्ध हो गया हूँ और इसी लिए मैंने इनके यशका गान किया है।

जीवन-वृत्त

श्रीनाभाजीने जिन चार-प्रमुख आचार्योंका अपने छप्पयमें स्मरण किया है, उनमें श्रीरामानुजके अतिरिक्त अन्य तीन आचार्योंके सम्बन्धमें और कोई स्वतन्त्र छप्पय नहीं लिखा। टीकाकारने भी श्रीविष्णु-स्वामी एवं मध्वाचार्यके विषयमें कुछ न लिखकर केवल श्रीनिम्बार्काचार्यकी जीवन-घटनापर ही एक कवित्त लिखा है जिसमें उनका थोड़ा-सा परिचय मिलता है।

= भक्तियोगस्य स्वरूपमे चतुर्विधम्। —भागवत ३।३२।३७

दक्षिण प्रदेश (हैदराबाद राज्य) में गोदावरीके तटपर बसे हुए वैदूर्यपत्तन (मूँगीपट्टन*) में जिसे आजकल पैठण कहते हैं, कार्तिक शुक्ला १५ को आपका आविर्भाव हुआ था। अरुण ऋषि और जयन्तीदेवी को आपके माता-पिता होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ जो उनके विशिष्ट तपका फल था।× बाल्यकालसे ही अपने माता-पिताओं सहित आप व्रज-वृन्दावन आ गये थे। कहते हैं, श्रीनारदजीसे आपको मन्त्रोपदेश प्राप्त हुआ और आजीवन नैष्ठिक ब्रह्मचर्य-व्रतका आपने पालन किया। आपका जन्मका नाम नियमानन्द था। बादमें आप निम्बादित्य एवं निम्बार्क नामसे कैसे ख्यात हुए, इसका रहस्य भिन्न-भिन्न ग्रन्थोंमें इस प्रकार बतलाया है—

एक समय कोई दण्डी वहाँ—(श्रीगोवर्धनके सन्निकट जहाँ आप निवास करते थे) आया। नियमानन्दजीने उन्हें अपने यहाँ प्रसाद पानेका निमन्त्रण दे दिया। सूर्यास्तके आस-पास दण्डीजी इनके आश्रम में पहुँचे, किन्तु उस समय पाक (भोजन बनने) में कुछ विलम्ब देखकर उन्होंने कहा—"संध्याकाल होने ही वाला है; रात्रि (सूर्यास्त) होनेपर हम भोजन नहीं करते; क्योंकि संन्यासियोंके लिए रात्रि-भोजन वेद-शास्त्रोंमें निषिद्ध बताया गया है।" यह कहकर दण्डी जब अरण्याश्रमसे चलने लगे तब अतिथि-सत्कारके निमित्त नियमानन्दजीने ठहरनेके लिए उनसे अनुरोध किया और आश्रमके आँगनमें खड़े नीमके पेड़ पर अपना ही एक तेजोमय-स्वरूप स्थापित कर दण्डीजीको सूर्य दिखाते हुए कहा—"देखिये, अभी सूर्य अस्त नहीं हुआ है।" निम्ब-वृक्षपर सूर्यको देखकर दण्डी रुके और शान्ति पूर्वक प्रेमसे भोजन कर लिया। किन्तु भोजनसे निवृत्त होकर ज्यों ही वे उठे तो रातके चिन्ह दिखाई पड़े। उस अलौकिक अद्भुत घटनाको देखकर दण्डी चकित हो गये। उन्होंने समझ लिया। कि निम्बपर अर्क (सूर्य) को दिखानेवाले ये कोई अवतारी महापुरुष हैं। तभी से श्रीनियमानन्दजीका निम्बार्क नाम प्रख्यात हुआ।†

श्रीनिम्बार्ककी जीवनीके सम्बन्धमें अधिकतर जनता इसी आख्यायिकासे परिचित है। श्रीऔदुम्बराचार्य और श्रीगौरमुखाचार्य-कृत श्रीनिम्बार्क विक्रान्ति, निम्बार्क सहस्रनाम, निम्बार्कस्तव एवं श्रीनिवासाचार्य-कृत लघुस्तव आदि संस्कृत-ग्रन्थोंसे और भी कई बातें ज्ञात होती हैं। ये तीनों ही महानुभाव श्रीनिम्बार्काचार्यके साक्षात् शिष्य थे। औदुम्बराचार्यने अपने आविर्भावके सम्बन्धमें निम्नलिखित एक अद्भुत घटनाका उल्लेख किया है—

किसी समय श्रीनिम्बार्काचार्य एकान्तमें एक गूलरके पेड़के नीचे बैठकर प्रभुका ध्यान कर रहे थे। उस समय कुछ ईर्ष्यालु अभिमानी-जन वहाँ आये और उत्पात करने लगे। प्रभुकी लीला विचित्र है। गूलरके पेड़से अचानक एक फल श्रीनिम्बार्काचार्यके चरणोंपर गिरा। चरण-स्पर्श होते ही वह फल

---

* श्रीरूपकलाजीने भक्तमालकी अपनी टीकामें मूंगी पट्टनके स्थानपर मुंगेर और डा० भांडारकरने निम्बग्राम के नामसे मिलते-जुलते बेल्लारी जिलेके निम्बापुर ग्रामको आपका जन्मस्थान बतलाया है जो कि ठीक नहीं जँचता है।

× पिता जगन्नाथके घर माता सरस्वतीके यहाँ वैशाख शुक्ला ३ को आविर्भाव होनेका भी उल्लेख मिलता है। यह कल्प-भेदसे हो सकता है।

† "सुदर्शन महाबाहो ! कोटिसूर्यसमप्रभ ! अज्ञानतिमिरान्धानां विष्णोर्मार्गं प्रदर्शय।"—इस वाक्यके अनुसार आप चक्रराज श्रीसुदर्शनके अवतार माने जाते हैं। निकुञ्ज-परिकरमें ये श्रीरङ्गदेवीके अवतार हैं। सम्प्रदायके ग्रन्थोंमें आपके आठ रूपोंका उल्लेख मिलता है।

नराकृतिमें परिणत हो गया। इस घटनासे उपस्थित जन-समूह चकित हो भाग उठा। वह औदुम्बरका फल ही औदुम्बराचार्य नामसे ख्यात हुआ।[१]

उन्हीं औदुम्बराचार्यने औदुम्बर-संहिता और निम्बार्क-विक्रान्तिकी रचना की। ब्रह्मपुत्रा नदीमें डूबती हुई नौकाको तारना,[२] दण्डकवनमें ऋषियों द्वारा शापित नदीके जलको शुद्ध करना,[३] चरणके अँगूठेके स्पर्श मात्रसे अथाह नदी (जलराशि) का आविर्भाव करना,[४] विद्यानिधि जैसे महाविद्वान्‌का गर्व चूर्णकर उसे भगवद्भक्त बनाना,[५] एक ऋषिका कच्छप-योनिसे उद्धार करना,[६] इत्यादि आपके कई अलौकिक चरित्र हैं। वेदान्त-पारिजात-सौरभ (वेदान्त सूत्रोंकी वृत्ति), वेदान्त-कामधेनु, रहस्य-षोडशी, प्रपन्न-कल्पवल्ली और कृष्ण-स्तोत्र आदि आपकी कृतियाँ मिलती हैं। सदाचार-प्रकाश, प्रपत्ति-चिन्तामणि, तथा गीता और उपनिषदोंपर लिखा हुआ आपका व्याख्यान अभी तक उपलब्ध नहीं हो सका है। वेदान्त-कामधेनु (दशश्लोकी) एक सरल सरस सुन्दर और लोकप्रिय रचना है, अतः लोकमें उसीका अधिक प्रचार-प्रसार है। जीव, प्रकृति और ईश्वर—इन तीनोंमें आपने स्वाभाविक द्वैताद्वैत (स्वाभाविक भेदाभेद) सम्बन्ध माना है।

काल-निर्णय

श्रीनिम्बार्काचार्यजीके समयके सम्बन्धमें भिन्न-भिन्न लेखकोंका अभी तक एक मत नहीं हो पाया है। वे मत संक्षेपमें इस प्रकार हैं—

(१) श्रीनिम्बार्क-सम्प्रदायके संस्कृत-ग्रन्थोंमें द्वापरका अन्त और कलियुगका आरम्भ-काल आपके आविर्भावका समय माना है।

(२) मोनियर बुइलियम्स, ग्रियर्सन, ग्राऊस आदि अङ्गरेज विद्वानोंने चारों सम्प्रदायके प्रवर्तकोंमें श्रीनिम्बार्काचार्यको सबसे प्राचीन माना है।

(३) कुछ तटस्थ विचारवाले लेखकोंने निम्बार्क-भाष्यकी रचनाका समय ई० की पाँचवीं, छठी शताब्दी निश्चित किया है।

(४) आधुनिक ऐतिहासिकोंने अनुमानतः ई० की बारहवीं शताब्दी श्रीनिम्बार्कका समय माना है।

अन्तिम धारणाके अनुसार जिन-जिन लेखकोंने निम्बार्कके समयका उल्लेख किया है उन सबने किसी न किसी रूपसे डा० भाण्डारकरके मतको ही अपने अनुमानका आधार बनाया है। डा० भाण्डारकरने अपने "वैष्णविज्म" में पहले श्रीनिम्बार्क के समय-निरूपणमें असमर्थता प्रकट की है, किन्तु फिर आगे चलकर दो परम्परा लिस्टोंको लेकर मध्वाचार्यकी परम्पराओंके अनुसार अनुमान लगाया है और ई० की बारहवीं शताब्दी उनका समय अनुमानित किया है; किन्तु वह अनुमान निर्भ्रान्त नहीं कहा जा सकता।

अन्वेषण करने पर भी अभी तक उस दामोदर गोस्वामीका पता नहीं चला है जिसे डा० भाण्डार-करने श्रीहरिव्यासदेवका साक्षात् शिष्य और सन् १७५० ई० में जीवित बतलाया है। सभी ऐतिहासिकों

१—श्रीनिम्बार्क-विक्रान्ति—श्लोक ८७-९१। २—श्रीनिम्बार्क-विक्रान्ति—श्लो० ४७-४८। ३—वही श्लो० ६८-७०। ४—वही श्लो० १०२-१०३। ५—वही श्लो० १२९-१३०। ६—श्रीनिम्बार्क-स्तव।

ने श्रीहरिव्यासदेवको श्रीवल्लभाचार्य और श्रीसूरदासके पूर्ववर्ती एवं अवस्थामें दोनोंसे बहुत बड़ा माना है।×
वल्लभकुलके वार्ता-ग्रन्थोंमें तो यहाँ तक उल्लेख मिलता है कि श्रीवल्लभाचार्यके आविर्भाव—समय तक श्रीहरिव्यासदेवसे उत्तरवर्ती चार पीढ़ियाँ पूर्ण हो चुकी थीं। अवके प्रसिद्ध सन्त नागाजी उस समय विद्यमान थे जो श्रीहरिव्यासदेवके पश्चात् ५वीं पीढ़ीके महापुरुष हैं।

धर्मशास्त्रके प्रसिद्ध विद्वान् हेमाद्रिकृत 'चतुर्वर्ग-चिन्तामणि' में दिये हुए—

निम्बार्को भगवान्येषां वांछितार्थप्रदायकः ।
उदय-व्यापिनी ग्राह्या कुले तिथिरुपोषणे ॥

इस श्लोकसे तथा हैदराबादसे कुछ दूर पूर्वकी ओर स्थित आदिलाबादसे उपलब्ध श्रीनिम्बादित्य-प्रासादका शिलालेख—इन दोनोंसे प्रमाणित होता है कि श्रीनिम्बार्काचार्य बारहवीं शताब्दीसे बहुत पहले होगए हैं।

श्रीशङ्कराचार्यके समसामयिक एवं उनसे कुछ ही परवर्ती भट्टभास्करने अपने ब्रह्मसूत्र-भाष्यमें श्रीनिम्बार्काचार्यके पट्टशिष्य श्रीनिवासाचार्य—कृत 'वेदान्त-कौस्तुभ भाष्य' की पंक्तिको अक्षरशः उद्धृत कर उसकी आलोचना की है।* श्रीनिम्बार्काचार्यने जिस एक विशेष सूत्रको अङ्गीकार किया है, भट्टभास्करने उसकी अनावश्यकता प्रकट की है।§ श्रीनिम्बार्कके अतिरिक्त भट्टभास्करके पूर्ववर्ती किसी भाष्यकारने उस सूत्रका निर्देश नहीं किया।‡ इस भाष्य-परीक्षण-रूप अन्तः-साक्ष्यसे यही निश्चित होता है कि श्रीनिम्बार्काचार्य भट्टभास्करसे पूर्ववर्ती थे।

भट्टभास्कर ही नहीं, श्रीशङ्कर भी श्रीनिम्बार्कके परवर्ती हैं। शङ्कराचार्यने बृहदारण्यक उपनिषत् ५।१।१ के भाष्यमें और ब्रह्मसूत्र २।१।१४, २।३।४३ आदि सूत्रोंके भाष्यमें जिस द्वैताद्वैत (भेदाभेद) की आलोचना की है उसको देखनेसे स्पष्ट हो जाता है कि वह ब्रह्मसूत्रके २।१।१३, २।३।४२, ३।२।२० आदि सूत्रोंपर किये हुए श्रीनिवासाचार्य भाष्यके सन्दर्भ की ही समालोचना है।

श्रीनिम्बार्क-सम्प्रदायके सभी आचार्योंकी नारद-पंचरात्रमें विशिष्ट आस्था है। यदि श्रीनिम्बार्क और श्रीनिवास श्रीशङ्करसे परवर्ती होते तो ब्रह्मसूत्र २।२।४२ के भाष्यमें शङ्कर और भट्टभास्कर-कृत नारद-पञ्चरात्रकी समालोचनाका वे अवश्य समाधान करते, किन्तु इस सूत्रके भाष्यमें उन्होंने शक्तिवाद की ही समालोचना की है। इससे ज्ञात होता है कि श्रीनिम्बार्कके समयमें कोई ऐसा भाष्य नहीं था जिसने पञ्चरात्रकी समालोचना की हो या उसे अप्रामाण्य बताया हो। केशवकाश्मीरि आदि सभी आचार्योंने जो शंकर और भास्कर के बाद हुए हैं जम कर उसका उत्तर दिया है। तात्पर्य यह है कि डा० भाण्डारकरने

× डा० दीनदयालु गुप्त—अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय।

* चेतनमूलात्मविभुत्ववादिनो दोषकथनार्थं सूत्रमिदम्। ब्रह्मसूत्र २।३।३९ पर श्रीनिवासकृत 'वेदान्त-कौस्तुभ' की अवतरणिका।
वस्तुतस्त्वात्म विभुत्ववादिना दोषकथनार्थं सूत्रमिति व्याख्यातं तदयुक्तम्। ब्रह्मसूत्र २।३।३९ भट्टभास्कर-भाष्य।

§ अतएव च स ब्रह्म। ब्रह्मसूत्र ३।२।१२।

‡ कदाचित् बोधायन आदि किसी अन्य वृत्तिकारको लक्ष्य करके भट्टभास्करने यह आलोचना की होती तो "अतएव-च स ब्रह्म" ऐसे सूत्र—पाठका निर्देश होना चाहिये था, क्योंकि बोधायनके अनुसार ही श्रीरामानुज ने "स ब्रह्म" वाला पाठ माना है।

परम्पराकी औसत लगाकर निम्बार्कके समयका जो अनुमान किया है वह भ्रान्त है; क्योंकि वि० सं० १७०० से २००० तक तीन सौ वर्षोंमें श्रीनिम्बार्काचार्य पीठ पर दस आचार्य हुए हैं। उनके प्रतिदिन का ब्यौरा लिखित कागजातमें उपलब्ध होता है, अतः उसमें किसी प्रकारका सन्देह नहीं है। उनके औसत-काल ३० वर्षके अनुसार भी श्रीनारायणदेव और श्रीनिम्बार्काचार्यके मध्यवर्ती ३३ आचार्योंका समय एक हजार वर्ष हो जाता है, जो विक्रमकी सातवीं शताब्दी तक पहुँचता है। इस अनुमानसे भी श्रीनिम्बार्काचार्य वि० सं० ७०० से पूर्ववर्ती होने चाहिए।

वर्तमान वेदान्त-सूत्रोंमें काष्र्णाजिनि, आत्रेय, औडुलोमि, आश्मरथ्य, जैमिनि, बादरि आदि व्यास-पूर्ववर्ती कई वेदान्त-सूत्रकारोंका नामोल्लेख मिलता है, किन्तु आज उनमें किसीका भी सूत्र-ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। श्रीपुरुषोत्तमाचार्यने 'वेदान्त-रत्न-मंजूषा' के आरम्भमें ही लिखा है कि एक समय ऐसा आ गया था जब कि वेदान्त-संतति का प्रवाह लुप्तवत् होगया था। सम्भव है, न्याय-सूत्रोंके भाष्यकार वात्स्यायन और सांख्यकारिकाके रचयिता श्रीईश्वरकृष्णने इसी कारण वेदान्त-सिद्धान्तकी आलोचना न की हो।

हरिभद्रसूरि नामके एकाधिक जैन-विद्वान् हुए हैं। उनमें एक हरिभद्रसूरि जो जातिके ब्राह्मण थे, चित्रकूटके सन्निकट चितोडा-नगरमें जितारि नामक राजाके पुरोहित थे। उन्होंने चैत्यवन्दनवृत्ति, अनेकान्तजयपताका, षड्दर्शनसमुच्चय आदि ग्रन्थोंका प्रणयन किया था। जिन छः दर्शनोंकी चर्चाकी है, उनमें उन्होंने वेदान्तका नामोल्लेख क्यों नहीं किया ?❀ यह प्रश्न होना स्वाभाविक है। क्या उस समय व्यास-सूत्रोंकी रचना ही नहीं हुई थी या इनके अध्ययन-अध्यापन, आलोचनका प्रचार-प्रसार नहीं था ?

विद्वानोंका कहना है कि यह हरिभद्रसूरि ई० पाँचवीं शताब्दीके मध्य-भागमें जीवित था। अतः इन सब बातोंके अनुसार यह कहना अनुचित न होगा कि उसी पाँचवीं या छठी शताब्दीके मध्यमें वेदान्त-सूत्रोंपर श्रीनिम्बार्क-भाष्यका प्रणयन हुआ हो।

विद्वान् लेखकोंके उपर्युक्त भिन्न-भिन्न विचारों और श्रीनिम्बार्क-भाष्यके अनुशीलनसे यह धारणा निश्चित हो जाती है कि श्रीनिम्बार्काचार्यका जो भी समय रहा हो, किन्तु वे अवश्य ही शंकराचार्यके बहुत पूर्ववर्ती थे।

निम्बार्क-सम्प्रदाय के सिद्धान्त

ईश्वर—निम्बार्कके मतमें ब्रह्म सगुण है। वह अविद्या, अस्मिता आदि दोषोंसे रहित तथा अशेष ज्ञान, शक्तिका आधार है। इस नानारूपात्मक विश्वकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयका आदि-कारण वही है। ब्रह्मा, शंकर, काल आदि का वह नियामक है और अनन्त गुणोंका आधार है। इस जगत्में जो कुछ दिखाई या सुनाई देता है, उस सबके भीतर-बाहर नारायणका निवास है। श्रीकृष्ण परब्रह्मसे अभिन्न हैं। वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध इन चारों व्यूहोंके अङ्गी वे ही परब्रह्म श्रीकृष्ण हैं। उन्हींके वाम अङ्कमें तदनुरूप गुणोंसे युक्त सर्वेश्वरी श्रीराधा विराजमान हैं। इस प्रकार श्रीराधाकृष्णका युगलात्मक-स्वरूप ही निम्बार्काचार्य द्वारा प्रतिपाद्य ब्रह्म है।

इस मतके अनुसार श्रुतियोंमें जो निःसंग, निर्गुण आदि शब्दोंसे ब्रह्मका प्रतिपादन किया गया है, उसका तात्पर्य प्राकृतिक हेय गुणोंसे निर्लिप्त ब्रह्मसे है। सर्वान्तर्यामी होते हुए भी वह सबसे निराला है,

---

❀ श्रीविमलाकान्त घोष—"निम्बार्कभाष्य रचनार काल निरूपण" (बंगला-निबन्ध)

अतएव जीव और जड़-पदार्थोंके गुण-दोषोंका उसपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। ब्रह्म जीवसे इस अर्थमें भिन्न है कि ब्रह्म सर्वज्ञ, व्यापक तथा अप्रच्युत स्वभाव है, जब कि जीव अल्पज्ञ और अणु है। किन्तु जिस प्रकार वृक्षसे पत्ते, दीपकसे प्रभा और प्राणोंसे इन्द्रिय पृथक् स्थिति रखते हुए भी वृक्ष आदिसे अभिन्न हैं, उसी प्रकार जीव ब्रह्मसे अभिन्न होते हुए भी अपने व्यक्तित्वको बनाये रखता है। अतः जीव और ब्रह्मका परस्पर स्वाभाविक भेदाभेद (द्वैताद्वैत) सम्बन्ध है।

जीव—जीव अनन्त हैं, अतः प्रत्येक देहमें वे भिन्न-भिन्न हैं। उनके कई एक प्रभेद हैं। वे विज्ञान के स्वरूप और आश्रय दोनों हैं। कर्मोंके कर्ता और फलोंके भोक्ता वे ही हैं, किन्तु स्वतंत्र नहीं। उनका सत्त्व परमात्माके आधीन है।

जीव अत्यन्त सूक्ष्म और परमात्माके अंशके समान है। स्वरूपसे वह अणु है, किन्तु उसका धर्मभूत ज्ञान (प्रकाश) विभु (व्यापक) है। जीवके अंश होने का अर्थ यह नहीं है कि वह ब्रह्मका अवयव या कोई विभाग है, बल्कि यह कि वह शक्तिरूप है। मायासे आवृत होने के कारण जीवका धर्मभूतज्ञान संकुचित हो जाता है। भगवानकी कृपासे उसे स्वस्वरूपका ज्ञान होता है।

जीवों के प्रभेद—सामान्यतः जीवोंके दो भेद हैं—बद्ध और मुक्त। बद्ध जीव दो प्रकार के होते हैं—बुभुक्षु और मुमुक्षु। विषयोंकी अभिलाषा रखनेवाले जीवकी संज्ञा बुभुक्षु है और मुक्तिकी ओर उन्मुख की मुमुक्षु। जीवोंके दो भेद हैं—नित्य-संसारी (सदा ही संसृति-चक्रमें पड़ा रहने वाला) और भावी श्रेयस्क (भविष्यमें मुक्त होने की सम्भावना वाला)। इसी प्रकार मुमुक्षु जीव भी दो प्रकारके माने गए हैं—स्वस्वरूप प्राप्तिकाम (अपने स्वरूपकी प्राप्तिका इच्छुक) और परस्वरूप प्राप्तिकाम (परमात्म-स्वरूपकी प्राप्तिका इच्छुक)।

उसी प्रकार मुक्त जीवोंके भी दो प्रभेद हैं—नित्यमुक्त और बद्धमुक्त। इन दोनोंके भी दो-दो प्रभेद हैं–जैसे—अन्तरंग और पार्षद—नित्यमुक्तोंके और स्वस्वरूपप्राप्त तथा परस्वरूपप्राप्त। बद्धमुक्तोंके सिद्धान्त-रत्नांजलिकार श्रीहरिव्यासदेवाचार्यने कुछ प्रकारान्तरसे और भी अधिक प्रभेद बतलाए हैं।

अचेतन तत्त्व—जिसमें धर्मभूत ज्ञान न हो उसे अचेतन तत्त्व कहा गया है। यह तीन प्रकारका होता है—प्राकृत, अप्राकृत और काल। महत्तत्त्व से लेकर महाभूत पर्यन्त प्रकृतिसे उत्पन्न जगत् 'प्राकृत' है। 'अप्राकृत'—अचेतनका वह विभाग है जिसकी त्रिगुणात्मिका प्रकृतिसे उत्पत्ति न हो। इसी लिए वह प्रकाशस्वरूप और दिव्य है। गोलोक, वृन्दावन-धाम तथा वहाँके वन, उपवन, सरितादि भगवद्विग्रह सब अप्राकृत हैं। भगवानकी नित्य विभूतियोंका समावेश भी अप्राकृतमें होता है। 'काल' की गणना भी अचेतन पदार्थोंमें हो जाती है। वह जगत्के समस्त परिणामोंका जनक है और उपाधि-भेदसे अनेक प्रकारका है। वह जगत्का नियामक है, किन्तु परमात्माका नियम्य है। काल अखण्डरूप है। स्वरूपसे वह नित्य है, परन्तु कार्यरूपमें अनित्य है।

जगत्—जगत् ब्रह्मका ही परिणाम है, किन्तु वह ब्रह्मके स्वरूपका परिणाम न होकर उसकी अपरा-शक्तिका परिणाम है। इसे 'शक्तिविक्षेपलक्षण परिणाम' कहा गया है। जीव परमात्माकी परा-शक्ति है और प्रकृति अपरा शक्ति। ब्रह्मके समान जीव और प्रकृति दोनों सत् हैं, इसीलिए परमात्माकी अपरा शक्तिका कार्य भी सत् है।

ब्रह्म जगत्‌का उपादान और निमित्त कारण दोनों है। संसारमें प्रायः उपादान और निमित्त कारणोंकी स्थिति पृथक् देखी जाती है, किन्तु ब्रह्मके सम्बन्धमें यह बात नहीं है। मकड़ी जिस प्रकार अपने अन्दरकी सामग्रीसे जाला तानती है, वैसे ही सर्वशक्तिमान् परमात्मा अपने अन्दरसे ही चराचर जगत्‌की अभिव्यक्ति करते हैं।

आराध्य-तत्त्व

निम्बार्क-मतके अनुसार सर्वेश्वर श्रीराधाकृष्ण ही परम-आराध्य हैं। श्रीराधा-श्रीकृष्णसे पृथक् नहीं हैं। एक ही परमतत्त्व आनन्द और आह्लाद-इन दो स्वरूपोंमें क्रीड़ार्थ प्रकट हुआ है।❀ 'तस्माज्ज्योतिरभूद् द्वेधा राधामाधवरूपकम्'। जिस प्रकार प्रतिबिंब सदा बिंबके अधीन रहता है—एक क्षण भी उससे पृथक् नहीं होता—वैसे ही राधा-कृष्णका पारस्परिक सम्बन्ध है। श्रीराधाका श्रीकृष्णके साथ नित्य तादात्म्यका समर्थन करनेवाले प्रमाण भागवत-तंत्र तथा अन्य ग्रन्थोंमें भरे पड़े हैं, लेकिन वैष्णव-धर्ममें इस ऐक्य एवं रसोपासनाका प्रतिपादन सर्वप्रथम श्रीनिम्बार्काचार्य द्वारा ही हुआ।

निम्बार्क-मतमें राधाके स्वकीया-परकीयात्वका कोई विवाद नहीं उठता। श्रीराधाके परकीयात्वकी कल्पना उत्तरवर्ती वैष्णव-आचार्योंने ही की है, जिनमें कि गौड़ीय वैष्णव मुख्य हैं। वस्तुतः अनादि-तत्त्वों के सम्बन्धमें विवाह होने या न होनेका प्रश्न ही नहीं उठता।

श्रीबलदेव उपाध्याय अपने ग्रन्थ "भागवत-संप्रदाय" में लिखते हैं—"निम्बार्कने युगल-उपासना के साथ भगवानकी माधुर्य-प्रेम-शक्ति-रूपा राधाकी उपासनापर जोर दिया था, क्योंकि वे राधामें ही भक्तोंकी सकल कामनाओंके पूर्ण करनेकी शक्ति मानते हैं। निम्बार्क-मतसे ही राधाकी प्रधानता देने वाले बहुतसे अभिमतोंका उद्गम वृन्दावनमें संपन्न हुआ था।"×

शिष्य-वर्ग—श्रीनिम्बार्कके श्रीनिवासाचार्य, औदुम्बराचार्य, गौरमुखाचार्य और श्रीलक्ष्मणभट्ट आदि कई प्रसिद्ध शिष्य हुए। इनके अतिरिक्त पुरुषोत्तमाचार्य, देवाचार्य, सुन्दर भट्टाचार्य, केशवकाश्मीरी आदि इस मतके प्रसिद्ध आचार्य हुए हैं। हिन्दीके प्रसिद्ध कवि श्रीभट्ट केशवकाश्मीरीके शिष्य थे और हरिव्यासदेवजी श्रीभट्टके। सुप्रसिद्ध परशुरामदेवाचार्य हरिव्यासदेवके बारह शिष्योंमें से ही एक थे।

इसी परम्पराके अन्तर्गत गीतगोविन्दकार श्रीजयदेव और वृन्दावनके प्रसिद्ध रसिक शेखर स्वामी श्रीहरिदासजी महाराज हो गये हैं। जिनकी भावनापर मुग्ध हो स्वयं श्रीनिकुञ्जबिहारी ही निधुवनराजमें प्रकट हुए हैं। विश्वके सम्मान्य गायक तानसेन, बैजू आदि को उन्हींसे संगीतकी उच्चशिक्षा प्राप्त हुई।

आगे चलकर स्वामी श्रीवीठलविपुलदेव, स्वा० श्रीबिहारिणदेव, स्वा० श्रीनागरिदेव, स्वा० श्री सरसदेव, स्वा० श्रीनरहरिदेव, स्वा० श्रीरसिकदेव, स्वा० श्रीललितकिशोरीदेव, स्वा० श्रीपीताम्बरदेव, स्वा० श्रीललित मोहिनीदेव, महाकवि महन्त श्रीकिशोरदास, स्वा० श्रीभगवतरसिक, श्रीसहचरिशरणदेव आदि व्रजभाषा के अख्यात महाकवि भी इसी सम्प्रदायमें हो गए हैं।

❀ एक स्वरूप सदा द्वै नाम।
आनन्द के आह्लादिनि स्यामा, आह्लादिन के आनन्द स्याम॥—(महावाणी—सिद्धान्त-सुख)

× भागवत-धर्म पृष्ठ ३४३-४४

श्रीप्रणामी सम्प्रदायके प्रवर्तक स्वामी श्रीदेवचन्द्रजी एवं श्रीस्वामी प्राणनाथजी आदि महापुरुषोंका आविर्भाव इसी परम्पराके अन्तर्गत हुआ है। हिन्दीके प्रसिद्ध कवि बिहारीलाल, केशवदास, घनानन्द तथा रसिकगोविन्द, रसखान, रूपरसिकदेव, वृन्दावनदेव, गोविन्ददेव, नागरीदास आदि बहुत से भावुक कवि निम्बार्क-परम्परामें ही हुए हैं।

आचार्य परम्परा

१—श्रीहंस भगवान (श्रीयुगलकिशोर)
२—श्रीसनकादिक भगवान (हरिणी आदि)
३—श्रीनारद भग० (सुखा आदि)
४—श्रीनिम्बार्क भग० (श्रीरङ्गदेवी)
५—श्रीनिवासाचार्य (श्रीनव्यवासा)
६—श्रीविश्वाचार्य (विश्वाभा)
७—श्रीपुरुषोत्तमाचार्य (उत्तमा)
८—श्रीविलासाचार्य (विलासा)
९—श्रीस्वरूपाचार्य (सरसा)
१०—श्रीमाधवाचार्य (मधुरा)
११—श्रीबलभद्राचार्य (भद्रा)
१२—श्रीपद्माचार्य (पद्मा)
१३—श्रीश्यामाचार्य (श्यामा)
१४—श्रीगोपालाचार्य (शारदा)
१५—श्रीकृपाचार्य (कृपाला)
१६—श्रीदेवाचार्य (देवदेवी)
१७—श्रीसुन्दरभट्टाचार्य (सुन्दरी)
१८—श्रीपद्मनाभभट्टाचार्य (पद्मालया)
१९—श्रीउपेन्द्र „ (इन्दिरा)
२०—श्रीरामचन्द्र „ (रामा)
२१—श्रीवामन „ (वामा)
२२—श्रीकृष्ण „ (कृष्णा)
२३—श्रीपद्माकर „ (पद्माभा)
२४—श्रीश्रवण „ (श्रुतिरूपा)
२५—श्रीभूरिभट्टाचार्य (भगवती)
२६—श्रीमाधव „ (माधवी)
२७—श्री.श्याम „ (असिता)
२८—श्रीगोपाल „ (गुणाकरी)
२९—श्रीबलभद्र „ (वल्लभा)
३०—श्रीगोपीनाथ „ (गौरांगी)
३१—श्रीकेशव „ (केशी)
३२—श्रीगांगल „ (पवित्रा)
३३—श्रीकेशवकाश्मीरि भट्टाचार्य (कुंकुमांगी)
३४—श्रीश्रीभट्टदेवाचार्य (हितू)
३५—*श्रीहरिव्यासदेवाचार्य (हरिप्रिया)
३६—श्रीपरशुरामदेवाचार्य (परमा)
३७—श्रीहरिवंशदेवाचा० (हित अलबेली)
३८—श्रीनारायणदेवा० (नित्य-नवीना)
३९—श्रीवृन्दावनदेवा० (मन मञ्जरी)
४०—श्रीगोविन्ददेवा० (गौरांगी)
४१—श्रीगोविन्दशरणदेवा० (गुणमञ्जरी)
४२—श्रीसर्वेश्वरशरणदेव० (रूपमञ्जरी)
४३—श्रीनिम्बार्क शरणदेवा० (रसमञ्जरी)
४४—श्रीव्रजराजशरणदेवा० (प्रेमलतामञ्जरी)
४५—श्रीगोपीश्वर शरणदेवा० (विलासमंजरी)
४६—श्रीघनश्यामशरणदेवा० (सुखमञ्जरी)
४७—श्रीबालकृष्णशरणदेवा० (रतिमञ्जरी)
४८—श्रीराधासर्वेश्वरशरणदेवाचार्य जी महाराज (वर्तमान)

* श्रीहरिव्यासदेवाचार्यके श्रीपरशुरामदेवा० श्रीउद्धवघमण्डदेवा० श्रीवोहितदेवा० श्रीस्वरूपगोपालदेवा० श्रीमदनगोपालदेवा० श्रीहृषीकेशदेवा० श्रीमुकुन्ददेवा० श्रीगोपालदेवा० श्रीराहुलदेवा० श्रीमाधवदेवा० श्रीकेशवदेवा० आदि द्वादश प्रधान शिष्यों (द्वारा-प्रवर्तक आचार्यों) की विस्तृतपरम्परा सारे भारतमें व्याप्त है। जिसकी पूरी सूचीके लिए विस्तृत स्थानकी अपेक्षा होनेके कारण उसे यहाँ नहीं दिया जा सकता है।

श्रीदेवाचार्यजी महाराजसे प्रचलित द्वितीय शाखा

१७—श्रीव्रजभूषणदेवाचार्य
१८—श्रीव्रजजीवनदेवा॰
१९—श्रीजनार्दनदेवा॰
२०—श्रीयशोधरदेवा॰
२१—श्रीभूधरदेवा॰
२२—श्रीहरिवल्लभदेवा॰
२३—श्रीमुकुन्ददेवा॰
२४—श्रीललितभानुदेवा॰
२५—श्रीकन्हरदेवा॰
२६—श्रीवासुदेवा॰
२७—श्रीसुरतज्ञानदेवा॰
२८—श्रीपीताम्बरदेवा॰
२९—श्रीचिन्तामणिदेवा॰
३०—श्रीयुगलकिशोरदेवा॰
३१—श्रीदामोदरदेवा॰
३२—श्रीकमलनयनस्वामी
३३—श्रीगोवर्धनदेवा॰
३४—श्रीश्यामदेवा॰
३५—श्रीहृषीकेशदेवा॰
३६—श्रीमधुसूदनदेवा॰
३७—श्रीगोपदेवा॰
३८—श्रीरूपनिधानदेवा॰
३९—श्रीजनहरियादेवा॰
४०—श्रीमथुरानाथदेवा॰
४१—श्रीप्रेमनारायणदेवा॰
४२—श्रीअनन्यदेवा॰
४३—श्रीश्यामकोविदेवा॰
४४—श्रीलघुवीठलजी
४५—श्रीमोहनदेवा॰
४६—श्रीत्रिभंगीदेवा॰
४७—श्रीहरिविलास॰
४८—श्रीयमुनानन्दनदेवा॰
४९—श्रीजयदेव॰
५०—श्रीजनगोपाल॰
५१—श्रीविष्णुदेव॰
५२—श्रीबालगोविन्द॰
५३—श्रीरामकृष्णदेवा॰
५४—श्रीनरानन्ददेवा॰
५५—श्रीभगवानदेवा॰
५६—श्रीकृष्णदेव॰
५७—श्रीपुरुषोत्तमदेव॰
५८—श्रीनन्दलालदेव॰
५९—श्रीहरिदेव॰
६०—श्रीआशुधीरदेव॰
६१—रसिक शेखर स्वामी श्रीहरिदासजी महाराज
६२—स्वामी श्रीवीठलविपुलदेव॰
६३—स्वामी श्रीबिहारिणदेव॰
६४—स्वामी नागरीदेव॰
६५—स्वामी सरसदेव॰
६६—स्वामी नरहरिदेव॰
६७—स्वामी रसिकदेव॰ ×
६८—स्वामी ललितकिशोरी॰
६९—स्वामी ललितमोहनी॰

× आपके बावन शिष्योंमें स्वामी श्रीललितकिशोरीदेवजी, श्रीपीताम्बरदेवजी और श्रीगोविन्ददेवजी—इन तीन प्रमुख पट्ट शिष्योंकी परम्परा विरक्तरूपसे प्रचलित हुई जिनके क्रमशः टट्टी-संस्थान, श्रीरसिकबिहारीजीका मन्दिर एवं श्री गोरेलालजीकी कुञ्ज आदि प्रमुख स्थान वृन्दावनमें स्थित हैं।

श्री सम्पत् कुमार भगवान् सहित—श्री मज्जगद्गुरु श्रीरामानुजाचार्य

संदीक्षितो यो वरदा ह्वयेन, येनोपदिष्टः प्रभुवेङ्कटेशः । सम्पत्कुमारप्रभवं जुगोप, रंगस्स रामानुजदेशिकेन्द्रः ॥
हस्त त्रिदण्ड कषाय पट, ऊर्ध्व पुण्ड्र शुभ रूप । शंख-चक्र-अंकित भुजा, सम्पत्-जनक अनूप ॥

मूल (छप्पय)

(श्रीरामानुजाचार्य)

विष्वकसेन मुनिबर्य सुपुनि सठकोप प्रनीता।
बोपदेव भागवत लुप्त उधरयौ नवनीता॥
मंगल मुनि श्रीनाथ पुंडरीकाच्छ परम जस।
रामभिश्र रसरासि प्रगट परताप परांकुस॥
यामुन मुनि रामानुज तिमिर हरन उदय भान।
संप्रदाय सिरोमनि सिंधुजा रच्यो भक्ति-वितान॥३०॥

अर्थ—सब सम्प्रदायों में श्रेष्ठ 'श्रीसम्प्रदाय' समुद्रकी पुत्री श्रीलक्ष्मीजी द्वारा बनाया गया भक्तिका चँदोवा है जिसके नीचे तीव्र संसार-तापसे दुखी प्राणी अपनी रक्षाके लिए शरण में आते हैं। श्रीलक्ष्मीजीके अनुगामी भगवानके प्रिय पार्षद मुनि विष्वकसेनजी हुए; फिर विनम्र स्वभावके शठकोप; फिर बोपदेव जिन्होंने श्रीमद्भागवत-रूपी लुप्त मक्खनका उद्धार किया; तदनन्तर कल्याणकारी श्रीनाथमुनि; उनके बाद यशस्वी पुण्डरीकाक्ष; फिर रसके समुद्र राममिश्र; फिर परांकुश जिनका प्रताप अत्यन्त स्पष्ट है; उनके यामुनाचार्यजी; और तब अज्ञान-रूपी अन्धकारका नाश करनेवाले श्रीरामानुजाचार्य्य।

मूल (छप्पय)

गोपुर ह्वै आरूढ उच्च स्वर मंत्र उचारयो।
सूते नर परे जागि बहत्तरि श्रवननि धारयो॥
तितनेई गुरुदेव पधति भई न्यारी न्यारी।
कुर तारक सिषि प्रथम भक्ति बपु मंगलकारी॥
कृपनपाल करुना समुद्र रामानुज सम नहिं बियो।
सहस आस्य उपदेस करि जगत उद्धरन जतन कियो॥३१॥

अर्थ—श्रीरामानुजजीके गुरु गोष्ठी पूर्णाचार्यजीने उन्हें निजमंत्रका उपदेश देकर उसे गुप्त रखनेको कहा, लेकिन श्रीरामानुजने मन्दिरके दरवाजेके ऊँचे भाग (गोपुर) पर चढ़कर उस मन्त्रका जोर-जोरसे उच्चारण किया (ताकि सब लोग सुन लें)। परिणाम यह हुआ कि सोते हुए सब लोग जाग पड़े। इस मन्त्रको बहत्तर शिष्योंने अपनाया, इसलिए गुरुदेव श्रीरामानुजजीकी बहत्तर पद्धतियाँ हुईं। आचार्यके शिष्योंमें सबसे प्रथम शिष्य श्रीकुरुतारक हुए जिन्हें कल्याण-

कारी भक्ति और प्रेमका मूर्तिमान स्वरूप कहना चाहिए। दीनोंके पालन करनेवाले और दयाके समुद्र श्रीरामानुजाचार्यके समान अन्य कोई नहीं। आप शेषनागके अवतार माने जाते हैं, अतः आपने अपने हजारों शिष्योंके मुखसे भक्ति-मार्ग की शिक्षा देकर संसारके उद्धारके लिए प्रयत्न किया।

भक्ति-रस-बोधिनी

आस्य सो बदन नाम, सहस हजार मुख, सेस अवतार जानो वही, सुधि आई है।
गुरु उपदेसि मंत्र कह्यो "नीकै राखो" अंत, जपतहि स्याम जू ने मूरति दिखाई है॥
करुनानिधान कही "सब भगवान पावैं", चढ़ि दरवाजे सो पुकारयो धुनि छाई है।
सुनि सिषि लियो यों बहत्तर हि सिद्ध भये नये भक्ति चोज, यही रीति लैकै गाई है॥१०७॥

अर्थ—'आस्य' शब्दका अर्थ है—मुख, 'सहस' (सहस्र) का अर्थ है हजार। 'सहस आस्य' का अर्थ, इस प्रकार, 'शेषनाग' हुआ जिनके कि हजार मुख (फण) हैं। श्रीरामानुजजीको शेषजी का अवतार माना जाता है, इस बातको समझ लीजिए।

गुरु श्रीगोष्ठी पूर्णाचार्यजीने आपको मंत्रोपदेश देकर कहा कि इसे अपने अन्तःकरणमें भलीभाँति छिपाकर रखना—किसीको बतलाना नहीं। इस मन्त्रका जप करनेके कुछ समय बाद भगवान आपके सामने प्रत्यक्ष हुए। श्रीरामानुज बड़े दयालु थे। उन्होंने सोचा—"जिस मंत्रके द्वारा मुझे भगवानका दर्शन हुआ है, वह तो सबके लिए सुलभ होना चाहिए।" बस, आप गोपुरपर चढ़ गये और वहींसे खड़े होकर मन्त्रका उच्चारण करना इस तरह शुरू कर दिया कि आस-पास सर्वत्र उसकी ध्वनि छागई। जिन बहत्तर व्यक्तियोंने इस मन्त्रको सुना, वे ही आपके शिष्य बने और उन्होंने भक्ति-भावकी अपनी-अपनी अलग पद्धतियाँ चलाईं। भक्तिका यह नया रहस्य है कि लोक-कल्याणकी भावनाके सामने गुरुकी आज्ञाका उल्लंघन कर श्रीरामानुजने भगवानके प्रति अपने कर्तव्यका पालन किया। श्रीरामानुजाचार्यकी भक्तिकी यह रीति (प्रकार) वास्तवमें गान करने योग्य है।

भक्ति-रस-बोधिनी

गए नीलाचल जगन्नाथ जू के देखिबे कौं, देख्यो अनाचार, सब पंडा दूरि किये हैं।
संग लै हजार सिष्य रंग-भरि सेवा करें, भरे हिये भाव गूढ़ दरसाय दिये हैं॥
बोले प्रभु—"वेई आवें, करें अंगीकार, मैं तो प्यार ही को लेत, कभूं औगुन न लिये हैं।"
तऊ हठ कीनी, फिर कही, नहीं कान कीन, लीन्ही वेदबाणी विधि कैसे आन छिये हैं॥१०८॥

अर्थ—श्रीजगन्नाथजीके दर्शन करनेके लिए एक बार श्रीरामानुजाचार्यजी उस प्रदेशमें जहाँ कि नीलगिरि स्थित है—अर्थात् उड़ीसा गए। वहाँ उन्होंने देखा कि पण्डे लोग आचार-विचारसे रहित हैं। इसपर उन्होंने पण्डोंको सेवासे हटा दिया और साथमें गए हुए अपने एक हजार शिष्यों-सहित प्रेमपूर्ण हृदयसे श्रीजगन्नाथ ठाकुरकी सेवा करने लगे। श्रीरामानुजकी सेवा-विधि

इतनी सुन्दर थी कि उसे देखकर उनके हृदयके अन्तरतम प्रदेशमें छिपे भक्तिके गूढ़भाव देखनेवालोंको स्पष्ट हो जाते थे।

(पण्डोंको सेवासे इस प्रकार वंचित देखकर भगवानके हृदयमें दयाका संचार हुआ।) आपने स्वप्न में श्रीरामानुजसे कहा—"पंडे ही आकर मेरी सेवा करें; क्योंकि मैं उन्हें भक्तके रूप में स्वीकार कर चुका हूँ। मैं तो प्रेमको देखता हूँ; गुण-दोषका विचार नहीं करता।"

श्रीरामानुज इतने पर भी नहीं माने; अपनी अड़पर ही जमे रहे। श्रीठाकुर जगन्नाथने फिर पहले की तरह आदेश दिया, पर आपने उसपर भी ध्यान नहीं दिया और उत्तर दिया—"मैं तो वेदोंमें वर्णित विधिके अनुसार सेवा करता हूँ; भला इसे कैसे छोड़ सकता हूँ?"

भक्ति-रस-बोधिनी

जोरावर भक्त सों बसाइ नहीं, कही कितो, रती हू न ल्यावें मन चोज दरसायो है।
गरुड़ को आज्ञा दई, सोई मानि लई उन, सिष्यनि समेत निज देस छोड़ि आयो है॥
जागि कै निहारे ठौर, और ही, मगन भए, दये यों प्रगट करि गूढ़ भाव पायो है।
वेई सब सेवा करें, श्याम मन हरें सदा, धरें साँचो प्रेम, हिय प्रभु जू दिखायो है॥१०९॥

अर्थ—जबर्दस्त भक्त से भगवानका भी वश नहीं चलता। भगवानने कितनी बार कहा, लेकिन श्रीरामानुजने एक नहीं मानी और इस प्रकार अपने प्रेमका रहस्य स्पष्ट कर दिया। तब भगवानने गरुड़जी को आज्ञा दी कि सब शिष्यों सहित श्रीरामानुजको रात्रिमें ही श्रीरङ्गम् पहुँचा दो। श्रीगरुड़देवने आपकी आज्ञाका पालन किया और शिष्य-मंडली सहित उन्हें उनके देश श्रीरङ्गम्में ले जाकर रख दिया। प्रातःकाल आँखें खुलनेपर श्रीरामानुजने अपने आपको और ही स्थानमें देखा तो प्रभुकी कृपाका विचारकर उनके प्रेममें मग्न होगए। श्रीरामानुजाचार्य जान गए कि इस प्रकार भगवानने अपने गूढ़ मन्तव्यको कार्य द्वारा प्रकट कर दिखाया है।

अब जगन्नाथजीके मन्दिरमें वे ही पंडे फिर सेवा करने लगे। भगवानके प्रति अपने हृदय में सच्चा प्रेम रखकर वे उन्हें प्रसन्न करने लगे और इस प्रकार उन्होंने अपनी सच्ची निष्ठा प्रकट की।

आचार्य श्रीरामानुजजी का जीवन-चरित्र

श्रीरामानुजाचार्यका जन्म विक्रम-संवत् १०७४, तदनुसार १०१७ ई० में दक्षिण-भारतके भूतपुरी (श्रीपेरेम्बुदुर) में हुआ था। उनके पिताका नाम सोमयाजी तथा माताका नाम कान्तिमती था। काञ्ची-नगरीमें वे यादवप्रकाशके पास वेदान्तका अध्ययन किया करते थे। कहते हैं, उनकी तीव्र बुद्धि और अपूर्व तर्क-शक्तिको देखकर यादवप्रकाशको भी ईर्ष्या होने लगी। कारण यह था कि प्रायः रामानुज उनकी व्याख्याका खण्डन कर अपनी नवीन व्याख्या उनके सामने उपस्थित करते थे। यादव-प्रकाशकी विद्वत्ताको इससे ठेस पहुँचती थी। परिणाम यह हुआ कि गुरुका चित्त शिष्यकी ओरसे सशंक रहने लगा।

एक समय उस देशकी राज-कन्यापर किसी ब्रह्मराक्षसका आवेश हुआ और यादवप्रकाशजी उसे दूर करनेके लिए बुलाये गए, किन्तु कोई लाभ नहीं हुआ। बादमें रामानुज वहाँ गए। उन्होंने राज-कन्या के मस्तकको अपने चरणसे केवल छू दिया और ब्रह्मराक्षस इतनेसे ही कन्याको छोड़ गया।

एक दिन 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन' इस वाक्यपर गुरु-शिष्यमें शास्त्रार्थ छिड़ गया और रामानुजके अकाट्य तर्कोंके आगे गुरुको चुप होना पड़ा। अब तो यादवप्रकाशका द्वेष और भी बढ़ गया और उन्होंने गुप्त रीतिसे रामानुजको मार डालनेकी एक योजना बनाई। रामानुज अपने मौसेरे भाई गोविन्दभट्टके साथ प्रयाग जारहे थे। मार्गमें ही किसी न किसी प्रकार उनके प्राणान्त करनेका जाल रचा गया था। रामानुजको इस षड्यन्त्रका पता लग गया और वे रास्तेसे ही लौट आए। कहते हैं, लौटते समय भगवान वरदराज श्रीलक्ष्मीजी सहित भीलका रूप धारणकर उन्हें काञ्ची पहुँचा गए।

माताकी आज्ञासे अब रामानुजने विवाह किया। इसी समय अपना अन्तिम समय जान यामुनाचार्यने उन्हें बुलानेके लिए अपने शिष्य महापूर्ण स्वामीको भेजा। रामानुज उनके साथ श्रीरङ्गम् पहुँचे, परन्तु देर से। तब तक यामुनाचार्य चल बसे थे और उनके अन्तिम संस्कारकी तैयारियाँ की जारही थीं। यामुनाचार्यजीके शवके दर्शन करते समय उन्होंने देखा कि उनके हाथकी तीन अँगुलियाँ बन्द हैं। इसका कारण पूछनेपर उन्हें बतलाया गया कि यामुनाचार्यजीकी तीन आशाएँ पूर्ण नहीं हो पाई थीं और वे अँगुलियाँ उन्हीं की ओर संकेत कर रही थीं। वे इस प्रकार थीं—(१) ब्रह्मसूत्रका भाष्य लिखना, (२) दिल्लीके तत्कालीन बादशाहके यहाँसे श्रीरामसूर्तिका उद्धार करना और (३) दिग्विजयपूर्वक विशिष्टाद्वैत मतका प्रचार करना। रामानुजने सबके समक्ष इन तीनों बातोंको पूर्ण करनेकी वहीं प्रतिज्ञा की और काञ्ची लौट आए।

कुछ दिन तक काञ्चीमें रहकर उन्होंने वरदराजकी सेवा की। बादमें वे देवराजके मन्दिरके पुजारीकी आज्ञासे श्रीरङ्गम्को चल दिए। रास्तेमें उनकी भेंट महापूर्ण स्वामीसे हुई। वे रामानुजजीसे ही मिलने आ रहे थे। रामानुजजीने महापूर्ण स्वामीसे वहीं दीक्षा ली और उनके साथ काञ्ची आगए। यहाँ रहते हुए उन्होंने श्रीमहापूर्ण स्वामीसे वेदान्त-सूत्रोंका अध्ययन किया।

रामानुजके हृदयमें नीच-ऊँचका भाव न था, लेकिन उनकी पत्नी अन्त्यजोंको घृणित दृष्टिसे देखती थी। एक बार शूद्र-जातिके कोई भक्त उनके घर भोजन करने आए। भोजन कर जब वे चले गए तो रामानुजकी गृहिणीने उस स्थानको धोया जहाँ बैठकर अतिथिने भोजन किया था। रामानुजजीने जब यह देखा, तो उनकी आत्माको बड़ा कष्ट हुआ। एक बार उनकी धर्मपत्नीने रामानुजकी गुरु-पत्नीका अपमान कर डाला और उनसे अनेक कटु वचन कहे। गुरुजी इसपर श्रीरङ्गम् चले गए। जब इस प्रकार की घटनाएँ एकके बाद दूसरी होने लगीं, तो रामानुजने अपनी पत्नीको नैके (पितृ-गृह) भेज दिया और भगवान वरदराजकी अनुमति लेकर संन्यास ले लिया।

अब रामानुजकी प्रतिष्ठा बढ़ने लगी; यहाँ तक कि उनके पूर्वगुरु यादवप्रकाशजी भी उनके शिष्य होगए। इसी समय यामुनाचार्यके पुत्र वरदरङ्गने उनसे श्रीरङ्गम्का अध्यक्ष-पद ग्रहण करनेकी प्रार्थना की और उन्होंने उसे स्वीकार कर लिया। श्रीरङ्गम्में रामानुजने एक बार फिर गोष्ठीपूर्ण से दीक्षा ली और उनसे रहस्य-मन्त्र लिया। श्रीरङ्गम्के गोपुरपर चढ़कर जोर-जोरसे निज-मन्त्रको उच्चारण करनेकी

घटना इसके बाद की ही है। गुरु गोष्ठिपूर्णने इसका बुरा नहीं माना, बल्कि रामानुजकी इस लोक-मङ्गल-भावनाकी प्रशंसा की।

रामानुजके यशको इस प्रकार उत्तरोत्तर बढ़ता देखकर श्रीरङ्गम्‌के पुजारीने उन्हें जहर देकर मार डालनेका प्रयत्न किया, परन्तु पुजारीकी स्त्रीने अपने पतिकी कूट-योजनाका भण्डाफोड़ कर दिया। पुजारी बहुत लज्जित हुआ और रामानुजकी शरण में आकर क्षमा माँगी। उन्होंने उसे क्षमा कर दिया।

रामानुजकी विद्वत्ताकी परीक्षा लेनेके लिए देश-देशान्तरसे पण्डित लोग अब शास्त्रार्थके लिए आने लगे। इसी प्रसंगमें यज्ञमूर्ति नामक एक अद्वैतवादी संन्यासीसे सोलह दिन तक शास्त्रार्थ चलता रहा, किन्तु वह पराजित नहीं हुआ। अन्तमें रामानुजने यामुनाचार्यके 'मायावाद-खण्डन' नामक ग्रन्थका अध्ययन किया और यज्ञमूर्तिको हराया। यज्ञमूर्तिने शास्त्रार्थमें परास्त होकर श्रीवैष्णव-मतकी दीक्षा ले ली।

शास्त्रार्थों तथा अपने मत-प्रचारमें व्यस्त रहनेके कारण रामानुजाचार्यको अब तक उन प्रतिज्ञाओं के पूर्ण करनेका समय नहीं मिला था जो उन्होंने गुरुजीके शवके सामने की थीं। इस कामको अब उन्होंने हाथमें लिया। अपने एक शिष्य कुरेशके साथ वे 'बोधायनवृत्ति' नामक ग्रन्थकी खोज करनेके लिए काश्मीर गए और उसको प्राप्तकर श्रीभाष्यकी रचना की। इसके अनन्तर दिल्ली जाकर बादशाहके महलोंसे विष्णुमूर्तिका उद्धार किया। सबसे अन्तमें दिग्विजय तथा अपने मतके प्रचारका कार्य पूरा किया।

चोलदेशके शैव राजा कुलतुंगके अत्याचारके कारण रामानुज श्रीरङ्गम् छोड़कर मैसूर चले गए। वहाँके राजा विट्टिदेवने उनका स्वागत किया और स्वयं श्रीवैष्णवमतकी दीक्षा लेकर श्रीसंप्रदायके प्रचार में सहायता की। ११७५ में कुलतुङ्गकी मृत्यु हो जाने पर रामानुज फिर श्रीरङ्गम् वापिस आ गए और वहाँ अलवारोंकी मूर्तियाँ स्थापित कीं। वहाँसे वे तिरुपति आए और गोविन्दराजकी मूर्तिका समुद्रमेंसे उद्धार किया। इसके अनन्तर अपने शिष्योंको श्रीसंप्रदायके प्रचारके लिए नियुक्तकर आपने एक-सौ बीस वर्षकी अवस्थामें विक्रम संवत् ११९४ में दिव्य धामको प्राप्त किया।

रामानुजाचार्यने लगभग ५० ग्रन्थोंकी रचना की।

"श्री"-सम्प्रदायके सिद्धान्त

यामुनाचार्य तथा रामानुजने जिस सिद्धान्तका प्रचार किया उसे दार्शनिक-भाषामें 'विशिष्टाद्वैतवाद' कहते हैं। 'विशिष्ट' का अर्थ है—चेतन और अचेतन तत्त्वसे युक्त ब्रह्म। 'अद्वैत' शब्दका अर्थ है—अभेद या एकता। अतएव जो सिद्धान्त चेतन-अचेतन विशिष्ट ब्रह्मका अभेद प्रतिपादन करता है, उसका नाम हुआ—विशिष्टाद्वैतवाद। इसके अनुसार चित् और अचित् (जीव और जगत्) ईश्वरके शरीर हैं। इसी रूपमें वह जगत्‌का उपादान कारण है और संकल्प-विशिष्ट रूपमें निमित्त कारण भी है। ब्रह्म ही जगत्-रूपमें परिणत हुआ है, फिर भी वह विकार-रहित है। जगत् मिथ्या नहीं, सत्य है।

जीव भी ब्रह्मका शरीर है। ब्रह्म और जीव दोनों चेतन हैं। पर दोनोंमें इतना भेद है कि ब्रह्म विभु है और जीव अणु। ब्रह्म पूर्ण है, जीव खण्डित; ब्रह्म ईश्वर है, जीव दास है। मोक्ष हो जाने पर जीव ईश्वरका सान्निध्य प्राप्त करता है, उसमें विलीन नहीं हो जाता—ईश्वर-भावको प्राप्त नहीं होता। ब्रह्म सविशेष और सगुण है। वह जगत्‌का संचालन करता है; वही कर्म-फल देता है। वह सबके अन्तरमें निवास करता है और कल्याणका आगार है।

शङ्कराचार्य द्वारा प्रतिपादित अद्वैत-सिद्धान्तका वह मत खण्डन करता है। शङ्करके मतानुसार आत्मा चरम तत्त्व है। वह अखण्ड, शुद्ध और चिन्मय है। इससे अतिरिक्त स्थूल-भूत पर्यन्त जितना भी प्रपञ्च है, उसका आत्मासे कोई सम्बन्ध नहीं। जीव अज्ञानके कारण देह और इन्द्रियोंके विषयोंसे अपनपा जोड़ लेता है और अपनेको सुखी-दुखी तथा कर्त्ता-भोक्ता मानता है। जगत्में दिखाई देनेवाला भेद माया के कारण पैदा होता है। इस प्रकार यह संसार और उसके चेतन और अचेतन सब पदार्थ वास्तवमें ब्रह्म ही हैं। इस अभेद-बोधका ही नाम ज्ञान है और यह ज्ञान ही ब्रह्म है।

रामानुज इससे सहमत नहीं। वे कहते हैं, ज्ञान आत्माका धर्म है। वह निष्क्रिय नहीं, सक्रिय है; निर्विशेष नहीं, सविशेष है; निरपेक्ष नहीं, सापेक्ष है।

रामानुजके अनुसार जीव नित्य है, उसका स्वरूप भी नित्य है। वह प्रत्येक शरीरमें भिन्न है। स्वाभाविक-रूपमें वह सुखी है, पर उपाधिके वशमें पड़कर दुःख भोगता है। वही कर्त्ता, भोक्ता, शरीरी सब कुछ है।

विशिष्टाद्वैत मतमें जीवका भगवानकी दासता पा लेना ही मुक्ति है। मुक्त-जीव वैकुण्ठमें श्री, भू, लीला देवियोंके साथ भगवानकी सेवामें सदा रत रहता है। मुक्त होने पर उसका प्राकृत शरीर छूट जाता है और वह दिव्य रूप प्राप्तकर नारायण के समान भोग भोगता है। भगवानका चिरदास बन कर रहना ही जीवके लिए परम पुरुषार्थ है और इस प्रकारकी मुक्तिका साधन है भक्ति। यह दो प्रकारकी है—साधन-भक्ति और फल-भक्ति।

भक्तिके लिए 'प्रपत्ति' आवश्यक है। 'प्रपत्ति' का अर्थ है—सर्वतोभावेन आत्म-समर्पण। जीवको यह विश्वास करना चाहिए कि नारायण विभु हैं; उनके चरणोंमें आत्म-समर्पण करनेसे शान्ति मिलती है। भक्तिके लिए भगवद्-कृपाका होना अनिवार्य है।

मूल (छप्पय)

(चतुर्महन्त)

श्रुतिप्रज्ञा, श्रुतिदेव, ऋषभ, पुहकर इभ ऐसे।
श्रुतिधामा, श्रुतिउदधि, पराजित, वामन जैसे॥
(श्री) रामानुज गुरुबन्धु विदित जग मंगलकारी।
सिवसंहिता प्रनीत ज्ञान सनकादिक सारी॥
इंदिरा पधति उदारधी सभा साखि सारंग कहैं।
चतुर महंत दिग्गज चतुर भक्ति भूमि दाबे रहैं॥३२॥

अर्थ— 'श्री' सम्प्रदायके चार प्रधान स्तम्भोंका वर्णन करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं—

श्रुतिप्रज्ञ और श्रुतिदेव ऋषभ और पुष्कर नामक दो दिग्गजों (दिशाओंमें नियुक्त हाथियों) के समान हैं। श्रुतिधाम और श्रुतिउदधि पराजित और वामन नामक दिग्गजोंके सदृश हैं।

अनन्त श्रीविभूषित जगद्गुरु

श्री विष्णुस्वामीजी महाराज !
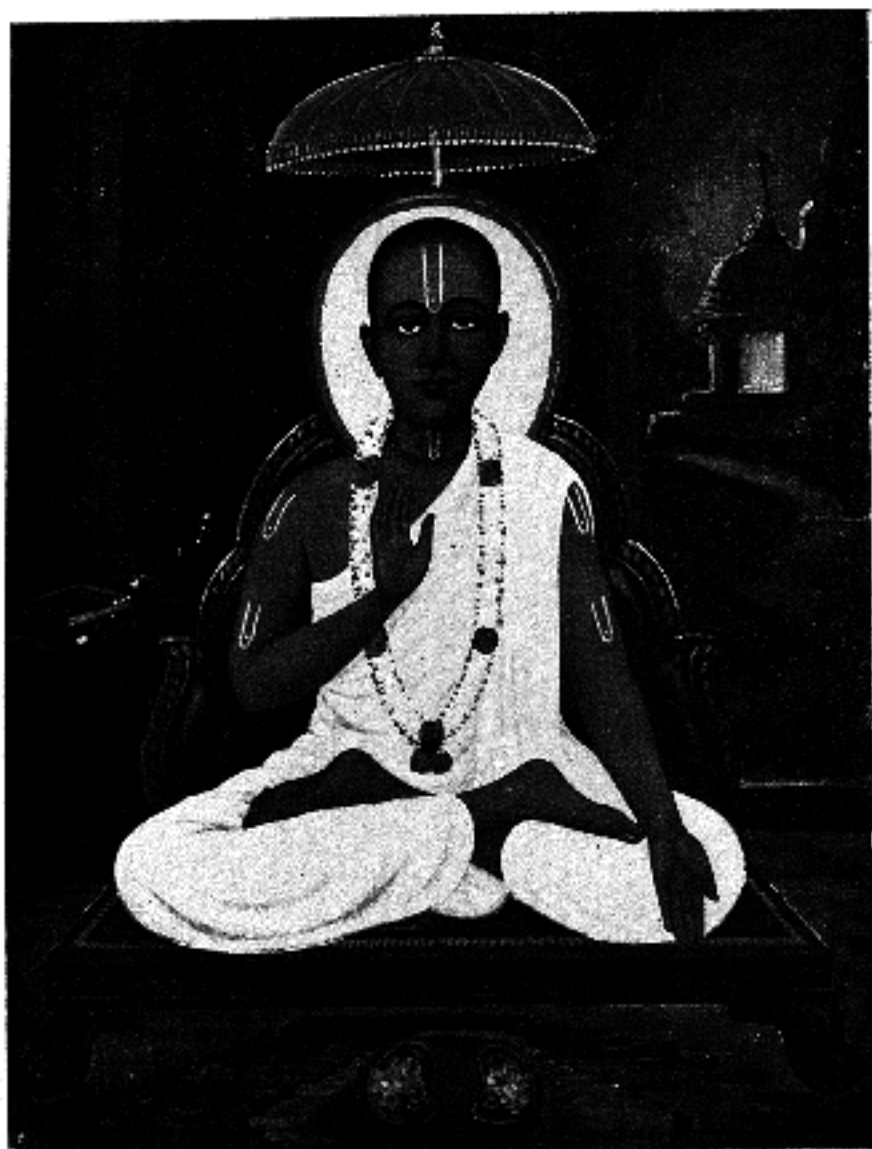
अ० भा० श्रीविष्णु स्वामी महासभा द्वारा सम्मानित तथा प्रकाशित

चित्र मुद्रक—[illegible] प्रेस, मथुरा

ये चारों श्रीरामानुजजीके गुरु-भाई थे। ये अपनी विद्वत्ताके लिए संसार-भरमें प्रसिद्ध थे और सदा परोपकारकी भावना रखते थे। शिव-संहितामें सनक, सनन्दन आदि को जैसा ज्ञानी कहा गया है, ये उसी कोटिके ज्ञानी थे। श्री-सम्प्रदाय (इन्दिरा-पद्धति) के सम्बन्धमें इनकी वृत्तियाँ अत्यन्त उदार थीं। सन्त-सभाके साक्षी लोग—अर्थात् भगवद्-भक्तोंकी गति-विधिको जानने वाले सज्जन—अत्यन्त समर्थ होनेके कारण, इन्हें 'मत्त गजराज' कहा करते थे, क्योंकि चार दिग्गजोंकी भाँति ये भक्ति-रूपी पृथ्वीको दाबे रहते थे—भक्तिके महत्त्व एवं प्रचारको किसी प्रकार कम नहीं होने देते थे।

श्रीविष्णुस्वामी

विक्रम से ६०० वर्ष पूर्व द्रविड़ देशके एक क्षत्रिय राजाका एक ब्राह्मण मन्त्री था। उसके कोई सन्तान नहीं थी। उसने पुत्र-प्राप्तिके विचारसे भगवान्‌की आराधना करना शुरू कर दिया। अन्तमें भगवान प्रसन्न हुए और उस ब्राह्मणके एक पुत्र पैदा हुआ। इसी पुत्रका नाम विष्णुस्वामी रखा गया। भगवानकी दिव्य विभूति होनेके कारण बाल्यकालसे ही इनमें अलौकिक गुणोंका आभास दिखलाई देने लगा था। इनका शरीर भी प्रतिमाके समान ही सुन्दर था। यज्ञोपवीत संस्कारके अल्प समय पश्चात् ही इन्होंने सम्पूर्ण वेद, वेदांग, पुराणादि ग्रन्थोंका ज्ञान प्राप्त कर लिया था। पर फिर भी उनको आनन्दानुभव न हुआ। तब परमानन्दकी खोजका मार्ग इन्होंने पकड़ा और मृत्यु-लोकसे लेकर ब्रह्मलोक पर्यन्त समस्तलोकों पर विचार किया, किन्तु इस विचारसे वे अपनी अभीष्ट वस्तुकी प्राप्ति न कर सके।

अन्तमें इन्होंने उपनिषदोंकी शरण ली और बृहदारण्यक उपनिषदके अध्याय चारके ब्राह्मणके अनुसार इन्होंने अपनी उपासना प्रारम्भ की। अब इनको अपनी उपासनापर बड़ा विश्वास था। वे स्थिरता पूर्वक बहुत समय तक उसीपर डटे रहे, पर अभिलषित वस्तुकी प्राप्ति इससे भी होती दिखाई नहीं दी। अब ये बड़े विकल होने लगे। इन्होंने भगवद्-वियोगमें अन्न-जलका भी परित्याग कर दिया, परन्तु भगवत्सेवा पूर्ववत् चलती रही। इसी प्रकार छः दिन समाप्त हो गए। जब सातवाँ दिन आया तो इनकी विरह-व्यथा असह्य हो गई। क्षण-क्षण कल्पके समान व्यतीत होने लगा। जीना भार-स्वरूप हो गया। भगवानके वियोगमें जीवन-धारण करना असम्भव देख इन्होंने उनके विरहानलमें शरीरको समाप्त कर देना चाहा। उसी समय इनका हृदय एक विशेष प्रकारके प्रकाशसे भर गया। भगवत्प्रेरणासे इनकी आँखें स्वयं खुल गई। जब इन्होंने दृष्टि उठाकर सामने देखा तो आँखें खुलीकी खुली रह गई। सौन्दर्य-मूर्ति श्रीश्यामसुन्दरके दर्शन करते ही वे आत्म-विस्मृत हो आनन्द-विभोर हो गए। उन्होंने किशोराकृति, वेणुवादनतत्पर, शृङ्गार-रसमूर्ति, पीताम्बरधारी, त्रिभङ्ग-ललित, भगवान श्रीश्यामसुन्दरका सुरमुनि-दुर्लभ दर्शन प्राप्त किया। प्रेमका प्रवाह आँखोंसे फूट पड़ा, हृदय गद्-गद् हो गया और नयन निर्निमेष हो मोहन-मूर्तिपर स्थिर हो गए। एक साथ ये भगवानके चरणोंपर झुक गए। इनका प्रत्यङ्ग पुलकित हो गया। भक्तवत्सल भगवानने अपनी आजानु बाहुओंको फैलाकर इनको उठा लिया और अङ्कमें भरकर मुग्ध हो गए। भक्तके अपूर्व प्रेमको देखकर भगवानकी भी आँखें सजल हो गईं। उन्होंने बड़े प्रेमसे श्री विष्णुस्वामीके मस्तक एवं पीठपर हाथ फिराया। जब श्रीविष्णुस्वामीजी प्रकृतिस्थ हुए तो हाथ जोड़कर

भगवानका स्तवन करने लगे। इनके मनमें उपनिषदोंके अभिप्रायके सम्बन्धमें कुछ सन्देह था। भगवानने उसका निवारण करते हुए कहा—"मुझ पुरुषोत्तम भगवान, जो तुम्हारे सामने खड़ा होकर साक्षात् बात कर रहा है, के अतिरिक्त और कोई दूसरा तत्त्व नहीं है। इसी साकार रूपसे एक अद्वितीय त्रिविध भेद-शून्य, अनिर्वचनीय, परमतत्त्व मैं ही हूँ। माया, जगत्, ब्रह्म मेरे अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। जितने विरुद्ध धर्म दिखाई देते हैं वे भी सब मुझमें ही हैं। मैं ही सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार सविशेष-निर्विशेष सब कुछ हूँ। अतः इस प्रकारकी शङ्का त्यागकर सर्वभावसे मेरा ही भजन करो।"

इसी प्रकार भगवानकी श्रीविष्णुस्वामीसे बहुत देर तक बात-चीत होती रही। अन्तमें उन्होंने भगवानसे आग्रह किया—"अब आप अन्तर्धान न हों, सर्वदा मुझे इसी प्रकार प्रत्यक्ष दर्शन देते रहें या आप मुझे भी अपने साथ लेते चलें।" भगवानको तो इनसे भक्ति-प्रचारका काम लेना था, अतः उन्होंने इनको अपने साथ ले जानेसे मना कर दिया। उन्होंने एक मूर्तिकारको बुलाकर दर्शन दिए और एक अपनी-सी ही मूर्ति बनाकर उसे स्थापित करनेका आदेश दिया। मूर्तिकारने भगवानकी आज्ञासे ऐसा ही किया। उसने भगवानका विग्रह तैयार किया। श्रीश्यामसुन्दर उसमें प्रवेश कर गए। अब विष्णुस्वामी उस विग्रहको साक्षात् भगवद्रूप मानकर अर्चा-पूजा करते हुए और 'श्रीकृष्ण तवास्मि' इस मन्त्रका जाप करते हुए जीवन व्यतीत करने लगे।

इस प्रकार भगवानकी सेवा और भक्तिकी सम्वर्धनामें लगे रहते हुए वे वृद्ध हो गए। उस समय इनके मस्तिष्कमें शास्त्र-मर्यादाके रक्षणका विचार आया और उसीके प्रभावके कारण उन्होंने त्रिदण्ड संन्यास ग्रहण किया। कुछ समय पश्चात् ही भगवच्चिन्तन करते हुए इन्होंने नित्यधाम में प्रवेश किया। इनके चलाए सम्प्रदायोंमें सात सौ आचार्य हुए जिन्होंने इनके सिद्धान्त और भगवद्भक्तिका प्रचार किया। आज भी उनकी परम्पराके आचार्य भक्तिके प्रचारकार्यमें संलग्न हैं।

श्रीमध्वाचार्यजी

श्रीमध्वाचार्यजी पवनदेवके अवतार माने जाते हैं। इनका जन्म मद्रास प्रान्तके मङ्गलूर जिलेमें स्थित वेललि ग्राममें विक्रम सम्वत् १२९५ की माघ शु० सप्तमीके दिन हुआ था। इनकी माताका नाम वेदवती और पिताका नाम नारायण भट्ट था। इनके जन्मके लिए इनके माता-पिताको बड़ी तपस्या करनी पड़ी थी। बाल्यकालमें तो इनका मन पढ़ने-लिखनेमें ही नहीं लगता ही था, पर यज्ञोपवीत होनेपर भी इनकी रुचि पढ़ने-लिखनेकी ओर न गई और वे उसी प्रकार खेल-कूदमें ही अपना समय व्यतीत करने लगे।

श्रीमध्वाचार्यका जन्म केवल इसी आमोद-प्रमोद और खेल-कूदके लिए नहीं हुआ था। कुछ अवस्था और बढ़नेपर वेद-शास्त्रोंके अध्ययनकी ओर इनकी रुचि जागी और तब अल्प समयमें ही इन्होंने सम्पूर्ण विद्या अनायास ही प्राप्त करली। अब इनकी संन्यास-ग्रहण करनेकी रुचि हुई, परन्तु इनके माता-पिताने मोहवश इस कार्यमें बाधा डाली। अन्तमें इन्होंने उनको अनेकों चमत्कार दिखलाए और गृह त्यागकर अद्वैत मतके संन्यासी अच्युतपक्षाचार्यजीसे संन्यास ग्रहण किया। अब इनका नाम 'पूर्णप्रज्ञ' हुआ। तदनन्तर इन्होंने वेदान्तका अध्ययन किया। इनकी बुद्धि इतनी प्रखर थी कि वेदान्तका सम्पूर्ण ज्ञान इनको सुगमता पूर्वक होता चला गया। कभी-कभी तो ये गुरुके सामने ऐसे प्रश्न उपस्थित कर देते थे

कि गुरुजीको निरुत्तर होना पड़ता था । इस प्रकार थोड़े समयमें ही पूरे दक्षिण भारतमें इनकी विद्वता की धाक जम गई ।

एक दिन पूर्णप्रज्ञने अपने गुरुदेवके सम्मुख दिग्विजय और गङ्गा-स्नान करने जानेका प्रस्ताव रखा । गुरुजी यह स्वप्नमें भी नहीं चाहते थे कि उनका विछोह अपने प्रिय शिष्यसे हो । इसलिए इस प्रस्तावको सुनकर गुरुदेव व्याकुल हो गए । उनकी व्याकुलताको देखकर अनन्तेश्वर महाराजने कहा कि "भक्तोंका उद्धार करनेके लिए श्रीगङ्गाजी परसों सामने वाले सरोवरमें आवेंगी" और वास्तवमें हुआ भी ऐसा ही । तीसरे दिन सामनेके सरोवरका पानी हरेसे सफेद रंगका हो गया और उसमें गङ्गाके प्रवाहके अनुसार ही उज्ज्वल तरङ्गें क्रीड़ा करने लगीं । इस प्रकार आचार्यकी यात्रा सम्भव न हो सकी । जब कुछ काल व्यतीत हुआ तो इनको अपनी यात्राका अवसर भी मिला । इन्होंने अपनी यात्रा प्रारम्भ की और स्थान-स्थानपर शास्त्रार्थ करने लगे । इनके शास्त्रार्थका उद्देश्य भक्तिका प्रचार, वेदोंकी प्रामाणिकता की स्थापना, मायावादका खण्डन और मर्यादाका संरक्षण था ।

श्रीमध्वाचार्यने गीता-भाष्यका निर्माण किया और फिर बद्रीनारायणकी यात्रा करने गए । वहाँ भगवान व्यासके इनको दर्शन प्राप्त हुए । इन्होंने अपना भाष्य उनको दिखाया । वेदव्याससे इनको लोक-कल्याणके लिए उपदेश करनेकी आज्ञा हुई । उनके निर्देशानुसार इन्होंने ऐसा ही किया । बहुतसे राजा इनके शिष्य हुए । अनेक विद्वानोंने इनसे पराजित हो अधीनता स्वीकार करली । अनेक सिद्धियाँ भी इन्होंने की थीं जिनका चमत्कार समय-समयपर प्राप्त होता रहता था । कितनी ही मूर्तियोंकी प्रतिष्ठा और स्थापना भी इनके द्वारा की गई ।

एक बार किसी व्यापारीका जहाज द्वारकासे मलाबार जारहा था । रास्तेमें पानी भर जानेके कारण वह डूब गया । उस पोतके अन्दर गोपी-चन्दनसे ढकी एक भगवानकी मूर्ति भी थी । वह भी जहाज के साथ जल-मग्न हो गई । उसी समय आचार्यजीको भगवानकी आज्ञा हुई कि यानके साथ डूबी हुई मूर्तिका उद्धार किया जाय । आज्ञा शिरोधार्य की गई और मूर्तिका उद्धार हुआ । मध्वाचार्यने उसकी स्थापना उडुपिमें कर दी । तभीसे उस उडुपि (रजतपीठपुर) के रहने वाले माध्वमतानुयायी होगए ।

इसी प्रकार एक व्यापारीका पोत सामान सहित जलमग्न होने लगा । मध्वाचार्यजीने संकेत मात्रसे उसका उद्धार कर दिया । यह चमत्कार देख कर उस व्यापारी श्रेष्ठीने इनको उस धनका आधा भाग देनेकी अभिलाषा प्रकट की; परन्तु इनके रोम-रोममें पीतपटधारी भगवान श्यामसुन्दरकी नीलमणि कान्ति समायी हुई थी । उन्हें भला इन पत्थरोंकी चमक कब अच्छी लगती ? उन्होंने उसे अस्वीकार करते हुए श्रेष्ठीको दीन-दुखियोंकी सेवा करनेका आदेश दिया । इनके जीवनमें इस प्रकारके अपूर्व त्यागके सैकड़ों उदाहरण भरे पड़े हैं ।

कई बार कुछ असहिष्णु व्यक्तियोंने इनका अनिष्ट करनेकी कोशिश की, पर इनको उनसे किसी प्रकारका भय नहीं था और वे भी इनका कुछ बिगाड़ नहीं पाए ।

सांसारिक माया-मोह और ईर्ष्या-द्वेषसे दूर रहकर वे सदैव भगवानके ध्यानमें चित्त लगाए रहते थे । इन्होंने उडुपिमें आठ प्रतिमाओंकी स्थापना की । आज भी लोग उनका दर्शन करनेके लिए जाते हैं और परमानन्द लाभ करते हैं ।

अपने अन्तिम समयमें ये सरिद्दतर नामक स्थानमें रहते थे। वहाँ इन्होंने अपने शिष्य श्रीसोहन-भट्टजीको श्रीरामजीकी मूर्ति और शालग्राम-शिला देकर अपने मत प्रचारकी आज्ञा दी। उसी स्थानपर आप नित्यधाममें प्रवेश कर गए। इनके शिष्योंने अनेकों मठोंकी स्थापना की और अनेक ग्रन्थोंकी रचना करके इनके सिद्धान्तोंका प्रचार किया।

श्रीमध्वाचार्यजीके उपदेश अत्यन्त ही सारगर्भित और लोक-कल्याणकारी हैं। उनके पठन-पाठन से संसारका सच्चा स्वरूप मानवके सामने आ जाता है। उनके इन समस्त प्रयत्नोंका उद्देश्य भगवानकी भक्तिका प्रचार करना ही था और इसमें उन्होंने आशातीत सफलता प्राप्त की।

मूल (छप्पय)

(श्रीलालाचार्यजी)

(कोऊ) मालाधारी मृतक बह्यो सरितामें आयो।
दाह-कृत्य ज्यों बन्धु न्योंति सब कुटुँब बुलायो॥
नाक सँकोचहिं विप्र तब हरिपुर ते हरिजन आए।
जेंवत देखे सबनि जात काहू नहिं पाए॥
लालाचारज लच्छधा प्रचुर भई महिमा जगति।
आचारज जामात की कथा सुनत हरि होइ रति॥३३॥

अर्थ—माला पहिने हुए एक लाश (मृतक शरीर) नदीमें बहती हुई जा रही थी। श्रीलालाचार्यजीने उसे निकाल लिया और गुरु-भाईके समान उसका दाह-कर्म किया। तेरहवीं (त्रयोदशा) के दिन उन्होंने भोजनके लिए ब्राह्मणों तथा अपने कुटुम्बके भाइयोंको आमन्त्रित किया, लेकिन अनजाने मरे हुए का भण्डारा सुनकर सब ब्राह्मण नाक सिकोड़ने लगे और कोई जेंवने नहीं आया। तब वैकुण्ठधामसे भगवानके भक्त आये। उन्हें भोजन करते तो सबने देखा, पर यह किसीको पता नहीं लगा कि वे चले कब गए। इस घटनासे श्रीरामानुजाचार्यके दामाद श्रीलालाचार्यका लाखों गुना गौरव और आदर बढ़ गया। इनकी कथाको जो कोई सुनेगा उसका प्रेम भगवानके चरणारविन्दोंमें बढ़ेगा।

भक्ति-रस-बोधिनी

आचारजको जामात, बात ताकी सुनो नीके, पायो उपदेश "सन्त बन्धु करि मानिये।
कीजै कोटि गुनी प्रीति" ऐपै न बनति रीति तातें इति करी याते घटती न आनिये॥
मालाधारी तनु साधु सरिता में बह्यो आयो, ल्यायो घर कैरिकै बिमान सब आनिये।
गावत-बजावत लै नीरन्तीर दाह कियो, हियो दुख पायो, सुख पायो समाधानिये॥११०॥

अर्थ—श्रीरामानुजाचार्यजीके दामाद श्रीलालाचार्यजीका चरित सुनिये। गुरुजीने आपको

उपदेश दिया कि सन्तोंसे अपने भाईके समान व्यवहार करना—बल्कि भाईसे भी करोड़ गुना-प्रेम। इसपर लालाचार्यने गुरुजीसे कहा—"भगवन्! आपकी आज्ञा तो शिरोधार्य है, परन्तु करोड़-गुनी प्रीतिकी रीति बनती तो नहीं, इसलिए यहीं तक रहने दीजिए कि (सन्तोंके साथ भाई-जैसा बर्ताव करना चाहिए।" इसपर गुरुजीने आज्ञा की—"अच्छा सही, पर भाईके प्रेम की तुलनामें सन्तोंके प्रति किसी प्रकार कम न रहे।"

एक बार लालाचार्यजीने किसी मालाधारी मृतक शरीरको नदीके प्रवाहमें बहते हुए देखा। वे माला-मात्रसे ही उसे सन्त मानकर घर ले आए और विमानपर स्थापित करके गाते-बजाते हुए फिर नदी-किनारे ले गए और विधिपूर्वक दाह-कर्म किया। अन्त्येष्टि-क्रिया समाप्त होनेके उपरान्त आपको उस सन्तके संबन्धमें बड़ा दुःख हुआ—ठीक वैसा ही जैसे अपने किसी भाई-बिरादरीकी दाह-क्रिया करनेके बाद हर एक आदमीको होना चाहिए, लेकिन बादमें लालाचार्य जीने यह समाधान कर लिया कि मैंने एक सन्तके प्रति अपना कर्तव्य-पालन कर दिया। इस समाधानसे आपके हृदयको सन्तोष हुआ।

श्रीलालाचार्यजी की भक्तिकी यह विशेषता थी कि उन्होंने मृत व्यक्तिकी जाति-पाँतिका कुछ भी विचार न कर, केवल उसके गलेमें पड़ी हुई मालाको ही देखकर उसे भगवानके भक्तके-रूपमें मान लिया। भगवानकी भक्तिके द्वारा समत्वबुद्धिरूप योग किस प्रकार अनजाने ही प्राप्त हो जाता है, इसका उदाहरण हमें लालाचार्यजीके चरितमें मिलता है। उन्हें केवल दाह-क्रिया करके ही संतोष नहीं हुआ, बल्कि आपने उसके लिए दुःख भी किया। लिखा भी है—

तुलसीकाष्ठजां मालां कण्ठस्थां वहते तु यः।
अशौचश्चाप्यनाचारो मामेवैति न संशयः॥

—जो व्यक्ति तुलसी-काठकी मालाको कण्ठमें धारण करता है, वह चाहे जैसा अपवित्र और अनाचारी क्यों न हो, मेरे पास ही सीधा आता है, इसमें सन्देह नहीं।

भक्ति-रस-बोधिनी

किया तो महोच्छौ, ज्ञाति विप्रन को न्योंतो दियो, लियो आए नाहिं आनी शंका दुखदाइयें।
भए इकठौरे, माया कीनी सब बौरे, कछु कहे बात औरे, मरी देह बही आइयें॥
याते नहीं खात, बाकी जानत न जाति-पाँति, बड़ो उतपात घर त्याग्य जाय बाहियें।
मग अवलोकि उत परयो सुनि सोक हिये, जिये आय पूछैं गुरु कैसे के निवाहियें॥१११॥

अर्थ—दाह-कर्मसे तेरहवें दिन लालाचार्यजीने धूमधामसे उस मरे हुए व्यक्तिका उत्सव किया और ब्राह्मणोंको भोजन करनेके लिए निमन्त्रण भेज दिये। ब्राह्मणोंने न्योंता तो स्वीकार कर लिया, पर समयपर आये नहीं। उन्होंने तरह-तरहकी आपत्तियाँ कीं जिनको सुनकर लालाचार्यजीको बड़ा कष्ट पहुँचा। ब्राह्मणोंने दूसरा काम यह किया कि सब एक जगह एकत्रित होगए—क्योंकि जातिके अभिमानकी माया (अज्ञान) ने उन्हें पागल बना दिया था—और

इस प्रकारकी उल्टी-उल्टी बातें करने लगे—"देखो, एक लाश नदीमें बहकर आ रही थी; उसको पहले तो घर लाये और फिर नदीपर ले जाकर उसका संस्कार किया। हम इसी कारण भोजन नहीं करते। उसकी जाति-पाँतिका कोई ठिकाना नहीं। यह तो समाजके विरुद्ध एक प्रकार का उपद्रव खड़ा करना है।"

लालाचार्यजीने बहुत देर तक ब्राह्मणोंकी राह देखी, पर जब उनके न आनेका कारण सुना, तो उनके हृदयको बड़ी चोट लगी। अन्तमें उनके जीमें यह आया कि चलकर गुरुदेवसे पूछा जाय कि संकटके निवारणका उपाय क्या है?

भक्ति-रस-बोधिनी

चले (श्री) आचारज पै बारिज बदन देखि करि साष्टांग बात कहि सो जनाइयै।
"जावो निहसंक, वे प्रसाद को न जानैं रंक; जानैं जे प्रभाव आवैं वेगि सुखदाइयै॥"
देखे नभ भूमि द्वार ऐहैं निरधार जन, बैकुंठ-निवासी पाँति छिन हूँ कै आइयै।
इन्हैं अब जान देवो, जनि कछू कहो, अहो गही करो हाँसी जब घर जाय खाइयै॥११२॥

अर्थ—लालाचार्यजी गुरुजीसे आदेश लेने चले। पहुँचते ही उनके मुख-कमलके दर्शनकर साष्टांग प्रणाम किया और फिर जो कुछ हुआ था, सब निवेदन कर दिया। गुरुजीने कहा—"तुम जाओ और किसी बातकी चिन्ता मत करो। ये कङ्गले भोजनभट्ट प्रसादकी महिमा क्या जानें? जो जानते हैं वे शीघ्र आवेंगे और तुम्हें आनन्द देंगे।"

यह कहकर गुरुदेवने पहले (पार्षदोंका स्मरण करके) आकाशकी ओर देखा और तब पृथ्वीकी ओर आँखें झुकाकर उनका आवाहन किया। फिर बोले—"आधार-रहित आकाशसे उतरकर भगवानके वैकुंठ-निवासी भक्तगण तुम्हारे यहाँ प्रसाद पाने आवेंगे।"

कुछ समय बाद भक्तोंकी पंक्ति वैकुण्ठसे उतरकर उन ब्राह्मणोंके पाससे निकलती हुई लालाचार्यजीके घरपर आई। उन्हें देखकर ब्राह्मण एक-दूसरेसे कहने लगे—"जाने दो इन्हें, कुछ कहो मत। भोजन करके जब ये लौटने लगेंगे तब सामनेसे रोककर इनकी हँसी उड़ावेंगे।"

महाप्रसादकी महिमाके सम्बन्धमें प्रमाण देखिए—

महाप्रसादे गोविन्द-नाम्नि ब्राह्मणवैष्णवे।
स्वल्पपुण्यवतां राजन् विश्वासो नैव जायते॥ (स्कन्द-पुराण)

—महाप्रसाद, गोविन्दका नाम, ब्राह्मण और वैष्णव—इनमें उन लोगोंका विश्वास नहीं होता जिन्होंने थोड़े पुण्य किए हैं।

शुद्धं भागवतस्यान्नं शुद्धं भागीरथीजलम्।
शुद्धं विष्णुपरं चित्तं शुद्धमेकादशीव्रतम्॥ (पद्म-पुराण)

—भगवानके भक्तके यहाँका अन्न, गंगाजीका जल, हरिके ध्यानमें लगा हुआ चित्त और एकादशी का व्रत—ये सब शुद्ध होते हैं।

और भी देखिए—

श्रीपति के परसाद को बौमन विमुख घिनाइ ।
श्वा खूठे पात को विन पाए पछताइ ॥

—श्रीस्वामी बिहारिनदेवजी

पाँडे काहे को आचार ? ऐसी चतुरता में छार ।
करत वादविवाद नित-नित, हित न नन्दकुमार ॥
रूप, कुल, गुन कुल-पंडित, बढ़ो गर्व अपार ।
नहिं न हम सम और कोऊ दूसरो संसार ॥
तात मरिगो, मात मरि, पुनि मरो सब परिवार ।
यहु जानत हम हूँ मरि हैं, तऊ न तजत विकार ॥
हरत पर-वित, धरत रुचि रुचि, भरत भवन भँडार ।
नहिं न रंचक प्रीति हरिपद विषय मन मँझार ॥
लेत नहिं न प्रसाद सादर लोक-लाज विचार ।
नारि मुख हित पाइ पीवत अधर अपटी लार ॥
संत-जन सों द्रोह मानत कुमति के आगार ।
जुगल-विमुख न परिहरो सतसंग बारंबार ॥

भक्ति-रस-बोधिनी

आए देखि पारषद गयो गिरि भूमि सद हव करी कृपा यह, जानि निज जन को ।
पायो लै प्रसाद स्वाद कहि अहलाद भयो, नयो लयो मोद जान्यो साँचो सन्तपन को ॥
बिदा ह्वै पधारे नभ, मग में सिधारे, विप्र देखत बिचारे द्वार, बिथा भई मन को ।
गयो अभिमान आनि मन्दिर मगन भए, नए दृग लाज, बीनि-बीनि लेत कन को ॥११३॥

अर्थ—श्रीलालाचार्यजीने भगवानके पार्षदोंको अपने घरपर आया हुआ देखा, तो पृथ्वी पर पड़कर साष्टांग प्रणाम किया और बोले—"आप सज्जनोंने इस व्यक्तिको अपनाकर असीम कृपा की।" पार्षदोंने भोज्य पदार्थोंके स्वादका वर्णन करते हुए प्रसाद पाया जिससे कि लालाचार्यको बड़ा आनन्द हुआ। पार्षदोंको भी उस दिन एक विचित्र प्रकारके आनन्दका अनुभव हुआ। उन्हें पहिली बार यह मालूम हुआ कि सन्तोंका प्रेम कैसा सच्चा होता है।

इसके उपरान्त पार्षदगण आकाश-मार्गसे चल दिये। बेचारे ब्राह्मण रास्तेमें मकानके दरवाजेके पास खड़े हुए उनका जाना देख रहे थे। अब (यह जान कर कि ये तो कोई अलौकिक जीव थे जो आकाशसे आकर चले गए) उनके हृदयमें बड़ा पछतावा हुआ और जातिका अभिमान दूर होगया। वे सब लालाचार्यजीके घरके अन्दर गए। लज्जासे उनकी आँखें ऊपरको नहीं उठती थीं। (महाप्रसादकी महिमासे वे परिचित हो गए थे अतः) उन्होंने भूमिपर पड़े हुए कणोंको बीन-बीनकर खाया और प्रेममें मग्न हो गए।

भक्ति-रस-बोधिनी

पाइ लपटाइ अंग धूरि में लुटाए कहैं "करो मन भायो" और दीन बहु भाख्यो है।
कही भक्तराज "तुम कृपा मैं समाज पायो, गायो जो पुरानन में रूप नैन चाख्यो है ॥"
"छाँड़ो उपहास, अब करो निज दास हमैं, पूजै हिये आस मन अति अभिलाख्यो है।"
किये परहंस मानो हंस ये परम कोऊ ऐसे जस लाख भाँति घर-घर राख्यो है ॥११४॥

अर्थ—अब तो ब्राह्मण लालाचार्यजीके पैरोंमें लिपट गये और घरकी धूलमें लोटते हुए बोले—"आपकी इच्छा हो वैसा करिए (पर अपनी शरणमें हमें अवश्य ले लीजिए।" और भी इस प्रकारकी बहुतेरी दीनता-भरी बातें उन्होंने कहीं। भक्तशिरोमणि लालाचार्यजीने कहा—"यह आपके ही न आने की कृपाका फल है कि मुझे भगवानके पार्षदोंकी सेवाका अवसर मिला और मैंने अपनी इन आँखोंसे उनके अलौकिक रूपके दर्शन किये।") ब्राह्मणोंने इसपर कहा—"हमारी खिल्ली उड़ाकर आप हमें अधिक लज्जित न करें। हमारे हृदयकी सबसे बड़ी अभिलाषा तो यह है कि आप हमें अपने दास-रूपमें अंगीकार करें और हमारे मनोरथ को पूर्ण करें।"

यह सुनकर लालाचार्यजीने उन्हें दीक्षा दी और हंसके समान उन्हें भीतर-बाहरसे निर्मल बनाकर प्रशंसनीय कर दिया। इस प्रकार लालाचार्यजीकी अनुपम भक्तिके यशकी लाखों प्रकार से घरोंमें प्रतिष्ठा हुई और लोगोंने उसका गान किया।

शेष भक्तों का परिचय

श्रीश्रुतिप्रज्ञ—श्रुतिदेव, श्रुतिधाम और श्रुतिउदधि चारों श्रीरामानुजाचार्यके गुरु-भाई थे। इनमें श्रीश्रुतिप्रज्ञ नाम-जपमें अटूट श्रद्धा रखते थे। संसारके प्रति आपकी आसक्ति प्रारम्भसे ही नहीं थी। श्रीयामुनाचार्यके सच्चे अनुयायी होनेके कारण आपके लिए सब वैष्णव, चाहे वे किसी जातिके क्यों न हों, एक समान आदरणीय थे। आप प्रायः रामानुज-सिद्धान्तका प्रचार करनेके लिए भारतके विभिन्न भागोंमें भ्रमण किया करते थे। कहते हैं, एक बार नीलाचलके मार्गमें एक भगवत्-प्रेमी श्वपच (चाण्डाल) को आपने गलेसे लगा लिया और उसके हाथका महाप्रसाद बड़ी भक्तिसे खाया।

श्रीश्रुतिदेवजी—श्रीश्रुतिप्रज्ञजीकी तरह ये महात्मा भी भगवानके नामका कीर्तन करते हुए विचरा करते थे। आपके साथ बहुत-से सन्तोंकी मण्डली भी रहती थी। एक दिन भ्रमण करते-करते आप एक ऐसे राजाके राज्यमें पहुँचे जहाँ नगरमें कोई तालाब, बावड़ी या कुँआ नहीं था। राजाके बाग में केवल जल मिल सकता था। श्रीश्रुतिदेव अपनी मण्डली सहित जब इस बागमें पहुँचे और स्नान करना चाहा, तो राजाके कर्मचारियोंने उन्हें रोका। इस पर आपने साथके सन्तोंसे कहा कि यदि स्नान का साधन नहीं बनता है, तो वैसे ही कीर्तन करो। इधर कीर्तन प्रारम्भ हुआ और उधर बागके तालाब और कुँओंमें सब पानी सूख गया। थोड़ी देरमें सर्वत्र हाहाकार मच गया। जब राजाको असली बातका पता लगा, तो वह मन्त्रियों सहित श्रीश्रुतिदेवकी शरणमें आया और नौकरोंकी ओरसे क्षमा माँगी। स्वामीजीने उसे हरि-भक्तिका उपदेश दिया और आगेकी यात्रा प्रारम्भ की।

श्रीश्रुतिधामजी—आप भी पहुँचे हुए उपदेशक और सच्चे भक्त थे। कहते हैं, एक बार आप त्रिवेणी-संगमपर हरि-भक्तिका उपदेश कर रहे थे कि किसीने आपसे प्रश्न किया कि सरस्वती नदी, यमुना और गङ्गाकी तरह, दिखाई क्यों नहीं पड़ती। श्रीश्रुतिदेवने इस प्रश्नके उत्तरमें अपनी आँखें मींच लीं और ध्यानमें डूब गए। थोड़ी देर बाद लोगोंने देखा कि गङ्गा और यमुनाकी श्वेत और नील धाराओंके बीचमें सरस्वतीका लाल प्रवाह स्पष्ट दिखाई दे रहा है। इस अनहोनी घटनासे लोगोंको बड़ा आश्चर्य हुआ और इसे सबसे बड़ा पुण्य पर्व समझकर संगमके स्थानपर स्नान करनेको दौड़े। आचार्यजीने भी सबके साथ बड़े प्रेमसे स्नान किया।

श्रीश्रुतिउदधिजी—इनके सम्बन्धमें एक कथा कही जाती है कि गङ्गा-स्नानको जाते हुए आप किसी राजाके बागमें ठहरे। संयोग ऐसा हुआ कि उसी रातको राजाके महलमें चोरी होगई और सन्देहमें आपको पकड़कर जेलमें बन्द कर दिया गया। इधर ये बन्द किए गए और उधर राजा बीमार पड़ गया। बादमें आपने ही उसे अच्छा किया। अन्त में राजाको तथा उसके सब मन्त्रियोंको आपने भक्तिका उपदेश दिया।

—○—

मूल (छप्पय)

(श्रीपादपद्मजी)

गुरु गमन (कियो) परदेश सिष्य सुरधुनी दृढ़ाई।
एक मंजन एक पान हृदय बंदना कराई॥
गुरु गंगा में प्रविसि सिष्य को बेगि बुलायो।
बिष्नुपदी भय जानि कमलपत्रन पर धायो॥
पादपद्म ता दिन प्रगट, सब प्रसन्न मन परम रुचि।
श्री मारग उपदेश कृत श्रवन सुनौ आख्यान सुचि॥३४॥

अर्थ—'श्री' सम्प्रदायके अनुयायी एक गुरु अपने शिष्योंको गङ्गाजीके प्रति दृढ़ निष्ठा रखनेका उपदेश देकर चले गए—अर्थात् चलते समय यह कह गए कि मेरी अनुपस्थितिमें गङ्गाजीको ही अपना गुरु मानना। तब कोई शिष्य बड़ी भक्तिसे गंगाजीमें स्नान करता, कोई जल-पान करता, लेकिन पादपद्मजी केवल हृदयसे ही उनकी आराधना करते—न कभी गंगामें नहाते और न जलका आचमन करते। बादमें गुरुजी लौटकर आये, (तो सच्चे भक्तका परिचय देनेके लिये) वे गंगामें घुसे और शिष्य (पादपद्मजी) को शीघ्र बुलाया। वे, इस डरसे कि गंगाजीके पवित्र जलसे पैर न छू जायँ, कमलके पत्तोंपर पैर रखते हुए गुरुजीके पास तक गए। बस, उसी दिनसे उनका नाम "पादपद्म" पड़ गया। इस चमत्कारको देखकर सब लोग बड़े प्रसन्न हुए और उनकी पादपद्मजी तथा गंगाजीके प्रति बड़ी श्रद्धा होगई। 'श्री' सम्प्रदायके अनुयायी इस भक्तका वृत्तान्त सबको सुनना चाहिए।

भक्ति-रस-बोधिनी

देवधुनी तीर सो कुटीर, बहु साधु रहैं, रहे गुरु-भक्त एक, न्यारो नहिं ह्वै सकै।
चले प्रभु गाँव, "जिन तजो बलि जाऊँ," करी कही वास सेवा गंगा में ही, कैसे छ्वै सकै ॥
किया सब कूप करैं, विस्नुपदी ध्यान धरैं, रोस-भरे सन्त श्रेणीभाव नहीं ल्वै सकै।
आए ईश जानि दुख मानि सो बखानि कियो, आनि मन जानि बात अंग कैसे ध्वै सकै ॥११५॥

अर्थ—गंगाजीके तीर पर कुछ कुटियाँ बनी हुई थीं और उनमें बहुत-से साधु-सन्त रहते थे। इनमें एक शिष्य ऐसे गुरु-भक्त थे कि वे क्षण-भरके लिए भी श्रीगुरुजीसे अलग नहीं रह सकते थे। एक समय गुरुजी किसी गाँवको जाने लगे, तो इन्होंने प्रार्थना की कि आपकी बलि जाऊँ, मुझे छोड़कर मत जाइए। गुरुजीने कहा—"तुम यहीं रहकर भगवानके भक्तोंकी सेवा करो और गंगाजीमें ही गुरु-भाव रक्खो।" गुरुजी तो आज्ञा देकर चले गए, लेकिन गंगाजीको गुरु मान लेने पर वे उसके जलसे अपने पैरोंको भला कैसे छूने देते? हुआ यह कि जब कि और शिष्य गंगामें नहाते-धोते, ये स्नान आदि समस्त क्रियाएँ कुएँ के जलसे करते और गंगाजी की उपासना ध्यान द्वारा किया करते। यह देखकर बाकी सब साधुओंको बड़ा क्षोभ हुआ। कारण यह था कि वे लोग इनके पवित्र भाव तक पहुँच ही नहीं सकते थे। कुछ समय बाद गुरुजी जब लौटकर आए, तो सब शिष्योंने दुखी होकर सब समाचार उन्हें सुनाया। गुरुजी यथार्थ बातको समझ गए—यह कि गंगाजीमें गुरु-भाव रखकर वह शिष्य उनके जलको अपने पैरोंसे कैसे छू सकता था?

भक्ति-रस-बोधिनी

चले लैकै न्हान संग, गंग में प्रवेस कियो, रंग-भरि बोले सो "अँगोछा वेगि ल्याइये।"
करत बिचार सोच-सागर न वारापार, गंगा जू प्रगट कह्यो "कंजन पै आइये ॥"
चले ई अधर पग धरैं सो मधुर जाइ प्रभु हाथ दियो, लियो तीर भीर छाइये।
निकसत धाइ चाइ पाइ लपटाइ गए, बढ़ो परताप यह निसि दिन गाइए ॥११६॥

अर्थ—गुरुजी इनको अपने साथ लेकर गंगा-स्नानको गए और गंगाजीमें प्रवेश किया। जलमें पहुँचकर गुरुजीने प्रेममें भरकर इनसे कहा—"अँगोछा जल्दी लाकर दो!" अब वे (शिष्य) बड़ी उलझनमें फँस गए (एक ओर गुरुकी आज्ञा थी, दूसरी ओर प्रश्न था गंगाजी की पवित्रताकी रक्षा करने का।) इतनेमें स्वयं गंगा-माताने प्रकट होकर कहा—"इन कमलोंके पत्तोंपर पैर रखकर चले आओ।" आज्ञा पाते ही वे कमलके पत्तोंपर अधर पैर रखते हुए गुरुजीके पास पहुँचे और उनके हाथमें अँगोछा दे दिया। गुरुजीने उसे ले लिया। अब तो इस आश्चर्यको देखने के लिए गंगाजीके किनारेपर लोगोंकी भीड़ इकट्ठी होगई। शिष्यके गंगाजी की धारमें-से बाहर निकलते ही लोग प्रेममें विभोर होकर उनकी ओर दौड़े और पैरोंमें लिपट गए। बादमें इन शिष्यका प्रभाव इतना बढ़ा कि लोग रात-दिन उनका गान किया करते थे।

मूल (छप्पय)

(श्रीरामानन्दजी)

देवाचारज दुतिय महामहिमा हरियानँद ।
तस्य राघवानन्द भए भक्तन को मानद ॥
पृथ्वी पत्रावलंब करी कासी अस्थाई ।
चारि बरन आश्रम सब ही की भक्ति दृढ़ाई ॥
तिनके रामानंद प्रगट विश्वमंगल जिन्ह बपु धरयो ।
श्रीरामानुज* पद्धति प्रताप अवनि अमृत ह्वै अनुसरयो ॥३५॥

श्रीसम्प्रदायके प्रचारकोंमें श्रीदेवाचार्यजी एक महान् प्रतापी आचार्य हुए, दूसरे महामहिम श्रीहरियानन्दजी हुए। भक्तोंको मान देने वाले भक्तवर श्रीराघवानन्दजी उनके शिष्य थे। उन्होंने भारतभूमिको अपने विजय-पत्रके आश्रयमें ले लिया था और वे स्थायी रूपसे काशीमें निवास करते थे। चारों वर्ण और आश्रमोंसे सम्बन्धित सभी लोगोंके हृदयमें प्रभुकी भक्तिको उन्होंने अविचलरूपसे स्थापित किया। उनके शिष्य-रूपमें विश्व-मंगलकारी श्रीरामानन्दाचार्य का प्राकट्य हुआ, जिनके द्वारा पृथ्वीपर श्रीरामभक्तिका प्रताप अमृतरूपसे फैला और सांसारिक दुःखोंसे संतप्त जीवोंका कल्याण हुआ। आप रामानुज पद्धति (विशिष्टाद्वैत)के प्रताप(सूर्य) थे।

श्रीरूपकलाजीने ३५ और ३६ वें दोनों छप्पयोंकी टीका संयुक्त रूपमें की है और श्रीरामानन्दाचार्यजीकी गुरु-परम्पराका उल्लेख इस प्रकारसे किया है—

१. सर्वेश्वर श्रीरामचन्द्रजी, २. जगज्जननी श्रीजानकीजी, ३. श्रीहनुमानजी, ४. श्रीब्रह्माजी, ५. श्रीवशिष्ठजी, ६. श्रीपराशरजी, ७. श्रीव्यासजी, ८. श्रीशुकदेवजी, ९. श्रीपुरुषोत्तमाचार्यजी, १०. श्रीगंगाधराचार्यजी, ११. श्रीसदाचार्यजी, १२. श्रीरामेश्वराचार्यजी, १३. श्रीद्वारानन्दजी, १४. श्रीदेवानन्दजी, १५. श्रीश्यामानन्दजी, १६. श्रीश्रुतानन्दजी, १७. श्रीचिदानन्दजी, १८. श्रीपूर्णानन्दजी, १९. श्रीश्रियानन्दजी, २०. श्रीहर्यानन्दजी, २१. श्रीराघवानन्दजी, २२. श्रीस्वामीरामानन्दजी।×

साम्प्रदायिक विद्वानोंकी मान्यताके अनुसार कान्यकुब्ज द्विज पुण्यसदनजीकी धर्म-पत्नी श्रीसुशीला देवीकी कुक्षिसे वि० सं० १३५६ माघ कृष्ण ७ गुरुवारको प्रयागमें आपका प्रादुर्भाव हुआ था। जन्म नाम रामदत्त रखा गया, आपकी बुद्धि बड़ी तीव्र थी।

---

* इस छप्पयकी अन्तिम तुकमें प्राप्त 'श्रीरामानुज' शब्दको कुछ विद्वान् 'रामानुज' का अपभ्रंश बतलाते हैं और कई एक रामानन्दीय विद्वान् यहाँ रामानंद पाठ भी मानते हैं, किन्तु श्रीरूपकलाजीने 'रामानुज' ऐसा पाठ ही माना है और १७०७ तक की हस्तलिखित प्रतियोंमें भी यही पाठ मिलता है, अतः यहाँ भी उन्हींके अनुसार ही पाठ रखा गया है।

× आचार्य-परम्पराकी एक प्रति वि० सं० १८०७ में मिर्जापुरके रघुवरदासजीने लिखी थी। फिर वहीं ही महंत विट्ठलदासजीने सं० १९१८ में उसकी प्रतिलिपि की थी। पाछी सुल्तानपुर जि० बहराइच (अवध) में प्राप्त उस प्रतिके आदि-अंतका विवरण नागरीप्रचारिणीकी सन् १९२३–२५ की खोज-रिपोर्ट पृ० ११८६ सं० ३६३ बी० में प्रकाशित हुआ था। ७×४ इंची साइजके ३ पत्रोंमें ४० श्लोक परिमित उक्त परम्परामें शुल्व-महत्माहत्स्य एवं पुरुषसुनी आदि बहुतसे नाम प्रस्तुत परम्परासे अधिक हैं। कुछ परम्परा सूचियोंमें रामानुज नाम भी मिलता है, द्रष्टव्य—डा० भगवती सिंहकृत—'रामभक्तिमें रसिक-सम्प्रदाय'।

एक बार आपके पिताजी रामायणका पाठ कर रहे थे तब सुनते-सुनते ही बालक रामदत्तको वह सब कंठस्थ हो गया। ऐसी मेधाके कारण बारह वर्षकी अवस्थामें ही व्युत्पन्न हो कर दर्शन शास्त्र पढ़नेके लिये वे काशी पहुँचे और अध्ययनके अनन्तर वहाँ ही उन्होंने स्वामी श्रीराघवानन्दजीसे वैष्णवी दीक्षा ले ली।

जब तैमूरलंग द्वारा हिन्दुओं पर तरह-तरहके अत्याचार किये जा रहे थे, तब कुछ धार्मिकोंने श्रीरामानन्दाचार्यजीसे प्रार्थना की, उन्होंने सबको धैर्य बँधाया। दूसरे दिन लोगोंने सुना कि अजानके समय मुल्लाओंके गलेसे आवाज निकलना बन्द हो गया है। ऐसी स्थितिमें मुसलमानोंने श्रीरामानन्दजी से क्षमा माँगी। स्वामीजीने उनसे कहा—'जजिया कर, हिन्दुओंको मन्दिर बनवानेकी मनाही, मसजिदों के सामनेसे बरात न निकलने देना और खुले-आम गौ-हत्या करना' आदि अत्याचारोंको जब तक तुम बन्द न करोगे तब तक मुल्लाओंकी यही दशा रहेगी। आपके इस आदेश पर मुसल्मानोंने तत्कालीन बादशाह गयासुद्दीन तुगलकको लिखित प्रार्थना-पत्र दिया और उन सबके अनुरोधसे श्रीस्वामी रामानन्दजी की बारह शर्तें स्वीकृत कर शाही फर्मान निकलवा दिया गया। स्वामीजी द्वारा हिन्दू-धर्मका यह महान उपकार हुआ।

अपने भ्रमणके समय उन्होंने विजयनगर आदिके कई राजाओंको भी सन्मार्ग दिखलाया और उनके आचरण ठीक किये। विजय-नगरमें आपके नौ दिन उपदेश हुए जिसके फल-स्वरूप वहाँके नरेश की वृत्तियोंमें इतना परिवर्तन हुआ कि वह परम भगवद्भक्त बन गया।

श्रीस्वामीजीका दृष्टिकोण केवल धार्मिक ही नहीं था, अपितु राजनैतिक भी था। हिन्दुओंको एक सूत्रमें बाँधनेके लिये उन्होंने जाति-पाँतिके बन्धनोंको शिथिल करनेका उपदेश दिया और सभी वर्णोंके व्यक्तियोंको शिष्य बनाया। श्रीकबीरजी, रैदासजी आदि आपके प्रधान शिष्योंमें गिने जाते हैं।

जिस प्रकार दक्षिण-भारतमें श्रीरामानुजाचार्यजी द्वारा श्रीसम्प्रदायका प्रचार हुआ था, उसी प्रकार उत्तर-भारत की भूमिपर श्रीरामानन्दस्वामी द्वारा भक्तिरूपी अमृतका प्रसार एवं श्रीसम्प्रदायका प्रचार हुआ। आपके लीला-विस्तारके सम्बन्धमें मतभेद है। कुछ विद्वान् १४६७ और कुछ विद्वान् वि० सं० १५०५ आपके परमधाम-गमनका सम्वत् मानते हैं।❀

आपके सैकड़ों शिष्योंमें बारह प्रधान माने जाते हैं; उनका परिचय यथा-स्थान आगे दिया गया है। इस सम्प्रदायकी आद्य-प्रवर्तिका श्रीसीताजी मानी गई हैं जैसा कि उपर्युक्त परम्पराके उल्लेखसे स्पष्ट होता है। इसी कारण इस सम्प्रदायको श्रीसम्प्रदाय कहा जाता है। श्रीसम्प्रदायके कई प्रतापी आचार्य हो गये हैं जिन्होंने अपने-अपने दृष्टिकोणोंसे जनकल्याण किया।

श्रीरामानुजाचार्यने मुख्यतया श्रीनारायण-मंत्र द्वारा दक्षिणमें विष्णुकी उपासनाका प्रचार-प्रसार किया और श्रीरामानन्दाचार्यने श्रीराममंत्र द्वारा परात्पर परब्रह्म श्रीजानकी-जीवनकी उपासनाका उत्तरमें प्रचार-प्रसार किया। मंत्र, उपासना आदिका विभेद होते हुए भी दोनोंने दार्शनिक सिद्धान्त एक (विशिष्टाद्वैत) ही माना है। "विशिष्टञ्च विशिष्टञ्च विशिष्टे तयोरद्वैतम्" इस व्युत्पत्तिके अनुसार सूक्ष्म चिदचिद्विशिष्ट (कारण ब्रह्म) और स्थूल चिदचिद्विशिष्ट (कार्य-ब्रह्म) दोनों अभिन्न ही हैं। यदि कुछ विभेद है तो कार्यत्वेन और कारणत्वेन ही हो सकता है।

संक्षेपमें, श्रीआनन्द-भाष्यके अनुसार भक्ति ही मोक्षका एकमात्र उपाय है, कर्म भक्तिका ही अङ्ग

❀ भक्तिसुधास्वाद तिलक, सन् १९५१ वाला संस्करण पृ० २८२, २८३, २८४।

हैं; जीव एक-दूसरेसे भिन्न हैं और नाना हैं; जीव अपने स्वरूपसे कर्त्ता, भोक्ता, अनुज्ञाता, नित्य आदि हैं; जीव और ब्रह्म एक तत्त्व नहीं हैं; वर्णाश्रम-व्यवस्था त्रिलोककारिका है, अतएव माननीय है। अद्वैतवादियोंके विवर्तवादका श्रीरामानन्दने खण्डन किया है। इसी प्रकार ब्रह्मको निर्विशेष न मानकर सविशेष माना है। जगत् मिथ्या है और अविद्या अनिर्वचनीय और भावरूप है, इसे ये नहीं स्वीकार करते। वेद इनके मतमें अपौरुषेय हैं।

श्रीदेवाचार्यजी—इन्हें 'देवराजाचार्य' भी कहा जाता है तथा 'देवाधिपाचार्य' भी। यह लिखा जा चुका है कि श्रीरामानुजाचार्यकी शिष्य-परंपरामें ये द्वितीय आचार्य थे। ये विशिष्टाद्वैत सिद्धान्तको मानते थे। अनुमान यह है कि ये विक्रमकी तेरहवीं शताब्दीमें हुए। आप सुदर्शनाचार्यके गुरु और वरदाचार्यके पिता थे। इनकी एक अप्रकाशित पुस्तक 'बिम्ब-तत्त्वप्रकाशिका' है जिसमें अद्वैतवादियोंके प्रतिबिम्बवाद का खण्डन किया है।

इनकी भक्तिके चमत्कारको बताने वाली एक कथा इस प्रकार कही जाती है—एक बार काशी जाते हुए आप मार्गमें किसी गाँवमें ठहर गए और वहाँ श्रीमद्भागवतकी दशम स्कन्धकी कथा कहने लगे। जिस स्थानपर कथा होरही थी वहीं पासमें एक वृक्ष था। जब देवराजाचार्य्यजी यमलार्जुन वृक्षके प्रसंग को कह रहे थे, अचानक वह पेड़ पृथ्वीपर गिर पड़ा और उसमेंसे एक दिव्य पुरुषने निकलकर हाथ जोड़ते हुए कहा—"आपकी कृपासे आज मैं इस वृक्ष-योनिसे छूट गया और अब भगवानके परम धामको जारहा हूँ।" यह कहकर वह आकाशमें अदृश्य होगया।

श्रीहर्य्यानन्दजी—भगवानके आनन्दमें सदा लीन रहनेके कारण आपका नाम 'हरि-आनन्द' पड़ा। कहते हैं, एक बार आप श्रीजगन्नाथजीकी रथ-यात्राके दर्शन करने पुरुषोत्तमपुरी गए। संयोगसे रथ चलते-चलते रुक गया। तब आपने पुकारकर लोगोंसे कहा—"रथको छोड़कर सब अलग खड़े हो जाओ; रथ स्वयं ही चल पड़ेगा।" तब लोग रास्ता छोड़कर अलग खड़े होगए और रथके पहिए अपने आप घूमने लगे। कहते हैं, इस प्रकार रथ सौ क़दम तक चलता रहा। यह चमत्कार देखकर लोगोंकी श्रीहर्य्यानन्दजीमें अटूट श्रद्धा उमड़ पड़ी और सैकड़ों उनके शिष्य बन गये। 'रसिक भक्तमाल'में आपका यश निम्न छप्पयमें इस प्रकार गान किया गया है—

> चरण-कमल बन्दौं कृपालु हर्य्यानँद स्वामी।
> सर्बसु सीताराम रहसि दसधा अनुगामी॥
> बालमीक वर शुद्ध सत्त्व माधुर्य रसालय।
> दरसौ रहसि अनादिपूर्व रसिकन को चालय॥
> नित सदाचार में रसिकता अति अद्भुत गति जानिये।
> जानकिवल्लभ कृपा लहि सिव प्रति सिष्य बखानिये॥

श्रीराघवानन्दजी—आप श्रीरामानन्दजीके दीक्षा-गुरु और उद्भट विद्वान् थे। कहते हैं, एक बार राजाने अपने पुत्रको दीक्षा देनेकी आपसे प्रार्थना की। उसी समय आपने दो अन्य व्यक्तियोंको मन्त्र देनेके लिए कह रक्खा था। ये दोनों व्यक्ति भी भिन्न-भिन्न स्थानोंपर रहते थे। श्रीरामानन्दजीने

योग-बलसे एक ही समयपर तीनों जगह उपस्थित होकर दीक्षाके कार्यको संपन्न किया। आपके सम्बन्धमें 'रसिक भक्तमाल' का छप्पय मनन करनेके योग्य है—

रसिक राघवानन्द बसें कासी प्रस्थाना।
गुरु-रूप सिव लये दये रसिकाई ध्याना॥
काल करालहिं हटकि सिष्य किय रामानन्दा।
प्रगटी भक्ति अनादि अवध गोपुर स्वच्छन्दा॥
आचारज को रूप धरि जगत उधारनि जतन किय।
महिमा महाप्रसाद की प्रगटि रसिक जग सुजस लिय॥

मूल (छप्पय)

अनंतानंद कबीर सुखा सुरसुरा पद्मावति नरहरि।
पीपा भावानंद रैदास धना सेन सुरसुर की धरहरि॥
औरौ सिष्य प्रसिष्य एक ते एक उजागर।
विश्वमंगल आधार दैंन दसधा के आगर॥
बहुत काल बपु धारि कै प्रनत जनन कौं पार दियो।
(श्री) रामानँद रघुनाथ ज्यों दुतिय सेतु जग तरन कियो॥३६॥

अर्थ—श्रीरामानन्दजीके सर्वप्रधान बारह शिष्योंकी नामावली इस प्रकार है—(१) श्री-अनन्तानन्द, (२) कबीरदास, (३) सुखानन्द, (४) सुरसुरानन्द, (५) पद्मावती, (६) नरहरिया-नन्द, (७) पीपा, (८) भावानन्द, (९) रैदास, (१०) धना, (११) सेन, (१२) सुरसुरानन्द की पत्नी सुरसरि।

इन बारह शिष्योंके अतिरिक्त और भी शिष्य-प्रशिष्य हुए जो एकसे एक उज्ज्वल भक्ति-भावनावाले थे। ये विश्वके मङ्गल-रूप, संसारके आधार और प्रेमाभक्तिके खजाने थे। स्वामी श्रीरामानन्दजी बहुत काल तक शरणागत भक्तोंको इस संसार-सागरसे तारते रहे। जिस प्रकार वानर-सेनाको पार करनेके लिए श्रीरघुनाथजीने सेतु निर्माण कराया था, उसी प्रकार संसारका उद्धार करनेके लिए श्रीरामानन्दजीके द्वारा यह शिष्य-परम्पराका पुल तैयार किया गया था।

मूल (छप्पय)

(श्रीअनन्तानन्दजी)

जोगानन्द गयेस करमचंद अल्ह पैहारी।
सारी रामदास श्रीरंग अवधि गुन महिमा भारी॥
तिनके नरहरि उदित मुदित महा मंगलतन।
रघुबर जदुबर गाइ बिमल कीरति संच्यो धन॥
हरिभक्ति सिंधु बेला रचे पानि पद्मजा सिर दए।
अनंतानंद पद परसि कै लोकपाल से ते भये॥३७॥

अर्थ—श्रीअनन्तानन्दजीके शिष्योंकी नामावली इस प्रकार है—

(१) योगानन्द, (२) गयेश, (३) करमचन्द, (४) अल्ह, (५) पैहारी, (६) सारीरामदास, (७) श्रीरंग जो सब गुणोंकी सीमापर पहुँच गए थे और जिनकी महिमा बड़ी विशाल थी, (८) श्रीनरहरि—ये रङ्गजीके शिष्यके रूपमें प्रकट हुए। भक्तिकी वर्षा करनेके लिए आप मेघके समान थे, अतः परम कल्याणकारी हुए। आपने श्रीरामचन्द्रजी तथा यदुराज श्रीकृष्णचन्द्र–दोनों का गुण-गान कर निर्मल कीर्ति-रूपी धन एकत्रित किया।

अनन्तानन्दजीके ये शिष्य हरि-भक्ति-रूपी समुद्रकी मर्यादा थे। पद्मजा—अर्थात् श्री सीताजीने आपके सिर पर हाथ रखकर आपको श्रीरामचन्द्रजीकी अक्षय भक्तिका वर दिया। आपके चरणोंका स्पर्शकर उपर्युक्त सब शिष्य लोकपालोंके समान जीवोंके रक्षक हुए।

अनन्ताचार्य यादवगिरिके रहनेवाले थे। 'श्रुतप्रकाशिका' के रचयिता सुदर्शन सूरिके बाद सोलहवीं शताब्दीके आस-पास आपका जन्म हुआ। श्रीरामानुज मतके समर्थनमें आपने अनेक ग्रन्थोंकी रचना की जोकि सबके सब संस्कृतमें हैं। सब ग्रन्थोंके अन्तमें आपका यह श्लोक आता है—

शेषार्यवंशरत्नेन यादवाद्रिनिवासिना।
अनन्तार्येण रचितो वादार्थोऽयं विजृम्भताम्॥

आपकी प्रशस्तिमें 'रसिक-भक्तमाल' का निम्नलिखित कवित्त पठनीय है—

रामानँद स्वामी जू के शिष्य अनंतानन्द सीतल सुचन्दन से भक्त अनन्यकर।
सन्तन के मानद, परानँद मगन मनमानसी सरूप छबि सरसि मरालवर॥
जनकलली की कृपापात्र चारुशीला अलि, रूपमें अभिन्न ह्वै रंगभूमि लीलापर।
ऊपर समाधि वर अमित अगाध नैन अँसुवा स्रवत उमगत मानो सुधाकर॥

भक्ति-रस-बोधिनी

(श्रीरंगजी)

देवसा एक गाँव तहाँ श्रीरंग सुनाँव हुतो, बनिक सरावगी की कथा लै बखानिये ।
रहतो गुलाम गयो धर्मराज धाम, उहाँ भयो बड़ो दूत कही "एरे सुन बानिये ।।
आए बनजारे लेन देख तूं दिखावै चैन, बैल सृंगमध्य पैठि मारे पहिचानिये" ।
बिनु हरिभक्ति सब जगत की यही गति, भयो हरिभक्त श्रीअनन्तपद ध्यानिये ।।११७।।

अर्थ—जयपुर प्रदेशमें 'देवसा' नामक गाँवमें सरावगी वैश्यके घरमें श्रीरङ्गजी का जन्म हुआ। उनकी कथाका यहाँ वर्णन किया जाता है। श्रीरंगके घरमें एक नौकर रहता था जो मृत्युके उपरान्त यमराजके धाममें पहुँच गया और वहाँ प्रधान दूत बना दिया गया।

स्वामीकी अज्ञासे एक दिन वह देवसामें पहुँचा और श्रीरंगसे बोला—"सुन रे बनिये ! इस गाँवमें जो बंजारे टिके हुए हैं उन्हींमें-से एकको लेनेके लिए मैं यहाँ आया हूँ। इस घटना को तू प्रत्यक्ष देख ले। मैं अभी उसीके बैलके सींगोंके बीचमें बैठकर उसे मार डालूँगा। इससे तुम्हे मालुम हो जायगा कि हरिकी भक्तिके बिना संसारके जीवोंकी ऐसी ही गति होती है।"

यह कहकर यमदूत बैलके सींगपर बैठ गया। बैठते ही बैलने पासमें खड़े हुए बंजारेका सींग मारकर पेट फाड़ डाला और वह तत्काल मर गया।

इस घटनाको देखकर श्रीरंग उसी क्षण भगवानके भक्त बन गए और श्रीअनन्ताचार्यसे दीक्षा लेकर आजीवन उनके चरणोंके सेवक रहे।

भक्ति-रस-बोधिनी

सुत को दिखाई देत भूत, नित सूक्यो जात, पूछें, कही बात, जाइ वाके ठौर सोयो है ।
आयो निशि मारिबे को धायो वह रोष भरयो, "देखो गति मोकों" जन बोलि कैं सुनायो है ।।
जाति को सुनार, पर-नारि लगि प्रेत भयो, लयो तेरो सरन मैं ढूंढ़ि जग पायो है।"
दियो चरणामृत लै, कियो दिव्य-रूप वाको अति ही अनूप, सुनो भक्ति-भाव गायो है ।।११८।।

अर्थ—श्रीरंगजीके पुत्रको रातको भूत दिखाई देता था और वह उसके डरसे दिनों-दिन दुर्बल होता चला जाता था। एक दिन श्रीरंगने लड़केसे इसका कारण पूछा, तो उसने सब बता दिया। यह सुनकर श्रीरंग उसी घरमें जा सोये जहाँ कि पुत्र सोता था। रात्रि होते ही वहाँ पर भूत आया। उसे देखते ही क्रोधमें भरकर वे उसे मारनेको दौड़े। प्रेतने गिड़गिड़ा कर कहा—"कृपाकर आप मुझे इस अशुभ योनिसे मुक्त कर शुभ गति दीजिए। मैं जातिका सुनार हूँ और पर-स्त्री गमनके पापके कारण मुझे यह योनि मिली है। संसारमें सब जगह खोजने के बाद मैं आपकी शरण में आया हूँ।"

प्रेतकी इस करुण कथाको सुनकर श्रीरंगने उसे चरणामृत दिया और उसे अत्यन्त सुन्दर दिव्य रूप प्रदान किया। इस प्रकार भक्तोंने श्रीरंगकी हरि-भक्ति की महिमाका गान किया है।

श्रीबालकरामजीकी टीकामें श्रीरंगजीके चरित्रके सम्बन्धमें एक छप्पय और मिलता है जो अन्य प्रतियोंमें नहीं है। छप्पय इस प्रकार है—

मृतकचरती ऐ आय एक अचरज्य दिखायो।
रामनाम जान्यौ नहीं तब ही यमदूत कहायो॥
कहि समझाऊँ तोय बात जो मानें मेरी।
जैन धरम तजि देह देह पावन ह्वै तेरी॥
खौसा ही में देखतां जैन धरम तब ही तज्यो।
श्रीरंगसाह सरावगी जिन नारायण निहचें भज्यो॥

—o—

मूल (छप्पय)

(पयहारी श्रीकृष्णदासजी)

जाके सिर कर धरयो तासु कर तर नहिं अड्यो।
अरप्यो पद निर्बांन सोक निर्भय करि छड्यो॥
तेजपुंज बल भजन महामुनि ऊरधरेता।
सेवत चरन-सरोज राव-राना भुवि जेता॥
दाहिमा बंस दिनकर उदय संत कमल हिय सुख दियो।
निर्वेद अवधि कलि कृष्णदास अन परिहरि पय पान कियो॥३८॥

अर्थ—श्रीकृष्णदासजीने जिस शिष्यके सिरपर हाथ रख दिया—अर्थात् अपना लिया—उसके हाथोंके नीचे अपना हाथ कभी नहीं रक्खा—उससे याचना करनेके लिए अपना हाथ कभी नहीं पसारा। बल्कि उसे मोक्ष-पदका अधिकारी बना दिया और उसे सांसारिक वासनाओंसे उत्पन्न होनेवाले शोक-मोह आदि से सदाके लिये छुटकारा दे दिया। ये महर्षि भक्तिके तेजके समूह थे और आजीवन ब्रह्मचारी रहने के कारण ऊर्ध्वरेता होगए थे। भारतवर्षकी भूमि पर शासन करनेवाले अनेक छोटे-बड़े राजे-महाराजे इनके चरण कमलोंकी सेवामें रत रहते थे। 'दाहिमा' (दाधीचि) ब्राह्मण-वंशमें सूर्य्यके समान उदित होकर इन्होंने अपनी अपूर्व भक्ति-भावनासे भगवद्भक्तोंके हृदयोंको आनन्दित किया। इस कलियुगमें आप वैराग्यकी सीमापर पहुँच गए थे और आपका "पैहारी" नाम इसलिये पड़ा कि आपने अन्न छोड़कर केवल दूध पीकर ही भजन करनेका व्रत लिया था।

'ऊर्ध्वरेता' उस योगीकी संज्ञा है जो प्राणायाम द्वारा अपने वीर्यको ब्रह्माण्डमें चढ़ाकर ले जाता है। ऐसा व्यक्ति सांसारिक विषय-वासनाओंके प्रलोभनोंसे दूर रहता है और अखण्ड ब्रह्मचर्यके तेजसे उसका मुख-मण्डल सदा देदीप्यमान रहता है।

भक्ति-रस-बोधिनी

जाके सिर कर धरयो ता तर न ओड्यो हाथ, दीनो बड़ो वर, राजा कुलू को जु साखिये ।
परवत-कन्दरा में दरसन दियो आनि दियो भाव साधु-हरि-सेवा अभिलाखिये ॥
गिरी जो जलेबी थार मांझ ते उठाई बाल, भयो हिये साल बिन अरपित चाखिये ।
लै करि खड्ग ताको मारन उपाय कियो, जियो संत-ओट फिरि मोल करि राखिये ॥११६॥

अर्थ—श्रीपयहारीजीने जिस व्यक्तिके सिरपर हाथ रख दिया उसके आगे फिर कभी हाथ नहीं पसारा, उल्टे उसे भगवानकी भक्तिका वर दिया । इसका प्रमाण कुल्हू देशका राजा है । इस राजापर कृपा करके आपने पर्वतकी गुफामें जाकर उसे दर्शन दिया (आपकी ही कृपासे उसे राज्य भी मिला) और उसके हृदयमें भगवानकी तथा सन्तोंकी सेवा करनेकी भावना भर दी ।

एक बार राजाने साधुओंका भण्डारा किया । दैवयोगसे ऐसा हुआ कि जिस समय जले-बियोंका थाल भगवानके भोग रखनेके लिए ले जाया जा रहा था, उसमें से एक जलेबी पृथ्वी पर गिर पड़ी और उसे पास खड़े हुए राजाके बाल-पुत्रने उठाकर मुँहमें रख लिया । यह जान कर राजाको बड़ा कष्ट हुआ कि भगवानके भोग लगनेसे पूर्व ही उसके पुत्रने जलेबी खा ली । उसे पुत्रपर इतना क्रोध आया कि तलवार लेकर उसे मारनेको दौड़ा, लेकिन उपस्थित सन्तोंने उसे बचा लिया और राजासे कहा कि यह बालक अब हमारा हो गया । आप इसका मूल्य चुकाकर अपने पास रखिये ।

भक्ति-रस-बोधिनी

नृपसुत भक्त बड़ो अब लौं बिराजमान साधु सनमान में न दूसरो बखानिये ।
संत बधू गर्भ देखि उभै पनवारे दिये कही अर्भ इष्ट मेरो ऐसी उर आनिये ॥
कोऊ भेषधारी सो व्योहारी पगदासिन को कही कृपा करो कहा जानें और आनिये ।
ऐ पै तजि देवो क्रिया देखि जग बुरो होत जोति बहु दई दाम राम मति सानिये ॥११७॥

अर्थ—कुल्हूके राजाका यह भक्तपुत्र प्रियादासजीके समय (सम्वत् १७६९) में जीवित था । प्रियादासजी अपने समयकी बात कहते हैं कि इस समय साधुओंकी सेवा तथा सम्मान करनेमें उसके जैसा दूसरा कोई नहीं है ।

एक बार साधु-सेवाके प्रसंगमें राज-पुत्रने देखा कि एक गृहस्थाश्रमी सन्तकी बधू गर्भवती है । उसने उसे एककी जगह दो पारस दिए और कहा कि इस गर्भका बालक मेरा इष्ट है—अर्थात् यह परम भगवद्-भक्त होगा, अतः मैं उसे अपना सेव्य कर मानता हूँ—और इसीलिए यह दूसरा पारस दे रहा हूँ ।

एक मनुष्य सन्तों-जैसे वेषमें रहकर जूते बेचा करता था । राज-पुत्रको उसपर बड़ी दया आई और उससे बोला—"आप दूसरोंपर दया कर (उनके पैरोंको काँटे आदि से बचाने

के लिए) यह काम करते हैं, पर लोग तो आपकी इस भावनाको नहीं जानते। अतः आप यह काम छोड़ दीजिए। इस वेषमें रहकर यह काम करते हुए देखना लोगोंको बुरा लगता है।'' यह कहकर उसे राजपुत्रने जोतनेके लिए बहुत-सी जमीन दे दी और प्रारम्भमें लागत लगानेके लिए पूँजी भी दी।

राजपुत्रके उपदेशके प्रभावसे उस व्यक्तिने उस कार्यको छोड़ दिया और अपनी चित्त-वृत्तियोंको श्रीरामचन्द्रजी की सेवामें लगा दिया।

(१) "जोति वह दई" का दूसरा अर्थ टीकाकारोंने यह भी किया है कि 'भगवद्-भक्ति-रूपी प्रकाश दिया' और साथमें 'दाम' अर्थात् आवश्यक द्रव्य भी।

(२) इस कवित्त द्वारा टीकाकार श्रीप्रियादासजी यह सूचित करते हैं कि भगवानकी कृपासे भक्तको एक सूक्ष्म दिव्य-दृष्टि प्राप्त हो जाती है जिसके द्वारा वह ऐसी आत्माओंको दूरसे ही पहिचान लेता है, जो भगवानकी भक्तिसे प्रकाशित हो सकती हैं। इस प्रकार की भक्तिका लक्ष्य लोक-कल्याण होता है। गर्भके बालकके भावी जीवनको माताके स्वरूपसे आँक लेना अथवा जूता बेचनेवालेमें भक्तकी सम्भावना कर लेना इसका प्रमाण है।

(३) श्रीपयहारीजीके सम्बन्धमें एक कथा और कही जाती है। एक बार वे जयपुर-राज्यके गलता नामक स्थानमें गए। वहाँ पर कनफटा योगियोंका बोलबाला था जो वैष्णव-धर्मके निन्दक थे। पयहारीजीने एक रात रहनेके लिए वहाँ डेरा जमा दिया और धूनी चेता ली। कनफटोंने यह देखा, तो उनसे निरादरपूर्वक बोले—"यहाँसे उठ जाओ!" पयहारीजीने धूनीकी जलती हुई आगको एक कपड़ेमें बाँधा और उठकर चल दिए। यह देखकर योगियोंके महन्तके आत्माभिमानको बड़ी चोट पहुँची और वह बाघका रूप धारणकर उनपर झपटा। आपने कहा—"तू कैसा गधा है?" उनके इतना कहते ही वह बाघसे गधा हो गया। अब तो सब योगियोंके कान खड़े हो गए। कुछ देर बाद योगियोंने देखा कि उनके कानके बाले कानोंमें-से उतर-उतरकर पयहारीजीके पास जमा हो गए हैं। आमेरके राजा पृथ्वी-सिंह तक जब यह समाचार पहुँचा, तो वह आपकी सेवामें तुरन्त उपस्थित हुआ और तरह-तरहसे प्रार्थना करने लगा। राजाके बहुत अनुनय-विनय करने पर आपने गधेको फिर आदमी बना दिया, लेकिन इस शर्तपर कि वे सब उस स्थानको छोड़कर चले जायँ। इसपर सब कनफटे गलताको छोड़कर चले गए। राजा पृथ्वीराजने भी पयहारीजीसे वैष्णव-धर्मकी दीक्षा ले ली।

(४) कहते हैं, एक बार पृथ्वीराजने पयहारीजीसे श्रीद्वारकाधीशके दर्शन करनेके लिए द्वारका चलने की प्रार्थना की। राजाकी ऐसी भक्ति देखकर आपने आधी रातके समय राजमहलमें प्रकट होकर राजाको श्रीद्वारकाधीशके दर्शन करा दिए।

(५) दधीचि गोत्रमें उत्पन्न होनेके कारण आपका चरित्र भी दधीचि ऋषि-जैसा था। कहा जाता है, एक बार आपकी गुफाके आगे एक बाघ आकर खड़ा हो गया। आपने उसे भूखा जानकर अपना मांस काटकर दे दिया।

भक्ति-रस-बोधिनी

जाके सिर कर धर्यो ता तर न श्रोड्यो हाथ, दीनो बड़ो बर, राजा कुलू को जु साखिये।
परवत-कन्दरा में दरसन दियो आनि दियो भाव साधु-हरि-सेवा अभिलाखिये ।।
गिरी जो जलेबी थार मौभ ते उठाई बाल, भयो हिये साल बिन अरपित चाखिये।
लै करि खडग ताको मारन उपाय कियो, जियो संत-ओट फिरि मोल करि राखिये ।।११६।।

अर्थ—श्रीपयहारीजीने जिस व्यक्तिके सिरपर हाथ रख दिया उसके आगे फिर कभी हाथ नहीं पसारा, उल्टे उसे भगवानकी भक्तिका वर दिया। इसका प्रमाण कुल्लू देशका राजा है। इस राजापर कृपा करके आपने पर्वतकी गुफामें जाकर उसे दर्शन दिया (आपकी ही कृपासे उसे राज्य भी मिला) और उसके हृदयमें भगवानकी तथा सन्तोंकी सेवा करनेकी भावना भर दी।

एक बार राजाने साधुओंका भण्डारा किया। दैवयोगसे ऐसा हुआ कि जिस समय जलेबियोंका थाल भगवानके भोग रखनेके लिए ले जाया जा रहा था, उसमें से एक जलेबी पृथ्वी पर गिर पड़ी और उसे पास खड़े हुए राजाके बाल-पुत्रने उठाकर मुँहमें रख लिया। यह जान कर राजाको बड़ा कष्ट हुआ कि भगवानके भोग लगनेसे पूर्व ही उसके पुत्रने जलेबी खा ली। उसे पुत्रपर इतना क्रोध आया कि तलवार लेकर उसे मारनेको दौड़ा, लेकिन उपस्थित सन्तोंने उसे बचा लिया और राजासे कहा कि यह बालक अब हमारा हो गया। आप इसका मूल्य चुकाकर अपने पास रखिये।

भक्ति-रस-बोधिनी

नृपसुत भक्त बड़ो अब लौं बिराजमान साधु सनमान मैं न दूसरो बखानिये।
संत बधू गर्भ देखि उभै पनवारे दिये कह्यो अर्भ इष्ट मेरो ऐसी उर आनिये ।।
कोऊ भेषधारी सो ब्योहारी पनवासिन को कही कृपा करो कहा जानैं और आनिये।
ऐ पै तजि देवो किया देखि जग बुरो होत जोति बहु दई दाम राम मति सानिये ।।११०।।

अर्थ—कुल्लूके राजाका यह भक्तपुत्र प्रियादासजीके समय (सम्वत् १७६६) में जीवित था। प्रियादासजी अपने समयकी बात कहते हैं कि इस समय साधुओंकी सेवा तथा सम्मान करनेमें उसके जैसा दूसरा कोई नहीं है।

एक बार साधु-सेवाके प्रसंगमें राज-पुत्रने देखा कि एक गृहस्थाश्रमी सन्तकी बधू गर्भवती है। उसने उसे एककी जगह दो पारस दिए और कहा कि इस गर्भका बालक मेरा इष्ट है—अर्थात् यह परम भगवद्-भक्त होगा, अतः मैं उसे अपना सेव्य कर मानता हूँ—और इसीलिए यह दूसरा पारस दे रहा हूँ।

एक मनुष्य सन्तों-जैसे वेषमें रहकर जूते बेचा करता था। राज-पुत्रको उसपर बड़ी दया आई और उससे बोला—"आप दूसरोंपर दया कर (उनके पैरोंको काँटे आदि से बचाने

के लिए) यह काम करते हैं, पर लोग तो आपकी इस भावनाको नहीं जानते। अतः आप यह काम छोड़ दीजिए। इस वेषमें रहकर यह काम करते हुए देखना लोगोंको बुरा लगता है।'' यह कहकर उसे राजपुत्रने जोतनेके लिए बहुत-सी जमीन दे दी और प्रारम्भमें लागत लगानेके लिए पूँजी भी दी।

राजपुत्रके उपदेशके प्रभावसे उस व्यक्तिने उस कार्यको छोड़ दिया और अपनी चित्त-वृत्तियोंको श्रीरामचन्द्रजी की सेवामें लगा दिया।

(१) "जोति वह दई" का दूसरा अर्थ टीकाकारोंने यह भी किया है कि 'भगवद्-भक्ति-रूपी प्रकाश दिया' और साथमें 'दाम' अर्थात् आवश्यक द्रव्य भी।

(२) इस कवित्त द्वारा टीकाकार श्रीप्रियादासजी यह सूचित करते हैं कि भगवानकी कृपासे भक्तको एक सूक्ष्म दिव्य-दृष्टि प्राप्त हो जाती है जिसके द्वारा वह ऐसी आत्माओंको दूरसे ही पहिचान लेता है, जो भगवानकी भक्तिसे प्रकाशित हो सकती हैं। इस प्रकार की भक्तिका लक्ष्य लोक-कल्याण होता है। गर्भके बालकके भावी जीवनको माताके स्वरूपसे आँक लेना अथवा जूता बेचनेवालेमें भक्तकी सम्भावना कर लेना इसका प्रमाण है।

(३) श्रीपयहारीजीके सम्बन्धमें एक कथा और कही जाती है। एक बार वे जयपुर-राज्यके गलता नामक स्थानमें गए। वहाँ पर कनफटा योगियोंका बोलबाला था जो वैष्णव-धर्मके निन्दक थे। पयहारीजीने एक रात रहनेके लिए वहाँ डेरा जमा दिया और धूनी चेता ली। कनफटोंने यह देखा, तो उनसे निरादरपूर्वक बोले—"यहाँसे उठ जाओ!" पयहारीजीने धूनीकी जलती हुई आगको एक कपड़ेमें बाँधा और उठकर चल दिए। यह देखकर योगियोंके महन्तके आत्माभिमानको बड़ी चोट पहुँची और वह बाघका रूप धारणकर उनपर झपटा। आपने कहा—"तू कैसा गधा है?" उनके इतना कहते ही वह बाघसे गधा हो गया। अब तो सब योगियोंके कान खड़े हो गए। कुछ देर बाद योगियोंने देखा कि उनके कानके बाले कानोंमें-से उतर-उतरकर पयहारीजीके पास जमा हो गए हैं। आमेरके राजा पृथ्वी-सिंह तक जब यह समाचार पहुँचा, तो वह आपकी सेवामें तुरन्त उपस्थित हुआ और तरह-तरहसे प्रार्थना करने लगा। राजाके बहुत अनुनय-विनय करने पर आपने गधेको फिर आदमी बना दिया, लेकिन इस शर्तपर कि वे सब उस स्थानको छोड़कर चले जायँ। इसपर सब कनफटे गलताको छोड़कर चले गए। राजा पृथ्वीराजने भी पयहारीजीसे वैष्णव-धर्मकी दीक्षा ले ली।

(४) कहते हैं, एक बार पृथ्वीराजने पयहारीजीसे श्रीद्वारकाधीशके दर्शन करनेके लिए द्वारका चलने की प्रार्थना की। राजाकी ऐसी भक्ति देखकर आपने आधी रातके समय राजमहलमें प्रकट होकर राजाको श्रीद्वारकाधीशके दर्शन करा दिए।

(५) दधीचि गोत्रमें उत्पन्न होनेके कारण आपका चरित्र भी दधीचि ऋषि-जैसा था। कहा जाता है, एक बार आपकी गुफाके आगे एक बाघ आकर खड़ा हो गया। आपने उसे भूखा जानकर अपना मांस काटकर दे दिया।

श्रीपयहारीजीके सम्बन्धमें निम्नलिखित छप्पय प्रसिद्ध है—

कृष्णदास कलि जीति न्यौति नाहर पल दीयो।
अतिथि-धर्म प्रतिपाल, प्रगट जस जगमें लीयो॥
उदासीनता-अवधि, कनक-कामिनि नहिं रातो।
रामचरन-मकरन्द रहत निसि-दिन मदमातो॥
गलतें गलित अमित गुन, सदाचार, सुठि नीति।
दधीचि पाछें दूसरि करी कृष्णदास कलि जीति॥

(६) यह भी कहा जाता है कि वनमें गाएँ श्रीपयहारीजीको आप-से-आप दूध दे दिया करती थीं। आपके उपदेशसे आमेरमें रहनेवाली एक वेश्या भी भगवानकी सेवामें रत होकर परम गतिको प्राप्त हुई।

शेष महात्माओंका परिचय

श्रीअनन्तानन्दजीके शेष शिष्योंका जीवन-चरित्र श्रीबालकरामजीकी टीकाके आधारपर दिया जाता है—

स्वामी श्रीयोगानन्दजी

आप सांख्य-शास्त्रके प्रवर्तक श्रीकपिलमुनिके अवतार होनेके कारण योगानन्द कहे जाते हैं। एक बार स्वामी श्रीअनन्तानन्दजी अपने गुरुदेवके आश्रममें जा रहे थे। रास्तेमें उन्हें देर होगई। पूजाका समय जानकर वे मानसी पूजाके लिए मार्गमें ही बैठ गए और आँखें मूंद कर ध्यानस्थ होगए। उसी समय एक ब्राह्मण वहाँसे गुजर रहा था। स्वामीजीको इस प्रकार भजनमें तल्लीन देखकर उसके मनमें श्रद्धा उमड़ पड़ी और वह उनके जागनेकी बड़ी उत्सुकतासे प्रतीक्षा करने लगा—जैसे चकोर आकाशकी ओर दृष्टि करके स्वाँति-नीरकी प्रतीक्षा करता है। जब हाथ जोड़कर इस प्रकार बैठे-बैठे उस व्यक्तिको बहुत समय व्यतीत होगया तब स्वामीजीने अपने पलक उघाड़े। उनको ध्यान-निवृत्त देखकर ब्राह्मण पैरोंमें पड़ गया और कुछ प्रसादी की याचना की। श्रीअनन्तानन्दजीने अपने कमण्डलुसे थोड़ा-सा जल लेकर ब्राह्मणकी अञ्जलि में भर दिया। जैसे ही उसने जलका पान किया, उसका अन्तर एक अनोखे आनन्दसे भर गया; एक विशेष प्रकारके प्रकाशका उसने अनुभव किया। उसी समय उसे संसार सार-हीन और असत्य दिखाई देने लगा। वह महात्माके चरणोंमें गिर पड़ा और प्रेमाश्रुओंसे अपनी आँखोंको भिगोता हुआ प्रार्थना करने लगा—"महाराज मुझे संसारके मिथ्यात्वका आभास हो गया है। मेरे हृदयमें भगवानके प्रति अनुराग उमड़ रहा है। आप मुझे दीक्षा दीजिए और उपासनाकी प्रणाली बतलाकर इस भव-सागरसे पार कीजिए। श्रीस्वामीजीको उस ब्राह्मण पर दया आगई और उसका नाम श्रीयोगानन्दजी रख दिया। यही श्रीयोगानन्दजी गुरु-कृपा से भगवानके परम भक्त हुए। इनकी भगवानमें अपार श्रद्धा और अटूट विश्वास था। भक्तिका यथाशक्ति प्रचार कर श्रीयोगानन्दजी नित्य-परिकरमें जाकर चिदानन्दकी प्राप्ति करने लगे।

श्रीगयेशानन्दजी

आप श्रीरामानन्द स्वामीके पौत्र शिष्य एवं श्रीअनन्तानन्दजीके भगवद्भक्त प्रिय शिष्य थे। इनका मन हमेशा भगवद्भक्तिमें लीन रहता था। एक बार आप यात्रा करते हुए रास्ते में विश्रामके लिए एक सूखे इमलीके पेड़के नीचे बैठ गए और सच्चिदानन्दस्वरूप भगवान श्रीराघवेन्द्रका स्मरण करने लगे। उसी समय कुछ ग्रामीण तथा एक सेवड़ा वहाँ आ निकले। ग्रामीणोंने आपसमें ही प्रश्न किया—"ये महात्मा यहाँ क्यों आकर बैठ गए हैं? ये कौन हैं? कहाँ जारहे हैं और कहाँ रहते हैं?"

जब तक कोई दूसरा व्यक्ति इस प्रश्नका उत्तर दे इससे पहले ही वह सेवड़ा बोल उठा—"यह तो भैया! बड़ा भारी सिद्ध है और इस इमलीको सूखीसे हरी करके ही उठेगा।" यह कथन उसका व्यंग्य था, पर श्रीगयेशानन्दजीने उसको सत्य करके दिखा दिया। उन्होंने अपने कमण्डलुके जलकी कुछ बूँदें अपने हाथमें लीं और उनको सूखे पेड़पर छिड़क दिया। देखते ही देखते वृक्ष हरा होकर लहलहाने लगा। सेवड़ेने समझा कि ये भी कोई सिद्ध ही हैं, अतः असहिष्णुताके कारण उसने श्रीगयेशानन्दजीपर अपने तन्त्रका प्रभाव दिखलाना चाहा। पर तन्त्र-प्रयोगसे गयेशानन्दजीका तो कुछ भी नहीं बिगड़ा, उल्टे उस सेवड़ेके गुरुकी मृत्यु हो गई। भगवद्भक्तिके सामने यह राक्षसी सिद्धियाँ क्या महत्त्व रखती हैं? अन्तमें परम दयालु श्रीगयेशजीने उसके गुरुको भी जीवित कर दिया। उनका सुयश गाँवोंमें चारों ओर फैल गया और उसी स्थानपर अनेक ग्रामीण भाँति-भाँतिकी भेंट-सामग्री लेकर आने लगे। पर श्रीगयेशा-नन्दजीके सामने इस सम्पत्तिका कोई महत्त्व नहीं था और वे फिर भगवानके ध्यानमें लवलीन हो गए।

श्रीकर्मचन्दजी

आप बड़े नामानुरागी थे तथा साधु-सेवामें निष्ठा रखते थे। गुरुको आप भगवान मानते थे। स्वामी श्रीयोगानन्दजीके समान श्रीकर्मचन्द भी श्रीअनन्तानन्दजीके शिष्य हुए और उनसे दीक्षा लेकर भगवद्भक्तिका प्रचार किया करते थे। इनके शिष्य होनेके सम्बन्धमें भी एक बड़ी सुन्दर घटना है।

एक बार स्वामी श्रीअनन्तानन्दजी यात्रा करते-करते एक गाँवमें पहुँचे। उनके कुछ अनु-यायी भक्त भी उनके साथ थे। उन्होंने एक दिन किसी गाँवमें विश्राम किया।

उस गाँवमें एक स्त्री रहती थी जो भगवान और भगवद्भक्तोंमें बड़ी भक्ति रखती थी। पर दैवयोगसे उसके पुत्र उत्पन्न होनेके कुछ समय पश्चात् ही मर जाया करते थे। सन्ततिके लिये वह विकल तो होती, किन्तु सन्त-सेवामें संलग्न रहनेके कारण उसको अधिक दुःखानुभूति नहीं

होती थी। एक बार किसी दुष्ट ब्राह्मणने उस स्त्री के पतिसे कहा—"तात ! तुम्हारे पुत्रोंके जीवित न रहनेका कारण तुम्हारी गृहिणीकी सन्त-सेवा है। यदि वह सन्तोंका आदर-सत्कार त्याग कर अन्य सामान्य गृहस्थोंके समान भगवद्विमुख रहे तो शायद तुम्हारी सन्तान चिरायु हो सके।"

ब्राह्मणकी बात किसी कारणसे वैश्यके अन्तस्तलमें जम गई और उसने अपने सन्तति-विनाशका कारण पत्नीकी सन्त-सेवाको ही मान लिया। अब वह अपनी पत्नीको डाटने-डपटने लगा और सन्त-सेवाकी बुराई करके उससे विरत होनेका आग्रह करने लगा। पर न तो उस स्त्रीके मनमें-से साधु-सेवाका भाव ही दूर हुआ और न वैश्य महानुभावके पत्नीके प्रति अत्याचार ही कम हुए।

इस बार वैश्यके फिर पुत्र हुआ और अल्पायुमें ही समाप्त भी होगया। इस समय श्रीस्वामीजी अपनी यात्रा कर रहे थे और उसी गाँवमें विश्रामके लिए ठहरे हुए थे। जब उस वैश्यकी गृहिणीको इन सन्तोंके आगमनका पता लगा तो वह हृदयमें बड़ी श्रद्धा लेकर उनके पास गई और चरणोंमें मस्तक झुकाकर अपना सारा दुःख कह सुनाया। स्वामीजीका हृदय द्रवीभूत होगया। दयालु सन्तने अपने शिष्यों-सहित उसके घर गमन किया। भगवानकी प्रेरणासे वैश्य-पत्नीने श्रीस्वामीजीके चरण धोए और उस जलकी कुछ बूंदें मृत पुत्रके मुखमें डाल दीं। वैश्य पासमें खड़ा अपनी पत्नीके चरित्रोंपर आँखें लाल किए खड़ा था। अन्य शिष्य भी यथास्थान स्थित होकर यह कौतुक देख रहे थे। अचानक सन्त-सेवाका माहात्म्य साकार हो उठा। मृत पड़ा हुआ वैश्य-पुत्र भगवन्नामोच्चारण करता हुआ उठकर बैठ गया—जैसे कोई सोया व्यक्ति जाग जाता है। वैश्य पतिकी आँखें फटी-की-फटी रह गईं। ऐसा आश्चर्य न तो उसने कभी देखा था और न कभी इसकी कल्पना ही की थी। वह भी श्रीस्वामीजी के चरणोंमें गिर पड़ा और रोकर अपने हृदयकी समस्त कालिमाको धो डाला। वह स्वयं उनका शिष्य बना और अपने पुत्रको भी उन्हींसे दीक्षा दिलाई। यही पुत्र दीक्षा प्राप्त करनेके उपरान्त श्रीकर्मचन्दके नामसे विख्यात हुए।

बाल्यकालसे ही साधु-महात्माओंमें इनकी बड़ी श्रद्धा थी। भोजन और वस्त्रसे वे सर्वदा सन्त-सेवाके लिए तैयार रहते थे, पर विवाहके उपरान्त उनकी इस साधु-सेवामें बाधा उपस्थित होने लगी। उनकी स्त्री साधुओंसे द्वेष रखती थी। उसे यह कभी सहन नहीं होता था कि परिश्रमसे अर्जित धन इन महात्माओंको व्यर्थ ही दे दिया जाय। इतनेपर भी उसे प्रेम-प्रीति से समझा-बुझाकर वे साधु-सेवा किया ही करते थे।

एक बार बहुतसे साधु-सन्त इनके घरपर आए। कर्मचन्दजीने सबका यथाशक्ति आदर-सत्कार किया और भोजन तैयार करनेके लिए उन्हें दाल, चावल, शक्कर, घृत और आटा आदि दिया। उनकी पत्नी इसको सहन न कर सकी। वह बड़-बड़ाती हुई इस कार्यके लिए अपने

पतिको बुरा-भला कहने लगी। श्रीकर्मचन्दजीने जब देखा कि पत्नीके कठोर शब्दोंसे सन्तोंके दिलको दुःख होगा और वे सीधा ग्रहण न करेंगे तो उन्होंने उनसे कहा—"महाराज ! मेरी पत्नी कुछ पगली है। आप उसके व्यर्थ प्रलापपर कोई ध्यान नहीं देना।"

साधु तो भोजन करके चले गए, पर पत्नीकी कलह शान्त न हुई। श्रीकर्मचन्दजीने भगवानका ज्योंही स्मरण किया कि आकाशसे एक दिव्य पुरुष धरतीपर उतरा और उसके जमीन छूते ही सीधेका पहाड़-सा बन गया। श्रीकर्मचन्दजीने अपनी पत्नीसे कहा—"ले लो, तुमको जितना सीधा लेना हो, पर साधु-सेवामें बाधा उपस्थित मत किया करो।" अपने पतिके इस विचित्र कार्यको देखकर उस स्त्रीको सन्त-सेवाका माहात्म्य मालूम पड़ा। धन्य हैं वे पुण्यवान व्यक्ति जिनका धन भगवान और भगवद्भक्तोंकी सेवामें व्यय होता है।

श्रीअल्हजी—आपका चरित विस्तारके साथ छप्पय—संख्या ४५ में दिया जायगा।

श्रीसारी रामदासजी—सारी और रामदास दो व्यक्ति थे या एक, इस विषयमें लोगोंका मतभेद है। आप रामानन्द स्वामीके सिद्धान्तोंका प्रचार करनेके लिए प्रसिद्ध हैं। इस उद्देश्यको लेकर आप प्रायः भ्रमणमें ही रहते थे।

कहते हैं, चित्रकूटके पास खरी नामक गांवके लोग वैष्णव-धर्मके विरोधी थे। आपको जब इसका पता लगा, तो आप उस गाँव में पहुँचे। वहाँ ज्योंही एक दरवाजा खटखटाया, त्योंही अन्दरसे एक व्यक्तिने निकलकर इनसे अत्यन्त अभद्र व्यवहार किया और तुरन्त वहाँसे चले जानेको कहा। आप उसी समय चल दिये और नदीके तीर पर डेरा आ जमाया। दैवयोगसे उसी दिन वहाँके राजाका पुत्र मर गया और लोग उसका अन्तिम-संस्कार करनेके लिए उसे लेकर उसी नदीपर पहुँचे जहाँ कि सारी रामदासजी टिके हुए थे। लोगोंको अत्यन्त दुखी और शोक-संतप्त देखकर आपने उनसे कहा—"यदि आप लोगोंका राजा और उसकी प्रजा सब आजसे ही यह प्रतिज्ञा करें कि भगवानके भक्तोंकी सेवा करेंगे, तो मैं श्रीरामचन्द्रजीसे इस लड़केके जीवनके लिए प्रार्थना करूँ।" राजाने ऐसाही किया। तब आपने अपना चरणामृत पिलाकर मरे हुए लड़केको जीवित कर दिया। आपकी यह विजय-गाथा अत्यन्त प्रसिद्ध है।

श्रीनरहरिदासजी—कुछ लोगोंका मत है कि ये नरहरिदासजी वे ही थे जो श्री गो० तुलसीदासजी के विद्यागुरु थे। दूसरे कहते हैं कि तुलसीदासजीके गुरु बाराह-क्षेत्रवासी श्रीगोपालदासजीके शिष्य थे। नरहरिदासजीके गुरुके सम्बन्धमें भी दो मत हैं। एकके अनुसार श्रीरङ्गजी इनके गुरु कहे जाते हैं और दूसरेके अनुसार श्रीअनन्तानन्दजी। अस्तु।

कहते हैं कि एक बार नरहरिदासजी जगन्नाथजीके दर्शन करने गए, तो आपने नीचेकी ओर मुँह करके साष्टांग प्रणाम नहीं किया, बल्कि पीठके बल लेटकर किया। उन्हें भय था कि और लोगोंकी तरह दण्डवत् करनेसे भगवानकी मूर्ति की ओरसे आँखें हट जायँगी। इतना भी व्यवधान उन्हें सहन नहीं था। वे तो दण्डवत् करनेकी हालतमें भी दर्शन करते ही रहना चाहते थे, अतः उन्होंने यह विचित्र ढंग अपनाया।

जगन्नाथजीके पंडोंको यह बहुत बुरा लगा और उन्होंने नरहरिदासजीको घसीटकर बाहर

निकाल दिया। बादमें प्रभुकी कृपासे जब पंडे-पुजारियोंको यह ज्ञान हुआ कि नरहरिदासजी कोई पहुँचे हुए महात्मा हैं, तो सबने क्षमा माँगी।

"कल्याण" के 'भक्तचरिताङ्क' में श्रीनरहरिदासजीका परिचय 'भक्तमुनि (स्वामी नरहर्यानन्दजी)' के नामसे दिया गया है और इन्हें गो० श्रीतुलसीदासजीका गुरु लिखा है। "कल्याण" में उल्लिखित चरित्र संक्षेपमें यहाँ पाठकोंके लाभार्थ दिया जाता है—

स्वामी श्रीरामानन्दाचार्यजीकी आज्ञासे भक्तमुनि एक बार गङ्गाजीके किनारे-किनारे प्रयाग होते हुए चित्रकूट पहुँचे। एक टीलेपर खड़े होकर आप गङ्गाजीकी शोभा देख रहे थे कि पासकी एक गुफामें से आपको मधुर-ध्वनि आती हुई सुनाई पड़ी। आप उसमें घुस गए। कुछ दूर तक अन्दर जानेके बाद आप एक ऐसे स्थानपर पहुँचे जो कि अत्यन्त रमणीक था। आपने देखा कि वहाँ चार आसन लगे हुए हैं और उनपर चार योगी आँखें बन्द किये समाधिमें लीन हैं। आप भी पासके सरोवरमें स्नान कर एक आसनपर जा बैठे और उन्हीं मुनियोंकी तरह भजनमें लीन हो गये। इस प्रकार न-जाने कितना समय बीत गया। एक दिन भगवानकी पूजाके लिए तुलसी-दल लेने को आप वहाँकी वाटिकामें गए, पर जैसे ही कुंजप्रसारिणीके पास पहुँचे कि आपका शरीर पत्थरके विग्रहके समान होगया। बहुत दिनों तक आप उसी अवस्थामें अचल खड़े रहे; तब एक दिन योगिनियोंके एक समूहने आकाशसे उतरकर आपपर पुष्प चढ़ाये और स्तुति करने लगीं। स्तुतिके समाप्त होते ही भक्तमुनिकी जड़ता दूर होगई और उन्हें याद आया कि भगवान सियरघवजीकी पूजा उन्हें करनी है। इसके लिए तुलसी-दल भी लेना शेष था, लेकिन अब उन्हें कोई रुकावट नहीं थी। श्रीकुञ्जप्रसारिणी अब एक वृद्धा तपस्विनीके रूपमें दिखाई दीं। उन्होंने भक्तमुनिको भजन-पूजन करनेकी आज्ञा दी।

एक दिन उन्हें दूसरा विचित्र दृश्य दिखाई दिया। रोजकी तरह वे उस दिन जब वाटिकामें तुलसी और पुष्प लेने गये तो देखा कि वहाँ तुलसीका एक भी पौधा नहीं था। निगाह फिराकर देखा, तो दूर तुलसीका एक छोटा-सा वन दिखाई दिया। वहाँ पहुँचकर तुलसी-दल लेनेको हाथ बढ़ाया ही था कि एक कन्याने कहींसे प्रकट होकर उन्हें ऐसा करनेसे मना किया। कन्यासे उन्हें पता लगा कि यह माता अनुसूयाजीका वन है और उसमें चिड़िया तकको प्रवेश करनेका अधिकार नहीं है।

अनुसूयाजीका नाम सुनकर भक्तमुनिको उनके दर्शन करनेकी प्रबल इच्छा हुई और उन्होंने कन्यासे दर्शन करानेकी प्रार्थना की। वह उन्हें पृथ्वीके नीचे बने हुए एक रास्तेसे एक मठमें ले गई। यह आश्रम गङ्गाजीके तटपर बना हुआ था और इसकी शोभा अपूर्व थी। जितनी देरमें वे एकटक उस शोभाको देखें, उतनेमें ही कन्या न-जाने कहाँ अदृश्य होगई। माताजीका तो कहीं पता भी न था। अब भक्तमुनि उनकी खोजमें इधर-उधर विचरने लगे। इतनेमें ही पासकी झाड़ीमें-से दो तेंदुए ऐंड़ते हुए उनके सामनेसे निकल गए। थोड़ी देर बाद मोरका एक जोड़ा मठपर बैठा दिखाई दिया और कुछ समय बाद दो कबूतर आकाश-मार्गसे उड़ते हुए दिखाई पड़े। यह सब कितना सुन्दर, साथ ही में कितना भयंकर था! भक्तमुनिका हृदय न-जाने कैसा-कैसा होने लगा और उन्हें नींदने आ घेरा। जब वे घोर निद्रामें अचेत पड़े थे, तब अत्रि और अनुसूयाजीने उनसे स्वप्नमें कहा—"भक्त! तुम हमारे दर्शनके लिए विकल थे, अतः तेंदुआ, मोर और कबूतरके जोड़ोंके रूपमें हमने तुमको दर्शन दिये, पर तुम हमें पहिचान नहीं सके। अच्छा, अब तुम मल्लिकाकुञ्जमें रहो। मैंने तुम्हें तुलसी-वनका स्वामी बना दिया है।"

नहीं रहते हुए आपको स्वप्नमें श्रीसीता-राम-लक्ष्मणके भी दर्शन हुए । प्रभुने श्रीवैदेहीजीके कहने पर आपको अपने हाथसे प्रसाद दिया जिसे पाकर आप कृतकृत्य होगए ।

मूल (छप्पय)

कील्ह अगर केवल्ल चरन व्रतहठी नरायन ।
सूरज पुरुषा पृथू तिपुर हरि-भक्ति-परायन ॥
पद्मनाभ गोपाल टेक टीला गदाधारी ।
देवा हेम कल्यान गंगा गंगा-सम नारी ॥
विष्णुदास कन्हर रंगा चाँदन सबीरी गोविन्द पर ।
पैहारी प्रसाद तें सिष्य सबै भये पारकर ॥३९॥

अर्थ—(१) स्वामी श्रीकील्हदेव, (२) अग्रदेव, (३) केवलदास, (४) चरणदास, (५) व्रतहठी नारायण, (६) सूर्यदास, (७) पुरुषाजी (पुरुषोत्तमदास), (८) पृथुदास, (९) त्रिपुरदास, (१०) पद्मनाभ, (११) गोपालदास, (१२) टेकराम, (१३) टीला, (१४) गदाधारी (गदाधरदास), (१५) देवा पण्डा, (१६) हेमदास, (१७) कल्यानदास, (१८) गंगाबाई, (१९) विष्णुदास, (२०) कान्हरदास, (२१) रंगाराम, (२२) चाँदनजी, (२३) सबीरीजी तथा कई लोगोंके मतानुसार, (२४) गोविन्ददासजी ।

श्रीबालकरामजीने अपनी टीकामें २३ ही शिष्य माने हैं । श्रीकृष्णदास पयहारीकी कृपासे उनके ये शिष्य संसार-रूपी समुद्रसे जीवोंका उद्धार करनेवाले हुए ।

मूल (छप्पय)

(श्रीकील्हदेवजी)

रामचरन चिंतवनि रहति निसि दिन लौ लागी ।
सर्वभूत सिर नमित सूर भजनानंद भागी ॥
सांख्य जोग मत सुदृढ़ किए अनुभव हस्तामल ।
ब्रह्मरंध्र करि गौन भए हरितन करनी बल ॥
सुमेरदेवसुत जगविदित भू विस्तारयो विमल जस ।
गांगेय मृत्यु गंज्यो नहीं त्यों कील्ह करन नहिं काल बस ॥४०॥

अर्थ—श्रीकील्हदेवकी चित्त-वृत्ति रात-दिन श्रीरामचन्द्रजीके चरणोंका स्मरण करनेमें

लगी रहती थी। आप इतने विनयी थे कि सब जीवोंमें भगवानका वास समझकर उनके सामने सिर झुकाते थे। सांसारिक वासना एवं अहं-भावपर विजय प्राप्त कर लेनेके कारण आप सच्चे शूर थे और भजन ही आपका सर्वश्रेष्ठ आनन्द था। सांख्य-शास्त्र तथा योगका आपको प्रौढ़ ज्ञान था—ज्ञान ही नहीं था, बल्कि इनकी प्रक्रियाओंसे सम्बन्धित अनुभव इतना स्पष्ट और सन्देह-रहित था, जैसे कि हथेलीपर रक्खा हुआ आमलेका फल। ब्रह्म-रंध्रके द्वारा प्राण-वायु को बाहर निकालकर आपने शरीर छोड़ा और शुभ कर्मोंके बलसे भगवत्-स्वरूपको प्राप्त किया। इस प्रकार सुमेरदेवके पुत्र श्रीकील्हदेवने अपनी निर्मल कीर्तिको सारे संसारमें फैलाया और जिस प्रकार गंगाजीके पुत्र बालब्रह्मचारी भीष्मको मृत्युने नहीं हरण किया, वैसे ही श्रीकील्हदेव जीने भी साधारण जीवोंकी तरह मृत्युके वशमें होकर नहीं, बल्कि स्वेच्छासे प्राणोंको त्यागा।

श्रीकील्हदेवजीके सम्बन्धमें यह शंका उठ सकती है कि भक्ति-मार्गमें पड़कर सांख्य-जैसे अनीश्वर-वादी दार्शनिक सिद्धान्तोंमें आस्था रखनेकी उन्हें क्या आवश्यकता थी ?

ऐसी ही आपत्ति योगके सम्बन्धमें भी की जा सकती है। कहा जा सकता है कि हठयोग, नाड़ी-शोधन, कुम्भक-क्रिया आदि व्यापारोंको प्रधानता देनेवाले तथा अणिमा आदि सिद्धियों द्वारा अनेक प्रकार की शक्तियाँ प्रदान करनेवाले योगसे किसी भजनानन्दी महात्माका क्या प्रयोजन सिद्ध हो सकता है ?

तीसरी बात यह कि अन्तमें सांख्य और योगका भेद क्या जिसके कारण श्रीकील्हदेवने इन दोनोंको अपनाया ?

सबसे पहले हम तीसरी आपत्तिका समाधान करेंगे। पातञ्जल-योगमें बहुत कुछ सांख्य-दर्शनके सिद्धान्तोंका ही समर्थन किया गया है। अन्तर केवल यही है कि सांख्यके पच्चीस तत्त्वोंके बाद छब्बीसवाँ ईश्वरतत्त्व इसमें अधिक माना गया है। योगमतके अनुसार मनुष्यको अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश—ये पाँच प्रकारके क्लेश होते हैं। योगकी प्रक्रिया इन दुःखोंसे मुक्ति दिलाती है। चित्तकी वृत्तियाँ पाँच प्रकारकी होती हैं—क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, निरुद्ध और एकाग्र। इन्हें चित्तभूमि कहा जाता है। आरम्भकी तीन अवस्थाओंमें योग सम्भव नहीं है। केवल अन्तिम दोमें वह हो सकता है। धीरे-धीरे योगी संप्रज्ञात अवस्थासे असंप्रज्ञातमें पहुँचता है जहाँ कि पाँचों प्रकारके क्लेशोंका अस्तित्व मिट जाता है तथा ज्ञाता और ज्ञेयका भेद नहीं रहता। श्रीमद्भगवद्गीताके अनुसार भी चित्त-वृत्तियोंके नियंत्रणको योग कहते हैं। इसके पाँच उपाय हैं—अभ्यास और वैराग्य, ईश्वरका प्रणिधान, प्राणायाम और समाधि, विषयोंसे वैराग्य आदि।

सृष्टि-तत्त्व आदिके सम्बन्धमें सांख्य-शास्त्रका अपना एक मत है जोकि बहुत कुछ अंशोंमें योग-शास्त्रका भी है। प्रकृतिके जालसे मुक्त होनेके उपाय योग-शास्त्रमें विशद रूपसे वर्णन किए गए हैं। अतः इन दोनों शास्त्रोंको पृथक् नहीं मानना चाहिए। भगवानने श्रीमद्भगवद्गीतामें कहा है—

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।

—अज्ञानी व्यक्ति ही सांख्य और योगमें भेद समझते हैं, पण्डित नहीं। सांख्य एक प्रकारका ज्ञान-योग है और योग कर्म-योग है।

भगवानके भजनका या नाम-जप आदि का पूरा आनन्द उठानेके लिए यह आवश्यक है कि मनुष्य

को सांसारिक क्लेशोंकी यथार्थताका ज्ञान हो, मनको एकाग्र करनेके उपाय मालूम हों और विषयोंके प्रति वैराग्य-भावनाका उदय हो। ये भक्तिके प्रत्यक्ष साधन भले ही न हों, पर इससे निषेध नहीं किया जा सकता कि उनके लिए उपयोगी अवश्य हैं। अष्टांग साधन-विधि आदि भक्तिके अङ्ग नहीं है, किन्तु जिस नित्य स्थिति और समाधिलयताका वर्णन योग-शास्त्रमें किया गया है, उसकी अनुभूति परिपक्व दशामें भक्तको भी होती है। ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञानकी त्रिपुटीके लय हो जानेके समान चरम आनन्दावस्था में भक्त, भक्तिपात्र और भक्तिका भी लय हो ही जाता है।

कहनेका अभिप्राय यह है कि योगी और भक्तके अनुभव बहुत अंशोंमें एक-जैसे होते हैं, अतः यह नहीं समझना चाहिए कि योगमार्गका ज्ञान भक्तके लिए कभी विक्षेप का कारण बन सकता है।

योगी और भक्तोंकी अनुभूतियोंमें तादात्म्य होनेके कारण ही योग-शास्त्रका विकास, जैसा कि स्वाभाविक था, भक्तिकी दिशामें हुआ। 'योगमार्तण्ड' नामक ग्रन्थमें, जिसके रचयिता सूर्य्यभगवान् कहे जाते हैं, जहाँ एक ओर अन्तर्ध्यान-विधिका वर्णन किया गया है, वहाँ दूसरी ओर प्रसाद लेने और देनेकी विधि, नाम-रटना-विधि, कर-माला-विधि, उपास्यकी शृङ्गार-विधि, इष्टदेव, इष्टमंत्र तथा गुरुमें अभेद-बुद्धि, नवधा भक्ति-निरूपण, पूजन, अर्चा, आचमन आदि के तरीके भी बताये गए हैं। जो भक्त शास्त्रीय पद्धतिका अनुसरण कर इष्टदेवके पास पहुँचना चाहता है, उसके लिए योग-शास्त्र अत्यन्त उपयोगी है और योग-शास्त्रके सांगोपांग ज्ञानके लिए सांख्य-शास्त्रका अध्ययन भी जरूरी है।

मूल (छप्पय)

(श्रीअग्रदासजी)

सदाचार ज्यों संत प्राप्त जैसे करि आए।
सेवा सुमिरन सावधान (चरन) राघव चित लाए॥
प्रसिध बाग सों प्रीति सुहथ कृत करत निरंतर।
रसना निर्मल नाम मनहुँ वर्षत धाराधर॥
(श्री) कृष्णदास कृपा करि भक्ति दत्त मन बच क्रम करि अटल दयो।
(श्री) अग्रदास हरि भजन बिन काल वृथा नहिं बित्तयो॥४१॥

अर्थ—श्रीअग्रदासजीके भगवत्-सम्बन्धी आचरण वैसे ही थे जैसे कि उनके पूर्ववर्ती सन्त-महात्मा करते चले आए थे। वे प्रातःकालसे ही मानसी तथा प्रत्यक्ष सेवामें लगे रहकर भगवानका नाम जपते हुए मनको एकाग्र कर श्रीरामचन्द्रजीके चरणोंके ध्यानमें मग्न रहते थे। अपने प्रसिद्ध बागमें (जिसमें कि भावनाके अनुसार प्रमद-वन, अशोक-वन आदि के अलग-अलग स्थान बनाए गए थे) अपने हाथोंसे (सींचना, बुहारना, कलम करना आदि) सब कार्य करते थे। यह सब काम करते हुए भी आपकी जिह्वासे 'श्रीसीताराम' की निर्मल ध्वनि

इस प्रकार निकलती रहती थी जैसे मन्द-मन्द मधुर गर्जन करते हुए मेघ बरसते हैं। (श्रीअग्र-दासजीकी ऐसी अपूर्व भक्ति क्यों न हो ? क्योंकि) आपके गुरुदेव श्रीकृष्णदासजी पयहारीने आपको मन, वाणी और कर्म तीनोंसे सम्बन्धित अविचल भक्ति-भाव दिया था। इस प्रकार श्रीअग्रदासने हरि-भजनके बिना एक क्षण भी व्यर्थ नहीं जाने दिया।

भक्ति-रस-बोधिनी

बरसन काज महाराज मानसिंह आयो, छायो बाग माँझ बैठे द्वार द्वारपाल हैं।
झारिकै पतौवा गये बाहिर लै डारिबे को, देखी भीरभार, रहे बैठि वे रसाल हैं॥
आये देखि नाभाजूने साष्टांग करी, ठाढ़े, भरी जल आँखें, चले अँसुवनि जाल हैं।
राजा मग चाहि, हारि, आनि कै निहारि नैन, जानी आप, जानी भए दासनि दयाल हैं॥१३२॥

अर्थ—एक बार श्रीअग्रदेवके दर्शन करनेके लिए आमेर (जयपुर) के राजा (मानसिंह) आए। उस समय स्वामीजी अपनी वाटिकामें ही बैठे हुए उपासना कर रहे थे। (राजाने साथ में आए हुए द्वारपालोंको तो बाहर बैठा दिया (और स्वयं अन्दर चले गए।) इसी बीचमें स्वामीजी बागके सूखे पत्तोंको बटोरकर बाहर फेंकने गए, तो देखा कि लोगोंकी भीड़ जमा है। इसपर आप वहीं पासके एक आमके पेड़के नीचे बैठ गए—अथवा रसाल—अर्थात् भजनानन्द में मग्न आप लोगोंके पास ही बैठ गए। (संयोगसे श्रीनाभाजी भी वहाँ मौजूद थे) स्वामीजी को आया हुआ देखकर नाभाजीने आपको साष्टांग प्रणाम किया और (हाथ जोड़कर) सामने खड़े होगए। स्वामीजीकी सौम्यमूर्ति देखकर नाभाजीकी आँखें पहले तो भर आईं और फिर उनमें-से जलकी धार बह निकली। उधर जब महाराजको अन्दर वाटिकामें बाट देखते-देखते बहुत समय होगया, तो वे भी थक कर बाहर आ गए। उन्होंने स्वामीजीके दर्शन किये, तो कृतकृत्य होगए और उन्हें ऐसा लगा मानों ज्ञानशिरोमणि (श्रीरामचन्द्रजी) दासोंपर दया करके श्रीअग्रदासजीके रूपमें सामने उपस्थित हैं।

श्रीअग्रदासजीके समयके बारेमें इतना ही निश्चितरूपसे कहा जा सकता है कि वे सत्तरहवीं शताब्दीमें हुए थे। आपके शिष्य श्रीनाभाजीने अपना भक्तमाल ग्रन्थ सम्वत् १६४० और १६८० के बीचमें लिखा था।

यह पहले कहा जा चुका है कि आपके गुरुदेव श्रीकृष्णदासजी पयहारीने जयपुरमें गलता नामक स्थानपर जयपुरके तत्कालीन राजाको वैष्णव-धर्मकी दीक्षा दी। श्रीकील्हदेवजी श्रीपयहारीजीके बड़े शिष्य थे और उनसे छोटे श्रीअग्रदासजी थे। श्रीअग्रदासजीने भी जयपुरसे करीब तीस मील दूर रैवासा नामक स्थानपर वास किया। स्वामीजीके सम्बन्धमें नीचे दिया गया पद देखने योग्य है—

बंदौं पदकमल अमल अग्रस्वामी जू के, आचारज रसिक सिरोमनि महान हैं।
रस बोध विपुल आनंदघन सील, दया, छमा तोष मन जन मानद अमान हैं॥
मेटि रूख ज्ञान महामाधुर्य प्रधान जिन्ह, कीन्हौं अग्रसागर सो विदित जहान हैं।
तीनों मान्ये सार ध्यान मंजरी शृंगार सत्र, भेदी अनभेदी पढ़े जानत महान हैं॥

स्वामीजीने कई बहुमूल्य ग्रन्थोंकी रचना भी की थी जिनमें अष्टयाम, ध्यानमंजरी, और पदावली उपलब्ध हैं । कुण्डलियाँ भी आपने लिखीं जिनकी संख्या ७३ है । ये कुण्डलियाँ अपनी सरसताके कारण अत्यन्त सुन्दर बन पड़ी हैं । दो उदाहरण नीचे दिये जाते हैं—

(१)
सदा न फूलै तोरई, सदा न सांवन होय ।
सदा न सांवन होय, सन्त जन सदा न आवें ।
सदा न रहे सुबुद्धि, सदा गोविंद जस गावें ॥
सदा न पच्छी केलि, करें इह तरवर ऊपर ।
सदा न स्याही रहे, सफेदी आवे भू पर ॥
अग्र कहै हरि मिलन कौं, तन मन डारौ खोय ।
सदा न फूलै तोरई सदा न सांवन होय ॥

(२)
आगि लगंते भौंपरा, जो निकसे सो लाभ ।
जो निकसे सो लाभ, देखि मानुष तन चोरी ।
जे लेखे की श्वास जात, आवत न बहोरी ॥
ज्यों कर अंजलि माहिं घटत जल थिर न रहाई ।
करि आरत हरि भजन साखि काया बध गाई ॥
अगर कहाँ लगि बेगरी, दीजे फाटे आभ ।
आगि लगंते भौंपरा, जो निकसे सो लाभ ॥

राम-भक्तिमें 'रसिक-सम्प्रदाय' की स्थापना करनेवाले स्वामी अग्रदास कहे जाते हैं । इस संप्रदाय की भावनाके अनुसार श्रीरामचन्द्रकी उपासना भक्तके द्वारा पति-रूपमें की जाती है । उपासक कहीं भगवान श्रीरामकी पत्नीको अपनी सखी समझता है, तो कहीं 'सपत्नी' । स्वामी अग्रदास-रचित "ध्यान-मञ्जरी" इस सम्प्रदाय वालोंकी गीता कही जाती है । इसके निर्माणमें उन्होंने पाञ्चरात्र संहिताओंको अपना आधार बनाया था ।

पयहारीजीके कुछ शिष्योंके चरित्र बालकरामजीकी टीकाके आधारपर नीचे दिये जाते हैं—

श्रीगंगादेवी

श्रीगंगादेवी गंगाके समान ही अत्यन्त पवित्र और पुण्यवती थीं । उनका एक भाई था । भाईकी सुन्दरतापर आसक्त होकर एक भूतनी उससे लग गई थी और वह उसके भयसे रात-दिन सूखता जाता था । एक दिन गंगादेवीने अपने भाईसे सब समाचार पूछ लिया और उसके पास जाकर बैठ गई । भूतनी तो अनुरक्त थी ही । वह वहाँ भी गंगादेवीके भाईपर आगई और वह बेहोश होकर अनेक प्रकारसे बड़बड़ाने लगा । गंगादेवी उसी समय उठकर ठाकुर-बाड़ेमें गई और श्रीहरिका चरणामृत लाकर भाईपर छिड़क दिया । तत्काल ही उसके शरीरपर से भूतनीका प्रभाव जाता रहा और भाई स्वस्थ होकर उठ खड़ा हुआ । प्रेतनी भी शरीर धारण

कर सामने आगई और विनय करती हुई बोली—"हे देवि ! अब तो मैं तुम्हारी शरण हूँ । दया कर मेरे भी उद्धारका कोई उपाय कीजिए ।"

श्रीगंगादेवीने पुनः थोड़ा-सा चरणोदक लेकर उसके ऊपर छिड़क दिया और वह उसी क्षण दिव्य रूप धारण कर नित्यधामको चली गई । बाद में उन्होंने अपने भाई को भी भक्तिका उपदेश दिया ।

श्रीविष्णुदासजी

श्रीविष्णुदास यात्रा करते हुए एक समय कुल नामक एक गाँवमें गए । वहाँ एक व्यक्ति का काका भूत बनकर उसके मकानमें रहा करता था । वह कुलके मनुष्योंमें प्रवेशकर उनको व्याकुल करके बलि लिया करता था । जब विष्णुदास उस गाँवमें पहुँचे तो एक मनुष्यपर वह अपना प्रभाव दिखला रहा था । उन्होंने ठाकुरजीकी चरण-रजकी बनी एक गोली निकाली और उसे पानीमें घोलकर प्रेत-पीड़ित व्यक्तिको पिला दिया । उसके मुँहमें डालते ही प्रेत शरीर धारण करके सामने आ गया और श्रीविष्णुदासजीके चरणोंमें गिरकर उद्धारकी याचना करने लगा । उन्होंने उसे निजमन्त्रकी दीक्षा दी ।

गाँवके व्यक्तियोंने भी यह आश्चर्य देखा और सबके सब श्रीविष्णुदासजीके शिष्य होकर भगवानका भजन करने लगे और उनकी कृपासे कुल गाँवके निवासी इस दुस्तर संसारसे अनायास ही तर गए ।

श्रीरङ्गदासजी

श्रीरङ्गदासजी अपने गुरुको भगवानसे भिन्न नहीं मानते थे, इसीलिए गुरुके चरणोंकी सेवाको ये भगवानकी सेवासे भी अधिक महत्त्व देते थे । एक बार ये अपने गुरुके दर्शन करने के लिए उनके आश्रमपर गए हुए थे । उसी समय एक दूसरा सेवक भी आया हुआ था । उसने गुरुजीके लिए खड़ाऊँ भेंट की । जब वह चला गया तो श्रीरङ्गदासजीने खड़ाऊँ अपने गुरु से माँग लीं; क्योंकि वे उन्हें सिंहासनपर विराजमान कराकर उनकी पूजा करना चाहते थे । खड़ाऊँ पाकर वे अपने आश्रममें आकर उनकी पूजा करने लगे ।

एक दिन आश्रमको सूना देखकर एक चोर सिंहासनपरसे उन पादुकाओंको लेकर भागा । वापस आनेपर श्रीरङ्गदासजी चोरकी कल्पना करने लगे । उसी समय पादुकाओंको ले भागने वाले व्यक्तिको एक अजीब रोगने आकर घेर लिया । वह घबड़ाकर श्रीरङ्गदासजीके आश्रममें आया और पैरों पड़कर क्षमा माँगी । श्रीकृष्णदासजीने उसको क्षमा कर दिया और अपना शिष्य बनाकर दीक्षा दे दी ।

यहाँ तक ग्रन्थकर्ता श्रीनाभादासजीने पहले चार सम्प्रदायोंके आचार्योंका वर्णन किया; उसके उपरान्त अपनी "श्रीसम्प्रदाय" का, फिर गुरु-परंपराका—स्वामी श्रीरामानुजाचार्यसे लेकर स्वामी श्रीअग्रदासजी तक। अब वे सत्रहवीं शताब्दीसे लौटकर आठवीं शताब्दीमें आते हैं और निम्न-लिखित छप्पय द्वारा श्रीशङ्कराचार्य स्वामीका वर्णन करते हैं—

मूल (छप्पय)

उतसृंखल अग्यान जिते अनईस्वरबादी ।
बुद्ध कुतर्की जैन और पाखंडहिं आदी ॥
बिमुखन को दियो दंड ऐंचि सन्मारग आने ।
सदाचार की सींव बिस्व कीरतिहिं बखाने ॥
ईस्वरांस अवतार महि मरजादा मांडी अघट ।
कलिजुग धर्मपालक प्रगट आचारज संकर सुभट ॥४२॥

अर्थ—वेदविहित धर्मकी मर्यादा (शृङ्खला) को जिन भगवद्-विमुख अत एव अज्ञानी, अनीश्वरवादी (ईश्वरको न मानने वाले) बौद्ध, उटपटांग तर्क करने वाले जैनी और पाखण्डी आदि लोगोंने तोड़ा, उन सबको आपने दंड दिया और प्रबल युक्तियोंसे परास्त कर उन्हें सनातन-मार्गपर खींच लाए। श्रीशंकराचार्य सदाचारकी सीमा थे—अर्थात् आदर्श सदाचारी थे। आपकी कीर्ति दिग्विजय द्वारा सारे संसारमें फैल गई। आप श्रीशंकरजी (ईश्वर) के अवतारके रूपमें इस पृथ्वीपर प्रकट हुए और वेदकी मर्यादाको इस प्रकार फिर स्थापित किया कि आपके बाद भी वह कम नहीं हुई। इस प्रकार शंकराचार्यजी इस कलियुगमें धर्मके रक्षक बने। धार्मिक क्षेत्रमें विधर्मियोंसे टक्कर लेनेके कारण आप सच्चे धार्मिक वीर (योद्धा) थे।

भगवान् शङ्कराचार्यके समयके सम्बन्धमें ऐतिहासिक विद्वान् एकमत नहीं हैं। कुछ लोग उन्हें ईसासे पूर्व छठी शताब्दीमें मानते हैं, तो दूसरे सातवींमें, आठवींमें या नवमीमें। अभी तक इस विषयपर कोई सर्वसम्मत नहीं है।

एक मतके अनुसार शङ्कराचार्यने गतकलि २५९३ वर्षमें जन्म ग्रहण किया तथा २६२५ कलि-वर्षमें ३२ वर्षकी अवस्थामें देह-त्याग किया। केरलोत्पत्तिके मतानुसार शङ्करका आविर्भाव-काल कलि-वर्ष ३०५७ है। इसके अनुसार शङ्करका जीवन-काल ३२ वर्षके स्थानपर ३८ ठहरता है।

पाश्चात्य विद्वानोंके अनुसार शङ्कराचार्यजीका जन्म ईसवी सन् की ७ वीं शताब्दीमें हुआ। श्रीराजेन्द्रप्रसाद घोषने विविध प्रमाणोंके आधारपर यह सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है कि शङ्कराचार्य ६०८ शकाब्द अथवा ६८३ ईसवीमें आविर्भूत हुए।

लुईरैसका कहना है कि शङ्कराचार्य ७४० से ७६७ के बीचमें जीवित थे।

जो भी हो, उपलब्ध सामग्रीसे यह मालूम होता है कि स्वामी शङ्कराचार्यका जन्म केरल प्रदेश

के पूर्णानदीके तटपर स्थित कलादी नामक गाँवमें वैशाख शुक्ल ५ को हुआ था। इनके पूज्य पिताका नाम शिवगुरु तथा माताका नाम सुभद्रा या विशिष्टा था। कहते हैं, सन्तान-कामनाकी पूर्तिके लिए पति-पत्नी दोनोंने शङ्कर भगवानकी उपासना की जिसके परिणामस्वरूप उन्हें यह पुत्र-रत्न मिला। शङ्करजीकी कृपासे मिलनेके कारण पुत्रका नाम 'शङ्कर' ही रख दिया गया।

बालकपनमें ही शङ्करकी तीक्ष्ण बुद्धिका परिचय मिल गया था। दो वर्षकी ही अवस्थामें शङ्करने अपनी मातासे सुनकर सब पुराणोंको कण्ठस्थ कर लिया। शङ्कर जब तीन वर्षके थे, तब उनके पिता स्वर्गवासी होगये। पाँच वर्षकी अवस्थामें बालकका विद्याध्ययन आरम्भ हुआ और सात वर्षके होते-होते वे वेद, वेदाङ्ग आदि शास्त्रोंमें पूर्णतया पारंगत होगया।

विद्याध्ययन समाप्त करनेके बाद शङ्करने संन्यास ग्रहण करनेकी इच्छा प्रकट की, लेकिन माताने आज्ञा नहीं दी। माताको असन्तुष्ट कर शङ्कर कोई काम नहीं करना चाहते थे। कहते हैं, एक दिन माताके साथ वे नदीमें स्नान करने गए, तो एक मगरने उनका पैर पकड़ लिया। पुत्रको संकटमें पड़ा देखकर माता बड़ी घबड़ाई, परन्तु शङ्करने कहा—"आप मुझे संन्यास लेनेकी आज्ञा दें, तो मगर मुझे छोड़ देगा।" माताने आज्ञा देदी और आठ वर्षकी अवस्थामें शङ्कर घर-द्वार छोड़कर निकल पड़े। माताकी इच्छाको पूर्ण करनेके लिए वे मातासे प्रतिज्ञा कर गए कि तुम्हारी मृत्युके समय मैं घरपर आजाऊँगा।

संन्यास लेकर शङ्कर नर्मदा-तटपर आए और स्वामी गोविन्द भगवत्पादसे दीक्षा ग्रहण की। गुरुने इनका नाम बदलकर 'भगवत् पूज्यपादाचार्य' रक्खा।

गुरुके बताये हुए मार्गपर चलकर शङ्कराचार्यने योग-साधना शुरू करदी और बहुत शीघ्र महान् योगी बन गए। इसके उपरान्त वे काशी गये और वहाँ बहुतसे शिष्य बनाये। कहते हैं, काशीमें रहते हुए उन्हें एक दिन भगवान विश्वनाथने चाण्डालके रूपमें दर्शन दिया और ब्रह्म-सूत्रपर भाष्य लिखने तथा धर्मका प्रचार करनेकी आज्ञा दी। जब वे भाष्य लिख चुके, तो एक ब्राह्मणने गङ्गा-तटपर ब्रह्म-सूत्रके किसी सूत्रको लेकर उनसे शास्त्रार्थ छेड़ दिया। आठ दिन तक निरन्तर यह शास्त्रार्थ चलता रहा। अन्तमें यह पता लगा कि ब्राह्मणके रूपमें भगवान वेदव्यास स्वयं उपस्थित थे। व्यासजीने प्रसन्न होकर शङ्कराचार्यजीकी १६ वर्षकी आयुको दूना कर दिया और अद्वैतवादका प्रचार करनेकी आज्ञा दी।

अब शङ्कर दिग्विजय-यात्राके लिये निकल पड़े। काशीसे कुरुक्षेत्र होते हुए वे बदरिकाश्रम पहुँचे और वहाँसे प्रयाग आए। कुमारिलभट्टकी विद्वत्ताकी उन दिनों चर्चा थी, अतः आप पहले उनसे ही मिलने गए। परन्तु दुर्भाग्यवश आप ऐसे समय पहुँचे जब कि कुमारिलभट्ट चिता जलाकर शरीर-त्याग करनेको प्रस्तुत थे। कुमारिलभट्टने इन्हें माहिष्मती नगरीमें मण्डनमिश्रके पास शास्त्रार्थके लिए भेज दिया। मण्डनमिश्रकी विदुषी पत्नी भारती शास्त्रार्थकी मध्यस्थता करनेके लिए नियत हुईं। मण्डन-मिश्रके परास्त हो जानेपर अपने पतिकी अर्धाङ्गिनी होनेके नाते अब भारतीसे शङ्करका शास्त्रार्थ हुआ। शास्त्रार्थके प्रसंगमें भारतीने शङ्करसे काम-शास्त्रसे सम्बन्धित कोई प्रश्न कर दिया जिसका उत्तर शङ्करपर नहीं बन पड़ा। शङ्कराचार्य उस समय तो वहाँसे चले गए, लेकिन बादमें योगबलसे शरीर त्यागकर अमरुक राजाके शरीरमें प्रवेश कर गए। अमरुक जीवित होगए। अमरुकके रूपमें शङ्करने काम-कला-विषयक अनुभव प्राप्त किए और तब राजाका शरीर छोड़कर शिष्यों द्वारा रक्षित अपनी पुरानी देहमें

फिर प्रविष्ट होगए । बादमें उन्होंने भारतीको शास्त्रार्थमें पराजित किया और शर्तके अनुसार मण्डनमिश्र को शङ्कराचार्यका शिष्यत्व स्वीकार कर संन्यासी होना पड़ा । मण्डनमिश्रका नाम अब सुरेश्वराचार्य हो गया ।

मगध-विजय करके शङ्कराचार्य दक्षिण पहुँचे और महाराष्ट्रके शैव और कापालिकों को हराया । वहाँसे वे तुङ्गभद्रा नदीपर पहुँचे और वहाँ शारदा मठकी स्थापना कर सुरेश्वराचार्यको उसका आचार्य बनाया । इन्हीं दिनों माताकी मृत्युका समय निकट जान कर वे घर पहुँचे और उनकी अन्त्येष्टिसे निवृत्त होकर शृङ्गेरी मठ गए और फिर पुरी जाकर गोवर्धन-मठकी स्थापना की । श्रीपद्मपादाचार्यको वहाँका मठाधीश बनाया । दक्षिणमें फैले हुए शाक्त, पाशुपत्य और कापालिक संप्रदायोंके अनाचारोंको दूर कर अब शङ्कराचार्य उत्तरकी ओर मुड़े और उज्जैनमें प्रचलित भैरवोंकी भीषण साधनाका भण्डाफोड़ किया । वहाँसे गुजरात जाकर द्वारकामें एक मठ स्थापित किया । इसे अपने शिष्य हस्तामलकाचार्यको सौंप कर गांगेय प्रदेशके पण्डितोंको शास्त्रार्थमें परास्त करते हुए वे काश्मीरके शारदा-क्षेत्रमें आए और वहाँ भी अद्वैतवादका झण्डा फहराया । वहाँसे चलकर वे आसाम पहुँचे और कामरूपके शैवोंसे शास्त्रार्थ किया । वहाँसे लौटकर आपने बदरिकाश्रममें ज्योतिर्मठकी स्थापना की और तोटकाचार्यको वहाँका मठाधीश नियुक्त किया । अन्तमें केदार-क्षेत्रमें उन्होंने इहलोककी लीलाको संवरण किया ।

स्वामी शङ्कराचार्यके लिखे हुए २७२ ग्रन्थ बताये जाते हैं । इनमें ब्रह्मसूत्र-भाष्य, उपनिषद्-भाष्य, गीता-भाष्य, विवेक-चूडामणि, आनन्दलहरी-स्तोत्र आदि मुख्य हैं ।

शांकर मत—शङ्कराचार्य द्वारा प्रतिपादित अद्वैतवादका भारतवर्ष-भरमें इतना प्रचार हुआ कि अद्वैतमतका नाम लेने-मात्रसे लोगोंको शङ्कराचार्यका स्मरण हो आता है ।

संक्षेपमें शांकर अद्वैतका सार इस प्रकार है :—

यह सम्पूर्ण चराचर प्रपञ्च दो भागोंमें बाँटा जा सकता है—द्रष्टा और दृश्य । देखनेमें ये दो तत्त्व हैं । एक वह जो सम्पूर्ण प्रतीतियोंका अनुभव करता है; दूसरा वह जो अनुभवका विषय है, अर्थात् जिसका अनुभव किया जाता है । इनमें प्रथम 'आत्मा' है और दूसरा "अनात्मा" है । आत्मतत्त्व अनामय, अविनाशी, निर्विकार, निस्संग है । स्थूल-सूक्ष्म प्रपञ्चसे आत्मतत्त्वका कोई सम्बन्ध नहीं । अज्ञान या अविद्याके कारण यह जगत् सत् प्रतीत होता है, वास्तवमें मिथ्या है—भ्रम मात्र है । जीव अहंके वशी-भूत होकर अपनेको आत्मतत्त्वसे पृथक् मानकर कर्त्ता, भोक्ता समझ लेता है । शांकर-मतके अनुसार यह सारा संसार जो सत्यके समान प्रतीत होता है, इसका कारण माया है । आत्म-तत्त्वका योग होने पर यह भ्रम दूर हो जाता है और जीव "अहं ब्रह्मास्मि" का अनुभव करने लगता है । वस्तुतः जीव और ईश्वर एक ही आत्म-तत्त्व है ।

ज्ञान के साधन—श्रवण, मनन, निदिध्यासन ज्ञानके साक्षात् साधन हैं । किन्तु इनकी सफलता तभी है जब ब्रह्मको जाननेकी अभिलाषा हो । यह अभिलाषा—ब्रह्मजिज्ञासा उन्हींके पैदा होती है जो विवेक, वैराग्य, शम आदि षट् सम्पत्ति और मुमुक्षुता, आदि साधनोंसे सम्पन्न हैं । इन साधनों की सहायतासे चित्तकी शुद्धि होती है और तभी ब्रह्मको जाननेकी इच्छाका आविर्भाव होता है ।

शंकराचार्य और भक्ति—शंकराचार्यके मतानुसार ज्ञान होनेके लिए सर्वश्रेष्ठ साधनभक्ति है। लेकिन भक्तिको वे साध्य नहीं मानते। साध्य तो ज्ञान ही है। भक्तिका लक्षण करते हुए वे 'विवेक-चूड़ामणि' में कहते हैं—"स्वस्वरूपानुसन्धानं भक्तिरित्यभिधीयते।" अर्थात्—अपने शुद्ध स्वरूपका स्मरण करना ही भक्ति कहलाता है। शंकराचार्यने सगुण ईश्वरकी उपासना की अवहेलना नहीं की। प्रबोध-सुधाकरमें तो उन्होंने यहाँ तक कहा है कि श्रीकृष्णके चरणोंकी भक्तिके बिना अन्तःकरणकी शुद्धि हो ही नहीं सकती। उनके बनाये हुए 'मोहमुद्गर' के कुछ श्लोक देखिए—

> **भज गोविन्दं, भज गोविन्दं, गोविन्दं भज मूढमते।**
> **का ते कान्ता, कस्ते पुत्रः संसारोऽयमतीव विचित्रः।**
> **कस्य त्वं वा कुत आयातस्तत्वं चिन्तय तदिदं भ्रातः॥**
> **सुरमन्दिरतरमूलनिवासः, शय्याभूतलमजिनं वासः।**
> **सर्वपरिग्रहभोगत्यागः, कस्य सुखं न करोति विरागः॥**
> **बालस्तावत् क्रीडासक्तस्तरुणस्तावत्तरुणीरक्तः।**
> **वृद्धस्तावच्चिन्तामग्नः, परमे ब्रह्मणि कोऽपि न लग्नः॥**
> **यावज्जननं तावन्मरणं, तावज्जननी-जठरे शयनम्।**
> **इति संसारे स्फुटतरदोषः, कथमिह मानव तव सन्तोषः॥**

—अरे मूर्ख जीव! गोविन्दका भजन कर। यह संसार बड़ा विचित्र है। यहाँ रहकर तुझे इस तत्वपर विचार करना चाहिए कि कौन तेरी स्त्री है, कौन तेरा पुत्र है, तू कौन है और कहाँ से आया है? किसी देवमन्दिरके वृक्षके तले रहना, धरतीपर सोना, वल्कल पहिनना, सब प्रकारके दान और भोगका त्याग करना, इस प्रकारकी वैराग्यकी भावना किसे सुख न पहुँचाएगी? जब तक तू बालक था, खेलोंमें मस्त रहा, जवानीमें स्त्रीमें आसक्त रहा, बुढ़ापेमें चिन्ताओंसे घिरा रहा, पर परब्रह्मकी ओर किसीने ध्यान नहीं दिया। संसारका सबसे महान् दोष यह है कि जब तक जन्म है, तब तक मरण है, तब तक माताके उदरमें सोना है। ऐसी दशामें, मनुष्य! तुझे भला कैसे सन्तोष और शान्ति मिल सकती है?

नीचे दिये गए प्रबोधसुधाकरके पद्योंसे भी यही सिद्ध होता है कि शंकराचार्यजी श्रीकृष्णके परम भक्त थे :—

> **यमुनातट—निकटस्थितवृन्दावनकानने महारम्ये।**
> **कल्पद्रुमतलभूमौ चरणं चरणोपरि स्थाप्य॥**
> **तिष्ठन्तं घननीलं स्वतेजसा भासयन्तमिह विश्वम्।**
> **पीताम्बरपरिधानं चन्दनकर्पूरलिप्तसर्वाङ्गम्॥**
> **आकर्णपूर्णनेत्रं कुण्डलयुगमण्डितश्रवणम्।**
> **मन्दस्मितमुखकमलं सुकौस्तुभोदारमणिहारम्॥**
> **वलयाङ्गुलीयकाद्यानुज्ज्वलयन्तं स्वलङ्कारान्।**
> **गलविलुलितवनमालं स्वतेजसापास्तकलिकालम्॥**

गुञ्जावलिकलितं गुञ्जापुञ्जान्विते शिरसि।
भुञ्जानं सह गोपैः कुञ्जान्तरवर्तिनं हरिं स्मरत॥

—श्रीयमुनाजीके तटपर स्थित वृन्दावनके किसी सुन्दर बागमें जो कल्पवृक्षके नीचेकी भूमिमें चरणपर चरण रक्खे बैठे हैं, जो मेघके समान नीलवर्ण हैं और अपने तेजसे समस्त विश्वको प्रकाशित कर रहे हैं; जो सुन्दर पीताम्बर धारण किये हुए हैं तथा शरीरमें कपूरसे मिला हुआ चन्दन लेप किये हुए हैं; जिनके नेत्र कानों तक लम्बे और विशाल हैं, कान कुण्डलोंसे सुशोभित हैं, मुख-कमल जिनका मन्द-मन्द मुस्करा रहा है, जिनके वक्षःस्थलपर कौस्तुभमणिसे सुशोभित सुन्दर हार लटक रहा है और जो अपने शरीरकी कान्तिसे कंकण और अँगूठी आदि भूषणोंकी शोभा बढ़ा रहे हैं, जिनके गलेमें वनमाल विराजमान है और अपने तेजसे जिन्होंने कलिकालको परास्त कर दिया है तथा जिनका गुञ्जा-वलिविभूषित मस्तक गूंजते हुए भ्रमरोंसे सुशोभित है, किसी कुञ्जके भीतर बैठकर ग्वाल-बालोंके साथ भोजन करते हुए उन श्रीहरिका स्मरण करो।

वर्णाश्रम-व्यवस्थाकी संस्थापना—इतिहासके अध्ययनसे पता चलता है कि महाभारत-कालमें वर्णाश्रम-धर्मका पूर्ण आदर था, लेकिन कालान्तरमें महावीर जिन और गौतम बुद्धके समयसे नास्तिकता धीरे-धीरे जड़ जमाने लगी और एक समय ऐसा आगया जबकि आस्तिकताका लोप होगया और वर्णा-श्रम-सम्बन्धी आचारोंमें लोगोंकी श्रद्धा हट गई। यह एक महान् परिवर्तनका युग था। प्रायः भारत-भर में नास्तिकता का बोलबाला होगया था।

ऐसे समयमें भगवान् श्रीशंकराचार्यने प्रकट होकर नास्तिकमतोंके मेघाडम्बरोंको अपनी विद्वत्ता के प्रखर प्रकाशसे छिन्न-भिन्न किया और वर्णाश्रम-धर्मकी फिरसे स्थापना की। जप, तप, व्रत, उपवास, यज्ञ, दान, संस्कार, उत्सव आदि फिर जीवित हुए। उस समयमें प्रचलित मतमतान्तरोंका खण्डन करने के लिए अद्वैतवादकी ही आवश्यकता थी। श्रीशंकराचार्यने अद्वैत-वेदान्तकी व्याख्या ही नहीं की, अपितु पञ्चदेव-उपासनाकी रीति भी प्रचलित की। बौद्धोंने धर्मके क्षेत्रमें जो अराजकता फैलाई थी, उसका प्रतीकार यदि शंकराचार्यने नहीं किया होता तो यह स्पष्ट है कि सनातन-धर्मका सदाके लिए लोप होगया होता।

भक्ति-रस-बोधिनी

बिमुख-समूह लैंके किये सनमुख स्याम, अति अभिराम लीला जग बिसतारी है।
सेवरा प्रबल बास केवरा ज्यों फैलि रहे, गहे नहीं जाहिं, बाबी सुचि बात धारी है॥
तजि कै सरीर काहू नृप में प्रवेस कियो, दियो करि ग्रन्थ 'मोहमुद्गर' सुभारी है।
सिष्यनि सौं कह्यो कभूँ देह में आवेस जानो तब ही बखानों आप सुनि कोजै न्यारी है॥१२४॥

अर्थ—श्रीशङ्कराचार्यने सनातनधर्मके विरोधी मतोंका खण्डन कर उन्हें श्यामसुन्दर श्री-कृष्णकी उपासनाके अनुकूल बना दिया तथा बदरिकाश्रम आदि भगवत्-धामोंकी महिमाका प्रचार कर 'श्रीविष्णुसहस्रनाम-भाष्य' जैसे ग्रन्थों द्वारा भगवानकी सुन्दर लीलाका संसारमें विस्तार किया। उन दिनों सेवड़ा, जैन, बौद्ध आदि नास्तिकोंके समूहोंने अपने अनीश्वरवादी सिद्धान्तों द्वारा सारे देशको इस तरह ढक लिया था—जैसे केवड़ाकी उग्र गन्ध सारे बागमें छा जाती है।

एक बार इन लोगोंमेंसे किसीने शास्त्रार्थके प्रसंगमें 'शुचि' अर्थात् शृङ्गार-रस-सम्बन्धी कोई प्रश्न पूछ दिया। इस क्षेत्रसे सर्वथा अपरिचित होनेके कारण श्रीशङ्कराचार्य अपने प्रतिपक्षियोंसे कुछ समयके लिए अवकाश माँगकर किसी मरे हुए राजा (अमरुक) के शरीरमें प्रवेश कर गए। ऐसा करनेसे पूर्व उन्होंने शिष्योंको अपने शरीरकी रक्षाके लिए नियत कर दिया और 'मोहमुद्गर' नामक महान् ग्रन्थकी रचना कर उनसे कह दिया कि यदि राजाके शरीरमें मेरे प्रवेश करनेके बाद तुम देखो कि विषयोंके प्रति आसक्ति पैदा होनेके कारण मैं अपने उद्देश्यको भूल गया हूँ, तो 'मोहमुद्गर' मुझे सुना देना। उसे सुनते ही मुझे बोध हो जायगा और मैं राजाके शरीरको छोड़कर फिर अपने पूर्व-शरीरको धारण कर लूँगा।

(इतना कहकर श्रीशङ्कराचार्यजीने अपने उस शरीरको त्याग दिया और राजाके मृत शरीरमें प्रवेश कर गए। शिष्योंने अपने गुरुके प्राण-हीन शवको सुरक्षित रख दिया।)

भक्ति-रस-बोधिनी

जानि कैं आवेस तन सिष्य नैं प्रवेस कियो रावले मैं देखि सो स्लोक लै उचारयौ है।
सुनत ही तजो तन, निज तन आय लियो, कियो यौं प्रनाम दासपन पूरो धारयौ है॥
सेवरा हराये वादी, आये नृप पास, ऊँचे छात पर बैठि एक माया फन्द डारयौ है।
जल चढ़ि आयो, नाव भाव लै दिखायो कहै चढ़ौ, नहीं बूड़े, आप कौतुक सौं धारयौ है॥१२५॥

अर्थ—श्रीशङ्कराचार्यके अमरुक राजाके शरीरमें प्रवेश कर जानेके बाद जब शिष्योंने देखा कि निश्चित अवधि बीत जानेपर भी गुरुदेव नहीं लौट रहे हैं, तो वे समझ गए कि गुरुदेवके शरीरमें ममत्वका आवेश होगया है। इस पर उन्होंने राजाके घरमें घुसकर और श्रीशङ्कराचार्यको उसी अवस्थामें देखकर जिसका कि उन्हें डर था, 'मोहमुद्गर' का पाठ उन्हें सुनाया। उसे सुनते ही गुरुदेवने उस शरीरको छोड़ दिया और अपने पहले शरीरमें फिर लौट आए। शिष्योंने यह देखकर दास-भावसे गुरुदेवको प्रणाम किया और बोले—"प्रभो ! आपने अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण की।" इसके अनन्तर काम-शास्त्रमें पारंगत शङ्कराचार्यजीने सेवड़ा आदि प्रतिपक्षियोंको शास्त्रार्थ में परास्त किया। पराजित हुए सेवड़ा अपने राजाके पास पहुँचे और तब सबने सलाह कर राजा तथा श्रीशङ्कराचार्यको मार डालने का एक षड्यन्त्र बनाया। (सेवड़ोंको यह डर था कि उनके परास्त हो जानेके बाद उनका राजा श्रीशङ्कराचार्यका शिष्य बन जाएगा।) उसके अनुसार सेवड़ोंका गुरु राजा एवं श्रीशङ्कराचार्यको साथ लेकर एक ऊँची छतपर चढ़ गया और तंत्र-बल से ऐसा माया-जाल रचकर दिखाया कि चारों ओर जल ही जल दृष्टिगोचर होने लगा। धीरे-धीरे जल बढ़ता हुआ छतके पास तक आ पहुँचा और उसके साथ ही माया-निर्मित एक नाव भी आगई। सेवड़ोंके गुरुने तब राजा और श्रीशङ्कराचार्यजीसे कहा—"जल्दी इस नावपर सवार हो जाइए, नहीं तो आप डूब जायँगे।" राजा नावको सत्य मानकर चढ़ना चाहता था, पर श्री-शङ्कराचार्य समझ गए कि यह तो केवल इन्द्रजाल है—मायाका विलास-मात्र है।

भक्ति-रस-बोधिनी

आचारज कही यों चढ़ाओ इनि सेवकनि, राजाने चढ़ाए गिरे टूक उड़ि गए हैं ।
तब तौ प्रसन्न नृप, पाव परयो भाव भरयो, कह्यो जोई करयो, धर्म भागवत लए हैं ।।
भक्ति ही प्रचार, पाछे मायावाद डारि दीनौं,कीनौं प्रभु कह्यो, किते विमुख हू भए हैं ।
ऐसे सो गभीर सन्त और वह रीति जाने, प्रीति ही में साने हरिरूप गुन नए हैं ।।१२६।।

अर्थ—राजा नावपर चढ़नेको तैयार हुआ ही था कि श्रीशङ्कराचार्यजीने रोककर उससे कहा—"पहले इन सेवकोंको चढ़ाओ ।" श्रीशङ्कराचार्यके कहनेपर राजाने उन सबको नावपर चढ़नेकी आज्ञा दी (और राज-दण्डके भयसे सब सेवक नौकापर चढ़ गये ।) चढ़ते ही सबके-सब टुकड़े-टुकड़े होकर मर गये । (उनके मरते ही मायाका वह जाल न-जाने कहाँ लोप होगया—न जल ही रहा, न नाव ही ।) यह देखकर राजा बड़ा प्रसन्न हुआ और भक्ति-भावमें भरकर श्रीशङ्कराचार्यजीके पैरोंपर पड़ गया । फिर तो श्रीशङ्कराचार्यजीने जो आज्ञा दी उसका ही वह पालन करने लगा और भागवतधर्मको स्वीकार कर लिया । कुछ समय तक श्रीशङ्कराचार्यने भागवतधर्मका ही प्रचार किया, परन्तु बादमें उन्होंने मायावादको अपना लिया और वैष्णव-सम्प्रदायोंका खण्डन किया । स्वामी श्रीशङ्कराचार्यकी ऐसी बुद्धि प्रभुकी प्रेरणासे ही हुई । इसका परिणाम यह हुआ कि बहुत-से लोग भगवद्भक्तिसे विमुख होगए और अद्वैतवेदान्ती बनकर ईश्वरको निर्गुण समझने लगे । लेकिन शांकर-मतके अनुयायी ही कुछ विद्वान् ऐसे थे जो प्रकृति से अत्यन्त धीर-गम्भीर थे (और किसी शुष्क सिद्धान्तवादके भ्रममें न पड़कर भक्तिकी उपयोगिताको समझते थे) और भागवतधर्मकी रीतिको जानते थे । वे सदा प्रीतिको ही परम-तत्त्व मानते थे और भगवानके शुद्ध-प्रेम में मग्न रह कर नित्य-नवीन भगवद्-रूप, गुण और लीलाओंका अनुशीलन करनेमें ही आनन्द मानते थे ।

अद्वैतवादी होते हुए भी जिन विद्वानोंने भक्ति-मार्गको नहीं छोड़ा, उनमें श्रीमद्भागवतके प्रसिद्ध टीकाकार स्वामी श्री श्रीधराचार्य और अद्वैत-सम्प्रदायके महारथी श्रीमधुसूदन स्वामीके नाम उल्लेखनीय हैं ।

श्रीमधुसूदन स्वामी—आप अद्वैत- साहित्यके युगनिर्माता कहे जाते हैं । इनकी विशेषता यह थी कि इन्होंने शास्त्र-प्रमाणोंके आधारपर नहीं, बल्कि केवल अनुमान-प्रमाणके बलपर अपना सिद्धान्त स्थापित किया । अद्वैतवादके प्रकाण्ड समर्थक होते हुए भी मधुसूदन स्वामी सगुण-भक्तिके पक्षपाती थे । उन्होंने श्रीमद्भगवद्गीताकी 'गूढार्थदीपिका' नामक टीका रची और शङ्कराचार्यकी तनिक भी अपेक्षा न करके गीताके 'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज' इस श्लोकको शरणागतिपरक सिद्ध किया । स्वामीजीके निम्नलिखित पद्योंसे उनकी दृढ़ भगवद्भक्तिका परिचय मिलता है :—

ध्यानाभ्यासवशीकृतेन मनसा तन्निर्गुणं निष्क्रियं,
ज्योतिः किञ्चन योगिनो यदि परं पश्यन्ति पश्यन्तु ते ।
अस्माकं तु तदेव लोचनचमत्काराय भूयाच्चिरम्,
कालिन्दी-पुलिनोदरे किमपि यन्नीलं महो धावति ।।

—ध्यानके अभ्याससे अपने चित्तको वशमें रखनेवाले योगी यदि उस निर्गुण और निष्क्रिय परम ज्योति (ब्रह्म) को देखते हैं तो देखा करें। हमारी आँखोंको तो श्रीकृष्णकी वही साँवली शोभा ही सुख देती रहे जो यमुनाके तटपर विहार करती है।

निम्नलिखित श्लोक तो उनका प्रत्येक वैष्णवकी जिह्वापर रहता है—

> वंशी—विभूषित—करान्नवनीरदाभात्,
> पीताम्बरादरुण—बिम्ब—फलाधरोष्ठात्।
> पूर्णेन्दु—सुन्दर—मुखादरविन्दनेत्रात्—
> कृष्णात् परं किमपि तत्त्वमहं न जाने॥

—जिसके हाथोंमें वंशी सुशोभित है, जो नवीन मेघके समान सुन्दर है, पीताम्बर पहिने है, जिसके होंठ बिम्बफलकी तरह अरुण हैं, जिसका मुख पूर्ण-चन्द्रके समान और नेत्र कमलकी भाँति हैं, है, उस कृष्णसे परे यदि कोई तत्त्व हो, तो मैं उसे नहीं जानता।

स्वामीजीकी सिंह-गर्जना सुनिए—

> प्रमाणतोऽपि निर्णीतं कृष्णमाहात्म्यमद्भुतम्।
> न शक्नुवन्ति ये सोढुं ते मूढा निरयं गताः॥

—शास्त्रके प्रमाणोंसे निर्णय किये गए श्रीकृष्णके अद्भुत माहात्म्यको जो मूढ़ नहीं सह सकते, वे नरकगामी होंगे।

मूल (छप्पय)

(श्रीनामदेवजी)

बालदसा बीठल्ल पानि जाके पय पीयौ।
मृतक गऊ जिवाय परचौ असुरन कौं दीयौ॥
सेज सलिल तें काढ़ि पहिले जैसैंही होती।
देवल उलट्यो देखि सकुचि रहे सब ही सोती॥
पँडुरनाथ कृत अनुग ज्यौं छानि स्वकर छइ घास की।
नामदेव प्रतिग्या निर्बही (त्यौं) त्रेता नरहरिदास की॥४२॥

अर्थ— नामदेवजी ऐसे भक्त थे जिनके हाथसे, जब वे बालक थे तभी, श्रीविट्ठल भगवानने दूध पिया। आपने एक मरी हुई गायको जीवित कर असुरों—अर्थात् यवन म्लेच्छोंको अपनी शक्तिका परिचय दिया। दूसरी बार उसी यवनराजके द्वारा दिये गए (रत्न-जटित) पलङ्गको (जिसे आपने नदीके जलमें डाल दिया था) ज्योंका-त्यों जलमें-से निकालकर दिखा दिया। पण्ढरपुरमें श्रीपाण्डुरनाथके देवालयके द्वारको उलटकर आपकी ही ओर होगया देख-

कर सब वेदपाठी (श्रोत्रिय) तथा पण्डे-पुजारी चकित होगए और डरते-डरते अपने दुर्व्यवहार के लिए क्षमा माँगी। आपने अपनी भक्तिके बलसे अपने आराध्य भगवान श्रीपाण्डुरनाथ को अपना अनुचर-जैसा बना लिया, यहाँ तक कि उन्होंने नामदेवजीका छप्पर अपने हाथोंसे छाया। इस प्रकार भगवानकी कृपासे श्रीनामदेवजीकी प्रतिज्ञा का निर्वाह उसी प्रकार हुआ जिस प्रकार कि त्रेतायुगमें नरसिंह भगवान्‌के दास श्रीप्रह्लादजीका हुआ था।

श्रीनामदेवजीका जन्म कार्तिक शुक्ला प्रतिपदा, रविवार संवत् १३२७ विक्रम को सूर्योदयकी वेलामें हैदराबाद (दक्षिण) के 'नरसी ब्राह्मणी' नामक गाँवमें हुआ था। इनके पिताका नाम दामासेठ था और माताका गोणाई। ये छीपी (दर्जी) परिवारके थे। दामासेठसे चार पीढ़ी पहले इसी परिवार के यदुसेठ भगवान विट्ठलके अनन्य उपासक थे। दामा सेठ भी अपनी भगवद्भक्तिके लिए प्रसिद्ध थे।

ऐसे परिवारके वातावरणमें जन्म लेनेके कारण संस्कारी नामदेवके जीवनमें बाल्यकालसे ही भक्ति के चिन्ह प्रकट होने लगे और वे अपने साथियोंसे अलग रहकर प्राय: विट्ठलजीके नामका जप, पूजा, गुण-गान आदिमें समय बिताते थे। सरल-हृदय इस बालककी एकान्त निष्ठाका परिचय पाठक श्रीप्रिया-दासजीके कवित्तोंमें देखेंगे।

इनकी जातिमें बाल्य-विवाहकी प्रथा प्रचलित थी, अत: अत्यन्त अल्प-अवस्थामें इनका विवाह गोविन्द सेठ सदावर्तेकी कन्या राजाईके साथ कर दिया गया। पिताके स्वर्गवासी हो जानेपर इनकी स्त्री तथा माताजीने इनपर कोई व्यापार करनेका जोर डाला, परन्तु ये सहमत नहीं हुए और कुछ दिन बाद अपना गाँव छोड़कर पण्ढरपुरमें आ बसे। यहाँ गोरा कुम्हार, साँवता माली आदि भक्तोंसे इनका परि-चय हुआ और श्रीविट्ठलजीमें इनकी श्रद्धा और भी पक्की होगई।

कहते हैं, एक बार महाराष्ट्रके प्रसिद्ध सन्तने चाहा कि नामदेवजीको अपने साथ तीर्थ-यात्रा ले जायँ, पर नामदेवजीने कहा—"यदि पाण्डुरङ्ग आज्ञा देदें, तो मैं आपके साथ चलूँगा।" इसपर ज्ञाने-श्वरजीने भगवानसे प्रार्थना की तो उन्होंने उत्तर दिया—"नामदेवको छोड़नेमें मुझे अत्यन्त दुःख होगा पर तुम यदि अपनी जिम्मेवारीपर ले जाना चाहते हो, तो ले जाओ।" यह कहकर स्वयं पाण्डुरङ्गने नामदेवजीको ज्ञानेश्वरजीके हाथमें सौंप दिया।

प्रभास, द्वारका आदि तीर्थोंसे जब ये दोनों लौट रहे थे, तभी एक घटना हुई। मार्गमें बीकानेर के पास कौलायत गाँवमें पहुँचकर दोनोंको प्यास लगी। खोजते-खोजते बहुत देर बाद वहीं कुआँ मिला, पर वह सूखा निकला। योगी ज्ञानेश्वर लघिमा सिद्धिके प्रभावसे कुएँके भीतर पृथ्वीमें प्रवेश करके जल पी आए और नामदेवजीके लिए ऊपर लेते आए। नामदेवजीने वह जल नहीं पिया। वे बोले—"मेरे विट्ठलको मेरी चिन्ता है, वे कुछ-न-कुछ उपाय करेंगे ही।" कहते हैं, उनके यह कहते ही कुआँ जलसे ऊपर तक भर गया और तब नामदेवने जल पिया।

ज्ञानेश्वर महाराजकी जीवन-लीला समाप्त होनेपर नामदेवजी उत्तर भारतमें आए और पंजाब में भक्तिका प्रचार करने लगे। कहते हैं, विसोवा खेचर नामक एक सन्तसे इन्हें पूर्ण ज्ञान मिला था, अत: ये उन्हें ही अपना गुरु मानते थे।

महाराष्ट्रमें प्रचलित वारकुरी पन्थके संस्थापक नामदेवजी ही कहे जाते हैं। ८० वर्ष की आयु भोगकर संवत् १४०७ वि० में आप परलोकको सिधारे।

नामदेवजीके गुरुके सम्बन्धमें स्वर्गीय रामदास गौड़ने लिखा है—

"नाभाजीकी भक्तमालमें नामदेवको ज्ञानदेवका शिष्य कहा गया है, परन्तु नामदेवजी सम्भवतः बहुत पीछे हुए।.........नामदेवजी दरजी थे और यही पेशा करते थे। परन्तु उनकी संस्कृति बहुत बढ़ी-चढ़ी थी। इनके पद बड़े सुन्दर हैं। उनकी काँट-छाँट बड़ी उस्तादीसे की गई है। इनके पदोंमें मुस्लिम-प्रभाव दीख पड़ता है। इन्होंने मूर्ति-पूजाकी निन्दा की है, परन्तु स्वयं मूर्ति-पूजक थे। गुरुदासपुर जिलेमें घूमन नामक स्थानमें नामदेवजीके नामसे एक मन्दिर मौजूद है।"

भक्ति-रस-बोधिनी

छीपा वामदेव हरिदेव जू को भक्त बड़ो, ताकी एक बेटी पतिहीन भई जानिये।
द्वादस बरस माँझ भयो तन, कही पिता सेवा सावधान मन नीके करि आनिये॥
तेरे जे मनोरथ हैं पूरन करन एई जो पै दत्तचित्त ह्वै कै मेरी बात मानिये।
करत टहल प्रभु बेगि ही प्रसन्न भये, कीनी काम वासना सु पोषी उन मानिये॥१२७॥

अर्थ—(पाण्डुरपुर, दक्षिणमें) जातिके छीपी (दर्जी) वामदेवजी भगवानके परम भक्त थे। उनकी एक पुत्री थोड़ी ही उम्रमें विधवा होगई। जब वह बारह वर्षकी होगई, तब उसके पिताने उससे कहा—" तू मेरे घरमें विराजमान ठाकुर श्रीपाण्डुरनाथजीकी सेवा सावधान (एकाग्र) मनसे किया कर। तेरे सब मनोरथोंको पूर्ण करनेवाले यही ठाकुर होंगे, यह मेरी बात तू ठीक समझना।" (पिताकी आज्ञा मानकर) इस प्रकार सेवा करनेसे भगवान शीघ्र ही प्रसन्न हुए और उन्होंने प्रत्यक्ष होकर दर्शन दिया। भगवानके सुन्दर रूपको देखते ही उस लड़की के हृदयमें भोगकी इच्छा जाग पड़ी और भगवानने उसके मनोरथको पूर्ण किया। लड़की गर्भवती होगई। यह बात संभव है, इसको मान लीजिए (क्योंकि भगवानकी मायाका रहस्य जाना नहीं जा सकता। वह लौकिक विधि-निषेधोंसे परे हैं।)

भक्ति-रस-बोधिनी

विधवा को गर्भ, ताकी बात चली ठौर-ठौर, दुष्ट सिरमोरनि की भई मनभाइयै।
चलत-चलत वामदेव जू के कान परी, करी निरधार प्रभु आप अपनाइयै॥
भयो सू प्रगट बाल, नाम 'नामदेव' धरयो, करयो मनभायो सब सम्पति लुटाइयै।
दिन-दिन बढ़यो, कछु और रंग चढ़यो, भक्ति-भाव अंग मढ़यो कढ़यो रूप सुखदाइयै॥१२८॥

अर्थ—विधवाके गर्भ रह गया! अब तो इसकी चर्चा जगह-जगह होने लगी। परनिन्दा करनेवाले दुष्टराजोंकी मनचीती होगई—उन्हें चवैया करनेका मसाला हाथ लगा। फूटते-फूटते अन्तमें वामदेवजीके कानों तक यह बात पहुँची। उन्होंने निश्चित होनेके लिए पुत्रीसे पूछा, तो पता लगा कि प्रभुने स्वयं (प्रत्यक्ष दर्शन देकर) पुत्रीको अनुगृहीत किया है। प्रसव-काल

पूरा होनेपर एक बालकने जन्म लिया और वामदेवजीने उसका नाम 'नामदेव' रक्खा। (इस पुत्रके जन्मसे वामदेवजी बड़े प्रसन्न हुए।) उन्होंने उसके जन्मके उपलक्षमें तबियत भरकर उत्सव किया और (ब्राह्मण तथा गरीबोंको) अपनी सब सम्पत्ति लुटा दी। बालक अब दिनों-दिन बढ़ने लगा और उसके रीति-रंग विलक्षण प्रकारके दिखाई देने लगे। छोटी-सी अवस्थामें ही उस पर भगवद्-भक्तिका रंग छा गया और एक सुन्दर रूप-रंगका प्रकाश उसमें फूट निकला।

भक्ति-रस-बोधिनी

खेलत खिलौना प्रीति-रीति सब सेवा ही की, पट पहिरावें पुनि भोग को लगावहीं।
घंटा लै बजावें, नीके ध्यान मन लावें, त्यों-त्यों अति सुख पावें, नैन नीर भरि आवहीं॥
बार-बार कहैं नामदेव वामदेव जू सों "देवो मोहि सेवा मांझ, अति ही सुहावहीं।"
"जाऊं एक गांव, फिरि आऊं दिन तीन मध्य दूध को पिवावो, मत पीवो, मोहि भावहीं"॥१२६॥

अर्थ—नामदेवजी खिलौनोंसे खेलते थे, लेकिन प्रेमकी परिपाटीके अनुसार वे खेल भी ऐसे ही खेलते थे जिनका सम्बन्ध भगवानकी सेवासे होता था। भगवानकी कोई मूर्ति बनाकर वे उसे सुन्दर-सुन्दर वस्त्र पहिनाते, फिर भोग रखते, घण्टा बजाकर आरती करते और आँखें बन्दकर भलीभाँति ध्यान करते। इन सब कामोंमें नामदेवजी को ऐसा आनन्द होता था कि उनकी आँखोंमें प्रेमके आँसू भर-भर आते। समय पाकर वे बार-बार अपने नाना वामदेवजीसे यह आग्रह करते कि मुझे श्रीभगवानकी सेवामें जाने दीजिये; मुझे यह काम बड़ा अच्छा लगता है। एक बार वामदेवजीने कहा—"देखो, तीन दिनके लिए मैं एक गाँव जा रहा हूँ, सो तुम भगवानको दूधका भोग रख दिया करना, स्वयं मत पी लेना।" उत्तरमें नामदेवजीने कहा—"बहुत अच्छा; मैं भी यही चाहता था।"

भक्ति-रस-बोधिनी

कौन वह बेर जेहि बेर दिन फेरि होय, फेरि फेरि कहैं वह बेर नहीं आइये।
आई वह बेर, लै कराही मांझ हेरि दूध डारयो युग सेर मन नीके कै बनाइये॥
चौंपनि के ढेर, लागि निपट औसेर, दृग आयो नीर घेरि, जिन गिरे घूंटि जाइये।
माता कहैं टेरि, करी बड़ी तैं अबेर, अब करो मति फेर, प्रभु चित दै औटाइये॥१३०॥

अर्थ—वामदेवजीके चले जानेपर नामदेव सोचने लगे कि वह समय कब आवेगा जब कि दिन उदय होगा। वे अपनी मातासे बार-बार पूछते—"अभी सेवाका समय नहीं हुआ क्या?"

अन्तमें दिन उगा और सेवाका समय आ पहुँचा। अब नामदेवजीने अच्छी तरह देख-भालकर कढ़ाहीमें दो सेर दूध डाला और सोचने लगे कि इसे किस प्रकार बहुत बढ़िया औटाऊँ। सेवाके प्रति अतिशय चाव होनेके कारण उन्हें इसकी बड़ी चिन्ता थी कि किस प्रकार दूध ऐसा बने कि प्रभु भोग लगा लें। यह सोचते-सोचते प्रेमकी अधिकताके कारण उनकी आँखोंमें आँसू छलक आए, लेकिन आपने उन्हें वहीं-का-वहीं रोक लिया कि कहीं ऐसा न हो

कि कोई बूँद टपककर दूधमें गिर जाय और वह भोग रखनेके योग्य न रहे।

इधर माताने पुकार कर कहा—"क्या बात है रे! तूने बड़ी देर लगा दी। अब विलम्ब करना ठीक नहीं है; क्योंकि भोग-रागका समय हो गया है।

नामदेवजीने उत्तरमें कहा—"माँ! देर इस लिए होगई है कि मैंने बड़ी सावधानीसे मन लगा कर दूध औटाया है।"

भक्ति-रस-बोधिनी

चल्यो प्रभु पास, लै कटोरा छविरास, तामें दूध सो सुवास मध्य मिसरी मिलाइयै।
हिये में हुलास, निज प्रजता को त्रास, पै करैं जो ऐपै वास मोहि महा सुखदाइयै॥
देख्यौ मृदु हास, कोटि चाँदनी को भास, कियो भाव को प्रकास मति अति सरसाइयै।
प्याइबे की आस, करि ओट कछु भर्‌यो स्वास, देखि कै निरास, कह्यो पीवो जू अघाइयै॥१३१॥

अर्थ—औटकर दूध तैयार हो जानेके बाद बालक नामदेवजी एक सुन्दर कटोरेमें उसे भर भगवानके पास पहुँचे। दूधमें (इलायची आदि) सुगन्धित द्रव्य तथा मिश्री मिली थी। कटोरा भगवानके सामने रखते समय नामदेवजीको एक ओर अत्यन्त उल्लास हो रहा था और दूसरी ओर यह सोचकर डर भी रहे थे कि यदि दूध ठीक नहीं बना होगा, तो प्रभु अङ्गीकार नहीं करेंगे। उनके मनमें हो रहा था कि यदि इतने पर भी भगवान मुझे अपना सेवक मान लें और दूध पीलें तो मुझे महा आनन्द होगा।

यही सोचते-विचारते नामदेवजीने भगवानके मुख-कमलकी ओर देखा, तो वे मधुर हँसी हँस रहे थे। करोड़ों चाँदनियों-जैसा इस हँसीका प्रकाश था। क्यों न हो? भगवानने इस प्रकार हँसकर भक्त नामदेवके प्रति अपने प्रेमको ही प्रकट किया था। भगवानको इस प्रकार प्रसन्न देखकर नामदेवजीका हृदय भी आनन्दसे सराबोर हो गया। भगवानको दूध पिलानेकी आशा (उद्देश्य) से उन्होंने कटोरा सामने रख दिया और किसी वस्त्रकी ओटकर प्रेमानन्दकी श्वास भरने लगे। लेकिन जब वस्त्रका आवरण हटा कर देखा और कटोराको ज्योंका-त्यों भरा हुआ पाया, तो बड़े निराश हुए और भगवानसे कहने लगे—"आप तृप्त होकर पीजिए न!"

भक्ति-रस-बोधिनी

ऐसें दिन बीते दोय, राखी हिये बात गोय, रह्यो निसि सोय, ऐपै नींद नहीं आवहीं।
भयो जू सवार, फिरि वैसे ही सुधार लियो, हियो कियो गाढ़ो, जाय धर्‌यो पियो भावहीं॥
बार-बार 'पीवो' कहैं, अब तुम, पीवो नाहिं, आवैं भोरे नाना, गरे छूरी वे दिखावहीं।
गहि लीयो "कर जिन करि ऐसो, पीवो मैं," तो पीवे कौं लगेई, नेकु राख्यो, सदा पावहीं॥१३२॥

अर्थ—इस प्रकार भगवानको दूधका भोग लगाते और यह देखते हुए कि वे पीते नहीं, दो दिन बीत गये। (नामदेवजीने भी किञ्चित् मात्र अन्न-जल ग्रहण नहीं किया।) लेकिन

उन्होंने यह बात कि प्रभु दूध पीते नहीं, अपनी माँ को नहीं बतलाई। वे रातको भूखे ही सो रहते, पर चिन्ताके मारे नींद नहीं आती थी।

तीसरे दिनका प्रातःकाल आया। उस दिन भी उन्होंने पहलेकी तरह दूध को सावधानी के साथ औटाया और हृदयको पका करके प्रभुके सामने यह कह कर रख दिया कि आप दूध पीजिए, ताकि मैं आनन्दित होऊँ।

इतनेपर भी भगवानने जब दूध नहीं पिया, तो नामदेवजीका धैर्य छूट गया और बोले—"बार-बार मैं आपसे पीनेकी प्रार्थना करता हूँ, लेकिन आप नहीं पीते। कल सबेरे नानाजी आवेंगे, तो कहेंगे कि तूने भोग नहीं लगाया। इससे तो मर जाना ही अच्छा है!"

यह कह कर नामदेवजीने प्रभुको दिखाकर अपने गलेपर छुरी रख ली। भगवानने तत्क्षण प्रकट होकर उनका हाथ पकड़ लिया और बोले—"ऐसा मत करो; मैं अभी पिये लेता हूँ।"

यह कह कर भगवान पीने लगे, तो नामदेवजीने कहा—"थोड़ा-सा प्रसाद मेरे लिए छोड़ दीजिएगा; क्योंकि नानाजी द्वारा दिया गया आपका प्रसाद मैं सदा से लेता रहा हूँ।"

भक्ति-रस-बोधिनी

आये वामदेव पाछे पूछें नामदेवजू सों दूध को प्रसंग अति रंग भरि भाखियें।
"मोसो न पिछानि, बिन वोय हानि भई, तब मानि डर प्रान तज्यों चाहौं अभिलाषियें॥
पीयो, सुख दीयो जब नेंकु राखि लीयो, मैं तो जीयो", सुनि बातें, कही 'प्यायो कौन साखियें?'
धरयो, पै न पीवें अरयो, प्यायो सुख पायो नाना, या मैं लै दिखायो भक्त-बस रस चाखियें॥१३३॥

अर्थ—गाँवसे लौटने पर वामदेवजीने नामदेवजीसे प्रभुके भोग लगाने के बारेमें पूछा, तो आपने प्रेमके रंगमें सराबोर होकर सब वृत्तान्त कह सुनाया और बोले—"भगवानकी मुझसे जान-पहिचान तो थी ही नहीं, अतः दो दिन तो बड़ी हानि हुई कि प्रभुने दूध नहीं पिया। तब मैं आपके डरसे प्राण छोड़नेको तैयार होगया। यह देखकर प्रभुने बड़ी अभिलाषा (चाव) से दूध पीकर मुझे आनन्दित किया। मेरे प्रार्थना करने पर प्रभुने जब थोड़ा-सा प्रसादी मेरे लिए छोड़ दिया, तो मेरी जानमें जान आगई।" वामदेवजीने सब बातें सुनकर पूछा—"भगवानको दूध पिलानेका साखी (गवाह) कौन है?" इसपर नामदेवजीने फिर उसी प्रकार भोगके लिए दूध सामने रक्खा और जब उन्होंने नहीं पिया, तो अड़ गए (कि कल पी लिया, तो आज भी पीना पड़ेगा)। नामदेवजीने, इस प्रकार, दूध पिलाकर छोड़ा। नाना वामदेव यह देखकर बड़े आनन्दित हुए।

इस चरित्र द्वारा भगवानने यह स्पष्ट दिखला दिया कि वे भक्तोंके प्रेमके वशमें होकर ही भोग ग्रहण करते हैं। (जहाँ इस प्रेमका अभाव है, वहाँ नाना प्रकारके व्यञ्जन भी उन्हें अच्छे नहीं लगते।)

इस चरित्रके द्वारा टीकाकार यह बतलाना चाहते हैं कि सामान्य-भक्तिसे भगवान प्रसन्न होने वाले नहीं हैं। उसके लिए तीव्र भक्तियोग चाहिये। श्रीमद्भागवतमें स्पष्ट कहा है—

अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः।
तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम् ॥

—चाहे कोई अत्यन्त निष्काम हो—भगवानसे किसी प्रकारकी आशा न करता हो, अथवा सब कुछ चाहता हो, या मोक्षकी इच्छासे उन्हें भजता हो, इन सबके लिए आवश्यक यह है तीव्र भक्तियोगके द्वारा परम पुरुष (श्रीकृष्ण) की आराधना करे।

दूसरी शिक्षा इस चरित्रसे यह मिलती है कि उपासना करते समय प्रतिमा-बुद्धि नहीं रखनी चाहिए। इस प्रकारके विश्वासकी भावना बालकमें अत्यन्त सहज होती है। वह अपने खिलौनोंको भी सजीव रूपमें देखता है। पूर्वजन्मके संस्कार-वश यदि किसी बालककी प्रवृत्ति भगवानकी ओर हो जाय, तो वह मूर्तिको मूर्ति करके नहीं मानेगा। इसीलिये भगवानसे हठ करनेका अधिकार भी उसे ही प्राप्त है। बड़ी अवस्थावाला साधक जिस कार्यको सेवापराध समझेगा, वह बालक के लिए वैसी नहीं होगी। नानाजीका वाक्य नामदेवजीके लिये आप्त-वाक्य था, वे झूठ नहीं बोल सकते थे। इस विश्वासने ही विश्वासकी इस दूसरी कोटिको जन्म दिया कि और लोगोंकी तरह भगवान भी दूध पीकर कटोरा खाली कर देते हैं। एक बालकके लिए सत्यका यही रूप अवदोष है। जो भावना इस सत्यकी कसौटीपर खरी नहीं उतरती, वह सब कुछ हो सकती है, भक्ति नहीं हो सकती। 'तीव्र भक्तियोग' से अभिप्राय इसी अविचल निष्ठाका है। बड़े-बड़े भक्त इस निष्ठाको पाकर बालकों-जैसे आचरण करते देखे गये हैं।

सच बात तो यह है कि निष्ठायुक्त भावनाके बड़े-बड़े विचित्र खेल हैं। कभी-कभी यह दुर्लभ वस्तु उन लोगोंके भी हाथ अनायास लग जाती है जोकि किसी विशेष इच्छाकी पूर्तिके लिए भगवानको भजते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि जो सकामता भगवानकी ओर उन्मुख करती है, वह उपादेय है, हेय नहीं। किसी भी बहानेसे क्यों न हो, भाव होना चाहिए—'भावेहि विद्यते देवस्तस्माद् भावो हि कारणम्।'

भावनाका एक सुन्दर दृष्टान्त देखिए—

एक ब्राह्मण मुरलीधर भगवानकी सेवा किया करता था। दुर्भाग्य से, सेवा करते-करते भी वह दिनों-दिन दरिद्र होता चला गया और भोजनके भी लाले पड़ गए। तब किसीने उसे यह सलाह दी कि तू देवीकी अराधना कर; क्योंकि भगवानकी अपेक्षा देवी जल्दी प्रसन्न होती है।

ब्राह्मणने अब मुरलीधरजीकी प्रतिमाको एक ऊपरके आलेमें पधरा दिया और नीचेके आलेमें देवीकी स्थापना करदी और सेवा करने लगा। एक दिन धूप जलाकर वह देवीके सामने रखने गया, तो उसे ऊपर मुरलीधरजीकी प्रतिमा दिखाई पड़ी। देवीकी धूप कहीं मुरलीधरजी न सूँघ जायँ, इसलिए ब्राह्मणने उनकी नाकमें रुई ठूँस दी। उसी समय मुरलीधरने प्रत्यक्ष होकर कहा—"ब्राह्मण! मैं तुझ पर प्रसन्न हूँ; वर माँग।"

ब्राह्मण यह देखकर भौंचक्का रह गया और भगवानसे बोला—"इतने दिनों तक मैंने आपकी सेवा की, तब तो आप प्रसन्न हुए नहीं; अब अकस्मात् प्रसन्न होनेका क्या कारण है?"

भगवान बोले—"उस समय मुझमें तेरी प्रतिमा-बुद्धि थी, परन्तु आज तूने मुझे साक्षात् करके माना। मुझे इसी प्रकार की सच्ची भावना चाहिए।"

भक्ति-रस-बोधिनी

नृप सों मलेच्छ बोलि कही, "मिलै साहिब को, दीजिये मिलाय करामात दिखराइयै" ।
"होय करामात तो पै काहे को कसब करैं भरैं दिन ऐपै बाँटि सन्तन सों खाइयै ॥
ताही के प्रताप आप इहाँ लौं बुलायो हमैं", "दीजिये जिवाय गाय घर चलि जाइयै" ।
दई लै जिवाय सहज सुभाव ही मैं, अति सुख पाय, पाँय परयो, मन भाइयै ॥१३४॥

अर्थ—एक बार म्लेच्छों (मुसल्मानों) के राजा (सिकन्दर लोदी) ने नामदेवजीको अपने यहाँ बुलाकर कहा—"सुनते हैं, आपको साहिब (भगवान) का साक्षात्कार होगया है, सो हमें भी उनसे मिला दीजिये और अपनी आश्चर्य-जनक शक्तिका परिचय दीजिए ।"

आपने उत्तरमें कहा—"यदि हममें कोई करामात होती, तो हम दर्जीका काम (कसब) क्यों करते ? दिन-भर परिश्रम कर लेनेके बाद जो कुछ मिलता है, उसे सन्तोंके साथ बाँट खाता हूँ । यह उन्हीं सन्तोंका प्रभाव है कि मेरा यश दूर-दूर तक फैल गया है और आपने भी मुझे बुलाया है ।"

इसपर बादशाहने कहा—"आप इस मरी हुई गायको जिला दीजिये और घर चले जाइये ।"

आपने सहज स्वभावसे (एक पद गाकर) उस गायको जीवित कर दिया ।

वह पद इस प्रकार है :—

बिनती सुनु जगदीश हमारी ।
तेरौ दास आस मोहिं तेरी, इत करु कान मुरारी ॥
दीनानाथ ! दीन ह्वै टेरत, गायहिं क्यों न जिवावो ।
आछे सबै अंग हैं याके, मेरे यशहिं बढ़ावो ॥
तो कहो याके करमहिं मैं नहिं जीवन लिख्यो विधाता ।
तो अब नामदेव आयुष तें होहु तुमहिं प्रभु दाता ॥

भक्ति-रस-बोधिनी

"लेवो देश गाँव, जाते मेरो कछु नाँव होय", "चाहिये न कछू", दई सेज मनिमई है ।
धरि लई सीस, "देउँ संग दस-बीस नर", नाहीं करि आये, जलमाँझि डारि दई है ॥
भूप सुनि चौंकि परयो,'ल्यावो फेरि', आये 'कहौ',कही 'नैकु आनिकै दिखावो कीजै नई है' ।
जल तें निकासि बहुभाँति गहि डारी तट, "लीजिये पिछान" देखि सुधि-बुधि गई है ॥१३५॥

अर्थ—बादशाहने यह चमत्कार देखकर नामदेवजीसे कहा—"आप कृपाकर कोई गाँव या प्रदेश ले लीजिये जिससे कि मेरा यश फैले ।" उत्तरमें उन्होंने कहा—"हमें कुछ नहीं चाहिए ।" फिर भी बादशाहने मणियोंसे जड़ा हुआ एक पलंग आपको भेंट किया । नामदेवजी पलँगको सिरपर उठाकर चलने लगे, तो बादशाहने कहा—"दस-बीस नौकर मैं आपके साथ भेज रहा

हूँ; ये पलँग पहुँचा देंगे; आप क्यों कष्ट करते हैं ?" लेकिन आपने साफ इन्कार कर दिया कि आदमियोंकी कोई आवश्यकता नहीं है। (फिर भी बादशाहने उनकी रक्षाके लिए कुछ रक्षक पीछेसे भेज दिए।

नामदेवजी उस पलंगको लेकर यमुनाजीके किनारे आये और पलंगको भगवानके समर्पित कर यमुनाजीके अगाध जलमें डुबो दिया। नौकरोंने इसकी खबर बादशाहको दी, तो सुन कर वह आश्चर्यमें पड़ गया। उसने नौकरोंसे कहा—"उन्हें फिर बुलाकर हमारे सामने हाज़िर करो !"

नामदेवजी आए और बादशाहसे बोले—"कहिये, कैसे बुलाया ?"

बादशाहने कहा—"मुझे वैसा ही एक दूसरा पलंग तैयार करवाना है, सो आप उसे लाकर एक बार कारीगरोंको यहाँ दिखा दीजिये।"

नामदेवजीने फिर यमुना-नदीपर जाकर उसके जलमेंसे वैसे ही बहुतसे पलंग निकालकर बाहर पटक दिये और बादशाहसे कहा—"इनमेंसे अपना पहिचान लीजिये।"

उनका यह प्रभाव देखकर राजाके होश-हवाश ठिकाने नहीं रहे।

ऊपरके कवित्तमें नामदेवजीकी अपरिग्रह-वृत्तिपर प्रकाश डाला गया है। सच्चे साधुओंको सुवर्ण, मिट्टीके ढेले और पत्थरके टुकड़ेमें समान भाव रखना चाहिए—'समलोष्टाश्मकाञ्चनः।' यह समदृष्टि बिना भगवत्-कृपासे प्राप्त नहीं हो सकती। महाकवि बिहारीदास लिखते हैं—

> कोऊ कोटिक संग्रहो, कोऊ लाख हजार।
> मो संपति यदुपति सदा बिपति बिदारनहार॥

—कोई लाख इकट्ठा करे, कोई करोड़, लेकिन मैं तो विपत्तियोंको दूर भगानेवाले यदुपति श्रीकृष्णचन्द्रजीको ही सबसे बड़ी सम्पत्ति मानता हूँ।

भक्ति-रस-बोधिनी

> आनि परचो पाँय, प्रभु पास तें बचाय लीजै", "कीजै एक बात, कभूँ साधु न दुखाइयै"।
> लई यही मानि "फेरि कीजियै न सुधि मेरी", लीजिये सुजनि गाय मन्दिर लौं आइयै॥
> देखि द्वार भीर, पगदासी कटि बाँधी धीर, कर सों डखीर करि, चाहैं पद गाइयै।
> दावि लीनी वेई, काहू दीनी पाँच-सात चोट, कीनी धकाधकी, रिस मन में न आइये॥१३६॥

अर्थ—नामदेवजीका विलक्षण प्रभाव देखकर बादशाह उनके पैरोंपर आपड़ा और कहने लगा—"अब प्रभुके पाससे मुझे बचा लीजिये।" (सन्तकी परीक्षा लेनेमें बादशाहसे महापाप बन गया था। उसे डर था कि इस अपराधके लिए प्रभु उसे क्षमा नहीं करेंगे।)

नामदेवजीने कहा—"यदि मेरे प्रभुकी क्षमा चाहते हो तो एक काम करना कि साधुओंको कभी मत सताना।

बादशाहने यह बात मान ली। तब चलते समय नामदेवजीने यह भी कहा कि अब आगे मुझे कभी मत बुलाना।

इस प्रकार बादशाहसे छुट्टी पाकर नामदेवजीने सोचा कि पहले श्रीपण्डरीनाथजीके मन्दिरमें हाजरी देकर और उनका गुणगान करके, तब घर जाऊँगा।

मन्दिर गये, तो देखा कि दरवाजेपर दर्शनार्थियोंकी बड़ी भीड़ लगी है। उन्हें डर था कि जूते यदि बाहर उतार दिए गए, तो उन्हें कोई ले न जाय, यह डर बना रहेगा और उसके कारण दर्शनोंमें चित्त एकाग्र नहीं होगा। अतः उन्हें (एक कपड़ेमें लपेट कर) कमरमें बाँध लिया और तब दोनों हाथोंसे भीड़को हटाते हुए वे मन्दिरमें घुस गए। वहाँ आप भगवानके समक्ष खड़े होकर स्तुतिके पद गाना ही चाहते थे कि किसीने जूतियोंको देख लिया और पाँच-सात हाथ भी जमा दिये। जब और लोगोंको पता लगा, तो उन्होंने उन्हें धक्का मारकर मन्दिरसे बाहर निकाल दिया। नामदेवजीने इसका किञ्चित् भी बुरा न माना और न उन्हें लोगोंके इस व्यवहारपर क्रोध ही आया।

नामदेवजीने बादशाहसे जो कुछ कहा, वह साधु-वृत्तिके सर्वथा अनुरूप ही था। सबसे पहली बात तो यह है कि सिद्धान्तके अनुसार जिस समाजमें धर्मकी मर्यादाओंकी अवहेलना होती हो, अथवा प्रत्यक्ष-रूपसे अधर्म ही होता हो, वहाँ सज्जनोंको नहीं ठहरना चाहिए—

धर्मव्यतिक्रमो ह्यस्य समाजस्य ध्रुवं भवेत्।
यत्राधर्मः समुत्तिष्ठेन्न स्थेयं तत्र कर्हिचित्॥ (श्रीमद्भागवत)

दूसरा कारण यह था कि साधु-गण प्रपंचसे दूर ही रहते हैं, क्योंकि राजदरबारोंमें आने-जानेसे भजनमें विक्षेप होता है। कहते हैं, वृन्दावनके प्रसिद्ध महात्मा और कवि श्रीनागरीदासजीको भी सम्राट् अकबरने इसी प्रकार फतहपुर सीकरी बुलाना चाहा था और खबर भी भेजी थी, परन्तु नागरीदासजी ने अत्यन्त नम्रता-पूर्वक कहलवा दिया—

सन्तन कौं कहा सीकरी सौं काम।
आवत जात पन्हैयाँ टूटीं, बिसरि गयो हरिनाम॥

भक्ति-रस-बोधिनी

बैठे पिछवारे जाइ "कीनी जु उचित यह, लीनी जो लगाई चोट, मेरे मन भाइयें।
कान दैकें सुनो अब, चाहत न और कछु, ठौर मोकों यही, नित नेम-पद गाइयें"॥
सुनत ही आनि करि करुना-विकल भयो, फेरयो द्वार, इतै गहि मन्दिर फिराइयें।
जेतिक वे लोगी मोती आब-सी उतरि गई, भई हिये प्रीति, गहे पायें सुखदाइयें॥१३७॥

अर्थ—धक्का देकर बाहर निकाल दिये जानेके बाद नामदेवजी मन्दिरके पिछवाड़े जाकर बैठ गये और भगवानसे कहने लगे—"यह आपने अच्छा ही किया कि लोगोंसे मुझे धक्के दिलाये और मेरे शरीरको चोट पहुँचाई। मैं इसका बुरा नहीं मानता; बल्कि मुझे तो यह बहुत अच्छा लगा है; (क्योंकि मुझसे अपराध तो हुआ ही था और उसका दंड मिलना ही

चाहिए ।) पर अब ध्यान देकर मेरी प्रार्थना सुनिये । मुझे आपसे कुछ नहीं चाहिए । हाँ, इतना अवश्य चाहता हूँ कि नियम-पूर्वक जो पद मैं आपकी स्तुतिमें गाया करता हूँ, उन्हें इसी प्रकार गाता रहूँ; क्योंकि आपकी ड्यौढ़ियोंको छोड़कर मेरे लिये और कोई ऐसी जगह नहीं है जहाँ कि शरण मिले ।''

इतनी विनती करनेके बाद नामदेवजीने अपना पद सुनाया । सुनते प्रभुके हृदयमें करुणाका सागर लहराने लगा और वे अधीर होगए । उन्होंने मन्दिरकी इमारतको जड़से फेरकर उसका दरवाजा नामदेवजी की ओर कर दिया (और प्रत्यक्ष होकर नामदेवजीको दर्शन दिए ।)

यह देखकर मन्दिरके वेदपाठी (श्रोत्रिय), पंडे, पुजारी सबके मुँह इस प्रकार फीके पड़ गये मानों मोती परसे आब उतर गई हो । । उनके हृदयमें नामदेवजीके लिए एक विशाल श्रद्धा और प्रेम उत्पन्न होगया और उन्होंने उनके पैरोंमें पड़कर क्षमा-प्रार्थना की । तब कहीं जाकर उनके हृदयको शान्ति मिली ।

प्रभुके सामने नामदेवजीने जो पद गाया था, वह इस प्रकार है—

हीन है जाति मेरी यादवराय ! कलि मैं 'नामा' यहाँ काहे को पठाय ।
पातुरि नाचें, ताल-पखावज बाजें, हमारी भक्ति बीठल काहे को राचें ॥
पांडव प्रभु जू बचन सुनो जे, 'नामदेव स्वामी' दरसन दीजै ॥

भक्तका कर्त्तव्य यह है कि "तृन तें नीच अपनपौ मानें ।'' नामदेवजीमें अपनेको तुच्छ माननेकी यह भावना पूर्णरूपमें विद्यमान थी । वे कहते हैं—''प्रभो ! मैं तो नीच जातिमें पैदा हुआ हूँ, इसलिए शायद आपकी सेवाका अधिकारी नहीं हूँ । यदि ऐसी बात है, तो इस कलियुगमें, जहाँ हरि-भक्तोंको भी ऊँच-नीचकी भेद-भावनासे देखा जाता है, मुझे क्यों पैदाकर भेजा ? मुझ गरीबकी सेवा भला आपको क्यों रुचेगी ? आपको तो पखावज, मृदंग आदि अनेक वाद्योंके साथ की गई सेवा अच्छी लगती है । मेरे पास ये सब साधन कहाँसे आए ?

नामदेवजीके इन सच्चे उद्‌गारोंमें कितनी करुणा है, पर साथमें कैसा तीव्र व्यंग्य !

भक्ति-रस-बोधिनी

औचक ही घर मांझ सांझ ही अगिनि लागी, बड़ो अनुरागी, रहि गई सोऊ डारियै ।
कहै—"अहो नाथ ! सब कीजिये जु अंगीकार", हँसे सुकुमार हरि "मोहीं को निहारियै ?" ॥
"तुम्हारो भवन और सकै कौन छाइ इहाँ ?" भए यों प्रसन्न, आनि छाई आप सारियै ।
पूछै आनि लोग "कौनै छाई हो ? छवाइ लीजै, दीजै जोइ भावै", "तन मन प्रान वारियै" ॥१३८॥

अर्थ—एक दिन अकस्मात् संध्या-समय नामदेवजीके घरमें आग लग गई । आप तो बड़े अनुरागी थे और संसारके सब पदार्थोंमें भगवानको ही देखते थे । आपने क्या किया कि घरकी सब चीजोंको बटोर-बटोर कर आगमें डाल दिया और यह कहते गए—''इन सबको भी अंगीकार करिये ।''

अपने भक्तकी ऐसी भावना देखकर सुकुमार भगवान घटना-स्थलपर प्रकट होगए और हँस कर बोले—"नामदेव ! क्या अग्निमें भी मुझे ही देखते हो ?"

नामदेवने उत्तर दिया—"यह घर तो आपका ही है; इसमें सिवा आपके और दूसरा कौन आ सकता है ?"

भगवान यह सुनकर बड़े प्रसन्न हुए और हाथोंसे नामदेवका सुन्दर छप्पर छा दिया। सुबह होते ही लोगोंने वैसा सुन्दर छप्पर देखा, तो आश्चर्यमें रह गये और नामदेवजीसे पूछने लगे—"यह किसने छाया है ? जिसने यह छाया है उसे बतादो, तो हम भी छवा । जितनी मजदूरी वह माँगेगा हम उतनी ही देंगे।"

नामदेवजीने लोगोंको जवाब दिया—"ऐसे छप्पर की छवाईके लिए तन, मन, प्राण, सब देने पड़ते हैं।"

इस प्रसङ्गपर स्वयं नामदेवजीका पद देखिये—

लोग परोसिन पूछैं रे नामा किन यह छानि छवाई।
तासे अधिक मजूरी दैहों, मोहि देउ बताई॥
बैठिया प्रीति मजूरी माँगै, जो कोई छानि छवावै।
भाई बन्धु सगे सों तोरै बैठिया आपु ही आवै॥
झूँठे फल सबरी के खाये ऋषि स्थान बिसरावै।
दुर्योधन के मेवा त्यागे साग बिदुर घर खावै॥
कंचन छानि पमापट दीने प्रीति की गाँठ जुराई।
गोविन्द के गुन भने 'नामदेव' जिन यह छानि छवाई॥

भक्ति-रस-बोधिनी

सुनौ और परचै जे आए न कवित्त माँझ, बाँझ भई माता क्यों न जो न मति पागी है।
हुती एक साहु तुलादान को उछाह भयो, दयो पुर सबै, रह्यो नामदेव रागी है॥
"ल्यावौ जू बुलाइ" एक दोय तो फिराय दिये, तीसरे सों आए "कहा कहौ बड़भागी हैं"।
"कीजिये जू कछु अंगीकार मेरो भलो होय", भयो भलो तेरो, दीजै जो पै आस लागी है॥१३६॥

अर्थ—नामदेवजीकी भक्तिका परिचय देने वाले ऐसे वृत्तान्त और सुनिये जो नाभाजी के छप्पयमें नहीं आये हैं। इन चरित्रोंको सुनकर जिसकी बुद्धि (मन) भगवानके प्रेममें अनुरक्त नहीं हुआ उसकी माता वन्ध्या क्यों न हुई ?

पण्ढरपुरमें रहने वाले एक सेठको तुला-दान करनेका उत्साह हुआ। उसने (अपने आपको सोनेसे तुलवाकर) नगरके सब लोगोंको सोना बाँटा; केवल एक नामदेवजी छूट गये। सेठने आज्ञा दी—"नामदेवको बुलाकर लाओ !" नामदेवजीने एक-दो बार तो आनेसे मना कर दिया, पर तीसरी बार बुलानेपर आप गए और सेठजीसे बोले—"बड़भागी सेठ ! कहो,

क्या कहते हो ?" सेठ विनय-पूर्वक बोले—"थोड़ा-सा सोना आप भी स्वीकार करिये जिससे मेरा कल्याण हो ।" नामदेवजी ने कहा—"कल्याण तो तेरा लोगों को इतना सुवर्ण दान देनेसे ही होगया; अब मुझे ही देनेसे क्या होगा ? यदि इतनेपर भी तेरी अभिलाषा मुझे ही देनेकी है, तो ला दे ।"

भक्ति-रस-बोधिनी

जाके तुलसी है ऐसे तुलसी के पत्र माँझ लिख्यो आधो राम नाम "यासों तोल दीजियै ।"
"कहा परिहास करो ? डरो,ह्वै बवाल", "देखि होत कैसो ख्याल याकों,पूरो करो, रीझियै" ॥
ल्यायो एक काँटो, लै चढ़ायो पात सोना संग, भयो बड़ो रंग, सम होत नाहिं छीजियै ।
लई सो तराजू जामें तुलें मन पाँच-सात, जाति-पाँति हू को धन धरयो, पै न धीजियै ॥१४०॥

अर्थ—नामदेवजी का जो सर्वस्व है, ऐसे तुलसीके एक पत्तेपर आपने राम-नामका आधा 'रा' लिखकर कहा—"इसके बराबर सोना तोल दीजिये ।"

सेठने कहा—"हँसी क्यों करते हैं आप; दया करके कुछ अधिक स्वीकार करिये ।"

नामदेवजीने कहा—"जरा देखो तो सही, इसका कैसा तमाशा होता है । इस पत्तेकी बराबर सोना पूरा तो करो, तब मैं तुम पर प्रसन्न हूँगा ।"

यह सुन कर सेठ एक काँटा ले आया और एक ओर तुलसीदल और दूसरी ओर सोना चढ़ाया । परन्तु कैसा आश्चर्य कि सोना पत्तेकी बराबर बैठता ही नहीं था, बल्कि और कम हो जाता था । इसपर सेठने एक ऐसी तराजू मँगवाई जिसमें पाँच-सात मन तुल सके । उसपर सेठने अपना सारा सुवर्ण आदि सामान चढ़ा दिया और जाति-भाइयोंसे भी माँगकर उनका धन चढ़ा दिया, लेकिन वह सब तुलसीके पत्तेके बराबर नहीं बैठा ।

भक्ति-रस-बोधिनी

परयो सोच भारी, दुःख पावें नर-नारी, नामदेव जू बिचारी "एक और काम कीजिये ।
जिते व्रत-दान और स्नान किये तीरथ में करियै संकल्प या पै जल डारि दीजिये" ॥
करेऊ उपाय, पासपला भूमि गाड़े पाय, रहे वे खिसाय, कह्यौ इतनो ही लीजिये ।
लैकें कहा करें ? सरवर हू न करें, भक्ति-भाव सौं लै भरें हिये, मति अति भीजिये ॥१४१॥

अर्थ—अब तो सेठके घरके सब स्त्री-पुरुषोंको बड़ा ही सोच और दुःख हुआ कि सेठका समस्त द्रव्य चढ़ाये जानेपर भी तुलसीके एक पत्तेके बराबर नहीं हुआ । नामदेवजीने सोचा कि अभी इन्हें तुलसीकी महिमाका पूरा ज्ञान नहीं हुआ है, अतः बोले—"एक काम आप लोग और करिए । आप सबने जितने भी व्रत, उपवास आदि किये हैं और तीर्थोंमें जाकर स्नान किया है, उन सबके पुण्यका संकल्प कर उसके जलको इसपर चढ़ा दीजिये ।" उन सबने यह उपाय भी करके देख लिया, पर तुलसी-पत्र फिर भी सबसे भारी बना रहा । ऐसा लगता था

कि जिस पलड़े में पत्ता रक्खा हुआ था उसने (अङ्गदकी तरह) पैर धरतीमें गाड़ दिये हैं। अब तो सबके सब बहुत ही शर्मिन्दा हुए और नामदेवजीसे प्रार्थना करने लगे कि—"महाराज ! इतना ही स्वीकार कीजिये।" नामदेवजीने उत्तर दिया—"यह सब लेकर हम क्या करेंगे ? ये सब वस्तुएँ तो तुलसीके पत्तेकी आधी भी समानता नहीं करतीं, अर्थात् पत्तेके आधे वजनके बराबर भी नहीं होतीं। हम लोगोंका धन तो श्रीरामनामकी भक्ति है; उसीसे हमारा हृदय परिपूर्ण रहता है और हमारी (मन) बुद्धि उसीके आनन्दमें डूबी रहती है। (आप लोगोंका भी कर्त्तव्य है कि धनको तुच्छ समझकर भक्तिको अपनाएँ।)"

यहाँ पाठकोंके लाभार्थ तुलसीकी महिमाको सूचित करने वाला स्कन्द-पुराणका एक रोचक आख्यान दिया जाता है—

एक बार नारद इन्द्रलोकको गये और वहाँसे कल्पवृक्षका फूल लाकर द्वारकामें श्रीकृष्णजीको भेंट किया। उन्होंने उसे रुक्मिणीजीको दे दिया। इसपर नारदजी सत्यभामाजीके पास पहुँचे और कहने लगे कि 'भगवानका तुमपर क्या प्रेम है ? मैं स्वर्गसे कल्पवृक्षका एक फूल लाया था, वह उन्होंने तुम्हें न देकर रुक्मिणीजी को दे दिया।'

सत्यभामाजी, इसपर, श्रीकृष्णसे रूठकर बैठ गईं। श्रीकृष्ण समझ गए कि यह सब नारदजी की करतूत है। उन्होंने सत्यभामाजीको यह वचन देकर किसी प्रकार प्रसन्न किया कि मैं तुम्हें कल्पवृक्ष का पुष्प ला दूँगा।

कालान्तरमें भौमासुरको मारनेके लिए श्रीकृष्ण इन्द्रपुरी गए, तो वहाँसे फूल लेते आये और प्रतिज्ञानुसार सत्यभामाजीको दे दिया।

नारदजी फिर सत्यभामाके पास पहुँचे और बोले—"कल्पवृक्षके पुष्प पानेकी तुम्हारी अभिलाषा तो पूर्ण हुई। अब और क्या चाहिए ?"

सत्यभामाजीने कहा—"कृपाकर कोई ऐसा उपाय बताइए कि जन्म-जन्मान्तरमें हमें श्रीकृष्ण ही पति-रूपमें मिलें।"

नारदजी बोले—"नियम यह है कि जीव जैसा देता है, दूसरे जन्ममें वैसा ही पाता है। अतः यदि तुम आगेके जन्ममें श्रीकृष्णको चाहती हो, तो उन्हें ही दान करदो।"

सत्यभामाजी नारदजीकी बातोंमें आगईं और नारदजीको श्रीकृष्णका संकल्प कर दिया। नारदजी भी श्रीकृष्णको लेकर चल दिए। अब सत्यभामाजीको पता लगा कि मैंने यह क्या कर डाला ? श्रीकृष्ण तो, इस तरह, हाथसे निकल जायँगे, फिर उनके वियोगमें हम लोग जीवित कैसे रहेंगी ? यह ध्यान आते ही उन्होंने दौड़कर अपने प्यारे पतिका पीत-पट पकड़ लिया और नारदजीसे बोलीं—"हम तो इन्हें किसी तरह नहीं जाने देंगी !"

सत्यभामाजीके इस भोलेपनपर नारदजी एक बार हँसे और तब बोले—"कहीं दिया गया दान वापिस लिया जाता है ? यह क्या कर रही हैं आप ? कुछ सोचिए तो।"

सत्यभामाजी बोलीं—"यह सब मैं कुछ नहीं जानती। या तो इन्हें छोड़ जाइये या फिर कोई उपाय बताइए।"

नारदजीने कहा कि यदि श्रीकृष्णके बराबर सुवर्ण तोलकर दानमें दे दिया जाय, तो वे वापिस दिए जा सकते हैं। सत्यभामाजीने ऐसा ही किया, पर बहुत-सा सुवर्ण चढ़ा देनेपर भी श्रीकृष्ण वाला तराजूका पलड़ा भारी ही रहा। इसी बीचमें भगवान रुक्मिणीजीके महलोंमें चले गए थे और वहाँसे इस सब दृश्यको ज्ञान-चक्षुओंसे देख रहे थे। उन्होंने जब देखा कि सत्यभामाजी इस विषयको लेकर अत्यन्त व्याकुल हैं, तब रुक्मिणीजीको सारा वृत्तान्त सुनाकर बोले—"जाओ, सत्यभामाजीकी चिन्ता छुड़ाओ।" रुक्मिणीजीने तब सत्यभामाजीके पास यह सन्देश कहला भेजा कि पलड़ेमें-से सब आभूषणों को हटाकर उनकी जगहपर तुलसीका एक पत्ता रखदो।" सत्यभामाजीने ऐसा ही किया; तब कहीं श्रीकृष्णको लौटा पाईं।

भक्ति-रस-बोधिनी

किंयो रूप बांमन को दूबरो निपट अंग, भयो हिये रंग, व्रत परिचै को लीजियै।
भई एकादसी, अन्न माँगत "बहुत भूखो", "आजु तो न दैहों, भोर चाहो जिते लीजियै॥
करयो हठ भारी मिलि दोऊ, ताको सोर परयो, समझावैं नामदेव याको कहा छीजियै।
बीते जाम चारि मरि रह्यो यों पसारि पाँव, भाव पै न जाने दई हत्या नहीं छीजियै॥१४२॥

अर्थ—भगवानके मनमें एक बार यह कौतुक (रङ्ग) उदय हुआ कि नामदेव के एकादशी व्रतकी परीक्षा करनी चाहिये। ऐसा करने के लिये आपने एक अत्यन्त दुर्बल ब्राह्मणका रूप धारण कर लिया और एकादशीके आते ही नामदेवजीसे बोले—"मैं बहुत भूखा हूँ, खाने को कुछ अन्न दीजिये।" आपने कहा—"आज तो (एकादशीके कारण) किसी तरह भी भोजन के लिए अन्न नहीं दूँगा। हाँ, सवेरे जितना माँगोगे, दूँगा।"

इसपर ब्राह्मण और नामदेवजी दोनों अपनी-अपनी हठपर अड़ गये—एक कहता था अन्न लेकर रहूँगा, दूसरा यह कि किसी तरह नहीं दूँगा। अब तो इस बातका बड़ा हल्ला-गुल्ला मचा। (लोग आकर इकट्ठे हो गये) और नामदेवजीसे कहने लगे कि इस भूखेपर यदि हम क्रोध करें, तो क्या फायदा? हम तो तुम्हें ही समझाते हैं कि इसे अन्न दे दो।

लेकिन नामदेवजी नहीं माने और चार पहर बीत जानेपर भूखा ब्राह्मण पाँव फैलाकर मर गया। लोगोंने नामदेवजीकी एकादशी व्रतकी निष्ठाको नहीं समझा और कहने लगे—"इसे ब्रह्म-हत्या लगी है। यह किसी तरह भी नहीं छूटेगी।"

भक्ति-रस-बोधिनी

रचि कै चिता कों विप्र गोद लेकै बैठे जाय, दियो मुसकाय "मैं परीच्छा लीनी तेरी है।
देखी सो सचाई सुखदाई मन भाई मेरे", भए अन्तर्धान, परे पाय प्रीति हेरी है॥
जागरन माँझ हरिभक्तन को प्यास लगी, गये लैन जल, प्रेत आनि कीनी फेरी है।
फेंटि ते निकासि ताल गायो पद ततकाल, बड़ेई कृपाल रूप धरयो छबि हेरी है॥१४३॥

अर्थ—ब्राह्मणको मरा हुआ देख कर नामदेवजीने एक चिता तैयार की और मृत-शरीर को लेकर उसपर बैठ गए, ताकि ब्रह्महत्याके प्रायश्चित्त-स्वरूप देहको अग्निमें भस्म कर दें। इसी समय भगवानने प्रत्यक्ष दर्शन देकर मुस्कराते हुए कहा—"मैं तो तेरी परीक्षा ले रहा था। मैंने तेरी एकादशी-व्रतकी निष्ठाको देख लिया और उससे बड़ा आनन्दित हुआ हूँ। तेरी सचाई मुझे बड़ी प्यारी लगी है।"

यह कहकर प्रभु अन्तर्धान होगए। लोगोंने जब यह चरित्र देखा तो भक्तिसे सराबोर हो कर सबके सब नामदेवजी के पैरों पड़ गए।

एक बार एकादशीकी रातको नामदेवजीके घरमें रात्रि-जागरण (रतजगा) हो रहा था। वहाँ लोगोंको प्यास लगी। आप स्वयं एक तालाबसे जल लेने चल दिये। जलाशयके निकट एक प्रेत रहता था। नामदेवजीको आया हुआ देखकर उसने अपने साथियों-सहित उनके चारों ओर फेरी लगा कर तरह-तरह की माया फैलाना प्रारम्भ कर दिया। नामदेवजी इससे तनिक भी घबड़ाए नहीं। उलटे आप फेंटमें-से करताल (झाँझ) निकालकर एक पद गाने लग गए। दयालु भगवानने उसी समय आकर सब प्रेतोंको भगा दिया और अपने अनुपम सुन्दर रूपके दर्शन देकर नामदेवजीको कृतकृत्य किया।

इस समय नामदेवजीने जो पद गाया था, वह इस प्रकार है—

> ये आए मेरे लम्बकनाथ।
> धरती पाँव स्वर्ग लौं माथो जोजन भरि-भरि हाथ॥
> शिव सनकादिक पार न पावें तेसेइ सखा बिराजत साथ।
> नामदेवके स्वामी अन्तर्यामी कीन्हूचो मोहि सनाथ॥

इस पदमें प्रेतोंके विशाल और भयंकर आकार-प्रकारका वर्णन किया है। नामदेवजीने प्रेतोंके इस डरावने रूपमें भी भगवानको ही देखा और प्रेतके साथियोंको भगवानके सखा शिव-सनकादिक माना।

श्रीप्रियादासजीकी टीका एवं भक्त-चरिताङ्क आदि ग्रन्थोंमें श्रीनामदेवजीके जिन चरित्रों का वर्णन नहीं मिलता, वे श्रीबालकरामकी टीकाके आधारपर संक्षेपमें यहाँ दिए जाते हैं।

(१) एक बार कोई मनुष्य अपनी गाड़ीमें बहुत-सा सामान लादकर एक स्थानसे दूसरे स्थान पर ले जा रहा था। गाड़ीमें वजन अत्यधिक था। एक स्थानपर चढ़ाई आनेसे बैलोंकी गति रुक गई। गाड़ीवानने अपने चाबुकसे जब उन्हें मारा तो वे आगे बढ़नेका प्रयास करने लगे, पर गाड़ी एक इञ्च भी आगे न बढ़ी। बैलोंकी आँखें निकल आईं और वे बेहोश हो गिरकर मर गए। गाड़ीवालेने जब यह देखा तो वह छाती पीटता हुआ सिर धुन-धुनकर रोने लगा—"हाय, अब मैं क्या करूँ ? मैंने कर्ज लेकर बैल खरीदे थे। बिना बैलोंके तो अब वह व्याज भी नहीं चुक पावेगा।"

उसका करुण विलाप नामदेवजीके कानोंमें पड़ा। उनको बड़ी दया आई और बैलोंके पुनर्जीवनके लिए वे भगवानसे प्रार्थना करने लगे। देखते-ही-देखते बैल उठकर खड़े हो गए। गाड़ीवानके हर्षका ठिकाना न रहा। वह भक्तशिरोमणि नामदेवजीके चरणोंमें गिर गया और उसी दिनसे सब कुछ त्याग कर भगवानका भजन करने लगा।

(२) एक बार किसी ब्राह्मण ने भण्डारा किया और साधु तथा ब्राह्मण दोनोंको भोजन के लिये निमन्त्रण दिया। समयपर सब भोजन करनेके लिए आये, किन्तु जब ब्राह्मणोंने साधुओं के साथ नामदेव आदिको देखा तो वे बिगड़ उठे और बोले—"हम इन शूद्र जातिके मुंडियोंके साथ बैठकर भोजन नहीं कर सकते।" बहुत देर तक विवाद होता रहा। अन्तमें यह निर्णय हुआ कि पहले ब्राह्मणोंको भोजन करा दिया जाय बादमें साधुओंकी पङ्गत होगी। पर इतनेसे भी ब्राह्मणोंका द्वेष शान्त न हुआ और जब वे भोजन करने बैठे तो उन्होंने सलाह की कि भोजन करते समय पत्तलपर अधिक झूठन छोड़दें जिससे कि सब सामान समाप्त हो जायगा और इन शूद्र मुण्डियोंको भूखा ही उठ जाना पड़ेगा। हुआ भी ऐसा ही। जब ब्राह्मण भोजन करने लगे तो कुछ खाने, कुछ गिराने और कुछ इधर-उधर फेंकने लगे। उनको ऐसा करते देख अचानक आकाशसे पत्थरोंकी वर्षा होने लगी। अब ब्राह्मण डरकर भागे अपनी पत्तलोंसे; किन्तु जहाँ-जहाँ वे गये, पत्थरोंकी वर्षा वहीं होने लगी। अन्तमें परेशान होकर वे नामदेवके चरणोंमें गिर पड़े और क्षमा माँगी। वह ब्राह्मण जो भंडारा करा रहा था, भगवानसे प्रार्थना करने लगा—"हे प्रभो! यदि नामदेव सच्चे भक्त हैं तो पत्थरोंकी वर्षा अभी बन्द हो जाय।" तुरन्त ही पत्थर बरसना बंद हो गया।

अब जब फिरसे पंगत बैठानेकी बात हुई तो ब्राह्मण बोले—"महाराज! आज तो सामग्री हमने खराब करदी है। कल हम सबकी ओरसे रसोई तैयार होगी, तब आप लोग भोजन करना। यह सुनकर नामदेव बोले—"कल तो होगी ही, पर पंगत आज भी होगी और सब भरपेट भोजन करेंगे।" नामदेव भंडारमें गए। सामान बिलकुल थोड़ा था, पर वे परातोंपर परात और टोकरों पर टोकरे भरकर देने लगे। सभी साधु-ब्राह्मणोंने भोजन किया, किन्तु सामान की कमी नहीं हुई।

दूसरे दिन सभी ब्राह्मणों ने रसोई तैयार की और पहले वैष्णव-सन्तोंकी पंगत बिठाई गई। ब्राह्मण प्रेम और श्रद्धासे द्वेष-रहित हो उनको भोजन कराने लगे। उसी समय आकाश-वाणी हुई—

ऐसो भाव रखो द्विज बेवा। वैष्णवसे मत रोष करेवा॥
वैष्णव हैं सो म्हारे शरीरा। जो सब तज मोसूँ रत धीरा॥
द्विज क्षत्रिय शूद्र चमारा। मोहि भजै सो वैष्णव प्यारा॥
मेरे नाहिं जाति अधिकारा। पारस परस धातु हिमसारा॥

नामदेव जन मेरो देहा । यामहि मत आनहु सन्देहा ॥
पूरब दिस तुम दीयहि ठाना । तातें मैं कंकर बरसाना ॥
अब वैष्णव सूं प्रीति उदीरा । तुम पै बरसो चन्दन नीरा ॥

(३) एक ब्राह्मणी नामदेवजीके सत्संगमें आया करती थी । उसका पति उसे रोकता और अनेक प्रकार की गाली-गलौज करके उसे कलङ्किनी बतलाता । एकदिन दैवयोग से ब्राह्मणका पुत्र मर गया । अब तो ब्राह्मण अत्यन्त क्रुद्ध होकर अपनी पत्नीसे कहने लगा—"यह सब उस दर्जीकी सङ्गति का फल भोगना पड़ रहा है । अब तू इसको लेकर मेरे घरसे निकल जा और उसीके पास जाकर रह ।" ब्राह्मणने मार-कूटकर अपनी पत्नीको घरसे निकाल दिया । बेचारी ब्राह्मणी मृत शिशुको गोदमें लेकर नामदेवके पास आई और सारा वृत्तान्त कह सुनाया । नामदेवने थोड़ा-सा चरणामृत लिया और मरे हुए बालकके ऊपर छिड़क दिया । उसी क्षण बालक जी उठा । तभी वह ब्राह्मण भी वहीं आगया । ब्राह्मणी नामदेवके चरणोंमें गिर गई और बोली—"महाराज ! मैं तो अब पुत्र-सहित वैरागिन होऊँगी । इस अभक्त पतिके साथ रहकर मैं जिन्दा नहीं रह सकती ।" ब्राह्मण अपनी आँखोंसे नामदेवजीका चमत्कार देख चुका था । वह तुरन्त ही उनके चरणोंमें गिर पड़ा और क्षमा माँगी । उसी दिनसे वह भी नामदेवमें श्रद्धा रखने लगा और भगवानका भक्त हो गया ।

(४) एक गरीब ब्राह्मण नामदेवजीका प्रेमी सत्सङ्गी था । जब उसके लड़केका विवाह निश्चित हुआ तो उसे पैसेकी आवश्यकता पड़ी । वह बेचारा बड़ा घबड़ा-सा रहा था । एक दिन उसकी पत्नीने नामदेवकी माँसे कहा—"लड़केके विवाहके दिन नजदीक आगए हैं और खर्चेका कोई इन्तजाम हुआ नहीं । क्या करें ?"

नामदेवजीने ब्राह्मणीकी यह बात सुन ली । वे बोले—"चिन्ता करनेकी कोई बात नहीं । भगवान सब भला करेंगे ।" ब्राह्मणके अनुरोधपर नामदेवजी भी विवाहमें गये । ब्राह्मणके पास जो कुछ भी थोड़ा बहुत धन था, वह नामदेवजीको सौंप दिया और कहा—"मेरे पास तो बस इतना ही धन है ।" नामदेवजीने वह थैली अपने हाथमें ले ली और बोले—"अच्छा, कोई बात नहीं तुम अपना काम शुरू करो ।"

विवाह-कार्य आरम्भ हुआ । नामदेवजीने मुँह-माँगा खर्च किया । इतनेपर भी बरातियों में-से एकने नामदेवसे कहा—"महाराज ! ये ब्राह्मण आपके ही हैं । कुछ आप अपनी गाँठसे भी खर्च कीजिए ।" यह सुनकर नामदेवजीने अपने प्रभुका स्मरण किया और चारों ओर रुपयों की वर्षा होने लगी । जय-जयकारसे आकाश गूँज उठा ।

विवाह-कार्य सम्पन्न होगया और बारात लौट पड़ी । रास्तेमें विश्रामके लिए सब व्यक्ति एक छायादार वृक्षके नीचे ठहर गये । कुछ समयमें एक मुसलमानोंकी बारात भी वहाँ आकर

ठहर गई। अचानक वहाँ एक गिरगिट आ निकला। मुसलमान उसे मारनेको लपके। नामदेव-जीने मना किया, पर वे न माने। अन्तमें उन्होंने अपने प्रभु का स्मरण किया। उसी समय हजारों बड़े-बड़े विकराल गिरगिट वहाँ पैदा होगए और यवनोंके नाक-कान नोंचने लगे। अन्त में कोई चारा बचनेका न देखकर यवन हाहाकार करते हुए नामदेवके चरणोंमें गिर पड़े। तब नामदेवजीने ही उनकी रक्षा की।

(५) श्रीविसोबा खेचर नामदेवजीके गुरु कैसे हुए, इस सम्बन्धमें एक बड़ी सुन्दर वार्ता है। एक बार काशी-आदिकी यात्रासे लौटकर ज्ञानदेव, नामदेव आदि सन्त परमभक्त गोरा कुम्हार के यहाँ ठहरे हुए थे।

गोराजीको सब लोग चाचा कहते थे। एक दिन मुक्ताबाई उनके घर आई। उसकी निगाह बर्तन बनानेकी लकड़ीकी थापीपर गई। उसने उसे उठाया और गोराजीसे बोली—"चाचा! यह किस काम आती है?" गोराजीने उत्तर दिया—"बेटी! यह थापी है, कच्चे-पक्के बर्तनों की पहिचान इससे की जाती है।" मुक्ताबाईने फिर पूछा—"हम लोग भी तो बड़े ही हैं, क्या हमारी कच्चाई-पक्काईका पता भी इससे लग सकता है?" गोराजी बोले—"हाँ, हाँ, क्यों नहीं?" यह कहकर उन्होंने थापी उठाई और चल दिये जहाँ सन्त ठहरे हुए थे।

जिस समय थापी हाथमें लेकर गोराजी सन्तोंके पास पहुँचे उस समय वे भोजन कर रहे थे। गोराजीने एक ओरसे सबके माथेपर थापी मारना प्रारम्भ कर दिया। और सन्त तो यही सोचते रहे कि यह क्या हो रहा है, पर जब नामदेवजी पर थापी पड़ी तो उनको यह व्यवहार बहुत बुरा लगा और वे क्रोधित होकर बड़बड़ाने लगे। गोराजी ने कहा—"इन भक्तोंमें यह (नामदेव) कच्चा है।" फिर नामदेवसे बोले—"अभी तुम भक्त अवश्य हो, किन्तु हो कच्चे। जब तक तुम गुरुकी शरणमें नहीं जाओगे, तब तक तुम्हारे हृदयका अहंकार दूर नहीं होगा और तुम पक्के सन्त भी नहीं होओगे।"

नामदेवजीको बड़ा दुःख हुआ। वे पण्ढरपुर लौट आए और विठ्ठल भगवानसे अपना दुःख निवेदन किया। भगवानने कहा—"हाँ, तो इसमें गोराजीने असत्य क्या कहा है? जब तक गुरुकी शरणमें नहीं जाओगे तब तक तुम कच्चे ही रहोगे।" नामदेवजीने उदास होकर कहा—"प्रभो! आप भी ऐसी बात करते हैं? जिसको आपके दर्शन होगए उसे फिर गुरु करनेकी क्या आवश्यकता है?" इसपर भगवानने उत्तर दिया—"अरे भैया! गुरुकी आवश्यकता तो मुझे भी पड़ती है और मैंने भी यथासमय गुरु बनाए हैं। मैं तो तेरे सदा साथ हूँ ही, पर तुझे किसी मनुष्य-देहधारी महापुरुषको अपना गुरु मानकर उनके सामने नत होना होगा; तभी तेरे हृदयका अभिमान दूर होगा।"

नामदेवजीने पूछा—"भगवन्! तब आपही बतलाइए मैं किस महापुरुषका शिष्य बनूँ?" भगवानने उन्हें विसोवा खेचरका पता बतला दिया और नामदेवजी उन्हींको तलाश करने चल दिए।

बहुत दूर जङ्गलको पार कर जानेके बाद वे पूछते-ताछते एक पहाड़की कन्दराके पास पहुँचे। जब वे उसके अन्दर गए तो उन्होंने देखा कि एक व्यक्ति शिवजी की प्रतिमापर पैर रखकर सो रहा है। उसे देखते ही नामदेवजीके मनमें विकल्प पैदा होगया—"क्या यही विसोवा खेचर हैं?···नहीं,···नहीं,···यह तो कोई नास्तिक है जो भगवान शङ्करके ऊपर पैर रखकर सो रहा है। यह तो भगवानने भी मुझसे हँसी की है।" इस प्रकार संकल्प-विकल्पोंमें पड़ कर जब नामदेवजीसे नहीं रहा गया तो वे बोले—"अरे भाई तुम कौन हो? देखो तो, शङ्कर भगवान पर पैर रखकर सो रहे हो?"

नामदेवकी बात सुनकर विसोवा खेचर ने कहा—"अच्छा! मेरे पैर भगवान शङ्करकी प्रतिमाके ऊपर रखे हैं क्या? तो तुम ऐसा करो कि उनको उठाकर अलग रख दो।"

नामदेवजीने उनके पैरोंको उठाकर दूसरे स्थानपर रख दिया। पर वहाँ भी पैरों के नीचे श्रीशङ्करकी मूर्ति पैदा हो गई। इस प्रकार नामदेवने कई स्थानोंपर उनके पैरोंको उठा-उठाकर रखा, पर सब जगह ही शिवजीकी प्रतिमा आकर उत्पन्न हो जाती थी।

नामदेवजी के आश्चर्य का ठिकाना न रहा। वे पास ही किंकर्त्तव्यविमूढ़-से खड़े होगए। उसी समय विसोवा खेचरने नामदेवको पुकार कर कहा—"विट्ठल भगवानने तुमको दीक्षा लेनेको भेजा था न? आओ, तुमको अब दीक्षा मिल गई।"

इस चमत्कारको देखकर और दीक्षा मिलनेकी बातको सुनकर नामदेवको और भी आश्चर्य हुआ और अत्यन्त श्रद्धावनत होकर बोले—"महाराज! आप मुझे दीक्षा दीजिए, श्रीविट्ठल भगवानकी आज्ञासे मैं आपके पास आया हूँ। मैं किसी भी प्रकारसे अब निगुरा ही वापस नहीं लौटूँगा।" विसोवा खेचरने पूछा—"अभी हालकी घटनासे तुमको क्या पता लगा?" नामदेवने उत्तर दिया—"यही कि भगवान सर्वत्र व्याप्त हैं।"

"तो बस, और फिर क्या चाहते हो?" विसोवा खेचरने कहा। अब नामदेवजी को ज्ञान हुआ और तुरन्त ही श्रीगोराजीके द्वारा की गई घटनाका ध्यान हो आया। तब उनको मालूम पड़ा कि जब सर्वत्र ही भगवान व्याप्त हैं तब थापी खाकर गोराके ऊपर क्रोध करना मेरा अज्ञान ही था।

नामदेवजी गुरुदेवको प्रणाम कर पुनः पण्ढरपुरको चल दिए। लौटते समय उनको रास्तेमें देर होगई। पूजा-सेवाका समय होगया था, अतः जङ्गलमें ही समस्त कार्योंसे निवृत्त होकर भोजन बनाने लगे। भोजन जब बन चुका तो आप लघुशंका करने चले गए। इतने ही में एक

कुत्ता आया और रोटियोंको मुँह में दबा कर चल दिया। नामदेवजीने जब यह देखा तो घीकी कटोरी लेकर उसके पीछे दौड़ते हुए बोले—"प्रभो ! रूखी रोटियाँ हैं ये। तनिक इन्हें चुपड़ दूँ, तब भोग लगाइएगा।" नामदेवकी इस प्रभु-व्यापकताको देखकर भगवानको उसी स्थानपर प्रकट हो जाना पड़ा। नामदेवजी अपने प्रभुका साक्षात् दर्शन करके परमानन्दित हुए।

नामदेवजीने कुत्तेके पीछे भागते समय जो पद गाया था, वह इस प्रकार है :—

आये मेरे अँधेरे घर के मदनराय। चाकी चाटैं चून न खावैं॥
तुरगु हरग प्रभुजी की चाल। पूँछ हलै ज्यों जौ की बाल॥
चूल्हे माहि जु प्रभुजी की सेज। चौके कीनीं अधिके तेज॥
कातिक में जू प्रभुजी को भोग। लै लै लकुट खिलावैं लोग॥
तीन ताप प्रभु मेटन जोग। नामदेव स्वामी बन्यो संयोग॥

—•—

मूल (छप्पय)

(श्रीजयदेवजी)

प्रचुर भयो तिहुँ लोक गीतगोविन्द उजागर।
कोक काव्य नव रस सरस शृंगार को सागर॥
अष्टपदी अभ्यास करै तेहि बुद्धि बढ़ावै।
(श्री) राधारवन प्रसन्न सुनन तहाँ निश्चै आवै॥
सन्त सरोरुह षंड कों पद्मापति सुख जनक रवि।
जैदेव कवी नृप चक्कवै खंडमंडलेश्वर आन कवि॥१७०॥

अर्थ— श्रीजयदेव कवि द्वारा रचित 'गीतगोविन्द' काव्य तीनों लोकोंमें अत्यन्त प्रसिद्ध हुआ। यह रचना काम-शास्त्रका, काव्यके नव रसोंका तथा सरस शृङ्गारका समुद्र है। इनकी अष्टपदियोंका जो कोई अध्ययन करता है उसका बुद्धि-विलास-बढ़ता है तथा जो उनका प्रेम सहित गान करता है, उसे सुनने के लिए भगवान राधिकारमण प्रसन्न होकर अवश्य आते हैं।

पद्मावतीके पति श्रीजयदेवजी सन्तरूपी कमलोंके समूहको आनन्दित करनेके लिए सूर्यके समान प्रकट हुए। संस्कृतके कवियोंके आप सम्राट् थे। बाकी सब कवि आपके सामने खंडेश्वर अथवा मण्डलेश्वर (प्रादेशिक शासक) के समान थे।

श्रीजयदेवजीका जन्म बङ्गालके वीरभूमि जिलेके अन्तर्गत किन्दुबिल्व नामक गाँवमें हुआ था। आपके पिताका नाम भोजदेव तथा माताका नाम रामादेवी था।

ये राजा लक्ष्मणसेनके समय में हुए बताए जाते हैं। डा० बुलरने राजा लक्ष्मणसेन और राजा

वैद्यको एक ही व्यक्ति माना है। राजा वैद्यके शिला-लेखोंमें विक्रम सं० ११७३ (सन् १११६ ई०) पड़ा है, अतः अनुमान यह है कि जयदेव बारहवीं शताब्दीमें रहे होंगे।

उन्होंने अपने अनुपम ग्रन्थ 'गीतगोविन्द' के प्रारंभमें अपनी कविताके सम्बन्धमें लिखा है—

यदि हरिस्मरणे सरसं मनो यदि विलासकलासु कुतूहलम्।
मधुरकोमलकान्तपदावलीं शृणु तदा जयदेव-सरस्वतीम्॥

—हरिका स्मरण करके यदि अपने मनको रसपूर्ण बनाना चाहते हो और यदि भगवानकी लीला-कथाओंके प्रति उत्कण्ठा है, तो जयदेवकी वाणीकी मधुर, कोमल और सुन्दर पदावलीको सुनो।

अपनी कविताके सम्बन्धमें इस प्रकार कहना दर्पोक्ति लगती है, पर गीतगोविन्दको पढ़नेसे अनुभव होगा कि उनके इस कथनमें कहीं भी अत्युक्ति नहीं है। जयदेवजीके बाद राधा-कृष्णकी लीलाओंके क्षेत्रमें जिन्होंने सरस गङ्गा बहाई है, वे मिथला के कोकिल महाकवि विद्यापति ही हैं अथवा हितहरिवंशजी।

भक्ति-रस-बोधिनी

किन्दुबिल्व गाँव, तामें भए कबिराज राज, भरयो रसराज हिये मन मन चाखियै।
दिन दिन प्रति रूख रूख तर जाइ रहैं, गहैं एक गुदरी, कमंडल कों राखियै॥
कही देवे बिप्रसुता जगन्नाथदेव जू कों भयौ वाको समैं, चल्यो दैन प्रभु भाखियै।
"रसिक जैदेव नाम मेरोई सरूप, ताहि देवो ततकाल अहो मेरी कहि साखियै॥१४४॥

अर्थ—कवि-सम्राट् जयदेवजी 'किन्दुबिल्व' नामक बंगालके एक गाँवमें पैदा हुए थे। आपका हृदय रसोंके राजा, अर्थात् शृङ्गार-रससे परिपूर्ण था, परन्तु विरक्त इस प्रकारके थे कि प्रतिदिन एक नवीन पेड़के नीचे जाकर रहते थे। दैनिक आवश्यकताओंको पूर्ण करने के लिए सिवा एक गुदड़ी और कमण्डलुके आप कुछ साथ नहीं रखते थे। एक बार एक ब्राह्मण ने अपनी पुत्रीको श्रीजगन्नाथजीके भेंट चढ़ानेकी प्रतिज्ञा की थी, सो जब लड़की सयानी हुई और उसे भेंट करने का समय आया, तो वह प्रभु श्रीजगन्नाथजी के दरबारमें पहुँचा और अपनी इच्छा प्रकट की। उसी समय प्रभुने उसे आज्ञा दी कि जयदेव नामक एक रसिक कवि मेरे ही स्वरूप हैं; उन्हें इस अपनी कन्याको दे दो और उनसे कह देना कि मेरी ऐसी ही आज्ञा हुई है।

एक शुद्ध विरक्तकी जीवन-चर्या ऐसी ही होनी चाहिए जैसी कि जयदेवजीकी थी। श्रीमद्भागवत में लिखा है—

चीराणि किं पथि न सन्ति दिशन्ति भिक्षां नैवाङ्घ्रिपाः परभृतः सरितोऽप्यशुष्यन्।
रुद्धा गुहाः किमजितोऽवति नोपसन्नान्, कस्माद् भजन्ति कवयो धनदुर्मदान्धान्॥

—क्या रास्तेमें पड़े हुए फटे-पुराने कपड़े नहीं मिलते? क्या वृक्ष फलोंकी भिक्षा नहीं देते? क्या दूसरोंका पालन करनेवाली नदियाँ सूख गई? क्या गुफाएँ घिर गई? क्या भगवान अब आपत्तिमें पड़े हुए लोगोंकी रक्षा नहीं करते? फिर विद्वान् लोग उन लोगोंकी खुशामद क्यों करते हैं जो मदके कारण अन्धे होगए हैं?

इसी श्लोकका सुन्दर पद्यानुवाद देखिए—

> मीत ! जो सीत सतावे सरीर, तो चीर लै पंथ के कन्था बनाइये।
> प्यास लगै, बहतो जल पीजिये, भूख लगै फल रूख के खाइये॥
> छाँह चहै तो गुहा गिरि की गहि, काहू सों आस न रंचक पाइये।
> क्यों धन-अन्ध पै जाइ सुहाइ, किलै हित आपनपै को दिखाइये॥

भक्ति-रस-बोधिनी

> चल्यो द्विज तहाँ जहाँ बैठे कविराज राज "अहो महाराज ! मेरी सुता यह लीजियै।"
> "कीजियै विचार, अधिकार, विसतार जाके, ताहि कों निहारि सुकुमारि यह दीजियै॥"
> "जगन्नाथदेव जू की आज्ञा प्रतिपाल करो, टरो मति धरो हिये, ना तो दोष भीजियै।"
> "उनको हजार सोहैं, हमको पहार एक, ताते फिर जावो, तुम्हैं कहा कहि खीजियै॥"१४५॥

अर्थ—श्रीजगन्नाथजीकी आज्ञा पाकर ब्राह्मण उस जगह पहुँचा जहाँ कवियोंके मुकुट जयदेवजी विराजमान थे और बोला—"हे महाराज ! इस मेरी पुत्रीको पत्नीके रूपमें स्वीकार कीजिए।"

जयदेवजीने कहा—"तनिक विचार करके देखिये। जिस मनुष्यको कन्या लेनेका अधिकार है या जिसके यहाँ सुख-सम्पत्तिका विस्तार है, उसे यह सुन्दरी कन्या दीजिये।"

ब्राह्मणने इसपर कहा—"मैं तो प्रभु जगन्नाथ स्वामीकी आज्ञासे यहाँ आया हूँ। आपका कर्त्तव्य है कि उनकी आज्ञाका पालन करें। मैं कहता हूँ, आप इस कन्याको स्वीकार करनेकी बुद्धिको हृदयमें धारण करिये, नहीं तो प्रभुकी आज्ञाको भङ्ग करनेका अपराध आपको लगेगा।"

जयदेवजी बोले—"जगन्नाथजीकी आज्ञाकी बात छोड़िए। उनको तो हजार स्त्रियाँ भी शोभा देती हैं; हमारे लिए तो एक ही स्त्री पहाड़के समान भार हो जायगी। अतः आप लौट जाइए। भला, इससे ज्यादा और क्या कहूँ ? ज्यादा कहनेसे आप नाराज हो जायँगे।"

भक्ति-रस-बोधिनी

> सुता सों कहत "तुम बैठि रहो याही ठौर, आज्ञा सिरमौर मेरे नाहीं जाति टारी है।"
> चल्यो अनखाइ समझाइ हारे बातनि सों, "मन तू समझ, कहा कीजै, सोच भारी है॥"
> बोले द्विज बालकी सों "आपनो विचार करो, धरो हिये ज्ञान, मोपै जात न सँभारी है।"
> बोली कर जोरि "मेरो जोरु न चलत कछू, चाहो सोई होहु, यह वारिफेरि डारी है॥"१४६॥

अर्थ—ब्राह्मण तब अपनी पुत्रीसे बोला—"तुम इसी जगहपर बैठी रहो, क्योंकि मैं तीनों लोकोंके शिरोमणि अपने प्रभु श्रीजगन्नाथजीकी आज्ञाका उल्लंघन नहीं कर सकता।" यह कह कर और गुस्सा होकर ब्राह्मण चल दिया। जयदेवजीने अनेक प्रकारकी बातें कह कर उसे समझाया, लेकिन जब वह नहीं माना, तो हार कर चुप बैठ रहे। अब वे अपने मनसे कहने लगे—"रे मन ! तू ही विचार कर कि क्या करना चाहिए। यह तो बड़ा धर्म-संकट आपड़ा।"

कुछ देर ठहर कर वे ब्राह्मण-बालिकासे बोले—"तुम स्वयं ही विचार कर देखो कि मैं पति बननेके किस प्रकार योग्य हूँ और तब जैसा करना है वैसा निर्णय करो। कम-से-कम मुझपर तो तुम्हारा उत्तरदायित्व सँभाला नहीं जायगा।"

ब्राह्मण-बालिकाने हाथ जोड़कर उत्तर दिया—"मेरा वश तो कुछ चलता नहीं है। चाहे जो कुछ हो (आप त्यागें या स्वीकार करें), मैं तो अपनेको आपपर न्यौछावर कर चुकी।"

भक्ति-रस-बोधिनी

जानी जब भई तिया, कियो प्रभु जोर जोपै, तोपै एक झोंपरी की छाया करि लीजिये।
भई तब छाया, श्याम-सेवा पधराय लई, "भई इक पोथी मैं बनाऊँ," मन कीजिये॥
भयो जू प्रगट गीत सरस गोविन्द जू को, मान में प्रसंग सीस मंडन सो दीजिये।
यही एक पद मुख निकसत सोच परचो, धरचो कैसे जात? लाल लिख्यो मति रीझिये॥१४७॥

अर्थ—पद्मावतीके पातिव्रत्य-भावसे भरे हुए उत्तरको सुनकर जब जयदेवजीने जान लिया कि यह तो मेरी पत्नी हो गई और प्रभु श्रीजगन्नाथजीने अपने अधिकारके बलका प्रयोग अन्तमें कर ही डाला, तो यही उचित समझा कि गृहस्थ-धर्मका पालन करनेके लिए एक झोंपड़ी बनाली जाय। झोंपड़ी बन जानेके उपरान्त जब एक जगह बैठनेका स्थान निश्चित होगया, तो उसमें सेवाके लिए श्यामसुन्दरकी एक प्रतिमा स्थापित कर दी। अब आपने यह निश्चय किया कि एक ग्रन्थकी रचना करनी चाहिए। उसीके फलस्वरूप अत्यन्त सरस "गीतगोविन्द" काव्यका प्रादुर्भाव हुआ।

एक बार गीतगोविन्दमें प्रियाजीके मानका प्रसंग वर्णन करते हुए आपने निम्नलिखित पद्य बनाया—

स्थलकमलगञ्जनं मम हृदयरञ्जनं जनितरतिरङ्गपरभागम्॥
भण मसृणवाणि करवाणि चरणद्वयं सरसलसदलक्तकरागम्॥
स्मरगरलखण्डनं मम शिरसि मण्डनं देहि मे पदपल्लवमुदारम्॥

—प्रिये! गुलाबके फूलके अभिमानको चूर्ण करनेवाले, मेरे हृदयको आनन्दित करनेवाले, काम-भावनाको उत्पन्न करनेवाले आपके चरण-युगलको क्या मैं सहलाऊँ? (जो कुछ भी हो) काम-रूपी विषको उतारनेवाले मेरे मस्तकके भूषण अपने पदपल्लवको मेरे सिर पर रख दीजिए।

अपने मुखसे पदका अन्तिम चरण (देहि मे पदपल्लवमुदारम्) निकलते ही जयदेवजी चिन्तामें पड़ गए कि ऐसी बातको कैसे लिखा जाय।

यह सोचते-सोचते आप स्नान करने चले गए। भगवानके मस्तकपर प्रियाजीका चरण-कमल रखनेकी बातके लिखनेका उनका साहस नहीं हुआ। लेकिन स्नानसे लौटने पर क्या देखते हैं कि जिस चरणको लिखनेमें उन्हें संकोच हो रहा था, वही पुस्तकमें लिखा रक्खा है।

जयदेवजीने अपनी स्त्री पद्मावतीसे जब पूछा कि यह कौन लिख गया है, तब उन्होंने उत्तर दिया—"अभी-अभी आप स्वयं ही तो लिखकर गए हैं !" अब उन्हें पक्का निश्चय हो गया कि यह पादपूर्ति श्रीश्यामसुन्दर अपने हाथ से कर गए हैं। आप यह जानकर बड़े प्रसन्न हुए कि यदि मैंने ऐसा सोचा था, तो कुछ अनुचित नहीं किया था, क्योंकि श्यामसुन्दर की स्वयंकी भावना भी तो ऐसी ही निकली।

भक्ति-रस-बोधिनी

नीलाचल धाम तामैं पंडित नृपति एक, करी यही नाम धरि पोथी सुखदाइयै।
द्विजन बुलाय कही "यही है प्रसिद्ध करो, लिखि-लिखि पढ़ौ देस देसनि चलाइयै ॥"
बोले मुसुकाय विप्र क्षिप्र सो दिखाइ दई "नई यह कोऊ मति अति भरमाइयै।"
धरी दोउ मन्दिर मैं जगन्नाथदेवजी के, दीनी यह डारि, वह हार लपटाइयै ॥१४८॥

अर्थ—नीलाचल धाम (जगन्नाथ धाम) का राजा पंडित था। उसने भी 'गीतगोविन्द' नामक एक सुन्दर पुस्तक बनाई और ब्राह्मणोंको बुलाकर कहा—"यह वही 'गीतगोविन्द' है। आप लोग इसकी प्रतिलिपियाँ कर लीजिये और इसे पढ़िये तथा देश-देशान्तरमें इसका प्रचार करिये।" यह सुनकर ब्राह्मण मुस्कराये और असली 'गीतगोविन्द' को निकाल कर दिखाते हुए बोले—"राजन् ! 'गीतगोविन्द' तो यह है। आपवाला तो कोई नया 'गीतगोविन्द' है। इसे देखकर तो हमारी बुद्धि भ्रममें पड़ गई है।" बादमें दोनों पुस्तकोंको जगन्नाथजीके मन्दिरमें रख दिया गया। प्रभुने राजावाली पुस्तकको तो दूर फेंक दिया और जयदेव-रचितको अपने वक्षःस्थलका हार बना लिया—अथवा उसके चारों ओर अपना प्रसादी हार लपेट दिया।

भक्ति-रस-बोधिनी

परयो सोच भारी नृप निपट खिसानो भयो, गयो उठि सागर मैं "बूड़ौं यही बात है।
अति अपमान कियो, कियो मैं बखान सोई, गोई जात कैसे", आँच लागी गात-गात है ॥
आज्ञा प्रभु दई "मत बूड़ै तू समुद्र माँझ, दूसरो न ग्रन्थ वैसो, वृथा तनुपात है।
द्वादस श्लोक सर्ग दीजे सर्ग द्वादस मैं, ताहि संग चलैं जा की ख्याति पात-पात है ॥१४९॥

अर्थ—प्रभु जगन्नाथजीके द्वारा अपनी पुस्तकका इस प्रकार परित्याग देख कर राजाको चिन्ता हुई और वह खिसियाना रह गया। ग्लानिमें भरकर वह समुद्रकी ओर चल दिया और उसने निश्चय कर लिया कि अब मैं डूब कर प्राण दे दूँगा। मैंने तो गीतगोविन्दमें उन्हीं भावों को लेकर कविता की है जिन्हें कि जयदेवजीने व्यक्त किया है; फिर भी मेरा प्रभुने इतना अपमान किया ! मेरा रोम-रोम अपमान की आगसे जल रहा है। इसे मैं किस प्रकार छिपाऊँ ?

जब राजा डूबने चला तो प्रभु जगन्नाथजीने प्रकट होकर कहा—"राजन् ! डूबनेकी जरूरत नहीं है। जयदेवजीने जो रचना की है उस-जैसी न तो तुम्हारी यह रचना है और न किसी दूसरे की हो सकती है। ऐसी दशामें तुम्हारा शरीर त्याग करना व्यर्थ है। तुम एक

काम करो। अपनी रचनामेंसे बारह सर्वोत्तम श्लोक जयदेव-कृत 'गीतगोविन्द' के बारहवें सर्ग में मिला दो। इस रीतिसे तुम्हारे बनाये हुए श्लोक भी उस 'गीतगोविन्द' के साथ जनतामें प्रचलित हो जायँगे जिसकी प्रसिद्धि पत्ते-पत्तेमें, अर्थात् सर्वत्र होगई है।

भक्ति-रस-बोधिनी

सुता एक माली की जु बैंगन की बारी माँझ तोरे 'बनमाली' गावै कथा सर्ग पाँच की।
डोलें जगन्नाथ पाछें, काछें अङ्ग मिहीं झँगा, आछे कहि घूमें सुधि आवै विरहाँच की॥
फट्यो पट देखि नृप पूछी "अहो भयो कहा?" "जानत न हम", "अब कहो बात साँच की"।
प्रभु ही जनाई, "मनभाई मेरे वही गाथा", ल्याए वही बालकी कौं पालकी मैं नाँच की॥१५०॥

अर्थ—एक दिन किसी मालीकी लड़की बैंगनकी बारीमें बैंगन तोड़ती हुई 'गीतगोविन्द' के पञ्चम सर्गका 'धीरसमीरे यमुनातीरे वसति वने वनमाली' यह पद गारही थी। इस पदको सुनकर श्रीजगन्नाथ प्रभु इतने मुग्ध हुए कि वे अपने श्रीअङ्गपर एक महीन जामा पहिने हुए उस लड़कीके पीछे-पीछे फिरने लगे और "बहुत अच्छा!" कह-कह कर उस पदकी प्रशंसा करने लगे। ऐसा करते हुए प्रभुको स्मरण हो आया कि मानिनी राधाके वियोगमें वे किस प्रकार मानों आग से जला करते थे।

मालीकी कन्याके पीछे-पीछे बेसुध होकर घूमनेके कारण जगन्नाथजीका झगा जगह-जगहसे फट गया था और आप उसे ही पहिने हुए मन्दिर लौट आये। ठाकुरजीके वस्त्रको फटा हुआ देख कर पुरुषोत्तमपुरीके राजाने पुजारियोंसे पूछा—"ठाकुरके ये वस्त्र कैसे फट गए? ठीक-ठीक बताओ", तो उन्होंने उत्तर दिया—"हमें कुछ नहीं मालूम।"

प्रभुने तब राजाकी शंकाको दूर करनेके लिए स्वयं ही बता दिया कि किस प्रकार वे बैंगन की बाड़ीमें घूमते फिरे थे। अन्तमें वे राजासे बोले—मुझे वह प्रसंग बड़ा सुन्दर लगा।"

प्रभुकी इच्छाको समझ कर राजाने उस मालीकी कन्याको पालकीमें बिठा कर बुलाया। लड़कीने मन्दिरमें पहुँच कर नाचते हुए वही पद प्रभुको सुनाया और उन्हें प्रसन्न किया।

भक्ति-रस-बोधिनी

फेरी नृप डौंडी यह औंडी बात जानि महा, कही "राजा रंक पढ़ें नीकी ठौर जानि कैं।
अक्षर मधुर और मधुर स्वरनि ही सों गावें जब लाल प्यारी ढिग ही लै मानि कैं॥"
सुनि यह रीति एक मुगलने धारि लई, पढ़ै चढ़ै घोड़े आगे स्यामरूप ठानिकैं।
पोथी को प्रताप स्वर्ग गावत हैं देववधू, आपही जु रीझि लिख्यो निज कर आनि कैं॥१५१॥

अर्थ—'गीतगोविन्द' के गानको अत्यन्त रहस्य जानकर जगन्नाथपुरीके राजाने नगरमें इस आशयका ढिंढोरा पिटवा दिया कि इस ग्रंथको जो कोई पढ़े, चाहे वह धनी हो या निर्धन, उपयुक्त स्थान (देवालय आदि) में पढ़े और जब उसके पदोंको गावे तो प्रत्येक अक्षरको स्पष्ट

उच्चारण करते हुए मधुर स्वरसे गावे और ऐसी भावना अपने मनमें कर ले कि प्यारी राधिका और श्यामसुन्दर पासमें ही विराजमान होकर सुन रहे हैं।

इस ढिंढोराको एक यवन-सरदारने भी सुना और अपने मनमें यह बात रख ली। वह घोड़ेपर चढ़े ही चढ़े, मनमें यह निश्चित भावना रख कर कि जीनके आगेके भागमें श्यामसुन्दर विराज रहे हैं, 'गीतगोविन्द' के पद गाया करता था।

'गीतगोविन्द' ग्रन्थका ऐसा अपूर्व महत्त्व है कि स्वर्गकी देवांगनाएँ भी इसका प्रेमसे गान करती हैं। इससे अधिक 'गीतगोविन्द' की महिमा और क्या हो सकती है कि जयदेवजी की कवित्व-शक्तिपर मुग्ध होकर स्वयं भगवानने इसके एक पदका चरण अपने हाथ से लिखा था।

विशेष—(१) "गीतगोविन्द" के पदोंका भक्त यह मुगल-सरदार कौन था, इस सम्बन्धमें निश्चित रूपसे कुछ नहीं कहा जा सकता। कुछ टीकाकारोंके मतमें यह मुगल-सरदार नहीं, बल्कि लाहौरके रहनेवाले मीरमाधव नामक एक मुसल्मान हरि-भक्त थे जिनकी कवितायें पंजाबकी भक्त मण्डलीमें बहुत दिनों तक प्रचलित रहीं। उनकी कविताका एक उदाहरण देखिए—

दिलजान प्यारे स्याम टुक गली असाडी आवरे।
साँवरे वदन ऊपर कोटि मदन वारे॥
तेरी जुलफें दिलदी कुलफें, दोउ नैन हैं सितारे।
तेरी खूबीके देखनको नैन तरसैं हमारे॥
नल जो कठोर होवे, मीन क्यों जावे विचारे।
कृपा कीजै दरसन दीजै मीर माधवको नन्ददुलारे॥

(२) इस कवित्तके तीसरे चरणके उत्तरार्ध "चढ़ै चढ़ै घोड़े आगे श्यामरूप ठानि कैं" का अर्थ भक्तिमती रूपकलाजीने इस प्रकार किया है—"और (मुगल जातिका यवन) घोड़े पर चढ़ा चला जाता और श्रीगोविन्दका पद-गान करता था। इसके विश्वास पर रीझके श्रीश्यामसुन्दरने अनूप रूप धारण कर आगे आके दर्शन दिये; तथा संसार-सागरसे उसको मुक्त भी कर दिया।"

इस प्रकारका अर्थ करनेके लिए तृतीय चरणके उत्तरार्धका यह अन्वय करना पड़ेगा—घोड़े चढ़ै पढ़ै; ठानिकैं स्यामरूप आगे। अर्थात्, घोड़ेपर चढ़े ही चढ़े पाठ करता था और उसकी अपनेमें दृढ़ आस्थाका निश्चय करके (ठानिकें) श्याम प्रत्यक्ष रूपमें आगे (संमुख) हुए। ऐसा करना संभवतः क्लिष्ट कल्पना ही होगी। इसके विपरीत उक्त चरणांशका यहाँ किया गया अर्थ एक लोक-प्रचलित वार्ताके द्वारा भी समर्थित है जिसे नीचे दिया जाता है।

मुलतान (पंजाब) का रहनेवाला एक ब्राह्मण उत्तरभारतमें आकर बस गया। जिस घरमें वह रहता था, उसकी ऊपरी मञ्जिलमें कोई मुगल-दरबारी रहता था। प्रायः नित्य ऐसा संयोग बन जाता कि जिस समय ब्राह्मण नीचे 'गीत-गोविन्द' के पद गाया करता उसी समय मुगल ऊपरसे उतर कर दरबारको जाया करता था। ब्राह्मणके मधुर-स्वर तथा 'गीत-गोविन्द' के पदोंकी ललित झङ्कारसे

आकृष्ट होकर वह सीढ़ियोंमें ही कुछ देरके लिए ठिठक कर सुना करता। जब ब्राह्मणको इसका पता चला, तो पूछा—"सरकार! आप इन पदोंको सुनते तो हैं, पर कुछ समझमें भी आता है?"

मुग़ल—समझता तो एक हर्फ़ (अक्षर) भी नहीं हूँ, पर न जाने क्यों, उन्हें सुनकर मेरा दिल गिरफ़्त हो जाता है। तबियत होती है कि खड़े-खड़े इन्हें ही सुनता रहूँ। आख़िर किस किताबमें से आप इन्हें गाया करते हैं?"

ब्राह्मण—" 'गीतगोविन्द' के पद हैं ये। यदि आप पढ़ना चाहें, तो मैं पढ़ा दूँगा।"

इस प्रस्तावको मुग़लने स्वीकार कर लिया और कुछ दिन बाद स्वयं उन्हें गाने लगा। एक दिन ब्राह्मणने कहा—"आप गाते तो हैं, लेकिन हर किसी जगह पर पदोंको नहीं गाना चाहिए, क्योंकि जहाँ कहीं ये गाये जाते हैं, भगवान श्रीकृष्ण वहाँ स्वयं उपस्थित रहते हैं। इसलिए आप एक काम करिए। जब कभी आप गायें तो श्यामसुन्दरके लिए एक अलग आसन बिछा दिया करें।"

मुग़लने कहा—"यह तो बहुत मुश्किल है। बात यह है कि हम लोग दूसरेके नौकर हैं और अक्सर ऐसा होता है कि दरबारसे वक्त-बेवक्त बुलावा आ जाता है और हमको जाना पड़ता है।"

ब्राह्मण—"तो जब आप सरकारी काम से फ़ारिग़ हो जाया करें, तब एकान्तमें घरपर इन्हें गाया करिए।"

मुग़ल—"यह नहीं हो सकता! आदत जो पड़ गई है। और रही घरमें बैठ कर गानेकी बात, सो कभी-कभी तो ऐसा होता है कि दो-दो तीन-तीन दिन और रात हमें घोड़ेकी पीठपर गुज़ारनी पड़ती हैं।"

ब्राह्मण—"तो ऐसा किया जा सकता है कि घोड़ेकी ज़ीनके आगे एक बिछौना श्यामसुन्दरके विराजनेके लिए बिछा लिया करें और यह भावना रक्खें कि आपके पद सुनने के लिए भगवान वहाँ आकर बैठ गए हैं।"

मुग़लने यही नियम बना लिया और घरपर न रहनेकी हालतमें घोड़ेपर चलता हुआ ही 'गीत-गोविन्द' के पद गुनगुनाया करता। एक दिन अपने अफ़सरके हुक्मसे उसे, जैसा खड़ा था उसी हालतमें, सवार होकर कहींके लिए जाना पड़ा और वह ज़ीनके आगे श्यामसुन्दरके लिए बिछौना साथ नहीं ले जा सका। रास्तेमें वह अभ्यासके अनुसार पदोंका गान करने लगा। गान करते हुए उसे लगा कि घोड़े के पीछेसे घुँघरुओं (नूपुरों) की झनकार आ रही है। पहले तो वह समझा कि वहम हुआ है, लेकिन जब उस झनकारमें लयका आभास हुआ, तो घोड़ा रोक लिया और उतर कर देखने लगा। तत्क्षण श्याम-सुन्दरने प्रकट होकर पूछा—"सरदार! घोड़े से क्यों उतर पड़े?"

मुग़ल हक्का-बक्का होकर सामने खड़ा रह गया। भगवानकी रूप-माधुरीको देखकर वह इतना विह्वल होगया कि मुँहसे आवाज़ नहीं निकलती थी। आख़िर बोला—"आप संसारके मालिक होकर भी मुझ अदनाके घोड़ेके पीछे क्यों भाग रहे हैं?"

भगवानने मुस्कराते हुए कहा—"भाग नहीं रहा हूँ, नाचता आ रहा हूँ! तुम मेरे लिए गद्दी बिछाना भूल गए, तो इस कारण मैं भी नाचना भूल जाऊँ क्या?"

मुग़लको अब मालूम हुआ कि उससे कितना भारी अपराध बन गया है। यह सब इसलिए हुआ

कि वह पराधीन था। दूसरे दिन प्रातःकाल होते ही उसने नौकरीसे त्याग-पत्र दे दिया और वैराग्य लेकर भगवानके भजनमें लग गया।

बहुत सम्भव है, यही भक्त बादमें 'मीर माधव' नामसे विख्यात हुए हों।

भक्ति-रस-बोधिनी

पोथी की तो बात सब कही मैं सुहात हिये, सुनो और बात जामें अति अधिकाइयें।
गाँठि में मुहर मग चलत में ठग मिले, "कहो कहाँ जात?" "जहाँ तुम चलि जाइयें॥"
जानि लई आप, खोलि द्रव्य पकराय दियो, लियो चाहो जोई सोई सोई मोकों ल्याइयें।
दुष्टनि समुझि कही कीनी इन विद्या अहो, आवे जो नगर इन्हें बेगि पकराइयें॥१५२॥

अर्थ—टीकाकार श्रीप्रियादासजी कहते हैं कि 'गीतगोविन्द' पुस्तकके सम्बन्धकी सब बातें मैंने (उपर्युक्त कवित्तों द्वारा) कह दीं। अब जयदेवजीके चरित्रसे सम्बन्धित और वृत्तान्त सुनिये जिससे उनके (शान्ति, सहनशीलता आदि) अन्य गुणोंका आधिक्य प्रकट होता है। एक बार जयदेवजी किसी गाँवको जा रहे थे। वहाँ उन्हें सन्तोंका भण्डारा करना था, अतः खर्चेके लिए कुछ मोहरें गाँठमें बाँध रक्खी थीं। रास्तेमें उन्हें ठग मिल गए। आपने उनसे पूछा—"तुम लोग कहाँ जा रहे हो?" चोरोंने उत्तर दिया—"जहाँ तुम जाते हो।" इस उत्तर से जयदेवजीने समझ लिया कि ये चोर हैं और मेरे पीछे लग गये हैं। आपने उनकी इच्छाको पूर्ण करनेके लिये उनके बिना माँगे ही गाँठ खोलकर सब द्रव्य उन्हें पकड़ा दिया और बोले—"इस द्रव्यमें-से साधु-सेवाके निमित्त जो सामग्री लाना चाहते हो, उतनी ला दो; बाकी सब तुम्हारा है।"

दुष्ट लोग उनकी इस उदारताको नहीं पहिचान सके। उलटे उन्होंने सोचा—"इसने हमारे साथ चालाकी की है जो इस समय तो सारा द्रव्य हमें पकड़ा दिया है, लेकिन इसके मनमें यह है कि नगरमें घुसते ही मैं इन चोरोंको पकड़वा दूँगा।"

निर्लोभ होनेका इससे अच्छा उदाहरण और क्या हो सकता है? धनसे होनेवाले अनर्थोंको जो लोग समझते हैं, वही इतना शीघ्र उनका परित्याग कर सकते हैं जितना कि जयदेवजीने किया था। धनके प्रति इस प्रकारकी अनासक्ति या उदासीनता केवल भगवानके भक्तोंको ही प्राप्त हो सकती है, अन्य को ही नहीं। श्रीमद्भागवतमें कहा है—

(१) तावद्भयं द्रविणगेहसुहृन्निमित्तं शोकस्पृहापरिभवो विपुलश्च लोभः।
तावन्ममेत्यसदवग्रह आर्तिमूलो यावन्नतेऽङ्घ्रिमभयं प्रवृणीत लोकः॥

—भगवन्! धन, घर और मित्रोंके सम्बन्धका भय; शोक, इच्छासे पैदा होनेवाला तिरस्कार और विशाल लोभ; 'यह मेरा है' इस प्रकारका बुरा हठ जोकि सब दुःखोंकी जड़ है, उसी समय तक होता है जब तक लोग अभय देनेवाले आपके चरण-कमलोंकी इच्छा नहीं करते।

(२) तावद्रागादयः स्तेनास्तावत् कारागृहं गृहम्।
तावन्मोहोऽङ्घ्रिनिगडो यावत् कृष्ण न ते जनाः॥

——राग-द्वेष आदि चोरोंका तभी तक अस्तित्व है, घर तभी तक जेलखाना है, मोह तभी तक पैरोंकी बेड़ी है, जब तक, हे कृष्ण ! लोग तुम्हारे नहीं बन जाते——अर्थात् तुम्हारे होनेके उपरान्त सबसे छुटकारा हो जाता है।

भक्ति-रस-बोधिनी

एक कहै डारौ मार, भलो है विचार यही, एक कहै मारौ मत, धन हाथ आयो है।
जो पै लै पिछान कहूँ कीजियै निदान कहा, हाथ-पाँव काटि बड़ो गाड़ पधरायो है ॥
आयो तहाँ राजा एक, देखि कैं विवेक भयो, छयो उजियारो, औ प्रसन्न दरसायो है।
बाहिर निकासि मानों चन्द्रमा प्रकास रासि पूछ्यो इतिहास, कह्यो ऐसो तनु पायो है ॥१५३॥

अर्थ—चोरोंमें-से एककी राय थी कि इसे (जयदेवजीको) मार डालना चाहिये, यह विचार ही ठीक है, जब कि दूसरा कहता था कि जब धन हमारे हाथ लग गया, तो मारनेसे क्या फायदा ? अतः इसे छोड़ देना चाहिए। तीसरा बोला——"यदि बादमें इसने कहीं हमें पहिचान लिया और पकड़वा दिया, तो क्या करोगे ?" इस प्रकार आपसमें तर्क-वितर्क करने के बाद उन्होंने जयदेवजीके हाथ-पैर काट उन्हें एक बड़े गड्ढेमें डाल दिया और आगे बढ़ गये।

उसी समय संयोगसे कोई राजा उधर आ निकला। उसने जयदेवजीको इस दशामें देखा, तो उसे बड़ा आश्चर्य हुआ कि इनके हाथ-पैर तो कटे हैं पर मुखपर तेजका प्रकाश चमचमा रहा है और आनन्दित हो रहे हैं। राजाने उन्हें गड्ढेमें से बाहर निकाल लिया और देखा कि चन्द्रमाके प्रकाशका पुंज उनके सामने छिटक रहा है। राजाने जब पूछा कि ऐसा क्यों हुआ ? किसने किया ? तब जयदेवजीने कहा——"मुझे ऐसा ही शरीर मिला है।"

(१) यहाँ यह शंका होती है कि जयदेवजी प्रभुके जब इतने भक्त थे, तो जगन्नाथजीने उनके हाथ-पैर क्यों कट जाने दिए ? विज्ञ टीकाकारोंने इसका समाधान करते हुए कहा है कि स्वयं जगन्नाथजी ने यह कहा था——'रसिक जयदेव मेरोई सरूप जानो,' तो उन्होंने उन्हें अपने वर्तमान विग्रह-जैसा बिना हाथ-पैरका बनाकर एक बार संसारको दिखा दिया; बादमें फिर उन्हें ज्यों-का-त्यों कर दिया।

(२) इस कवित्तमें ऐसा वर्णन किया गया है कि हाथ-पैर कट जानेके बाद भी जयदेवजीकी मुद्रा पहलेकी तरह प्रसन्न बनी रही। लौकिक मनुष्योंको यह बात असम्भव-सी लगेगी, लेकिन भक्तोंकी महिमा अपार है। वे अपने देहमें ममत्व-बुद्धि नहीं रखते और भगवदानन्दमें निरन्तर डूबे रहनेके कारण शारीरिक दुख-सुखोंका उनपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। एक रसिक सन्तकी उक्ति है——

रोग भोग संयोग वियोगें आवत जात न रोकौं।
तुम्हरे रस-बस कछू न जानौं दुख-सुख हर्ष न शोकौं॥ ——स्वामी श्रीबिहारिनदेवजी

(३) इस कवित्तमें कहा गया है कि राजाने जयदेवजीसे जब उनके हाथ-पैर कटनेका वृत्तान्त पूछा, तो उन्होंने कहा——"ऐसो तनु पायो है।" अर्थात्, मुझे ऐसा ही शरीर मिला है। टीकाकारोंने इस संक्षिप्त उत्तरमें से बड़ी सुन्दर व्यञ्जनाकी उद्भावना की है। वे कहते हैं कि जयदेवजीके कहनेका गूढ़ अभिप्राय यह था कि अनजाने किसको अपराधी ठहराया जाय ? बहुतेरे लोग अपनी या दूसरोंकी विपत्तियों

का कारण कालको बताया करते हैं, कुछ कहते हैं कि कर्म बलवान है; दूसरे कहते हैं कि यह ईश्वरेच्छा है, इत्यादि । अतः सबसे सीधा उत्तर यही है कि हमको ऐसा ही शरीर प्राप्त हुआ है । राजा परीक्षितने जब धर्मको तीन चरणोंसे रहित पाया, तो उससे तरह-तरहके प्रश्न करके पूछा—"किस दुरात्माने तुम्हारी यह दशा की है ?" तब वृषभ-रूप धारण किए हुए धर्मने भी राजाको यही उत्तर दिया था—

न वयं क्लेशबीजानि यतः स्युः पुरुषर्षभ ।
पुरुषं तं विजानीमो वाक्यभेदविमोहिताः ॥
केचिद् विकल्पवसना आहुरात्मानमात्मनः ।
दैवमन्ये परे कर्म स्वभावमपरे प्रभुम् ॥
अप्रतर्क्यादनिर्देश्यादिति केष्वपि निश्चयः ।
अत्रानुरूपं राजर्षे विमृश स्वमनीषया ॥

—हे पुरुषोंमें श्रेष्ठ ! तरह-तरहके वाक्योंसे हमारी बुद्धि भ्रममें पड़ गई है, अतः हम किस व्यक्ति के सम्बन्धमें यह कहें कि वह हमारे कष्टोंका कारण है । कुछ लोग अपनी आत्माको कारण मानते हैं, कुछ भाग्यको, कुछ स्वभावको और दूसरे ईश्वर को । इनमें-से किसी एकका भी नाम निश्चितरूपसे नहीं लिया जा सकता । अतः राजन् ! अपनी बुद्धिसे ही विचार कर देखिए कि मेरी विपत्तिका उत्तर-दायी कौन है ?

भक्ति-रस-बोधिनी

बड़ेई प्रभाववान, सकै को बखान, अहो ! मेरे कोऊ भूरि भाग दरसन कीजियै ।
पालकी बैठाइ लिये, किये सब ठूंठ नीके, जोरे हाथ भए "कछु आज्ञा मोहि दीजियै ।।"
"करौ हरि-साधु-सेवा, नाना पकवान मेवा, आवैं जोई सन्त तिन्हैं देखि-देखि भीजियै ।"
आए वेई ठग माला तिलक चिलक किये, किलकि कै कही, "बड़े बन्धु लखि लीजियै ।।"१५४।।

अर्थ—जयदेवजीके कान्तिमान् मुख-मण्डलको देखकर और उनके गम्भीर वचनोंको सुन-कर राजाने मनमें सोचा कि ये तो कोई अत्यन्त प्रभावशाली पुरुष हैं । इनकी महिमाका कौन वर्णन कर सकता है ? मेरा बड़ा सौभाग्य है कि मुझे ऐसे महापुरुषके दर्शन मिले । ऐसा सोच कर राजा उन्हें पालकीमें बिठाकर घर ले आया और वैद्योंसे चिकित्सा कराकर उनके हाथ-पैर के ठूँठोंको ठीक करा दिया । राजा यही चाहता था । उसके मनकी सब अभिलाषाएँ पूर्ण होगईं । इसके उपरान्त उसने जयदेवजीसे हाथ जोड़कर प्रार्थना की—"मुझे कुछ आज्ञा दीजिए ताकि मैं आपकी अधिक सेवा कर सकूँ ।"

जयदेवजीने कहा—"राजन् ! नाना प्रकारके व्यञ्जन और मिठाई-मेवा आदिका भगवान्‌को भोग रक्खो और प्रसाद सन्तोंको खिलाओ, तथा जो साधु-सन्त तुम्हारे घरपर आवें उनका दर्शनकर प्रेम-रसमें भीग जाया करो ।"

जयदेवजीकी आज्ञासे हरि-भक्त साधुओंकी ऐसी ही सेवा की जाने लगी । एक दिन वही ठग जिन्होंने जयदेवजीके हाथ-पैर काट डाले थे, माला पहिनकर तथा चमकते हुए तिलक लगा

कर वहाँ पहुँचे। उनको देखते ही जयदेवजीने अत्यन्त प्रसन्न होकर उनका स्वागत किया और उनका परिचय देते हुए पास बैठे हुए सन्तोंसे बोले—"ये मेरे बड़े गुरु-भाई हैं।"

हत्यारा और डाकू जानकर भी जयदेवजीने उनका इस प्रकार क्यों आदर किया और क्यों उन्हें अपना गुरु-भाई बताया, इसका कारण यह है कि शास्त्रके अनुसार मालाधारी और तिलक लगाया हुआ व्यक्ति, चाहे किसी जातिका क्यों न हो—चाहे वह यथार्थ में वैष्णव हो या न हो, आदरणीय होता है।

एक स्थानपर कहा है—

मालातिलकसंचिन्हैः संयुक्तो यः प्रदृश्यते।
चाण्डालोऽपि महीपाल! पूजनीयो न संशयः॥

—राजन्! माला पहिने हुए और तिलकके चिन्हसे युक्त जो पुरुष दिखाई पड़े, वह नीच-जातिका होनेपर भी पूजाके योग्य होता है।

इसी कारण जयदेवजीने सन्तोंके बीचमें उन ठगोंको अपना गुरुभाई बतलाया और राजा-द्वारा उनका यथोचित सम्मान कराया।

भक्ति-रस-बोधिनी

नृपति बुलाइ कही, "हिये हरि भाय भरे, डरे तेरे भाग, अब सेवा-फल लीजियै।"
गयौ लै महल माँझ, टहल लगाए लोग, लागे होन भोग, जिय संका तन छीजियै॥
माँगें बार-बार बिदा, राजा नहिं जान देत, अति अकुलाए, कही स्वामी "धन दीजियै।"
दैकें बहु भाँति सो, पठाए संग मानुस हूँ, "आवो पहुँचाय तब तुम पर रीझियै॥"१५५॥

अर्थ—जयदेवजीने राजाको बुलाकर कहा—"राजन्! इन सन्तोंका हृदय हरिभक्तिसे परिपूर्ण है; तेरा यह बड़ा सौभाग्य है कि ये तेरे घरपर पधारे हैं, अतः इनकी यथोचित सेवा करके अपनी सन्त-सेवाका फल ले लो।"

जयदेवजीकी आज्ञाको शिरोधार्य करके राजा उन साधु-वेषधारी ठगोंको महलोंमें ले गया और बहुत-से नौकर-चाकरोंको उनकी सेवामें नियुक्त कर दिया। अब क्या था? नित्य-प्रति तरह-तरहके भोज्य-पदार्थों द्वारा उनका सत्कार किया जाने लगा, लेकिन अन्तरात्मामें छिपे हुए पापके कारण उन्हें यह शंका बनी हुई रहती थी कि जयदेवजीके कहनेसे एक दिन राजा हमें मौतके घाट उतार देगा। इसी चिन्ताके कारण तरह-तरहके भोजन खाते हुए भी उनका शरीर दुर्बल होता जा रहा था। वे बार-बार राजासे बिदा माँगते थे, पर राजा उन्हें नहीं जाने देता था। जब वे बहुत छटपटाने लगे, तो जयदेवजीने राजासे कहा—"राजन्! अब इन्हें खूब-सा द्रव्य देकर बिदा कर दीजिये।"

राजाने अनेक प्रकारके रत्न-आभूषण आदि उन्हें दिए और द्रव्यकी रक्षाके लिए बहुतसे मनुष्योंको उनके साथ जानेकी आज्ञा देते हुए कहा—"इन्हें जब पहुँचाकर वापिस आओगे, तब मैं प्रसन्न होकर तुम्हें इनाम दूँगा।"

भक्ति-रस-बोधिनी

पूछैं नृप-नर "कोऊ तुम्हरी न सरबर, जिते आए साधु ऐसी सेवा नहिं भई है।
स्वामी जू सौं नातौ कहा? कहौ, हम खायँ हाहा" "राखियो दुराय, यह बात अति नई है॥
हुते एक ठौर नृप-चाकरी मैं, तहाँ इन कियो ई बिगार, मारि डारौ, आज्ञा दई है।
राखे हम हितू जानि, लै निदान हाथ-पाँव, वाही के इसान अब हम भरि लई है॥"१५६॥

अर्थ—मार्गमें जाते हुए राजाके रक्षकोंने उन बनावटी सन्तोंसे पूछा—"महाराज! आप लोगोंके जैसा कोई महात्मा नहीं दिखाई पड़ता; क्योंकि राजाके यहाँ जितने साधु-सन्त आये, उनमेंसे किसीका भी ऐसा आदर और सेवा नहीं हुई जैसी कि आपकी। हम हा-हा खाकर (अत्यन्त अनुरोध-पूर्वक) आपसे यह जानना चाहते हैं कि आपका स्वामीजी (जयदेवजी) से क्या सम्बन्ध है।"

ठगोंने कहा—"इसका रहस्य अत्यन्त आश्चर्यजनक है; इसे अपने तक रखना। किसी समय हम और आपके स्वामीजी एक ही राजाकी नौकरी करते थे। वहाँ इन्होंने एक बहुत बुरा काम कर डाला और राजाने इन्हें जानसे मार डालनेकी आज्ञा दे दी। अपना प्रेमी और हितैषी समझ कर हमने इनके प्राण नहीं लिये; केवल हाथ-पैर काटकर राजाको दिखा दिये। उसी उपकारके कारण हमें यह सब सेवा और द्रव्य प्राप्त हुआ है।"

भक्ति-रस-बोधिनी

फाटि गई भूमि, सब ठग वै समाई गए, भए वे चकित दौरि स्वामी जू पै आए हैं।
कही जिती बात, सुनि गात-गात काँपि उठे, हाथ-पाँव मीड़े भए ज्यों के त्यों सुहाए हैं॥
अचरज दोऊ नृप पास जा प्रकास किए, जिए एक सुनि आए वाही ठौर धाए हैं।
पूछैं बार-बार सीस पायँनि पै धारि रहे, कहिए उघारि कैसे मेरे मन भाए हैं॥१५७॥

अर्थ—दुष्टोंके इस प्रकार झूँठ बोलते ही धरती फट गई और सबके सब उसमें समा गये। राजाके रक्षकोंको यह देखकर अत्यन्त आश्चर्य हुआ। वे दौड़कर स्वामीजीके पास आये और सब वृत्तान्त कह सुनाया। सुनते ही जयदेवजीके सब अंग काँप उठे और वे (उन दुष्टोंके दुःख में दुःखी होकर) हाथ-पैर मींजने लगे। लेकिन ऐसा करनेसे पूर्व ही उनके कटे हुए हाथ-पैर पुनः निकल आये। रक्षकोंने इन दोनों आश्चर्यजनक घटनाओंको राजासे कह सुनाया। राजाने जब सुना कि स्वामीके हाथ-पैर ज्योंके त्यों होगए, तो एक साथ ही उसके प्राणोंमें प्राणसे आगए और वह दौड़कर उसी स्थानपर पहुँचा जहाँ स्वामीजी विराजमान थे। अब राजा जयदेवजीके चरणोंमें सिर रखकर बार-बार पूछने लगा—"कृपया विस्तारसे कहिये कि इन दोनों घटनाओंके मूलमें क्या रहस्य है?—क्यों तो पृथ्वी फटी और साधु उसमें समा गए और कैसे ये आपके हाथ-पैर फिर निकल आए?"

यहाँ यह शंका की जाती है कि जिस समय दुष्टोंने जयदेवजीके हाथ-पैर काटे थे, उसी समय पृथ्वी क्यों न फटी? इसी प्रकार जयदेवजीके हाथ-पैर फिर निकलनेमें भी इतनी देर क्यों लगी?

टीकाकारों के अनुसार इसका उत्तर यह है कि जिस प्रकार वृक्षमें समय पाकर ही फल लगते हैं, उसी प्रकार पुण्य-पापके फल भी जीवको समय आनेपर ही मिलते हैं। दुष्टोंके सम्बन्धमें तो यह समाधान ठीक उतरता है, लेकिन जयदेवजीके पाप-पुण्य तो भगवानकी आराधनाके फलस्वरूप कभीके क्षीण होगए थे; फिर उनके पुण्य-उदय होनेका प्रश्न कैसे उठता है?

इसका उत्तर यह है कि भक्त और भगवान दोनों एकरूप हैं। यह एकरूपता जब भक्तको मिल जाती है, तो जिस प्रकार हरि लोकसंग्रहकी भावनासे प्रेरित होकर नाना प्रकारके स्वरूप धारण कर नाना प्रकारके कर्म करते हैं, वैसे ही भक्त भी करता है। भगवानका यह स्वभाव है कि उनका न तो कोई प्यारा है और न कोई वैरी; फिर भी वे भक्तोंको भजते हैं और कल्पवृक्षकी भाँति उनकी अभिलाषाओंको पूर्ण करते हैं—

न तस्य कश्चिद् दयितः सुहृत्तमो न वा प्रियो द्वेष्य उपेक्ष्य एव वा।
तथापि भक्तान् भजते यथा तथा सुरद्रुमोयद्वदुपाश्रितोऽर्थदः॥ —श्रीमद्भागवत

—भगवानका न कोई प्यारा है, न विशिष्ट मित्र है; न प्रिय है, न शत्रु है अथवा उपेक्षा करने के योग्य है। तो भी वे भक्तोंको भजते हैं—ठीक उसी प्रकार जैसे कि आराधना करने पर कल्पवृक्ष मनोरथोंको पूर्ण करता है।

इसी आदर्शपर चलनेवाले जयदेवजी किसीको अपना शत्रु करके नहीं देखते थे—उन लोगोंको भी नहीं जो उनके हाथ-पैर काट चुके थे। और यदि शत्रु नहीं थे, तो ऊपर कहे गए सिद्धान्तके अनुसार वे उग मित्र भी नहीं थे। फिर भी आश्चर्य यह है कि उनके पृथ्वीमें समा जानेकी खबर सुनकर जयदेवजीके अङ्ग-अङ्ग काँप उठे। जयदेवजीको पश्चात्ताप यह होरहा था कि उनके दुःखोंका कारण एक प्रकारसे मैं बना। इसीलिए उन्होंने अपने हाथ मींजे थे।

लेकिन यह सब, देखा जाय तो, लीलामात्र थी। जयदेवजीको संसारको यह दिखाना था कि साधु-सेवाके प्रभावसे ही यह असम्भव भी सम्भव होगया। साथ ही में साधु-सेवाका दूसरा आदर्श उन्होंने यह उपस्थित किया कि साधु चाहे जैसा हो, यदि वह साधुका बाना पहिनकर आता है, तो पूज्य है। साधुओंमें दोष देखना साधुताका लक्षण नहीं है।

भक्ति-रस-बोधिनी

राजा अति आरि गही, कही सब बात खोलि, निपट अमोल यह सन्तन को बेस है।
कैसो अपकार करो तऊ उपकार करें, ढरें रीति आपनी ही सरस सुदेस हैं॥
साधुता न तजै कभूँ जैसे दुष्ट दुष्टता न, यही जानि लीजै मिले रसिक नरेस है।
जान्यो जब नाँव ठाँव "रहो यहाँ बलि जाँव, भयो मैं सनाथ, प्रेम-भक्ति भई देस है॥१५८॥

अर्थ—जब राजाने अत्यन्त आग्रह किया, तो जयदेवजीने सब बातें खोलकर बता दीं। बोले—"राजन्! साधुओंके वेषका बड़ा महत्त्व होता है। कोई अपने साथ चाहे जैसी बुराई

करे, पर साधुका कर्त्तव्य यही है कि बदलेमें वह उपकार ही करे। साधुओंको अपनी ही भक्ति-भावसे परिपूर्ण, सुन्दर पद्धति (रीति) से व्यवहार करना चाहिए। यदि दुष्ट अपनी दुष्ट प्रकृतिको नहीं छोड़ता, तो साधुको भी अपनी साधुता (परोपकारकी वृत्ति) को नहीं छोड़ना चाहिए। राजन्! इसे सत्य समझ लीजिए कि इसी प्रकारकी भावना रखनेसे रसिकोंके शिरोमणि भगवान मिलते हैं।"

इसके उपरान्त जयदेवजीने अपना नाम और निवास-स्थान बताया। तब तो राजाने अनुनय-विनय करते हुए कहा—"महाराज! मैं आपपर न्यौछावर होता हूँ, कृपाकर यहीं रहिये। आपके दर्शनसे मैं कृतकृत्य होगया और जबसे आप यहाँ विराजे हैं, इस प्रदेशमें भगवद्-भक्तिका प्रचार होगया है (अतः कृपया यहाँ रहते हुए इसे और बढ़ाइए)।

इस प्रसंगपर और अधिक प्रकाश डालनेके लिए टीकाकारने लिखा है कि जयदेवजीका अभिप्राय यह था कि शास्त्रोंमें सच्चे साधुके जो लक्षण लिखे हैं, उनका पालन करना अत्यन्त कठिन है; क्योंकि हम देखते हैं कि नारदजी जैसे भक्तको नल कूबर और मणिग्रीवको विहार करते देखकर क्रोध आगया और उन्होंने उन्हें शाप दिया कि "वृक्ष हो जाओ!" इसी प्रकार सनकादिकोंने भी भगवानके पार्षद जय-विजयको शाप दिए बिना नहीं छोड़ा। जब ऐसे मूर्धन्य भक्त भी साधुताकी कसौटीपर खरे नहीं उतरे, तो ऐसा साधु कहाँ मिलेगा जो सब प्रकारसे पूर्ण हो? अतः उचित यही है कि असाधुको साधु मानकर स्वीकार करे और उसका आदर-सत्कार करे। साधुओंके लक्षण बताते हुए श्रीव्यासदेवजीने श्रीमद्भागवतमें कहा है—

तितिक्षवः कारुणिकाः सुहृदः सर्वदेहिनाम्।
अजातशत्रवः शान्ताः साधवः साधुभूषणाः॥

—सहनशील, दयालु, सब प्राणियोंके मित्र, किसीमें भी द्वेष-बुद्धि न रखनेवाले, शान्त साधु-लोग सब साधुओंके भूषणरूप होते हैं।

तुलसीदासजी कहते हैं—

सन्त-असन्तन की असि करनी। जिमि कुठार-चन्दन आचरनी॥

भक्ति-रस-बोधिनी

गयो जा लिवाय ल्याय कविराज-राज-तिया, कियौ लै मिलाप आप रानी ढिग आई है।
मर्यो एक भाई वाको, भई यौं भौजाई सती, कोऊ अंग काटि, कोऊ कूदि परी धाइ है॥
सुनत ही नृप-वधू तिपट अचंभो भयो, इनकैं न भयो फिरि कही समुझाइ है।
"प्रीति की न रीति यह बड़ी बिपरीति अहो, छुटै तनु जबै प्रिया प्रान छूटि जाइ है॥१५६॥

अर्थ—जयदेवजीने जब राजाकी प्रार्थनापर उसके देशमें रहना स्वीकार कर लिया, तो राजा किन्दुबिल्व गाँवसे उनकी धर्मपत्नी पद्मावतीको भी ले आया और इस प्रकार दोनोंका मिलाप करा दिया। राजाकी रानी भी सत्संगके लिए पद्मावतीके पास आने-जाने लगी। एक दिन जब रानी पद्मावतीके पास बैठी हुई थी, तब कितीने आकर रानीको यह समाचार सुनाया

कि आपके एक भाई स्वर्ग सिधार गये और आपकी भावजोंमें से कुछ तो अपने पतिके साथ सती होगईं, किसीने पतिके वियोगमें पागल होकर अपने हाथ-पैर काट डाले और कोई दौड़ कर जलती हुई चितामें कूद पड़ी । यह सुनते ही रानीको बड़ा आश्चर्य हुआ कि उसकी भावजें ऐसी पतिव्रता निकलीं, लेकिन पद्मावतीने इसे कोई आश्चर्य नहीं माना, बल्कि वे पहलेकी तरह अविचलित भावसे सब सुनती रहीं और रानीको समझाती हुई कहने लगीं—"प्रेमकी रीति यह नहीं है (अर्थात् इस प्रकार हाथ-पैर काट कर मर जाने अथवा चितामें कूद पड़नेसे प्रेमका परिचय नहीं मिलता; क्योंकि बहुतेरी स्त्रियाँ वैधव्य-जीवनसे मुक्ति पाने अथवा समाज के दबावमें आकर भी ऐसा कर डालती हैं) । सच पूछा जाय तो ऐसा करना प्रेम-भावनाके विपरीत है । प्रेमका परिचय तो तब मिलता है कि जब उधर पतिके प्राण निकलें और इधर पत्नीका देह छूट जाय ।"

भक्ति-रस-बोधिनी

"ऐसी एक आप" कहि, राजा सों यह बात कही "लैकें जाओ बाग स्वामी नेकु, देखौं प्रीति कों" ।
"निपट बिचारी बुरी, देत मेरे गरे छुरी", तिया हठ मान करी ऐसे ही प्रतीति कों ॥
आनि कही "आप पाये" कही वही भाँति आय, बैठी ढिग तिया देखि लोटि गई रीति कों ।
बोली—"भक्त-बधू अजू ! वे तौ हैं बहुत नीके, तुम कहा औचक ही पावति हौ भीति कों ॥१६०॥

अर्थ—पद्मावतीके कथनमें रानीको कुछ अभिमान-सा लगा, तो व्यंग करती हुई बोली—"ऐसी (पतिव्रता) तो एक आप ही हो ।" इतना कह कर रानी राजाके पास पहुँची और सारा वृत्तान्त सुनाकर बोली—"थोड़ी देरके लिये आप स्वामीजीको बागमें ले जाइए; तब मैं देखूँगी कि इनका पतिसे कैसा प्रेम है ।"

राजाने यह सुना तो रानीसे कहा—"यह तो तूने बहुत बुरी बात सोची है, तू तो मेरे गलेपर छुरी चलाना चाहती है ।" लेकिन रानीने नहीं माना और स्त्रियोंकी जैसी आदत होती है, हठ करने लगी । राजाने भी उसकी बातका विश्वास कर वैसा ही किया । इसी बीच (रानी के द्वारा सिखाई हुई) एक सेविकाने आकर पद्मावतीको खबर दी—"आप वैकुण्ठधाम पा गए ।" उस समय रानी पद्मावतीके पास बैठी हुई थी । यह संवाद सुनते ही वह कपटकी रीति अपना कर (मूर्छित होनेका आडम्बर रच कर) पृथ्वीपर गिर पड़ी ! पद्मावतीने कहा—"अरी भक्त-बधू ! स्वामीजीको कुछ नहीं हुआ; वे तो अच्छे हैं । आप धोखेमें आकर क्यों डरती हैं ?"

भक्ति-रस-बोधिनी

भई लाज भारी, पुनि फेरि कै सँभारी दिन बीति गए कोऊ जब, तब वही कीनी है ।
जानि गई 'भक्त-बधू चाहति परीच्छा लियो', कही 'अजू पाये' सुनि तजो देह भीनी है ॥
भयौ मुख स्वेत रानी, राजा आए, जानी यह, रची चिता, "जरौं, मति भई मेरी हीनी है" ।
भई सुधि आपकौं, सुनाये बेगि दौरि यहाँ, देखि मृत्युप्राय नृप, कह्यौ "मरी रानी है" ॥१६१॥

रानी यह जान कर बहुत लज्जित हुई कि मैं झूठी सिद्ध हुई हूँ। इसलिए कुछ दिन बीत जानेपर फिर उसने पहलेकी तरह जाल रचा। अब पद्मावतीको निश्चय होगया कि यह मेरी परीक्षा लेना चाहती है। उन्होंने "अरी! वह तो हरि-धाम पागए" ये शब्द सुनते ही स्नेह में सराबोर अपने शरीरको छोड़ दिया। पद्मावतीको सचमुच मरा हुआ जान कर रानीका मुँह सफेद पड़ गया। राजाको जब पता लगा, तो वे आए और कहने लगे—"इस स्त्रीके सहवासके कारण मेरी बुद्धि भी भ्रष्ट होगई, अतः मैं (इस पापका प्रायश्चित्त करनेके लिए) जल मरूँगा।"

राजाने चिता बना ली और उसमें कूदना ही चाहता था कि यह वृत्तान्त सुन कर जयदेवजी दौड़े हुए आए। उन्होंने देखा कि राजा शोकसे अधमरा होरहा है। स्वामीजोको देखते ही राजा बोला—"आपकी धर्मपत्नीको मृत्यु मैंने दी है–मेरे ही कारण इन्होंने प्राण छोड़े हैं।"

भक्ति-रस-बोधिनी

बोल्यो नृप "प्रभू मोहि जरत ही बनै अब, सब उपदेश लैके धूरि मैं मिलायो है"।
कह्यो बहु भाँति एपै आवति न शान्ति किहूं, गाई अष्टपदी, सुर दियो तन ज्यायो है॥
लाजनि को मारचो राजा चाहै अपघात कियो,जियो नहि जात 'भक्ति-लेस हूं न आयो' है।
करि समाधान निज धाम आए 'किन्दुबिल्व', जैसो कछु सुन्यो यह परचौ लै गायो है॥१६२॥

अर्थ—जयदेवजीने राजाको चितापर चढ़नेसे रोका, तो उन्होंने कहा—"महाराज! अब मुझसे जले बिना नहीं रहा जायगा; क्योंकि मैंने आपके दिए सब उपदेशोंको धूलमें मिला दिया—उनसे कोई लाभ नहीं उठाया।" जयदेवजीने बहुत प्रकारसे समझाया, लेकिन उसके हृदयको किसी भी प्रकार शान्ति नहीं मिली। तब (यह सोचकर कि अब पद्मावतीको जीवित करना पड़ेगा) उन्होंने 'गीत-गोविन्द' में से एक अष्टपदी शुरू की और उसे विधिवत् स्वरसे गाने लगे। उसके कानमें पड़ते ही पद्मावती उठ पड़ीं (और अपने पतिके साथ भक्तिमें मग्न होकर नाचने-गाने लगीं)।

राजा इतनेपर भी लज्जासे गड़ा जाता था और बार-बार आत्मघात करनेकी सोचता था। उसके लिए जीवित रहना कठिन होगया था। बार-बार मनमें यही बात उठती थी—"हाय! मेरे मनमें भक्तिका लेश भी नहीं आया!"

जयदेवजीने बड़ी कठिनाईसे उसे सान्त्वना दी और तब अपने जन्म-स्थान 'किन्दुबिल्व' गाँवमें आकर रहने लगे।

टीकाकार कहते हैं कि सन्तोंके मुखसे मैंने जयदेवजीका यह चरित्र जैसा सुना था, वैसा यथाशक्ति यहाँ वर्णन किया है।

यहाँ यह प्रश्न किया जा सकता है कि जयदेवजी सरीखे महात्माकी सङ्गतिमें रहकर भी राजा अपनी स्त्रीके कहनेमें क्यों आगया?

इसका उत्तर तुलसीदासजीके शब्दोंमें सुनिए—

> सुनि मुनि कहि पुरान श्रुति सन्ता । मोह-विपिन कहुँ नारि बसन्ता ॥
> पाप उलूक निकर सुखकारी । नारि निबिड़ रजनी अँधियारी ॥

—अज्ञानरूपी वन के लिए नारी वसन्त ऋतु के समान है; पापरूपी उल्लुओंके समूहको सुखदेने-वाली अँधेरी रातके समान है ।

तो राजाको यह कुबुद्धि स्त्रीके सङ्गके कारण ही हुई । गृहस्थ होनेके कारण राजा अपनी स्त्रीको कैसे त्याग देता ? जयदेवजीने इस बातको समझ लिया; अतः स्वयं ही राजाके नगरको छोड़कर चले गए ।

भक्ति-रस-बोधिनी

> देवधुनी सोत हो अठारै कोस आश्रम तें, सदाई असनान करैं, धरैं जोगताई कौं ।
> भयो तन वृद्ध, तऊ छांड़े नहीं नित्यनेम, प्रेम देखि भारी निसि कही सुखदाई कौं ॥
> "आवो जिन ध्यान करौ, करौ मत हठ ऐसे, मानी नहीं "आऊँ मैं ही," "जानौं कैसे आई कौं ।"
> "फूले देखो कंज तब कीजियो प्रतीति मेरी," भई वही भाँति, सेवैं अब लौं सुहाई कौं ॥१६३॥

अर्थ—जहाँ जयदेवजीका आश्रम था, वहाँसे गङ्गाजी अठारह कोसकी दूरीपर थीं, लेकिन योगके बलसे आप वहाँ रोज नहानेके लिए जाया करते थे । यहाँ तक कि जब आपका शरीर बहुत वृद्ध होगया, तो भी आपने गङ्गा-स्नानका नित्य-नियम नहीं छोड़ा । उनका ऐसा प्रेम देखकर गङ्गाजीने सुखदाता जयदेवजीसे स्वप्नमें कहा—"अब तुम्हें आनेकी आवश्यकता नहीं है, केवल यह भावना कर लिया करो कि मैं गङ्गा-स्नान कर रहा हूँ । हठ मत करो ।"

जयदेवजीने उसे स्वीकार नहीं किया । तब गङ्गाजीने कहा—"अच्छा, (तुम्हारे आश्रम के पास से बहनेवाली नदीमें मैं ही आ जाऊँगी ।" इसपर जयदेवजीने कहा—"माता ! मुझे कैसे विश्वास होगा कि आप पधारी हैं ?" गङ्गाजीने कहा—"देखो, उस नदीमें जब कमलोंको खिला हुआ देखो, तो समझ लेना कि मैं आगई हूँ ।"

जैसा गङ्गाजीने कहा था, वैसा ही हुआ—अर्थात् नदीमें कमल दिखाई देने लगे और जयदेवजीने उसीमें स्नान करना प्रारम्भ कर दिया ।

किन्दुबिल्व गाँवमें अब भी वह नदी उसी तरह बहती है । लोग उसे 'जयदेई गङ्गा' के नामसे पुकारते हैं और गङ्गाजीके समान ही उसका आदर करते हैं ।

श्रीजयदेवजीके सम्बन्धमें श्रीप्रियादासजीने कहा है कि वे तरुवरोंके नीचे रहते और गुदड़ी कमण्डलु रखते थे । बालकरामजीने भी इसे पुष्ट किया है—

> बिरकत दशा कमण्डल पानी, कंथा जुग कोपीन बखानी ।
> बन-उपवन में करत बसेरा, और परिग्रह रखत न नेरा ॥

किन्तु उन दोनों ही टीकाकारोंने इस बातपर प्रकाश नहीं डाला कि वे गुदड़ी-कमण्डलु उन्हें किस

गुरुदेवसे प्राप्त हुए थे ? इस प्रश्नका समाधान महाकवि श्रीकिशोरदासने किया है। उन्होंने बतलाया है कि—"वृन्दावनवासी श्रीयशुदानन्दनदेवजी (श्रीनिम्बार्कीय सन्त) से उन्हें वे वस्तुएँ मिली थीं और श्रीजगन्नाथजीकी आज्ञासे उन्होंने श्रीजयदेवजीको बचपन में ही अपना शिष्य बनाया था। माता-पिताके द्वारा गुरु-चरणोंमें भेंट कर देने पर किन्दुबिल्व ग्रामसे गुरुदेवके साथ ही वे वृन्दावन आये थे। निधिवनके दर्शन करनेसे जयदेवजी बड़े प्रसन्न हुए। गुरुदेवने उन्हें उज्ज्वल-रसकी उपासनाका उपदेश दिया और यह वर दिया कि तुम सुन्दर काव्य बनाओगे। गुरुदेवके परमधाम-वास होनेपर जयदेवजी जगदीशपुरी गये और श्रीजगन्नाथजीकी कृपासे उन्हें श्रीराधामाधवजीकी प्रतिमा मिली। उन्होंने राधा-माधवको आजीवन लाड़लड़ाया। महाकविने जयदेवजीके इतिवृत्तकी जो बड़ी उपादेय कड़ियाँ जोड़ी हैं, वे यहाँ उद्धृत की जाती हैं—

श्री जयदेव चरित्र बखानों। तिनको कृष्णरूप पहिचानों ॥
रसिक अनन्य राज राजेसा। सो साक्षातकृष्ण को वेसा ॥

× × ×

जगन्नाथ की आज्ञा पाई। यशुदानन्द लिये शरणाई ॥
यशुदानन्द भये गुरु देवा। दाम्ब्रह्म मुख ते सुनि भेवा ॥
पिता मात सुत दयो चढ़ाई। लै गुरु संग चले सुख पाई ॥
किन्दुबिल्व पुर ते उठि धाये। वृन्दावन रुचि निधिवन आये ॥
निरखो श्रीवन अद्भुत रचना। भयो मुदित आनन्द विधि वचना ॥
मो रस उज्ज्वल तो उर भरि है। आरिज काव्य प्रकट सुठि करि है ॥
श्रीगुरु तब वृन्दावन पाये। जब यह विरह विवस उठि धाये ॥
सुनि पुरुषोत्तम वचन अनूपा। राधामाधव प्रकट स्वरूपा ॥

अर्चन करि आनन्द भरि, अद्भुत भोग लगाय।
सो प्रसाद हरि भक्त नित, पावत लाड़ लड़ाय ॥

(निजमत सिद्धान्त, आचार्य खण्ड, पृष्ठ १०६)

श्रीकिशोरदासजीने श्रीजयदेवजीके शिष्यका नाम जनगोपाल बतलाया है जो उनके पश्चात् श्रीराधामाधवकी सेवाके अधिकारी बने।

श्रीबालकरामजीने अपनी 'भक्तदाम-गुण-चित्रनी' टीकाके पद १५० में एक विशेष कथाका और सन्निवेश किया है, वह यह कि गीतगोविन्दका प्रभाव सुनकर एक दिन कोई शूद्र म्लेच्छ (यवन) भी गीत-गोविन्दको गाने लगा, किन्तु स्थान गन्दा था। उसी क्षण उसको सर्पने काट खाया। बेहोश होनेपर उसे गारुड़ीके पास ले गये। उसने नागका आवाहन किया। नागने आकर कहा—"भ्रष्ट स्थलपर गीतगोविन्दका गान करनेसे इसको मैंने काटा है।" गारुड़ीने सर्पसे विष उतार देनेके लिए प्रार्थना की। विष उतरनेपर उससे प्रतिज्ञा करा ली कि अब ऐसे वैसे स्थलपर कोई मलिन व्यक्ति इसका गान न करे।

———

मूल (छप्पय)

श्री श्रीधरस्वामीजी

तीन कांड एकत्व सानि कोउ अज्ञ बखानत।
कर्मठ ज्ञानी ऐंचि अर्थ को अनरथ बानत॥
'परमहंस संहिता' विदित टीका विस्तारयो।
षट शास्त्र अविरुद्ध वेद संमत हि विचारयो॥
परमानन्द प्रसाद तें माधौ स्वकर सुधार दियौ।
श्रीधर श्रीभागौत में परम धरम निरनै कियौ॥५५॥

अर्थ—(श्रीव्यासजी द्वारा रचित श्रीमद्भागवतमें जिस सिद्धान्तका प्रतिपादन किया गया है, उसे सम्प्रदायी लोग अपनी-अपनी ओर खींचते हैं।) कोई तो भागवत-धर्मके तत्त्व से अनभिज्ञ होनेके कारण तीनों काण्डों (कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड, ज्ञानकाण्ड) को एक में मिलाकर श्रीमद्भागवतकी व्याख्या करते हैं। (इनके मतके अनुसार उपर्युक्त तीनों मार्गों का श्रीमद्भागवतमें समन्वय हुआ है।) कर्मकाण्डके समर्थक पूर्वमीमांसक उसे अपनी ओर खींचते हैं और उत्तरमीमांसाके अनुयायी वेदान्ती उसे ज्ञानमार्गका ग्रन्थ बताते हैं। ये दोनों (कर्मकाण्डी और ज्ञानमार्गीय) खींचातानी करके अर्थका अनर्थ करते हैं। श्री श्रीधरस्वामीजीने 'परमहंस-संहिता' के नामसे प्रसिद्ध श्रीमद्भागवतकी 'भावार्थ-दीपिका' नामक टीका बनाई और उसमें भारतीय छहों दर्शनों (मीमांसा, वेदान्त, योग, सांख्य, न्याय, वैशेषिक) के सिद्धान्तोंके अनुकूल उस सिद्धान्तका प्रतिपादन किया जिसका समर्थन वेद भी करते हैं।

श्री श्रीधराचार्यके गुरुदेव श्रीपरमानन्द सरस्वतीकी कृपासे भगवान श्रीबिन्दुमाधवजीने श्रीधरी टीकाको अपने कर-कमलोंसे सुधार दिया—अर्थात् उसे सर्वश्रेष्ठ टीका बतलाया।

इस प्रकार श्री श्रीधरस्वामीने श्रीमद्भागवतमें उस परम भागवत-धर्मका विवेचन किया जोकि महामुनि श्रीशुकदेवजी तथा भगवान वेदव्यासजीको मान्य था।

श्री श्रीधरस्वामीके गुरुदेव श्रीपरमानन्द सरस्वती 'अद्वैतसिद्धि' के टीकाकार श्रीब्रह्मानन्द सरस्वती के भी गुरु थे। श्री श्रीधरस्वामीका स्थिति-काल १४वीं शताब्दी माना जाता है।

भक्ति-रस-बोधिनी

पंडित-समाज बड़े-बड़े भक्तराज जिते, भागवत टीका करि आपस में रीझिये।
भयो जू विचार काशीपुरी अविनाशी माँझ, सभा अनुसार जोई सोई लिख दीजियै॥
ताको तो प्रमान भगवान 'बिन्दुमाधौजू' हैं, साधौ यही बात धरि मन्दिर में लीजियै।
धरे सब जाय, प्रभु स्वकर बनाय दियो, कियो सर्वोपर लै, चल्यो मति पीजियै॥१६४॥

अर्थ—श्री श्रीधरस्वामीके समयमें बड़े-बड़े पंडित-भक्तोंने श्रीमद्भागवतपर टीकायें बनाईं थीं और सब यह सोच कर अपने-अपने मनमें प्रसन्न होते थे कि हमारी टीका ही सर्वोत्तम है और इस विषयको लेकर आपसमें वाद-विवाद भी करते थे। एक बार सब पंडितोंने, प्रलयकाल में भी नष्ट न होने वाली काशीपुरीमें सभा की और यह निश्चय किया कि सभा द्वारा जो अन्तिम निर्णय कर दिया जाय उसी के अनुसार कोईटीका सर्वश्रेष्ठ मान ली जाय। विवादकी मध्यस्थता कौन करे, जब यह प्रश्न उपस्थित हुआ, तो सब इसी अन्तिम परिणामपर पहुँचे कि भगवान श्रीबिन्दुमाधवजीको प्रमाण माना जाय और सब टीकाओंको मंदिरमें ले जाकर रख दिया जाय।

ऐसा ही किया गया। सबने अपनी-अपनी टीकाएँ श्रीबिन्दुमाधवजीके मन्दिरमें रख दीं। बादमें जब मन्दिरकी किवाड़ें खोली गईं तो लोगोंने देखा कि भगवान श्रीबिन्दुमाधवजीने अपने हस्त-कमलसे लिखकर यह निर्णय कर दिया कि श्री श्रीधर स्वामीकी टीका सर्वश्रेष्ठ है। फिर तो श्रीधरी-टीकाका विद्वानोंकी मण्डलीमें अधिक प्रचार हुआ और सब लोग उसका अध्ययन कर प्रसन्न हुए।

श्रीप्रियादासजीकी टीकाके अतिरिक्त आचार्य श्री श्रीधरस्वामीके जीवनके सम्बन्धमें अनेक चमत्कार-पूर्ण घटनाएँ किंवदन्तियोंके रूपमें प्रचलित हैं। उनके बाल्य-जीवनसे सम्बन्धित एक घटनाका उल्लेख संक्षेपमें यहाँ किया जाता है। दक्षिण-भारतमें एक नगर था। एक बार वहाँका राजा अपने मन्त्रीके साथ रास्तेमें जारहा था। प्रसंगवश भगवानकी कृपा तथा प्रभावके सम्बन्धमें चर्चा चल पड़ी। मन्त्रीने कहा—"महाराज! भगवानकी उपासनासे उनकी कृपा प्राप्त करके अयोग्य भी योग्य हो सकता है, कुनाथ भी सनाथ हो जाता है, मूर्ख भी विद्वान् हो सकता है।" संयोगकी बात ऐसी हुई कि उसी समय एक बालक मिट्टीका तेल लेकर आता हुआ दिखाई दिया। वह तेल ऐसे पात्रमें ले जा रहा था कि अगर उसमें थोड़ी भी बुद्धि होती तो उस कार्यके लिए ऐसे पात्रका प्रयोग नहीं करता। राजाने उसकी ओर देखा और हँसकर मन्त्रीसे कहने लगा—"क्या यह बेवकूफ भी विद्वान् हो सकता है?" मन्त्रीने और अधिक विश्वासके साथ कहा—"क्यों नहीं? भगवानकी कृपासे यह भी उद्भट विद्वान् हो सकता है।"

राजाने बालकको बुलाया। उससे पूछताछ करने पर पता चला कि वह बिना माँ-बापका एक ब्राह्मण-कुमार है। भगवानकी कृपाकी परीक्षा करनेके उद्देश्यसे उसे नृसिंह भगवानका मन्त्र देकर प्रभु की उपासनामें लगा दिया गया। भगवानकी यह सब प्रेरणा थी, अतः बालक भी निर्मल भावसे भगवानके भजन एवं उपासनामें लग गया और भगवानने प्रसन्न होकर उसे दर्शन देकर वरदान दिया—"वत्स! तुम्हें, वेदाङ्ग, दर्शन आदिका पूर्ण ज्ञान होगा और मेरी भक्ति तुम्हारे हृदयमें सर्वदा बनी रहेगी।" नृसिंह भगवान अन्तर्धान होगए। यही बालक आगे चलकर परम भक्त एवं विद्वान् श्री श्रीधर-स्वामीके रूपमें लोकमें प्रख्यात हुए।

इनके पाण्डित्यकी समानता करनेवाला उस समय कोई भी नहीं था। विद्वान् इनका नाम बड़ी श्रद्धा और सम्मानसे लिया करते थे। इनका विवाह हुआ और इन्होंने गृहस्थ-धर्म स्वीकार किया, किन्तु

वे माया-जालमें नहीं फँसे। प्रतिक्षण इनका हृदय भगवानकी भक्तिकी ओर आकर्षित होता रहता था। कुछ समय बाद इनके एक पुत्र पैदा हुआ और इनकी पत्नी बच्चेके जन्मके कुछ समय पश्चात ही इस संसारसे चल बसी। बच्चेके पालन-पोषणका भार अब श्री श्रीधरजीपर ही आगया। यद्यपि इस बात में इनका विश्वास था कि समस्त संसारके जीवोंका पालन करनेवाले भगवान हैं, किन्तु फिर भी मायाके थोड़ेसे प्रभावके कारण वे पुत्रके प्रति मोहित रहते और उसे त्यागनेकी इच्छा रखते हुए भी न त्याग सके।

एक दिन ऐसा हुआ कि श्री श्रीधरजी जब बैठे हुए थे तो एक पक्षीका अंडा ऊपरसे जमीनपर गिर गया और फूट गया। उस समय तक वह पक चुका था, अत: उसके फूटते ही बच्चा बाहर निकल आया और मुँह फाड़ कर चारों ओर अपनी गर्दन हिलाने लगा। श्री श्रीधरजी यह सब दृश्य बड़े कौतूहलसे देख रहे थे। उनका विश्वास था कि यह पक्षीका बच्चा भूखा है और भोजनके अभावमें अब मर जायगा। किन्तु भगवानकी कृपा कुछ ऐसी हुई कि उसी समय एक कीड़ा ऊपरसे गिरकर अंडेके अन्दरसे निकले चिपचिपे रसमें चिपक गया और पक्षीके बच्चेने उसे खालिया। इससे श्रीश्रीधरको ज्ञान होगया और वे अपने बच्चेको भगवदाश्रयपर छोड़कर चल दिए। वे काशी गए और वहाँ भगवानके भजनमें लीन रहने लगे।

श्रीश्रीधरजीने श्रीमद्भगवद्गीता, श्रीमद्भागवत और श्रीविष्णुपुराणपर टीकाएँ कीं। इन टीकाओंके अध्ययनसे स्वामीजीकी विद्वत्ता, भक्ति, और गहन प्रेमका पता लगता है। यही कारण है कि उनकी टीकाएँ सब सम्प्रदायोंके सन्तों और महात्माओं द्वारा अमूल्य सम्पत्ति मानी जाती हैं और उनका सम्मान किया जाता है।

मूल (छप्पय)

(श्रीबिल्वमङ्गलजी)
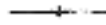
करुनामृत सुकवित्त जुक्ति अनुछिष्ट उचारी।
रसिक जनन जीवन जु हृदय हारावलि धारी॥
हरि पकरायो हाथ बहुरि तहँ लियो छुटाई।
कहा भयो कर छुटैं बदौं जो हियतें जाई॥
चिन्तामनि संग पाय कें ब्रजवधू केलि बरनी अनूप।
कृष्ण कृपा को पर प्रगट बिल्वमंगल मंगलस्वरूप॥४६॥

अर्थ—बिल्वमंगलजीने "श्रीकृष्णकर्णामृत" बनाया जोकि ऊँची कोटिकी कवित्त-रचना है। इसकी उक्तियाँ अन्य कवियोंका उच्छिष्ट (जूठन) नहीं, बल्कि यह कवि-प्रतिभासे उत्पन्न सर्वथा एक मौलिक रचना है। यह ग्रन्थ रसिकोंका प्राण है जिन्होंने इसे हारके समान अपने हृदय में धारण किया है। एक बार भगवानने स्वयं इन्हें अपना हाथ पकड़ाया और फिर उसे छुड़ा लिया। इस पर बिल्वमंगलजीने भगवानसे कहा—"इस तरह हाथ छुड़ाकर चले जाने से क्या

होगा ? मैं तो तब समझूँगा जब आप मेरे हृदयसे दूर हो जाओगे।" चिन्तामणि नामकी वेश्यामें बहुत दिनों तक आसक्त रहनेके बाद संसारसे विरक्त होकर व्रजवधुओं (गोपियों) की रस-केलिका अपने काव्यमें वर्णन किया। इस प्रकार श्रीबिल्वमंगलजी संसारके लिए मूर्तिमान मंगल (कल्याण) थे और श्रीकृष्ण भगवानके परम कृपापात्र थे।

भगवानके हाथ छुड़ाकर चले जानेके प्रसंगमें निम्नलिखित श्लोक तथा दोहे भक्तोंके मुँहसे अब भी सुननेको मिलते हैं——

(१) हस्तमुत्क्षिप्य यातोऽसि बलात् कृष्ण! किमद्भुतम्।
हृदयाद्यदि निर्यासि पौरुषं गणयामि ते॥

(२) बाँह छुड़ाए जात हो, निबल जानि के मोहि।
हिय में ते जो जाउगे, सबल बदौंगो तोहि॥

ऊपरके छप्पयमें आए हुए को 'पर' को एक शब्द——'कोपर' मानकर कुछ टीकाकारोंने उसका अर्थ 'पात्र' लगाया है। उसके अनुसार अर्थ होगा——'कृपापात्र'।

भक्ति-रस-बोधिनी

'कृष्णवेना' तीर एक द्विज मतिधीर रहै, ह्वै गयो अधीर संग 'चिन्तामणि' पाइकैं।
तजी लोकलाज, हिये वाही को जु राज, भयो निसि-दिन काज, बहै रहै घर जाइकैं॥
पिता को सराध, नेंकु रह्यो मन साधि, दिन शेष में अवेस चल्यो अति अकुलाइकैं।
नदी चढ़ी रही भारी, पैये न अवारी नाव, भाव भर्‍यो हियो जियो जात न खिजाइकैं॥१६५॥

अर्थ——दक्षिणमें 'कृष्णवेना' नामक नदीके किनारे एक गाँवमें श्रीबिल्वमंगलका जन्म हुआ। (आपके पिताका नाम रामदास था।) प्रारम्भमें आप बड़े धीर-गम्भीर थे, परन्तु बादमें 'चिन्तामणि' नामक वेश्यापर आसक्त होनेके कारण आपका वह धैर्य्य जाता रहा। उसके फेरमें पड़कर आपने लोक-लाज (सामाजिक मर्यादा) को ताकपर उठाकर रख दिया। अब आपके हृदयपर एकमात्र उसीका अधिकार था। आपका एक यही काम रह गया कि दिन-रात उसीके घर पड़े रहते। एक दिन पिताके श्राद्धके अवसरपर बड़ी कठिनाईसे मन मारकर दिन-भर घर रहे आये, परन्तु संध्या होते ही एक दम व्याकुल होकर उसके घरको चल दिए। वेश्याका घर नदीके दूसरी पार पर था। संयोगसे उस दिन नदी चढ़ी हुई थी। बहुत देर (अबेर) हो जानेके कारण कोई नाव नहीं मिल रही थी और उधर हृदयमें मिलनकी उत्कण्ठाका भाव विकल बना रहा था। ऐसी दशामें श्रीबिल्वमंगलजीको प्राण धारण करना भी कठिन होगया।

भक्ति-रस-बोधिनी

करत विचार धार-धार में न रहैं प्रान, तातें भली धार मित्र सनमुख जाइयै।
परे कूदि नीर, कछु सुधि न सरीर की है, वही एक पीर कब दरसन पाइयै॥
पैयत न पार, तन हारि भयो बूड़िबे कौं, मृतक निहारि, मानी नाव मनभाइयै।
लगेई किनारे आय, चले पग धाय धाय, आए, पट लागे निसि आधी सो बिहाइयै॥१६६॥

अर्थ—अब बिल्वमङ्गलजीने सोचा—"न तो मैं अपनी प्रिया (वेश्या) के बिना ही जी सकता हूँ और न नदीकी जल-धारामें ही (दोनों ही प्रकार मरना निश्चित है), इसलिए अच्छा यही है कि मित्र (प्रेयसी) के सामने किसी प्रकार पहुँच जाऊँ।" यह सोचकर वे नदीकी धारामें कूद पड़े । उन्हें अपने शरीरका कुछ भी होश नहीं रहा; केवल एक उत्कण्ठा थी कि प्रियतमाके कब दर्शन मिलें ! तैरते-तैरते बहुत समय होगया, पर नदीके किनारेका अभी कोई पत न था । अन्तमें वे थक गए और डूबनेको ही थे कि एक मुर्दा दीख पड़ा । आपने सोचा कि मनचाही नाव आगई । बस, चढ़ गए उस पर और किनारेपर जा लगे । अब वे बड़े चाव से दौड़ते हुए प्रेमिकाके दरवाजेपर आए, लेकिन इस समय तक आधी रात बीत चुकी थी और दरवाजा बन्द होगया था ।

भक्ति-रस-बोधिनी

अजगर घूमि भूमि भूमि कों परस कियो, लियोई सहारो, चढ्यो छात पर जाय कैं।
ऊपर किवार लगे, परयो कूदि आँगन में, गिरयो, यों गिरत रानी जागी सोर पाय कैं ।।
दीपक बराय जो पै देखें बिल्वमंगल है, "बड़ोई अमंगल, तू कियो कहा आय कैं" ।
जल अन्हवाय, सूके पट पहिराय, "हाय ! कैसें करि आयो जल पार द्वार धाय कैं ।।१६७।।

अर्थ—इसी समय बिल्वमङ्गलजीको कुछ लटकता दिखाई दिया । इन्होंने समझा कि मेरी प्रेमिकाने मेरे चढ़नेके लिए रस्सा लटका दिया है, लेकिन वास्तवमें वह एक अजगर था जोकि छतपरसे लटक कर घूमता हुआ झूम-झूम कर पृथ्वीको छू रहा था । आप उसका सहारा लेकर छतपर चढ़ गये ।

ऊपर भी किवाड़ लगे थे, अतः ये आँगनमें कूद पड़े । गिरनेसे जो शब्द हुआ उसे सुनकर इनकी प्रेमिका जाग पड़ी और दिया जलाया तो क्या देखती है कि सामने बिल्वमङ्गल खड़े हैं । उसके मुँहसे बरबस निकल पड़ा—"तुम बड़े अमङ्गल हो ! इस समय आकर यह तुमने किया क्या ?" अस्तु ।

नहला-धुलाकर वेश्याने उन्हें सूखे कपड़े पहिननेको दिये और तब पूछा—"अब यह बताओ कि कैसे तो तुमने नदी पार की और कैसे छतपर चढ़ आए ?

भक्ति-रस-बोधिनी

"नवका पठाई, डार लाव लटकाई देखि मेरे मन भाई, मैं तो लयी लई जानि कैं" ।
"चलो देखों अहो यह कहा धौं प्रलाप करै", देख्यो बिसधर महा, खीजी अपमानि कैं ।।
"जैसो मन मेरे हाड़-चाम सौं लगायो, तैसो स्याम सौं लगावै तोपै जानियें सयानि कैं ।
मैं तो भये भोर भजों जुगलकिसोर अब, तेरी तुही जानै चाहो करो मन मानि कैं" ।।१६८।।

अर्थ—बिल्वमङ्गलजीने उत्तर दिया—"तुम्हारे द्वारा भेजी गई नौकाको जब मैंने देखा

और यहाँ आकर लटकाई हुई रस्सीको देखा, तभी मैं जान गया कि तुम मुझसे कितना प्रेम करती हो !"

चिन्तामणिने सोचा—"यह न-जाने क्या अंट-संट बक रहा है, जरा चलकर देखना चाहिए कि कहाँ रस्सी लटक रही है।" वहाँ गई, तो देखा कि विशाल अजगर लटका हुआ है। अब तो वह अपमानसे झल्ला उठी और बोली—"हाड़-चामसे बने हुए इस शरीरसे तूने जैसा प्रेम किया है, वैसा यदि भगवानसे किया होता, तो मैं तुझे समझदार कहती। जो कुछ भी हो, मैं तो प्रातःकाल होते ही श्यामसुन्दरका भजन करना प्रारम्भ कर दूँगी। तेरी तू जाने। जैसा मनमें आवे, वैसा करना।"

टीकाकार श्रीप्रियादासजीने 'देखो विसधर महा खीजी अपमानि कै' इन शब्दोंके द्वारा एक अत्यन्त सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक रहस्यका उद्‌घाटन किया है। प्रश्न यह है कि चिन्तामणिने भयंकर अजगर को देख कर अपनेको अपमानित क्यों समझा ? अथवा अजगरपर चढ़नेका चिन्तामणिके अपमानके साथ क्या सम्बन्ध था ?

इसका समाधान यह है कि सर्प एक घृणित जीव होता है। जो व्यक्ति इतना गन्दा है कि अपनी पाप-वासनाकी पूर्तिके लिये उचित-अनुचितका ध्यान नहीं रखता, उसका प्रेम-पात्र बननेमें एक वेश्याको भी लज्जा आती है। वेश्या होकर मानवता तो नष्ट नहीं हो जाती ! लेकिन चिन्तामणिने देखा, बिल्वमङ्गल तो उससे भी अधिक पतित हो चुका है। यह मानव नहीं दानव है ! ऐसी स्थितिमें किसे घृणा नहीं होती ?

यह घृणा ही वैराग्यका मूल मन्त्र है। चिन्तामणिकी घृणा व्यक्तिसे प्रारम्भ होकर समस्त जग के प्रति एक क्षणमें फैल गई और उसने निश्चय कर लिया—'मैं तो भये भोर भजौं जुगलकिशोर अब।' इसके साथ ही साथ उसने एक नजर अपने ऊपर डाली, तो वर्षोंका भ्रम एक पलमें मिट गया। जिस शरीरको उसने सुन्दर समझ रक्खा था, जिसका उसे इतना अभिमान था, वह निकला हाड़-मांसका समुदाय मात्र ! महाकवि भर्तृहरिने ठीक ही कहा है—

> मुखं श्लेष्मागारं तदपि च शशाङ्केन तुलितं,
> स्तनौ मांसग्रन्थी कनककलशावित्युपमितौ।
> स्रवन्मूत्रक्लिन्नं करिवरकरस्पर्द्धि जघनं,
> मुहुर्निन्द्यं रूपं कविजनविशेषैर्गुरु कृतम् ॥

हिन्दीमें इसीका अनुवाद एक कवित्तके रूपमें देखिये—

> माँस की गरन्थी कुच, कंचन-कलस कहैं,
> मुख कहैं चन्द जो शलेष्मा को घरु है।
> दोऊ भुज कमल-मृणाल, नाभि कूप कहैं,
> हाड़ ही के खंभा तासों कहैं रंभा-तरु हैं॥
> हाड़ ही के दन्त आहि, हीरा-मोती कहैं तासों,
> चाम को अधर, ताहीं कहैं बिंबाफरु हैं।
> ऐसी झूठी जुगति बनावैं के कहावैं कवि,
> ताघर कहत हमें सारदा को वरु हैं॥

भक्ति-रस-बोधिनी

खुलि गई आँखें, अभिलाखें रूपमाधुरी कौं, चाखें रसरंग औ उमंग अंग न्यारियै।
बीन लै बजाई गाई बिपिन निकुंज-क्रीड़ा, भयौ सुख-पुंज जापै कोटि बिषै वारियै॥
बीति गई राति प्रात चले आप आपकों जू, हिये वही जाप, दृग नीर भरि ढारियै।
'सोमगिरि' नाम अभिराम गुरु कियो आनि, सकै को बखानि लाल भुवन निहारियै॥१६९॥

अर्थ—चिन्तामणिकी फटकार खाकर बिल्वमङ्गलजीकी आँखें खुल गईं—सत्-असत्‌का विवेक हृदयमें पैदा हुआ और अब वे (चिन्तामणिके बजाय) भगवानके रूप-माधुर्यके आस्वादनकी अभिलाषा करने लगे। परिणाम यह हुआ कि उन (भगवानके) ही प्रेमानन्दमें वे मग्न होगये और अङ्ग-अङ्गमें एक अलौकिक उत्साहका संचार होगया।

उधर चिन्तामणि भी एक क्षणमें ही बदल गई। उसने तत्काल अपनी बीणा सँभाली और उसपर श्रीकृष्ण द्वारा वृन्दावनकी कुञ्जोंमें की गई क्रीडाओंका गान करने लगी। (जब मनकी सब वृत्तियाँ संसारसे मुँह फेरकर भगवानकी ओर लग गईं, तो जिन साधनोंसे अब तक संसारको रिझाया करती थी, वह मधुर-स्वर और वीणा भी स्वतः उन्हीं भगवानकी उपासना में लग गईं।) यह एक ऐसा आनन्द था जिसकी अनुभूति बिल्वमंगलजीको जीवनमें पहिली बार हुई। इस आनन्दपर करोड़ों विषयजन्य सुख निछावर किये जा सकते थे।

इसी प्रकार गाते-बजाते और भगवानका गुणानुवाद करते जब सारी रात बीत गई, तब दोनोंने अपनी-अपनी राह ली। चिन्तामणि एक दिशाको जा रही थी, बिल्वमंगलजी दूसरीको, पर दोनों भगवानके नामकी रट लगाते जा रहे थे। उनकी आँखोंसे आनन्दके आँसू उमड़-उमड़ कर बह रहे थे।

बादमें बिल्वमंगलजीने 'सोमगिरिजी' से दीक्षा ली। आपके प्रेमका वर्णन करनेकी शक्ति किसमें है? आप समस्त संसारमें लालजी (श्रीकृष्ण) के ही रूपका दर्शन करते थे।

भक्ति-रस-बोधिनी

रहे सो बरस, रस-सागर मगन भये, नये-नये चोज श्लोक पढ़ि लीजियें।
चले वृन्दावन, मन कहै कब देखौं जाय, आय मग माँझ एक ठौर मति भीजियें॥
परयो बड़ो सोर दृग कोर कं न चाहे काहू, तहाँ सर तिया न्हाति, देखि आँखें रीझियें।
लगे वाके पाछे काछ काछें की न सुधि कछू गई घर आछे, रहे द्वार, तन छीजियें॥१७०॥

अर्थ—एक वर्ष तक गुरुदेवकी सेवामें रत रहकर श्रीबिल्वमंगलजी प्रेमानन्दके समुद्रमें डुबकियाँ लगाते रहे। इन दिनों आपकी जीवन-चर्या यह थी कि आप भक्ति-रसपूर्ण और राधा-कृष्णकी शृङ्गार-लीलाओंका वर्णन करनेवाले नये-नये काव्य पढ़ा करते तथा स्वयं भी रचना करते। इन काव्योंको पढ़नेसे आपके हृदयमें श्रीवृन्दावनके दर्शन करनेकी तीव्र लालसा जाग पड़ी और आप सोचने लगे कि वह दिन कब आएगा जब मैं श्रीवृन्दावनको देखूँगा। आप चल

दिए और मार्गमें एक सरोवर पर पहुँचकर विश्राम किया। उस समय भगवानकी रूप-माधुरीके ध्यानमें आप इतने लीन थे कि तन-बदनकी सुध खो गई (और उन्मत्तकी भाँति नाचने-गाने लगे ।) आपको ऐसी दशामें देखकर गाँवमें हल्ला मच गया (और लोग इकट्ठा हो गए), पर आप इतने आनन्द-मग्न थे कि किसीकी ओर आँखें उठाकर देखा तक नहीं।

दैवयोगसे उसी तालाबमें एक सुन्दरी स्नान कर रही थी। देखते ही आप उसपर लट्टू हो गए और सब लाज-शर्मको तिलाञ्जलि देकर उसके पीछे हो लिए। इस समय आप यह भी भूल गए कि मैंने भगवानके भक्तका बाना पहिन रक्खा है; लोग देखेंगे, तो क्या कहेंगे ? जब वह रमणी अपने घरमें घुस गई, तो आप दरवाजेपर जम गए। विरहकी अग्निमें इस समय आपका शरीर जल-जलकर क्षीण हो रहा था।

इस स्थानपर टीकाकारोंने श्रीबिल्वमंगलजीको बचानेकी चेष्टा की है और उनकी ओर से पैरवी करते हुए लिखा है कि यह न समझना चाहिए कि वे उस स्त्रीमें आसक्त हो गए थे। उन्होंने तो उसके अनुपम रूपमें अपने आराध्य श्रीश्यामसुन्दरके त्रैलोक्य-विमोहन रूपकी झाँकी की थी और उसीके लालच में फँसकर घर तक पहुँचे थे।

श्रीबिल्वमंगलजीके बादके चरित्रसे यह युक्ति मेल नहीं खाती। उनके हृदयमें यदि दूषित भावनाएँ पैदा न हुई होतीं, तो बाद में सुईसे अपनी आँखें फोड़कर पश्चात्ताप करनेकी आवश्यकता न थी। दूसरे यह कि अपनी साधनामें प्रवृत्त हुए अभी उन्हें एक वर्ष ही तो हुआ था। अतः वर्षोंके दूषित संस्कार यदि सहारा पाकर फिर जाग पड़ें, तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ? फिर इन्द्रियाँ तो बड़ी बलवती होती हैं। वे अच्छे-अच्छे योगियोंको भी अपनी ओर खींच लेती हैं। इसीलिए मानवके विषयोन्मुख मनकी तुलना कुत्तेसे करते हुए स्वामी अग्रदासजी एक कुण्डलीमें लिखते हैं—

> कूकर चौक चढ़ाइए चाकी चाटन जाइ ॥
> चाकी चाटन जाइ आदि अभ्यास न छाँड़े।
> बरजत वेद पुरान विषय पकरत हठि गाढ़े ॥
> जन्म पयोधर-पान कहौ तिहि कौन सिखावै।
> अनमी जनम अनेक अविद्या ही को धावे ॥
> 'अग्रदास' की बस कहा परै कूप तन चाहु।
> कूकर चौक चढ़ाइए चाकी चाटन जाइ ॥

भक्ति-रस-बोधिनी

> आयो वाको पति, द्वार देखे भागवत ठाढ़े, बड़ो भागवत, पूछी बधू सों, जनाइये।
> कही जू "पधारो, पाँव धारो गृह पावन कों, पावन पखारों जल डारों सीस भाइये" ॥
> चले भौन माँझ, मन आरति मिटायवे कों, गायवे कों कोई रीति सोई कै बताइये।
> नारि सों कह्यो "हो तू सिंगार करि सेवा कीजै लीजै यों सुहाग आमैं बेगि प्रभु पाइये" ॥१७१॥

अर्थ—उस स्त्रीका पति बाहर गया हुआ था। जब वह लौटकर आया, तो देखा कि दरवाजेपर एक हरि-भक्त खड़े हैं। वह स्वयं बड़ा भक्त था। अन्दर जाकर उसने अपनी पत्नी

से जब पूछा कि यह महात्मा कौन हैं और क्या चाहते हैं, तो उसने सारा वृत्तान्त कह सुनाया। सुनकर वह बाहर आया और आदर-पूर्वक बिल्वमंगलजीसे बोला—"अन्दर पधारिये जिससे मेरा घर पवित्र हो और मैं आपके पावन चरणोंको धोकर उनका जल मस्तकपर चढ़ा सकूँ और अपना अहोभाग्य मानूँ।"

बिल्वमंगलजी उसके साथ घरमें गए और अपने हृदयकी व्यथाको दूर करनेके लिए जिस रीतिसे ऐसी बातें कही जाती हैं, उसी प्रकार बतलाकर अपनी सच्ची स्थिति सामने रख दी।

इसपर पतिने अपनी स्त्रीसे कहा—"तुम सोलहो शृङ्गारसे सजकर उनकी सेवामें जाओ और यह भावना रक्खो कि यह बड़ा सौभाग्य है कि ऐसे भगवद्भक्तकी सेवामें जा रही हो जिसके प्रसन्न होनेसे भगवान शीघ्र मिल जावेंगे।"

यहाँ पर बुद्धिवादी पाठकोंको यह शंका हो सकती है कि बिल्वमङ्गलजीको परम भागवत जान कर भी पतिका अपनी धर्मपत्नीको यह आदेश देना कि तुम शृङ्गार कर इनकी सेवामें जाओ, कहाँ तक उचित है। हिन्दू-धर्मके अनुसार पति-पत्नीका सम्बन्ध क्या उतना ही पवित्र नहीं है जितना कि भक्त और भगवान का? क्या आध्यात्मिक भावनाकी प्रतिष्ठाके लिए यह आवश्यक है कि लौकिक धर्मों की इस सीमा तक अवहेलना की जाय?

उत्तर—इस सम्बन्धमें सर्वप्रथम श्रीप्रियादासजीने आठवें कवित्तमें जो लिखा है 'समझयो न जात मन कंप भयो चूर है। ऐपै बिना भक्तमाल भक्तिरूप अति दूर है', पर ध्यान देना आवश्यक है। उक्त कवित्तमें भक्तिमत्ता, भगवद्गुणानुवाद, नाम-जप, सन्त-सम्मान आदि भक्तिके अङ्गोंका वर्णन किया गया है, परन्तु अन्तमें जोर इसी बात पर दिया है कि 'भक्तमाल' को पढ़े बिना भक्तिके यथार्थ स्वरूपको जानना कठिन है। अर्थात् परिगणित लक्षणोंके अतिरिक्त भक्तिके कुछ तत्त्व ऐसे हैं जिन्हें भक्तोंके चरित्र का अनुशीलन करनेके उपरान्त ही हृदयंगम किया जा सकता है। उदाहरणके लिए, श्रीसदाव्रतीजीकी विलक्षण भक्ति, अथवा सुतोंको विष देनेवाली स्त्रियोंकी भावना आदि। इन महान् आत्माओंके चरित्रों को यदि लौकिक तराजूपर रख कर देखा जाय, तो आपाततः वे अत्यन्त असंगत अथवा अनैतिक मालूम होंगे। पर यथार्थमें बात ऐसी नहीं है।

पहुँचे हुए सन्त संसारके प्रत्येक पदार्थको, चाहे वह जड़ हो या चेतन, भगवानका स्वरूप ही नहीं मानते, बल्कि स्वयं साक्षात् भगवान मानते हैं। ऐसेमें यदि भगवान किसी ऐसे कार्यके लिए आज्ञा करते हैं, जो लौकिक दृष्टिसे निन्दनीय कहलाता है, तो भक्तका कर्त्तव्य हो जाता है कि उसका पालन करे। पति-पत्नीसे सम्बन्धित कर्त्तव्य चाहे जितने धार्मिक हों, अन्ततः त्रिगुणात्मक हैं—निरपेक्ष नहीं, सापेक्ष हैं। उनकी आध्यात्मिकताका मूलाधार लौकिक है, और जो कुछ लौकिक है वह नियमबद्ध है, अतएव परतन्त्र है। क्या भगवान और भक्तके बीचके सम्बन्ध भी ऐसे ही परतन्त्र हैं? क्या उनका भी कोई 'कोड' है? यदि नहीं, तो शंका कैसी?

ऐसी ही शंका बटुरूपधारी शिवजीने पार्वतीके प्रेमकी परीक्षा लेनेके लिए उनसे की थी। उन्होंने कहा था "शिव श्मशानसेवी है, कपालोंकी माला पहिनता है, बूढ़े बैलपर चढ़ता है और उसके जन्मका

पता नहीं ।" पार्वतीने इसका उत्तर देते हुए कहा था—

अलोकसामान्यमचिन्त्यहेतुकं
द्विषन्ति मन्दाश्चरितं महात्मनाम् ।

अर्थात्—महात्माओंके चरित्र ऐसे नहीं होते जैसे साधारणतया दुनियामें देखे जाते हैं। महात्मा अमुक कार्यको क्यों करते हैं, इसे लोग नहीं समझ पाते, अतः वे उनकी निन्दा करते हैं। उनकी बुद्धि उन चरित्रोंके कारणों तक नहीं पहुँच पाती।

प्रेमी पाठकोंको यदि स्मरण हो, तो मीराबाईसे भी इसी प्रकारका प्रस्ताव किया गया था और उन्होंने सहर्ष अनुमति दे दी थी। कहते हैं, नियुक्त समयपर जब कामुक व्यक्ति मीराबाईके घर पहुँचा, तो वहाँ भक्त-मण्डली विराजमान थी और मीरा उनके बीचमें नाचती हुई भगवानका गुणानुवाद कर रही थी। उस दिन मीराने कुछ शृङ्गार भी किया था, क्योंकि उसके अन्तरका उल्लास समा नहीं पा रहा था। कामी सन्तका मीराने स्वागत किया और साधुओंके बीच बिछे हुए एक सुसज्जित पलंगपर बैठनेका इशारा किया। सन्तने कहा—"यहाँ ? इन सब लोगोंके बीच में ?"

मीराने उत्तर दिया—"भगवान मेरे घर पधारे हैं, तो उनसे मिलना सबके सामने होगा। उनसे क्या छिपाना ?"

इस उत्तरको सुनकर सन्त महाशयपर क्या बीती होगी, इसका तो अनुमान ही किया जा सकता है।

भक्ति-रस-बोधिनी

चली यों सिगार करि, थार में प्रसाद लैकै, ऊँची चित्रसारी, जहाँ बैठे अनुरागी हैं।
झनक मनक जाय, जोरि कर ठाढ़ी रही, गही मति देखि-देखि नून धृति भागी हैं॥
कही युग सूई ल्यावो, ल्याई, दई, लई हाथ, फोरि डारी आँखें, "अहो! बड़ी ये अभागी हैं"।
गई पति पास स्वास भरत न बोलि आवै, बोली दुख पाय आय पाँय परे रागी हैं॥१७२॥

अर्थ—पतिकी आज्ञाको शिरोधार्यकर, वस्त्र आभूषणोंसे भलीभाँति सजकर और हाथमें भगवानके प्रसाद का थाल लेकर वह सबसे ऊपरकी मंजिलके उस कक्षमें पहुँची जिसे 'चित्रसारी' कहते हैं। आभूषणोंकी मधुर ध्वनिसे झमकती हुई वह बिल्वमङ्गलजीके आगे हाथ जोड़कर खड़ी होगई और उनकी आज्ञाकी प्रतीक्षा करने लगी।

सुन्दरीके रूपमें भगवानके स्वरूपकी झलक पाकर बिल्वमंगलजीने विषयोंकी ओर दौड़ती हुई अपनी वासनाको नियंत्रित किया और उनके मनकी कलुषित भावना तत्क्षण नष्ट होगई। बोले—"सुन्दरी! दो सुइयाँ लाओ।" ले आई वह। बिल्वमंगलजीने उनसे अपनी दोनों आँखें फोड़ डालीं-यह कहते हुए—"सब अनर्थोंकी जड़ ये ही हैं।"

सुन्दरीने यह देखा, तो घबड़ा गई और पहुँची पतिदेवके पास। उसकी साँसें जोर-जोरसे चल रही थीं; मुँहसे बोल नहीं निकलता था। अन्तमें जब उसने सारा वृत्तान्त कहा, तो उसका भगवद्भक्त पति हाय-हाय करता हुआ वहाँ गया और उनके पैरों पर गिर पड़ा।

भक्ति-रस-बोधिनी

"कियो अपराध हम, साधु कौं दुखायौ", "अहो ! बड़े तुम साधु, हम नाम साधु धरयो है" ।
"रहौ प्रभू सेवा करौं", "करी तुम सेवा ऐसी जैसी नहीं काहू माँझ, मेरो उर भरयो" है ॥
परसे तुम पाय, हग भूत से छुटाय दिये, हिये ही की आँखिन सों अबै काम परयो है ।
बैठे बन मध्य जाय, भूखे जानि आप आय, भोजन कराय "चलौ छाया बिन ढरयो है" ॥१७३॥

अर्थ—गृहस्वामीने घबड़ाकर कहा—"महाराज! हमसे बड़ा अपराध बन पड़ा है जो हमने एक साधुको दुःख पहुँचाया।" श्रीबिल्वमंगलजीने कहा—"अजी ! सच्चे साधु तो तुम हो, हम तो कहने-भरके साधु हैं।" गृहस्वामीने कहा—"आप यहीं रहिये; हम आपकी सेवा करेंगे।" श्रीबिल्वमंगल जीने कहा— "तुमने तो वह सेवा की है जो आज तक किसीने भी नहीं की। आपकी सेवासे मेरा हृदय पूर्णरूपसे तृप्त होगया।" यह कहकर वे आनन्दित होकर श्रीवृन्दावनकी ओर चल दिये। पञ्चतत्त्वोंसे बने हुए शरीरसे आपकी आँखोंका सम्बन्ध अब छूट गया था और हृदयकी आँखसे काम पड़ा था। मार्गमें आपने एक जङ्गलमें आसन लगा दिया। उन्हें भूखे जानकर भगवान स्वयं उनके पास गए और बोले—"दिन ढल गया है, चलो कहीं छायामें विश्राम करो।"

भक्ति-रस-बोधिनी

चले ले गहाय कर, छाया बन तरुतर, चाहत छुटायो हाथ, छोड़ें कैसे ? नीको है ।
ज्यों-ज्यों बल करें त्यों-त्यों तजत न एऊ अरे, लियोई छुड़ाय, गह्यो गाढ़ो रूप ही को है ॥
ऐसे ही करत वृन्दावन धन आय लियो, पियो चाहें रस, सब जग लाग्यो फीको है ।
भई उतकंठा भारी, आये श्रीबिहारीलाल, मुरली बजाइकै सु कियो भायो जीको है ॥१७४॥

अर्थ—भक्तवत्सल श्रीकृष्ण अपना हाथ पकड़ाकर श्रीबिल्वमंगलजीको ले चले और एक पेड़की सघन छायाके नीचे उन्हें बैठा दिया। भगवान अपना हाथ छुड़ाना चाहते थे, पर श्री-बिल्वमंगल भला कब छोड़ने लगे ? उनका स्पर्श तो उन्हें बड़ा सुखदायक लग रहा था। जैसे-जैसे भगवान जोर लगा कर हाथको खींचते, वैसे ही वैसे श्रीबिल्वमंगलजी भी अड़कर उसे नहीं छोड़ते थे। अन्तमें भगवानने अपना हाथ छुड़ा लिया। किन्तु हाथसे भगवानके छूट जाने पर भी श्रीबिल्वमंगलजीने उनकी माधुरी मूर्तिको हृदयसे अलग नहीं होने दिया। इस प्रकार प्रभुका सहारा पाकर वे श्रीवृन्दावनमें आ पहुँचे। वहाँ वृन्दावन-रस को पान करनेकी लालसा आपकी इतनी बढ़ी कि संसारके सब रस उसकी तुलनामें बेस्वाद जान पड़ने लगे। इनकी अनन्य भक्तिसे प्रसन्न होकर श्रीवृन्दावनविहारीने अपनी मुरली का मधुर स्वर सुनाकर इन्हें तृप्त किया। इस प्रकार श्रीबिल्वमंगलजीके सब मनोरथ श्रीवृन्दावन-धाममें पहुँच कर पूर्ण होगए।

वृन्दावन-रस—इस कवित्तमें श्रीप्रियादासजीने 'वृन्दावन-रस' की चर्चा की है। भक्त तो श्रीबिल्वमङ्गलजी श्रीवृन्दावन-धाम आनेसे पूर्व ही थे, पर वहाँ पहुँच कर उन्हें अनुभव हुआ कि 'वृन्दावन-रस' का आस्वाद किए बिना भक्तिका आनन्द अधूरा ही है। रससिद्ध भक्तोंने नित्यलीला-

निरत प्रभुको प्राप्त करनेके लिए जिन चार तत्त्वोंकी रतिका उल्लेख किया है वे हैं—(१) श्रीकृष्ण, (२) श्रीराधिकाजी, (३) सहचरिगण और (४) श्रीवृन्दावनधाम। इनमें श्रीवृन्दावन-रतिका स्थान शेष तीन तत्त्वोंके समकक्ष है। अर्थात् वृन्दावन एक स्वतन्त्र तत्त्व है) जिसकी आराधनाके बिना श्रीराधाकृष्ण की निकुञ्जलीलाका साक्षात्कार नहीं होता।

श्रीकृष्णने श्रीबिल्वमङ्गलसे अपना हाथ क्यों छुड़ाया ?—इस प्रश्नको लेकर भक्तोंने एक बड़े रोचक प्रसंग की उद्‌भावना की है। वे कहते हैं कि भगवान जब अपना हाथ छुड़ानेकी चेष्टा कर रहे थे, तब श्रीबिल्वमङ्गलजीने पूछा—"प्रभो ! ऐसा क्यों करते हैं आप ?" भगवान बोले—"इसलिए कि संसारी लोग कहा करते हैं कि सूरदासोंका विश्वास नहीं करना चाहिये। वे बड़े धोखेबाज होते हैं।"

इस आरोपको सिद्ध करनेके लिए नीचे एक दृष्टान्त दिया जाता है—

एक साहूकार अपनी स्त्रीको गाड़ीमें बिठा कर कहीं जारहा था। रास्तेमें उन्हें एक अन्धा व्यक्ति बैठा हुआ दिखाई दिया। उसके चेहरेसे यह स्पष्ट प्रतीत होता था कि वह चलते-चलते थक गया है और उसे सहायताकी जरूरत है। स्त्रियाँ स्वभावसे कोमल होती हैं। साहूकारकी स्त्रीने अन्धेपर तरस खाकर अपने पतिसे आग्रह किया कि उसे गाड़ीमें बिठा लिया जाय; परन्तु साहूकार सहमत नहीं हुआ। उसने अपनी स्त्रीसे कहा—"इन अन्धों का विश्वास नहीं होता। जिद मत करो, नहीं तो दगा खाओगी।"

लेकिन स्त्री नहीं मानी और पतिको उसे बिठाना पड़ा। मार्ग लम्बा था, पतिको बीच ही में नींद आगई। यह देखकर सूरदासने मीठी-मीठी बातें लगा कर उस स्त्रीसे उसके घरवालोंका, सास-ससुर का तथा नैहरवालोंका सब हाल धीरे-धीरे करके पूछ लिया। जब वह स्थान आगया जहाँ कि साहूकार को उतरना था, तो उसने सूरदाससे कहा—"हमारी जगह तो आगई, अब आप अपना रास्ता लीजिए।" इसपर सूरदासने साहूकारको एक डाँट बताते हुए कहा—"मालूम होता है, तुम ठग हो। तुम्हें दया करके मैंने इस गाड़ीमें स्थान दिया, इसका मतलब यह है कि तुम मेरी स्त्रीका अपहरण करना चाहते हो ? तुम्हारे पास चार पैसे हैं, तो क्या तुम गरीबोंपर अत्याचार करोगे ?"

हल्ला-गुल्ला सुनकर घटनास्थलपर लोगोंकी भीड़ लग गई और सूरदाससे प्रश्नपर प्रश्न किये जाने लगे। उसने उस स्त्रीका तथा उसके रिश्तेदार आदि सबका सन्तोष-जनक विवरण देकर लोगोंको विश्वास दिला दिया कि स्त्री उसकी है और साहूकारकी नीयत खराब है। राजदरबारमें जब सेठने फरियाद की तो राजाने आज्ञा दी कि सेठ और उसकी स्त्रीको एक कोठरीमें बन्द कर दिया जाय और सूरदास को दूसरी में। ऐसा ही किया गया। तब राजाके लगाए हुए गुप्तचरोंने छिपकर दोनोंकी बातें सुनीं। साहूकार अपनी स्त्रीसे कह रहा था कि—"देखा अब तूने ? मैंने पहिले ही कहा था कि अन्धोंका विश्वास नहीं करना चाहिए।" उधर सूरदास अँधेरी कोठरीमें तेजाके साथ माला फेर रहा था और कह रहा था—"रामप्रताप सों लगाई है जो लाई है।" गुप्तचरोंने यह सब राजासे निवेदन कर दिया। राजाने सारा रहस्य मालूम कर स्त्री को साहूकारको सौंप दिया और सूरदासके लिए उचित दंडकी व्यवस्था की।

किन्तु इस प्रसगको परम भक्त श्रीबिल्वमङ्गलजीके ऊपर नहीं घटाया जा सकता ; क्योंकि वह तो श्रीकृष्णका अपने भक्तके प्रति प्रेम-पूर्ण व्यंग्य-मात्र था।

भक्ति-रस-बोधिनी

खुलि गए नैन ज्यों कमल रवि उदै भये, देखि रूप रासि बाढ़ी कोटि गुनी प्यास है।
मुरली मधुर सुर राख्यो मद भरि मानो ढरि आयो कानन में, आनन में भास है॥
मानिकै प्रताप चिंतामनि मन-माँझ भई, "चिंतामनि जैति" आदि बोले रस-रास है।
'करनामृत' ग्रन्थ, हूवै ग्रन्थि कौं बिदारि डारें, बाँधै रस ग्रन्थ पन्थ जुगलप्रकाश है॥१७५॥

अर्थ—भगवानकी मुरलीका मधुर स्वर सुनकर श्रीबिल्वमंगलजीके नेत्र ऐसे खुल गए जैसे कि सूर्योदय होनेपर कमल खिल जाते हैं। (फिर तो भगवानने प्रत्यक्ष हो इन्हें दर्शन भी दिया।) सामने खड़े हुए सुन्दरताके समुद्रको देखकर उसे देखते रहनेकी अभिलाषा करोड़गुनी होकर बढ़ गई। मुरलीके मधुर-स्वरसे आप प्रेमसे उन्मत्त होगये और ऐसा अनुभव हुआ मानों वह स्वर रसकी धार बनकर कानोंमें प्रवेश कर रहा है। उस आनन्दसे आपका मुख-मण्डल भी दमकने लगा।

श्रीबिल्वमंगलजीको निश्चय होगया कि यह सब चिन्तामणिके उपदेशका ही प्रभाव है (जो मुझे ऐसा अलौकिक सुख प्राप्त हुआ)। अपने मनमें उसे गुरुतुल्य मान आप कह उठे—"चिन्तामणिकी जय हो!" आपने "श्रीकृष्ण-कर्णामृत" नामक ग्रन्थकी रचना की जो रसका समुद्र है। इसके पढ़नेसे हृदयमें पड़ी हुई संशयकी गाँठें खुल जाती हैं और उनके स्थानपर आनन्दकी गाँठें बँध जाती हैं—अर्थात् भक्ति-रसकी अनुभूति अत्यन्त तीव्र हो जाती है। श्रीराधा-कृष्णकी युगल उपासनाके मार्ग (रीति)को यह प्रकाशित कर देता है।

चिन्तामणिको अपना गुरु माननेकी बात श्रीबिल्वमङ्गलजीने "श्रीकृष्णकर्णामृत" में कही है। वह श्लोक निम्न-प्रकार है :—

चिन्तामणिर्जयति सोमगिरिर्गुरुर्मे शिक्षागुरुश्च भगवाञ्छिखिपिच्छमौलिः।
यत्पादकल्पतरुपल्लवशेखरेषु लीलास्वयंवररसं लभते च यच्छ्रीः॥

—चिन्तामणिकी जय हो! मेरे दीक्षागुरु सोमगिर हैं और शिक्षागुरु मस्तकपर मोरमुकुट धारण करनेवाले श्रीकृष्ण हैं जिनके चरणरूपी कल्पवृक्षकी (अंगुलीरूप) पत्तोंको अपना शिरोमुकुट बनाकर लक्ष्मी स्वयंवर-रसकी क्रीड़ाका अनुभव करती हैं।

भक्ति-रस-बोधिनी

चिन्तामणि सुनी 'बन माँझ, रूप देख्यो लाल', ह्वै गई निहाल, आई नेह-नातो जानि कें।
उठि बहु मान कियो, दियो दूध-भात दोना, 'दे पठावैं नित हरि हितू जन मानि कें॥
'लियो कैसें जाय "तुम्हैं भाव सो दियो जो प्रभु, लेंहीं नाथ हाथ सों जो देंहैं सनमानि कें।"
बैठे दोऊ जन, कोऊ पावै नहीं एक कन, रीझे स्यामघन, दीनो दूसरो हू आनि कें॥१७६॥

अर्थ—चिन्तामणिने जब सुना कि श्रीबिल्वमंगलजीको वृन्दावनमें श्रीव्रजचन्दके दर्शन हो गए हैं, तो वे कृतकृत्य होगईं और विगत जीवनके स्नेह-सम्बन्धको यादकर वृन्दावन आईं।

श्रीबिल्वमंगलजीने देखते ही खड़े होकर उनका अत्यन्त सत्कारपूर्वक स्वागत किया और दूध-भातका प्रसादी दौना दिया। (चिन्तामणिके यह पूछनेपर कि प्रसादका दौना कहाँसे मिला ?) आप बोले—"भगवान मुझे अपना कृपापात्र (प्रेमी) समझकर रोज भेज देते हैं।" इसपर चिन्तामणिने कहा—"जिसे भगवानने (अपने कर-कमलोंसे) अत्यन्त प्रेमपूर्वक आपको ही दिया है, उसे भला मैं कैसे ले सकती हूँ ? मैं तो तभी लूँगी जब भगवान मुझे भी (आपकी ही तरह) अपने कर-कमलोंसे आदरके साथ देंगे।"

चिन्तामणिने यह कहकर, जब प्रसाद ग्रहण नहीं किया, तब श्रीबिल्वमंगलजी उसे कैसे खा सकते थे ? परिणाम यह हुआ कि दोनों बैठ गए और किसीने एक किनका भी नहीं लिया। दोनोंकी भक्ति-भावनाको इस प्रकार सच्चा समझकर भगवान बड़े प्रसन्न हुए और दूसरा दौना भी लाकर दिया। तब कहीं दोनोंने प्रसाद ग्रहण किया।

पूर्वजन्मका वृत्तान्त—श्रीबिल्वमङ्गल और चिन्तामणिके पूर्वजन्मका वृत्तान्त, जैसा भक्तोंसे सुना गया है, पाठकोंके लाभार्थ यहाँ दिया जाता है—

चिन्तामणि पूर्व जन्ममें एक राजाकी पुत्री थी और श्रीबिल्वमङ्गल एक दंडी संन्यासी। जिस प्रकार बादके जन्ममें दोनों दो दिशाओंसे आकर मिले थे, इसी प्रकार पूर्वजन्ममें भी हुआ। एक को दूसरेका पता न था। दोनोंकी जीवन-चर्या भी भिन्न थी।

दुर्भाग्यसे राजपुत्री युवावस्था तक पहुँचते-पहुँचते मर गई। राजा उसे अत्यधिक प्यार करता था, अतः राजकुमारीके मर जानेपर उसके शोककी सीमा न रही। उसने आज्ञा दी कि मेरी पुत्रीको अनेक बहुमूल्य रत्न-जटित आभूषणोंसे सजाकर समाधिमें रख दिया जाय। ऐसा ही किया गया। जिस समय राजपुत्रीको भूमिमें गाड़ा जा रहा था, एक संन्यासी दूरसे खड़ा हुआ यह दृश्य देख रहा था। उसे संन्यासियोंका भण्डारा करनेके लिये बहुत रुपयोंकी जरूरत थी। उसने सोचा, लोग कैसे मूर्ख हैं जो मरे हुए शरीरमें इतनी आसक्ति रखते हैं ! ये बहुमूल्य आभूषण इस निष्प्राण शरीरके क्या काम आयेंगे ? जो धन गरीबोंकी सहायताके लिए अथवा ज्ञानियोंकी सेवामें लगना चाहिए, उसे इस प्रकार धूलमें मिलाया जा रहा है। मैं ऐसा नहीं होने दूँगा !

राजपुत्रीको गाड़ कर जब राजाके बन्धु-बान्धव चले गए और अँधेरा होगया, तब संन्यासीने समाधिको धीरे-धीरे खोला, पर आभूषण लेनेके लिये ज्योंही हाथ बढ़ाया, त्योंही समाधिमें से एक आवाज सुनाई दी—"यह क्या कर रहे हो ?"

संन्यासी चौंक कर दो गज पीछे हट गया। उसने ध्यानसे सुना, तो कोई पूछ रहा था—"तुम इन रत्नोंको लेकर क्या करोगे ?"

"भण्डारा करनेके लिए मुझे द्रव्य चाहिए", संन्यासीने उत्तर दिया।

"तो मुझे शान्तिसे सोने दो और मेरे पिताके पास चले जाओ। वे राजा हैं। उनसे कहना कि जहाँ राजकुमारी सोया करती थी, उस पलंगके सिरहानेके दोनों पायोंके नीचे दो सोने की ईंटें गड़ी हुई हैं; उन्हें दे दीजिये।"

संन्यासीने समाधिपर फिर पहलेकी तरह मिट्टी ढक दी और प्रसन्न होकर राजाके पास चल दिया। संन्यासीके कथनानुसार जब पलंगके पायोंके नीचेकी भूमि खोदी गई, तो सचमुच वहाँ सोनेकी ईंटें निकलीं। राजाने उन्हें तुरन्त संन्यासीको दे दिया।

ईंटोंको बेचकर संन्यासीने भण्डारा किया, लेकिन आवश्यकतासे अधिक साधुओंके आ जानेके कारण सामान कम पड़ गया और उसे बहुत लज्जित होना पड़ा। इसपर संन्यासी फिर राज-पुत्रीकी समाधिपर पहुँचा। अबकी बार उसने समाधिको खोलकर राजपुत्रीके शरीरपरसे सब रत्न-जटित आभूषण उतार लिए, यहाँ तक कि लड़कीका शरीर एक दम नङ्गा होगया। समाधिको ढककर जब संन्यासी चलने लगा, तो पीछेसे आवाज आई—"ठहरो!" घूमकर उसने देखा, तो कोई कह रहा था—"इसका दण्ड तुम्हें भोगना होगा।"

"किसका?" संन्यासीने पूछा

"संन्यासी होकर नग्न स्त्रीको देखनेका। तुम आगेके जन्ममें ब्राह्मण-कुलमें जन्म लोगे, लेकिन अपनी दूषित वृत्तियोंके कारण शूद्रसे भी ज्यादा पतित हो जाओगे।" आवाजने कहा।

"यह अन्याय होगा। मैंने कोई बुरा काम नहीं किया है। मैंने तो साधु-सेवाके लिए ही यह धन लिया है, अपने लिए नहीं," संन्यासी काँपते हुए स्वरमें बोला।

"साधु-सेवाका फल तुम्हें अवश्य मिलेगा, पर बाद में। पहले दण्ड भोगना होगा।" आवाज ने कहा।

"वह कैसे?"

"ऐसे कि आगेके जन्ममें मैं वेश्या बनूँगी और तुम बनोगे मेरे प्रेमी। बहुत दिन………"

"लेकिन तुमने क्या किया है जो तुम्हें वेश्याकी योनि मिलेगी? तुम तो अभी कुंआरी हो, गङ्गा-जलकी तरह पवित्र हो और राज-पुत्री हो", संन्यासीने बात काट कर पूछा।

"भगवद्-भक्तिसे शून्य, केवल कीर्ति-कामनासे साधुओंका भण्डारा करनेवाले दण्डीके दर्शन करना पाप माना गया है। इसका प्रायश्चित्त मुझे भी करना होगा," राजपुत्रीने कहा।

दण्डी चुप था। पैर आगे नहीं बढ़ रहे थे। राजपुत्रीने उसे इस हालतमें देख कहा—"दुःखी मत हो दण्डी! भगवानकी कृपासे मेरे द्वारा तुम्हारा उद्धार होगा और तुम्हारे हाथों मेरा। जाओ, साधुओंकी सेवा करो। तुम्हारे सुधरनेके लिए अभी समय है। मेरा वह पूरा हो चुका। जाती हूँ। फिर मिलेंगे।"

यह कह कर आवाज बन्द होगई और संन्यासी भी चल दिया।

मूल (छप्पय)

(श्रीविष्णुपुरीजी)

भागवत धर्म उतंग आन धर्म आन न देखा।
पीतर पटतर विगत निकष ज्यों कुन्दन-रेखा ॥
कृष्ण-कृपा कहि बेलि फलित सतसंग दिखायो।
कोटि ग्रंथ को अर्थ तेरह बिरंचन में गायो ॥
महासमुद्र भागौत तें भक्ति-रतन-राजी रची।
कलि जीव जंजाली कारने विष्णुपुरी बड़ निधि सची ॥४७॥

अर्थ—श्रीविष्णुपुरीजीने भागवत धर्मको) भक्तिके सब अङ्गोंका विस्तृत वर्णन करके) सब धर्मोंसे श्रेष्ठ ठहराया और (ज्ञान तथा कर्मस्वरूप) अन्य धर्मोंकी ओर अण (आन) करके नहीं देखा। जिस प्रकार कसौटीपर घिसनेसे पीतलका रङ्ग किंचित् मात्र भी नहीं आता, पर सोने की रेखा उभरकर चमकने लगती है, उसी प्रकार आपने अपनी बुद्धिपर सब धर्मोंको खूब परख कर देखा, किन्तु वे उसपर नहीं टिके; केवल भक्ति-सिद्धान्तका चमत्कार ही टिक पाया। आपने सत्संगको श्रीकृष्णकी कृपारूपी बेलका फल कहकर वर्णन किया। करोड़ों ग्रन्थोंके तात्पर्यको आपने अपनी 'भक्तिरत्नावली' के तेरह विरंचनों (मालाकी लड़ियों) में ही संग्रहीत किया। भागवतधर्म रूपी विशाल समुद्रमें से पाँच सौ रत्नोंको निकालकर यह 'भक्तिरत्नावली' बनाई। इस प्रकार आपने कलियुगके प्रपञ्चोंमें उलझे हुए जीवोंके कल्याणके लिए रत्नोंकी इस विशाल-निधि (कोष, खजाने) को संचित किया।

भक्ति-रस-बोधिनी

जगन्नाथ क्षेत्र माँझ बैठे महाप्रभु जू वै, चहुँ ओर भक्त भूप भीर अति छाई है।
बोले "विष्णुपुरी पुरी काशी मध्य रहैं, जाते जानियत मोक्ष चाह नीकी मन आई है ॥"
लिखी प्रभु चीठी "आप मणिगणमाला एक दीजिये पठाय, मोहि लागत सुहाई है।"
जानि लई बात, निधि भागवत, रतन दाम दई पठै आवि मुक्ति छोदि कै बहाई है ॥१७७॥

अर्थ—एक बार श्रीविष्णुपुरीजीके गुरुदेव श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभुजी जगन्नाथपुरीमें अपने भक्तोंके बीच विराजमान थे। भक्तराजोंकी भीड़ उनको चारों ओरसे घेरे हुए थी। उनमेंसे एकने कहा—"विष्णुपुरी आजकल काशीमें रह रहे हैं, इससे जान पड़ता है कि उनके हृदयमें मोक्ष पानेकी अभिलाषा जाग उठी है।" (महाप्रभुजीने उन्हें समझाया कि ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि विष्णुपुरीजी भक्तिके आगे मोक्षको तुच्छ समझते हैं।) उन्होंने श्रीविष्णुपुरीजीको एक पत्र लिखा कि रत्नोंकी एक माला मेरे लिए भेज दीजिए; मुझे वह बड़ी प्यारी लगती है।

श्रीविष्णुपुरीजी महाप्रभुका अभिप्राय समझ गए। उन्होंने श्रीमद्भागवतमें से ५०० सर्वश्रेष्ठ श्लोक छाँटकर और उनका 'भक्तिरत्नावली' नामसे संग्रह कर भेज दिया। इस संग्रहको पढ़नेसे ऐसा विदित होता है मानों इसमेंसे मोक्षको खोदकर बाहर फेंक दिया गया हो।

"भक्तिरत्नावली" के एक श्लोकका नमूना देखिए—

मुक्तावप्यतिनिस्पृहाः प्रतिदिनं प्रोन्मीलदानन्ददां
यामास्थाय समस्तमस्तकमणिं कुर्वन्ति यं स्वे वशे।
तान् भक्तानपि ताञ्च भक्तिमपि तं भक्तिप्रियं श्रीहरिं
वन्दे संततमर्थयेऽनुदिवसं नित्यं शरण्यं भजे॥

—मुक्तिकी इच्छा न रखकर, प्रतिदिन नवीन आनन्द देनेवाली जिस भक्तिका आश्रय लेकर सब देवोंके शिरोमणि श्रीहरिको जो अपने वशमें कर लेते हैं उन भक्तोंको मैं नमस्कार करता हूँ, उस भक्तिकी कामना करता हूँ और शरणागतोंके प्रतिपालक उस श्रीहरिकी उपासना करता हूँ।

मुक्तिकी तुलनामें भक्तिकी महिमाका वर्णन करते हुए श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—

सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत।
दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः॥

—मैं लोगोंको पाँच प्रकारकी मुक्तियाँ देता हूँ—(१) सालोक्य, (हरिके लोकमें निवास करना, (२) सार्ष्टि, (हरिके समान प्रभुता), (३) सामीप्य (हरिके समीप रहना), (४) सारूप्य (हरिके समान शंखचक्रगदाधारी बन जाना) और (५) एकत्व (हरिके स्वरूपमें निवास करना। लेकिन मेरे सच्चे भक्त मेरी सेवाके बिना (अतिरिक्त) उनमें से एकको भी स्वीकार नहीं करते।)

भक्तिकी महत्ताको स्पष्ट करनेवाला एक रोचक दृष्टान्त यहाँ दिया जाता है—

एक बार नारदजीके मनमें इच्छा हुई कि वृन्दावनमें जाकर रास-लीला देखनी चाहिए। वहाँ पहुँच कर उन्होंने रास-लीला देखी तो प्रसन्नताका पारावार नहीं रहा, पर अन्तमें अचानक रो पड़े। श्रीकृष्णने जब इसका कारण पूछा तो कहने लगे—"भगवन्! मैं उन लोगोंके लिए रोता हूँ जिनको आपने मोक्ष दे दी है।"

भगवान बोले—"रोना तो असलमें उनके लिए चाहिए, जो नरकको गए हैं; जो मुक्त होगए हैं वे तो बड़भागी हैं।"

नारदजी बोले—"यह बात नहीं है महाराज! जो नरकमें पड़े हैं उनके लिए तो एक बार ऐसा अवसर आ भी सकता है कि वे आपकी कृपा प्राप्त कर इस रसका अनुभव कर सकें, पर जिनका मोक्ष होगया, उनकी तो सदा ही समाप्ति हुई, अतः यह रस उनके भाग्यमें कहाँ है?"

रसिक सन्तोंने तो भक्तिकी श्रेष्ठता में यहाँ तक कह दिया है—

भक्त मुक्ति चाहैं नहीं, जे चाहैं ते कूर। भक्त भजें भगवान को, सदा रहैं हजूर॥
जिनके मुक्ति पिसाचिनी, तन मन रही समाय। सोई हरि सों विमुख हैं, फिर पाछें पछतायँ॥

(स्वामी श्रीललित किशोरीदेवजी)

—•—

मूल (छप्पय)

"नाम" "तिलोचन" सिष्य सूर ससि सदस उजागर ।
गिरा गंग उनहारि काव्य रचना प्रेमाकर ॥
आचारज हरिदास* अतुल बल आनंददायन ।
तेहिं मारग "बल्लभ" बिदित पृथु-पधति परायन ॥
नवधा प्रधान सेवा सुदृढ़ मन बच क्रम हरि चरन रति ।
बिष्णुस्वामि संप्रदाय दृढ़ ज्ञानदेव गंभीर मति ॥४८॥

अर्थ—श्रीविष्णुस्वामी सम्प्रदायमें अपने सिद्धान्तोंपर दृढ़ रहनेवाले तथा गम्भीर (परिपक्व) विचारोंसे युक्त श्रीज्ञानदेवजी हुए । आपके शिष्य श्रीनामदेवजी तथा श्रीत्रिलोचनजी हुए जो सूर्य और चन्द्रमाके समान भक्तिके आकाशमें प्रकाशित हुए । श्रीज्ञानदेवजीकी वाणी, जिसमें उन्होंने प्रेमसे छलछलाती हुई काव्य-रचना की, श्रीगङ्गाजीकी धाराके समान निर्मल और पवित्र थी । आपके हृदयमें आचार्यवर्ग तथा हरिभक्तोंका अतुल बल-विश्वास था और आप उन सबको आनन्द देनेवाले थे । इसी सम्प्रदायमें श्रीवल्लभाचार्यजी हुए जो राजा पृथुकी चलाई हुई रीतिके अनुसार प्रभुकी उपासना करते थे । स्मरण, कीर्तन, अर्चन आदि नव प्रकारकी भक्तिको ही प्रधान मानकर आपने दृढ़तापूर्वक प्रभुकी सेवा की और मन, वाणी तथा कर्म द्वारा श्रीहरिके चरणोंमें प्रीति की ।

श्रीविष्णुस्वामी—किंवदन्तीके अनुसार रुद्रदेवने बालखिल्य ऋषियोंको जो उपदेश दिया था, वही शिष्य-परम्परा द्वारा श्रीविष्णुस्वामीको प्राप्त हुआ । शुद्धाद्वैतवादके सर्वप्रथम प्रचारक वेदान्त-भाष्यकार श्रीविष्णुस्वामी ही कहलाते हैं। उन्हींकी परम्परामें श्रीवल्लभाचार्यजी प्रकट हुए । श्रीविष्णुस्वामी दक्षिणके पाण्ड्यविजय राज्यके राजगुरु श्रीदेवेश्वरके पुत्रके रूपमें प्रकट हुए थे । इनके पूर्वाश्रमका नाम 'देवतनु' था । लोकपरम्पराके अनुसार इनके बाद दो विष्णुस्वामी और हुए, इसीसे उन्हें 'आदि विष्णुस्वामी' कहा जाता है ।

दूसरे विष्णुस्वामी आठवीं शताब्दीमें दक्षिणमें हुए । श्रीकाञ्चीमें भगवान श्रीवरदराजके प्रतिष्ठापक यही बताए जाते हैं। श्रीद्वारकाके रणछोरजी भी इन्हींके स्थापित बताये जाते हैं। "श्रीकृष्णकर्णामृत' प्रसिद्ध ग्रन्थके रचयिता लीलाशुक श्रीबिल्वमङ्गलजी इन्हींके प्रशिष्य कहे जाते हैं ।

तीसरे विष्णुस्वामी आन्ध्रदेशमें हुए जिनकी शिष्य-परम्परामें श्रीलक्ष्मण भट्टजी विशेष प्रसिद्ध हुए।

आदि विष्णुस्वामीके सम्बन्धमें सविस्तार वर्णन पृ० सं० २४६ पर दिया गया है ।

---

* श्रीबालकरामजीने अपनी टीका 'भक्तदाम गुण चित्रनी' में 'हरिदास' को एक विशेष भक्त मान कर उनका चरित्र लिखा है जिसका संक्षिप्त भावार्थ आगे दिया गया है ।

श्रीज्ञानदेवजी

भक्ति-रस-बोधिनी

विष्णु स्वामि संप्रदाई बड़ोई गंभीरमति 'ज्ञानदेव' नाम ताकी बात सुनि लीजियै ।
पिता-गृह त्यागि, आय गहृ्यो संन्यास कियो, दियो बोलि झूठि "तिया नहीं" गुरु कीजियै ॥
आई सुनि वधू पाछैं, कह्यो जान्यो मिथ्यावाद "भुजनि पकरि मेरे संग करि दीजियै ।"
ल्याई सो लिवाय, जाति अति ही रिसाय दियो, पाति में से डारि, रहे दूरि, नहीं छीजियै ॥१७८॥

अर्थ—श्रीविष्णुस्वामी संप्रदायमें अत्यन्त गम्भीर बुद्धिवाले श्रीज्ञानदेवजीका वृत्तान्त सुनिए। आपके पिताने घर त्याग कर सन्यास ले लिया और गुरुजीसे झूठ बोल दिया कि मेरे पत्नी नहीं है। स्त्रीने जब संन्यासका समाचार सुना तो वह उनका पीछा करती हुई गुरुजीके पास पहुँची और कहने लगी—"इन्होंने झूठ बोल कर संन्यासकी दीक्षा ले ली है, अतः आप इनकी बाँह पकड़कर इन्हें मेरे साथ भेज दीजिए।"

वह उन्हें घर ले आई। इसपर जाति-बिरादरीवाले बड़े नाराज हुए कि संन्यासी फिर गृहस्थ बन गया। उन्होंने ज्ञानदेवके पिताको जातिसे बाहर निकाल दिया और कह दिया कि इनसे हमारा अब कोई मेल नहीं है। इस प्रकार ये समाजसे दूर ही रहने लगे।

भक्ति-रस-बोधिनी

भए तीन पुत्र तामें मुख्य बड़ो 'ज्ञानदेव' जाको कृष्णदेवजू सों हिये की सचाई है।
वेद न पढ़ावे कोऊ, कहैं सब 'जाति गई' लई करि सभा अहो कहा मन आई है ॥
"बिनसो ब्रह्मत्व," कही "श्रुति अधिकार नाहिं," बोल्यो यों निहारि "पढ़ै भैंसा" ले दिखाई है।
देखि भक्तिभाव चाव भयो आनि गहैं पाव, कियोई सुभाव वही गही दीनताई है ॥१७९॥

अर्थ—उनके तीन पुत्र हुए जिनमें बड़े ज्ञानदेव थे। इनकी श्रीकृष्णके चरणोंमें हार्दिक निष्ठा थी। जब वे विद्या पढ़नेके योग्य हुए, तो पण्डितोंने उन्हें वेद पढ़ाने से मना कर दिया। कह दिया—"तुम्हारे पिता संन्यासी होकर फिर गृहस्थी होगए थे, अतः तुम अब ब्राह्मणकी सन्तान नहीं हो—तुम्हारा ब्राह्मणत्व नष्ट हो गया है।" इसपर ज्ञानदेवजीने एक सभा बुलाई और ब्राह्मणों तथा विद्वानोंसे पूछा कि आप लोगोंके विचारसे मुझमें क्या दोष है जो मुझे वेदोंसे वञ्चित कर दिया है। ब्राह्मणोंने उत्तर दिया—"तुम्हारा ब्रह्मत्व नष्ट हो गया है, इसलिए तुमको वेद पढ़नेका अधिकार नहीं।"

यह सुनते ही ज्ञानदेवजी ने अपने चारों ओर देखा, तो कुछ दूर पर एक भैंसा खड़ा दिखाई दिया। उसे देखकर आप बोले—"वेदपाठ तो एक भैंसा भी कर सकता है (जोकि पशु है। मैं तो मनुष्य हूँ और क्या पशुसे भी पतित हूँ?)"

इसके बाद ज्ञानदेवजीने भैंसासे वेद पढ़नेको कहा, तो वह वास्तवमें वेद पढ़ने लगा। यह आश्चर्य देखकर लोग अवाक् रह गए। ज्ञानदेवजीकी भगवानमें ऐसी दृढ़ भक्ति देखकर उनके

हृदय भी भक्तिसे भर गए। वे ज्ञानदेवजीके पैरोंपर आ पड़े और जातिका मिथ्या अभिमान छोड़कर एकदम दीन होगए।

सन्त ज्ञानेश्वर (ज्ञानदेव) के जीवनसे सम्बन्धित विशेष विवरण नीचे दिया जाता है—

सन्त ज्ञानेश्वरका जन्म वि० सं० १३३२ भाद्रपद कृष्णा अष्टमीको हुआ था। इनके पिता, जिनका कि वृत्तान्त ऊपर दिया जा चुका है, का नाम श्रीविट्ठलपंत था और माताका नाम रुक्मिणीबाई। ज्ञानेश्वरजीके दो भाई थे और एक बहिन। बड़े भाईका नाम श्रीनिवृत्तिनाथ तथा छोटेका सोपान बहिनका नाम मुक्ताबाई था। ये सबसे छोटी थीं। जब ज्ञानेश्वर पाँच वर्षके थे तभी इनके माता-पिताने त्रिवेणी संगमपर जलसमाधि लेली। चारों बालक उनके बाद अनाथ रह गए। वे अब भिक्षावृत्तिसे अपना गुजारा करने लगे। संन्यासीकी सन्तान होनेके कारण आलन्दीके ब्राह्मण इनका यज्ञोपवीत संस्कार करानेके लिए राजी नहीं थे, अतः चारों भाई-बहिन पैठण पहुँचे। वहाँ ज्ञानदेवसे किसीने पूछा—"तुम्हारा क्या नाम है?" उत्तर मिला—"ज्ञानदेव।" पास खड़े दूसरे आदमीने ताना मारते हुए एक भैंसेकी ओर इशारा करके कहा—"यह हमारा भैंसा भी ज्ञानदेव है, बिचारा सुबह से शाम तक ज्ञानका ही बोझा ढोया करता है। क्या आप भी ऐसे ही ज्ञानदेव हैं?" इस पर ज्ञानदेव नाराज नहीं हुए। उसी नम्रतासे बोले—"हाँ, हाँ, बिलकुल ऐसा ही। मुझमें और इसमें कोई भी भेद नहीं है। जो यह है सोही मैं हूँ।" यह सुन किसीने सोंटा उठाया और भैंसेकी पीठ पर सटासट दो जमाकर बोला—"ये सोंटे तुम्हें भी लगे होंगे, यदि तुममें और इसमें कोई भेद नहीं है तो?" उत्तरमें ज्ञानदेवने अपना शरीर उघाड़ कर दिखला दिया। उस पर सोंटेके चिन्ह बने हुए थे। इतने पर भी उनको ज्ञान न हुआ और एक ग्रामीण फिर बोल उठा—"यह भैंसा यदि तुम्हारे-जैसा है तो अपनी-सी ज्ञानकी बातें इससे भी कराओ।" ज्ञानदेवने भैंसाकी पीठपर हाथ रखा कि वह ॐ का उच्चारण करके वेद-पाठ करने लगा। तब उन्होंने समझा कि यह कोई साधारण ब्राह्मण नहीं है, यह तो बड़ा तेजस्वी महात्मा है और सभी उनके चरणोंपर गिर पड़े।

एक बार श्राद्धके दिन श्रीज्ञानदेवजी एक ब्राह्मणके घर बैठे थे। ब्राह्मण श्राद्धकी तैयारी कर रहा था। उसी समय ज्ञानदेवजीने आह्वान करते हुए कहा—"आगन्तव्यम्" और उसी ब्राह्मणके पितृगण सशरीर आकर उपस्थित होगए।

जब पैठण के ब्राह्मणोंने ऐसा चमत्कार देखा तो इन्हें शुद्धि पत्र लिख दिया। अब लोग इनके यहाँ भगवत्-कथा सुननेके लिए आने लगे। कुछ दिनों तक पैठणमें रहकर ज्ञानदेवजी नेवासे पहुँचे। इस समय उनकी अवस्था १५ वर्षके लगभग थी। प्रसिद्ध ग्रन्थ 'ज्ञानेश्वरी'की रचना इसी समय की गई थी।

इसके उपरान्त वे तीर्थ-यात्रा के लिए निकल पड़े। इस यात्रामें उनके साथ तीनों भाई-बहिनोंके अतिरिक्त विसोबा खेचर, गोरा कुम्हार, चोखा मेला, नरहरि सुनार आदि प्रसिद्ध भक्तगण भी थे। पण्ढरपुरमें उनकी भेंट श्रीनामदेवजीसे हुई और फिर वे भी ज्ञानदेवजीके साथ हो लिए। इस यात्रामें उन्होंने उज्जैन, प्रयाग, काशी, गया, गोकुल, वृन्दावन आदि सब स्थानोंके दर्शन किए।

इक्कीस वर्ष, तीन माह और पाँच दिन इस संसारमें रह कर श्रीज्ञानेश्वरजीने मार्गशीर्ष कृष्णा १३, सम्वत् १३५३ को जीवित-समाधि ले ली।

(श्रीत्रिलोचनजी)

भक्ति-रस-बोधिनी

भये उभै शिष्य नामदेव औ त्रिलोचन जू, सूर-ससि नाईं कियो जग में प्रकाश है।
"नामा" की तो बात सुनि आए, सुनो दूसरे की सुनेंई बनत भक्त-कथा रस-रास है॥
उपजे बनिक-कुल सेवें कुल अच्युत कों एपै नहिं बनै, एक तिया रहे पास है।
टहलुवा न कोई 'साधु मननि की जान लेत' येही अभिलाष सदा दासनि को दास है॥१८०॥

अर्थ—श्रीज्ञानदेवजीके दो शिष्य हुए—श्रीनामदेवजी तथा श्रीत्रिलोचनजी। भक्तिके क्षेत्र में ये दोनों ही सूर्य और चन्द्रमाकी भाँति प्रकाशमान हैं। श्रीनामदेवजीका चरित तो पहले (पृष्ठ सं०२८६ पर) कहा जा चुका है। अब दूसरे शिष्य श्रीत्रिलोचनजीका वृत्तान्त सुनिये। इन भक्त-महानुभावकी वार्ता कथा-रससे इतनी परिपूर्ण है कि सुनते ही बनती है। आप एक वैश्य-कुलमें पैदा हुए थे और अच्युत-कुल अर्थात्—वैष्णवोंकी सेवामें सदा तत्पर रहते थे। पर जैसी सेवा वे करना चाहते थे, वैसी नहीं बन पाती थी, क्योंकि घरमें पत्नीके सिवा और कोई नहीं था। हरि-दासोंके सेवक श्रीत्रिलोचनजी यही सोचा करते थे कि कोई ऐसा नौकर मिल जाय जो सन्तोंके मनकी बात जानकर उनकी सेवा किया करे, तो बड़ा ही अच्छा हो।

भक्ति-रस-बोधिनी

आए प्रभु टहलुवा रूप धरि द्वार पर, फटी एक कामरी पन्हैयाँ टूटी पाय हैं।
निकसत पूछें "अहो कहाँ ते पधारे आप ? बाप महतारी और देखिए न याय हैं"॥
"बाप महतारी मेरे कोऊ नाहिं साँची कहौं, यहौं मैं टहल जो पै मिलत सुभाय हैं"।
"अनमिल बात कौन ? दीजियै जनाय वहू", पाऊँ पाँच-सात सेर, उठत रिसाय हैं"॥१८१॥

अर्थ—एक दिन अपने भक्तकी अभिलाषाको पूर्ण करनेके लिए स्वयं भगवान टहलुआ (चाकर) का रूप रखकर आ पहुँचे। उनके शरीरपर एक फटा कम्बल था और पैरोंमें फटे जूते। श्रीत्रिलोचनजीने घरके बाहर आकर इन्हें देखा तो लगे पूछने—"कहाँ से पधारना हुआ आपका ? ऐसा लगता है कि आपके माता-पिता आदि कोई नहीं है।" उत्तर मिला—"सच बात तो यह है कि कोई नहीं है, पर यदि मेरी प्रकृतिका कोई स्वामी मिल जाय, तो मैं उसकी सेवा करने को तैयार हूँ।" श्रीत्रिलोचनजीने पूछा— "आपके स्वभावमें क्या कोई ऐसी बात है जिसका औरोंके साथ मेल नहीं खाता ? यदि है, तो उसे भी प्रकट कर दीजिए।"

टहलुआने कहा—"मैं पाँच-सात सेर अन्न खाता हूँ। लोग इसी दोषके कारण रुष्ट होकर मुझे निकाल देते हैं।"

भक्ति-रस-बोधिनी

चारि हू बरन की जु रीति सब मेरे हाथ, साथ हू न चाहौं, करौं नीके मन लाय कै।
भक्तन की सेवा सो तौ करत जनम गयो, भयो कछु नाहिं, डारे बरस बिताय कै॥
'अंतरजामी' नाम मेरो,चेरो भयो तेरो हौं तो, बोल्यो भक्त "भाव खावौ निसंक अघाय कै"।
कामरी पन्हैयाँ सब नई करि दई और मीड़ि कै न्हवायो तन मैल को छुड़ाय कै॥१८२॥

अर्थ—टहलुआने फिर कहा—"चारों वर्णोंकी व्यवस्था करनेवाला मैं ही हूँ। मुझे किसी की सहायताकी भी आवश्यकता नहीं है। भक्तोंकी सेवा-टहल करते तो मेरा सब जीवन ही बीता है। मेरे लिए सेवा करना कोई नई बात नहीं है। इसमें मैंने वर्षों बिता दिए हैं। मेरा नाम 'अन्तर्यामी' है। आजसे मैं आपका दास हुआ।"

टहलुआकी ये बातें सुनकर श्रीत्रिलोचनजी बोले—"जितना चाहो उतना खाओ; किसी प्रकारका संकोच करनेकी आवश्यकता नहीं है।"

इस प्रकार सब बातें तय हो जाने पर श्रीत्रिलोचनजीने उनके जूते तथा कम्बल नये बदलवा दिये और खूब अच्छी तरह स्नान कराए जिससे शरीरका सारा मैल दूर हो गया।

भक्ति-रस-बोधिनी

बोल्यो घरदासी सों, तू रहै याकी दासी होय, देखियो उदासी बेत ऐसो नहीं पावनो।
खाय सो खवावो, सुख पावो नित-नित किये, जियें जग माँहि जो लौं मिलि गुन गावनो॥
आवत अनेक साधु भावत टहल हिये, लिये चाव दाबै पाँव, सबनि लड़ावनो।
ऐसे ही करत मास तेरह वितीत भए, गए उठि आपु, नेकु बात को चलावनो॥१८३॥

अर्थ—श्रीत्रिलोचनजीने अपनी स्त्रीसे कहा—"तुम इसकी दासी बनकर रहना और देखो, भोजन देते समय थोड़ी-सी भी उदासी मुख पर नहीं आने पावे, (नहीं तो) यह चला जायगा। ऐसा सेवक फिर नहीं मिलेगा। जो माँगे वही इसे खानेको देना और इस प्रकार नित्यप्रति इसकी अभिलाषाओंको पूरा करके आनन्दित रहना। (हमारा यह काम है कि) जब तक जियें तब तक तीनों मिल-जुल कर साधु-सेवा करें और भगवानके गुण गावें।"

अब तो श्रीत्रिलोचनजीके घर अनेक साधु-सन्त आने लगे। अन्तर्यामी सच्चे भावसे उनकी परिचर्या करते, रुचिपूर्वक उनके पैर दबाते और उन्हें लाड़ लड़ाते—अर्थात् उनके मनके आशयको समझकर बड़े प्रेमसे उनकी इच्छाओंको पूरा करते।

इस प्रकार सेवा करते-करते अन्तर्यामीको जब एक वर्ष और एक माह हो गया, तब जरा-सी बात चलाते ही, आप उठकर चले गए।

भक्ति-रस-बोधिनी

एक दिन गई ही परोसिन कें भक्त बधू, पूछि लई बात "अहो! काहे कौं मलीन है?"।
बोली मुसकाय "वे टहलुवा लिवाय ल्याये, क्यों हू न अघाय खोट, पोसि तन छीन है॥
काहू सों न कहौ, यह गहौ मन माँझ एरी, तेरो सौं सुनैगो जो पै जात रहै भौन है"।
सुनि लई वही नेकु, गए उठि, हुतो टेक, दुख हू अनेक जैसे जल बिन मीन है॥१८४॥

अर्थ—एक दिन श्रीत्रिलोचनजीकी स्त्री पड़ोसिनके यहाँ गई, तो वह पूछ उठी—"सखी! तू इतनी दुर्बल क्यों हो रही है?" उसने जरा-सा हँसकर उत्तर दिया—"बहिन, वे (मेरे स्वामी)

कहींसे एक टहलुआ ले आये हैं। वह लोटा पाँच सेर आटा खाता है, तो भी उसका पेट नहीं भरता और मेरा आटा पीसते-पीसते यह हाल हो गया है। परन्तु यह भेद तुम किसीको बताना मत—मनमें ही रखना। मैं तुमसे सौगन्ध खाकर कहती हूँ कि यदि कहीं उसके कानमें किसी तरह यह बात पड़ गई, तो सवेरे ही उठकर चल देगा।"

अन्तर्यामीसे यह बात कैसे छिपी रह सकती थी? उन्होंने सुन लिया और चले गए। यह तो उनकी प्रतिज्ञा थी। अब तो श्रीत्रिलोचनजीको ऐसा कष्ट हुआ जैसे बिना पानीके मछली को होता है।

भक्ति-रस-बोधिनी

बीते दिन तीनि, अन्न जल करि हीन भये, "ऐसो सो प्रवीन अहो फेरि कहाँ पाइये?
बड़ी तू अभागी! बात काहे को कहन लागी? रागी साधु-सेवा में जु कैसे करि ल्याइये॥
भई नभ-बानी 'तुम खावो पीवो पानी, यह मैं ही मति ठानी, मोकौं प्रीति-रीति भाइये।
मैं तो हौं अधीन, तेरे घर ही में रहौं लीन, ओपै कहौ, सदा सेवा करिबे कौं आइये" ॥१८५॥

अर्थ—टहलुआके चले जानेके बाद तीन दिन बीत गए, पर श्रीत्रिलोचनजीने अन्न-जल ग्रहण नहीं किया। स्त्रीसे बोले—"ऐसा चतुर सेवक अब कहाँ मिलेगा? तू बड़ी अभागिन है! भला तूने ऐसी कच्ची बात मुँहसे निकाली ही क्यों? वह साधु-सेवामें बड़ा अनुराग रखता था। बता, अब उसे कैसे लाऊँ?"

इस प्रकार जब श्रीत्रिलोचनजी पछतावा कर रहे थे, तभी आकाशवाणी हुई—"भक्तवर! तुम प्रसाद ग्रहण करो और जल पिओ। तुम्हारे यहाँ टहलुआ बनकर रहनेकी बात मैंने ही सोची थी; क्योंकि मुझे भक्तोंके प्रेम करनेकी रीति बड़ी अच्छी लगती है। मैं तुम्हारा दास हूँ और सदा तुम्हारे पास ही रहता हूँ और यदि तुम चाहो कि मैं पहलेकी तरह ही आकर तुम्हारे यहाँ रहूँ, तो उसके लिए भी मैं तैयार हूँ। कहो तो आ जाऊँ।"

भक्ति-रस-बोधिनी

कीने हरि दास, मैं तो दास हू न भयो नेकु, बड़ो उपहास मुख जग में दिखाइयै।
कहैं जन "भक्त", कहा भक्ति हम करी कहो? अहो! अजलाई रीति मन में न आइयै॥
उनकी तौ बात बनि आवै सब उनही सौं, गुन ही को लेत मेरे औगुन छिपाइयै।
आए घर मांझ तऊ मूढ़ मैं न जानि सक्यो, आवै अब क्यों हूँ पाय पाय लपटाइयै ॥१८६॥

अर्थ—श्रीत्रिलोचनजीने जब देखा कि भगवान स्वयं ऊपरसे बोल रहे हैं, तो उन्हें मनमें बड़ी ग्लानि हुई और कहने लगे—"यह मेरा कैसा दुर्भाग्य है कि भगवान स्वयं मेरे यहाँ सेवक बनकर रह गए और मैं उनकी जरा भी सेवा न कर सका। यह मेरे लिए कितनी लज्जा और हँसी की बात है? अब मैं संसारमें किस मुँहको लेकर रहूँ? लोग मुझे भक्त समझते हैं, पर

मुझसे भक्ति बनी कहाँ ? हाय ! मैं कितना मूर्ख हूँ ! प्रभुको धन्य है कि उन्होंने मेरी मूढ़तापर ध्यान नहीं दिया।

"प्रभुकी दयालुताका क्या वर्णन किया जाय ? उनकी बात तो उनसे ही बन आती है। वे अपने शरणागतोंके केवल गुणोंको ही देखते हैं, दोषोंको तो उलटा छिपा लेते हैं--किसीपर प्रकट नहीं होने देते। मुझ-जैसा मूर्ख कौन होगा कि प्रभु घरपर आए और मैं उन्हें पहिचान नहीं पाया ? अब यदि किसी तरह एक बार फिर आजायँ, तो दौड़कर उनके चरणोंमें लिपट जाऊँ।"

इस प्रकार अपनी भूलका पश्चाताप करते हुए श्रीत्रिलोचनजी भगवानके गुणोंका स्मरण करते हुए मुग्ध रहने लगे।

(श्रीवल्लभाचार्यजी)

भक्ति-रस-बोधिनी

हिये में स्वरूप, सेवा करि अनुराग भरे, ढरे और जीवनि की जीवनि कौं दीजिये।
सोई लै प्रकास घर-घर में विलास कियो, अति ही हुलास, फल नैननि कौं लीजिये ॥
चातुरी अवधि, नेकु आतुरी न होति कहूँ, चहूँ दिसि नाना राग-भोग सुख कीजिये।
"वल्लभजू" नाम लियो 'पृथु' अभिराम रीति, गोकुल में धाम जानि सुनि मन रीझिये ॥१८७॥

अर्थ—श्रीवल्लभाचार्यजीके हृदयमें पूर्ण-पुरुषोत्तम भगवान श्रीव्रजेन्द्रनन्दनकी मधुर मूर्ति सदा विराजमान रहती थी। संसारके सब काम करते हुए भी हृदयमें उन्हींका ध्यान रहता था। अत्यन्त अनुराग-भरे हृदयसे आप श्यामसुन्दरकी सेवा करते थे। जब आपका अन्तर इस प्रकार आनन्दसे परिपूर्ण हो गया तो जीवोंके कल्याणकी ओर आप उन्मुख हुए। उन्होंने सोचा कि इस आनन्दका आस्वादन औरोंको भी कराना चाहिए। फिर तो भक्तिका जो प्रकाश उनकी आत्मामें था, वह अब घर-घर क्रीड़ा करने लगा। सब भक्तोंके हृदय एक अलौकिक उल्लाससे भर गए और श्रीआचार्यपादके यहाँ तथा अन्य घरोंमें प्रभुके विग्रहका दर्शन कर लोग अपनी आँखोंको सफल बनाने लगे। श्रीवल्लभाचार्यजी सेवा-पूजाके कृत्योंमें परम निपुण थे। सेवा करते समय आपका चित्त तनिक भी चलायमान नहीं होता था। यह आपकी ही भक्ति-भावनाका फल था कि चारों ओर भगवानके भोग-रागकी चर्चा सुनाई पड़ती थी और भक्तगण अपूर्व सुख लूटते थे।

श्रीनाभास्वामीके छप्पयमें श्रीवल्लभाचार्यके सम्बन्धमें कहा गया है कि आप राजा पृथुकी रीति से भगवानकी उपासना करते थे। आपने गोकुलको अपना निवास-स्थान बनाया। आचार्यजी के सम्बन्धकी इन सब बातोंको जानकर टीकाकार श्रीप्रियादासजीका मन बड़ा आनन्दित हुआ है और वे श्रीवल्लभाचार्यजीपर रीझ गए हैं।

श्रीवल्लभाचार्यजीका विशेष वृत्तान्त—आचार्यपाद श्रीवल्लभाचार्यजीका जन्म संवत् १५३५ वि० वैशाख कृष्णा एकादशीको चम्पारण्यमें रायपुर (मध्यप्रदेश) में हुआ था। आपके पिताका नाम श्रीलक्ष्मण-भट्टजी तथा माताका नाम श्रीइल्लम्मा गारु था। ये उत्तराधि तैलङ्ग ब्राह्मण थे। इनके पूर्वज दक्षिणके काँकरवाड़ नामक ग्राममें रहते थे। कहते हैं, लक्ष्मणभट्टजीसे पूर्व सात पीढ़ीसे इस परिवारमें सोमयज्ञ होते चले आये थे और विश्वासके अनुसार सौ सोमयज्ञ पूर्ण होजानेके उपरान्त किसी भगवदीय महापुरुष का आविर्भाव अवश्य होता है। यह महापुरुष श्रीवल्लभाचार्यके रूपमें प्रकट हुए। सोमयज्ञकी पूर्तिके उपलक्ष्यमें जब श्रीलक्ष्मणभट्टजी एक लाख ब्राह्मण-भोजन करानेके लिए काशी जारहे थे, तब मार्गमें श्रीवल्लभाचार्यजीका जन्म हुआ। ये भट्टजीके द्वितीय पुत्र थे।

आपका विद्याध्ययन काशीमें हुआ। ग्यारह वर्षकी अवस्थामें वेद-शास्त्र आदिका पूर्णरूपसे अध्ययन कर आप काशीसे वृन्दावन चले गए। कुछ दिन वहाँ रह कर आप फिर तीर्थ-भ्रमणके लिए निकल पड़े। इसी यात्राके प्रसंगमें विजयनगरके राजा कृष्णदेवकी सभामें उपस्थित होकर आपने शास्त्रार्थमें कई पंडितोंको हराया और वैष्णवाचार्यकी उपाधि प्राप्त की। कहते हैं, राजाने आपकी विद्वत्तापर मुग्ध होकर आपको सोनेके सिंहासनपर विराजमान कर विधि-पूर्वक पूजन किया और बहुत-सा द्रव्य भेंट किया। श्रीवल्लभाचार्यने उसमें से थोड़ा-सा अंश लेकर शेष सब विद्वानों और ब्राह्मणोंको बाँट दिया। राजा कृष्णदेवका स्थिति-काल विक्रम संवत् १५६६ से लेकर १५८७ तक माना जाता है, अतः यह कहा जा सकता है कि श्रीवल्लभाचार्य सोलहवीं शतीके अन्तमें विद्यमान थे।

विजयनगरसे चलकर आप उज्जैनमें आए और क्षिप्रा नदीके तटपर पीपलके एक पेड़के नीचे निवास किया। वह स्थान आज भी आपकी बैठकके नामसे प्रसिद्ध है। एक ऐसी ही बैठक मथुरामें भी है और चुनारके पास भी आपका एक स्थान तथा मन्दिर है।

सुनते हैं, वृन्दावनमें जब आप फिर लौटे, तो वहाँ श्रीकृष्णने बालगोपाल-रूपमें आपको प्रत्यक्ष दर्शन दिये और उसी रूपकी उपासनाका प्रचार करनेका आदेश दिया। बादमें श्रीकृष्णकी प्रेरणासे आपने 'ब्रह्मसूत्र' पर भाष्य लिखा जोकि 'अणुभाष्य' के नामसे प्रसिद्ध है। इस भाष्यमें शाङ्करमतका खण्डन किया गया है।

अपने अन्तिम दिनोंमें आप काशी पहुँच गए थे। एक दिन आप हनुमान घाटपर गङ्गा-स्नान करने गए। जिस स्थानपर खड़े होकर आप स्नान कर रहे थे, वहाँ आगकी एक लपट उठती हुई दिखाई दी और आप सशरीर देखते ही देखते आकाशमें उठते हुए अदृश्य होगए।

श्रीवल्लभाचार्यका सिद्धान्त—श्रीवल्लभाचार्यने जिस सिद्धान्तका प्रतिपादन किया उसमें और श्रीमध्व के सिद्धान्तोंमें बहुत कुछ समानता है। श्रीवल्लभाचार्यके अनुसार जीव अणु और सेवक है। जगत् मिथ्या नहीं है। ब्रह्म जगत्‌का निमित्त और उपादान कारण है। गोलोकवासी श्रीकृष्ण ही ब्रह्म हैं। जीवात्मा और परमात्मा दोनों शुद्ध हैं, अतः इन मतको 'शुद्धाद्वैत' कहा जाता है। इस मतके अनुसार सेवा दो प्रकार की है—फलरूपा और साधनरूपा। एकान्त चित्तसे श्रीकृष्णका ध्यान करना मानसी सेवा है और द्रव्य तथा शरीर द्वारा की गई सेवा साधन-रूपा है। इस मतमें गोलोकमें स्थित आनन्द-धाम वृन्दावनमें भगवानकी कृपासे गोपी-भाव प्राप्त कर पति-रूपमें भगवानकी सेवा करना और अखंड रसमें निमग्न रहना ही एकमात्र लक्ष्य होता है। इसके लिए न ज्ञानसे काम चलता है, न भक्तिसे, यहाँ तो प्रीति ही मुख्य उपादान है।

यह सम्प्रदाय पुष्टिमार्गीय कहा जाता है। पुष्टि-भक्तिका उदय भगवत्-कृपाके बिना नहीं होता। गोलोकमें स्थित श्रीकृष्णकी सायुज्य प्राप्ति ही मुक्ति है। इस विषयमें आचार्य-प्रभुका कहना है—

गृहं सर्वात्मना त्याज्यं तच्चेत् त्यक्तुं न शक्यते।
कृष्णार्थं तत्प्रयुञ्जीत कृष्णोऽनर्थस्य मोचकः॥

—घर-द्वारको छोड़ देना चाहिए। यदि वह न छोड़ा जा सके, तो उसका उपयोग श्रीकृष्णकी सेवाके लिए करना चाहिए। श्रीकृष्ण सब प्रकारके अनर्थोंसे छुटकारा दिलाते हैं।

श्रीवल्लभाचार्यके शिष्यगण—व्रजमें आकर श्रीवल्लभाचार्यने गऊघाट पर महाकवि सूरदासको दीक्षा दी और उसके अनन्तर विश्रामघाटपर कृष्णदास अधिकारीको 'ब्रह्म-सम्बन्ध' दिया। चौरासी आचार्य-शिष्योंमें सूरदास, कुम्भनदास, कृष्णदास, परमानन्ददास आदि प्रसिद्ध हैं।

परम्परा—श्रीवल्लभाचार्यके बाद उनके सुपुत्र गोस्वामी श्रीविट्ठलनाथजीने भी अपने पितृचरण जैसी ख्याति प्राप्त की। वल्लभसम्प्रदायका विस्तार उन्हींके द्वारा हुआ। इस सम्प्रदायका प्रसिद्ध और प्रामाणिक ग्रन्थ "श्रीविद्वन्मण्डन" आपका ही लिखा हुआ है। इस सम्प्रदायमें अनेक धुरन्धर विद्वान् हुए जिनमें "अणुभाष्य"के टीकाकार श्रीपुरुषोत्तमजी महाराज, "शुद्धाद्वैतमार्तण्ड" के रचयिता श्रीगिरधरजी महाराज, "प्रमेयरत्नार्णव" के लेखक श्रीबालकृष्ण भट्ट आदि प्रसिद्ध हैं। गोस्वामी श्रीविट्ठलनाथजीके सात पुत्र हुए। इन्हीं सातों पुत्रोंके द्वारा इस सम्प्रदायकी सात गद्दियोंकी स्थापना हुई। इनके अनुयायी भी पृथक्-पृथक् थे और उनके अलग-अलग स्थान बन गये। परन्तु प्रधान-प्रधान विषयोंमें सब आचार्य प्रायः एकमत हैं।

भक्ति-रस-बोधिनी

गोकुल के देखिबे कों गयो एक साधु सूधो, गोकुल मगन भयो रीति कछु न्यारियै।
छोंकर के वृक्ष पर बटुवा भुलाय दियो, कियो जाय दरसन, सुख भयो भारियै॥
देखै आइ नाहीं प्रभु, फेरि आप पास आयो, चिन्ता सों मलीन देखि, कही जा निहारियै।
वैसेई सरूप केई, गई सुधि बोल्यौ आनि, लीजियै पिछानि कह्यो सेवा नित धारियै॥१८८॥

अर्थ—एक बार एक सीधे स्वभाववाले सन्त गोकुलके तथा श्रीवल्लभाचार्यजीके दर्शन करनेके लिए गए। वहाँ श्रीकृष्णके बाल-रूपकी उपासनाको देखकर आनन्दमें विह्वल हो गए। वहाँकी प्रेमकी परिपाटी ही कुछ अनोखी थी। दर्शन करनेसे पूर्व साधु-महाशय छोंकरके एक पेड़पर अपना वह बटुआ लटका गए थे जिसमें कि शालग्रामकी मूर्ति रक्खी थी। उसके बाद आपने मन्दिरमें जाकर ठाकुरजी तथा श्रीवल्लभाचार्यजीके दर्शन किए। दर्शनकर उन्हें अपूर्व सुख मिला। लौटकर जब वे छोंकरके पेड़पर आए तो देखा कि बटुआ वहाँ नहीं है। वे लौटकर पहुँचे श्रीवल्लभाचार्यजीके पास और बटुआके चले जानेका सब हाल कह सुनाया। श्रीवल्लभाचार्यजीने महात्माजीको अधिक चिन्तित और उदास देखकर कहा—"जाइए; फिर जाकर देखिये।" महात्माजीने लौटकर देखा कि पेड़पर कई बटुए लटक रहे हैं। वे फिर महाराजके पास पहुँचे और अपनी परेशानी बताई। महाराजने कहा—"अपना बटुआ उनमेंसे पहिचान

लीजिए; आप तो अपने ठाकुरकी नित्य-सेवा करते हैं, फिर इतना भी नहीं पहिचान सकते कि मेरे ठाकुर कौनसे हैं ?"

भक्ति-रस-बोधिनी

खुलि गईं आँखें अभिलाखें पहिचान कीजै दीजै जू बताइ मोहिं, पाऊँ निज रूप है ।
कह्यौ जाय वाही ठौर देखौ प्रेम लेखौ हिये, लिये भाव सेवा करौ मारग अनूप है ॥
देखि कै मगन भयो लयो उर धारि हरि नैन भरि आये जान्यो भक्ति को स्वरूप है ।
निसि-दिन लाग्यौ पग्यौ जग्यौ भाग पूरन हो पूरन चमत्कार कृपा अनुरूप है ॥१८६॥

अर्थ—अब तो उनकी आँखें खुल गईं—मालूम हो गया कि यह सब श्रीवल्लभाचार्यका ही किया हुआ चमत्कार है । उन्होंने बहुत प्रयत्न किया कि अपने ठाकुरको पहिचान लूँ, पर असफल रहे । अन्तमें आचार्यजीके पास आकर प्रार्थना करने लगे कि मुझे बता दीजिए जिससे मैं अपने प्रभुके रूपका पता लगा सकूँ । आचार्यपादने कहा—"उसी स्थानपर जाकर देखिये और हृदयमें प्रेमको स्थान दीजिए । सेवा प्रेम-भावको लेकर करनी चाहिए, क्योंकि भक्तिका यह मार्ग बड़ा विलक्षण है; इसमें बिना प्रेमके कुछ हाथ नहीं लगता ।"

अबकी बार महात्माजीको अपने शालग्राम दिखाई पड़ गए । बड़े प्रसन्न हुए वे । आनन्दके कारण उनकी आँखोंमें आँसू भर आए । अब उन्हें भक्तिके स्वरूपका ज्ञान हुआ और प्रभुकी सेवामें ऐसे जुट पड़े कि उसमें पग गए—अर्थात् तन्मय होगए । उनके पूर्वजन्मके किसी शुभ-कर्मके सब पुण्य उदय हो आए थे; तभी तो श्रीवल्लभाचार्यकी कृपासे भक्तिका पूर्ण चमत्कार उन्हें देखने को मिला ।

आचार्यपादके सम्बन्धमें एक अन्य वार्ता—एक सज्जन शालग्राम शिला और प्रतिमा दोनों का साथ-साथ पूजन किया करते थे, परन्तु उनके मनमें यह धारणा बैठ गई थी कि शिला की अपेक्षा प्रतिमा श्रेष्ठ है । आचार्यपादने उन्हें समझाया कि इस प्रकार की भेद-बुद्धि ठीक नहीं । इस पर वे सज्जन अकड़ गए और रातमें प्रतिमाकी छातीपर शालग्राम शिलाको पधरा कर सोगए । प्रातःकाल उठकर देखा, तो शालग्रामकी शिला चूर-चूर होकर वहाँ पड़ी थी । बड़े लज्जित हुए वे और आचार्यप्रभुसे अपनी दुर्भावनाके लिए क्षमा माँगी । इस पर आचार्य-पादने भगवानके चरणामृतसे शालग्राम की शिलाके चूर्णको भिगोकर गोली बनानेको कहा । ऐसा करते ही मूर्ति फिर ज्यों की त्यों होगई ।

श्रीहरिदासजी

ये एक प्रतापी महात्मा थे । रम्भानामकी एक विधवा उनकी शिष्या थी । वह बड़ी भक्तिमती थी । उसके कुटुम्बके आदमियोंको कहींसे एक भैरव लग गया । जब कभी जिस किसीके भी ऊपर वह आता तो बलिके रूपमें दस मणियोंकी याचना करता । यह भैरव रम्भाके भाईके ऊपर भी आने लगा और उसके कारण वह दिन-दिन दुर्बल होता गया । भक्तिहीन पर भैरव आदिका जोर चल ही जाता है । एक बार रम्भा अपने गुरु श्रीहरिदासजी महाराजके पास गई और उनको भैरवका सब हाल कह सुनाया । हरिदासजीने कहा—"अब जब कभी उसका आवेश हो तो मुझे लिवा ले आना ।"

गुरुदेवके पाससे जब रम्भा घर पहुँची तो उसने देखा कि भाईपर भैरव आया हुआ है। वह तुरन्त गुरुजीको बुला लाई। गुरुजी आए और उन्होंने कमण्डलुसे पानी लेकर रम्भाके भाई पर छिड़क दिया। उसी समय भैरव शरीर छोड़कर दूर होगया और विकराल वेश धारण कर हरिदासजीके सामने आकर खड़ा होगया। गाँवके लोग भी उस समय वहाँ उपस्थित थे। उस भयंकर आकृतिके भैरवको देखकर सब भाग उठे इधर-उधर। भैरवने स्वामीजीकी जटाओंको हाथसे पकड़ लिया और उन्हें लगा खींचने। स्वामीजीने उसी समय नारायण-कवचका पाठ प्रारम्भ कर दिया। भगवानके भजनके प्रतापसे भक्तका बल अपार होता है। ज्योंही स्वामीजीने खींच कर एक चाँटा भैरवके गालपर मारा कि वह जमीन पर गिर पड़ा और उसका शरीर एवं माथा दर्द करने लगा। जब स्वामीजीने दूसरा हाथ उठाया तो वह उनके चरण पकड़कर करुणा-भरी वाणीसे बोला—"स्वामीजी! अब मुझे मत मारिए। मैंने आपका अपराध किया है इसके लिए मुझसे कुछ दण्ड धरा लीजिए।" सन्त तो सरल हृदय होते ही हैं। वे भैरवसे बोले—"अच्छा, तो तू हमारे सामने नाच दे। और हाँ देख, इन बनियोंसे अब कभी बलि मत माँगना। जो मेरा शिष्य होगा सो तुझे बलि नहीं देगा।"

भैरवने स्वामीजीकी सभी बातोंको स्वीकार कर लिया और उनके आदेशानुसार वह नाचा भी। अन्तमें आदर पूर्वक स्वामीजीके चरणोंमें प्रणाम करके वह चला गया। पास खड़े आदमी यह सब लीला देख रहे थे। भजनका प्रताप और स्वामीजीका चमत्कार देखकर सब उनके शिष्य होगए और भगवानकी भक्तिमें अपना मन लगाने लगे।

वास्तवमें हरिदासोंमें बड़ी सामर्थ्य होती है। उनकी बराबरी तो इन्द्रादि देवी-देवता भी नहीं कर सकते, फिर इन भैरवोंका तो कहना ही क्या? जड़भरत आदिका चरित्र इसका प्रमाण है।

मूल (छप्पय)

भक्तदास एक भूप श्रवन सीता-हर कीनो।
"मार-मार" करि खड्ग बाजि सागर में दीनो॥
नरसिंह को अनुकरन होय हिरनाकुस मारयो।
वहै भयो दसरथ राम बिछुरत तन डारयो॥
कृष्ण दाम बाँधे सुने तिहिं छन दीये प्रान।
संत साखि जानैं सबै प्रगट प्रेम कलिजुग प्रधान॥४६॥

अर्थ—भक्तोंके दास (श्रीकुलशेखरजी नामक) एक राजा थे। एक बार आप रामायण की कथामें (रावणके द्वारा) श्रीसीताजीके हरण किये जानेका प्रसंग सुन रहे थे। सुनते ही इन्हें ऐसा आवेश हुआ कि "मारो! मारो!!" चिल्लाते हुए म्यानमें से तलवार खींच ली और घोड़ेपर चढ़कर दौड़ते हुए उसे समुद्रमें कुदा दिया। (राजाकी इस प्रकारकी सच्ची भावनासे प्रसन्न होकर प्रभुने दर्शन देकर इन्हें समुद्रमेंसे निकाला और घरको लौटाया।)

इसी प्रकारके एक दूसरे भक्तराजने नृसिंह-लीलाका अनुकरण किया और उसमें स्वयं नृसिंह बने । इन्होंने जो व्यक्ति हिरण्यकशिपु बना था उसे सचमुच मार गिराया । राम-लीला करते समय यही भक्त दूसरी बार दशरथ बने और रामके वियोगमें अपना शरीर त्याग दिया ।

रतिवन्ती बाईने श्रीमद्भागवतकी कथामें यह सुनकर कि माता यशोदाजीने श्रीकृष्णको रस्सीसे बाँध दिया, अपने प्राण छोड़ दिए ।

सब लोग जानते हैं और महात्मागण इस बातके साक्षी (गवाह) हैं कि कलियुगमें केवल प्रेम ही प्रधान है ।

(श्रीभक्तदास कुलशेखरजी)

भक्ति-रस-बोधिनी

संत साखि जानें कलिकाल में प्रगट प्रेम, बड़ोई असंत जाके भक्ति सों अभाव है ।
हुतो एक भूप रामरूप तत्पर महा, राम ही की लीला-गुन सुनें करि भाव है ।।
विप्र सों सुनावे सीता-चोरी को न गावे, हियो खरो भरि आवे, वह जानत सुभाव है ।
परचो द्विज दुखी, निज सुवन पठाय दियो, जाने न सुनायो भरमायो कियो घाव है ।।१६०।।

अर्थ—साधु-संत इसके साक्षी हैं कि कलियुगमें प्रेम ही भगवानका प्रत्यक्ष स्वरूप है । वह व्यक्ति बड़ा ही अभागा है जिसके हृदयमें भक्ति जागृत नहीं होती ।

(दक्षिण देशमें) एक राजा श्रीरामचन्द्रजीके रूपके अनन्य भक्त थे । उनका सारा दिन बड़े चावसे श्रीरामचन्द्रजीकी लीला और गुणानुवाद सुननेमें ही बीतता था । इनका नाम श्रीकुलशेखर था । 'भक्तदास' नामसे भी यह प्रसिद्ध हैं । एक ब्राह्मण इन्हें रामायणकी कथा सुनाया करता था । वह जानता था कि भक्तदासका स्वभाव बड़ा कोमल है और वे अत्यन्त भावुक हैं, इसीलिये सीता-हरणका प्रसंग वह उन्हें कभी नहीं सुनाता था । एक दिन कथा बाँचनेवाला वह ब्राह्मण बीमार पड़ गया और उसने कथा सुनानेके लिए अपने पुत्रको भेज दिया । (वह कुलशेखरजीके स्वभावको नहीं जानता था, अतः) उसने सीता-हरणका प्रसंग पढ़कर सुना दिया । सुनते ही राजाको भ्रम हो गया कि रावण सचमुच सीताजीको हरण कर लिये जा रहा है और उसके हृदयको ऐसी चोट पहुँची जैसे किसीने घायल कर दिया हो ।

भक्ति-रस-बोधिनी

"मार-मार" करि खड्ग निकासि लियौ, दियौ घोरौ सागर में सो प्रवेस भायो है ।
"मारौं याहि काल दुष्ट रावन बिहाल करौं, पाँवन को देखौं सीता" भाव दृग छायो है ।।
जानकी रमन दोऊ दरसन दीनौ आनि, बोले चिन प्रान कियौ, नीच फल पायो है ।"
सुनि सुख भयो, गयो शोक हूवें वारत जो, रूपकी निहारनि सों फेरि के जियायो है ।।१६१।।

अर्थ—भक्तदास कुलशेखरजीने सीता-हरणका वृत्तान्त सुनते ही तलवार खींच ली और

"मारो ! मारो !!" कह कर चिल्लाते हुए ऐसे आवेशमें भर गए कि लंकापर हमला करनेके लिए आपने घोड़ेको समुद्रमें कुदा दिया और बोले—"दुष्ट रावणको अभी-अभी मार कर हाल-बेहाल किए देता हूँ और माता श्रीसीताजीके चरण-कमलोंके दर्शन कर उन्हें अभी लाता हूँ।" इस प्रकार कहते हुए राजा समुद्रमें चले जा रहे थे। उनकी आँखोंसे माता श्रीसीताजीके प्रति अनन्य प्रेमके आँसू बह रहे थे।

श्रीरामचन्द्रजीने अपने भक्तकी ऐसी विह्वल दशा देखी, तो जगन्माता श्रीसीताजी-सहित आकर राजाको दर्शन दिये और उन्हें धीरज बँधाते हुए बोले—"राजन् ! मैंने दुष्ट रावणको मार दिया है। जैसा उसने किया था, वैसा फल भोगा।"

श्रीराघवेन्द्रके इन वचनोंको सुनकर राजाके हृदयको शान्ति मिली और असह्य दुःख दूर हुआ। भगवानने अपनी अनुपम-छवि दिखाकर भक्तराजको जीवन प्रदान किया—अर्थात् राजा के जी-में-जी आया और वे अपने घर लौट आये।

(श्रीलीलानुकरण भक्तजी एवं रतिवन्तीबाई)

भक्ति-रस-बोधिनी

नीलाचल धाम तहाँ लीला अनुकर्न भयो, नरसिंहरूप धरि साँचै मारि डारयो है।
कोऊ कहैं द्वेस, कोऊ कहत अवेस, "तौपै करौ दसरथ;" कियो, भाव पूरो पारयो है॥
हुती एक बाई, कृष्णरूप सों लगाई मति, कथा में न आई, सुत सुनी, कह्यो धारयो है।
'बांधे जसुमति' सुनि औरै भई गति, करि दई साँची रति, तन तज्यो, मानो वारयो है॥१६२॥

अर्थ—नीलाचल-धाममें एक बार नृसिंह-लीला की जा रही थी। उसमें एक भक्त महानुभाव ने नृसिंहका रूप धारणकर अनुकरण किया और आवेशमें भरकर सचमुच हिरण्यकशिपुको मार डाला। कुछ लोग कहने लगे—यह वैर निकाला गया है, तो कुछ लोग कहते थे कि आवेशमें आकर ऐसा कर दिया है।

अन्तमें (भक्तकी परीक्षा लेने के लिए) लोगोंने यह प्रस्ताव किया कि ये राम-लीलामें दशरथ बनें, (तब पता लगेगा कि इनका आवेश सच्चा था या बनावटी।)

भक्त महोदयने बड़ी प्रसन्नतापूर्वक यह स्वीकार कर लिया और दशरथ-लीला की। वे उसमें भी रामके वियोगसे ऐसे व्याकुल हुए कि शरीर छोड़कर अपने भावको सत्य कर दिखाया।

श्रीरतिवंती बाईकी भी निष्ठा ऐसी ही दृढ़ थी। वे वात्सल्य-भावसे श्रीकृष्णको अपना पुत्र मानकर उपासना किया करती थीं और उनके बालरूपका ध्यान कर आनन्दमें विभोर रहती थीं। एक दिन रोजकी तरह बाईजी कथा सुनने नहीं जा सकीं। लेकिन उनका पुत्र चला गया था। उसने कथासे आकर अपनी माताको कथाका वह प्रसंग सुनाया जिसमें कि श्रीयशोदाजीने श्रीकृष्णको ऊखलसे बाँध दिया था। सुनते ही बाईजीका हाल बेहाल होगया

और बालकृष्णके दुःखका अनुभव कर शरीर छोड़ दिया । इस प्रकार उन्होंने अपने प्रभु-प्रेमको सच्चा कर दिखाया और अपने को उनके ऊपर न्यौछावर कर दिया ।

मूल (छप्पय)

हौं कहा कहौं बनाइ बात सब ही जग जानैं ।
करतैं दौना भयो स्याम सौरभ मन मानैं ॥
छपन भोग तैं पहिल खीच करमा को भावै ।
सिलपिल्ले के कहत कुँअरि पै हरि चलि आवै ॥
भक्तन हित सुत विष दियो भूपनारि प्रभु राखि पति ।
परसाद अवग्या जानि के पानि तज्यो एकै नृपति ॥५०॥

अर्थ—श्रीपुरुषोत्तमपुरीका एक ही ऐसा राजा हुआ जिसने अपने दाहिने हाथको इसलिए कटवा दिया कि उससे प्रसादकी अवज्ञा बन पड़ी थी । श्रीनाभास्वामी कहते हैं कि यह बात मैं अपनी ओरसे बनाकर नहीं कह रहा हूँ, बल्कि इसे तो सारा संसार जानता है कि राजाके उसी कटे हुए हाथसे दौना (पुष्प) उत्पन्न हुआ जिसकी सुगन्ध श्रीश्यामसुन्दरको बहुत ही प्यारी लगती है ।

श्रीजगन्नाथजीके मन्दिरमें छप्पन भोगसे पहले श्रीकर्माबाईकी खिचड़ी निवेदन की जाती है; इसलिए कि प्रभुको वह सब व्यञ्जनोंसे अधिक स्वादिष्ट लगती है ।

'सिल्ल-पिल्ले' नामसे पुकारते ही दो कन्याओंके पास भगवान किस प्रकार भगे चले आते थे, सो कथा सबको मालूम है ही ।

एक राजाकी रानियोंने भक्तोंके लिए अपने पुत्रोंको जहर दे दिया । प्रभुने ऐसी प्रीति देखकर उनकी लज्जा रक्खी (और उनके पति एवं पुत्रोंको जीवित कर दिया ।)

(प्रसादनिष्ठ राजा श्रीपुरुषोत्तमजी)

भक्ति-रस-बोधिनी

प्रसाद को अवग्या तें तज्यौ नृप कर एक करिकैं विवेक; सुनो जैसे बात भई है ।
खेले भूप चौपरि कों, आयो प्रभु-भुक्त-शेष, दाहिने में पासे, बाएँ छुयौ, मति गई है ॥
लै गए रिसाइ कै फिराय महादुख पाय, उठ्यो नरदेव, गृह गयो, सुनो नई है ।
लियो अनसन, "हाथ तजौं याही छन, तब साँचो मेरो पन," बोलि विप्र पूछि लई है ॥१८३॥

अर्थ—श्रीजगन्नाथपुरीके राजाने अपने दाहिने हाथ से प्रसादका अपमान कर दिए जाने के कारण जिस प्रकार सोच-समझकर अपना वह हाथ कटवा डाला, वह वृत्तान्त सुनिए ।

एक बार राजा चौपड़ खेल रहे थे कि पण्डाजी श्रीजगन्नाथजीका प्रसाद लेकर आए। राजाके दाहिने हाथमें पासे थे, अतः उनकी बुद्धि उस समय ऐसी खराब हो गई कि बाएँ हाथसे प्रसादको छूकर उसे स्वीकार किया हुआ मान लिया। पण्डाजीने प्रसादका ऐसा अपमान देखा, तो गुस्सेमें भरकर उसे लौटा ले गए। खेल समाप्त हो जानेके बाद राजा महलोंमें पहुँचे, तो एक नई बात सुनी। वह यह कि पण्डाजी उसदिन पाकशालामें प्रसाद देने गए ही नहीं। अब राजा को अपने अपराधका ज्ञान हुआ। उन्होंने अन्न-जल त्याग दिया और प्रतिज्ञा की—"इस हाथको यदि इसी समय अपने शरीरसे अलग कर दूँ, तभी मेरी भक्तिकी प्रतिज्ञा सत्य समझी जाय, अन्यथा नहीं।" ब्राह्मणोंको बुलाकर राजाने अपने अपराधका इस प्रकार प्रायश्चित्त करने की व्यवस्था भी ले ली।

भक्ति-रस-बोधिनी

"काटै हाथ कौन मेरो ?" रह्यो गहि मौन याते, पूछत सचिव कहा बिथा सो विचारियै।
"आवै एक प्रेत, मो दिखाई नित देत निसि, डारिकै झरोखा कर, सोर करै भारियै॥"
"सोऊँ ढिग आइ, रहौं आपु कौं छिपाइ, तब डारै पानि आनि, तब ही सो काटि डारियै।"
कही नृप "भलैं," चौकी देत मैं घुमायो, भूप डार्‌यो उठि आइ छेव, न्यारो कियो, वारियै॥१९४॥

अर्थ—यह सोचकर कि "मेरा हाथ कौन काटेगा ?" और कोई उपाय न देखकर राजा उदास और चुप था। इतने ही में मन्त्रीने आकर राजाकी उदासीका कारण पूछा, जिससे सोच-विचार कर उसके लिए प्रयत्न किया जाय। राजाने कहा—"रोज रातको एक प्रेत मुझे दिखाई देता है; वह झरोखेमें अपना हाथ डालकर बहुत शोर मचाता है।"

मन्त्रीने इसपर कहा—"आज रातको मैं आपके पलंगके पास सोऊँगा और जैसे ही प्रेत झरोखामें हाथ डालेगा, मैं उसे काट दूँगा।"

राजाने कहा—"बहुत ठीक!"

रात होते ही, जिस समय मन्त्री चौकीदारी करनेमें भूला हुआ था—व्यस्त था, तभी राजा चुपचाप पलंगसे उठा और झरोखेमें हाथ डाल दिया। मन्त्रीने भी (उसे प्रेतका हाथ समझ कर) काट कर अलग कर दिया। इस प्रकार राजाने अपने आपको प्रभुपर न्यौछावर कर दिया।

भक्ति-रस-बोधिनी

देखि कै लजानों, "कहा कियो मैं अयानों," नृप कही "प्रेत मानौं यही, प्रभु सौं बिगारियै।"
कही जगन्नाथदेव "लै प्रसाद जावो उहाँ, ल्यावो हाथ, बोयो बाग, सोई उर धारियै॥"
चले तहाँ धाइ, भूप आगे मिल्यो आइ, हाथ निकस्यो, लगाइ हियै, भयो सुख भारियै।
ल्याए कर फूल, ताके भये फूल दौना के, जु नित ही चढ़त अंग गंध हरि प्यारियै॥१९५॥

अर्थ—मंत्रीने जब देखा कि मैंने राजाका हाथ काट डाला है, तो वह मनमें बड़ा शर्मिन्दा हुआ और कहने लगा—"मुझ अज्ञानीने यह क्या कर डाला ?"

राजाने मंत्री को धीरज बँधाते हुए कहा—"इस मेरे हाथको ही प्रेत समझो; क्योंकि इसीने प्रभुका अनादर किया है।"

इसी समय श्रीजगन्नाथदेवने पंडोंको आज्ञा दी—"मेरा प्रसाद लेकर राजाके पास अभी जाओ और उन्हें दो। राजाके कटे हुए हाथको लाकर बागमें बोदो।"

ठाकुरकी आज्ञाके अनुसार पंडे दौड़ कर राजाके पास पहुँचे। देखते ही राजाने आगे बढ़-कर उनसे भेंटकी और ज्यों ही प्रसाद लेनेके लिए दोनों हाथ उठाए, त्यों ही दाहिना हाथ सर्वांगपूर्ण होकर बाहर निकल आया। राजाने प्रेमसे प्रसादको हृदयसे लगाया और अत्यन्त आनन्दित हुए। इसके बाद, भगवानकी आज्ञाके अनुसार, अपने हाथ-रूपी फूलको लाकर बागमें गाड़ दिया। उसमेंसे अंकुर फूट कर दौना बन गया जो भगवानके श्रीअंगपर रोज धारण किया जाता है। इसकी मनमोहनी सुगन्ध ठाकुरको अब भी बड़ी प्यारी लगती है।

जगदीशके प्रसादके सम्बन्धमें शास्त्रोंमें लिखा है—

प्रसादं जगदीशस्य अन्नपानादिकं च यत्।
ब्रह्मवन्निर्विकारं हि यथा विष्णुस्तथैव तत्॥

—श्रीजगन्नाथजीका प्रसाद तथा अन्न-पान आदि सभी भोग ब्रह्मकी तरह विकार-रहित हैं। इनको विष्णुस्वरूप समझना चाहिए।

(श्री कर्माबाई जी)

भक्ति-रस-बोधिनी

हुती एक बाई, ताको 'करमा' सुनाम जानि, बिना रीति-भाँति भोग खिचरी लगावही।
जगन्नाथदेव आपु भोजन करत नीकें, जिते लगें भोग तामें यह अति भावही॥
गयो तहाँ साधु, मानि 'बड़ो अपराध करे' भरै बहु स्वास, सदाचार लै सिखावही।
भई यों अबार, देखें खोलिकें किवार, जोपै जूठनि लगी है मुख धोए बिनु आवही॥१९६॥

अर्थ—एक भक्तिन बाई थीं जिनका कि नाम "कर्मा" था। वे भगवानको भोग लगानेकी शास्त्रीय रीति नहीं जानती थीं; तिसपर भी प्रेमके कारण रोज प्रातःकाल (विधिपूर्वक चौका-बर्तन किए बिना) श्रीजगन्नाथजीको खिचड़ीका भोग लगाया करती थीं। प्रभु इस भोगको बड़े प्रेमसे अंगीकार करते थे। सब भोगोंमें उन्हें कर्माबाईका ही भोग अच्छा लगता था, अतः प्रातःकाल वे कर्माबाईके यहाँ इसीका भोग लगाते थे।

एक दिन किसी साधुने कर्माबाईको बिना आचार-विचारके भोग रखते देख लिया। इन्होंने मनमें सोचा—"यह तो बड़ा अपराध करती है," और लम्बी साँस भरकर लगे उसे उपदेश देने। इसपर बाईजीने साधुके द्वारा बताई गई विधिके अनुसार खिचड़ी बनाई, तो देरी

होगई। उधर समय होजानेपर पंडोंने मन्दिरके किवाड़ खोले तो देखा कि ठाकुरजीके मुखारविन्द पर खिचड़ी लगी हुई है। बात यह हुई कि जल्दीमें भगवान विना मुंह धोये ही विराजमान होगए थे।

भक्ति-रस-बोधिनी

> पूछी—"प्रभु! भयो कहा? कहिये प्रगट खोलि, बोलिहू न आवै हमैं, देखी नई रीति है"।
> "करमा सुनाम एक खिचरी खवावै मोहिं, मैं हूँ नित पाऊँ जाइ, जानि साँची प्रीति है॥
> गयो मेरो सन्त, रीति भाँति सो सिखाइ आयो, मत मो अनन्त, बिनु जाने यों अप्रीति है"।
> कही वही साधु सों "जु! साधि आवो वही बात", जाइकै सिखाई, हिय आई बड़ी भीति है॥१६७॥

अर्थ—पंडोंने हाथ जोड़कर श्रीठाकुर जगन्नाथजीसे पूछा—"प्रभो! यह क्या हुआ? हम लोगोंपर कहना नहीं आता, पर इतना जानते हैं कि हम नई बात देख रहे हैं।"

भगवान बोले—"कर्मा नामकी एक बाई मुझे रोज खिचड़ी भोग लगाती है और उसका निष्कपट प्रेम समझकर मैं भी नित्य जाकर खा आता हूँ। कल मेरे भक्त एक संत वहाँ पहुँचे और भोग लगानेकी विधि उसे सिखा आये। वे यह नहीं जानते कि मेरी उपासना करनेके अनन्त प्रकार हैं। जो इस तत्त्वको बिना जाने हुए किसी विशिष्ट रीति को चलाना चाहता है, वह अन्याय करता है।"

प्रभुका यह उपदेश सुनकर पंडोंने उस साधुसे कहा—"महाराज! आप कर्माबाईके पास जाकर कह आइए कि जिस रीतिसे वह पहले भोग लगाया करती थी, वही ठीक है।" साधुने ऐसा ही किया और स्वयं उसके अपने मनमें भी यह बात जँच गई कि भोग लगाने की रीति सबकी एक-जैसी नहीं हो सकती। किन्तु फिर भी उसके मनमें इस बातका भय बैठ गया कि उससे प्रभुका अपराध होगया है।

(प्रभुकी आज्ञासे आज भी सबसे पहले श्रीजगन्नाथजीको खिचड़ीका ही भोग लगता है।)

(खिलपिल्लेकी भक्त दो बाइयाँ)

भक्ति-रस-बोधिनी

> "खिलपिल्ले भक्ता उभय बाई", सोई कथा सुनौ, एक नृपसुता, एक सुता जमीदार की।
> आए गुरु घर, देखि सेवा ढिग बैठी आय, कही ललचाय "पूजा कीजै सुकुमार की"॥
> दियो सिलाटूक लैकै, नाम कहि दियो वही, कीजिये लगाय मन मति भवपार की।
> करत-करत अनुराग बढ़ि गयो भारी, बढ़ी यै विचित्र रीति वही सोभासार की॥१६८॥

अर्थ—अब खिलपिल्लेकी भक्त दो बाइयोंकी कथा सुनिये। इनमें एक राजाकी पुत्री थी और दूसरी किसी जमींदारकी। एक दिन कुल-गुरुजी इनके घर पधारे। वे जब शालग्रामकी

सेवा कर रहे थे, तो दोनों उनके पास आ बैठीं और अपनी तीव्र अभिलाषाको प्रकट करती हुई बोलीं—"सुकुमार प्रभुकी पूजा करनेके लिए हमें भी ठाकुर-मूर्ति दीजिये।"

गुरुदेवने बालक जानकर इन्हें बहलानेके लिए पत्थरके दो टुकड़े पकड़ा दिये और जब दोनों लड़कियोंने ठाकुरका नाम पूछा, तो कहदिया कि इनका नाम "सिलपिल्ले" है; इनकी मन लगाकर पूजा करना। यही तुम्हें भवसागरसे पार कर देंगे।

गुरुकी आज्ञा मानकर दोनों सेवामें जुट पड़ीं और धीरे-धीरे भगवानके प्रति उनका अनुराग बढ़ने लगा। (उनके लिए पत्थरके टुकड़ोंमें ही भगवानकी मधुर मूर्तिकी झलक मारने लगी।) अखिल सौन्दर्यके धाम भगवान की रीति बड़ी ही अनोखी है।

(जमींदार की पुत्री)

भक्ति-रस-बोधिनी

पाछिले कवित्त माँझ दुहुँन की एक रीति, अब सुनौ न्यारी-न्यारी, नीके मन दीजियै।
जमींदार-सुता ताके भए उभै भाई, रहैं आपस में बैर, गाँव मार्‍यो, सबै छीजियै॥
लामैं गई सेवा, इन बड़ोई कलेस कियौ, जियौ नाहिं जात, खान-पान कैसे कीजियै।
रहे समुझाय, याहि कछु न सुहाय तब कही "जाय ल्यावो तेरे दोऊ सम छीजियै॥१९९॥

अर्थ—पिछले कवित्तोंमें दोनों लड़कियों की कथा मिलाकर कही गई है। अब मन लगाकर उनके अलग-अलग चरित्र सुनिये।

जमींदारकी लड़कीके दो भाई थे जोकि अलग-अलग दो गाँवोंमें रहते थे। इनमें आपसमें बड़ा बैर था। एक बार एक भाईने दूसरे भाईके गाँवपर छापा मारकर सब कुछ लूट लिया और सामानके साथ लड़कीकी सेवा-पिटारी, जिसमें ठाकुरजी रहते थे, भी चली गई। यह देखकर लड़कीके हृदयको बड़ा कष्ट हुआ और उसने खाना-पीना छोड़ दिया। जीवन दूभर होगया। लोगोंने कई प्रकारसे समझाया (कि ठाकुर दूसरे मिल सकते हैं), पर उसकी समझमें नहीं आया। उसे तो अपने ठाकुरकी रट लगी थी और उनके बिना कुछ भी अच्छा नहीं लगता था। तब लोगोंने कहा—"यदि ऐसी ही बात है तो तू भाईके पास जाकर अपने ठाकुर माँग ला; तेरे लिए तो दोनों भाई समान हैं। वहाँ जानेमें संकोच कैसा?"

भक्ति-रस-बोधिनी

गई वाही गाँव जहाँ दूसरो जु भाई रहै, बैठ्यो हो अथाई माँझ, कही वही बात है।
"लेवो जू पिछानि, तहाँ बैठे एक ठौर प्रभु", बोलि उठ्यो कोऊ "बोलि लीजै प्रीति गात है"॥
भई आँखि राती, लागी फाटिबे को छाती, सो पुकारी सुर आरत सौं, मानौं तन पात है।
हिये आय लागे, सब दुख दूर भागे, कोऊ बड़े भाग जागे घर आई, न समात है॥२००॥

अर्थ—जमींदारकी लड़की उसी गाँवमें पहुँची जहाँ उसका दूसरा भाई रहता था। उस समय वह अपनी चौपालपर बैठा था। जाकर लड़कीने सब बात कह सुनाई (और अन्तमें

अपने ठाकुरजीको माँगा।) भाईने कहा—"वहाँ सब ठाकुर एक जगह विराज रहे हैं; उनमें से अपना पहिचान कर ले आओ।"

इतने ही में भाईके पास बैठे हुए किसी व्यक्तिने व्यंगसे कहा—"यदि अपने ठाकुरजीसे तुम्हें इतना ही प्रेम है,तो यहींसे उन्हें क्यों नहीं बुला लेती–वहाँ जानेकी जरूरत ही क्या है ?"

यह सुनते ही भक्तिमती लड़कीकी आँखें वियोग-जनित दुःखसे लाल होगईं और उसे लगा, जैसे छाती टुकड़े-टुकड़े हो जायगी। उसी दशामें उसने आर्त स्वरमें अपने सिलपिल्ले भगवानको पुकारा और ऐसी दीनताके साथ मानों शरीर छूटने ही वाला हो।

उसकी आवाज सुनते ही प्रभु उसी स्थानपर आकर अपनी सेविकाके हृदयसे लिपट गये। विरहिणीके अब सब दुःख दूर होगए। ठाकुरजीके मिल जानेसे उसने अपनेको बहुत बड़भागिनी समझा और आनन्दसे फूली न समाती हुई घर लौट आई।

(राजाकी पुत्री)

भक्ति-रस-बोधिनी

सुनौ नृप-सुता बात, भक्ति गात-गात पगी, भगी सब विषै-वृत्ति, सेवा अनुरागी है।
ब्याही ही बिमुख-घर, आयो लैन वहै वर, भरी अरबरी सोक चित चिंता लागी है॥
करि दई संग, भरी आपने ही रंग, चली अली हूँ न कोई एक वही जासों रागी है।
आयो ढिग पति, बोलि कियो चाहे रति,ताकी औरै भई मति मति आवौ, बिथा पागी है॥२०१॥

अर्थ—अब राज-कन्याकी वार्ता सुनिये। उसके शरीरका रोम-रोम भक्तिके रंगमें रँगा हुआ था। सब विषयोंसे उसको वैराग्य होगया था और मनकी वृत्ति भगवानकी सेवामें ही लगी रहती थी।

दुर्भाग्यसे उसका विवाह ऐसे व्यक्तिके साथ कर दिया गया जो भगवानसे विमुख था। विवाह होजाने के बाद जब उसका स्वामी उसे विदा कराने आया, तो वह बड़ी घबड़ाई और चिन्तामें पड़ गई कि इस संकटसे कैसे छुटकारा हो। लेकिन उसके बशमें क्या था ? वह अपने पतिके साथ करदी गई और उसे जाना पड़ा। वह अकेली ही थी––सखी-सहेली सबका सहारा पीछे ही छूट गया था—यदि कोई सहारा रह गया था, तो वह प्यारे भगवानका था जिनके रंगमें रँगी हुई वह चली जारही थी। मार्गमें ही जब पति उसके पास पहुँचा और शारीरिक संयोगका प्रस्ताव किया, तो वह बेचारी घबड़ा गई और बोली––"मेरे पास मत आइये; मैं अत्यन्त दुःखमें हूँ।"

भक्ति-रस-बोधिनी

"कौन वह बिथा ? ताकौ कीजियै जतन बेगि, बड़ो उदवेग, नेकु बोलि सुख दीजियै"।
"बोलिबो जो चाहो,तोपै चाहौ हरि-भक्ति हिये, बिन हरि-भक्ति मेरो अंग जिन छीजियै"॥
आयो रोष भारी अब, मन मैं बिचारी "वा पिटारी मैं जु कछु सोई लैकै न्यारो कीजियै"।
करी वही बात, मूसि जल-माँझ डारि दई, नई भई ज्वाला, जियो जात नहीं छीजियै॥२०२॥

अर्थ—पतिने पूछा—"तुम्हें क्या दुःख है ? बताओ, ताकि उसका शीघ्र ही प्रतीकार (उपाय) किया जाय। मैं तुमसे मिलनेके लिए अत्यन्त अधीर हूँ; जरा मुझसे बातें तो करो जिससे कि मेरे मनको शान्ति मिले।"

राज-कन्याने उत्तर दिया—"यदि आप मुझसे बोलना चाहते हैं, तो हृदयमें भगवान की भक्तिको स्थान दीजिये, वरना मेरा शरीर छूनेकी आवश्यकता नहीं।"

यह सुनते ही पति क्रोधसे उबलने लगा और उसने सोचा—"इसकी यह पिटारी ही हत्याकी जड़ है, अतः इसमें जो कुछ रक्खा है, उसे निकाल कर फेंक देना चाहिए।"

जैसा सोचा था, उसने वैसा ही कर दिखाया और पिटारीको चोरीसे नदीमें फेंक दिया। अपने ठाकुरजीको न पाकर राज-कन्याके हृदयमें दुःखकी एक नई ज्वाला और पैदा होगई। बिना प्रभुके प्राण धारण करना कठिन होगया था, अतः वह बेचारी गुस्सेमें भर कर खीज उठी।

भक्ति-रस-बोधिनी

तज्यो जल-अन्न, अब चाहत प्रसन्न कियो, होत क्यों प्रसन्न ज्याको सरबस लियो है।
पहुँचे भवन आय दई सो जताय बात, गात अति छीन देखि, "कहा हठ कियो है ?"
सासु समझावै, कछु हाथ सों खवावै, याकों बोलि हू न भावै, तब धरकत हियो है।
"कहौ सोई करें, अब पाँय तेरे परें हम", बोली जब वेई आवैं" तौही जात जियो है ॥२०३॥

अर्थ—राजपुत्रीने अन्न-जल त्याग दिया, तो राजकुमारने उसे प्रसन्न करनेकी बहुत चेष्टा की, लेकिन जिसका सर्वस्व छीन लिया गया हो, वह भला कैसे प्रसन्न होती ? जब वे सब घर आ पहुँचे, तब पतिने सब बात कह सुनाई। राजपुत्रीके शरीरको दिन-दिन दुर्बल होते देखकर सास तथा अन्य स्त्रियोंने कहा—"यह तूने क्या हठ ठान रक्खी है ? सासने बहुत समझाया और अपने हाथसे उसे भोजन कराना चाहा, पर खाना तो दूर रहा, उसे इन लोगोंका बोलना तक भी अच्छा नहीं लगता था। प्रभुके वियोगमें हृदय रात-दिन व्याकुलतासे धड़कता रहता। अन्तमें सबने कहा—"हम तेरे पैरों पड़ते हैं; जो तू चाहती है, वही हम करने को तैयार हैं।" राजपुत्रीने कहा—"जब वे ही (प्राणनाथ ठाकुर) आवें, तभी मेरे प्राण रह सकते हैं।"

भक्ति-रस-बोधिनी

आए वाही ठौर, भौर आई, तन भूमि गिरयो, ढरयो जल नैन, सुर आरती पुकारी है।
भक्ति वस स्याम जैसे काम-बस कामी नर, धाय लागे छाती सो जु संग सो पिटारी है ॥
देखि पति सासु आदि जगत बिवाद मिट्यो "वाद ही जनम गयो, नैकु न सँभारी है।"
किये सब भक्त, हरि-साधु सेवा माँझ पगे, जगे कोऊ भाग घर बधू यों पधारी है ॥२०४॥

अर्थ—तब सब लोग उसी स्थान पर आए जहाँ कि पतिने सेवाकी पिटारी जलमें फेंकी थी। आते ही राजपुत्री चक्कर खाकर पृथ्वीपर गिर पड़ी, नेत्रोंसे आँसुओंकी धारा बह निकली

और दीनता-भरे स्वरमें अपने प्रभु सिलपिल्लेका नाम ले-लेकर पुकारने लगी। भगवान तो भक्तिके उसी प्रकार वशमें रहते हैं, जैसे कामी मनुष्य वासनाओंके वशमें रहता है। अपने भक्तकी पुकार कानमें पड़ते ही आप पिटारी-सहित अपनी वियोगिनीकी छातीसे आ चिपटे। पति, सास तथा घरके अन्य लोगोंने यह चमत्कार देखा, तो जगत्के प्रपंचकी तरफसे उनका मन हट गया—अर्थात् उन्होंने समझ लिया कि संसारके सब सम्बन्ध मिथ्या हैं; केवल भगवानसे प्रेम करनेमें ही सार है। वे सोचने लगे—"हाय! हमारा जन्म वृथा ही गया जो हमने भगवानसे प्रीति नहीं की और अब तक बिगड़ीको बनाया नहीं।

अन्तमें, अपनी भक्तिके प्रभावसे राजपुत्रीने घरके सब लोगोंको भगवान का भक्त बना दिया। फिर तो वे सब-के-सब साधु सेवामें रत रहने लगे। बार-बार वे यही कहते—"धन्य हमारे भाग जो हमें ऐसी बहू मिली!"

(पुत्रोंको विष देनेवाली दो बाइयाँ)

भक्ति-रस-बोधिनी

भक्तन के हित सुत विष दियो उभै बाई कथा सरसाई, बात खोलि कै बताइयै।
भयो एक भूप ताके भगत अनेक आवैं, आयो भक्त भूप, तासों लगनि लगाइयै॥
नित ही चलत एपै चलन न देत राजा, बितयो बरस मास कहै "भोर जाइयै।"
गई आस टूटि, तन छूटिबे की रीति भई, लई बात पूछि रानी, सबै लै जनाइयै॥२०५॥

अर्थ—दो बाइयोंकी कथा, जिन्होंने भक्तोंके लिए अपने पुत्रोंको विष दे दिया, बड़ी सरस है। वह विस्तारके साथ यहाँ बताई जाती है।

एक भक्त राजा था। उसके यहाँ अनेक साधु-सन्त आया करते थे। एक बार एक भक्त-भूप अनेक महात्माओंको साथ लेकर वहाँ ठहरे। राजाका इन सबके साथ महान् प्रेम होगया। सन्त गण रोज वहाँसे जानेका निश्चय करते, पर राजा उन्हें नहीं जाने देता—यह कह कर ठहरा लेता कि एक दिन और रुक जाइए। इसी प्रकार एक वर्ष और एक माह बीत गया। एक दिन महात्माओंने चल देनेका पक्का निश्चय कर लिया और राजासे कह दिया—"हम सब कल अवश्य चले जायँगे। यह सुनकर राजाकी आशा-लता मुरझा गई और यह दिखाई देने लगा कि इन महात्माओंके चले जाने पर राजा जीवित नहीं रह सकेगा। रानीने राजासे पूछकर उनकी व्याकुलताका भेद जान लिया।

भक्ति-रस-बोधिनी

दियो सुत विष रानी, जान्यो "नृप जीवै नाहिं, सन्त हैं स्वतंत्र, इन्हैं कैसे करि राखियै।"
भये बिन भोर बधू सोर करि रोय उठी, भोयगई रावले मैं, सुनी साधु भाखियै॥
खोलि डारी कटि-पट, भवन प्रवेस कियो, लियो देखि बालक कों नील तनु साखियै।
पूछ्यो भूप-तिया सों जू "साँच कहि कियो कहा?" कही "तुम चल्यो चाही नैन अभिलाखियै"॥२०६॥

अर्थ— रानीने जब देखा कि महात्माजीके चले जानेके बाद राजाका जीवित रहना असम्भव हो जायगा, तो उसने अपने पुत्रको जहर दे दिया। उसने सोचा, सन्त-लोग किसीके पराधीन नहीं हैं और इन्हें रोक रखनेका और कोई उपाय नहीं है। सुबह होनेसे पूर्व ही रानीने पुत्र-शोकमें विलाप करना शुरू कर दिया और तब अन्तःपुरमें एक भारी कोलाहल खड़ा हो गया। महात्माजीने जब यह सुना, तो अपनी कमरमें लिपटा हुआ वस्त्र खोलकर फेंक दिया (जो जानेकी तैयारी करते समय बाँधा था) और रनवासमें घुस गए। वहाँ जाकर देखा, तो लड़केका शरीर नीला पड़ गया था। उन्होंने रानीसे पूछा—"सच बताओ, यह क्यों हुआ?" रानीने कह दिया—"आपने यहाँसे चले जानेकी बात कही थी, परन्तु हमारे नेत्र तो आपके दर्शनसे तृप्त ही नहीं हो पाये थे; इसलिए यह उपाय करना पड़ा।"

भक्ति-रस-बोधिनी

साँचौ खोलि रोए किहूँ बोलि हूँ न आवे मुख, सुख भयो भारी, भक्ति-रीति कछू न्यारीयै।
जानी ऊँ न जाति, जाति-पाँतिको बिचार कहा, अहो रस-सागर सो सदा उर धारीयै॥
हरि-गुन गाय, साखी सन्तनि बलाय, दियो बालक जिवाय, लागी ठौर वह प्यारीयै।
संग के पठाय दिये, रहे वे जो भींजे हिये, बोले आप "जाऊँ जौन मारि कै बिडारीयै"॥२०७॥

अर्थ—रानीकी अनुपम भक्ति देखकर तथा इस कारण उसपर आई हुई विपत्तिको सोच कर महात्मा-नृप धाड़ें मार-मार कर (जोर-जोरसे) रो उठे। रानीका वह अद्भुत कर्म देखकर उनके मुँहसे बात नहीं निकलती थी— समझमें नहीं आ रहा था कि रानीकी भक्तिकी प्रशंसा करें या उनके पुत्रके लिए शोक करें। फिर भी शोकके बजाय उन्हें आनन्द ही अधिक हुआ; (क्योंकि वे जानते थे कि सांसारिक सम्बन्धोंकी अपेक्षा साधु-सेवाका अनुराग कहीं अधिक सत्य है) भक्तिकी रीति ही कुछ अनोखी है। उसे पहिचान सकना बड़ा कठिन काम है। भक्ति के क्षेत्रमें ऊँच-नीच, जाति-पाँति आदि का कोई विचार नहीं होता (भक्तराजा भले ही कुल नीची श्रेणीके क्षत्रिय क्यों न हों।) राजा-रानी दोनोंके ही हृदयमें प्रेमानन्दका समुद्र लहरा रहा था और इसीलिए वे सबसे श्रेष्ठ कहे जानेके योग्य थे।

महात्माजी इसके उपरान्त, अपने सब साथी-सन्तोंको बुलाया और उन्हें साक्षी करके भगवानके गुणोंका कीर्तन किया। प्रभुके नामके प्रभावसे मरा हुआ बालक जीवित होगया।

इस घटनाके बाद महात्मा को वह स्थान अत्यन्त प्रिय हो गया और उन्होंने वहीं रहने का निश्चय कर लिया। अपने साथके सब साधुओंको उन्होंने विदा कर दिया। केवल वे ही सन्त रह गए जिनका अन्तःकरण भक्तिके रसमें सराबोर था। उन्होंने महात्माजीसे कह दिया—"यदि आप जानसे मार भी डालें, तो भी हम आपका साथ नहीं छोड़ेंगे।"

इसके उपरान्त भक्त-राज साधुओंके साथ वहीं रह कर भगवानका भजन करने लगे।

(दूसरी बाईजी)

भक्ति-रस-बोधिनी

सुनौ चित्त लाई बात दूसरी सुहाइ हिये, जिये जग माँहि जौ लौं संत-संग कीजियै ।
भक्त-नृप एक, सुता ब्याही सो अभक्त महा जाके घर माँझ जन नाम नहीं लीजियै ।।
पल्यो साधु-सीथ सौं सरीर, दृग रूप पले, जीभ चरणामृत के स्वाद ही सौं भीजियै ।
रह्यो कैसे जाय अकुलाय न बसाय कछू "आवैं पुर प्यारे तब विष सुत दीजियै" ॥२०८॥

अर्थ--अब पाठक मन लगा कर दूसरी भक्तमती बाई की कथा सुनें जोकि हृदयको बड़ी अच्छी लगती है। (इस कथाको सुननेके बाद मनमें यही आता है कि) जब तक इस संसारमें जीवित हैं, तब तक सत्संग ही करते रहना चाहिए।

एक भक्त राजा था। उसकी लड़की ऐसे घरानेमें ब्याही थी कि वहाँके लोग कभी भगवान का या भगवत्सेवी सन्तोंका नाम भी नहीं लेते थे। ऐसे वातावरणमें उस कन्याका मन भला कैसे लगता जो अपने पिताके घर साधुओंको जूठनसे पली थी, जिसकी आँखें सन्तोंके आनन्द-दायी रूपको देखनेकी आदी थीं और जिसकी जीभ भगवान तथा सन्तोंके चरणोदकका मर्म जान चुकी थी? अपनी ससुरालके हरि-विमुख आदमियोंके बीच उसपर कैसे रहा जाता? घबड़ा गई वह, लेकिन उसके वश का क्या था?

निदान उसने अपनी एक दासीसे कह दिया कि इस नगरमें जब भगवानके अनुरागी सन्त पधारें तब मुझे बता देना। उसने निश्चय कर लिया था कि उसी समय वह अपने लड़के को जहर दे देगी। सिवा इसके और कोई उपाय ही उसे नहीं सूझता था।

भक्ति-रस-बोधिनी

आए पुर संत, आय दासी ने जनाय कही, सही कैसे जाय, सुत बिष लैके दियो है ।
गए वाके प्रान, रोय उठी किलकानि, सब भूमि गिरे आनि, टूक भयो जात हियो है ।।
बोली अकुलाय, "एक जीवे को उपाय जोपै कियो जाय, पिता मेरे केऊ बार कियो है ।"
"कहौ सोई करें" दृग भरें "ल्यावो सन्तनि कौं", "कैसे होत सन्त ?" पूछ्यो, चेरी नाम लियो है ॥२०९॥

अर्थ—संयोगसे एक दिन नगरमें साधु-सन्त विचरते हुए आ पहुँचे। दासीने इसकी खबर राज-कन्या को दी। अब बिना दर्शन किए उसपर कैसे रहा जाता? इसलिए उसने अपने एकमात्र पुत्रको जहर दे दिया। लड़केका शरीरान्त होगया। इस विपत्तिके कारण घरके सब लोग तथा राजकन्या फूट-फूटकर रोने लगे और दहाड़ खा-खाकर पृथ्वीपर गिर पड़े। उस समय सबका हृदय टुकड़े-टुकड़े हुआ जाता था।

तब भक्ताबाई (राज-कन्या) ने शोकग्रस्त अवस्थामें कहा—"केवल एक उपाय करने पर पुत्र जीवित हो सकता है। मेरे पिताने इस उपायको कई बार किया है और सफल हुए हैं।"

सबने आँखोंसे आँसू बहाते हुए कहा—"तुम जो कहो हम वही करनेको तैयार हैं।"

"तो सन्तोंको बुलाइए" रानीने उपाय बताया।

"सन्त किसे कहते हैं ? कैसे होते हैं सन्त ?" लोगोंने पूछा।

दासीने, इसपर, लोगोंको बता दिया कि सन्तोंकी वेष-भूषा इस प्रकारकी होती है और उनके चरित्र ऐसे होते हैं (और यह भी बता दिया कि उस समय वे सौभाग्यसे उसी नगरमें ठहरे हुए थे।)

भक्ति-रस-बोधिनी

चली लै लिवाय चेरी, बोलिबो सिखाय दियो, "देखिकै धरनि परि पाँय गहि लीजियै"।
कीनो वही रीति, दृग-धार। मानी प्रीति सन्त करी यों प्रतीति "गृह पावन कौ कीजियै" ॥
चले सुख पाय दासी आगे हीं जनाई जाय, आय ठाढ़ी पौरि, पाँय गहे, मति भीजियै।
कही हरे बात "मेरे जानी पिता-मात, मैं तो अंग मैं न माति आज, प्रान वारि दीजियै ॥२१०॥

अर्थ—अब रानीकी दासी राजाको अपने साथ लेकर सन्तोंके पास पहुँची। रास्तेमें उसने राजाको सिखा दिया कि सन्तोंसे किस प्रकार बातें की जाती हैं और यह भी कहा—"सन्तोंको देखते ही पृथ्वी पर सिर रख कर साष्टांग प्रणाम करते हुए सन्तोंके पैर पकड़ लीजिएगा।" राजाने दासीके कहनेके अनुसार वही काम किया। पुत्र शोकके कारण उसकी आँखोंसे आँसू बह रहे थे। सन्तोंने समझा कि उनके प्रति प्रेमके कारण ही राजाकी आँखोंसे आँसू गिर रहे हैं।

राजाने हाथ जोड़कर कहा—"महाराज ! पधार कर मेरा घर पवित्र करिए।"

राजाकी प्रार्थना पर सन्त उसके साथ हो लिये। दासीने सन्तोंकी खबर आगे जाकर भक्ताबाई (रानी) को देदी थी, इसलिए वह ड्योढ़ियों पर आकर खड़ी होगई। सन्तोंको देखते ही रानीने उनके पैर पकड़ लिए और भक्ति-जन्य आँसू बह निकले। फिर धीरे-से बोली—"मैं तो (अपने कुलकी रीतिके अनुसार) सन्तोंको ही अपने माता-पिता मानती हूँ और आज उनका दर्शन कर फूली नहीं समा रही हूँ। जीमें आता है कि आपके चरणोंमें अपनेको न्यौछावर करदूँ।"

भक्ति-रस-बोधिनी

रीझि गए सन्त प्रीति देखिकै अनन्त, कह्यो—"होयगी जु वही सो प्रतिज्ञा तैं जु करी है"।
बालक निहारि जानी विष निरधार दियो, दियो चरनामृत कौं, प्रान-संज्ञा धरी है ॥
देखत, विमुख जाय पाँय ततकाल लिये, किये सब सिष्य साधु-सेवा मति हरी है।
ऐसैं भूप-नारि पति राखो सब साखी, अन रहैं अभिलाखी जो पै वैसी याही घरी है ॥२११॥

अर्थ—भक्ताबाई (रानी) की इस प्रकारकी असीम प्रीतिको देख कर सन्त लोग मनमें बड़े प्रसन्न हुए और बोले—"तुमने अपने मनमें जो प्रतिज्ञा करली है, वह पूरी होकर रहेगी।"

इसके बाद बालककी ओर उन्होंने दृष्टिपात किया, तो समझ गए कि निश्चय ही उसको विष दिया गया है। उन्होंने भगवानका तथा अपना चरणोदक बालकके मुंहमें डाल कर उसे जीवित कर दिया। इस चमत्कारको देख कर राजघरानेके सब लोग, जो अब तक भगवान तथा संतोंमें कोई श्रद्धा नहीं रखते थे, सन्तोंके पैरों पर जा पड़े। यह देख कर संतोंने उन सबको अपना शिष्य बना लिया और उन्हें भागवत-धर्मकी दीक्षा दी। राजा भी उस समयके बाद ऐसा साधु-सेवक बन गया कि लोग उसकी भक्ति देख कर आश्चर्यमें पड़ जाते थे।

इस प्रकार राजाकी स्त्रीने अपनी भक्तिकी लाज रख ली। इस बातके साक्षी (प्रमाण) सब सन्तजन हैं। यदि किसीको भक्तिकी कामना है, और वह यदि अपनी किसी अभिलाषाको पूरा करना चाहता है, तो इसी समय भगवानमें भक्ति करके देख ले। हाथ-कंगनको आरसी क्या?

दूसरी भक्तिमती बाईके चरित्रके सम्बन्धमें यह शंका उठाई जा सकती है कि उसने अपने पुत्र को विष क्यों दिया? क्योंकि विष देकर मारना तो एक जघन्य अपराध माना गया है। दूसरे, सन्तोंकी भक्ति प्राप्त करना और इस प्रकार अपने पितृ-गृहकी परम्पराकी रक्षा करना ही यदि रानीका उद्देश्य था, तो क्या उसके लिए ऐसे असत् साधनका आश्रय लेना चाहिए था?

नैतिक-शास्त्रकी कसौटी पर, सम्भव है, पुत्र-घात जैसा कर्म खरा न उतरे, पर जैसा कि श्रीप्रियादासजीने प्रारम्भमें कहा है—"बिना भक्तमाल भक्तिरूप अति दूर है", भक्तिका रहस्य समझना टेढ़ी खीर है। लौकिक मनुष्योंको यह अनुभव कैसे हो सकता है कि जो व्यक्ति भगवद्-भक्ति और साधु-संगतिके पवित्र वायु-मण्डलमें पला है, उसका जीवन प्रतिकूल वातावरणमें कितना संकटपूर्ण और दूभर हो उठता है? उसका एक-एक पल एक-एक युगके समान बीतता है और जीवन धारण करना असह्य हो जाता है।

अपनेको हरि-विमुख लोगोंके बीचमें पाकर यदि रानीने यह सोचा कि मुझसे पैदा हुआ पुत्र तो, कम से कम, ऐसा कुमार्गगामी न हो, तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? अतः रानीने यही सोचा कि हरि-विमुखताकी इस विष-बेलिको ज्यादा न बढ़ने दिया जाय। लेकिन ऐसा करनेसे पूर्व वह साधुओंके दर्शन करनेकी अपनी अन्तिम साधको मिटा देना चाहती थी। इसलिए ड्योढ़ीपर साधुओंके पग रखते ही उनके चरणोंमें सिर रखकर रानीने मन ही मन उनसे यही प्रार्थना की होगी कि आपके दर्शन तो मुझे हो ही गए; अब या तो ऐसी कृपा करिए कि मेरे घरवालोंके संस्कार बदल जायें, या फिर मुझे शरीर छोड़नेकी आज्ञा दीजिए। लड़केको मैं जहर देकर मार चुकी हूँ, अतः ममताका वह एकमात्र बन्धन भी टूट चुका है।

स्पष्ट है कि रानीके इस कृत्यसे उसकी विकलता व्यक्त होती है। यह विकलता थी सन्तोंके समागम की और भगवद्-भक्ति की। यह अविचल अनुराग जिस व्यक्तिके जीवनमें स्थायी स्वर बन कर रह गया है, उसके लिए पुत्रकी ममता या पतिका स्नेह कोई अर्थ नहीं रखता।

मूल (छप्पय)

श्रीरंगनाथ को सदन करन बहु बुद्धि बिचारी ।
कपट धर्म रचि जैन द्रव्यहित देह बिसारी ॥
हंस पकरने काज बधिक बानौं धरि आए ।
तिलक दाम की सकुच जाहि तिन आप बँधाए ॥
सुतवध हरिजन देखि कै दै कन्या आदर दियो ।
आसय अगाध दुहुँ भक्त को हरितोषन अतिसय कियो ॥५१॥

अर्थ—'मामा-भानजे' इस नामसे प्रसिद्ध दो भगवद्-भक्तोंने श्रीरंगनाथका विशाल मन्दिर बनवानेके लिए अनेक युक्तियाँ सोचीं और जब सफल नहीं हुए, तो अन्तमें झूठे ही जैन-धर्म स्वीकार कर पारसनाथकी मूर्तिको लानेके प्रयत्नमें अपना शरीर त्याग दिया।

इसी प्रकार हंस-भक्तोंके एक जोड़ेने सन्तका वेष रख कर आए हुए एक व्याध (चिड़ी-मार) के हाथ उनके तिलक और कंठीकी लज्जा रखनेके लिए सब कुछ जानते हुए भी अपने आपको सौंप दिया।

सदाव्रती वैश्य-भक्तने यह जानते हुए भी कि वैष्णव-वेषधारी एक व्यक्तिने लोभके वशीभूत होकर मेरे पुत्रको मार डाला है, उसके साथ अपनी कन्याका विवाह कर दिया।

इस प्रकार मामा-भानजे इन दो भक्तोंने (तथा औरोंने) अपनी विलक्षण भक्ति द्वारा भगवानको अत्यन्त प्रसन्न किया। इससे यह स्पष्ट है इन भक्तोंका आशय (अभिप्राय) अत्यन्त गूढ़ और रहस्यमय था।

(मामा–भानजे)

भक्ति-रस-बोधिनी

आसय अगाध दोउ भक्त मामा भानजे कौ, दियो प्रभु तोष ताकी बात चित धारियै ।
घर तें निकसि चले बन कौं बिबेकरूप, मूरति अनूप बिन मन्दिर निहारियै ॥
दछिण में 'रंगनाथ' नाम अभिराम जाको, ताको लै बनावें धाम काम सब टारियै ।
धनके जतन फिरे भूमि पै, न पायो कहूँ, कहूँ लिखि हेरि देख्यो, भयो सुख भारियै ॥

अर्थ—'मामा-भानजे'–इन दो भक्तोंकी भक्तिका मर्म बड़ा अथाह था। इन्होंने अपनी भक्ति द्वारा भगवानको किस प्रकार प्रसन्न किया, इसका विवरण मन लगाकर सुनिये।

भगवत्कृपासे इनके हृदयमें संसारके प्रति वैराग्य पैदा होगया और भगवानकी आराधना करनेके लिए घर-द्वार छोड़ बनको चले गए। घूमते-घूमते ये दक्षिण देशमें पहुँचे। वहाँ उन्होंने देखा कि ठाकुर श्रीरंगनाथजीकी मूर्ति तो बड़ी सुन्दर है, पर उनके योग्य मन्दिर नहीं

है। बस, इन्होंने उसी समय यह निश्चय कर लिया कि सब काम छोड़कर पहले मन्दिर बनवाया जाय। मन्दिरके लिए द्रव्य इकट्ठा करनेके लिए ये देश देशान्तरोंमें घूमे, पर नहीं मिला। अन्तमें एक स्थान पर इनकी दृष्टि पड़ी और वहाँ अपना कार्य सिद्ध होते देख कर इन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई।

भक्ति-रस-बोधिनी

मन्दिर सरावगी कौ, प्रतिमा सो पारस की, आरसन कियौ बेद न्यून हूँ बतायो है।
"पावैं प्रभु सुख, हम नर्कहू गए तो कहा"? बरक न आई, जाय कान लै फुकायो है॥
ऐसी करी सेवा, जासों हरी मति केवरा ज्यौं, सेवरा-समाज सबै नीके कै रिझायो है।
दियो सौंपि भार, तब सबै को विचार करें "हरें कौन राह?" भेद राजनि पैं पायो है॥११३॥

अर्थ--मामा-भानजे विचरते-विचरते एक ऐसे स्थान पर पहुँचे जहाँ जैनियोंका (सरावगियों) का एक मन्दिर था। उसमें पारस पत्थरकी प्रतिमा थी। जैनियोंके मन्दिरमें प्रवेश करना तथा उनकी मूर्तिका दर्शन-स्पर्श करना वेदोंमें निषिद्ध कहा गया है। लेकिन मामा-भानजेने इसकी चिन्ता नहीं की। उनका ध्येय तो यह था कि किसी भी प्रकार ठाकुरजीका मन्दिर बने, भले ही इसके लिए उन्हें नरकमें जाना पड़े। इसीलिए जरा भी संकोच किए बिना उन्होंने जैन-धर्मकी दीक्षा लेली और ऐसी लगनसे पारसनाथ ठाकुरकी सेवा की कि सब लोगों का ध्यान इनकी ओर इस प्रकार खिंच गया जैसे केवड़ाके फूलकी सुगन्धकी ओर। अब तो जैनियोंका सारा समाज इनपर लट्टू होगया और वाह! वाह! होने लगी। परिणाम यह हुआ कि ठाकुरकी सेवा-पूजाका सब भार इन्हें सौंप दिया गया। अब यह सोचने लगे कि किस तरकीबसे मूर्तिको उड़ाया जाय। खोजते-खोजते अन्तमें राज-मिस्त्रियोंने इन्हें मन्दिरमें घुसनेका रास्ता बता दिया।

(मन्दिरमें अन्दर जानेका कोई रास्ता नहीं था। पूजा करनेके लिए केवल इतनी जगह छोड़ी गई थी जितनेमें हाथ अन्दर जासके। मिस्त्रियोंने बता दिया कि मन्दिरकी छतमें से रास्ता बन सकता है।)

जैन-दर्शन नास्तिक-दर्शन कहा है, इसीलिए जैनोंके मन्दिरमें जानेके विषयमें लिखा है—

न वदेत् यावनीं भाषां प्राणैः कण्ठगतैरपि। हस्तिना ताड्यमानोऽपि न गच्छेज्जैनमन्दिरम्॥

—प्राणोंके कण्ठपर्यन्त आनेपर भी म्लेच्छोंकी भाषा नहीं बोलनी चाहिए और हाथीसे घिरजाने पर भी जैन-मन्दिरमें प्रवेश न करे।

भक्ति-रस-बोधिनी

मामा रह्यो भीतर सौं ऊपर सो भानजो हो, कलस भँवरकलौ हाथ सौं फिरायो है।
जेवरी लै फाँसि दियो मूरति, सो खेंचि लई और बार बहु आप नीकें चढ़ि आयो है॥
कियो हो जो द्वार तामैं फूलि तन फँस बैठ्यो, अति सुख पाय, तब बोलिकैं सुनायो है।
'काटि लेवौ सीस, ईस भेद को न जिन्हा करें" भरें अंकवारि, मम कीजियौ सवायौ है॥११४॥

अर्थ—मिस्त्रियोंने जैसा बताया था, उसके अनुसार दोनोंने मिलकर मन्दिर के कलशमें भँवरकली (पेच) को घुमाया और छतमें छेद निकल आनेके बाद मामा एक रस्सीके सहारे नीचे उतर आया और भानजा ऊपर ही रहा। तब मामाने उसी रस्सीमें पारसकी मूर्तिको बाँध दिया और भानजेने उसे खींच लिया। उसके बाद मामा उसी रस्सीके सहारे ऊपर चढ़ने लगा, लेकिन छतके छेदमेंसे जब उसका शरीर आधा ऊपरको निकल गया, तभी मनोरथ सफल होनेके आनन्दमें वह ऐसा फूल गया कि वहीं फँसा रह गया।

ऐसी विकट स्थितिमें अपनेको पड़ा हुआ देखकर मामाने भानजेसे कहा—"मेरे सिरको काट लो जिससे कि जैनी-लोग वैष्णव वेषकी निन्दा न करें।" इसपर भानजेने मामाके शरीर को अपनी बाँहोंमें कसकर खींच लेनेकी चेष्टा की, लेकिन आनन्दके साथ-साथ मामाका शरीर और भी फूलता गया और उसे छेदसे नहीं निकाला जा सका।

भक्ति-रस-बोधिनी

काटि लियो सीस, ईस-इच्छा को विचार कियो, जियो नहीं जात तऊ चाह मति पागी है।
"जोपै तन त्याग करौं,कैसे आस-सिन्धु तरौं? ढरौं वाही ओर",आयो,नींव खुदे लागी है॥
भयो शोक भारी "हमें ह्वै गई अबारी, काहू और ने बिचारी", देखें वही बड़भागी है।
भरि अँकवारि मिले, मन्दिर सँवारि खिले, खिले सुख पाय नैन, जानै सोई रागी है॥२१५॥

अर्थ—मामाकी ऐसी निष्ठाभरी बात सुनकर और यह सोचकर कि भगवान यही चाहते हैं, भानजेने मामाका सिर शस्त्रसे काट दिया (और पारस तथा वह कटा हुआ सिर लेकर चुपचाप निकल गया)। लेकिन मामाके वियोगमें भानजेको जीना दूभर होगया। फिर भी श्रीरङ्गजीका मन्दिर बनवानेका दृढ़ संकल्प जो कर लिया था, उसके कारण प्राण छोड़ते नहीं बनते थे। बार-बार यही सोचता था कि यदि मैं शरीर छोड़ दूँगा, तो मन्दिर बनवानेकी आशा-रूपी समुद्रको कैसे पार करूँगा? इसलिए वह अपने इस निश्चयके अनुसार कार्य करनेमें प्रवृत्त होगया और चलते-चलते कावेरी गङ्गाके तटपर पहुँचा जहाँ कि श्रीरङ्गनाथजीकी मूर्ति विराजमान थी। लेकिन जाकर देखता क्या है कि वहाँ तो मन्दिरकी नींव खोदी जारही है। अब तो उसे बड़ा दुःख हुआ। उसने समझा कि मुझे देरी होगई, अतः किसी दूसरे भक्तने मन्दिर बनवानेका काम प्रारम्भ कर दिया है। आगे बढ़कर देखा, तो वे ही मामाजी, जिनका सिर अपने हाथोंसे काटा था, मन्दिर बनवानेमें लगे हुए हैं। एक-दूसरेको देखते ही दोनों दौड़कर गलेसे लिपट गए और उनके नेत्र आनन्द से खिल उठे। भगवत्प्रेमी ही इस अपूर्व मिलनके स्वादको समझ सकते हैं। बादमें दोनोंने मिलकर श्रीरङ्गनाथजीके मन्दिरको बड़ी सज-धजके साथ तैयार करवाया।

शीस काटनेका कारण—यह बतानेकी आवश्यकता नहीं कि मामाकी भक्तिसे सन्तुष्ट होकर ही भगवानने उन्हें सम्पूर्ण विग्रह-सहित नवजीवन प्रदान किया था। पर यहाँ शंका उठती है कि भगवानको

इस द्राविड़ प्राणायाम करनेकी आवश्यकता ही क्या थी ? क्यों तो मामाको छलके खेलमें फँसाकर उनका सिर कटवाया और क्यों बादमें जिलाया ?

इसका समाधान यह है कि जैन-धर्ममें दीक्षा लेनेके कारण मामाके हृदयमें एक ग्लानि बैठ गई थी। वह तब तक कैसे दूर होती, जब तक उन्हें नया शरीर प्रदान नहीं किया जाता ? दूसरे, चोरी आखिर चोरी है और मामाको उसका प्रायश्चित्त करना अत्यन्त आवश्यक था।

(हंस-भक्त)

भक्ति-रस-बोधिनी

कोढ़ी भयो राजा किये जतन अनेक, ऐपै एक हू न लागे, कह्यो "हंसनि मँगाइयै।"
बधिक बुलाय कही "वेगि ही उपाय करौ, जहाँ तहाँ ढूँढ़ि अहो इहाँ लगि ल्याइयै॥"
"कैसे करि ल्यावै ? वे तो रहैं मानसर माँझ," "ल्यावोगे छूटोगे तब, जनै चारि जाइयै।"
देखत ही उड़ि जात, जातिको पिछानि लेत, "साधु सों न डरें, जानि भेष लै बनाइयै॥२१६॥

अर्थ—किसी देशका राजा कोढ़ी होगया था। वैद्योंने उसे अच्छा करने के अनेक उपाय किये, पर सफल नहीं हुए। अन्तमें उन्होंने राजासे कहा—"कहींसे हंस मँगाइए ताकि उनसे औषधि बनाई जाय।" राजाने बधिकोंको बुलाकर आज्ञा दी—"जल्दी ही हंस लानेका उपाय करो और जहाँ-कहीं मिलें, वहींसे हमारे पास लाओ!"

बधिकोंने नम्रतापूर्वक निवेदन किया—"हंस तो मानसरोवरमें रहते हैं, महाराज! वहाँ उन्हें कैसे ला सकते हैं ?"

राजाने नहीं सुनी और आज्ञा दी—"चार आदमी जाकर किसी भी तरह लाओ। तभी तुम्हारे प्राण रहेंगे (नहीं तो मार डाले जाओगे)।"

गए ये लोग मानसरोवर, लेकिन हंस देखते ही पहिचान लेते कि ये व्याध और दूर उड़ जाते। उसी समय व्याधोंको ध्यान आया कि हंस वैष्णवोंसे नहीं डरते हैं, इसलिए उन्होंने सन्तोंका वेष धारण कर लिया।

भक्ति-रस-बोधिनी

गए जहाँ हंस, संत-बानौ सो प्रसंस देखि, जानि कै बँधाये; राजा पास लैके आये हैं।
मानि मति सार, प्रभु बैद को स्वरूप धारि, पूछि कै बजार, लोग भूप ढिग ल्याये हैं॥
"काहे को मँगाये पंछी ? अच्छौ हम करैं देह, छोड़ि दीजै इन्हैं" कही "नीठि करि पाये हैं।"
औषदी पिसाये, अंग-अंगनि मलाये, किये नीके, सुख पाये, कहि उनको छुटाये हैं॥२१७॥

अर्थ—सन्तोंका वेष बनाकर बधिक फिर मानसरोवर पहुँचे। हंसोंने वास्तविक बातको जानकर भी केवल वैष्णवोंका प्रशंसनीय बाना (वेष) देखकर अपने आपको उनके हवाले कर दिया बधिक उन्हें बाँधकर राजाके पास ले आये।

भगवानने हंसोंके मतको (कि वैष्णवका वेष बन्दनीय है) भक्तिका सर्वस्व मानकर वैद्य का वेष धारण किया और उस नगरके बाज़ारमें पहुँच कर यह प्रचार किया कि वे कुष्ठ रोगको

अच्छा कर सकते हैं। लोग उन्हें राजा के पास ले गए। पहुँचते ही आपने राजासे कहा—"आपने इन हंसोंको किस लिए मँगवाया है? छोड़िए इनको! हम आपको अभी-अभी स्वस्थ किये देते हैं।"

राजाने कहा—"हमने इनको बड़ी कठिनतासे मँगाया है। ऐसे कैसे छोड़ देंगे?"

इसपर वैद्यराजने एक औषधि घिसवा कर उसका राजाके प्रत्येक अंगमें लेप करवाया और उसे रोग-मुक्त कर दिया। अब तो राजाको बड़ी प्रसन्नता हुई। उसने वैद्यराजके कहने से हंसों को छोड़ दिया।

भक्ति-रस-बोधिनी

"लेवो भूमि गाँव बलिजाऊँ या दयालता की, भाल भाग जाके ताकौं दरसन दीजियै।"
"पायो हम सब, अब करो हरि-साधु सेवा, मानुष जनम ताको सफलता कीजियै॥"
करी लै निदेस, देस भक्ति बिसतार भयो, हंस हित सार जानि हिये धरि लीजियै।
बधिकनि जानी जासों खगनि प्रतीति कीनी ऐसो भेष छोड़िये न, राख्यौ मति भीजियै॥२१८॥

अर्थ—राजाने वैद्यरूप-धारी भगवानसे कहा—"हे वैद्यराज! मैं आपकी दयालुताकी बलिहारी जाता हूँ। आपके दर्शन उसीको प्राप्त होते हैं जिसके भालमें बड़ा भाग्य लिखा है—अर्थात् जो बड़ा भाग्यशाली होता है। अब मेरे ऊपर कृपा करके आप जितनी भूमि और गाँव चाहें, ले लीजिए।" वैद्यरूप में प्रभु बोले— "राजन्! मैंने सब कुछ पा लिया। अब तो मैं यही चाहता हूँ कि तुम भगवान और उनके भक्त साधुओंकी सेवा करो और अपने इस मानव शरीरको सफल बनाओ।"

राजाने भगवानकी भक्ति और सन्त-सेवा करनेकी आज्ञा अपने पूरे राज्यमें कर दी। इस प्रकार सम्पूर्ण देशमें भक्तिका विस्तार हो गया।

जिस वैष्णवताको हंसोंने संसारमें सार और हित करनेवाला माना था, उसे सभीको अपने हृदयमें धारण करना चाहिए।

बधिकोंने सोचा कि पक्षी होकर भी हंसोंने जिस वेशका इतना विश्वास किया है उस वेशको अब हमें नहीं त्यागना चाहिए। उन्होंने ऐसा ही किया। वे सच्चे वैष्णव हो गए और उनका मन भगवद्भक्तिमें सराबोर हो गया।

हंस-भक्तोंकी कथाका तात्पर्य—श्रीनाभास्वामीजीने अब तक जितने चरित्र वर्णन किये हैं उनके नायक या तो पुरुष रहे हैं या स्त्री। लेकिन हंस-भक्तोंके चरित्रका सम्बन्ध मानव-जातिकी सीमाको लाँघकर पक्षियों तक पहुँच गया है। यह निरी पौराणिकता नहीं हो सकती। अभी कुछ दिन हुए समाचार पत्रोंमें एक खबर निकली थी कि एक स्थानपर हवन हुआ करता था। वहाँ नियम से एक गिद्ध आकर बैठता था और दत्तचित्त होकर उस यज्ञ-विधिको देखता था।

इस चरित्रको यदि रूपक मान लिया जाय, तो एक बहुत सुन्दर तथ्य प्रकाशमें आता है। हंस सात्विक वृत्तिके प्रतीक हैं और साथ ही विवेक-वृत्तिके भी। हंसोंकी शुभ्रता, निर्मल मानसमें विहार

करने का स्वभाव और सहज मृदुता आदि ऐसे गुण हैं जो सज्जन-हृदयका स्मरण कराते हैं। ऐसे जीवमें जहाँ एक ओर ये दैवी गुण पाये जाते हैं, वहाँ उच्च कोटिका विवेक—सत्-असत् का परिच्छेद करनेवाली प्रतिभा भी होती है। विना इसके कोरी निर्मलता या शुद्ध अन्तःकरण से काम नहीं चलता। यह प्रतिभा हंसोंमें भी है। वे दूध का दूध, पानी का पानी कर सकते हैं। हंस का, इसीलिए, दूसरा अर्थ ईश्वर और सूर्य भी होता है।

लेकिन यह नीर-क्षीर-विवेक, अन्ततो गत्वा, एक लौकिक गुण ही है; परमार्थके क्षेत्रमें—विशेष कर भक्तिके क्षेत्रमें—इसके उपयोगकी अपेक्षा नहीं रहती। वहाँ विवेक काम नहीं करता—काम करता है अखण्ड विश्वास! भगवत्-सम्बन्धी जो कुछ है, वह असत् के सम्पर्क से—उसकी गन्ध से भी—परे है। जहाँ सब कुछ भगवन्मय है वहाँ कपट कैसा? भक्तिमें तो विवेकको ताक पर उठाकर रख दिया जाता है। शुकदेवजी इसी लिए परमहंस थे कि उन्हें स्त्री-पुरुषका विवेक तक मिट गया था। भक्तोंकी वृत्ति भी हंसों-जैसी होनी चाहिए।

बालकरामकृत 'भक्तदाम-गुण-चित्रनी' टीकामें हंसोंकी भक्तिके उक्त आख्यानके अतिरिक्त उनके पूर्व-जन्मका वृत्त और दिया है। भक्त पाठकोंके लाभार्थ उसका संक्षिप्त भावार्थ नीचे दिया जाता है:—

जब राजा वैद्यके रूपमें आए हुए भगवानकी दवाके प्रयोगसे रोग-मुक्त होगए तो उन्होंने आश्चर्य से उनकी ओर देखा और कहा—"आपने अपूर्व औषधके प्रयोगसे मेरा असाध्य रोग भी दूर कर दिया है। निश्चित ही आप कोई असाधारण पुरुष हैं। मुझे सच बतलाइए कि आप कौन हैं?"

वैद्यरूपधारी भगवान बोले—"इन हंसों-सहित एकान्तमें आओ तब मैं तुम्हें सब बात बतलाऊँगा।" राजाने ऐसा ही किया और जब भगवानने अपना चतुर्भुज रूप दिखाया तो वे पहिचान गए कि ये तो साक्षात् श्रीश्यामसुन्दरने ही कृपा की है। भगवान बोले—"ये हंस मेरे भक्त-वैष्णव हैं। मैं आज केवल इन्हींकी रक्षाके लिए यहाँ आया हूँ। मैं भक्तोंके ऊपर आई हुई आपत्तिको नहीं देख सकता हूँ चाहे कुछ भी हो जाय।"

राजाने प्रश्न किया—"प्रभो! इन हंसोंने ऐसी कौनसी भक्ति की है जिसके लिए आपको यहाँ आना पड़ा?" भगवानने कहा—"राजन्! इसके लिए मैं तुमको इन हंसोंके पूर्व-जन्मका वृत्तान्त सुनाता हूँ; तुम ध्यान देकर सुनो। पहले जन्ममें तुम्हारे पुरखाओंकी दसवीं पीढ़ीमें ये राजा-रानी थे। तब ये भगवानके बड़े भक्त थे और इनका समस्त समय भगवानकी उपासना और सन्त-सेवामें ही बीतता था। संयोगवश एक दिन छोटा-सा अपराध इनसे बन गया। एक वैश्य-कुमार जो भगवानका बड़ा भक्त था, गलतीसे इनके द्वारा दण्डित होकर कारागारमें डाल दिया गया। वह बेचारा भगवान के दर्शनों एवं सत्सङ्गके लिए वहाँ तड़पने लगा। उधर राजा-रानीका पुत्र भी भगवद्भक्तोंसे द्वेष रखने वाला अभक्त था। उसने एक बार मौका पाकर अपने माता-पिताको बन्दी बना लिया और उन्हें कारागारमें डाल दिया—यह सोचकर कि उनके इस प्रकार दान करनेसे राज्यकी समस्त सम्पत्ति समाप्त न हो जाय। अब तो सन्तोंके दर्शन बिना राजा-रानीका प्राण धारण करना भी दूभर होगया। वे अत्यन्त करुण स्वरमें प्रार्थना करते—"हे प्रभो! अब तो कृपा करके ऐसा सौभाग्य प्रदान कीजिए

जिससे सन्तोंके दर्शन शीघ्र प्राप्त हो जायँ । यह राजाका शरीर बड़ा कपटी होता है । हमारी आपसे प्रार्थना है कि इस शरीरको अब हमें कभी मत दीजिएगा । इस प्रकार रात-दिन सन्तोंके दर्शनके लिए विकल होनेके कारण इनके प्राण निकल गए और फिर मैंने इनको हंसोंका यह निर्मल शरीर प्रदान किया । इस शरीरमें भी संस्कारवश इनकी भक्ति-भावना ऐसी ही बनी रही और तुम्हारे वधिकोंको भलीभाँति पहिचान कर भी उनके भक्तों–जैसे बानेको देखकर ही बन्धनमें आगए ।"

"महाराज! इनके उस अभक्त पुत्रका क्या हुआ?" राजाने कौतूहलसे पूछा । "वह अपने कुकृत्योंके कारण अन्धा होगया और अन्तमें उसे नरक भोगना पड़ा", भगवानने उत्तर दिया–"उसीके अपराधके कारण आपकी नौ पीढ़ियोंमें यही क्रम रहा । प्रायः समस्त राजा अन्धे हुए और उनको नरक भोगना पड़ा । दसवीं पीढ़ीमें तुम्हारी उत्पत्ति हुई और उसी अपराधके कारण तुम भी कोढ़ी हुए । पर इस हंसके जोड़ेकी सङ्गतिसे ही तुम्हें मेरा दर्शन प्राप्त होगया है और तुम सब पापोंसे छूट गए हो । राजन्! अब तुम संसारके सारहीन विषयोंसे पराङ्मुख होकर मेरी भक्तिमें लग जाओ, इसीमें तुम्हारा कल्याण है । इसीसे तुम दुस्तर संसार-सिन्धुसे भी अनायास ही पार हो जाओगे ।"

भगवान, इस प्रकार, राजाको अपनी भक्तिका उपदेश देकर विदा होगए । उसने अब उन राज-हंसोंके जोड़ेका आदर-सहित पूजन किया और तभीसे भगवानकी भक्तिमें जुट गया ।

(सदाव्रती महाजन)

भक्ति-रस-बोधिनी

महाजन सुनो सदाव्रती ताको भक्तिपन, मन में विचार, सेवा कीजे चित लाय कें ।
आवत अनेक साधु निपट अगाध मति, साधि लेत जैसो आवें सुबुधि मिलाय कें ।।
संत सुख मानि, रहि गयो घरमाँझ, सदा सुत सों सनेह, नित खेलै संग जाय कें ।
इच्छा भगवान मुख्य,गौन लोभ जानि,मारि डारयो,भूरि गाड़ि,गृह आयो पछिताय कें ।।२१६।।

अर्थ—अब सदाव्रती महाजनकी कथा सुनिये । इन्होंने अपने मनमें यह संकल्प किया कि मैं चित्त लगाकर सन्तोंकी सेवा किया करूँगा और ऐसा ही करने लगे । परिणाम यह हुआ कि उनके घर बहुतसे सन्त आने लगे । महाजन भी अत्यन्त गहरी श्रद्धाके साथ, जैसे सन्त होते वैसी ही भावनाके साथ सेवाको निबाहते थे । एक बार एक सन्तने निरन्तर खान-पानका सुख भोगनेके लिए उनके घरमें ही डेरा जमा दिया । धीरे-धीरे महाजनके छोटेसे पुत्रके साथ उसका स्नेह होगया और वह उसीके साथ खेला करता ।

एक दिन इस सन्तकी बुद्धि भ्रष्ट होगई । इसमें भगवानकी इच्छा ही मुख्य कारण थी; लोभ तो गौण–अप्रधान था; (क्योंकि उसके चरित्रके प्रसंगमें भगवानकी इच्छा सन्तोंकी महिमाको प्रकट करनेकी थी) । जो कुछ भी हो, उसने (आभूषणोंके लोभसे) महाजनके पुत्रकी हत्या कर दी और उसे पृथ्वीमें गाड़कर अपने कुकृत्यपर पछताता हुआ घर लौट आया ।

भक्ति-रस-बोधिनी

देखै महतारी मग, बेटा कहाँ रह्यौ पग ? बीते चारि जाम शठ धाम में न आयो है ।
फेरी पुर डौंडी, ताके संग संत, आप, लौंडी, कह्यो यो पुकारि "सुत कौने बिरमायो है ॥
बेगि दै बताय दीजै आभरण दिये लीजै", कही सो संन्यासी एही मारयो मन लायो है ।
दई लै दिखाय देह, बोल्यो "याको गहि लेहु, याही ने हमारो पुत्र हत्यौ, नीके पायो है" ॥२२०॥

अर्थ—लड़केकी माँ घरमें राह देख रही थी और सोच रही थी कि आज बेटा कहाँ अटका रह गया ? इस प्रकार प्रतीक्षा करते-करते चार पहर बीत गए, पर लड़का घर नहीं लौटा । अब तो महाजनने उस सन्तको तथा घरकी एक नौकरानीको अपने साथ लेकर गाँव-भरमें यह मुनादी पिटवा दी कि—"मेरा लड़का किसने रोक रक्खा है ? जिसने ऐसा किया है, वह जल्दीसे आकर बता देगा, तो उसे मैं लड़केके सब गहने दे दूँगा ।"

महाजनकी इस घोषणाको सुनकर एक संन्यासी (जिसने कि सन्तको लड़केको मारते हुए और गाड़ते हुए देखा था) उसके पास पहुँचा और सन्तकी ओर इशारा करते हुए बोला—"इसीने तुम्हारे पुत्रको गहनोंके लोभसे मारा है", और यह कहकर उस स्थानको भी दिखा दिया जहाँ कि लड़केको मार कर गाड़ दिया गया था ।

महाजनने कहा—"पकड़ लो इस संन्यासीको ! इसीने हमारे पुत्रकी हत्या की है ! अच्छा हुआ कि इसका पता लग गया । (ऊपरी तौरपर तो महाजनने यह कहा, पर उसके हृदयके अन्दर संन्यासीके प्रति श्रद्धा-भावमें कोई कमी नहीं आई थी ।)

भक्ति-रस-बोधिनी

बोल्यो अकुलाय "मैं तो दियो है बताय, मोंको देवो जू छुटाय, नहीं झूठ कछु भाखियै" ।
"लेवो मति नाम साधु,जो उपाधि मेट्यो चाहो,जावो उठि और कहूँ",मानो,छोरि नाखियै ॥
आयकै विचार कियो, जानी सकुचायो संत, बोलि उठी तिया "सुता दैकै नीके राखियै" ।
परचो वधू-पाँय, तेरी लीजियै बलाय, पुत्र-शोक को मिटाय, और खरी अभिलाखियै ॥२२१॥

अर्थ—जब संन्यासीने देखा कि उल्टा वही पकड़ लिया गया है, तो महाजनसे घबड़ाकर बोला—"मैंने तो तुम्हारे लड़केको बताया है; मुझे छोड़ दो; मैं झूठ नहीं बोलता हूँ ।"

महाजनने संन्यासीको डपटते हुए कहा—"खबरदार जो साधु महाराजका नाम लिया तो ! यदि तुम इस झगड़ेमें नहीं फँसना चाहते हो, तो तुम्हारे हकमें अच्छा यह है कि यहाँसे फौरन रास्ता नापो ।" संन्यासीने महाजनकी बात मान ली, उसने उसे छोड़ दिया और वह चला गया ।

घर आकर सदाव्रती भक्तने सोच-समझ कर अपनी स्त्रीसे कहा—"जान पड़ता है, सन्तजी कुछ उदास हैं ।" स्त्रीने इसपर कहा—"इन्हें अपनी पुत्री दे दीजिए और आदर-पूर्वक घरमें रखिये ।"

अपनी धर्मपत्नीकी इस बातको सुनकर सदाव्रतीजी उसके पैरोंपर गिर पड़े और बोले–"तेरी बलिहारी जाऊँ; तूने अपनी इस सुन्दर अभिलाषाको प्रकट कर मेरे पुत्र-शोकको मिटा दिया ।"

भक्ति-रस-बोधिनी

बोलि लियो संत, "सुता कीजियै जु अंगीकार, दुख सो अपार काहू विमुख कौं दीजियै" ।
बोल्यो मुरझाय "मैं तौ मार्यौ सुत हाय ! मोपै जियौ हू न जाय,मेरो नांव नहीं लीजियै ॥
"देखौ साधुताई, धरी सीस पै बुराई, जहाँ राई हू न दोस कियौ मेरु सम रीझियै" ।
दई बेटी ब्याहि, कहि "मेरो उर-दाह मिटै, कीजियै निबाह जग माँहि जौलौं जीजियै ॥२२२॥

अर्थ––अपनी स्त्रीके प्रस्तावके अनुसार सदाव्रती भक्त महाजनने सन्तजीको बुलाकर कहा––"मेरी पुत्रीको अपनी पत्नीके रूपमें स्वीकार कीजिये; क्योंकि यदि यह किसी ऐसेको ब्याह दी गई जो भगवानके विमुख है, तो मुझे अपार कष्ट होगा ।"

यह सुनकर सन्त बहुत उदास हुआ और कहने लगा––"हाय ! मैंने आपके पुत्रका वध किया है, अतः आत्म-ग्लानिके कारण मुझसे जिन्दा नहीं रहा जाता । आप मेरे-जैसे अधम पापीका नाम भी अपनी जीभपर मत लाइए ।"

सदाव्रतीने अपनी स्त्रीकी ओर देखते हुए कहा––"इनकी सज्जनता देखो कि दूसरेके अपराधको अपने ऊपर ले रहे हैं । जहाँ इनका राईके बराबर भी दोष नहीं है, वहाँ ये महात्मा मेरु पर्वतके समान दोषको अपने सिरपर ले रहे हैं । इनकी इस साधुता पर मैं अत्यन्त प्रसन्न हूँ ।" यह कह कर फिर बोले––कृपया इस मेरी पुत्रीको अंगीकार करिये, ताकि मेरे हृदयका संताप दूर हो और जब तक आपका जीवन है, तब तक मेरे घरमें ही रहिए और मुझे जैसे बने तैसे निबाहिये ।"

यह कहकर महाजन-भक्तने अपनी बेटी उन्हें ब्याह दी ।

भक्ति-रस-बोधिनी

आए गुरु घर सुनि, दीजै कौन सर, बड़े सिद्ध सुखदाई, साधु-सेवा लै बताई है ।
कह्यो–"सुत कहाँ?" "अजू पायौ",कह्यो "कैसी भाँति?" "भाँति को बखानौं,जग मीच लपटाई है" ॥
"प्रभुने परीक्षा लई, सोई हमैं आज्ञा दई, चलियै, दिखायौ जहाँ देह को जराई है" ।
गए वाही ठौर, सिरमौर हरि ध्यान कियो, जियो, चल्यो आयो, दास कीरति बढ़ाई है ॥२२३॥

अर्थ––सदाव्रती महाजनके पुत्रकी मृत्युका समाचार सुनकर उनके गुरुदेव एक दिन घर आए । इन गुरुदेवकी उपमा किससे दी जाय ? आप भक्तोंको आनन्द देनेवाले ऊँचे सिद्ध थे । आपने ही सदाव्रतीजीको साधु-सेवाका उपदेश दिया था ।

आते ही गुरुदेवने पूछा––"तुम्हारा पुत्र कहाँ है ?" भक्तने उत्तर दिया––"अजी ! वह

तो परमधामको पहुँच गया।" गुरुजीने पूछा—"सो कैसे?" महाजनने कहा—क्या बताऊँ? इस संसारको चारों ओरसे मृत्युने घेर रक्खा है; कालकी क्रीड़ा यहाँ दिन-रात चलती रहती है, (ऐसेमें कारण किसे बताया जाय?")

तब गुरुदेवने कहा—"प्रभुने तुम्हारी परीक्षा ली थी और अब मुझे आज्ञा दी है कि तुम वहाँ जाओ। मेरे साथ चलो और उस स्थानको दिखाओ जहाँ तुमने पुत्रके शरीर का दाह-कर्म किया है।"

फिर दोनों उस स्थानपर पहुँचे। पहुँच कर सिद्धोंके शिरोमणि गुरुदेवने भगवानका ध्यान किया और बालक जीवित होकर उनके सामने उपस्थित हो गया।

इस प्रकार भगवानने अपने भक्तके पुत्रकी हत्या कराकर भक्तके गौरवको संसारमें बढ़ाया और भक्तिका एक अलौकिक आदर्श लोगोंके सामने रक्खा।

मूल (छप्पय)

दारुमई तरवार सारमय रची 'भुवन' की।
'देवा' हित सित केस प्रतिग्या राखी जन की॥
'कमधुज' के कपि चारु चिता पर काष्ठ जु ल्याए।
'जैमल' के जुध माहिं अस्व चढ़ि आपुन धाए॥
घृत सहित, भैंस चौगुनी 'श्रीधर' संग सायक धरन।
चारौ जुग चत्रभुज सदा भक्त गिरा साँची करन॥५२॥

भूमिका—इस छप्पयमें श्रीनाभास्वामीजीने छः भक्तोंके चरित्रोंका संक्षेपमें वर्णन किया है। भक्तोंके नाम इस प्रकार हैं—(१) श्रीभुवन चौहान, (२) श्रीदेवा पंडा, (३) श्रीकामध्वज, (४) राजा श्रीजयमल (५) श्रीग्वालभक्त तथा (६) श्री श्रीधर,

अर्थ—भगवानने अपने भक्त श्रीभुवनसिंहजी चौहानकी काठकी तलवारको लोहेका कर दिया। देवा पण्डाका हित करनेके लिए आपने शरीरमें सफेद केश धारण कर भक्तकी प्रतिज्ञा को निबाहा। श्रीकामध्वजजीने कहा—"कि मेरा दाह वही करेगा जिसका मैं भक्त हूँ", अतः महावीर हनुमानजीने अपने हाथोंसे लकड़ियाँ लाकर इनकी चिता बनाई और दाह-कर्म किया। राजा श्रीजयमलके युद्धमें भगवान स्वयं घोड़ेपर सवार होकर आए और राजाकी तरफसे लड़े। श्रीग्वाल-भक्तने जब झूठ ही कह दिया कि उन्होंने भैंसें ब्राह्मणको देदी हैं और वह घृत-सहित

उन्हें लौटा जायगा, तो प्रभुने चौगुनी मैंमें पहुँचाकर भक्तके कहनेको सत्य किया। भक्त श्रीधरजी की बातकी रक्षा करनेके लिए अपनी चारों भुजाओंमें धनुष-बाण लेकर उनके साथ रहे।

चतुर्भुज भगवान चारों युगोंमें अपने भक्तकी वाणीको इसी प्रकार सत्य प्रमाणित करते आये हैं।

(श्रीभुवनजी चौहान)

भक्ति-रस-बोधिनी

सुनौ कलिकाल बात, और है पुराण ख्यात, "भुवन चौहान" जहाँ "राना" की बुहाई है।
पट्टा युग लाख खात, सेवा अभिलाष साधु, चल्यो सो सिकार नृप, संग भीर भाई है॥
मृगी पाछे धरे, करे टूक, हुती गाभिन, यौं आइ गई दया, कही "काहे को लगाई है?"
कहैं मोकों 'भक्त', क्रिया करौं मैं अभक्तन की, दारु तरवार धरौं, यहै मन भाई है॥२२४॥

अर्थ—तीनों युगों (सत्य, त्रेता, द्वापर) में भगवानने अपने भक्तोंकी बात जिस प्रकार रक्खी, यह कथा तो पुराणोंमें प्रसिद्ध है और सबको मालूम है। यहाँ अब कलियुगके एक भक्तकी कथा सुनिये। इनका नाम था श्रीभुवनसिंहजी चौहान। ये चित्तौरगढ़ के निवासी थे जहाँ उदयपुरके राना राज्य करते थे। रानाकी ओर से इन्हें दो लाख रुपए सालाना आय वाली भूमिका पट्टा कर दिया गया था और उससे ये बड़े प्रेमसे साधु-सेवा करते थे। एक बारकी बात है कि ये राना नौकर-चाकरोंके एक बड़े समूहके साथ शिकार खेलनेके लिए वनको गए। वहाँ एक हिरनीको देखकर आपने उसका पीछा किया और उसे टुकड़े-टुकड़े कर दिया। मारने के बाद भुवन चौहानको जब पता चला कि हिरनीके पेटमें बच्चा था, तो बड़ी दया आई और कहने लगे—"हाय! मैंने इसे क्यों मारा? लोग मुझे भक्त समझते हैं, पर मेरे आचरण अभक्तों (पापियों) जैसे हैं। अब आज से मैं लोहेकी जगह काठकी तलवार रक्खा करूंगा ताकि किसीकी हत्या हो ही न सके।" और जब आपके मनमें यह बात बैठ गई, तो आपने वैसा ही किया, अर्थात् काठकी तलवार धारण करने लगे।

तीनों युगोंके भक्तोंके उदाहरण—सत्ययुगमें श्रीध्रुवजीने प्रतिज्ञाकी कि मैं भगवानकी आराधना कर अक्षय लोकका अधिकारी बनूंगा। त्रेताके आदि में प्रह्लादजीने खम्भेमें प्रभुके होनेकी बात कही। द्वापरमें पितामह भीष्मने प्रतिज्ञा की कि मैं प्रभुको शस्त्र पकड़वा कर मानूंगा। इन तीनों युगोंमें भगवान ने अपने भक्तोंकी लज्जा रक्खी।

भक्ति-रस-बोधिनी

और एक भाई, तानें देखी तरवार दारु, सक्यो न सँभार, जाय राना कौं जनाई है।
नृप न प्रतीति करै, करै यह सौंह नाना, बाना प्रभु देखि लेख बात न चलाई है॥
ऐसे ही बरस एक कहत बितीत भयो, कह्यो "मोहिं मारि डारौ जो पै मैं बनाई है।"
करो गोठ कुंज जाय, पाय कै प्रसाद, बैठे प्रथम निकासि आप, सबनि दिखाई है॥२२५॥

अर्थ—श्रीभुवनजी चौहानकी विरादरीके एक भाईने देख लिया कि चौहानजी काठकी तलवार बाँधते हैं। उसपर यह भेद अपने तक नहीं रक्खा गया और उसने रानासे जाकर कह दिया। रानाजीको विश्वास नहीं हुआ कि चौहान ऐसा कर सकते हैं। इस पर उस चुगलखोर ने तरह-तरह की सौगन्ध खाकर फिर वही बात दुहराई। चौहानजीका भक्त-वेष और तेज देख-कर रानाको इस बातकी चर्चा करने का साहस न हुआ। ऐसे ही उसके चुगली करते और रानाजी को सुनते हुए एक वर्ष बीत गया। अन्तमें उसने कहा—"यदि मेरी बात मिथ्या निकले, तो आप मुझे मरवा डालें।" तब रानाने महलके उद्यान में बने हुए तालाब के किनारे चौहानोंकी एक गोष्ठी की और उसमें सबसे पहले रानाने अपनी तलवारको म्यानमें से खींच कर सबको दिखाया।

भक्ति-रस-बोधिनी

क्रम सौं निहारि कह्यौ भुवन "विचार कहा ?" कह्यौ चाहै 'दार', मुख निकसत सार है।
काढ़ि कै दिखाई, मानौं बिजुरी चमचमाई, आई मन माँझ,बोल्यौ "याकौ मारौ, भार है ॥"
भक्त कर जोरि कै बचायौ "प्रभू ! मारिये क्यों ? कही बात झूठ नहीं; करी करतार है।"
"पट्टा दूनादून पायौ, आवौ मत मुजरा कौं, मैंही घर आऊँ, होय मेरौ निस्तार है" ॥२२६॥

अर्थ—अपनी तलवार दिखाने के बाद राजाने क्रमशः सब सामन्तोंकी तलवारें देखीं और तब कहा—"भुवनजी ! आपका क्या विचार है ?"

उत्तरमें भुवनजी यह कहना चाहते थे कि मैं क्या दिखाऊँ, मेरी तलवार तो दार (काठ) की है, पर उनके मुँहसे 'दार' के स्थान पर 'सार' निकल गया, जिसका अर्थ होता है 'लोहा'। तलवार निकाल कर तो उन्हें दिखानी पड़ी, पर ज्योंहीं उसे म्यानमें से खींचा, त्योंहीं वह बिजलीकी तरह चमचमाने लगी। यह देख कर रानाका मन प्रसन्न होगया और उन्होंने सामन्तों से कहा—"इस (चुगलखोर) को मारो; यह पृथ्वीका भार है !"

श्रीभुवनजीने यह देखा, तो दयाके वशमें होकर रानाके हाथ जोड़कर बोले—"महाराज ! इसे मत मारिये। इसने जो कुछ कहा, वह झूठ नहीं था। तलवार वास्तवमें काठ की ही थी, लोहे की तो इसे भगवानने बना दिया है।"

श्रीभुवनजीकी भक्तिका ऐसा प्रत्यक्ष चमत्कार देखकर रानाने कहा—"आज से आपका पट्टा दो लाखसे चार लाखका किया जाता है। अब आपको अन्य सामन्तोंकी भाँति ताजीम बजाने के लिये यहाँ आनेकी आवश्यकता नहीं। मैं ही समय-समयपर दर्शन करने के लिए आपकी हाजिरी दिया करूँगा। आपकी कृपासे, इस तरह, मेरा भी कल्याण हो जायगा।"

इसी घटना का वर्णन राजस्थानी एक लोक-गीतमें इस प्रकार किया गया है—

भई तलाया गोठ जुरे जहँ चहुवे, परचौ निज है आजु लाय हूँ लम्खवे।
परमेस्वर पति राखि, बात नहिं कहन की, बिजुरी ज्यों तरवारि चमक्की भुवन की ॥

(श्रीदेवापण्डाजी)

भक्ति-रस-बोधिनी

बरसन आयो राना रूप चतुर्भुजजू कों, रहे प्रभु पौढ़ि, हार सीस लपटाये हैं।
बेगि दै उतारि, कर लैकै गरे डारि दियो, देखि धोरो बार कह्यो भौरे आये ? "आये हैं" ॥
कहन तो कह्यो गई, सही नहीं जात अब "महीपति डारै मारि", हरिपद ध्याये हैं।
"अहो ! हृषीकेश ! करो मेरे लिए सेत केस लेस हूँ न भक्ति" कह्यो "किये" देखो छाये हैं ॥२२७॥

अर्थ—एक दिन राना रोजकी भाँति रात्रिको चतुर्भुज भगवानके दर्शन करने के लिए मन्दिरमें गए; लेकिन और दिनोंकी अपेक्षा उस दिन कुछ देरसे पहुँचे, इसलिए देवाजी पंडाने, शयनका समय जानकर, ठाकुरजीको शयन करा दिया। इसके उपरान्त प्रसादी माला अपने गलेमें पहिनकर वे निज मन्दिरसे बाहर निकले ही थे कि राना आगए। पंडाजीने तत्काल अपने गलेमें से माला उतार कर रानाके गलेमें पहिना दी। दैवयोगसे पण्डाजी के सिरका एक सफेद बाल मालाके साथ लिपटकर चला गया और उसे देखकर रानाने कहा—"पंडाजी! क्या ठाकुरजीके बालोंपर सफेदी आ गई है ?" पंडाजीके मुँहसे निकल गया—"हाँ महाराज !" कहनेको वे कह गए, परन्तु अब बड़ी चिन्तामें पड़ गए कि राजा जब प्रातःकाल आकर देखेंगे, तो मुझे जीता नहीं छोड़ेंगे। अब पंडाजीके पास भगवानकी शरणमें जाने के अतिरिक्त और क्या उपाय था ? भगवानके चरणोंका ध्यानकर वे सच्चे हृदयसे प्रार्थना करने लगे—"हे इन्द्रियोंके स्वामिन् ! मुझ दासको बचानेके लिए आप अपने केशोंको सफेद कर लीजिए। मैं जानता हूँ कि मेरे हृदयमें आपके प्रति जरा भी भक्ति नहीं है, तथापि मैं दास तो आपका ही हूँ।"

भक्तकी इस प्रार्थनापर मन्दिरके अन्दरसे यह आवाज आती हुई सुनाई दी—"मैंने बाल सफेद कर लिए हैं; विश्वास न हो तो आ कर देख लो।"

भक्ति-रस-बोधिनी

जानि राजा त्रास दुख-रासि-सिन्धु बूड्यो हुतो, सुनि कै मिठास बानी मानौ फेरि जियो है।
देखे सेत बार, जानो कृपा मो अपार करी, भरी आँखें नीर, "सेवा-लेस मैं न कियो है" ॥
बड़ेई दयाल, सदा भक्त प्रतिपाल करें, मैं तो हौं अभक्त, "ऐपै सकुचायो हियो है।"
"भूले सनबंधहू ते नाम लोवैं मेरोई जू," तातें सुख साजें यह दरसाय दियो है ॥२२८॥

अर्थ—प्रातःकाल राना आकर ठाकुरजीके सफेद बाल नहीं देखेंगे, तो न जाने मुझे क्या दण्ड देंगे, इस डरसे देवा पण्डाजी दुःखके अपार समुद्रमें गोते लगा रहे थे कि ठाकुरजी की मिठास-भरी वाणी सुनकर उनके जी में जी आ गया। अन्दर जाकर जब उन्होंने देखा कि वास्तवमें ठाकुरजीके बाल सफेद हो गए हैं, तो यह समझते देर नहीं लगी कि यह सब भगवान की कृपाकी ही महिमा है। पंडाजीकी आँखोंमें प्रेमके आँसू छल-छलाने लगे। वे सोचने लगे—"मुझपर तो भगवानकी किंचित् मात्र भी सेवा नहीं बन पड़ी है ! आहा ! प्रभु कितने

दयालु हैं जो इस प्रकार अपने भक्तोंके प्रणकी रक्षा करते हैं। मैं तो अभक्त हूँ, पर इतनेपर भी मुझे अभक्त मानने में प्रभुको संकोच हुआ। उनका तो यह सदाका बाना है कि जो कोई झूठी भावना-वश भी उनका नाम लेता है, उसे वे अपना करके मान लेते हैं। इसी लिए प्रभुने मुझे सुख देनेवाला यह वेष बनाया है। धन्य है!!"

भक्ति-रस-बोधिनी

आयो भोर राना, सेत बार लोनि हारि रह्यो कह्यो "केस काहू के लै पंडाने लगाये हैं।"
ऐंचि लियो एक तामैं, खैंचि के चढ़ाई नाक रुधिर की धारा नृप-अंग छिरकाये हैं॥
गिरयो भूमि मूरछा ह्वै, तन की न सुधि कछू, जाग्यो जाम बीते अपराध कोटि गाये हैं।
"यही अब दंड राज बैठे सो न आवे इहाँ;" अब लौं हूँ आनि मानि करैं जो सिखाये हैं॥२२९॥

अर्थ—जैसा कि राना कह गए थे, प्रातःकाल होते ही दर्शन के लिए चतुर्भुज भगवानके मन्दिरमें पहुँचे और ठाकुरजीके बालोंको सफेद देखकर सोचने लगे—"पंडाने किसीके सफेद बाल लाकर ठाकुरजीके मस्तकपर चिपका दिये हैं।" परीक्षाके लिए रानाने उन बालोंमें से एकको खींचकर देखा। बाल खिंचते ही प्रभुने अपनी नाक चढ़ा ली और दूसरे ही क्षण खून की धारसे रानाके अङ्ग छिड़क गए। यह देखकर राना मूर्छित होकर पृथ्वीपर गिर पड़े और उन्हें अपने शरीरकी सुध न रही। एक पहर बीत जाने पर जब रानाको होश हुआ, तो अपने को करोड़ गुना अपराधी मानकर ठाकुरजीसे क्षमा मांगने लगे। श्रीचतुर्भुज प्रभुने आज्ञा दी—"तुम्हारे अपराधका यही दण्ड है कि इस गद्दीपर जो राजा बैठे वह मेरे दर्शन करने मन्दिरमें न आया करे।"

प्रभुकी इस आज्ञाकी आन मानकर उदयपुरके गद्दीधारी राना अब तक श्रीचतुर्भुज भगवानके मन्दिरमें नहीं आते हैं।

(श्रीकामध्वजजी)

भक्ति-रस-बोधिनी

भए चारि भाई करैं चाकरी वे रानाजू की; तामैं एक भक्त, करै बनमें बसेरो है।
आय कै प्रसाद पावै, फेरि उठि जाय तहाँ; कहैं "नेकु चलौ तौ, महीना लीजै तेरो है॥"
"जाके हम चाकर हैं, रहत हजूर सदा," "मरै तो जरावै कौन ?" "वही जाको चेरो है।"
छूट्यो तन बन, राम-आज्ञा हनुमान आए, कियो दाह, पुर्या लगे प्रेत पार बेरो है॥२३०॥

अर्थ—चित्तौरगढ़के राज्य उदयपुरमें चार भाई रहते थे। ये रानाजीके यहाँ नौकर थे। इनमें एक भक्त था जोकि बनमें रहते हुए भगवानका भजन किया करता था। केवल प्रसाद पाने के लिए वह घर आता था और फिर बनको चला जाता। तीनों भाई इससे कहते—"एक बार जाकर रानाजीकी हाजरी बजा आया करो, क्योंकि तुम्हारा मासिक वेतन तो हम लोग ले आते हैं, पर तुम वहाँ झाँकते भी नहीं हो।"

कामध्वजजी इसका उत्तर देते—"हम तो उसीकी हाजरीमें रहते हैं जिसके सेवक हैं ।"

भाई बोले—"जब तुम मरोगे तब तुम्हें जलावेगा कौन ?"

कामध्वजजी—"वही जलावेगा जिसके हम दास हैं ।"

एक दिन आपका शरीर वास्तवमें छूट गया। तब प्रभु श्रीरामचन्द्रजीकी आज्ञासे हनुमानजी ने स्वयं आकर चन्दनकी चिता बनाई और दाह-कर्म किया । भक्तका प्रभाव देखिये कि चिताके आस-पासके पेड़ों पर जितने प्रेत रहते थे, वे सब धुँआ लगते ही अपनी योनिसे छुटकारा पा गये और उनकी सद्गति हो गई ।

(श्रीजयमलजी)

भक्ति-रस-बोधिनी

'मेरतें' प्रथम बास "जैमल" नृपति, ताकों सेवा-अनुराग, नेंकु खटकौ न भावहीं ।
करें घरी दस, तामें कोऊ जो खबरि देत, लेत नहीं कान और ठौर मरवावहीं ।।
हुतो एक भाई बैरी, भेद यह पाइ लियो कियो आनि घेरौ माता आइकें सुनावहीं ।
"करें हरि भली", प्रभु घोरा असवार भए, मारी फौज सब, कहें लोग, सचुपावहीं ।।२३१।।

अर्थ—राजा श्रीजयमलसिंहजी पहले 'मेड़ता' नगरमें रहा करते थे । भगवानकी सेवा-पूजा वे ऐसी लगनके साथ करते थे कि उसमें किसी प्रकारका विघ्न उन्हें बहुत खलता था । प्रतिदिन दस घड़ी (चार घण्टे) उनका यह नियम चलता था । इस बीचमें यदि कोई किसी प्रकार की खबर लाता या राज-काजके निमित्त आता, तो उधर ध्यान ही नहीं देते थे, वरन् प्राण-दण्डकी आज्ञा दे देते थे । आपका वैरी एक भाई था । उसे इस भेदका पता लग गया और उसने, जब वे भजनपर बैठे, तब नगरके चारों ओर घेरा डाल दिया और किसीका साहस तो इस समाचारको देनेका हुआ नहीं; उनकी माताने आकर यह घटना सुनाई । सुनकर आपने केवल इतना कहा—"भगवान सब अच्छा ही करेंगे ।" वे यथावत् सेवा-पूजा करते रहे ।

अपने भक्तपर आई हुई इस आपत्तिका निवारण करने के लिए प्रभुको स्वयं आना पड़ा । वे अस्त्र-शस्त्रोंसे सुसज्जित होकर घोड़ेपर सवार होकर संग्राम-भूमिमें आए और शत्रुकी सब सेनाको मार भगाया (और इसके बाद अन्तर्धान होगए) । लोगोंमें इसकी बड़ी चर्चा उठी और जिसने सुना सबने सुख माना ।

भक्ति-रस-बोधिनी

देखें हाँफे घोरा "अहो ! कौन असवार भयौ ?" गयो आगे जबै देख्यो वही बैरी परयो है ।
बोल्यो सुख पाय "अजू ! साँवरो सिपाही को है ?एकले ही फौज मारी,मेरो मन हरयो है ।।"
"तोही कों दिखाई दई, मेरे तरसत नैंन !" बैननि सों जानी "वही स्याम प्रभु हरयो है ।"
पूछि कै पठाइ दियौ, याने पग यह लियौ, कियौ, इन दुःख, करें भली, बुरो करयो है ।।२३२।।

अर्थ—नियम-सेवा समाप्त करके श्रीजयमलजी युद्ध-स्थलमें जानेसे पूर्व अपने अस्तबलमें गए और वहाँ अपने घोड़ेको हाँफता हुआ देखा, तो पूछने लगे—"अरे! इसपर किसने सवारी की है?" (किसीने इसका कुछ उत्तर नहीं दिया; क्योंकि यथार्थ बातका किसीको पता ही न था।) अस्तु। आगे बढ़कर आप जब संग्राम-भूमिमें पहुँचे, तो देखा कि उनका वैरी भाई घायल होकर वहाँ पड़ा है। शत्रुके चेहरे पर (भगवानके दर्शन करनेके कारण) आनन्द छाया हुआ था। श्रीजयमलजीको सामने खड़ा हुआ पाकर उसने पूछा—"भला वह साँवला-सा वीर सिपाही कौन है जिसने अकेले ही मेरी सब फौजको परास्त कर दिया? उसने मुझे घायल कर दिया, पर वह इतना सुन्दर था कि मेरा मन उसीमें लगा हुआ है।"

राजा समझ गए, बोले—"तुम्हें ही वे दिखाई दिए! (तुम धन्य हो) मेरी आँखें तो उनके दर्शनके लिए तरसती ही रह गईं!"

श्रीजयमलजीने जब अपने हृदयकी वेदनाको इस प्रकार प्रकट किया, तो उनके कहनेसे वे समझ गए कि अपने भक्तकी रक्षा करनेके लिए भगवान स्वयं आए थे और युद्धमें भाग लिया था।

यह सब हो चुकने के बाद श्रीजयमलजीने अपने उस शत्रुको उसके घर पहुँचा दिया। भगवानकी महिमा और दयालुतासे प्रभावित होकर उस वैरीने भी भक्तिका व्रत ले लिया और वह भी श्रीजयमलजीकी तरह नियमसे सेवा-पूजा करने लगा। उसने सोचा—"देखो भगवानके भक्त कैसे होते हैं! मैंने तो श्रीजयमलजीको हानि पहुँचानेमें कोई कसर नहीं छोड़ी थी, पर उन्होंने बुराईके बदलेमें मेरे साथ भलाई ही की।"

(ग्वाल–भक्त)

भक्ति-रस-बोधिनी

भयो एक ग्वाल, साधु-सेवा सो रसाल करै, परै जोड़ हाथ लैकें संतन खवावहीं।
पायो पकवान बनमध्य, गयो ख्वाइबे कों; थाइबे की ढील, चोर भैंस सो चुरावहीं॥
जानिकें छिपाई बात माता सों दुराइ कही "दई विप्र भूखो, घृतसंग फेरि आवहीं"।
दिन हो दिवारी को सु उन पहिरायो हाँस, आइ घर जाम लिये रीभ कं सुनावहीं॥२३३॥

अर्थ—किसी गाँवमें एक ग्वाला बड़े भगवद्-भक्त थे। वे बड़ी श्रद्धासे साधुओंकी सेवा किया करते थे और जो कुछ अच्छी सामग्री हाथ लगती, उसे संतोंको खिला देते थे। एक दिन किसी त्यौहारके अवसरपर ग्वाल-भक्तके लिए घरसे बढ़िया पकवान आये। उस समय वे जंगलमें भैंसें चरा रहे थे। आपने उन पदार्थोंको स्वयं तो खाया नहीं बल्कि साधुओंको खिलाने के लिए जा पहुँचे। भैंसोंको वे वहीं चराते छोड़ गए। संयोगसे लौटनेमें उन्हें देर होगई और उसी बीचमें मौका पाकर चोर भैंसोंको हाँक लेगए। घर वापिस आने पर जब माँने पूछा, तो सच

बातको छिपा लिया और कह दिया कि मैंने उन्हें एक भूखे ब्राह्मणको दे दिया है। वे कुछ दिन उन्हें अपने पास रख कर घीके सहित दे जायँगे।

कुछ दिन बाद दिवालीका पर्व आया और चोरोंने भैंसोंको अच्छी तरह नहला-धुलाकर उन्हें चाँदीकी हँसुलियाँ पहिनाईं और खूब सजाया। प्रभुकी ऐसी इच्छा हुई कि चुराई गई ग्वाल-भक्तकी सब भैंसें भाग खड़ी हुईं और उनके साथ और भैंसें भी चलदीं। ग्वालकी भैंसें अपना घर पहिचान कर दरवाजेपर आकर रुक गईं और रँभाने लगीं। (उन्हें देखकर ग्वाल-भक्तने अपनी मातासे कहा—"माँ! देखो तुम्हारी भैंस आगईं हैं और घीकी बिक्रीसे जितना रुपया मिला उनसे हँसुलियाँ बनवाकर ब्राह्मणों ने इन्हें पहिना दी हैं।"

इस प्रकार भक्तवत्सल भगवानने अपने भक्तके कथनको सत्य सिद्ध कर दिखाया।

(श्री श्रीधरस्वामीजी)

भक्ति-रस-बोधिनी

भागवत टीका करी 'श्रीधर' सु जानि लेहु, गेह में रहत, करैं जागत-व्यवहार हैं।
चले जात मग, ठग लगे, कहैं "कौन संग?" "संग रघुनाथ मेरी जीवन-अधार हैं।।
जानी इन कोऊ नाहिं; मारिबो उपाय करे, धरे चाप-बान आवैं वही सुकुमार हैं।
आये, घर ल्याये,पूछै "स्याम सो सरूप कहाँ? जानी वे तो पार किये,प्रापु,डारयो भार हैं।।२३४।।

अर्थ—श्री श्रीधरस्वामीने श्रीमद्भागवतकी प्रसिद्ध टीका की है, (इस बातको १६४ वें कवित्तमें कहा जा चुका है।) अब उनके सम्बन्धमें यह और जान लीजिए कि पहले आप गृहस्थ थे और गृहस्थाश्रमके सब कर्त्तव्योंका यथाविधि पालन किया करते थे। एक बार आप (आगरा) से घरको आरहे थे कि रास्तेमें आपके पीछे ठग लग लिये। कुछ दूर तक साथ-साथ जानेके बाद ठगोंने पूछा—"तुम्हारे साथ कोई है?" आपने उत्तर दिया—"मेरे जीवन आधार प्रभु श्रीरामचन्द्रजी ही मेरे साथ हैं।"

इसपर ठगोंने समझ लिया कि ये अकेले ही हैं और इनके मार डालनेका उपाय सोचने लगे। इतने ही में धनुष-बाण धारण किए वही सुकुमार प्रभु आगए जिनका कि श्रीधर स्वामीने नाम लिया था और इन्हें घर तक पहुँचा गए। ठग भी श्रीधर स्वामीके साथ लगे ही आए और जब वे घर आपहुँचे, तब उनसे पूछा—"तुम्हारे साथ साँवले शरीरके जो रक्षक आए थे, वे कहाँ गए? अब श्रीधरस्वामीको मालूम हुआ कि उन्हें घने जंगलमेंसे निकाल कर घर तक पहुँचानेवाले स्वयं प्रभु ही थे। तब तो आपके हृदयमें सहसा भक्ति-जनित वैराग्य उदय हुआ और आप गृहस्थके सांसारिक भारको तिलाञ्जलि देकर भगवानके भजनमें लग गए।

मूल (छप्पय)

'निहिकिंचन' इक दास तासु के हरिजन आये।
विदित बटोही-रूप भये हरि आपु लुटाये॥
साखि देन कौ स्याम 'खुरदहा' प्रभुहि पधारे।
'रामदास' के सदन राय रनछोर सिधारे॥
आयुध-छत तन अनुग के बलिबंधन अपबपु धरैं।
भक्तनि सँग भगवान नित (ज्यों) गऊ-बच्छ गोहन फिरैं॥५३॥

भूमिका—इस छप्पयमें तीन सन्तोंका उल्लेख किया गया है—(१) श्रीनिष्किचन हरिपालजी, (२) साक्षीगोपालके भक्त, तथा (३) श्रीरामदासजी डाकोर वाले।

अर्थ—'निष्किचन' नामक एक भक्त थे जिनके यहाँ साधु-सन्त प्रायः आया-जाया करते थे। यह कथा तो सबको विदित है कि किस प्रकार भगवान एक धनिक बटोहीके रूपमें आए और इन भक्त महोदयके हाथों अपने आपको लुटवाया।

एक दूसरे भक्तकी गवाही देनेके लिए भगवान स्वयं खुर्दहा गाँव पधारे और इसीपर प्रभुका नाम 'साक्षी गोपाल' पड़ गया।

श्रीरनछोर प्रभु द्वारिकासे श्रीरामदासजीके घर (डाकोर) पधारे और वहाँ राजा बलिको बाँधनेवाले भगवानके पंडों द्वारा श्रीरामदासजी पर किये गए प्रहारोंके घावोंको अपने शरीर पर लिया (और पंडोंको लज्जित करनेके लिए अपने विग्रहको सोनेकी बालीके बराबर हलका कर लिया।)

अपने भक्तोंके साथ भगवान इस प्रकार घूमते हैं जैसे बछड़ेके साथ-साथ गाय।

(श्रीनिष्किचन हरिपालजी)

भक्ति-रस-बोधिनी

भक्तनि के संग भगवान ऐसे फिरयो करैं जैसे बच्छ-संग फिरै नेहवती गाय है।
"हरिपाल" नाम विप्रग्राम में जनम लियो, कियो अनुराग साधु दई श्री लुटाय है॥
केतिक हजार लै बजार के करज खाए, गरज न सरै कियो चोरि को उपाय है।
बिमुख कौं लेत, हरिदास कौं न दुःख देत, आये संत द्वार, लिया संग बतराय है॥२३५॥

अर्थ—भक्तोंके साथ भगवान इस प्रकार फिरा करते हैं जैसे बछड़ेके साथ स्नेहमयी गाय। हरिपालजीने एक ब्राह्मण कुलमें जन्म लिया था। आप साधु-सन्तोंसे इतना प्रेम करते थे कि उन्हींकी सेवामें आपने अपना सर्वस्व लुटा दिया। इतनेपर भी आपने साधु-सेवासे हार नहीं मानी और बाजारका भी कई हजार ऋण लेकर साधु-सेवामें लगा दिया। अब इतनेपर भी

पूरा नहीं पड़ा, तो चोरीका आश्रय लिया। लेकिन चोरीमें भी इतना विचार रखते थे कि भगवानसे विरोध रखनेवालोंका ही धन अपहरण करते थे; हरि-भक्तोंको नहीं सताते थे। एक दिन साधुओंकी मंडली आपके दरवाजेपर आ निकली। उसका सत्कार अब किस प्रकार किया जाय, इस विषयपर आप अपनी पत्नीसे परामर्श करने लगे।

भक्ति-रस-बोधिनी

बैठे कृष्ण रुक्मिनी महल तहाँ सोच परचो, हरचो मन साधु-सेवा, साहूरूप कियो है।
पूछो 'चले कहाँ?' कही 'भक्त है हमारो एक'.'मैं हू आऊँ?' 'आवो',आये जहाँ पूछि लियो है ॥
"अजू ! मग चल्यो जात बड़ो उत्पात मधि, कोऊ पहुँचावै, देवौं", लै रुपैया दियो है।
"करो समाधान संत, मैं लिवाइ जाऊँ इन्हें", जाइ बनमाँझ, देखि बहु धन, जियो है ॥२३६॥

अर्थ—अब निष्किंचनजी इस चिन्तामें पड़े थे कि साधु-सेवा कैसे की जाय, उसी समय श्रीकृष्ण भगवान द्वारकामें श्रीरुक्मिणीजीके महलोंमें विराज रहे थे। अपने भक्तको इस प्रकार साधन-विहीन जानकर आपका मन एकाएक साधु-सेवाकी ओर खिंच गया (और आपको यह अत्यन्त अनुचित जान पड़ा कि उनका एक भक्त तब अपनेको इस प्रकार असहाय अनुभव कर रहा हो, तब आप अन्तःपुरमें बैठकर अनेक प्रकारके हास-विलास करते रहें)। उसी समय भगवान उठ खड़े हुए और धनिक व्यापारी (साहूकार) का वेष धारण कर चलने को तैयार होगए। श्रीरुक्मिणीजीने, पूछा—"कहाँ चले प्रभो ?" बोले—"हमारा एक भक्त है (उसके पास जाना जरूरी है।)" श्रीरुक्मिणीजीने पूछा—"तो मैं भी चलूँ ?" भगवानने कहा—"आओ।"

इस प्रकार साहूकार तथा उसकी स्त्रीके वेषमें दोनों निष्किंचनजीके घरके दरवाजेपर पहुँचे। भक्तने उनके आनेका कारण पूछा, तो कहने लगे—"अजी ! बात यह है कि आज-कल अकेले जानेमें मार्गमें अनेक प्रकारके उपद्रवोंका सामना करना पड़ता है, अतः हम इस खोजमें थे कि कोई रुपया लेकर हमें मंजिल तक पहुँचा आवे।"

निष्किंचनजी सेठके साथ जानेको तैयार होगए और साहूकारने जो रुपए दिए थे उन्हें अपनी स्त्रीके हाथोंमें देते हुए बोले—"इन रुपयोंसे तुम सन्तोंका थोड़ा-बहुत सत्कार करो; मैं इन्हें पहुँचा कर आता हूँ।"

चल दिए आप साहूकार और उसकी स्त्रीके साथ। जंगलमें पहुँच कर आपने यह देखा कि इनके पास तो बहुत-सा माल है, तो आप बड़े प्रसन्न हुए।

भक्ति-रस-बोधिनी

देखें जो निहार, माला तिलक न सदाचार, "होयँगे भंडार जोपै धन इतौ लायो है।
लीजियै छिनाय," "वहि डारि" कहै "डारि देवौ", दियो सब डारि,छला छिगुनी में छायो है ॥
अँगुरी मरोरि, कही "बड़ो तू कठोर भयो" "तोकों कैसे छोड़ौं सन्त जेवें मोको भायो है" ।
प्रगट दिखायो रूप सुन्दर अनूप वह, "मेरे भक्त-भूप!" लैके छाती सों लगायो है ॥२३७॥

अर्थ—निष्किचनजीने ध्यानसे जो देखा, तो मालूम हुआ कि सेठ और उसकी स्त्रीके न तो कोई माला-तिलक है और न वैष्णवों-जैसा उनका अन्य कोई आचार है। लेकिन उनके शरीरपर सोना जो इतना लदा था, उससे उन्होंने अनुमान लगाया कि उनके घरपर धनका विशाल भण्डार है, (अतः जितना उस समय पहिने हुए थे, उसे ले लेनेमें कोई हानि नहीं।) ऐसा सोचकर उन्होंने उन दोनोंसे कहा—"जो कुछ तुम्हारे पास है, एक बारके कहने में ही यहाँ रख दो।" डरके मारे उन्होंने सब कुछ उतार कर रख दिया, केवल साहूकारकी स्त्रीके हाथमें एक अँगूठी रह गई। निष्किचनजीने अँगुली ऐंठकर उसे भी उतार लिया। कोमलांगी सेठानीने पीड़ाके कारण कुपित होते हुए कहा—"अरे! तू बड़ा निर्दयी है!" भक्त बोले—"इसे कैसे छोड़ दूँ ? इसके मूल्यसे तो कई सन्तोंका भोजन होगा।"

धन लेकर निष्किचनजी घरकी ओर लपके कि थोड़ी दूरपर कोटि-काम-लावण्य-शोभातिशायी श्यामसुन्दरने प्रत्यक्ष होकर दर्शन दिए और "मेरे भक्तराज!" यह कहकर उन्हें छातीसे लगा लिया।

श्रीनाभास्वामी तथा श्रीप्रियादासजी दोनोंने लिखा है कि भगवान भक्तोंके इसी प्रकार अनुगामी बन कर रहते हैं, जैसे गाय अपने बछड़े की। इसी बातको महात्मा कबीरने इस प्रकार कहा है—

नारद ! साधु सों अन्तर नाहीं।
जो मेरे साधु सों अन्तर राखे, सो नर नरकै जाहीं॥
लछमी मेरी अर्ध-सरीरी मम भक्तन की दासी।
अनंत तीर्थ साधुन के चरनन कोटि गंगा, कोटि कासी॥
जहँ मेरे सन्त जेवें तहँ जेऊँ, जहँ सोवें तहँ सोऊँ।
जो मेरे सन्तन दुख देवे, तिन दुष्टन मैं खोऊँ॥
जहँ मेरो संत करे कीरतन, तहाँ लेउँ हौं बासा।
संत चले आगे उठि धाऊँ, मोहिं भक्त की आसा॥
तजि अभिमान प्रेम-लौ लावे, सोई जन मो पावें।
कहैं कबीर संत की महिमा हरि मुख अपने गावें॥

श्रीमद्भागवतमें भी कहा है—

निरपेक्षं मुनिं शान्तं निर्वैरं समदर्शिनम्।
अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यङ्घ्रिरेणुभिः॥

—अभिलाषा-रहित, वैर-भावसे दूर, सबको समान दृष्टिसे देखनेवाले और शम, तितिक्षा, करुणा आदि लक्षणोंसे युक्त मुनि (भक्त) के मैं पीछे-पीछे चलता हूँ—इस आशासे कि इसकी चरण-रज मुझपर पड़ेगी, तो मैं भी पवित्र हो जाऊँगा।

ब्रह्मवैवर्त-पुराणमें लिखा है—

भक्तसार्धं भ्रमत्येव छायेव सततं हरिः।
चक्रेण रक्षयन् भक्तान् भक्त्या भक्तजन प्रियः॥

—भगवान छायाकी तरह भक्तके साथ रहते हैं और आपत्ति पड़ने पर सुदर्शन चक्र द्वारा उनकी रक्षा करते हैं। भक्तिके कारण भक्त भगवानको इतने प्यारे हैं।

एक अन्य प्रसंग—हरिपालजीके सम्बन्धमें एक अन्य छोटा-सा प्रसंग कहा जाता है। कहते हैं, एक बार वे चोरी करनेके लिए आधी रातको किसीके घरमें घुस गए। उन्होंने समझा था कि घरका मालिक हरि-विमुख है, क्योंकि उसे कभी भजन करते या माला-तिलक धारण करते हुए नहीं देखा गया था। जिस समय वे चोरीका सामान चादरमें बाँध रहे थे, तभी घरके मालिककी लड़की जाग पड़ी और उसने अपने पिताको चुपके-से जगा दिया। पिताने झाँक कर देखा तो धीरेसे बोला—"चुप रह! यह कोई असाधारण चोर नहीं, हरिपाल है।" हरिपालने यह सुना, तो समझ लिया, यह कोई गुप्त हरिभक्त है और चादरमें बँधे हुए सब धनको वहीं छोड़कर चले गए; चादर भी नहीं लेगए।

(श्रीसाक्षीगोपालजीके भक्त)

भक्ति-रस-बोधिनी

गौड़ देशवासी उभै विप्र, ताकी कथा सुनौ, एक वैस वृद्ध जाति वृद्ध, छोटो संग है।
और और ठौर फिरि आए फिरि आए 'बन' तन भयो दुखी, कीनी टहल अभंग है॥
रीझो बड़ो द्विज "निज सुता तोकों दई", "अहो रहो नहीं चाह मेरे", लई बिनै रंग है।
साखी दै गोपाल "अब बात प्रतिपाल करो" डरो कुल, ग्राम, भाम, पूछ्यो सो प्रसंग है॥२३८॥

अर्थ—गौड़ (बंगाल) देशके रहनेवाले दो ब्राह्मणोंकी अब कथा सुनिये। इनमें एक अवस्था और जाति दोनों कारणसे बड़ा था—अर्थात् उम्रमें बड़ा था और ऊँचे कुलका था। दूसरा युवक था और सामान्य जातिका था। ये दोनों तीर्थ-यात्रा करने निकले और जगह-जगहपर भ्रमण करते हुए श्रीवृन्दावनधाम पहुँचे। संयोगसे वृद्ध ब्राह्मण बीमार पड़ गए और दूसरेने इनकी जी-जानसे सेवा की। नीरोग होने पर वृद्धने सेवासे अत्यन्त प्रसन्न होकर कहा—"मैंने अपनी पुत्री तुम्हें दी।" युवक ब्राह्मणने कहा—"मेरे मनमें इस प्रकारकी कोई इच्छा नहीं है," लेकिन वृद्धके अत्यन्त आग्रह करने पर उसने विवाहके प्रस्तावको स्वीकार कर लिया और श्रीगोपालजीको इसका साक्षी बना दिया।

जब दोनों तीर्थ-यात्रा समाप्त कर घर लौटे, तो युवकने वृद्धसे कहा—"अब आप अपने प्रणको पूरा करिए और अपनी पुत्रीका विवाह मेरे साथ कर दीजिए।" घरकी स्त्री, बिरादरी वालों तथा गाँववालोंने वृद्ध ब्राह्मणको सलाह दी कि वर कन्याके योग्य नहीं है, अतः अपनी बातसे मुकर जाओ।

भक्ति-रस-बोधिनी

बोल्यो छोटो विप्र छिप्र दीजियै कही जो बात, तिया सुत कहैं "अहो सुता जाके जोग है?"
द्विज कहै "नाहीं कैसे करौं? मैं तो दैन कही", कही कहो 'भूलि भयो, बियाको प्रयोग है'॥
भई सभा भारी, पूछ्यो 'साखी नर-नारी?' "श्रीगोपाल बनवारी, और कौन तुच्छ लोग है।"
लेवो जू लिखाय जोपै साखी भरै आइ तो पै ब्याहि बेटी दीजै, लीजै, करो सुख भोग है॥२३९॥

अर्थ—ब्राह्मण-युवकने वृद्ध ब्राह्मणसे कहा—"आपने जो वायदा किया है उसे शीघ्र पूरा करिये।" ब्राह्मणके स्त्री और पुत्रको जब यह वृत्तान्त मालूम हुआ तो पितासे पूछने लगे—"क्या हमारी यह लड़की इस ब्राह्मणके योग्य है?" बूढ़ेने उत्तर दिया—"भला मैं कैसे अपनी बातसे पीछे हटूँ; मैंने तो पुत्रीको देनेका वचन दिया है।" इसपर लोगोंने उसे समझाया कि कह दो कि उस समय भूलसे कह गया; वह तो दुःखके समयकी बात है।

अन्तमें गाँववालोंकी पंचायत जुड़ी और पंचोंने युवक ब्राह्मणसे पूछा—"क्या कोई स्त्री या पुरुष गवाह भी है?" युवकने कहा—"मेरे गवाह तो श्रीगोपाल वनमाली हैं; उनके सामने साधारण मनुष्यकी गवाही क्या मूल्य रक्खेगी?"

तब पंचोंने कहा—"तुम हमसे यह लिखा लो कि यदि गोपालजी गवाही दे दें, तो पुत्रीका विवाह तुम्हारे साथ कर दिया जायगा और तब तुम कन्याको घर ले जाकर गृहस्थ आश्रमके सुखको भोगना।"

भक्ति-रस-बोधिनी

आयौ बृंदावन, बनवासी श्रीगुपाल जू सौं बोल्यो "चलौ साखी देवौ, लई है लिखाय कै"।
बीते केऊ जाम तब बोले स्यामसुन्दर जू "प्रतिमा न चलैं", "तौ पै बोलै क्यों जू भाय कै"॥
"लागै अब संग, दुग सेर भोग धरौ रंग, आधे आध पावैं, चलौं नूपुर बजाय कै।
धुनि तेरे कान परै, पाछैं जिनि दीठि करै, करै रहौं वाहि ठौर कही मैं सुनाय कै"॥२४०॥

अर्थ—अब छोटा ब्राह्मण वृन्दावन आया और श्रीगोपालजीसे बोला—"पंचायतवालोंसे मैंने लिखवा लिया है, इसलिए मेरे साथ चलकर गवाही दीजिये।" कई पहर बीत गए, पर भगवानने कुछ उत्तर नहीं दिया; (उधर ब्राह्मण-युवकने भी भगवानके उत्तरकी प्रतीक्षामें अन्न-जल त्याग दिया,) अन्तमें श्रीगोपालजीने कहा—"मूर्ति चला नहीं करती।" इसपर ब्राह्मणने पूछा—"यदि मूर्ति चलती नहीं है, तो बोलती क्यों है? (मूर्तिको तो बोलना भी नहीं चाहिए, और यदि बोलती है, तो चलनेमें क्या हुआ?)"

भगवान साथ जानेको राजी होगए, पर बोले—"जब मैं साथ चलूँ, तो दो सेर भोग लगाया करना। उसमेंसे हम दोनों आधा-आधा खा लिया करेंगे। दूसरी शर्त यह है कि चलनेमें मेरे नूपुर बजेंगे; तुम उन्हें सुनते चलना जिससे तुम्हें विश्वास रहे कि मैं पीछे-पीछे आरहा हूँ, पर पीछे मुड़कर नहीं देखना। यदि देखोगे, तो फिर मैं एक पैर भी आगे नहीं बढ़ाऊँगा। ये बातें मैं तुम्हें पहले ही सुनाये देता हूँ।"

भक्ति-रस-बोधिनी

गए ढिग गांव कही नैकु तो चितावो, रहे चितए तें ठाढ़े दियो मृदु मुसकाय कै।
"ल्यावो जा बुलाय," "कह्यो आय" "देखो आए आप", सुनतहि चौंकि सब ग्राम आयो धाय कै॥
बोलिकै सुनाई साख, पूजी हिये अभिलाष, लाख-लाख भाँति रंग भरयो उर भाय कै।
आयो न सरूप फेरि, बिनै करि राख्यो घेरि, भूप सुख ढेरि दियो महलौ बनाय कै॥२४१॥

अर्थ—ज्योंही भक्त और भगवान गाँवके निकट पहुँचे, त्योंही भक्तके मनमें आया कि एक बार देख तो लूँ। पर जैसे ही उसने देखा, भगवान ठिठक कर खड़े होगए और बोले—"उन लोगोंको यहीं बुला लाओ।"

भक्तने गाँववालोंको श्रीगोपालजीके आनेकी सूचना दी। सुनते ही सब लोग चकित होकर उस स्थानपर दौड़ते हुए पहुँचे जहाँ भगवान खड़े थे। भगवानने अपने श्रीमुखसे बोलकर ब्राह्मण-युवककी गवाही दी। यह देखकर ब्राह्मणका हृदय अनेक प्रकारसे भगवानकी भक्तिसे भर गया।

गवाही देनेके बाद श्रीगोपालजीकी वह प्रतिमा वृन्दावन लौट कर नहीं आई। वहाँके राजा तथा प्रजाके अनुनय-विनयसे आप वहीं विराजमान होगये। यह देखकर सब लोगोंको बड़ी प्रसन्नता हुई। उड़ीसा प्रदेशमें आज भी श्रीसाक्षीगोपाल ठाकुर विराजमान हैं।

(श्रीरामदासजी)

भक्ति-रस-बोधिनी

द्वारिका के ढिग ही डाकौर एक गाँव रहे, रहे रामदास भक्त भक्ति याको प्यारियै।
जागरन एकादसी करे रनछोरजू के, भयो तन वृद्ध, आज्ञा दई नहि धारियै॥
बोले भरि भाव "तेरी आइबौ सह्यो न जाय, चलौं घर धाम तेरे ल्यावौ गाड़ी भारियै।
खिरकी जु मन्दिर के पाछे तहाँ ठाढ़ी करौ, भरौ अँकवारि मोकौं वेग ही पधारियै॥२४२॥

अर्थ—द्वारिकाके पास डाकौर नामक एक गाँवमें श्रीरामदासजी भक्त रहते थे जिन्हें कि भगवानकी भक्ति बड़ी प्रिय थी। प्रति एकादशीको श्रीरनछोरजीके मन्दिरमें होनेवाले रात्रि-जागरणमें भाग लेनेका आपका नियम था। जब आप वृद्ध होगये, तब भगवानने आदेश दिया कि अब आपको इतनी दूर चलकर मन्दिरमें आनेकी आवश्यकता नहीं, पर आपने नहीं माना। अन्तमें भगवानने प्रेम-पूर्वक कहा—"तुम्हें आनेमें जो कष्ट करना पड़ता है, वह मुझपर देखा नहीं जाता, अतः मैं शीघ्र तुम्हारे घर ही चलूँगा और मुझे ले जानेके लिए एक बैलगाड़ी ले आओ। मन्दिरके पीछे एक खिड़की है; वहाँ गाड़ी खड़ी करके तुम मुझे गोदमें भर कर ले जाना और गाड़ीमें लिटा देना (और इसके बाद गाड़ीको हाँक देना।)

भक्ति-रस-बोधिनी

करी वाही भाँति, आयौ जागरन गाड़ी चढ़ि; जानी सब वृद्ध भयो, थको पाँव गति है।
द्वादसी को आधी रात लैके चल्यो मोद गात, भूषन उतारि धरे, जाको साँची रति है॥
मन्दिर उघारि देखें, परी है उजारि तहाँ, दौरे पाछे जानि, देखि कही कौन मति है।
आयो पथराय हाँकि जाय सुख पाय रह्यो, गह्यो चल्यो जात आनि, मारयो घाव अति है॥२४३॥

अर्थ—श्रीरामदासजीने वैसा ही किया जैसा कि प्रभुने आदेश दिया था। गाड़ीपर

सवार होकर आप रात्रि-जागरणमें भाग लेने आये। लोगोंने समझा कि वृद्ध होनेके कारण पैरोंसे चल नहीं सकते, इसलिए गाड़ीमें आये हैं। द्वादशीकी आधी रात जब आई, तब आप श्रीरनछोड़जीके श्रीविग्रहको लेकर चले। इस समय आप बड़े प्रसन्न होरहे थे। ठाकुरजीके भूषण उतार कर आपने मन्दिरमें ही छोड़ दिये; क्योंकि आपका प्रेम तो भगवानके प्रति था, न कि उनके आभूषणोंके प्रति। सुबह जब मन्दिर खोला गया,तो वहाँ सब सुनसान था। लोगोंने समझ लिया कि यह काम श्रीरामदासजीका है और लगे उनका पीछा करने। जब पीछा करनेवाले पास आगए और भक्तवरने उन्हें देख लिया कि आ पहुँचे हैं,तो आप सोचने लगे कि अब क्या उपाय किया जाय। पास ही में एक बावड़ी दिखाई दी। आपने ठाकुरजीको उसमें पधरा दिया और बड़ी निश्चिन्ततासे मनमें प्रसन्न होते हुए गाड़ीको हाँक दिया। लेकिन अभी कुछ ही दूर गए थे कि लोगोंने आकर पकड़ लिया और मार लगाई। श्रीरामदासजीका शरीर कई जगह घायल होगया।

भक्ति-रस-बोधिनी

देखे चहूँ दिसि गाड़ी, कहूँ पै न पाये हरि, पछतायो करि कहीं भक्त कै लगाई है।
बोलि उठ्यो एक "यहि ओर यह गयो हुतो",जाय देखैं बावरी कों लोहू लपटाई है॥
"दास कों जु डारी चोट, ओट लई अंग मैं ही, नहीं मैं तो जाऊँ",बिजै मूरति बताई है।
'मेरी सरु सोनो लेहु' कही जन 'तौलि देहु' 'मेरे कहाँ?' बोल्यो 'बारी तिया कैं', जिताई है॥२४४॥

अर्थ—श्रीरामदासजीको पीटनेके बाद लोगोंने गाड़ीमें चारों ओर ठाकुरजीको देखा,पर कहीं नहीं मिले। तब वे सब पछताने लगे कि इस भक्तको हम लोगोंने व्यर्थ ही सताया। इतने ही में उनमेंसे एक बोल उठा—"मैंने रामदासको इस ओर (बावलीकी तरफ) जाते हुए देखा था। इसपर सब लोग उधर गए, तो देखा कि बावलीका जल खूनसे रँगा था। भगवानने तब उन लोगोंसे कहा—"तुम लोगोंने मेरे भक्तके जो चोटें लगाई थीं उन्हें मैंने अपने शरीर पर ले लिया। अब मैं तुम लोगोंके साथ नहीं जानेका।" यह कह कर भगवानने एक अपनी दूसरी मूर्ति उन लोगोंको बतादी (कि अमुक स्थानपर रक्खी है; उसे मन्दिरमें विराजमान कर लो) और कहा—"मेरी इस प्रतिमाके बराबर वजन तोलकर सोना ले लो और चले जाओ।"

पुजारियोंने कहा—"अच्छा तोल दीजिए।" प्रभुने इसपर श्रीरामदासजीको उतना ही सोना तोल देनेकी आज्ञा दी, पर उनके पास सोना कहाँ रक्खा था? तब भगवानने कहा—"रामदासजी! अपनी स्त्रीके कानकी एक बालीको तोल दो।" और अपने भक्तको जिता दिया।

भक्ति-रस-बोधिनी

लागे जब तौलिबे कों, बारी पीछे डारि दई, भई गति भई, पल उठै नहीं बारी कौ।
तब तो खिसियाने भए, सबै उठि घर गए, कैसे सुख पावैं फिर्‌यो मति ही मुरारी कौ॥
घर ही बिराजे आप, कह्यो भक्ति को प्रताप, आप करैं जो पै फुरै रूप लाल प्यारी कौ।
बलिबंध नाम प्रभु बांधे बलि भयो तब, आयुध को घात सुनि आए चोट मारी कौ॥२४५॥

अर्थ—जब लोग सोनेकी बालीको मूर्तिके बराबर तोलने लगे तो एक आश्चर्यजनक घटना यह हुई कि बालीवाला पलड़ा उठा ही नहीं। यह देखकर वे सब झेंप कर यह कहते हुए घरोंको लौट गए कि रामदास-जैसेके यहाँ भगवानको कभी सुख नहीं मिल सकता; उनकी तो बुद्धि ही पलट गई (जिससे कि अपने दुःख-सुखका विचार भी उन्होंने नहीं किया)।

भगवान श्रीरणछोर अब श्री रामदासके घरमें विराजमान होगए और इस प्रकार संसारको यह दिखा दिया कि भक्तिकी क्या महिमा है। जो लोग भगवानके नामको प्रेमसे जपते हैं, उनके हृदयमें प्रिया-प्रियतमका रूप इसी प्रकार प्रकट होता है। भगवानने वामन अवतार धारण कर राजा बलिको बाँधा, तो इनका नाम 'बलिबन्ध' पड़ा। यहाँ भक्तके ऊपर पड़े हुए प्रहार आपने जो अपने शरीरपर ले लिए, इसलिए आपका नाम "आयुध-छत" पड़ा।

कहते हैं, डाकौरजीके मन्दिरमें अब भी ठाकुरजीके शरीरपर पट्टियाँ बाँधी जाती हैं। मन्दिरकी जब-कभी मरम्मत होती है, तब ठाकुरजीकी मूर्तिको श्रीरामदासजीके कुलका ही व्यक्ति उठाता है। इससे स्पष्ट है कि वहाँ श्रीरामदासजीकी अनुपम भक्तिकी स्मृतिकी रक्षा अब भी की जाती है।

मूल (छप्पय)

जसू स्वामि के वृषभ चोरि ब्रजबासी ल्याए।
तैसेई दिए स्याम बरष दिन खेत जुताए॥
नामा ज्यों नँददास मुई इक बच्छ जिवाई।
अंब अल्ह कों नए प्रसिध जग गाथा गाई॥
बारमुखी के मुकुट कों श्री रंगनाथ को सिर नयो।
बच्छ हरन पाछें विदित सुनो संत अचरज भयो॥५४॥

भूमिका—इस छप्पयमें श्रीनाभास्वामीजीने चार भक्त-शिरोमणियोंका उल्लेख किया है—(१) श्रीजसूस्वामीजी, (२) श्रीनन्ददासजी, (३) श्रीअल्हजी तथा (४) एक बारमुखी (वेश्या)

अर्थ—ब्रजवासी चोर जसूस्वामीजीके बैलोंको चुरा ले गए। तब भगवानने वैसे ही बैल उन्हें दिये जिनसे कि आपने साल-भर तक खेतोंकी जुताई की।

श्रीनन्ददासजीने श्रीनामदेव भक्तकी तरह एक मरी हुई बछियाको जिला दिया।

श्रीअल्हजीके लिए आमके वृक्ष किस प्रकार झुक आए, यह कथा संसारमें प्रसिद्ध है।

एक भक्तिमती वेश्याके हाथसे मुकुट धारण करनेके लिए श्रीरंगनाथजीने अपना मस्तक झुका दिया।

द्वापर-युगमें ब्रह्माके द्वारा गोपालोंके बछड़े चुराए जानेका वृत्तान्त तो सब लोगोंको मालूम ही है; कलियुगमें श्रीजसूस्वामीजीका भी इस प्रकारका चरित्र सन्तोंको चकित कर देनेवाला है, अतः उसे सुनिये।

(श्रीजसूस्वामीजी)

भक्ति-रस-बोधिनी

'जसू' नाम स्वामी गंगा-जमुना के मध्य रहैं, गहैं साधु-सेवा; ताको खेती उपजावहीं।
चोरी गए बैल ताको इनकों न सुधि कछू, तैसे दिए स्याम, हल जुतें मन भावहीं॥
आए ब्रजबासी पैंठ वृषभ निहारि कही "इन्हैं कौन ल्यायो ?" घर जाय देखि आवहीं।
ऐसे बार दो-चारि फिरेउ न ठीक होत, पूछी मुनि ल्याए आए, उन्हैं पै न पावहीं॥२४६॥

अर्थ--गंगा-यमुनाके दुआबके बीचके प्रदेशमें श्रीजसूजी नामक एक स्वामी रहते थे। आप साधु-सेवा-परायण थे। एक बार ब्रजवासी लोग इनके बैलोंकी जोड़ीको चुरा ले गए। स्वामीजीको इस घटनाका पता भी न लग पाया; क्योंकि श्रीश्यामसुन्दरने वैसी ही एक जोड़ी उनकी जगहपर रख दी। स्वामीजीका प्रेम इन बैलोंके प्रति, भगवानके दिए हुए होनेके कारण, पहलेसे अधिक बढ़ गया, यद्यपि उन्हें यह मालूम नहीं था।

इस प्रकार एक वर्ष व्यतीत हो गया और बैल पहलेकी तरह खेत जोतते रहे। एक बार ब्रजवासी चोर पैंठ करनेके लिए गए, तो वहाँ चुराई गई जोड़ीको देखकर बड़े चकित हुए और एक-दूसरे से कहने लगे--"यहाँ इन्हें कौन लाया ?" घर जाकर उन्होंने देखा, तो बैल वहीं बँधे थे और वहाँसे लौटकर फिर पैंठमें आए, तो वहाँ भी वे मौजूद थे। इस प्रकार चोरोंने पैंठसे घर और घरसे पैंठके दो-चार चक्कर लगाए, पर निश्चय नहीं कर सके कि वास्तविकता क्या है ? अन्तमें परेशान होकर उन्होंने स्वामीजीसे पूछा, तो उन्होंने बतलाया कि बैल तो उनके घरपर ही बँधे थे; वे उन्हें पैंठमें नहीं ले गये। इसपर चोर बड़े लज्जित हुए और अपने घरसे लाकर बैलोंको स्वामीजीको दे दिया। लेकिन चोरोंने देखा कि पहले बैल आते ही दूसरे न-जाने कहाँ गए।

भक्ति-रस-बोधिनी

बड़ोई प्रभाव देख्यो, तैसे प्रभु बैल दिये, भयो हिये भाव, जाय पायँनि मैं परे हैं।
निपट अधीन दीन भाषि; अभिलाष जानि, दयाके निधान स्वामी सिष्य लैके करे हैं॥
चोरी त्यागि दई, अति सुद्ध बुद्धि भई, नई रीति गहि लई, साधु-पन्थ अनुसरे हैं।
अब पहुँचावैं, दूध-दही लै लड़ावैं, आवैं, संत-गुण गावैं वे अनन्त सुख-भरे हैं॥२४७॥

अर्थ--चोरोंने देखा कि श्रीजसूस्वामीजीकी भक्तिका ही यह प्रभाव है कि प्रभुने उनके यहाँ वैसे ही बैल बाँध दिए जैसे कि उन्होंने चुराये थे। यह सोचकर उनके हृदयमें स्वामीजीके प्रति बड़ा भक्ति भाव उत्पन्न हुआ और वे उनके पैरोंपर आकर पड़ गए। स्वामीजीने भी जब

यह देखा कि चोरोंने बिलकुल उनकी दासता स्वीकार कर ली है और दीनता-भरी वाणी बोल रहे हैं तथा उनके हृदयमें सन्मार्गपर आनेकी सच्ची अभिलाषा जागृत हो गई है, तो उन्हें दया आगई और भगवन्मंत्रकी दीक्षा देकर अपना शिष्य बना लिया। स्वामीजीकी शरणमें आकर चोरोंने चोरी करना छोड़ दिया, उनकी बुद्धि शुद्ध हो गई और उन्होंने जीवनमें एक नये मार्गको अपना लिया। यह साधु-संतोंका—अर्थात् भगवानकी भक्ति करनेका मार्ग था। अब वे साधुओंकी सेवाके लिए स्वामीजीके यहाँ अन्न, दूध-दही आदि पहुँचा दिया करते थे और हर प्रकारसे सन्तोंके प्रति अपने प्रेमका परिचय देते थे। वे सन्तोंके गुणोंकी चर्चा किया करते और इस प्रकार अलौकिक आनन्दमें मग्न रहकर अपना जीवन बिताते थे।

(वैष्णवसेवी श्रीनन्ददासजी)

भक्ति-रस-बोधिनी

निकट बरेली गाँव, तामें सो हवेली, रहैं नन्ददास बिप्र भक्त साधु-सेवा-रागी है।
करै द्विज द्वेष तासों, मुई एक बछिया लै डारि दई खेत माँझ गारी जक लागी है॥
हत्या को प्रसंग करै, संत-जन हूँ सों लरै, हिन्दू सो न मारै, यह बड़ोई अभागी है।
खेत पर जाय वाहि लई है जिवाय, देखि द्वेषी परे पाँय भक्ति भाय मति पागी है॥२४८॥

अर्थ—बाँस बरेलीके पास हवेली नामक गाँवमें श्रीनन्ददास नामक एक ब्राह्मण-भक्त रहते थे। आप साधु-सेवामें अनुराग रखते थे। आपकी बिरादरीका एक ब्राह्मण आपसे बड़ा बैर करता था। उसने एक मरी हुई बछिया लेकर आपके खेतमें डाल दी और लगा आपको गाली देने। वह जगह-जगह इस बातकी चर्चा करने लगा कि नन्ददास गो-हत्यारा है। इस बातको लेकर वह अन्य सन्तोंसे झगड़ता और कहता कि नन्ददास हिन्दू नहीं, हत्यारा है और बड़ा ही पापी है। इस मिथ्या अभियोगको सुनते-सुनते जब नन्ददासजी ऊब गए, तो आप खेतपर गये और बछियाको जीवित कर दिया। अब तो उनके जितने द्वेषी थे, सब-के-सब पैरोंपर आपड़े और क्षमा माँगने लगे। श्रीनन्ददासजी की शरणमें आकर वे सब लोग भगवानके भक्त बन गए और साधु-सेवा करने लगे।

(श्रीअल्हजी)

भक्ति-रस-बोधिनी

चले जात अल्ह मग लगि बाग बीठि परयो, करि अनुराग हरि-सेवा बिस्तारियै।
पकि रहे आँब माँगे माली पास भोग लिये, कह्यो 'लीजै,' कह्यो, झुकि आई सब डारियै॥
चल्यो दौरि राजा जहाँ, जायकै सुनाई बात, गात भई प्रीति औचुटल पाँय धारियै।
आवत ही लोटि गयो, 'मैं तो जु सनाथ भयो, देवो लै प्रसाद' भक्ति भाव ही सँभारियै॥२४९॥

अर्थ—श्रीअल्हजीने तीर्थ-यात्राके लिए जाते हुए रास्तेमें एक राजाका बाग देखा और उसे रमणीय स्थान समझकर बड़े प्रेमसे भगवानकी विधि-विधान पूर्वक सेवा-पूजा करनेमें लग गए।

बागमें आमके पेड़ लगे हुए थे। ठाकुरजीको भोग लगानेके लिए आपने मालीसे कुछ आम माँगे। मालीने बेपरवाहीसे कह दिया—"ले लो न।" इसपर अल्हजीने पेड़ोंकी ओर दृष्टि डाली तो उनकी डालियाँ अपने आप नीचेको झुक आईं। (आपने उनमेंसे आम तोड़ कर भगवानको भोगके निमित्त अर्पित किए)। मालीने इस चमत्कारको देखा, तो दौड़कर राजासे निवेदन किया। इस घटनाको सुनते ही राजाके हृदयमें प्रेम-भाव उमड़ पड़ा। वह जल्दीमें गिरता-पड़ता श्रीअल्हजीके पास आया और उनके पैरोंपर गिर पड़ा। राजाने कहा—"भगवन्! आपके दर्शनसे मेरा जन्म सफल हुआ; अब मुझे भगवानका प्रसाद देनेकी कृपा करिए।" इसे भक्ति-भावका प्रभाव कहना चाहिए कि मनुष्योंका तो कहना ही क्या, अचेतन वृक्ष भी भक्तकी अभिलाषाको पूर्ण करनेके लिए झुक गए।

(श्रीवारमुखीजी)

भक्ति-रस-बोधिनी

वेश्या को प्रसंग सुनो, अति रस-रंग भरयो, भरयो घर धन अहो ऐपै कौन काम को।
चले मग जात जन, ठौर स्वच्छ आई मन, छाई भूमि आसन, सो लोभ नहीं दाम को॥
निकसी झमकि द्वार, हंस से निहारि सब, कौन भाग जागे भेव नहीं मेरे नाम को।
मुहरनि पात्र भरि लै महन्त आगे धरयो, ढरयो दृग नीर, कही "भोग करो स्याम को" ॥२५०॥

अर्थ—दक्षिणकी एक वेश्याकी कथा सुनिए जोकि अत्यन्त रंगीली और सरस है। वेश्याके घरमें धनकी कमी न थी, परन्तु साधु-सेवामें काम न आनेके कारण वह व्यर्थ था। एक दिन सन्तोंकी एक जमात वेश्याके मकानके सामनेसे गुजर रही थी कि उसके सामनेकी खुली और छायादार स्वच्छ भूमिको देखकर वहीं डेरा डाल दिया। उन्होंने वृक्षके नीचे अपने-अपने ठाकुरजीके आसन बिछा दिए और उनपर मूर्तियोंको विराजमान कर दिया। भगवत्-सेवाके लिए ऐसा मनोरम स्थान और कहाँ मिलता, इसीलिए वे वहाँ रम गए। उन्हें धन प्राप्त करनेका कोई लोभ न था।

थोड़ी देर बाद वेश्या आभूषणोंसे झमकती हुई दरवाजेके बाहर आई, तो उसने देखा कि परमहंसोंके समान (अथवा हंसोंकी सफेदीकी तरह शुद्ध हृदयवाले) महात्मागण वहाँ ठहरे हुए हैं। वह सोचने लगी—"निस्सन्देह पूर्वजन्मका कोई मेरा पुण्य उदय हुआ है जो मुझे ऐसे पवित्र आत्माओंके दर्शन हुए, परन्तु इसे ईश्वरकी कृपा ही समझना चाहिए जो इन्हें मेरी जातिका पता नहीं है।" इस प्रकार सोचती हुई वह ऊपरसे मुहरोंसे भरी हुई एक थाली लाई और महन्तजीके आगे रखती हुई बोली—"इनसे भगवानका भोग लगाइए।" आनन्दके कारण वेश्याकी आँखोंमें से इस समय प्रेमानन्दके आँसू ढर रहे थे।

भक्ति-रस-बोधिनी

पूछी "तुम कौन? काके भौन में जनम लियो?" कियो सुनि मौन, महा चिन्ता चित धरी है।
"लोजिकै निसंक कही, संका जनि मानो मन", कहि "धारमुखी" एपै पाँय आय परी है॥
"भरो है भंडार धन करो अंगीकार अजू। करिये विचार जोपै तोपै यह मरी है"।
"एक है उपाय हाथ रंगनाथ जू को महो कीजिये मुकुट जामें जाति मति हरी है" ॥२५१॥

अर्थ—वेश्याके द्वारा मोहरें भेंट करने पर महन्तजीने पूछा—"तुम कौन हो? किस कुलमें जन्म लिया है?" वेश्या इन प्रश्नोंका उत्तर न दे सकी और बड़ी चिन्तामें पड़ गई। तब महन्तजी बोले—"तुम किसी प्रकारकी शंका मत करो; निडर होकर कहो।" इसपर उसने मुँहसे इतना ही निकाला कि "वेश्या" और महन्तजीके पैरोंपर गिर पड़ी। थोड़ी देर बाद उसने कहा—"मेरे पास धनकी कमी नहीं है। भगवानकी सेवाके निमित्त आप इसे स्वीकार करें, लेकिन यदि आपने मेरी जातिका विचार किया, तो मुझे मरा ही समझ लीजिए।"

साधुओंने तब कहा—"जो उपाय हम कर सकते हैं वह तो एक है। तुम इस द्रव्यसे एक ऐसा बहुमूल्य मुकुट बनवाकर श्रीरंगनाथजीको अर्पण करो कि उसकी सुन्दरताको देखकर हर एकका चित्त लुभा जाय।"

भक्ति-रस-बोधिनी

"विप्रहू न छुवै जाको, रंगनाथ कैसे लेत?" "लेत हम हाथ तो की रहैं यहां कीजियै"।
कियोई बनाय सब घर को लगाय धन, बनि-ठनि चली थार-मधि धरि लीजियै॥
संत आज्ञा पाइकें निसंक गई मन्दिर में, फिरी यों ससंक तिय धर्म भीजियै।
बोले आप "याको ल्याय आप पहिराय जाय", दियो पहिराय, नयो सीस मति रीझियै ॥२५२॥

अर्थ—महन्तजीकी आज्ञा सुनकर वेश्याने पूछा—"जिसके शरीरको ब्राह्मण छूता तक नहीं, उसके अर्पण किए हुए मुकुटको श्रीरंगनाथजी कैसे धारण कर लेंगे?" साधुओंने कहा—"इस कार्यमें तुम्हारी सहायता करनेके लिए हम यहीं रहेंगे। तुम मुकुट बनवाओ।"

तब वेश्याने अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति लगाकर मुकुट बनवाया और अपना सर्वाङ्ग-शृङ्गार करके मुकुटको थालमें रखकर चली। साधुओंकी आज्ञा पाकर वह बिना किसी संकोचके मन्दिरके अन्दर चली गई, परन्तु दुर्भाग्यसे उसी समय उसे मासिक-धर्म होगया और वह डरकर अपने आपको कोसती हुई पीछे लौट आई।

प्रभुने अपने भक्तकी अभिलाषाको इस प्रकार भग्न होते हुए देखकर पुजारियोंको आज्ञा दी—"इस वेश्याको लौटा लाओ और उससे कहो कि वह स्वयं अपने हाथोंसे मुकुट धारण करावे।" इसपर उसे लिवाकर भगवानके समीप लाया गया और मुकुट लेकर ज्योंही उसने अपना हाथ बढ़ाया, त्योंही प्रभुने अपना सिर झुका दिया।

शंका—यहाँ यह शंका की जा सकती है कि साधुओंने क्यों तो वेश्याकी जाति पूछी और फिर उसे वेश्या जानते हुए भी क्यों उसके द्रव्यसे बनाए गए मुकुटको धारण करानेकी आज्ञा दी।

समाधान--इसका उत्तर यह है कि भगवत्-सेवा हो या साधु-सेवा, चाहे जिस किसीका अन्न या द्रव्य स्वीकार करनेके योग्य नहीं माना जाता। शास्त्रमें लिखा है—'यादृशं भक्षयेदन्नं बुद्धिर्भवति तादृशी।' —मनुष्य जैसा अन्न खाता है, उसकी वैसी ही बुद्धि होती है। इस प्रसंगमें निम्नलिखित दृष्टान्त मनन करनेके योग्य है—

किसी भगवद्भक्त सन्तके यहाँ मिठाई आई। सन्त उसे भगवानके भोग रखकर ध्यान करने लगे। ध्यानावस्थामें सन्तको वह मिठाई गो-मांस दिखाई पड़ी। वे शीघ्रतासे उठे और भगवानके आगेसे भोगको हटा लिया और पहुँचे उस आदमीके पास जिसने मिठाई दी थी। उन्होंने उससे पूछा कि मिठाई उसके पास कहाँसे आई? उसने कहा कि किसीने किसी व्यक्तिको सुवर्णकी गाय पुण्यमें दी थी। दान-लेनेवालेने सुवर्णकी गायको बेचकर जो द्रव्य मिला उसमेंसे कुछकी मिठाई बनवाकर सन्तोंको बाँट दी। यह वही मिठाई है। सन्त समझ गए कि निकृष्ट-दानका ही यह फल है।

लेकिन जो वस्तु सन्तोंके ग्रहण करनेके योग्य नहीं होती वह यदि भक्ति-पूर्वक समर्पित की जाय, वह ठाकुर-सेवाके उपयोगमें आ सकती है। इसीलिए साधुओंने वेश्याके धनको अपने उपयोगमें न लेकर उसे ठाकुरजीके अर्पण करा दिया और इससे वह द्रव्य शुद्ध होगया। श्रीमद्भागवतमें कहा है—

तेजीयसां न दोषाय वह्नेः सर्वभुजो यथा।

—जिस प्रकार आगमें किसी चीजका डालना दोष नहीं माना जाता, उसी प्रकार तेजस्वी-आत्माओंको भी कोई दोष स्पर्श नहीं करता। फिर भगवान तो वह तत्त्व है,जहाँ लौकिक सब विधि-निषेध समाप्त हो जाते हैं!

एक-दो बातें इस प्रसंगमें और द्रष्टव्य हैं। टीकाकारोंने लिखा है कि साधुओंने सन्ध्या-आरतीके समय वेश्यासे मुकुट अर्पण करनेको कहा था। उन्होंने सोचा था कि अँधेरेमें एक अन्धेर यह भी सही। तुलसीदासजीको इसी बातका बड़ा भरोसा था कि भगवानके दरबारमें अन्धेर खूब चलता है—'तुलसीके भरोसो एक रावरे अन्धेर को।' अँधेरेमें न वेश्याको मुकुट धारण करानेमें संकोच होता और न भगवानको स्वीकार करने में।

अब प्रश्न यह उठता है कि यदि भगवानको वेश्याके हाथसे मुकुट पहिनना स्वीकार था, तो उसे ठीक उसी अवसरपर रजस्वला क्यों बना दिया? इसका उत्तर यह दिया जाता है कि जब सन्तोंने वेश्याको यह आज्ञा दी थी कि मुकुट बनवाकर धारण कराओ, तो इसका स्पष्ट अर्थ यह था कि उन्होंने उसे वह आश्वासन दिया था कि भगवान इस प्रकार उसे अङ्गीकार करेंगे कि वेश्याका मन संतोष हो जाय। अपने सन्तोंकी इस प्रतिज्ञाको निबाहनेके लिए ही भगवानने उसे अस्पृश्य बना दिया, ताकि उन्हें मस्तक झुकाकर मुकुट स्वीकार करनेका अवसर मिले। सच पूछा जाय तो वह मस्तक वेश्याके द्वारा अर्पण किए गए मुकुटके लिए नहीं झुका था, बल्कि सन्तोंके लिए झुका था।

मूल (छप्पय)
(दम्पति-भक्त)

बीच दिए रघुनाथ भक्त संग ठगिया लागे।
निर्जन वन में जाय दुष्ट क्रम कियो अभागे॥
बीच दियो सो कहाँ राम! कहि नारि पुकारी।
आए सारँग पानि सोक-सागर ते तारी॥
दुष्ट किए निर्जीव सब दासप्रान संज्ञा धरी।
और जुगन तें कमलनैन कलिजुग बहुत कृपा करी ॥५५॥

अर्थ--एक ब्राह्मण और उसकी पत्नी कहींकी यात्रा कर रहे थे। ये दोनों ही भगवानके परम भक्त थे। मार्गमें इनके साथ ठग लग लिए और ब्राह्मणको यह विश्वास दिलानेके लिए कि उनके साथ कोई धोखा नहीं होगा, श्रीरामचन्द्रजीको बीचमें डाल दिया। लेकिन जैसे ही वे एक घने जंगलमें पहुँचे, दुष्टोंने पुरुषको जानसे मार दिया। इसपर भक्तकी स्त्रीने विनय करते हुए कहा--"वे राम कहाँ हैं जिनको इन दुष्टोंने बीचमें डाला था?" इतना कहते ही भगवान धनुष धारण किए हुए वहाँ आ पहुँचे। उन्होंने दुष्टोंका संहार कर ब्राह्मण-पत्नीको शोक-सागरमेंसे निकाला और 'दास-प्राण' अर्थात् भक्तोंके जीवन कहलाये। इन उदाहरणोंसे यह सिद्ध होता है कि सत्य, त्रेता, और द्वापर--तीनों युगोंकी अपेक्षा भगवान कलियुगमें अपने जीवोंपर अधिक दया करते हैं।

अन्य युगोंमें सद्गति पानेके लिए मनुष्योंको कई प्रकारके बल थे; जैसे--आयु, बुद्धि, विद्या, धन और नीरोगता। यज्ञादि-कर्म करना भी इसीलिए सहज था। पर कलियुगमें लोग होगए साधन-विहीन और सिवा भक्तिके और कोई उपाय भगवत्-प्राप्तिका नहीं रह गया। श्रीमद्भागवतमें लिखा है--

कृतादिषु प्रजा राजन् कलाविच्छन्ति संभवम्।
कलौ खलु भविष्यन्ति नारायणपरा जनाः॥

--हे राजन्! सत्य आदि युगोंमें लोग यह इच्छा करते थे कि हम कलियुगमें जन्म लें, क्योंकि उन्हें मालूम था कि कलियुगमें मनुष्य नारायणके भक्त होंगे।

और भी देखिये--

कृते यद् ध्यायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मखैः।
द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद्धरिकीर्तनात्॥

--सत्ययुगमें जो फल विष्णुका ध्यान करनेसे मिलता था, त्रेतामें यज्ञ करनेसे और द्वापरमें सेवाके द्वारा, कलियुगमें वही भगवानके गुणोंका कीर्तन करनेसे मिलता है।

भक्ति-रस-बोधिनी

विप्र हरिभक्त करि गौनो चल्यो तिया संग, जाके दूनो रंग, ताकी बात लै बनाइयै ।
मग ठग मिले, द्विज पूछै "अहो ! कहाँ जात?" "जहाँ तुम जात" या में मन न पत्याइयै ॥
पंथ को छुड़ाय चाहैं बन में लिवाय जाय, कहैं "अति सूधो पैंड़ो, डर मैं न आइयै" ।
बोले—"बीच राम", तऊ हिये नेकु धकधकी, कहै यह बाम "श्याम-नाम कहाँ पाइयै" ॥२५३॥

अर्थ—कोई हरि-भक्त ब्राह्मण द्विरागमन कराके अपनी स्त्रीके साथ घरकी ओर जारहा था । पुरुषकी अपेक्षा स्त्री भगवानके अनुरागमें अधिक सराबोर थी । इनकी बात सुनिए । रास्तेमें इन्हें ठग मिले । ब्राह्मणने पूछा—"आप लोग कहाँ जायँगे ?" ठग बोले—"जहाँ आप जाते हो ।" ब्राह्मणको इस अनिश्चित उत्तरसे संतोष न हुआ । ठगोंका षड्यंत्र यह था कि उन दोनोंको सीधे रास्तेसे भटका कर जंगलमें ले जायँ । अतः ब्राह्मणसे बोले—"यह रास्ता बड़ा सीधा है; किसी प्रकार डरनेकी जरूरत नहीं है, हमारे-तुम्हारे बीच भगवान श्रीरामचन्द्रजी हैं ।" इस प्रकार विश्वास दिलाने पर भी ब्राह्मणके हृदयमें थोड़ा-बहुत सन्देह बना रहा, तो उसकी स्त्रीने कहा—"चलिए, इनके साथ ही चलें । भगवानका नाम सहजमें नहीं मिलता ।"

भक्ति-रस-बोधिनी

चले लागि संग, अब रंग कै कुरंग करो, तिया पर रीझे, भक्ति साँची इन जानी है ।
गए बन-मध्य ठग लोभ लगि मारयो विप्र, छिप्र लैकै चले वधू अति बिलखानी है ॥
देखै फिरि-फिरि पाछैं, कहैं "कहा देखै? मारयो", तब तो उचारयो "देखौं बाही बीच आनी है" ।
आए राम प्यारे, सब दुष्ट मारि डारे, साधु प्रान दै उबारे, हित-रीति यों बखानी है ॥२५४॥

अर्थ—ब्राह्मण अपनी स्त्रीकी भगवानमें ऐसी प्रीति देखकर बड़े प्रसन्न हुए और निश्चय किया कि भला या बुरा जो कुछ होगा, देखा जायगा और सब साथ-साथ चल दिये । बनके बीचोबीच पहुँचते ही ठगोंने लोभके वशमें होकर ब्राह्मणको मार डाला और उसकी स्त्रीको जल्दीसे लेकर चल पड़े । अपने पतिके वियोगमें स्त्री बेचारी विलाप करती जारही थी और बार-बार पीछेकी ओर मुड़कर देखती थी । ठगोंने उससे कहा—"पीछे फिरकर क्या देखती हो ? तुम्हारे पतिको तो हमने मार डाला है ।" यह सुनकर ब्राह्मणी बोली—"मैं उसीको देख रही हूँ जिसे तुम लोगोंने हमारे और अपने बीच डाला था ।"

इसी बीचमें धनुष धारण किये हुए भगवान श्रीरामचन्द्रजी वहाँ आ पहुँचे और सब दुष्टोंको मारकर अपने भक्त ब्राह्मणको फिरसे जीवित कर दिया । प्रभुके प्रेम करनेकी रीति (इस चरित्र द्वारा) इस प्रकार वर्णन की गई है ।

—⁂—

मूल (छप्पय)

(भेषनिष्ठजी)

तिलक दाम धरि कोय ताहि गुरु गोविंद जानैं।
षट् दर्शनी अभाव सर्वथा घटि करि मानैं॥
भाँड भक्त को भेष हाँसि-हित भँड-कुट ल्याये।
नरपति कै दृढ नेम ताहि ये पाँव धुवाये॥
भाँड भेष गाढो गह्यो दरस परस उपजी भगति।
एक भूप भागौत की कथा सुनत हरि होय रति॥५६॥

अर्थ—एक भगवद्भक्त राजाकी साधु-सेवामें ऐसी रति थी कि तिलक लगाए और कण्ठी धारण किए जो कोई दिखाई देता था, उसे वे गुरुदेव और हरिके तुल्य मानते थे। कोई विद्वान् या संन्यासी भले ही छहों शास्त्रोंमें पारंगत हो, लेकिन साधारण हरि-भक्तसे वे उसे नीचा समझते थे। एक दिन कुछ भाँड़ हँसी-हँसीमें (राजाका मनोरंजन करनेके लिये) भक्तोंका वेष बनाकर आगए। राजाका यह अटल व्रत था कि वे तिलक-मालाधारीका अवश्य सम्मान करते थे। इस नियमके अनुसार भाँड़ोंको भी राजासे पैर धुलवाने पड़े। संतोंके वेषका यह प्रभाव देखकर तथा परम भागवत राजाके दर्शन कर तथा उसके अंगोंका स्पर्श पाकर भाँड़ोंकी मति बदल गई और उनका हृदय भगवानकी भक्तिकी ओर उन्मुख होगया। इस भगवद्-भक्त राजाका चरित्र सुननेसे भी भगवानके चरण-कमलोंमें अविचल भक्ति होती है।

षट्-दर्शनी—उपनिषद् न्याय, कर्मकाण्ड, सांख्य, पातंजल-योग तथा धर्म-शास्त्र, ये षट्-शास्त्र कहे जाते हैं। या तो ये किसी विशिष्ट ज्ञानका प्रतिपादन करते हैं, या किसी कर्म-पद्धति का। भक्तको इन्हें अधिक महत्त्व नहीं देना चाहिए। जिसे ये परम पुरुषार्थ मानते हैं, वह नीरस है, शुष्क है, अतः उसका भक्तिसे कोई सम्बन्ध नहीं। उलटा इनसे विक्षेप होनेकी सम्भावना रहती है। राजा, इसीलिए, इन कोरे षट्-शास्त्रियोंको एक साधारण भक्तसे भी नीचा समझता था। श्रीमद्भागवतमें भी कहा है—

श्रेयःसृतिं भक्तिमुदस्य ते विभो क्लिश्यन्ति ये केवलबोधलब्धये।
तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते नान्यद्यथा स्थूलतुषावघातिनाम्॥

—हे प्रभो ! कल्याण करनेवाली आपकी भक्तिकी उपेक्षा कर जो लोग केवल ज्ञान-प्राप्तिके लिए मरते-पचते हैं, उनके पास कष्ट देनेवाला ज्ञान ही बाकी बच रहता है, और कुछ नहीं; जैसे कि भूसी कूटनेवालेके हाथ सिवा भूसीके और कुछ नहीं लगता।

श्रीरूपगोस्वामीने उत्तम भक्तिकी परिभाषा करते हुए कहा है—

अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा॥ (हरिभक्तिरसामृतसिन्धु—११)

—सर्वश्रेष्ठ भक्ति श्रीकृष्ण-सम्बन्धी वह अनुशीलन है जिसमें भक्तिके सिवा और किसीके प्रति अभिलाषा ही न रहे; जो ज्ञान, कर्म आदि से अछूती हो और जो श्रीकृष्णको अच्छी लगनेवाली प्रवृत्तियोंके अनुकूल हो।

ज्ञानके लिए वैराग्यकी अपेक्षा होती है, भक्तिके लिए नहीं। वह तो स्वयं इतनी प्रबल है कि अन्य किसी साधनकी उसे आवश्यकता ही नहीं। श्रीमद्भगवद्गीतामें आर्त्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी इन चारोंमें ज्ञानीको जो सर्वश्रेष्ठ बतलाया है, वह इसी कारण कि ज्ञानीको देह आदि का अभिमान नहीं रहता, अतः वह एकान्त-भक्त हो सकता है। शुक और सनकादियोंमें, इसीलिए, शुद्ध-भक्तिका उदय जो एक बार हुआ कि अविचल होकर रह गया। इस कोटिके सन्त फिर मुक्तिका नाम भी नहीं लेते—

> दुरवगात्मतत्त्वनिगमाय तवात्ततनोश्चरितमहामृताब्धि-परिवर्तपरिश्रमणाः ।
> न परिलषन्ति केचिदपवर्गमपीश्वर ! ते चरणसरोजहंसकुलसङ्गविसृष्टगृहाः ॥ (श्रीमद्भागवत)

—हे भगवन् ! अपनी रूप-गुण-लीला द्वारा कठिन आत्म-तत्त्व (भगवद्-रूप) का ज्ञान कराने के लिये आप अवतार धारण करते हैं। ऐसे भाग्यशाली विरले ही हैं जो आपके चरित्र-रूपी अमृत-सिन्धुमें गोते लगा-लगाकर संसारके भारसे हलके होगए हैं और आपके चरण-कमलोंका सेवन करनेवाले परम-हंसों की संगति के प्रभावसे घर-द्वारमें आसक्ति त्यागकर मोक्षकी भी कामना नहीं करते।

भक्ति-रस-बोधिनी

> राजा भक्तराज डोम भाँड़ को न काज होय, भोय गई "या कें धन हरी कौं न दीजियै"।
> आए भेष धारि लै पुजाय नाँचें दे कें तारि नृपति निहारि कही यों निहाल कीजियै ॥
> भोजन कराये भरि मुहरनि थार ल्याय आगे धरि विनै करी "प्रभु ! यह लीजियै"।
> भई भक्ति-रासि, बोले "आवै बास, भावै नाहि," बाँह गहे रहे "कैसे चले ?" "मति भीजियै" ॥२५५॥

अर्थ—एक हरि-भक्त राजा डोम, भाट आदि का बिलकुल आदर नहीं करता था। उसके मनमें यह बात समा गई थी कि मेरे पास जितना भी धन है, सब भगवानका है; उसे इन लोगों को नहीं देना चाहिए। इसपर भाँड़ लोग सन्तोंका भेष बनाकर आए और राजासे पैर पुजवा कर श्रीठाकुरजीके सामने तालियाँ बजा-बजाकर नाचने-गाने लगे। (भाँड़ोंके ताली बजाकर नाचनेके ढङ्गसे राजाको विदित हो गया कि ये वास्तवमें भाँड़ हैं, लेकिन तो भी, सन्त-वेषसे प्रीति होनेके कारण,) राजाने उन्हें देखकर कहा—"आप लोगोंने मुझे निहाल (कृतकृत्य) कर दिया।" राजाने आदरपूर्वक उन्हें भोजन कराया और फिर एक थालमें मुहरें भरकर उनके सामने रखते हुए प्रार्थना की—"भगवन् ! इन्हें स्वीकार करिए।" राजाके इस प्रकारके निष्कपट प्रेमको देखकर (और अपनी नीचताका विचार कर) भाँड़ोंके हृदयमें भक्तिका प्रादु-र्भाव हुआ और वे बोले—"इस थालमेंसे दुर्गन्ध आती है; हमें यह अच्छा नहीं लगता।"

जब वे चलनेको उद्यत हुए, तो राजाने उनकी बाँह पकड़ ली और पूछा—"आप लोग कैसे चल दिए ?" भाँड़ोंने उत्तर दिया—"अब हमारी बुद्धि (आपकी कृपासे) भजनमें लग गई है; (हमें जाने दीजिए।)"

पाठ-भेद—इस कवित्तके प्रथम चरणमें आए "भोय गई" शब्दोंका अर्थ स्पष्ट नहीं है, यदि इसे "भाय गई" पढ़ा जाय, तो अर्थकी संगति बैठ जाती है। किसी-किसी प्रतिमें "भावै नाहि मैं," पाठ है।

दृष्टान्त—भाँड़ोंको मुहरोंमें बास आने लगी, इसका एक दृष्टान्त दिया जाता है जोकि निम्न प्रकार है—

किसी राजाने अपने यहाँ पधारे हुए विरक्तोंके आगे भेंटके रूपमें द्रव्य रक्खा। विरक्तोंने कहा—"राजन्! आपके इस उपहारमें हमें दुर्गन्ध आती है, तो इसे लौटा लीजिए।" राजाने आश्चर्यमें पड़कर विनम्रतासे पूछा—"महाराज! संसारकी समस्त सुगन्धें इसी द्रव्यके बलपर भोगी जाती हैं; इसमें दुर्गन्ध कैसी?"

विरक्तपर इसका उत्तर देते नहीं बना। उन्होंने इतना ही कहा—"हमें नहीं मालूम, पर हमारे गुरुने हमें यही बताया है। इसका पूरा समाधान हम गुरुदेवसे पूछकर कर सकते हैं।" यह कह कर विरक्त चले गए।

एक दिन विरक्तने अपने गुरुजीसे यही प्रसंग चलाकर पूछा, तो उन्होंने कहा कि यदि राजा स्वयं उनके पास आवे तो बतलाएँगे। विरक्तने राजाके पास यह समाचार भेज दिया। राजा तत्काल आया, पर गुरुजी अपने आश्रममें नहीं मिले। पूछनेपर पता लगा कि वे चमारोंके यहाँ बैठे हैं। राजाको यह सुनकर बड़ा आश्चर्य हुआ, किन्तु उसने यह सोचकर समाधान कर लिया कि महात्माओंकी गति-विधिका कारण समझना कठिन है। राजा, निदान, वहीं पहुँचा जहाँ गुरुदेव विराजमान थे और प्रणाम कर बैठ गया। वहाँ चारों ओरसे चमड़ेकी दुर्गन्ध आ रही थी। बहुत साहस करके राजा थोड़ी देर तक तो वहाँ बैठा रहा, पर अन्तमें उससे नहीं रहा गया और वह गुरुदेवसे पूछ बैठा—"महाराज! आप यहाँ क्यों विराज रहे हैं? यहाँ तो बड़ी दुर्गन्ध आ रही है।" विरक्तके गुरुने अपने आस-पास बैठे हुए चमारोंसे पूछा—"क्यों भाई! क्या यहाँ दुर्गन्ध आ रही है?" चमारोंने कहा—"हमें तो नहीं आती—शायद इसलिए नहीं आती कि चमड़ेसे हमारी जीविका चलती है।"

गुरुदेवने पूछा—"कहिये राजन्! आपकी समझमें कुछ आया कि नहीं?" और फिर कहने लगे—"जिस प्रकार चमड़ेका काम करनेवाले ये लोग आठों पहर चमड़ेके बीच रहते हैं, पर इन्हें दुर्गन्ध नहीं आती, इसी प्रकार द्रव्यमें लिप्त रहनेवाले तुम लोगोंको द्रव्यकी दुर्गन्धका अनुभव नहीं होता।

दूसरा दृष्टान्त—इस कवित्तमें श्रीप्रियादासजीने कहा है कि राजाके मनमें यह बात बैठ गई थी कि उसका समस्त द्रव्य भगवानकी सेवाके लिए है और किसीके लिए नहीं। इस बातको लेकर कथा-वाचक महानुभावों द्वारा एक दृष्टान्त दिया जाता है, जिसका आशय इस प्रकार है—

एक बार होलीके अवसरपर किसी राजाके यहाँ भाँड़ोंने तरह-तरहके स्वाँग दिखलाये। राजा उन्हें देखकर बड़ा प्रसन्न हुआ और स्वाँगियोंसे विरक्तके चरित्रका अभिनय करनेको कहा। भाँड़ोंने कहा—"स्वाँग हो तो जायगा, पर शहरमें नहीं किया जा सकता। यदि आज्ञा होगी, तो फिर कभी पेश करेंगे।"

राजाने स्वीकार कर लिया, किन्तु कुछ दिन बाद वह इस घटनाको भूल गया। इस बीचमें भाँड़ विरक्त बनकर जङ्गलमें चले गए और भजन करने लगे। थोड़े ही दिनोंमें उनकी प्रसिद्धि राजा तक पहुँची और वह उन्हें देखने चला। जंगलमें सैकड़ों दर्शनाभिलाषियोंकी भीड़ लगी थी और बाबाओंका जय-जयकार हो रहा था।

विरक्तोंके दर्शनकर राजाको बड़ी प्रसन्नता हुई और उसने उनके आगे दो हजार रुपए भेंटके रूपमें रख दिए। विरक्तोंने रुपए देखे, तो चिल्ला कर कहने लगे—"लेजाओ इन्हें हमारे सामने से ! हम इनका क्या करेंगे ?"

राजा लौट आया। दूसरे दिन भाँड़ भी जङ्गलसे चले आए और दरबारमें उपस्थित होकर राजाका जय-जयकार किया। राजाने पूछा—"तुम लोग विरक्तोंका स्वाँग करनेका वायदा करके गए थे, सो वह कब पूरा होगा ?"

भाँड़ोंने जमीनपर सिर टेकते हुए निवेदन किया—"सरकारने कल जिन विरक्तोंको जङ्गलमें देखा था, वे आपके गुलाम ही थे। अब वे अन्नदातासे अपना इनाम माँगने आए हैं।"

राजा बड़ा प्रसन्न हुआ और बोला—"कल मैंने तुमको दो हजार रुपए दिए थे वे तो तुमने लौटा दिए; अब जो तुम लोगोंको दस-पाँच रुपए इनामके रूपमें मिलेंगे उनसे तुम्हारा क्या बनेगा ?"

भाँड़ोंने हाथ जोड़कर कहा—"अन्नदाता! वह विरक्तोंका स्वाँग था। उस रुपएको हम ले लेते तो सदा-सदाके लिए विरक्तोंके नामपर धब्बा लग जाता। उस समय हम लोग सन्त थे; अब आपके भाँड़ हैं। हमारा गुजारा तो आपके हाथसे दिए गए दस-पाँच रुपयोंसे ही होगा। भाँड़-लोग हजारोंके अधिकारी नहीं होते।"

मूल (छप्पय)

(अन्तर्निष्ठ राजर्षि तथा उनकी रानी)

हरि सुमिरन हरि ध्यान आन काहू न जनावै।
अलग न इहि विधि रहै अंगना मरम न पावै॥
निद्रा बस सों भूप बदन तें नाम उचारयो।
रानी पति पर रीझि बहुत बसु तापर वारयो॥
रिषिराज सोचि कह्यो नारि सों आज भक्ति मेरी कजी।
अंतरनिष्ठ नृपाल इक परम धरम नाहिन धुजी॥५६॥

अर्थ—एक हरि-भक्त राजा भगवानका स्मरण-ध्यान किया करता था, लेकिन इस कार्यको वह किसीपर प्रकट न होने देता था। वह अपनी धर्म-पत्नीसे अलग नहीं रहता था, किन्तु भजन इस प्रकार करता था कि वह उसकी भक्तिके मर्मको जान नहीं पाती थी (और यह सोचकर अन्दर-ही-अन्दर दुखी रहती थी कि ऐसा पति मिला जो प्रभुका कभी स्मरण नहीं करता।) एक दिन अकस्मात् सोते हुए राजाके मुँहसे भगवानका नाम निकल गया। रानी को जब यह मालूम हुआ तो वह बड़ी प्रसन्न हुई और आनन्दमें भरकर उसने बहुत-सा धन राजापर न्यौछावर करके गरीबोंको लुटा दिया। रानीसे हर्षका कारण पूछने पर जब राजर्षि

को पता लगा कि रानीको उसके भक्त होनेकी बात मालूम पड़ गई है, तो वह बड़ी चिन्तामें पड़ गया और रानीसे बोला––"आज (तुम्हें मालूम पड़नेके कारण) मेरी भक्ति नष्ट होगई।"

श्रीनाभास्वामीजी कहते हैं यह गुप्त भक्त-राजा परम धार्मिक (भक्त) था। भक्तिकी बाह्य ध्वजा उसपर नहीं फहराती थी, पर वह था आन्तरिक भागवत।

दृष्टान्त—भक्तिकी ध्वजा फहरानेवाले लोग अन्दरसे कपटी होते हैं। वे केवल अपनी भक्तिका प्रचार करते हैं; वास्तविकता उनमें नहीं होती। इस आशयका एक दृष्टान्त यहाँ दिया जाता है––

एक व्यक्ति किसी वैष्णव-गृहस्थको नवधा-भक्तिका उपदेश दिया करता था और बाह्य आचारों का खण्डन करते हुए प्राय: ऐसी बातें कहा करता था जैसे कि––गङ्गाजी तो घट (शरीर) में ही रहती हैं, उनके लिए तीर्थोंमें जानेकी आवश्यकता नहीं। इस प्रकारकी बातें सुनते-सुनते एक श्रोता महोदय तङ्ग आगए और उन्होंने एक युक्ति निकाली। एक दिन उन्होंने उपदेशक महोदयको घरपर बुलाकर बड़े आदरसे भोजन कराया और ऊपरकी मंजिलमें आराम करनेके लिए कहकर स्वयं नीचे आ गये और किवाड़ें बन्द कर दिये। कुछ देर बाद वैष्णव महोदयको प्यास लगी और पानी माँगा।। भोजन खिलाने वाले सज्जनने नीचेसे उत्तर दिया—"आपको पानीकी क्या आवश्यकता है? आपके तो घट ही में गङ्गाजी बह रही हैं।"

वैष्णव यह सुनकर बड़ा लज्जित हुआ और बोला—"भाई! वह तो मैंने केवल उपदेश देनेके लिये कहा था, न कि स्वयं प्यासा मरनेके लिए।" अब श्रोता महोदयको उनकी भक्तिका पूरा पता लग गया। ऐसे व्यक्ति 'धर्मध्वजी' कहलाते हैं।

भक्ति-रस-बोधिनी

तिया हरि-भक्त कहै, पति पै न भक्त पायो, रहे मुरझायो मन सोच बढ़्यो भारी है।
मरम न जान्यो, निसि सोवत पिछान्यो, भाव विरह-प्रभाव नाम निकस्यो बिहारी है॥
सुनत ही रानी प्रेम सागर समानी भोर संपति लुटाई मानो नृपति जियारी है।
देखि उत्साह भूप पूछ्यो,सो निबाह कह्यो,रह्यो तन ठौर,नाम जीव यों बिचारी है* ॥२५६॥

अर्थ––एक भक्त-राजाकी स्त्री बड़ी भक्तमती थी, परन्तु उसका मन यह सोचकर बड़ा उदास और चिन्तित रहता था कि मुझे पति हरि-भक्त न मिले। रानी अपने पतिकी भक्तिके इस भेदको नहीं जानती थी कि वे अपनी भक्तिको बाहर नहीं आने देते हैं। एक दिन भगवानके प्रति प्रेमके प्रभावसे और विरहकी तीव्र अनुभूतिके कारण सोतेमें राजाके मुँहसे श्रीबिहारीजीका नाम निकल गया और तब रानीने पहिचान लिया कि ये तो छुपे भक्त निकले। राजाके मुँहसे हरिनाम सुनते ही रानी प्रेमानन्दके समुद्रमें डूब गई और प्रात:काल होते ही बहुत-सा द्रव्य, अन्न-वस्त्र आदि लुटा दिये, मानों राजाको नया जीवन प्राप्त हुआ हो। रानीका ऐसा उत्साह देख कर राजाने जब पूछा, तो उसने सब बात कह दी। सुनते ही राजाके हृदयको ऐसा आघात

---

* पाठान्तर—पूछि अनुराग्यौ तन त्याग्यौ प्रेम सागर में अधिक उतंग योग्य भक्ति लागी प्यारी है।

पहुँचा कि वह जहाँ था वहीं खड़ा रह गया । उसके मनमें बार-बार यह बात उठ रही थी कि जैसे उसके मुँहसे नामका उच्चारण हुआ, उसीके साथ प्राण भी क्यों न निकल गए । गुप्त-भजन का नियम भंग होजानेके कारण राजाको जीवन व्यर्थ प्रतीत होने लगा ।)

भक्ति-रस-बोधिनी

देखि तन त्यागि पति, भई और गति वाकी, ऐसे, रतिवान मैं न भेव कछु पायो है ।
भयो दुख भारी, सुधि-बुधि सब टारी, तब नैंकु न बिचारी भाव-रासि हिये छायो है ।।
निसि-दिन ध्यान, तजे बिरह प्रबल प्रान, भक्ति-रस-खान, रूप कापै जात गायो है ।
जाके यह होय सोई जाने रस भोय, सब डारे मति खोय, यामैं प्रगट दिखायो है ।।२५७।।

अर्थ—रानीने जब देखा कि पतिने प्राण त्याग दिये तो उसका हाल बेहाल होगया और वह बार-बार यह सोच कर पछताने लगी कि भगवान में ऐसी अगाध भक्ति रखनेवाले अपने स्वामीको मैं न पहिचान सकी । रानीके दुःखका पारावार न रहा । उसकी सुध-बुध नष्ट होगई (मानसिक संतुलन खोगया) और वह यह कह कर अपनेको धिक्कारने लगी कि उस समय (पतिकी जीवित-अवस्थामें) मैंने कुछ भी नहीं सोचा; नहीं तो मुझे मालूम होजाता कि राजा का हृदय भगवानके अनुरागसे परिपूर्ण है ।

रानी भी, अब, अपने पतिकी भाँति दिन-रात प्रभुके ध्यानमें मग्न रहने लगी और पतिदेव तथा भगवानके वियोगमें उसने भी अपने प्राण छोड़ दिये । रस-स्वरूप भक्तिकी महिमा का वर्णन कौन कर सकता है ? जिस (पुण्यात्मा) के हृदयमें इसका उदय होता है वही इसके रसके मर्मको पहिचान सकता है । भक्तिके क्षेत्रमें ज्ञानका अर्जन करनेवाली बुद्धिसे काम नहीं चलता । राजा और रानीके इन चरित्रोंका मनन करनेसे यह बात स्पष्ट होजाती है ।

मूल (छप्पय)

(गुरु-शिष्य)

अनुचर आग्या माँगि कह्यो कारज कों जैहौं ।
आचारज इक बात तोहि आए त कहि हौं ।।
स्वामी रह्यो समाय दास दरसन कों आयो ।
गुरु की गिरा बिस्वास फेरि सब घर मैं ल्यायो ।।
सिषपन साँचो करन कों बिभु सबै सुनत सोई कह्यो ।
गुरु गदित बचन सिष्य सत्य अति दृढ़ प्रतीति गाढ़ो गह्यो ।।५८।।

अर्थ—एक शिष्यने अपने गुरुजीसे बाहरकी अनुमति माँगते हुए प्रार्थना की—"मुझे एक कार्यवश बाहर जाना है।" आचार्यजीने कहा—"तुमसे एक बात कहनी है; लौटकर आओगे तब कहूँगा।"

इसी बीचमें गुरुजी भगवानमें लीन होगए। शिष्य जब लौटकर गुरुजीके दर्शनकी लालसा से पहुँचा, तो देखा लोग उनके मृतक शरीरको लिये जारहे हैं। शिष्यको गुरु-वाणीमें पूरा विश्वास था। वह यह मान ही नहीं सकता था कि जिस बातको गुरुदेव उससे कहना चाहते थे, उसे बिना कहे ही वे परमधामको प्रस्थान कर सकते हैं। अपने इस दृढ़ विश्वासके भरोसेपर वह गुरुजीके मृत शरीरको तथा उसे ले आनेवाले सब लोगोंको लौटा लाया।

अपने शिष्यकी बातको सत्य सिद्ध करनेके लिए (प्रभुकी कृपासे) गुरुदेवजी उठे और सब लोगोंके सुनते हुए जो कुछ उन्हें कहना था, शिष्यसे कहा।

इस प्रकार अपने गुरुजीके द्वारा कहे गए वचनको सत्य मानकर शिष्यने उसमें दृढ़ विश्वास किया और गुरुजीने भी शिष्यके इस विश्वासको पुनर्जीवित होकर सत्य प्रमाणित किया।

भक्ति-रस-बोधिनी

बड़ो गुरुनिष्ठ कछु घटी साधु इष्ट जाने स्वामी सन्त पूज्य माने कैसे समझाइये।
नित ही विचारें पुनि टारें पै उचारें नाहिं चल्यो जब रामतो कों कही फिरी आइये॥
सपत दिवाय न जरायबे कों दियो तन ल्यायो यों फिराय वही बात जू जनाइये।
साँचो भाव जानि प्रान आये सो बखान कियो "करो भक्त-सेवा", करी वर्ष लौं दिखाइये॥२५८॥

अर्थ—एक शिष्य अपने गुरुदेवमें बड़ी श्रद्धा रखते थे; यहाँ तक कि संत और भगवान को भी गुरुसे अधिक महत्त्व नहीं देते थे। इसके विपरीत गुरुदेव साधुओंको अपना पूज्य इष्ट मानते थे, अतः उन्हें यही चिन्ता रहती थी कि शिष्यको साधुओंकी महिमा कैसे समझाई जाय। नित्य प्रति वे सोचते कि आज समझा दूँगा, पर फिर दूसरे दिनके लिए टाल देते। वह बात उनसे कहते नहीं बनती थी। एक बार जब शिष्य रामतके लिए बाहर जाने लगा, तो गुरुजीने कहा—"जब तुम लौटकर आओगे, तब तुमसे एक बात कहूँगा।"

(शिष्य जब लौटकर आया, तो उसने देखा कि गुरुजी परलोकधामको पधार चुके हैं और उनका मृतक शरीर अन्त्येष्टि-क्रियाके लिए ले जाया जारहा है।) शिष्यने, इसपर लोगों को सौगन्ध दिलाकर गुरुजीके शरीरका दाह करनेसे रोका और वह उसे लौटवा कर घर ले आया। इसके अनन्तर (गुरुजीके सामने हाथ जोड़कर खड़े होकर) उसने कहा—"जो बात आपने कहनेको कहा था, उसकी आज्ञा करिए।"

शिष्यके भावको ऐसा सत्य जानकर गुरुदेव जीवित होगए और उन्होंने कहा—"तुम

साधु-सेवा करो।" इसके अनन्तर गुरुजीने एक वर्ष पर्यन्त शरीर धारण करके, शिष्यकी प्रार्थनापर, साधु-सेवाका आदर्श उपस्थित किया।

मूल (छप्पय)
(श्रीरैदासजी)

सदाचार श्रुति सास्त्र बचन अविरुद्ध उचार्यो।
नीर खीर बिवरन परमहंसनि उर धार्यो॥
भगवत कृपा प्रसाद परम गति इहि तन पाई।
राजसिंहासन बैठि ग्याति परतीति दिखाई॥
बरणाश्रम अभिमान तजि पद रज बन्दहिं जास की।
संदेह ग्रन्थि खंडन निपुन बानी बिमल रैदास की॥५६॥

अर्थ—श्रीरैदासजीने भगवान अथवा भक्तिसे संबन्धित जो बातें कहीं वे सदाचार, वेद तथा अन्य शास्त्रोंके प्रतिकूल नहीं है। हंस जिस प्रकार दूध और पानीको अलग कर देते हैं, उसी प्रकार शुद्ध भक्तिको ज्ञान-कर्म-साधनोंसे पृथक् करके देखनेवाले बड़े-बड़े संतों (परमहंसों) ने श्रीरैदासजीकी वाणीका मनसे अनुशीलन किया है। भगवानकी कृपाके फलस्वरूप श्रीरैदासजीने इसी मर्त्य शरीरसे परम-पद प्राप्त किया और राजसिंहासन पर बैठे। (अपने शरीरमें यज्ञोपवीतका चिन्ह दिखाकर) आपने लोगोंको यह विश्वास दिलाया कि आप पूर्व जन्ममें ब्राह्मण थे।

बड़े-बड़े लोगोंने उच्च वर्णमें उत्पन्न होने अथवा संन्यासी होनेका अभिमान छोड़कर जिनके चरण-रजको अपने सिरपर धारण किया, उन श्रीरैदासकी निर्मल वाणी सन्देहकी गाँठ खोलनेमें अत्यन्त समर्थ है।

शास्त्र-वचन अविरुद्ध—भक्ति-शास्त्रमें रागानुगा भक्तिके लिए शास्त्र-ज्ञानको आवश्यक नहीं बताया गया है, अतः यहाँ 'सदाचार', श्रुति' आदि शब्दोंसे वेद, तन्त्र, निगम, आगमके उन्हीं अंशोंसे अभिप्राय समझना चाहिए जो भगवद्-भक्तिके प्रतिकूल नहीं है। हाँ, वैधी-भक्तिके लिए अपेक्षित दृढ़ विश्वासको प्राप्त करनेके लिए शास्त्रोंका अनुशीलन आवश्यक हो जाता है। इसी आशयसे कहा गया है—

श्रुतिस्मृतिपुराणादिपञ्चरात्रविधिं विना।
ऐकान्तिकी हरेर्भक्तिरुत्पातायैव कल्पते॥

—वेद, स्मृति, पुराण-आदि पंचरात्र-विधिके बिना की गई अकेली भक्ति उपद्रव ही पैदा करती है। बौद्ध-शास्त्रों द्वारा प्रतिपादित भक्तिको इसीलिए अशास्त्रीय ठहरा दिया है कि वह शास्त्र-प्रमाणों की उपेक्षा करती है।

(श्रीरैदासजीके पूर्व जन्मका वृत्तान्त)

भक्ति-रस-बोधिनी

रामानंदजू को शिष्य ब्रह्मचारी रहे एक गहे वृत्ति चुकटीकी कहे तासों बानियों ।
करौ अंगीकार सीधो कहि दस-बीस वार बरसे प्रबल धार तामें वापै आनियों ॥
भोग कों लगावें प्रभु ध्यान नहीं आवें अरे कैसे करि ल्यावें जाय पूछी नीच मानियों ।
दियो शाप भारी बात सुनी न हमारी घटि कुलमें उतारी देह सोई याकों जानियों ॥२५९॥

अर्थ--श्रीरामानन्द स्वामीका एक ब्रह्मचारी शिष्य था । वह चूनकी चुटकी माँगकर लाया करता था और उसीसे स्वामीजीके ठाकुरका भोग लगता था तथा सन्तोंका सत्कार होता था । स्वामीजीकी कुटियाके आस-पास एक बनिया रहता था । उसने दस-बीस बार ब्रह्मचारी शिष्यसे सीधा लेनेका आग्रह किया, किन्तु स्वामीजीकी आज्ञानुसार उसने कभी उस बनियेकी चुटकी लेना स्वीकार नहीं किया ।

एक दिन मूसलाधार वर्षा हो रही थी और भिक्षा-द्वारा अन्न-संग्रह करना आवश्यक था । गुरुकी आज्ञाका उल्लंघनकर ब्रह्मचारी बनियेके द्वारा दिया गया सीधा ले आया । स्वामीजीने उस अन्नसे बने हुए भोगको प्रभुके सामने भोगके लिए रक्खा और ध्यान किया, तो प्रभुकी मूर्ति ध्यानमें नहीं आई । इसपर उन्होंने शिष्यसे पूछा--"अरे ! यह भीख कहाँ-कहाँसे माँगकर लाए हो ?" शिष्यने बता दिया कि अमुक बनियाके यहाँसे लाया हूँ ।

स्वामीजी महाराजने बनियाके संबन्धमें विशेष जानकारी की, तो मालूम हुआ कि वह अत्यन्त नीच मनोवृत्तिका है (क्योंकि रुपएके लोभसे वह एक चमारसे साझाकर व्यापार करता था ।) स्वामीजीने, इसपर, शिष्यको शाप दिया--"चूँकि तूने गुरुकी आज्ञाका उल्लंघन किया है, अतः तू हीन-कुल (चमार-वंश) में जन्म ग्रहण करेगा ।

वही शिष्य दूसरे जन्ममें श्रीरैदासके नामसे एक चमारके घर पैदा हुआ ।

भक्ति-रस-बोधिनी

माता दूध प्यावै याकों छुयोऊ न भावै सुधि आवै सब पाछिली सुसेवा कों प्रताप है ।
भई नभ-बानी रामानंद मन जानी बड़ो दंड दियो मानी बेगि आयो चल्यौ आप है ॥
दुखी पितु-मात देखि धाय लपटाये पाय कीजिये उपाय किये शिष्य गयो पाप है ।
स्तन पान कियो जियो लियो उन्हें ईस जानि निपट अजानि फेरि भूले भयो ताप है ॥२६०॥

अर्थ--बालक रैदासको अपनी माताका दूध पीना तो दूर रहा, उसके शरीरका स्पर्श करना भी बुरा लगता था । गुरु-सेवाके प्रभावसे आपको पिछले जन्मकी सब याद बनी रही (और आपने सोचा कि चमारके यहाँ भिक्षा माँगने से तो यह दण्ड मिला; अब यदि दूध पीलूँगा, तो न जाने क्या गति होगी) इसी बीचमें श्रीस्वामी रामानन्दजीको आकाश-वाणी हुई (कि

तुम्हारा शिष्य ब्रह्मचारी चमारके घरमें पैदा हुआ है; उसकी सहायता करिए)। श्रीरामानन्दजी के हृदयको बड़ा कष्ट हुआ कि छोटी-सी बातपर उन्होंने शिष्यको इतना भारी दण्ड दे डाला। आप शीघ्र ही चलकर वहाँ पहुँचे जहाँ रैदास जन्मे थे। बच्चेके दूध न पीनेके कारण माँ-बाप बड़े दुखी थे। स्वामीजीको देखते ही वे उनके पैरोंपर गिर पड़े और प्रार्थना की कि कुछ ऐसा उपाय करिये कि बच्चा दूध पीने लगे। इसपर श्रीरामानन्दजीने बालकको वहीं राम-नामकी दीक्षा देकर अपना शिष्य बनाया जिससे कि उसके सब पाप धुल गए और वह माँका दूध पीने लगा। दूध पीते ही बच्चेका मानो पुनर्जन्म हो गया और वह स्वामीजी को ईश्वर करके मानने लगा। उसे अपनी पूर्वजन्मकी भूलपर बड़ा पछतावा हुआ।

इन्द्रद्युम्नका वृत्तान्त—स्वामी श्रीरामानन्दजीने जैसा शाप ब्रह्मचारी शिष्यको दिया, वैसा ही अगस्त्य मुनिने पाण्डुदेशके राजा इन्द्रद्युम्नको दिया था। वह राजा मलय पर्वतपर रहकर हरिका भजन किया करते थे। एक दिन अकस्मात् अगस्त्य-मुनि उधर आ निकले। भगवानके ध्यानमें तल्लीन राजाको उनके आने का पता न लगा, अतः उन्होंने उठकर मुनिका सत्कार नहीं किया। मुनिको यह देखकर बड़ा क्षोभ हुआ। उन्होंने शाप दे दिया कि "तू उन्मत्त हाथीकी तरह आँखें बन्द किये बैठा रहा—उठा नहीं, अतः हाथी हो जा।" मुनिके शापके प्रभावसे राजाको गज-योनिमें जन्म लेना पड़ा, किन्तु भगवानकी भक्तिके प्रभावसे वहाँ भी वे हरिको न भूले। मृग-योनिमें पड़े हुए जड़-भरतजीको भी इसी प्रकार अपने पूर्व जन्मका वृत्तान्त नहीं भूला था।

भक्ति-रस-बोधिनी

बढ़ेई रैदास हरिदासन सों प्रीति करी पिता न सुहाय दई ठौर पिछवार हीं।
हुतो धन माल कन दियो हू न हाल लियो पति सुख जाल अहो किये सब न्यार हीं॥
गाँठे पगदासी कहूँ बात न प्रकासी ल्यावैं खाल कारें जूती साधु-संत कों संभार हीं।
डारी एक छानि कियो सेवा को अस्थान रहें चौड़े आप जानि बाँटि पावे बहि बार हीं॥२६१॥

अर्थ—रैदासजी हरि-भक्तोंसे बड़ा प्रेम करते थे। इनके पिताको उनका यह आचरण अच्छा नहीं लगा, अतः उन्होंने उन्हें घरसे निकाल दिया और घरके पीछेके भागमें रहनेको जगह दे दी। आपके माँ-बापके पास पर्याप्त अन्न-धन था, पर अलग करते समय इन्हें दाना भी नहीं दिया। इतनेपर भी स्त्री और पति भगवानकी भक्तिमें ही अत्यन्त सुख मानकर रहने लगे। रैदासजी खरीद कर चमड़ा ले आते थे, (मरे हुए जानवरोंकी खालको अपने यहाँ नहीं उधेड़ते थे) और उसके जूते बनाकर अत्यन्त यत्नसे साधु-सन्तोंको पहिनाया करते थे। गुप्तरूपसे की गई इस साधु-सेवाकी वे किसीसे चर्चा नहीं करते थे। आप स्वयं बिना छप्पर की झोंपड़ीमें रहते थे, पर भगवानकी सेवाके लिए आपने अपनी झोंपड़ीके पास एक छवा हुआ स्थान बना लिया था। मजदूरी करके जो कुछ मिलता था उसे भिखारियोंको बाँट कर आप खाते थे। यह आपकी जीवन-चर्या थी।

कहते हैं, रैदासजी जूती गाँठते समय भगवानकी चतुर्भुज मूर्तिकी ओर प्रेमसे देखते हुए यह गीत गाया करते थे—

प्रभुजी ! तुम चंदन, हम पानी। जाकी अँग-अँग बास समानी॥
प्रभुजी ! तुम घन, बन हम मोरा। जैसे चितवत चंद चकोरा॥
प्रभुजी ! तुम दीपक हम बाती। जाकी जोति बरै दिन-राती॥
प्रभुजी ! तुम मोती, हम धागा। जैसे सोनहिं मिलत सुहागा॥
प्रभुजी ! तुम स्वामी हम दासा। ऐसी भगति करै रैदासा॥

भक्ति-रस-बोधिनी

सहे अति कष्ट अंग हिये सुख सील रंग आए हरि-प्यारे लियो भक्ति-भेष धारि कै।
कियौ बहु मान खान-पान सों प्रसन्न ह्वै कै दीनों कह्यो पारस है राखियो सँभारि कै॥
"मेरे धन राम, कछु पाथर न सरे काम, दाम मैं न चाहौं, चाहौं डारौं तन वारि कै"।
राँपी एक सोनों कियो दियो करि कृपा राखो राखौ यह छानि माँझ लैहौ जु निकारि कै॥२६२॥

अर्थ—बिना छप्परकी झोंपड़ीमें रहनेके कारण रैदासजी तथा उनकी स्त्रीको शीत, वर्षा आदिके अनेक कष्ट सहने पड़ते थे, परन्तु भगवानकी भक्तिमें मग्न रहनेसे उनका हृदय सदा आनन्दित और विनयसे परिपूर्ण रहता था। एक दिन भक्तका वेष बनाकर स्वयं भगवान आपकी कुटियापर पधारे। रैदासजीने उनका खूब आदर-सत्कार किया। साधुने उनकी सेवा से प्रसन्न होकर उन्हें पारसका एक टुकड़ा देते हुए कहा—"इसे सँभाल कर रखना।" रैदासजी ने उत्तरमें कहा—"मेरा एकमात्र धन तो श्रीरामचन्द्रजी हैं। मुझे रुपए-पैसेकी क्या जरूरत है? हम दोनों व्यक्ति तो यह चाहते हैं कि हमारा शरीर भगवानकी सेवामें न्यौछावर होजाय।" इस साधुजीने पारसका प्रत्यक्ष चमत्कार दिखानेके लिए राँपीके लोहेको छुवाकर सोना बना दिया और फिर उसे स्वीकार करनेका आग्रह किया। रैदासजीने कह दिया—"इस ठाकुरजीके मन्दिरके छप्परमें कहीं खोंस जाइए; जब आप चाहें तो निकाल कर ले जाइएगा।"

हिये सुख-सील—इस सम्बन्धमें नीचे दिए गए दो दोहे द्रष्टव्य हैं—

दुख सुख ग्यानी नरन कों यों व्यापत मन माँहि।
गिरि सागर ज्यों मुकुर में भार भीजियबु नाहि॥१॥
तौ अनेक औगुन-भरी चाहे याहि बलाय।
जो पति संपति हू बिना जदुपति राखे जाय॥२॥—(विहारीदास)

श्रीमद्भगवद्गीतामें भी भगवानने कहा है—

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत॥

—हे कुन्तीपुत्र ! सर्दी-गर्मी और सुख-दुःखको देनेवाले इन्द्रिय और विषयोंके संयोग तो क्षणभंगुर और अनित्य हैं, इसलिए हे भरतवंशी अर्जुन ! तू उनको सहन कर।

भक्ति-रस-बोधिनी

आये फिरि स्याम मास तेरह बितीत भये, प्रीति कर बोले—"कहौ पारस की रीति कौं"।
"जाही ठौर लोजै मेरो मन न पतीजै अब जाही सोई कोजै मैं तो पावत हौं भीति कौं," ॥
लै कै उठि गए, नये कौतुक सो सुनो, पावे सेवत मुहर पाँच नितही प्रतीति कौं।
सेवाहू करत डर लाग्यो, निसि कह्यो हरि "छोड़ौ अरि आपनी औ राखौ मेरी प्रीति कौं" ॥२६३॥

अर्थ—तेरह महीने बीत जाने पर साधु-वेष-धारी भगवान फिर रैदासजीके दरवाजे पर आए और प्रेमसे पूछा—"पारसकी करामातका वृत्तान्त तो सुनाइए।" रैदासजीने कहा—"जहाँ आपने रक्खा है, वहीं रक्खा होगा; मेरे अन्तःकरणने तो उसका प्रयोग करनेकी साक्षी नहीं दी। मुझे तो उससे डर लगता है। अब आपकी जैसी इच्छा हो कीजिए, ले जाइये या जहाँ आपने रक्खा है वहीं पड़ा रहने दीजिये।"

साधुजी उस पारस पत्थरको लेकर चले गए। इसके बाद जो नवीन आश्चर्यजनक घटना हुई, उसे सुनिये। अब भगवानकी सेवा-पूजा करते समय रैदासजीको पाँच मोहर नित्यप्रति भजन के आसनके नीचे रक्खी हुई मिलने लगीं। इसका परिणाम यह हुआ कि रैदासजी अब सेवा-पूजा करनेसे भी डरने लगे। इसपर प्रभुने स्वप्नमें आज्ञा दी—"रैदास ! हठ छोड़कर मोहरों का उपयोग करो और मेरे प्रेमको निबाहो।"

भक्ति-रस-बोधिनी

मानि लई बात, नई ठौर लै बनाय, चाय संतनि बसाय, हरि-मन्दिर चिनायौ है।
बिबिध बितान तान, गनो जो प्रमान होइ, भोय गई, भक्ति पुरी जग जस गायो है ॥
दरसन आवें लोग, नाना विधि राग भोग, रोग गयो विप्रनि कौं तन सब छायो है।
बड़ेई खिलारी ये, रहे हैं छान डारि करी घर पै अटारी, फेरि द्विजनि सिखायो है ॥२६४॥

अर्थ—रैदासजीने भगवानकी आज्ञा, अन्तमें, मान ली और एक नई जगह लेकर बड़े प्रेम-भावसे सन्तोंके ठहरनेके लिए स्थान तथा भगवानका एक मन्दिर बनवाया। इनपर इतने प्रकारके चँदोवे, वन्दनवार आदि टाँगे कि जिनका वर्णन नहीं किया जा सकता। यह नया स्थान भक्ति-पुरी-सा लगता था; (क्योंकि वहाँ दिन-रात भजन-कीर्तन, उत्सव आदि चलते रहते थे।) इससे रैदासजीकी भक्तिका यश सारे संसारमें गाया जाने लगा। लोग वहाँ दूर-दूरसे भगवानके दर्शनोंको आते थे। ठाकुर-मन्दिरमें अनेक प्रकारके भोग लगते थे। रैदासजीके भक्ति-वैभवको देखकर ब्राह्मण-लोग ईर्ष्यासे जलने लगे—उनके शरीरमें डाहका मानों रोग प्रवेश कर गया। भगवान तो बड़े कौतुकी हैं। कहाँ तो रैदासजी छप्परमें रहकर

गुजारा करते थे, कहाँ अब अटारियाँ (भवन) खड़े होगए । भगवानकी माया देखिए कि जिस समय रैदासजीका यह सब ठाठ जमा हुआ था तभी आपने ब्राह्मणोंके हृदयोंमें विद्रोहकी भावना भर दी । (सेवा करनेमें भी उन्होंने भक्तका कुछ कल्याण ही सोचा होगा)

प्रेरणाका कारण—रैदासजीके विरुद्ध विद्रोहकी भावनाके बीज बोनेमें भी भगवानने कल्याण ही सोचा होगा । भक्तके लिए 'यावदर्थता' का पालन करना अत्यन्त आवश्यक है । अर्थात् जीवन-निर्वाहके लिए जितना द्रव्य आवश्यक हो उससे अधिक संग्रह करना निषिद्ध है । फिर रैदासजीके तो भगवानकी कृपासे भव्य-भवन खड़े होगए थे और उनका यश दूर-दूर तक फैल गया था । भक्तकी ऐकान्तिक मानसी स्थितिके लिए यह घातक है । यशसे आत्म-श्लाघा पैदा होती है और आत्म-श्लाघा से अभिमान । इसीसे व्यासजीने कहा है—

> व्यास बड़ाई जगत की, कूकर की पहिचान ।
> प्रीति किये मुख चाटि है, बैर किये तनु हान ॥

भक्ति-रस-बोधिनी

> प्रीति रस-रास सों रैदास हरि सेवत है, घर में दुराय लोक रंजनादि टारी है ।
> प्रेरि दिये द्वैं आय द्विजनि पुकारि करी भरी सभा नृप आगे कह्यो सुखगारी है ॥
> जन कों बुलाय समझाय न्याय प्रभु सौंपि कीनों जग जस साधुलीला मनुहारी है ।
> जिते प्रतिकूल मैं तो माने अनुकूल, यातें संतनि प्रभाव मनि कोठरी की तारी है ॥२६५॥

अर्थ—रैदासजी विशाल प्रेम और आनन्दको हृदयमें धारणकर अपने घरमें चुपचाप भगवानकी सेवा किया करते थे । लोगोंको प्रसन्न करनेकी भावना उन्होंने अपनेमेंसे दूर निकाल दी थी । उसी समय भगवानने ब्राह्मणोंको प्रेरणा दी कि रैदासके विरुद्ध आन्दोलन खड़ा करो । ब्राह्मणोंने राजाके भरे दरबारमें रैदासजीको गालियाँ देते हुए उनपर यह आरोप लगाया कि शूद्र होकर यह प्रतिमा-पूजन करता है । ब्राह्मणोंकी शिकायतपर राजाने रैदासजीको बुलाया और उनकी भक्तिका प्रत्यक्ष चमत्कार देखकर उनके साथ न्याय किया । रैदासजीको अब ठाकुर जीकी सेवा-पूजाका अधिकार दे दिया गया और उनका यश सारे संसारमें फैल गया । साधुओं के चरित्र इसी प्रकार मनको हरण करनेवाले होते हैं । भगवानने कहा है—"जो लोग मेरे भक्तों का विरोध करते हैं, मैं उनको अनुकूल ही मानता हूँ; क्योंकि ऐसे दुष्ट साधु-महिमा-रूपी मणि की कोठरीकी कुञ्जियाँ हैं । अर्थात् दुष्ट लोग जब महात्माओंका विरोध करते हैं तभी उनकी महिमाका जगमें विस्तार होता है और लोग उनके आदर्शोंपर चलते हैं ।

भक्ति-रस-बोधिनी

> बसत चितौर माँझ रानी एक झाली नाम, नाम बिन काम खाली, आनि शिष्य भई है ।
> संग हुते विप्र सुनि छिप्र तन आगि लागी भागी मति, नृप आगें भीर सब गई है ॥
> बैसे ही सिंहासन पै आय कें बिराजे प्रभु, पढ़ें वेद-बानी, पै न आये यह नई है ।
> पतित पावन नाम कीजिये प्रगट आजु, गायो पद गोद आय बैठे भक्ति लई है ॥२६६॥

अर्थ—चित्तौड़ नगरमें 'झाली' नामक रानी रहती थी। भगवानके नामसे उसके कान पवित्र नहीं हुए थे—अर्थात् उसने किसी गुरुसे मन्त्र-दीक्षा नहीं ली थी, अतः वह काशी आकर रैदासजीकी शिष्या हो गई। यह देखकर रानीके साथमें रहनेवाले ब्राह्मणोंके हृदय ईर्ष्या और घृणाकी आगसे जल उठे और उनमेंसे विचार-शक्ति जाती रही। वे सब-के-सब इकट्ठे होकर राजाके पास गए। इसका निर्णय करनेके लिए कि रैदासजीको दीक्षा देनेका अधिकार है या नहीं, राजाने भगवानकी मूर्तिको एक सिंहासनपर लाकर विराजमान कर दिया और कह दिया कि जिसके बुलानेसे भगवान पास चले आवेंगे वही दीक्षा देनेका अधिकारी समझा जायगा। इसपर उपस्थित ब्राह्मणोंने बड़े ऊँचे स्वरसे वेद-पाठ किया, किन्तु भगवान टस-से-मस नहीं हुए। देखनेवालोंके लिए यह एक नई बात थी। बादमें रैदासजीने अपना पद गाया जिसका आशय यह था—"पतितोंको पवित्र करनेवाले प्रभो! आज साक्षात् दर्शन देकर अपने नामको सार्थक करिए।" पदके समाप्त होते ही लोगोंने देखा कि भगवानका श्रीविग्रह रैदासजीकी गोदमें आकर विराजमान हो गया। इस प्रकार प्रभुने रैदासजीकी भक्तिको स्वीकार किया और ब्राह्मणोंके थोथे पाण्डित्यकी अवज्ञा कर दी।

रैदासजीने इस अवसरपर जो पद गाया था, वह इस प्रकार है—

आयो-आयो हौं देवाधिदेव तुव सरन आयो।
सकल सुख को मूल जाके नाहिं समतूल सो चरण-मूल पायो॥
लियो विविध जौन वास जम की अगम त्रास तुम्हरे भजन बिनु भ्रमत फिरयो।
मायामोह विषय-रस लंपट यह दुस्तर दुख तरयो॥
तुम्हरो नाम छांड़ि बिस्वास आन आस संसारी धर्म मेरो मन न पतीजै।
"रैदास" दास की सेवा मानहु देवा पतित पावन नाम आज प्रगट कीजै॥

भक्ति-रस-बोधिनी

गई घर झाली पुनि बोलि कै पठाये अहो जैसे प्रतिपाली अब तैसें प्रतिपारियैं।
आपु हू पधारें, उन बहु धन पट वारें, विप्र सुनि पाँव धारें, सीधौ दै निवारियैं॥
करि कै रसोई द्विज भोजन करन बैठे द्वै-द्वै मध्य एक यौं रैदास को निहारियै।
देखि भई आँखें, दीन भाखैं सिष साखैं भये स्वर्ण को जनेऊ काढ़यो त्वचा कोनी न्यारियै॥२६७॥

अर्थ—काशीसे लौटकर रानी झाली जब अपनी राजधानी चित्तौड़ पहुँची, तब वहाँसे उसने रैदासजीको यह कहकर बुला भेजा कि जैसा आपने काशीमें मेरा प्रतिपालन (कृपा) किया था उसी प्रकार यहाँ पधारकर भी करिये। रानीके आमंत्रणपर रैदासजी चित्तौड़ गए। रानीने आपका बहुत आदर किया और बहुत-सा धन तथा वस्त्र आदि आपके भेंट किये। इस अवसरपर रानीने साधु-सन्तोंके एक विशाल भण्डारेका भी आयोजन किया। उसमें भाग लेनेके लिए बहुतसे ब्राह्मण भी पहुँचे। रानीने जब सुना कि ब्राह्मणदेव भी आए हैं, किन्तु भण्डारेका

पकान्न ग्रहण करनेमें आपत्ति करते हैं, तो उनके लिए कच्चे सामानका प्रबन्ध कर दिया। ब्राह्मणोंने अपने हाथसे वहाँ रसोई बनाई, लेकिन जब वे भोजन करने बैठे, तो उन्हें यह देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ कि प्रत्येक दो-दो ब्राह्मणोंके बीच एक रैदास बैठे हैं। रैदासजीका ऐसा प्रभाव देखकर उनकी आँखें खुल गईं और वे अत्यन्त दीनता-भरी वाणीमें अपराध क्षमा कराने के लिए प्रार्थना करने लगे। उनमें से लाखों ब्राह्मण आपके शिष्य हो गए। रैदासजीने उनके मनकी ग्लानिको दूर करनेके लिए अपने शरीरकी त्वचाको चीरकर सबको स्वर्णका यज्ञोपवीत दिखाया जिससे उन्हें यह विश्वास हो जाय कि वे पूर्व-जन्ममें ब्राह्मण थे।

यज्ञोपवीत दिखानेका दूसरा प्रयोजन—टीकाकारोंके अनुसार ब्राह्मणोंको यज्ञोपवीत दिखानेका दूसरा प्रयोजन यह था कि रैदासजी ब्राह्मणोंको यह बतलाना चाहते थे कि वे पहले सात जन्मोंसे ब्रह्मचारी बनते चले आये थे, पर उन्हें भगवानकी प्राप्ति नहीं हुई। वह तभी हुई जब उन्होंने उच्च कुलमें उत्पन्न होनेका अभिमान त्याग दिया, अर्थात् चमारके कुलमें पैदा हुए।

विशेष वृत्तान्त—श्रीरैदासजी महात्मा कबीरदास और मीराके समकालीन थे। आपका जन्म सम्वत् १३७१ वि. में माघकी पूर्णिमाको हुआ था। आपके पूज्य पिता रघुजी काशी नगरीके एक चर्मकार थे। रैदासजीकी कवितासे यह ध्वनित होता है कि उनका सन्देश भी प्रकारान्तरसे वही था जो कबीरदास जी का था। कबीरकी तरह रैदासजीने भी उस समय प्रचलित जाति-भेद तथा ऊँच-नीचकी भावनाओंपर कठोर प्रहार किया। अन्तर केवल इतना था कि कबीरकी वाणी जहाँ अत्यन्त उग्र थी, वहाँ रैदासकी परम कोमल और अमृतमयी। उनके पदोंमें एक अपूर्व स्वाभाविकता है और वे सीधे हृदयसे निकले हुए लगते हैं। मीरा-जैसी विकलता भी रैदासजीकी वाणी में नहीं है। उसमें तो एक अगाध शान्ति और दृढ़ विश्वास है। इस सम्बन्धमें उनका एक पद देखिए—

> रैदास रात न सोइए, दिवस न करिये स्वाद।
> अहनिसि हरिजन सुमरिये, छाँड़ि सकल प्रतिवाद॥

सत्संगतिके विषयमें वे कहते हैं—

> गली-गली कौ जल्लु बहि आयो सुरसरि जाय समायो।
> संगति के परताप महातम, नाम गंगोदक पायो॥
> स्वाति बूँद बरसे फणि ऊपर, सीस विषै ह्वो जाई।
> वही बूँद कै मोती उपजे, संगति की अधिकाई॥
> जाति भी ओछी, करम भी ओछा, ओछा कसब हमारा।
> नीचे से प्रभु ऊँच कियो है, कहै "रैदास" चमारा॥

नीचे लिखे पदोंसे प्रकट होता है कि मीराबाई रैदासजीकी शिष्या थीं—

> नहीं मैं पीहर सासरे रे, नहीं पिया जी के पास।
> 'मीरा' के गोबिंद मिलिया रे, गुरु मिलिया रैदास॥

× × ×

'मीरा' म्हाने संतों हैं, मैं संत की दास।
चेतन संता सैन थे, दीसत गुरु रैदास॥
'मीरा' सद्गुर देव की, करै वन्दना आस।
जिन चेतन आतम कह्या, धन्य भगत रैदास॥

कहते हैं, रैदासजी १०५ वर्ष तक जीवित रहे। एक ओर जहाँ वे अपने सरस उपदेशोंसे रसिक-भक्तोंके प्राणोंको तृप्त करते थे, तो दूसरी ओर अपनी तीव्र प्रतिभा और प्रबल युक्तियों द्वारा धर्मध्वजियों को शास्त्रार्थमें पराजित करते थे। इसका परिणाम यह हुआ कि असहिष्णु और ईर्ष्यालु व्यक्तियोंने चित्तौड़से, जहाँ कि वे मीराबाईसे मिलने गये थे, उन्हें मार डाला। सुनते हैं, उनकी धर्मपत्नीका भी इसी प्रकार अन्त कर दिया गया।

मूल (छप्पय)
(श्रीकबीरदासजी)

भक्ति विमुख जो धर्म सोइ अधरम करि गायो।
जोग जग्य व्रत दान भजन बिनु तुच्छ दिखायो॥
हिन्दू तुरक प्रमान रमैनी सबदी साखी।
पच्छपात नहिं बचन सबहि के हित की भाषी॥
आरूढ़ दसा ह्वै जगत पर मुखदेखी नाहिंन भनी।
कबीर कानि राखी नहीं वर्णाश्रम षटदरसनी॥६०॥

अर्थ—कबीरदासजीने भक्तिके विरोधी सब धर्मोंको अधर्म बतलाया तथा बिना भजनके योग, यज्ञ, व्रत, दान—सबको व्यर्थ सिद्ध किया। क्या हिन्दू, क्या मुसल्मान—सबके हितके लिए उन्होंने ऐसी बातें कहीं जो किसी भी युगमें प्रामाणिक मानी जा सकती हैं। उन्होंने अपनी बीजक, रमैनी, सबदी और साखीमें किसी विशेष मतका पक्षपात नहीं किया, बल्कि सबके कल्याणकी बातें कहीं। प्रेमा-भक्तिकी आनन्दपूर्ण अवस्थामें रहते हुए कबीरदासजीने किसीके दबावमें आकर मुँहदेखी बातें नहीं कहीं। उन्होंने न तो ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि चार वर्णोंका लिहाज किया और न चार आश्रमोंका। यदि उनकी कोई उक्ति इनमेंसे किसीके विरुद्ध पड़ती थी, तो उन्हें इसकी तनिक भी चिन्ता नहीं थी।

भक्ति-रस-बोधिनी

अति ही गंभीर मति सरस कबीर हियो लियो भक्ति भाव, जाति-पाँति सब टारियै।
भई नभ-बानी देह तिलक रमानी करो, करो गुरु रामानन्द गरे माल धारियै॥
देखे नहिं मुख मेरो मानि कै मलेच्छ मोको जात न्हान गंगा कही मग तन डारियै।
रजनी के सेष मैं आवेस सों चलत आप, परे पग राम, कह्यो मंत्र को बिचारियै॥२६८॥

अर्थ—कबीरकी बुद्धि (विचार) अत्यन्त गंभीर थी और हृदय अत्यन्त सरस और भक्ति भावनासे परिपूर्ण था। जाति-पाँतिको बखेड़ा समझकर आपने इसे त्याग दिया था। कबीर जब इस प्रकार जीवन बिता रहे थे, तो एक दिन आकाश-वाणी हुई कि अपने शरीरमें रामानन्दी तिलक लगाओ, गलेमें माला धारण करो और श्रीरामानन्दजीसे गुरु-दीक्षा लो। कबीरदासजीने, इसपर कहा—"स्वामी रामानन्दजी तो म्लेच्छ समझकर मेरा मुंह भी नहीं देखना चाहेंगे। ऐसेमें मैं क्या करूँ?" उत्तर मिला—"रामानन्दजी प्रातःकाल गंगा-स्नान करने आते हैं, सो तुम रास्तेमें पड़ रहना।"

कबीरदासजीने ऐसा ही किया। रात्रिके पिछले पहरमें स्वामीजी राम-नामका जाप करते हुए तन-बदनकी सुध खो गंगाजीकी ओर चले जारहे थे कि अकस्मात् उनका पैर किसीके शरीरपर जापड़ा। (पैरके स्पर्शसे ही स्वामीजीने पहिचान लिया कि यह तो किसी मनुष्यके शरीरपर उनका पैर पड़ गया)। उनके मुंहसे निकल पड़ा—"राम! 'राम! कहो बेटा!" कबीरदासजीने उस राम-नामको ही दीक्षा-मंत्रके रूपमें ग्रहण किया और स्वामीजीके शिष्य बन कर घरको लौट आये।

भक्ति-रस-बोधिनी

कीनी वही बात, माला तिलक बनाय गात मानि उतपात मात सोर कियो भारियै।
पहुँचो पुकार रामानंद जू कैं पास आनि कही कोऊ पूछे तुम नाम लै उचारियै॥
ल्यावो जू पकरि वाको कब हम कियो सिष्य, ल्याये करि परदा में पूछी, कहि डारियै।
राम-नाम मंत्र यही लिख्यो सब ग्रंथनि में खोलि पट मिले साँचो मत उर धारियै॥२६६॥

अर्थ—कबीरदासजीने वैसा ही किया जैसा कि आकाशवाणीने कहा था। अर्थात् शरीर पर तिलक लगाए और कंठी धारण कर ली। अपने पुत्रका यह विचित्र वेष देख और दिन-रात राम-नाम रटते देख कबीरदासजीकी माताने बड़ा हो-हल्ला किया और इस बातको लेकर एक ऊधम खड़ा कर दिया। धीरे-धीरे यह समाचार श्रीरामानन्दजीके कानों तक पहुँचा और किसी ने उन्हें यह भी बताया कि कबीरसे यदि कोई पूछता है कि यह सब उसने किसके कहनेसे किया, तो आपको अपना गुरु बतलाता है।

इसपर स्वामी रामानन्दजीने आज्ञा दी—"उसे पकड़ कर हमारे पास लाओ। हम उससे पूछेंगे कि हमने तुम्हें कब शिष्य किया।" स्वामीजीकी आज्ञानुसार कबीरदासको लोग पकड़ लाए। स्वामीजी ने एक पर्देके पीछे बैठ कर (ताकि यवन कबीरका मुंह न दिखाई दे) पूछा कि उन्होंने उसे कब शिष्य बनाया। कबीरदासने गंगा किनारेकी सब घटना ज्योंकी-त्यों सुना दी और बोले—"सब शास्त्रोंमें राम-नामको ही महामंत्र करके लिखा है।"

इस उत्तरसे प्रसन्न होकर स्वामी रामानन्दजी परदेको हटाकर बाहर निकल आए और

कबीरदासजीको गले लगाते हुए कहा—"पुत्र ! तेरा मत पक्का है। इसी नामको तुम अपने हृदय में स्थान दो।"

भक्ति-रस-बोधिनी

बुनें तानौ बानौ, हिये राम मँडरानौ, कहि कैसे कै बखानौं वह रीति कछु न्यारियै।
उतनोई करें जामें तन निरबाह होय, भोय गई और बात भक्ति लागी प्यारियै॥
ठाढ़े मंडी माँझ पट बेचन लै जब कोऊ आयो मोकों देहु देह मेरी है उघारियै।
लग्यो देन आधौ फारि, आधे सों न काम होत, दियो सब लेबौ सो पै बड़ी उर धारियै॥२७०॥

अर्थ—कबीरदासजी ताने और बानेसे कपड़ा बुना करते थे, किन्तु अन्तःकरणमें रामका नाम गूँजा करता था। उनकी भजन-परिपाटी कुछ अनोखी ही थी। उसका किन शब्दोंमें वर्णन किया जाय। कबीरदासजी उतना ही उद्यम करते थे, जिससे परिवारका निर्वाह होजाय। वे संग्रही नहीं थे। उनके मनमें और ही बात समा गई थी और प्रभुकी भक्ति करना ही उन्हें सब वस्तुओं से अधिक प्रिय था। एक दिन आप बाजारमें खड़े होकर कपड़ा बेच रहे थे कि एक व्यक्तिने आपके पास आकर कहा—"मेरे पास शरीर ढकनेको कुछ नहीं है; मुझे कपड़ा दीजिए।" कबीरदासजी थानमेंसे आधा फाड़कर देने लगे, तो माँगनेवालेने कहा—"इस आधेसे मेरा काम नहीं होगा।" इसपर कबीरदासजीने पूरा थान उसे दे दिया।

ताना-बाना—इस कवित्तको पढ़कर कबीरदासजीका निम्नलिखित पद याद आये बिना नहीं रहता—

झीनी-झीनी बीनी चदरिया।
काहे को ताना काहे की भरनी कौन तार से बीनी चदरिया।
इंगला पिंगला ताना भरनी सुखमन तार सों बीनी चदरिया।
आठ कमल दल चर्खा डोले पाँच तत्त गुन तीनी चदरिया।
साईं को सियत मास दस लागे यों ठिकि ठिकि पूरी करी चदरिया।
दास कबीर जतन सों ओढ़ी, ओढ़ि के फिर धर दीनी चदरिया।

कबीरदासजी कपड़ा बुनते समय इस प्रकारके पद बनाकर गाया करते होंगे।

भक्ति-रस-बोधिनी

तिया सुत मात मग देखैं भूखे आवे कब ? दबि रहे हाटनि में ल्यावें कहा धाम कौं।
साँचो भक्तिभाव जानि, निपट सुजान वे तौ कृपा के निधान, गृह सोच परयो स्याम कौं॥
बालद लै आये दिन तीनि यों बिताये जब आये घर डारि दई, दई ही अराम कौं।
माता करें सोर कोऊ हाकिम मरोरि बाँधें डारो बिन जानें सुत लेत नहीं दाम कौं॥२७१॥

अर्थ—घरपर स्त्री, पुत्र और माता बाट देख रहे थे कि कबीरदास कपड़ा बेचकर कुछ रुपया-पैसा लाते होंगे, पर वे घर जाते तो क्या लेकर जाते ? पूरा थान तो साधुको दान कर

दिया था। इसलिए वे घर न जाकर जंगलमें छुप गए। लेकिन प्रभु तो सबके घट-घटकी जानते हैं और भक्तोंपर पूर्ण कृपा रखते हैं। कबीरदासजीको अपना सच्चा भक्त समझकर उन्हें उनके बाल-बच्चोंकी चिन्ता स्वयं करनी पड़ी। जब तीन दिन बीत गए और कबीर दासजी घर नहीं लौटे, तो भगवान व्यापारीका वेष धारण कर कबीरजीके घर गए और घी, आटा आदि सब आवश्यक सामान वहाँ लेजाकर पटक दिया और घरवालोंसे कहा—"आप लोग आरामसे गुजर-बसर करिये। यह सामान मैं इसीलिए दिये जा रहा हूँ।"

कबीरदासजीकी माताने इतना सारा सामान देखा, तो लगी हल्ला मचाने—"इस सबका क्या होगा? यदि किसी राज-कर्मचारीको पता लग गया, तो चोरीके संदेहमें यह हमें हवालातमें पटक देगा। दूसरी बात यह है कि मेरा पुत्र कबीर बिना जाने-पहिचाने किसीका द्रव्य ग्रहण नहीं करता है।"

(व्यापारीने एक नहीं मानी और माताको समझा-बुझाकर सामान रखवा दिया।)

भक्ति-रस-बोधिनी

गये जन दोय चार, ढूँढ़िके लिवाय ल्याये, आये घर सुनी बात आनी प्रभु भीर कों।
रहे सुख पाय कृपा करी रघुराय, दई छिन में लुटाय सब बोलि भक्त भीर कौं॥
दियो छोड़ि तानौ-बानौ, सुख सरसानौ हिये, किये रोस धाये सुनि विप्र तजि धीर कौं।
क्यों रे तैं जुलाहे! धन पायो न बुलाये हमैं, सूद्रनि कों दियो जावो कहूँ यों कबीर कौं॥२७२॥

अर्थ—कई दिन हो गए और कबीरदासजी जब घर नहीं आये, तो दो-चार आदमी उन्हें खोजकर अपने साथ ले आये। घर आते ही आपने सुना कि किस प्रकार एक व्यापारी खाने-पीनेका सब सामान दे गया है। आप तत्काल समझ गए कि प्रभुने उन्हींके लिए यह सब कष्ट उठाया है। यह सोचकर आपको महान आनन्द हुआ कि श्रीरामचन्द्रजीने ऐसी कृपा की। लेकिन आपने दूसरे ही क्षण संतों तथा भक्तोंको बुलाकर सब सामान लुटा दिया और जुलाहेका काम छोड़कर प्रभुके प्रेमानन्दमें मग्न हो भजन करनेमें प्रवृत्त होगए। ब्राह्मणोंने यह देखा, तो उनका धैर्य जाता रहा और क्रोधमें भरकर सब-के-सब कबीरदासजीके दरवाजेपर आकर बोले—"क्यों रे जुलाहे! तुझे इतना धन मिला, पर तूने हमारी बात भी नहीं पूछी और सब वैरागी शूद्रोंको खिला-पिला कर समाप्त कर दिया!"

भक्ति-रस-बोधिनी

"क्यों जू उठि जाऊँ? कछु चोरी धन ल्याऊँ, नित हरि-गुन गाऊँ, कोऊ राह मैं न मारी है।"
"जन कौं लै मान कियो, याहि में अमान भयो, दयो जोपै जाय हमैं तौ ही तो जियारी है॥"
"घर में तो नाहिं, मंडी जाऊँ, तुम रहो बैठे," नीठि कै छुड़ायो पैंड़ो, छिपे व्याधि टारी है।
आये प्रभु आप द्रव्य ल्याये समाधान कियो, लियो सुख, होय भक्त-कीरति उजारी है॥२७३॥

अर्थ—कबीरदासजीने उत्तरमें ब्राह्मणोंसे कहा—"क्या आप लोगोंका अभिप्राय यह है कि मैं यहाँसे चला जाऊँ ? मैं किसीकी चोरी करके तो धन लाता नहीं हूँ और न राहजनी करता हूँ। मैं तो भगवानका गुणानुवाद करता हूँ और उसीमें मस्त रहता हूँ।"

ब्राह्मणोंने कहा—"तुमने वैरागियोंका सम्मान किया, यही हमारा सबसे बड़ा अपमान है। अब यदि तुम हमें कुछ दे सकते हो, तभी तुम्हारा जीवन सुरक्षित रह सकता है; अन्यथा नहीं।"

कबीरदासजीने कहा—"घरमें तो आप लोगोंको देनेके लिए कुछ भी नहीं है। यदि आप कुछ समय तक ठहरे रहें और प्रतीक्षा करें, तो बाजारसे कुछ ला सकता हूँ।"

यह कह कर कबीरदासजीने बड़ी कठिनाईसे अपना पीछा छुड़ाया और बाजारका नाम लेकर कहीं जाकर छिप गए। इस बीचमें भगवान स्वयं कबीरदासजीका रूप रखकर आये और ब्राह्मणोंको सन्तुष्ट किया। प्रभुने इसमें बड़ा आनन्द माना कि मेरे भक्तकी कीर्ति चारों ओर धीरे-धीरे फैल रही है (और इसीलिये आप अपने भक्तकी बातको पूरा करनेके लिए आए)।

भक्ति-रस-बोधिनी

ब्राह्मन को रूप धरि आये छिपि बैठे जहाँ, "काहे को मरत भीम आवो जू कबीर के।
कोऊ जाय द्वार ताहि देत है अढ़ाई सेर, बेर जिन लावो चले जावो यों बहीर के॥
आये घर माँझ देखि निपट मगन भये, नये-नये कौतुक ये कैसें रहैं धीर के"।
बारमुखी लई संग मानों वाही रंग रँगे, जानो यह बात करी डर अति भीर के॥२७४॥

अर्थ—कबीरजीके दरवाजेपर प्रत्येक ब्राह्मणको ढाई सेर सामान देनेके बाद भगवान उस स्थानपर पहुँचे जहाँ कबीरदासजी छिपे बैठे थे। वहाँ पहुँचकर उनसे कहने लगे—"यहाँ पड़ा-पड़ा भूखों क्यों मरता है ? कबीरके घर जा। वह, जो कोई उसके दरवाजेपर पहुँच जाता है, उसे ढाई सेर अन्न देता है। इसलिए देर करनेकी जरूरत नहीं। जल्दी जा।"

कबीरदास घर पहुँचे, तो भगवानकी मायाका खेल देखकर बड़े आनन्दित हुए। लेकिन भगवानकी कृपासे इस बढ़ते हुए वैभव और यशको देखकर कबीरदासजी धैर्य कैसे रख सकते थे ? उनके लिए तो यह सब प्रपञ्च था जिसमें कि वे किसी प्रकार भी फँसना नहीं चाहते थे। इसलिये उन्होंने नये-नये कौतुक रचने प्रारम्भ कर दिए। आपने एक वेश्याको अपने साथ ले लिया और इस प्रकारके आचरण करने लगे मानों भजन-ध्यान सब छोड़कर उसीके रंगमें रँग गए हों। लेकिन सच बात यह थी कि घरपर आने-जाने वालोंकी भीड़से छुटकारा पाने के लिए ही आपने ऐसा किया था, ताकि लोग इन्हें हरि-विमुख अथवा कुमार्गगामी समझ कर इनसे घृणा करने लगें।

भक्ति-रस-बोधिनी

संत देखि डरे, सुख भयोई असंतनि के, तब तो विचार मन माँझ और आयो है।
बैठो नृप-सभा जहाँ गये पै न मान कियो, कियो एक चोज उठि जल ढरकायो है ॥
राजा जिय सोच परयो, करयो कहा ? कह्यो तब जगन्नाथ पंडा पाँव जरत बचायो है ।
सुनि अचरज भरे नृप ने पठाये नर, ल्याये सुधि, कही आजु साँच ही सुनायो है ॥२७५॥

अर्थ—कबीरदासजीको वेश्याकी संगतिमें देखकर साधु-सन्त डर गए, (उन्होंने सोचा कि कबीर–जैसे महात्मा भी यदि इस प्रकार पतित हो सकते हैं, तो साधारण साधुओं की तो प्रभु ही रक्षा करे) और दुष्ट बड़े प्रसन्न हुए (यह सोचकर कि महात्मा-नाम-धारी एक व्यक्तिके पाखण्डका भण्डाफोड़ होगया) ।

अब कबीरदासजीके मनमें एक और बात आई। वे उस जगहपर गए जहाँ राजाका दरबार लगा हुआ था और बैठ गए। राजाने कबीरदासजीका तनिक भी आदर नहीं किया। तब उन्होंने एक आश्चर्य-जनक काम किया। अपने पात्रमें से थोड़ा-सा जल जमीनमें उड़ेल दिया। राजाने कुछ चिन्तित होकर पूछा—"यह क्या किया ?" कबीरदासजीने कहा—"श्रीजगन्नाथजीके मन्दिरमें जगन्नाथ पंडाका पैर जलनेको था, इसलिए आग बुझाकर मैंने उसे बचा लिया है।" यह आश्चर्य-जनक बात सुनकर राजाने परीक्षा करनेके लिए उसी समय जगन्नाथपुरीको आदमी दौड़ाए। उन्होंने आकर खबर दी कि कबीरदासजीका कथन सत्य था।

भक्ति-रस-बोधिनी

कही राजा रानी सो "जु बात वह साँची भई, आँच लागी हिये अब कहो कहा कीजियै ।"
चले ही बनत चले, सीस तृण बोझ भारी, गरे सों कुल्हारी बाँधि, तिया संग भीजियै ॥
निकसे बजार ह्वै कै डारि दई लोक-लाज, कियौ मैं अकाज छिन-छिन तन छीजियै ।
दूर ते कबीर देखि, ह्वै गये अधीर महा, आये उठि आगे कह्यो, डारि मति रीझियै ॥२७६॥

अर्थ—राजा रानीसे कहने लगा—"कबीरदासजीकी बात तो सच निकली। अब बताओ (एक हरि-भक्तके वचनोंपर विश्वास न करनेके अपराधसे बचने का) उपाय क्या है ? पश्चात्तापकी आग मेरे अन्तःकरणमें धक्-धक् करके जल रही है।"

रानीने कहा—"कबीरदासजीकी शरणमें आए बिना कुछ बात नहीं बनेगी।"

ऐसा निश्चय कर सिरपर घासका एक भारी गट्ठा रखकर और गलेमें कुल्हाड़ी बाँधकर राजा स्त्रीके साथ घरसे चल दिये। दोनों स्त्री-पुरुष लोक-लज्जाका विचार छोड़कर बाजारमें से होकर गुजरे। मिलनेवाले लोगोंसे राजा कहते जाते थे—"कबीरदासजीका अपमान कर मैंने बड़ा बुरा काम किया है। इसी दुःखमें मेरा शरीर प्रतिक्षण तेज-रहित और बल हीन होता जा रहा है।"

कबीरदासजीने दूरसे राजाको आते हुए देखा, तो आप विकल हो उठे। उन्होंने आगे

कहकर राजासे कुल्हाड़ीको दूर फिकवा दिया और अनेक प्रकारके उपदेशों द्वारा उन्हें आनन्दित करके यह प्रकट कर दिया कि मैं तुमसे रुष्ट नहीं हूँ।

भक्ति-रस-बोधिनी

देखि कै प्रभाव फेरि उपज्यौ अभाव द्विज, आयौ पातसाह सौं सिकन्दर सुनाँव है।
बिमुख समूह संग, माता हू मिलाय लई, जाय कै पुकारे जू दिखायौ सब गाँव है॥
"ल्यावो रे पकरि वाके देखौं मैं मकर कैसो, अकर मिटाऊँ, गाढ़े जकर तनाव है"।
आनि ठाढ़े किये, काजी कहत सलाम करौ, जानैं न सलाम, जानें राम, गाढ़े पाँव है॥२७७॥

अर्थ—कबीरदासजीका ऐसा प्रभाव देखकर ब्राह्मणोंके हृदयमें फिर ईर्ष्या पैदा हुई। काशीके राजाको कबीरदासजीके वशमें देखकर इस बार वे भारतके तत्कालीन बादशाह सिकन्दर लोदीके पास पहुँचे। लोदी उस समय काशीमें आया हुआ था। विरोधी ब्राह्मणोंने कबीरदास की माताको भी अपने पक्षमें तोड़ लिया और फिर सबने इकट्ठा होकर लोदीके दरबारमें पुकार की—"इस कबीरके कारण सारा गाँव दुखी है।" बादशाहने आज्ञा दी—"उसको पकड़ कर हमारे सामने लाओ। हम उसके मकड़ (पाखण्ड) को देखेंगे और सिगड़ीमें जलाकर सब अकड़ (घमंड) दूर कर देंगे।"

बादशाहकी आज्ञासे कबीरको लाया गया। काजीने कहा—"बादशाह सलामतको सलाम करो!"

कबीरदासजीने कहा—"हम सिवा रामके किसी औरको सलाम करना नहीं जानते।" और यह कहकर उन्होंने अपने पैर गाड़ दिए—अर्थात् जो कुछ कहा था, उसपर दृढ़ बने रहे।

इस प्रसंगपर निम्नलिखित एक सुन्दर कवित्त प्रचलित है—

बिमुखन मुख निंदा सुनि-सुनि कै सिकन्दर ने पकरि मँगाए आप आये ताहि ठाम है।
कही काजी पाजी सुनों ये महा मिजाजी, करौ सिर को झुकाय बादशाहको सलाम है॥
बोले श्री कबीर रस राम कहैं धीर उर ध्याय रघुबीर जन पीर हारी नाम है।
जानौं न सलाम कहौं साँची मैं कलाम बात दूसरी हराम जग जानौं एक राम है॥

भक्ति-रस-बोधिनी

बाँधि कै जंजीर गंगा-नीर माँझ बोरि दिये, जिये तीर ठाढ़े, कहैं 'जंत्र-मंत्र आवहीं'।
लकरीन माँझ डारि अगिनि प्रजारि दई, नई मानों भई देह कंचन लजावहीं॥
बिफल उपाय भये, तऊ नहीं पाय नये, तब मतवारो हाथी आनि कै झुकावहीं।
आवत न ढिग औ चिघारि हारि भाजि जाय, आपु आगे सिंह रूप बैठे सो भगावहीं॥२७८॥

अर्थ—सिकन्दर लोदीने कबीरदासजीको लोहेकी संकलोंसे बँधवा कर गंगाजीकी धारा में डुबा दिया, लेकिन उनका कुछ भी न बिगड़ा। वे गंगाजीकी धारमेंसे निकल कर किनारेपर आकर खड़े दिखाई दिए—लोहेकी जंजीरें न-जाने कैसे टूट गईं।

बादशाहने कहा—"अवश्य यह कोई मन्त्र-तन्त्र जानता है !"

इसके बाद कबीरदासजीको लकड़ियोंसे ढककर आग लगा दी गई, किन्तु आप उसमेंसे भी दूनी कान्ति धारण किए हुए बाहर निकल आये। सुवर्णकी भाँति उनका शरीर चमक रहा था, मानों नूतन शरीर मिल गया हो। जब कबीरदासजीको मारनेके सब प्रयत्न व्यर्थ सिद्ध हुए और उन्होंने बादशाहके सामने सिर झुकानेसे मना कर दिया, तो एक मस्त हाथी लाकर उनपर छोड़ दिया गया। हाथी भी आपके पास नहीं आया, बल्कि चिंघाड़ मारकर भाग गया। कबीरदासजी हाथीको ऐसे दिखाई दिए जैसे सिंह बैठा हो।

प्रभुके चरणोंमें दृढ़-विश्वास होनेसे जीवमें इस प्रकारकी शक्तियाँ पैदा हो जाती हैं कि सांसारिक क्लेश उसके शरीरको छू नहीं पाते। तुलसीदासजी कहते हैं—

बने तो रघुबर सों बने, बिगरे तो भरपूर।
'तुलसी' औरन सों बने, ता बनिबे में धूर॥
कोटि विघ्न सिर पै रहैं, कोटि दुष्ट कौ साथ।
तुलसी कछू न करि सकैं, जो सहाय रघुनाथ॥

भक्ति-रस-बोधिनी

देख्यो बादशाह भाव, कूदि परे गहे पाँव, देखि करामात मात भये सब लोग हैं।
प्रभु पै बचाय लीजै हमें न गजब कीजै, दीजै जोई चाहो गाँव देस नाना भोग हैं॥
चाहैं एक राम जाको जपैं आठो जाम, और दाम सों न काम जामें भरे कोटि रोग हैं।
आये घर जीति, साधु मिले करि प्रीति, जिन्हैं हरिकी प्रतीति वेई गाइबे कौ जोग हैं॥२७६॥

अर्थ—बादशाहने कबीरदासजीका ऐसा प्रभाव देखा, तो सिंहासनसे कूद कर उनके पैरों पर गिर पड़ा और कहने लगा—"खुदाके कहरसे मुझे बचाइए; बदलेमें मैं आपको गाँव, नगर प्रान्त तथा तरह-तरहके ऐशो-आरामके साधन दूँगा।"

कबीरदासजीने उत्तर दिया—"हमें तो केवल 'राम' चाहिए। आठों पहर हम उसीको जपते हैं। हमें उस धनसे कोई प्रयोजन नहीं जिसमें हजारों अवगुण भरे रहते हैं।"

बादशाहने सम्मान-पूर्वक कबीरदासजीको विदा किया और वे इस प्रकार बादशाहके अत्याचारोंपर विजय प्राप्त कर अपने घर लौटे। साधु-सन्त बड़े प्रेमसे आपसे मिले। वास्तवमें उन्हीं महात्माओंकी कीर्तिका गान करना उचित है जिनका भगवानके चरणोंमें अटूट विश्वास है।

कबीरदासजीके विश्वासके साथ श्रीतुलसीदासजीकी राम-चरणोंमें दृढ़ प्रतीतिकी तुलना करिए—

जानकी-जीवन की बलि जैहौं॥
चित कहै राम-सीय-पद परिहरि, अब न कहूँ चलि जैहौं।
उपजी उर प्रतीति सपनेहुँ सुख, प्रभु-पद बिमुख न पैहौं॥

मन समेत या तन के बासिन यही सिखावन दैहौं।
स्रवनन और कथा नहिं सुनिहौं, रसना और न गैहौं॥
रोकहिं नयन बिलोकत औरहि सीस ईस ही नैहौं।
यह छर-भार ताहि "तुलसी" जग जाकौ दास कहैहौं॥

भक्ति-रस-बोधिनी

होय कै खिसाने द्विज निज चारि विप्रनि के मूड़नि मुड़ायो भेष सुन्दर बनाये हैं।
दूर-दूर गाँवनि में नावनि को पूछि-पूछि, नाम लै कबीरजू को झूठें न्योंति आये हैं॥
आये सब साधु सुनि एतो दूरि गये कहूँ चहूँ दिसि संतनि के फिरें हरि धाये हैं।
इनहीं को रूप धारि न्यारो-न्यारो ठौर बैठे एक मिलि गये नीके पोषि के रिझाये हैं॥२८०॥

अर्थ—अब ब्राह्मणोंने खिसियाकर दूसरी चाल चली। उन्होंने अपनेमेंसे चार ब्राह्मणोंके सिर मुँड़वाकर और उन्हें वैरागीके कपड़े पहिनाकर दूर-दूरके गाँवोंमें भेज दिया। ये लोग साधुओं का नाम पूछ-पूछकर कबीरदासकी ओर से उन्हें झूठा न्यौता दे आए (कि कबीरदासके यहाँ अमुक दिन भण्डारा होगा; सब लोग पधारें)।

अपने दरवाजेपर साधुओंको जमा होते देखकर कबीरदासजी कहीं दूर जाकर छिप गये। भगवानने जब यह देखा तो आप दौड़कर वहाँ पहुँचे और अपनी मायाके प्रभावसे सबके आदर-सत्कार और भोजनादिकका प्रबन्ध किया। साधु लोग कई स्थानोंपर बैठकर भोजन कर रहे थे, अतः भगवान कबीरदासजीके कई रूप बनाकर उनके बीचमें बैठ गये। इन्हींमें असली कबीरदास भी आकर मिल गए। इस प्रकार प्रभुने सब सन्तोंको भलीभाँति खिला-पिला कर और प्रसन्न करके विदा किया।

भक्ति-रस-बोधिनी

आई अपछरा छरिबे के लिये, बेस किये, हिये देखि गाढ़े, फिरि गई, नहीं लागी है।
चतुर्भुज रूप प्रभु आनि कै प्रगट कियो, लियो फल नैननि कौ, बड़ो बड़भागी है॥
सीस धरे हाथ तन साथ मेरे धाम आवौ, गावौ गुण, रहौ जौलौं तेरी मति पागी है।
'मगहू' में जाय, भक्ति-भावको दिखाय, बहु फूलनि मँगाय, पौढ़ि मिल्यौ हरि रागी है॥२८१॥

अर्थ—एक अप्सरा सुन्दर वस्त्र-आभूषणोंसे सजकर कबीरदासजीको मोहित करने आई, लेकिन उनके हृदयकी अगाढ़ भक्तिको देखकर निराश होकर लौट गई और उसने फिर कोई प्रयत्न नहीं किया। कबीरदासजीकी साधनाको अब पूर्ण जानकर भगवानने चतुर्भुजरूपसे आपको दर्शन दिये। भगवानको अपने सम्मुख पाकर कबीरदासजीके नेत्र सफल होगये और उन्होंने अपनेको बड़ा सौभाग्यशाली माना। भगवानने अपने हस्त-कमलको कबीरदासजीके मस्तकपर रखते हुए कहा—"जब तक इस मर्त्य-लोकमें रह कर मेरा गुणानुवाद करते हुए रहना चाहो, रहो; बादमें इस शरीर-सहित मेरे परम-धाम वैकुण्ठमें आ जाना।"

(संवत् १५४९ वि० में) कबीरदासजी मगहर चले गए और वहाँ रहकर आपने भगवद्-भक्तिका प्रचार किया। शरीर छोड़नेसे पूर्व आपने बहुत-से फूल मँगाए और उनपर लेट कर (एक सादा वस्त्रसे शरीरको ढककर) आप परम-धामको प्राप्त हुए।

अप्सरा-सम्बन्धी पद—अप्सराको सम्बोधित करते हुए कबीरदासजीने जो पद कहा था वह इस प्रकार है—

तुम घर जावो मेरी बहिना।
यहाँ तिहारी लैना न दैना, राम बिना बिष लागें ये नैना॥
जगमगात पट भूषन सारी उर मोतिन के हार।
इन्द्रलोक ते मोहन आई मोहि करन भरतार॥
इन बातन कौं छाँड़ि देहु री! गोबिंद के गुन गावो।
तुलसी माला क्यों नहिं पहिरो बेगि परम पद पावो॥
इन्द्रलोक में टोट परयो है, हम सो और न कोई।
तुम तो हमें डिगावन आई जाहु दई की खोई॥
बहुते तपसी बाँधि बिगोये कच्चे सूत के धागे।
जो तुम जतन करो बहुतेरा जल मैं आगि न लागे॥
हौं तो केवल हरि के सरनें तुम तो झूँठी माया।
गुरु परताप साधु की संगति मैं जु परम पद पाया॥
नाम कबीरा जाति जुलाहा गृह बन रहौं उदासी।
जो तुम मान महत करि आई तो इक माई दूजे मासी॥

विशेष विवरण—कबीरदासजी के जन्म-संवत् के विषयमें हिन्दीके विद्वानोंमें कई मत प्रचलित हैं। श्रीपीताम्बरदत्त बड़थ्वालके अनुसार जन्म-सम्वत् १४२७ और मृत्यु-सम्वत् १५०५ है। श्रीचन्द्रबली पाण्डेय के अनुसार वह १४५६-१५५२ है। डा० श्यामसुन्दरदासके अनुसार जन्म सम्वत् तो १४५६ ही है, किन्तु मृत्यु-सम्वत् १५७५ है। अन्तिम मत ही प्रायः सर्वमान्य है।

कबीरके जन्मके सम्बन्धमें एक किंवदन्ती यह प्रचलित है कि वे स्वामी रामानन्दजी के आशीर्वाद से एक विधवा ब्राह्मणीके गर्भसे पैदा हुए थे। लोक-निन्दाके भयसे ब्राह्मणी नव-जात शिशुको लहरतारा के तालाबके पास फेंक आई। नीरू और नीमा नामक एक जुलाहा-दम्पतीको यह बच्चा पड़ा हुआ मिल गया और उन्हीं दोनोंने इनका पालन-पोषण किया। इस किंवदन्ती का कोई प्रमाण नहीं मिलता। बहुत सम्भव है, कबीरपर स्वामी रामानन्दजीके प्रभाव ही के कारण यह किंवदन्ती प्रचलित हो गई हो। हालमें हुई खोजोंसे पता चला है कि जिस परिवारमें कबीरदासका जन्म हुआ था वह कुछ पीढ़ियों पूर्व ही मुसल्मान धर्ममें दीक्षित हुआ था और वह परिवार नाथों और योगियोंसे प्रभावित भी था। फल-स्वरूप इस परिवारके लोगोंकी वर्णाश्रम-धर्ममें आस्था नहीं थी। कबीरदासजी भी इन संस्कारोंसे मुक्त न रह सके।

कबीरका जन्म-स्थान काशी था, यह निर्विवाद है। उन्होंने एक ब्राह्मणको ललकारते हुए कहा है—"तू बाँभन मैं काशीका जुलाहा, बूझहु मोर गियाना।" उन्होंने यह भी कहा है—

काशी में हम प्रगट भये हैं रामानन्द चिताए।

कहते हैं, कबीरका विवाह भी हुआ था। 'लोई' नामकी स्त्री जिसे एक बनखण्डी वैरागीने लोई में लिपटा हुआ पाया था, उनकी पत्नी थी जिससे 'कमाल' नामक एक पुत्र पैदा हुआ था। एक स्थान पर कबीरने कहा है—

मेरी बहुरिया को धनिया नाउँ लै राखो रमजनिया नाउँ।

ऐसा प्रतीत होता है कि अपने पुत्रके आचरणोंसे कबीर सन्तुष्ट नहीं थे। इसीलिए उन्होंने कहा था—

बूड़ा बंस कबीर का उपजा पूत कमाल।
हरि का सुमिरन छाँड़ि कै घर ले आया माल॥

कबीरदासको रामानन्दजीका शिष्य माना जाता है और कबीर स्वयं इसे स्वीकार भी करते हैं, पर उनके सिद्धान्त रामानन्दजीसे भिन्न थे। मुसलमान इन्हें शेख तक़ीका शिष्य मानते हैं। यह बात ठीक नहीं मालूम देती। सम्भव है, वे शेख तक़ीके सम्पर्कमें आए हों, पर कबीर यदि शेख तक़ीके शिष्य होते, तो वे यह न कहते—

घट-घट है अविनासी सुनहु तक़ी तुम शेख।

कबीरने भ्रमण बहुत किया था, यह उनकी रचनाओंसे स्पष्ट है। वे उन साधकोंमेंसे न थे जो सामाजिक जीवनसे एकदम विरक्त रहते हैं। कबीरने व्यावहारिक जीवनसे प्रेरणा और शिक्षा ग्रहण की थी और उसे अपनी कविता द्वारा लोक-कल्याणके लिए अभिव्यक्त भी किया था।

कबीरके जीवनका अधिकांश काशीमें ही बीता था, पर मरनेसे पूर्व वे मगहर चले गए जहाँ पर, रूढ़िवादके अनुसार, मरनेवालेको नरकगामी होना पड़ता है। यहीं कबीरने मगहर जाते समय कहा था—

जो काशी तन तजै कबीरा रामहिं कौन निहोरा।

कबीरके समयकी परिस्थितियाँ—कबीरका आविर्भाव ऐसे समयमें हुआ था जब कि धार्मिक-जगतमें व्यवस्था नामक कोई चीज रह नहीं गई थी। लोगोंकी अपनी-अपनी डफली थी और अपना-अपना राग। एक ओर नाथ और सिद्ध-साधक अपनी अटपटी और रहस्यमयी वाणीमें 'अलख' जगा रहे थे, तो दूसरी ओर वैष्णव अपने कर्मकाण्ड और बाह्य आचारोंको ही जीवनका सर्वोपरि मर्म समझ बैठे थे। सम्प्रदायवादियोंके हाथमें भारतकी धर्मप्राण जनता कठपुतली होरही थी। सम्प्रदायों और उपसम्प्रदायोंकी कोई गिनती न थी। कबीरने युग की इन परिस्थितियोंका अध्ययन किया और गुरु-कृपासे सच्चे मार्गको पहिचाना। वे स्वाधीन कलाकार थे। उनके अन्तःकरणने जिस बातको सत्य कहा, उसका उन्होंने निर्भय होकर प्रतिपादन किया। कविता करना उनका लक्ष्य नहीं था—वह तो मात्र एक माध्यम था। फिर भी सूक्ष्म-से-सूक्ष्म आध्यात्मिक तत्त्वोंको कबीरने जिस सुगमतासे व्यक्त किया, वह (तुलसीदासजीको छोड़ कर) परवर्ती कवियोंके लिए सम्भव न हो सका।

कबीरदासजीके सिद्धान्त—कबीरदासजी बहुश्रुत थे। उन्होंने वैष्णव, सूफ़ी, नाथपन्थी आदि

सभी मतोंको समझा और उसके उपरान्त अपने अनुभवके आधारपर ब्रह्म, जीव आदिके सम्बन्धमें अपने सिद्धान्त निश्चित किये। कबीरके सिद्धान्तोंपर मतमतान्तरोंका प्रभाव स्पष्टरूपसे परिलक्षित होता है, पर उन्होंने अपनेको किसी मत-विशेषसे बाँधा नहीं।

कबीरके आराध्य निराकार और साकारसे परे हैं। सगुणकी पूजाकी जाती है, निर्गुणका नाम लिया जाता है, किन्तु ध्यान करनेके योग्य तत्त्व सगुण और निर्गुण दोनोंसे परे है। वह है परब्रह्म। यह परब्रह्म न किसीका पुत्र है, न पिता। त्रिगुणात्मक मायासे यह परे है—एक चिन्मय सत्ता है जो कि अगम, अगोचर और सर्वव्यापी है—

जो दीसै सो तो है नाहीं, है सो कहा न जाई।
सैना-बैना कहि समझाऊँ, गूँगे का गुर भाई॥
कोई ध्यावे निराकार को, कोई ध्यावे साकारा।
वह तो इन दोउन ते न्यारा, जाने जाननहारा॥

कबीरके ईश्वरका रूप पैगम्बरी खुदावादसे भिन्न है। वह साकार भी है; निराकार भी है, दूर है, फिर भी हमारे अत्यन्त निकट है—'है हजूर कत दूर बतावौ।' वह न द्वैत है, न अद्वैत; न सगुण है, न निर्गुण। संख्या और गुणकी सीमायें उसे बांध नहीं सकतीं। सर्वव्यापी होनेके कारण उसे निर्गुण नहीं कहा जा सकता; त्रिगुण (सत्व, रजस्, तमस्) उसके गुणोंको व्यक्त नहीं कर पाते, अतः उस अर्थमें वह सगुण नहीं है जिस अर्थमें साधारणतः इस शब्दका प्रयोग किया जाता है।

ब्रह्मके सच्चे स्वरूपको पहिचाना नहीं जा सकता है। केवल वाक्य-ज्ञान इसमें समर्थ नहीं है। वेद और पुराणोंके लिए वह अगम है। अविद्या-रूपी माया साधनके मार्गमें एक बड़ी बाधा है। इस मायाका निराकरण सद्गुरुकी कृपासे ही किया जा सकता है। उसे 'हद्द छाँड़ि बेहद' में जाना पड़ता है जहाँ आनन्द-रसकी निरन्तर वर्षा होती रहती है। यही आनन्द कबीरको प्राप्य है। इसका साधन है मायाके भ्रमको तोड़ कर विशुद्ध मनसे निर्गुण ब्रह्मके प्रति प्रेममय भक्ति करना।

ऊपर किये गए विवेचनसे यह स्पष्ट है कि कबीर भारतीय अद्वैतवादके समर्थक थे और जीवको परमात्मासे पृथक् नहीं मानते थे। मायाच्छन्न जीव अपनेको परमात्मासे पृथक् समझता है, परन्तु मायाका व्यवधान दूर होते ही दोनोंका मिलन हो जाता है—

उठा बगूला प्रेम का, तिनका उड़ा अकास।
तिनका तिनका से मिला, तिनका तिनके पास॥

कबीरने मायाको बहुत भला-बुरा कहा है। उनकी दृष्टिमें इस ठगिनीका कार्य जीवको परमात्मा से अलग रखना है—

माया महा ठगिनि हम जानी।
तिरगुन फांस लिये कर डोलै, बोलै मधुरी बानी॥
केशव के कमला ह्वै बैठी, शिव के भवन भवानी।
पंडा के मूरति ह्वै बैठी, तीरथ में भई पानी॥

योगी के योगिन ह्वै बैठी, राजा के घर रानी।
काहू के हीरा ह्वै बैठी, काहू के कौड़ी कानी॥
भक्तन के भक्तिनि ह्वै बैठी, ब्रह्मा के ब्रह्मानी।
कहै कबीर सुनो हो संतों, यह सब अकथ कहानी॥

कबीरका कहना था कि प्रभुके नाम-स्मरणमें ही सब संसारको भूलकर अपना ध्यान केन्द्रित करना चाहिए। काठकी मालासे साँसकी माला फेरना अधिक अच्छा है। ईश्वरमें मन लगानेका एकमात्र यही उपाय है—

सुमिरन सुरत लगाय के, मुखते कछू न बोल।
बाहर के पट देइ के, अन्दर के पट खोल॥
कबिरा माला काठ की, बहुत जतन का फेर।
माला स्वाँस उसाँस की, जामें गाँठ न मेर॥

अपने 'सबदों' (शब्दों) में कबीरने साम्प्रदायिकतापर कठोर प्रहार किए हैं। वे कर्मकाण्ड (तीर्थ, व्रत, रोजा, नमाज) को सारहीन मानते हैं। हिन्दू और मुसलमान दोनोंको फटकारते हुए वे कहते हैं—

संतों, राह दोऊ हम दीठा।
हिन्दू तुरक हटा नहिं मानें, स्वाद सबन को मीठा॥
हिन्दू बरत एकादसि साधैं, दूध सिंघाड़ा सेती।
अन को त्यागे, मन नहिं हटकै, पारन करें सगोती॥
रोजा तुरक नमाज गुजारैं, बिसमिल बाँग पुकारैं।
उनको भिस्त कहाँ ते होइ है, साँझे मुरगी मारैं॥
× × ×
हिन्दू तुरक की एक राह है, सत गुरु इहै बताई।
कहहिं कबीर सुनो भाई संतों, राम न कहेउ खोदाई॥

मूल (छप्पय)

(श्रीपीपाजी)

प्रथम भवानी भक्त मुक्ति माँगन को धायो।
सत्य कह्यो तिहिं सक्ति सुदृढ़ हरि सरन बतायो॥
(श्री) रामानँद पद पाइ भयो अति भक्ति की सींवाँ।
गुन असंख्य निर्मोल संत धरि राखत ग्रीवाँ॥
परसि प्रनाली सरस भइ सकल बिस्व मंगल कियो।
पीपा प्रताप जग बासना नाहर कौं उपदेस दियो॥६१॥

अर्थ—प्रारम्भमें श्रीपीपाजी भवानी देवीके भक्त थे। एक दिन आपने अत्यन्त आतुर होकर देवीसे मोक्ष माँगी। देवीने सत्य (प्रत्यक्ष) दर्शन देकर आपको श्रीहरिकी शरणमें जानेका उपदेश दिया। श्रीस्वामी रामानन्दजीके चरण-कमलोंका आश्रय लेकर पीपाजी भक्तिकी चरम सीमापर पहुँच गए। हरि-भक्तिके प्रभाव तथा गुरु-कृपासे आपके हृदयमें असंख्य अमूल्य गुणोंका विकास हुआ जिसके फल-स्वरूप आप संतोंको अपने गलेका हार बनाकर रखते थे। गुरुदेवके संपर्कमें आकर आपने साधनाकी अत्यन्त सरस रीतिकी उद्भावना की और समस्त संसारका कल्याण किया। आपकी भक्तिका प्रभाव सारे संसारको विदित है। आपने एक ऐसी जातिके सिंहको अपना शिष्य बनाया जो बहुत दूरसे मनुष्यकी गंध (वासना) पा लेता है और फिर उसे मारकर खा जाता है। अथवा—आपके प्रतापकी गन्ध समस्त संसारमें फैल गई और आपने एक सिंहको उपदेश देकर उसे विनीत बनाया।

भक्ति-रस-बोधिनी

गागरौन गढ़ बड़ पीपा नाम राजा भयो, लयो पन देवी-सेवा, रंग चढ़यौ भारियै।
आये पुर साधु, सीधो दियो, जोई सोई लियो, कियो मन माँझ प्रभु बुद्धि फेरि डारियै॥
सोयो निसि, रोयो देखि सुपनो बेहाल अति, प्रेत विकराल देह भारि कै पछारियै।
अब न सुहाय कछू, वहू पायँ परि गई, नई रीति भई, चाहि भक्ति लागी प्यारियै॥२८८॥

अर्थ—गागरौन नामक नगरमें एक विशाल गढ़ (किला) था। वहाँ पीपा नामका एक राजा राज्य करता था। वह देवीका भक्त था और उसीकी उपासनामें लगा रहता था। एक दिन साधुओंकी एक टोली उस नगरमें आई। राजाने संतोंका बड़ा सत्कार किया और उनके लिए भोजन-सामग्री पहुँचाई। राजाने भक्ति-पूर्वक जो कुछ दिया, साधुओंने उस सबको अत्यन्त कृतज्ञताके साथ स्वीकार किया और बड़े संतुष्ट हुए। सत्कारके बदलेमें साधुओंने भगवानसे प्रार्थना की कि वे राजाकी बुद्धि बदलें ताकि उसे वास्तविक (भक्तिके रहस्यका) ज्ञान मिले। रात होने पर राजा जब सो गया तो उसने एक भयानक स्वप्न देखा कि एक भयंकर प्रेतने उसे पृथ्वीपर पछाड़ दिया है। इस स्वप्नके कारण राजा घबड़ा गया। तब देवीने प्रत्यक्ष दर्शन देकर राजासे उसके भयका कारण पूछा। राजाने सब बात कह सुनाई और कहा कि मुझे इन सबसे मुक्ति चाहिए। इसपर देवीने कहा—"और कुछ धन-धान्य, राज-ऐश्वर्य आदि माँगो।" राजाने कहा—"अब मुझे और कुछ नहीं चाहिए। मुझे तो केवल मुक्तिकी ही आवश्यकता है।" इसपर देवी अपने आपको मुक्ति देनेमें अयोग्य मानकर राजासे अत्यन्त दीनता-पूर्वक बोली—"मुक्ति देनेकी शक्ति मेरे अन्दर नहीं है। वह तो भगवानकी कृपासे प्राप्त हो सकती है।"

यह राजाके लिए एक नई बात थी। अपनी परमाराध्या देवीके मुँहसे ऐसी बात सुनकर उसी क्षणसे उसे भक्ति अत्यन्त प्यारी लगने लगी।

यहाँ पर यह शंका उठाई जा सकती है कि दर्शन देनेसे पूर्व देवीने राजाको भयंकर रूप क्यों दिखलाया और हरि-भक्तिका उपदेश देने तथा प्रेत द्वारा राजाके पछाड़े जानेमें क्या पारस्परिक सम्बन्ध है ?

इसका संभवतः यही समाधान है कि देवी राजाको यह शिक्षा देना चाहती थी कि इतने समय तक शक्तिकी आराधना करनेके बाद भी राजा इतना अशक्त बना रहा कि जागृत अवस्थाकी बात तो दूर रही, स्वप्नमें एक प्रेतने उसपर आक्रमण करके उसे परास्त कर दिया। स्वप्न जैसे मिथ्या है, उसी प्रकार प्रेत भी एक भ्रम है। राजाको जब इन भौतिक भ्रमोंसे ही मुक्ति नहीं मिली तो देवीकी कृपासे आध्यात्मिक मुक्ति कैसे मिल सकती थी ? इसका एकमात्र उपाय तो भगवानकी उपासना करना है, न कि और किसी देवी-देवता की। वे कितने निर्बल हैं, यह देवीने स्वप्नमें प्रेतकी घटनाकी सृष्टिद्वारा सिद्ध कर दिया।

इस घटना द्वारा यह भी सिद्ध होता है कि वैष्णव-धर्ममें जिस अनन्यताकी आज प्रधानता है, उसके बीज बहुत प्राचीन कालमें विद्यमान थे। यह कोई नई चीज नहीं है।

भक्ति-रस-बोधिनी

पूछ्यो हरि पायबे कौ मग अब, देवी कही, सही रामानन्द गुरु करि प्रभु पाइये।
लोग जानें बौरो भयौ, गयौ यह काशीपुरी, फुरी मति अति, आये जहाँ हरि गाइये॥
द्वार में न आने देत, आज्ञा ईश लेत, कही राज सों न हेत, सुनि सब ही लुटाइये।
कह्यो "कुवाँ गिरो," चले गिरन प्रसन्न हिये, लिये सुख पायो एपाय दरस दिखाइये॥२८३॥

अर्थ—राजाने देवीसे जब हरिको प्राप्त करनेका उपाय पूछा, तो देवीने आज्ञा की कि स्वामी रामानन्दजीको गुरु बनाओ और तब तुम्हें प्रभु मिलेंगे। राजा सब काम-काज छोड़ कर काशीको चल दिए। उनके इस प्रकार अकस्मात् चल देनेसे लोगोंको शङ्का होने लगी कि राजा कहीं पागल तो नहीं हो गए हैं। काशीपुरीमें राजा स्वामी रामानन्दजीके आश्रममें पहुँचे जहाँ कि हरि-कीर्तन चल रहा था। राजाने भी उसमें भाग लिया। फलस्वरूप उनकी बुद्धि एकदम प्रकाशित हो उठी।

राजाने जब स्वामीजीके दर्शन करने चाहे, तो द्वारपर नियुक्त व्यक्तिने उन्हें अन्दर नहीं आने दिया। राजा वहीं खड़े रहे और द्वारपाल आज्ञा लेनेके लिए अन्दर चला गया। उसने आकर राजाको बतलाया कि स्वामीजीने कहलवाया है कि राजा लोगोंसे हमारा कोई संबन्ध नहीं; हम तो विरागी हैं—हमें राजकीय वैभव और विलासोंसे क्या मतलब है ! भगवानकी प्राप्तिके मार्गमें धनको विघ्न समझकर राजाने सारा द्रव्य लोगोंको लुटा दिया और अकिंचन होकर स्वामीजीकी शरणमें आ गए। स्वामीजीने आदेश दिया—"कुएँमें कूद पड़ो !" राजा इस आज्ञाको सुनकर बड़े प्रसन्न हुए और कुएँमें गिरनेको चल दिए, लेकिन स्वामीजीके सेवकोंने उन्हें ऐसा करनेसे रोक लिया। श्रीरामानन्दजीने राजाकी ऐसी निष्ठा देखी, तो मनमें बड़े प्रसन्न हुए और उन्हें बुलाकर दर्शन दिए।

भक्ति-रस-बोधिनी

लिये शिष्य कृपा करी, धरी हरि-भक्ति हृदै, कही अब जावौ गृह, सेवा साधु कीजियै ।
बितये बरस, जब सरस टहल जानि, संत सुख मानि आवैं घर मधि लीजियै ॥
आये आज्ञा पाय धाम, कीन्ही अभिराम रीति, प्रीति को न पारावार, चीठी लिखि दीजियै ।
द्रवियै कृपाल, वही बात प्रतिपाल करी, चले जुग बीस जन संग, मति रीझियै ॥२८४॥

अर्थ—स्वामी श्रीरामानन्दजीने भक्त पीपाजीपर कृपा कर उन्हें अपना शिष्य बना लिया । आचार्य महानुभावके संपर्कमें आकर पीपाजीके हृदयमें हरि-भक्ति दृढ़ हो गई । तब स्वामीजीने उन्हें आज्ञा दी—"अब आप अपने नगर गागरौन गढ़ लौट जाइये और वहीं रहकर साधुओंकी सेवा करिये । एक वर्ष बाद जब हम देख लेंगे कि तुम्हें साधु-सेवामें रस आने लगा है और सन्तोंका सत्कार करनेसे तुम्हारे हृदयको सुख मिलता है, तो हम स्वयं तुम्हारे घर आवेंगे ।"

गुरुदेवकी आज्ञाको शिरोधार्य कर पीपाजी घर लौट आये और साधु-सेवाकी सुन्दर रीति का पालन करने लगे । संतोंके प्रति उनका प्रेम असीम हो गया । इस प्रकार एक वर्ष बीत जाने पर उन्होंने पीपाजी को एक पत्रमें यह लिखकर भेजा कि 'दासपर कृपा करिये और अपने वचनोंको पूरा करिये ।'

पत्र पाते ही स्वामीजी अपने चालीस प्रिय भक्तोंको साथ लेकर गागरौन गढ़को चल दिये । अपने भक्तके ऐसे दृढ़ अनुरागको देखकर उनका हृदय बड़ा प्रसन्न हो रहा था ।

भक्ति-रस-बोधिनी

कबीर रैदास आदि दास सब संग लिये आये पुर पास, पीपा पालकी लै आयो है ।
करी साष्टांग न्यारी-न्यारी तिनै साधुन को, धन को लुटाय सो समाज पधरायो है ॥
जैसी कीन्ही सेवा, बहु मेवा नाना राग-भोग, बानी के न जोग, भाग का पै जात गायो है ।
जानी भक्ति-रीति, घर रहौ, कै अतीत होहु, करिकै प्रतीति गुरु पग लगि आयो है ॥२८५॥

अर्थ—स्वामी रामानन्दजी महाराज कबीर, रैदास आदि चालीस शिष्योंको साथ लेकर उस नगरके निकट पहुँचे जहाँ पीपाजी रहते थे । पीपाजीको गुरुजीके पधारनेका जब समाचार मिला, तो वे उनकी अगवानी करनेके लिए पालकी लेकर आये । आते ही उन्होंने गुरुदेवके साथके सब शिष्योंको अलग-अलग साष्टांग प्रणाम किया और तब दोनों हाथोंसे धन लुटाते हुए समस्त समाजको घरपर लाकर पधराया । पीपाजीने जिस प्रकार सच्चे अनुरागसे सबकी सेवाकी और अनेक प्रकारके विविध व्यञ्जनोंसे युक्त भोग लगाया, उसका वर्णन करनेकी सामर्थ्य वाणीमें नहीं है । स्वामीजीने पीपाजीकी ऐसी अगाध प्रीति देखकर उनसे कहा—"चाहे तुम घर रहो या सब कुछ त्यागकर वनमें चले जाओ, तुम्हारे लिए एक जैसा है, (अतः तुम्हें घरपर रहकर ही साधु-सेवामें रत रहना चाहिए) ।"

गुरुजीके इन वाक्योंमें विश्वास करके भी पीपाजी उनके पैरोंपर गिर पड़े और उनसे प्रार्थना की कि वे अपने चरणोंमें ही उन्हें स्थान दें। गुरुदेवसे वियुक्त होकर वे कहीं नहीं रहना चाहते थे।

भक्ति-रस-बोधिनी

चलीं संग रानी दस-बीस कही मानी नहीं, कष्ट को बतावैं, डरपावैं, मन लावहीं।
"कामरीन फारि मधि मेखला पहरि लेवो, देवो डारि आभरन जो पै नहीं भावहीं॥"
काहू पै न होय, कियो रोय, मोय भक्ति आई, छोटी नाम सीता, परैं डारी न लजावहीं।
यहू दूर डारी, करौ तन को उघारी; कियौ, दया रामानंद हियौ, पीपा न सुहावहीं॥२८६॥

अर्थ—पीपाजी जब राज-पाट छोड़कर गुरुजीके साथ चलनेको तैयार हुए, तब उनकी बीस रानियाँ भी साथ लग लीं। राजाने उन्हें समझाया कि इस मार्गमें बड़े-बड़े कष्ट उठाने पड़ते हैं, उन्हें डराया-धमकाया भी, किन्तु उन्होंने एक न मानी। तब पीपाजीने एक कंबल के बीचमें-से कई टुकड़े करके रानियोंको देते हुए कहा—"यदि तुम्हें यहाँ रहना अच्छा नहीं लगता, तो इन आभूषणोंको उतार फेंको और इन टुकड़ोंको शरीरपर लपेट लो।" इसके लिए कोई रानी तैयार नहीं हुई। वे रोने लगीं। लेकिन उनमेंसे सबसे छोटी रानी सीता, जिसके हृदयमें राजाके प्रति असीम भक्ति थी, आगे बढ़ी और लज्जा, संकोच सबको तिलांजलि देकर उसने कंबलके टुकड़ेको गलेमें डाल लिया। इसपर राजाने कहा—"इसको भी उतार फेंको!" रानीने वही करके दिखा दिया। यह देखकर रामानन्दजीको बड़ी दया आई (और उन्होंने पीपाजीसे रानीको साथ ले चलनेका आग्रह किया), पर उन्हें फिर भी यह अच्छा नहीं लगा। वे किसी भी अवस्थामें रानीको साथ लगाना नहीं चाहते थे।

भक्ति-रस-बोधिनी

जो पै या पै कृपा करी, दीजै काहू संग करि, मेरे नहीं रंग यामैं, कही बार-बार है।
सौंह को दिवाय दई, लई तब कर धरि, चले टारि, विप्र एक कोऊ न बिचार है॥
खायो विष, ज्यायौ, पुनि फेरि कै पठायौ सब, आयौ यों समाज द्वारावती सुखसार है।
रहे कोऊ दिन, आज्ञा माँगी इन रहिबे की, कूदे सिन्धु माँझ, चाहु उपजी अपार है॥२८७॥

अर्थ—गुरुदेवके अधिक अनुरोध करनेपर पीपाजीने उनसे बार-बार यही निवेदन किया—"यदि आपने इस (सीता) पर कृपा की है, तो इसे और किसीके साथ कर दीजिये; मेरी इसे ले चलनेकी तनिक भी इच्छा नहीं है।" इसपर स्वामीजीने जब राजाको शपथ दिलाई, तो उन्होंने अपनी पत्नीका हाथ पकड़ लिया और तब उसके अनुकूल होकर चल दिए।

इसी बीचमें एक घटना और होगई। एक ब्राह्मणने (रानियोंसे बहुत-सा धन रिश्वत में लेकर) यह निश्चय कर लिया कि मैं राजाको आगे बढ़ने ही न दूँगा और जहर खा लिया। परिणाम यह हुआ कि वह मर गया। श्रीरामानन्दजीने उसे जीवित कर दिया और सब

रानियोंको लौटा दिया । इस प्र ार अपने निश्चयपर अटल यह पवित्र समाज द्वारका पहुँचा । कुछ दिन तक सब लोग वहाँ रहे । जब स्वामीजी शिष्योंको लेकर काशी जाने लगे, तो पीपाजी ने कुछ समयके लिए द्वारकामें ही रहनेकी आज्ञा माँग ली । द्वारकामें रहते हुए उन्हें भगवान के दर्शनकी आकांक्षा इतनी प्रबल होगई कि एक दिन आप अपनी पत्नी सीताके साथ समुद्रमें कूद पड़े ।

भक्ति रस-बोधिनी

आये आगे लैन आप, दिये हैं पठाय जन, देखि द्वारावती कृष्ण मिले बहु भाय कै ।
महल-महल मांझ चहल-पहल लखी, रहे दिन सात, सुख सकै कौन गाय कै ।।
आज्ञा दई जाइवे की, जाइबौ न चाहैं, दिये पिये वहू रूप देखौ मोहीं को जु जाय कै ।
भक्त बूड़ि गये, यह बड़ोई कलंक भयौ, मेटौ तम, अंक अंक गही अकुलाय कै ।।२८८।।

अर्थ—जब पीपाजी और उनकी स्त्री समुद्रमें कूदे, उससे पूर्व ही भगवान श्रीकृष्ण उन दोनोंको लिवा लानेके लिए कुछ सेवकोंको भेज चुके थे । वे इन्हें भगवानके सामने ले आये । श्रीकृष्ण बड़े प्रेमसे दोनोंसे मिले । सात दिन तक भगवान श्रीकृष्णके रनवासका वैभव और चहल-पहल देख कर उन्हें जिस आनन्दका अनुभव हुआ उसका वर्णन कौन कर सकता है ? इसके उपरान्त भगवानने इन्हें द्वारकासे चले जानेकी आज्ञा दी, किन्तु वे वहाँसे जाना ही नहीं चाहते थे । इसपर भगवानने कहा—"जिस रूपके मैंने तुम्हें दर्शन दिये हैं और जिसका तुमने अपने नेत्रोंसे पान किया है, उसीको, यहाँसे जानेके बाद भी, तुम देख सकोगे—यह मैं तुम्हें बरदान देता हूँ । वैसे मैं तुम्हें यहाँसे जानेको नहीं कहता, पर कारण यह है कि यहाँ अधिक दिन तक रहनेसे लोग कहेंगे कि भगवानके ऐसे भक्त भी डूब गये और यह चर्चा मेरे लिये एक निन्दाकी बात होगी । अतः इस अपवाद-रूपी अन्धकारको दूर करना तुम्हारा कर्त्तव्य है ।"

इसके उपरान्त भगवान द्वारा प्रदान की गई छापको सिर झुकाकर स्वीकार किया और चल दिये, पर भगवानके विरहके कारण उनका हृदय अत्यन्त अधीर होरहा था ।

भक्ति-रस-बोधिनी

चले पहुँचायवे को प्रीति के अधीन आप, बिन जल मीन जैसे ऐसे फिरि आये हैं ।
देखि भई बात गात सुके पट, भीजे हिये, लिये पहिचानि, आनि पग लपटाये हैं ।।
दई लै कै छाप, पाप जगतके दूर करौं, ढरौ कहूँ और, कहि सीता समुझाये हैं ।
छठेई मिलान बन में पठान भेंट भई, लई छीनि तिया, किया चैन, प्रभु धाये हैं ।।२८९।।

अर्थ—भक्तके प्रेमके वशमें रहनेवाले भगवान श्रीश्यामसुन्दर अपने भक्त पीपाजी तथा उनकी स्त्री सीताजीको बिदा करनेके लिए कुछ दूर तक आए और तब इस प्रकार (अत्यन्त दुःखी हो) अपने भवनोंको लौट आये जैसे जलको छोड़कर मछली—अर्थात् जलसे अलग होनेपर मछलीको जैसा कष्ट होता है, वही भगवानको अपने इन भक्तोंसे बिछुड़ने पर हुआ ।

समुद्रमें-से निकल कर जब दोनों बाहर आये और किनारेपर खड़े हुए, तो यह विचित्र बात देखकर लोगोंको बड़ा आश्चर्य हुआ कि दोनोंके शरीर और कपड़े बिलकुल सूखे थे—पानीका कहीं दाग भी नहीं लगा था। पर शरीर भले ही न भीगा हो, हृदय तो भगवत्-प्रेम से सराबोर था। जिन लोगोंने इन्हें समुद्रमें डूबते हुए देखा था, उनमेंसे कुछ उस समय वहाँ खड़े थे। उन्होंने पहिचान लिया कि ये तो दोनों वही स्त्री-पुरुष हैं जो हमारे सामने समुद्रमें कूदे थे। अब तो लोग इनके पैरोंसे लिपट गए। श्रीपीपाजीने भगवान द्वारा दी गई छाप (मुद्रा) को पुजारीको सौंपते हुए कहा—"इसके द्वारा लोगोंके पापका विनाश होगा—अर्थात् इस मुद्राको जो अपने शरीरपर धारण करेगा, वह इस भव-सागरसे पार हो जायगा।"

सहचरी सीताने जब लोगोंकी भीड़को वहाँ इकट्ठा हुए देखा, तो प्रपंचसे दूर रहनेके लिए अपने पतिसे बोलीं—"अब कहीं अन्यत्र एकान्तमें चलना चाहिए।"

चल दिए दोनों, पर छठवें पड़ावपर ही इन्हें पठान मिल गए और वे इनकी स्त्री सीता को छीन कर चल दिये। यह देखते ही भगवान अधीर हो उठे। अपने भक्तकी रक्षाके लिए आप तुरन्त दौड़े आए और पठानोंको मारकर सीताजीको श्रीपीपाजीको सौंप दिया। इस प्रकार प्रभुने उनके हृदयके दुःखको दूर किया।

शंख-चक्र आदि मुद्राओंके धारण करनेसे पापविनाश एवं अभिलषित वस्तुकी प्राप्तिके सम्बन्ध में कुछ शास्त्र-प्रमाण यहाँ दिये जाते हैं—

अनाचारोऽशुचिर्नित्यं सर्वधर्मबहिष्कृतः।
प्रतप्तशंखचक्राभ्यामंकितः पंक्तिपावनः॥
ममावतारचिन्हानि दृश्यन्ते यस्य विग्रहे।
मर्त्यो मर्त्यो न स ज्ञेयः सुनूनं मामकी तनुः॥ (पद्मपुराण)

—आचारसे हीन, सदा अपवित्र रहनेवाला और सब धर्मोंसे निकाला गया व्यक्ति यदि अपने शरीरपर तपा कर लगाये हुए शंख-चक्रके चिन्होंसे युक्त है, तो वह केवल स्वयं ही पवित्र नहीं है, बल्कि अपने आस-पासके लोगोंको भी पवित्र कर देता है।

—जिसके शरीरपर मेरे अवतारके चिन्ह दिखाई देते हैं, उसे साधारण मनुष्य नहीं समझना चाहिए। वह तो मेरा (भगवानका) शरीर है।

शंखचक्रांकितो यस्तु श्मशाने म्रियते यदि।
प्रयागे या गतिः प्रोक्ता सा गतिस्तस्य नारद॥ (नारदीय सूक्त)

—भगवान कहते हैं—"हे नारद! शंख-चक्र धारण करनेवाला व्यक्ति यदि श्मशानमें भी मरता है, तो प्रयागमें शरीर छोड़नेपर जो गति होती है, वही गति उसको मिलती है।

भक्ति-रस-बोधिनी

"अबहूँ लगि जाओ घर, कैसे-कैसे आवैं डर;" बोली "हरि ! जानिये न भाव पै न आयो है ।"
"लेत हौं परिच्छा, मैं तौ जानौं तेरी सिच्छा एपै, सुनि दृढ़ बात कान अति सुख पायो है ॥"
चले मग दूसरे, सु तामें एक सिंह रहै, आयौ बास लेत, शिष्य कियो, समुझायो है ।
आए और गाँव, सेषसाई प्रभु नाँव रहे, करे बाँस हरे, ढरे "चीधर" सुहायो है ॥२६०॥

अर्थ—पठानों द्वारा सीताके अपहरण कर लेने और भगवानके द्वारा रक्षा किये जानेके उपरान्त श्रीपीपाजीने अपनी पत्नीसे फिर कहा—"अब भी कुछ बिगड़ा नहीं है; घर लौट जाओ । तुमने देख लिया न, बाहर निकलने पर कैसी-कैसी आपत्तियाँ आती हैं ?"

श्रीसीताजीने उत्तर दिया—"हे हरि ! आप मेरे हृदयका भाव अभी पहिचान नहीं पाये हैं; (शायद आप यह समझते हैं कि मैं आपत्तियोंसे घबड़ाती हूँ अथवा प्रभुके चरणोंमें मेरा पूर्ण विश्वास नहीं है) ।"

तब श्रीपीपाजीने प्रसन्न होकर कहा—"मैंने तो तुम्हारी परीक्षा ली थी । वैसे मैं तुम्हारी दृढ़ समझ-बूझको भलीभाँति जानता हूँ । तुम्हारी ऐसी प्रबल आस्थाको देखकर मुझे बड़ा आनन्द हुआ है ।"

अब श्रीपीपाजी और उनकी धर्मपत्नीने उस रास्तेको छोड़कर दूसरा रास्ता अपनाया । दैवयोगसे उसमें भी एक सिंह रहता था । मनुष्य-गन्ध पाकर वह इनके निकट आगया, परन्तु श्रीपीपाजीको देखते ही उसने अपनी हिंसक-वृत्तिको छोड़ दिया और भेड़–जैसा आचरण करने लगा । श्रीपीपाजीने अपने प्रेमपूर्ण हाथके स्पर्शसे उसमें ज्ञानका संचार किया और शिष्यके समान उसपर अनुग्रह किया । इसके उपरान्त वे एक दूसरे गाँवमें पहुँचे । यहाँ उन्होंने शेषशायी प्रभुके दर्शन किये और भजनके प्रभावसे सूखे बाँसोंको हरा कर दिया । तत्पश्चात् आप 'चीधड़' भक्तके दर्शन करनेकी अभिलाषासे आगे बढ़ दिये ।

• करे बाँस हरे—बाँसोंको हरे करनेका वृत्तान्त इस प्रकार बताया जाता है—

जिस गांवमें होकर श्रीपीपाजी जारहे थे, वहाँ एक व्यक्ति लाठियाँ बेच रहा था । पीपाजीने अपने उपयोगके लिये उससे एक लाठी माँगी । उसने उपेक्षा करते हुए कहा—"बाँसोंकी बाड़ीमेंसे जाकर क्यों नहीं काट लाते ?" यह सुनकर पीपाजी कुछ देर तक जमीनपर रक्खे हुए लाठियोंके ढेरको देखते रहे । इसका फल यह हुआ कि वे सब लाठियाँ वहीं-की-वहीं जड़ पकड़ गईं और उनमेंसे अंकुर फूट आये । आपने उन्हींमेंसे एकको काटा और लेकर चल दिए ।

भक्ति-रस-बोधिनी

चीधड़ तिया-पति देसैं आए भागवत, ऐ पै घर की कुगति रति साँची लै दिखाई है ।
लहँगा उतारि बेच दियौ, ताको सीधौ लियौ, "करौ अजू पाक," बधू कोठीमें दुराई है ॥
करी लै रसोई सोई, भोग लगिबै ठे, कह्यौ "आवौ मिलि दोई," कह्यो "पीछे सीथ भाई है" ।
"वाहू को बुलावौ ल्यावौ आनि कै जिमावौ," तब सीता गई ठौर जाइ नगन लखाई है ॥२६१॥

अर्थ—श्रीचीधड़ भक्त और उनकी स्त्रीने भगवानके परम भक्त श्रीपीपाजी और उनकी स्त्रीको घरपर आया हुआ देखकर स्वागत किया। लेकिन भोजन करानेके लिए घरमें कुछ भी नहीं था। इस दरिद्र-अवस्थामें भी श्रीचीधड़जी तथा उनकी स्त्रीने अपने सच्चे सन्त-प्रेमका परिचय दिया। वह इस प्रकार कि श्रीचीधड़जीकी स्त्रीने अपना एकमात्र लँहगा उतार कर पति को दे दिया और वे उसे बेच आये और उसके द्रव्यसे सीधा-सामग्री खरीदकर पीपाजीके सामने रखते हुए बोले—"भगवन् ! इस सामानसे आप भगवानकी भोग-सामग्री तैयार करें।" लँहगा उतार देने के कारण घरवालीपर पहिननेको कुछ नहीं रह गया था, अतः चीधड़जीने उसे घरकी एक कोठरीमें छिपा दिया।

श्रीपीपाजी और उनकी स्त्रीने रसोई तैयार की और ठाकुरजीका भोग लगानेके बाद कहा—"आइए, सब लोग एक साथ बैठकर प्रसाद पाएँगे; भगतिनजीको भी बुला लीजिए।"

श्रीचीधड़जीने कहा—"आप दोनों प्रसाद ग्रहण करें; वह पीछे सीथ-प्रसादी ग्रहण कर लेगी।"

इसपर श्रीपीपाजीने अपनी पत्नीसे उन्हें जाकर बुला लानेको कहा। सीताजी जब उन्हें लिवाने अन्दर गई, तो देखा कि वे तो बिलकुल नग्न बैठी हैं।

भक्ति-रस-बोधिनी

पूछे "कहो बात, ए उघारे क्यों हैं गात, कही" "ऐसे ही बिहात, साधु-सेवा मन भाई है।
आवें जब संत सुख होत है अनंत, तब ढक्यौ कै उघारी, कहा चरचा चलाई है" ॥
जानि गई रीति, प्रीति देखी एक इन ही में, हम हूँ कहावें ऐ पै छटा हू न पाई है।
चियौ पट आधौ फारि, गहि कै निकारि लई, भई सुख-सैल, पाछें पीपा सों सुनाई है ॥२६२॥

अर्थ—श्रीपीपाजीकी पत्नीने भगतिनको नंगा देखा, तो पूछने लगीं—"आपके नंगे रहने का कारण क्या है?" भगतिनने उत्तर दिया—"संतोंकी सेवा मनमें बस गई है, अतः इसी प्रकार दिन बीतते हैं। संत-गण जब घरपर पधारते हैं, तो उनके दर्शनकर हृदयको असीम सुख मिलता है। ऐसेमें शरीर ढका हो तो ठीक, और उघाड़ा हो तो ठीक। इस सम्बन्धमें कुछ कहना-सुनना, इसीलिए, कोई अर्थ नहीं रखता।"

पीपाजीकी स्त्रीने जब यह सुना तो जान गई कि साधु-सेवाकी यह परिपाटी और ऐसा विलक्षण प्रेम सिवा यहाँके अन्यत्र मिलना कठिन है। वे सोचने लगीं कि यों तो हम भी साधु-सेवक कहलाते हैं, पर इनकी भावनाकी छाया तक हममें नहीं आ पाई है। इसके बाद सीताजी ने अपनी धोतीमेंसे आधी फाड़कर भगतिनजीको पहिननेके लिए दी और तब उन्हें हाथ पकड़ कर वहाँ ले आईं जहाँ श्रीपीपाजी और चीधड़जी भोजनके लिए बैठे थे। यह सब करनेमें श्री-सीताजीको बड़ा सुख हुआ। प्रसाद पानेके उपरान्त उन्होंने समस्त वृत्तान्त अपने पतिदेवको सुनाया।

भक्ति-रस-बोधिनी

"करैं वेश्या-कर्म, अब धर्म है हमारो यही;" कही, जाय बैठी जहाँ नाजनि की ढेरी है।
घिरि आये लोग जिन्हैं नैननि को रोग, लखि दूर भयो सोग, नेकु नीके हूँ न हेरी है॥
कहैं "तुम कौन?" "बारमुखी, नहीं भौन संग भरुवा," सु गही मौन सुन परी बेरी है।
करो अन्न-रासि आगे मुहर रुपैया पागे, घरै दई-चीघर के, तब ही निबेरी है॥२६३॥

अर्थ—श्रीसीता-सहचरी अपने पतिदेवसे बोलीं—"अब हमारा कर्त्तव्य यही है कि मैं वेश्या-वृत्तिको अपनाऊँ (और चीधड़जी भक्तके ऋणसे मुक्त होऊँ)।" ऐसा निश्चय कर वे उस जगह जा बैठीं जहाँ अनाजकी बिक्री होती थी। श्रीसीताजीके सौन्दर्यसे आकर्षित होकर बहुत-से आँखके बीमार वहाँ इकट्ठे होगए, लेकिन ज्योंहीं उन्होंने उन्हें पाससे देखा, त्योंही उनके मनके दूषित विचार दूर होगए। फिर तो इतना भी साहस न हुआ कि दूसरी बार नजर भरकर सीता-सहचरीको देख भी सकें। उन्होंने उनसे पूछा—"तुम कौन हो?" सीता-सहचरीने उत्तर दिया—"वेश्या।" लोगोंने फिर पूछा—"आपका घर कहाँ है?" वे बोलीं—"हमारा न तो कोई घर है और न हमारे साथ कोई भड़ुवा है।" श्रीपीपाजी अपनी स्त्रीका यह चरित्र देखकर अवाक् होकर बैठे थे—मुँहसे आवाज तक नहीं निकलती थी। देखनेवाले वहाँसे टस-से-मस नहीं हो रहे थे जैसे किसीने उनके पैरोंमें बेड़ियाँ डाल दी हों। अन्तमें सबको निश्चय हो गया कि ये पति-पत्नी प्रसिद्ध भक्त श्रीपीपाजी तथा उनकी सहधर्मिणी सीताजी हैं। लोगोंने अब अन्न, वस्त्र और द्रव्यका उनके आगे ढेर लगा दिया और पीपाजी और उनकी स्त्री चीधड़ भक्त के ऋणसे मुक्त हो गए।

इस कवित्तमें सीता-सहचरीजीकी जिस मनोवृत्तिका वर्णन किया गया है, वह लौकिक दृष्टिसे अत्यन्त अशोभनीय प्रतीत होता है। इसका समाधान भक्तमालके अधिकारी व्याख्याता श्रीरूपकलाजीने निम्नलिखित दो सोरठा और दोहेमें किया है—

सोरठा—हरिजन चरित विचित्र, जिमि हरि चरित विचित्र अति।
आनिय सदा पवित्र, नहिं संशय वे अलख गति॥

दोहा—बड़े कहैं सो कीजिये, करैं सो लेव विचार।
स्याम कीन्हि करतूत जो, नहिं कर्तव्य हमार॥

इस समाधानके अनुसार भक्तोंके चरित्र उसी प्रकार विलक्षण होते हैं जिस प्रकार कि भगवान के। उनके आचरणोंको लौकिक कसौटीपर नहीं कसा जा सकता, क्योंकि वे स्वयं लोकातीत होते हैं, अतः उनके चरित्र भी वैसे ही होते हैं।

इसी बातको दूसरे शब्दोंमें इस प्रकार कहा जा सकता है कि भक्ति एक भावना है। दार्शनिक तर्क-प्रणालीकी तरह वह किन्हीं नियमोंसे बँधी हुई नहीं है। लोकमें भी हम देखते हैं कि मनुष्य भावावेश में पड़कर सत्-असत्की सीमाओंका अतिक्रमण कर जाता है। हृदयकी ये रागात्मक वृत्तियाँ जब ऐहिक जीवनके व्यवहारोंमें प्रकट होती हैं, तब उनकी संज्ञा होती है 'विकार'। यही वृत्तियाँ जब कलाके क्षेत्रमें

उतरती हैं, तब उदात्त होकर सात्विक हो जाती हैं। उनमेंसे वैयक्तिकताका अंश निकल जाता है और वे कलात्मक अनुभूतिके रूपमें ग्रहणकी जाती हैं। इन अनुभूतियोंको कल्पनासे संयुक्त करके जब काव्यमें उपस्थित किया जाता है, तब कवि के सत्यका स्वरूप बदला हुआ लगता है। अतिरंजना, अतिशयोक्ति, वक्रोक्ति आदि के द्वारा उन्हें जितना सुन्दर बनाया जाता है, लौकिक स्थूल सत्यसे वे उतनी ही दूर हो जाती हैं, और तब वे लोग जो काव्य को शव की तरह चीर-चीर कर देखते हैं, कविका उपहास करते हैं।

भक्तकी दुनिया कविकी दुनियासे भी ऊपर प्रतिष्ठित है। कविकी अनुभूति यदि अलौकिक होती है, तो भक्तकी अनुभूति और आचरण दोनों ही लोकातीत होते हैं। कविकी भाँति भक्तकी भावना और आचरणमें भेद नहीं होता।

प्रस्तुत प्रसंगमें हम देखते हैं कि चीधड़जीकी पत्नीमें सीता-सहचरीको भक्तिके एक नये रूपकी झाँकी देखनेको मिली। भक्तिके मर्मको सीता-सहचरीने भी कुछ-कुछ समझ रखा था, पर चीधड़जीके यहाँ आकर उसका एक दूसरा ही खेल देखने को मिला। हड्डी-मांसका बना हुआ यह शरीर तो कुत्तों और गीदड़ोंका आहार है। इसमें आत्म-बुद्धि कैसी? इसका क्या तो ढकना और क्या नंगा रखना। इसीलिए पीपाजीकी स्त्रीने जब भगतिनसे नंगे रहनेका कारण पूछा, तो उन्होंने कहा—"हमसों कै उघारों, कहा चरचा चलाई है।" अर्थात् चर्चा करनी है, तो कोई भगवत्-सम्बन्धी करो। देहके बारेमें क्या पूछना और क्या कहना? यह तो परिणाम मात्र है, कोई अविनाशी तत्त्व नहीं।

सीता-सहचरीका साधु-सेवाके निमित्त अपनी देहको दूसरोंकी वासनाकी पूर्तिके हेतु अर्पण करनेके लिए तैयार हो जाना उपलक्षण-मात्र है। इस घटनाका केवल इतना ही अर्थ लगाना चाहिए कि साधु-सेवा सबमें श्रेष्ठ नैतिकता है। सतीत्व और असतीत्वकी लौकिक मान्यतायें इसके समक्ष कोई महत्त्व नहीं रखतीं। ये सब त्रैगुण्य-विषयक हैं जब कि भक्त भगवानका स्वरूप होनेके कारण उन सबसे ऊपर है। वही परम तत्त्व है और उनकी उपासनाके लिए संसारकी बहुमूल्य वस्तुका भी बलिदान किया जा सकता है। सीता-सहचरीके चरित्रको देखते हुए यह सम्भावना भी नहीं की जा सकती कि उनका मन्तव्य वास्तवमें वेश्या-वृत्तिको अंगीकार करना था। महात्माओंके इस प्रकारके चरित्र क्रीड़ामात्र हैं, अतः उन्हें प्ररोचनाके रूपमें ही ग्रहण करना चाहिए। आगे चलकर इसी चरित्रमें देखेंगे कि पीपाजी एक बनियेकी वासनाकी पूर्तिके लिये अपनी सहधर्मिणीको अपने कन्धोंपर बिठाकर उसके घर पहुँचा आये। तो क्या पीपाजीका भी यह मन्तव्य था? कदापि नहीं। इस प्रकारके आचरण दुष्टोंको सन्मार्ग पर लानेके तथा उन्हें ज्ञानोपदेश करनेके लिए ही किये जाते हैं और, हम देखते हैं कि, उनका फल भी अभीष्ट होता है।

भक्ति-रस-बोधिनी

आला मांगि 'टोड़े' आये, कभूँ भूखे कभूँ खाये, औचक ही दाम पाये, गयो हो स्नान को।
मुहरनि भाँड़ो, भूमि गड़यो देखि छोड़ि आयो, कही तिति, तिया बोली "आवो सर आन को"॥
चोर चाहैं चोरी करें, डरे सुनि वाही ओर, देखें जो उघारि साँप, डारे हते प्रान को।
ऐसे भाव भरीं, गनीं, साल सात बीस भई, तोरे पाँच बाँट करे एक के प्रमान को॥२६४॥

अर्थ— भक्त चीधड़ और उनकी स्त्रीसे विदा लेकर पीपाजी अब 'टोड़े' नामक गाँवमें

पहुँचे। इस यात्रामें भोजन आदिकी कोई व्यवस्था नहीं थी। कभी पेट-भर भोजन मिल जाता, तो कभी भूखे ही रहना पड़ता। एक दिन पीपाजी स्नान करनेके लिये किसी तालाब पर गये, तो वहाँ बहुत-सा धन देखा। सुवर्ण-मुद्राओंसे भरे कई घड़े धरतीमें गड़े थे। पीपाजीने उन्हें छुआ तक नहीं। देखकर लौट आये और रातको अपनी स्त्रीसे सारा हाल कहा। वे बोलीं—"उस तालाबपर नहानेके लिए जानेकी कोई आवश्यकता नहीं; कोई दूसरा तालाब ढूँढ़ लीजिए।"

कुछ चोर उन दोनोंकी बातें सुन रहे थे। वे उसी ओर चल दिए और तालाबपर पहुँच कर ज्योंही घड़ोंका मुंह खोला, त्योंही उनके अन्दर साँप देखकर क्रोधसे भड़क उठे। उन साँपों द्वारा पीपाजीको मरवा डालनेके लिये चोर उन घड़ोंको उठाकर उनके घरमें ही फेंक आये। पीपाजीके यहाँ जाकर सब साँप फिर सोनेकी मुद्रामें बदल गए और इस प्रकार पीपाजी को घर बैठे ही धन मिल गया। गिननेपर पता लगा कि वे सात-सौ बीस थीं और एक मुद्रा तोलमें पाँच-पाँच तोले की थी।

पीपाजीके चरित्रके इस अंशमें भाग्यका खेल दिखाया गया है। कहा भी है—

लिखिता चित्रगुप्तेन ललाटाक्षरमालिका।
न सापि चालितुं शक्या पण्डितैस्त्रिदशैरपि॥

—चित्रगुप्तने प्राणीके भाग्यमें जो लेख लिख दिया है, उसे न तो पंडित ही बदल सकते हैं और न देवता-गण ही।

दृष्टान्त—भाग्यके सम्बन्धमें एक बड़ा सुन्दर दृष्टान्त दिया जाता है जो कि इस प्रकार है—

राम-राज्यके समय अयोध्याके एक पण्डा-महोदयको कहींसे यह पता लगा कि विभीषणजी श्रीलक्ष्मणजीके दर्शनके लिए रोज लंकासे अयोध्या आते हैं। लक्ष्मणजीके दर्शन तो उन्होंने किये ही थे, पर विभीषणजीके दर्शन करनेकी बड़ी तीव्र लालसा थी। सो एक दिन वे लक्ष्मणजीके दरबारमें फूलों की एक ढेरीमें छिप कर बैठ गए। नियत समयपर विभीषणजी वहाँ आये। दर्शन करनेके उपरान्त जब वे जाने लगे, तो उन्होंने अपने अनुचरोंको आज्ञा दी कि सब फूल उठाकर ले चलो। निदान फूलों सहित पंडाजी भी लंका पहुँच गए। फूलोंको यथास्थान पहुँचानेके लिए जब अलग-अलग किया गया, तो उसमें पंडाजी बैठे निकले। अनुचरोंने उन्हें महाराज विभीषणके सामने पेश किया। विभीषणजीने उनका बड़ा आदर किया और अन्तमें पूछा—"महाराज, आप इस प्रकार फूलोंमें क्यों छिप गए?" पंडाजीने सच बात कह दी। विभीषणजीने पूछा—"अब आप क्या चाहते हैं?" पंडाजीने उत्तर दिया—"हमें अपने स्थानपर पहुँचा दीजिए और यहाँकी यादगारके रूपमें कोई अत्यन्त अमूल्य वस्तु देकर हमें अनुगृहीत करिए।"

लंकामें लोहा तथा मिट्टी बहुमूल्य वस्तुएँ मानी जाती थीं। विभीषणने उपहारके रूपमें पंडाजीको वही भेंट कीं। पंडाजी बिना कुछ कहे-सुने अपने भाग्यको कोसते हुए अयोध्या लौट आए। सोनेकी नगरी लंकामें पहुँच कर भी उनके भाग्यमें लोहा ही बदा था।

भक्ति-रस-बोधिनी

जोई आवै द्वार ताहि देत हैं अहार और बोलि कै अनंत संत भोजन करायो है।
बीते दिन तीन, धन खाय-प्याय छीन कियो, लियो सुनि नाम नृप, देखिबे को आयो है॥
देखि कै प्रसन्न भयो, नयो, "देवो दीक्षा मोहि," "दीक्षा है अतीत, करै आप सो सुहायो है।"
"चाहो सोई करौं, हूँ कृपाल मोकों वरो," "अजू! धरो आनि संपति औ रानी" जाइ ल्यायो है॥२६५॥

अर्थ—धनको अनर्थका मूल समझकर पीपाजी उसे पानीकी तरह बहाने लगे। दरवाजे पर जो कोई अतिथि आता उसको आदरसे भोजन कराते। साधु-सन्तोंको बुलाकर उन्होंने कई विशाल भंडार कर डाले और इस प्रकार तीन दिनके अंदर ही सब धनको बराबर कर दिया।

'टोड़े' के राजा सूर्यसेनमलने जब आपकी कीर्ति सुनी, तो वह दर्शनके लिये आया। श्रीपीपाजीके दर्शन कर वह बड़ा प्रसन्न हुआ और अत्यन्त नम्र-भावसे प्रार्थना की—"मुझे दीक्षा देकर अपना शिष्य बनाइए।"

श्रीपीपाजीने उत्तर दिया—"राजन, सबसे पहली दीक्षा यह है कि सांसारिक आसक्तिसे अतीत हो जाओ—अर्थात् विरक्त होजाओ। इस वैराग्य-भावना द्वारा ही हम दूसरोंको अपना-जैसा सुन्दर (सात्विक-वृत्तिसे युक्त) बनाते हैं।"

राजाने कहा—"आप जैसी आज्ञा देंगे, मैं वैसा ही करूँगा, मुझपर कृपा करिए।"

श्रीपीपाजीने कहा—"यदि ऐसा है, तो अपनी सब संपत्ति और रानीको लाकर मेरे अर्पण कर दो।"

राजाने वैसा ही किया।

भक्ति-रस-बोधिनी

फेरिकै परिक्षा दई दीक्षा, संग रानी दई "भई ए हमारी करो परदा न संत सों"।
दीयो धन घोरा, कछु राख्यो दै निहोरा, भूप मान तन छोरा बड़ो मान्यो जीव जन्त सों॥
सुनि जरि बरि गये भाई "सेनसूरज" के ऊरज प्रताप कहा कहौं सीता-कंत सों।
आयो बनिजारो मोल लियो चाहैं बेलनि कों, दियो बहुकाय, कह्यो पीपा जू अनंत सों॥२६६॥

अर्थ—श्रीपीपाजीने इस प्रकार राजा सूर्यसेनमलकी परीक्षा लेकर उसे दीक्षा दी और राज्य तथा रानीको लौटाते हुए कहा—"आजसे ये दोनों हमारे हुए (तुम्हें इनमें ममत्व-बुद्धि नहीं रखनी चाहिए।") रानीको परदा करते हुए देखकर पीपाजीने राजासे कहा कि सन्तोंसे परदा करनेकी कोई आवश्यकता नहीं, अन्यथा रानी सन्तोंके दर्शनोंसे वंचित रहा करेंगी।

इसके उपरान्त राजाने पीपाजीको घोड़ा तथा बहुत-सा द्रव्य भेंट किया। राजाके बहुत अनुनय-विनय करने पर पीपाजीने सन्तोंकी सेवाके लिए कुछ द्रव्य रख लिया, बाकी लौटा दिया। पीपाजीके उपदेशसे राजाने अपने हृदयमेंसे नृपतित्वका अभिमान निकाल दिया और सन्त तथा जीव-मात्रको अपनेसे बड़ा मानने लगा।

राजा सूर्यसेनमल के भाई-बिरादरी इस वृत्तान्तको सुनकर जल-भुन गए, लेकिन पीपाजी के प्रबल प्रभावके कारण वे उनका बिगाड़ ही क्या सकते थे ? एक दिन एक बनजारा (पशुओं का व्यापारी) आया । वह कुछ पशु खरीदना चाहता था । राजाके भाइयोंने इसे बहकाकर पीपाजीके पास भेज दिया और कह दिया कि उनके पास बड़े-बड़े अच्छे बैल हैं ।

भक्ति-रस-बोधिनी

बोल्यौ बनिजारो दाम खोलि 'बैला दीजिये जू ।" "लीजियै जू, आय गाँव चरन पठाये हैं ।"
गये उठि पाछे बोलि सन्तन महोछौ कियौ, आयो वाही समै, कही "लेहु मन भाये हैं ।।"
दरसनि करि हिये भक्ति-भाव भरयौ आनि, आनि कै बसन सब साधु पहिराये हैं ।
और दिन न्हान गये घोरा चढ़ि छोड़ि दियौ, लियौ,बाँध्यौ दुष्टनि मैं, आयौ, मानों ल्याये हैं ।।२६७।।

अर्थ—दुष्टोंके बहकावेमें आकर बनजारा पीपाजीके पास पहुँचा और फेंटमें-से रुपया खोलकर उनके सामने रखते हुए बोला—"बैल दीजिए ।" पीपाजीने कहा—"बैल आपको मिल जायँगे, लेकिन वे गाँवमें चरनेके लिए चले गए हैं, सो आनेपर आप ले लें ।" यह सुन कर व्यापारी रुपया देकर चला गया । पीपाजीने इन रुपयोंसे सन्तोंका भण्डारा कर डाला । जब भण्डारा हो रहा था और सैंकड़ों सन्त भोजन कर रहे थे, तभी व्यापारी भी आ पहुँचा और बैलोंका तकाजा किया । पीपाजीने कहा—"चाहे जितने बैल लो; (ये जो तुम सामने साधु-सन्तोंको देख रहे हो, सब मेरे बैल हैं, पुण्यात्मा पुरुषोंकी खेपको ये स्वर्ग पहुँचाते हैं । मैं इन्हींका वाणिज्य करता हूँ ।") सन्तोंके दर्शन करते ही बनजारेके हृदयमें उनके प्रति भक्ति-भावना उदित हुई और उसने उन सबको नये वस्त्र पहिननेके लिये भेंट किये ।

एक बार पीपाजी घोड़ेपर चढ़कर तालाबपर स्नान करने गए । तालाबसे कुछ दूरपर उन्होंने घोड़ेको बाँध दिया और स्नान करने चले गए । इसी बीचमें दुष्ट चोर वहाँ जाकर घोड़े को चुराकर ले आये और अपने यहाँ बाँध लिया । पीपाजी जब स्नान करके लौटे, तो घोड़ा अपने स्थानपर बँधा हुआ था, मानों दुष्ट उसे लौटा गए हों । (वास्तवमें वे उसे लौटा नहीं गए थे । वह तो उनके घरपर ही बँधा हुआ था । यह तो पीपाजीका प्रभाव था कि वही घोड़ा दूसरे रूपमें वहाँ उपस्थित था ।) पीपाजीके घरपर उन्होंने जब वैसा ही घोड़ा देखा तो वे बड़े चकराए । पीपाजीका यह प्रभाव देखकर चोर उनके पैरोंमें पड़ गए और अपने कुकृत्यके लिये क्षमा माँगी ।)

भक्ति-रस-बोधिनी

गये हे बुलाये आप, पाछे घर संत आये, अन्न कछु नाहिं, कहूँ जाय करि ल्याइयै ।
बिषई बनिक एक देखि कै बुलाइ लई, दई सब सौंज कही "सही निसि आइयै" ।।
भोजन करत माँझ पीपाजू पधारे, पूछी, वारे, तन प्रान अब कहिकै सुनाइयै ।
करि कै सिंगार सीता चली, झुकि मेह आयौ, काँधे पै चढ़ायौ वपु बनिया रिझाइयै ।।२६८।।

अर्थ—एक बार झगड़ेका निपटारा करनेके लिए पीपाजी राजा सूर्यसेनमलके यहाँ गये थे। पीछेसे घरपर कुछ सन्त आगये। उनका स्वागत-सत्कार करनेके लिए घरमें अन्नका दाना भी नहीं था। श्रीसीता-सहचरीजीने सोचा, कहींसे प्रबन्ध करना चाहिए। इसी उद्देश्यसे वे जा रही थीं कि एक व्यभिचारी बनियेने आपको बुला लिया और सन्तोंके लिए सब सामग्रीका प्रबन्ध कर आपसे कहा—"रातको अवश्य आना।"

जिस समय सन्त भोजन कर रहे थे, पीपाजी आ पहुँचे और घरमें ऐसा समारोह देख कर बड़े प्रसन्न हुए। सन्तोंके चले जानेके बाद उन्होंने सीता-सहचरीजीसे जब पूछा कि इतने सन्तोंके स्वागत-सत्कारका प्रबन्ध कैसे हुआ? जब सीता-सहचरीने सब वृत्तान्त सुनाया, तो उन्होंने बुरा नहीं माना, बल्कि इतने प्रसन्न हुए कि सीता-सहचरीपर शरीर और प्राण निछावर कर दिये।

अपनी प्रतिज्ञाको पूरा करनेके लिए रात होते ही सीता-सहचरीजी शृङ्गार करके बनियेके यहाँ जानेको तैयार हुईं, तो वर्षा होने लगी। इसपर पीपाजीने उन्हें अपने कन्धोंपर बिठा लिया और बनियाके घर पहुँचा आये।

भक्ति-रस-बोधिनी

हाट पै उतारि दई, द्वार आप बैठे रहे, चहे सूके पग "माता कैसे करि आई हौ"?
'स्वामीजू लिवाय ल्याये,' 'कहाँ हैं?' 'निहारौ जाय,' आय पाँय परचौ, ढरचौ राखौ सुखदाई हौ।
"मानौ जिनि संक, काज कीजिये निसंक, धन दियौ बिन अंक, जापै लरै-मरै भाई हौ।"
मरचौ लाज-भार, चाहै धसौं भूमि फार, दृग बहै नीर-धार, देखि दई दीक्षा पाई हौ॥२६६॥

अर्थ—श्रीपीपाजीने सीता-सहचरीजीको बनियेकी दूकानपर उतार दिया और आप बाहर ठहर गए। बनियेकी दृष्टि सबसे पहले सहचरीजीके चरणोंपर पड़ी; उनको इस वर्षामें भी सूखा देखकर वह बोला—"माताजी! आप किस प्रकार आई हैं?" उन्होंने उत्तर दिया—"मेरे स्वामी मुझे कन्धेपर बिठा कर लाये हैं।" बनियाने पूछा—"कहाँ हैं वे?" सहचरीजीने कहा—"बाहर बैठे होंगे; जाकर देख आइये।" बनियाने आकर देखा, तो पीपाजी वहाँ मौजूद थे। अब तो वह उनके पैरोंपर पड़ गया और डरने लगा कि मुझसे बड़ा अपराध बन गया है; न-जाने इसका क्या फल मिलेगा?

श्रीपीपाजीने बनियाको इस प्रकार डरा हुआ देखकर कहा—"शंका और संकोच करनेकी आवश्यकता नहीं है। आप निडर होकर अपना काम करिए। आपने यह क्या कम उपकार किया है कि जिस धनके वास्ते भाई-भाई एक दूसरेसे लड़ते हैं, उसे बिना कुछ लिखा-पढ़ी कराए ही सन्तोंकी सेवाके निमित्त दे दिया।"

बनिया लज्जासे मरा जाता था; चाहता था कि पृथ्वी फट जाय तो उसमें समा जाऊँ। उसकी

आँखोंसे आँसुओंकी धारा बरस रही थी। श्रीपीपाजी उसकी यह हालत देखकर दयासे द्रवित होगए और दीक्षा देकर उसे कृतार्थ किया।

इस प्रसङ्गमें यह शङ्का की जाती है कि जब बनियाको सर्व-प्रथम सीता-सहचरीजीके दर्शन हुए थे, तभी उसकी बुद्धि निर्मल क्यों न हो गई? इसका उत्तर टीकाकारोंने, कवि मतिरामका एक सुन्दर कवित्त उद्धृत करते हुए, यह दिया है कि शृङ्गारिक प्रेमकी तरह सात्विक भक्तिका रङ्ग भी तीसरी बार चढ़ता है, पहिली ही बार नहीं।

मतिरामका कवित्त इस प्रकार है—

प्रान पियारो मिले सुपने में परी जब नैंसुक नींद निहोरे,
कंत को आइबो त्यों ही जगाइ कह्यो सखि बैन पियूष निचोरे।
यों 'मतिराम' भयो हिय में सुख बाल के बालम सों दृग जोरे,
ज्यों पट में अति ही चटकीलो चढ़ै रंग तीसरी बार के बोरे॥

यहाँ नायिकामें शृङ्गार-रसका पूर्ण परिपाक तीसरे मिलनमें बताया गया है। प्रथम मिलन नायिकाके साथ नायकका स्वप्नमें हुआ, द्वितीय मानसिक भावना द्वारा उस समय जब कि सखीने नायकके आनेका संवाद कहा और तीसरा नायकके साथ साक्षात्कार होने पर।

सीता-सहचरीजीका प्रथम-दर्शन भी बनियाको उस समय हुआ जब वे सन्तोंके लिए भोजन आदिका प्रबन्ध करनेके उद्देश्यसे बाहर निकली थीं। इस दर्शनका प्रभाव केवल इतना ही हुआ कि बनिया किसी न किसी भावसे उनके प्रति आकर्षित हुआ। दूसरे मिलनकी भूमिका सीता-सहचरीजीने स्वयं बाँधी और वह इस प्रकार कि जब साधु-सन्त प्रसाद ग्रहण कर रहे थे, तब सीताजीने भगवानसे मन-ही-मन यह प्रार्थना की कि उसकी विषय-बुद्धि दूर हो, और तीसरा साक्षात्कार तब हुआ जब पीपाजी उन्हें कन्धोंपर चढ़ाकर घर पहुँचाने गए। इस प्रकार भक्तिका प्रारंभ अज्ञात-रूपसे बनियाके हृदयमें उसी समयसे हुआ जानना चाहिये जब कि सीता-सहचरीजीको पहले-पहल उसने देखा। जो बीज-रूपमें हृदयमें था, वह तीसरी बार जब साक्षात्कार हुआ, तब प्रत्यक्ष भक्तिके रूपमें प्रकट हो गया।

श्रीपीपाजीका न्याय—कवित्त-संख्या २६८ में श्रीप्रियादासजीने बताया है कि राजा सूर्यसेनमलने एकबार श्रीपीपाजीको न्याय करनेके लिए बुलाया। जिस मामलेका न्याय करना था वह इस प्रकार बताया जाता है—

एक बार दो व्यक्ति राजा सूर्यसेनमलके दरबारमें पहुँचे। उनके साथ एक अत्यन्त रूपवती स्त्री थी। दो व्यक्तियोंमेंसे एक पथिक था। उसने कहा—"यह स्त्री मेरी है। हम दोनों यात्री हैं। मार्गमें मैं अपनी स्त्रीको तालाबके किनारेपर बिठा कर स्नान करने लगा। जब बाहर आया, तो यह व्यक्ति मुझे यहाँ बैठा हुआ मिला। यह कहता है कि स्त्री मेरी है। आप न्याय करें।"

राजाने स्त्रीकी ओर मुड़कर देखा, लेकिन वह इतनी डरी हुई थी कि उसके मुँहसे बोल भी नहीं निकलता था। वह पत्थरकी प्रतिमाकी भाँति जड़ बनकर वहाँ खड़ी थी।

अब राजा बड़े असमंजसमें पड़ गए। मंत्रियोंकी बुद्धिसे कुछ काम नहीं निकलता था। निदान राजाने पीपाजीको बुलाया। पीपाजीने आते ही औरतको सिरसे पैर तक देखा और सारा रहस्य समझ

गए। उन्होंने राजासे लोहेके तीन छोटे-बड़े सन्दूक और लोहेकी ही एक पेचदार ढक्कनवाली बोतल मँगवानेके लिये कहा। तीनों चीजें जब आगईं, तब पीपाजीने उन दोनों व्यक्तियोंसे कहा कि उनमें से जो कोई इस बोतलमें आधे घण्टे तक रह सकेगा, वही स्त्रीका स्वामी समझा जायगा। यह सुनकर पथिक तो चुप हो गया, लेकिन दूसरा तैयार हो गया और ज्योंही वह अदृश्य होकर बोतलमें घुसा, त्योंही पीपाजीने इशारा किया और झटसे राजाके एक नौकरने बोतलकी डाट कस कर चढ़ा दी। बादमें उनकी आज्ञासे उस बोतलको लोहे के सबसे छोटे सन्दूकमें रखा गया, उस सन्दूकको एक बड़े सन्दूकके अन्दर, और फिर दूसरे सन्दूकको तीसरेके अन्दर डाल कर उस पर लोहेका एक बड़ा मजबूत ताला डाल दिया गया और फिर सबको जमीनके अन्दर गड़वा दिया। इतना हो चुकने पर पीपाजीने राजासे कहा—"स्त्री इस पथिककी है। बोतलके अन्दर जो बन्द है, वह प्रेत है। उसे वहीं रहने दिया जाय।"

भक्ति-रस-बोधिनी

चलत चलत बात नृपति श्रवन परी, भरी सभा विप्र कहैं बड़ी बिपरीत है।
भूप मन आई यह निपट घटाई होत, भक्ति सरसाई नहीं जानै घटी प्रीति है॥
चले पीपा बोध दैन द्वार ही तें सुधि दई, लई सुनि कही आवौ करौं सेवा रीति है।
बड़ो मूढ़ राजा मोजा गाँठै बैठ्यौ मोची घर, सुनि दौरि आयो रहे ठाढ़े कौन नीति है॥३००॥

अर्थ—कन्धेपर चढ़ाकर अपनी स्त्रीको बनिये के घर पहुँचानेकी बात धीरे-धीरे राजाके कानों तक पहुँची। उधर राजदरबारमें ब्राह्मणोंने भी पीपाजीके आचरणकी निन्दा करते हुए कहा कि ऐसा करना तो धर्मके अत्यन्त विरुद्ध है। राजाने भी ब्राह्मणोंकी आलोचनासे प्रभावित होकर सोचा कि वास्तवमें यह तो बड़ा खोटा काम है। राजा भक्तिके यथार्थ मर्मको अभी तक पहिचान नहीं पाया था; फलस्वरूप पीपाजीके चरणोंमें उसकी पहली-जैसी श्रद्धा नहीं रही।

पीपाजीको राजापर दया आई और वे उसे समझाने के लिए चल दिये। ड्योढ़ियोंपर पहुँच कर उन्होंने राजाके पास अपने आनेकी सूचना भेजी। राजाने सुनकर कहलवा दिया कि वे इस समय पूजा कर रहे हैं। पीपाजीने यह उत्तर सुनकर कहा—"राजा बड़ा मूर्ख है। वह मोचीके घरपर मोजा (जूते) गाँठ रहा है और कहलवा यह दिया है कि मैं पूजा कर रहा हूँ।"

राजाने यह सुना तो दंग रह गया; (क्योंकि जिस समय उसने यह कहलवाया था कि मैं पूजा कर रहा हूँ, उस समय उसका मन वास्तवमें मोचीके पास गये हुए जोड़ेकी ही बात सोच रहा था।) वह दौड़ता हुआ आया और पीपाजीके चरणोंपर गिर पड़ा। पीपाजी तनिक भी विचलित न होकर (कठोर स्वरमें राजाको फटकारते हुए) बोले—"यह भजन करनेकी कौन सी रीति है?"

उक्त कवित्तसे श्रीपीपाजीकी दयालुताका पता लगता है। वे राजाके पास अपने सम्बन्धमें फैली गलत धारणाके निराकरणके लिए नहीं गए थे; गये वे इसलिए कि राजा अपने रास्तेसे भ्रष्ट हो रहा था और उसका पतन वे नहीं देख सकते थे। उसे ठीक रास्तेपर लानेके लिए ही पीपाजीने ऐसा चमत्कार दिखाया।

भक्ति-रस-बोधिनी

हुती घर मांझ बाँझ रानी एक रूपवती, मांगी "वही ल्यावी बेगि," चल्यौ, सोच भारी है।
डगमग पाँव धरै, पीपा सिंह रूप करै, ठाढ़ौ देखि डरै, इत आवै आप स्वारी है ॥
जाय तौ खिलाय गयौ, तिया ढिग सुत भयौ, नयौ भूमि पर "कला जानी न तिहारी है" ।
प्रगट्यौ सरूप निज, खीजि कै प्रसंग कह्यौ, कहाँ वह रंग, शिष्य भयौ लाज टारी है ॥३०१॥

अर्थ—राजा सूर्यसेनमलके रनिवासमें एक रूपवती बाँझ रानी थी । पीपाजी एक दिन राजासे बोले—"उस रानीको शीघ्र मेरे पास लाओ।" आज्ञा पाकर राजा रनिवासकी ओर चल तो दिया, किन्तु उसे यह संकोच होरहा था कि मैं किस मुँहसे रानीसे यह बात कहूँगा । इसी कारण उसके पैर लड़खड़ा रहे थे । वह थोड़ी दूर गया ही था कि उसे मार्गमें एक सिंह बैठा दिखाई दिया । राजा डर गया । न आगे बढ़ते बनता था, न पीछे हटते । दोनों ही बातों में बुराई थी । अचानक सिंहका रूप धारण करनेवाले पीपाजी न-जाने कहाँ अदृश्य होगए । रानीके पास पहुँचकर राजा क्या देखता है कि एक हालमें पैदा हुआ बालक वहाँ मौजूद है । राजाकी समझमें अब सारा रहस्य आगया । पृथ्वीपर झुक कर साष्टांग प्रणाम करते हुए उसने कहा—"हे महाराज ! आपकी कला जानी नहीं जाती ।"

राजाके द्वारा की गई इस प्रकारकी स्तुति सुनकर पीपाजी अपने असली रूपमें प्रकट होते हुए कुछ रोष-भरे स्वरमें बोले—"वह तेरा पुराना रंग कहाँ गया जब कि सब प्रकारकी लज्जाको तिलाञ्जलि देकर तू शिष्य हुआ था और वैराग्यकी प्रतिज्ञा की थी ?"

शंका-समाधान—पीपाजीने राजासे अपनी सबसे रूपवती रानीको समर्पित करनेके लिए क्यों कहा ? इसलिए कि उन्हें इस बातका प्रमाण मिल गया था कि सन्तोंमें और प्रभुमें राजाकी भक्ति अभी दृढ़ नहीं हुई है । इसीलिए तो और लोगोंके बहकावेमें आकर उसने समझ लिया कि पीपाजीने सीता-सहचरीको अपने कन्धोंपर चढ़ा कर निपटी बनियाके घर जो पहुँचाया, सो अच्छा काम नहीं किया । अपने गुरुके सम्बन्धमें राजाके भाव बदल गए थे—पहली जैसी भक्ति अब नहीं रह गई थी ।

पीपाजीने देखा, ऐसी कच्ची मतिवाले लोगोंको तर्क द्वारा समझानेसे काम नहीं चलेगा; क्योंकि ये प्रायः दुनियाँके साथ बह जाते हैं । एक पुरुषने इस बातकी परीक्षा लेनेके लिये कि उसकी स्त्रीके पेटमें बात पचती है कि नहीं, उससे एक दिन कहा कि—'मलद्वारसे मेरे आज एक कौवेका पर निकला है, लेकिन इस बातको तुम अपने तक ही रखना; किसीसे कहना मत ।' स्त्रीने शपथ खाकर इस बातको गुप्त रखनेकी प्रतिज्ञा की, लेकिन पतिके बाहर जाते ही अपनी एक सहेलीसे यह बात कह आई और इसे गुप्त रखनेको कहा । सहेलीने उस बातको कुएँपर पानी भरते हुए अन्य स्त्रियोंसे कहा और तब धीरे-धीरे सारे गाँवमें यह बात फैल गई कि अमुक व्यक्तिके पेटसे एक कौवा रोज निकलता है । इसे कहते हैं 'परका कौवा बन जाना ।' सब लोगोंने बिना सोचे-समझे उस बातपर विश्वास कर लिया ।

सीता-सहचरीसे सम्बन्धित घटना भी इसी प्रकार परका कौवा बनकर अनेक विकृत रूपोंमें राजाके पास पहुँची और उसने सच मान लिया । पीपाजी समझ गए कि गुरुके सम्बन्धमें राजाकी भेद-

बुद्धि है। वह अपनेको गुरुसे भिन्न मानता है। गुरुके प्रति आत्म-भावका जागृत न होना ही इसका कारण है। यह आत्म-भाव तब तक जागृत नहीं होता, जब तक सर्वतोभावेन अपने आपको गुरु या प्रभुके प्रति समर्पित नहीं कर दिया जाता। तभी तो भगवानने गीतामें अर्जुनसे कहा है—

यत् करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत् तपस्यसि कौन्तेय तत् कुरुष्व मदर्पणम्॥

—हे अर्जुन! तुम जो कुछ करते हो, जो कुछ खाते हो, जो कुछ हवन करते हो और जो कुछ देते हो, सबको मेरे अर्पण कर दो।

यह अभी राजा नहीं कर पाया था। उसने सारा राज्य पीपाजीको सौंप दिया था, लेकिन धन का त्याग करनेसे ही वैराग्यकी भावना जागृत नहीं हो जाती। आत्माका समर्पण होना चाहिए। यह समर्पण गोपियोंने अपने पति, पुत्र और लोक-मर्यादाको त्याग कर ही किया था। पीपाजीने विचारा, इस राजाकी सांसारिक भावना स्त्रीमें केन्द्रित है। यह समझता है,नारी ही आत्मा है। तभी तो सीताजीके बनियाके यहाँ चले जानेपर इसकी नैतिक भावनाको गहरा धक्का लगा। राजाका यह भ्रम दूर करना होगा। बस, उन्होंने राजासे उसकी रानीको माँग लिया—रानी भी वह जो सबसे रूपवती थी और जो, इसीलिए, राजाको सबसे ज्यादा प्यारी थी। पीपाजीने सोचा, यदि यह अपनी रानी मुझे निस्संकोच सौंप देता है और लोकापवादका विचार नहीं करता, तो मेरे द्वारा सीताको बनियाके यहाँ भेज देनेका रहस्य भी इसे विदित हो जायगा।

लेकिन ऐसा नहीं हुआ। पीपाजीके प्रस्तावको सुनते ही राजाके पैरोंके नीचेसे जमीन सरकने लगी। वह रनिवासकी ओर चला, लेकिन पैर साथ नहीं दे रहे थे। ऐसे अज्ञानियोंको सत्यका मार्ग दिखानेके लिए यह आवश्यक होगया कि पीपाजी कुछ चमत्कार दिखावें। वे सिंहका रूप रखकर सामने आये और फिर अदृश्य होगए। दूसरा चमत्कार रानीके पास नवजात शिशुका होना था। राजा समझ गया कि यह श्रीपीपाजीका ही विलास है। उसे उनकी शक्तिका ज्ञान होगया और उसके साथ-साथ उनकी निन्दा करनेवाले लोगोंकी मूर्खता का भी। रानीमें-से राजाकी आत्म-बुद्धि जाती रही और उसने उसे पीपाजीको सौंप दिया।

धनके त्याग और आत्माके समर्पणमें जो अन्तर है, उसे नीचेकी कुंडलियामें बड़े सुन्दर ढंगसे दिखाया गया है :—

देखौ बैल न छूट ही, छूटत हैगी गौन।
छूटत हैगी गौन, धनहिं अर्पे अज्ञानी,
आतम अर्पे बिना उरिन किमि ह्वै है प्रानी।
गौनि गिरै फिर धरै, दिये धन पुनि पावै धन,
बैल जो छूटे परै, एही विधि है अर्पत तन।
भार बोझते सो छुटै, यह विधि साधै कौन,
देखौ बैल न छूट हो, छूटत हैगी गौन॥

—प्राय: देखा जाता है कि बैलपरसे जुआ उतार लिया जाता है, पर बैल फिर भी बन्धनमें रहता है। उसकी मुक्ति तभी होती है, जब वह स्वयं जुआ तोड़कर भाग जाय। धन जुएके समान है।

जैसे जुआ उतार कर फिर रख दिया जाता है, उसी प्रकार त्याग देनेके बाद धन फिर हो जाता है । अतः सच्चा त्याग धनका नहीं आत्माका है—अहंत्वका है ।

भक्ति-रस-बोधिनी

किथौ उपदेश, नृप हृदै में प्रवेस कियौ, लियौ वही पन, आप आयौ निज धाम है ।
बोल्यौ एक नाम-साधु "एक निसि देहु तिया," "लेहु," कही "भागौ," संग भागी सीता वाम है ॥
प्रात भये चलै नाहिं, रैन ही की आज्ञा प्रभु, चल्यौ हारि, आगे घर-घर देखी ग्राम है ।
आयौ वाही ठौर "चलौ माता, पहुँचाय आवौं," आय गहे पाँव, भाव भयौ, गयौ काम है ॥३०२॥

अर्थ—राजाको जब बोध हो गया, तो पीपाजीने उसे भक्तिका उपदेश दिया । निर्मल अन्तःकरण होनेके कारण वह उपदेश राजाके घर कर गया । उसने फिर अपनी पहले-जैसी चर्या ग्रहण कर ली—भगवत्-पूजा तथा साधु-सेवामें रत हो गया । यह देखकर पीपाजी अपने स्थानको लौट आये ।

एक दिन साधुका कपट-वेष धारण किए हुए एक व्यभिचारी आपसे बोला—"एक रातके लिए अपनी स्त्री सीताको मुझे दे दीजिये ।" आपने कहा—"ले जाइए ।" उस व्यक्तिने सीता-सहचरीसे कहा—"मेरे साथ दौड़ती हुई चली आओ ।" आज्ञानुसार सीताजी उसके साथ दौड़ने लगीं, लेकिन इस प्रकार चलते-चलते जब सारी रात बीत गई और गन्तव्य-स्थान नहीं आया, तो प्रातःकाल होते ही सीताजी ठहर गईं । व्यभिचारीके पूछनेपर आपने कहा—"मेरे स्वामीने आपके साथ केवल रात-भर रहनेकी आज्ञा दी थी, सो रात तो बीत गई ।" इसपर वह दुष्ट पालकी लेनेके लिए पासके गाँवमें गया । वहाँ जाकर उसने देखा कि वहाँ तो हर एक घरमें सीताजी विद्यमान हैं । अब उसकी काम-बुद्धि जाती रही और उसने उसी जगह लौटकर, जहाँ कि वह सीताजीको छोड़ आया था, कहा—"माताजी, चलिए । मैं आपको श्रीपीपाजी महाराज के पास पहुँचा आऊँ ।" यह कह कर वह सीताजीके पैरोंपर गिर पड़ा और अपराधको क्षमा कर देनेकी प्रार्थना करने लगा । उसका हृदय अब भक्ति-भावसे परिपूर्ण होगया और चित्तमेंसे दूषित भावना निकल गई ।

भक्ति-रस-बोधिनी

विषई कुटिल चारि साधु-भेष लियौ धारि, कीनी मनोहारि "कही तिया निज दीजियै ।"
करि कै सिंगार सीता कोठे माँझ बैठी जाय, चाहैं मन आतुर ह्वै, प्रभू ! जाहु लीजियै ॥
गये जब द्वार उठी नाहरी तुकारिबे कौं, कारैं नहाँ थानौ जानि, आप अति छीजियै ।
अपनो विचारौ हियौ, कियौ भोग भावना कौ, मानि साँच, भये शिष्य प्रभु; मति धीजियै ॥३०३॥

अर्थ—चार बदमाश लम्पटोंने साधुओंका झूठा वेष बनाकर श्रीपीपाजीसे नम्रतापूर्वक प्रार्थना की—"अपनी स्त्री हमें दीजिए ।" पीपाजीकी आज्ञानुसार सीताजी सोलहो शृङ्गार कर घरके ऊपरके कोठेपर जा बैठीं । पीपाजीने चारों दुष्टोंको अधीर भावसे प्रतीक्षा करते देखकर

कहा—"आप लोग कोठेपर चले जाइए।" ज्यों ही ये लोग दरवाजेपर पहुँचे, त्योंही देखा कि अन्दर एक बाघिन बैठी है और गुर्रा रही है। इनका साधुओंका बाना देखकर उसने इन्हें फाड़ा नहीं; गुर्राकर पीछे हट गई। इसपर वे लोग बड़े खिसियाए और लौटकर पीपाजीपर क्रोध प्रकट करने लगे। आपने उत्तर दिया—"तुम लोगोंकी जैसी बुरी भावना थी वैसा ही दृश्य तुम्हारे सामने आया।" दुष्टोंने पीपाजीकी इस बातको सत्य मान लिया और दूसरी बार जब वे माताकी भावना लेकर सीताजीके पास गए, तो उन्होंने उन्हें पुत्रवत् ग्रहण किया। लौट कर ये पीपाजीके चरणोंमें गिर पड़े, अपने अपराधकी क्षमा माँगी और उनके शिष्य होगए। अब उनकी बुद्धि बदल गई और वे भगवानका भजन करने लगे।

अब टीकाकार श्रीप्रियादासजी आगेके दो कवित्तों द्वारा पीपाजीके विविध चरित्रोंका संक्षेपमें उल्लेख करेंगे।

भक्ति-रस-बोधिनी

गूजरी कों धन दियो, पियो दही सन्तनि नें, ब्राह्मनको भक्त कियौ, देवी दी निकारि कैं।
तेली कों जिवायो, भैंसि चोरनि पै फेरि ल्यायौ, गाड़ी भरि आयौ, तन पाँच ठौर जारि कैं॥
कागद लै कोरो करचौ, बनियाँको सोक हरचो, भरचो घर त्यागि, डारी हत्याहू उतारि कैं।
राजाको औसेर भई, सन्त को जु बिभौ वई, लई चौकी, मानि गये श्रीरंग उबारि कैं॥३०४॥

(१) **गूजरीका भाव-परिवर्तन**—एक दिन संतोंने पीपाजी से इच्छा प्रकट की कि श्रीराघवेन्द्र को आज दहीका भोग लगाना चाहिए। भगवान भक्तोंके मनोरथ पूर्ण करते हैं। दैववशसे उसी समय एक ग्वालिन उधर आ निकली। पीपाजीने दहीका दाम पूछा तो ग्वालिनने तीन रुपए बताये। लेकिन तीन रुपये छोड़, वहाँ तो तीन पैसेका भी जुगाड़ न था। पीपाजीने ग्वालिनसे कहा कि तू दही छोड़ जा; आज जो कुछ भेंटमें आएगा, वह सब तेरा ही होगा। ग्वालिन मान गई। दहीका भोग लगाया गया और सन्तोंने प्रेमसे प्रसाद ग्रहण किया। गूजरी इस बीच वहीं बैठी हुई सब देखती रही। उस दृश्यको देखकर उसके हृदयमें भी सन्तोंके प्रति किंचित् भक्ति जाग्रत हुई और उसने कहा—"महाराज! यदि कोई भक्त आज कुछ न चढ़ावे, तो यह सेवा मेरी ओर से ही समझ लीजिएगा।"

उसके यह कहते ही एक धनिक शिष्य वहाँ आ पहुँचा और उसने कुछ अशर्फियाँ तथा बहुमूल्य मोतियोंकी एक माला भेंट की। पीपाजीने वह सब उठाकर गूजरीको दे दिया। गूजरीने इतना सारा धन अपने जीवनमें कभी देखा नहीं था। उसे लेते हुए उसके हाथ काँप रहे थे। पीपाजी यह देखकर मुस्कराये और उसे समझा-बुझाकर घर भेज दिया। गूजरी इतने धनका क्या करती? कहाँ रखती? उसने अपने प्रयोजन-भरके लिये उसमें से कुछ अशर्फियाँ रख लीं और शेष सब पीपाजीके चरणोंमें भेंट कर दीं। उसकी ऐसी भक्ति देखकर पीपाजीने उसे अपना शिष्य बना लिया।

(२) **शाक्तसे वैष्णव**—एक ब्राह्मण शाक्त था। वह देवीकी उपासना किया करता था। एक दिन उसने किसी धार्मिक समारोहके उपलक्ष्यमें गाँव-भरके लोगोंको देवीका प्रसाद ग्रहण करनेके लिये आमंत्रित किया। सब लोग गए, पर पीपाजी नहीं पहुँचे। इसपर ब्राह्मण उनके घर गया और उनसे समारोहमें चलनेका विशेष आग्रह किया। श्रीरामचन्द्रजीके अनन्य-भक्त और परम वैष्णव पीपाजीने कहा

दिया—"जहाँ श्रीसीतारामका सम्बन्ध नहीं, वहाँ मैं नहीं जाता, पर यदि तुम देवीका भोग धरनेसे पूर्व भमनियामें-से श्रीसीतारामजीके पास पहुँचाओ, तो मैं आ जाऊँगा ।" ऐसा ही किया गया और तब पीपाजी ने प्रसाद ग्रहण किया ।

रातको स्वप्नमें देवीने ब्राह्मणसे कहा—"मुझे आज भूखा रहना पड़ा, क्योंकि भगवान्के पार्षदों ने मुझे मन्दिरसे बाहर निकाल दिया ।" ब्राह्मण प्रातःकाल जागा, तो उसकी आँखें खुल गईं । उसने सोचा—"जो देवी भगवत्-पार्षदोंसे अपनी ही रक्षा न कर सकी वह दूसरेकी अन्य किसीसे क्या रक्षा करेगी ?" वैष्णव-धर्मकी महिमाका उसे ज्ञान हो गया । बादमें गाँवमें जितने भी देवीके उपासक थे, सब पीपाजीकी दीक्षा ग्रहण कर वैष्णव बन गये ।

(३) **तेलीको जीवन-दान**—एक दिन कोई सुन्दरी, जो जातिकी तेलिन थी 'तेल लो !' की आवाज लगाती हुई फेरी दे रही थी कि पीपाजी ने बाहर निकल कर कहा—"तुम जैसी रूपवती को 'तेल लो' की आवाज लगाते फिरना शोभा नहीं देता; तुम तो 'सीताराम' 'सीताराम' कहो ।"

तेलिन ने एक कदम रुककर जवाब दिया—" 'सीताराम' तो विधवा स्त्रियाँ कहा करती हैं या किसीके मरने पर 'राम-राम सत्य है' कहते हुए लोग श्मशान-घाट पर साथ जाते हैं ।"

तेल बेचकर तेलिन घर पहुँची ही थी कि उसका पति दरवाजेकी चौखटसे टकरा कर धड़ाम-से पृथ्वी पर गिर पड़ा और नाक से खून देकर चलता बना । उसका शव जब पीपाजीके दरवाजेसे गुजर रहा था और रोती हुई तेलिन 'राम-राम सत्य है' कहती पीछे जा रही थी, तो पीपाजीने उसके सामने आकर कहा—"अन्तमें तुझे राम का नाम लेना ही पड़ा ।" तेलिन समझ गई कि पीपाजीके प्रति अपराध बन जानेके कारण ही उसका पति मर गया है। वह उनके पैरों पर गिर पड़ी और तेलीके प्राण-दानके लिए रो-रोकर प्रार्थना करने लगी । दयासे द्रवित होकर पीपाजीने आज्ञा दी कि 'श्री सीताराम' का नाम उच्चारण करते हुए घर लौट जा; तेरा पति प्रभु-कृपासे जीवित हो जायगा । ऐसा ही हुआ । तेलिनने जब घर आकर अपने पतिको जीवित पाया तो उसके आनन्दकी सीमा न रही और वह पीपाजी की शिष्या होकर भगवान्के भजनमें मग्न रहने लगी ।

(४) **भैंसका लौटवाना**—एक रातको कुछ चोर पीपाजीके घरमें घुस गए और उनकी भैंस खोल कर चल दिये । पीपाजी उस समय जाग रहे थे । उन्होंने जोरसे चिल्लाकर चोरोंसे कहा—"इस की पड़ियाको आप लोग क्यों छोड़े जा रहे हैं ? इसे भी लेते जाइए, नहीं तो भैंस दूध नहीं देगी ।" यह कहकर पड़िया लेकर वे चोरोंकी ओर दौड़े । उनकी इस प्रकारकी त्याग-वृत्ति को देखकर चोरोंकी भावना एकदम बदल गई और भैंस को लौटा कर वे पीपाजीके शिष्य हो गये ।

(५) **शरणागत लुटेरे**—एक बार पीपाजी अधिक भीड़-भाड़ के कारण भजनमें विघ्न होने पर गाँवसे अपनी स्त्री सीताजीके साथ वनमें जाकर एकान्तमें भजन करने लगे । लोगोंको इसका भी पता लग गया और एक दिन कोई महाजन गाड़ीमें बहुत-सी खाद्य-सामग्री भर कर उनकी सेवामें आ पहुँचा। उधर लुटेरे भी अपनी ताक लगाए बैठे थे । महाजनकी पीठ फिरते ही वे आ धमके । पीपाजीने उनकी अभिलाषा समझ कर उन्हें सब सामान ले जानेकी प्रसन्नतापूर्वक आज्ञा दे दी । लुटेरे उनकी इस उदारतापर कुछ चकराये, पर अपना लोभ संवरण नहीं कर सके । मालकी गाड़ी लेकर वे कुछ दूर

ही गए होंगे कि पीपाजी दौड़े हुए वहाँ आए और उन्हें वहाँ ठहराकर बोले—"कुछ रुपए मेरे पास और हैं; इन्हें भी लेते जाओ।" इतना सुनना था कि लुटेरे पानी-पानी होगए। नाम पूछनेपर उन्हें पता लगा कि ये ही प्रसिद्ध सन्त श्रीपीपाजी हैं। फिर क्या था ? वे उनके चरणोंपर गिर पड़े और दीक्षा-ग्रहण कर भगवानके भजनमें प्रवृत्त होगए।

(६) **अलौकिक चमत्कार**—एक दिन आस-पासके पाँच गाँवोंसे पीपाजीको निमन्त्रण आया। उन्होंने मनमें सोचा कि बारी-बारीसे वे पाँचों गाँवोंके समारोहोंमें थोड़ी-थोड़ी देरके लिये शामिल हो जायेंगे; क्योंकि जिसने प्रेमसे बुलाया है उसे निराश करना ठीक नहीं। पीपाजी जानेवाले ही थे कि अकस्मात् सन्तोंकी मण्डली घरपर आ पहुँची। सन्तोंकी सेवा अब कैसे छोड़ी जा सकती थी ? इधर वे उनके आदर-सत्कारमें जुटे रहे और दूसरी ओर कई शरीर धारण कर पाँचों गाँवोंके उत्सवोंमें भी भाग लिया। इस प्रकार आप रात-भर प्रत्येक उत्सवमें रहे और किसीको यह नहीं मालूम होने दिया कि पीपाजी नहीं आये हैं।

प्रात:काल होते ही एक गाँवके लोगोंने देखा कि पीपाजीने शरीर-त्याग दिया है। वहाँ आपकी दो शिष्या भी उपस्थित थीं। इस दुर्घटनाकी खबर सीताजीको देनेके लिए वे रोड़े गाँवको चल दीं। रास्तेमें वे चारों गाँव पड़ते थे जिनमें कि पिछली रातको समारोह हुए थे। दूसरे गाँवमें पहुँचकर शिष्याओंने देखा कि वहाँके लोग पीपाजीका दाह-संस्कार कर रहे हैं। उन्हें कुछ आश्चर्य तो हुआ, पर वे आगे बढ़ दीं। तीसरे गाँवमें भी उन्हें वही दृश्य देखनेको मिला और चौथे और पाँचवे गाँवोंमें भी यही। उनके आश्चर्यका पारावार तो था ही नहीं, पर यह निश्चित था कि पीपाजीका शरीरान्त होगया। रोती-बिलखती ज्यों ही वे रोड़े पहुँचीं, तो जो कुछ देखा उसपर आँखोंको विश्वास करना कठिन हो गया। वहाँ सन्त-समाजमें पीपाजी सीता-सहचरी-सहित प्रसन्न मुद्रामें भगवानका कीर्तन कर रहे थे। कीर्तन समाप्त होनेके बाद शिष्याओंने जो कुछ देखा था, उसका वृत्तान्त उपस्थित लोगों से कहा। अब लोगोंको विश्वास हो गया कि पीपाजी कोई अलौकिक आत्मा हैं, साधारण मनुष्य नहीं।

(७) **कोरे कागजकी कहानी**—पीपाजीके पास जब रुपया नहीं होता था, तब वे महाजनोंसे उधार लेकर काम चलाते थे, पर सन्तोंकी सेवा अवश्य करते थे। एक बार एक महाजनका बहुत-सा रुपया कर्जा होगया और बार-बार माँगनेपर भी जब पीपाजी नहीं चुका सके, तो उसने मामला पंचों के सामने रक्खा। पंचोंने हिसाब-किताब देखनेके लिए महाजनसे बही तलब की। महाजनने बहीके पन्ने उलटे, तो अवाक् रह गया। जिस पृष्ठपर पीपाजीके ऋणके रुपये दर्ज किए थे, वह बिलकुल कोरा पड़ा था—एक कलम भी कहीं पीपाजीके नामपर नहीं दर्ज थी।

इसपर पंचोंको बड़ा क्रोध आया और वे उसे उलटा दण्ड देनेकी सोचने लगे। महाजनके आश्चर्य का ठिकाना न था। वह बार-बार पंचोंको विश्वास दिलानेका प्रयत्न कर रहा था, लेकिन उसकी मानता कौन ? यह चख-चख चल ही रही थी कि पीपाजीका भेजा हुआ एक आदमी वहाँ आया और उसने यह सन्देश कहा कि महाजनके रुपये पीपाजीपर चाहिए, लेकिन चूँकि वह जल्दी कर रहा था और उसे पीपाजीकी नेकनीयतपर से विश्वास उठ गया था, अत: उसकी बही भगवत्-कृपासे कोरी होगई। यह आश्चर्य देखकर एक दूसरे महाजनने पीपाजीके सब रुपये व्याज-सहित उसी समय चुका दिये। पहला

महाजन अपनी कमीनी करतूतपर बड़ा लज्जित हुआ और पीपाजीके चरणोंमें सिर रख कर अपने अपराधकी क्षमा माँगी।

(८) **त्यागी पीपाजी**—गृहस्थ होते हुए भी पीपाजी महान् त्यागी थे। साधु-सेवाका उनका व्रत था। कभी उनका घर घी, आटा, चावल और रुपयोंसे भरा रहता था, तो कभी कानी कौड़ी भी नहीं रहती थी। लेकिन अभावकी दशामें पीपाजीको दुःख नहीं होता था और रुपये रहनेपर उनके प्रति ममता नहीं होती थी। प्रायः वे भरा हुआ घर छोड़ कर सीताजीके साथ जंगलमें निकल जाते और महीनों तक एकान्तमें भगवानका चिन्तन किया करते थे। साधु-सेवाको वे भजनसे बढ़ कर समझते थे, पर मायाका प्रपंच उनकी सात्विक वृत्तिको आच्छादित नहीं कर पाता था।

(९) **गो-हत्यारेका उद्धार**—पीपाजीके दयालु स्वभावका अनुमान इससे लगाया जा सकता है कि वे भयंकर-से-भयंकर पापियोंसे भी सहानुभूतिका व्यवहार करते थे। एक बार एक ब्राह्मणको गो-हत्या के अपराधमें समाजसे बहिष्कृत कर दिया गया। उसके हाथका न कोई पानी पीता था और न उसे कोई पास बैठने देता था। बेचारा ब्राह्मण आत्म-ग्लानिसे मरा जाता था। जब कहीं उसे सहारा नहीं दिखाई दिया, तब वह पीपाजीकी शरणमें गया और अपनी दुःख-गाथा उन्हें सुनाई। पीपाजीने उसे अनेक प्रकारसे सान्त्वना दी और भगवत्-चरणामृत और प्रसाद देकर विदा किया। ब्राह्मणने सोचा कि पीपाजीके चरणामृत तथा प्रसाद देनेका प्रभाव ब्राह्मणोंपर अवश्य पड़ेगा और वे उसे जातिमें मिला लेंगे, पर इतनेपर भी ब्राह्मण-वर्ग नहीं माना। अब पीपाजीने दूसरा उपाय किया। उन्होंने उस ब्राह्मणके हाथों श्रीहनुमानजीका भोग लगवाया। भोग उतरनेके बाद उन्होंने सब ब्राह्मणोंको बुलाकर कहा—"अब आप देखिये कि इस ब्राह्मणके हाथों रक्खा गया भोग श्रीहनुमानजीने अङ्गीकार किया है या नहीं।" ब्राह्मणोंने देखा कि भोगमेंसे हनुमानजीने ग्रहण किया था और इसके चिन्ह वहाँ पाये गए। ब्राह्मण बहुत लज्जित हुए और उन्होंने अपनी भूल स्वीकार करते हुए उस ब्राह्मणको जातिमें फिर ले लिया।

(१०) **पीपाजीकी भक्त-वत्सलता**—राजा सूर्यसेनमलको श्रीपीपाजीके दर्शन किए बहुत दिन हो गए थे। एक दिन अकस्मात् उनकी उत्कंठा इतनी प्रबल हो उठी कि उन्होंने गुरुजीको खोजनेके लिए चारों दिशाओंमें घुड़सवार दौड़ा दिए। इनमेंसे एकको पूरे बीस दिन जंगलोंकी खाक छाननेके बाद पीपाजीके दर्शन हुए और उसने अपने राजाकी प्रार्थना कह सुनाई। पीपाजीने उत्तर दिया—"हमें बहुत दिन पहले ही राजाके मनोरथका पता लग गया है। उन्हें यहाँ आनेकी आवश्यकता नहीं। हम स्वयं वहाँ उपस्थित होंगे।"

पीपाजीने हरकारेको इस आशयका एक पत्र भी लिखकर दे दिया। घुड़सवारके जानेके उपरान्त ही पीपाजी अलौकिक शक्तिसे राजाके पास पहुँच गए और उसे दर्शन देकर कृतकृत्य किया। इसके कई दिन बाद घुड़सवार जब पहुँचा, तो राजाको पीपाजीकी योग-शक्ति और भक्त-वात्सल्यताका पता लगा।

(११) **परोपकार-भावना**—संसारके प्रपंचोंसे दूर रहते हुए भी पीपाजी परोपकार करनेके अवसरसे नहीं चूकते थे। यदि किसी भक्तको सन्तोंकी सेवाके लिए द्रव्यकी आवश्यकता पड़ती, तो वे कहीं न कहींसे उसका प्रबन्ध किये बिना दम नहीं लेते थे। एक सन्तको तो आपने राजा सूर्यसेनमलसे ही द्रव्य दिलवाया था।

(१२) अभिमान्य-शून्यता—पीपाजीको अपनी प्रतिष्ठाका जरा भी विचार नहीं था। जो कोई बुलाता चट-से चले जाते। एक बार श्रीअनन्तानन्द स्वामीके एक शिष्य श्रीरंगदासजीने* आपसे दर्शन देने का पत्र द्वारा अनुरोध किया। पत्र पाते ही पीपाजी चल दिये। गुरु-परम्परामें यह आपके भी शिष्य लगते थे, लेकिन आपको इसका तनिक भी विचार नहीं हुआ कि शिष्यके यहाँ कैसे जायें।

भक्ति-रस-बोधिनी

श्री रंग के चेत धरयौ, तिय हिय भाव भरयो, ब्राह्मन को शोक हरयौ, राजा पै पुजाय कें।
चँवरा बुझाय लियौ, तेली को लै बैल दियौ, दियौ पुनि घर मांझ भयौ सुख आयकें॥
बड़ोई अकाल परयो, जीव दुख दूरि करयौ, परयौ भूमि गर्भ-धन पायौ दै लुटाय कें।
अति बिसतार लियें, कियौ है बिचार, यह सुनै एक बार फेरि भूलै नहीं गाय कें॥३०५॥

(१३) श्रीरंगको शिक्षा—एक समय श्रीरंगदासजी मानसिक उपासनाके प्रसंगमें जब भगवान का शृङ्गार कर रहे थे, तो बार-बार प्रयत्न करने पर भी प्रभुके गलेमें फूलोंकी माला नहीं पहिना पारहे थे। श्रीपीपाजी श्रीरंगदासजीके बुलाये हुए उस समय वहीं उपस्थित थे। श्रीरंगदासजीने अपनी कठिनाई पीपाजीको नहीं बताई, पर अपने भक्तकी परेशानी उनसे छिपी न रह सकी। उन्होंने श्रीरंगजीको बताया कि प्रभुके मस्तकपर से पहले मुकुट तो उतारो, तब माला पहिनाना। यह सुनकर श्रीरंगदासजीके आश्चर्यकी सीमा न रही और उन्होंने उसी समय ध्यान विसर्जित कर श्रीपीपाजीके चरणोंमें दंडवत् किया। अपने इस भक्तके निवास-स्थानपर पीपाजी और सीता-सहचरी बहुत दिनों तक सुखपूर्वक रहे।

(१४) रूपका उपयोग—इन्हीं दिनोंकी एक घटना है कि जहाँ पीपाजी विराजते थे उसके पास ही दो नीच जातिकी स्त्रियाँ गोबर इकट्ठा कर रही थीं। उनका रूप-लावण्य अनुपम था। पीपाजीने युवतियोंकी ओर संकेत करते हुए श्री रंगदासजी से कहा—"देखो, ये कितनी सुन्दर हैं, पर इन्हें यह ज्ञान नहीं कि यह अनुपम संपत्ति इन्हें भगवानकी कृपासे प्राप्त हुई है और इसका विनियोग भगवान की सेवामें होना चाहिए, न कि गोबर बीन कर उदर-पूर्ति करने में।" कहने की आवश्यकता नहीं कि पीपाजी को भगवानके ये शब्द उस समय याद आरहे थे—

यद्यद् विभूतिमत् सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम्॥

हे अर्जुन! जो-जो भी विभूतियुक्त, अर्थात् ऐश्वर्ययुक्त, कान्तियुक्त, और शक्तियुक्त वस्तु है, उसे तू मेरे तेजके अंशसे ही उत्पन्न हुई जान।

जिस जीवको भगवानकी दी हुई कोई विभूति—चाहे विद्या हो, गुण हो या शारीरिक रूप हो, प्राप्त हो, उसका तथा उसके मूल स्रोतका ज्ञान उसे होना चाहिए। बेचारी गोबर बीननेवाली स्त्रियोंको इसका पता न था। उन्हें शायद इसका भी ज्ञान न था कि वे सुन्दरी हैं। अतः पहले भगवानकी इस विभूतिका ज्ञान करानेके उद्देश्यसे पीपाजी उनके पास पहुँचे और उनके रूपमें भगवानकी भावना करते हुए बोले—"सुन्दरियो! क्या तुम्हें मालूम है कि तुम कौन हो और भगवानने इतना रूप देकर तुम्हें किस लिए यहाँ भेजा है?"

* श्रीरंगजी के चरित्र के लिए देखिए यही टीका—कवित्त ११० पृष्ठ संख्या २६४

स्त्रियाँ एक क्षणके लिए रुकीं और बगलमें खड़े हुए दोनों-सन्तोंकी ओर मुड़कर देखने लगीं । न-जाने वे क्या कह रहे थे ? उनकी समझमें कुछ आया नहीं । यह देखकर पीपाजी फिर बोले—"क्या तुम्हें मालूम है कि तुम दोनोंका शरीर कितना सुन्दर है ?"

स्त्रियोंकी नजरें संतोंकी ओरसे फिर कर अपने सुडौल अंगोंपर घूम गईं और तब उन्होंने मुस्करा दिया । उनकी बच्चों-जैसी भोली आँखें फूलकी तरह खिल उठीं । आँखोंके उन दरवाजोंसे उनके अन्तरतममें स्थित भगवान श्री राघवेन्द्रकी श्यामल मूर्तिको मानों झाँकते हुए पीपाजी कुछ कहनेको ही थे कि श्रीरंग पूछ बैठे—"रूपका उपयोग, गुरुदेव, जब अपनेसे इतरके ही लिए होता है, तो उसके ज्ञानका अर्थ क्या है ? माताके रूपका सबसे बड़ा पारखी पुत्र होता है; स्त्रीके रूपका पति होता है । फूलोंकी सुकुमारता और उनके रंगीन वैभवका ज्ञान क्या उन्हें स्वयं होता है? और होता हो, तो उनका उपयोग उनके स्वयंके लिए क्या है ? गुरुदेव ! वर्षा-ऋतुमें धरित्रीका शस्य-श्यामल यौवन अपने लिए झूमता है या ऊपर फैली हुई अनन्त आकाशकी भुजाओंके लिए ?"

"श्रीरंग ! तुम वही तो कह रहे हो जो मैं कहना चाहता था," पीपाजीने कहा, "मैं भी तो यही चाहता हूँ कि इन स्त्रियोंका यह रूप भगवानकी सेवाके लिए समर्पित हो, न कि गोबर बीनने-जैसे तुच्छ कार्यके लिए ।"

"यह तो 'हम रूपवती हैं' इस ज्ञानके बिना भी हो सकता है । समर्पण तो आत्माका धर्म है, न कि शरीरका ।"

"लेकिन जिसे यही नहीं मालूम कि मेरे पास समर्पण-योग्य कुछ है, वह क्या समर्पण करेगा ?" पीपाजीने कहा, "ज्ञान स्वयं समर्पण है—यह ज्ञान कि अंगोंके पार्थिव सौष्ठवकी परिणतिका बोध जिस अमूर्त लावण्य में होता है, वह अनन्त चित्का ही अंश है और इस अंशको अंशीमें मिला देना ही रूपकी रूपवत्ता है—अपूर्णकी पूर्णता है ।"

"लेकिन ये गँवार ग्वालिनें आपके इस दार्शनिक तत्त्वको कैसे समझ पाएँगी ?" श्रीरगने पूछा ।

"समझानेकी जरूरत भी नहीं है," पीपाजीने उत्तर दिया, "भगवानकी ओर प्रवृत्त होनेके लिए एक बहाना चाहिए—प्रेरणा समझ लो । यह प्रेरणा कभी साधु सेवासे मिलती है, कभी शास्त्र-ज्ञानसे, कभी वैराग्यसे और कभी अपनी क्षमताके परिचयसे । भगवत्-कृपा इस सबके मूलमें है । उसके बिना कुछ नहीं होता । मैं इसे भगवानकी कृपा ही समझता हूँ कि मुझे इन देवियोंके दर्शन का सौभाग्य प्राप्त हुआ और मेरा विश्वास है कि प्रभु इनके ऊपर अवश्य कृपा करेंगे—इनका उद्धार होकर रहेगा ।"

श्रीरंगदासने कृतकृत्य होकर पीपाजीके चरणोंमें सिर झुका दिया । यह देखकर दोनों युवतियाँ भी सकुचती हुई आगे आईं और पीपीजीके चरण छूकर पीछे हट गईं ।

पीपाजीने कहा—"तुम्हें नहीं मालूम कि मेरे चरण छूकर तुम दोनोंने मुझे कितना अपराधी बना दिया है। तुम तो भगवानकी सुन्दरतम सृष्टि हो—नहीं, स्वयं भगवान हो। अपने आपको पहिचानो !"

यह कहकर पीपाजीने एक भरपूर दृष्टि उनपर डाली । श्रीरंगने देखा कि उस दृष्टिकी दिव्य ज्योतिके नीचे उन दोनोंके भौतिक जीवनका पल-भरमें संस्कार-सा होगया । उनकी मद-भरी आँखें शालीनतासे पीपाके चरणोंमें झुक गईं। लेकिन अभी वे गंभीर थीं, जैसे भीतर कोई अन्तर्द्वन्द्व चल रहा हो।

पीपाजीने उनके चोरको पकड़ते हुए कहा—"सुन्दरियो ! क्या अपने परवालोंके बारेमें सोच रही हो ?"

युवतियोंके पलक प्रत्चयंसे पीपाजीके मुखारविन्दकी ओर उठे और फिर झुक गए—अबकी लज्जा से। क्षण-भरके लिए उनके तरुण चहरोंपर एक लाल झाईं सी चढ़ कर उतर गई।

पीपाजीने कहा—"छोड़ो इस मोहको। संसारके सब सम्बन्ध बन्धन-मात्र हैं। सौभाग्यसे तुम्हारे कोई सन्तान नहीं। तुम स्वतंत्र हो।"

तरुणियोंकी गर्दनें ऊपरकी ओर फिर उठीं और उनकी चितवनें किसी सुदूर लोकमें कुछ खोजती-सी मालूम पड़ने लगीं।

पीपाजीने एकाएक मानों आविष्ट होकर पुकारा—"सुनती नहीं हो ? तुम्हें कोई बुला रहा है—सुदूर पारसे एक आवाज आ रही है। आओ मेरे साथ ! विलम्ब करनेका समय नहीं है।

और दूसरे क्षण राम-नामकी ध्वनि-प्रतिध्वनिके बीच तीनों चल दिए। श्रीरंग पागल-से खड़े हुए देखते रह गए।

(१५) **पीपाजीकी दीन-बन्धुता**—एक निर्धन ब्राह्मणको अपनी कन्याके विवाहके लिये द्रव्यकी आवश्यकता थी। वह पहुँचा पीपाजीके पास। पीपाजीने ब्राह्मणके हाथ वहांके राजाको इस आशयका एक पत्र लिख भेजा कि पत्र-वाहक ब्राह्मण मेरे गुरु हैं और इनकी सहायता करना तुम्हारा कर्त्तव्य है। पीपाजीकी सदाशयतासे राजा इतना प्रभावित हुआ कि कन्याके विवाहका सारा भार उसने अपने ही ऊपर ले लिया।

(१६) **अलौकिक शक्ति-प्रदर्शन**—एक एकादशीकी रातको टोड़े नगरमें राजा सूर्यसेनमलके यहाँ भगवत्-संकीर्तन होरहा था। श्रीपीपाजी उस समय वहीं उपस्थित थे। कीर्तन करते-करते पीपाजी एकाएक अपने दोनों हाथ मलने लगे। लोगोंने देखा कि पीपाजीकी हथेलियाँ कालिमासे भर गई हैं। पूछने पर पीपाजीने बताया कि उसी समय श्रीद्वारकाजीमें भगवानके श्रीविग्रहके ऊपर टँगे हुए चँदोवेमें आग लग गई थी जिसे बुझानेमें उनके हाथ काले होगए थे। इस घटनाकी जाँच कराने पर वह सत्य प्रमाणित हुई।

(१७) **तेलीके बैलकी कथा**—दुखियोंके दुखको तत्काल दूर करनेका पीपाजीका स्वभाव-सा होगया था। एक दिन वे तालाबमें स्नान करनेके लिए गए। वहाँ किसी तेलीका लड़का अपने बैलको पानी पिलानेके लिए लाया। संयोगसे उसी समय एक ब्राह्मणने आकर पीपाजीसे विनती की—"महाराज ! मैं खेती करता हूँ, पर बैल न होनेसे बड़ा दुखी हूँ। कृपा कर मुझे कहींसे एक बैल दिलवा दीजिए।"

पीपाजीने तत्काल तेलीके बैलकी नाथ पकड़ कर ब्राह्मणके हाथोंमें थमा दी और वह बैल लेकर चलता बना।

तेलीका लड़का अब लगा रोने-चिल्लाने। पीपाजीने उसे समझाते हुए कहा—"मैंने तेरा बैल ब्राह्मणको नहीं दिया है। तेरा बैल तो तेरे घरपर बँधा हुआ है। जाकर देख तो सही।"

लड़केने घर आकर देखा तो वास्तवमें उसका बैल वहीं बँधा था। पीपाजीके इस चमत्कारसे तेली इतना प्रभावित हुआ कि उसी क्षण वह शिष्य होगया।

(१८) पीपाजीकी प्रजा-पालकता—एक बार राजा सूर्यसेनमलके राज्यमें अकाल पड़ा। राजा के बहुत प्रयत्न करनेपर भी प्रजा भूखों मरने लगी। यह देखकर राजाने पीपाजीकी शरण ली। पीपाजी ने अपनी कुटियामें ही बैठे रह कर दीन-दुःखियोंको सैकड़ों मन अनाज बाँटा और धरतीके नीचे गड़े धनको जगह-जगहसे निकाल कर दुर्भिक्ष-पीड़ित जनताको दिया। इस प्रकार पीपाजीकी कृपासे प्रजाने दुर्भिक्षके उस समयको बड़े आनन्दसे निकाल दिया।

टीकाकार श्री प्रियादासजी कहते हैं कि श्रीपीपाजीके चरित्र अनेक हैं और विस्तृत हैं। उन्होंने संक्षेपमें ही उनका यहाँ सोच-विचार कर वर्णन किया है। जो कोई एक बार इन चरित्रोंको सुन लेता है, कभी भूलता नहीं। बल्कि उसका जी चाहता है कि वह उन्हें गाया करे।

मूल (छप्पय)

(श्रीधनाजी)

घर आए हरिदास तिनहिं गोधूम खवाए।
तात मात डर खेत थोथ लांगलहिं चलाए॥
आस पास कृषिकार खेत की करत बड़ाई।
भक्त भजे की रीति प्रगट परतीति जु पाई॥
अचरज मानत जगत मैं कहुँ निपज्यौ कहुँवै बयो।
धन्य धना के भजन कौं बिनहिं बीज अंकुर भयो॥६२॥

अर्थ—श्रीधनाजीके भजनके प्रभावको धन्य है। एक बार जो गेहूँ खेतमें बोनेके लिए उन्हें दिया गया था, उसे उन्होंने घरपर आये हुए सन्तोंको खिला दिया और माता-पिताके डर से खेतको खाली ही जोत दिया ताकि उन्हें यह शंका न हो कि बीज नहीं डाला गया है। पड़ोसियोंको यह भेद मालूम था। वे व्यंग-पूर्वक कहते थे कि खेत तो धनाके उपजें तब देखना। किन्तु भगवानकी महिमा किसीसे जानी नहीं जाती। धनाजीके सम्बन्धमें लोगोंने भजनकी रीति तथा प्रतीति प्रत्यक्ष देख ली। लोग इस बातको आज भी बड़े आश्चर्यसे सुनते हैं कि बीज बोया गया किसी और खेतमें और उपजा दूसरे खेत में। श्रीधनाजीके खेत में, इस प्रकार बिना बीज बोए ही अंकुर फूट पड़े और समय पाकर खेत लहलहाने लगा।

भक्ति-रस-बोधिनी

खेत की तौ बात कही प्रगट कवित्त माँझ, और एक सुनो, भई प्रथम जु रीति है।
आयौ साधु-विप्र धाम, सेवा अभिराम करै, ढरयौ ढिग आप, कही मोहूँ दीजै प्रीति है॥
पाथर लै दियौ, अति सावधान कियौ, छाती महँ लाय जियौ, सेवैं जैसो नेह-नीति है।
रोटी धर आगे आँखि मूँदि लियौ, परदा कै, छियौ नहीं टूक, देखि भई बड़ी भीति है॥३०६॥

अर्थ–बिना बीजके खेत उपजनेकी वार्ता तो श्रीनाभास्वामीने स्पष्ट रूपसे अपने छप्पयमें कह दी है (अतः उसे फिर उसी रूपमें कहनेसे कोई लाभ नहीं।) अब पाठकगण दूसरी घटना सुनें जिससे विदित होगा कि किस प्रकार धनाजीके हृदयमें पहले-पहल भक्ति-भावना उदित हुई। एक बार एक भक्त-ब्राह्मण आपके घरपर आकर ठहरे। उन्हें बड़ी सुन्दर रीतिसे भगवान की पूजा करते हुए धनाजीने देखा। आप उनके पास पहुँच कर बोले—"मुझे भी ठाकुरजी दीजिए; भगवानकी पूजामें मेरा बड़ा प्रेम है।"

भक्त-ब्राह्मणने धनाजीको एक गोल-मटोल पत्थर उठाकर दे दिया और कह दिया कि इसकी बड़ी सावधानीसे सेवा-पूजा करना; कहीं कोई त्रुटि न रह जाय। धनाजीने श्रीविग्रहको लेकर अपनी छातीसे लगा लिया और विधि-पूर्वक प्रेमसे सेवा करने लगे। जब भोग लगाने का समय आया, तो आपने, ब्राह्मण-भक्तकी परिपाटीके अनुसार, रोटियाँ भगवानके सामने रखकर आँखें बन्द कर लीं। किन्तु कुछ देर बाद आँखें खोलनेपर जब देखा कि भगवानने एक टुकड़ा भी स्वीकार नहीं किया, तो आपको बड़ा डर लगा कि कोई अपराध बन जानेके कारण प्रभु रुष्ट तो नहीं हो गए हैं।

भक्ति-रस-बोधिनी

बार-बार पाँव परे, अरे, भूख-प्यास तजी, धरे हिये साँचो भाव पाई प्रभु प्यारियै।
छाक नित आवै सोकै, भोग कौं लगावै, जोई छोड़ै सोई पावै, प्रीति-रीति कछु न्यारियै॥
जाको कोऊ आय ताको टहल बनाय करे, ल्यावत चराय गाय हरि उर धारियै।
आयौ फिरि विप्र नेह सोच हूँ न पायौ कहूँ, सरसायौ बातें लै दिखायौ स्याम प्यारियै॥३०७॥

अर्थ––अब धनाजी ठाकुरजीके चरणोंपर बार-बार प्रणाम करने लगे और अड़ गए कि खाना ही पड़ेगा। इतने पर भी भगवान जब नहीं पसीजे, तो धनाजीने भी अन्न-जल ग्रहण करना छोड़ दिया। अन्तमें भगवानने जब देखा कि धनाजीका प्रेम सच्चा है, तो प्रभु प्रसन्न होकर रोज रोटियाँ खाने लगे। धनाजी जंगलमें गाय चराने जाया करते थे और उनके लिये कलेवा वहीं पहुँचता था। उसमें रोटी, महेरी आदि जो कुछ आता, वे उसीका बड़े प्रेमसे भगवानको भोग लगाते और प्रभुके खानेपर जो बच रहता, उतने ही को प्रसाद-रूपमें स्वयं लेते। प्रेमका मार्ग ऐसा ही अनोखा है। इसमें भूख-प्यास आदिका कुछ भी ध्यान नहीं रहता। एक दिन भगवान धनाजीसे कहने लगे—"देखो धना! दुनियाँका कायदा है कि जो जिसका खाता है, वह उसकी टहल करता है, अतः हम भी तुम्हारी गायोंको चरा लाया करेंगे।"

बस, भगवान अब धनाजीकी गायोंको स्वयं चराने ले जाया करते। एक दिन वही भक्त-ब्राह्मण जिसने धनाजीको पूजाके लिए पाषाण-विग्रह दिया था, उनके घर आये और वहाँ पूजा-पत्रीका कोई भी चिन्ह न देखकर धनाजीसे पूछा कि श्रीविग्रह कहाँ कर दिया? धनाजीने सब हाल सत्य-सत्य कह सुनाया। अब तो ब्राह्मणदेवके आश्चर्यका ठिकाना नहीं रहा। भगवानके

दर्शनकी तीव्र लालसासे उनका हृदय सरस होगया और उन्होंने धनाजीसे प्रार्थना की कि किसी प्रकार उन्हें भी प्रभुका दर्शन करा दें। धनाजी उन्हें उस स्थानपर ले गए जहाँ भगवान गायें चरा रहे थे, किन्तु वे ब्राह्मणके चर्म-चक्षुओंको दिखाई न पड़े। निदान जब धनाजीने आपसे दर्शन देनेकी प्रार्थना की, तो भगवान ब्राह्मणके समक्ष प्रत्यक्ष हुए और इस प्रकार निराशासे मानों मरे हुए ब्राह्मणको पुनः जीवन-दान दिया।

भक्ति-रस-बोधिनी

द्विज लखि गायनि मैं चायन समात नाहिं, भायन को चोट दृग लागी नीर झरी है।
आय कै भवन सीता-रवन प्रसन्न करैं, बड़े भाग मानि प्रीति वैसी जैसी करी है॥
धना को, दयाल ह्वै कै, आज्ञा प्रभु दई "ढरो, करौ, गुरु रामानन्द, भक्ति मति हरी है।"
भये शिष्य जाय, आप छाती सौं लगाय लिये, किये गृह-काम सबै, सुनी जैसी धरी है॥३०८॥

अर्थ—धनाजीकी गायोंके बीचमें भगवानका दर्शन कर ब्राह्मणके हृदयका आनन्द समा नहीं पा रहा था। प्रभुकी अनुपम रूप-छविका दर्शन कर हृदयपर प्रेमकी ऐसी गहरी चोट पड़ी कि आँखोंसे झर-झर करके आँसू बरसने लगे। घर पहुँचकर उसने निश्चय किया कि मैं भी धनाजीकी तरह इष्टदेव श्रीसीतारामजीको इसी प्रकार प्रसन्न करनेका प्रयत्न करूँगा। यह मेरा बड़ा सौभाग्य है कि धनाजीकी कृपासे मुझे भगवानके दर्शन मिले। यह सोचकर धनाजी का जैसा प्रेम और भक्तिकी रीति देखी थी, उसीका वह अनुसरण करने लगा।

ब्राह्मणके चले जानेपर भगवानने धनाजीको आज्ञा दी—"तुम्हारी भक्तिसे मैं प्रसन्न हूँ, किन्तु आचार्य बिना जीवकी गति नहीं है, अतः तुम स्वामी रामानन्दजीसे दीक्षा ग्रहण करो।" भगवानकी आज्ञानुसार धनाजी श्रीरामानन्दजीके शिष्य हो गए। दीक्षा लेकर जब वे घर लौटे, तो भगवानने अत्यन्त स्नेहसे उन्हें छातीसे लगा लिया। इसके उपरान्त धनाजी घर पर ही रहे। अन्तःकरणसे भगवानकी उपासनामें लीन रहते हुए वे संसारके सब व्यवहारोंको करते थे।

टीकाकार श्रीप्रियादासजी कहते हैं कि उन्होंने सन्तोंसे धनाजीका चरित्र जिस रूपमें सुना था, वैसा ही यहाँ वर्णन किया है।

श्रीधनाजीका जन्म अनुमानतः वि० सं० १४७२ में टौंक इलाकेके धुअन गाँव (राजस्थान) में एक जाट-परिवारमें हुआ था। इनके पदोंका एक उदाहरण देखिए—

रे चित चेतस की न दयाल दमोदर बिबहि न जानसि कोई।
जे धावहि खंड ब्रह्मिंड कउ, करता करै सु होई॥
जननी केरे उदर उदक महि पिंडु किआ दस दुआरा।
देइ अहारु अगनि महि राखै ऐसा खसम हमारा॥

कुंभी जल माहिं तन तिसु बाहरि पंख खीर तिन्हु नाही।
पूरन परमानन्द मनोहर समझि देखु मन माही ॥
पाथरि कीटु गुपतु होइ रहता ताको मारगु नाही।
कहै 'धना' पूरन ताहू को मत रे जीअ डराही ॥

—

मूल (छप्पय)

(श्रीसेनजी)

प्रभू दास के काज रूप नापित को कीनो।
छिप्र छुरहरी गही पानि दर्पन तहँ लीनो ॥
तादृस ह्वै तिहिं काल भूप के तेल लगायो।
उलटि राव भयो सिष्य प्रगट परचो जब पायो ॥
स्याम रहत सनमुख सदा ज्यों बच्छा हित धेन के।
बिदित बात जग जानिये हरि भए सहायक सेन के ॥६३॥

अर्थ—भगवानने अपने दास (श्रीसेनजी) का काम करनेके लिये नाईका रूप धारण किया। आपने शीघ्र ही पेटीको कन्धेपर लटकाया और हाथमें दर्पण लेकर बाँधीगढ़ बघेलाके राजाके यहाँ ठीक समयपर पहुँचकर तेल लगाया। बादमें राजाको जब मालूम हुआ कि स्वयं प्रभु ही श्रीसेनका रूप रखकर आये थे और उसकी परिचर्या की थी, तो वह श्रीसेनजीका शिष्य होगया।

जिस प्रकार गाय अपने बछड़ेका हित करनेके लिये सदा उद्यत रहती है, उसी प्रकार श्यामसुन्दर भी अपने भक्तका कल्याण करनेके लिए सदा तत्पर रहते हैं।

यह बात संसारमें सबको मालूम है कि भगवानने अपने भक्त श्रीसेनकी किस प्रकार सहायता की।

भक्ति-रस-बोधिनी

"बाँधौगढ़" वास, हरि साधु सेवा आस लागी, पगी मति अति, प्रभु परचौ दिखायौ है।
करि नित-नेम, चल्यौ भूप कौं लगाऊँ तेल, भयौ मग मेल संत, फिरि घर आयौ है ॥
टहल बनाय करी, नृप की न संक करी, धरि उर स्याम जाय भूपति रिझायौ है।
पाछे सैन गयौ, पंथ पूछे, हिये रंग छायौ, भयौ अचरज राजा बचन सुनायौ है ॥३०६॥

अर्थ—श्रीसेनजी बघेलखंड प्रान्तके बान्धवगढ़के रहनेवाले थे। आपके हृदयमें श्रीराघवेन्द्रकी तथा साधु-सन्तोंकी सेवा करनेकी अभिलाषा सदा जाग्रत रहती थी। एक दिन भगवानने प्रत्यक्षमें अपनी भक्त-वत्सलताका परिचय जिस तरह दिया, वह घटना इस प्रकार है—

एक दिन श्रीसेनजी प्रभुकी सेवाके नित्य-नियमसे निवृत्त होकर राजा बीरसिंहके ते लगानेको जा रहे कि मार्गमें बहुत-से सन्तोंसे भेंट होगई। आप सन्तोंको साथ ले उलटे पै लौटकर घर आ गये। आपने इसकी तनिक भी चिन्ता न की कि समयपर न पहुँचनेसे रा साहब रुष्ट होंगे और सन्तोंके स्वागत-सत्कारमें जुट पड़े। अपने भक्तको इस प्रकार व्यस्त दे कर भगवान श्यामसुन्दरने श्रीसेनका वेष धारण किया और राजाके पास यथासमय उपस्थि होकर तेल लगाया। आज राजाको अपार प्रसन्नता हुई। भगवानके कोमल स्पर्शका ऐसा सु उसको इससे पूर्व नहीं मिला था, अतः उस दिन तेल लगवाकर उसने और दिनोंसे अधिक सु का अनुभव किया। साधु-सेवासे निश्चिन्त होकर अब श्रीसेनजी राजाके तेल लगानेको चले, र रास्तेमें लोगोंसे पूछनेपर उन्हें पता लगा कि उन्हीं-जैसा कोई व्यक्ति तेल लगा आया था। ब आश्चर्य हुआ उन्हें यह सुनकर। उन्होंने सोचा कि अवश्य प्रभुने कुछ कौतुक कर दिखाया है उनका हृदय भक्ति-भावनासे सराबोर हो गया। अन्तमें श्रीसेनजी राजाके सामने हाजिर हुए।

भक्ति-रस-बोधिनी

"फेरि कैसे आये?" सुनि अति ही लजाये, कही "सदन पधारे संत, भई यों अबार है।
आवन न पायो, वाही सेवा अरुझायो," राजा दौरि सिर नायौ, देखो महिमा अपार है॥
भीजि गयौ हियौ, दास-भाव दृढ़ लियौ, पियौ भक्ति-रस, शिष्य हूँ कै जान्यौ सोई सार है।
अब लौं हूँ प्रीति, सुत-नाती वही रीति चलैं, होय जो प्रतीति प्रभु पावैं निरधार है॥३१०॥

अर्थ—राजाने पूछा—"कहिये, आप फिर कैसे आये?"

श्रीसेनने समझा कि उनके समयपर न पहुँचनेके कारण राजा उनसे जवाब तलब कर रह है, अतः लज्जासे उनका सिर झुक गया और बोले—"राजन्! घरपर कुछ सन्त-लोग आग थे; उन्हींकी सेवा-सत्कारमें उलझे रहनेके कारण विलम्ब हो गया।" यह सुनते ही एक क्षण राजाको सारा रहस्य समझमें आगया। वह जान गया कि श्रीसेनके रूपमें अवश्य प्रभु ही पधा होंगे, नहीं तो किसके हाथका स्पर्श इतना कोमल और सुखदायी हो सकता है? बस, दौड़कर व श्रीसेनके चरणोंपर गिर पड़ा और जान गया कि श्रीसेनकी अपार महिमा है। राजा बीरसेनक हृदय, इस घटनासे, प्रभुकी भक्तिमें सराबोर हो गया और उसने अविचल-भावसे श्रीसेनक दासता स्वीकार कर ली। उनसे दीक्षा लेकर राजाने भक्ति-रूपी अमृतका निरन्तर पान किया अब उसे मालूम होगया कि हरि और गुरुकी भक्ति ही संसारमें एकमात्र सार पदार्थ है, शे सब तो विडम्बना-मात्र है।

टीकाकार श्रीप्रियादासजी कहते हैं कि राजा बीरसेनके पुत्र-पौत्र आदि अपने पूर्वपुरु द्वारा स्थापित की गई उसी भक्ति-प्रणालीका अनुसरण करते हुए भगवानके चरणोंमें दृढ़ निष्ठ रखते चले आ रहे हैं। यदि भगवानके चरणोंमें सच्ची लगन है तो प्रभु अवश्य मिलते हैं।

मूल (छप्पय)

(श्रीसुखानन्दजी)

सुख सागर की छाप राग-गौरी रुचि न्यारी।
पद रचना गुरु मंत्र मनों आगम अनुहारी ॥
निसि दिन प्रेम प्रवाह द्रवत भूधर ज्यों निर्झर।
हरि गुन कथा अगाध भाल राजत लीला भर ॥
संत कंज पोषन विमल अति पियूष सरसी सरस।
भक्ति दान भय हरन भुज सुखानंद पारस परस ॥६४॥

अर्थ—श्रीसुखानन्दजी द्वारा बनाये हुए पदोंमें 'सुख-सागर' की छाप है। जैसे सूरदासजी के पदोंमें 'सूरस्याम' की तथा श्रीमीराबाईके पदोंमें 'गिरिधर नागर' की है। आपने प्रायः 'गौरी' रागमें पद बनाये हैं। आपकी पद-रचना क्या है, गुरु-मंत्र है—हृदयमें विश्वास पैदा करनेवाली और उसपर प्रभाव डालनेवाली। आपके भाव वेद-पुराण आदि शास्त्रोंमें प्रतिपादित विचारोंके अनुकूल थे। शास्त्र-विरुद्ध कोई बात आपने नहीं कही। आपके नेत्रोंसे (या रचनाओंसे) प्रेम-प्रवाह इस प्रकार उमड़ता था जैसे पर्वतसे झरने। भगवानके अनन्त गुणोंका कीर्तन करनेमें आप दिन-रात मग्न रहते थे। भगवानकी लीलाओंका अपनी कथामें वर्णन करते समय आपके जगमगाते हुए प्रशस्त ललाटकी शोभा देखने ही लायक होती थी। आप मानों एक प्रकारके सरस सरोवर थे जो श्रीहरिके कथामृतसे छलछलाया करता था। सरोवरके निर्मल जलमें जिस प्रकार कमलोंको जीवन-दान मिलता है, उसी प्रकार आपकी भगवत्-कथा द्वारा सन्तोंके हृदयोंको प्राण-दान मिलता था।

श्रीसुखानन्दजी सन्तोंको भक्ति देनेवाले थे और उनके सांसारिक भयको दूर करनेके लिए श्रीरघुवीरकी भुजाके समान थे। विषय-वासना और सांसारिक प्रपंचोंमें फँसे हुए, लोहेके समान मलिन जीवोंके लिए आपका सत्संग-रूपी स्पर्श पारस-मणिका काम करता था। अर्थात् जिस प्रकार पारसको छूकर लोहा-जैसी निकृष्ट धातु सुवर्ण हो जाती है, वैसे ही श्रीसुखानन्दजीके संपर्कमें आकर पापी-से-पापी मनुष्य भी भगवानके भक्त बन जाते थे।

भक्तमालकी टीकाओंमें निम्नलिखित पद सुखानन्दजीकी रचनाके रूपमें उद्धृत किया है—

मधुपुरी क्यों न चलो हरिस्याम।
बलि जाऊँ रजधानी कैसे छाँड़ि गोकुल सो ग्राम ॥
नंद जसोदा की रट मैटो बेगि चलो उठि धाम।
निसि बासर कहूँ कल न परति है सुमिरत तेरो नाम ॥

तब तुम बेनु बजाय बुलाई कालिन्दी के तीर ।
अब वे बातें क्यों बिसरेंगी हरि हलधर दोउ बीर ।।
गोपबधू ब्रजमंडल मंडन जब मिलि जोरें हाथ ।
सुखानंद स्वामी सुखसागर बेगि चलो उठि साथ ।।

सुखानन्दजी स्वामी श्रीरामानन्दजीके साढ़े-बारह शिष्योंमें-से एक बतलाये जाते हैं। रामानन्द-सम्प्रदायी होते हुए भी उन्होंने कृष्ण-भक्ति-परक कविता बनाई, यह आश्चर्यकी बात है। सम्भव है, वे स्वच्छन्द-वृत्तिके कवि हों। पाठक देखेंगे कि उपरिलिखित पद सूरदासजीकी शैलीपर बनाया गया है। यदि सुखानन्दजी रामानन्दजीके शिष्य थे, तो सूरदासजी और उनके कालमें १०० वर्षका अन्तर तो अवश्य है। ऐसेमें हमें सन्देह है कि उक्त पद उन्हीं सुखानन्दजी द्वारा रचित हो सकता है।

सन्त सुखानन्दजीके जीवन-वृत्तपर प्रियादासजी महाराजकी टीका नहीं मिलती। इनका संक्षिप्त चरित्र श्रीबालकरामजीकी टीका 'भक्तदाम गुण चित्रनी' (पत्र २२७) के आधारपर यहाँ दिया जाता है।

श्रीसुखानन्दजीकी कथा पारस-पत्थरके समान हृदयके समस्त विकारोंको दूर करनेवाली है। उसे सुनिए। एक शाह बड़ा धनवान् था, किन्तु वह कंजूस और पराई स्त्रीको बुरी दृष्टिसे देखनेवाला था। जब राजाको उसकी नीचताका पता लगा तो उसने अपने कर्मचारियोंको उसे पकड़ने भेज दिया। शाहको इस बातका पता लगा तो वह समस्त अवगुणोंको त्यागकर श्रीसुखानन्दजीकी शरणमें आ गया और सब समाचार कह सुनाया। सुखानन्दजीने कहा—"यदि ऐसी बात है तो यहीं बैठे रहिए।" शाहने ऐसा ही किया। जब राज-पुरुषोंको शाहके बारेमें समाचार मिला तो वे वहीं जा पहुँचे और उसे बन्दी बना लिया गया। श्रीसुखानन्दजीके मना करनेपर भी वे नहीं माने। राजाने निर्णय दिया—"इस शाहमें रोज सुबह कोड़ोंकी मार पड़नी चाहिए।"

रातको कारागारमें शाह पड़ा रहा और पड़े-पड़े सो भी गया, पर सुखानन्दजीको विश्राम कहाँ? उन्होंने भगवानसे शाहकी मुक्तिके लिए प्रार्थना की। प्रभु तो अत्यन्त दयालु ठहरे। भक्तकी प्रार्थना वे अवश्य सुनते हैं। इस समय भी भक्तके आग्रह करनेपर भगवान की कृपा द्वारा शाह कारागारसे निकलकर सुखानन्दजीके आश्रममें आ गया।

दूसरा दिन हुआ तो राज-पुरुष शाहमें कोड़े लगानेके लिए जेलमें पहुँचे, किन्तु वहां शाहको न देख कर सबको बड़ा आश्चर्य हुआ। इधर-उधर खोज की गई, पर सब व्यर्थ। अन्तमें पुन: श्रीसुखानन्दजीके आश्रममें आकर देखा तो शाह वहाँ बैठा हुआ था। इस अद्वितीय चमत्कारसे लोगोंको आश्चर्य तो महान् हुआ, किन्तु फिर भी वे शाहको पकड़े बिना नहीं माने। श्रीसुखानन्दने इस बार जब फिर प्रभु श्रीरामचन्द्रजी महाराजसे प्रार्थना की तो उन्होंने अपने दास हनुमानजीको भेज दिया। श्रीहनुमानजीने आते ही समस्त राज-पुरुषोंको पछाड़ कर जमीनपर दे मारा। इसका समाचार पहुँचा राजाके पास और वह इस चमत्कारको सुनकर अत्यन्त डरता हुआ स्वामीजीके चरणोंमें आकर गिर पड़ा। श्रीसुखानन्दजीने उसे क्षमा कर दिया और भगवद्भक्तिका उपदेश देकर उसे दीक्षा दी। शाहको भी महात्माजीने उपासना की पद्धति बतलाकर अपना शिष्य बना लिया।

एक दिन प्रातःकाल ही भगवद्भक्तिमें निमग्न होकर श्रीसुखानन्दजी भजन गा रहे थे। मधुर स्वरसे सम्पूर्ण वनस्थली गूँज उठी। एक मृगके कानमें भी वह अमर नाद पहुँच गया और सुखानन्दजीके पास आकर बैठ गया एवं बड़े ध्यानसे उनका गाना सुनने लगा। उसी समय एक शिकारी उधर आ निकला और उस मृगपर निशाना लगाया। सुखानन्दजीने मना किया, किन्तु अपने बलके कारण वह न माना। जैसे ही शिकारीने मृगकी ओर देखकर अपना लक्ष्य बाँधा कि उसे वह एक लाल सिंहके रूपमें दिखाई देने लगा। देखते ही राजकुमार बेहोश होकर जमीनपर गिर पड़ा। जब उसे होश आया तो वहाँ केवल महात्मा श्रीसुखानन्दजी दिखाई दिए। वह समझ गया कि सब सन्त महाराजकी ही कृपा है, अतः वह उनके चरणोंपर गिर पड़ा और उनसे भक्तिका उपदेश ग्रहण किया।

इसी प्रकार एक बार रास्तेमें इनके साथ बहुतसे सन्त थे। उन्होंने कहा—"हमको बड़ी जोरकी भूख लगी है।" सुखानन्दजीने जब यह सुना तो भक्ति-पूर्ण भजन गाने लगे। उसी समय प्रेमाश्रुओंकी वर्षा करते हुए अनेक नरनारी आगए और बहुत-सा पकवान एवं सीधा सन्तोंको अर्पण किया।

मूल (छप्पय)

(श्रीसुरसुरानन्दजी)

एक समै अध्वा चलत बरा वाक-छल पाये।
देखादेखी सिष्य तिनहूँ पीछे ते खाये॥
तिन पर स्वामी खिजे बवन करि बिन बिस्वासी।
तिन तैसे परतच्छ भूमि पर कीनी रासी॥
सुरसुरी सुबर पुनि उदगले पुहुप रेनु तुलसी हरी।
महिमा महाप्रसाद की सुरसुरानंद साँची करी॥६५॥

अर्थ—एक समय शिष्योंके साथ यात्रा करते हुए श्रीसुरसुरानन्दजीने एक दुष्टकी बातोंमें आकर उड़दके बने हुए बड़े प्रसाद-बुद्धिसे पा लिए। (यह दुष्ट वैष्णवोंसे द्वेष रखता था, अतः उसने उड़दके बड़ोंके अन्दर मांस रखकर उन्हें सिद्ध किया और फिर ऊपर तुलसी-दल छोड़कर श्रीसुरसुरानन्दजीके पास आकर कपट-भरी नम्रतासे कहा—"यह भगवानका प्रसाद है; ग्रहण करिए।" स्वामीजीने उसमेंसे थोड़ा-सा लेकर प्रभुका ध्यान करते हुए, खा लिया।) शिष्य लोग स्वामीजीसे पीछे रह गए थे। उन्हें भी उस दुष्टने उसी प्रकार चकमा देकर वैसे ही बड़े दिए और वे लोग स्वाद-ही-स्वादमें बहुत-सा खागए। स्वामीजीको जब इसका पता लगा, तो वे शिष्योंपर बड़े नाराज हुए (क्योंकि जो वस्तु प्रसाद मानकर ग्रहण की जाती है, उसे भगवद्-बुद्धिसे ग्रहण करना उचित है,) और उन्होंने आज्ञा दी—"जो कुछ तुम लोगोंने

खाया है, सबको वमन कर दो ।" शिष्योंने वैसा ही किया और उलट कर निकाले गए बड़ों का ढेर पृथ्वीपर लग गया । इसके बाद सुरसुरीजीके पतिदेव श्रीसुरसुरानन्दजीने भी (मुँहमें अँगुली डालकर) खाये हुए बड़ेको उगल दिया । लेकिन स्वामीजीके मुँहसे जो वस्तु बाहर निकली वह उड़दका बड़ा नहीं था, बल्कि हरी तुलसी, फूल और रेणु थी । यह प्रसाद-बुद्धि की महिमा थी कि ऐसा अपवित्र पदार्थ भी तुलसी-फूल जैसी पवित्र वस्तुओंमें बदल गया ।

इस प्रकार श्रीसुरसुरानन्दजीने महाप्रसादकी महिमाको वैसा ही सत्य प्रमाणित कर दिखा दिया जैसा कि भक्ति-शास्त्रोंमें लिखा गया है ।

मूल (छप्पय)

(श्रीसुरसुरीदेवीजी)

अति उदार दंपती त्यागि गृह बन को गवने ।
अचरज भयो तहँ एक संत सुन जिन हो बिमने ॥
बैठे हुते एकान्त आय असुरनि दुख दीयो ।
सुमिरे सारंगपानि रूप नरहरि को कीयो ॥
सुरसुरानंद की घरनि को सत राख्यो नरसिंह जयो ।
महासती सत ऊपमा त्यों सत सुरसरि को रह्यो ॥६६॥

अर्थ—अत्यन्त उदार भावनाओंसे परिपूर्ण श्रीसुरसुरानन्दजी और उनकी धर्म-पत्नी श्री-सुरसुरीजी एक बार घर-द्वार छोड़कर वनको चले गए । वहाँ रहते हुए इन लोगोंके साथ एक आश्चर्यजनक घटना घटी जिसे सुनकर सज्जन-लोगोंको दुखी होनेकी आवश्यकता नहीं है; क्योंकि जब तक भक्तोंके ऊपर भगवानका हाथ है, तब तक संसारकी कोई भी शक्ति उनका अनिष्ट नहीं कर सकती ।

घटना इस प्रकार है कि एक समय दोनों स्त्री-पुरुष एकान्तमें बैठे हुए भगवानके भजनमें मग्न थे कि एकाएक कुछ मुसलमान वहाँ आ पहुँचे और सुरसुरीजीका अनुपम रूप-लावण्य देख-कर उनका अपहरण करना चाहा । संकटका समय उपस्थित जान दोनोंने शार्ङ्गपाणि भगवानका स्मरण किया । उसी क्षण प्रभु नरसिंहका रूप धारण कर आए और दुष्टोंका संहारकर सुरसुरीजी के पातिव्रत-धर्मकी रक्षा की ।

इस प्रकार अरुन्धती, अनुसूया, लोपामुद्रा आदि महासतियोंसे जिनके सत्त्व (तेज) की उपमा दी जा सकती है, ऐसी सुरसुरीजीका पातिव्रत-धर्म अखण्ड रहा ।

मूल (छप्पय)

(श्रीनरहरियानन्दजी)

भ्रर घर लकरी नाहिं सक्ति को सदन बिदारैं।
सक्ति भक्त सों बोलि दिनहिं प्रति बरही डारैं॥
लगी परोसी हौंस भवानी भै सो मारैं।
बदले की बेगारि मूड़ वाके सिर डारैं॥
भरत प्रसंग ज्यों कालिका लहू देखि तन में तई।
निपट नरहरियानंद को करदाता दुरगा भई॥६७॥

अर्थ—एक बार वर्षाकी झड़ी लग जानेके कारण श्रीनरहरियानन्दजीके घरमें लकड़ियाँ नहीं रहीं। परिणाम यह हुआ कि ठाकुर-सेवामें विघ्न पड़ता दिखाई दिया। कोई चारा न देख श्री-नरहरियानन्दजी पास ही के एक देवीके मन्दिरको उजाड़नेके लिए आमादा हो गए; (आप कुल्हाड़ी लेकर मन्दिरको तोड़नेके लिए जा पहुँचे)। इसपर देवीने प्रत्यक्ष होकर ऐसा न करने की प्रार्थना की और उनसे यह प्रतिज्ञा की कि वह नित्य-प्रति उनके घर लकड़ी पहुँचा दिया करेगी। इस प्रतिज्ञाके अनुसार देवी रोज एक बरही (लकड़ीका भारी बोझ) स्वयं स्वामीजीके घरपर डाल आती थी।

देवीको इस प्रकार बेगार करते देख कर एक पड़ौसीके मनमें भी इसी प्रकार मुफ्त लकड़ी डलवानेकी इच्छा हुई और वह भी नरहरियानन्दजीकी तरह कुल्हाड़ी लेकर मन्दिरको उजाड़ने के लिए जा पहुँचा। यह देखकर भवानीने (उसके शरीरमें प्रवेश कर) उसे पृथ्वीपर पछाड़ दिया और वह अधमरा होकर सिसकने लगा। लोगोंको जब इसका पता लगा, तो उन्होंने देवीसे उसका अपराध क्षमा करनेकी प्रार्थना की। देवीने अपनी बेगार उसके सिरपर लादकर उसे छोड़ दिया। अर्थात् उससे यह वायदा करा लिया कि वह लकड़ीका एक बोझ नित्य नरहरि-यानन्दजीके घर पहुँचा दिया करेगा। उस दिनसे देवीकी बेगार उस लोभी व्यक्तिके सिरपर पड़ गई।

श्रीनरहरियानन्दजी महाराजका चरित्र "भक्तदाम गुण चित्रनी" टीका, पत्र २२६ पर कुछ प्रकारान्तरसे इस प्रकार दिया है—

श्रीनरहरियानन्दजी बड़े सन्तसेवी थे। जब कभी उनके घर सन्त आ जाते थे उस समय वे सब कुछ भूल कर उनके आदर-सत्कारमें लग जाते थे। एक बार बरसातके दिनोंमें ऐसा हुआ कि सन्त तो आगए और घरकी सब लकड़ी समाप्त होगई। अब उनके भोजनको रसोई कैसे तैयार हो ? श्रीनरहरियानन्दजी निकल पड़े कुल्हाड़ी लेकर, पर वनमें कहीं भी सूखी लकड़ीका नाम भी नहीं था। उसी समय उनकी

निगाह एक देवीके मन्दिरपर गई । वहाँके दरवाजे खिड़की आदिकी लकड़ी जब उन्होंने सूखी देखी तो कुल्हाड़ी लेकर लगे उसे काटने । उसी समय देवीने प्रकट होकर इनसे मना किया तो ये बोले—"हमें तो साधु-सेवाके लिए लकड़ीकी आवश्यकता है । अब तू ही बतला कि हम क्या करें ?"

देवी दो क्षणके लिए मौन हो गई; सोचने लगी—"यदि कोई उपाय न बतलाया तो यह अभी सारा मन्दिर तोड़ कर ले जावेगा ।" अन्तमें वह बोली—"अच्छा आप जाइए । साधु-सेवाके लिए मैं रोज एक गट्ठर लकड़ी आपके घर पहुँचा दिया करूँगी ।" उसी दिनसे वह लकड़ी पहुँचाने लगी ।

कुछ समय बाद एक दिन साधु-सेवाके लिए घीकी आवश्यकता पड़ी । गाँवमें किसीके भी यहाँ घी मिला नहीं । अब श्रीनरहरियानन्दजी चिन्तामें पड़ गए । उसी समय देवी लकड़ीका गट्ठर लेकर आई । उसे देखकर वे बोले—"आज तो कहीं-से घी लाकर दो ।" वह पासके गाँवमें गई और घी लाकर दिया ।

नरहरियानन्दजीके पास ही एक जाटका घर था । उसकी जाटनीने जब यह सुना तो वह अपने पतिसे बोली—"तुम भी नरहरियानन्दजीकी तरह देवीसे लकड़ी क्यों नहीं मँगा लेते ? व्यर्थ इसमें पैसा खराब करते हो ।"

जाटके मनमें यह बात बैठ गई और वह भी कुल्हाड़ी लेकर देवीके मन्दिरमें पहुँचा और उसे तोड़ने लगा । इसके बाद जो हुआ वह टीकाकारकी ही वाणीमें देखिए—

तब देवी प्रतिमा तज कोपी । प्रगट विकट तन धरि रिषि रोपी ॥
जट के बदन थाप इक मारी । परची भूमि बंका मुख धारो ॥
कौतुक देखन जाटी ईंछे । आई तहाँ जाट के पीछे ॥
ताहि देख देवी अति कटकी । मारि लात सूँ धर परि पटकी ॥
दई त्रास बहु गारी भंडी । सन्त होड तू ठानत रंडी ॥
सिंह होड ज्यों जंबुक करई । तिन सूँ कहाँ मत्त गज मरई ? ॥
कपि ज्यूँ कहाँ स्वान तरु चढ़ई ? पंडित ज्यों की मूरख पढ़ई ? ॥
पिक ज्यों कहा काक गिरि भाषे ? बिन चकोर को ग्रपथिवि चाखै ॥
त्यों हरिजन सम तुम हूँ न रंडी । तू किम होड करहि सठ भंडी ॥
समरथ हरिके भक्त बड़ेरा । सकल देव हुकमी तिन केरा ॥
हरि हू तिनके हुकुम बहाई । जिन अनन्य हरि शरण गहाई ॥"

देवीकी इन बातोंको सुनकर काँपते हुए जाट-जाटनी उसके चरणोंमें गिर पड़े और अपराध की क्षमा माँगने लगे । देवी बोली—"यदि तुम बचना चाहते हो तो एक काम करो, सन्तोंका एक विशाल भंडारा कराओ और आजसे ही एक गट्ठर लकड़ी रोज नरहरियानन्दजीके यहाँ डालना शुरू करदो ।"

जाट-दम्पतिने यह दण्ड स्वीकार कर लिया और उसी दिनसे एक गट्ठर लकड़ी नरहरियानन्दजी के घर डालने लगा ।

(श्रीलड्डूभक्तजी)

ऊपरके छप्पयमें श्रीजड़भरतजी तथा लड्डूभक्तकी चर्चा की गई है । श्रीजड़भरतजी का आख्यान पृष्ठ-संख्या १५७ में लिखा जा चुका है । श्रीलड्डूभक्तजीके साथ भी ठीक उसी प्रकारकी घटना घटी जैसी कि

श्रीजड़भरतजीके साथ। कहते हैं, लड्डू स्वामी बड़े हृष्ट-पुष्ट और कान्तिमान् भक्त थे। श्रीजड़भरतजी तरह आप भी प्रभुके प्रेममें पागलों-जैसे आचरण किया करते थे। एक बार आप भ्रमण करते-क बंगाल प्रदेशके एक ऐसे स्थानमें पहुँच गए जहाँ शक्तिके उपासक नर-बलि देकर देवीको प्रसन्न कि करते थे। श्रीलड्डूभक्तको इस कार्यके लिए अत्यन्त उपयुक्त व्यक्ति देखकर कुछ लोग उन्हें पकड़ ले' और दुर्गाजीके मन्दिरमें उनकी बलि देना चाहा। लेकिन इन दुष्टोंकी अभिलाषा पूरी नहीं हुई। ज्यों उनमेंसे एकने श्रीलड्डूभक्तका सिर काटनेके लिए खड्ग उठाया त्योंही देवीने उसे छीन लिया और उस सब घातकोंका वध कर दिया। गाँवके लोगोंने जब लड्डू-भक्तका यह चमत्कार देखा, तो सब उनके पैरों पड़ गए और उसी दिनसे सारा गाँव भगवद्-भक्त होगया।

यहाँ तक—श्रीरैदासजीसे लेकर श्री नरहरियानन्द-पर्यन्त श्रीस्वामी रामानन्दजीके शिष्यों वर्णन हुआ। रैदासजीसे पूर्वके स्वामी अनन्तानन्दजी आदि तो रामानन्दीय संप्रदायके स्तम्भ ही म जाते हैं। यहाँसे आगे कबीरदासके दो शिष्योंका वर्णन किया जायगा।

मूल—छप्पय

(श्रीपद्मनाभजी)

नाम महानिधि मंत्र, नाम ही सेवा-पूजा।
जप तप तीरथ नाम, नाम बिन और न दूजा॥
नाम प्रीति नाम बैर नाम कहि नामी बोलैं।
नाम अजामिल साखि नाम बंधन ते खोलैं॥
नाम अधिक रघुनाथ ते राम निकट हनुमत कह्यो।
कबीर कृपा ते परम तत्त्व पद्मनाभ परचौ लह्यो॥६८॥

अर्थ—श्री पद्मनाभजीके मतमें श्रीराम-नामकी महानिधि ही सबसे बड़ा मंत्र था। नाम-जपको ही आप भगवान्की सच्ची सेवा—पूजा मानते थे। आपके लिए रामका नाम ही जप, तप और सब तीर्थोंका तीर्थ था। नामके अतिरिक्त अन्य किसी तत्त्व या साधनको स्वीकार करना आपको नहीं रुचता था। राम-नामका उच्चारण करनेवालोंसे आप प्रेम करते थे और नामके विरोधियोंको अपना शत्रु कहकर पुकारते थे। नामी अर्थात् श्रीरामचन्द्रजीकी उपासना भी आप नामके रूपमें करते थे। नामके प्रभावका सबसे बड़ा प्रमाण अजामिल है जो पुत्रके नामके बहानेसे 'नारायण' नाम लेकर तर गया। रामका नाम संसारके सब बन्धनों से जीवको छुड़ा देता है। श्रीहनुमानजीने भी प्रभु श्रीरामचन्द्रजीसे कहा था—"हे प्रभो! आपका नाम आपसे भी बड़ा है। अपने गुरु श्रीकबीरदासजीकी कृपासे श्रीपद्मनाभजीको राम-नामके प्रभावका प्रत्यक्ष परिचय मिला।

हनुमानजीने श्रीरामचन्द्रजीसे जो शब्द कहे थे, वे इस प्रकार हैं—

राम त्वत्तोऽधिकं नाम इति मे निश्चिता मतिः ।
त्वयैका तारिताऽयोध्या नाम्ना तु भुवनत्रयम् ॥

—हे राम ! यह मेरी ध्रुव धारणा है कि आपके नामका माहात्म्य आपसे कहीं बढ़कर है; क्योंकि आपने तो केवल अकेली अयोध्याका उद्धार किया था; आपके नामने तो तीनों लोकोंको तार दिया ।

अजामिलने तो पुत्रको बुलाते समय सीधा 'नारायण' नाम तो भी लिया था, लेकिन कृपा-रामजीने कवित्तमें जिस घटनाका उल्लेख किया गया है, उसमें तो कोई बुड्ढा रास्तेमें एक सूअरसे टकरा कर मर गया और सूअरको गालीके रूपमें उसके मुंहसे निकल पड़ा—"हराम जातका ।" संयोगसे पटक लगते ही बूढ़े राम चल बसे और पहुँचे सीधे बैकुण्ठ धामको । 'हराम' शब्दमेंके अन्तिम दो अक्षरोंने सहज ही में उन्हें तार दिया ।

भक्ति-रस-बोधिनी

कासी बासी साहु भयो कोढ़ो, सो निबाहु कैसे, परि गये कृमि, चल्यौ बूड़िबे कों, भीर है ।
निकसे 'पदम' आय, पूछी ढिग जाय, कही गही देह खोलौ गुन न्हाय गंगा तीर है ॥
"राम-नाम कहै बेर तीन में नवीन होत," भयोई नवीन कियौ भक्ति मति धीर है ।
गये गुरु पास "तुम महिमा न जानी, अहो ! नाम भास काम करे" कही यों कबीर है ॥३११॥

अर्थ—काशीपुरीमें रहनेवाला कोई सेठ कोढ़ी हो गया । उसका जीवन दूभर हो गया था, क्योंकि शरीर में कीड़े पड़ जानेके कारण रात–दिन चैन नहीं पड़ता था । निदान अपने प्राणों का अन्त कर देनेके लिए उसने गङ्गाजीकी शरण लेना निश्चित किया और घरके सब लोगोंपर यह बात प्रकट कर दी । जब वह गङ्गाजी पर गया, तो लोगोंकी भीड़ उसके साथ हो ली । गंगा-किनारे पहुँच कर घरवालोंने उसकी इच्छासे उसे रस्सीसे कस दिया और शरीरसे एक भारी पत्थर बाँध दिया । इसी बीचमें संयोगसे श्रीपद्मनाभजी वहाँ आ निकले और लोगोंसे पूछा कि यह क्या कर रहे हो ? घरवालोंने सारा हाल बता दिया । इसपर श्रीपद्मनाभजीने कहा—"इसके शरीरके बन्धन खोल दो । यदि यह कोढ़ी गङ्गाजीमें स्नान कर तीन बार मुँहसे राम-नामका उच्चारण करे, तो इसका शरीर फिरसे नया हो जायगा ।"

श्रीपद्मनाभजीकी आज्ञानुसार गङ्गा-स्नान कर ज्योंही सेठने तीन बार रामका नाम लिया, त्योंही उसका कुष्ठ जाता रहा और शरीर सुवर्णके समान दिव्य हो गया । राम-नाम की ऐसी अलौकिक महिमा देखकर सेठकी बुद्धि राम-नामके जपमें लग गई ।

श्रीपद्मनाभजीने अपने गुरु श्रीकबीरजीके पास आकर जब यह सब वृत्तान्त सुनाया, तो उन्होंने कहा—"तुमने राम-नामका प्रभाव अभी तक पूरी तौरसे नहीं जाना है । 'राम' का पूरा नाम उच्चारण करना तो दूर रहा, यदि उस नामका आभास—विकृतरूप—भी मुँहसे निकल जाय, तो जीवकी गति हो जाती है ।

श्रीपद्मनाभजी कबीरके शिष्य कैसे हुए, इस सम्बन्धमें 'भक्तदाम गुण चित्रनी' के आधारपर निम्न-लिखित वार्ता ज्ञातव्य है—

श्रीपद्मनाभजी महान् दिग्विजयी पंडित थे। दिग्विजयके प्रसंगमें आप जब काशी पहुँचे, तो आपने वहाँके विद्वानोंको शास्त्रार्थके लिये ललकारा। काशीके पंडितोंने श्रीपद्मनाभजीकी ख्याति सुन रखी थी, अतः उन्होंने स्वयं शास्त्रार्थ न कर उन्हें श्रीकबीरदासजीके पास भेज दिया। कबीरजीके पास पहुँच कर श्रीपद्मनाभजीने कहा कि काशीके पंडितोंने मुझे आपके पास शास्त्र-चर्चा करनेके लिए भेजा है और आपकी विद्वत्ताकी बड़ी प्रशंसा की है। कबीरदासजी सुनकर हँसते हुए बोले—"पंडितोंने उपहास किया है; मैं धर्मके बारेमें भला क्या जानूँ? फिर भी आपकी यह बड़ी कृपा है, जो आपने मुझे दर्शन दिये। फिर हम तो आपको अपनेसे भिन्न मानते ही नहीं। शास्त्रार्थका, इसलिए, कोई प्रश्न ही नहीं उठता।" इसपर पद्मनाभजीने कहा—"भिन्न माननेसे क्या हुआ? उपासना तो न्यारी-न्यारी है"। कबीरदासजीने समझाया, "उपासना न्यारी तो अवश्य है, पर प्राप्य भिन्न नहीं है। जैसे एक गन्तव्य-स्थानपर जानेके विभिन्न मार्ग हो सकते हैं, उसी प्रकार एक सर्वशक्तिमान् सर्वलोकनियन्ता आनन्द-स्वरूप प्रभुको-प्राप्त करनेकी विभिन्न प्रणालियोंके सम्बन्धमें भी समझना चाहिए। इन सब उपासना-प्रणालियोंमें भी भगवन्नामका स्मरण और उच्चारण ही सर्वश्रेष्ठ है। बिना 'राम' नामके जितने भी अन्य विधि-विधान और क्रिया-कर्म हैं, वे व्यर्थ हैं।" पद्मनाभजीने पूछा—"इसका प्रमाण?" कबीरदासजी बोले—"कल सबेरे आजाइए"

जब पद्मनाभजी चले गए तो कबीरदासजीने अपने एक शिष्यको बुलाया और उससे बोले—"सुनो, जब कभी आज तुमको ये पद्मनाभ मिलें तो इनसे पाँच-सात बार 'राम-राम' कह लेना।" प्रसंगवश मार्गमें जाते समय शिष्यको पद्मनाभ दिखाई दे गए और उसने पाँच-सात बार 'राम-राम' भी कह दिया। सुनकर पद्मनाभ खीज उठे और अपने आपको राम-नामके श्रवणसे अपवित्र मानकर गंगा-स्नान करने चले गए।

दूसरा दिन हुआ तो वे नित्यकी भाँति हवनादिके लिए मन्त्र-बलसे अग्नि प्रज्वलित करने लगे; किन्तु उस दिन एक चिनगारी भी न निकली और कबीरदासजीके पास जानेका समय हो जानेके कारण बिना प्रातःकालीन कर्मानुष्ठान किए ही वहाँ पहुँच गए। अग्नि प्रज्वलित न होनेके कारण एक विशेष प्रकारकी उदासी उनके मुखपर छाई थी। आते ही कबीरदासजीने प्रश्न किया—"यह उदासी कैसी?" पद्मनाभजीने सब बात कह सुनाई। इसपर कबीरदासजी बोले—"तुम्हारा धर्म भंग हो गया है। कहीं तुमने राम-नामकी अवज्ञा तो नहीं कर दी?"

पद्मनाभजी इसपर कुछ क्षण सोचकर बोले—"हाँ, यह तो हो गया है। कल एक व्यक्तिके राम-नामोच्चारण करनेपर मैंने घृणासे मुँह फेर लिया और अपने आपको अपवित्र समझकर तुरन्त ही स्नान किया।"

"यही तुमसे बड़ा भारी अपराध बन गया है। जरा धर्म-ग्रन्थोंको खोल कर तो देखो कि उनमें राम-नामकी क्या महिमा बताई गई है?" कबीरदासजीने कहा।

अब पद्मनाभको नामके वास्तविक महत्त्वका पता चला। वे कबीरके चरणोंमें गिर पड़े और उनका शिष्यत्व स्वीकार कर लिया। तभीसे आप भी राम-नामकी महिमाका प्रचार करने लगे।

मूल–छप्पय

(श्रीतत्त्वाजी, श्रीजीवाजी)

भक्ति-सुधा जल समुद भये बेलावलि गाढ़ी ।
पूरबजा ज्यों रीति प्रीति उतरोतर बाढ़ी ॥
रघुकुल सदृस सुभाव सिष्ट गुन सदा धर्मरत ।
सूर धीर उदार दयापर दच्छ अनन्य ब्रत ॥
पदम खंड पदमा पधति प्रफुलित कर सविता उदित ।
तत्त्वा-जीवा दच्छिन देस बंसोद्धर राजत बिदित ॥६६॥

अर्थ—श्रीतत्त्वाजी और श्रीजीवाजी भक्ति-रूपी अमृत–जलके समुद्रके दो दृढ़ तटोंके समान हुए । दिनके परार्द्धकी छायाके समान—जब कि सूर्यके पश्चिम दिशाकी ओर ढलनेके कारण पूर्व दिशामें छाया बढ़ती है–दोनों भाइयोंका आपसका प्रेम बराबर बढ़ता ही गया । दोनों श्रीरामचन्द्रजीके अनन्य भक्त ही नहीं थे, बल्कि रघुवंशी राजाओंके समान उनका उदार स्वभाव भी था । शील आपका प्रधान गुण था । वे धर्म-परायण, शूर-वीर, विशाल-हृदय, दयालु, लोक-व्यवहारमें दक्ष और अनन्य-व्रतधारी थे । श्रीसम्प्रदायको यदि कमलोंका वन माना जाय, तो श्रीतत्त्वा-जीवाजी उन कमलोंको खिलानेवाले दो सूर्योंके समान उदित हुए । इस प्रकारसे ये दोनों दक्षिण-देशमें अपने ब्राह्मण-वंशका उद्धार करनेवाले संसार-प्रसिद्ध भक्त थे ।

श्रीतत्त्वा-जीवाजीके पारस्परिक प्रेमको श्रीनाभा स्वामीने 'पूरबजा' की तरह बढ़नेवाला बताया है । पाठकोंको विदित है कि दोपहरके बाद सूर्यकी छाया पूर्व-दिशामें लम्बी होती है और दिनके पूर्वार्द्धमें पश्चिमकी ओर । पूर्वार्द्धकी छाया प्रारम्भमें लम्बी होती है, परन्तु जैसे-जैसे सूर्य चढ़ता जाता है, वह छोटी होती चली जाती है । दोपहरके बादकी छायाका क्रम इससे बिलकुल उलटा होता है । वह प्रारम्भमें छोटी होती है, पर सूर्यास्त होने तक बहुत लम्बी होजाती है । नीचेका श्लोक देखिए—

आरंभगुर्वी क्षयिणी क्रमेण लघ्वी पुरा वृद्धिमती च पश्चात् ।
दिनस्य पूर्वार्द्धपरार्द्धभिन्ना छायेव मैत्री खल-सज्जनानाम् ॥

—दुष्टों और सज्जनोंकी मित्रता क्रमशः दोपहरके पहलेकी तथा दोपहरके पीछेकी छायाकी भाँति होती है । दिनके प्रारम्भमें जैसे सूर्यकी छाया लम्बी होती है और फिर धीरे-धीरे कम होती जाती है, वैसे ही दुष्टोंकी मित्रता प्रारम्भमें तो बड़ी गहरी होती है, पर धीरे-धीरे हलकी पड़ने लगती है । इसके विपरीत दोपहरके बादकी छायाकी तरह सज्जनोंकी प्रीति प्रारम्भमें हलकी होती है, किन्तु धीरे-धीरे घनिष्ट होती जाती है । श्रीतत्त्वा-जीवाजीका पारस्परिक प्रेम दोपहरके बादकी छायाके समान था ।

भक्ति-रस-बोधिनी

तत्त्वा जीवा भाई उभै, विप्र साधु-सेवा पन, मन धरी बात तातें शिष्य नहीं भये हैं।
गाड़्यो एक ठूँठ द्वार, होय अहो हरी डार, संत चरणामृत को लेके डारि नये हैं॥
जब ही हरित देखें, ताको गुरु करि लेखें, आये श्रीकबीर, पूजि आस पाँव लये हैं।
नीठ-नीठ नाम दियौ दियौ परिचाय, धाम, काम कोऊ होय जो पै आवौ कहि गये हैं॥२१२॥

अर्थ—श्रीतत्त्वाजी और जीवाजी ब्राह्मण-कुलमें उत्पन्न हुए थे और दोनों भाई-भाई थे। साधु-सन्तोंकी सेवा करनेका दोनोंका व्रत था। इन दोनोंके मनमें एक बात समाई हुई थी, इसीलिए वे किसीके शिष्य नहीं हुए थे। उन्होंने अपने दरवाजेपर सूखे काठका एक ठूँठ गाड़ दिया था। घरपर जो सन्त पधारते उनका चरणामृत लेकर आप ठूँठकी जड़में डाल देते। ऐसा करनेका अभिप्राय यह था कि जिस सन्तके चरण-जलसे वह ठूँठ हरा हो जायगा, वे उसीको अपना गुरु बनावेंगे और उसीसे मंत्र-दीक्षा लेंगे।

एक दिन श्रीकबीरदासजी आप लोगोंके यहाँ पधारे। आपने उनका चरणामृत लेकर ज्योंही ठूँठमें डाला त्योंही उसमें से हरे-हरे अंकुर फूट निकले। दोनों भाइयोंकी चिर-सञ्चित अभिलाषा पूर्ण हुई। उन्होंने श्रीकबीरदासजीके पैर पकड़ लिए और मंत्र-दीक्षा देने की प्रार्थना की। श्रीकबीरदासजी सहज ही में किसीको मंत्र नहीं देते थे, अतः श्रीपद्मनाभजी को बड़ी कठिनाई पड़ी। परन्तु अन्तमें बहुत अनुनय-विनय करने पर आप राजी हो गए। आपने दोनों भाइयोंको अपने निवास-स्थानका पता भी बता दिया और कह दिया कि यदि कभी आवश्यकता पड़े, तो वहाँ चले आवें। श्रीकबीरजीने कुछ सोच कर ही यह आज्ञा दी थी।

भक्ति-रस-बोधिनी

काना कानी भई, द्विज जानी जाति गई, पाँति न्यारी करि दई, कोऊ बेटी नहीं लेत है।
चल्यो एक काशी जहाँ बसत कबीर धीर, आय कही पीर, जब पूछ्यौ कौन हेत है॥
दोऊ तुम भाई, करौ आपु में सगाई, होय भक्ति सरसाई, न बढ़ाई चित चेत है।
आय वहै करी, परी जाति खरभरी, कहैं कहा डर धरी, कछु मति हूँ अचेत है॥२१३॥

अर्थ—श्रीतत्त्वाजी और जीवाजीके गाँवमें रहनेवालोंको जब यह समाचार मालूम हुआ कि दोनों भाई श्रीकबीरदासजीके शिष्य हो गये हैं, तो वे आपसमें काना-फूँसी करने लगे; (क्योंकि उनके मतके अनुसार कोई ब्राह्मण जुलाहेका शिष्य हो, यह बात अत्यन्त अनुचित थी।) उन्होंने समझा कि दोनों भाइयोंका ब्राह्मणत्व नष्ट हो गया है। फल यह हुआ कि ब्राह्मणोंने आपसमें सलाह करके उन्हें जातिसे बाहर निकाल दिया; यहाँ तक कि इनकी कन्याओंसे विवाह करने को भी कोई राजी नहीं हुआ। इसपर दोनों भाइयोंमें-से एक उस

स्थानपर पहुँचा जहाँ श्रीकबीरदासजी रहते थे । आनेका कारण पूछनेपर उन्होंने श्रीकबीरदासजीसे अपना दुःख निवेदन किया । इसपर श्रीकबीरदासजीने कहा—"तुम दोनों भाइयोंके एक-एक कन्या और एक-एक पुत्र है, दोनोंका आपसमें विवाह कर दो । ऐसा करनेसे तुम्हारी भक्तिमें कोई बाधा नहीं पड़ेगी, वरन् उसकी वृद्धि ही होगी ।"

श्रीगुरुदेवकी आज्ञा पाकर दोनों भाइयोंने ऐसा ही करनेका निश्चय किया । बिरादरी वालोंको जब यह पता लगा तो उनमें खलबली मच गई; क्योंकि ऐसा करनेसे गाँवका सारा ब्राह्मण-समाज बदनाम हो जाता । अब तो ब्राह्मण लोग कहने लगे कि इन दोनों भाइयोंको हो क्या गया है ? इन्होंने क्या सोच रक्खा है ? कहीं इनकी बुद्धि तो नहीं फिर गई है ?

श्रीकबीरदासजीकी यह आज्ञा कि भाई-बहिनोंका आपसमें विवाह कर दो, सामाजिक दृष्टिसे अत्यन्त असंगत मालूम होती है । टीकाकारोंने इसका समर्थन यह कह कर किया है कि इस प्रकारकी आज्ञा देते समय कबीरदासजीके सामने स्वयंभू मनुका आदर्श था । शतरूपा रानीसे मनुके तीन कन्यायें हुईं—आकूति, देवहूति और प्रसूति । उन्होंने इन तीनों कन्याओंका विवाह रुचि, कर्दम तथा दक्ष प्रजापतियोंसे किया था जोकि नातेमें कन्याओंके भाई होते थे ।

लेकिन, सच पूछा जाय, तो वह मानव-सृष्टिका प्रारम्भिक काल था जब कि सामाजिक परम्पराओंका आरम्भ भी नहीं हुआ था । सभ्यताकी उस आदिम अवस्थामें इस प्रकारके सम्बन्ध अनुचित नहीं माने जाते थे, लेकिन कबीरदासजीके युगमें इस प्रकारका कृत्य अत्यन्त अनैतिकता-पूर्ण था । कहना न होगा कि कोई भी महात्मा सामाजिक व्यवहारोंकी पवित्रताको नष्ट करनेकी सलाह नहीं देगा । फिर कबीरजी तो बहुत ही अनुभवी व्यक्ति थे और हिन्दुओंकी सामाजिक व्यवस्थाके आदर्शोंसे भलीभाँति परिचित थे ।

लेकिन साथ ही हमें यह भी नहीं भुला देना चाहिए कि कबीरजी हिन्दू-मुसल्मानोंके धार्मिक और सामाजिक आचार-विचारोंके निर्भीक आलोचक भी थे । उनकी यह आज्ञा कि 'भाई-बहिनोंका आपसमें विवाह कर दो', उस हिन्दू-समाजपर करारा व्यंग ही है जिसमें जरा-जरा-सी बातपर निर्दोष और अशक्त व्यक्तियोंको जातिसे बहिष्कृत कर दिया जाता है । जिस समाजमें एक ओर यह अज्ञान फैला हुआ हो कि निम्न श्रेणीके व्यक्तिसे दीक्षा लेनेपर जाति नष्ट हो जाती है, उसके व्यक्तियोंको ठीक मार्गपर लानेका इससे अच्छा उपाय और क्या हो सकता है ? श्रीकबीरदासजीको मालूम था कि जब इन धर्मध्वजियोंके निजी स्वार्थपर सीधा प्रहार किया जायगा, तभी इनकी आँखें खुलेंगी । पाठक देखेंगे कि हुआ भी यही ।

भक्ति-रस-बोधिनी

"करें यही बात, हमैं और न सुहात", आये सबै हा-हा खात, यह छाँड़ि हठ दीजियै ।
पुत्रियों कों फेरि गये, करौ ब्याह जो पै नये, दंड करि नाना भाँति भक्ति दृढ़ कीजियै ॥
तब दई सुता, लई पाँति न प्रसन्न ह्वै कै, पाँति हरि-भक्तनि सों सदा मति भीजियै ।
विमुख समूह देखि संमुख बड़ाई करें, धरें हिय माँझ, कहैं पन पर रीझियै ॥३२४॥

अर्थ—ब्राह्मणोंने जब देखा कि दोनों भाई अपनी हठपर तुले हुए हैं, तो उन्होंने आकर श्रीतत्त्वाजी और जीवाजीका बहुत प्रकारसे अनुनय-विनय किया कि ऐसा मत करिये और उनकी कन्याओंका सम्बन्ध करानेका वचन दिया, लेकिन इस सबका उन्होंने एक ही उत्तर दिया—"हम तो ऐसा ही करेंगे; हमें और किसीसे विवाह करना अच्छा नहीं लगता।"

जब लोगोंने ज्यादा आग्रह किया तो एक भाई फिर गुरु कबीरदासजीके पास पहुँचा और उन्हें नवीन स्थितिसे अवगत कराया। श्रीकबीरजीने कहा—"यदि वे लोग इतने झुक गये हैं, तो जैसा वे कहते हैं, कर लो, पर उनकी करतूतके लिए उन्हें दण्ड अवश्य दो। वह दण्ड यह है कि वे सबके सब श्रीहरिके दृढ़ भक्त बन जायँ।"

ऐसा ही हुआ। जब सब ब्राह्मण वैष्णव होगए, तो श्रीतत्त्वाजी और जीवाजीने अपनी कन्याओंका उनके समाजमें विवाह कर दिया। उन्होंने भी दोनों भाइयोंको फिरसे जातिमें मिला लिया, लेकिन इससे श्रीतत्त्वाजी और जीवाजीको कोई विशेष प्रसन्नता नहीं हुई, क्योंकि आप दोनों तो उन्हीं लोगोंको अपनी जातिका मानते थे जो सच्चे हरि-भक्त थे और उन्हींके सहवास में आपका मन रमता था।

श्रीतत्त्वाजी एवं जीवाजीका गुरु-वचनमें ऐसा दृढ़ विश्वास देखकर उनके विरोधी अब मुँहपर ही उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा करते थे और कहते थे—"हम तो इसी एक बातपर लट्टू होगए हैं कि गुरुकी आज्ञाके पालन करनेको आपने अपना प्रण बना लिया।"

श्रीबालकरामजीकी टीका "भक्तदाम गुण चित्रनी" में श्रीतत्त्वा-जीवाजीकी कन्याओंके विवाह की समस्याका समाधान एक दूसरे प्रकारसे मिलता है। पाठकोंके लाभार्थ टीकाके उस अंशका संक्षिप्त भावार्थ यहाँ दिया जाता है—

जब तत्वा-जीवाजीकी कन्याएँ विवाह-योग्य हो गई, तो ब्राह्मणोंने उनका परिणय करनेसे मना कर दिया। इस बातसे दुःखी होनेपर भगवानने स्वप्नमें दोनों भाइयोंसे कहा—"तुम ब्राह्मणोंसे एक बार और सगाई करनेकी बात कहो; यदि वे नहीं मानेंगे तो हम उनको समझा देंगे।" दोनों भाइयोंने, जैसा स्वप्नमें देखा था, वैसा ही ब्राह्मणोंसे कह दिया, पर उनकी समझमें कुछ नहीं आया और वे बोले—"हम तुम्हारी कन्याओंके योग्य नहीं हैं। तुम तो उन्हींके पास जाओ जिनकी रात-दिन टहल किया करते हो और अपनी कन्याओंका विवाह भी उन्हींके साथ कर दो।" इसपर तत्वा-जीवाजीने उन्हें समझाते हुए फिर कहा—"देखो, इस समय तुम हमारी बात नहीं मान रहे हो, बादमें आकर हमारी हा-हा नहीं खाना।" इतना कहकर वे अपने घर चले आए।

जब तत्वा-जीवाजी अपने घर वापस आगए तो भगवानने ब्राह्मणोंको कुछ चमत्कार दिखलाया। उन धर्मध्वजी कहलानेवाले ब्राह्मणोंके जितने भी पुत्र-पुत्रियाँ थे सब जंगलकी ओर भागकर जाने लगे। ब्राह्मण लोग उन्हें बुलानेके लिये जितनी तेजीसे उनका पीछा करते उतना ही तेज वे भागते। यह कौतुक देखकर सब ब्राह्मण आश्चर्य और शोकमें निमग्न होगए। जब उन्होंने इसके कारणपर

विचार किया तो उनकी समझमें आगया कि यह सब कौतुक तत्वा-जीवाजीके ही द्वारा किया गया है। दौड़ पड़े सब तत्वा-जीवाजीके आश्रम की ओर और उनके पैरोंमें पड़कर बोले—

"विनती करौं क्षमा प्रभ कीजै। चाहौ सो शिशु लीजै दीजै ॥
हम कपटी अभिमानी कीरा। तुम समरथ प्रभू सूरति धीरा ॥"

तत्वा-जीवाजीने जब यह देखा तो अत्यन्त सरल भावसे बोले—"नहीं विप्रदेव ! ऐसी बात मत कहो। हम तो जातिसे बहिष्कृत हैं, धर्मभ्रष्ट हैं। इतने पर भी यदि आप हमसे सम्बन्ध रखना चाहते हैं तो आजसे ही भगवानकी भक्तिमें मन लगाइए और साधु-सन्तोंकी सेवा करना प्रारम्भ कर दीजिए।"

ब्राह्मणोंने सब कुछ स्वीकार कर लिया। उनके मुँहसे भगवद्भक्त और साधु-सेवी होनेकी बात सुनकर तत्वा-जीवाजीको जो आनन्द हुआ वह अवर्णनीय है। भगवानकी कृपासे ब्राह्मणोंकी पुत्र-पुत्रियाँ जंगलोंसे फिर वापस आगईं और तत्वा-जीवाजीकी पुत्रियोंका विवाह सानन्द सम्पन्न होगया।

"भक्तदाम गुण चित्रणी" टीकामें प्रियादासजी महाराजकी टीकाके अतिरिक्त तत्वा-जीवाजीका कुछ अधिक चरित्र दिया है। उसका संक्षिप्तार्थ नीचे दिया जाता है—

एक बार श्रीतत्वाजीके घर कोई मौनी सन्त आया। उसका इन्होंने यथोचित आदर-सत्कार किया और स्वादिष्ट पदार्थ बनाकर भोजन कराया। इसके बाद मौनी सन्तने इशारेसे कहा—"मैं मौन-त्यागके उपलक्ष्यमें भण्डारा करना चाहता हूँ। इसके लिए पाँच हजार रुपयोंकी आवश्यकता है। मुझे आशा है, आप इसका प्रबन्ध कर सकेंगे। तत्वाजी मना करना तो जानते ही न थे। उन्होंने चार हजार रुपयेके तो अपनी पत्नीके आभूषण और कपड़े बेचे और एक हजार रुपये किसी और से उधार लाकर मौनी बाबाके भण्डारेके लिए पाँच हजार रुपयेका इन्तजाम किया।

इस उपकार-भावनाके कारण उन्हें अपने घरकी परिस्थितिका कुछ ध्यान ही नहीं रहा। दस दिन बीतनेपर ही लड़कीकी बिदाईका अवसर आगया। इस समय धनकी अत्यधिक आवश्यकता हुई,पर घरमें एक पैसा भी नहीं था। इनकी पत्नी चिन्तामें पड़ गई। भक्तकी चिन्ता भगवानको भक्तसे भी अधिक होती है। यहाँ भी ऐसा ही हुआ। रातको जब तत्वाजी सोये तो भगवानने स्वप्नमें दर्शन देकर कहा—"तुम्हारे घर ही में अमुक स्थानपर बहुत-सा धन गड़ा हुआ है; उसे निकाल कर लड़कीकी बिदाई करो।"

सुबह होते ही तत्वाजीने खोदकर धन निकाल लिया और अपनी लड़कीकी बिदाई और साधु-सेवामें खूब खर्च किया।

उक्त टीकामें ही तत्वा-जीवाजीकी अनन्यताके सम्बन्धमें एक वार्ता दी है। उसका भी भावार्थ देखिए—

किसी नगरमें एक राजा रहता था। उसने शिवजीको प्रसन्न करनेके लिए अनुपम यज्ञ किया। इसमें ब्राह्मणोंको लाखों रुपयेका दान दिया गया। उसी राजाका एक मंत्री था जो तत्वा-जीवाजीकी भक्ति-भावनासे भलीभाँति परिचित था। उसने राजासे कहा कि इन दोनों ब्राह्मणोंको भी दान देना चाहिए। राजाने तत्वा-जीवाजीको आदर-पूर्वक बुलाया और यज्ञसे बचे एक लाख रुपयेका दान स्वीकार करनेकी प्रार्थना की। इसपर तत्वा-जीवाजीने दान लेना तो अङ्गीकार किया ही नहीं, साथ ही अपनी अनन्य निष्ठाका परिचय देते हुए बोले—

"नहीं हम और देव के आसिक। श्रीनारायण राम उपासिक॥
विष्णु निमित्त विष्णु उतसिष्ठा। सो कछु लेवैं यह मम निष्ठा॥
अन्य देव अरपित नहीं लेवैं। जो कुबेर सम धन करि देवैं॥"

इतना कह कर रामके अनन्य भक्त उन लाख मुद्राओंको खाकके समान त्यागकर अपने घरको चल दिए।

मूल (छप्पय)

(श्रीमाधवदासजी जगन्नाथी)

पहिले वेद विभाग कथित पुरान अष्टदस।
भारतादि भागवत मथित उद्धारयो हरि जस॥
अब सोधे सब ग्रन्थ अर्थ भाषा विस्तारयो।
लीला जै जै जैति गाय भव पार उतारयो॥
जगन्नाथ इष्ट वैराग्य सींव करुनारस भीज्यो हियो।
विनै व्यास मनो प्रगट ह्वै जग को हित माधो कियो॥७०॥

अर्थ—श्रीमाधवदासजी भगवान वेदव्यासके मानों अवतार थे। जिस प्रकार पहले द्वापर-युगमें प्रकट होकर द्वैपायन-व्यासने वेदोंका विभाग किया, फिर अठारह पुराण तथा महाभारत रचे और तदनन्तर सबका सार-रूप श्रीमद्भागवतका निर्माण कर भागवत-धर्मका उद्धार किया जिसमें हरि-कीर्तनकी महिमा है, उसी प्रकार श्रीमाधवदासजीने भी उपर्युक्त सब ग्रन्थोंका अनुशीलन कर उनका भाषानुवाद किया। जैसे श्रीवेदव्यास भगवानने अपने ग्रन्थोंका प्रारम्भ 'जय' शब्दके साथ किया है, इसी प्रकार माधवदासजीने भी 'जयजयकार' शब्द-पूर्वक भगवानकी लीलाओंका गान किया है। इन्हें गाकर मनुष्य इस भव-सागरसे पार उतर जाता है।

इस प्रकार शील-विनय-युक्त व्यासदेवके रूपमें जन्म लेकर श्रीमाधवदासजीने संसारका कल्याण किया। श्रीजगन्नाथजी आपके इष्टदेव थे, वैराग्यकी आप सीमा थे और करुणा-रससे आपका हृदय सदा सराबोर रहता था।

भगवान वेदव्यास-रचित पुराणोंमें प्रारम्भमें निम्नलिखित श्लोक देखनेको मिलता है—

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम्।
देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जय मुदीरयेत्॥

—नारायणको, नरको, नरोत्तमको, देवी सरस्वतीको तथा व्यासको नमस्कार कर तब 'जय' अर्थात् पौराणिक आख्यानोंका प्रवचन करना चाहिए।

भक्ति-रस-बोधिनी

माधौदास द्विज, निज तिया तन त्याग कियौ, लियौ इन जानि जग ऐसोई ब्यौहार है।
सुत की बढ़नि जोग लियें निज चाहत हो, भई यह और लै दिखाई करतार है॥
ताते तजि दियौ गेह, देई सब पालै देह, करै अभिमान सोई जानिये गँवार है।
आये नीलगिरि धाम, रहे गिरि सिन्धु तीर, अति मति-धीर, भूख प्यास न बिचार है॥३१५॥

अर्थ—श्रीमाधवदासजी (कान्यकुब्ज) ब्राह्मण थे। आपकी स्त्रीने शरीर त्याग दिया, तो आपने जान लिया कि संसारके स्त्री-पुत्रादिक सब व्यवहार (सम्बन्ध) मिथ्या हैं। कहाँ तो वे यह आशा लगाए बैठे थे कि पुत्र बड़ा होकर परिवारको सँभालेगा और तब वे योग ले लेंगे—अर्थात् घर-द्वार छोड़कर भजन करने निकल जायँगे, और कहाँ ईश्वरने यह कर दिखाया कि स्त्री भी हाथसे गई और बच्चोंका पालन-पोषणका भार भी उनपर आ पड़ा। लेकिन इस सबका माधवदासजी पर कुछ भी प्रभाव न पड़ा। उन्होंने घर-बार त्याग दिया। सोच लिया कि जिस भगवानने इन बच्चोंको पैदा किया है, वही इनकी देख-रेख भी करेंगे। जो मनुष्य इस प्रकार का अभिमान करता है कि 'इन स्त्री-पुत्रादिकोंको मैं पालता हूँ', वह मूर्ख है। यह सोचकर वे नीलाचल धाममें नीलगिरिके समुद्र-तीरपर एकान्तमें आकर पड़ गए और अपनी बुद्धिको दृढ़ बना कर भूख-प्यासका विचार न करते हुए श्रीजगन्नाथजीके चरणोंमें रम गये।

श्रीमाधवदासजीने सोचा कि अभी तो मैं लड़कोंके बड़े होनेकी बात सोच रहा हूँ, फिर इनके विवाह-सम्बन्धके झमेलेमें फसूँगा, तो इस प्रकार तो यह मायाका बन्धन दिन-दिन कठोर ही होता चला जायगा और श्रीजगन्नाथजीके चरणोंमें जानेकी अभिलाषा अपूर्ण ही रह जायगी। मनुष्यकी अभिलाषाओं से ईश्वरका बैर होता है। सोचता है वह सुख पानेकी, लेकिन मिलता है उलटा उसे दुःख, जैसा कि एक बटोहीके साथ हुआ था। वह रास्तेमें जारहा था। मंजिल दूर थी, पैर जवाब दे गए थे। उसने सोचा, यदि कहींसे कोई घोड़ा मिल जाय, तो उसपर सवार हो लूँ। इतने ही में एक लम्बा-चौड़ा पठान वहाँ आ निकला। उसके पास एक हालका पैदा हुआ बछेड़ा था। उसने इस रास्तागीरको डाँटकर कहा—"इस बछड़ेको लादकर आगेकी सराय तक पहुँचा दो, नहीं तो तुम्हारी जानकी खैर नहीं है।" बटोहीने चुपचाप बछड़ेको कन्धोंपर उठा लिया और लाद कर चलने लगा। मनमें सोच रहा था, "भगवानने घोड़ा दिया तो, पर सवार होनेके लिए नहीं, लादने के लिए।" महाकवि बिहारीदासने ठीक ही लिखा है—

को छुट्यो इहि जाल पर, कत कुरंग अकुलाय।
ज्यों-ज्यों सुरझि भज्यो चहे त्यों-त्यों उरझत जाय॥

भक्ति-रस-बोधिनी

भए दिन तीन, ए तो भूख के अधीन नाहिं, रहे हरि लीन, प्रभु सोच परयो भारियै।
दियौ सँन भोग, आप लक्ष्मीजू ले पधारीं, हाटक की थारी, झन-झन पाँव धारियै॥
बैठे हैं कुटी में पीठ दिये, हिये रूप-रँगे, बीजुरी सी कौंधि गई नीके न निहारियै।
देखौ सो प्रसाद, बढ़ौ मन अहलाद भयौ, सयौ भाग मानि, पात्र धरयोई बिचारियै॥३१६॥

अर्थ—श्रीमाधवदासजीको विना कुछ खाये तीन दिन बीत गये, लेकिन भूखकी पीड़ाका उन्हें तनिक भी अनुभव नहीं हुआ। उनका मन तो श्रीजगन्नाथजीके चरणोंमें लगा हुआ था। अब ठाकुरजीको बड़ी चिन्ता हुई कि मेरा भक्त तीन दिनसे भूखा पड़ा है। तब आपने शयन-भोगके लिए जो पदार्थ भोग रक्खे गए थे उन्हें श्रीलक्ष्मीजीके हाथ भेजा। लक्ष्मीजी सोनेके थालमें भोग लेकर चलीं, तो उनके पैरोंमेंसे नूपुरोंकी मधुर झन-झन ध्वनि निकल रही थी। इस प्रकार झमकती हुई जब वे पहुँचीं तो देखा कि माधवदासजी दरवाजेकी ओर पीठ किये भगवानकी मोहिनी मूर्तिके ध्यानमें मग्न बैठे हैं। (उन्हें आने-जानेवालेकी ओर ध्यान देनेका अवकाश ही नहीं था।) लक्ष्मीजी थाल लेकर आईं और सामने रखकर चली गईं। माधवदासजी को लगा जैसे बिजली-सी चमकी, लेकिन वे देख नहीं पाये कि कौन आकर चला गया। बाद में सामने भगवानका प्रसाद रक्खा हुआ देखा, तो उनकी प्रसन्नताका ठिकाना न रहा। उन्होंने अपने आपको बड़ा सौभाग्यशाली माना कि उन्हें ठाकुरजीका प्रसाद पानेको मिला। आपने बड़े आनन्दसे प्रसाद ग्रहण किया और थाल वहीं रख दिया।

भक्ति-रस-बोधिनी

खोले जो किवार, थार देखियै न, सोच परचो, करचो लै जतन हूँढ़, वाही ठौर पायौ है।
ल्याये बाँधि मारी बेंत, धारी जगन्नाथदेव, भेव जब जान्यौ पीठ चिन्ह दरसायौ है॥
कही पुनि "आप मैं ही दियौ अब लियौ याने," माने अपराध पाँव गहि कै छिमायौ है।
भई यों प्रसिद्ध बात कीरति न मात कहूँ, सुनि कै लजात, साधु सील यह गायौ है॥३१७॥

अर्थ—प्रातःकाल मन्दिरके पुजारियोंने जब किवाड़ खोले और वहाँ थाल नहीं देखा, तो सब-के-सब बड़ी चिन्तामें पड़ गए कि थालको कौन ले गया। इधर-उधर दौड़-धूप करते हुए जब उन्होंने खोजा, तो वह माधवदासजीके सामने रक्खा हुआ मिला। उन्होंने सोचा कि 'यही थालको चुराकर ले आया है।' उन्हें रस्सियोंसे बाँध कर पटक दिया और फिर बेंत लगाए। बेंतके वे प्रहार श्रीजगन्नाथजीके श्रीविग्रहपर ज्यों-के-त्यों उभड़ आये। पुजारियोंको इस भेदका तब पता लगा जब वे ठाकुरजीके तैल-मर्दन कर रहे थे। अब तो सब बड़े शंकित हुए। प्रभुने तब उनसे कहा—"थाल उन्होंने तभी लिया है जब कि मैंने उन्हें दिया था—वे स्वयं उठा कर नहीं ले गये।" इसपर मन्दिरके सब पुजारियों तथा अन्य कर्मचारियोंने सोचा कि यह तो बड़ा अपराध बन पड़ा। उन्होंने माधवदासजीके पैर पकड़ लिए और क्षमा-प्रार्थना की। जब यह वृत्तान्त पुरीके लोगोंको मालूम हुआ, तो माधवदासजीकी कीर्ति जगह-जगह फैल गई। वे अपनी प्रशंसा सुनते, तो लज्जासे सिर झुका लेते। संतोंका ऐसा ही स्वभाव होता है। भक्ति-ग्रन्थ इसके साक्षी हैं।

साधु-लोग अपनी प्रशंसा नहीं सुनना चाहते, यह तो ठीक ही है, पर श्रीमाधवदासजीके लज्जित होनेका एक दूसरा कारण और भी था। जब वे लोगोंके मुँहसे यह सुनते कि मेरे कारण श्रीजगन्नाथजी

को मार सहनी पड़ी, तो सोचते कि यह तो मेरी बदनामी हुई । भक्तके लिए इससे अधिक लज्जाजनक बात और क्या हो सकती है कि उसके कारण प्रभुको कष्ट सहना पड़े ?

द्वारकासे लौट कर आनेके बाद जब सुदामाके सम्बन्धमें यह बात चारों ओर फैली कि श्रीकृष्णकी कृपासे सुदामाकी दरिद्रता दूर होगई, तो सुदामाजीको भी ऐसी ही लज्जाका अनुभव हुआ था । वे सोचते थे—अब तक किसीको नहीं मालूम था कि सुदामा दरिद्र है, परन्तु अब यह बात सारे संसारमें फैल गई कि सुदामा एक बहुत दरिद्र ब्राह्मण था । भगवानकी कृपासे सुदामाजीकी दरिद्रताका जितना विज्ञापन हुआ उतना उनके धनी होनेका नहीं हुआ ।

भक्ति-रस-बोधिनी

देखत सरूप सुधि तन की बिसरि जात, रहि जात मन्दिर में जानैं नहीं कोई है ।
लग्यौ सीत गात, सुनो बात, प्रभु काँपि उठे, दई सकलात आनि प्रीति हिये भोई है ॥
लागे जब बेग, बेगि जाय परे सिन्धु तीर, चाहैं जब नीर, लिये ठाढ़े, देह धोई है ।
करि कै बिचार औ निहारि, कही "जानौं मैं तो देत हो अपार दुःख, ईशता लै खोई है" ॥३१८॥

अर्थ—श्रीमाधवदासजी भगवानकी रूप-माधुरीका चिन्तन करनेमें इतने लीन रहते थे कि उन्हें अपने शरीरका होश-हवाश भी नहीं रहता था । उनकी भक्तिका प्रभाव मन्दिरके पुजारियों पर ऐसा जम गया था कि उन्हें किसी भी समय मन्दिरमें आने-जानेकी कोई रुकावट नहीं थी । प्रायः वे मन्दिरके अन्दर ही रह जाते और प्रभु-कृपासे किसीको इसका पता भी न लगता । एक बार आप जाड़ेके दिनोंमें मन्दिरमें उघाड़े ही रह गए । रातको जब सर्दी ज्यादा लगी, तो बजाय माधवदासजीके स्वयं प्रभु काँपने लगे । तब प्रभुने स्वयं अपनी रजाई उन्हें ओढ़नेको दी । माधवदासजीने प्रभुकी ऐसी भक्त-वत्सलता देखी, तो प्रेमसे गद्गद् होगये ।

एक बार माधवदासजी संग्रहणीके रोगसे पीड़ित होगये और जब दस्त अधिक बढ़ गये, तो समुद्रके किनारे जाकर पड़ गये। शौचके लिए जब-जब उन्हें जलकी आवश्यकता पड़ती, तभी तब भगवान स्वयं जलका पात्र ले कर खड़े दिखाई देते । एक बार श्रीजगन्नाथजीने स्वयं अपने कर-कमलोंसे उनके मल-मूत्रसे सने हुए शरीरको धोया । माधवदासजी जान गए कि हो-न-हो ये तो स्वयं भगवान ही मेरे ऊपर कृपा कर रहे हैं । आप हाथ जोड़कर बोले—"मुझे मालूम है, मेरे लिए आप अपने आपको असीम कष्ट दे रहे हैं । हाय ! इस अधम व्यक्तिके लिए आपने तो अपनी समस्त ईश्वरताको ही त्याग दिया ।"

भक्ति-रस-बोधिनी

"कहा करौं अहो ! मो पै रह्यो नहीं जात नेकु "मेटौ बिथा गात" "मोको बिथा यह भारी है ।"
"रहे भोग शेष, और तन में प्रवेश करें, तातें नहीं दूर करौं, ईशता सो टारी है ॥
यह बात साँच, याकी गाँस एक और सुनौ, साधु को न हँसे कोऊ यह मैं बिचारी है ।"
देखत ही देखत में पीड़ा सो बिलाय गई, नई-नई कथा कहि भक्ति बिसतारी है ॥३१९॥

अर्थ—श्रीजगन्नाथजीने उत्तर दिया—"क्या करूँ ? भक्तोंका दुःख देखकर मुझपर चैन से नहीं बैठा जाता ।" श्रीमाधवदासजी बोले—"तब मेरी इस पीड़ाको दूर कीजिये न ।" प्रभु बोले—"ऐसा करनेमें मेरे सामने भी एक बड़ी भारी अड़चन (विधा) है । वह यह कि तुम्हारे भोगनेसे पूर्व ही यदि तुम्हारी पीड़ाको दूर कर दूँ, तो शेष भोगोंको भोगनेके लिए तुम्हें दूसरा जन्म लेना पड़ेगा । इससे मैंने तुम्हारे कष्टोंको मिटाया नहीं, बल्कि स्वयं ही अपनी ईश्वरताको छोड़कर यहाँ तुम्हारी सेवा करता हूँ ।"

भगवान फिर बोले—"इसके अतिरिक्त एक दूसरा कारण और भी है जिससे विवश होकर मुझे यहाँ आना पड़ा है । मैंने सोचा, कहीं ऐसा न हो कि मेरे भक्तकी कोई हँसी उड़ाये और कहे कि भगवानकी भक्ति करनेका यह परिणाम है कि अन्त समयमें कोई जल देनेवाला भी नहीं है ।"

प्रभुके दर्शन-स्पर्शका लाभ पाकर श्रीमाधवदासजीका दुःख देखते-देखते दूर हो गया । बादमें उन्होंने पुरीमें रह कर नई-नई काव्य-रचना कर भगवद्-भक्तिका प्रचार किया ।

भक्ति-रस-बोधिनी

कीरति अभंग देखि भिक्षा को अरंभ कियो, दियो काहू बाई पोता खीझत चलाय कै ।
वैसो गुण लियो नीके जल सौं प्रछाल करि, करी दिव्य बाती, दई दिये में बराय कै ॥
मंदिर उजारो भयो, हिये को अँध्यारो गयो, गयो फेरि देखन कों, परी पाँय आय कै ।
ऐसे हैं दयाल, दुख देत मैं निहाल करें, करें लै जे सेवा ताको सकै कौन गाय कै ॥३२०॥

अर्थ—अब यह देखकर कि लोगोंमें मेरी प्रसिद्धि हो गई है, अतः एक स्थानपर रहना ठीक नहीं, श्रीमाधवदासजीने भिक्षा माँगना आरंभ कर दिया । एक दिन इसी प्रसंगमें वे एक बाईके घर पहुँचे । वह रसोईमें पोता फेर रही थी । माधवदासजीके जाते ही उसने झुँझलाकर इनके पोता फेंककर मारा । माधवदासजीने सोचा—"चलो इसने कुछ देना तो सीखा," वे पोते को उठाकर चल दिए । कुटियामें पहुँचकर उन्होंने पोताके कपड़ेको धोकर साफ किया और बत्तियाँ बनाकर श्रीजगन्नाथजीके मन्दिरमें जलते हुए दीपकोंमें जोड़ दीं । इधर बत्तियोंके जलनेसे मन्दिरमें ज्योंही अधिक प्रकाश हुआ, त्योंही उधर उस कृपण बुढ़ियाके हृदयका अन्धकार जाता रहा । दूसरे दिन उसीके घर आप फिर भिक्षा माँगने पहुँचे । अब तो वह आपके पैरोंमें आकर पड़ गई ।

श्रीमाधवदासजी ऐसे दयालु स्वभावके थे कि यदि उन्हें कोई सताता तो उसे भी आप निहाल कर देते थे । भला ऐसे सन्तोंकी जो सेवा करता है उसके सौभाग्यका तो कहना ही क्या है ?

भक्ति-रस-बोधिनी

पंडित प्रबल दिग्विजै करि आयो, आय वचन सुनायो "जू विचार मोसों कीजियै ।"
दई लिखि हार, काशी जाय कै निहारि पत्र, भयो मति खार, लिखी जीति वाकी, खीजियै ॥
फेरि मिलि माधौ जू कों वैसे ही हरायो, एक खर को मँगायो कही "चढ़ो जब धीजियै ।"
बोल्यो "खूली बाँधो कान," गयो मुनि न्हान, आन जगन्नाथ जीते, लै चढ़ायो वाको, रीझियै ॥३२१॥

अर्थ—एक बार एक प्रकाण्ड पंडित दिग्विजय करता हुआ श्रीजगन्नाथपुरीमें आया और वहाँके पंडितोंको शास्त्रार्थके लिए ललकारा । पंडितोंने उसे श्रीमाधवदासजीके पास भेज दिया । वहाँ पहुँचकर उसने कहा—"मुझसे शास्त्र-विचार (शास्त्रार्थ) करिये ।" श्रीमाधवदासजीने शास्त्रार्थ किये बिना ही उसे यह लिखकर दे दिया कि "हम हारे, आप जीते ।" काशी पहुँचकर जब उसने वह पत्र पंडितोंको दिखाया, तो उसमें लिखा था—"श्रीमाधवदासजी जीते, दिग्विजयी पंडित हारा ।" अब तो वह बड़ा झुँझलाया और फिर पुरीमें आकर माधवदासजीसे बोला कि अब मुझसे शास्त्रार्थ करो, मैं तुमको हराऊँगा । माधवदासजीने इसपर वही पहले-जैसा उत्तर दिया कि 'आप जीते मैं हारा ।' तब दिग्विजयी एक गधा ले आया और बोला कि यदि तुम अपनी हार स्वीकार करते हो, तो इस गधेपर चढ़ो । तुम्हारे कानोंमें जूतियाँ बाँधकर तुम्हें सारे शहरमें घुमाया जायगा । माधवदासजीने कहा कि 'मैं जरा स्नान करके आता हूँ, फिर आपसे शास्त्रार्थ करूँगा । यह कहकर वे नहाने चले गए ।'

इसी बीचमें स्वयं जगन्नाथजी माधवदासका रूप धारण करके आ गए । उन्होंने उसे जीतकर, गधेपर चढ़ाया और कानोंमें जूतियाँ बाँधकर पुरी-भरमें घुमाया । प्रभुकी इस कृपाको देखकर पुरीके लोग मन-ही-मन बड़े प्रसन्न हुए ।

भक्ति-रस-बोधिनी

ब्रज ही की लीला सब गावैं नीलाचल माँझ, मन भई चाह जाय नैनन निहारियै ।
चले वृन्दावन, मग लग एक गाँव जहाँ बाई भक्त, भोजन कों लाई चाव भारियै ॥
बैठे पै प्रसाद लेत, लेत दृग भरि "अहो ! कहौ कहा बात दुख हिये को उघारियै ।
"साँवरो कुँवर यह कौन को भुराय ल्याये ? माय कैसे जीवै," सुनि मति लै बिसारियै ॥३२२॥

अर्थ—श्रीमाधवदासजी जगन्नाथपुरीमें रहते हुए श्रीकृष्णके द्वारा ब्रज-धाममें की गई लीलाओंका गान किया करते थे । एक समय आपके मनमें अभिलाषा पैदा हुई कि वृन्दावनके दर्शन करना चाहिए और चल दिये । मार्गमें एक गाँव पड़ा । उसमें भगवानकी सेविका एक बाई रहती थी । वह श्रीमाधवदासजीको अपने घर ले गई और बड़े प्रेमसे प्रसाद खिलाया । जब माधवदासजी प्रसाद पा रहे थे, तो भगतिन बाईने माधवदासजीके पास खड़े हुए एक सुन्दर बालकको देखा । उसके मनमोहन स्वरूपके दर्शन करके बाईकी आँखें भर आई । माधवदासजीने पूछा—"क्या कारण है कि आपकी आँखोंमें आँसू आ गए हैं ? मालूम होता है, आपको कोई हार्दिक कष्ट का अनुभव हो रहा है । यदि ऐसा है, तो साफ-साफ बतलाइए ।" बाईने उत्तर में पूछा—"यह साँवला-सलोना बालक आप किसका बहका लाये हैं ? इसके बिना इसकी माँ कैसे जीवित रहेगी ?"

माधवदासजी समझ गए कि स्वयं प्रभुने बालकका रूप रखकर बाईको दर्शन दिया है ।

भगवानकी भक्तोंपर ऐसी कृपाका विचारकर वे मुग्ध होगए और कुछ देरके लिए उनकी सुध-बुध खो गई।

पाठकोंने लक्ष्य किया होगा कि अब तक भक्तमालमें जितने भी चरित्रोंका वर्णन किया गया है, उनमें वृन्दावनकी महिमाका प्रसंग कहीं भी नहीं आया है। दक्षिणके भक्त श्रीरंगम्‌को जाते थे और शेष प्रान्तोंके पुरीको। यह पहला अवसर है कि माधवदासजीके हृदयमें वृन्दावनका दर्शन करनेकी चाह जागी यहाँसे आगे जिन भक्तोंके चरित्रोंका वर्णन किया गया है वे प्रायः वृन्दावन-धामके प्रेमी और श्रीकृष्ण की लीलाओंके उपासक हैं।

भक्ति-रस-बोधिनी

चले और गाँव जहाँ महाजन भक्त रहै, यहै मन माँझ, आगे बिनती हू करी है।
गये वाके घर, वह गयौ काहू और घर, भाव भरी तिया आनि पायन में परी है॥
ऊपर महन्त कही "अजू एक संत आये," "इहाँ तो समाई नाहि," आई अरबरी है।
"कीजिये रसोई","जोई सिद्ध सोई ल्यावो," दूधलो कै कै पिवायो, नाम 'माधौ' आस भरी है॥३२३॥

अर्थ—वाईके गाँवको छोड़कर माधवदासजी अब आगे बढ़े और एक ऐसे गाँवमें पहुँचे जहाँ एक महाजन-भक्त रहता था। जगन्नाथपुरीमें इसकी भेंट माधवदासजीसे हुई थी और उसने प्रार्थना की थी कि वृन्दावन जाते समय वे उसका घर अवश्य पवित्र करें। तदनुसार माधवदासजी उसके घर पहुँचे, लेकिन संयोगवश वह किसी और के घर चला गया था। उसकी स्त्री बड़ी भक्तिमती थी। उसने आपके चरणोंमें प्रणाम किया और मकानके ऊपरकी मंजिलमें रहनेवाले एक वैष्णव-महन्त महोदयसे कहा—"एक सन्त और पधारे हैं।" महंतजीने कोरा जवाब दे दिया कि अब स्थान नहीं है। महाजनकी स्त्री घबड़ाई हुई लौटी और माधवदासजीसे बोली कि आप यहीं रसोई बनावें; (मैं सब सामग्री लाए देती हूँ)। उन्होंने कहा कि जो चौकेमें बना हो, वही ले आओ। इसपर वह भक्तिमती दूध लाई और माधवदासजीको अर्पण किया। आपने प्रभुका स्मरण कर बड़े प्रेमसे उसे पिया और यह कहकर कि 'तुम्हारे पतिदेव आवें तो कह देना कि जगन्नाथपुरीसे माधवदास आया था,' चल दिये।

भक्ति-रस-बोधिनी

गये उठि, पाछे भक्त आयौ, सो सुनायौ नाम, सुनि अभिराम दौरे संग ही महंत है।
लिये जाय पाँय लपटाय, सुख पाय मिले, भिले घर माँझ "लिया धन्य तो सौं कंत है"
संतपति बोले "मैं अनन्त अपराध किये, लिये अब," कह्यो "सेवो सीस मानि जंत है।
आवत भिलाप होय, यही राखौ बात गोय," आये वृन्दावन जहाँ सदाई बसंत है॥३२४॥

अर्थ—श्रीमाधवदासजी उठकर चल दिये। बादमें जब महाजन आया तो उसकी स्त्रीने माधवदासजीके आनेका वृत्तान्त सुनाया। नाम सुनते ही वह उनसे मिलनेको दौड़ा। साथमें महन्तजी भी हो लिए। माधवदासजीके पास पहुँचकर दोनों उनके चरणोंपर गिर पड़े। माधव-

दासजी बड़े प्रेमसे महाजनसे मिले। महाजनने जब आपसे घर लौट चलनेकी विनयकी तो आप बादमें आनेका वायदा करके बोले—"तुम्हारी स्त्री धन्य है तथा आप जैसे उसके स्वामी भी धन्य हैं।"

तभी महन्तजी कहने लगे—"मुझसे आपके प्रति महान् अपराध बन गया है, सो कैसे दूर हो?" माधवदासजीने आज्ञा की—"सन्तोंका सीथ-प्रसाद ग्रहण करो और जब-जब वे घर पर पधारें तभी बिना देरी किए उनसे मिलो और उनका आदर-सत्कार करो। इस भेदको तुम अपने तक ही सीमित रखना; किसीसे कहना मत।"

इसके बाद वहाँसे चलकर श्रीमाधवदासजी वृन्दावन आये जहाँ सदा ही वसन्त ऋतु रहती है।

भक्ति-रस-बोधिनी

देखि देखि वृन्दावन मन में मगन भये, गये श्री बिहारी जू के चना तहाँ पाये हैं।
कहि रह्यौ द्वारपाल "नेंकु में प्रसाद" लाल यमुना रसाल तट भोग कों लगाये हैं॥
नाना बिधि पाक धरें, स्वामी आप ध्यान करें, बोले हरि "भावें नाहिं बेई लै चबाये हैं।"
पूछ्यौ सो जनायौ, ढूंढ़ि ल्यायौ, आगे गायौ सब, "तुम तो उदास," हाँ, सरस समझाये हैं॥१२५॥

अर्थ—वृन्दावनकी शोभाको देख-देखकर माधवदासजी प्रेमानन्दमें डूब गये। एक दिन आप श्रीबाँकेबिहारीजीके दर्शनार्थ गये। वहाँ बाहर ही आपको चने दिए। द्वारपाल बोला—"थोड़ी ही देरमें आपको प्रसाद भी मिलेगा; अभी भोग लग रहा है।"

माधवदासजी चनोंको ही लेकर यमुनाजीके किनारे पहुँचे जहाँ हरियाली छाई हुई थी। वहाँ बैठकर आपने श्रीबिहारीजीका ध्यान कर पहले चनोंका भोग रक्खा और फिर उन्हें प्रसादकी भावनासे पाया। इसी बीचमें श्रीस्वामी श्रीहरिदासजी महाराज बिहारीजी महाराजके सामने अनेक प्रकारके व्यञ्जनोंके थाल परोसकर भोगकी भावना कर रहे थे। उसी समय उन्हें लगा कि श्रीबिहारीजी यह कह रहे हैं कि 'हमें तो एक भक्तने चने भोग लगा दिये हैं, अतः तुम्हारे ये सब व्यञ्जन अब अच्छे नहीं लगते।' इसपर स्वामीजीने चना-भोग रखनेवालेका नाम पूछा। श्रीबिहारीजीने माधवदासजीका बता दिया। बस, थोड़ी ही देरमें लोग माधवदासजीको खोज लाये। पूछनेपर उन्होंने सारा वृत्तान्त ज्यों-का-त्यों स्वामीजीको कह सुनाया। इसपर स्वामीजीने उन्हें समझाया कि आप तो विरक्त हैं, परन्तु अपने आराध्यके प्रति आपको इस प्रकार उदासीन नहीं होना चाहिए।" इसके उपरान्त स्वामीजीने उन्हें सरस उपासनाकी रीति समझाई। माधवदासजीने उसे स्वीकार किया और प्रसाद ग्रहण करके बड़े प्रसन्न हुए।

माधवदासजीकी इस घटनाके सम्बन्धमें श्रीसहचरिशरणजीका एक पद देखिए—

श्रीहरिदास कृपाधर सागर मो पर नेह अपार कियो।
कुञ्जबिहारिणि कन्त मनोहर लै तिनको सुप्रसाद दियो॥
शुद्ध सुधा अधिकी कल कीरति स्वाद विशेष व तोष भयो।
हार विहार मई दरस्यो बन पावन हो अनुराग नयो॥

भक्ति-रस-बोधिनी

गये ब्रज देखिबे कों, 'भांडीर' मैं 'खेम' रहे निसि को दुराय खाय किमि लै दिखाये हैं।
लीला सुनिबे कों 'हरियाने' गांव रहे जाय, गोबर हू पाथि पुनि नीलाचल धाये हैं॥
घर हू को आये सुत सुखी सुनि माता बानी, मारग में स्वप्न दै कै बनिक मिलाये हैं।
याही बिधि नाना भाँति चरित अपार जानो, जिते कछु आने तिते गाय कै सुनाये हैं॥३२६॥

अर्थ—वृन्दावनमें कुछ दिन रहनेके उपरान्त माधवदासजी ब्रजके अन्य स्थानोंको देखनेके लिए गए। भांडीर-वनमें आप खेमदास नामक साधुके यहाँ पहुँचे। इसने पहले तो माधवदासजीको ठहरने ही नहीं दिया, किन्तु जब येआश्रममें ठहर गए तो इनको तो खानेके लिए रूखा-सूखा कुछ दे दिया और स्वयं छिपकर रात्रिमें खीर खानी चाही। लेकिन ज्यों ही उसने अपने सामने खीर परोसी, त्योंही उसे पता लगा कि खीरमें कीड़े रेंग रहे हैं। वह समझ गया कि यह माधवदासजीसे कपट करनेका परिणाम है और पैरों पड़कर उनसे क्षमा माँगी।

वृन्दावनसे माधवदासजी हरियाना प्रदेशमें गए। वहाँ गोली नामक गाँवमें आप भगवान की लीलाओंको सुना करते थे। उस आश्रममें रहकर आप गायोंका गोबर भी पाथ देते थे।

जब वहाँ रहनेवाले सन्तोंको यह पता चल गया कि ये माधवदासजी हैं, तो आप वहाँसे श्रीजगन्नाथधामको लौट दिए जहाँ कि उनका घर था। मार्गमें आपने सुना कि उनकी माता तथा पुत्र कुशल हैं। आपके मनमें आया कि माताजीसे मिलता चलूँ। उधर किसीने माताको यह समाचार दे दिया कि तुम्हारे पुत्र माधवदास घर लौट कर आरहे हैं। माताने यह सुनकर कहा—"मेरा पुत्र ऐसा कुपूत नहीं है जो एक बार विरक्त होकर फिर लौटे।" माताके ऐसे वचन सुनकर आप भूखे-प्यासे उल्टे पैरों लौट गये।

भगवानने जब यह देखा तो वैश्य भक्त को स्वप्न देकर उसे रास्तेमें जाते हुए माधवदासजी से मिलाया। वैश्यके विशेष आग्रहसे आपने उसके यहां भोजन किया और फिर जगन्नाथपुरीको चल दिए। ऐसे ही माधवदासजीके अनेक चरित्र हैं। टीकाकार श्रीप्रियादासजी कहते हैं कि जितने मैं जानता था उन्हें गाकर (कविता-बद्ध करके) यहाँ सुना दिया है।

मूल (छप्पय)

(श्रीरघुनाथ गुसाईं)

सीत लगत सकलात विदित पुरुषोत्तम दीनी।
सौच गये हरि संग कृत्य सेवक की कीनी॥
जगन्नाथ पद प्रीति निरन्तर करत खवासी।
भगवत् धर्म प्रधान प्रसन्न नीलाचल वासी॥
उतकल देस उड़ीसा नगर 'बैनतेय' सब कोउ कहैं।
'श्री' रघुनाथ गुसाईं गरुड़ ज्यों सिंह पौरि ठाढ़े रहैं॥७१॥

अर्थ—यह बात सबको मालूम है कि जगन्नाथपुरीमें वास करते हुए श्रीरघुनाथ गुसाईं को एक बार रातको अत्यन्त ठण्डने सताया, तो स्वयं प्रभु श्रीजगन्नाथजीने उन्हें ओढ़नेके लिये रजाई दी और फिर अतीसारके कारण दस्त लग जानेपर भगवानने स्वयं अपने हाथों सेवककी भाँति उनका सब काम किया—अर्थात् अङ्ग-प्रक्षालन किया। श्रीजगन्नाथजीके चरण-कमलोंमें आपका अपूर्व अनुराग था और आप उनकी टहल किया करते थे। गुसाइंजी भागवत-धर्मके माननेवालोंमें अग्रणी थे और प्रसन्नता-पूर्वक नीलाचल-धाम (श्रीजगन्नाथपुरी) में रहते थे। मूलमें आप उत्कल प्रान्तके उड़ीसा-नगरके निवासी थे। सब लोग आपको 'गरुड़' जीके नामसे पुकारते थे। यह नाम आपका इसलिए पड़ा कि जिस प्रकार भगवानके अग्रभागमें गरुड़जी सदा विराजमान रहते हैं, उसी प्रकार गुसाईंजी भी श्रीजगन्नाथजीके मन्दिरकी ड्योढ़ियोंपर खड़े रहते थे।

भक्ति-रस-बोधिनी

अति अनुराग घर संपति सों रह्यो पागि, ताहू करि त्याग नीलाचल कियो वास है।
धन को पठावैं पिता ऐ पै नहीं भावै कछू देखिबो सुहावै महाप्रभुजी को पास है।।
मन्दिर के द्वार रूप सुन्दर निहारयौ करै, लग्यो सीत गात सकलात दई दास है।
सौच संग जायवे की रीति को प्रमान वहै वैसे सब जानौ माधौदास सुखरास है।।३२७।।

अर्थ—श्रीरघुनाथ गुसाईंका घर सब प्रकारके वैभवसे पूर्ण था, फिर भी भगवानके चरणों में रति होनेके कारण आपने हरे-भरे घरको त्याग दिया और श्रीजगन्नाथपुरीमें रहने लगे। पुत्र-प्रेमके कारण पिता उन्हें घरसे रुपये भेजते थे, परन्तु उन्हें यह सब अच्छा नहीं लगता था। उन्हें तो प्रभुके दर्शन तथा उनके निकट रहना ही सुहाता था। मन्दिरकी ड्योढ़ियोंपर खड़े रह कर वे प्रभुकी सुन्दर रूप-माधुरीका पान किया करते थे। एक बार ठण्डसे सताये जानेपर प्रभुने अपने दासको रजाई दी और दूसरी बार बार-बार शौच जानेपर प्रभुने जिस रीतिसे सेवा की उसका प्रमाण श्रीसुखके निधान श्रीमाधवदासजीकी कथा है।

"भक्तदाम गुण चित्रनी' टीकाके आधारपर श्रीरघुनाथ गोस्वामीको, जब वे घरमें रहते थे तभी, एक बार स्वप्नमें भगवानके दर्शन होगए थे और उन्हींकी आज्ञासे आपने घर त्यागा था। देखिए—

एक बार हरि स्वपन मझारा। याकूं अपनो रूप दिखारा।।
देख रूप मन मोद भराना। ताही औसर नींद न आना।।
फिर उहि रूपहिं चाहत देषा। तलफत मन अति लगी अपेषा।।
दूसर दिन हरि स्वपन सुनावा। जो तू चहत रूप उहि पावा।।
तो तजि घर धन होहु विरक्ता। तब मन दरसन पावहि भक्ता।।
तब ही ग्रह तजि विरकत होई। जगन्नाथ पुरि बसियो सोई।।

भक्ति-रस-बोधिनी

महाप्रभु कृष्णचैतन्य जू की आज्ञा पाइ आये वृन्दावन, राधाकुंड बास कियो है।
रहनि, कहनि रूप चहनि न कहि सकें, थकें सुनि, तन भाव रूप करि लियो है॥
मानसी में पायो दूध-भात, सरसात हिये लिये रस नारी देखि बैद कहि दियो है।
कहाँ लौं प्रताप कहौं, आप ही समझि लेहु, देहु वही रीझि जासों आगे पाय जियो है॥३२८॥

अर्थ—महाप्रभु श्रीकृष्णचैतन्यजीकी आज्ञासे श्रीरघुनाथ गुसाईं वृन्दावन आए और राधाकुंडमें निवास किया आपके रहन-सहन, संभाषण, प्रभुके रूपके प्रति चाह—आदिके विषय में कुछ कहा नहीं जा सकता। सुन-सुनकर बुद्धि हैरान हो जाती है। श्रीकृष्णचन्द्रके स्वरूपगत भावमें डूबे रहनेके कारण आप स्वयं भावना-मय होगए—मानों हाड़-मांसके शरीरका कोई अस्तित्व था ही नहीं। एक दिन आपका शरीर अस्वस्थ हो गया, अतः मानसी सेवा करते हुए आपने दूध-भातका भोग लगाया और भक्ति-भावसे प्रसादी ग्रहण की। बादमें जब वैद्यने नाड़ी देखी, तो बताया कि गुसाईंजीने दूध-भात खाया है। टीकाकार श्रीप्रियादासजी कहते हैं कि मैं इन भक्त-महोदयके अलौकिक चरित्रोंका कहाँ तक वर्णन करूँ। पाठकगण स्वयं समझ लें। श्रीप्रियादासजीकी यही कामना है कि उन्हें भी भगवानके प्रति उसी प्रकारकी प्रीति-भावनाका वरदान प्राप्त हो जिसे पाकर गुसाईंजी जीवित रहे। (देखिए इसी ग्रन्थका पृ० ५ पं० ३५)

विशेष वृत्त—श्रीरघुनाथ गोस्वामीका स्थिति-काल १४९८ ई० से १५८५ तक माना जाता है। आप कायस्थ-वंशमें पैदा हुए थे, परन्तु अपनी अगाध भक्ति और पवित्र जीवन-चर्याके प्रभावसे गोस्वामियोंके समकक्ष माने जाते थे। इनके पिता बंगालके प्रसिद्ध नगर सप्तग्रामके जमींदार गोवर्धनदास मजूमदार थे। पिताके एकमात्र पुत्र होनेके कारण आपका पालन राजकुमारोंकी भाँति हुआ, किन्तु आप पिताके वैभवसे जरा भी आकर्षित नहीं हुए। युवक होनेपर आपने वैराग्य ग्रहण करना चाहा, पर श्रीचैतन्य महाप्रभु के आदेशको शिरोधार्य कर उस समय आप रुक गये और जमींदारीके कामकी देख-रेख करने लगे। अन्तमें आपपर न रहा गया और अतुल संपत्तिपर लात मार कर श्रीजगन्नाथपुरी चले गए। महाप्रभुके तिरोधानके बाद आप वृन्दावन आये और राधाकुण्डमें रहे। कहते हैं, आप मठाके सिवा और कुछ ग्रहण नहीं करते थे और रात-दिन 'राधे-राधे' रटते रहते थे। आप ही की प्रेरणासे श्रीकृष्णदास कविराजने वृद्धावस्थामें 'चैतन्य-चरितामृत' की रचना की। गोस्वामीजीकी रचनायें अधिकतम स्तोत्र-रूपमें ही उपलब्ध हैं। इनमेंसे मुख्य ये हैं—विलाप-कुसुमांजलि, राधाष्टक, नामाष्टक, उत्कण्ठ दशक, अभीष्ट-प्रार्थनाष्टक और शचीनन्दन-शतक। इनकी रचनाका एक उदाहरण देखिए—

गोपबालसुन्दरीगणावृतं कलानिधिं रासमण्डलीविहारकारिकामसुन्दरम्।
पद्मयोनिशङ्करादिदेववृन्दवन्दितं नीलवारिवाहकान्तिगोकुलेशमाश्रये॥

—जो सुन्दर गोपबालाओंसे आवृत हैं, समस्त कलाओंके आधार हैं, रासमण्डलमें विहार करने वाले और कामदेवसे भी अधिक सुन्दर हैं तथा श्रीब्रह्माजी और शङ्करादि देव वृन्दोंसे वन्दित हैं, उन नील जलधरके समान कान्तिवाले गोकुलेश्वर श्रीश्यामसुन्दरकी मैं शरण लेता हूँ।

वार्ता—भक्तोंकी वार्ताके अनुसार श्रीरघुनाथ गोस्वामीजी राधाकुंडमें निवास करते समय केवल जल पीकर रहते थे। आपका यह नित्यका नियम था कि राधाकुंडकी परिक्रमा किया करते थे। जब आप बहुत दुर्बल होगए, तो आपने ठाकुर-मन्दिरकी परिक्रमा करनेका नियम बना लिया। कुछ दिन बाद यह भी कठिन होगया, पर आपने परिक्रमा नहीं छोड़ी। प्रायः आप चलते-फिरते गिर पड़ते और लोग समझाते तो यह कह देते—"जब हम गिर पड़ा करें, तो हमें उठाकर खड़ा कर दिया करो।" गोस्वामी जीके केवल मठा ग्रहण करनेके सम्बन्धमें निम्नलिखित दोहा कहा जाता है—

भजन रसिक रघुनाथ श्री राधाकुंड निवास। लोन तक ब्रज को लियो और नहीं कछु आस॥

श्रीराधाकुंडके वैभवके वर्णनमें किसीने कहा है—

श्री महारानी राधिका अष्ट सखिन के कुंड। डगर बुहारें साँवरो जय-जय राधाकुंड॥

मूल (छप्पय)

गौड देस पाखण्ड मेटि कियो भजन परायन।
करुणासिंधु कृतज्ञ भये अगनित गति दायन॥
दसधा रस आक्रांति महत जन चरण उपासे।
नाम लेत निहपाप दुरित तिहि नरके नासे॥
अवतार विदित पूरब मही उभै महत देही धरी।
नित्यानन्द कृष्णचैतन्य की भक्ति दसों दिसि विस्तरी॥७२॥

अर्थ—श्रीनित्यानन्दजी तथा श्रीकृष्णचैतन्यजीने गौड़ देश (बंगाल) में प्रचलित पाखंड को दूर कर वहाँके लोगोंमें भजनकी प्रवृत्ति पैदा की। दयाके समुद्र और भगवानके अनुग्रह मूल्यको समझनेवाले इन दोनों महानुभावोंने असंख्य जीवोंका उद्धार किया। इनका हृदय भगवानकी दश प्रकारकी भक्तिसे परिपूर्ण रहता था। बड़े-बड़े महात्माओंने आपकी आराधना की। इनके नामका उच्चारण करने मात्रसे मनुष्य पाप-रहित हो जाता है और पापीसे पापी मनुष्यकी नरक जानेकी संभावनायें नष्ट हो जाती हैं। यह बात प्रसिद्ध है कि श्रीबलराम तथा श्रीकृष्णने श्रीनित्यानन्द और श्रीकृष्णचैतन्यके रूपमें इस पृथ्वीपर अवतार लिया। आपकी भक्ति का यश दशों दिशाओंमें फैल गया था।

भक्ति-रस-बोधिनी

(श्रीनित्यानन्द प्रभु)

आप बलदेव सदा वारुणी सो मत्त रहैं, चहैं मन माझौ प्रेम मत्तताई चाखियै।
सोई नित्यानन्द प्रभु महंत की देही धरी, भरी सब आनि ताकि पुनि अभिलाखियै॥
भयो बोझ भारी किहूँ जात न सँभारी, तब ठौर ठौर पारखद माँझि धरि राखियै।
कहत कहत और सुनत सुनत जाके भये मतवारे, बहु ग्रन्थ ताकी साखियै॥३२६॥

अर्थ—श्रीकृष्णके बड़े भाई बलरामजी वारुणी (मदिरा) पिया करते थे और उसीके नशे में झूमा करते थे। एक बार उन्होंने सोचा कि (वारुणीका स्वाद तो बहुत दिन लिया) अब प्रेमका नशा भी करना चाहिये। फलतः श्रीबलरामजीने श्रीनित्यानन्द प्रभुके रूपमें अवतार लिया। इस देहमें आपने प्रेमका खूब पान किया, पर अभिलाषा पूर्ण नहीं हुई। उस प्रेमका प्रभाव आप पर सँभालते नहीं बनता था, इसलिए आपने उसे अपने पार्षद—अर्थात् शिष्योंको बाँट दिया। श्रीनित्यानन्दप्रभु द्वारा प्रसारित प्रेम-माधुरीका आस्वाद लेते-लेते; उसे सुनते और सुनाते न-जाने कितने लोग मतवाले हो गये। श्रीनित्यानन्दजीके चरित्रोंका वर्णन करनेवाले ग्रन्थ इसका प्रमाण हैं।

जीवन-वृत्त—श्रीनित्यानन्दका जन्म शाके १३९५ के माघ मासमें बंगालके वीरभूमि जिलामें एकचाका नामक गाँवमें हुआ था। उनके पिताका नाम हाड़ाई पंडित और माताका नाम पद्मावती था। दोनों ही महान् विष्णु-भक्त थे। कहते हैं, पद्मावतीको एक बार स्वप्नमें किसी महापुरुषके दर्शन हुए। उसने कहा कि तुम्हारे गर्भसे एक तेजस्वी पुत्र पैदा होगा जो अपने प्रभावसे सैकड़ों जीवोंका उद्धार करेगा। यह भविष्यवाणी सत्य सिद्ध हुई। निताई जन्मसे ही भगवानकी बाल-लीलाका अनुकरण करते-करते उन्मत्त हो जाया करते थे। संसारके प्रति उनके हृदयमें तनिक भी आसक्ति न थी।

बड़े होनेपर निताईने घर-द्वार छोड़ दिया और तीर्थाटनके लिए निकल पड़े। अयोध्या, हस्तिनापुर होते हुए वे व्रज पहुँचे। यहाँ उनकी माधवेन्द्रपुरीसे भेंट हुई। निताई अब वृन्दावनमें पागलोंकी तरह घूमा करते; न शरीरका होश था और न खाने-पीनेका। इसी बीच ईश्वरपुरीने उन्हें बतलाया कि श्रीकृष्णका अवतार नवद्वीपमें शचीके घरमें हो गया है। निताई, यह सुनते ही, नवद्वीपको चल दिये।

निमाई पण्डित (श्रीचैतन्य) को जब उनके आगमनका समाचार मिला, तो शिष्यों-सहित उनके दर्शनके लिए पहुँचे। दोनों बड़े प्रेमसे एक-दूसरेसे मिले। कुछ दिन तक नवद्वीप रहकर निताई पुरी आए और फिर श्रीचैतन्यके आदेशसे बंगालमें हरि-नामका प्रचार करनेके लिए निकल पड़े। श्रीचैतन्यके सन्देशको आन्दोलनका रूप देनेवाले महानुभावोंमें दो नाम ही प्रमुख रूपसे हमारे सामने आते हैं—श्रीअद्वैताचार्यजी तथा श्रीनित्यानन्दजी। अद्वैत-वेदान्तके महापण्डित होनेपर भी श्रीचैतन्यसे प्रभावित होकर ही श्रीअद्वैताचार्यने भक्ति-आन्दोलनका नेतृत्व ग्रहण किया था, किन्तु शास्त्रीय संस्कारोंसे बँधे होनेके कारण वह योग्य और अधिकारी व्यक्तियोंके अतिरिक्त हर एकको वैष्णव-धर्मका अधिकारी माननेको तैयार न थे। श्रीनित्यानन्दने इस प्रकारका कोई आग्रह नहीं माना। उन्होंने सब किसीके लिये भक्तिका द्वार खोल दिया, यहाँ तक कि जगाई-मधाई-जैसे पातकियोंके उद्धारमें भी उन्होंने योग दिया। श्रीनित्यानन्दजीके पुत्र वीरभद्रने बंगालके बौद्धधर्म-अनुयायियोंको भी, जो समाजमें अत्यन्त हेय समझे जाते थे, वैष्णव-धर्मकी दीक्षा दे डाली। श्रीनित्यानन्दजीके बारह शिष्य थे जो 'द्वादशगोपाल' नामसे विख्यात हैं। अपने गुरुके कार्यको सफल बनानेमें इन शिष्योंका भी बहुत बड़ा हाथ रहा है।

'भक्त दामगुण चित्रनी' टीकामें श्रीनित्यानन्दजीका चरित्र निम्न प्रकार दिया गया है—

एक बार श्रीनित्यानन्दजी आनन्दके धाम श्रीवृन्दावनमें आए। जब वे वृन्दावनके दर्शनीय स्थलों

को देखकर वापस लौट रहे थे, तो रास्तेमें उन्हें एक सन्त मिले और उनसे उनका परिचय हो गया। सन्ध्या होनेपर दोनों एक स्थानपर ठहरे और भोजन बनानेकी तैयारी करने लगे। उसी समय एक यवनोंका दल उधर आ निकला और कुछ यवन इनकी ओर दौड़कर आने लगे। इन्होंने उनसे कहा—"अरे भाई यवनो! तुम हमसे दूर रहो; हमारा स्पर्श मत करो।" किन्तु वे न माने। उन्होंने आकर स्वामी श्रीनित्यानन्दजीका स्पर्श कर लिया और उन्हें स्वयं ही मारने लगे। भगवानकी कृपासे उसी समय एक आश्चर्य-जनक घटना हुई। आकाशसे अचानक पत्थरोंकी वर्षा होने लगी और यवनोंकी खोपड़ियोंपर धड़ाधड़ मार पड़ने लगी। अब तो वे भागे 'बचाओ! बचाओ!!' पुकारते हुए—एक क्षण भी न ठहर सके। जब यवनराजने उनकी वह दशा देखी और सब वृत्तान्त सुना तो वह समझ गया कि निश्चय ही इन्होंने किसी महात्माका अपराध किया है और तुरन्त ही नित्यानन्दजीके पास आकर उनके चरणोंमें गिर गया। उसने नित्यानन्दजीसे क्षमा माँगी और कहा—"महाराज! कुछ मूर्खोंने आपके साथ अभद्र व्यवहार कर दिया होगा। अब हम आपसे माफी चाहते हैं। दयाकरके इस वज्र-मारको दूर कर दीजिए।"

स्वामीजी पत्थरोंकी वर्षाको समाप्त करके बोले—'हम क्या करें? मना करने पर भी जब इन लोगोंने हमको सताया तो इन्हें उसका फल भोगना पड़ा और इनके साथ दूसरे लोगोंपर भी मार पड़ी।"

यवनराजने अत्यन्त विनीत भावसे कहा—"यदि आपकी आज्ञा हो तो हम फिर चौका आदि लगा कर आपका स्थान पवित्र कर दें और तब आप पुनः आनन्दसे भोजन तैयार कीजिए।" नित्यानन्दजी बोले—"हमें कुछ नहीं कराना है। अब तुम लोग यहाँसे जाओ, पर एक बात ध्यान रखना—साधुओं का अपमान कभी मत करना; उनसे हमेशा डरते रहना।

यवनने स्वीकृत-सूचक सिर हिलाया और सलाम कर अपने साथियोंके साथ भयाक्रान्त-सा निवास-स्थानकी ओर लौट गया। श्रीनित्यानन्दजी भी साथी सन्तके साथ आगे बढ़ दिए और विचरते हुए गौड़-देश में जा पहुँचे।

श्रीनित्यानन्दजी जिस स्थानपर रहते थे वहीं कुछ वधिक पशुओंको मार रहे थे। नित्यानन्दजीने मना किया तो वे बोले—"अगर तुम्हें इन पशुओंका मारा जाना अच्छा नहीं लगता है तो अपनी आँखें बन्द कर लो या यहाँसे उठकर कहीं दूसरी जगह चले जाओ।"

स्वामीजीसे इतना कहते ही वधिक अन्धे होकर आपसमें टकराने लगे और अत्यन्त दुःखी होकर बोले—"स्वामीजी! हमें क्षमा कीजिए। हम आपको पहिचान नहीं पाए थे। हमारी आँखें अच्छी कीजिए, हम अब कभी आपकी बात नहीं टालेंगे।"

इस प्रकार उन्हें दुःखी देखकर श्रीनित्यानन्दजीको दया आ गई और वे बोले—"अगर तुम आज से यह हिंसक-वृत्ति त्याग कर भगवान की भक्ति करना आरम्भ कर दो तो तुम्हारी आँखें अच्छी हो जायेंगीं। सभीने भक्त बननेकी प्रतिज्ञा की और उसी समय उनके नेत्रोंमें ज्योति आगई। गिर पड़े सबके सब स्वामीजीके चरणोंमें और उनके शिष्य होकर भगवानके भजन और साधुओंकी सेवामें अपना जीवन बिताने लगे।

(श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभु)

भक्ति-रस-बोधिनी

गोपिन के अनुराग आगे आप हारे श्याम, जान्यो यह लाल रंग कैसे आवै तन मैं।
ये तौ सब गोरतनी नख-सिख बनी-ठनी, खुल्यौ यों सुरंग अंग-अंग रंगे बन मैं॥
श्यामताई मांझ सो ललाई हू समाई जो ही, ताते मेरे जान फिरि आई यह मन मैं।
जसुमति-सुत सोई शची-सुत गौर भये, नये-नये नेह चोज नाचै निज गन मैं॥३३०॥

अर्थ—व्रजकी गोपियोंके अगाध प्रेमको देखकर श्यामसुन्दर हार गये। वे इस चिन्तामें पड़ गये कि किसी प्रकार गोपियोंके प्रेमकी लाल आभा उन्हें मिल जाय। किन्तु यह हो कैसे सकता था? गोपियोंके शरीरका वर्ण तो गौर था और श्रीकृष्णचन्द्र थे नील जलधर-श्याम। श्याम रंग में अनुरागकी लालिमा कैसे प्रतिबिम्बित होती? दूसरी बाधा यह थी कि गोपियाँ नखसे शिख तक शृंगार किये रहती थीं—अर्थात् नारी होनेके कारण प्रेमकी सहज अनुभूतिके वे अत्यन्त निकट थीं। श्यामसुन्दरने सोचा, इनके प्रेमके स्वरूपको ग्रहण करनेका एकमात्र उपाय यही है कि वनमें इन गोपियोंके साथ रहा जाय। उन्होंने ऐसा ही किया और फल यह हुआ कि श्यामसुन्दरने देखा कि उनके अंग-अंगमें गोपियोंके अनुरागका रंग समा गया है। टीकाकार श्रीप्रियादासजी कहते हैं कि इतनी सफलता मिल जानेपर श्रीकृष्णने सोचा होगा कि गोपियोंके तद्रूप बननेके लिए मुझे गौरांग बनना चाहिए—इतनेसे काम नहीं चलेगा। बस, फिर क्या था? यशोदानन्दन शची-सुत श्रीकृष्णचैतन्यके रूपमें प्रकट हुए और श्रीकृष्ण-रूपमें जिस प्रकार गोपियोंके साथ नृत्य किया था, उसी प्रकार चैतन्य-विग्रहमें अपने भक्तोंके बीच हरि-नामका प्रेम-पूर्ण कीर्तन करते हुए आप नाचे।

इस कवित्तमें टीकाकारने श्याम सुन्दरके गौर देह धारण करनेके सम्बन्धमें बड़ी सुन्दर उत्प्रेक्षा की है। भगवान्ने देखा कि मेरा प्रेम वैसा गहरा नहीं है जैसा कि गोपियोंका। इसका कारण उनकी समझमें यह आया कि श्याम रंगमें अनुराग (लाल रंग और प्रेम) उस चटकके साथ नहीं झलक सकता जैसा कि गौर शरीरमें। यह इस बातको कहनेका आलंकारिक ढंग है कि श्यामसुन्दर प्रेमकी उस उत्कृष्ट दशा तक नहीं पहुँच पाये थे जहाँ तक कि गोपियाँ पहुँच गई थीं। भगवान्ने गोपियोंके साथ वन-विहार करते हुए इसकी भली भाँति परीक्षा कर ली थी। जब वे गोपियोंके बीचसे एकाएक अन्तर्धान हो गए, तब गोपियाँ बेहाल होगईं। वे जड़-चेतनके अन्तरको भूल कर वनके वृक्षोंसे अपने प्रियका पता पूछती हुई पागलोंकी तरह घूमने लगी थीं। यमुनाजीके किनारे जब वे घूमती हुई आईं, तो वहाँ भी कुछ पेड़ खड़े दिखाई दिए। उनसे भी गोपियोंने वही बात पूछी और जब कुछ उत्तर न मिला। तो कहने लगीं—

क्यों कहि हैं सखि महा कठिन ये तीरथ बासी।

गोपियोंके इस प्रकारके चरित्रको देख कर भगवानको निश्चय होगया कि इनसे पार पाना कठिन है। इसलिए उन्होंने गोपियोंसे यह कबूल किया था—

न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां स्वसाधुकृत्यं विबुधायुषापि वः।
या माभजन् दुर्जरगेहशृंखलाः संवृश्च्य तद् वः प्रतियातु साधुना॥ (श्रीमद्भागवत-१०।३२।२२)

—भगवानने कहा—"गृहस्थीकी दुर्जर बेड़ियोंको अच्छी तरह काट कर तुम लोगोंने मेरा भजन किया है। तुम्हारी मैत्री दोष-हीन है; स्वार्थकी गन्ध उसमें नहीं। देवताओंकी आयु पाकर भी मैं इसका प्रत्युपकार नहीं कर सकता। अतः आप लोग स्वयं अपनी उदारता तथा सदाशयतासे मुझे इस ऋणसे मुक्त कर दें।"

चैतन्यरूपमें अवतार धारण कर भगवान इस ऋणसे मुक्त हो गए। गोपियोंके सहवाससे जिस प्रेमको उन्होंने सीखा था, कलियुगमें उसे उन्होंने साधारण भक्तोंके लिये सुलभ बना दिया। जो अमूल्य अनुभूति भगवान और गोपियोंके मध्य तक सीमित थी उसका अधिकारी प्रत्येक भक्त हो गया। व्यक्तिगत प्रेमको यह व्यापक रूप श्रीचैतन्यकी ही कृपासे मिला।

भक्ति-रस-बोधिनी

आवै कभूं प्रेम हेमपिंडवत तन होत, कभूं संधि-संधि छूटि अंग बढ़ि जात है।
और एक न्यारी रीति आंसू पिचकारी मानों, उभै लाल प्यारी भाव-सागर समात है॥
ईशता बखान कहा कहौं सो प्रमान याकौ जगन्नाथ क्षेत्र नेत्र निरखि साक्षात है।
चतभुज षटभुज रूप लै बिलाय दियौ, दियो जो अनूप हित बात पात-पात है॥३३१॥

अर्थ—श्रीचैतन्यको जब प्रेमका आवेश होता था, तो कभी उनका गौर शरीर तपे हुए सुवर्णकी भाँति लाल हो जाता था, तो कभी जोड़ोंके शिथिल हो जानेके कारण शरीर फूल जाता था। एक विचित्र बात यह होती थी कि ऐसे समय आपकी आँखोंसे आँसू पिचकारीकी धारकी तरह छूट निकलते थे, मानों श्रीकृष्ण और राधिकाके प्रेम-समुद्रमें आप डूब गये हों।

यदि यह शंका की जाय कि मूल छप्पय तथा टीकामें आपको किस आधारपर ईश्वरका अवतार बताया गया है, तो उसका प्रमाण यह है कि एक बार नृत्य करते-करते आपने साक्षात् चतुर्भुज रूप होकर दर्शन दिया और (जब लोगोंने यह कहा कि चतुर्भुज हो जाना तो श्रीजगन्नाथ-क्षेत्रका प्रभाव ही है), तो आपने षट्भुज होकर दर्शन दिया। आपने जीवोंका जो अनुपम कल्याण किया, वह तो वार्ता-पत्रमें लिखा है।

प्रभु चैतन्यके प्रेमावेशमें नृत्य करते समय जो छवि बनती थी, उसका सुन्दर वर्णन नीचे दिये गए एक पदमें देखिये—

रास-मंडल बने नृत्य औकी बनी॥
गौर गोविन्द के नयन अरविंद सौं छूटत आनंद मकरन्द चहुँ दिसि घनी।
लाल पग मृदु चरन धरत धरनी हुलसि विलस हस्तक भेद चलत लोचन अनी॥
पुलक सब देह घन कंप भरि थरहरनि परसत प्रस्वेद सुरभेद धारा बनी।
निपट अवसन्न जब तबहिं छिति झुकि परत अंग नहिं हलत गत स्वास की निगमनी॥
ता समै जगत में जीव जेतिक बसत प्रेम आनन्द के होत सब ही धनी।
चहत सब पारषद सन्द सुख में मिलत लगी ठकठकी यह सुख मनोहर बनी॥

—+—

भक्ति-रस-बोधिनी

कृष्णचैतन्य नाम जगत प्रगट भयौ, अति अभिराम लै महन्त देही करी है।
जितौ गौड़-देश भक्ति लेस हू न जाने कोई, सोऊ प्रेम सागरमें बोरयौ कहि 'हरी' है।।
भये सिरमौर एक-एक जग तारिबे कों धारिबे कौ कौन साखि पोथिन में धरी है।
कोटि-कोटि अजामेल वारि डारै दुष्टता पै, ऐसे हू मगन किये भक्ति भूमि भरी है।।३३२।।

अर्थ—भगवान श्रीकृष्णचन्द्र अत्यन्त सुन्दर महन्तका शरीर धारणकर श्रीकृष्णचैतन्यके नामसे जगत्‌में अवतरित हुए। उस समयकी धार्मिक स्थिति ऐसी थी कि बंगालमें भक्ति-भाव किसीको छू तक नहीं गया था। श्रीचैतन्य प्रभुने वहाँके लोगोंको हरि-कीर्तनका उपदेश देकर प्रेम-समुद्रमें डुबा दिया। आपके अनेक प्रसिद्ध शिष्य- प्रशिष्य हुए। इनमेंसे एक-एकने जगत्‌के अनेक पापियोंका उद्धार किया। इसका प्रमाण उस समयके चरित्र-ग्रन्थ हैं जिनमें यह वृत्तान्त विस्तार-पूर्वक लिखा है। ऐसे-ऐसे घोर पापियोंको, जिनपर अजामिल सरीखे न्यौछावर किए जा सकते हैं, इन शिष्योंने हरि-प्रेमका उपदेश दिया और भारत-भूमिमें हरि-भक्तिका सर्वत्र प्रचार किया।

कुछ प्रतियोंमें श्रीचैतन्यदेवके चरित्र-सम्बन्धी चार कवित्त और मिलते हैं जो भ्रमवश कुछ लोगोंने श्रीकेशवकाश्मीरिके छप्पयके साथ सम्मिलित कर दिये हैं। वास्तवमें श्रीकेशवकाश्मीरिके चरित्रसे उन कवित्तोंका कोई सम्बन्ध नहीं है। इस सम्बन्धमें शोधसे संप्राप्त विशेष विवरण श्रीकेशवकाश्मीरिके चरित्रमें देखिये।

भक्ति-रस-बोधिनी

करि दिग विजै सब पंडित हराय दिये, लिये बड़े बड़े जीति, भीति उपजाई है।
फिरत चौडोल चढ़े, गज बाजि लोग संग, प्रतिभा की रंग, आए 'नदिया' प्रभाई है।।
डरे द्विज भारी, महाप्रभूजू बिचारी तब, लीला बिसतारी गंगा तीर सुखदाई है।
बैठे ढिग आय, बोले नम्रता जनाय, "रह्यो जग जसु छाय, नेकु सुनें मन भाई है"।।३३३।।

अर्थ—एक बार किसी दिग्विजयी पंडितने बड़े-बड़े विद्वानोंको शास्त्रार्थमें हरा कर महान् आतंक पैदा कर दिया। चौंडोल नामक पालकीपर सवार होकर बहुत-से हाथी-घोड़े और लोगों को साथ लिये अपनी विद्वत्ताके मदमें चूर भ्रमण करता हुआ वह नदिया-शान्तिपुर आया। उसे आया हुआ सुनकर ही नवद्वीपके बड़े-बड़े पंडित डर गये। महाप्रभु श्रीकृष्णचैतन्यने जब यह देखा, तब उन्होंने अपनी लीलाका विस्तार करनेकी बात सोची और सुख देनेवाले गंगाजीके किनारे दिग्विजयी पंडितके पास पहुँचे।

अत्यन्त नम्रतापूर्वक आप उससे बोले—"आपकी कीर्ति समस्त संसारमें फैली हुई है। मेरी इच्छा है कि आपके श्रीमुखसे कुछ शास्त्रीय बात सुनूँ।"

भक्ति-रस-बोधिनी

"लरिकान संग पढ़ौ, बातें बड़ी-बड़ी गढ़ौ, ऐपै रढ़ौ कहौ सोई, सीलता पै रीझियै ।"
"गंगा कौ सरूप कहौ;" "वहौ दृग आगे सोई," नये सौ श्लोक किये, सुनि मति भीजियै ॥
तामैं एक कंठ करि पढ़ि कै सुनायौ "अहो बड़ो अभिलाष, याकी व्याख्या करि दीजियै ।"
"अचरज भारी भयौ कैसे तुम सीखि लयौ ?" "दयो है प्रभाव तुम्हें, ताने दयौ जीजियै ॥"३३४॥

अर्थ—दिग्विजयी पंडित बोला—"तुम पढ़ते तो बालकोंके साथ हो, परन्तु बातें बड़ी लम्बी-चौड़ी हाँकते हो। इतनेपर भी हम तुम्हारे विनयपूर्ण व्यवहारसे बड़े प्रसन्न हैं, अतः जो तुम चाहते हो वही हम कहेंगे।" महाप्रभुने इसपर कहा—"गंगाजीके स्वरूपका वर्णन करिये।" पंडित बोला—"सामने जो कुछ दिखाई दे रहा है वही गंगाजीका स्वरूप है।" महाप्रभुने कहा—"नये सौ श्लोक बनाइए।" पंडितने तत्काल सौ श्लोक बनाकर सुना दिये। सुनकर महाप्रभुजी बड़े प्रसन्न हुए और उन्हींमेंसे एक श्लोकको जो कि सुनते ही कंठस्थ होगया था, सुनाकर बोले—"कृपया इसकी व्याख्या कर दीजिये।" महाप्रभुजीकी ऐसी विलक्षण स्मृतिपर पंडितको बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने पूछा—"इतनी जल्दी तुम्हें ये श्लोक कैसे कंठस्थ होगये ?" महाप्रभुजीने उत्तर दिया—"जिसने आपको श्लोक-रचनाकी शक्ति दी है, उसीने मुझे तत्काल याद करनेकी सामर्थ्य दी है।"

भक्ति-रस-बोधिनी

"दूषन औ भूषन हू कीजियै बखान याकौ," सुनि दुख मानि कही "दोष कहाँ पाइयै ।"
"कविता प्रबंध मध्य रहै खोटि गंथ अहो, आज्ञा मोको देवो" कह्यो "कहि कै सुनाइयै ॥"
व्याख्या करि दई नई, औगुन सुगुन भई, आये निजधाम भोर मिलें समुझाइयै ।
सरस्वती ध्यान कियौ, आई तत्काल बाल, "बाल पै हरायो, सब जग जितवाइयै ॥"३३५॥

अर्थ—श्रीमहाप्रभुजीने कहा—"अपनी कविताके गुण-दोषोंपर थोड़ा सा प्रकाश डालिये।" दिग्विजयी पंडित यह सुनकर दुखी हुआ और कहने लगा—"मेरी कवितामें दोष कैसे ?" इस पर श्रीमहाप्रभुजी बोले—"कविता-प्रबन्धमें कहीं न कहीं दोष अवश्य रहते हैं। मुझे आज्ञा दें तो मैं दोष बतला दूँ।" पंडितने कहा—"बतलाओ।" इसपर श्रीमहाप्रभुजीने उस श्लोककी चमत्कार-पूर्ण नई व्याख्या करते हुए उसके गुण और दोष भी बतलाये। तब पंडितने कहा—"अच्छा, कल प्रातःकाल हम तुम्हें समझावेंगे।" यह कहकर पंडित अपने घर आए और एकान्तमें सरस्वती देवीका ध्यान किया। देवीके प्रकट होनेपर पंडितने कहा—"सारे संसारमें मुझे विजय दिलवाकर अन्तमें एक बालकसे हरवा दिया, ऐसा क्यों ?"

भक्ति-रस-बोधिनी

बोली सरस्वती 'मेरे ईश भगवान् वे तो, मान मेरौ कितौ सन्मुख बतराइयै ।
भयौ दरसन तुम्हें, मन परस न होत,' सुनि सुख-सोत बानी आये प्रभु पाइयै ॥
बिनै बहु करी, करि कृपा आप बोले "अजू भक्ति फल लीजैं, काहू भूलि न हराइयै ।"
हिये धरि लई, भीर भार छोड़ि दई, पुनि नई यह भई, सुनि दुष्ट मरवाइयै ॥३३६॥

अर्थ—देवी सरस्वतीने प्रत्यक्ष होकर दिग्विजयी पंडितसे कहा—"जिन्हें तुम बालक कहते हो वे तो साक्षात् भगवान हैं। मेरा इतना साहस कहाँ कि मैं उनके सामने कुछ कह सकूँ? यह तुम्हारा बड़ा सौभाग्य है कि तुम्हें उन प्रभुके दर्शन मिले जिन्हें मन भी स्पर्श नहीं कर सकता।" सरस्वती देवीकी ऐसी दुख देनेवाली वाणीको सुनकर पंडित फिर महाप्रभुजीके पास पहुँचे और नम्रता प्रकट की। तब महाप्रभुजी बोले—"आजसे शास्त्रार्थ द्वारा किसीको पराजत करनेकी बात अपने मनमेंसे निकाल दीजिए और मनुष्य-देह धारणका फल भगवानकी भक्तिको अपनाइए।" पंडितजीने इस उपदेशको हृदयंगम कर लिया और अपने अनुयायियोंकी भीड़को तिलांजलि देकर भगवानकी भक्ति करनेमें लग गए। इसके उपरान्त पंडितजीके जीवनमें एक नई घटना यह घटी कि उन्होंने भगवद्भक्तिका विरोध करनेवाले समस्त विचारोंको नष्ट कर दिया—अर्थात् प्रकाण्ड-पाण्डित्य आदि का समस्त अभिमान उनके हृदयसे जाता रहा और उसके स्थान पर निर्मल भक्तिका आविर्भाव होगया।

श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभुके सम्बन्धमें बालकरामजीने अपनी टीका "भक्त-दाम-गुण-चित्रनी" में कुछ चरित्र दिए हैं। पाठकोंके लाभार्थ उन्हें संक्षेपमें यहाँ दिया जाता है।

एक बार रथयात्राके अवसरपर श्रीकृष्णचैतन्य प्रेमानन्दमें मग्न होकर श्रीजगन्नाथजीके सामने नृत्य कर रहे थे। वहाँपर कुछ अभिमानी अभक्तोंने इनको इस प्रकार प्रेम-रसमें सराबोर देखा तो उनकी भक्तिको न पहिचान सकनेके कारण वे इन्हें ढोंगी बतलाने लगे। उसी समय श्रीकृष्णचैतन्यने एक चमत्कार दिखलाया। उनके शरीरसे कमलदलके समान अत्यन्त मोहक सुगन्ध निकलकर चारों ओर फैलने लगी। जब पास खड़े अभक्त अभिमानियोंने यह देखा तो उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ और उन्होंने श्रीकृष्णचैतन्यके चरणोंमें गिरकर क्षमा याचना की तथा उनके शिष्य हो गए।

उक्त टीकाके आधारपर ही श्रीचैतन्यका कोई प्रसिद्ध शिष्य एक बार बीमार पड़ गया। जब उसको किसी प्रकार भी आराम न हुआ तो उसने अपने भाईको श्रीकृष्णचैतन्यके पास भेजकर उनका सीथ-प्रसाद मँगाया। उसे अपने गुरुजी के सीथ-प्रसादकी शक्तिका पता था। शिष्यका भाई श्रीकृष्णचैतन्यजीके पास आया और सीथ-प्रसाद लेकर जब वह लौटने लगा तो रास्तेमें उसे चार व्यक्ति मिले। उन्होंने पूछा—"क्या लाए हो इसमें?"

"श्रीकृष्णचैतन्यका सीथ-प्रसाद है। मेरा भाई बीमार है इसीसे उसकी तबियत ठीक होती है।" उसने बतलाया।

राहगीरोंने उसमेंसे थोड़ा-सा प्रसाद माँग लिया और खा गए। इसका फल यह हुआ कि उनके हृदयके जितने भी विकार थे वे सब दूर होगए और भगवानकी निर्मल भक्तिका उदय उनके हृदयमें हो गया। वे श्रीकृष्णचैतन्यके शिष्य हो गए। उधर सीथ-प्रसादके पानेसे शिष्यका भी असाध्य रोग दूर हो गया।

श्रीकृष्ण-चैतन्य महाप्रभुका जीवन-वृत्त—श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभुका जन्म सं० १५४१ (१४८५ ई०) में नदियाके एक प्रतिष्ठित ब्राह्मण-कुलमें हुआ था। इनके पिताका नाम श्रीजगन्नाथ मिश्र और

माताका नाम शचीदेवी था। इनके बाल्यकालका नाम विश्वंभर मिश्र था। यह वह समय था जबकि बंगदेश अपने नैतिक और आध्यात्मिक पतन की ओर बड़े वेगसे बढ़ रहा था। धर्मकी दशा अत्यन्त दयनीय थी। धार्मिकताके नामपर लोग मंगला, चण्डी और मनसा देवी। जैसी शक्तियोंको पूजते थे। इस प्रकारके तांत्रिक वातावरणमें लौकिकताका बाजार गर्म था। धर्मके रक्षक ब्राह्मण तक लौकिक प्रपंचोंमें उलझे हुए थे। शास्त्रीय विद्वान् धर्म-ग्रन्थोंकी मनमानी व्याख्या कर रहे थे और विरक्त एवं सन्यासियोंके जीवनसे किसी प्रकारकी धार्मिक प्रेरणा ग्रहण करना असम्भव था।

सौभाग्यसे इस चरम अवनतिके कालमें भी कुछ इने-गिने लोग धर्म और ज्ञानकी ज्योति जलाये हुए एकान्त आराधनामें संलग्न थे। ये प्रधानतया वेदान्ती थे—भागवत-धर्म तो अन्तिम सांस गिन रहा था। उसके अनुयायी अंगुलियोंपर गिने जा सकते थे, जैसे—श्रीवास, मुरारी गुप्त, श्रीधर, अद्वैताचार्य, हरिदास आदि।

श्रीचैतन्य जब बाईस वर्षके हुए तब तक भी बंगालके धार्मिक वातावरणमें कोई विशेष अन्तर नहीं आया था। इस समय तक आपका विद्याध्ययन समाप्त हो चुका था और आपने समस्त शास्त्रोंमें, विशेषकर तर्क-शास्त्रमें बड़ी विचक्षणता प्राप्त कर ली थी। एक दुर्दान्त विद्वान् और आदर्श अध्यापकके रूपमें आपकी ख्याति सारे बंगालमें फैल गई थी। एक पाठशालाका संचालन भी आप करते थे।

श्रीचैतन्यके जीवन-प्रवाहको अचानक जिस घटनाने मोड़ दिया वह गया में हुई। वहाँ वह पिण्ड-दान करनेके लिए गए थे। संयोगसे वहाँ उनकी भेंट ईश्वर पुरीसे हुई (सं० १५४५)। पुरीजीने इन्हें वैष्णव-धर्ममें दीक्षित किया। यों तो श्रीचैतन्य पहलेसे भक्ति-भावनाके पक्षपाती थे, परन्तु गयामें तो जैसे जादू हो गया। यहाँ उन्हें जीवनका मानों नया स्वरूप देखनेको मिला। यह अत्यन्त मोहक था। श्रीचैतन्य सब कुछ भूल गए—अपनी शिष्य-मण्डली, संस्कृत-पाठशाला, वृद्ध और असहाय माता और तरुणी-पत्नी, सबके सब एक ही महाभावमें विलीन हो गए। बड़ी कठिनाईसे उन्हें घर लाया गया।

श्रीकृष्णचैतन्य अब बिलकुल बदल गए। उनकी आँखोंसे भगवत्-प्रेमकी अश्रुधारा अविरल बहती रहती थी, जैसे प्रभुसे एक क्षणका भी वियोग उन्हें असह्य हो। कभी वे हरि-नाम गाते-गाते मस्त हो जाते, तो कभी उनकी लीलाओंका वर्णन करते-करते विभोर हो उठते। माता और पत्नीने यह देखा, तो आशंकासे उनका हृदय भर गया; पर चैतन्य पीछे लौटनेवाले व्यक्तियोंमेंसे तो थे नहीं।

धीरे-धीरे उन्हें प्रभुका साक्षात्कार हुआ और उनके साथ अपने सम्बन्धका ज्ञान। सांसारिक प्रपञ्चों में फंसे रहना अब बुद्धिमता नहीं थी। इससे अधिक मूर्खता और क्या होती ?

उन्होंने संस्कृत-टोलको खतम किया और संकीर्तन-मंडलमें लग गए। बहुत शीघ्र नवद्वीपके वैष्णव अपने शिष्यों सहित श्रीचैतन्यके अनुयायी बन गए और नगरमें स्थान-स्थानपर हरि-कीर्तनकी मधुर-ध्वनि गूंजने लगी।

श्रीकृष्ण-प्रेमकी जिस मधुर भावनाका आस्वाद श्रीचैतन्यको मिला था, उसे सर्वसाधारणके लिए सुलभ बनानेकी आवश्यकताका उन्हें अनुभव होने लगा। उनके स्वरूप और उन्मत्तप्राय आचरणसे वह प्रेम फूटा पड़ता था। लोगोंपर इसका प्रभाव पड़ा, लेकिन अब भी पंडितोंका एक वर्ग ऐसा था जो श्रीचैतन्यकी हँसी उड़ाता था। इन्हें सन्मार्गपर लानेके लिए श्रीचैतन्यने संन्यास ले लिया और चौबीस वर्षकी आयुमें ही घर-द्वार छोड़कर पुरीमें रहनेके लिए चले गए।

संन्यास-आश्रमके प्रारम्भिक छः वर्षोंमें श्रीचैतन्यने भारतके तीर्थोंमें भ्रमण किया। विक्रम सं० १५६७-६८ (१५१०-११ ई०) में दक्षिण-भारतकी यात्रा की तथा वहाँ के प्रसिद्ध तीर्थोंका दर्शन करते हुए हरि-नामका प्रचार किया। इसके उपरान्त काशी और प्रयाग होते हुए वृन्दावन पहुँचे। बंगालमें गौड़के निकट रामकेलि तक वे गये। यह स्थान उस समय बंगालकी राजधानी था।

इन तीर्थाटनके प्रसंगमें श्रीचैतन्यने दो भारत-विख्यात अद्वैत-वेदान्तियोंको वैष्णव-धर्ममें दीक्षित किया। इनमेंसे एक काशीके प्रकाशानन्द सरस्वती थे और दूसरे पुरीके वासुदेव सार्वभौम। ये दोनों विद्वान् अपने हजारों शिष्यों-सहित श्रीचैतन्यके अनुयायी होगए। कहते हैं, केवल प्रकाशानन्द सरस्वतीके ही दस हजार शिष्य थे।

रूप और सनातनकी भेंट श्रीचैतन्यसे प्रयाग और काशी में हुई। ये दोनों भाई बंगालके तत्कालीन शासक हुसैनशाहके उच्च अधिकारी रह चुके थे। धार्मिक जीवन-यापन करनेके लिए इन्होंने कुछ समय पूर्व ही संन्यास लिया था। श्रीचैतन्य द्वारा वैष्णव-धर्ममें दीक्षित किये जानेपर ये उनके आदेशसे अपने भतीजे जीव गोस्वामीके साथ वृन्दावन चले गए। वहाँ रहते हुए उन्होंने भगवान श्रीकृष्णचन्द्रकी लीला पर कई उत्कृष्ट कोटिके संस्कृत ग्रन्थोंकी रचना की। उड़ीसाके राजा प्रतापरुद्रदेव (१५०३-१५३० ई०) तथा उनके विद्वान् मंत्री राय रामानन्द भी श्रीचैतन्यके शिष्य बन गए थे।

महाप्रभुके जीवनमें कई एक आश्चर्य-जनक घटनायें हुईं जिनसे इनका ईश्वरत्व सूचित होता है। कहते हैं, एक बार आपने श्रीअद्वैत प्रभुको विश्वरूपका दर्शन कराया तथा नित्यानन्द प्रभुको शंख-चक्र-गदा, पद्म, शार्ङ्ग-धनुष तथा मुरली लिये हुए षड्भुज रूप में, दूसरी बार चतुर्भुज रूप में और फिर श्रीकृष्णके रूपमें दर्शन दिया था। माता शचीदेवीके समक्ष आप तथा नित्यानन्द प्रभु श्रीकृष्ण और बलरामके रूपमें एक बार प्रकट हुए थे। इसी प्रकार राय रामानन्दको आपने अपने श्रीराधाकृष्णकी युगल-मूर्तिके दर्शन कराये थे। नीलाचलमें निवास करते हुए एक बार आप बन्द कमरेसे बाहर निकल आये थे। उस समय आपके शरीरके सब जोड़ खुल गए और आकार अत्यन्त विशाल हो गया। इसके विपरीत एक दिन कछुएकी भाँति छोटे हो गए। श्रीचैतन्यचरितामृतके अनुसार इन्होंने अनेक असाध्य रोगियोंको अच्छा किया।

वृन्दावनके उद्धारमें चैतन्य-सम्प्रदायके अनुयायियोंका क्या हाथ रहा है, इस सम्बन्धमें श्रीबलदेव उपाध्याय 'भागवत-सम्प्रदाय' में लिखते हैं—

"मथुरा-वृन्दावनके जीर्णोद्धारके महत्त्वपूर्ण कार्यके आरम्भ करनेका श्रेय माधवेन्द्रपुरीको दिया जाना चाहिये, क्योंकि वृन्दावनमें गोपालकी गद्दी मूर्तिको खोज निकालने तथा प्रतिष्ठित करनेका गौरव प्रथमतः इन्हींको प्राप्त है। उसके अनन्तर चैतन्यका काल आरम्भ होता है। इन्होंने सर्वप्रथम इस कार्य को चलानेके लिये दो भक्तोंको भेजा जिनके नाम हैं—(१) लोकनाथ गोस्वामी तथा (२) भूगर्भ आचार्य। कहना न होगा कि ये दोनों भक्त बंगाली थे और अनेक क्लेशोंको सह कर अपने महनीय कार्यमें कृत-कृत्य हुए थे। लोकनाथ चैतन्यके सहाध्यायी थे, क्योंकि दोनों ही गङ्गादास पण्डितके टोलमें साथ-साथ विद्याभ्यास करते थे। १६१० ई० में चैतन्यने लोकनाथको वृन्दावन जाकर कृष्णकी लीलासे सम्बद्ध स्थानोंकी खोज निकालनेका आदेश दिया। अपने मित्र भूगर्भ आचार्यके साथ लोकनाथ मथुरा आये तथा

अथक परिश्रम कर प्राचीन स्थानोंका उद्धार किया, परन्तु चैतन्यके लीलावलोकनसे वंचित रहनेकी पीड़ा इन्हें सदा क्लेश पहुँचाती थी ।"×

श्रीचैतन्यकी भक्ति-पद्धति—चैतन्य-मतको शास्त्रीय रूप श्रीचैतन्यके विद्वान् अनुयायियों द्वारा मिला । स्वयं श्रीचैतन्यने अपने सिद्धान्तका प्रचार सार्वजनिक व्याख्यानों द्वारा नहीं, बल्कि हरि-नाम तथा लीलाओंके संकीर्तनके माध्यमसे किया । ऐसा करते समय उनके अङ्गोंपर जो अलौकिक आभा जगमगाने लगती थी, जिस स्वर्गीय आनन्दमें वे डूब जाते थे, हृदयकी जो कोमलता, सात्विकता और सद्भावनाकी अभिव्यक्ति होती थी, वही चैतन्य तथा उनके अनुयायियोंका सबसे अधिक प्रभावशाली सिद्धान्त था । उस सिद्धान्तको हृदयंगम करनेके लिए किसी दार्शनिक विवादको छेड़नेकी ज़रूरत न थी । श्रीचैतन्यकी सफलताका रहस्य यह था कि वह मस्तिष्कको कोई नई चिन्तन-शैली या दार्शनिक तथ्य प्रदान नहीं करते थे, बल्कि सीधा हृदयपर प्रहार करते थे । मनुष्य स्वभावसे ही प्रेम और सौन्दर्य का भूखा होता है । वह माधुर्य और आनन्दका ग्राहक है । चैतन्यने इन चारों वृत्तियोंकी परितृप्तिके लिए पुरातन ईश्वरको अखिल रसामृतमूर्ति श्रीकृष्णचन्द्रके रूपमें प्रस्तुत किया । उन्होंने बतलाया कि प्रेम, रूप, माधुर्य और आनन्दकी चरम उपलब्धि व्रजेन्द्र-तनयको छोड़कर अन्यत्र संभव नहीं ।

अन्य वैष्णव-सम्प्रदायोंकी भाँति चैतन्य-सम्प्रदायमें भी परम तत्त्वको सगुण माना गया है । वह तत्त्व अवतार लेता है और भक्तोंको आनन्द देनेके लिए लीलाका विस्तार करता है । भक्तकी सबसे बड़ी आकांक्षा यह है कि वह अपने प्रियके सान्निध्यमें रहे और उसे लाड़ लड़ावे । प्रभुके स्वरूपमें भक्त सौन्दर्य और माधुर्यकी अनुभूति करता है । अतः आवश्यक यह है कि ईश्वर साकार हो, किन्तु बंगाली वैष्णवके लिए साथ ही साथ वह अनन्त भी है । अनन्त कामदेवोंकी छविको परास्त कर देनेवाले रूपमें अवतार ग्रहण करनेका भगवानका उद्देश्य एकमात्र भक्तकी प्रेम और सौन्दर्यकी भावनाओंको तृप्त करना है । कहते हैं कि—ईसा मसीहके दीक्षा-संस्कारके अवसरपर ईश्वर कबूतरका रूप-रखकर आये थे और उनसे बातें की थीं । परमहंस श्रीरामकृष्णदेवका माँ कालीके साथ वार्तालाप करना प्रसिद्ध है । परन्तु श्रीकृष्णावतारकी विशेषता यह है कि वह अवतार नहीं है, बल्कि अचिन्त्य, शक्तिमान् परम-तत्त्व है—'अनादिरादिर्गोविंदः सर्वकारणकारणम् ।' भगवान स्वयं इस विशाल सृष्टिके आदि हैं तथा समग्र कारणों के भी कारण हैं, परन्तु वे स्वयं अनादि हैं । निम्नलिखित पद्यमें चैतन्य-मतका सारांश दिया गया है—

> आराध्यो भगवान् व्रजेशतनयस्तद्धाम वृन्दावनं,
> रम्या काचिदुपासना व्रजवधूवर्गेण या कल्पिता ।
> शास्त्रं भागवतं प्रमाणममलं प्रेमा पुमर्थो महान्,
> श्रीचैतन्यमहाप्रभोर्मतमिदं तत्रादरो नः परः ॥

—व्रजके स्वामी नन्दके पुत्र श्रीकृष्ण ही आराध्य भगवान हैं । उनका धाम है—वृन्दावन । व्रज की गोपियोंके द्वारा की गई रमणीय उपासना ही साधकोंके लिये माननीय प्रामाणिक उपासना है । श्री-मद्भागवत निर्मल प्रमाण-ग्रन्थ है और प्रेम ही परम पुरुषार्थ है । चैतन्य-मतका यही सार है ।

× देखिये भागवत-धर्म' पृष्ठ ५०४-५०५

मूल—(छप्पय)

(श्रीसूरदासजी)

उक्ति चोज अनुप्रास बरन स्थिति अति भारी।
बचन प्रीति निर्वाह अर्थ अद्भुत तुक धारी॥
प्रतिबिंबित दिवि दिष्टि हृदय हरि लीला भासी।
जनम करम गुन रूप सबै रसना परकासी॥
विमल बुद्धि गुन और की जो वह गुन श्रवननि धरै।
सूर कवित सुनि कौन कवि जो नहिं सिर चालन करै॥७३॥

अर्थ—सूरदासकी कवितामें अनूठी उक्तियाँ, सारगर्भित कल्पना और सुन्दर अनुप्रास भरे पड़े हैं। वर्णोंकी स्थिति— शब्द-विन्यास जगह-जगहपर प्रचुर मात्रामें मिलता है। कविताके प्रारम्भमें उन्होंने जिस प्रेम-प्रबन्धको उठाया उसका अन्त तक निर्वाह किया। उनके शब्दोंमें आश्चर्यजनक व्यञ्जना है और तुकें (अन्त्यानुप्रास) भी ठीक-ठीक मिलाये गये हैं। प्रभु-कृपासे आपको दिव्य दृष्टि प्राप्त हुई जिससे भगवानकी लीला आपके हृदयपर यथावत् अंकित होगई। इसीलिए आपने प्रभुके जन्म, कर्म, गुण, रूप—सबका वर्णन अपनी जीभ (वाणी) द्वारा किया। जो कोई श्रीसूरदासजी द्वारा गाये गए भगवानके गुणोंको अपने कानोंसे सुनता है उसकी बुद्धि निर्मल गुणोंसे युक्त हो जाती है। ऐसा शायद ही कोई जड़ व्यक्ति होगा जो श्रीसूरदासजीकी कविताको सुनकर प्रशंसामें सिर न हिलाने लगे।

श्रीसूरदासजीपर प्रियादासजीकी टीका नहीं मिलती। अतः उनके सम्बन्धमें कुछ बातें श्रीबालकरामजीकी टीकाके आधारपर पाठकोंके लाभार्थ नीचे दी जाती हैं।

भगवानकी लीलाओं और संगीतका उदय—एक बार भजनानन्दमें निमग्न बैठे हुए सूरदासके मनमें आया कि भगवानके गुण, रूप लीलाका गान करना चाहिए, किन्तु न तो उन्होंने प्रभुका रूप ही देखा था और न उन्हें उनकी लीलाओंका ही ज्ञान था। क्या करते ऐसी दशामें? वे अत्यन्त व्याकुल होकर बैठ गये। विरहके अश्रु आपके नेत्रोंसे मेघ-धाराके समान बरस रहे थे। प्राण अब शरीरमें रहना ही नहीं चाहते थे। भक्त सूरदासकी ऐसी विह्वल-अवस्थाको देखकर भगवानका हृदय पसीज उठा और वे तुरन्त उनके सामने आकर खड़े होगए। उस समय सूरकी अन्धी आँखोंमें दिव्य-ज्योति आगई। त्रिभुवन-सुन्दर भगवान श्रीकृष्णकी उस रूप-माधुरीको सूरदासजी न-जाने कब तक अपलक दृष्टिसे देखते रहे। श्रीकृष्ण थोड़ा मुस्कराकर बोले—“कहो, सखा! इतने व्याकुल क्यों हो रहे हो?” सूरदासने सुना और सुनकर आनन्दमें डूब गए, मानों किसीने कानोंमें अमृत उड़ेल दिया हो। श्रीश्यामसुन्दरने उन्हें सावधान करते हुए फिर कहा—“सूरदास! कुछ वर माँगो। किसलिए मुझे याद कर रहे थे?”

सूरदास जैसे सोतेसे जाग पड़े हों; बोले—“वर? वर तो प्रभो! मैं कुछ नहीं चाहता। मेरी

श्री सूरदास जी

श्री कुंभनदास जी
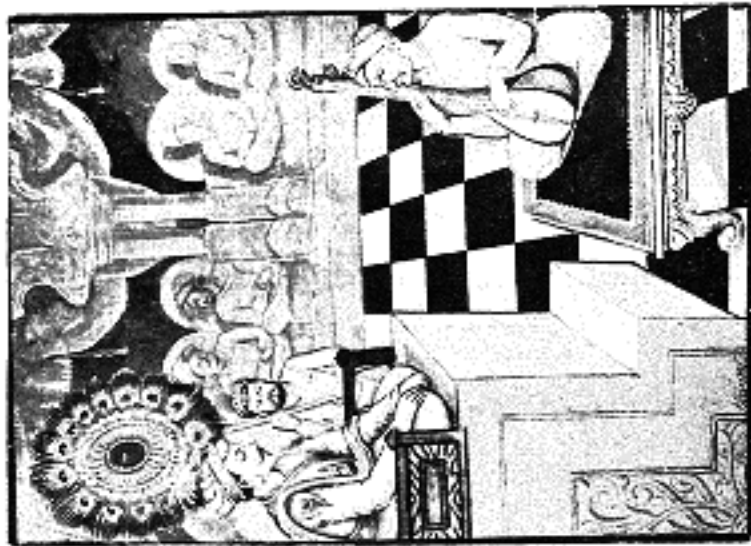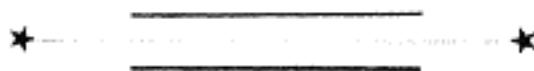
अभिलाषा तो आपकी लीलाओंका गान करनेकी है, किन्तु मैंने देखा कि मैं तो बिलकुल अयोग्य हूँ। आपकी लीलाओंका गान कैसे करूँ? बस इसीलिए मैं व्याकुल हो रहा था।" मनमोहनने एक बार सूरदासकी ओर देखा और फिर मुस्कराकर बोले—"अच्छा, तो मैंने जो भी लीलाएँ की हैं उनका उदय तुम्हारे मनमें हो जायगा; तुम उनका गान कर डालो। मेरी कृपासे गुप्त और प्रकट मेरी जितनी भी लीलाएं हैं, उन सबका प्रकाश स्वयं ही तुम्हारे हृदयमें होगा। इसके साथ ही साथ साहित्य-शास्त्र एवं संगीतका भी ज्ञान तुम्हें हो जायगा।"

भगवान वर देकर चले गए और सूरदासजी तभी से अपने अन्दरकी दुनियामें झाँक-झाँक कर भगवानकी मधुर लीलाओंका गान करने लगे।

बादशाहके दरबारमें—एक बार बादशाह (अकबर) ने जब सुना कि सूरदासजीके समान उच्च-कोटिका गायक कोई भी नहीं है तो उनकी अभिलाषा भी आपका गाना सुनने की हुई। आपको आदर-पूर्वक बुलाकर बादशाहने कहा—"हमने सुना है कि आपका राग बड़ा सुन्दर और प्रभावपूर्ण होता है। मेरी भी इच्छा आपका गाना सुनने की है। कोई ऐसा राग गाइए जिससे स्वयं ही प्रकाश हो उठे।" इस पर सूरदासजीने कहा—"पहिले अपने यहांके गुणियोंको बुलाकर उनका राग सुनवाइए; फिर बादमें हम गावेंगे।"

बादशाहका इशारा पाते ही गायकोंकी भीड़ वहाँ आकर इकट्ठी हो गई। सूरदासजीने तब कहा—"आप सब लोग अपना-अपना राग सुनाइए। जो सबसे अच्छा गाएगा, उसीको मैं अपना गुरु बना लूँगा।"

सूरदासजीकी यह बात सुनकर और सब तो मौन होकर इधर-उधर देखने लगे, पर उनमेंसे एक जो अत्यन्त अभिमानी था, बोला—"मेरे-जैसा गायक इस हिन्दुस्तानमें तो क्या सारे विश्व-भरमें नहीं है। जब मैं गाता हूँ तो मृग, शेर, हाथी और सर्प आदि सब प्राणी अपनी-अपनी सहज प्रवृत्तिको त्याग कर इकट्ठे हो जाते हैं और संगीतके आनन्दमें झूमने लगते हैं।"

सूरदासजी अत्यन्त विनीत-भावसे बोले—"चेतन प्राणियोंकी बात छोड़िए। संगीत तो वह है जो प्राण-हीन जड़ पदार्थोंपर भी अपना प्रभाव दिखला सके। यदि आप कुछ जानकारी रखते हैं तो सामने पड़े पत्थरको पिघला कर दिखाइए।"

यह सुन कर एक बार तो उसका रंग सफेद पड़ गया, पर दूसरे ही क्षण बोला—"यदि आप इतने ऊँचे गायक हैं तो दिखलाइए न पत्थरको पिघला कर।"

सुनते ही चारों ओर सन्नाटा छा गया और सबकी निगाहें एक साथ सूरदासजीपर आ टिकीं। सूरदासजीने अलाप भरा और झूम कर जो मजीठ राग गाया कि चारों ओरसे मानों प्रेम और आनन्द बरस पड़ा। श्रोताओंकी आँखोंका प्रवाह रोके नहीं रुकता था। आँख-कान क्या, समस्त इन्द्रियाँ अपना व्यापार भूल कर जड़वत् केन्द्रित होगईं। उसी समय पास पड़ा पत्थर पिघल गया और उसपर रखा हुआ मजीरा उसके अन्दर समा गया। लोगोंके आश्चर्यका कोई ठिकाना न रहा।

सूरदासने दो पलके लिए बीचमें विश्राम लिया और फिर बोले—"आओ, कोई गायक हो तो निकाले इस मजीरेको पत्थरसे बाहर।" किन्तु चारों तरफकी मौन निगाहोंने सभीकी असमर्थता प्रकट कर दी।

श्रीसूरदासजीने फिर वही राग गाया और इस बार मजीरा स्वयं पत्थरके बाहर निकल आया यह कौतुक देखकर बादशाहकी प्रसन्नताका कोई वारपार न रहा उसने परयन्त आदरसे श्रीसूरदासजीको कुछ द्रव्य भेंट करना चाहा, पर उन्होंने कहा—"बादशाह ! यह धन हमारे किस काम का ?" और हाथ भाड़कर चल दिए अपने आश्रम की ओर। बादशाह भूला-सा उनकी ओर देखता रहा।

कायस्थका मोह-त्याग—किसी गाँवमें एक कायस्थ रहता था। उसकी पत्नी अत्यन्त रूपवती और सुशील थी। इसीलिए उसे वह प्राणोंसे भी अधिक प्यार किया करता था। उसी समय कुछ ऐसा संयोग बना कि पत्नीकी मृत्यु हो गई और उसके विरहमें उसका कायस्थ-पति अपने प्राणोंको त्यागने के लिए तैयार होगया। माता-पिता और इष्ट-मित्रोंके लाख समझाने पर भी वह न माना।

उस अवसरपर श्रीसूरदासजी भी वहाँ ठहरे हुए थे। जब उन्हें इस बातका पता लगा तो बोले—"कि अगर वह हमारे पास आजाय तो उसका मोह तो हम दूर कर सकते हैं।" चलते-चलते सूरदासजीकी बात कायस्थ पतिके पिता तक पहुँच गई। वह अपने पुत्रको साथ लेकर श्रीसूरदासजीके पास आया। उस समय सूरदासजीने जो नागर रागमें अपना एक पद गाया कि आनन्दमें वह कायस्थ डूब गया। उसके मनसे पत्नीका मोह जाता रहा और भगवान व्रजेन्द्रनन्दनके चरण-कमलोंके प्रति उसके हृदयमें विशुद्ध भक्तिका उदय होगया। वह श्रीसूरदासजीसे बोला—"महाराज! अब तो मैं आपके ही साथ चलूँगा। आपके द्वारा पान कराए गए रसके सामने मुझे संसारका प्रत्येक आनन्द सार-हीन और फीका दिखाई दे रहा है।"

उसके माता-पिताने उसे अनेकों प्रकारके प्रलोभन देकर घरमें रखना चाहा, पर वह एक क्षण भी वहाँ न ठहरा और श्रीसूरदासजीके साथ हो लिया।

ब्राह्मणका अभिमान-भङ्ग—एक बार श्रीसूरदासजी सन्त-मण्डलीके बीच विराजमान थे। उसी समय ज्ञानका भार वहन करनेवाले एक भक्ति-हीन ब्राह्मणने इनको देखा और इन्हें अपमानित करनेकी अभिलाषासे बोला—"आजकल कलियुग अपना खूब रंग दिखा रहा है। तभी तो जिधर देखो उधर ही ढोंगी साधुओंकी जमात-की-जमात घूमती हुई नजर आती हैं और सन्त बननेकी प्रणाली भी कितनी सरल निकाल ली है कि भाषामें ग्रंथ-रचना की और सिद्ध होकर पुजाते रहे दुनियासे।"

सन्तोंके प्रति ऐसी वाणी सुनकर श्रीसूरदाससे न रहा गया। वे बोले—"तुम ज्ञानी अवश्य हो; किन्तु भक्ति-हीन ज्ञानका महत्त्व उतना ही है जितना कि एक गधेके लिए उसकी पीठपर लदे चन्दनके भारका। तुम सन्तोंकी महिमाके सम्बन्धमें क्या जानो? यदि सच पूछा जाय तो बादल भी भगवान अथवा सन्तकी आज्ञासे ही पानीकी वर्षा करते हैं। सन्तोंके हृदय हमेशा भगवानकी भक्तिसे परिपूर्ण रहते हैं। उनके हृदयमें प्रभुकी लीलाओंका प्रकाश होता है, जिनका ज्ञान करके वे कलियुगके जीवोंको परम पदका अधिकारी बना देते हैं।"

ब्राह्मणदेवने जब श्रीसूरदासजीकी यह वाणी सुनी तो व्यंग्यात्मक ढङ्गसे हँसता हुआ बोला—"सूरदासजी ! तुमको तो कुछ दिखाई ही नहीं देता है, फिर भगवत्-स्वरूपके दर्शन तुमने कैसे प्राप्त किए ? क्या तुम भगवानके रूपको पहिचानते हो ?"

उसी समय श्रीसूरदासजीने श्रीकृष्णके रूपका वर्णन करते हुए एक पद बनाकर गाया तो आकाश से फूलोंकी वर्षा होने लगी और एक अत्यन्त मनोहर पुष्पहार आकर उनके गलेमें पड़ गया। श्रीसूर-

दासजीकी भक्तिका प्रत्यक्ष चमत्कार देखकर ब्राह्मण अपने ज्ञानके दर्पको भूलकर उनके चरणोंपर गिर पड़ा और भगवानके दर्शन करनेकी उत्कट अभिलाषा व्यक्त की। बादमें श्रीसूरदासजीकी कृपासे उसे भगवानके दर्शनोंका सौभाग्य भी प्राप्त हुआ।

श्रीसूरदासजीका परिचय—श्रीसूरदासजीका जन्म आगरा-मथुराकी सड़कपर बसे हुए 'रुनकता' गाँवमें सम्वत् १५३५ में वैशाख सुदी पंचमीको हुआ था। 'चौरासी-वैष्णवोंकी वार्ता' की भावात्म-विभूतिके आधार पर कुछ लोग इन्हें सारस्वत ब्राह्मण मानते हैं, तो कुछ विद्वान् साहित्य-लहरीवाले परिचयात्मक पदके आधारपर चन्द्रभट्टके वंशमें उत्पन्न ब्रह्मभट्ट मानते हैं। परम्पराके अनुसार सूर ब्रजवासी बाबा रामदासके पुत्र माने जाते हैं। साहित्य-लहरीके पदसे जैसा व्यक्त होता है, बाबा रामदासके सात पुत्र थे। सूर उन सबमें छोटे थे। जन्मसे ही इनके हृदयका झुकाव वैराग्यकी ओर था, अतः अनुकूल परिस्थिति प्राप्त करते ही यह अंकुर एक दिन वृक्षके रूपमें परिणत होगया। यह वह समय था जब कि उत्तराखंड में वैष्णव-धर्मकी जड़ें धीरे-धीरे जमती जा रही थीं। इनका प्रभाव सूरपर भी पड़ा और वे किसी आचार्य से वैष्णव-धर्मकी दीक्षा लेकर गऊ घाटपर रहने लगे। सम्वत् १५७६ के आस-पास श्रीवल्लभाचार्यजी महाराज गऊ घाटपर पहुँचे। गोवर्धनमें स्थित श्रीनाथजीके मन्दिरके लिए उन्हें एक कीर्तनियाँकी जरूरत थी। बस, गोस्वामीजी उन्हें अपने साथ ले गए। सम्वत् १५८० के लगभग सूर आचार्यजीके शिष्य हुए।

सूरदासपर वल्लभाचार्यका सर्वाधिक प्रभाव पड़ा। पुष्टि-मार्गमें भगवानकी लीला ही प्रधान है। इस मतमें जगत्‌की रचना स्वयं प्रभुकी शाश्वत लीला मानी गई है। आध्यात्मिकताके साथ लौकिकताका ऐसा सुन्दर सामंजस्य सूरके कवि-हृदयके लिए अत्यन्त अनुकूल सिद्ध हुआ। उन्होंने सूर-सागरमें जिस हरिलीलाका वर्णन किया है वह सेवामूला और प्रेमपरक है। यह लीला एक ओर जहाँ संसारकी व्यावहारिक बातोंको अपनाती है, वहाँ दूसरी ओर इसका आध्यात्मिक पक्ष भी है। सूरके भक्ति-मार्गमें निराशा नहीं, निवृत्ति नहीं, प्रत्युत स्वच्छन्द-जीवनकी सरस आकांक्षायें हैं। भक्तिको यह रूप प्रदान करनेका श्रेय श्रीवल्लभाचार्यको अवश्य है, पर सूरने लौकिक अनुभूतियोंकी सुकुमारता प्रदान कर उसे मानों उदात्त और सात्विक आत्मा प्रदान की। प्रभुको इस रूपमें देखकर भक्तका हृदय आनन्दसे परिपूर्ण होगया।

सूरकी काव्य-प्रतिभा—कहा जाता है कि ब्रजभाषाको साहित्यिक रूप सूरने दिया। उनकी भाषा, बोलचालकी है; उसमें कहीं भी कृत्रिमता या आडम्बर नहीं। उसमें प्रवाह है और स्वाभाविकता है। चलती हुई भाषामें लौकिक मुहावरों और चुटीले व्यंग्योंका प्रयोग कर सूरने उसमें हृदयको स्पर्श करने की वह सामर्थ्य भर दी जो कि उत्तरकालीन कवियोंमें बहुत कम पाई जाती है।

सूर शृंगार-रसके कवि हैं, विशेषतः विप्रलंभ पक्ष के। किन्तु वात्सल्य रसका वर्णन करनेमें भी इन्होंने कुछ उठा नहीं रक्खा। वात्सल्य को उन्होंने संयोग, वियोग, प्रवास और करुणा की पृष्ठभूमिमें रखकर मातृ-हृदयकी बड़ी अनुपम व्यंजना की। उदाहरण देखिए—

यद्यपि मन समुझावत लोग।
सूल होत नवनीत देखि मेरे मोहन के मुख जोग॥
प्रातकाल उठि माखन रोटी, को बिनु माँगे दै है।
को मेरे वा कान्ह कुँवर को छिनु छिनु अंकम लै है॥

कहियो पथिक जाय घर आवहु, राम कृष्ण दोउ भैय्या ।
सूर स्याम कत होत दुखारी, जिनको मो सी मैया ॥

सूरके संयोग और विप्रलंभ-शृङ्गार दोनों ही अद्भुत बन पड़े हैं । गोकुलमें साथ-साथ रहते, खेलते-कूदते हुए गोपियोंके हृदयपर श्रीकृष्णकी अनुपम रूप-माधुरीका जो प्रभाव पड़ा वह आगे चलकर न-जाने कब गोपियोंका प्राण बन गया । इस सम्बन्धमें सूर कहते हैं—

तरुणी स्याम रस मतवारि ।
प्रथम जोवन रस चढ़ायो अति हि भई खुमारि ॥
महारस अंग-अंग पूरन, कहाँ घर कहाँ वाट ।
सूर प्रभुके प्रेम पूरण छांक रही ब्रज नारि ॥

और दुर्भाग्यसे जब श्रीकृष्ण मथुरा चले गये तब यही महारस इतना व्यापक और गम्भीर हो गया कि यमुना विरह-ज्वरसे काली पड़ गई, गायें क्षीण और दुर्बल होगईं और हरा-भरा ब्रज वीरान होगया । यह कुछ व्यक्तियोंका वियोग नहीं था । विराट विश्व मानों इसमें उलझ गया था । ब्रजकी तो यह हालत होगई थी कि—

तब ते मिटे सब आनन्द ।
या ब्रज के सब भाग संपदा लै जो गये नँदनन्द ॥

वियोग-पक्षमें रमती हुई सूरकी प्रतिभा भ्रमरगीत तक पहुँचते-पहुँचते तो आत्मानुसन्धानको मानो खो बैठी है । इसीलिये वाग्विदग्धता, उपालंभ और वक्रोक्तिके कौशलका एक अपूर्व परिचय यहाँ मिलता है । वियोगमें जितनी मानसिक दशाओंमें-से प्रेमी गुजर सकता है, उन सबके एक-से-एक अनूठे चित्र यहाँ देखनेको मिलते हैं । एक उदाहरण देखिये—

मधुकर हम न होंहि वै बेलि ।
जिन भजि तजि तुम फिरत और रंग, करत कुसुम रस केलि ॥
बारे ते बर बारि बढ़ी है, अरु पोषी पिय पानि ।
बिनु पिय परस प्रात उठि फूलत, होति सदा हित हानि ॥
ये बेली बिरही बृन्दाबन, उरझी स्याम तमाल ।
प्रेम-पुहुप-रस-बास हमारे, बिलसत मधुप गोपाल ॥
जोग समीर धीर नहिं डोलति, रूप डार दृढ़ लागीं ।
सूर पराग न तजत हिये तें, श्री गुपाल अनुरागीं ॥

गोपियोंकी विरहावस्थाका एक चित्र और देखिए—

पिया बिनु नागिनि कारी रात ।
जौ कहुँ जामिनि उवति जुन्हैया, डसि उलटी ह्वै जात ॥
जंत्र न फुरत मंत्र नहिं लागत, प्रीति सिरानी जात ।
सूरदास बिनु बिकल बिरहिनी, मुरि-मुरि लहरैं खात ॥

सूरकी प्रशंसामें कवियोंने ठीक ही कहा है—

किधौं सूर को सर लग्यौ, किधौं सूर की पीर ।
किधौं सूर को पद लग्यो, तन, मन धुनत सरीर ॥
तत्व तत्व सूरा कही, तुलसी कही अनूठि ।
बची खुची कबिरा कही और कही सो झूँठि ॥
महा मोह मद छाइ, अन्धकार सब जग कियो ।
हरि जस सुभ फैलाइ, सूर सूर सम तम हरयो ॥

कहते हैं, एक बार सङ्गीत-सम्राट् तानसेनके मुँहसे सूरदासका एक पद सुनकर अकबर उसकी सरसतापर इतने मुग्ध हुए कि उन्होंने सूरदाससे मिलनेकी इच्छा प्रकट की । यह भेंट संवत् १६२३ में हुई । सूरकी कविता सुनकर अकबरने उनसे अपना यश गाने को कहा । सूरने गाया—

नाहिन रह्यो मन मैं ठौर ।
नंदनंदन अछत कैसे आनिये उर और ॥

गोस्वामी विट्ठलनाथजीके पुत्र गिरधारीजीने एक बार सूरदासकी परीक्षा लेनी चाही । उन्होंने भगवानका सुन्दर शृङ्गार किया, वस्त्रके स्थानपर मोतियोंकी मालाएँ पहिनाई और तब सूरदासजीसे भगवानके शृङ्गारका वर्णन करनेको कहा । सूरने गाया—

देखे री हरि नंगम नंगा ।
जलसुत भूषन अंग बिराजत, बसन हीन छबि उठत तरंगा ॥
अंग अंग प्रति अमित माधुरी, निरखि लजित रति कोटि अनंगा ।
किलकत दधिसुत मुख लै मन भरि, सूर हँसत ब्रज युवतिन संगा ॥

गिरधारीजी सूरकी इस दिव्य दृष्टिपर मुग्ध होगए । ऐसा सुन्दर और सच्चा वर्णन कोई आँखों वाला भी शायद ही कर पाता ।

सूरदासकी मृत्यु सं० १६३८ (१५८२ ई०) में मानी जाती है । उस समय इनकी आयु १०३ वर्ष की थी । कहते हैं, अपनी आसन्न मृत्युका सूरको आभास मिल गया था । एक दिन मंगला-आरतीके बाद शृङ्गारके दर्शनोंमें उन्हें अनुपस्थित पाया गया, तो गोस्वामी विट्ठलनाथजीने अत्यन्त उदास होकर पासमें खड़े हुए कुम्भनदास, गोविन्ददास आदि भक्तोंसे कहा—"आज पुष्टिमार्गका जहाज जानेवाला है ।" इसके बाद शीघ्र ही भक्त-मण्डली पारसौली पहुँची । गोस्वामीजीको देखते ही सूरने उनके चरण-स्पर्श करके निम्नलिखित पद कहा—

खंजन नैन रूप रसमाते ।
अतिसय चारु चपल अनियारे, पल पिंजरा न समाते ॥
चलि चलि जात निकट स्रवननि के, उलटि पलटि ताटंक फँदाते ।
'सूरदास' अंजन गुन अटके न तरु अबहिं उड़ जाते ॥

अन्तिम क्षणमें सूरने गुरुकी वन्दना करते हुए गाया—

भरोसो दृढ़ इन चरननि केरो ।
श्रीवल्लभ नख चंद्र छटा बिनु सब जग माँझ अँधेरो ॥
साधन नाँहि और या कलि में जासों होय निबेरो ।
'सूर' कहा कहै द्विविध आँधरो बिना मोल को चेरो ॥

मूल (छप्पय)
(श्रीपरमानन्दजी)

पौगंड बाल कैसोर गोपलीला सब गाई।
अचरज कहा यह बात हुतौ पहिलौ जु सखाई॥
नैनन नीर प्रवाह रहत रोमांच रैन दिन।
गदगद गिरा उदार स्याम शोभा भीज्यौ तन॥
'सारंग' छाप ताकी भई श्रवन सुनत आवेस देत।
ब्रजबधू रीति कलियुग बिषे परमानन्द भयो प्रेम केत॥७४॥

अर्थ—श्रीपरमानन्दजीने श्रीकृष्णके जन्मसे लेकर पाँच वर्ष तककी बाल-लीलाओं, छः वर्षसे लेकर दस वर्ष तककी पौगंड–लीलाओं तथा ग्यारह वर्षसे सोलह वर्ष तक होनेवाली कैशोर अवस्थाकी लीलाओंका अपनी कविता द्वारा गान किया है। ऐसा करना इनके लिए कोई आश्चर्यकी बात नहीं, क्योंकि परमानन्दजी द्वापर–युगमें श्रीकृष्णके बाल–सखा रहे थे। प्रभु–प्रेमके कारण आपकी आँखोंसे आँसुओंकी झड़ी लगी रहती थी और शरीर आनन्दसे रात–दिन रोमाञ्चित रहता था। भावनाके आवेशमें आपकी उदार-वाणी गद्-गद् बनी रहती थी और शरीर श्यामसुन्दरकी शोभाको निहार कर आनन्द-रससे सराबोर रहता था। आपकी कविता में 'सारंग'* की छाप रहती है। उसे सुनते ही हृदय प्रेमके आवेशसे भर जाता है। द्वापर में गोपीजनोंकी जो प्रेम–पद्धति थी, वही कलियुगमें परमानन्दजीने अपनाई। गोपियों की तरह आपको भी श्रीकृष्ण–प्रेमकी ध्वजा कहा गया है।

श्रीपरमानन्दजीके वृत्तसे सम्बन्धित कुछ वार्ता "भक्तदाम गुण चित्रनी" टीका,पत्र २४६ के आधार पर नीचे दी जाती है।

यवनराजका मान-भङ्ग—श्रीपरमानन्ददासजी वृन्दावनमें रहकर सदा अपने अलौकिक रागसे श्रीकिशोरीलालको रिझाया करते थे। सब रागोंमें सारंग-राग उन्हें अत्यधिक प्रिय था और जब वे इस रागको गाते तो प्रकृति स्तब्ध हो जाती थी।

एक बार श्रीवृन्दावनमें तत्कालीन बादशाह आया। जब यहाँ आकर उसने श्रीपरमानन्ददासजी के अद्वितीय रागकी चर्चा सुनी तो उसने उन्हें बुलवाया और राग सुनानेकी प्रार्थना की। श्रीपरमानन्द

---

* श्रीपरमानन्ददासजीके किसी भी पद में 'सारङ्ग' छाप नहीं मिलती। सम्भव है, उन्हें इस नामसे दूसरे व्यक्ति पुकारते हों।

श्री परमानन्ददास जी
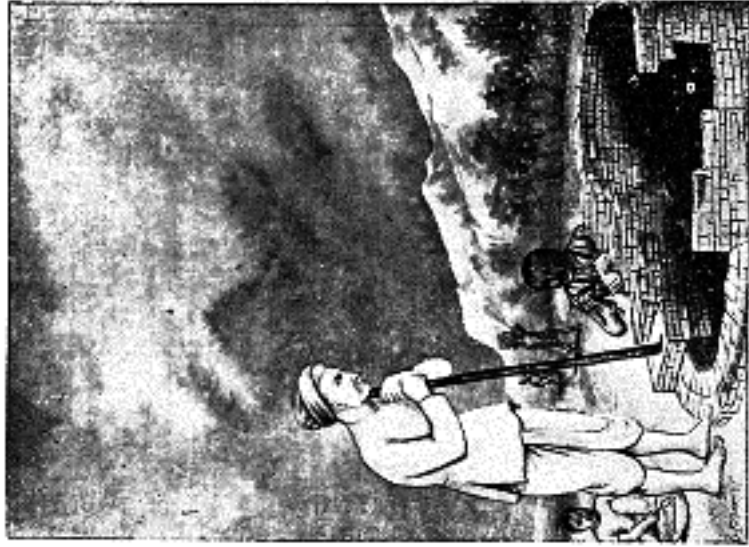
श्री कृष्णदास जी

दासजीने सारंग-राग गाना प्रारम्भ किया और ज्योंही अत्यन्त प्रेम-विह्वल होकर अलाप भरा कि आनन्दका पारावार तरङ्गायित होने लगा। बादशाहका हृदय भी प्रेम-रससे भीज गया और वह बोला—"बस, अब गाना समाप्त करके आप हमारे साथ चलिए। हमको आप वहाँ रोज इसी प्रकार राग सुनाया करना। हम भी भली भाँति आपका आदर-सत्कार कर दिया करेंगे और आपकी अभिलाषाके अनुकूल धन भी देंगे।" परमानन्दजी बोले—"न तो हमको धनकी आवश्यकता है और न आदर-सत्कार की। हम इस व्रजको किसी भी प्रकार नहीं त्याग सकते हैं। हमारा तो सबसे बड़ा धन व्रज-वास और श्रीव्रजेन्दनन्दनके गुणोंका गान है।"

इस उत्तरको सुनकर बादशाह बोला—"या तो मेरे साथ राजीसे चले चलो, नहीं तो तुमको कैद करके जबरन ले जाया जाएगा।"

पर बादशाहकी धमकीका श्रीपरमानन्ददासजी पर कोई असर न पड़ा और उन्होंने व्रज त्यागनेमें सर्वथा असमर्थता प्रकट कर दी। बादशाह क्रोधसे लाल हो गया। वह परमानन्ददासजीको बन्दी बनाकर जबरन आगरे ले गया और वहाँ जाकर उन्हें कारागारमें डाल दिया। रात होने पर श्रीपरमानन्ददासजीने एक पद बनाकर गाया जिसमें उन्होंने अपनी मुक्तिकी भगवान्से प्रार्थना की। भगवान्ने उनकी विनय सुनली और वे उनको कारागारसे छुड़ाकर वृन्दावनमें ले आए।

दूसरे दिन जब सवेरा हुआ और परमानन्ददासजीको बादशाहके कर्मचारियोंने कारागारमें नहीं पाया तो वे आश्चर्यमें डूब गए और तुरन्त बादशाहके पास आकर सब समाचार सुनाया। उसने परमानन्ददासजीको खोजनेके लिए अनेक गुप्तचरों को भेजा। उन्होंने आकर खबर दी कि श्रीपरमानन्ददासजी तो वृन्दावनकी सघन लता-कुञ्जोंमें बैठकर भगवान्के ध्यानमें मस्त हो पद गा रहे हैं। यह सुनकर बादशाह वहाँ गया और परमानंददासजीके चरणोंमें गिरकर अपने अपराधके लिए क्षमा माँगी। वह बोला—"महाराज! हमने आपके सङ्गीतकी चर्चा अपनी बेगमसे की थी। उसकी अभिलाषा भी आपके रागको सुननेकी थी, इसीलिए मैंने आपसे आगरे चलनेका अनुरोध किया था। अब मेरी आपसे यह प्रार्थना है कि आप दो-चार दिनके लिए ही मेरे साथ चलिए। आप जब चाहेंगे तभी मैं आपको श्रीवृन्दावनमें पहुँचा जाऊँगा।"

श्रीपरमानंददासजीने जब देखा कि बादशाहकी आँखोंसे प्रेमाश्रु बह रहे हैं तो उन्होंने जाना स्वीकार कर लिया।

बादशाहके महलमें जानेके बाद बेगम और बादशाहने अत्यन्त प्रेम-प्रीतिसे उनका गान राग सुना और स्वर्ण-रजतमय अनेकों मुद्राएँ उनके सामने ला पटकीं, परन्तु परमानंददासजीने उनकी ओर देखा भी नहीं और बोले—"ये मुद्राएँ भला हमारे क्या कामकी हैं?" बेगम बोली—"आपके कामकी नहीं, तो आप लुटा दीजिए!" परमानंददासजीने जब विशेष आग्रह देखा तो साधु-सन्तोंका एक विशाल भण्डारा किया और सब द्रव्य उसमें लगा दिया।

दस दिन वहाँ रहनेके बाद जब परमानन्ददासजीने जानेकी अभिलाषा प्रकट की, तो बादशाहने अपनी बेगमके पास जाकर यह समाचार कह सुनाया और बोले—"ये तो अब जा रहे हैं, ऐसे रागी फिर कहाँ मिलेंगे?"

बेगमने कहा—"उपाय तो एक है अगर आप करें तो ?"

"क्या?" बादशाहने पूछा।

बेगम बोली—"इनको इष्टकी शपथ दिला दीजिए।"

राजाने ऐसा ही किया। अब तो परमानन्ददासजी बड़ी द्विविधा में पड़ गए। एक ओर तो श्रीवृन्दावनका विरह था और दूसरी ओर आराध्यकी दुहाई।

भगवान्ने जब अपने भक्तको इस प्रकारसे व्याकुल देखा, तो वे उन्हें मुक्त करनेका उपाय सोचने लगे। उसी नगरमें एक फकीर रहता था जो हजरतका उपासक और बादशाहका परमाराध्य था। भगवान्ने रातमें उसे स्वप्न दिया कि 'या तो कल सुबह होते ही अपने बादशाहसे कहकर भक्त परमानन्ददासको वृन्दावन पहुँचवा दो, नहीं तो तुम्हारे बादशाह अन्धे और बहरे हो जायेंगे।' उसने बादशाह से सब बातें ज्यों की त्यों कह दीं। वह बोला—"ऐसी बात है तो कल अवश्य इनको विदा कर देंगे," किन्तु जब दूसरा दिन आया तो बादशाह श्रीपरमानंददासजीके विरहकी कल्पनासे ही व्याकुल हो गया। वह बोला—"आज और रहने दो, कल प्रातः ही पहुँचा दूंगा।" इतना कहते ही बादशाह अन्धा और बहरा हो गया। वह परमानन्ददासजीके पास आया और उनसे अपनी आरोग्यताके लिए प्रार्थना की।

सारंगी नामवाले श्रीपरमानन्दजीकी प्रार्थनापर भगवानने बादशाहको ठीक कर दिया। बादशाह उसी समय श्रीपरमानन्ददासजीके साथ वृन्दावन आया और उन्हें उनके आश्रमपर उन्हें पहुँचा गया।

एक बार आप बीमार पड़े थे कि एक हरिदास आपके पास आया और सारङ्ग-राग गानेका प्रस्ताव किया। श्रीपरमानन्दजी भगवद्भजनसे कभी भी नहीं चूकते थे। तुरन्त ही अलाप भर कर गाना प्रारम्भ कर दिया। दो राग गा चुकनेके बाद परमानन्दजी बिलकुल थक गए, किन्तु हरिदासका अभी मन न भरा था। इस लिए तीसरा राग प्रारम्भ किया, किन्तु अस्वस्थताके कारण शरीरकी शक्ति कम होगई थी, अतः जब बीचमें ही राग बिगड़ने लगा—

तब हरि सखा संग सुर भरिया। गाय सहाय रंग कर करिया ॥
परमानन्द गिरा जब थाकी। हरीभरी तब बानी ताकी ॥
अस प्रभु जन को भयौ सहाई। प्रेम प्रवीन प्रगट हरि गाई ॥

यह देखकर श्रोतागणोंको जो आनन्द हुआ उसका वर्णन नहीं किया जा सकता है।

जीवन-चरित—अष्टछापके कवियोंमें सूरदासके बाद परमानन्ददासजीका नाम आता है। इनका जन्म सं० १५५० वि० में मार्गशीर्ष शुक्ल ७ को कन्नौजके ब्राह्मण-परिवारमें हुआ था। कहते हैं, जिस दिन वे पैदा हुए थे उस दिन किसी धनिकने इनके पिताको बहुत-सा धन दिया जिसके कारण घरमें परमानन्द छा गया और बालकका नाम भी इसी घटनाके आधारपर परमानन्द रख दिया गया। कुछ वर्ष उपरान्त कन्नौजमें बड़ा दुर्भिक्ष पड़ा और अधिकारियोंने इनके पिताका सब धन छीन लिया। कृपण पिताको इससे बड़ा धक्का लगा और वे धन उपार्जन करनेके लिए देश-देशान्तरोंको निकल दिये। इधर स्वभावसे ही भक्त होनेके कारण परमानन्द भगवानके गुण-कीर्तन और सन्त-समागममें अपना समय बिताने लगे। छब्बीस वर्षकी अवस्था तक वे कन्नौजमें रहे और तब प्रयाग चले आये। इस समय तक काव्य तथा सङ्गीतमें वे पूर्णरूपसे निपुण होगए थे।

प्रयागमें ही परमानन्दजीको महाप्रभु वल्लभाचार्यजीके दर्शन करनेका सौभाग्य मिला । आचार्य ने उन्हें कवि जान कर भगवानका यश वर्णन करनेको कहा । परमानन्दजीने गाया—

जिय की साध जु जियहिं रही ।
बहुरि गुपाल देखि नहिं पाए बिलपत कुंज अहीरी ॥
इक दिन सो जु सखी यहिं मारग बेचन जात दही री ।
प्रीति के लिएँ दान मिस मोहन मेरी बाँह गही री ॥
बिनु देखें छिनु जात कलप सम बिरहा अनल दही री ।
परमानंद स्वामी बिनु दरसन नैनन नदी बही री ॥

आचार्यने प्रसन्न होकर उन्हें ब्रह्म-सम्बन्ध दिया और परमानन्द 'स्वामी' से 'दास' बन गए। संवत् १५८८ में महाप्रभुजीको व्रजयात्राके प्रसङ्गमें वे उन्हें कन्नौज ले गए और वहाँ उन्होंने विरहका एक पद इस भाव-भङ्गीसे सुनाया कि उसे सुनकर महाप्रभु तीन दिन तक मूर्छित रहे। वह पद इस प्रकार है—

हरि तेरी लीला की सुधि आवे ।
कमल नयन मनमोहनी मूरति मन-मन चित्र बनावे ॥
एक बार जोहि मिलत मया करि सो कैसे बिसरावे ।
मुख मुसकानि बंक अवलोकनि चाल मनोहर भावे ॥
कबहुँक निबिड़ तिमिर आलिंगन कबहुँक पिक स्वर गावे ।
कबहुँक संभ्रम क्वासि क्वासि कहि संगहीन उठि धावे ॥
कबहुँक नयन मूँदि अंतरगति मनि माला पहिरावे ।
परमानंद प्रभु स्याम ध्यान करि ऐसे बिरह गमावे ॥

एक सच्चे वैष्णवके सब लक्षण परमानन्ददासजीमें विद्यमान थे । काव्य-कला और संगीत दोनों के पारगामी होनेके कारण सूरदास और परमानन्ददासका प्रायः सारा समय कीर्तन करते और पद-रचना करते बीतता था । एक पदमें परमानन्ददास कहते हैं कि व्रज और उसकी सम्पत्ति जहाँ नहीं है ऐसा बैकुण्ठ भी उन्हें अच्छा नहीं लगता । देखिये—

कहा करौं बैकुंठहिं जाय ।
जहँ नहिं नंद जहाँ न यशोदा जहँ गोपी ग्वाल न गाय ॥
जहँ नहिं जल यमुना को निर्मल और कदंमनि की नहिं छाय ।
'परमानंद' प्रभु चतुर ग्वालिनी व्रजरज तजि मेरी जाय बलाय ॥

वल्लभ-सम्प्रदायमें प्रचलित वार्ताके अनुसार परमानन्ददासजी महाप्रभुसे १५ वर्ष छोटे थे । इस मान्यताके आधार पर इनका जन्म-काल १५५० वि० सं० ठहरता है । इनकी मृत्यु अनुमानतः १६४० वि० सं० में हुई । सांप्रदायिक मान्यताके अनुसार परमानन्दजी दिनकी गोचारण-लीलामें 'तोक' सखा और रातकी कुञ्ज-लीलामें 'चन्द्रभागा' सखी माने जाते हैं । इसी अभिप्रायको व्यक्त करते हुए श्रीनाभाजी ने लिखा है—

"अचरज कहा यह बात हुतौ पहिलौ जु सखाई ।"

मूल—(छप्पय)

(श्रीकेशवभट्टजी)

कास्मीर की छाप पाप तापनि जगमंडन।
दृढ़ हरि भक्ति कुठार आन धर्म बिटप बिहंडन॥
मथुरा मध्य मलेच्छ बाद करि बरबट जीते।
काजी अजित अनेक देखि परचै भयभीते॥
बिदित बात संसार सब संत साखि नाहिंन दुरी।
श्रीकेसौभट नर मुकुट मनि जिनकी प्रभुता बिस्तरी॥७५॥

अर्थ—श्रीकेशव भट्टजी सब मनुष्योंके मुकुट-मणि थे। उनकी प्रसिद्धि सारे संसारमें फैली हुई थी। कास्मीरमें अधिक निवास करनेके कारण आपके नामके साथ "कास्मीरि" विशेषण प्रसिद्ध हो गया था। वे अत्याचारियों और पापियोंका दमन करनेवाले थे और मानव-लोकके भूषण थे। आपने हरि-भक्तिरूपी कुठारसे विरोधी-धर्मके वृक्षोंको काट-काटकर निर्मूल कर दिया और मथुरामें यवनोंसे विवादकर उन पाखंडियोंको परास्त किया। यह घटना सबको मालूम है कि किस प्रकार किसीसे हार न माननेवाले काजी लोग आपकी आध्यात्मिक शक्तिका परिचय प्राप्त कर डर गये। यह घटना किसीसे छिपी नहीं है। सन्त-समाज इसका साक्षी है।

भक्ति-रस-बोधिनी

आपु कास्मीर सुनी बसत बिश्रांत तीर तुरक समूह द्वार जंत्र इक धारियै।
सहज सुभाय कोऊ निकसत आय, ताको पकरत जाय ताकें सुन्नत निहारियै॥
संग लै हजार शिष्य भरे भक्ति रंग महा आरे वाही ठौर बोले नीच पट टारियै।
क्रोध भरि मारे आय 'सूबा' पै पुकारे, वे तौ देखि सबै हारे, मारे जल बोरि डारियै॥३३७॥

अर्थ—श्रीकेशवभट्टजी कास्मीरमें रहते थे। एक बार आपने सुना कि मथुरामें विश्रामघाट के मुख्य मार्गके दरवाजे पर मुसलमानोंने एक ऐसा यंत्र लगा रक्खा है कि जो कोई हिन्दू साधारण स्वभावसे (बिना किसी प्रकारकी शंका किए) उसके नीचेसे निकलता है उसकी सुन्नत हो जाती है और तब उसको वे लोग पकड़ लेते हैं और मूत्रेन्द्रियके कटे हुए भागको दिख-लाकर उससे कहते हैं कि तुम तो मुसल्मान होगए; (इस प्रकार उसे जबरन् मुसलमान बना लेते हैं)। श्रीकेशवभट्टने जब यह सुना, तो एक हजार शिष्योंको अपने साथ लेकर भक्ति के आवेशमें भरे हुए उस जगहपर आये जहाँ कि यंत्र लगा हुआ था और अड़कर खड़े होगए। मुसलमानोंने समझा कि उनकी सुन्नत होगई होगी, अतः उनसे भी कहा कि 'वस्त्र उघाड़कर देखिए; आप लोग मुसलमान होगए या नहीं।' इसपर श्रीकेशवभट्टजीने क्रोधमें भरकर अपने शिष्यों द्वारा

उपस्थित मुसलमानोंमें मार लगवाई । भाग कर यवन अपने सूबेदारके पास पहुँचे । सूबेदारने सहायताके लिए जो फौज भेजी थी उन सबको (सुदर्शन चक्रके प्रभाव से) उन्होंने मार गिराया और यमुनाके जलमें प्रवाहित कर दिया ।

(कहते हैं, मुसलमानोंने अपनी शक्तिको जब परास्त हुआ देखा, तो सबके सब भट्टजीके चरणोंमें आपड़े और अपनी दुष्टताके लिए क्षमा-प्रार्थना की । भट्टजीने, इसपर, उनके यंत्रको नष्ट-भ्रष्ट कर दिया, जो हिन्दू मुसलमान बना लिए गए थे, उन्हें मन्त्र-दीक्षादि देकर फिर हिन्दू बनाया और भगवानकी भक्ति करनेका उपदेश दिया । इस प्रकार आपने भक्ति-क्षेत्र मथुराको निष्कंटक कर वहाँ भगवद्-भक्तिकी प्रतिष्ठा की ।)

"भक्त-दाम-गुण-चित्रनी" टीकामें श्रीकेशव काश्मीरिजीके सम्बन्धमें एक विशेष वार्ता प्राप्त हुई है । उसे पाठकोंके लाभार्थ नीचे दिया जाता है—

ब्राह्मण-पुत्रकी जड़ताका निवारण—श्रीकेशव काश्मीरिका नाम संसारमें विख्यात है । उन्होंने दिग्विजय करके समस्त पंडितोंको हराया और सर्वत्र फैले हुए पाखण्डका नाश करके विशुद्ध भक्तिका विस्तार किया ।

एक बार श्रीकेशवकाश्मीरिजी शिष्यों-सहित अपने एक ब्राह्मण-भक्तके यहाँ गए । उसने आपका खूब आदर-सत्कार किया और शिष्यों-सहित भोजन कराया । कुछ देर सत्सङ्ग होनेके बाद ब्राह्मणने अपने पुत्रोंके बारेमें चर्चा चलाते हुए कहा—"महाराज ! मेरे पाँच पुत्र हैं और सबके सब महामूर्ख हैं । अपने बड़े लड़केको तो मैंने स्वयं भी कई बार पढ़ानेका प्रयत्न किया है, किन्तु आज तक उसकी समझमें एक अक्षर भी नहीं आया । अब आप ही बतलाइए कि मेरे इस व्यासासन की क्या दशा होगी ?"

"यदि हम बड़े लड़केको विद्वान् करदें तो आप हमें क्या भेंट देंगे ?" श्रीकेशव काश्मीरिने पूछा ।

"जो आप चाहें सो लीजिए ।" ब्राह्मणने उत्साह-सहित कहा । इसपर श्रीकेशव काश्मीरिजी बोले—"एक बेटा हमें दे देना ।"

ब्राह्मण राजी होगया और केशव काश्मीरि बड़े लड़केको लेकर चल दिए । वे उसे एकान्तमें ले गए और सरस्वतीको याद किया । भारती तो उनके आधीन थी ही, याद करते ही आगई और हाथ जोड़कर बोली—"आज्ञा करिए, स्वामी ।" श्रीकेशव काश्मीरिने ब्राह्मण-कुमारको आगे करके उसके विद्वान् बना देनेकी बात कह दी । सरस्वतीने उसे प्रकाण्ड पण्डित होनेका वरदान दिया और श्रीकाश्मीरिजीकी आज्ञासे अन्तर्धान होगई ।

विद्वान् ब्राह्मण-कुमार अपने पिताके पास आया तो वह संस्कृत बोलने लगा और गूढ़-से-गूढ़ अर्थों का भी उद्घाटन करने लगा । ब्राह्मणके आनन्दकी सीमा न रही । उसने अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार जब एक लड़का उन्हें देना चाहा तो काश्मीरिजीने मना कर दिया । इसपर ब्राह्मण बोला—

मम अंगज सन्तन हितु लावहिं ।
बड़ो भाग मम हरि अनुरागहिं ॥

ऐसा कहकर हठ-पूर्वक उसने अपना सुत श्रीकाश्मीरिजीके चरणोंमें भेंट चढ़ा दिया । उन्होंने उसे शिष्य बनाकर भक्ति-परक वैष्णव पद्धतिमें दीक्षित कर लिया ।

जीवन-वृत्त—श्रीकेशवभट्टजी निम्बार्क-सम्प्रदायके बड़े उद्भट विद्वान् थे। इनका स्थिति-काल अलाउद्दीनका शासन-काल (१२९६-१३२० ई०) है। मथुरामें आप ध्रुवटीलेपर रहा करते थे।

समस्त भारतमें पर्यटन करके आपने चारों ओर वैष्णव-धर्मकी विजय-वैजयन्तीको फहराया। आपका आविर्भाव उसी तैलङ्ग-देशस्थ वैदूर्य्य-पत्तन (मूँगीपट्टन) श्रीनिम्बार्काचार्यकी वंशपरम्परामें ही हुआ था। उपनयन-अध्ययनके पश्चात् वैष्णवी-दीक्षा प्राप्त कर श्रीरङ्ग, वेंकटाचल, तोताद्री, कांची, रामाश्रम होते हुए आपने हेमगोपालके दर्शन किये। कन्याकुमारीसे हिमालय तक जहाँ-जहाँ आप गये, वहाँके निवासियोंने आपका बड़ा मान-सम्मान किया।

उज्जैनमें कुछ दिनों तक स्थायी निवास कर आपने श्रीमद्भागवतपर 'तत्त्व-प्रकाशिका' नामकी टीका लिखी। वहाँसे रैवतपर्वत, कर्दमाश्रम होते हुए आप द्वारका पहुँचे।

शंखचक्र आदि तप्त-मुद्राओंको धारण करनेका विधान उस समय कुछ दिनोंसे शिथिल हो गया था। आपने उसे फिरसे चालू किया। द्वारकाकी ओरसे जब आप पुष्कर पहुँचे तब चौदह हजार शिष्य आपके साथ थे। आपने पाखण्डियोंका दमन कर वैदिकधर्मकी ध्वजाको उन्नत किया। स्यमंत-पञ्चक, वायु-ह्रद और ब्रह्मसरोवर तथा सरस्वती आदि प्राचीन तीर्थोंकी यात्रा करते हुए आप नृसिंहाश्रम गए। वहाँ से फिर काश्मीर-मण्डल पहुँचे। उस समय वहाँ म्लेच्छोंका बल बहुत प्रबल हो रहा था। उन सबका यूथपति एक बड़ा बलवान यवन था।

जैसे ही चौदह हजार शिष्योंको साथ लेकर आप काश्मीर पहुँचे कि घण्टे घड़ियाल और शंख बजने लगे। शंखोंकी तुमुल ध्वनि सुनकर तांत्रिक यवनोंका एक समूह उनपर चढ़ आया और अपनी आसुरी माया फैलाने लगा। उसे देखकर बहुतसे साधु-सन्त घबड़ा गए। किन्तु आचार्य-श्री के संमुख पहुँचते ही उनके तेजसे भयभीत होकर वे भागने लगे और यूथपति मूर्च्छित होकर पृथ्वीपर गिर पड़ा। उसके मुखसे रुधिर बहने लगा।

यह समाचार सुनते ही उस यूथपतिका छोटा भाई जो बड़ा दुर्धर्ष मायावी और वहाँका शासक था, अपने तांत्रिकोंको साथ लेकर आया। उसने तन्त्र-बलसे चारों ओर अन्धकार फैला दिया। उसी क्षण आचार्य-श्री ने सूर्यके आवाहन द्वारा प्रखर तेज फैलाकर समस्त अन्धकारको नष्ट कर दिया। उस प्रचंड तेजसे यवन-समूह जलने लगा। कहीं भी बचनेका स्थान न देखा तो हाथ जोड़कर त्राहि! त्राहि!! करते हुए सब यवन श्रीकेशवभट्टके चरणोंमें गिर पड़े और अत्यन्त गद्गद् कण्ठसे आचार्य-श्री की इस प्रकार स्तुति करने लगे—

> यो वै जघान यवनं मुचुकुन्द-दृष्ट्या, श्रीकेशवो व्रजपतिः श्रवणीयलीलः।
> भूयः स एव मुनिरूपधरश्च भट्टो, भक्ताभितानमभिशं शरणं व्रजामः॥
>
> निमज्जतः संसृतितोय-चक्र तापाब्धिजालेमृं तकप्रतीकान्।
> ध्यभारयत्तस्य वचः सुधाभि स्तत्पादमूलं शरणं व्रजामः॥

—श्रवण मनोभिराम लीलावाले जिस व्रजराज केशवने मुचुकुन्दकी दृष्टिसे कालयवनको भस्मीभूत किया था, भक्तोंकी रक्षा और अभक्तोंके दमनार्थ वही आप केशव मुनिरूपधारी श्रीकेशवभट्टके रूपसे अवतीर्ण हुए हैं।

—संसार-समुद्रमें डूबे हुए एवं त्रिविध तापोंसे संतप्त अतएव मृतक-समान प्राणियोंको अपनी हित-कारिणी वाणीसे जिनने जीवन-दान दिया हम सब उन्हीं श्रीकेशवाचार्यके चरणोंकी शरणमें पड़े हैं।

यवन-समाजके आतङ्कको दूर कर आपने काश्मीरियोंके क्लेशोंको मिटाया और उन्हें यह उपदेश दिया कि इस क्षण-भंगुर शरीरोंमें मोहको छोड़कर उन्हीं भक्तवत्सल प्रभुका तुम सब भजन करो। आज भी आकाशमें स्थित सूर्य उनके प्रभावको प्रदर्शित कर रहा है।

काश्मीरमें ही उन्होंने वेदान्त-सूत्रोंपर 'कौस्तुभप्रभावृत्ति' लिखी और फिर वहाँसे हिमालयकी यात्राके लिये प्रस्थान किया। वहाँ श्रीनारद आदि प्रतिमाओंकी संस्थापना कर योग-समाधि-निरत हो एक-सौ दश वर्ष तक आप रहे।*

समाधि-अवस्थामें ही प्रभुकी आज्ञा प्राप्त होनेपर आप फिर काश्मीर-प्रदेशमें आये और कुछ समय तक वहाँके साधक-भक्तोंको योगका उपदेश देकर हरिद्वार होते हुए नरनारायणाश्रम पहुँचे। वहाँ श्रीनारदादिके दर्शन किये और कुछ महीनों तक निवास कर मुक्ति-क्षेत्र (मुक्तिनाथ) की यात्रा की, जहाँ भगवानके हजारों अर्चा-विग्रह हैं। वहाँसे जनक आश्रम (पुर), अयोध्या, नैमिषारण्य होकर काशीपुरी पहुँचे। वहाँ कुछ सांख्यवादके पक्षपाती थे, कुछ गौतम और कणादके न्याय-वैशेषिकमें ही निरत रहते थे और बहुतसे अद्वैत-मतमें डूबे हुए थे। बहुतेरे शैव-बौद्धादिकोंके तर्क-वितर्कोंमें ही बुद्धिको व्यय करते हुए सत्-शास्त्रकी अवहेलना करते थे। उन सबको पराजित कर भगवद्भक्तिकी ओर झुकाया और तदनन्तर काशीसे गंगासागर, संगम, प्रभुगंगा आदि की यात्रा की।

मद्य-मत्स्याहारी बंगालके शाक्त-कौल-मतावलम्बियोंको परास्तकर भगवद्भक्तिमें प्रवृत्त किया। उधरसे लौटनेपर नैमिषारण्यमें उन्होंने मथुराकी आतंक-त्रस्त दशा सुनी और शीघ्र वहाँ पहुँचकर यवनोंको परास्त किया।‡ आपकी चरणपादुकायें मथुरामें नारदटीलापर स्थापित हैं। वहीं आपका लीला-विस्तार हुआ।

इनका जन्मोत्सव ज्येष्ठ शुक्ला चतुर्थीको मनाया जाता है। केशवकाश्मीरिजीके रचित निम्नलिखित ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं—

(१) **तत्त्व प्रकाशिका**—यह गीताकी निम्बार्कमतानुसारिणी व्याख्या है।

(२) **वेदान्त-कौस्तुभप्रभा**—यह वेदान्त-सूत्रोंपर पांडित्यपूर्ण टीका है जिसमें विरोधियोंके तर्कों का बड़ी युक्तियोंसे खण्डन किया गया है।

(३) **प्रकाशिका**—दशोपनिषद्पर भाष्यके रूप में है।

(४) **भागवत टीका**—इसका केवल वेदस्तुतिवाला भाष्य उपलब्ध है।

(५) **क्रमदीपिका**—श्रीनिम्बार्क-सम्प्रदायमें इसी दीपिकाके अनुसार मन्त्रानुष्ठान किया जाता है। यद्यपि क्रमदीपिकामें वासुदेव आदि अन्यान्य मन्त्रोंकी भी अनुष्ठान पद्धति है, तथापि प्रधानतया श्रीगोपाल-मन्त्रका ही विस्तृत विधान है। श्रीगोपालभट्टजी आदि ग्रन्थकारोंने भी गोपालमन्त्रकी 'अनुष्ठान-विधि'

---

* दशोत्तरशतं वर्षं निविष्टश्चा' महामनाः। ध्यानयोगरतोऽप्यासीत् यत्र सन्निहितो हरिः॥
(सं० आचार्य-चरित्र (अमुद्रित) विश्राम ६ श्लो० ३६)

‡ श्रीप्रियादासजी और बालबालके मतसे इस घटनाको उन्होंने काश्मीरमें सुना था।

आदि प्रकरणोंमें इसी 'क्रमदीपिका' से बहुतसे उद्धरण लेकर साम्प्रदायिक शृङ्खला जोड़ी है। श्रीकेशव-भट्टजीका प्रमुख नाम केशवाचार्य ही था। धर्म-प्रचार, दिग्विजय, विधर्मियोंके दमन और काश्मीरमें अधिक निवास करनेके कारण 'भट्ट' और 'काश्मीरिभट्टाचार्य' आदि विशेषण उनके विशेष परिचायक हैं। स्वयं तो लाघवता-पूर्वक आप अपना नाम "केशव" ही व्यक्त करते थे। 'क्रमदीपिका' के चक्रबंधात्मक अन्तिमपद्यमें 'केशवेन कृता क्रमदीपिकेयम्' ऐसा ही उल्लेख किया है। कुछ व्यक्तियोंने इस रहस्यको न जान कर क्रमदीपिकाकार केशवाचार्य और निम्बार्कीय केशवकाश्मीरिभट्टाचार्यको भिन्न-भिन्न मान लिया है।[1] किन्तु यह उनकी भ्रान्ति ही है।

विशेष समीक्षा—श्रीनित्यानन्द, श्रीकृष्णचैतन्यके पश्चात् सूर और परमानन्ददासजीके छप्पयोंकी श्रीप्रियादासजीने टीका नहीं की। श्रीनित्यानन्दजीके सम्बन्धमें एक, श्रीकृष्ण-चैतन्यदेवजीके विषयमें सम्भव है, उन्होंने सात और श्रीकेशवभट्टजीके सम्बन्धमें एक कवित्त लिखा होगा। किन्तु ज्ञात होता है कि श्रीकृष्णचैतन्यदेव-सम्बन्धी अन्तिम चार कवित्त किसीने केशवभट्टजीके छप्पयके साथ लिख दिये। यदि उन चारों कवित्तोंको नाभाजी के छप्पयोंसे पृथक् करके कोई भी विद्वान् पढ़े तो यह स्पष्ट ज्ञान होगा कि वास्तवमें ये चारों कवित्त श्रीकृष्णचैतन्यदेवकी कथासे ही सम्बन्धित हैं। इस सम्बन्धमें यहाँ थोड़ा दिग्दर्शन करा देना आवश्यक है, अन्यथा सैकड़ों वर्षसे चली आरही इस भूलकी अन्धपरम्परा का उन व्यक्तियोंके हृदयसे निकलना कठिन होगा जिनके कि ऐसे संस्कार पड़ चुके हैं।

(१) उन चारों कवित्तोंमें किसी दिग्विजयीका चैतन्यदेवसे पराजित होनेका उल्लेख किया गया है। यदि उन्हें केशवभट्टजीसे सम्बन्धित मानते हैं तो श्रीनाभादासजी और प्रियादासजी—दोनोंही की प्रतिज्ञाओंका भंग होता है; क्योंकि उन कवित्तोंमें श्रीकेशवभट्टजीके सुयशका वर्णन न होकर अपयश वर्णित है और भक्तमालकार नाभाजीने आरम्भमें ही यह प्रतिज्ञाकी है कि 'मैं भक्तोंका सुयश वर्णन करूँगा। क्योंकि मुझे अपने गुरुदेव श्रीअग्रदासजीकी ऐसी आज्ञा मिली है।'‡ नाभाजीकी आज्ञासे श्रीप्रिया-दासजीने भी उसी उद्देश्यसे भक्तमालकी टीका की थी।* उन्होंने स्पष्ट शब्दोंमें कहा है कि 'मैंने इस टीकामें ऐसी सुखदायी कविता लिखी है जो सुननेवालेको अत्यन्त अच्छी लगे। यह लिखी भी अत्यन्त सचाईके साथ गई है।'†

श्रीनाभाजीने भक्ति, भक्त, भगवान और गुरु इन चारोंमें समान श्रद्धा रखकर सबका उत्कर्ष ही दिखाया है, किसीके अपकर्षकी चर्चा नहीं की। श्रीकेशवभट्टजीके छप्पयमें भी उन्होंने अपनी उसी प्रतिज्ञा का पालन किया है। उनके इस छप्पयमें कोई ऐसा शब्द नहीं आया जिसके आधारपर दिग्विजयी श्री-केशवभट्टके किसीसे पराजित होनेकी कल्पना की जासके, प्रत्युत मथुरामें विधर्मी काजीको पराजित कर देनेका ही उल्लेख मिलता है।

---

१ श्रीसुन्दरानन्द विद्याविनोद, गौड़ियार तीन ठाकुर (बँगला)

‡ अग्रदेव आज्ञा दई भक्तनको यश गाव। (भ० मा० ४)

* या ही समय नाभाजू ने आज्ञा दई, लई धारि टीका विस्तारी भक्तमाल की सुहाई है। (भ० र० १)

† रची कविताई सुखदाई लागै निपट सुहाई, औ सचाई पुनरुक्ति लै मिटाई है।

(भ० र० कौ० १)

मूल पदोंका अन्वय, समास एवं विग्रह आदिके द्वारा विशद और स्पष्ट वर्णन कर देना ही टीका कही जाती है। यदि श्रीप्रियादासजीने वे चार कवित्त इसी छप्पयपर रचे हों तो उनकी वह प्रतिज्ञा भंग हो जाती है कि "मैंने सच्ची, सुखदाई सुहावनी टीका की है।" क्योंकि किसी भी व्यक्तिको अपने पराजित होनेकी बात क्या अच्छी लग सकती है ?

अब मूल भक्तमाल और टीकाको आद्योपान्त पढ़नेसे यह स्पष्ट हो जाता है कि जहाँ-जहाँ जिस-जिस भक्तका वर्णन किया है, वहाँ-वहाँ उन छन्दोंमें किसी का भी अपकर्ष वर्णित नहीं हुआ, उत्कर्षकी ही चर्चा की गई है, तो केशवभट्टजीकी ही पराजयका उल्लेख श्रीप्रियादासजी क्यों करते ?

(२)—कुछ विद्वानोंका मत है कि वे चारों कवित्त श्रीप्रियादासजीके रचे हुए ही नहीं हैं। इस सम्बन्धमें उनके द्वारा उपस्थापित कुछ उल्लेखनीय हेतु यहाँ उद्धृत किये जाते हैं—

(अ)—श्रीप्रियादासजीके अतिरिक्त उनके पश्चात् भक्तमाल पर और भी कई विद्वानोंने टीकायें की हैं। सभी टीकाकार प्रायः पूर्ववर्ती टीकाओंका अनुशीलन करके ही अपने विचार प्रकट करते हैं। जब श्रीप्रियादासजीकी टीकाको रचे हुए साठ-पैंसठ वर्ष हो चुके थे और उसकी प्रसिद्धि भी हो चुकी थी, उस समय सम्वत् १८३३ में श्रीबालकरामजीने "भक्तदाम गुण चित्रनी" नामक एक छन्दोबद्ध विस्तृत टीका लिखी। उन्होंने श्रीकेशवभट्टजीके छप्पयका हूबहू वैसा ही अर्थ किया है जैसा कि श्रीप्रियादासजीने अपने एक कवित्त द्वारा वर्णन किया है। उन्होंने थोड़ा-सा विशेष वर्णन यह और किया है कि श्रीकेशवभट्टजीने एक निरक्षर ब्राह्मण-पुत्रको केवल तीन ही दिनमें धुरन्धर विद्वान् बना दिया था। यदि बालकरामजीको वे चार असंगबद्ध कवित्त और मिलते जिनमें कि उनके पराजित होनेकी बात है, तो अवश्य वे उसपर भी प्रकाश डालते।

(आ) वि० सं० १८४० के आस-पासकी लिखी हुई बहुत-सी ऐसी प्रतियाँ मिलती हैं जिनमें वे चारों कवित्त नहीं मिलते[1]। सम्भव है उस समय भक्तमालकी टीका (भक्ति-रस-बोधिनी) की दो पाठ-परम्परायें प्रचलित रही हों, अतः कुछ पुस्तकोंमें उन चार कवित्तोंका उस समय भी पाठ रहा हो। संभव है, आगे चलकर वही पाठ-परम्परा अधिक प्रचलित हो गई हो और फिर औचित्य-अनौचित्यका विचार न कर लेखकोंने उसी ढाँचेको अपना लिया हो। यही कारण है कि पडरौना नरेश ईश्वरीप्रतापराय और रीवाँ नरेश रघुराजसिंहजी भी उसी प्रवाहमें प्रवाहित होगये। मराठी भक्तमाल और 'कल्याण' के 'भक्तचरिताङ्क' आदिमें भी यही भ्रान्ति-पूर्ण बातें लिख दी गई हैं। श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारीको भी "श्रीचैतन्यचरितावलीमें" वैसा ही अनुकरण करना पड़ा।

यद्यपि श्रीरूपकलाजीने विशेष मनन करके भक्तमालका अनुवाद किया है और उन्होंने कई एक पुस्तकें भी देखी हैं, तथापि ज्ञात होता है, उन्हें भी उपर्युक्त भिन्न-भिन्न भक्तमालकी पुस्तकें नहीं मिल सकीं। वि० १८४० के आस-पासकी लिखी हुई भक्तमालकी पुरानी प्रतियाँ और श्रीबालकरामकी टीका भी शायद उन्हें देखनेको नहीं मिलीं, अन्यथा जहाँ उन्होंने भक्तमालकी १६ पोथियोंकी सूची दी है, वहाँ श्रीग्वाल-बाल आदिकी भक्तमाल एवं बालकरामकी टीकाका भी अवश्य उल्लेख करते। हाँ, उन्हें ऐसी प्रतियाँ अवश्य

---

[1] वि० सं० १८४० की लिखी हुई सटीक भक्तमाल पं० श्रीजगन्नाथप्रसादजी भक्तमालीके पास वृन्दावनमें सुरक्षित है।

मिली थीं जिनमें वे चार कवित्त नहीं थे। किन्तु उसपर उन्होंने कुछ भी ऊहापोह नहीं किया, उलटे टिप्पणीमें लिख डाला कि ये चार कवित्त केशवभट्टके अनुयायियोंने निकलवा दिये हैं।[1]

विक्रम सं० १७६६ तक की लिखी हुई उपलब्ध प्रतियोंमें बहुत कुछ पाठ-भेद मिलता है। टीकाके कवित्त ही नहीं, मूल छप्पयोंमें भी पाठ-भेद और संख्या-विभेद मिलता है।

(ग)—उक्त चारों कवित्तोंका श्रीकेशवभट्टजीकी कथासे सम्बन्ध न होनेका एक विशेष हेतु यह भी है कि कवि कर्णपूर, मुरारी गुप्त, श्रीवृन्दावनदास, लोचनदास आदि श्रीचैतन्यदेवके अनुवर्तियों द्वारा लिखे हुए चैतन्यचन्द्रोदय आदि संस्कृत एवं चैतन्य-भागवत, चैतन्यचरितामृत, चैतन्य-मंगल आदि बंगला-भाषाके ग्रन्थोंमें कई एक लेखकोंने तो श्रीचैतन्य-गाथामें दिग्विजयीकी पराभव-कथाका समावेश ही नहीं किया, और जिन्होंने समावेश किया है उन्होंने उस दिग्विजयीका कुछ भी परिचय नहीं दिया, यहाँ तक कि दिग्विजयीका नाम भी नहीं बतलाया गया।

कवि कर्णपूरका कथन है कि श्रीमुरारी गुप्तकी श्रीकृष्णचैतन्यदेवके आविर्भाव-समयमें चौदह वर्षकी अवस्था थी, अतः बचपनसे लेकर अन्त तक महाप्रभुजीकी सभी लीलाओंका उन्होंने प्रत्यक्ष अनुभव किया था। जैसा उन्होंने आँखों देखा वर्णन किया था उसीके आधारपर मैं (कवि कर्णपूर) ने यह चैतन्यचरित लिखा है।[2]

श्रीचैतन्यदेवकी उनचालीस वर्षकी अवस्था हो जानेपर कवि कर्णपूरका जन्म हुआ था; तत्पश्चात् ६ वर्ष तक चैतन्यदेव विद्यमान रहे। उनके परमधाम-वासके ६ वर्ष पश्चात्, अर्थात् अठारह वर्षकी अवस्थामें (वि० सं० १५९९ में) कवि कर्णपूरने चैतन्यचरितामृत ग्रन्थ लिखा।[3] फिर सैंतीस वर्षके पश्चात् पचपन वर्षकी अवस्थामें (वि० सं० १६३६ में) चैतन्यचन्द्रोदय नामक संस्कृत नाटक लिखा था।[4] उस समय श्रीचैतन्यदेवको अन्तर्धान हुए पैंतालीस वर्ष हो चुके थे। कवि कर्णपूरने दश अंकोंवाली अपनी इस अन्तिम कृति (चैतन्यचन्द्रोदय नाटक) में कहीं भी श्रीचैतन्यदेव द्वारा दिग्विजयीके पराभव होनेकी चर्चा नहीं की। इससे यह भी प्रमाणित हो जाता है कि मुरारी गुप्तने भी इस विषयपर कुछ भी नहीं लिखा होगा, अन्यथा कर्णपूर उसका अवश्य उल्लेख करते।

श्रीरूप, सनातन, जीव गोस्वामी आदि विद्वानोंने श्रीचैतन्यदेवके चरित्रके सम्बन्धमें कोई भी विशेष ग्रन्थ नहीं लिखा। श्रीवृन्दावनदास और लोचनदासजीने "चैतन्य-भागवत" एवं "चैतन्य-मंगल" पुस्तकें लिखी हैं। उनमें चैतन्य-भागवतके आदिखण्ड नवम अध्यायमें "दिग्विजयीर वादानुवाद एवं उद्धार" की संक्षिप्त रूपसे चर्चा मिलती है।

---

१ श्रीरूपकलाजीके अनुयाइयोंकी मुद्रित भक्तमाल पृ० ४६८ की पाद-टिप्पणि, तृतीयावृत्ति सन् १९६० ई०

२ कवि कर्णपूर चैतन्यचरितामृत सर्ग २० श्लोक ४२।

३ "वेदा रसाः श्रुतय इन्दु रिति प्रसिद्धे?" चैतन्यचरितामृतका अन्तिम श्लोक।

४ शाके चतुर्दशशते रविवाजियुक्ते गौरो हरिर्धरणिमण्डल आविरासीत्।
तस्मिँश्चतुर्नवतिभाजि तदीयलीलाग्रन्थोऽयमाविरभवत् कतमस्य वक्त्रात्॥
(चैतन्यचन्द्रोदयका अन्तिम श्लोक)

कविराज श्रीकृष्णदासने उसी संक्षिप्त कल्पनाका अपने ग्रन्थमें विस्तार कर दिया था ।[1] उपर्युक्त सभी ग्रन्थोंके अनुशीलन द्वारा आलोचक विद्वान् इस मान्यतापर पहुँचे हैं कि श्रीचैतन्य द्वारा किसी दिग्विजयीका पराभव नहीं हुआ था । वस्तुतः यह कल्पना ही श्रीचैतन्यदेवके तिरोधानके बहुत पश्चात् की गई थी।

अठारहवीं शताब्दी (वि०) के पूर्वार्द्ध तक किसी भी लेखकने उस दिग्विजयीका परिचय नहीं दिया जिसकी कल्पना कविराज कृष्णदास और वृन्दावनदासने की थी । जो दिग्विजयी विद्वान् झंझा-वातकी भाँति प्रबल वेगसे कविता करे, संसारमें जिसके नामकी दुन्दुभी बज रही हो, कविराज उसकी रचनामें से सत्तर अक्षरोंवाले एक श्लोक और उसके गुण-दोषोंकी लम्बी-चौड़ी विवेचनाको तो स्थान दें और दो-चार अक्षरोंवाले उसके नामका उल्लेख न करें, इसका अवश्य कोई रहस्य है । ऐसे प्रभाव-शाली प्रसिद्ध दिग्विजयीके नामसे वे अपरिचित तो नहीं रहे होंगे । फिर भी—

"हेन काले दिग्विजयी ताहाइ आइला"

ऐसा गोलमटोल क्यों लिखा ? इसका यही कारण हो सकता है कि यह गाथा ही कल्पित थी । यदि आगे-पीछे होने वाले किसी महान् दिग्विजयी विद्वान्का वास्तविक नाम लिखा जाता तो उसके समयमें अन्तर होनेसे वह लेख झूँठा होता और काल्पनिक नाम रखनेपर भी वही दशा होती । बस, इसी लिये वह बिना नामकी काल्पनिक गाथा रची गई होगी ।

श्रीअक्षयकुमार दत्त आदि विद्वानोंने 'भारतवर्षीय उपासक-सम्प्रदाय' आदि पुस्तकोंमें इन सब गाथाओंकी विशेष आलोचना की है । नोआखाली जिलेके कलैक्टर डा० उमेशचन्द्र बटब्यालने साहित्य नामक मासिक-पत्रिकामें आलोचना-पूर्ण एक लम्बा लेख लिखा था, जो वर्षों तक क्रमशः उस पत्रिका में प्रकाशित होता रहा । उन्होंने तो उस विद्वत्तापूर्ण लेखमें "दिग्विजयी-पराभव" आदि श्रीचैतन्य-चरित्रकी कई एक गाथाओंको स्पष्टतया कल्पित सिद्ध कर दिया है ।[2]

झूंसी (प्रयाग) के माननीय श्रीप्रभुदत्त ब्रह्मचारीजीने हिन्दीमें "चैतन्यचरितावली" ग्रन्थ लिखा है । उन्होंने भी उस समय इस बातपर विचार नहीं किया कि वे "दिग्विजयी" केशवभट्ट थे या अन्य कोई व्यक्ति, अथवा यह गाथा ही कल्पित है" ।

जब उनसे पूछा गया तो उन्होंने भूलको स्वीकार कर लिया । उन्हें अन्वेषणसे पता चला कि श्रीकृष्णचैतन्य और श्रीकेशवकाश्मीरि भट्टाचार्यके समयमें सैकड़ों वर्षोंका अन्तर है । उनके समयमें तो श्रीकृष्णचैतन्यदेवका आविर्भाव भी नहीं हो पाया था ।

---

१ नवे विष्णु मिश्र ठाकुरानिर परिचय । तबेत करिला प्रभु दिग्विजयीर जय । वृन्दावनदास इहा करि छे ब विस्तार । स्फुट नाहि करे गुण दोषेर विचार । सेह अंश कहि तार नमस्कार ॥

चैतन्य० आदि खंड १६ वां परिच्छेद ।

२. साहित्य मासिक पत्रिका वि० सं० १६४८ से ५६ तक सात वर्ष की पूरी फाइलें बंगीय साहित्य-परिषद् लाइब्रेरी २४३/१ अपर सरक्यूलर, रोड कलकत्तामें सुरक्षित हैं, जिनमें "गौराङ्ग महाप्रभु" शीर्षक लेख उपलब्ध है । उक्त पत्रिका के पृष्ठ ५२० पंक्तिमें यह भी लिखा गया है :—"चैतन्ये आमरा ईश्वरत्वेर कोनो ओ चिन्ह देखियार आशा राखि ना । ताहारा ताहाके ईश्वर बलिया ग्रहण करिया छिलेन ताहादेर अन्ध विवेक शून्य विश्वासेर सहित अनुमात्र सहानुभूति प्रकाश कराओ आमादेर पक्षे असाध्य ।

उस अन्ध-परम्पराको आगे बढ़ानेके लिए कुछ लोगोंने इकरंगा और तिरंगा चित्र भी बनवा डाला था और उसे श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारीजीने भी 'चैतन्यचरितावलीमें' प्रकाशित कर दिया था। किन्तु उनसे चित्रकी मूल प्रतिके बारेमें पूछा गया तो उन्होंने स्पष्ट कह दिया—"वह चित्र काल्पनिक था"।[1]

विक्रम सं० १८००—१८०७ के अपने शासनकालमें जयपुर-नरेश महाराजा ईश्वरीसिंहने भक्त-मालका संस्कृत पद्यानुवाद करवाया था। वह अनुवाद प्रियादासजीकी टीकाके आधारपर ही हुआ था। उसकी प्राचीन हस्त-लिखित प्रतियाँ उपलब्ध हैं। इसमें दिग्विजय करते हुए श्रीकेशवकाश्मीरिके नवद्वीप पहुँचने या श्रीकृष्णचैतन्यदेवसे समागम होनेकी चर्चा—कुछ भी नहीं है। मथुरामें विधर्मियोंको पराजित कर हिन्दू-धर्मकी रक्षा करनेवाली घटनाका ही उल्लेख मिलता है।

श्रीवेणीरामके पुत्र चन्द्रदत्त मैथिलने संस्कृत-श्लोकोंमें एक भक्तमालकी रचना की है। उसमें भी नाभाजी और प्रियादासजीका आधार लिया गया है, किन्तु उसमें श्रीकेशवकाश्मीरिका केवल नाम-मात्र ही दिया है। यदि वे चार कवित्त उन्हें मिले होते तो उनका भी अनुवाद उन्होंने किया होता।

बीकानेरके सन्निकट सिंहथल (सीथल) में रामदासजी रामस्नेहीके शावक-शिष्य दादूपंथी यालवालने भी वि० सं० १८०६ में ५३६ छन्दोंवाली एक भक्तमाल रची थी। ज्ञात होता है, उन दिनों राजस्थानमें नाभाजीके भक्तमाल और प्रियादासजीकी टीकाका अच्छा प्रचार था, किन्तु उक्त विद्वान् ग्रन्थकारने चैतन्यदेव और केशवभट्टके प्रसंगकी कुछ भी चर्चा नहीं की है। श्रीगौड़ीय सम्प्रदायके अनुवर्ती श्रीकृष्णदास बाबाजीने नाभाजी और प्रियादासजीके आधारपर ही बँगला-भाषामें एक भक्तमाल लिखी है। प्रियादासजीने जिस कथाको अत्यन्त संक्षेपमें लिखा है उसका उन्होंने थोड़ा विस्तार भी कर दिया है। उन्होंने स्वयं कहा है कि

> "यथा यथा प्रियादास संक्षेपे ते अति, वर्णिला ता प्रवेशाय साधारण मति।
> सेई सेई कोन कोन स्थाने किछु किछु, विस्तार करिया कहि तार पाछू पाछू ॥"[2]

इस बँगला-भक्तमालमें भी श्रीकेशवभट्टजीकी उतनी ही गाथा मिलती है जितनी कि नाभाजीके छप्पय और प्रियादासजीके एक कवित्तमें उपलब्ध होती है, अर्थात् उसमें भी उक्त घटनाका उल्लेख नहीं है।[3]

अब यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि उन चार कवित्तोंकी सृष्टि कैसे हुई और उसका केशव काश्मीरि भट्टाचार्यकी गाथाके साथ कब और क्यों सम्पर्क हुआ ? इसका समाधान प्राप्त करनेसे पूर्व कुछ अन्वेषकोंने गौड़ीय वैष्णवोंके आरंभिक इतिहासपर जो प्रकाश डाला है, उसे भी जान लेना आवश्यक होगा—

---

१ "श्रीयुत वेदान्ताचार्य जी".........अन्वेषण से पता चला कि श्री निम्बार्कीय केशव काश्मीरि तो श्री चैतन्यदेव के जन्म से भी बहुत पूर्व हुए हैं, उनके और इनके कालमें सैकड़ों वर्ष का अन्तर है।............ यह चित्र तो काल्पनिक है। किसी भी चित्रकार से आप कह दें, वही वह वे काल्पनिक चित्र बना देंगे। पुनः पुनः प्रणाम। भवदीय—प्रभुदत्त। संकीर्तन भवन झूँसी (प्रयाग) फाल्गुन शु० ८, २००८ वि०

२ बँगला भक्तमाल, आरम्भिक प्रकरण। उपेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय द्वारा सम्पादित, चैतन्याब्द ४२० (वि० सं० १९६३) कलकत्ता में मुद्रित द्वितीय संस्करण।

३ वही पृ० ११६।

श्रीचैतन्यदेवने अपनेको किसी सम्प्रदायके अंतर्गत माना हो ऐसा उनका कोई निजी वाक्य नहीं मिलता। उनके सम-सामयिक मुरारीगुप्त, श्रीरूप, सनातन-जीव, आदि गोस्वामियोंका भी कोई ऐसा वचन नहीं मिलता जिससे कि वे चार संप्रदायोंमें से किसीके अन्तर्गत हो सकें। हाँ, उनकी चर्चा प्रायिसे यह निर्विवाद है कि वे श्रीराधा-कृष्णके परम भक्त थे, व्रजधाममें उनका बड़ा अनुराग था। उनकी विद्यमानतामें ही श्रीरूप, सनातन आदि व्रजमें आकर रहने लगे थे।

श्रीवृन्दावनमें गोविन्ददेवजीका मंदिर वि० सं० १६०० से पूर्व ही बन चुका था। सम्भवतः उसकी सेवा-पूजा उन्हीं गोस्वामियों या उनके अनुवर्तियोंमें से कोई करता होगा। उन्हीं दिनों उस मंदिरमें बैठकर सं० १६१० में गद द्विवेदी द्वारा "सम्प्रदाय-प्रदीप" नामक एक संस्कृत-ग्रन्थ लिखा गया था जिसका कि रचना-काल उस ग्रन्थमें ही उल्लिखित है। 'सम्प्रदाय-प्रदीप' के लेखकने श्रीचैतन्यको विष्णु-स्वामीका उपसम्प्रदाय बतलाया है :—

> विष्णुस्वामिनश्चैतन्यः, रामानुजस्य नन्दः,
> मध्वाचार्यस्य प्रकाशः, निम्बादित्यस्य स्वरूपः। [1]

गद द्विवेदीने ऐसा किसी आधारपर ही लिखा होगा, अन्यथा गौड़ीय विद्वान् अवश्य उसका कुछ प्रतिवाद करते। उन्हींके मन्दिरमें बैठकर कोई व्यक्ति उनके प्रतिकूल नहीं लिख सकता था। यदि यह सर्वथा निराधार होता तो श्रीगोविन्ददेवजीके मन्दिरमें बैठकर ऐसा लिखना सम्भव भी नहीं था।

कवि कर्णपूर आदि के ग्रन्थोंसे श्रीचैतन्यके दीक्षा और संन्यासके गुरु श्रीईश्वर पुरी और केशव-भारतीके नामोंका उल्लेख अवश्य मिलता है,किन्तु उनके सम्प्रदायके सम्बन्धमें कोई चर्चा नहीं की गई।

श्रीजीवगोस्वामी आदि ने भागवतकी टीकामें श्रीधर स्वामीका विशेष आदर किया है और वे विष्णुस्वामी-सम्प्रदायके अन्तर्गत माने जाते हैं। संभव है, इसी आधारपर गद द्विवेदीने श्रीचैतन्य को विष्णुस्वामी-संप्रदायका उपसंप्रदाय लिखा हो। यदि उस समय गौड़ीय वैष्णवोंने अपनेको मध्व-सम्प्रदायके अन्तर्गत मान रक्खा होता तो जीव गोस्वामी आदि "तत्त्ववादी-मत" कहकर मध्वाचार्य के मतकी आलोचना नहीं करते, और गद द्विवेदी भी उनकी विष्णुस्वामी-उपसम्प्रदायमें गणना नहीं कर सकते थे।

इस आशयकी पुष्टि कविराज कृष्णदासके वचनोंसे भी होती है—जब श्रीकृष्णचैतन्यदेव दक्षिण-यात्रा करते हुए उडुपी पहुँचे तो पहले तो तत्कालीन पीठस्थ मध्वाचार्यने इनसे सम्भाषण ही नहीं किया। फिर जब वार्तालाप होने लगा और श्रीचैतन्यदेवने साध्य-साधन पूछा, तब मध्वाचार्यने उन्हें "वर्णाश्रम-धर्म पालन करते हुए श्रीकृष्णको आत्म-समर्पण करना" ही श्रेष्ठ साधन बतलाया। श्रीचैतन्यदेवने उत्तर दिया—

> प्रभु कहें के हो कर्मी के हो ज्ञानी, दुइ भक्तिहीन,
> तोमार सम्प्रदाय देखी सेई दुई चिन्न। [2]

१—सम्प्रदाय-प्रदीप, तृतीय प्रकरण, इसकी प्राचीन प्रतियाँ (हस्तलिखित) रायल एशियाटिक सोसायटी कलकत्तामें [पु०सू० नं० २३१४ अङ्क ११२१] सुरक्षित हैं। यह पुस्तक भाषा-टीका सहित कांकरौलीमें मुद्रित भी हो चुकी है।

२—चैतन्य-चरितामृत, आदि खण्ड, नवम परिच्छेद।

—चाहे कर्मी हो चाहे ज्ञानी, दोनों ही भक्तिसे शून्य होते हैं, और वे ही दोनों चिह्न तुम्हारे मध्व-सम्प्रदायमें देखे जाते हैं।

यदि कविराज कृष्णदासके समय तक गौड़ीय वैष्णव मध्व-संप्रदायको अपना चुके होते तो श्रीमध्वाचार्यके प्रति महाप्रभुके मुखसे कविराज ऐसे (हमारे तुम्हारे सम्प्रदाय) निरादर-सूचक वाक्य नहीं कहलाते। अतः यह सुनिश्चित कहा जा सकता है कि उस समय तक गौड़ीय वैष्णवोंने मध्व—सम्प्रदायको नहीं अपनाया था। इसी प्रकार विष्णुस्वामी संप्रदायके अन्तर्गत होना भी उनको अभिमत नहीं था। वल्लभ-कुलके कई-एक लेखक तो बीसवीं शताब्दी तक "चैतन्य-प्रबोधानन्दादय उप-संप्रदाया अपि पुनर्भाविरवेन वेदितव्याः"[१] इस प्रकारके वचनों द्वारा उप-संप्रदायमें ही उनकी गणना करते रहे।

बाबू भारतेन्दु हरिश्चन्द्रने तो हास्य ही हास्यमें यहाँ तक लिख डाला कि "गौड़ीय तो वैष्णव-संप्रदायमें ही नहीं है।" किन्तु उनका यह कथन सर्वथा निर्मूल है।[२]

श्रीगोपाल-मन्त्र, व्रजनिष्ठा, श्रीराधाकृष्णकी अनन्य उपासना, उर्ध्वपुंड्र सर्वदा तुलसीकी कण्ठी धारण रखना और भेदाभेद-सिद्धान्त—इन सब बातोंको देखकर बहुतसे व्यक्ति यह समझते थे कि गौड़ीय-वैष्णव निम्बार्क-संप्रदायकी ही एक शाखा है। इस संबन्धमें कुछ लेख भी उपलब्ध होते हैं।[३]

वि० सं० १७५६ में महाराजा जयसिंह "द्वितीय" आमेरके राजा बने। आस्तिक होते हुए भी परीक्षणमें उनकी विशेष रुचि थी। श्रीनिम्बार्क-पीठाधिपति श्रीवृन्दावन देवाचार्यजीका भी उन्होंने परीक्षण किया था, किन्तु उनके द्वारा नरेशको उपदेश मिल गया था।[४] जयसिंहके शासनकालमें ही वृन्दावन से श्री गोविन्ददेवजीकी प्रतिमाका जयपुर पधारना हुआ था। जयपुरका नव-निर्माण होना वि० सं० १७८४ माघ कृष्णा ५ बुधवारको आरंभ हुआ था।[५] जिस समय श्रीगोविन्द, गोपीनाथके अर्चक गौड़ीय वैष्णवोंसे संप्रदाय-संबन्धी प्रश्न किया गया था, उस समय उनसे सेवाधिकार छीने जानेकी स्थिति पैदा हो गई थी,[६] अतः विवश होकर गौड़ेश्वरों को यह घोषित करना पड़ा कि हम मध्व-संप्रदायके अन्तर्गत हैं, उप-संप्रदायी नहीं हैं। उसी समय श्रीबलदेव विद्याभूषणने ब्रह्म-सूत्रों पर 'गोविन्द-भाष्य' और 'प्रमेय–रत्नावली' आदि ग्रन्थोंकी रचना की थी। उसी समयसे गौड़ीय-ग्रन्थोंकी आरम्भिक आचार्य-वन्दनामें मध्व का भी नामोल्लेख करना आरम्भ हुआ।

यद्यपि श्रीबलदेव विद्याभूषणके जन्म सम्वत्‌का ठीक-ठीक पता नहीं चलता, तथापि इतना कहा जा सकता है कि वि० सं० १८२१ तक वे विद्यमान थे। इसी सम्वत्‌में उन्होंने श्रीरूपगोस्वामी-कृत स्तवमालापर 'स्तवमाला-विभूषण' टीका की थी।❀

१—पं० गट्टूलालजी, सत्सिद्धान्त मार्तण्ड। २—वैदिकी-हिंसा, हिंसा न भवति नामक पुस्तक, खड्गविलास प्रेस बाँकीपुरसे प्रकाशित प्रथम संस्करण। ३—गंगाराम गौड़ कृत निबन्ध, और वैदाध्यायस्य हरिदास-तर्क वागीशके लेख। —श्री वासुदेव देवाचार्य-कृत (संस्कृत अमुद्रित) आचार्य-चरित्र ४—जयपुरके प्रसिद्ध श्रीमयाराम कवि-कृत जयशाह सुजस पुस्तक।

५—हितैषी मासिकका जयपुरांक विशेषाङ्क।

६—श्रीकृष्णचन्द्रदासजी, प्रमेय-रत्नावलीका प्र० सं० आरम्भिक (ग्रन्थकर्ताका परिचय) लेख, पृ० २।

❀ स्तवमालाकी उत्कलिका वल्लरीकी टीकाका उपसंहार (निर्णय सागर प्रेस, बम्बई का संस्करण, सन् १९०३)।

इन सब घटनाओंके आधारपर आलोचक विद्वानोंकी यह धारणा सुस्थिर होती है कि वि० सं० १७६०-९० के मध्यकालमें ही गौड़ीय वैष्णवोंने मध्व-सम्प्रदायमें अपना विलय किया था। किन्तु फिर भी मध्वके दार्शनिक और उपासना-सिद्धान्तको सर्वांशमें उन्होंने नहीं अपनाया। श्रीबलदेव विद्याभूषणने भी एक 'अचिन्त्य' शब्दका विशेषण और जोड़कर भेदाभेद सिद्धान्तका ही समर्थन किया है, केवल भेद-वादको नहीं अपनाया। इससे यह स्पष्ट होता है कि उस समय भी गौड़ीय वैष्णवोंने किसी विशेष परिस्थितिके कारण ही मध्वके अन्तर्गत होनेकी घोषणा की होगी। अतः वह सर्व-सम्मत विलय नहीं था। गौड़ीय वैष्णवोंमें भी बहुतसे व्यक्ति अवश्य ही उस घोषणासे असन्तुष्ट अतएव विपरीत रहे होंगे।

यद्यपि उस घटनाको घटे लगभग ढाई सौ वर्ष बीत गये हैं, किन्तु अब भी कई एक गौड़ीय विद्वान् लेखकों को वह विलय मान्य नहीं होसका है। आज भी वे चैतन्य-सम्प्रदायको मध्व-सम्प्रदायसे पृथक् एवं स्वतन्त्र सिद्ध करनेके ही पक्षपाती हैं।[1]

सम्भव है, वह घरेलू कलह विशेष बढ़ा होगा और असन्तुष्ट व्यक्तियोंने स्वाभाविक भेदाभेदवादी निम्बार्कियोंको भी भड़काकर उनसे कुछ सहयोग लेना चाहा होगा। बस, उसी प्रसंगमें निम्बार्कीय और गौड़ियोंमें परस्पर वादविवाद छिड़ गया। परिणाम यह हुआ कि एक पक्ष श्रीकृष्ण-चैतन्यदेवको श्री-केशवभट्टाचार्यका शिष्य कहने लगा, क्योंकि केशवभारती उनके गुरुदेव थे और केशवभारती एवं केशव-काश्मीरि दोनों नामसाम्य आदिके आधारपर एक ही माने जासकते हैं।

वस्तुतः केशवकाश्मीरिका समय वि० की तेरहवीं शताब्दीका माना जाता है और चैतन्यदेव सोलहवीं शताब्दीमें प्रकट हुए थे, यद्यपि कुछ सज्जन योग-विद्यामें परम निपुण श्रीकेशवकाश्मीरिकी तीन सौ वर्ष तक स्थिति सिद्ध करते हुए चैतन्यदेवके समय तक उनकी विद्यमानतापर बल देते हैं और यह कोई आश्चर्य नहीं, आज भी बहुतसे साधारण व्यक्ति डेढ़ सौ वर्षों तकके विद्यमान हैं, तथापि तार्किक आलोचक ऐसी बातें तब तक स्वीकार नहीं करते जब तक कि कोई पुष्ट प्रमाण न मिल सके। अस्तु। इसी वाद-विवादमें दूसरे पक्षने यह युक्ति खोजी होगी कि श्रीकेशवकाश्मीरि दिग्विजय करते हुए नदिया पहुँचने पर श्रीचैतन्यदेवसे परास्त हुए। पराजित होनेके कारण वे श्रीचैतन्यदेवके दीक्षा-गुरु कैसे सिद्ध हो सकते हैं? बस, इसी विवादके अवसरपर उन चार कवित्तोंकी सृष्टि हुई, और उन्हें केशवभट्टके छप्पयके साथ जोड़कर चैतन्यदेवसे उनके पराजित होनेका प्रचार करना आरम्भ हुआ। 'चैतन्य-चरितामृत' की भाँति ही इन चारों कवित्तोंमें भी कहीं दिग्विजयीका नाम नहीं दिया गया। भोलीभाली जनतामें, जितना हो सका, उसका खूब प्रचार किया गया। पुस्तकें लिख-लिखकर जहाँ-तहाँ मुफ्त बाँटी गईं, जिससे कि उन चार कवित्तोंवाली पुस्तकें ही सर्वत्र भारतमें अधिक व्याप्त हो जायँ, किन्तु फिर भी जहाँ-तहाँ पुरानी प्रतियाँ उप-लब्ध होती रहीं, जिनमें कि वे चार कवित्त नहीं थे। आगे भी उनकी प्रतिलिपियाँ होती ही रहीं, अतः पाठभेद की परम्परा चलने लगी। कुछ लोग कमी बतला कर पुरानी पुस्तकोंमें भी उन कवित्तोंको ऊपर नीचे यत्र-तत्र लिखवाने लगे। इतना ही नहीं, श्लोक बना-बनाकर पुराणोंमें भी बढ़ाये जाने लगे। भविष्य-पुराणमें तो इतना ऊटपटांग अंश जोड़ा गया कि जिससे आज उसकी वह प्रतिष्ठा ही नहीं रही। ऐसे दुर्व्यवहारोंसे एक 'भविष्य' ही नहीं अन्य पुराणोंपर भी संदेह होने लगा।

१—श्रीसुन्दरानंद विद्याविनोद, श्रीचैतन्यदेव हिन्दी और गौड़ियारी तीन ठाकुर (बंगला) पुस्तकें द्रष्टव्य।

यदि श्रीचैतन्यदेवके निकट जाकर श्रीशङ्कर, रामानुज, रामानन्दादि द्वारा प्रेमकी भिक्षा मँगवाई जाय तो उस ग्रंथको कौन विद्वान् सच्चा मान सकता है ? किन्तु मिलावट करनेवालोंने यह बात नहीं सोची। वि० सं० १९६० के आस-पास जब ऐसी अनर्गल बातों-सहित 'भविष्यपुराण' छपाया जारहा था, तब वृन्दावनस्थ पं० श्रीकिशोरदासजीने वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बईके अधिपति खेमराज श्रीकृष्णदासको जयपुर-नरेश महाराजा माधवसिंहजीका आदेश भिजवाया और ऐसे अंशोंको निकलवानेके लिये उन्हें बाध्य किया। फिर भी बहुतसी अनर्गल बातें रह ही गई। आश्चर्यकी बात तो यह है कि आज आलोचना के युगमें कई एक आलोचक–लेखक भी "प्राचीन महत् सहृदय-हृदये श्रीचैतन्येर चित्र भावोदय"[१] शीर्षक-जैसे ऊटपटांग लेख लिखते ही रहें, वे औरों की आलोचना करें, किन्तु उन्हें अपनी पैरों जलती न दीखे।

इस प्रकार श्रीगौड़ीय वैष्णवोंके प्रारंभिक इतिहास और तत्सम्बन्धी ग्रन्थों पर सूक्ष्म विचार करने पर यही निष्कर्ष निकलता है कि चाहे अन्य किसीने बनाकर वे चार कवित्त श्रीकेशव काश्मीरिके छप्पयसे सम्बन्धित कर दिये हों, या प्रियादासजीने ही बनाये हों, किन्तु उनका आविर्भाव किसी प्रतिशोध की भावना या किसी अन्य कारणसे ही हुआ था।

यहाँ विशेष उल्लेखनीय बात यह है—कि श्रीरामानुज संप्रदायकी उपासना प्रणाली और दार्शनिक सिद्धान्त (विशिष्टाद्वैत) तो गौड़ीय वैष्णवोंको अभिमत नहीं था, क्योंकि इन दोनोंमें वैमत्य स्पष्ट दिखाई देता है। विष्णुस्वामी सम्प्रदायके शुद्धाद्वैतको भी उन्होंने नहीं अपनाया। उसी प्रकार द्वैत (भेद) वाद भी उन्हें मान्य नहीं था। यद्यपि श्रीबलदेव विद्याभूषणने श्रीमध्वसम्प्रदायके साथ सांठ-गांठ जोड़ी और इस सम्प्रदायका मध्वगौड़ेश्वर नाम-करण किया तथापि उन्होंने अपने ग्रन्थमें कहीं भी केवल द्वैत (भेद) वादका समर्थन नहीं किया, अपितु स्पष्टरूपेण भेदाभेदकी ही पुष्टि की है, स्वाभाविक और औपाधिक विशेषणोंकी भांति 'अचिन्त्य' शब्दका विशेषण जोड़कर उन्होंने पूर्वोक्त दोनों सिद्धान्तोंसे अपनी विभिन्नता सिद्ध की है। बस, उसी पुष्टिके लिये श्रीचैतन्य-सम्प्रदायके अनुवर्तियोंमें से किसीने उन कवित्तोंकी कल्पना की होगी, जिससे कि श्रीचैतन्यदेव और श्रीकेशवभट्टाचार्यके उस काल्पनिक प्रसङ्ग द्वारा अपने सम्प्रदाय की स्वतन्त्रता अथवा विभिन्नता सिद्ध हो सके। वस्तुतः वे कवित्त केशवाचार्यसे सम्बन्धित नहीं है, क्योंकि वे तो श्रीचैतन्यदेवसे बहुत पहले हो चुके थे। श्रीचैतन्यके समयमें तो श्रीकेशव काश्मीरि भट्टाचार्यकी सातवीं पीठिका (पीढ़ी) वाले व्रजके प्रसिद्ध सन्त श्रीनागा (चतुर चिन्तामणि) जी विद्यमान थे। आशा है, यदि समीक्षक विद्वान् इस आलोचनापर पक्षपात-रहित होकर विचार करेंगे तो उन्हें इस निष्कर्षके पोषक और भी बहुतसे प्रमाण उपलब्ध हो सकेंगे। स्थानाभावके कारण उनका यहाँ समावेश नहीं हो सका है।

अन्तमें श्रीव्रजजीवनजीकृत भक्तमालका एक पद उद्धृत करके इस प्रसंगको समाप्त करते हैं—

जैयत श्री केशोभट्ट मुकुटमनि जगत के भक्त बिस्तारी प्रभुता अपारी।
छाप कस्मीर की जन पाप के खण्डने मंडने विबुध गन सभा भारी ॥
सर्व धर्मान् परित्यज्य या वाक्य पर रहत आरूढ़ मति मूढ़ नासे।
गूढ़ कीये चरित मधुपुरी म्लेच्छहन हने विदित संसार संतन प्रकाशे ॥
कहाँ लौं कहौं निम्बार्क कुल सोहने मोहने स्याम मन प्राण जाने।
धन्य तें 'जीवना' भाग्य की सीवना जाय पद कमल पद सरस ठाने ॥

१–गौड़ियार दीन ठाकुर पृ० ५४५–६२४ (प्रथम संस्करण)।

अनन्त श्री विभूषित जगद्गुरु श्री निम्बार्क पीठाधीश्वर

आदि वाणीकार श्री श्रीभट्टदेवाचार्यजी महाराज
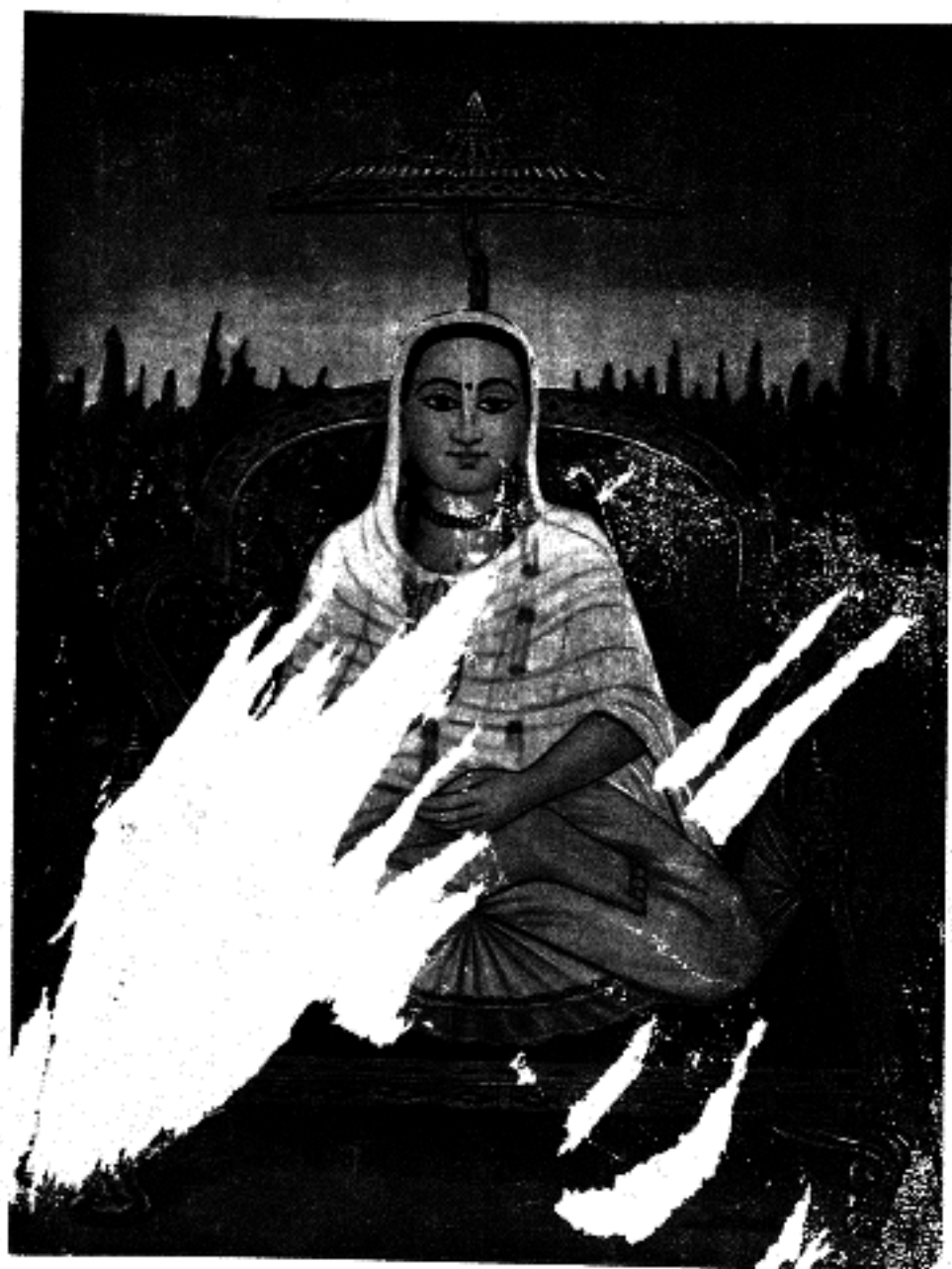
श्रीभट सुभट प्रगटयौ अघट रस रसिकन मन मोद घन

मूल (छप्पय)
(श्रीभट्टजी)

मधुर भाव संमिलित ललित लीला सुबलित छवि।
निरखत हरपत हृदै प्रेम बरसत सुकलित कवि॥
भव निस्तारन हेतु देत दृढ़ भक्ति सबनि नित।
जासु सुजस ससि उदै हरत अति तम भ्रम श्रम चित॥
आनंदकंद श्रीनंदसुत श्रीवृषभानुसुता भजन।
श्रीभट्ट सुभट प्रगट्यो अघट रस रसिकन मनमोद घन॥७६॥

अर्थ—श्रीभट्टजी द्वारा रचित काव्यमें माधुर्य-भावसे ओत-प्रोत और मनोहारिणी लीलाओंके वर्णनसे युक्त भगवानकी शोभाके (भावनाके नेत्रोंसे) दर्शन कर भक्तिके संस्कारसे संपन्न कवियोंके हृदय प्रसन्न हो उठते हैं और उनके लिए प्रेमकी वर्षा होने लगती है—(ठीक उसी प्रकार जैसे कि अन्तरिक्षमें ललित क्रीड़ा करनेवाले स्निग्ध मेघोंकी छविको देखकर मोरों के हृदय नाचने लगते हैं और उनके अन्तरका प्रेम जल बन कर बरसने लगता है।) संसारसे जीवोंका उद्धार करनेके लिये आप उन्हें अविचल भक्तिका उपदेश देते थे। श्रीभट्टजीके सुयश-रूपी चन्द्रमाने (मनुष्योंके हृदयाकाशमें) उदित होकर अज्ञानरूप अन्धकारको दूर किया तथा सांसारिक प्रपंचोंसे पैदा होनेवाली मानसिक क्लान्ति को मिटाया। आप सदा आनन्दनिकेतन श्रीनन्दनन्दन और वृषभानुनन्दिनी श्रीराधाके भजनमें मग्न रहते थे। इस प्रकार संसार-रूप शत्रुको परास्त करनेमें महावीरके समान श्रीभट्ट भावुक जनोंके मनको प्रसन्न करनेके लिये अपनी भक्ति-रस-पूर्ण रचनाओं द्वारा अक्षय रसकी वर्षा करनेवाले मेघके समान प्रकट हुए।

जीवन-वृत्त तथा काव्य—श्रीकृष्णचन्द्रकी लीला-माधुरीमें आठों याम अवगाहन करनेवाले निम्बार्क-सम्प्रदायी वैष्णव-कवियोंमें श्रीभट्टजीका स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। आप केशवकाश्मीरिके अन्तरंग शिष्य थे। यद्यपि आपके माता-पिताके नाम आदिके सम्बन्धमें अधिक परिचय प्राप्त नहीं होता तथापि श्रीरूपरसिकदेवजीकी वाणीसे इस सम्बन्धमें कुछ संकेत प्राप्त होते हैं। उसके अनुसार आपका जन्म गौड़ ब्राह्मण-परिवारमें हुआ था। साम्प्रदायिक ऐतिह्यके अनुसार आपके पूर्वज हिसार जिलेके वासी थे। वे आपके आविर्भाव से बहुत पूर्व ही मथुरामें आकर बस गये थे। आपके वंशज आज भी मथुरामें ध्रुव टीलेपर रहते हैं।

श्रीश्यामा श्यामकी ललित दिव्य लीलाओंका रात-दिन अवलोकन, मनन और गायन करते रहना ही आपका लक्ष्य था। कहा जाता है कि श्री भट्टजीने सहस्रों पदों की रचना की थी,[1] किन्तु अब

---

[1] ब्रज-प्राप्त पुरानी कीर्तन-संग्रहोंमें 'युगल-शतक' के पदोंके अतिरिक्त मिलनेवाले श्रीभट्टजीके पदोंसे भी यह धारणा प्रमाणित होती है।

वे उन्हें अपने गुरुदेव श्रीकेशव काश्मीरिके समक्ष लेकर गए तो उन्होंने उन्हें श्री यमुनाजीके समर्पण कर दिया। श्रीयमुनाजीने केवल सौ पदोंको छोड़कर अन्य समस्त पदोंको बहा दिया। वे अवशिष्ट सौ पद ही आज "युगल-शतक" के नामसे सङ्कलित हैं। मधुर-रसकी उपासनामें वे पद मन्त्र-स्वरूप माने जाते हैं। वास्तवमें यह रचना सब दृष्टियोंसे अलौकिक है।

गुरुदेव श्री केशव काश्मीरि भट्टाचार्यकी कृपासे आपको जिस मधुर-रसकी प्राप्ति हुई थी उसका वर्णन करते हुए हिन्दीके प्रसिद्ध कवि श्रीआनन्दघनजीने कहा है—

तिन प्रसाद श्रीभट्ट लही, निरवधि रस की रासि।
जो सम्पति परतिं न कहीं, दम्पति भले उपासि॥

'श्रीयुगल-शतक' का दूसरा नाम 'आदिवाणी' भी है जो इस बातका द्योतक है कि ब्रजभाषा की रचनाओंमें यह ग्रन्थ आदि-काव्यके रूपमें प्रतिष्ठित हो चुका था। इसका रचना-काल १३५२ वि० माना जाता है जिससे ज्ञात होता है कि यह रचना सूर-सागरसे भी पूर्व की है। नागरी-प्रचारिणी-सभा काशी द्वारा नानपारा, जिला बहराइच की एक पुस्तकके अन्तिम पृष्ठपर से इसके रचना कालके सम्बन्धमें निम्नलिखित दोहेकी प्रतिलिपि की गई थी—

नयन बाण पुनि राम शशि गनो अंक गति वाम।
युगलशतक पूरण भयौ यह संवत अभिराम॥

किन्तु तत्कालीन खोज-रिपोर्ट-अध्यक्ष डा० हीरालाल जैनने 'राम' के स्थानपर 'राग' पाठ होने की सम्भावना प्रकट करते हुए इसे १६५२ वि० की रचना माना है; किन्तु यह मत अन्तः साक्ष्यसे ठीक नहीं बैठता; क्योंकि उस काल (१६५२ वि०) तक श्रीभट्टदेवाचार्यकी परवर्ती दो पीढ़ियाँ बीत चुकी थीं। एक परम्पराके अनुसार तो उनसे पाँचवीं पीढ़ीमें होनेवाले श्रीनागाजी महाराजका काल भी तब तक समाप्त हो चुका था, क्योंकि वे श्रीवल्लभाचार्यके समयमें विद्यमान थे। ऐसी स्थिति में श्रीभट्टजीके समयके सम्बन्धमें वि० सं० १६५२ की कल्पना निराधार और भ्रामक है।

कुछ विद्वानोंका कहना है कि 'युगल-शतककी' भाषा इतनी परिमार्जित और पुष्ट है कि उसे देख कर इस बातमें शंका होने लगी है कि यह चौदहवीं शताब्दीकी रचना है। किन्तु यह शंका कोई विशेष मूल्य नहीं रखती। बहुत-सी ऐसी रचनाएँ मिलती हैं जो एक ही कालमें रची गई हैं, पर भाषा-सौष्ठव की दृष्टिसे दोनोंमें महान् अन्तर है। अतः केवल भाषाके आधारपर ही किसी रचनाका काल-निर्णय नहीं किया जा सकता।

इसके अतिरिक्त एक बात यह और है कि मुद्रित एवं अमुद्रित दोनों प्रकारकी प्रतियोंमें अनेकों पाठ-भेद दिखाई देते हैं। इससे यही ज्ञात होता है कि अधिक लम्बे समयमें लिपिकारों द्वारा इस 'युगल-शतक' के पाठमें जहाँ-तहाँ बहुत कुछ हेर-फेर हुआ है।

यह प्रसिद्ध ही है कि आपके गुरुदेव श्रीकेशवकाश्मीरि बहुत समय तक काश्मीर में रहे थे। उनके समयमें या पश्चात् आपका भी वहाँ अवश्य निवास रहा होगा। काश्मीरके तत्कालीन ऐतिहासिक वर्णनसे यह ज्ञात होता है कि शाहीखाँ; उपनाम सिकन्दरबुत शिकनके शासनकाल (१४२७ ई०) में श्रीभट्टदेवाचार्यजी काश्मीरमें थे। वे प्राणियोंको औषधि-वितरण द्वारा उनके शारीरिक रोगोंको दूर

दिया करते थे एवं सदुपदेश द्वारा उन्हें सत्पथपर चलने की ओर प्रवृत्त किया करते थे। वहाँ रहकर आप पद रचना भी करते थे। इसके साथ-साथ यह भी लिखा है कि काश्मीरका शासक शाहीखाँ आपका आदर-पूर्वक विशेष सम्मान किया करता था।* काश्मीरमें छानबीन करनेपर आपके सम्बन्धमें और भी सामग्री उपलब्ध हो सकती है।

आपके पदोंके आधारपर ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि एक बार वृन्दावन आनेपर आप फिर वहाँसे कहीं अन्यत्र नहीं गए, किन्तु गुरुदेवके साथ एवं स्वयं जगद्गुरु-पदासीन होनेपर आपने देशाटन अवश्य किया होगा। अस्तु। उनकी भावना बहुत बढ़ी-चढ़ी थी इसलिए देशाटनके समय भी वे श्रीश्यामा-श्यामके चरणारविन्दमें तल्लीन रहा करते थे। जैसे मछली जलसे बाहर होनेपर जीवित नहीं रहती, वैसा ही व्रत आपका था। नित्यप्रति वे लाड़िलीलालके गुण-गान, रास-विलास, दर्शन एवं उनके ध्यानमें मग्न रहते थे।

श्री श्रीभट्टदेवाचार्यजी महाराजके सम्बन्धमें श्रीध्रुवदास-कृत एक छप्पय देखिए—

नव रस रस परवीन गोप-लीला विस्तारी।
मन बच क्रम उर ध्यान नमौ प्रीतम बस प्यारी॥
नित प्रति रास-बिलास श्याम गिरधर गुण गाता।
मीन नीर ज्यूं चित देह कुलकित तज नाता॥
कौं न जगत में को बन है लिवलीन भए चित चित्त हर।
अघट प्रेम श्रीभट सुजस नवधा आगर पुण्य घर॥२५५॥

श्री श्रीभट्टजी महाराजके वीरम-त्यागी आदि चार प्रमुख शिष्योंका वर्णन करते हुए ध्रुवदासजी ने लिखा है।

दोस पदारथ त्याग नाम वीरम मन त्यागी।
हरिव्यासदेव बल भजन निर्भै भगती बड़ भागी॥
भरत उदार गुण अनंत ग्यांन बहुराम विचारा।
नेंहे चल आसंण चित्त भरम करमा सूं न्यारा॥
केसो बिहारी धी विमल रामराय जांण्यो सजन।
नाम सैज्या सोभत सदा श्रीभट सिष गुरु ग्यांन चिन॥२५६॥

आपके सम्बन्धमें श्रीसुन्दरकुँवरी (श्रीनागरीदासजीकी अनुजा) ने कहा है—

ध्यान धारि कविता रचे श्रीभट जू जेहि वेर।
तब ताहो विधि जुगल इन दरसें प्रेम उरेर॥

—मित्रशिक्षा (अमुद्रित) पृ० ६७

श्रीभट्टजीकी रचनाका एक उदाहरण देखिए—

भीजत कब देखौं इन नैना।
श्यामा जू की सुरंग चुनरिया, मोहन को उपरैना॥
जुगलकिशोर कुंजतर ठाड़े, अलग कियो कछु मैं ना।
उमड़ी घटा चहूँ दिसि श्रीभट घिरि आई जल सैना॥

---

* तबकाते अकबरी, भाग ३, पृ० ४२६, ४४२

श्रीभट्टजीकी दृढ़ अनन्य-भक्तिका परिचय नीचेके पदसे मिलता है—

संतौ सेव्य हमारे श्री प्रिय प्यारे वृन्दाविपिन बिलासी।
नंदनंदन वृषभानु-नंदिनी चरन अनन्य उपासी॥
मत्त प्रनयबस सदा एकरस विविध निकुंज निवासी।
जै श्रीभट जुग बंसीबट सेवत मूरति सब सुखरासी॥

मूल—(छप्पय)

(श्रीहरिव्यासजी)

खेचरि नर की सिष्य निपट अचरज यह आवै।
विदित बात संसार संत मुख कीरति गावै॥
बैरागिन के बृंद रहत सँग स्याम सनेही।
ज्यौं जोगेश्वर मध्य मनो सोभित बैदेही॥
श्रीभट्ट चरन रज परस तें सकल सृष्टि जाकों नई।
हरि व्यास तेज हरि भजन बल देबी कों दीच्छा दई॥७७॥

अर्थ—यह बड़े आश्चर्यकी बात है कि आकाशमें विचरनेवाली देवी मनुष्यकी शिष्य हुई। किन्तु यह घटना सारे संसारमें प्रसिद्ध है और महात्मा लोग श्रीहरिव्यासजीकी इस कीर्तिका गान करते हैं। आपके साथ वैराग्य-भावनासे युक्त श्यामसुन्दरके चरण-कमलोंके प्रेमी संतोंके समूह सदा रहते थे। इन सन्तोंके बीच श्रीहरिव्यासजी इसी प्रकार सुशोभित होते थे जैसे (याज्ञवल्क्य आदि ज्ञानियोंके मध्य में) विदेहराज श्रीजनक। अपने गुरुदेव श्रीभट्टजीके चरण-स्पर्श करनेके कारण आपके समक्ष समस्त संसार सिर झुकाता था। हरि-भजनके प्रतापके कारण आपने एक बार देवीको भी अपना शिष्य बना लिया था।

भक्ति-रस-बोधिनी

चटथावल गाँव देखि अनुराग भयो, लयो नित्तनेम करि चाहैं पाक कीजियै।
देवी को स्थान, काहू बकरा लै मारयो आनि, देखत मलानि इहाँ पानी नहिं पीजियै॥
भूख निसि भई, भक्ति तेज मिड़ गई, नई देह धरि लई आप, लखि मति भीजियै।
"करौ जू रसोई" "कौन करै, कछु औरै भोई", "सोई मोकों दीजे दान सिष्य कर लीजियै"॥३३८॥

अर्थ—एक बार सन्तोंके साथ भ्रमण करते श्रीहरिव्यासजी 'चटथावल' नामक गाँवमें पहुँचे। वहाँ एक बागको देखकर आपका मन ऐसा प्रसन्न हुआ कि उस दिन आपने वहीं ठहरनेका निश्चय किया। बागमें ठहरकर आपने स्नानादि क्रियायें करके नित्य-नियम किया

और तब रसोई करनेकी सोची। वहाँ एक देवी का मन्दिर था जिसमें कि किसीने उसी समय आकर बकरेकी बलि चढ़ाई थी। उस दृश्यको देखकर सब सन्तोंको बड़ी ग्लानि हुई और उन्होंने सोचा कि प्रसाद ग्रहण करना तो दूर रहा, यहाँ का तो पानी भी नहीं पीना चाहिये।

इस निश्चयके अनुसार सन्तोंने कुछ नहीं खाया और रात्रि आ पहुँची। किन्तु भूखे रहने के कारण तेजकी एक अपूर्व ज्वाला-सी उनमेंसे उदित हुई जिसे न सह सकनेके कारण देवीको ऐसा अनुभव होने लगा जैसे उसका अस्तित्व ही मिटनेको हो। शंकित होकर देवी नया रूप धारण कर संतोंके सामने उपस्थित हुई। सन्तोंके दर्शन करते ही देवीका हृदय श्रद्धा और प्रेमसे परिपूर्ण हो गया और वह अत्यन्त विनम्र स्वरमें बोली—"महाराज! आप लोग रसोई बनाइए, भूखे क्यों रहते हैं?" सन्तोंने उत्तर दिया—"रसोई कौन करे? यहाँका दृश्य देखकर तो हमारा मन और ही प्रकारका हो गया है।" इसपर देवीने कहा—"जिसके कारण आप लोगोंको इतनी ग्लानि हुई है वह देवी मैं ही हूँ। अब कृपया मुझे यह दान दीजिये कि अपना शिष्य बना लीजिए (और रसोई बनाकर भगवानका प्रसाद ग्रहण करिये।)"

भक्ति-रस-बोधिनी

करी देवी शिष्य, सुनि नगर को लटकी, यों पटकी लै खाट जाको बड़ो सरदार है।
चढ़ी मुख बोलै "हौं तो भई हरिव्यास दासी, जौ न दास होहु तो पै अभी मारौं डार है॥"
आये सब भृत्य भये मानों नये तन लये, गये दुःख पाप ताप, किये भव पार है।
कोऊ दिन रहे, नाना भोग सुख लहे, एक श्रद्धा कै स्वपच आयौ पायौ भक्ति-सार है॥३३६॥

अर्थ—देवीकी प्रार्थनापर श्रीहरिव्यासदेवजीने उसे भक्ति-मार्गकी दीक्षा दी। दीक्षा लेते ही देवी नगरकी ओर दौड़ी और उस गाँवका जो मुखिया था उसकी खाटको लेकर उलट दिया। मुखिया जब पृथ्वीपर गिर पड़ा तब देवी उसकी छातीपर चढ़ बैठी और कहने लगी—"मैं तो हरिव्यासदेवजीकी शिष्य हो गई हूँ। अब यदि तुम लोग भी उनके शिष्य नहीं बनोगे, तो मैं सबको मार डालूँगी।" देवीका आदेश पाकर गाँवके सब लोग श्रीहरिव्यासदेवाचार्यके शिष्य बन गए और तिलक, कण्ठी, मुद्रा आदि वैष्णव-चिह्नोंको धारण कर ऐसे दीखने लगे मानों उन्होंने नया शरीर धारण किया हो। वैष्णव होते ही लोग पाप-रहित हो गये। उनके सब भौतिक दुःख दूर हो गए और भगवान्‌का भजन करते हुए यथासमय इस संसार-समुद्रसे पार हो गए। इस घटनाके बाद श्रीहरिव्यासदेवजी कुछ दिन तक वहाँ रहे। उन्हीं दिनों एक चाण्डाल आपकी शरणमें आया और अपनी सद्‌गतिके लिए प्रार्थना की। आपने उसे भी भक्ति-रसका अधिकारी बनाया।

श्रीहरिव्यासदेवजीके सम्बन्धमें 'भक्तदाम-गुण-चित्रनी' टीकामें जो विशेष वार्ता मिलती है उसे संक्षेपमें नीचे दिया जाता है—

चटथावल नामक ग्राममें देवीको दीक्षा देकर श्रीहरिव्यासदेव जी संत-मंडलीके साथ आगे चल

दिए और विचरते हुए एक गाँवमें जा पहुँचे। वहाँके निवासी अत्यन्त श्रद्धा-शून्य थे। दो दिन तक उन्होंने साधु-संतोंकी कोई बात नहीं पूछी। उसी समय चटथावलवाली देवी गुरुजीके दर्शन करने आई। उसे जब ग्रामके लोगोंके इस व्यवहारका पता लगा तो बड़ी नाराज हुई और उसने एक साथ पत्थरोंकी वर्षा आरम्भ कर दी। अब तो गाँवके लोग अत्यन्त व्याकुल होकर चारों ओर भागने लगे; किन्तु किसी भी स्थानपर वे न बच सके। अन्तमें कुछ लोगोंने देखा कि जहाँ साधुओंकी मण्डली ठहरी हुई है, उधर पत्थर नहीं गिर रहे हैं। अपने प्राण बचानेके लिए सब लोग उधर ही भागने लगे। अब वे यह भी समझ गए कि ये महात्मा बड़े चमत्कारी हैं। वे सब श्रीहरिव्यासदेवजीके चरणोंमें गिर कर पूछने लगे—

"प्रभु हम पै क्यूं मार पराई। ऐसो पथर कहां तें आई॥"

स्वामीजीने कहा—"तुम अन्धे हो। सन्तोंके महत्त्वको तुमने नहीं पहिचाना। यह मार तुम्हारी आँखें खोलनेके लिए पड़ रही है।" यह सुन कर सब लोग गिड़गिड़ाते हुए बोले—"महाराज! हम सन्तों की महिमाको नहीं पहिचान सके। अब आप क्षमा कीजिए और इस पत्थरोंकी वर्षाको दूर कीजिए।"

स्वामीजीको उनके दीन वचन सुनकर दया आ गई। उन्होंने पत्थरोंका बरसाना बन्द कर दिया और बोले—"अब सन्तोंकी उपेक्षा कभी नहीं करना। साधु-जन जब कभी भी तुम्हारे गाँवमें आवें, उनका यथाशक्ति सत्कार करो और भोजन कराओ।"

श्रीहरिव्यासदेवजीकी वाणीको सुनकर सबको आनन्द हुआ। उन्होंने अनेक प्रकारका सीधा-सामान लाकर संतोंको अर्पित किया और श्रीस्वामीजीसे वैष्णवी दीक्षा ली। ग्राम-वासियोंके मन में तभीसे सन्तोंकी सेवा करनेकी उत्कट चाह पैदा होगई और जब-जब उनके गाँवमें सन्त पधारे तभी तब अनेक प्रकारके पकवान और मेवाओंसे वे उनका सत्कार करने लगे।

विशेष वृत्त—श्रीहरिव्यासदेवजी उत्तर भारतके एक प्रख्यात सम्प्रदायाचार्य माने जाते हैं। आपका जन्म गौड़-ब्राह्मण-कुलमें हुआ था। आप निम्बार्क-सम्प्रदायाचार्य श्रीभट्टजीके शिष्य थे।

कहते हैं, आप जब दीक्षा लेनेके लिए श्रीभट्टजीके पास पहुँचे तब वे गोवर्धनमें विराजते थे और प्रिया-प्रियतमको लाड़ लड़ाया करते थे। श्रीभट्टजीने प्रश्न किया—"हरिव्यास, हमारे अंकमें कौन विराजते हैं?" हरिव्यासजीने उत्तर दिया—"कोई नहीं।" इसपर श्रीभट्टजीने कहा—"अभी तुम दीक्षाके अधिकारी नहीं हो; जाओ, बारह वर्ष तक गोवर्धन-गिरिकी परिक्रमा करो।" गुरुकी आज्ञाको शिरोधार्य कर हरिव्यासदेवजी बारह वर्ष तक परिक्रमा देते रहे। अवधि बीत जाने पर फिर वे दीक्षा प्राप्त करनेकी आशासे श्रीभट्टजीके पास गए। श्रीभट्टजीने फिर वही प्रश्न किया और हरिव्यासदेवजीने फिर वही उत्तर दिया। श्रीभट्टजीने बारह वर्ष तक परिक्रमा करनेकी फिर आज्ञा दी। अब की बार जब वे लौटे तो गुरुदेवने उनको दीक्षाके योग्य समझकर अपना शिष्य बना लिया।

अपने गुरुदेवकी भाँति हरिव्यासदेवजीने भी उत्कृष्ट काव्य-रचना कर भक्ति-मन्दाकिनीकी धारा बहाई। 'महावाणी' आपकी बड़ी अनुपम कृति है। यह श्रीभट्टजी-रचित 'युगल-शतक' के भाष्य-रूप में लिखी गई है और इसमें राधा-कृष्णकी नित्य-विहार-लीलाका अत्यन्त अद्भुत, सरस और हृदयग्राही वर्णन किया गया है। 'महावाणी' में पाँच सुखोंका वर्णन है—सेवा, उत्सव, सुरत, सहज तथा

सिद्धांत । भावना और उपासनासे संबन्धित प्रत्येक वर्ण्य विषय इस कविकी लेखनीका स्पर्श पाकर सजीव हो उठा है । उत्तरवर्ती कवियोंने इस महाकविसे अवश्य अमूल्य प्रेरणाएँ ग्रहण की होंगीं ।

कुछ उदाहरण देखिये—

जयति-जय राधिका रसिक रस मंजरी, रसिक सिरमौर मोहन विराजैं ।
रसिकिनी रहसि रस-धाम वृन्दाविपिन, रसिक रसरसी सहचरि समाजैं ॥
रसिक-रस-प्रेम सिंगार रँग-रँगि रहे, रूप आगार सुखसार साजैं ।
मधुर माधुर्य सौंदर्यता वर्य पर, कोटि ऐश्वर्य की कला लाजैं ॥
चातकी कृष्ण की स्वाति की बारिदा, बारिदा रूप-गुन-गर्बिता जैं ।
मदन-मद-मोचिनी रोचिनी रति कला, रतन मनि कुंडला जगमगा जैं ॥

आपके जिन प्रधान १२ शिष्यों के नामपर सम्प्रदायकी १२ शाखाओं की स्थापना हुई है, उनके नाम इस प्रकार हैं—(१) स्वभूदेवाचार्य, (२) बोहितदेवाचार्य, (३) मदनगोपालदेवाचार्य, (४) उद्धवदेवाचार्य, (५) परशुरामदेवाचार्य, (६) लफरा गोपालदेव, (७) गोपालदेवाचार्य, (८) हृषीकेशदेवाचार्य, (९) माधवदेवाचार्य, (१०) केशवदेवाचार्य (११) गोपालदेवाचार्य तथा (१२) मुकुन्ददेवाचार्य ।

श्रीध्रुवदासजीने श्रीहरिव्यास देवाचार्यके प्रमुख शिष्योंके नाम इस प्रकार बतलाये हैं—

लफरा, जान, गोपाल, परस, सोभू, थिन, रांमा ।
रषीकेश, बोयथ, ब्रिमचारी परणांमा ॥
बूधरदास, भग्वांन पुनस गंभीर गोपालं ।
ग्यांन गोपाल सधीर मदनगोपाल क्रिपालं ॥
लाधापाधा सबवतल संगन रंगणी ग्यांनता ।
हरव्यासदेव गुर भेव थिन द्वारपाल सिष सिषता ॥२५७

एक परम्परा-पत्र (५३ । २७) में शिष्योंका वर्णन निम्न प्रकार दिया गया है—

लक्षिपाकिः मुकुन्दस्तु गोपालो बोहितः स्वभूः ।
महामना शान्तहृषीकेशः, परशु-माधवौ ।
बाहुबलश्च दुर्गा च, बहवः शिष्यशेखराः ॥

स्वामीजी निम्बार्क-सम्प्रदायके अन्तर्गत रसिक-सम्प्रदाय नामक शाखाके प्रवर्तक माने जाते हैं । आराध्यके प्रति माधुर्य-भाव ही इस सम्प्रदायका सर्वस्व है । अत्यन्त प्रभावशाली होनेके कारण इस शाखाके सन्त हरिव्यासी नामसे भी प्रसिद्ध हैं ।

समय—श्रीनिम्बार्काचार्यके पश्चात् होनेवाले विशिष्ट आचार्योंमें स्वामीजीकी ३१ वीं संख्या है । ऐसी विशिष्ट भगवद्विभूतियोंका भूतलपर अवतार किसी विशेष हेतुसे ही हुआ करता है । पथभ्रष्ट हिंसक मानवोंकी प्रवृत्तिका परिवर्तन करना ही आपके आविर्भावका विशेष लक्ष्य प्रतीत होता है । श्रीनाभाजीने इस छप्पयमें संक्षेपसे आपकी छः विशेषताएँ प्रकट की हैं—(१) आपका आश्चर्यमय सुयश चारों ओर व्याप्त होगया था । सच्चे साधु-सन्त आपका अहर्निश गान करते रहते थे । (२) साधु-सन्तोंका

अपार समूह आपके संग रहता था। (३) जगद्गुरु होनेके कारण पूर्ण-वैभव रहते हुए भी आप महाराज जनककी भाँति निर्लिप्त एवं प्रभुमें तल्लीन रहा करते थे। (४) श्रीभट्टदेवाचार्यके आप कृपापात्र शिष्य थे। (५) गुरु-कृपाके बलसे समस्त संसार आपको नमन करता था। (६) सबसे बड़े आश्चर्य की बात यह थी कि पृथ्वीतलके वासी होते हुए भी आपने स्वर्लोकके देवोंको भी शिष्य बनाया। यद्यपि यह महान् आश्चर्य असम्भव जैसा प्रतीत होता है, किन्तु हजारों मानवोंने उस घटनाको प्रत्यक्ष किया था। इसी कारण निर्लोभी, निस्पृही साधु-सन्त आपका गुण-गान करते हैं।

श्रीनाभाजीने श्रीपरशुरामदेव, स्वभूरामदेव, उद्धवघमंडदेव, लफरा गोपाल, बोहितदेव, मुकुन्ददेव, लक्षदास (लाखाचाकी) आदि पट्टशिष्योंके चरित्रका वर्णन किया है। इनके अतिरिक्त श्रीकन्हरदेव (प्रशिष्य) और उनके शिष्य परमानन्ददेव तथा उनके भी शिष्य श्रीचतुरानागाजीका वर्णन किया है जो श्रीहरिव्यासदेवके पश्चात् पाँचवीं पीठिकाके महापुरुष थे। भक्तमालका रचनाकाल विद्वानोंने वि० सं० १६४० से ८० तक माना है। नाभाजीने रत्नावलीके पश्चात् छप्पय १४३ से १४८ तक छः छप्पय मथुरा-वृन्दावनकी निष्ठावाले कृष्णभक्तोंके सम्बन्धमें रचे हैं जो कि अधिकतर निम्बार्कीय हैं। छप्पय १४७ में "उद्धव रघुनाथी चतुरो नगन कुञ्ज ओक जे बसत अब" इन शब्दोंमें यह झलक दिखाई देती है कि श्रीनागाजी भक्तमाल की रचनाके समय सम्भवतः विद्यमान थे। यद्यपि बहुतसे आलोचक विद्वानोंके मतसे वल्लभकुली वार्ता-ग्रन्थ कितने ही अंशोंमें संदिग्ध और अप्रामाणिक भी माने जाते हैं, तथापि उनसे यह पता चलता है कि श्रीवल्लभाचार्यके समसामयिक नागाजी एक सदाचारी, अनन्य, निष्ठावान् और दीर्घायु महापुरुष थे और व्रजवासियोंपर उनका विशेष प्रभाव था। सात्त्विक व्यक्तियोंमें प्रायः ऐसे किसी विशिष्ट महानुभावका ही सुयश गान किया जाता है, अतः श्रीनाभाजीके कथनानुसार वि० १६४०-८० के मध्यमें श्रीनागाजीकी विद्यमानता स्वीकार कर लेनेपर उनसे पूर्ववर्ती तीन पीढ़ियों का कम-से-कम (वि० १५६० तक) सौ वर्षका समय भी माना जाय, तो अनुमानतः यह सिद्ध होता है कि वि० सं० १५६० तक श्रीहरिव्यासदेव धरातलपर विराजमान रहे होंगे। उन्होंने वि० सं० १५२० में अपने हाथसे "श्रीनृसिंह-परिचर्या" ग्रन्थकी प्रतिलिपि की थी। वह ग्रन्थ सरस्वती-भवन, वाराणसीके संग्रहालयमें सुरक्षित है। इस मान्यताका पोषक एक दूसरा हेतु और है—

दाक्षिणात्य रूपरसिकदेवजी श्रीहरिव्यासदेवके अनन्य भक्त एवं कृपापात्र शिष्य थे। श्रीहरिव्यास-देवके दर्शनार्थ एवं उनसे दीक्षा लेनेके लिये वे अपने दूर देश दक्षिणसे चलकर मथुरा पहुँचे और उत्कट श्रद्धाके कारण श्रीहरिव्यासदेवने उन्हें दर्शन देकर उपदेश दिया। तत्पश्चात् श्रीरूपरसिकदेवजी व्रजमें ही रहने लगे। वे निरन्तर गुरुदेवका सुयश गाया करते थे। उनकी सर्वप्रथम रचना 'हरिव्यास-यशामृत' है। उसके पश्चात् क्रमशः 'वृहदुत्सव-मणिमाल' और 'नित्यविहार-पदावली' की उन्होंने रचना की थी। १२० पदोंवाली नित्यविहार-पदावलीके आजकल बहत्तर पद ही उपलब्ध होते हैं। उन्होंने एक 'कृपाकल्पतरु' ग्रन्थ भी बनाया था जिसकी अनुष्टुप-संख्या ६०० के लगभग थी। उनका सर्वान्तिम ग्रन्थ 'लीला-विंशति' माना जाता है जिसका रचनाकाल वृन्दावन-माधुरीके अन्तिम दोहेके अनुसार सम्वत् १५८७ है। प्रायः भगवद्भक्त अपने नामको लघुरूपसे ही व्यवहृत करते-कराते हैं, अतः रूप-रसिकजी 'रूपा' के नामसे भी ख्यात थे। रसिक होनेके कारण पदोंमें वे रसिक शब्दका प्रयोग विशेष किया करते थे।

श्रीनाभाजीने भक्तमालमें दिग्गज भक्तोंकी गणनामें (छप्पय १००) और हरिके सम्मत विनम्र भक्तोंकी गणना (छप्पय १०५) में दो स्थानोंपर रूपाके नामसे ही रूपरसिकजीका उल्लेख किया है। नरवाहन और दामोदर (साँपलावाले) आदि भक्त भी उसी समयके आस-पास हुए थे। रूपरसिकजी ने तीस वर्ष तक पद रचना की होगी। इस आधारपर भी आलोचक इस निष्कर्षपर पहुँचते हैं कि वि० सं० १५५७ से पूर्व ही श्रीहरिव्यासदेवाचार्यजीका अन्तर्धान हो चुका था।

श्रीहरिव्यासदेवाचार्य द्वारा देवीको दीक्षा देनेवाली घटनाका स्थान प्रियादासजी व्रजजीवनजी* और बालबालजी 'चटथावल' मानते हैं और आनन्दघन 'देववन' बतलाते हैं—

महिमा विदित कहाँ कहा देवन नगर मँझार ।
देवी को उपदेश दे मेट्यौ पसु संहार ।। (परमहंस-वंशावली ३२)

महाकवि आनन्दघन आदि द्वारा निर्दिष्ट देववन और चटथावल—इन दोनों गाँवोंकी दूरी में यद्यपि थोड़ा ही अन्तर है, तथापि भिन्न-भिन्न रचनाकारोंके मत-भेदसे किस एक गाँवका निश्चय किया जाय ? इस प्रश्नका समाधान श्रीहरिव्यासदेवाचार्यके साक्षात्-शिष्य श्रीपरशुरामदेवाचार्यकी एक रचनासे अच्छी प्रकार हो जाता है। अन्य कवियोंकी अपेक्षा उनका कथन विशेष प्रामाणिक हो सकता है। सम्भव है, उन्होंने जो लिखा है वह उस स्थानको देखकर ही लिखा हो। उन्होंने यह घटना-स्थल देववन और चटथावलके मध्यमें बतलाया है :—

भजिये श्री हरिव्यासदेव जिन भगति भूपर बिसतारी ।
दुति देव रिषि दुरसि देव लोकनि अधिकारी ।।
नर की कितियक बात सुर्गासुर सेवा आवें, ।
भगत हंस की हंस आय आगें सिर नावें ।।
देववन चटथावड बिचै थान अस्थिर तामैं रहै ।
तिन देवी दष्या लई माथि प्रगट सब जग कहै ।।

सम्भव है, वह स्थान किसी समय देववनकी सीमामें रहा हो और कभी चटथावलकी सीमामें ले लिया गया हो। समय-समयपर सीमा-अधिकारोंका परिवर्तन होना सहज है। यह घटना वि० सं० १५५६ से पूर्वको है। उस समय श्रीहितहरिवंशजीका प्राकट्य नहीं हुआ था, परन्तु उनके पूर्वजोंका निवास उधर ही था और उपर्युक्त घटनासे प्रभावित हो सभी नागरिकोंने वैष्णव-धर्मको अपना लिया था, ये दोनों ही बातें निर्विवाद हैं। श्रीहरिव्यासदेवजीके पश्चात् श्रीस्वभूरामदेव आदि उनके शिष्य भी उधर रहे, और उन्होंने आगे हरियाना प्रदेशमें भी भक्तिका विशेष प्रचार किया था। आज भी उनके अनेक स्मारक, मठ, मन्दिर वहाँ विद्यमान हैं। 'आचार्य-चरित्र' में आपके बारेमें कहा है—

वन्ध्या क्षणात् यस्य कृपावलोकादनेकजन्मार्जितपापपुञ्जम् ।
परं पदं मत्स्वपचोऽपि यातः किं वर्ण्यते तस्य गुणानशेषान् ।।

[सं० आचार्य-चरित्र, अमुद्रित, १३ वां विश्राम, श्लोक १६]

---

* थान चटथावल तहँ श्री भजन-बल-दाप कहँ धुजस बरन भई देवी ।

—व्रजजीवन कृत भक्तमाल (अमुद्रित) पत्र ४६

मूल (छप्पय)

(श्रीदिवाकरजी)

उपदेशे नृपसिंह, रहत नित आज्ञाकारी।
पक्व वृच्छ ज्यों नाय, संत पोसक उपकारी॥
बानी "भोलाराम" सुहृद सबहिन पर छाया।
भक्त-चरण-रज जाँचि, बिसद राघौ गुण गाया॥
'करमचन्द' 'कस्यप' सदन बहुरि आय मनो बपु धरयो।
अज्ञान ध्वांत अंतहि करन दुतिय दिवाकर अवतरयो॥७८॥

अर्थ—श्रीदिवाकरजीने बड़े-बड़े राजाओंको उपदेश दिया। ये राज-राजेश्वर आपके आज्ञाकारी रहते थे। जिस प्रकार पके हुए फलोंसे लदे वृक्ष झुक जाते हैं, उसी प्रकार आप भी अत्यन्त विनय-शील थे और सन्तोंका पालन-पोषण करते थे। आपके मुखसे सदा 'भोला-राम' की वाणी निकलती रहती थी और गरीबोंके मित्र बनकर आप उन्हें अपनी शरणमें लेते थे। भक्तोंकी चरण-रजकी कामना रखते हुए आपने श्रीरामचन्द्रजीके गुणोंका विस्तार-पूर्वक गान किया। आपके पिता श्रीकरमचन्द्रजी, कश्यपके समान थे। उनके घरमें आप द्वितीय सूर्यकी तरह प्रकट हुए और अज्ञान-रूपी अन्धकारका नाश किया।

"भक्तदाम-गुण-चित्रनी" टीकाके आधार पर श्रीदिवाकरजीके सम्बन्धमें कुछ विशेष वार्ता नीचे दी जाती है।

सन्त-सेवा—श्रीदिवाकरजी सन्तोंकी सेवा करने में बड़े कुशल थे। उनके पास जब द्रव्य नहीं रहता था तो अपनी गूदड़ीको धरोहर रख कर वे सामग्री लाकर सन्तोंका सत्कार करते, और जब द्रव्य आ जाता तब गूदड़ीको ले आते। आपकी सन्त-सेवा इसी प्रकार चलती थी।

एक बार ऐसा हुआ कि एक साथ बीस सन्त कहींसे आ गए। दिवाकरजीके पास एक पैसा भी न था। वे अपनी गूदड़ी लेकर बाजार गए और उसे एक बनियाकी दूकान पर रहन रखकर भोजन-सामग्री खरीद लाए। घर आकर उन्होंने रसोई तैयार की और सन्तोंको भोजन कराकर सन्मान-पूर्वक विदा किया।

इस घटनाके कुछ समय बाद ही जाड़ेके दिन आ गए। जब बिना गूदड़ीके श्रीदिवाकरजीको ठण्ड लगने लगी तो वे बनियाके पास गए और उससे गूदड़ी माँगी। उसने जब पैसोंका तकाजा किया तो आप बोले—"जिस दिन मेरे पास द्रव्य आ जावेगा मैं उसी दिन चुका जाऊँगा, मेरा विश्वास करो," किन्तु बनिया तो अत्यन्त लोभी था। वह न माना और श्रीदिवाकरजीको खाली हाथ ही लौट आना पड़ा। प्रभु श्रीराघवेन्द्रने जब यह देखा तो उनसे न रहा गया और एक सुन्दर रजाई लाकर अपने भक्त को दे गए। दूसरे दिन जब बनियाने उनके पास रजाई देखी तो बोला—"अरे! यह रजाई तू कहाँसे ले
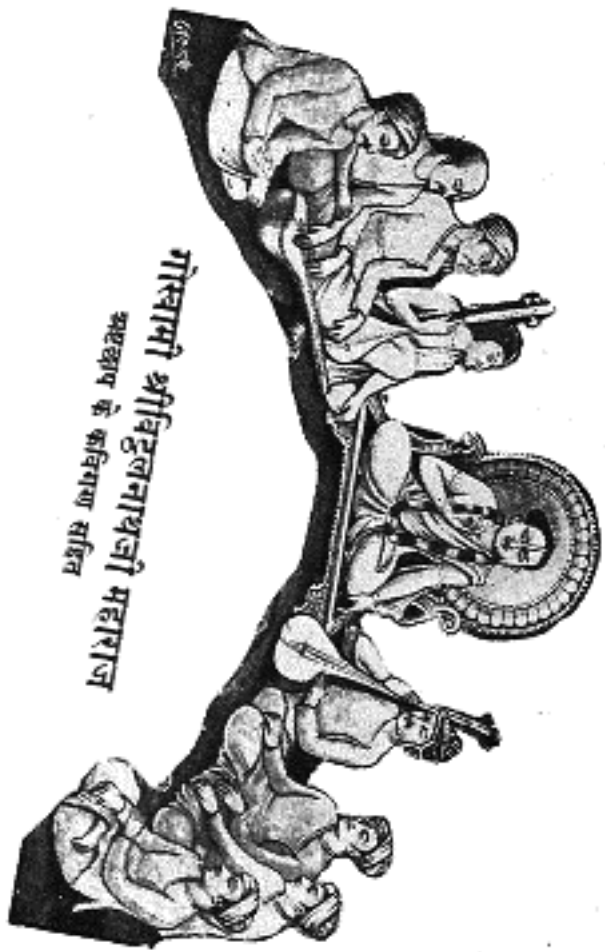
गोस्वामी श्रीविट्ठलनाथजी महाराज
अष्टछाप के कविगण सहित

आया ?" और उसे छीनकर अपने ऊपर रख लिया । उसी दिन भगवान् फिर आए और दूसरी रजाई दे गए । अगले दिन जब बनियाने और भी सुन्दर रजाई श्रीदिवाकरजीके पास देखी तो वह आश्चर्यमें डूब गया । इस बार आपकी महिमाको पहिचान कर वह आपके पास आया और चरणोंमें गिर कर क्षमा माँगी ।

कुछ ही समय में यह घटना सम्पूर्ण ग्राममें फैलती हुई ग्रामपतिके पास पहुँच गई । उसका हृदय श्रीदिवाकरजीकी महिमासे बड़ा प्रभावित हुआ । वह उनका शिष्य होगया । अब तो नित्य-प्रति श्रीदिवाकरजीके यहाँ साधु-सेवा होने लगी ।

एक ब्राह्मणी आपकी शिष्या थी । भक्तिका प्रताप दिखा कर उसे आपने अपनी महिमासे परिचित कराया । इसी प्रकार एक अन्य शाक्तको भगवद्-भक्तिका चमत्कार दिखला कर आपने वैष्णव बनाया । आपके सम्बन्धमें श्रीबालकरामजीने कहा है—

ऐसें सब सन्तनि सुखद, प्रगट दिवाकर सन्त ।
पर उपकार विचार नित, जाके हृदय बसन्त ।।

मूल (छप्पय)
(श्रीविट्ठलनाथजी गोस्वामी)

राग भोग नित विविध रहत परिचर्या तत्पर ।
सय्या, भूषन, बसन रचित रचना अपने कर ।।
वह गोकुल वह नन्द-सदन दीछित को सोहै ।
प्रगट विभव जहँ घोष देखि सुरपति मन मोहै ।।
वल्लभ सुत बल भजन के कलियुग में द्वापर कियो ।
विट्ठलनाथ व्रजराज ज्यों लाड़ लड़ाय कै सुख लयो ।।७६।।

अर्थ—महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यके पुत्र श्रीविट्ठलनाथजी गोस्वामी नित्य-प्रति अनेक प्रकार के भोग-राग द्वारा अपने इष्टदेव श्रीगोपाललालजीकी उपासनामें लगे रहते थे । अपने हाथोंसे वे ठाकुरजीका शृङ्गार करते, भूषण और वस्त्र धारण कराते तथा शय्या सँवारते थे । तैलंग दीक्षित-वंशमें उत्पन्न आपका घर द्वापर-युगके नन्दजीके घरके समान शोभा दे रहा था । श्री श्रीविट्ठलनाथजीकी दृढ़ भक्तिके कारण गोपोंका वह गाँव गोकुल ऐसा वैभवशाली हो उठा कि इन्द्रका मन भी उसे देखकर मोहित हो जाता था । इस प्रकार श्रीवल्लभाचार्यके सुपुत्र श्रीविट्ठल-नाथ गुसाईंने अपने भजनके प्रभावसे कलियुगमें द्वापरके वातावरणकी सृष्टि की । वे अपने पुत्रों में श्रीकृष्णकी भावना रखकर श्रीनन्दरायकी तरह उन्हें प्यार करके वात्सल्य-सुखका अनुभव किया करते थे ।

श्रीविट्ठलनाथजी गोस्वामीका चरित्र 'भक्तदाम गुण चित्रनी' टीकामें निम्न प्रकार लिखा है—

श्रीवल्लभाचार्यजीके पुत्र श्रीविट्ठलनाथजी श्रीलालजीको अनेकों प्रकारसे लाड़ लड़ाया करते थे। उनकी वात्सल्य-भावना नन्दबाबाके समान ही थी। एक बार आपने श्रीनाथजीके लिए दूध तैयार करवा कर भोग लगाया। जब लालजीने चाखा तो मीठा ज्यादा लगा और वे बोले—"इस दूधमें तो मीठा अधिक है, हमसे नहीं पिया जाता।" जब दूसरी बार कम मीठा डालकर भोग लगाया गया तो श्रीनाथजीने चाख कर कहा—'इस बार तो बिलकुल मीठा नहीं है। ऐसा दूध भला कैसे पिया जायगा ?' अबकी बार गोस्वामीजीने दूध और मिश्री दोनों अलग-अलग रख दिए और कहा—"जितना अच्छा लगे उतना मीठा करलो।" श्रीनाथजीने कहा—"मैं मिलाना ही नहीं जानता।" गोस्वामीजीने इसपर कहा—"यदि नहीं जानते हो तो स्वाद कैसे बतलाते हो ?"

इस प्रश्नको सुनकर लालजी एक क्षण मौन रहकर तुरन्त मुस्करा दिए और श्रीविट्ठलनाथजी की गोदमें आकर छिप गए। इस विनोदसे गोस्वामीजीके मनमें जितना आनन्द हुआ उसे कौन वर्णन कर सकता है।

एक बार श्रीविट्ठलनाथजी जब मनमोहनके लिए बिछावन कर रहे थे तब भी श्रीलालजीने इन्हें ऐसा ही आनन्द दिया। कभी तो वे कहते कि यह बिछावन ठीक नहीं है, दूसरे पर सोयेंगे, और जब दूसरा बिछ जाता तो तीसरेके लिए हठ करते। फिर जैसे-तैसे सोनेको राजी हुए तो बोले—"आप भी हमारी ही सेजपर सोइए।" गोस्वामीजीने पूछा—"क्यों ?" आप बोले—"तुम्हारे साथ मुझे नींद अच्छी आती है।"

एक बार श्रीविट्ठलनाथजीकी गायोंको कोई चोर चुराकर ले गया। विट्ठलनाथजी श्रीनाथजीके पास पहुँचे और कहा—'लालजी ! जरा हमारी गाय तो ले आइए।' श्रीनाथजी महाराजने तुरन्त गायें लाकर दीं।

श्रीविट्ठलनाथजी नित्यप्रति अपने आराध्यके साथ अनेक क्रीड़ाएँ किया करते थे। उन सबका वर्णन करना असम्भव है, अतः पाठकोंके लाभार्थ संक्षेपमें कुछ वार्ता ही यहाँ प्रस्तुत की गई हैं।

जीवन-वृत्त—गोस्वामी श्रीविट्ठलनाथजीका जन्म सं० १५७२ वि० में काशीके निकट चरणाट (चुनार) में हुआ। उनके पिता श्रीवल्लभाचार्य नवजात शिशुको अपने पूर्व निवासस्थान अड़ैल ले गए और वहीं उनका जातकर्म-संस्कार हुआ। सम्यक् विद्याध्ययन समाप्त कर लेनेपर आपने गृहस्थाश्रममें प्रवेश किया। आपकी दो पत्नियाँ थीं—पहली पत्नीका नाम रुक्मिणी और दूसरी का पद्मावती था।

सं० १५८७ में श्रीवल्लभाचार्यके महाप्रयाणके बाद उनके ज्येष्ठ पुत्र श्रीगोपीनाथजी गद्दीके उत्तराधिकारी हुए, किन्तु वे भी अधिक समय तक जीवित नहीं रहे। उनकी मृत्युके उपरान्त उनकी पत्नीने कृष्णदास अधिकारीकी सहायतासे अपने पुत्र श्रीपुरुषोत्तमको उत्तराधिकारी बनाना चाहा और श्रीविट्ठलनाथजीका मन्दिरके अन्दर प्रवेश रोक दिया गया। प्रभुके दर्शनसे वंचित होकर श्रीविट्ठलनाथजी पारसौली चले गए। वहाँसे आप श्रीनाथजीके मन्दिरके झरोखेकी ओर देखा करते और मन्दिर के ऊपर फहराती हुई पताकाको नमस्कार कर सन्तोष कर लेते थे। श्रीविट्ठलनाथजीके सुपुत्र श्रीगिरिधरजीने अन्तमें तत्कालीन अधिकारियों तक यह बात पहुँचाई और कृष्णदास अधिकारीको जेल होगई।

कहते हैं, कृष्णदासके जेलमें बन्द हो जानेका श्रीविट्ठलनाथजीको इतना कष्ट हुआ कि उन्होंने अन्न-जल ग्रहण करना छोड़ दिया । कृष्णदासजी अन्तमें मुक्त होगए । अधिकारीजी पर इसका ऐसा प्रभाव पड़ा कि उन्होंने गुसाईंजीके पैरोंमें पड़कर क्षमा माँगी और उनके उत्तराधिकारका समर्थन किया ।

श्रीविट्ठलनाथजीके जीवनका अधिकांश समय व्रजमें निवास करते हुए ही व्यतीत हुआ । आपकी विद्वता तथा आध्यात्मिकतासे प्रभावित होकर सम्राट् अकबरने गोकुल तथा गोवर्धनकी भूमि इन्हें भेंट कर दी । राजा टोडरमल तथा बीरबलके मित्र होनेके कारण गुसाईंजीने व्रज-मंडलकी भूमिपर लगे गोचर-कर को हटवा दिया ।

पुष्टि-संप्रदायके भारत-व्यापी प्रचार और प्रगतिका श्रेय आपको ही है । आपने श्रीवल्लभाचार्यजी के ग्रन्थोंका गूढ़ रहस्य समझाया, और बहुतसे ग्रन्थोंकी रचना की जिनमें अणुभाष्यका अंतिम डेढ़ अध्याय, विद्वन्मण्डन, भक्ति-हंस, भक्ति-निर्णय आदि मुख्य हैं । अष्टछाप आपकी कीर्तिकी अमर छाप है । व्रजभाषा को सूर, नन्ददास, चतुर्भुजदास, परमानन्द आदि महाकवियोंकी देन आपकी ही है । आपके ही अनवरत प्रयत्नोंके फलस्वरूप उस युगमें साहित्य और सङ्गीतकी मधुर धारा प्रवाहित हुई ।

अपने ज्येष्ठ भ्राता गोपीनाथजीकी मृत्युके बाद सं० १६२० में आप गद्दीपर आरूढ़ हुए और उसके बाद आप भारत-भ्रमणको निकल पड़े । गुजरातमें वल्लभसंप्रदायके प्रचारका श्रेय आपको ही है । सं० १६४२ में आप गोलोकवासी हुए । आपके विरहमें भक्त-कवि चतुर्भुजदासजीके ये उद्गार कितने करुण हैं—

> श्रीवल्लभसुत दरसन करन अब सब कोउ पछितैं हैं ।
> 'चर्तुभुजदास' आस इतनी जो सुमिरन जनमु सिरैं हैं ॥

—⁘—

(श्रीत्रिपुरदासजी)

भक्ति-रस-बोधिनी

> कायथ 'त्रिपुरदास' भक्ति सुख राशि भरयौ, करयौ ऐसौ पन सीत दगला पठाइयै ।
> निपट अमोल पट हियें हित जटि आवै तातें अति भावै, नाथ अंग पहिराइयै ॥
> आयो कोऊ काल नरपति नें बिहाल किधौ, भयौ ईश ख्याल नेकु घर में न खाइयै ।
> वही ऋतु आई, सुधि आई, आँखि पानी भरि आई, एक हात बीठि आई बेंचि लाइयै ॥३४०॥

अर्थ—(श्रीविट्ठलनाथजीके प्रिय शिष्य, शेरगढ़ निवासी, कायस्थ-कुल-भूषण) श्रीत्रिपुरदासजीका हृदय भक्तिके अगाध आनन्दसे परिपूर्ण रहता था । आपका यह प्रेमपूर्ण प्रण था कि शीतकालके दिनोंमें आप श्रीवल्लभाचार्यके इष्टदेवको दगला (रूईदार अँगरखा) सिलवा कर भेजा करते थे । यह वस्त्र बहुमूल्य कपड़ेका बना हुआ होता था और गोटा-पट्ठा लगाकर भेजा जाता था, अतः गुसाईंजी बड़े प्रेमसे ठाकुरजीके श्रीअंगमें इसे धारण कराते थे । एक समय ऐसा आया कि राजाने त्रिपुरदासजीका सब धन छीनकर उन्हें दुर्दशाग्रस्त बना दिया, यहाँ तक कि भगवानकी कुछ ऐसी टेढ़ी नज़र हुई कि घरमें खाने तक का प्रबन्ध नहीं रहा ।

इसी बीच वह समय आ पहुँचा जब कि अँगरखा भेजना चाहिए था। याद आते ही त्रिपुरदासजीकी आँखोंमें आँसू आगए। इतनेमें ही आपकी दृष्टि घरमें पड़ी हुई एक दावातपर पड़ी और आपने निश्चय कर लिया कि इसे बेच दिया जाय।

भक्ति-रस-बोधिनी

बेंचि कै बजार माँ रुपैया एक पायौ ताको, ल्यायौ मोटो थान मात्र रंग लाल गाईयें।
भीज्यो अनुराग, पुनि नैन जल धार भीज्यो, भीज्यो दीनताई, धरि राख्यौ और आइयें॥
कोऊ प्रभुजन आय सहज दिखाई दई, भई मन, दियौ लै "भंडारी पकराइयें।
काहू दास-दासी के न काम कौ, पै जाउ लैकै, बिनती हमारी जू गुसाईं न सुनाइयें" ॥३४१॥

अर्थ—उस दावातको बाजारमें बेचकर एक रुपया मिला। उस रुपयेसे आपने मोटे कपड़ेका एक थान खरीदा जो कि लाल रँगा हुआ था। किन्तु मामूली होनेपर भी पहले यह त्रिपुरदासजीके अनुरागमें भीगा, फिर आँसुओंकी धारमें भीगा और सबसे अन्तमें गरीबीमें (और इस प्रकार अमूल्य होगया)। वस्त्रको खरीदकर आपने घरमें रख लिया—यह सोच कर कि ब्रजकी तरफसे कोई आवेगा तो उसके हाथ इसे भिजवा दिया जायगा।

संयोगसे गोस्वामीजीसे सम्बन्धित एक व्यक्ति शेरगढ़ पहुँचा। त्रिपुरदासजीने सोचा कि इसके हाथ अँगरखा भेज दिया जाय। आप अँगरखा देते हुए उससे बोले—"देखो, इसे भंडारी के हाथमें दे देना। यद्यपि यह वस्त्र इतना साधारण है कि किसी दास-दासीके भी काममें शायद ही आवे, परन्तु फिर भी इसे ले ही जाओ। एक प्रार्थना और है—इसकी खबर गुसाईंजी को न सुनाना।"

भक्ति-रस-बोधिनी

दियो लै भंडारी कर, राखे धरि पट, आपै निपट सनेही नाथ बोले अकुलाय कै।
"भये हैं जड़ाये, कोऊ बेगि ही उपाय करौ", विविध उढ़ाये अंग-बसन सुहाय कै॥
आज्ञा पुनि दई, यों अँगीठी धारि दई, फेर वही भई, सुनि रहे अति ही लजाय कै।
सेवक बुलाय कह्यो "कौन की कबाय आई" सबै की सुनाई, एक वही लौ बचाय कै ॥३४२॥

अर्थ—श्रीत्रिपुरदासजीने जिस व्यक्तिके हाथ अँगरखा भेजा था, उसने उसे लेजाकर भंडारीके हाथमें दे दिया और भंडारीने उसे बिछाकर ऊपरसे अच्छे-अच्छे और वस्त्र उसके ऊपर रख दिये। परन्तु ठाकुरजी तो अपने भक्तोंसे बड़ा स्नेह करते हैं। अपने प्रिय भक्तके उपहार का यह अपमान देखकर आप व्याकुल हो उठे और श्रीविट्ठलनाथजीसे बोले—"हम जाड़ेसे ठिठुर गये हैं; शीघ्र ही कुछ उपाय करो।" गुसाईंजीने शीघ्र ही बड़े सुन्दर-सुन्दर वस्त्र आपको उढ़ाये, परन्तु ठंड दूर नहीं हुई। प्रभुने फिर वही बात दुहराई, तो गुसाईंजीने अँगीठी जलाकर आगे रख दी, लेकिन जाड़ा दूर नहीं हुआ। गुसाईंजीने प्रभुके श्रीमुखसे जब यह सुना, तो वे लज्जासे गड़ गए, क्योंकि वे तो सब उपाय कर चुके थे। कुछ समय तक विचारने

के बाद गुसाईंजीने सेवकको बुलाकर पूछा—"किस-किस की जड़ावर आई है ?" कोठारीने, जिस-जिसने रजाइयाँ और रुईके अन्य कपड़े भेजे थे, सबके नाम सुना दिए—केवल त्रिपुरदासजी का नाम नहीं सुनाया ।

भक्ति-रस-बोधिनी

"सुनो न त्रिपुरदास!" बोल्यो "धन नास भयो, मोटो एक थान आयो राख्यो है बिछाय कै ।"
"ल्यावो बेगि याही छिन", मन को प्रवीन जानि ल्यायो दुख मानि, धोति लई सो सिवाय कै ॥
अंग पहिराई, सुखदाई, कापै गाई जाति, कही तब बात "जाड़ो गयो भारी भाय कै ।"
नेह सरसाई, लै दिखाई, उर आई सबै ऐसी रसिकाई हूदै राखी है बसाय कै ॥३४३॥

अर्थ—गुसाईंजीने कहा—"त्रिपुरदासका नाम तो इनमें नहीं आया ?" कोठारीने कहा—"उसका तो सर्वस्व नष्ट होगया । मोटे कपड़ेका एक थान भेजा था, सो उसे मैंने वस्त्रोंके नीचे बिछानेके काममें ले लिया है" । गुसाईंजीने तुरन्त आज्ञा दी—"थान को इसी समय जल्दी लाओ ।" उनके प्रवीण (अनुभूति-प्रवण) मनने सारा रहस्य समझ लिया था । कोठारी उदासीनता-भरे मनसे थान को ले आया । गोस्वामीजीने उसी समय उसे सिलवाया और श्रीअंग के धारण कराया । ठाकुरजीको इसे पहिनते ही महान् सुखका अनुभव हुआ । उस सुखका वर्णन कौन कर सकता है ? ठाकुरजी बोले—"अब हमारा जाड़ा दूर हुआ ।" भगवानने गरीब भक्तके उपहारको इस प्रकार अपनाकर अपने स्नेहकी सरसताको प्रकट किया । सबको विश्वास होगया कि प्रभु श्रीनाथजीके हृदयमें अपने भक्तोंके प्रति इतना प्रेम है ।

मूल (छप्पय)

(श्रीविट्ठलेश-सुत)

श्रीगिरधर जू सरससील, गोबिंद जु साथहि ।
बालकृष्ण जसबीर, धीर श्रीगोकुलनाथहि ॥
श्रीरघुनाथ जु महाराज, श्रीजदुनाथ हि भजि ।
श्रीघनस्याम जु पगे प्रभू अनुरागी सुधि सजि ॥
ए सात प्रगट बिभु भजन जगतारन तस जग गाइयै ।
(श्री) बिठ्ठलेस-सुत सुहृद श्रीगोबर्धन धर ध्याइयै ॥८०॥

अर्थ—गोस्वामी श्रीविट्ठलनाथजीके सात पुत्र हुए । इनमें (१) श्रीगिरिधरजीका स्वभाव अत्यन्त विनयी था । (२) श्रीगोविन्दजी भी उन्हीं–जैसे थे । (३) श्रीबालकृष्णजी परम यशस्वी थे । (४) श्रीगोकुलनाथजी प्रकृतिके अत्यन्त धीर थे । (५) श्रीरघुनाथजी महाराज, (६) श्रीयदु-नाथजी, (७) श्रीघनश्यामजी भगवानके प्रेममें डूबे हुए, भक्तोंसे अनुराग रखनेवाले थे । ये

सातों पुत्र प्रभुकी साक्षात् विभूति, हरि-भजनमें प्रवीण और संसारका उद्धार करने वाले थे। सुहृद् श्रीगोवर्धनधारी साक्षात् श्रीकृष्णचन्द्रके रूपमें इनका ध्यान करना चाहिए और यश गाना चाहिये।

(कहते हैं, श्रीविट्ठलनाथजीके प्रत्येक पुत्रमें पाँच वर्षकी अवस्था तक भगवदीय अंश स्पष्ट रूपसे विद्यमान रहता था। इस प्रकार ३५ वर्ष तक लगातार श्रीविट्ठलनाथजीने पुत्रोंके रूपमें प्रभुको वात्सल्य भावसे लाड़ लड़ाया।)

'भक्तदानगुण चित्रनी' के आधारपर श्रीरघुनाथजीका चरित नीचे दिया जाता है—

श्रीरघुनाथजी—एक बार श्रीरघुनाथजी दिल्लीमें गए और वहाँ बड़े ठाट-बाटसे रहने लगे। उस नगरमें श्रीवल्लभ-सम्प्रदायके दीक्षित कायस्थ, क्षत्रिय और वैश्य रहते थे। संयोगसे जिस भक्तके घर में आप वहाँ ठहरे थे, उसका पुत्र मर गया। जब श्रीरघुनाथजीने उसके परिवारके मनुष्यों को आर्त-स्वरसे विलाप करते देखा तो उन्हें दया आ गई और आँखोंसे आँसू बरसने लगे। अपने भक्तको दुखी देखकर भगवानसे न रहा गया गया। उन्होंने रघुनाथजीसे कहा—"तुम अपने हाथसे इस मृत पुत्रका स्पर्श कर दो तो यह जी उठेगा।" श्रीहरिकी यह आज्ञा केवल रघुनाथजीको ही सुनाई पड़ी। उन्होंने जैसे ही मरे हुए बालकका स्पर्श किया कि वह जिन्दा होगया। सब मनुष्य इस चमत्कारको देखकर आश्चर्यमें डूब गए।

मूल (छप्पय)

श्रीकृष्णदासजी

श्रीवल्लभ गुरुदत्त भजन-सागर गुन-आगर।
कवित नोख निर्दोष नाथ-सेवा में नागर॥
बानी बंदित बिदुष सुजस गोपाल अलंकृत।
ब्रजरज अति आराध्य वहै धारी सर्वसु चित॥
सान्निध्य सदा हरिदास बर गौर स्याम दृढ़ व्रत लियो।
गिरिधरनि रीझि कृष्णदास कौं नाम माँझ साझौ दियो॥८१॥

अर्थ—श्रीकृष्णदासजी अपने गुरु श्रीवल्लभाचार्यजी द्वारा चलायी गई भजनकी प्रणालीके समुद्र थे और भक्तमें जितने गुण होने चाहिये उन सब की खानि थे। आपकी कविता अनुपम तथा दोषोंसे रहित होती थी। आप अत्यन्त विदग्धता-पूर्वक श्रीनाथजीकी सेवा करते थे। आपकी कवित्वमयी वाणीका विद्वानोंमें आदर था, क्योंकि उसमें गोपालकी लीलाका वर्णन होता था। आप ब्रज-रजकी आराधना करते थे और सर्वतोभावेन उसे शरीरमें लगाते थे। भगवानके भक्तोंके संसर्गमें आप रहते थे और राधाकृष्णकी सेवा करनेका आपने दृढ़ नियम धारण

किया था। भगवानने आप पर प्रसन्न होकर अपने नामका आपको साझीदार बनाया, अर्थात् कृष्णदास नाम रक्खा।

भक्ति-रस-बोधिनी

प्रेम रस रास कृष्णदास जू प्रकाश कियौ, लियौ नाथ मानि सो प्रमान जग गाइयै।
दिल्ली के बजार में जलेबी सो निहारि नैन, भोग लै लगाई लयी विद्यमान पाइयै॥
राग सुनि भक्तिनी कौ भये अनुराग-बस, ससिमुख लाल जू कौं आइ कै सुनाइयै।
देखि रिझवार रीझ निकट बुलाइ लई, लई संग चले, जग लाज को बहाइयै॥३४४॥

अर्थ—यह बात संसारमें प्रसिद्ध है कि श्रीकृष्णदासजीने लोगोंको प्रेम-रसकी अनुभूति कराई और ठाकुर श्रीनाथजीने आपको सच्चा भक्त करके अपनाया—(अथवा आपने "प्रेमतत्त्व-निरूपण" नामक ग्रन्थ लिखा जिसे श्रीनाथजीने स्वयं मान्यता प्रदान की)।

एक बार आप दिल्लीके बाजारमें गये। वहाँ आपने जलेबियाँ बिकती देखीं। आपने वहीं उन जलेबियोंका मानसी-भोग ठाकुरजीको लगाया। उधर श्रीनाथजीके मन्दिरमें जब भोग उतारा गया, तो अन्य सामग्रियोंमें जलेबियोंका थाल भी पुजारियोंने देखा। ठाकुरजीने श्रीकृष्णदासजीके मानसी-भोगको अपना लिया था।

एक दूसरी घटना इस प्रकार कही जाती है कि एक दिन किसी वेश्याका गाना सुन कर आप उसपर रीझ गए और प्रेमके आवेशमें भरकर आपने उससे कहा—"चन्द्रमाके समान मुखवाले मेरे लालजूको गाना सुनानेके लिए मेरे साथ चलो।" वेश्याने सोचा, यह अवश्य कोई रसका मर्मज्ञ है और उनके साथ चल दी। आप भी लोक-लज्जाको तिलांजलि देकर वेश्याको अपने साथ ले आये।

भक्ति-रस-बोधिनी

नीके अन्हवाय, पट आभरन पहिराय, सौंधौं हू लगाय, हरि मन्दिर में ल्याये हैं।
देखि भई मतवारी, कोनी लै अलापचारी, कह्यो "लाल देखे?" बोली "वैसे, मैं ही भाये हैं॥
नृत्य, गान, तान भाव भारी मुसक्यान, दृग रूप लपटान, नाथ निपट रिझाये हैं।
ह्वै कै तदाकार, तन छूट्यौ अंगीकार करी, धरी उर प्रीति, मन सब के भिजाये हैं॥३४५॥

अर्थ—वेश्याको ब्रजमें लाकर श्रीकृष्णदासजीने उसे स्नान करवाया, दूसरे वस्त्र-आभूषण पहिननेको दिये, इत्र आदि सुगन्धित द्रव्य लगवाये और तब उसे ठाकुरजीके दरबार में लाये। श्रीनाथजीके मनमोहक रूपके दर्शन करते ही वेश्या अपनी सुध-बुध खो बैठी और अलापचारी करके नाचने लगी। उसे इस प्रकार प्रेम-विह्वल देखकर आपने पूछा—"मेरे लालाको तूने देखा ?" वेश्याने उत्तर दिया—"देखा ही नहीं, मैंने उनपर अपना सर्वस्व न्यौछावर भी कर डाला है।"

वेश्याने नाचा, गाया, भगवत्-प्रेममें सराबोर होकर तानें सुनाईं, मुसकराई और ठाकुरजी के नेत्रोंकी छबिमें मानों लिपट कर रह गई। इस प्रकार भगवानको अपने शुद्ध प्रेम और कला

से रिझाकर वह तदाकार होगई—उसकी पृथक् जीवन-सत्ता नष्ट होगई और प्रेमकी चरमावस्था में पहुँचकर उसका शरीर छूट गया। भगवानने अपनी इस भगतिनको अङ्गीकार किया। इस वेश्याने अपने हृदयमें प्रभुके प्रेमको स्थान देकर मन्दिरमें उपस्थित सब लोगोंके हृदयोंको भक्ति-रससे रँग दिया।

भक्ति-रस-बोधिनी

आये सूर सागर सो कही, "बड़े नागर हौ, कोऊ पद गावौ, मेरी छाया न मिलाइयै।"
गाये पाँच-सात, सुनि जान मुसकात, कही भलै जू प्रभात आनि करि कै सुनाइयै॥
परचौ सोच भारी, गिरिधारी उर धारी बात, सुन्दर बनाय सेज धरचौ यों लखाइयै।
आय कै सुनायौ, सुख पायौ, पच्छपात लै बतायौ, हूं मनायौ रंग छायौ, प्रभू पाइयै॥३४६॥

अर्थ—श्रीकृष्णदासजी सूरदासजीसे मिले, तो उन्होंने कहा—"सुना है, आप पद-रचना में बड़े प्रवीण हैं। कृपाकर कोई पद बनाकर सुनाइये, किन्तु उसमें मेरे किसी पदकी छाया न आने पावे।" श्रीकृष्णदासजीने पाँच-सात पद गाकर सुनाये, पर सूरदासजी उनमें अपने पदोंका आभास पाकर केवल मुस्करा दिए और बोले—"अच्छा, कल प्रातःकाल आकर सुनाइएगा।" इसपर श्रीकृष्णदासजी चिन्तामें पड़ गए। यह बात प्रभु गिरधारीने भाँप ली और (भक्तकी चिन्ताको दूर करनेके लिए) एक नया पद बनाकर श्रीकृष्णदासजीके बिछावन के नीचे रख दिया। श्रीकृष्णदासजी यह देखकर बड़े प्रसन्न हुए। आपने उस पदको लाकर सूरदासजीको सुनाया। सूरदासजी सुनकर अत्यन्त आनन्दित हुए और कहने लगे—"प्रभुने आपके साथ पक्षपात किया है जो आपके लिए ऐसा सुन्दर पद स्वयं बना दिया है।" जो कुछ भी हो, भगवानकी ऐसी कृपा देखकर दोनों भक्त बड़े सुखी हुए। अब तक यह पद भक्त-जनों द्वारा गाया जाता है।

यह पद इस प्रकार है—

आवत बनै कान्ह गोप बालक संग नेचुकी खुर रेनु छुरित अलकावली।
भौंह मनमथ चाप बक लोचन बान सीस सोभित मोर चन्द्रावली॥
उदित उडुराज सुन्दर सिरोमनि बदन निरखि फूली नवल युवति कुमुदावली।
अरुन सकुचत अधर बिंबफल उपहसत कछुक परगट होत कुंद दसनावली॥
स्रवन कुंडल तिलक भाल बेसरि नाक कंठ कौस्तुभमनि सुभग त्रिवलावली।
रत्न हाटक खचित उरसि पद कनक पांति बीच राजत सुभग झलक मुक्तावली॥
वलय कंगन बाजुबंद आजानु भुज मुद्रिका करतल बिराजत नखावली।
कुनित कर मुरलिका अखिल मोहत बिस्व गोपिका जन मनसि ग्रंथित प्रेमावली॥
कटि छुद्र घंटिका कनक हीरामई नाभि अंबुज बलित भृंग रोमावली।
गाइ कबहुँक चलत भक्त हित जानि प्रिय गंड मंडल रचित स्रम जल कनावली॥
पीत कौसेय पट धार सुंदर अंग बजत नूपुर गीत भरत सब्दावली।
हृदय कृस्नदास बलि गिरिधरन लाल की चरन नख चंद्रिका हरत तिमिरावली॥

भक्ति-रस-बोधिनी

कुवाँ में खिसिल देह छूटि गई, नई भई, भई यों असंका कछु औरे उर आई है।
रसिकन मन दुःख जानि सो सुजान नाथ दिया दरसाय, तन ग्वाल सुखदाई है॥
गोवर्धन तीर कही "आगे बलबीर गये श्रीगुसाई ओर सों प्रनाम" यों जनाई है।
धन हू बतायो, खोदि पायो बिसवास आयो, हिये सुख छायो, सेक पंक लै बहाई है॥३४७॥

अर्थ—एक बार श्रीकृष्णदासजी कुएँमें खिसक गए और आपका प्राणान्त होगया। तत्क्षण ही आपको नवीन देह मिल गई, किन्तु लोगोंको यह शंका हुई कि आपकी अकाल मृत्यु होगई है। भगवानने जब देखा कि प्रेमी भक्तोंके हृदयको इस घटनाके कारण बड़ी ठेस पहुँची है तो उन्होंने लोगोंको साक्षात् दिखा दिया कि श्रीकृष्णदासजी गोवर्धन-पर्वतकी तल-हटीमें यह कहते चले आरहे हैं 'कि आगे बलवीर गए हैं, मैं उनके पीछे-पीछे जाता हूँ; गुसाईंजीसे मेरा प्रणाम निवेदन करना।' आपने किसी स्थानपर गड़ा हुआ धन भी बताया (और उसे साधु-सेवामें लगा देनेकी अभिलाषा प्रकट की)। बताया गया स्थान खोदा गया तो द्रव्य मिल गया। अब सब लोगोंको विश्वास होगया और अकाल-मृत्युकी शंका रूपी कीचड़ धुलकर साफ होगई। सबका मन प्रसन्न होगया।

विशेष वक्त—यह वही कृष्णदासजी अधिकारी हैं जिनका उल्लेख गोस्वामी श्रीविट्ठलनाथजीके चरितमें किया गया है। आप श्रीवल्लभाचार्यजीके शिष्य और अष्टछापके कवियोंमेंसे एकतम थे। आपका जन्म गुजरातके 'चिलोतरा' नामक गाँवमें कुनबीके घर हुआ था। ये जातिके शूद्र थे, परन्तु आचार्यके कृपापात्र होनेके कारण मन्दिरके प्रधान मुखिया होगए थे। श्रीवल्लभाचार्यके ज्येष्ठ पुत्रके तिरोधानके उपरान्त उत्तराधिकारके प्रश्नको लेकर कृष्णदासजीने आचार्य श्रीविट्ठलनाथजीको मन्दिरमें घुसनेसे रोक दिया था। गोस्वामीजीके मित्र बीरबलने इन्हें, इसपर, कैद कर दिया। बादमें श्री विट्ठलनाथजी ने इन्हें छुड़ाया।

आपका लिखा हुआ 'जुगलमान-चरित्र' नामक छोटा-सा ग्रन्थ मिलता है। आपने राधाकृष्णके प्रेमको लेकर बड़े सुन्दर पद लिखे हैं। कहते हैं, जिस पदको गाते हुए श्रीकृष्णदासजीने शरीर छोड़ा था वह इस प्रकार है :—

मो मन गिरिधर छबि पर अटक्यो।
ललित त्रिभंग चाल पै चलि कै चिबुक चारु गड़ि अटक्यो॥
सजल स्याम घन बरन लीन ह्वै फिरि चित अनत न भटक्यो।
कृष्णदास किये प्रान निछावर यह तन जग सिर पटक्यो॥

मन्दिरके अधिकार तथा सुव्यवस्थाके कारण वल्लभ-सम्प्रदायके इतिहासमें श्रीकृष्णदासजीका महत्त्व और ख्याति इतनी बढ़ गई है कि आज तक श्रीनाथजीके स्थानपर 'कृष्णदास अधिकारी' की ही मोहर लगती है।

श्रीनाथजीका नवीन मन्दिर-प्रवेश सं० १५६६ की अक्षय तृतीयाको हुआ था। श्रीकृष्णदासजी

इस घटनासे कुछ ही दिन पूर्व श्रीवल्लभाचार्यजीकी शरणमें आये थे। कहते हैं, इस समय उनकी अवस्था १३ वर्ष की थी। इस हिसाबसे इनका जन्म-काल १५५२ वि० के आस-पास आता है। संवत् १६२१ तक इनके जीवित रहनेका अनुमान लगाया जाता है।

मूल (छप्पय)

(श्रीवर्धमान तथा श्रीगंगलकी)

श्री भागौत बखानि अमृतमय नदी बहाई।
अमल करी सब अवनि तापहारक सुखदाई॥
भक्तन सौं अनुराग दीन सौं परम दयाकर।
भजन जसोदानंद संतसं घट के आगर॥
भीष्म भट्ट अंगज उदार कलियुग दाता सुगति के।
वर्धमान गंगल गँभीर उभै थंभ हरि भगति के॥८२॥

अर्थ—श्रीवर्धमानजी और श्रीगंगलजी श्रीमद्भागवतकी कथा कहते समय अमृतकी सरिता प्रवाहित कर देते थे। अपनी निर्मल वाणीसे आप दोनोंने समस्त पृथ्वीको पाप-रहित कर दिया। आप लोगोंके तीनों प्रकारके तापोंको दूर करनेवाले थे। भक्तोंसे प्रेम करते थे, दीनों पर दया रखते थे, यशोदाके पुत्र श्रीकृष्णचन्द्रके भजनमें मग्न रहते थे और सन्तोंका समागम करनेके लिए प्रसिद्ध थे। दोनों भाई श्रीभीष्मभट्टके पुत्र थे, स्वभावके अत्यन्त उदार और गंभीर थे तथा कलियुगमें जीवोंको सद्गति प्रदान करनेवाले थे। इस प्रकार श्रीवर्धमान और श्रीगंगलजी दोनों हरि-भक्तिके स्तम्भ थे।

इस छप्पयपर श्रीप्रियादासजीकी टीका नहीं मिलती है। श्रीबालकरामजीकी टीकाके आधार पर उनकी गाथा संक्षेपमें नीचे दी जाती है—

बरधमान गंगल द्वै भाई। निंबादित्य पधिति सुखदाई।

इन दोनों भाइयोंके पिता श्रीभीषमभट्टजीने वयोवृद्ध गुरुदेवकी बहुत वर्षों तक सेवा की। अन्त में गुरुदेव आपसे प्रसन्न होगए और आशीर्वाद दिया—"तुम्हारे परम भगवद्भक्त दो पुत्र-रत्न पैदा होंगे। श्रीभीषमभट्टजी घर आए और कालान्तरमें गुरुके आशीर्वादसे दो पुत्र-रत्न पैदा हुए। वयस्क और विद्वान् होनेपर दोनों भाई पर्यटन करनेके लिए चल दिए। आपके साथ बहुत-से साधु-सन्त थे। घूमते-फिरते आप ऐसे गाँवमें जा पहुँचे जहाँ शैवोंका बड़ा आतङ्क था, यहाँ तक कि वहाँका ब्राह्मण-समाज भी उन्हींका शिष्य था। एक ब्राह्मण भगवद्भक्त था भी सो अन्य लोग उसकी हँसी उड़ाते थे और महान् अनादर किया करते थे। उस ब्राह्मणकी ऐसी दयनीय दशा देखकर श्रीगंगलभट्टजीको दया आगई और वे अन्य ब्राह्मणोंको समझाते हुए बोले—"तुम इस कुपथमें क्यों पड़े हो? कल्याण तो

प्रभुकी भक्ति करने से होता है, अतः तुम सबको परमवत्सल भगवान श्रीसर्वेश्वरकी शरणमें जाना चाहिए।"

ब्राह्मणोंने उत्तर दिया—"आप सब ढोंगी हैं, सच्चे सन्त तो हमारे गुरु सेवड़ा हैं जिनके तेजके सामने बड़े-बड़े सन्त भी हत-प्रभ हो जाते हैं, यहाँ तक कि भयसे उनका पेशाब निकल जाता है।" ब्राह्मण अपनी बात समाप्त भी न कर पाए थे कि उनके कपड़े बिगड़ गए, वे अपने मल-मूत्रके वेगको कैसे भी न रोक सके। उधर उनके गुरु सेवड़ाओंके मस्तक अपने आप कट-कट कर जमीनपर गिरने लगे।

जब ब्राह्मण और सेवड़ों ने बचनेका कोई उपाय नहीं देखा तो सब श्रीगंगल भट्टजीके चरणोंमें आ गिरे और उनसे क्षमा-याचना करते हुए उन्होंने सदा भगवद्भक्ति एवं साधु-सेवाकी प्रतिज्ञा की। उनकी प्रार्थनापर श्रीगंगल भट्टजीने उन्हें क्षमा कर दिया और मरे हुए सेवड़ोंको जीवित कर दिया। सब लोगोंको भट्टजीने अपना शिष्य बनाया और उन्हें भगवद्भक्तिका उपदेश दिया।

श्रीवर्द्धमानजी भागवतकी बड़ी सुन्दर कथा कहा करते थे। एक दिन जब आप कथा कह चुके तो एक अंधी बुढ़िया आपके पास आकर बोली—"महाराज! यदि मुझे भी दिखाई देता होता तो मैं भी आप-जैसे सन्तोंके दर्शनका सौभाग्य प्राप्त करती।" श्रीवर्द्धमानजीको बुढ़ियापर दया आगई। उन्होंने श्रीठाकुरजीके चरणामृतकी कुछ बूँदें बुढ़ियाकी अंधी आँखोंमें डाल दीं। अचानक उसकी आँखोंमें ज्योति आगई और उसे सब कुछ दिखाई देने लगा। दर्शकोंकी जय-जयकारसे आकाश गूँज उठा।

एक बार एकादशीका फलाहार बन चुकनेपर साधुओंकी पंगत बैठने ही वाली थी कि बाहरसे दस-बीस सन्त और आगए और आपसे बोले—"महाराज! कुछ भोजन कराइए। हमको दो दिनसे कुछ भी खानेको नहीं मिला है। वर्द्धमानजीने सब फलाहार उनको खिला दिया और आप अपने परिकर-सहित भूखे ही रह गए।

श्रीमद्भागवतकी कथा समाप्तिपर जो कुछ भी भेंट चढ़ती उसे आप साधु-सन्तोंकी सेवामें ही लगा देते थे। वास्तवमें ये दोनों भाई भक्तिके मूर्तिमान् रूप, उदार और महादानी थे। बालकरामजीने इनकी प्रशंसा करते हुए लिखा है—

गंगल मंगल दानि हैं वृद्धमान सुखखानि।
प्रणमत बालकराम निति हरिजन मोद बिधान॥

(भक्तदाम गुण चित्रनी, पृ० २५६)

इति-वृत्त—श्रीगंगलजी एवं श्रीवर्द्धमानजी दोनों निम्बार्क-सम्प्रदायके आचार्य श्रीकेशवाचार्यजी के प्रमुख शिष्य थे। आपके पिता श्रीभीषम भट्टजीने निम्बार्क-सम्प्रदायके २६ वें आचार्य श्रीगोपीनाथ भट्टजी से दीक्षा ग्रहण की थी। श्रीनाभाजीने अपने छप्पयमें वर्धमानजीका नामोल्लेख पहले किया है और गंगलजीका बाद में। इनके विपरीत बालकरामजीने गंगलजीका चरित्र पहले लिखा है और वर्धमानजी का उनके पश्चात्। ऐसी दशामें छोटे-बड़ेकी जिज्ञासा पैदा होना स्वाभाविक ही है। श्रीनाभाजी द्वारा नामोल्लेख-क्रमके आधारपर यह अनुमान लगाया जाता है कि वर्द्धमानजी बड़े भाई थे जो गृहस्थाश्रममें रहकर वैष्णव-धर्मका प्रचार किया करते थे और गंगलजी छोटे भाई थे जिन्होंने नैष्ठिक ब्रह्मचर्य-व्रत

की दीक्षा लेकर निम्बार्क-सम्प्रदायके आचार्य-पद को विभूषित किया था। इसीलिए आचार्य-परम्परामें प्रधान गणना गंगलभट्टजीकी ही हुई। सम्भव है, वर्धमानजीकी शिष्य-परम्परा भी पृथक् चली हो।

समय—श्रीवर्धमान एवं गंगलजीका समय अनुमानतः विक्रमकी बारहवीं शताब्दीका उत्तरार्ध होना चाहिए। 'प्रस्थानत्रयी' के भाष्यकार दिग्विजयी श्रीकेशवकाश्मीरि भट्टाचार्यका समय विक्रम की १३ वीं शताब्दी माना जाता है और गंगलाचार्यने केशवकाश्मीरिके बाद ही आचार्य-पदको अलंकृत किया था; अतः श्रीवर्धमान एवं गंगलजीका समय अनुमानतः विक्रमीय बारहवीं शताब्दीका उत्तरार्ध होना चाहिए। श्रीराघवदासजी बालबाल आदि अन्य भक्तमालकारोंने भी आपके सम्बन्धमें और अधिक परिचय नहीं दिया है। ध्रुवदासजीने आपकी व्रज-निष्ठाके सम्बन्धमें कहा है—

वर्धमान श्रीभट्ट अरु गंगल व्रज वृन्दावन गायौ।
करि पुनीत सर्वोपरि जान्यौं तासे चित्त लगायौ॥ (भक्तनामावली)

बालबालने आपकी प्रेम-प्रतीतिका परिचय इस प्रकार दिया है—

गंगल गंभीर सुख सीर सब निरपख ख्याल बिहद्दला।
प्रेम नेम भगवत भजन यह नवध्या जन सिषला॥ (छप्पय सं० २७६)

मूल (छप्पय)

(श्रीक्षेम गुसाईंजी)

रघुनंदन को दास प्रगट भूमंडल जानै।
सर्बस सीताराम और कछु उर नहिं आनै॥
धनुष बान सों प्रीति स्वामि के आयुध प्यारे।
निकट निरंतर रहत होत कबहूँ नहिं न्यारे॥
सूरबीर हनुमत सदृस परम उपासक प्रेम भर।
'रामदास' परताप तें खेम गुसाईं खेमकर॥८३॥

अर्थ—यह सारा संसार जानता है कि श्रीक्षेमगुसाईंजी श्रीराघवेन्द्रजीके परम भक्त थे। श्रीसीतारामजीके सिवा अन्य किसी देवी-देवताको आप अपने हृदयमें स्थान नहीं देते थे। आराध्यदेव श्रीरामचन्द्रजीके धनुष-बाण आदि शस्त्र आपको अत्यन्त प्रिय थे। आपका मन अपने इष्टसे कभी अलग नहीं होता था। शूरवीर श्रीहनुमानजीके समान आप श्रीरामजीके परम उपासक थे। आपके गुरु श्रीरामदासजी थे। उनकी कृपासे आप संसार-भरका कल्याण करने में समर्थ हुए।

'भक्तदामगुण चित्रनी' टीकाके आधारपर श्रीक्षेम गुसाईंका चरित्र यहाँ दिया जाता है—

क्षेम गुसाईं भगवान् श्रीराघवेन्द्रके अनन्य उपासक थे। एक बार अवधूतका वेश बनाकर आपके

पास हनुमानजी आए और स्वर्णमयी भैरवकी मूर्ति दिखलाते हुए बोले—"यह स्वर्णमयी प्रतिमा अत्यन्त चमत्कारमयी है । इसके हाथ-पैरोंको काट दिया जाय तो फिर यह ज्यों की त्यों हो जाती है ।" इतना कहकर अवधूतने तुरन्त प्रतिमा के हाथ-पैर काटकर स्वर्णका ढेर लगा दिया । कटे हुए अङ्ग भी पुनः ज्यों के त्यों हो गये । अवधूत-वेशधारी हनुमानजी फिर बोले—"आप इस प्रतिमाको अपने यहाँ पूजामें रखिए ; क्योंकि आवश्यकता पड़नेपर इस (प्रतिमा) के हाथ-पैर काटकर चाहे जितना स्वर्ण प्राप्त किया जा सकता है । यह सुन कर क्षेम गुसाईं भगवान श्रीरामचन्द्रजीके प्रति अनन्यता व्यक्त करते हुए बोले—

आनदेव नहीं मो मन भावै । अनहू की नहीं आस रखावै ॥
बिन रघुनाथ त्रिलोकी राजू । मोहि न भावत सब सुख साजू ॥
आन छुवत लागत अपराधू । जेते राम उपासक साधू ॥
ज्यों इक पुरखी नारी होई । पति बिन आन छुवै नहीं सोई ॥
तुम अवधूत लखत नहि प्रीतिहि । राम उपासक की दृढ़ नीतिहि ॥

यह सुनकर अवधूत-वेशधारी हनुमानजी बोले—"देखिए महाराज ! इस प्रतिमा द्वारा प्राप्त स्वर्णसे रसोई बनेगी और उससे आपके आराध्य श्रीरामचन्द्रजीका भोग लगेगा और वे बड़े प्रसन्न होंगे । मैं समझता हूँ, यदि यह प्रतिमा भी आपके मन्दिरमें ठाकुरजीके सिंहासन पर एक किनारे पड़ी रहे, तो कोई हानि नहीं होगी और आपकी अनन्यता पूर्ववत् बनी रहेगी ।"

इस बार श्री क्षेम गुसाईंजीसे नहीं रहा गया । वे अत्यन्त क्रुद्ध होकर बोले—"अरे तू कौन कपटी है जो इस प्रकारका धर्म सिखानेके लिए मेरे पास आया है और मना करने पर भी अंटशंट बकता चला जारहा है ?" इतना कहकर जब आप मारनेके लिए अवधूत-वेशधारी हनुमानजीके पीछे दौड़े तो वे अपने स्वरूपमें आकर बोले—

धन्य-धन्य तुम अतिश उपासी । सीताराम चरण रति रासी ॥
मैं तब भक्तिहि देख रिझाना । रामदास मेरे मन माना ॥

श्रीहनुमानजीने आपसे वर मांगनेको कहा तो आप बोले—"महाराज ! वैसे तो मेरी कुछ भी इच्छा नहीं, फिर भी आप यदि कुछ देना ही चाहते हैं तो यह दीजिए कि जब कभी मेरे मनमें आपके दर्शन की अभिलाषा जाग्रत हो, तभी आप कृपा कर मुझे दर्शन देकर कृतार्थ करें ।" यह सुनकर श्रीहनुमानजी बड़े प्रसन्न हुए और 'एवमस्तु' कहकर अन्तर्धान हो गए ।

एक बार श्रीक्षेम गुसाईं के मनमें अपने प्रभु श्रीराघवेन्द्रके दर्शनकी उत्कट अभिलाषा प्रकट हुई । प्रेमावेशके कारण आपकी आँखोंसे आँसुओंका प्रवाह उमड़ चला । आपके हृदयका सच्चा प्रेम देखकर श्री हनुमानजीको बड़ा आनन्द हुआ और उनकी कृपासे आपको श्रीराघवेन्द्रके दर्शनोंका लाभ प्राप्त हुआ । श्रीसीतारामके मनोहर रूपको देखकर आप ठगे से रह गए और उनके धनुष-बाणको देखकर तो इतने मोहित हो गए कि उन्होंने उसे माँग ही लिया । श्रीराघवेन्द्रके अन्तर्धान हो जाने पर आप धनुष-बाण को देखकर ही धैर्य धारण करते थे ।

एक बार ऐसा हुआ कि कोई चोर धनुष-बाणको चुरा ले गया । उनके विरहमें व्याकुल होकर

आपके द्वारा जब अन्न-जल त्याग दिया गया तो सेवक लोगोंने कहा कि धनुष-बाण तो दूसरे आ जायेंगे, आप भोजन कीजिए। इसपर आप बोले—

प्रभु धनु सहस उही मन भाया। और न मोहू लगत सुहाया ॥
उनही को पूजों दृग देखों। मम स्वामी के आयुध लेखों ॥

उनकी ऐसी अनन्यता देखकर धनुष-बाण स्वयं श्रीक्षेम गुसाईं के आश्रमपर आकर गिर गए। श्रीबालकरामजी कहते हैं कि यह सब भगवान श्रीरामचन्द्रजीकी कृपाके द्वारा ही सम्भव हुआ था।

श्रीक्षेम गुसाईं के किसी शिष्यने एक बार धनुष-बाण का परिचय (शक्तिकी परीक्षा) लेना चाहा। वह रातको चुपचाप आया और श्रीरामजी द्वारा प्रदत्त धनुष-बाणको चुराकर ले जाना चाहा, किन्तु वह उनको जमीन से अधर भी न कर सका। उसने धनुष-बाण न उठनेकी बात गुरुदेव श्रीक्षेम गुसाईं से कही। वे बोले—"तुमने चोरीकी भावनासे ऐसा किया था, इसलिए धनुष-बाण इतना भारी लगा। अबकी सद्भावसे जाकर उठाओ।" शिष्यने ऐसा ही किया। इस बार धनुष इतना हलका हो गया कि हाथका इशारा पाते ही उठ गया। अब वह श्री क्षेम गुसाईंकी महिमाको जान गया।

एक बार कुछ संन्यासी आपके पास आए और व्यर्थ ही आपको छेड़ने लगे। पहले तो आपने उन्हें समझाया और झगड़ा न करने को कहा, किन्तु जब वे न माने तो आपने श्रीहनुमानजीका स्मरण किया। उन्होंने आकर सबको दण्ड दिया। अन्तमें संन्यासियोंको अपनी भूल मालूम पड़ गई। उन्होंने श्रीक्षेमदासजीसे अपने अपराधकी क्षमा माँगी।

एक जाटनी आपकी शिष्या थी। एक बार उसका बच्चा तिजारीके ज्वरसे पीड़ित हो गया। इलाज करने पर भी जब उसका रोग दूर नहीं हुआ तो जाटनी उसे श्रीक्षेमदासजीके पास लाई। उन्होंने थोड़ा-सा चरणामृत बच्चेके मुँहमें डाल दिया। उसी समय वह अच्छा हो गया।

मूल (छप्पय)

(श्रीविट्ठलदासजी)

तिलक दाम सों प्रीति गुनहिं गुन अंतर धारयो।
भक्तन को उत्कर्ष जनम भरि रसन उचारयो ॥
सरल हृदै संतोष जहाँ तहँ पर उपकारी।
उत्सव में सुत दान कियो क्रम दुसकर भारी ॥
हरि गोविंद जै जै गुबिंद गिरा सदा आनंददा।
विट्ठलदास माथुर मुकुट भयो अमानी मानदा ॥८४॥

अर्थ—श्रीविट्ठलदासजीका तिलक और कंठीमालासे बड़ा प्रेम था। आप दूसरोंमें केवल गुण ही देखते थे, दोष नहीं। आपकी जिह्वापर सदा भक्तोंकी महिमाका गान रहा करता था।

आप हृदयके अत्यन्त सरल और सन्तोषी थे और अवसरके अनुसार परोपकार भी करते थे। आपने एक कठिन काम यह किया कि एक उत्सवमें अपने पुत्रको भगवानपर न्यौछावर करके दानमें दे दिया। अपनी वाणीसे आप सदा गोविन्दका नाम इस प्रकार उच्चारण करते थे कि सुननेवाले आनन्दमें विभोर हो जाते थे। माथुर चौबोंके शिरोमणि श्रीविट्ठलदासजी स्वयं तो अभिमान-रहित थे, पर दूसरोंका मान बढ़ानेमें सदा प्रयत्नशील थे।

भक्ति-रस-बोधिनी

भाई उभै माथुर सुराना के पुरोहित हे, लरि मरे आपस में जियौ एक जाम है।
ताको सुत बिट्ठल सुदास, सुख रासि हिये लिये, बैस थोरी भयो बड़ो सेवै स्याम है ॥
बोल्यो नृप सभा मध्य "आवत न विप्रसुत, छिप्र लैके आवौ" कही, कह्यौ "पूजे काम है।"
फेरि कै बुलायौ "करौ जागरन याही ठौर", काहू समझायौ "गावै नाचे प्रेमधाम है ॥३८४॥

अर्थ--श्रीविट्ठलदासजीके पिता दो भाई थे और माथुर (चौबे) वंशमें पैदा हुए थे। दोनों रानाके पुरोहित थे। दुर्भाग्यसे दोनों ही आपसमें लड़कर मर गये--केवल एक पहर जीवित रह सके। उन दोनोंमें से एकके स्वनामधन्य पुत्र श्रीविट्ठलजी थे। पिताकी मृत्युके समय उनकी अवस्था थोड़ी ही थी, पर बालकपनसे ही उन्होंने आनन्दकी राशिको देनेवाले श्यामसुन्दरको अपने हृदयमें बिठा लिया था। एक दिन रानाने दरबारमें उपस्थित लोगोंसे पूछा--"वह ब्राह्मणका लड़का दिखाई नहीं देता; उसे बुलाना चाहिए।"

श्रीविट्ठलदासजीके पास रानाका सन्देश पहुँचा, तो उन्होंने उत्तर दिया--"मेरी सब अभिलाषाएँ पूर्ण होगई हैं।" रानाने दोबारा कहला भेजा--"आज रातको हमारे यहाँ ही कीर्तन कीजिए।" इसपर दरबारमें उपस्थित किसी ईर्ष्यालु व्यक्तिने रानाको समझाया--"विट्ठलदास तो वैरागियोंके साथ नाचने-गानेमें ही लगा रहता है और अपने आपको बड़ा भक्त मान बैठा है।"

भक्ति-रस-बोधिनी

गये सब साधुनि लै, बिनै रंग रँगे सब, राना उठि आदर दै नीके पधराये हैं।
किये जा बिछौना तीनि छतन के ऊपर लै, नाचि गाय आये प्रेम गिरे नीचे आये हैं ॥
राजामुख भयौ सेत, दुष्टनि कौं गारी देत, संत भरि अंक लेत घर मधि ल्याये हैं।
भूप बहु भेंट करी, देह वाही भाँति परी, पाछे सुधि भई, दिन तीसरे जगाये हैं ॥३४६॥

अर्थ--राजाका निमन्त्रण पाकर श्रीविट्ठलदासजी अपनी साधु-मण्डली-सहित राजाके यहाँ पहुँचे। सब सन्तगण विनयके रंगमें रँगे हुए थे। रानाने उठकर उनका आदर किया और सम्मान-पूर्वक सबको बिठलाया। कुछ दुष्टोंके कहनेमें आकर राजाने रात्रिमें कीर्तनके लिये तिमंजिलेकी छतपर बिछावनका प्रबन्ध कर दिया। कीर्तन प्रारंभ होते ही श्रीविट्ठलजी नाचते-नाचते प्रेममें ऐसे बेसुध हो गये कि तिमंजिलेपरसे नीचे आ पड़े। राजाका मुहँ सफेद पड़ गया

और उसने उन दुष्टोंको खूब खोटी-खरी सुनाई जिनके कहने से कीर्तनका प्रबन्ध छतपर किया गया था। शीघ्र ही साथके साधुओंने श्रीविट्ठलजीको गोदमें उठा लिया और घर ले आये। भगवानकी कृपासे आपको चोट तो बिलकुल नहीं लगी, पर तीन दिन तक बेहोश जरूर पड़े रहे। पीछे जब होश आया, तो राजाने अपना अपराध क्षमा कराते हुए उन्हें बहुत-सा द्रव्य भेंटमें दिया।

भक्ति-रस-बोधिनी

उठे जब मात ने जनाय सब बात कही, सही नहीं जात निसि निकसे विचारि कै।
आये यों 'छटीकरा' मैं गरुड़ गोविन्द सेवा करत मगन हिये रहत निहारि कै॥
राजा के जे लोग सु तो ढूँढ़ि करि रहे बैठि, तिया मात आई करें रुदन पुकारि कै।
किये कै उपाय, रही कितौ हाहा खाय, ये तो रहे मँडराय, तब बसी मन हारि कै॥३५०॥

अर्थ—श्रीविट्ठलजीकी मूर्छा जब दूर हुई, तो उनकी माताने उन्हें बतलाया कि किस प्रकार राजाने उनकी परीक्षा लेनी चाही थी। यह सुन कर श्रीविट्ठलजीको बड़ा दुःख हुआ और वे रातको चुपचाप अपने घरसे निकल दिये। घूमते-घामते आप छटीकरा पहुँचे (जहाँ कि यशोदाजीने बालकृष्णकी छठी मनाई थी) और वहाँके मन्दिरमें प्रतिष्ठित गरुड़-गोविन्द जीकी सेवा-पूजामें प्रवृत्त हो गये। प्रभुकी मनोहर छविका पान कर आप दिन-रात मग्न रहते थे। राजाके नौकर-चाकरोंने आपको बहुत खोजा, पर कहीं पता न पाया, तब चुप होकर बैठ गये। कुछ दिनके उपरान्त आपकी माता तथा स्त्री पता लगाती हुई आपके पास पहुँचीं। उन्होंने बहुत विलाप किया, पर आप टससे मस न हुए। हार कर माता तथा पत्नी भी वहीं रहने लगीं।

भक्ति-रस-बोधिनी

देख्यो जब कष्ट तन प्रभु जू स्वप्न दियौ, "आवो मधुपुरी" ऐसें तीन बार भाखियै।
आये जहाँ जाति पाँति छाये कछु और रंग, देख्यो एक खाती साधु संग अभिलाखियै॥
तिया रहे गर्भवती सती मति सोच रती खोद भूमि पाई प्रतिमा सु धन राखियै।
खाती को बुलाय कही "लही यह लेहु तुम", उन पाँय परि कह्यौ रूप मुख चाखियै॥३५१॥

अर्थ—गरुड़गोविन्द (छटीकरा) में रहते हुए श्रीविट्ठलजी बीमार पड़ गये। भगवान ने जब उनका यह शारीरिक कष्ट देखा, तो तीन बार स्वप्नमें आज्ञा दी—"मधुपुरी (मथुरा) जाओ।" प्रभुकी आज्ञाको शिरोधार्य कर आप मथुरा आये, पर वहाँ देखा कि उनकी बिरादरीके चौबे लोग भगवानसे विमुख हो गए हैं तथा और ही रंगमें रँग रहे हैं। आपने उनके बीच रहना ठीक नहीं समझा, अतः एक साधुसेवी हरि-भक्त बढ़ईके घरमें रहने लगे। वहाँ आपको पता लगा कि आपकी पतिव्रता स्त्री गर्भवती है। धनके अभावके कारण अब तो आप चिन्ता में पड़ गए कि गृहस्थका खर्च कैसे चलेगा। संयोगसे एक दिन मिट्टी खोदते हुए आपको

भगवत्-प्रतिमा तथा बहुत-सा द्रव्य मिला। इतने धनका श्रीविट्ठलजी क्या करते? आपने बढ़ईको बुला कर कहा—"यह धन तुम ले लो।" बढ़ई भी परम भागवत था। वह श्रीविट्ठल जीके पैरोंमें गिर पड़ा और बोला—"इस द्रव्यके द्वारा भगवानकी सेवा करनेके अधिकारी तो आप ही हैं।"

साधुओंकी निस्पृहताके सम्बन्धमें श्रीबिहारीदासजीने लिखा है—

> अनपाये धीरज गहे सो बहु और न होय।
> बिहारीदास पाये नहैं धीरज बिरला होय॥

सन्तोंकी त्यागी वृत्तिके सम्बन्धमें एक दृष्टान्त दिया जाता है जो कि इस प्रकार है:—

एक बार बात ही बातमें माया भगवानसे बोली कि 'इस संसारमें मेरा बड़ा आदर है।' श्री मायानाथ हँसकर बोले—"तुम्हारा उसी समय तक आदर होता है जब तक कि लोगोंको मैं नहीं मिलता।" मायाने इस पर कहा—"आपका कथन सत्य है, परन्तु जहाँ मेरा प्रवेश हो जाता है, वहाँ आपको कोई नहीं पूछता। यदि विश्वास न हो तो परीक्षा करके देख लीजिये।" भगवान राजी हो गये। अब दोनों परीक्षा को निकल दिए। भगवानने रूप धारण किया एक वैष्णवका और मायाने जोगिनका। पहुँचे किसी गृहस्थके यहाँ। पहले भगवान गए। घरके मालिकने वैष्णवको आया हुआ देखकर उसका बड़ा स्वागत किया। उसने घरकी पौलीमें एक सुन्दर आसन बिछा दिया और वैष्णव-रूपधारी भगवान उसपर बैठ गये। इसके उपरान्त मायाने प्रवेश किया। उसके कन्धे पर से झोली लटकी हुई थी और हाथमें भिक्षा-पात्र था। वह सीधी घरके अन्दर चली गई और गृह-स्वामिनीसे बोली—"मुझे प्यास लगी है।" जोगिनके अनुपम रूप और माधुर्यको देख कर स्त्री कुछ देर तक ठिठकी खड़ी रही और तब अन्दरसे एक गिलासमें पानी लेकर आ गई। जोगिनने कहा—"हम और किसीके पात्रमें पानी नहीं पीतीं।" यह कह कर उसने अपनी झोलीमें से एक सोनेका पात्र निकाला और पानी पीकर उसे वहीं फेंक दिया। स्त्रीने पूछा—"यह आपने क्यों फेंक दिया?" जोगिन बोली—"जिस बर्तन में हम एक बार जल पी लेती हैं, वह फिर हमारे कामका नहीं रहता।" गृहस्वामिनी लोभके वशीभूत होकर बोली—"आप भोजन करिये। बिना आपका आतिथ्य किये मैं आपको कैसे भी नहीं जाने दूँगी।" जोगिनने कहा—"हम हर एक स्थान पर भोजन नहीं करतीं, केवल वहीं करती हैं जहाँ और कोई न हो।" स्त्रीने कहा—"यहाँ पर तो कोई नहीं है।" जोगिनने पौलीकी ओर इशारा करते हुए कहा—"यह बैठा तो है।"

स्त्रीने तुरन्त अपने पतिसे जाकर कहा—"यह जो आदमी बिठाल रक्खा है, इसे अभी-अभी उठा दीजिए।" पतिने बहुत समझाया कि वह वैष्णव है और भोजन करनेके बाद खुद ही चला जायगा, पर स्त्रीने एक न मानी और लाचार होकर पतिने वैष्णवको उठा दिया।

घरके अन्दरसे बाहर निकल कर माया भगवानसे कहने लगी—"मैं तो पहले ही कहती थी, पर आप नहीं मान रहे थे। अब देख लिया न आपने मेरा चमत्कार?"

अब भगवानकी बारी आई। वे मायाको लेकर किसी विरक्तके आश्रममें पहुँचे। विरक्तने वैष्णव-वेष-धारी भगवानका तो बड़ा आदर किया, पर ज्यों ही जोगिनको अन्दर आता हुआ देखा, त्यों ही

बोला'—'तूने यहाँ आनेका साहस कैसे किया ? निकल यहाँसे, नहीं तो अभी चीमटा उठाता हूँ।" मायाने विरक्तको अनेक प्रकारके हाव-भाव दिखाये, पर वह जरा भी नहीं पसीजा। मायाने जब देखा कि यहाँ दाल नहीं गलेगी, तब उलटे पैरों लौट आई और भगवानसे बोली—"प्रभो! आपने ठीक ही कहा था कि जब तक आपका साक्षात्कार नहीं होता, तभी तक मायाका जादू चलता है, बाद में नहीं।"

भक्ति-रस-बोधिनी

करें सेवा-पूजा, और काम नहिं दूजा, जब फैलि गई भक्ति भये शिष्य बहु भाय कै।
बड़ोई समाज होत, मानों सिन्धु-सोत आये बिबिध, बधाये गुनीजन उठे गाय कै॥
आई एक नटी, गुण रूप धन जटी, जब गावै तान कटी, चटपटी सी लगाय कै।
दिये पट भूषन लै, भूख न मिटत किहूँ, चहूँ दिसि हेरि पुत्र दियो अकुलाय कै॥३५२॥

अर्थ—अब श्रीविट्ठलजीको सिवा भगवानकी पूजा करनेके और कोई काम ही नहीं था। आपकी भक्ति भी जब दूर-दूर तक फैल गई, तो लोग आ-आ कर आपके शिष्य बनने लगे। उनके यहाँ बड़े धूमधामसे समाज होता था और ऐसा लगता था मानों उत्सवके स्रोत (सोते) समुद्रमें आकर गिर रहे हों। अनेक गुणी-लोग वहाँ इकट्ठा होते थे और नृत्य-गानका कार्य-क्रम चलता ही रहता था।

एक दिन एक नर्तकी वहाँ आई। रूप, गुण और धनसे मानों वह जड़ी हुई थी। उसने ऐसा गाया, ऐसा नाचा कि दर्शकोंको चाट-सी लग गई—नृत्य देखते और गान सुनते उनकी तृप्ति नहीं होती थी। श्रीविट्ठलदासजीने प्रसन्न होकर अपने सब बहुमूल्य वस्त्र और भूषण नटीको दे डाले, और इतना कर चुकनेपर भी जब उन्हें सन्तोष नहीं हुआ, तो अपने पुत्र श्रीरंगीरायको भी भगवानपर न्यौछावर कर उसे दे डाला।

भक्ति-रस-बोधिनी

"रंगीराय" नाम ताकी सिष्या एक राना-सुता, भयो दुख भारी नेकु जलहूँ न पीजियै।
कहि कै पठाई वासों "चाहो सोई धन लीजै," मेरी प्रभु रूप मेरे नैननि कूँ दीजियै॥"
"द्रव्य तौ न चाहौं, रीझि चाहौं तन मन दियौ", फेरि कै समाज कियो बिनती कौ कीजियै।
जिते गुनीजन तिनै दिये अनगन दाम, पाछे नृत्य करयौ आप देत सो न लीजियै॥३५३॥

अर्थ—रानाकी एक लड़की रंगीरायजीकी शिष्या थी। उसने जब सुना कि गुरुजीको उनके पिता (श्रीविट्ठलदासजी) ने किसी नटिनीको दे दिया, तो उसे बड़ा कष्ट हुआ और उसने अन्न-जल ग्रहण करना छोड़ दिया। उसने नटिनीसे कहला भेजा—"चाहे जितना धन मुझसे ले लो, परन्तु मेरे प्रभु (गुरु) को, जिनका रूप मेरी आँखोंमें समाया हुआ है, मुझे लौटा दो।" नटिनीने उत्तर दिया—मैं द्रव्यकी भूखी नहीं हूँ; पर किसीपर रीझनेपर अपना सर्वस्व दे सकती हूँ।"

यह सुनकर रानाकी कन्याने श्रीविट्ठलनाथजीसे प्रार्थना कर फिर समाजका आयोजन कर-

वाया। इसमें कई कलाकारोंने भाग लिया। उन सबको रानाकी पुत्रीने खूब पुरस्कार दिए और फिर स्वयं भी नृत्य किया। जब राजकुमारी उसे भी न्यौछावर देने लगी, तो उसने लेनेसे मना कर दिया।

भक्ति-रस-बोधिनी

ल्याई एक डोला मैं बैठाय रंगीराय जू को सुंदर सिंगार, कही बार तेरी आइयै।
कियौ नृत्य भारी, जो विभूति सो तौ वारी, लियौ भरि अँकवारी भेंट किये डार गाइयै॥
"मोहन न्यौछावर मैं भयो मोहि लेहु मति", लियौ उन शिष्य, तन तज्यौ कहा पाइयै।
कह्यौ जू चरित्र बड़े रसिक विचित्रन कौ, जो पै लाल मित्र कियौ चाहौ हिये ल्याइयै॥३५४॥

अर्थ—अब वह नटिनी रंगीरायजीका सुन्दर शृङ्गार कर उन्हें एक डोलेमें बिठाकर लाई और उनसे कहा—"अब नृत्य करनेकी तुम्हारी बारी है।" रंगीरायजीने ऐसा नृत्य किया कि नटिनीने प्रसन्न होकर अपने पास जितनी भी संपत्ति थी सब न्यौछावर कर दी और उसके बाद रंगीरायजीको भी गोदमें भरकर देना ही चाहती थी कि रंगीरायजी बोले—"मैं भगवान श्रीकृष्णके भेंट पहले ही हो चुका हूँ; मुझे मत स्वीकार करिएगा।" इसपर रंगीरायजी को उनकी शिष्या रानाकी पुत्रीने ले लिया और इस प्रकार अपना मनोरथ पूर्ण किया। उसी समय श्रीरंगीरायजीने भी अपने प्राण छोड़ दिये और इस प्रकार अपनेको भगवानपर न्यौछावर कर दिया।

टीकाकार श्रीप्रियादासजी कहते हैं कि रसिकोंके चरित्र अत्यन्त अद्‌भुत हैं; फिर भी मैंने यथा-शक्ति उनका वर्णन किया है। यदि पाठकगण चाहते हैं कि भगवानके साथ उनका प्रेम-सम्बन्ध स्थापित हो, तो उन्हें भी (मेरी तरह) इन चरित्रोंको अपने हृदयमें स्थान देना चाहिए।

मूल (छप्पय)

श्रीहरिराम हठीलेजी

उग्र तेज ऊदार सुघर सुथराई सींवा।
प्रेम पुंज रस रासि सदा गदगद सुर ग्रीवा॥
भक्तन को अपराध करै ताको फल गायो।
हिरनकसिपु प्रहलाद परम दृष्टांत दिखायो॥
सस्फुट बकता जगत में राजसभा निधरक हियो।
हरिराम हठीले भजन बल राना को उत्तर दियो॥८५॥

अर्थ—श्रीहरिरामजी हठीले अति उग्र स्वभाव के, पर साथ ही में बड़े उदार थे। आप अतीव सुन्दर, स्वच्छ, प्रेमसे ओत-प्रोत और रसके निधान थे। आपके गलेका स्वर भक्ति-

उन्य आवेशके कारण सदा गद्गद् (भरा) रहता था। भक्तोंके अपराध करनेका क्या परिणाम होता है, इस बातको आपने प्रह्लाद और हिरण्यकशिपुका उदाहरण देकर रानाको स्पष्ट शब्दोंमें भरे दरबारमें निर्भय होकर बतला दिया। इस प्रकार श्रीहरिरामजीने भजनके बलपर रानाको सीधा उत्तर एक बार दिया था।

भक्ति-रस-बोधिनी

राना सों सनेह, सदा चौपर कौं खेल्यौ करै, ऐसो सो संन्यासी भूमि संत की छिनाई है।
आय कै पुकार्यौ साधु, फिरकि खिझार्यौ पर्यौ बिमुख के बस, बात सांची लै भुठाई है॥
आये हरिराम जू पै, सबही जताई, रीति प्रीति कर बोले चल्यौ आगे आये भाई हैं।
गये, बैठे 'आयो जन' मन मैं न ल्यायो नृप, तब समुझायो, झार्यो, फेरि भू दिवाई॥३५५॥

अर्थ—रानाके दरबारमें एक संन्यासी था जो कि उनके इतना मुँह लग गया था कि राना उसके साथ चौपड़ खेला करते थे। इस संन्यासीने एक निरीह साधुकी जमीन छिनवा दी। साधुने राजासे फरियाद की, लेकिन राजा तो भक्त-द्रोही संन्यासीके फेरमें पड़ा था, अतः उसने साधुको फटकार कर भगा दिया और इस प्रकार उसकी सच्ची बात भी झूठी सिद्ध कर दी गई। अब वे सन्त श्रीहरिरामजीके पास पहुँचे और सब घटना कह सुनाई। प्रीति की जैसी सदासे रीति चली आई है (कि एक संत दूसरे संतके कष्टको अपना मानता है), उसके अनुसार आप उसे अपना बन्धु मानकर बोले—"चलो; मैं तुम्हारे साथ चलता हूँ," और पहुँचे रानाके पास। रानाने उन्हें बैठा हुआ देखकर भी उपेक्षा की—यह नहीं सोचा कि भगवानके भक्त आये हैं, इनका यथोचित सत्कार करना चाहिए। उग्र स्वभावके हरिरामजीको यह कैसे सहन होता ? उन्होंने रानाको खूब आड़े हाथों लिया और फिर हिरण्यकशिपुकी कथा सुनाकर याद दिलाया कि भक्तोंका अपमान करनेवालेकी क्या गति होती है। बात राजाकी समझमें आगई और उसने छीनी हुई जमीन साधुको लौटा दी।

मूल (छप्पय)

(श्रीकमलाकरभट्टजी)

पंडित कला प्रवीन अधिक आदर दें आरज।
संप्रदाय सिर छत्र द्वितिय मनों मध्वाचारज॥
जेतिक हरि अवतार सबै पूरन करि जानैं।
परिपाटी ध्वजबिजै सदस भागौत बखानैं॥
श्रुति स्मृती संमत पुरान तत मुद्राधारी भुजा।
कमलाकर भट जगत में तत्ववाद रोपी धुजा॥८६॥

अर्थ—श्रीकमलाकर भट्टजी धुरंधर विद्वान् और कलाके मर्मज्ञ थे (अथवा पाण्डित्य-कलामें पहुँचे हुए थे)। आप प्राचीन वैदिक-परम्पराओंका आदर करते थे और अपनी सम्प्रदायके अनुयायियोंमें आपका स्थान इतना ऊँचा था कि लोग आपको मध्वाचार्यके समकक्ष मानते थे। भगवानके जितने अवतार हुए हैं सबको आप पूर्ण अवतार मानते थे, न कि आंशिक। आप विजयध्वजी प्रणालीके अनुसार श्रीमद्भागवतकी कथा कहते थे और श्रुति (वेद), स्मृतियाँ और पुराण-सबके सिद्धान्तोंको मान्यता देते थे। अपनी भुजाओंमें भगवानके आयुध—शङ्ख, चक्र आदिकी तप्त मुद्राएँ धारण करते थे। श्रीकमलाकरभट्टने संसारमें तत्त्ववादकी पताका फहराई।

तत्त्ववाद रोपी ध्वजा—तत्त्ववादकी ध्वजा रोपनेसे श्रीनाभाजीका अभिप्राय टीकाकारोंकी व्याख्या के अनुसार यह है कि तत्त्वोंकी संख्याके संबन्धमें जो शास्त्रकारोंका मत-भेद है, उसका निराकरण कर श्रीकमलाकर भट्टजीने भगवत्तत्त्वकी प्रतिष्ठा की। किसीके मतसे पृथ्वी, जल, वायु और अग्नि—ये चार ही आदि तत्त्व हैं; दूसरे, प्रसिद्ध पांच तत्त्वोंमें आत्माको जोड़कर छः तत्त्वोंका प्रतिपादन करते हैं, तो तीसरे पाँच तत्त्वोंमें प्रकृति, पुरुष, अहङ्कार और महत्तत्त्वका योग कर उनकी संख्या बढ़ाकर नौ कर देते हैं। सांख्यके अनुसार पच्चीस तत्त्व होते हैं जब कि अद्वैत वेदान्ती केवल ब्रह्म को ही एक-मात्र तत्त्व मानते हैं। बादमें ब्रह्म, जीव और प्रकृति—ये तीन तत्त्व ही अवशिष्ट रह जाते हैं। भट्टजीने इस सब प्रपञ्चको असिद्ध कर भगवान्को ही एक तत्त्व माना।

'भक्तदाम-गुण-चित्रनी' टीकाके २६७ वें पद्यपर श्रीकमलाकर भट्टजीके सम्बन्धमें एक वार्ता निम्न प्रकार प्राप्त हुई है—

श्रीकमलाकर भट्टजी एक बार भक्ति-रसमें निमग्न हो भगवानकी लीलाओंका स्मरण कर रहे थे कि एक शाक्तने आकर उन्हें शास्त्रार्थके लिए ललकारा। श्रीकमलाकरजी तो प्रकाण्ड विद्वान् थे ही। उन्होंने आसानीसे ही शाक्तके द्वारा स्थापित समस्त मान्यताओंका खण्डन कर दिया। शाक्त अगले दिन पुनः आनेका वायदा करके चला गया।

इसके बाद वह शक्ति-उपासक घर आया और देवीको मंत्र-बलसे अपने सामने बुलाकर कहने लगा—

"अहो मात बात मेरी भट आगे भई चेरी, तेरी कला फेरी, मेरी करी न सहाई है।"

यह सुनकर देवीने उसे बतलाया कि कमलाकर भट्ट तो भगवानके भक्त हैं। उनके सामने किसी देवी-देवताकी शक्ति काम नहीं करती। अपनी परमाराध्याके मुखसे श्रीभट्टजीके सम्बन्धमें यह बात सुन कर शाक्तकी आँखें खुल गईं। वह श्रीभट्टजीके पास आकर उनके चरणोंमें गिर पड़ा और उनसे वैष्णवी दीक्षा ग्रहण की।

आपके सम्बन्धमें श्रीघालवालजीका छप्पय इस प्रकार है—

> **कंवलाकर भट तत्त सार भागौत अराध्यौ।**
> **नव रंग रसक समाज पराबित आतम साध्यौ॥**
> **विष्णु रूप अवतार ऐकताय भाव सरायौ।**
> **श्रीनारायण भट्ट क्रिष्ण लीला गुण गायौ॥**
> **अंबुज बित भगवद्दरस परगट गिरा स उच्चरी।**
> **यह बकता भट ग्यांनघन भक्तिपरायण विस्तरी॥**

(मूल-छप्पय)

(श्रीनारायणभट्टजी)

गोप्य स्थल मथुरा मण्डल जिते 'वाराह' बखाने।
ते किये नारायण प्रगट प्रसिद्ध पृथ्वी में जाने॥
भक्ति सुधा कौ सिंधु सदा सतसंग समाजन।
परम रसज्ञ अनन्य कृष्ण-लीला कौ भाजन॥
ज्ञान समारत पच्छ कौं नाहिन कोउ खण्डन बियौ।
ब्रजभूमि उपासक भट्ट सो रचि पचि हरि एकै कियौ॥८७॥

अर्थ—श्रीनारायण भट्टजीने वाराह-पुराणमें मथुरा-मण्डलके जिन गोपनीय स्थानोंका वर्णन किया गया है उन सबकी खोज की और उन्हें पृथ्वी-मण्डलके समस्त निवासियोंके कल्याणार्थ प्रत्यक्ष किया। आप भक्ति-रूपी अमृतके समुद्र थे और सदा सन्तोंके समाजमें विचरण करते थे। आप प्रेम-रसके भावुक मर्मज्ञ, अनन्य व्रती और कृष्ण-लीलाकी सरस अनुभूतिके पात्र थे। आपने भक्ति-रसके उपासक होने पर भी शास्त्र-विहित किसी शैव या स्मार्त सिद्धान्त का खंडन नहीं किया। आप ब्रज-भूमिके उपासक थे और नाम, रूप, लीला आदिमें भेद नहीं देखते थे। बड़े परिश्रमसे आपने इन साधनोंको भगवत्-परक सिद्ध किया।

भक्ति-रस-बोधिनी

भट्ट श्रीनारायणजू भये ब्रज परायन, जायँ जाही ग्राम तहाँ व्रत करि ध्याये हैं।
बोलिकै सुनावैं इहाँ अमुकौ सरूप है जू, लीलाकुण्ड धाम स्याम प्रगट दिखाये हैं॥
ठौर-ठौर रासके बिलास लै प्रकास किये, जिये यों रसिक जन कोटि सुख पाये हैं।
मथुरा तें कही "चलौ बैनो" पूछैं "बैनी कहाँ?" "ऊँचे गाँव" आप खोदि सोत लै लखाये हैं॥३५६॥

अर्थ—श्रीनारायण भट्टजी ब्रज-भूमिके अनन्य भक्त थे। जिस गाँवमें जाते ब्रजको ही ध्यानमें रखते थे। लोगोंको बुला-बुलाकर आप बताते कि इस स्थान पर अमुककी मूर्ति जमीन में दबी पड़ी है, यह अमुक कुण्ड है, अमुक धाम है इत्यादि, और उन-उन स्थानोंको खुदवा कर प्रत्यक्ष दिखा दिया करते थे। स्थान-स्थानपर भगवान द्वारा की गई लीलाओंका भी आपने भेद बताया—यह कहकर कि किस स्थान पर कौन-सी लीला की गई थी। यह सब रहस्य जान कर भक्तोंको परम आनन्द होता था। एक बार आपने मथुरामें कहा कि 'चलो, वेणी नदी के तटपर चलें।' लोगोंने पूछा—"वेणी कहाँ है?" तो आप उन्हें 'ऊँचे गाँव' ले गए और धरती खोद कर वेणीके सोतके दर्शन करा दिये।

भट्टजीके वंशजोंके मतानुसार इनका जन्म-काल सं० १५८८ और निधन सं० १७०० के लगभग है।

कुछ विद्वान् प्रियादासजीके 'ठौर-ठौर रासके विलास लै प्रकाश किये' इन शब्दोंका यह अर्थ लगाते हैं कि श्रीनारायणभट्टजी ही सर्व-प्रथम रासलीलानुकरणके प्रवर्तक थे और ये 'रास' उन्होंने स्थान-स्थान पर करवाये एवं रास-पद्धतिका प्रचार किया। श्रीनाभाजीने श्रीवल्लभजीका जो परिचय छप्पय संख्या ८८ में दिया है, उससे इतना ही प्रतीत होता है कि श्रीनारायण भट्ट तथा श्रीवल्लभजी दोनों महानुभावोंने रास-लीलानुकरणकी पद्धतिका कमसे कम प्रचार तो अवश्य किया था।

मूल (छप्पय)

(श्रीव्रजवल्लभजी)

नृत्य गान गुन निपुन रास में रस बरसावत।
अव लीला ललितादि बलित दंपतिहि रिझावत॥
अति उदार निस्तार सुजस ब्रज मंडल राजत।
महा महोत्सव करत बहुत सब ही सुख साजत॥
श्रीनारायण भट्ट प्रभु परम प्रीति रस बस किये।
ब्रजवल्लभ 'वल्लभ' परम दुर्लभ सुख नैननि दिये॥८८॥

अर्थ—नृत्य, संगीत तथा अन्य सम्बन्धित गुणोंमें प्रवीण श्रीवल्लभजी रास-लीलामें आनन्द-रसकी वर्षा करते थे और इस प्रकार रास-लीलाओंके अभिनय द्वारा ललिता आदि सह-सहचरियों सहित श्री राधाकृष्णको प्रसन्न किया करते थे—रासलीलानुकरण युगल-सरकारको प्रसन्न करनेका एक साधन एवं उपासनाका अङ्ग था। आप हृदयके अत्यन्त उदार और कलियुगी जीवोंका उद्धार करनेवाले थे। आपकी भक्तिका यश समस्त ब्रज-मण्डलमें फैल गया था। बड़े समारोहके साथ आप उत्सव-महोत्सव किया करते थे जिससे सब लोगोंको अत्यन्त सुख मिलता था। आपने अपने प्रेम-रसके प्रभावसे श्रीनारायण भट्टजीको भी अपने वशमें कर लिया था। श्रीव्रजवल्लभजी, इस प्रकार, ब्रज-मण्डलमें सब लोगोंके प्रेम-पात्र थे; क्योंकि आपने उन्हें रहस्य-लीलाओंका दर्शन कराकर उनके नेत्रोंको अपूर्व सुख प्रदान किया था।

विशेष—श्रीव्रजवल्लभजीका विशेष परिचय नहीं मिलता, किन्तु ये अवश्य ही श्रीनारायणभट्टजीके समकालीन थे।

यद्यपि उनके सम्प्रदायके सम्बन्धमें भी अनिश्चित है, तथापि आप श्रीराधाकृष्णके अनन्य भक्त थे और आपकी व्रज-निष्ठा अनुकरणीय थी; इसी कारणसे श्रीनारायण भट्टजी इन पर बड़े प्रसन्न रहते थे। इन दोनोंमें परस्पर उत्कट अनुराग था जिससे औरोंको इनके गुरु-शिष्य भावकी प्रतीति होती थी। भक्तमालके टीकाकार श्रीबालकरामने तो इन्हें श्रीनारायणभट्टका शिष्य ही मान लिया है। व्रजवल्लभजीके सम्बन्धमें लिखे हुए उनके तीन कवित्त नीचे दिए जाते हैं:—

नारायण भट्ट को सिष्य व्रजवल्लभ है, सुनी ताकी कथा जथा कृष्ण प्रेम सानिये।

सदा महोछव करैं ढुरैं प्रेम भरैं हरैं मान सबनि को नृत्य गान ठानियै ॥
एक बार रास करयौ सरद में प्रेम भरयौ, हरयौ मन मोहन को बात सो बखानियै ।
बढ़यौ रंग भारी ताहि बारी रंग भंग भयौ सोई ब्रजवल्लभके पेट पीर जानियै ॥१॥
जाय सूते एकांत सो रास भंग सोच करैं भक्त सोच लख कृष्ण जाको तन धारियै ॥
आए रास में बिहारी धारी सारी तास लीला भारी नृत्य गान ठान रसिक रिझाइयै ।
तब ही सेवक एक स्वामी पास उते आयौ रास में बिलास रूप ताही को निहारियै ॥
देखि कै कौतुक स्वामी पास आइ देखि फेरि रास में बिलास रूप तैसे ही बिहारियै ॥२॥
देखि एही बात ताहि कही सभा मांहि गोप ह्वं चारि महंतमिसू सुनि बेगी मानियै ।
कही उन गोप राखी भाखी मति चाखी रूप सुभग अनूप लाल लीला निज जानियै ॥
प्रात भए जानी एही बात सब सभा जन कांना कांनी भई लई रीति हू पिछानियै ।
ऐसे ब्रजवल्लभ सो दुर्लभ बिहारी रूप सुष सों सुलभ करि सबनि दिखाइयै ॥३॥

मूल (छप्पय)

(रूप और सनातनजी)

गौड़ देश बंगाल हुते सब ही अधिकारी ।
हय गय भवन भंडार बिभौ भूभुज उपहारी ॥
यह सुख अनित बिचारि बास बृन्दावन कीन्हौं ।
यथा लाभ संतोष कुंज करवा मन दीन्हौं ॥
ब्रज भूमि रहस्य राधाकृष्ण भक्त तोष उद्धार कियो ।
संसार स्वाद सुख बांत ज्यों दुहुँ रूप सनातन तजि दियौ ॥८९॥

अर्थ—श्रीरूपजी तथा सनातनजी दोनों भाई बंगाल प्रान्तमें गौड़ देशके शासकके यहाँ उच्च अधिकारके पदों पर स्थित थे । आप लोगोंके यहाँ राजाओंके समान हाथी, घोड़े, भवन, कोष आदि सब वैभव था । एक बार आप लोगोंके मनमें ऐसा विचार आया कि वैभवका यह सुख अनित्य है, इसलिये वे सब कुछ छोड़कर वृन्दावन जाकर रहने लगे । जो कुछ मिल जाता उसी से आप सन्तोष करते और करुआ, कोपीन लेकर वृन्दावनकी कुञ्जोंमें मन लगाये रहते । आप दोनोंने श्रीराधाकृष्णके भक्तोंको सुख देनेके लिए ब्रजभूमिके लीला-स्थलोंका अनुसन्धान किया । इस प्रकार श्रीरूपजी और सनातनजीने सांसारिक भोग-विलासके सुखोंको वमन की गई वस्तु की तरह त्याग दिया ।

करुवाके आध्यात्मिक प्रभावके सम्बन्धमें श्रीभगवतरसिकजी कहते हैं—

परम पावन करुवा को पानी ।
जाके पिये हृदय में आवत मोहन राधारानी ॥
अनुभव प्रगट होत क्रीड़ा को मोद बिनोद कहानी ।
भगवत रसिक निकुञ्ज महल की टहल मिलै मनमानी ॥

भक्ति-रस-बोधिनी

कहत बैराग गए पागि नाभा स्वामी जू जे, गई यों निबर तुक पांच लागी आँचि है ।
रही एक मांझ धरचो कोटिक कवित्त अर्थ, वाही ठौर लै दिखायो कविता को साँचि है ॥
राधाकृष्ण रसको आचारजता कही यामें सोई जीवनाथभट्ट छपै वानी नाँचि है ।
बड़े अनुरागी ये तो, कहिवो बड़ाई कहा, अहो जिन कृपादृष्टि प्रेमपोथी बाँचि है ॥३५७॥

अर्थ—श्रीरूप-सनातन गोस्वामीजीके परिचय देनेवाले श्रीनाभाजीके (उपर्युक्त) छप्पयकी प्रशंसा करते हुए टीकाकार श्रीप्रियादासजी कहते हैं कि श्रीनाभाजी श्रीरूप-सनातनजीके वैराग्य के वर्णनमें ऐसे भूल गये कि छप्पयके पाँच चरण उसीमें निकाल दिए। बच रहा केवल एक चरण, सो उसमें ही करोड़ों छन्दोंका भाव भर दिया। कवित्व-शक्तिका परिचय ऐसे ही स्थलों से लगता है। इस छठवें चरणमें श्रीरूप-सनातनजीको राधाकृष्ण-रसका आचार्य बताया गया है। ऐसा ही कवित्वपूर्ण चमत्कार श्रीनाभाजीने श्रीजीवनाथ भट्टजीसे सम्बन्धित छप्पयमें भी दिखलाया है। आप इतने अनुरागी थे कि कहना कठिन है। यह आपकी ही कृपाका फल है कि हृदयमें भगवत्-प्रेम भर देनेवाला प्रेम-ग्रन्थ पाठकोंके लिए आज सुलभ होगया है।

जीवनाथ भट्ट—श्रीप्रियादासजीने इस कवित्तमें जिस जीवनाथ भट्टके छप्पयका उल्लेख किया है वह सम्भवतः श्रीजीव गोस्वामीसे सम्बन्धित ९३वाँ छप्पय है। कुछ अमुद्रित भक्तमालोंमें यह संख्या ९४ भी है।

भक्ति-रस-बोधिनी

वृंदावन ब्रजभूमि जानत न कोऊ प्राय, दई दरसाय जैसी शुक-मुख गाई है।
रीति हूँ उपासना की भागवत अनुसार, लियो रससार सो रसिक सुखदाई है॥
लाला प्रभु पाय पुनि 'गोपीस्वर' लगे आय, किये ग्रन्थ पाय भक्ति भाँति सब पाई है।
एक एक बात मैं समात मन बुद्धि जब, पुलकित गात दृग झरी सी लगाई है॥३५८॥

अर्थ—श्रीरूप-सनातन गोस्वामीके आगमनसे पहले व्रजभूमि और वृन्दावनके सम्बन्धका ठीक-ठीक ज्ञान बहुत कम लोगोंको था। इन दोनों भाइयोंने उनका ज्ञान ठीक उसी प्रकार करा दिया जैसा कि श्रीशुकदेवजीने श्रीमद्भागवतमें वर्णन किया है। श्रीसनातन गोस्वामीने श्रीमद्-भागवत-सम्मत उपासना-काण्डका प्रामाणिकरूप प्रस्तुत किया तथा (श्रीमद्भागवतकी टीका "वैष्णवतोषिणी" का प्रणयन कर) भक्तिके आन्तरिक मर्मको प्रकाशित किया, जिससे कि रसिक-जनोंको आज भी अत्यन्त सुख मिलता है। वृन्दावनमें रहते हुए इन्होंने श्रीकृष्णचन्द्रकी आज्ञा पाकर श्रीगोपीश्वर महादेवके दर्शन किए तथा 'उज्ज्वल-नीलमणि', 'भक्तिरसामृतसिन्धु' आदि कितने ही ग्रन्थ बनाये। इन ग्रन्थोंके पढ़नेसे प्रकट है कि दोनों भाई सब प्रकारसे भक्ति-रसके गूढ़ तत्त्व तक पहुँच गये थे। इनकी एक-एक बात ऐसी है कि मन और बुद्धिमें सीधी उतरती हुई चली आती है, शरीरमें रोमांच हो आता है और नेत्रोंसे आँसू बरसने लगते हैं।

भक्ति-रस-बोधिनी

रहे नंदगाँव "रूप" आये, श्री "सनातन" जू महानुभाव भोग खीर को लगाइयै ।
नेकु मन आई, सुखदाई प्रिया लाड़िली जू मानौ कोऊ बालकी सुतोज सब ल्याइयै ॥
करिकै रसोई सोई, लै प्रसाद पायौ, भायौ, अमल-सो आयो कहि, पूछी, सो जताइयै ।
"फेरि जिन ऐसो करौ यही दृढ़ हिये धरौ ढरौ निज चाल" कहि आँखें भरि आइयै ॥३५९॥

अर्थ—व्रजभूमिमें रहते हुए एक बार श्रीरूपजी नन्दगाँवसे श्रीसनातनजीके पास वृन्दावन आये । श्रीसनातनजीने चाहा कि खीरका भोग ठाकुरजीके रखकर छोटे भाईको पवाया जाय जैसे ही यह अभिलाषा उनके मनमें उठी, तैसे ही श्रीराधिकाजी एक बालिकाका रूप धारणकर खीर-भोगका सब सामान लेकर उपस्थित होगईं । निदान रसोई बनाकर भोग लगाया गया और दोनों भाइयोंने बड़े प्रेमसे उसे ग्रहण किया । प्रसाद बड़ा ही स्वादिष्ट लगा, पर उसे खाकर कुछ अमल-सा (नशा-जैसा) चढ़ आया । श्रीरूप गोस्वामीजीने इसका कारण पूछा, तो श्रीसनातनजी ने आदि से अन्त तक सब बात ज्योंकी त्यों कह सुनाई । इसपर श्रीरूप गोस्वामीने कहा कि 'अब हुआ सो हुआ, आगेसे इस प्रकारकी अभिलाषा मत करना, इसका निश्चय कर लो । अपनी विरक्ति की ही चालपर चलना ठीक है—स्वादिष्ट पदार्थोंको भोग लगाने की बात वैराग्य-भावनाके विरुद्ध है ।' यह कहते-कहते दोनों भाइयोंको भगवानकी अनुपम कृपाका स्मरण हो आया और आँखोंसे आँसू बहने लगे ।

भक्ति-रस-बोधिनी

रूप गुणगान होत, कान सुनि सभा सब अति अकुलाने प्रान मूरछा सी आई है ।
बड़े आप धीर रहे ठाढ़े, न सरीर सुधि, बुधि मैं न आवै ऐसी बात लै दिखाई है ॥
श्रीगुसाईं "कर्णपूर" पाछे आप देखे आछे, नेकु ढिग भये, स्वास लाग्यौ तब पाई है ।
मानों आगि आँच लागी, ऐसो तन चिन्ह भयौ, नयौ यह प्रेमरीति कापै जात गाई है ॥३६०॥

अर्थ—एक समयकी घटना है कि श्रीरूपगोस्वामीजी द्वारा आयोजित समाज चल रहा था और भगवानके रूप-गुणका संकीर्तन किया जा रहा था । कुछ ऐसा समा बँधा कि सब श्रोता-गण प्रेमकी तीव्रताके कारण छटपटाने लगे और उनकी सुधि-बुधि खो-सी गई । परन्तु गोस्वा-मीजी इस समय भी तटस्थ थे और देखनेमें ऐसा लगता था मानों और लोगोंकी तरह वह धैर्य से विचलित नहीं हुए हैं, यद्यपि वास्तवमें आनन्द-विभोर वह भी इतना होगए थे कि शरीरका होश-हवाश उन्हें भी ठीक-ठीक न था । यह ऐसी बात थी जो समझमें नहीं आती थी—यह बात कि और लोगोंकी तरह गोस्वामीजीकी दशा-इधर-उधर क्यों नहीं हुई । इतनेमें गोस्वामी श्रीकर्णपूरजी उनके पास गये तो क्या देखते हैं कि श्रीरूप गोस्वामीजीकी श्वासोंमें से आगकी लपटें निकल रही हैं । और पाससे देखा तो पता चला कि शरीरपर फफोले-जैसे भी उठ आये हैं । प्रेमकी रीति ऐसी ही विलक्षण होती है । इसमें जो कुछ न हो जाय, वही थोड़ा है ।

भक्ति-रस-बोधिनी

श्रीगोविन्दचन्द आय निसि कौ स्वपन दियौ, दियौ कहि भेद सब जासों पहिचानियै ।
रहो मैं खरिक मांझ पोवैं निसि भोर साँझ, सींचैं दूध धार गाय, जाय देखि जानियै ।।
प्रगट लै कियौ रूप अति ही अनूप छवि, कवि कैसे कहै, थकि रहै, लखि मानियै ।
कहाँ लौं बखानौं भरै सागर न गागर मैं, नागर रसिक हिये निसि दिन आनियै ।।३६१।।

अर्थ—श्रीरूपगोस्वामीजीको एक बार गोविन्दजीने स्वप्नमें कहा कि मेरी प्रतिमा दबी हुई पड़ी है, सो खोद कर निकाल लो । पहिचानके लिए प्रभुने बतलाया—"गायोंके खिरकमें मुझे गायें सुबह-शाम दूधकी धार चढ़ाती हैं; जाकर देख लेना ।" श्रीरूपजीने आदेशके अनुसार मूर्ति खोद निकाली । कैसा सुन्दर उसका रूप था ! कवि उसका सौन्दर्य-वर्णन करनेमें थक जाते हैं । मैं भला कैसे उस रूपका वर्णन कर सकता हूँ ? कहीं सागर गागरमें समा सकता है ? प्रभुके निवास करने के लिये उपयुक्त स्थान रसिक जनोंका हृदय है, न कि मेरे-जैसे तुच्छ व्यक्तियोंकी वाणी ।

श्रीगोविन्ददेवजीकी इसी प्रतिमाके लिये, बादमें, जयपुरके महाराज मानसिंहने वृन्दावनमें लाल पत्थरका एक मन्दिर बनवाया और उसमें इसे पधराया । मन्दिरके शिलालेखसे प्रतीत होता है कि इसका निर्माण सन् १५६० ई० में हुआ था । यह मन्दिर वृन्दावनमें आज-कल भी स्थित है ।

कालान्तरमें वाराह-पुराणमें श्रीगोविन्ददेवजीके दर्शनका माहात्म्य पढ़कर जयपुरके राजा जयसिंह इस मूर्तिको जयपुर ले गये । यह घटना मुहम्मदशाहके राज्य-काल (सं० १७७६-१८०५ वि०) में हुई थी ।

भक्ति-रस-बोधिनी

रहैं श्रीसनातन जू 'नन्दगाँव' 'पावन' पै, आय न दिवस तीनि दूध लै कै प्यारियै ।
साँवरो किशोर, आप पूछें "किहि ओर रहो ?" कहे चारि भाई पिता रीति हूँ उचारियै ।।
गये ग्राम, बूझी घर, हरि पै न पाये कहूँ, चहूँ दिसि हेरि-हेरि नैन भरि डारियै ।
अब कै जो आवै, फेर जान नहीं पावै, सीस लाल पाग भावै, निसि दिन उर धारियै ।।३६२।।

अर्थ—श्रीसनातनजी नन्दगाँवमें पावन सर पर रहते थे । यहाँ कोई न कोई आपको दूध दे जाया करता था । एक बार ऐसा हुआ कि तीन दिन तक कोई दूध लेकर नहीं आया । चौथे दिन स्वयं श्यामसुन्दर बालकके रूपमें आपकी कुटियापर दूध लेकर पधारे । उनका ऐसा सुन्दर रूप देखकर आपने पूछा—"लाला ! तुम कहाँ रहते हो ? तुम्हारे घरमें कौन-कौन हैं ?" ठाकुरजी ने उत्तर दिया—"हम चार भाई हैं" और पिताका भी कोई नाम बता दिया । बादमें श्रीसनातनजी उस बालकको खोजनेके लिए गाँव गये, घरोंकी तलाशी की; परन्तु भगवानका कहीं पता न लगा । फिर तो आप चारों दिशाओंमें उन्हें ढूँढने लगे । अन्तमें जब कहीं दिखाई नहीं दिये, तो आँखोंमें आँसू भरकर कहने लगे कि यदि अबकी कहीं मिल जायँ, तो फिर कभी न जाने दूँ । इस प्रकार श्रीसनातनजी लाल पाग धारण करनेवाले अपने प्रभुका स्मरण कर सदा मग्न रहते थे ।

भक्ति-रस-बोधिनी

कही ब्याली रूप बेनी, निरखि सरूप नैन, जानी श्रीसनातन जू काव्य अनुसारियै ।
'राधासर' तीर द्रुम डार गहि झूलैं, फूलैं देखत लफलफात गति मति वारियै ।।
आये यों अनुज पास, फिरैं आस-पास, देखि भयो अति त्रास, गहे पाँव, उर धारियै ।
चरित अपार उभै भाई हितसार पगे, जगे जग माहिं, मति मन मैं उचारियै ।।३६३।।

अर्थ—श्रीसनातन गोस्वामीने श्रीरूप गोस्वामि-कृत 'चाटुपुष्पाञ्जलि' आदि काव्योंका अनुशीलन करते हुए देखा कि उनमें श्रीराधिकाजीकी चोटीकी उपमा नागिनसे दी गई है। श्रीसनातनने अपनी भावनाके नेत्रोंसे श्रीप्रियाजीके जिस सुन्दर स्वरूपका साक्षात्कार कर रक्खा था, उसके अनुसार इस उपमाकी संगति नहीं बैठती थी, अतः उन्हें यह कुछ जँची नहीं। (श्रीराधाके त्रैलोक्य-मोहन गौरवर्णमें सर्पिणी जैसी निकृष्ट वस्तुके लिये स्थान कहाँ ?) किन्तु श्रीसनातनजीने अपने मनमें यह समाधान कर लिया कि यह कवि-परम्परा है। (कवियोंकी उक्तियोंको कठोर वास्तविकतासे नहीं आँकना चाहिए।) एक दिन उन्होंने देखा कि राधासरके किनारेपर खड़े एक वृक्षकी डालपर झूला पड़ा है और सखियाँ लाड़िलीजीको झुला रही हैं और उनकी पीठपर पड़ी हुई चोटी ठीक नागिनकी तरह लहलहा रही है। इस दृश्यको देखते ही श्रीसनातनजी प्रेमानन्दमें ऐसे डूब गए कि उन्हें कुछ समयके लिये तन-बदनकी सुध भी न रही। अब श्रीसनातनको अपनी भूल मालूम हुई। वे अपने छोटे भाई श्रीरूपजीके पास आये, उनकी परिक्रमा की और डरते-डरते उनके पैरोंपर गिरकर हृदयकी सब बातें उन्हें सुनाईं।

दोनों भाइयोंके अपार चरित्र हैं। अपनी परमार्थ-भावनाके लिए आप संसारमें प्रसिद्ध हैं। प्रत्येक मनुष्यको चाहिए कि इनके चरित्रोंका बुद्धि द्वारा मनन करे और उन्हें हृदयमें स्थान दे।

विशेष वृत्तान्त—श्रीरूप-सनातन गोस्वामीका स्थिति-काल सन् १४६० से १५६० ई० माना जाता है। ये दोनों तत्कालीन बंगालके शासक हुसैनशाहके यहाँ उच्च पदोंपर प्रतिष्ठित थे। राज्यमें ये दबीर खास और साकर मल्लिकके नामसे प्रसिद्ध थे। सनातनका वास्तविक नाम 'अमर' और रूपका नाम 'सन्तोष' था। रामकेलि गाँवमें ये राजाओंके ठाठ-बाटसे रहते थे। शाहका इनपर पूर्ण विश्वास था और वह इन्हें अपना दाहिना हाथ समझता था। श्रीरूप गोस्वामी श्रीसनातन गोस्वामीके छोटे भाई थे, परन्तु महाप्रभुके कृपापात्र होनेके कारण वैष्णव-समाजमें वे विशिष्ट माने जाते हैं। तीसरे भाईका नाम अनुपम था जो घरका काम देखते थे। बादमें 'अनुपम' के पुत्र ही जीव गोस्वामीके नामसे विख्यात हुए।

यह वह समय था जब महाप्रभु श्रीकृष्णचैतन्य बंगालमें भक्ति-रसकी वर्षा कर रहे थे। भ्रमणके प्रसंगमें महाप्रभु जब गौड़देश गये तो अमर और सन्तोष भी उनके दर्शनार्थ पहुँचे। बस, यहींसे इनके जीवनका एक नया अध्याय प्रारम्भ होगया।

रूप-सनातनकी दशा बदल गई। राजसी ठाठ-बाटसे उन्हें वैराग्य होगया। रूप छुट्टी लेकर घर चले गए और सनातन भी बीमारीका बहाना कर राज-काज छोड़ बैठे। उधर अनुपमके हृदयमें भी

भक्तिका अंकुर फूट पड़ा। उनके 'जीव' नामक एक पुत्र था। अपने इस पुत्रको थोड़ा-सा धन देकर और शेषको गरीबोंको बाँटकर अनुपम भी विरागी होगये।

इधर सनातनको बादशाहने कैद कर लिया, लेकिन इससे रूप और अनुपम रुके नहीं। वे वृन्दावन को चल दिए और सनातनके लिए सन्देश छोड़ गए कि जैसे भी हो, शीघ्र जेलसे छुटकारा पाकर वृन्दावन चले आयो। वृन्दावन जाते हुए प्रयागमें उन्हें पता लगा कि महाप्रभु वहीं हैं। कृतकृत्य होगए वे महाप्रभुके दर्शन कर। प्रयागमें उन्हींके पास कुछ दिन तक रह कर दोनोंने महाप्रभुसे भक्तिका उपदेश लिया और तब उनकी आज्ञासे वृन्दावनकी ओर चल दिये। महाप्रभु काशी चले गए।

उधर सनातन जेलरको दस हजार मुहरें देकर रातों-रात गौड़ देशसे निकल भागे। उनके साथ ईशान नामक एक नौकर था जिसने आठ मुहरें छिपाकर अपने पास रख ली थीं। रास्तेमें जब डाकू दोनों के पीछे लगे, तो सनातनने ईशानसे सब मुहरें उन्हें दे देनेको कहा। ईशानने सात मुहरें दे दीं, एक फिर भी अपने पास रख ली। इसका पता लगनेपर सनातनने ईशानको घर वापिस भेज दिया और अकेले ही यात्रा करने लगे। सन्ध्याके समय वे हाजीपुर पहुँचे जहाँ उनके बहनोई श्रीकान्तजी ठहरे हुए थे। वह अपने बादशाहके लिए घोड़े खरीदने आये थे। श्रीकान्तने सनातनका वह रूप देखा तो अवाक् रह गये। वे फटी हुई एक मैली धोती पहिने थे, दाढ़ी बढ़ रही थी और शरीर सूखकर काँटा हो चला था। श्रीकान्त ने बहुत समझाया, पर सनातनने एक न मानी। अन्तमें निराश होकर श्रीकान्तने उन्हें राह-खर्चके लिये कुछ रुपया देना चाहा, पर उन्होंने इन्कार कर दिया। बहुत कहने-सुननेके बाद केवल एक कम्बल लेना स्वीकार किया।

सनातनको यह पता लगानेमें कोई कठिनाई नहीं हुई कि श्रीचैतन्यदेव काशी गए हैं और वहीं जाकर उनके दर्शन किये। महाप्रभुने बड़े प्रेमसे सनातनका आलिंगन किया और कारावासकी सब कहानी सुनी। इसके बाद सनातनका मस्तक मुड़वाकर उन्हें दीक्षा दी। दो महीने तक काशीमें सनातन महाप्रभु की सेवामें रहे और तब उनके आदेशानुसार रूप और अनुपम साथ मिलकर भक्तिका प्रचार करनेके लिए वृन्दावन चले आये।

वृन्दावन आनेपर उन्हें पता लगा कि रूप और अनुपम दूसरे मार्गसे काशी होते हुए देश चले गए हैं। सनातन भी, कुछ समय तक वृन्दावनमें रहकर महाप्रभुसे मिलनेके लिये नीलाचलकी ओर चल दिये। रास्तेमें उन्हें भयानक चर्म-रोग होगया, लेकिन ऐसी अवस्थामें भी वे नीलाचल पहुँचे। यहाँ महाप्रभु श्रीहरिदासजीके यहाँ रोज आया करते थे। सनातन भी वहीं जाकर पड़ गये। महाप्रभुने दौड़ कर उन्हें छातीसे लगाना चाहा, पर सनातनने पीछे हटते हुए कहा—"प्रभो! मुझे स्पर्श न करें; मैं अत्यन्त नीच तो हूँ ही, तिसपर भी मुझे कंडू होगया है।" लेकिन महाप्रभु कब रुकने वाले थे? उन्होंने सनातनको कसकर छातीसे लगा लिया। सनातनके कंडूका मवाद महाप्रभुके सारे शरीरमें लग गया। उन्होंने सनातनको बताया कि रूप और अनुपम दोनों दस माह तक रहे थे। उसके बाद रूप तो वृन्दावन चले गए और अनुपमको श्रीकृष्णकी प्राप्ति होगई। इस समाचारको सुनकर सनातनके हृदयको बड़ा कष्ट हुआ, परन्तु प्रभुके आश्वासन देनेपर फिर भजनमें लीन होगए। कंडूसे जब छुटकारा मिल गया तब सनातन महाप्रभुकी आज्ञासे वृन्दावन चले गए। उधर रूप भी वहाँ पहुँच गए थे।

वृन्दावनमें रह कर रूप-सनातनने वृन्दावनकी महिमाका उद्घाटन किया । रूप गोस्वामीने अनेक अनुपम ग्रन्थोंकी रचना की जिनमें 'भक्तिरसामृतसिन्धु', 'मथुरामाहात्म्य', 'उद्धवसन्देश,' 'विदग्धमाधव', 'ललितमाधव' आदि वैष्णव-समाजमें अत्यन्त आदर की दृष्टिसे देखे जाते हैं । सनातनने 'बृहद्भागवतामृत', 'हरिभक्तिविलास', 'लीलास्तव' और श्रीमद्भागवतकी ''वैष्णवतोषिणी'' टीका लिखी । इन दोनों भाइयों की विद्वत्ता तथा भक्तिसे प्रभावित होकर बड़े-बड़े राजे-महाराजे इनके दर्शनार्थ वृन्दावन आया करते थे । कहते हैं १५७३ ई० में अकबर भी इनके साक्षात्कार करने के लिये वृन्दावन गया था और इनसे अत्यन्त प्रभावित होकर लौटा था ।

बंगाली वैष्णव-ग्रन्थोंमें सनातनकी मृत्यु सन् १५५८ ई० तथा रूपकी १५६५ में लिखी है, परन्तु इतिहासके आधार पर यह ठीक नहीं प्रतीत होती । वृन्दावनके गोविन्ददेवके मन्दिरका निर्माण १५९० ई० में हुआ था । १५९२ में भक्तप्रवर श्रीनिवासाचार्य जब वृन्दावन गये, तब सनातनकी मृत्यु हुए चार माह बीत चुके थे और रूपकी मृत्यु केवल चार दिन पूर्व होकर चुकी थी । श्रीजीवगोस्वामीने लघुतोषिणी की रचना १५८३ ई० में की थी । उस समय श्रीसनातन जीवित थे । अतः निष्कर्ष यह निकलता है कि इन बन्धुओंका अवसान-काल १५९१ ई० ही है । इस प्रकार इन दोनों आचार्योंने पूरे सौ वर्षकी दीर्घ आयु प्राप्त की थी ।

मूल (छप्पय)

(श्रीहितहरिवंशजी)

श्रीराधाचरन प्रधान हृदै अति सुदृढ़ उपासी ।
कुंज केलि दंपती तहाँ की करत खवासी ॥
सर्वसु महाप्रसाद प्रसिध ताके अधिकारी ।
बिधि निषेध नहिं, दास अननि उत्कट ब्रत धारी ॥
व्यास सुवन पथ अनुसरे, सोई भले पहिचानि है ।
(श्री) हरिवंश गुसाईं भजन की रीति सकृत कोउ जानि है ॥९०॥

अर्थ---गोस्वामी श्रीहितहरिवंशजी प्रधानतया श्रीराधिकाजीको अपना इष्ट मानते थे और हृदयमें उनके चरणोंके प्रति अविचल भक्ति रखते थे । आप अपने आपको नित्य निकुंज-विहार में निरत श्रीराधाकृष्णकी सेविका—विशिष्ट सखी मानते थे । यह बात प्रसिद्ध है कि श्रीयुगलके महाप्रसादको आप सर्वस्व समझते थे और अनन्य उपासक होनेके कारण उसके अधिकारी भी थे । शास्त्रीय एवं सामाजिक विधि-निषेधकी चिन्ता न करके अनन्यताकी भावनामें दृढ़ निष्ठा रखते हुए अपने को युगलकिशोरकी सखी (दासी) मानते थे । व्यासजीके पुत्र श्रीहितहरिवंशजी की उपासना-पद्धतिकी महिमाको वही जान सकता है जो आपकी रीतिका अनुसरण करे । सच

श्री सर्वेश्वर:—

रसिकाचार्य गोस्वामी श्रीहित हरिवंश जी महाराज

करुणानिधि अरु कृपानिधि, श्री हरिवंश उदार ।
वृन्दावन रस कहनि को, प्रगट धरयौ अवतार ॥

तो यह है कि श्रीहितहरिवंश गोस्वामीजीकी भजन-पद्धतिको कोई विरला ही समझ पाता है।

अति सुदृढ़ उपासी—श्रीराधिका-चरणमें अपनी दृढ़ निष्ठाके सम्बन्धमें श्रीहितहरिवंशजी 'श्री-राधासुधानिधि' में कहते हैं—

> **धर्माद्यर्थचतुष्टयं विजयतां किं तद् वृथावार्तया,**
> **सैकान्तेश्वरभक्तियोगपदवी त्वारोपिता मूर्धनि ।**
> **यो वृन्दावनसीम्नि काचन घनाश्चर्यं किशोरीमणिः,**
> **तत्कैंकर्यरसामृतादिह परं चित्ते न मे रोचते ॥**

—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—ये चार पुरुषार्थ श्रेष्ठ माने गये हैं, सो ठीक है, पर इन व्यर्थकी बातोंको छोड़िये । एकमात्र परमात्माकी भक्ति अथवा योग द्वारा प्राप्त हुई उच्च पदवी—यह भी सिरमाथे है । लेकिन मुझे तो, वृन्दावनकी सीमामें चमत्कारकारी जो एक अनिर्वचनीय राधा-तत्त्व है, उसकी दासता से प्राप्त होनेवाले आनन्दसे बढ़कर अन्य कोई चीज नहीं रुचती ।

महाप्रभुजी 'खवासी' (परिचर्या) किस प्रकार किया करते थे, इसे स्पष्ट करते हुए किसी कविने कहा है कि जिन निकुञ्जोंमें नवनागरी और रसिक-नागर दोनों प्रेमसे विह्वल होकर क्रीड़ा करते हैं, जहाँ आनन्दमें एक-दूसरेसे लिपटते हुए अपनी सुध-बुध खो बैठते हैं—

> **"तहाँ दुव सैन की बात समझन हेत हितभरी खरी हरिवंस दासी ।"**

सर्वसु महाप्रसाद—इस विषयपर एक सुन्दर सवैया देखिये—

> **काहू लियो जप काहू लियो तप काहू महाव्रत साधि लियो है,**
> **काहू लियो गुन काहू लियो धन काहू महा उनमाद हियो है ।**
> **रंचक चारु चकोरनि दंपति संपति प्रेम-पियूष पियो है,**
> **राधिकावल्लभलाल के थार को श्रीहरिवंस प्रसाद लियो है ॥**

प्रसादके लिए अपनी तीव्र अभिलाषाको प्रकट करते हुए महाप्रभुजी कहते हैं—

> **श्रीराधायाः मधुरमधुरोच्छिष्टपीयूषसारं ।**
> **भोजं भोजं नवनवरसानन्दमग्नः कदा स्याम् ॥**

—श्रीराधाकी अत्यन्त मधुर प्रसादी-रूपी अमृतके सारको बार-बार खाकर मैं प्रेमानन्द-रसमें कब निमग्न होऊँगा ?

विधि निषेध नहिं—इस सम्बन्धमें स्वयं श्रीहितहरिवंशजीने कहा है—

> **अलं विषयवार्तया नरककोटिबीभत्सया,**
> **वृथा श्रुतिकथाश्रमो बत बिभेमि कैवल्यतः ।**
> **परेशभजनोन्मदा यदि शुकादयः किं ततः,**
> **परन्तु मम राधिकापदरसे मनो मज्जतु ॥**

—करोड़ों नरकोंके समान घृणित विषयोंकी चर्चा न करिए । वेदोंकी कथाओंको जाननेमें परि-

श्रम भी क्यों किया जाय ? मुझे तो मोक्षमें भी भय लगता है। यदि शुक-प्रभृति मुनिगण परमात्माका भजन करते-करते पागल होगए तो क्या हुआ ? मेरा मन तो श्रीराधिकाके चरण-रसमें डूबा रहे।

इसी आशयको किसी भावुक कविने निम्नलिखित रूपसे व्यक्त किया है—

हित हरिवंश बिन हित कौ न रीति जानै, कैसे वृषभानुनन्दिनी सों प्रीति करिये।
कौन सो है धर्म जासों करनि को मर्म जाय, गुरु बिन राधा नाम कैसे ध्यान धरिये॥
रसिकन रसन को राह और गुरु कौन, कौनसी उपासना सों आस-सिंधु तरिये।
जोपै नंदनंदन को चहे जगबंदन को, तोपै व्यासनंदन के नाम को उचारिये॥

भक्ति-रस-बोधिनी

हितजू की रीति कोऊ लाखनि में एक जानै, राधाई प्रधान मानै पाछे कृष्ण ध्याइयै।
निपट विकट भाव, होत न सुभाव ऐसो, उन ही की कृपादृष्टि नेकु क्यों न पाइयै॥
विधि औ निषेध छेदि डारे, प्रान प्यारी हिये जियें निज दास निसि दिन वहै गाइयै।
सुखद चरित्र, सब रसिक विचित्र नीके जानत प्रसिद्ध, कहा कहिकै सुनाइयै॥३६४॥

अर्थ—श्रीहितहरिवंश महाप्रभुकी भजनकी रीतिको लाखोंमेंसे कोई एक जानता है। आप श्रीकृष्णका ध्यान करते, पर प्रधान श्रीराधाको ही मानते थे। नित्य-विहारमें रत श्रीश्यामा-श्यामकी सखी-भावसे उपासना करना अत्यन्त दुष्कर कार्य है। इस प्रकारका सहज भाव युगलकिशोरकी कृपासे मिले तो भले ही मिले। विधि-निषेधोंके प्रपञ्चसे आप दूर रहते थे; केवल प्राणप्यारे अपने इष्ट (श्रीराधिका) की हृदयसे उपासना करते थे और प्रिया-प्रियतम की अनुराग-केलिका ही गान करते थे। श्रीहरिवंशजीके सुखदायी चरित्र इतने प्रसिद्ध हैं कि सब सन्त-लोग उनसे भलीभाँति परिचित हैं। श्रीप्रियादासजी कहते हैं कि उनका कहाँ तक वर्णन करूँ ?

भक्ति-रस-बोधिनी

आये घर त्यागि, राग बढ्यौ प्रिया प्रीतम सों, विप्र बड़भाग हरि आज्ञा दई जानियै।
तेरी उभै सुता, ब्याह देवो लेवो नाम मेरो, इनको जो बंस सो प्रसंस जग मानियै॥
ताही द्वार सेवा विसतार निज भक्तन को अगनित गति, सो प्रसिद्ध पहिचानियै।
मानि प्रिय बात गहगह्यौ सुख लह्यौ सब, कह्यौ कैसे जात यह मत मन आनियै॥३६५॥

अर्थ—(अपनी स्त्री रुक्मिणीके गर्भसे पैदा हुए दो पुत्र और एक कन्याके उत्तरदायित्व से मुक्त होकर) श्रीहितहरिवंशजी घर-द्वार छोड़कर वृन्दावन चले आये। इन दिनों श्रीराधा-कृष्णके चरणोंमें आपकी प्रीति उत्तरोत्तर बढ़ती जारही थी (और उसीसे विवश होकर आपको वृन्दावन आना पड़ा)।

इसी समय एक बड़भागी ब्राह्मणको प्रभुने आज्ञा दी कि अपनी दोनों लड़कियोंका विवाह श्रीहितहरिवंशजीसे कर दो। कह देना कि यह मेरी आज्ञा है। इनसे जो वंश चलेगा वह संसारमें

अत्यन्त प्रशंसनीय होगा, यह बात मेरी मान लो। उन्हीं वंशजोंके द्वारा मैं अपने भक्तोंको सुख दूँगा; उन्हींके हाथसे बहु जीवोंका कल्याण कराऊँगा। इस प्रिय बातको सुनकर सब लोग बड़े प्रसन्न हुए। इस सम्प्रदायकी अद्भुत प्रीति-रीतिका वर्णन नहीं किया जाता। यह तो अनुभूति का विषय है, वाणीका नहीं।

भक्ति-रस-बोधिनी

राधिकावल्लभलाल आज्ञा सों रसाल दई सेवा को प्रकास औ बिलास कुंज धाम कौ।
सोई बिसतार सुखसार दृग रूप पियौ, दियौ रसिकन जिन लियौ पच्छ बाम कौ॥
निसि दिन गान रसमाधुरी कौ पान उर अंतर सिहान एक काम स्यामास्याम कौ।
गुन सो अनूप कहि, कैसे कै सरूप कहै, लहै मन मोद, जैसे और नहीं नाम कौ॥३६६॥

अर्थ—श्रीराधावल्लभलालजीने श्रीहितहरिवंशजीको यह आनन्ददायिनी आज्ञा दी कि अपनी सेवा-पद्धतिका प्रचार तथा निकुञ्ज-केलि की भावनाका वर्णन (काव्य-रूप) में करो। महाप्रभुजीने ('श्रीहितचतुरासी' तथा श्रीराधासुधानिधि' द्वारा) उसीका विस्तार किया तथा युगलकिशोरके परमानन्ददायी रूपको अपने नेत्रोंसे प्रत्यक्ष किया। अपनी सरस अनुभूतियोंका आपने उन रसिकोंको भी अनुभव कराया जो श्रीप्रियाजीको ही चरम-तत्त्व माननेके पक्षपाती हैं—अर्थात् उपासनामें श्रीराधिकाजीको प्रधानता देते हैं। रात-दिन प्रिया-प्रियतमका यशोगान करना, भजनसे प्राप्त होनेवाले आनन्दकी माधुरीका पान करना और हृदय-सिंहासनपर दोनों को सदा विराजमान रखना—सिवा इसके और कोई उन्हें अभिलाषा न थी। प्रिया-प्रियतमके नित्य-विहारके अनुपम गुण हैं, उनके स्वरूपका वर्णन कैसे किया जा सकता है? हृदय केवल उनका अनुभव कर सकता है।

श्रीहितहरिवंश गोस्वामी—राधावल्लभ-सम्प्रदायके संस्थापक महाप्रभु श्रीहितहरिवंश गोस्वामी का जन्म वैशाख शुक्ला एकादशी, सोमवार सं० १५५९ वि० को मथुरा-आगरा सड़कपर स्थित, मथुरा से छः मील दूर 'बाद' नामक ग्राममें हुआ था। आपके पिताका नाम श्रीव्यास मिश्र और माताका नाम श्रीतारा रानी था। श्रीव्यास मिश्रजी देवबन्द, जिला सहारनपुरके रहनेवाले थे और अपने समयके प्रसिद्ध ज्योतिषी थे। तत्कालीन दिल्लीपति सिकन्दर लोदीने उनकी भविष्यवाणियोंसे प्रभावित होकर उनको अपना राज-ज्योतिषी बनाया था और वे बहुधा बादशाहके साथ रहते थे। एक बार बादशाहके साथ सपत्नीक दिल्लीसे आगरा जाते हुए मार्गमें उपर्युक्त ग्राममें महाप्रभुका प्राकट्य हुआ था। महाप्रभुका बाल्य और यौवनका प्रारम्भिक काल 'देवबन्द'में व्यतीत हुआ था। वहाँ उन्होंने एक कुएँ में से श्रीरंगीलालजी के विग्रहका उद्धार करके उनकी सेवा प्रारम्भ की और वहीं उनको श्रीराधाजीसे वह मन्त्र प्राप्त हुआ जो राधावल्लभ-सम्प्रदायकी रस-रीति और उपासना-पद्धतिका बीज माना जाता है। ३१ वर्षकी अवस्था में महाप्रभुने श्रीराधाजीकी आज्ञासे श्रीवृन्दावनके लिये प्रस्थान किया और मार्गमें चिड़थावल नामक ग्रामके एक ब्राह्मणके पाससे उन्हें एक भगवद्-विग्रह प्राप्त हुआ। इसकी स्थापना उन्होंने वृन्दावनमें 'श्रीराधावल्लभलाल' के नाम से की।

श्रीहितहरिवंशजीके वृन्दावन पहुचनेसे पूर्व भी कुछ व्रजवासी वहाँ रहते थे और कुछ अन्य महानुभाव भी वहाँ आकर बस गए थे, किन्तु अब तक वह वन अत्यन्त सघन और असुरक्षित था। इस असुरक्षाके प्रधान कारण राजा नरवाहनजी थे जो यमुना-तटवर्ती 'भौ गाँव' नामक स्थानमें गढ़ी बना कर रहते थे और आस-पासके प्रदेशमें लूटमार किया करते थे। वृन्दावन आनेके बाद श्रीहित महाप्रभुका प्रथम कार्य राजा नरवाहनजीका हृदय-परिवर्तन कर उन्हें परम भक्त बना देना था। वे इस काममें सफल हुए। भक्त बननेके बाद यही नरवाहनजी वृन्दावनके रक्षक बन गये और वहाँ लोगोंका बसना आरम्भ होगया। श्रीनरवाहनजीका परिचय छप्पय संख्या १०५ में दिया गया है।

वृन्दावनमें श्रीराधावल्लभलालके स्वरूपकी स्थापनाके अतिरिक्त श्रीहित महाप्रभुने सेवाकुञ्ज और रास-मण्डलकी स्थापना और की। सेवाकुंजमें उन्होंने योगपीठकी स्थापनाकी और "राधा वृन्दावने वने" इस पुराण-वाक्यको सार्थक बनाया। उन्होंने पांच भोग और सात आरती वाली सेवा-पद्धतिका प्रचलन किया और उस रस-रीतिकी स्थापना की जिसमें श्रीराधाजीके चरणोंकी प्रधानता है। श्रीवृन्दावनमें १८ वर्ष रहनेके बाद सं० १६०९ वि० में उन्होंने निकुंज-गमन किया।

साम्प्रदायिक सिद्धान्त—(१) राधावल्लभ-सम्प्रदायमें प्रेमको परात्पर तत्त्व माना जाता है। प्रेमोपासक सभी सम्प्रदायें प्रेम-स्वरूप भगवानको परतत्त्व मानती हैं। राधावल्लभ-सम्प्रदाय 'प्रेम-स्वरूप भगवान' के स्थानमें 'भगवत्-स्वरूप प्रेम' को परतत्व मानती है। 'प्रेम-स्वरूप भगवानकी उपासना करने वाले सम्प्रदायोंमें प्रेमको भगवानकी अभिन्न शक्ति माना जाता है, 'भगवत् स्वरूप प्रेम' को उपास्य माननेवाले राधावल्लभ-सम्प्रदायमें प्रेमको भोक्ता और भोग्यके बीचमें स्थित एक परम मधुर सम्बन्ध माना गया है और प्रेमकी रचनाके लिये भोक्ता, भोग्य और उनके प्रेम-सम्बन्धको अनिवार्य बतलाया गया है। प्रेम-सम्बन्धको शास्त्रीय परिभाषामें 'प्रेरक-प्रेम' कहा जाता है और अद्वय प्रेम-तत्त्वको भोक्ता, भोग्य और प्रेरक प्रेमके त्रिविध रूपमें नित्य व्यक्त माना जाता है। श्वेताश्वतर श्रुतिने त्रिविध ब्रह्म-स्वरूपका वर्णन किया है और उस अद्वय ब्रह्मके तीनों रूपोंमें परस्पर भोक्ता, भोग्य और प्रेरिताका सम्बन्ध माना है—

> एतज्ज्ञेयं नित्यमेवात्मसंस्थं नातः परं वेदितव्यं न किञ्चित्।
> भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत्॥ (श्वेता० १-१२)

(२) परात्पर प्रेम किंवा हित-तत्त्वके प्राकट्यकी चार भूमिकायें मानी गई हैं। प्रथम एवं शुद्धतम भूमिका 'निकुञ्ज' है जहाँ यह हित-तत्त्व श्रीनन्दनन्दन, श्रीवृषभानुनन्दिनी, सहचरीगण एवं श्रीवृन्दावन के रूपमें नित्य प्रकट रहता है। द्वितीय भूमिका 'व्रज' है। इस भूमिकामें प्रेमका प्रकाश प्रथम भूमिकासे अनेक अंशोंमें विलक्षण होता है। दोनों भूमिकाओंमें प्रकट होनेवाले राधा-माधवके नाम-रूप यद्यपि समान हैं, तथापि उनके प्रेम-सम्बन्धकी अभिव्यक्ति भिन्न है। इस भिन्नताके कारण 'निकुञ्ज-लीला' और 'व्रज-लीला' के स्वरूप काफ़ी भिन्न बने हुए हैं। तीसरी भूमिका वह है जहाँ प्रेम विभिन्न अवतारोंके रूप में प्रकट होता है और चौथी भूमिका यह अनन्त नामरूपात्मक दृश्य-प्रदृश्य प्रपञ्च है।

(३) प्रेम आस्वादित होकर 'प्रेम-रस' कहलाता है। राधावल्लभ सम्प्रदायका अपना एक स्वतन्त्र प्रेम-रस-सिद्धान्त है जो गौड़ीय भक्ति-रस परिपाटीकी भाँति भरतके नाट्य-शास्त्रपर आधारित

नहीं है। इस रस-सिद्धान्तमें राधा-माधवकी प्रीति समान-बलशालिनी मानी जाती है। श्रीहितप्रभुने 'दम्पति (युगल) में समतूल' (समान) रसकी स्थिति मानी है और दोनोंको एक-दूसरेके गुण-गणों द्वारा 'मात' (पराजित) बतलाया है—

'बनी हितहरिवंस जोरी उभय गुनगन मात।

यहाँका संयोग-विरह-सम्बन्धी दृष्टिकोण भी अन्य सब सिद्धान्तोंसे भिन्न है। सर्वत्र संयोग-वियोग एकके बाद दूसरेके क्रमसे आते-जाते रहते हैं। राधावल्लभीय रस-सिद्धान्तमें प्रेमकी इतनी सूक्ष्म और तीव्र स्थितिका सामान्यरूपसे ग्रहण हुआ है कि उसमें संयोग और विरह एक कालमें ही प्रतिभासित होते रहते हैं। इस रस-रीतिकी तीसरी विशेषता श्रीराधाकी सहज प्रधानता है। नाभाजीने श्रीहितप्रभुको 'श्रीराधाचरणप्रधान' कहा है।

(४) राधावल्लभ-सम्प्रदायका उपासना-मार्ग भी अन्य उपासना-मार्गोंसे कई बातोंमें विलक्षण है। परात्पर प्रेम-तत्त्वके अंगभूत भोक्ता, भोग्य और प्रेरक उपासनाके क्षेत्रमें क्रमशः उपासक, उपास्य और गुरु कहलाते हैं। एक ही तत्त्वके त्रिविध रूप होनेके कारण तीनों—उपासक, उपास्य और गुरु—में समान-पूज्यता मानी जाती है। इसीलिये इष्ट और गुरुकी उपासनाके साथ उपासक (भक्त) की उपासनाका विधान इस सम्प्रदायमें किया गया है। यह उपासना प्रेमके प्राकट्यकी प्रथम भूमिका-निकुञ्ज-से सम्बन्धित है, अतः सम्प्रदायकी सेवा-पद्धतिमें वैकुण्ठ-लीलासे सम्बन्धित शंख, चक्र आदि नहीं रखे जाते और न घंटापर गरुड़का चिन्ह रहता है। शालग्राम-शिलामें निकुञ्ज-लीलाके कोई चिन्ह—वंशी, मोर-मुकुट आदि—नहीं है, अतः उसका ग्रहण सेवामें नहीं होता। इसके स्थानमें 'नाम-सेवा' का उपयोग होता है। उपासकके सम्पूर्ण मनको एकमात्र प्रेम-भजनपर केन्द्रित करनेके लिये इस सम्प्रदायमें सन्ध्या-तर्पण, श्राद्ध आदि वैदिक और स्मार्त कर्मोंके प्रति उदासीनताका भाव रक्खा जाता है। इसी प्रकार वैष्णव-धर्मके आधारभूत स्वामी-सेवक-सम्बन्धकी सर्वाङ्गीण रक्षाके लिये एकादशीके दिन भी भगवद्-प्रसादके त्यागको निषिद्ध बताया है। श्रीहिताचार्यके द्वारा एकादशी-व्रतका त्याग प्रसिद्ध है। नाभाजीके छप्पयमें उपर्युक्त सब बातोंको लक्षित किया गया है।

साहित्यिक पक्ष—कविके रूपसे श्रीहित-महाप्रभुका प्राचीन हिन्दी-साहित्य में अमर स्थान है। कला-पक्षमें उनकी शैली अत्यन्त मधुर, मसृण तथा सङ्गीतमयी है। उनका-जैसा शब्द-गुम्फन और वाक्य-विन्यास बहुत कम कवियोंमें पाया जाता है। हृदय-पक्षमें श्रीराधा-कृष्णकी सहज अलौकिक रीतिका बहुत ही भावपूर्ण, सरस एवं कोमल चित्रण हुआ है। एक उदाहरण देखिये—

ब्रज नव तरुनि कदंब मुकुट मनि स्यामा आज बनी।
नखसिख लौं अँग-अँग माधुरी मोहे स्याम धनी॥
यौं राजत कबरी गूँथित कच कनक कंज बदनी।
चिकुर चंद्रकनि बीच अरध बिधु मानौं ग्रसत फनी॥
(जैश्री) हितहरिवंश प्रसंसित स्यामा कीरति बिसद घनी।
गावत स्रवननि सुनत सुखाकर बिस्व दुरित दवनी॥

अन्तमें गोस्वामीजीके सम्बन्धमें भक्तवर श्रीव्यासजीके निम्नलिखित पदको उद्धृत करनेका लोभ हम संवरण नहीं कर सकते—

हुतौ रस-रसिकन कौ आधार।
बिन हरिबंसहि सरस रीति कौ कापै चलि है भार ?
को राधा दुलरावै गावै बचन सुनावै चार।
वृंदावन की सहज माधुरी कहि है कौन उदार ॥
पद रचना अब का पै ह्वै है ? निरस भयौ संसार।
बड़ौ अभाग अनन्य सभा कौ, उठिगौ ठाठ सिंगार ॥
जिन बिन दिन छिन जुग सम बीतत, सहज रूप आगार।
'व्यास' एक कुल-कुमुद-चंद बिनु उडुगन जूंठी थार ॥

मूल (छप्पय)

(अनन्य नृपति श्रीस्वामी हरिदासजी)

जुगल नाम सौं नेम, जपत नित कुंजबिहारी।
अवलोकत रहैं केलि, सखी सुख के अधिकारी ॥
गान कला गंधर्व, स्याम स्यामा कौं तोषैं*।
उत्तम भोग लगाय, मोर मरकट तिमि पोषैं ॥
नृपति द्वार ठाढ़े रहैं, दरसन आसा जास की।
आसधीर उद्योत कर, रसिक छाप हरिदास की ॥६१॥

अर्थ—रसिक-शिरोमणि श्रीस्वामी हरिदासजी महाराज वृन्दावन-निकुञ्ज-मन्दिरमें नित्य-विहार करनेवाले श्रीविहारी-विहारिणिजूकी ही सेवा, भजन एवं गुण-गानमें सदा निमग्न रहते हैं तथा निभृत-निकुञ्जस्थ इन्हीं श्रीयुगलविहारीकी केलिको निरन्तर अवलोकन किया करते हैं। आप ही एकमात्र श्रीसहचरि-सुखके दाता (अधिकारी) हैं। जिस गायन द्वारा आप श्रीश्यामाश्यामको प्रसन्न किया करते हैं, उसके सामने गन्धर्वोंका गान तो केवल कलाका नाम-मात्र ही है। (अर्थात् श्रीस्वामीजी तो सकल-कला-कोविद श्रीयुगलको अपने गायनसे रिझाया

---

* भक्तमालकी एक पुरानी प्रतिकी टिप्पणीमें इस पंक्तिके सम्बन्धमें लिखा है—

"यह शंका होइ है कै कहाँ तौ स्वामीजी सर्वोत्कृष्ट अरु कहाँ तुच्छ गन्धर्व इन्द्रकी सभामें गायवे वारे। वे तौ प्रिया-प्रीतम कौ तोषैं हैं, तातें गान-कलामें गन्धर्व समान भए तौ यामें अधिकता कहा भई ? यहाँ कहें हैं गन्धर्व जिनके गानकी एक कला हैं। जैसे समुद्र अनेक लहरनको घर है। अरु काहूकी एक लहरसों उपमा दीजै, ऐसे गन्धर्व गानकी कला हैं। स्वामीजी तौ सम्पूर्ण हैं। गन्धर्व कला हू काहूकी समझन्त्य है पर उपमा दिए बिना गायनके स्वरूपकी पहिचान नहीं होइ है।"

महामधुर रस सार नित्य-विहार प्रवर्तक-रसिक सम्राट् अनन्य-नृपति

श्रीस्वामी हरिदास जी महाराज
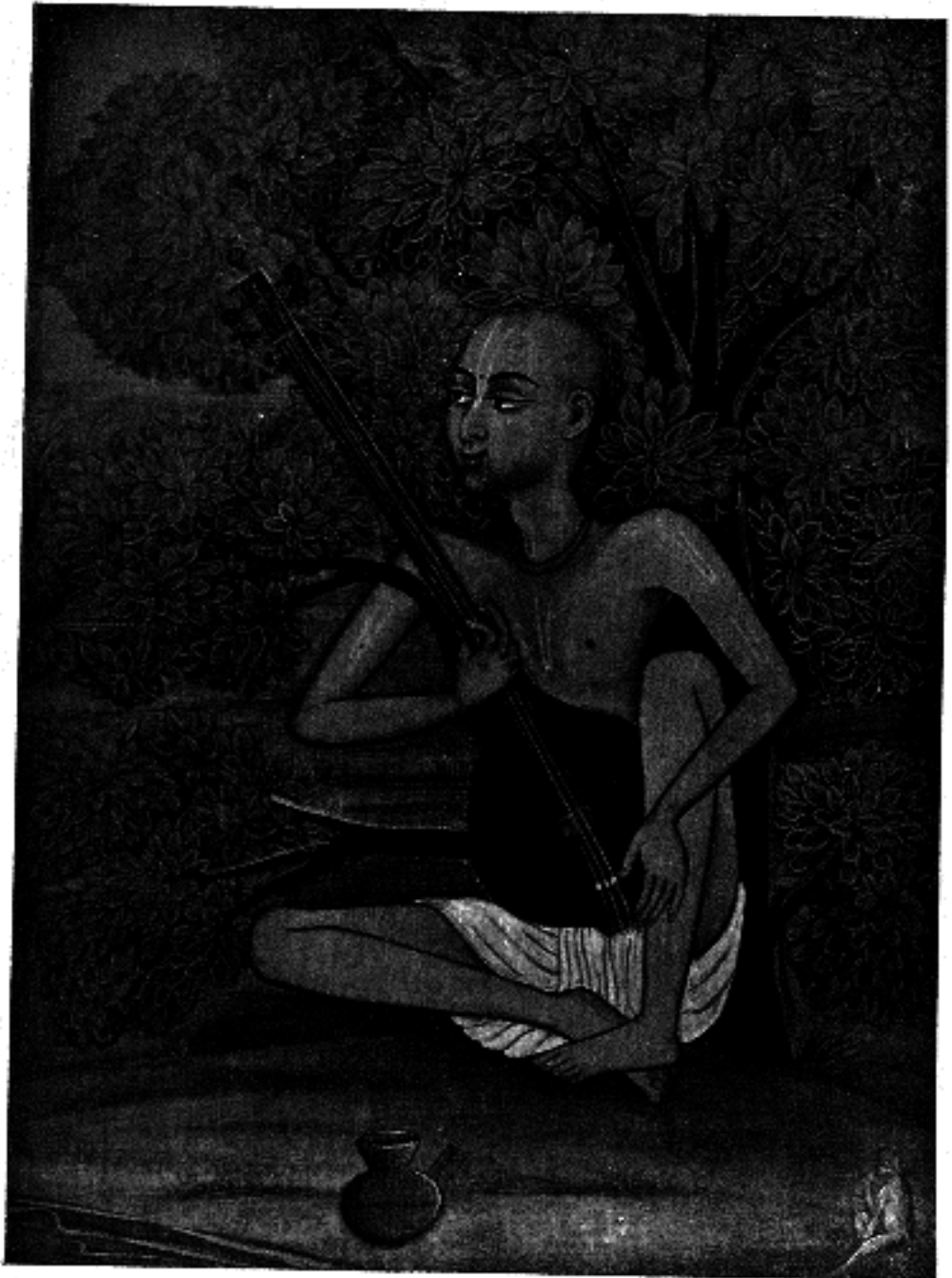
करते हैं, जबकि बेचारे गन्धर्व सामान्य इन्द्रादि देवोंको प्रसन्न कर पाते हैं । आप बड़े सुन्दर, सरस, सुस्वाद, सुकोमल और मधुर पकवानों को श्रीविहारीजी महाराजके भोग लगाकर वृन्दावन के मोर, बन्दर, मछली, कछुए आदिको खिला दिया करते थे । आपके दर्शनोंकी प्रतीक्षामें बड़े-बड़े चक्रवर्ती सम्राट् दरवाजेपर खड़े रहते थे । आपने अपनी अद्भुत प्रतिभा द्वारा स्वामी आशुधीरदेवजीके स्वरूपको संसारमें प्रकाशित किया । आपकी अनन्यरसिकताकी छाप (डंका) संसारमें प्रसिद्ध है ।

जपत नित कुंजविहारी—इस शब्दके प्रयोग करनेका तात्पर्य श्रीनाभाजीका यही है कि श्रीस्वामी जी नित्यनिकुञ्ज-मन्दिरमें विहार करनेवाले श्रीश्यामाश्यामके ही अनन्य उपासक हैं । श्रीस्वामीजीने स्वयं कहा है—

श्रीहरिदासके स्वामी श्यामा कुञ्जविहारी प्राननिके आधारनि ॥

\+ \+ \+ \+ \+

श्रीहरिदासके स्वामी श्यामा कुञ्जविहारी मन रानी ॥

अवलोकत रहैं केलि—'अवलोकत रहैं केलि' तथा 'स्याम-स्यामाको तोषैं' इन वाक्यों में प्रयुक्त वर्तमान कालिक क्रियाओंसे यह परिलक्षित होता है कि श्रीस्वामीजी इस आचार्य-वपुसे ही श्रीश्यामाश्यामकी नित्यकेलिका अहर्निशि अवलोकन किया करते थे और अपने अद्वितीय संगीतसे उन्हें रिझाया करते थे ।

सखी सुख के अधिकारी—'सखी-सुख' का शाब्दिक अर्थ है 'सहचरियोंका सुख' । यह सहचरि-सुख श्रीश्यामाश्यामका नित्य-विहार ही है, जैसा कि आपके प्रशिष्य श्रीस्वामी बिहारिनिदेवजीने कहा है—

नित्यविहार अधार हृदय धरि आपनि प्राननि यों पलि हौं ।
रवनीहिं रमैं सुख देत हमैं श्रीविहारी-विहारिनिकी बलि हौं ॥

स्वामी श्रीललितमोहिनीदेवजी ने भी कहा है—

यह सुख पीवत जीवत हम सब देखत केलि तरंगी ॥

इस सखी-सुखके अधिकारी श्रीस्वामीजी ही हैं, इस सम्बन्धमें श्रीगुरुदेवजीकी वाणी कितनी सुस्पष्ट है—

कूंची नित्य-विहारकी श्रीहरिदासी हाथ ।
सेवत साधक सिद्ध सब जाचत नावत माथ ॥

× × ×

दम्पतिके सुखमें सुखित अपसुख गन्ध न लेस ।
किशोरदास या देसके सूछम दुर्गम देस ॥
सूछम दुर्गम देसके श्रीहरिदास नरेस ॥ (स्वामी श्रीकिशोरदासजी)

स्यामस्यामाको तोषैं—इस सम्बन्धमें स्वामी श्रीनागरिदेवजीके शिष्य श्रीकृष्णदासजीका एक पद देखिए—

अंग संग श्रीहरिदास विहार करावहीं ।
मनमि लिये अनुसार सहज दिन भावहीं ॥

सुख संपति रहैं साजि समयोपाय सु पावहीं।
तान तरंग मधुर सुर राग सुनावहीं॥
तान तरंग सुनाइ मधुर सुर कुंवर कुंवरि सुख पावहीं।
रीझि-रीझि सावासि कहि हँसि हार बसन पहिरावहीं॥

रसिक छाप हरिदासकी—आपकी अनन्य-रसिकता विश्व-विख्यात है। श्रीव्यासजी महाराजने इस सम्बन्धमें कहा है—

अनन्य नृपति श्रीस्वामी हरिदास।
× × × ×
ऐसौ रसिक भयौ नहिं ह्वै है भूमंडल आकास॥

और भी देखिए—

सो पथ श्रीहरिदास सह्यौ रस रीतिकी प्रीति चलाय निशांकौ।
निसाननि बाजत गाजत 'गोविंद' रसिक अनन्यनिकौ पथ बांकौ॥ (श्रीगोविन्द स्वामी)

भक्ति-रस-बोधिनी

स्वामी हरिदास रसरास, को बखान सकै? रसिकता छाप जोई जाप मधि पाइयै।
ल्यायौ कोऊ चोवा, वाकौ अति मन भोवा यामैं, डारयौ लै पुलिन, यह 'खोवा' हिये आइयै॥
जानिकै सुजान कही, 'लै दिखावौ लाल प्यारे' नैसुक उघारे पट, सुगंध उड़ाइयै।
पारस पाषाण करि जल डरवाय दियौ, कियौ तब शिष्य ऐसे नाना विधि गाइयै॥३६७॥

अर्थ—श्रीस्वामी हरिदासजी महाराज अनिर्वचनीय महा मधुर-रसके अगाध समुद्र थे। नित्य-विहारमें निरन्तर लवलीन रहनेके कारण श्रीयुगलके द्वारा 'रसिक' नामसे सम्बोधित हो कर आपने अनन्य रसिकताकी छाप प्राप्त की थी अथवा रसिकोंकी (जाप) गणनामें सर्वोपरि प्रतिष्ठित होनेके कारण आपकी रसिक (अनन्य नृपति) संज्ञा हुई।

एक दिन किसी भक्तने अत्यन्त बहुमूल्य इत्र (चोवा) लाकर आपको भेंट किया। वह इत्र उसे अत्यन्त प्रिय था। श्रीस्वामीजी महाराजने उसे लेकर यमुनाकी बालूमें उड़ेल दिया। यह देखकर भक्तने समझा कि उसका इत्र स्वामीजीने अङ्गीकार नहीं किया और वह बेकार गया। श्री स्वामीजी महाराजने उसके मनके भावको समझकर अपने एक शिष्यको आदेश दिया कि इसे श्रीबाँके बिहारीजी महाराजके दर्शन करा लाओ। भक्तको वहाँ ले जाकर शिष्यने जब पट खोले तो उसे मालूम पड़ा कि इत्रकी महकसे सारा निकुञ्ज महक रहा है। श्रीस्वामी जीके प्रभावको समझकर अब वह भक्त उनके चरणोंमें गिर पड़ा।

इसी प्रकार दीक्षाके लिए आए हुए एक व्यक्तिने जब आपको पारस-मणि भेंट की तो आपने उसे सामान्य पत्थरके समान यमुनामें डलवा दिया और तब उसे शिष्य किया। श्री स्वामीजीके सम्बन्धमें ऐसी अनेक गाथाएँ हैं जिनसे उनके अलौकिक त्याग और अनन्यताका परिचय मिलता है।

विशेष वृत्त—रसभूमि श्रीवृन्दावनके निकट राजपुर गाँवमें सनाढ्य-कुल-भूषण श्रीगङ्गाधरजी की सती साध्वी धर्मपत्नी परम सौभाग्यवती श्रीचित्रादेवीकी कुक्षिसे विक्रम सं० १५३७ भाद्रपद शु० ८ को श्रीस्वामी हरिदासजी महाराजका आविर्भाव हुआ था । यह वह दिवस था जब व्रजमें चारों ओर उल्लास ही उल्लास छाया हुआ था। वृषभानुनन्दिनी श्रीकिशोरीजीके जन्म-दिनके उपलक्ष्यमें घर-घर मंगल-बधाई-गान होरहे थे । उत्सवमें उत्सव मिल गया । दो नदियोंने मिलकर महानदका स्वरूप धारण कर लिया । श्रीप्रिया-जन्मोत्सवके पुण्य दिन ही निकुञ्ज-विहारिणीकी निज सहचरी श्रीललिताजी श्रीहरिदास-रूपमें इस धरा-धाम पर अवतरित हुई थीं । पं० गंगाधरजी प्रसन्नताके मारे फूले नहीं समाते थे । उनके अनन्य मित्र—जपना, भगना, भीला आदि यह सुनकर दौड़ पड़े । साथ ही अन्य लोगोंका समुदाय भी आनन्दातिरेकसे झूमता हुआ पं० गंगाधरजीके घरकी ओर उमड़ चला । श्रीहरिदासजीके ममेरे भाई श्रीबीठलविपुलजी (जिनकी अवस्था उस समय पाँच वर्षकी थी) को तो इस शुभावसरपर अत्यधिक आनन्द हुआ । श्रीगंगाधरजी अपने मित्र एवं गुरुभाई—जपना-भगना, भीलाको साथ लेकर गुरु-स्वामी श्रीआशुधीरदेवजी महाराजके पास पहुँचे और यह आनन्द-समाचार उन्हें सुनाया । तत्काल ही श्रीआशुधीरदेवजी नवजात शिशुको देखने एवं आशीर्वाद देने चल दिए । उन्हें यह बात पहिलेसे ही ज्ञात थी कि इस शिशुके रूप में साक्षात् श्रीललिताजीने ही अवतार लिया है । वे जब पं० गंगाधरजीके घर आए तो नवजात शिशुको उनके चरणोंमें समर्पित कर दिया गया । आपने परम प्रसन्न हो उसे हृदय से लगाया और पुनः पालन-पोषण-मात्रके लिए उसके माता-पिताको लौटा दिया । यथासमय बालकका नामकरण-संस्कार हुआ और उसका नाम रक्खा गया 'हरिदास' ।

श्रीहरिदासके सुन्दर गौर-वर्ण, दिव्य-स्वरूप एवं अद्भुत बाल-केलिको निहारकर आपके माता-पिता एवं परिवारके अन्य जन अपने गृह-कार्योंको भी भूल जाया करते थे । क्यों न भूलें ? जहाँ प्रेमस्वरूपा साक्षात् श्रीललिताजीने ही अवतार लिया हो वहाँ ऐसा होना स्वाभाविक ही था ।

बालकपनसे ही श्रीहरिदासजीको संसारकी नश्वरताका ज्ञान था । इसीलिए वे कंचन और कामिनी को हेय समझते थे । श्रीयुगलका गुण-गान ही आपको प्रारम्भसे रुचिकर था । इस प्रकार जब आपने किशोर-अवस्थामें पदार्पण किया तो गुरु श्रीस्वामी आशुधीरदेवजीने आपका उपनयन-संस्कार किया और श्रीयुगल-मन्त्रकी दीक्षा दी ।

श्रीहरिदासजी निकुञ्जविहारीके ध्यानमें हर समय निमग्न रहा करते थे । एकान्त स्थानकी चाह में कभी वे यमुना-पुलिनपर चले जाते और कभी वृन्दावनकी शान्त-निभृत निकुञ्जोंमें आराध्यके ध्यानमें लीन हो जाते ।

एक बार शरद्-पूर्णिमाकी निर्मल विभावरी थी । आकाश उल्लसित था । वसुन्धरा दुग्धस्नाता होकर किसीके स्वागतमें मानों सज-धज कर शान्तिसे प्रतीक्षा कर रही थी । श्रीहरिदासजी इस परम-रमणीय समयको व्यर्थ नहीं खोना चाहते थे । वे चल दिए श्रीश्यामा-श्यामके ध्यानमें मग्न होकर और फुल्ल-पंकज-पुञ्जोंके आमोदसे व्याप्त मानसरोवरके किनारे आकर बैठ गए । मानस-तलको तरङ्गित करता हुआ पवन कुछ उन्मत्त-सा प्रवहमान हो रहा था । चकित-सा मराल-युग्म जल तरङ्गोंकी गोदमें मचलता हुआ किसी अपूर्व आनन्दातिरेकसे झूम रहा था । श्रीहरिदासजी परम-रमणीय लता-गुल्म-कल्पित मनो-मुग्धकारिणी निकुञ्जके पार्श्ववर्ती स्थलकी उज्ज्वल बालुकामें ध्यानस्थ हो गए ।

इधर जब स्वामी श्रीआशुधीरदेवजीसे पं० गंगाधरजीको यह मालूम हुआ कि उनके पुत्र साधारण मानव नहीं हैं, अपितु उनके रूपमें श्रीयुगलकी नित्य-सहचरी श्रीललिताजीने ही अवतार लिया है, तो वे अपने मित्र जमना, भगना, भीला एवं श्रीबीठलविपुल आदि को साथ लेकर श्रीहरिदासजीके पास आए और उनसे निज स्वरूपके दर्शन करानेकी प्रार्थना की। पहले तो श्रीहरिदासजीने उनसे मना कर दिया; किन्तु बादमें उनके विशेष आग्रह और प्रेमको देखकर आपने उनकी अभिलाषा पूर्ण की एवं सबको श्रीयुगल-मन्त्रका उपदेश दिया। तदनन्तर सब मिलकर स्वामी श्रीआशुधीरदेवजीके पास निधुवनमें आए और श्रीगुरुदेवजीके चरणोंमें साष्टाङ्ग प्रणाम किया। देखते ही गुरुदेव समझ गए कि हरिदासने इन सबको अपना लिया है और बोले—"अब तुम सब युगल-उपासनाके अधिकारी हो गए हो।"

अनुकूल अवसर जानकर उसी समय हरिदासजी ने गुरुदेवजीसे विरक्त-वेश देनेकी प्रार्थना की। श्रीआशुधीरदेवजीने परम प्रसन्न होकर आपको विरक्त-वेशसे विभूषित किया। इस समय आपकी अवस्था पच्चीस वर्षकी थी। इसके बाद श्रीहरिदासजीने निधुवनराजको अपना निवास-निकेत बनाया। अब श्यामा-श्यामकी युगल-केलिका अवलोकन ही आपकी दिनचर्या बन गई। धीरे-धीरे आपकी कीर्ति दिग्-दिगन्तमें फैलने लगी और उसके साथ ही साथ बढ़ने लगी भक्त-शिष्योंकी संख्या।

श्रीबाँकेबिहारीजी महाराजका प्राकट्य—जिस प्रकार श्रीस्वामीजी महाराज ने स्वयं इस धराधाम पर अवतरित होकर श्रीवृन्दावनके ऐकान्तिक नित्य-विहारको प्रकट किया, उसी प्रकार आपके सेव्य अशेष-सौन्दर्य-माधुर्य-निकेतन श्रीनिकुंजबिहारीने भी स्वेच्छासे अवनि-तलपर अवतरित होकर आपके विशद एवं उज्ज्वल यशके परिमलसे विश्वको सुरभित किया। श्रीस्वामीजी निधिवनराजमें लताओंसे परिवेष्टित एक सुरम्य-स्थलमें जाकर विराजते थे और श्रीनिकुञ्जविहारीकी नित्यलीलाओंका अवलोकन किया करते थे। श्रीस्वामीजीको उस स्थलकी नित्यप्रति वन्दना करते देख शिष्योंको बड़ा आश्चर्य होता। एक दिन उन्होंने स्वामीजीसे इसका कारण पूछा। श्रीस्वामीजीने मुस्कराकर उसी स्थलकी ओर संकेत किया। सभीने उधर देखा तो उन्हें वहाँके अन्धकारमें फूटती हुई एक अलौकिक ज्योतिमें श्रीश्यामा-श्यामका रंगमहल दिखाई दिया जहाँ एक-प्राण-दो-देह श्रीयुगल क्रीड़ा कर रहे थे। उस दिव्य दृश्यको देखकर श्रीबीठल-विपुलका मन पुलकित हो गया। स्वामीजीका संकेत पाकर वे उस निकुंजमें प्रविष्ट हुए और सेवाकी 'झारी' को उठाकर बाहर ले आए। इसके बाद जब वे दुबारा भीतर गए तो उन्होंने देखा कि न तो वहाँ ललना-लाल ही हैं और न वह रङ्गमहल ही। प्रियाकी कमनीयता एवं प्रियतमकी इन्द्र-नीलमणि-कान्तिसे युक्त भुवन-मोहन एक दिव्य विग्रह वहाँ दिखाई दिया। भावावेशमें उस मनोहर मूर्तिको अंकमें भरकर श्रीबीठलविपुलजी बाहर ले आए। उस मनोमुग्धकारी दिव्य मूर्तिका नाम ही श्रीबाँके-बिहारी हुआ। मार्गशीर्ष शु० ५ का यह दिवस 'बिहार-पञ्चमी' के नामसे श्रीबाँकेबिहारीजी महाराजके प्राकट्योत्सवके रूपमें आज भी समारोह-पूर्वक मनाया जाता है।

अखिल-रसामृतमूर्ति श्रीनिकुञ्जबिहारीके इच्छावपु धारण करनेका समाचार सुनकर समस्त रसिक प्रेमी-भक्त, नरनारी अनुरागमें मग्न श्रीनिधिवनराजमें आए। उनकी इस प्रेममयी अवस्थाको देखकर स्वामीजीने सबको उस आनन्दमूर्तिका दर्शन कराया। सब झूम उठे उस पुनीत पर्वपर और अनेक प्रकारके जयघोष करते हुए आनन्दार्णवमें डूब गये।

अब श्रीस्वामीजी नित्यविहारमें अहर्निश मग्न रहते हुए भी पूर्ण अनुरागसे श्रीबिहारीजी महाराज की सेवा स्वयं करते थे। श्रीबिहारीजी महाराज, श्रीस्वामीजीको किसी प्रकारका श्रम न हो, इसलिये

नित्य-प्रति बारह मोहर अपने चरणोंसे प्रकट कर दिया करते थे । उन्हींसे सुन्दर, सुस्वादु पकवान बनाकर श्रीबिहारीजी महाराजका भोग लगाते और मोर-मर्कट, कछुए, मछलियों एवं समागत सन्त-महात्माओंको वितरण कर दिया करते थे । इतना होने पर भी श्रीस्वामीजी स्वयं थोड़ेसे चने पाकर ही रहते । आपके सम्बन्धमें 'निजमत सिद्धान्त' में कहा है—

> व्यंजन बनत विशाल सुसारा । ताको या विधि करत बिचारा ॥
> ताके तीन विभाग बनावैं । एक ढेर मरकट सब खावैं ॥
> एक ढेर पक्षी चुग जावें । एक मीन कच्छप डरवावें ॥
> श्रीस्वामी नित चना मँगावें । टका तीन दिनभर उठ पावें ॥

चोवा (इत्र) की भेंट—श्रीप्रियादासजीने चोवा लानेवाले एक भक्तकी गाथाका संकेत टीकाके कवित्तमें किया है । वह घटना निम्न प्रकार है—

लाहौरमें 'विशानी' नामके एक भक्त रहा करते थे । एक बार हृषीकेश नामके एक ब्रजवासी महात्मा आपके यहाँ आए । उनके मुखसे श्रीस्वामीजी एवं श्रीबाँकेबिहारीजी महाराजका अद्भुत प्रभाव एवं प्रशंसा सुनकर वे बड़े प्रसन्न हुए । उनके मनमें श्रीवृन्दावनके दर्शनकी लालसा बलवती हो गई । उन्होंने हृषीकेशसे पूछा—"स्वामीजी क्या भेंट स्वीकार करते हैं ?" उन्होंने कहा—

> **कै सुगंध कै रागवर, पुनि अनुराग समेत ।**
> **श्री हरिदास विलास मय भेंट कृपा करि लेत ॥**

अर्थात्—"श्रीस्वामीजी या तो श्रीबिहारीजी महाराजके गुणगान-श्रवणसे प्रसन्न होते हैं अथवा उन्हीं श्रीनिकुञ्जबिहारीके लिए पुष्प, इत्र आदि सुगन्धित चीज स्वीकार करते हैं ।"

यह सुनकर श्रीविशानीके आनन्दका वारपार न रहा । उन्होंने उत्तम-से-उत्तम इत्र तैयार करवाया एवं कुछ साथियों के साथ परमानन्दित होते हुए चल दिए श्रीस्वामीजी महाराजके नामकी रट लगाते हुए और वृन्दावनधाममें आ पहुँचे । श्रीधामकी दिव्य शोभाको देखकर वे आनन्दमें झूम उठे । यमुना-पुलिनमें आकर उन्होंने देखा कि श्रीस्वामीजी महाराज रसिक-मण्डलीके मध्य विराज रहे हैं ।

श्रीस्वामीजी उस समय भावनामें श्रीश्यामाश्यामको होली खिला रहे थे । आप श्रीप्रियाजीकी ओर थे और समस्त सखि-परिकर था प्रियतमकी ओर । दोनों ओरसे होलीकी धूम मची हुई थी । यद्यपि आपके चारों ओर दूसरे रसिक-सन्त और भक्त भी बैठे थे, पर इस दृश्यका अवलोकन श्रीस्वामीजी ही कर रहे थे । श्रीप्रियतमने पिचकारी भर रखी थी और वे श्रीप्रियाजी पर छोड़नेवाले ही थे कि विशानी भक्तने इत्रकी शीशीको स्वामीजीकी ओर बढ़ाकर भेंट-स्वरूप समर्पित किया । स्वामीजीने उसे तुरन्त उठाकर वहीं पुलिनमें उड़ेल दिया । अपनी भेंट अस्वीकृत देखकर विशानीको बड़ा दुःख हुआ । श्रीस्वामीजी उसके मनका भाव समझ गए । उन्होंने अपने शिष्यको आज्ञा दी कि इन्हें श्रीबाँकेबिहारीजी महाराजके दर्शन करा लाओ । ज्योंही निधिवनराजमें लता-मन्दिरके अन्दर वह दर्शन करने गया और पट खुले, त्योंही वास्तविकताका पता लग गया । उसके द्वारा लाए गए इत्रकी मोदमयी सौरभ-लहरियों से सम्पूर्ण निकुञ्ज व्याप्त था । उसने जैसा स्वामीजीके सम्बन्धमें हृषीकेशसे सुना था यहाँ आकर उससे भी अधिक पाया । हरि-हरिदासमें कोई अन्तर नहीं । [illegible]

वह लौटकर श्रीस्वामीजीके पास आया और उनके चरणोंमें गिरकर शिष्य होनेकी प्रार्थना की। उसके दैन्यपूर्ण वचनोंको सुनकर श्रीस्वामीजीने उसे नित्यनिकुञ्ज-मन्दिरमें होनेवाली होलीकी एक झलक दिखलाई। देखते ही वह बेसुध होगया। पुनः सचेत होकर वह आपके चरणोंमें गिर पड़ा। आपने अपना वरद हस्त उसके ऊपर रखा और उसे श्रीरूप गोस्वामीके पास मन्त्रोपदेश ग्रहण करनेको भेज दिया। इसके बाद समुपस्थित अन्य रसिकोंकी प्रार्थनापर आपने उन्हें भी उस दिव्य झाँकीका दर्शन कराया। देखकर सभी छके-से रह गए।

पारस-परित्याग—जसरोटो (पंजाब) में दयाराम नामके एक सारस्वत-ब्राह्मण अपनी सती-साध्वी भक्तिमती पत्नीके साथ रहा करते थे। ब्रह्मकर्ममें रत, सत्यवादी एवं साधु-ब्राह्मण-सेवी होने पर भी इनके पास धनका अभाव था। दयारामसे एक बार उनकी पत्नीने कहा कि धनके अभावमें हमारे स्वार्थ-परमार्थ सब बिगड़ रहे हैं, अतः कोई उपाय करना चाहिए। दोनों इसी उद्देश्यसे जम्बू-पर्वत पर गए और तपस्याके द्वारा ऋक्षराजको प्रसन्न करके उन्होंने एक पारस-पत्थर प्राप्त कर लिया। साथ ही ऋक्षराजने यह भी कहा कि बारह वर्षके उपरान्त यह पारस आपके पास न रहेगा। पारस लेकर दयाराम अपने घर आया और उसकी सहायतासे दीन-दुखियों एवं साधु सन्तोंकी यथेष्ट सेवा करने लगा।

जब दस वर्ष व्यतीत होगए तो दयारामकी पत्नीने उससे कहा कि दो वर्ष बाद तो यह मणि चली ही जायगी। इसे पहले ही किसीको दान करके परमार्थ क्यों नहीं किया जाय? दयारामकी समझ में उसकी बात आगई। दोनों दम्पति बैजनाथके दर्शन करने गए। उस स्थानपर श्रीशङ्कर भगवानसे रसिकराज श्रीस्वामी हरिदासजी महाराजके दर्शनकी प्रेरणा लेकर वे वृन्दावनकी ओर चल दिए। काशीमें उनकी पत्नीका देहान्त होगया, किन्तु इसका कोई भी प्रभाव दयारामपर नहीं पड़ा। वे अकेले ही श्रीवृन्दावन-धाम पहुँचे और निधिवनराजमें जाकर सन्त-मण्डलीके बीच स्थित श्रीस्वामीजीके दर्शन किए। अपनी अमूल्य मणि तो उनके चरणोंमें रखकर दयारामने दीक्षाकी प्रार्थना की। जो श्यामाश्याम के चरणारविन्दके सामने एक पारस क्या, तीनों लोकोंके अतुलित ऐश्वर्यको भी तृणवत् गिनते थे, उन्हें भला इस पत्थरके टुकड़ेसे क्या प्रयोजन हो सकता था? उन्होंने दयारामको उसे यमुनामें फेंक देनेकी और स्नान करके फिर वापस आनेकी आज्ञा दी और कहा—"जिसको परम धन समझकर तुमने इस प्रकार सुरक्षित रखा है वास्तवमें वह पत्थर है। सच्चा पारस तो रसिकोंका सत्सङ्ग और श्यामाश्यामका गुण-गान है।" दयारामने ऐसा ही किया। पारस यमुनामें डालकर और स्नान करके जब वह वापस आया तो स्वामीजीने उसे दीक्षा देकर उसका नाम दयालदास रख दिया।

कुछ दिन बाद दयालदासके मनमें पारस-पत्थरके ख्याल फिर घुमने लगे। श्रीस्वामीजी महाराज से भला यह कैसे छिपा रह सकता था? एक दिन जब दयालदास स्नान करने जाने लगे तो आपने कहा—"स्नान करके एक अंजलि भरकर यमुनाकी रज लेते आना।"

दयालदासजीने स्वामीजीकी आज्ञानुसार स्नान करके जैसे ही यमुनाकी रज अंजलीमें भरकर निकाली तो आश्चर्यका ठिकाना न रहा। हाथ अनेक प्रकारके पारसोंसे भरे थे। दयालदास अब स्वामीजी की महिमाको भली-भाँति समझ गये। पारसके प्रति उनका ममत्व समू[illegible]ल होगया और वे मन लगाकर श्यामाश्यामकी उपासनामें तल्लीन रहने लगे।

तानसेन पर कृपा—बुन्देलाके राजा श्रीराजारामके दरबारके अद्वितीय गायक तानसेनकी सङ्गीत-दक्षतासे प्रायः सभी लोग परिचित हैं। बारह वर्षकी कठोर साधनाके बाद उसे दीपक-राग सिद्ध हुआ। इस रागका प्रयोग राजारामके दरबारमें हुआ। एक विशाल सङ्गीत-सम्मेलनकी घोषणा की गई। अनेकों गायक राजदरबारमें सम्मानित होकर अपने-अपने स्थानोंपर जा बैठे। आजके दरबारका मुख्य गायक था तानसेन। वह दीपक-रागका प्रयोग करनेवाला था। दीपोंकी पंक्ति लगाकर उनमें तेल तथा बत्तियाँ डाल दी गईं। तानसेनने अपने इष्टका ध्यान करके ज्योंही दीपक-राग गाया कि सब दीपक एक साथ जल उठे। यह चमत्कार देख समस्त सभासद तानसेनकी भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगे। राजाने भी प्रसन्न हो उसे तथा अन्य साजिन्दोंको पुरस्कार दिया।

सङ्गीत-दरबारकी समाप्तिपर सभासद तानसेनकी प्रशंसा करते हुए अपने-अपने निवास-स्थानको चले गए। सब कुछ हुआ, पर तानसेन दीपक-राग गाकर उसे शान्त न कर सका। परिणाम-स्वरूप उसके सारे शरीरमें जलन पैदा होगई और वह विकल हो उठा। राजारामने अनेक उपचार करवाए, पर जलन शान्त न हुई। अन्तमें तानसेनने कहा—"यह जलन तो तभी मिट सकती है, जब कोई मेघ-मलार राग गाकर वर्षा कर दे।"

तानसेन उसी उपचारकी तलाशमें ओरछा आया। वहाँ की एक स्त्रीने उसकी हालतको देखते ही बतला दिया कि वह दीपक-रागका जला है। स्त्रीने तानसेनकी प्रार्थनापर मेघ-मलार गाकर पानी बरसाया; तब कहीं जाकर उसकी जलन शान्त हुई। वह स्त्रीके पैरोंपर पड़ गया और उससे मेघ-मलार सिखा देनेकी प्रार्थना की। उसने इसके लिए अपने आपको असमर्थ बतलाते हुए कहा—"भैया! तुम अशेष-गान-कलाके अद्वितीय आचार्य रसिक-शिरोमणि श्रीस्वामी हरिदासजी महाराजके पास चले जाओ, उनके कृपा-कटाक्ष-मात्रसे समस्त रागिनियाँ तुम्हारे अन्तःकरणमें आविर्भूत हो जायँगी।" तानसेन वहाँ से निधिवनराजमें आया। उस समय रसिक-नरेश श्रीस्वामीजी लाड़िली-लालको अपना मधुर-गान सुना रहे थे। सुनकर तानसेन छका-सा रह गया। उसे लगा, जैसे माधुर्य, साधना और ज्ञानकी प्रतिमा ही सामने उपस्थित हो गई हो। होश आनेपर वह श्रीस्वामीजीके चरणोंमें गिर पड़ा और मलार-राग सिखा देनेकी प्रार्थना करने लगा। श्रीस्वामीजीने उसकी पात्रताको समझकर गानेका आदेश दिया तो वह सही उतार ले गया। सहसा आकाशमें बादल घिर आए और रिमझिम पानी बरसने लगा। तानसेनका मन-मयूर नाच उठा। उसने और भी राग-रागिनियाँ इसी प्रकार स्वामीजीकी कृपा-मात्रसे ही सीख लीं। अन्तमें तानसेनने स्वामीजीसे प्रार्थना की कि मुझे अब अपना शरणागत (शिष्य) बना लीजिए। स्वामीजीने इसके उत्तरमें कहा—"तुमको हमारा यही मन्त्रोपदेश है कि आजके बाद हमेशा इस रसनासे श्रीहरिका यशोगान करो।" तानसेन आज्ञा पाकर कृतकृत्य हो गया।

अकबर पर अनुग्रह—तानसेनके उत्कृष्ट गायनकी प्रशंसा सुनकर बादशाह अकबरने उसे बुलाया और गाना सुनानेका हुक्म दिया। तानसेनने कहा कि यदि आप गाना सुनना चाहते हैं, तो एक दिन-रात नगरसे बाहर मैदानमें तम्बू-डेरा लगवा कर रहिए, तभी आप नाद-ब्रह्मका साक्षात्कार कर सकते हैं।

बादशाहने यमुनाके किनारे पण्डालका निर्माण करवाया। संगीत-प्रेमी समस्त व्यक्ति वहाँपर एकत्रित हुए। तानसेनने श्रीस्वामीजीका ध्यान करके मेघ-मलार गाना प्रारम्भ किया कि आकाशमें बादलोंका घटा-टोप छा गया, बिजली तड़कने लगी और इतना पानी बरसा कि चारों ओर जल ही जल दिखाई देने

लगा। बादशाहके आनन्दका ठिकाना न रहा। उसने तानसेनकी अनेक प्रकारसे प्रशंसा करते हु कहा—"गायक! तुम्हारे समान इस दुनियामें कोई दूसरा संगीतज्ञ नहीं है...।"

तानसेनने कानोंपर हाथ लगा लिए और बीचमें ही बोला—"जहाँपनाह! मुझ नाचीज की हस्ती ही क्या है? मैं तो संगीत-सूर्यकी एक किरण-मात्र हूँ। अपने गुरुदेवके संगीत-सागरके सामने मेरी बिसात बूंद-भर भी नहीं है।"

यह सुनकर अकबरको स्वामीजीके दर्शनकी चटपटी लग गई। उसने कहा—"तानसेन! हमको भी अपने गुरुदेवके दर्शन कराओ।" तानसेनने पहिले कुछ समय तक तो टालमटोल किया, किन्तु जब उसने देखा कि बादशाह को हर समय यही धुन सवार है तो एक दिन स्पष्ट कह दिया—"मेरे गुरुदेव अह-निश अपने इष्टकी सेवा और ध्यानमें मग्न रहते हैं। उनपर बादशाहतका रौब गालिब नहीं हो सकता। सच पूछिए, तो बादशाहोंकी वहाँ पहुँच भी नहीं। अगर आपको चलना ही है, तो मेरे खवास बनकर तानपूरा उठाकर चलना होगा; तभी आप उस दिव्यस्थलीमें प्रवेश पा सकते हैं।" बादशाह सहमत हो गया। दोनों जने चुपचाप आए। वृन्दावनके पास आकर बादशाहने खवासका वेश बदला, तानपूरा उठाया और तानसेनके पीछे-पीछे चल दिया। अनन्य-नृपतिके दरबारमें दोनों उपस्थित हुए। अकबर तो दूर खड़ा रहा। तानसेन उसके हाथसे अपना तानपूरा लेकर श्रीस्वामीजीके पास गया और साष्टाङ्ग प्रणाम करके बैठ गया। श्रीस्वामीजीने उसे गानेकी आज्ञा दी तो वह गाने लगा, किन्तु उसे तो आज श्रीस्वामीजीके मुखसे सुनना था और अकबरको सुनाना था। उसने राग चुका दिया। स्वामीजीने उसे बतलानेके लिए ज्योंही तानपूरा उठाकर गाना आरम्भ किया कि मेघ-मलार साक्षात् मूर्तिमान् होकर उपस्थित होगया, वर्षाकी झड़ी लग गई। अकबर सुनकर चकित रह गया और श्रीस्वामीजीके चरणोंमें गिर पड़ा। उनसे छिपा ही क्या था? उन्होंने उसे भी आशीर्वाद देकर कृतार्थ किया।

बादशाहने किसी योग्य सेवाके लिए स्वामीजीसे आग्रह किया। स्वामीजीने पहले तो स्वीकार ही नहीं किया, किन्तु जब अकबर विशेष आग्रह करने लगा, तो आपने आज्ञा दी—"हमारे घाटकी एक सीढ़ीका कोना टूट गया है, उसे ठीक करा दो।"

बादशाह निराश हो गया। बड़ी कठिनाईसे सेवा बतलाई, सो भी क्या? एक सीढ़ीकी मरम्मत-मात्र! मन-मार कर वह घाटकी ओर बढ़ा। देखा तो दृष्टि चकाचौंध हो गई।

दिव्य-वृन्दावनकी मणि-जटित सोपानमाला अपनी प्रखर प्रभासे प्रकाशित हो रही थी। नेत्र ठहराए नहीं ठहरते थे। बड़ी कठिनाईसे जब गौर करके देखा तो पता लगा कि एक सीढ़ीका जरा-सा कोना टूट गया है। उसकी आँखें आश्चर्यसे फटीकी फटी रह गईं। पागलों-सा वह लौट आया स्वामीजी के पास और चरणोंमें गिर कर क्षमा माँगता हुआ बोला—"महाराज! यदि करोड़ों जन्मों तक मैं बादशाहत करता रहूँ, फिर भी मेरी इतनी शक्ति नहीं हो सकती कि मैं उस दिव्य-घाटका सुधार करवा सकूँ।" उसने स्वामीजीकी आज्ञासे बन्दरों और मोरोंको चनोंका इन्तजाम करवाया और यह फरमान जारी कर दिया कि इस दिव्य-स्थलीके पशु-पक्षियोंका कोई भी आखेटक शिकार नहीं करेगा। इसके बाद अकबर तानसेनके साथ ही लौट गया। रास्तेमें उसने एक ठण्डी साँस भरकर कहा—"तानसेन! काश तुम भी स्वामीजीकी तरह गा सकते।"

तानसेनने दीर्घ निश्वास छोड़कर कहा—"जहाँपनाह ! यह कहाँ सम्भव है ? मैं गाता हूँ एक मुल्कके बादशाहके दरबारमें, वे गाते हैं सारे जहानके बादशाहके दरबार में । मेरी कला एक इन्सानकी खुशीके लिए है और उनकी है श्यामाश्यामकी प्रसन्नता के लिए ।"

प्रकाशानन्दको सन्मार्ग-प्रदर्शन—योगी प्रकाशानन्दने वर्षोंकी साधनाके उपरान्त योग की आश्चर्य-जनक सिद्धियाँ उपलब्ध की थीं । वे अपनी शक्तिकी परीक्षा लेनेके लिए ब्रजमें आए । उन्होंने सोचा, स्वामी श्रीहरिदासजी ही अनन्य-शिरोमणि हैं, उन्हीं पर अपनी शक्तिकी परीक्षा करनी चाहिए । वे इसी आशयसे श्रीस्वामीजीके पास आए । उस समय आप मोर-बन्दरोंको प्रसाद वितरण कर रहे थे । प्रकाशानन्दजी भी मयूर बनकर उनमें घुसने लगे । स्वामीजीने तत्काल ही उन्हें पहिचान लिया और कहा—"योगिराज ! तुम्हारे भाग्य खुल गए जो तुम दिव्य वृन्दावनमें आगए । यह तो श्रीकुञ्जविहारीकी असीम कृपाका ही फल है।" प्रकाशानन्दजी बड़े लज्जित हुए, पर अभी उनका अभिमान नहीं मिटा था । और भी अनेक प्रकारसे उन्होंने स्वामीजीकी परीक्षा लेना चाहा, मगर एक न चली । गर्व नष्ट होनेपर प्रकाशानन्दकी बुद्धिमें निर्मलता आई । वे श्रीस्वामीजीके चरणोंमें गिर पड़े और शिष्य होनेकी अभिलाषा प्रकट की । बहुत प्रार्थना करने पर श्रीस्वामीजीने युगल-मन्त्रका उपदेश देकर उन्हें सच्चा मार्ग दिखलाया । यही योगिराज प्रकाशानन्द (पर्वतपुरी) प्रकाशदासके नामसे आगे स्वामीजीके प्रधान शिष्योंमें प्रतिष्ठित हुए ।

अष्टछापके प्रसिद्ध कवि श्रीकृष्णदासजी अधिकारीके कुएँमें फिसल कर देहान्त हो जानेसे लोगोंको यह शंका हुई कि वे प्रेतात्माके रूपमें ही विचरण कर रहे हैं। इस अपवादको भी श्रीस्वामीजीने श्री श्रीनाथजीको उलाहना देकर दूर करवाया था ।

मानसिक उपासना करनेवाले एक सन्त महानुभावकी—जब वे भावनामें श्रीप्रियाजीका शृङ्गार कर रहे थे—वेणी खो गई । उनके अत्यन्त विकल होनेपर श्रीस्वामीजीने बतलाया कि वह पीपलके वृक्ष के नीचे पड़ी है ।

स्वामीजीका शिष्य-परिकर—आपके प्रधान बारह शिष्योंमें श्रीप्रकाशदासजी एवं दयालदासजी का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है । श्रीस्वामी बीठलविपुलदेवजी, जो सबसे प्रधान शिष्य एवं गद्दीस्थ थे, का चरित्र नाभाजी द्वारा लिखित ९४ वें छप्पयके साथ आगे दिया जायगा । श्रीव्यासजीके पुत्र श्रीकिशोरदासजी आपके शिष्य थे, उसका उल्लेख व्यासजीके चरित्रके साथ किया गया है । इन चार शिष्योंके अतिरिक्त अन्य आठ शिष्योंके नाम इस प्रकार हैं—श्रीदयालदास, श्रीमनोहरदास, श्रीमधुकरदास, श्रीगोविन्ददास, श्रीकेशवदास, श्रीअनन्यदास, श्रीमोहनदास और श्रीवलदाऊदास । इन आठों शिष्योंको स्वामीजीने एक ही साथ मन्त्रोपदेश दिया था । इस सम्बन्धमें एक घटना इस प्रकार है—

श्रीस्वामी आशुधीरदेवजीके प्रधान शिष्योंमें पहले श्रीस्वामी हरिदासजी थे और दूसरे थे श्रीदेवदत्तजी । ये देवदत्तजी अपना समस्त परिवार त्याग कर केवल परम-साध्वी पत्नी श्रीगिरिजादेवीजीके साथ श्रीवृन्दावन धाममें स्वामी आशुधीरदेवजीकी शरणागत हुए । कुछ समय बाद श्रीगुरुदेवजीसे भ्रमण करनेकी आज्ञा प्राप्तकर श्रीदेवदत्तजी गढ़मुक्तेश्वरमें गङ्गा-तटपर पहुँचे और वहाँ रहनेवाले सन्त-महात्माओंके साथ नित्य-प्रति भगवद्-भजन एवं संकीर्तन आदिमें प्रवृत्त होने लगे । आपके सम्पर्कमें आकर कुछ पुरजन

भी इतने प्रभावित हुए कि वे भगवानकी सेवा और सन्त-सत्कारमें आपके समान ही सतत तत्प रहने लगे। इसी समय कर्मकाण्डी ब्राह्मणोंका एक समूह वहाँ आ पहुँचा । सन्तोंका ऐसा प्रभाव देखक उन सबको बड़ी ईर्ष्या हुई और वे उनकी निन्दा करते हुए अत्यन्त ही कटु वचन कहने लगे, कि देवदत्तजीके मनपर इसका कोई भी प्रभाव न पड़ा और वे अत्यन्त ही विनीत होकर उन ब्राह्मणो कहने लगे—"हे ऋषिराज ! आप लोग कहाँसे पधार रहे हैं ? आपको कोई कष्ट तो नहीं ? आप बड़ी कृपा की जो हमें दर्शन देकर कृतार्थ किया ।" ब्राह्मणोंने कहा—"पहिले आप यह बतलाइए कि आपने यह पाखण्ड-वेष कहाँसे लिया ? कौन इसका आचार्य है और कहाँसे यह प्रचलित हुआ ?"

श्रीदेवदत्तजीने सभी प्रश्नोंका यथासाध्य उत्तर दे दिया, किन्तु वे आपकी बात माननेको तैयार ही कब थे ? वे तो केवल वेद-शास्त्रोंकी बात करते थे और उन्हींको सर्वश्रेष्ठ माननेके पक्षपाती थे । य देख श्रीदेवदत्तजीकी पत्नीने गायके मुँहसे वेद-पाठ करवाया । इस कौतुकको देखकर उनमें-से प्रधान आठ तो समझ गए कि वेदशास्त्रोंसे भी अधिक महत्त्व इस परमानन्दप्रदायिनी महापुनीता भक्तिका है और वे उसी क्षण श्रीदेवदत्तजीके चरणोंमें पड़ गए, किन्तु शेष अभी अपने हठपर जमे थे। उसी समय श्रीआशुधीरदेवजी वहाँ आ निकले । गुरुके चरणोंमें देवदत्त, पुरजन एवं उन आठोंने प्रणाम किया अब दोनों पक्षोंने निर्णयके लिये स्वामीजीसे प्रार्थना की । आशुधीरदेवजीने कहा—"जिसके हाथसे श्रीगङ्गाजी स्वयं पूजा ग्रहण कर लें वही पक्ष विजयी माना जाना चाहिए ।" दोनों पक्ष इस बातसे सहमत होगए और अपनी-अपनी पूजा लेकर भगवती भागीरथीके किनारेपर आगए । दोनों पक्षोंकी ओरसे गङ्गाजीको सामग्री अर्पण की गई । देवदत्तजीकी भेंट तो गङ्गाजीने अपने कर-कमलों द्वारा उसी क्षण ग्रहण कर ली, किन्तु ब्राह्मणोंका समूह रात तक बैठा रहा । उपस्थित जन-समूह श्रीगङ्गाजीके निर्णय पर जय-जयकार करने लगा ।

हार कर हठीले लोग तो भाग गए, किन्तु उन प्रधान आठ ब्राह्मणोंने अपना अज्ञान त्याग कर श्रीआशुधीरदेवजीकी शरण ग्रहण की और उन्हींके आदेशसे श्रीधाममें आकर श्रीस्वामी हरिदासजी महाराजसे दीक्षा ग्रहण की तथा वृन्दावन वास करने लगे ।

इस घटनाका वर्णन स्वामी श्रीआशुधीरदेवजीने एक साखीमें इस प्रकार किया है—

> बड़कुल जनमे कहा भयो, कहा बसे सुरसरी तीर ?
> आसुधीर सन्तन भजें पावन भयो सरीर ।।
> धन्य धन्य तिहुँपुर भयो, गई विप्रन की ऐंठ ।
> आसुधीर जग जानियो जब लई सुरसरी भेंट ।।

आपके उपर्युक्त बारह शिष्योंके सम्बन्धमें यह साखी प्रसिद्ध है—

> सिष्य स्वामी हरिदास के द्वादस परचेदार ।
> नाम लिए बहुते फिरैं कौन करै निरधार ।।
> द्वै दयाल किशोर मनोहर, मधुकर गोबिंददास ।
> केसौ अनन्य मोहन बलदाऊ, श्रीबीठलविपुल प्रकास ।।

श्रीधामकी रजका स्वरूप—ओरछा-नरेश श्रीराजाराम बुन्देला स्वामीजीका अनन्य-भक्त था ।

व्रजमें वह आता तो स्वामीजीकी सेवामें अवश्य उपस्थित होता । स्वामीजी अपने करवासे ही समस्त कृत्य किया करते थे । साथ ही श्रीबाँकेबिहारीका भोग भी मृण्मय-पात्रोंमें रखा करते थे । यह सब देख कर राजारामसे न रहा गया । एक दिन वह बोला—"महाराज ! मिट्टीके पात्र तो एक बार प्रयोगमें लानेके उपरान्त अशुद्ध मान लिए जाते हैं । मुझ-जैसे तुच्छ सेवकोंको भी आपकी कृपासे कोई कमी नहीं । आप आज्ञा करें तो श्रीबिहारीजीकी सेवाके लिए स्वर्ण-पात्र भिजवा दूँ ?"

उस समय श्रीबिहारीजी महाराजका भोग लग रहा था । स्वामीजीने राजारामको दर्शन कर आने की आज्ञा दी । उसने जाकर देखा तो चकित खड़ा रह गया । मृण्मय-पात्रोंके स्थानपर स्वर्ण-पात्र दमदमा रहे थे । जब वह लौटकर स्वामीजीके पास गया तो वे बोले—"राजन् ! श्रीधामकी रज स्वर्णसे भी अधिक पवित्र और बहुमूल्य है ।"

उपासना-पद्धति—स्वामीजीके सिद्धान्तोंके सर्वश्रेष्ठ ज्ञाता श्रीस्वामी बिहारिनिदेवजी हैं । उन्हें विद्वानोंने हरिदासी सूत्रोंका भाष्यकार कहा है । वास्तवमें आपने स्वामीजीके रस-सिद्धान्तोंका बड़ी सूक्ष्मतासे विवेचन किया है । उन्होंने बतलाया है कि उनकी उपासना अन्य उपासना-पद्धतियोंसे किस प्रकार भिन्न है । इस सम्बन्धमें गुरुदेव श्रीबिहारिनिदेवजी का एक पद उद्धृत कर देना यथेष्ट होगा—

कुंजबिहारी सर्बसुसार ।
श्रीस्वामी हरिदास उद्धरे रसिक अनन्यनि कौ आधार ॥
नित्य प्रगट गावत नहिं पावत सब श्रुति तत्व बिचार ।
इहि निज नाम धाम बृंदावन निरनै नित्य बिहार ॥
काम केलि रस और न परसत प्रेम समुद्र अपार ।
नित नव जोबन जोर किसोर किसोरी कंठ सिगार ॥
मत्त मुदित सहचरि सेवत नित लता ललित आगार ।
जानत सबै जगत क्यों जुवती छूवत न भै भूप भंडार ॥
जनम करम पूरन प्रभुके सब आस पास परिवार ।
अंस कला सब अवतारनि कौ अवतारी भरतार ॥
श्रीकृष्ण चरित्र त्रिधा त्रिभुवन बहु भक्ति भेद बिस्तार ।
जहाँ जुरस तहाँ तैंहि बैस सुष देत सबनि उदार ॥
गाय ग्वाल गोप गोपीजन न्यारौ ब्रज व्यवहार ।
सबतें दूरि दुरयौ दुर्लभ क्यों सुलभ होत सुकुमार ॥
जो चाहे चित दै निज महलनि कै अंग संग अनुसार ।
श्री बिहारीदास के यह मत गावत तिनकौ वार न पार ॥

भावार्थ यह है कि श्रीस्वामी हरिदासजी महाराजने रसिक अनन्योंके आधार श्रीप्रिया-प्रियतम के नित्य-विहारको इस अवनि-तलपर प्रकट किया है । यह नित्य-विहार शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और श्रृङ्गार आदि रसोंका सार है । भगवत्तत्त्वका नित्य गायन करनेवाले उपनिषत् भी इस (नित्य-विहार) को प्राप्त नहीं कर सकते । श्रीकुञ्जबिहारी-विहारिणी जिनका नाम है और श्रीवृन्दावन जिनका धाम है उन श्रीयुगलका यह नित्य-विहार ही व्रत है । वे अपार प्रेम समुद्रके काम-केलि-रसमय

नित्य-विहारको छोड़कर अन्य रसका स्पर्श भी नहीं करते हैं। नव-यौवनसे परिपूर्ण श्रीकिशोर-किशोरी नित्य एक दूसरेके कण्ठहार बने रहते हैं। ललित लताओंके उस कुञ्ज-महलमें केवल रसमें मत्त मुदित सहचरि-गण उनकी सेवामें तत्पर रहकर नव-नव नेहसे लाड़ लड़ाती हैं। इन सहचारि-गणोंके अतिरिक्त अन्य कोई व्यक्ति रस-सम्राट् इस नित्य-विहारका स्पर्श उसी प्रकार नहीं कर सकता जैसे चक्रवर्ति-सम्राट्के भण्डारको कोई युवती—भीरु व्यक्ति—भयके कारण नहीं छू सकता है।

यद्यपि प्रभुके सभी जन्म-कर्म तथा अन्य सम्बन्धित बातें पूर्ण एवं दिव्य हैं, तथापि ये श्रीकुञ्ज-विहारी सभीके स्वामी हैं और अन्यत्वरूप अंश-कलाओं द्वारा आपके विभिन्न प्रकारके अवतार हैं। लीला-पुरुषोत्तम श्रीकृष्णकी द्वारका, मथुरा और व्रज—तीन प्रकारकी लीलाएँ हैं। भक्तिके अनेक भेदोंके कारण इन लीलाओंका अत्यन्त विस्तार होगया है और श्रीकृष्णचन्द्र भक्तोंकी भावना एवं रसके अनु-कूल ही वयस तथा रूप धारण करके उदारता-पूर्वक सबको सुख देते हैं।

व्रजकी लीलाओंके भी तीन रूप हैं—वात्सल्य (गाय-ग्वाल), सख्य (गोप) और शृङ्गार (गोपीजन); किन्तु श्रीनिकुञ्जविहारी तो इनसे भी अत्यन्त दूर और दुर्लभ हैं एवं नित्य-निकुञ्ज-मन्दिर में छिपे हुए हैं। उन्हें जो प्राप्त करना चाहता है उसे तो उनके निज-महलकी सहचरियोंका ही अनुसरण करना पड़ेगा।

उपर्युक्त पदमें कुछ बातें विशेष ध्यान देनेकी हैं। पहली बात तो यह है कि श्रीनिकुञ्जविहारी-विहारिणीजू व्रजके राधाकृष्णसे भिन्न हैं।[१] वे श्यामा—कुञ्जविहारी तो नित्य-विहारको त्यागकर स्वप्न में भी निकुञ्जसे बाहर नहीं आते।[२] ये व्रजविहारी श्रीकृष्ण उन निकुञ्जविहारीके अंशकला-अवतार हैं दूसरी बात यह है कि श्रीकुञ्जविहारी-विहारिणीजू की विहार-स्थली श्रीवृन्दावन-धाम अत्यन्त ही अद्भुत और अलौकिक है। यहाँ षड्-ऋतुएँ अपने सौन्दर्य-प्रसाधनों के साथ हर समय एक साथ नित्य-विहारमें उपस्थित रहती हैं। तीसरी बात यह है कि श्रीकुञ्जविहारी-विहारिणीजूका नित्य-विहार निरन्तर चलता रहता है। वे दोनों इस प्रकार मिले रहते हैं कि गौर-श्यामके अन्तरका भी बोध नहीं होता। इतना होने पर भी दोनों अपूर्णता अनुभव करते हुए दिन-रात इसी प्रेम-क्रीड़ामें निमग्न रहते हैं।[३] उन्हें भूख-प्यास, निद्रा-जागरण—सभी विस्मृत होगया है। यह नित्य-विहार कामकी गन्धसे कोसों दूर है। अन्तिम बात इस सम्बन्धमें यह कहनी है कि विहारी-विहारिणीजूके इस नित्य-विहारमें निकुञ्ज-सखियोंकी ही प्रधानता है। वे श्रीयुगलकी अगणित अभिलाषाओं की पूर्तिमें व्यस्त रहती हैं और उनकी रुचि लेकर नव-नव क्रीड़ा-विधान किया करती हैं।

श्रीनिकुञ्जका यह अद्वितीय प्रेम-मार्ग विधि-निषेधके 'झंझारों' से बहुत दूर है। इसे आचार-विचार जैसे हृदयकी वृत्तिके कठोर कर देने वाले साधनोंसे दूर रक्खा गया है; क्योंकि यह भाव अत्यन्त ही कोमल और सूक्ष्म है।[४]

१—या व्रज के आचरण सुनि गोपी गाय गुवाल। तिनहू ते बिछुरत हुते रसिकन के प्रतिपाल ॥

२—जैसे जल के जन्तु जौ जल बिन रहैं न प्रान। याही अर्थे समझ जौ नित्यविहार निदान ॥

३—गौर स्याम छवि पांत में कौन करि सकै अंग बिभाग। (स्वामी बिहारिनिदेवजी)

मिलेई रहत मानौ कबहु मिलै ना—(स्वामी भगवतरसिकदेवजी)

४—रसिकन के रसरीति रसायन।

कर्म धर्म दारिद्र न परसत बिन बरषत नव भावन ॥ (श्री स्वामी बिहारिनिदेव जी)

साहित्यिक पक्ष—श्रीस्वामीजीकी रचनाओंमें 'श्रीकेलिमाल' और 'अष्टादश सिद्धान्तके पद' उपलब्ध हैं । अष्टादश सिद्धान्त के पदोंमें, जैसा नामसे ज्ञात होता है, सूत्र-रूपमें रस-सिद्धान्तोंका उल्लेख है और श्रीकेलिमालमें निकुञ्जविहारी श्रीश्यामा-श्यामकी दिव्य रस-मयी मधुर लीलाओंका गान किया गया है। कुछ अरसिक विद्वानोंने केलिमालके पदोंको साहित्यिक कसौटीपर कसनेकी अनधिकार चेष्टा की है । वास्तवमें ये पद साहित्यकी बाह्य-विधाओंको ध्यानमें रखकर नहीं रचे गए हैं । वे तो रस—जो काव्यकी आत्मा है—के मूर्त रूप हैं । भाषामें जो भी चमत्कार सौष्ठव या लोच है, वह आनुषंगिक है । स्वामीजीने तो जिन लीलाओंका साक्षात् अवलोकन किया था, उन्हींमें-से कुछको अपने तानपूरेपर गा दिया । ये पद ऐसे मधुर फलके समान हैं जिसमें न तो छिलका है, न गुठली—केवल रस ही रस है । किसी अज्ञात महानुभावने श्रीकेलिमालके पदोंकी वास्तविक रसमयता पर प्रकाश डालनेकी चेष्टा करते हुए कहा है—

महामिही-रसके फल फलित भए कल्पद्रुम, ऐसे श्रीस्वामी हरिदासजू के पद हैं ।
जामें न वकुल बीज लीला श्री महातम के, वर बिहार माधुरी के सार के जो सब हैं ।।
दम्पति आसक्तिताई, प्रगट करत छिन-छिन प्रति, नवरस सिंगार आदि कीने सब रव हैं ।
पीवें रसिक सोई जाको न सुहात और, दम्पति वस करिबे को मादिक बेहद हैं ।।

श्रीकेलिमालका एक पद देखिए । इसमें श्रीनिकुञ्जविहारिणीजूके रूपका वर्णन किया गया है—

जोवन रंग रंगीली, सोनें से गात, डरारे नैंन, कंठ पोति मयफूली ।
अंग-अंग अनंग झलक, सोहत कानंनि बीरें, सोभा देत देखत ही बनें ओन्ह में ओन्ह-सी फूली ।।
तनसुख सारी, लाही अंगिया, अतलस अतरौटा, छबि चारि चारि चूरी,
पहुंचनि पहुंची, झमकि बनी, नक फूल, जेब मुसकीरा चौकाकौंधे संभ्रम भूली ।।
ऐसी नित्यविहारिनि श्री बिहारीलाल संग अति आधीन आतुर,
लटपटात ज्यों तरु-तमाल, कुञ्जमहल 'श्रीहरिदासी' जोरी सुरति हिंडोरें भूली ।।

कलापक्ष—इस सम्बन्ध में तो जो कुछ भी श्रीस्वामीजी के लिए कहा जाय वह सूर्यको दीपक दिखाने के समान है । यों तो आप समस्त राग-रागनियोंके मूर्तिमान् स्वरूप थे, किन्तु ध्रुपदकी गायकी तो आपकी ही देन थी, जिसके थोड़ेसे प्रकाशसे ही बैजूबावरा एवं तानसेन संसारके गायकोंमें अपना अमर-पद प्राप्त कर गए । श्रीस्वामी हरिदासजी तो अपने मधुर-कल-गानसे श्रीयुगलका तोषण-पोषण किया करते थे । उनकी कलाके सम्बन्धमें हम इस निर्जीव लेखनीसे कुछ भी लिखनेमें असमर्थ हैं ।

सम्प्रदाय और सिद्धान्त—यद्यपि श्रीस्वामीजी महाराजका लक्ष्य विशुद्ध प्रेमकी परिपाटीपर आधारित नित्यविहारका वर्णन करना ही था, किन्तु परवर्ती महानुभावोंके वाणी-ग्रन्थोंमें निम्बार्क-सम्प्रदाय का भेदाभेद-सिद्धान्त ही परिलक्षित होता है—जैसा कि श्रीस्वामी विहारिनिदेवजीने कहा है—

प्रभुजू हौं तेरा, तू मेरा ।
× × × ×
जल-तरंग लौं सहज समागम निर्मल साँझ-सबेरा ।।

इसी प्रकार श्रीस्वामी भगवतरसिकदेवजीने भी कहा है—

"हाटकमय हरि रूप पारषद इतनौई भेदा ।"

'भारत-कला-भवन' आदि पुरातत्त्व-संग्रहालयोंमें भी स्वामीजीके चित्रमें निम्बार्क-सम्प्रदाय

का ही तिलक अंकित है। स्वामी श्रीरसिकदेवजी तथा स्वामी श्रीपीताम्बरदेवजी आदि महानुभावोंने गुरु-परम्पराका उल्लेख करते हुए श्रीहंस, सनकादिक, नारद, निम्बार्क आदि की वन्दना की है। श्रीरसिक-बिहारी, गोरेलाल एवं टट्टी-स्थान आदि के पट्टे-परवानोंमें भी निम्बार्क—सम्प्रदायका ही उल्लेख है।

तत्कालीन प्रायः समस्त सम्प्रदायके महानुभावोंने श्रीस्वामीजीकी मुक्तकण्ठसे प्रशंसा की है। यदि उन सबका उल्लेख किया जाय तो पृथक् ग्रन्थ ही तैयार हो सकता है, अतः यहाँ केवल कुछ प्रमुख महानुभावोंके विचार पाठकोंके लाभार्थ दिए जाते हैं—

नमो नमो श्रीहरिदास वृन्दाविपिन वास, वर प्राण सर्वस बाँकेबिहारी।
श्याम-श्यामा जुगल माधुर्य के, रसिक रिझवार प्रेमावतारी॥
परम वैरागनिधि बसत निधिवन सदा, भावना लीन सु प्रवीन भारी।
कामना-कल्पतरु सकल संताप-हर, 'अग्रदास अलि' कल्यानकारी॥ (श्रीअग्रदासजी)

अनन्य नृपति श्री स्वामी हरिदास।
श्रीकुंजबिहारी सेये बिन छिन न करी काहू की आस॥
सेवा सावधान अति जानि सुघर गावत दिन रस-रास।
ऐसो रसिक भयो नहिं ह्वै है भू-मंडल आकास॥
देह विदेह भये जीवत ही बिसरे विश्व विलास।
श्रीवृन्दावन रेनु तन मन भजि तजि लोक वेद की त्रास॥
प्रीति रीति कीन्हीं सब ही सों किये न खास खवास।
अपनो व्रत यह ओर निबाह्यो जौं लौं कंठ उसास॥
सुरपति भूपति कंचन कामिनि जिनके भायें घास।
अब के साधु "व्यास" हमहू से करत जगत उपहास॥ (श्रीव्यासजी)

जा पथको पथ लेत महामुनि मूंदत नैन गहे नित नांको।
जा पथको पछतात है वेद लहै नहिं भेव रहे जकि जाको॥
सो पथ श्रीहरिदास लह्यो रस-रीति की प्रीति बजाय निशांको।
निसाननि बाजत गाजत 'गोविन्द' रसिक अनन्यनिको पथ बाँको॥ (श्रीगोविन्द स्वामी)

रसिक अनन्य हरिदास जू गायो नित्यविहार। सेवा हू में दूरि किये विधिनिषेध जंजार॥
सघन निकुंजन रहत दिन बाढ्यो अधिक सनेह। एक विहारी हेत लगि छांड़ि दिये सुख देह॥
रंक छत्रपति काहु की धरी न मन परवाह। रहे भीजि रस-माधुरी लीने कर करवाह॥
(श्रीध्रुवदासजी)

रवनि रसायननि परि हरे साहिन मांगत कौन।
आसू के हरिदास की लगै 'लाल' पग पौन॥ (श्रीलाल स्वामी)

आसु को धीर हरे पर-पीरनि पारस से डरवाय दिये।
कुंजबिहारीके सीस ते सीसी भरी ढारी चोवा की भीजि गये॥
कोटिक हठ रसाइनीक हरे माथ ऊराहने रीझि गये।
कहा कहै 'रूप' अपार चरित्र श्रीहरिदास से श्रीहरिदास भये॥ (श्रीरूपसखीजी)

मूल (छप्पय)

(श्रीव्यासजी)

काहू के आराध्य मच्छ कच्छ सूकर नरहरि।
बामन फरसाधरन सेतुबंधन जु सैलकरि॥
एकन के यह रीति नेम नवधा सों लाये।
सुकुल सुमोखन सुवन अच्युत गोत्री जु लड़ाये॥
नौगुन तोरि नूपुर गुह्यौ महंत सभा मधि रास के।
उत्कर्ष तिलक अरु दाम कौ भक्त इष्ट अति व्यास के॥६२॥

अर्थ—कोई भगवानके मत्स्य, कच्छप, नृसिंह, वामन, फर्शा-धारण करनेवाले परशुराम आदि अवतारोंमें-से किसी एककी आराधना करते हैं, तो कोई समुद्रपर पत्थरोंका पुल-बाँधने वाले श्रीरामचन्द्रजीको ही अपना इष्ट मानते हैं। कुछ भक्तोंकी उपासना-पद्धति नवधा-भक्तिको लेकर चलती है। श्रीसुमोखनसुकलजीके पुत्र श्रीव्यासजी तो श्रीकृष्णको ही अपना गोत्र मानने वाले भगवद्-भक्तोंको ही अपना इष्ट मानते थे और उन्हींको लाड़ लड़ाया करते थे।

एक बार शरद्-पूर्णिमाके दिन जब रासलीलाका अनुकरण होरहा था और भक्त-समाज उपस्थित था, तो नृत्य करती हुई लाड़िलीजीके नुपूर धागा टूट जानेके कारण बिखर गये। श्रीव्यासजीने तत्काल नौ बल लगा कर बनाये गए अपने यज्ञोपवीतको तोड़कर उससे प्रियाजी के पायजेबको वहींका वहीं गूँथकर ठीक कर दिया।

श्रीव्यासजीको तिलक और तुलसी-माला (कंठी) के प्रति अत्यन्त आग्रह था। भगवानके भक्तों को वे अपना इष्ट मानते थे।

भक्ति-रस-बोधिनी

आये गृह त्यागि वृन्दावन अनुराग करि, गयौ हियौ पागि होय न्यारी तासों खीजियै।
राजा लेन आयौ ऐपै जायबौ न भायौ, श्री किशोर उरझायौ मन सेवा मति भीजियै॥
चीरा जरकसी सीस चौकनौ खिसिलि जाय "लेहु जू बँधाय, नहीं आप बाँधि लीजियै"।
गये उठि कुंज, सुधि आई सुख पुंज, आये देख्यौ बँध्यौ मंजु, कह्यो "कैसे मोपै रीझियै"॥३६८॥

अर्थ—वृन्दावनके प्रति हृदयमें तीव्र अनुराग पैदा होनेपर श्रीहरिराम व्यासजी घर-द्वार छोड़कर वृन्दावन चले आये। वृन्दावनमें आपकी ऐसी एकान्त निष्ठा थी कि यदि कोई व्यक्ति वृन्दावनसे बाहर जानेका नाम लेता, तो आप उसपर झल्ला उठते। (आप ओड़छाके निवासी थे और राजा मधुकरशाहके पुरोहित, इसलिये) राजा आपको लिवानेके लिये वृन्दावन आये, परन्तु व्यासजीको वृन्दावन छोड़कर जाना बिलकुल अच्छा नहीं लगता था। आपका मन तो

श्रीराधाकृष्णके चरणोंकी उपासनामें फँसा हुआ था और बुद्धि भी उन्हींकी रूप-माधुरीका पान करनेमें निरत थी।

एक दिन व्यासजी श्रीठाकुरजीका शृङ्गार करते हुए जरीकी पाग उनके मस्तकपर धारण करा रहे थे, किन्तु सिरके चिकना होनेके कारण वह बार-बार खिसल जाती थी। कुछ देर तक लगे रहनेके बाद जब आप सफल नहीं हुए, तो खीझ कर बोले—"प्रभो! या तो पाग बँधवा लीजिये, नहीं तो आप स्वयं बाँध लीजिये।" ऐसा कह कर आप सेवाकुञ्ज चले गये, लेकिन चूँकि उस दिन प्रभुके पाग बँध नहीं पाई थी, अतः रह-रह कर आपको वही बात याद आती थी। अन्तमें जब नहीं रहा गया, तो आये। देखते क्या हैं कि श्रीठाकुरजीके मस्तकपर बड़े सुन्दर ढंगसे पाग बँधी हुई है। दर्शन कर कृतकृत्य होगये और भाव-मग्न होकर बोले—"जब ऐसी सुन्दर पाग आप बाँध सकते हैं, तो भला मेरी बाँधी हुई क्यों पसन्द आने लगी?"

वृन्दावनमें विराजमान ठाकुर श्रीमदनमोहनजीको लेकर भी इसी प्रकार की वार्ता प्रचलित है। अन्तर केवल इतना ही है कि श्रीमदनमोहनजीने अपने पुजारीसे जब पाग नहीं बँधवाई, तो पुजारी क्रुद्ध होकर ठाकुरजीके गालपर एक तमाचा जड़ दिया। जड़ तो दिया, किन्तु पुजारी सारे दिन बड़ा व्याकुल रहा। रात्रिको भी उसे ठीक-ठीक निद्रा नहीं आई। अपने भक्तकी यह विकलता ठाकुरजीसे नहीं देखी गई और उसी रातको स्वप्नमें उससे कहा—"पाग बाँधने के पहले रोज तुम मेरे हाथमें लड्डू दिया करते थे। आज तुम भूल गए, इसीलिये मैंने पाग नहीं बँधवाई, और कोई कारण नहीं है।"

कहते हैं, इस घटनाके बाद थप्पड़की चोटके कारण ठाकुरजीका मुख एक ओरको टेढ़ा होगया, जोकि आज भी उसी रूपमें देखा जा सकता है।

भक्ति-रस-बोधिनी

> संत सुख दैन बैठे संग ही प्रसाद लैन, परोसति तिया सब भाँतिन प्रवीन है।
> दूध बरताय लै मलाई छिटकाई निज, खीझि उठे जानि पति पोषति नवीन है॥
> सेवासों छुटाय दई, अति अनमनी भई, गई भूख बीते दिन तीन तन छीन है।
> सब समझावैं, तब दंड को मनावैं, अंग आभरन बेंचि साधु जेंवें यों अधीन है॥३६४॥

अर्थ—भगवद्-भक्तोंको प्रसन्न करनेके लिए श्रीव्यासजी प्रायः उनके साथ बैठकर (एक पंक्तिमें) प्रसाद पाया करते थे। लोक-व्यवहारमें सब प्रकारसे निपुण व्यासजीकी धर्मपत्नी परोसगारी किया करती थीं। एक दिन दूध परोसते समय उनकी पत्नीने जरा-सी मलाई अपने पतिके पात्रमें गिर जाने दी। व्यासजीको क्रोध हो आया। उन्होंने सोचा, पति होनेके कारण यह मेरे पोषणपर विशेष ध्यान देती है (जोकि अनुचित है)। इस अपराधका दण्ड आपने यह दिया कि पत्नीके हाथसे परोसनेकी सेवा छीन ली। पत्नीको इसका इतना दुःख हुआ कि तीन दिन तक वह भूखी पड़ी रही। भोजन न करनेके कारण उसका शरीर क्षीण होगया। लोगोंने श्रीव्यासजीको जब बहुत समझाया, तो उन्होंने पत्नीके लिये यह दण्ड-विधान किया कि

अपने सब आभूषणोंको बेचकर साधु-सेवामें लगा दे। ऐसा किये जानेपर उसे फिर सेवामें ले लिया गया।

भक्ति-रस-बोधिनी

सुता को विवाह भयौ, बड़ौ उत्साह कियौ, नाना पकवान सब नीके बनि आये हैं।
भक्तन की सुधि करी, खरी अरबरी मति, भावना करत भोग सुखद लगाये हैं॥
आय गये साधु, सो बुलाय कही पावौ जाय, पोटनि बँधाय जाय कुंजनि पठाये हैं।
बंशी पहिराई, द्विज भक्ति लै दृढ़ाई; संत संपुट मैं चिरैया दै हित सौं बसाये हैं॥३७०॥

अर्थ—अपनी पुत्रीके विवाहमें श्रीव्यासजीने बड़े उत्साहके साथ बारातके लिये अनेक प्रकारके भोज्य पदार्थ तैयार करवाये। वे इतने बढ़िया बने कि उन्हें देखकर आपकी बुद्धि उधेड़-बुनमें पड़ गई कि ऐसे स्वादिष्ट पदार्थों तो भक्तोंको खिलाना चाहिये। मस्तिष्कमें यह विचार आते ही आपने भावनामें ही भगवानको भोग लगाया और चुपकेसे साधुओंको बुलवा लिया। जब वे आगये तो आपने उनसे कहा कि प्रसाद पाइये। कुछको तो वहीं घरपर भोजन कराया और कुछको पारस बाँधकर दे दिया। जो नहीं आसके, उनके लिये कुञ्जोंमें ही भेज दिया गया। (इतनेपर भी प्रभु-कृपासे भण्डार खाली नहीं हुआ, बल्कि घराती और बाराती सबकी यथेष्ट खातिर कर दी गई।)

एक दिन सोनेकी बंशी प्रभुके हाथोंमें धारण कराते समय प्रभुकी अँगुली छिल गई। व्यासजीको बड़ा कष्ट हुआ। उन्होंने उसी समय एक चीरको जलमें भिगो कर अँगुलीके चारों ओर लपेट दिया।

इसी प्रकार एक ब्राह्मणकी भक्ति-भावनाको आपने दृढ़ किया। (यह ब्रह्मदेव स्वयंपाकी थे, किन्तु चमड़ेके डोलमें रसोईके लिए जल भर कर लाते थे। व्यासजीने सीधा-सामान देते समय चमड़ेके नये जूतेमें घी भर कर दिया। यह देख कर ब्राह्मणके क्रोधकी सीमा न रही। व्यासजीने जब पूछा कि डोलके चमड़े और जूतेके चमड़ेमें क्या अन्तर है, तो ब्राह्मण बड़ा लज्जित हुआ। व्यासजीने तब उसे सच्चे धर्मका उपदेश दिया और इस प्रकार वह ब्राह्मण भगवानका अनुरागी बन गया और व्यासजीके घर बने हुए प्रसादको श्रद्धा-सहित ग्रहण करने लगा।)

व्यासजीके घरमें निवास करते हुए, एक सन्त बड़े मधुर कंठसे भगवानकी स्तुति किया करते थे, इसीलिये व्यासजी उन्हें बार-बार जानेसे रोक लेते थे। एक दिन सन्त जानेके लिए अड़ गये और अपना वह बटुआ माँगने लगे जिसमें शालग्राम रखे रहते थे। श्रीव्यासजीने शालग्रामकी जगह एक चिड़ियाको बटुएमें बन्द कर उन्हें दे दिया। यमुनाजी पर पहुँच कर सन्तने स्नान किया और श्रीठाकुरजीकी पूजा करनेके लिये ज्योंही बटुआ खोला, त्योंही चिड़िया उसमेंसे निकल कर फुर्र होगई। यह देख कर सन्त-महोदय लौट कर फिर व्यासजीके पास आये और बोले—"हमारे श्रीठाकुरजी आपके यहाँ उड़ कर आगये हैं।" व्यासजीने कहा—"हो

सकता है; मैं देख कर बताऊँगा।" यह कह कर आप मन्दिरके अन्दर गये और बाहर निकल बोले—"आपका कहना ठीक है। आपके श्रीठाकुरजी वृन्दावनसे बाहर नहीं जाना चाहते, इसलिए उड़ आये हैं।" फिर तो सन्तजीने सदाके लिये वृन्दावन-वास करनेका निश्चय कर लिया।

भक्ति-रस-बोधिनी

सरद उज्यारी रास रच्यौ पिय प्यारी, तामैं रंग चढ्यौ भारी, कैसे कहिकै सुनाइये।
प्रिया अति गति लई, बीजुरी सी कौंधि गई, चकचौंधी भई छवि मंडल में छाइयै॥
नूपुर सो टूटि छूटि परयौ, अरबरयौ मन, तोरि कै जनेऊ, करयौ वाही भांति भाइयै।
सकल समाज में यौं कह्यौ "आज काम आयौ, ढोयो हो जनम", ताकी बात जिय आइयै॥३७१॥

अर्थ—एक दिन शरद-पूर्णिमाको प्रिया-प्रियतमकी रास-क्रीड़ाका अनुकरण किया जारहा था। इस अवसर पर समाजिकोंके हृदयोंमें प्रेमकी जो बाढ़ आई उसका वर्णन किसी भी प्रकार नहीं किया जा सकता। रासके प्रसंगमें एक बार प्रियाजीने नृत्य करते हुए ऐसी घूम ली कि दर्शकोंकी आँखोंमें बिजली-सी कौंध गई और चकाचौंध मार गया। इसी समय प्रियाजीके चरणोंमें-से नूपुर टूट कर बिखर गये। यह देख कर श्रीव्यासजी एकदम विचलित होगये और आपने तत्काल अपना जनेऊ तोड़ कर उससे पायजेबको वहीं-का-वहीं यथावत् कस दिया। यह करनेके बाद आप महात्माओंकी उस भरी सभामें बोले—"इस यज्ञोपवीतको जन्म-भर ढोया, पर काम आया आज।"

भक्ति-रस-बोधिनी

गायौ "भक्त इष्ट अति," सुनिकै महंत एक, लैन कौं परीच्छा आयौ संग सन्त-भीर है।
भूख कों जतावै, बानी व्यास को सुनावै, सुनि कही भोग आवै इहाँ, मानै हरि धीर है॥
तब न प्रमान करी, संक धरी, लै प्रसाद ग्रास दोय चार, उठे मानों भई पीर है।
पातर समेट लई "सीत करि मोकों दई, पायौ तुम और," पाँव लिये, दृग नीर है॥३७२॥

अर्थ—श्रीप्रियादासजी कहते हैं कि श्रीनाभास्वामीजीने अपने छप्पय (संख्या ९२) में यह कहा कि 'भक्त इष्ट अति व्यास कें,'—अर्थात् श्रीव्यासजीके इष्ट भक्त-गण ही थे। एक महन्तने यह सुना और वे उनकी परीक्षा लेने आये। उनके साथ साधु-मण्डली थी। आते ही श्रीव्यासजीको सुनाते हुए उन्होंने कहा—"हमें बड़ी भूख लगी है।" श्रीव्यासजीने उन्हें जवाब दिया—"भोगका थाल जा चुका है; तनिक धैर्य धारण करिये।" इस उत्तरको सन्तजी ने प्रमाण नहीं माना और उनके मनमें यह शंका बनी ही रही कि व्यासजीके सम्बन्धमें श्रीनाभा स्वामीके मतको प्रमाण मानना चाहिए या नहीं। (सन्तजीने फिर वही भूखका राग अलापना शुरू कर दिया। यह देख कर व्यासजीने भोग मँगवा दिया और सन्त महोदयके सामने परोस दिया)। सन्तजी केवल दो-चार ग्रास खाकर उठ बैठे, मानों उनके पेटमें भयानक दर्द उठ पड़ा हो। उनके उठते ही श्रीव्यासजीने पत्तल समेट कर रखली और बोले—"आपने बड़ी कृपा की

जो मेरे लिये प्रसादी कर दी, किन्तु आपने खाया तो कुछ भी नहीं ! अभी और भोग आरहा है; उसे पाइएगा ।'' भक्तोंमें श्रीव्यासजीका ऐसा दृढ़भाव देख कर सन्त-महोदयकी आँखें प्रेम के आँसुओंसे भर गईं और उन्होंने श्रीव्यासजीके चरण पकड़ लिये । उन्हें विश्वास होगया कि श्रीव्यासजी वास्तवमें सन्तोंको अपना इष्ट मानते हैं ।

भक्ति-रस-बोधिनी

भये सुत तीन, बाँट निपट नवीन कियौ, एक ओर सेवा, एक ओर धन धरयो है ।
तीसरो जु ठौर स्याम बंदनी औ छाप धरी, करी ऐसी रीति देखि बड़ौ सोच परयो है ।।
एकने रुपैया लिये, एकने किशोर जू कों, श्री किसोरदास भाल तिलक लै करयो है ।
छापे दिये स्वामी हरिदास, निसि रास कीनौ, वही रास ललितादि गायो मन हरयो है ।।३७३।।

अर्थ—श्रीव्यासजीके तीन पुत्र थे—(१) रासदास, (२) विलासदास और (३) किशोर-दास । इन सबका बँटवारा आपने बड़े विलक्षण ढंगसे किया । तीनों पुत्रोंके लिये आपने तीन चीजें पूँजीके रूपमें नियत कर दीं—एक धन, दूसरी श्रीयुगलकिशोर ठाकुरजीकी सेवा, तीसरी श्याम-बन्दनी और छाप । (तीनों पुत्रोंको आपने यह स्वतन्त्रता दे दी कि इन तीन वस्तुओंमें से अपनी इच्छानुसार कोई एक ली जा सकती है ।) इसपर रासदासजीने रुपये लिये, विलास-दासजीने ठाकुर-सेवाका अधिकार और किशोरदासजीने श्याम-बन्दनी और तिलक-छाप । श्रीकिशोरदासजीको आपके पिता श्रीव्यासजीने श्रीस्वामी हरिदासजीसे दीक्षा (तिलक-छाप-कण्ठी) दिलाई ।

एक दिन श्रीकिशोरदासजीने एक पद गाया जिसे श्रीव्यासजी महाराजने यमुनाके तटपर सुना । उन्होंने देखा कि उसी रात सहचरी-रूपमें निकुञ्ज-मन्दिरमें रासके समय उसी पदको ललिता आदि सखियाँ गा रही हैं ।

श्रीहरिरामजीका जन्म सं० १५६७ (=१५१० ई०) मार्गशीर्ष कृष्णा पञ्चमीको ओड़छा-निवासी, सनाढ्य-कुल-भूषण श्रीसुमोखन शुक्लके घर उनकी धर्मपत्नी श्रीपद्मावती देवीसे हुआ था । ओड़छा-नरेशके यहाँ इनके पिताका बड़ा आदर था । राज्य-सम्मानके फलस्वरूप शुक्लजीका घर विशाल वैभव-सम्पन्न था । ये परम-वैष्णव थे और माध्व-सम्प्रदायानुयायी श्रीमाधवदासजीके शिष्य थे । कुछ लोगोंका कहना है कि आपने अपने पितासे ही दीक्षा ली थी ।

पण्डित हरिरामजी प्रकाण्ड विद्वान् थे । शास्त्रार्थ करनेका इन्हें व्यसन था । काशीकी पण्डित-मंडली से भी इनकी मुठभेड़ हुई और उसमें हरिरामजी विजयी हुए । कहते हैं, काशीमें रहते हुए भगवान् विश्वनाथ एक साधुके रूपमें स्वप्नमें इनके सामने आए और शास्त्रार्थकी व्यर्थता समझाते हुए इन्हें भग-वद्-भक्तिका उपदेश दिया । बस, उसी क्षणसे श्रीहरिरामजीकी जीवन-धारा बदल गई । शास्त्रार्थी पण्डित से वे एक निरीह भक्त बन गये ।

काशीसे लौटकर जब वे ओड़छा आये उसी समय इनकी भेंट गोस्वामी श्रीहितहरिवंश चन्द्रजीके

शिष्य श्रीनवलदासजीसे हुई और वे वृन्दावन जानेके लिए कितने अधीर हुए यह नीचेके पदमें देखिए—

हरि हम कब होंहिगे ब्रजवासी।
ठाकुर नंदकिसोर हमारे, ठकुराइन राधासी।
कब मिलि हैं वे सखी सहेली, हरिबंसी हरिदासी॥
बंसीवट की शीतल छैयां सुभग नदी जमुनासी॥
जाकी वैभव करत लालसा करमीड़त कमलासी।
इतनी आस 'व्यास' की पुजवौ वृन्दाविपिन-विलासी॥

संवत् १५९१ के कार्तिक मासमें वे वृन्दावनमें सीधे श्रीहितहरिवंशजीके पास पहुँचे। उसे समय श्रीहितजी रसोई बना रहे थे। श्रीहरिरामजीने अवसरका विचार किये बिना ही जो बातें शुरू कीं, तो श्रीहितजीने पात्रको उतार कर नीचे रख दिया और चूल्हे में पानी डाल दिया। श्रीहरिरामजी बड़े आश्चर्यमें पड़ गए कि उन्होंने ऐसा क्यों किया? उत्तरमें हितमहाप्रभुने बतलाया कि एक समयमें दो काम साथ-साथ नहीं हो सकते और यह पद पढ़ा—

यह जु एक मन बहुत ठौर करि कहि कौनें सचु पायो।
जहाँ तहाँ विपति जार जुबती लौं प्रगट पिंगला गायो॥
द्वै तुरंग पर जोर चढ़त हठि परत कौन पै धायो।
कहि धौं कौन अंक करि राखै जो गनिका सुत जायो॥
जय श्री हित हरिवंश प्रपंच बंच सब काल व्याल कौ खायो।
यह जिय जानि स्याम-स्यामा पद कमल संगी सिर नायो॥

वृन्दावनकी लता-पताओंसे श्रीव्यासजीका धीरे-धीरे अत्यधिक घनिष्ठ प्रेम हो गया। अब किसी अवस्थामें भी वृन्दावनसे बाहर जाना उनके लिये असम्भव हो गया था। एक बार ओड़छाके राजाने उन्हें लिवा-लानेके लिये अपने मन्त्रीको भेजा, लेकिन आप नहीं गये। एक दिन मन्त्रीने देखा कि श्रीहरिरामजी भक्तों की जूठी पत्तलोंमें-से 'सीथ' ग्रहण कर रहे हैं। उसने समझ लिया कि अब वे आचारसे गिर गए हैं और ओड़छा लौटकर राजाको सब हाल कह सुनाया। अब राजा स्वयं इन्हें मनाने वृन्दावन पहुँचे और आग्रह किया कि एक दिनके लिए ही सही, पर ओड़छा पधारें अवश्य। कहते हैं, जब किसी प्रकार भी राजा न माने, तो व्यासजी ने कहा—"जब चलना ही है, तब मुझे अपने भाई-बन्धुओंसे मिल लेने दो।"

इस मिलनका दृश्य अलौकिक था। राजाने देखा कि व्यासजी वृन्दावनकी लता और वृक्षोंसे चिपट-चिपट कर रो रहे हैं—कह रहे हैं—"मुझ से ऐसा क्या अपराध बन गया जो आज तुमसे अलग हो रहा हूँ।" राजाका हृदय पिघल गया और व्यासजीके साथ-साथ वे भी रो पड़े। अब उन्हें अनुभव हुआ कि मैं व्यासजीके साथ क्या अत्याचार कर रहा हूँ? उन्होंने तब उनके पैरोंपर पड़कर अपने दुराग्रह के लिए क्षमा माँगी और व्यासजीसे भगवद्-भक्तिका उपदेश लेकर अपने राज्यको लौट गये।

व्यासजीके बनाये हुए दो ग्रन्थ मिलते हैं—(१) नवरत्न और (२) व्यासवाणी। 'नवरत्न' संस्कृतमें रचित सम्प्रदायके सिद्धान्तोंका ग्रन्थ है और 'व्यास-वाणी' ब्रजभाषामें लिखे गए ७०० पदोंका अनुपम संग्रह है। अपनी वाणीमें व्यासजीने श्रीराधा-कृष्णकी लीलाओंका जैसा सरस, सुन्दर और भाव-पूर्ण वर्णन किया है, उससे कवि की एकान्त निष्ठा तथा सरस अनुभूतियोंका पता लगता है।

अपना परिचय देते हुए व्यासजी लिखते हैं—

रसिक अनन्य हमारी जाति ।
कुल देवी राधा, बरसानो खेरो ब्रजबासिन सौं पाँति ।।
गोत गोपाल, जनेऊ माला सिखा-सिखंडि हरि मन्दिर भाल ।
हरि गुन नाम बेद-धुनि सुनियत, मूंज पखावज कुस करताल ।।
साखा जमुना हरिलीला षट कर्म प्रसाद प्रानधन रास ।
सेवा बिधि निषेध जड़ संगति वृत्ति सदा वृंदावन बास ।।
सुमृति भागवत कृष्ण नाम संध्या तर्पन गायत्री जाप ।
बंसी रिषि जजमान कल्पतरु व्यास न देत असीस सराप ।।

आपके सरस पदोंके उदाहरण-स्वरूप श्रीराधिकाजीके रूप-वर्णन का एक पद देखिए—

बने न कहत राधा को रूप ।
बिहँसि बिलोकनि मोह्यो मोहन वृन्दावन को भूप ।।
अङ्गनि कोटि अनङ्ग सोभकुल, एक अङ्ग को कूप ।
नख सिख भोग भोगियत नागर, अधर सुधारस यूप ।।

मूल (छप्पय)

(श्रीजीव गोस्वामीजी)

बेला भजन सुपक्व, कषाय न कबहूँ लागी ।
वृन्दावन दृढ़ बास जुगल चरननि अनुरागी ।।
पोथी लेखन पान अघट अच्छर चित दीनौ ।
सद्ग्रन्थनि कौ सार सबै हस्तामल कीनौ ।।
संदेह ग्रन्थि-छेदन समर्थ, रस रास उपासक परम धीर ।
(श्री) रूप सनातन भक्ति-जल जीव गुसाँई सर गँभीर ।।९३।।

अर्थ—श्रीरूप गोस्वामी और श्रीसनातन गोस्वामी यदि भक्ति-रूपी जल थे, तो जीव गोस्वामी एक अगाध सरोवरके समान थे जिसमें कि वह जल लहराया करता था; (कहनेका आशय यह है कि वे श्रीरूप-सनातनकी सरस भक्ति-पद्धतिमें अवगाहन किया करते थे) । चित्त-विक्षेप आदि विकारोंसे रहित), गंभीर अनुभूतिसे दृढ़ हुई भजनकी रुचि इस सरोवरका तट था । श्रीजीव गोस्वामीके भक्ति-रूपी इस जलमें अविश्वास और सन्देहकी काई कभी भी नहीं दिखाई दी । आप श्रीधाम-वृन्दावनमें स्थायी-रूपसे रहे और श्यामा-श्यामके चरणोंमें अनन्य प्रीति रक्खी । आपकी लेखन-शैली बड़ी ही सुन्दर थी । पुस्तक लिखनेमें आपका ध्यान प्रत्येक पृष्ठके सौष्ठवपर रहता था और कोई भी अक्षर छोटा-बड़ा नहीं होता था । वेद, पुराण आदि सब

शास्त्रोंके सार आपके लिये इतने स्पष्ट होगये थे जैसे कि हथेलीपर रक्खा हुआ आमलेका फल। सन्देहरूपी गाँठ खोलनेमें आप समर्थ थे, रस-राज मधुर-रसके उपासक थे और स्वभावसे अत्यन्त गम्भीर और धैर्यशाली थे।

भक्ति-रस-बोधिनी

किये नाना ग्रंथ, हुदे ग्रंथि दृढ़ छेदि डारैं, डारैं धन यमुना मैं आवै चहूं ओर तें।
कही बात 'साधु सेवा कीजै,' कहैं 'पात्रता न,' 'करों नीके' करी,बोल्यौ कटु कोप जोर तें॥
तब समझायौ, संत-गौरव बढ़ायौ, यह सबकों सिखायौ, बोलें मीठी रिसि- भोर तें।
चरित अपार, भाव भक्ति कौ न पारावार, कियौ हू बैराग सार कहै कौन ओर तें॥३७४॥

अर्थ—श्रीजीव गोस्वामीने अनेक ऐसे ग्रन्थोंकी रचना की जो भक्ति-मार्गसे सम्बन्धित अत्यन्त जटिल समस्याओंको इस प्रकार दूर कर देते हैं जैसे किसी पैने शस्त्रसे मजबूत-से-मजबूत गाँठ काट दी जाती है। आपके पास अनेक स्रोतोंसे भेंटके रूपमें धन आता था, पर आप उसे यमुनामें फेंक दिया करते थे। कई बार शिष्य-सेवकोंने आपसे प्रार्थना की कि इस धनको जलमें न फेंककर साधु-सेवामें लगाया जाय, पर आपने यही उत्तर दिया कि साधु-सेवा करने की योग्यता उनमें-से किसीमें भी नहीं है। इसपर एक शिष्यने यह दावा किया कि मैं भलीभाँति साधु-सेवा कर सकता हूँ। श्रीजीव गोस्वामी राजी होगये और आज्ञानुसार वह सन्तोंकी सेवा करने लगा। एक बार यही शिष्य (किसी सन्तके असमयमें भोजन माँगने पर) एक दम क्रुद्ध होगया और उससे बुरी-भली बातें कह डालीं। इसपर श्रीजीव गोस्वामीजीने सबको बताया कि सन्तोंका पद कितना ऊँचा होता है; उनसे रात हो या दिन (समय हो या कुसमय), कभी कड़वी बात नहीं कहनी चाहिए।

श्रीजीव गोस्वामीजीके अनेक चरित्र हैं। उन सबका यहाँ वर्णन नहीं किया जा सकता। मूल बात यह है कि गोस्वामीजीके भक्ति-भावकी थाह पाना कठिन है। घर-द्वार, स्त्री-पुत्रको छोड़ कर वैराग्य धारण कर लेनेपर भी उनकी भक्तिके मर्मको नहीं जाना जा सकता।

विशेष वृत्त—श्रीरूप-सनातन गोस्वामियोंके जीवन-परिचयमें लिखा जा चुका है कि ये दोनों भाई बंगालके शासक हुसैनशाहके उच्च पदाधिकारी थे। इनके एक छोटे भाई अनुपमवल्लभ भी थे। श्रीजीव गोस्वामी इन्हीं अनुपमवल्लभ के सुपुत्र थे।

वृन्दावनसे लौटकर श्रीरूप और अनुपम श्रीचैतन्य महाप्रभुके दर्शनके लिए नीलाचल गये और वहाँ दस महीने रहे। वहीं अनुपमजीको 'श्रीकृष्ण-प्राप्ति' हुई। पिताकी मृत्युसे श्रीजीव गोस्वामीजीके हृदयको बड़ा आघात लगा। बालकपनसे ही वे श्रद्धालु और भक्त तो थे ही, इस घटनाने उन्हें संसार की ओरसे और भी विमुख कर दिया और वे वृन्दावन जानेके लिये विकल हो उठे। कहते हैं, एक रात को स्वप्नमें श्रीचैतन्य और नित्यानन्द महाप्रभुके दर्शन पाकर श्रीजीव नवद्वीप चले गए। वहां उन्होंने तपन मिश्रके आश्रममें विद्याध्ययन किया और मधुसूदन वाचस्पतिसे वेदान्त, न्याय आदिकी शिक्षा

ग्रहण की। इसके अनन्तर वे वृन्दावन चले आये और जीवनके शेष पैंसठ वर्ष तक वहीं रहे। श्रीरूप गोस्वामीसे उन्होंने मन्त्र-दीक्षा ली थी और भजन करते हुए शास्त्रोंका अध्ययन भी किया था।

एक बार श्रीरूप गोस्वामीने बिना शास्त्रार्थ किए ही वल्लभ भट्ट नामक किसी दिग्विजयीको जय-पत्र लिख दिया। दिग्विजयीने सर्वत्र यह घोषणा कर दी कि श्रीरूप गोस्वामीको उसने शास्त्रार्थमें परास्त कर दिया है। जीवको भला यह कैसे सह्य होता? उन्होंने वल्लभको शास्त्रार्थमें पराजित कर उसका विद्या-मद चूर्ण कर दिया। श्रीरूपको यह बात बहुत बुरी लगी और उन्होंने जीवको अपने पाससे अलग रहनेकी आज्ञा दे दी। गुरु-आज्ञासे 'जीव' चले तो गए, किन्तु उस दुखके कारण वे यमुना-जलमें चून घोलकर सेवन करते हुए धै-गाँवकी झाड़ियोंमें दो मास तक पड़े रहे। सनातनसे जीवकी यह दशा न देखी गई। रूपके पास जाकर उन्होंने पूछा—"जीवके प्रति वैष्णवका कैसा व्यवहार होना चाहिए?" रूपने उत्तर दिया—"दयापूर्ण।" "तो तुम जीवके प्रति ऐसा कठोर व्यवहार क्यों करते हो?" सनातनने पूछा। रूपको अपनी गलती समझकर बड़ा संकोच हुआ। उन्होंने 'जीव' को फिर अपने पास बुला लिया। जब जीवने लौटकर गुरुदेव श्रीरूप गोस्वामीको दण्डवत् किया तो रूप बोले—"जीव! आजसे तुम—

तृणादपि सुनीचेन तरोरपि सहिष्णुना। अमानिना मानदेन कीर्तनीयः सदा हरिः॥

—इस श्लोकके अनुसार अमानियोंको भी मान देते हुए प्रभुका भजन करना। जीव गोस्वामीने विनीत भावसे कहा—"गुरुदेव! भक्तिके द्वारा भगवानको वशमें रखने वाले गुरुओं एवं वैष्णवोंको जीतनेका जो वृथा अभिमान दिखाता है उसके आगे वज्रादपि कठोर होकर गुरु एवं वैष्णवोंकी मर्यादा की रक्षा करना ही 'तृणादपि···' श्लोकका सार मैंने आपके चरणोंकी कृपासे समझा है। अब आपकी जैसी आज्ञा है मैं उसी प्रकारका आचरण करनेकी चेष्टा करूँगा।" यह सुनकर जीव रूपके सिरपर हाथ रखकर बोले—"सचमुच 'तृणादपि···' श्लोकका वास्तविक भाव तुम्हींने ही समझा है। आजसे तुम सिद्धान्ताचार्यके नामसे विख्यात हुए।

श्रीजीवगोस्वामी द्वारा लिखे गए ग्रन्थ गौड़ीय-सम्प्रदायके प्रकाश-स्तम्भ हैं। इन ग्रन्थोंके नाम इस प्रकार हैं—(१) षट्‌सन्दर्भ—भक्ति-शास्त्रके मौलिक तत्त्वोंका विवेचन, (२) क्रम-सन्दर्भ—श्रीमद्भागवतकी टीका, (३) दुर्गम-संगमनी—रूपगोस्वामीके भक्ति-रसामृत-सिन्धुकी टीका, (४) ब्रह्म-संहिताकी टीका, (५) कृष्ण-कर्णामृतकी टीका, (६) हरिनामामृत-व्याकरण और (७) कृष्णार्चन-दीपिका।

मूल (छप्पय)

सर्वसु राधारवन 'भट्ट गोपाल' उजागर।
'हृषीकेश', 'भगवान', 'विपुलबीठल' रससागर॥
'थानेश्वरी जगन्नाथ', 'लोकनाथ', महामुनि 'मधु', 'श्रीरंग'।
'कृष्णदास', पण्डित उभै अधिकारी हरि अंग।
'घमंडी', जुगलकिशोर भृत्य 'भूगर्भ' जीव दृढ़ व्रत लियौ।
वृन्दावन की माधुरी इन मिलि आस्वादन कियौ॥९९॥

अर्थ—श्रीवृन्दावनकी माधुरीका जिन १३ भक्तोंने हिल-मिलकर आस्वादन किया उनके शुभ नाम इस प्रकार हैं—(१) श्रीगोपालभट्टजी जिन्होंने भक्तिका प्रकाश चारों ओर फैलाया। श्रीठाकुर राधारमणका विग्रह आपका सर्वस्व था, (२) श्रीहृषीकेशजी (३) श्रीअलि भगवानजी, (४) अगाध-रसके समुद्र श्रीबीठलविपुलजी, (५) श्रीजगन्नाथ थानेश्वरीजी, (६) श्रीलोकनाथजी गोस्वामी (७) महामुनि श्रीमधुगोसाईंजी, (८) श्रीरंगजी, (९) अधिकारी श्रीकृष्णदास ब्रह्मचारीजी, (१०) हरिके अंग (मित्र) पंडित श्रीकृष्णदासजी (११) भक्तिनिष्ठ श्रीभूगर्भ गोस्वामीजी (१२) श्रीयुगलकिशोरके भृत्य (उपासक) श्रीउद्धवघमंडदेवाचार्यजी (१३) श्रीजीव गोस्वामीजी।

श्रीरूपकलाजीने इस छप्पयमें 'युगलकिशोरभृत्य' को भी पृथक् एक नाम देकर भक्तोंकी संख्या १४ लिखी है। वास्तवमें इस छप्पयमें १३ भक्तोंका ही उल्लेख है। 'युगलकिशोर भृत्य' पृथक् नाम न होकर श्रीउद्धव घमण्डदेवाचार्यजीका ही विशेषण है। श्रीबालकरामने भी भक्तदाम-गुण-चित्रणीमें १३ भक्तों का ही उल्लेख किया है। (देखिए हस्त-लिखित प्रति, पत्र सं० २७८)

(श्रीगोपालभट्टजी)

भक्ति-रस-बोधिनी

श्रीगोपालभट्टजू के हिये वे रसाल बसे, लसे यों प्रगट राधारवन स्वरूप हैं।
नाना भोग-राग करें, अति अनुराग पगे, जगे जग माहिं, हित कौतुक अनूप हैं॥
वृंदावन माधुरी अगाध को सवाद लियो, जियो जिन पायो सीथ, भये रसरूप हैं।
गुनही को लेत, जीव औगुन को त्याग देत, करुनानिकेत, धर्मसेत, भक्तभूप हैं॥२७५॥

अर्थ—श्रीगोपाल भट्टजीके हृदयमें श्रीराधारमणजीकी आनन्दमयी-मूर्ति विराजमान रहती थी और उन्हींके शृङ्गार आदि करनेमें आप मग्न रहते थे। अत्यन्त अनुरागके साथ आप अनेक प्रकार के भोग-राग प्रभुको लगाते थे। आपकी दृढ़ भक्तिकी संसारमें ख्याति थी। आप प्राणि-मात्रके हितैषी थे, यह बात आपके अनेक चरित्रोंसे स्पष्ट है। वृन्दावनके अगाध माधुर्य-रसका आस्वादन आपने जी-भरकर किया। जिसे आपकी 'सीथ' प्रसादी मिल गई वह रसकी मूर्ति हो गया। आप लोगोंमें गुणों को ही देखते थे, अवगुणोंकी ओर कभी ध्यान नहीं देते थे। आप दयाके समुद्र, धर्मके संस्थापक और भक्तोंके शिरोमणि थे।

विशेषवृत्त—श्रीगोपालभट्टजीका जन्म सन् १५०३ ई० में श्रीरंगम्-क्षेत्रके निवासी वेङ्कटभट्टके घर हुआ था। ये श्रीप्रबोधानन्द सरस्वतीके भतीजे थे। कुछ लोगोंका कहना है कि जिस समय श्रीचैतन्य दक्षिण-भारतकी यात्रामें थे उस समय चार महीने वे इनके पिताके घरपर रहे थे। यह भी कहा जाता है कि श्रीचैतन्य महाप्रभुने पत्र द्वारा रूप-सनातनको आज्ञा दी थी, कि इन्हें (गोपालभट्टजीको) अपना भाई समझना। महाप्रभुने इनके बैठनेके लिए अपना आसन और डोरी भेजी थी। गोपाल-भट्टजी भजन करते समय प्रसाद समझकर इन वस्तुओंका उपयोग किया करते थे। पहले ये शालग्राम-विग्रह-स्वरूपकी अर्चा किया करते थे। कहा जाता है, कि एक समय कोई धनी-भक्त वृन्दावन

में आया और उसने ठाकुरजीके लिए वस्त्राभूषण आदि भेंट किये। इन्हें देखकर आपके मनमें यह अभिलाषा प्रकट हुई कि हमारे श्रीविग्रह-स्वरूपकी सेवा न होने से ये आभूषण प्रभुके काममें नहीं आ सकते। उनके हृदयमें ठाकुरजीके श्रीअंगोंकी सेवा करने की भावना इस समय बलवती होगई और इसी विचारमें उन्हें सवेरा हो गया। जब मंगला-आरतीके लिए पट खोले, तो उन्होंने देखा कि उसी शालग्रामकी मूर्तिके हाथ-पैर निकल आये हैं और वह मनोहर मूर्ति श्रीराधारमण बन गयी है। वि० सं० १५९९ की वैशाखी पूर्णिमाका यह दिन श्रीराधारमणजीके प्राकट्योत्सवके पुनीत दिवसके रूपमें मनाया जाता है। वृन्दावनके श्रीराधारमणजीके मन्दिरमें यह मूर्ति अब भी प्रतिष्ठित है। लोगोंका कहना है कि वर्तमान मूर्तिके पृष्ठ-भागको देखनेसे यह स्पष्ट विदित हो जाता है कि यह शालग्रामका ही रूपान्तर है।

श्रीगोपालभट्टजीने वैष्णव-शास्त्रोंका गंभीर पर्यालोचन किया था। बादके प्रसिद्ध विद्वान् श्रीनिवासाचार्य इन्हींके शिष्य थे। भट्टजीके स्वर्गवासी होनेके बाद इनके मन्दिरके पुजारी तथा शिष्य श्रीगोपालनाथदास गद्दीके अधिकारी हुए। इनके शिष्य श्रीगोपीनाथदासजी हुए। इन्होंने अपने छोटे भाई श्रीदामोदरदासजीको शिष्य बनाकर आज्ञा दी कि—'तुम गृहस्थ-धर्मका पालन करो।' श्रीराधारमण मन्दिरके वर्तमान गोस्वामी इन्हीं दामोदरदासजीके वंशज हैं।

श्रीराधारमणजीकी आत्मीयता—श्रीराधारमणजीके अनन्योपासक श्रीगोपालभट्टजीने एक बार किसी महाजनसे कुछ रुपया उधार लिया। वह महाजन निश्चित दिनसे पूर्व ही धन वसूल करनेके लिए श्रीगोपाल भट्टजीके घर आया। अभी सवेरेका समय था। श्रीभट्टजी श्रीराधारमणजीकी पूजा-शृङ्गार करनेके बाद उनकी रूप-माधुरीका पान कर रहे थे। वे उस आनन्दमें सुध-बुध खोए हुए थे। श्रीराधारमणजी, यह सोचकर कि यदि महाजन यहाँ आ गया, तो मेरे भक्तके आनन्दमें विघ्न पड़ेगा, स्वयं बाहर जाकर महाजनका ऋण चुका आए। दूसरे दिन जब भट्टजी स्वयं ऋण चुकाने गए तो महाजनकी बात सुनकर उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ। अन्तमें वे समझ गए कि यह श्रीराधारमणजीने ही अपनी आत्मीयता दिखलाई है। (भक्त-दाम-गुण-चित्रनीके आधारपर, पत्र सं० २७८)

(श्रीअलि भगवान)

भक्ति-रस-बोधिनी

अलि भगवान, राम-सेवा सावधान मन, वृन्दावन आये कछु और रीति भई है।
देखे रासमंडल में बिहरत रस रास, बाढ़ी छवि प्यास हग, सुधि बुधि गई है॥
नाम धरि रास औ बिहारी, सेवा प्यारी लागी, लगी हिय-माँझ, गुरु सुनी बात नई है।
बिपिन पधारे, आप जाय पग धारे सीस, ईश मेरे तुम सुख पायौ, कहि दई है॥३७६॥

अर्थ—श्रीअलि भगवान श्रीरामचन्द्रजीके उपासक थे और सावधान मनसे उनकी सेवा करते थे। एक बार आप वृन्दावन जो आये तो कुछ और ही प्रकारके होगये—सब कुछ बदल गया। आपने रास-मण्डल नामक स्थानपर रास-लीलाका जो दृश्य देखा, तो आँखें भगवान श्रीश्यामसुन्दरकी रूप-माधुरीका निरंतर पान करनेके लिए प्यासी रहने लगीं और शरीरकी सुध-बुध जाती रही। आप अब ठाकुरजीको 'श्रीरासविहारी' कहकर पुकारते थे। श्रीकृष्णचन्द्रकी सेवाके अतिरिक्त आपको और कुछ अच्छा नहीं लगता था। आपके गुरुदेवको जब मालूम

हुआ कि 'अलि' अब कृष्णके उपासक होगये हैं, तो उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ। वे वृन्दावन आये। गुरुजीका आगमन सुनकर श्रीअलि उनके दर्शनको आए और उनके पैरोंमें मस्तक नवाते हुए निवेदन किया—"आप मेरे भगवान् हैं, अतः आप जो आदेश देंगे उसका मैं पालन करूंगा। पर सच बात तो यह है कि मुझे श्रीराधाकृष्णकी उपासनामें बड़ा सुख मिला है।" (इस प्रकार अपने शिष्यके हृदयकी निश्छलताको देखकर गुरुदेव बड़े प्रसन्न हुए।)

(रस-सागर श्रीबीठलविपुलदेवजी)

भक्ति-रस-बोधिनी

स्वामी हरिदासजू के दास, नाम बीठल है, गुरु से वियोग-दाह उपज्यौ अपार है।
रास के समाज में बिराजें सब भक्तराज, बोलि कै पठाये, आये आज्ञा बड़ो भार है॥
जुगल सरूप अवलोकि, नाना नृत्य-भेद, गान तान कान सुनि रही न सँभार है।
मिल गये वाही ठौर, पायौ भाव तन और, कहे रस सागर सो ताकौं यों विचार है॥३७७॥

अर्थ—श्रीबीठलविपुलदेवजी स्वामी श्रीहरिदासजी महाराजके शिष्य थे। श्रीस्वामीजीके नित्य-वृन्दावनमें प्रवेश करनेके बाद उनके वियोगने श्रीबीठलविपुलजीको इतना शोकाकुल कर दिया कि उन्होंने अन्न-जल परित्याग कर सब जगह आना-जाना बंद कर दिया। उसी समय वृन्दावनमें रास-लीलाका आयोजन किया गया। इस रसिक-समाजमें समस्त भक्त-मण्डली विराजमान थी। (उपस्थित समाजको स्वामी श्रीबीठलविपुलदेवजीका वहाँ न होना बड़ा खटका) उन्होंने सम्मान-पूर्वक उन्हें बुलालानेके लिये श्रीव्यासजी महाराजको भेजा और आज्ञा-नुसार आप आए। रासलीलाओंमें श्रीयुगल (अपने इष्ट) की छविको देखकर और अनेक-प्रकारके नृत्य, संगीत, वाद्योंको सुनकर वे इतने मुग्ध होगये कि उन्हें अपने आपको सँभालते नहीं बना। उन दिव्य क्षणोंमें उन्हें गुरुदेव श्रीस्वामीजी तथा इष्टदेव श्रीश्यामा-कुंजविहारीके प्रत्यक्ष दर्शन का सौभाग्य प्राप्त हुआ और वे दिव्य शरीर धारण कर श्रीनिकुञ्जधाममें पहुँच गये। इन दिव्य-सरस चरित्रोंके कारण ही आपको 'रस-सागर' कहा जाता है।

विशेषवृत्त—अगाध रसके समुद्र स्वामी श्रीबीठलविपुलदेवजी स्वामी श्रीहरिदासजीके ममेरे भाई थे। आपके पिताका नाम 'श्रीगुरजन' और माताका नाम 'श्रीकौशल्यादेवी' था। आपका प्रादुर्भाव वि० सं० १५३२ मार्गशीर्ष शु० ५ को हुआ था।❀ बचपनसे ही आप सांसारिक झंझटोंसे वीतराग थे। स्वामीजी के प्राकट्यके उपरान्त आपका उनमें दृढ़ अनुराग होगया था। वे इन्हींको अपना सर्वस्व मानते थे। स्वामीजीके दर्शन और उनका प्रसाद पाकर ही आप सदा संतुष्ट-भावसे श्रीयुगलकिशोरका ध्यान किया करते थे। स्वामीजीके निकुञ्ज-प्रवेश होते ही आपकी वियोग-ज्वाला इतनी प्रबल हुई कि उसी क्षण आँखोंपर पट्टी बाँध ली। साथ ही अन्न-जल भी परित्याग कर दिया। स्वामी श्रीबीठलविपुलजीके निश्चयसे वृन्दावनके तत्कालीन समस्त रसिकों में खलबली मच गई। सब महानुभावोंने मंत्रणा करके रासका आयोजन कराया और श्रीव्यासजी (श्रीहरिरामजी) बीठलविपुलजीको बुलाने निधिवन पहुँचे। स्वामीजीके वियोगमें श्रीबीठल-

❀ मग्सर शुक्ला बिहार-पंचमी रसिकन हित सुखदाता—(श्रीनागरीदासजी)

विपुलजीकी दशा वैसीही थी जैसी बिना चन्द्रके चकोरकी, बिना जलके मीनकी और बिना मणिके भुजंगकी होती है। नयनोंसे आंसू भर-भर कर निधिवनकी पावनभूमिको पंकिल कर रहे थे। देखकर व्यासजी का हृदय भी भर आया और बड़ी प्रार्थना करके वे उन्हें रासमें लिवाकर ले आये।

रास प्रारम्भ हुआ। रसिकोंकी मन्त्रणा एवं संकेतके अनुसार श्रीस्वामिनीजीके स्वरूपने बीठल-विपुलजी का हाथ पकड़ कर कहा—"बाबा ! आंख खोल और मेरे दर्शन कर।"

श्रीस्वामिनीजीके इन प्रेम और आग्रह-पूर्ण वचनोंको सुनकर श्रीबीठलविपुलजी विह्वल होगए और गद्गद कंठसे बोले—

करुणा निधि मम स्वामिनी, तुम पकरयौ मम हाथ। अब करुणा करि लाड़िली, राखि आपने साथ ॥

साथ-ही-साथ सबके देखते-देखते आप श्रीस्वामिनी-स्वरूपमें लीन होगए। इस प्रकार अपनी अनन्य निष्ठाकी आपने एक लीक खींच दी। इस घटनाका संकेत आपके प्रिय शिष्य स्वामी श्रीविहारिनि-देवजीने इस प्रकार किया है—

कर्म अरु धर्म, धन-धाम निहकाम करि, भजि लोक अरु बेद विधि विषम नाखी।
सकल सखि-मंडली मधि कहत, 'धंनि-धंनि', श्रीहरिदास बंसी सब अनन्य साखी ॥
निपुन अंग अहार, करतार उघटत शब्द, श्रीवर विहारिनदासि प्रेम भाखी।
रास रचनी अंग संग नृत्य में, जै-जै श्रीबीठलविपुल सुजश रेख राखी ॥

श्रीस्वामी बीठलविपुलदेवजीकी कविता सादगी, सरलता, माधुर्य और सहज लालित्यके लिए प्रसिद्ध है—

प्रात ही किशोर और कुंजकेलिनी।
अंग-अंग गुनतरंग, गौर-स्याम रूप-राशि-मंडल-केलि, सुरति-चिह्न पुलक झेलिनी ॥
रहनि-रंगिनी-सुतीर, गावत पिक-सुक-कीर, त्रिगुन मरुत माधुरी अमंद-पेलिनी।
वर विहार-रागिनी, अनुरागादि भागिनी, श्री बीठलविपुल वारनैं भुजकंठ-मेलिनी ॥

(श्रीजगन्नाथ थानेश्वरीजी)

भक्ति-रस-बोधिनी

महाप्रभु पारषद थानेस्वरी जगन्नाथ, नाथ को प्रकास घर दिना तीन देख्यौ है।
भये सिष्य, जान आप नाम कृष्णदास धरयौ, 'कृष्णजू' कहत सबै आदर बिसेख्यौ है ॥
सेवा 'मनमोहनजू' कूप मैं जनाइ दई, बाहर निकास करी लाड़ उर लेख्यौ है।
सुत रघुनाथजी कों स्वप्न मैं श्लोक दान, दया के निधान, पुत्र दियौ, प्रेम पेख्यौ है ॥३७८॥

अर्थ—महाप्रभु श्रीकृष्णचैतन्यदेवजीके पार्षद श्रीजगन्नाथ थानेश्वरीको घर ही रहते हुए तीन दिन तक लगातार भगवानके दर्शन हुए। (यह उनके किसी पुण्यका फल था।) तब ये महाप्रभुजीके शिष्य हुए। आपने इनका नाम 'कृष्णदास' रक्खा और तभी से सब लोग इन्हें आदरसे 'कृष्णजी' नामसे सम्बोधित करने लगे।

एक बार श्रीठाकुर मदनमोहनजीने स्वप्नमें आपसे कहा कि 'हम अमुक कुएं में हैं'।

श्रीजगन्नाथदासजीने आज्ञा पाकर ठाकुरजीको कुएँसे बाहर निकाला और बड़े प्रेमसे सेवा करने लगे।

दूसरी बार कृपालु भगवानने स्वप्नमें आपको एक श्लोक बताया और कहा कि इस श्लोकके कंठाग्र करा देने से उनके पुत्र रघुनाथदास विद्वान हो जायँगे। इन्होंने वैसा ही किया। आगे चलकर श्रीरघुनाथदासजी बड़े विद्वान् और हरि-भक्त हुए। इनका विस्तृत चरित्र छप्पय संख्या ७१ में (पृष्ठ ४८० पर) दिया जा चुका है।

तदाकारिता—एक बार श्रीजगन्नाथजीने वसन्त-पंचमी के अवसरपर अपने ठाकुरजी महाराज श्रीश्यामसुन्दरजीका अत्यन्त ही मनोहर शृङ्गार किया और उनकी अपरिमित रूप-माधुरीको इकटक देखने लगे। उस समयकी अद्वितीय महाछबिको देख कर थानेश्वरीजी इतने मुग्ध होगए कि उन्हें अपना कुछ भी ध्यान नहीं रहा। इस ध्यानावस्थाका परिणाम यह हुआ कि श्रीविग्रहका स्वरूप पलट कर श्रीजगन्नाथजीके समान होगया। उसी समय श्रीजगन्नाथजीका एक शिष्य आया और गुरुको प्रणाम करनेके उपरान्त श्रीठाकुरजीके दर्शन करने गया, किन्तु सिंहासनपर भी अपने गुरु महाराजको विराजमान देखकर वह आश्चर्यान्वित हो दो पल सब कुछ भूल गया। अगले क्षण गुरुजीके चरणोंमें गिरकर उसने रहस्यका कारण पूछा। श्रीजगन्नाथजीने कहा—"पुत्र ! अन्दर जाकर अबकी श्रीविग्रहके दर्शन करो।" इस बार श्रीजगन्नाथजीकी तदाकारिता-भंग होजानेके कारण सिंहासनपर वह शिष्य श्रीयुगल-छबिका दर्शन कर सका। (भक्तदाम गुण चित्रनीके आधारपर, पत्र सं० २७६)

(श्रीलोकनाथजी गोस्वामी)

भक्ति-रस-बोधिनी

> महाप्रभु कृष्णचैतन्य जू के पारषद, लोकनाथ नाम, अभिराम सब रीति है।
> राधाकृष्ण लीला सों रँगीन मैं नवीन मन, जैसे जल मीन तैसें निसि दिन प्रीति है॥
> 'भागवत' गान रसखान सो तो प्राणतुल्य, अति सुख मान, कहै गावै जोई मीति है।
> रसिक प्रवीन मग चलत चरण लागि, कृपा कै जनाय दई, जैसी नेह रीति है॥३७६॥

अर्थ—श्रीलोकनाथजी गोस्वामी महाप्रभु श्रीकृष्णचैतन्यजीके प्रिय शिष्य थे। आपकी जीवन-चर्या, भजन करनेका ढंग-सब कुछ अत्यन्त सुन्दर था। श्रीराधाकृष्णकी रसपूर्ण नई-नई लीलाओंकी उद्भावना करनेमें आपका मन लगा रहता था। रूप, नाम, लीला और धाम से आपको वैसा ही उत्कट प्रेम था जैसा कि मछलीको पानीसे होता है। रस-स्वरूप श्रीमद्-भागवतका गान और पठन-पाठन करनेवालोंसे आप बड़ा प्रेम करते थे। श्रीमद्भागवत उन्हें प्राणों के समान प्रिय थी। उसका पारायण करनेवालोंको आप अपना मित्र कहते थे। श्रीलोकनाथजी ऐसे भावुक-हृदय थे कि एक बार कोई मार्गमें श्रीमद्भागवतका पाठ करता जारहा था, सो आप उसके पैरोंपर गिर पड़े। अपने इस प्रकारके आचरण द्वारा आपने यह प्रकट कर दिया कि श्रीमद्भागवतके प्रति आपका कितना अनुराग था और आपकी प्रेम-पद्धति किस प्रकार की थी।

प्रभुकी ममता—श्रीलोकनाथ गोस्वामी श्रीयुगल-उपासक थे । आप प्रातः उठकर श्रीविग्रहका शृङ्गार करते और प्रभुकी रूप-माधुरीका अवलोकन करते हुए दीर्घ कालके लिए आनन्द-सागरमें निमग्न हो जाते । आपके शिष्योंमें एक शिष्य श्रीठाकुरजी महाराजकी रसोई तैयार करनेमें बड़ा निपुण था । वह नित्यप्रति प्रेमसे ठाकुरजीके भोगके लिए सुन्दर, सुस्वादु पकवान बनाया करता था । एक बार वह बीमार पड़ गया । अन्य शिष्य उतनी सुन्दर रसोई बना नहीं पाते थे, इसलिए ठाकुरजीकी पूजाके बाद अब अमनियाँ भी श्रीगोस्वामीजीको ही तैयार करना पड़ता था ।

एक बार श्रीलोकनाथजी शृङ्गार करनेके बाद श्रीयुगल-छविको निहारते-निहारते सब कुछ भूल गए । उन्हें यह भी ध्यान न रहा कि ठाकुरजीको अमनियाँ तैयार करना है । उधर रसोई घरमें शिष्य सब तैयारी करके गुरुदेवके आनेकी प्रतीक्षा कर रहे थे । यह दशा देखकर ठाकुरजी स्वयं लोकनाथ गोस्वामी का रूप बनाकर रसोई-घरमें गए और अमनियाँ तैयार किया । उसी समय किसी विशेष कारणसे शिष्य को मन्दिरमें जाना पड़ा । वहाँ श्रीलोकनाथजीको ध्यानस्थ देखकर उसके आश्चर्यका ठिकाना न रहा । वह कई बार रसोई-घरमें गया और मन्दिरमें आया, किन्तु समस्या न सुलझी । अन्तमें ध्यानस्थ गुरुदेव के चरणोंमें गिरकर उसने सब समाचार कहा । गुरुजी उत्सुकतासे रसोई-घरमें गए तो देखा कि समस्त पाक तो तैयार है, किन्तु उनका बनानेवाला गायब है । गुरु और शिष्य दोनोंका शरीर रोमाञ्चित हो गया । वे अब मन्दिरमें गए तो देखा श्रीश्यामसुन्दर मधुर-मधुर मुसकरा रहे हैं ।

(भक्त-दाम-गुण-चित्रनीके आधार पर, पत्र सं० २७६)

विशेषवृत्त—श्रीचैतन्य महाप्रभुने मथुरा-वृन्दावनके तीर्थोद्धारका कार्य जिन दो व्यक्तियोंको सौंपा था, उनमें पहले थे श्रीलोकनाथ गोस्वामी और दूसरे भूगर्भ आचार्य । श्रीलोकनाथजी महाप्रभुके सहपाठी थे; दोनोंने गङ्गादास पण्डितके टोलमें साथ-साथ अध्ययन किया था । विद्याध्ययनके पश्चात् दोनों सहाध्यायी कुछ समयके लिए पृथक् हो गये ।

श्रीलोकनाथजीका जन्म बंगालके जैसोर जिलामें तालखड़ी नामक एक छोटेसे गाँवमें हुआ था । आपके पिताका नाम था, पद्मनाभ चक्रवर्ती और माताका नाम सीतादेवी । इस ब्राह्मण-दम्पतीके श्री-लोकनाथजी एक-मात्र पुत्र थे । धार्मिक परिवारके पुनीत वातावरणमें पला हुआ यह बालक प्रारम्भसे ही अत्यन्त विनीत और भक्ति-परायण था और साथमें महाविद्याव्यसनी । कहते हैं, बहुत अल्प समयमें श्रीलोकनाथजीका अनेक शास्त्रोंपर अधिकार हो गया था ।

इस समय तक श्रीचैतन्य-महाप्रभुकी ख्याति समस्त बंगालमें फैल गई थी । लोकनाथजी अब घरमें भला कैसे टिकते ? एक दिन रातको वे चुपचाप निकल दिये और पहुँचे महाप्रभुकी शरण में । महाप्रभुने इनकी महान् संभावनाओंको देखकर इन्हें वृन्दावन जानेकी आज्ञा दी और विवश होकर उन्हें उस आज्ञाका पालन करना पड़ा ।

वृन्दावनमें रहते हुए भी श्रीलोकनाथजीको महाप्रभुका विरह सताता रहा । एक बार तो वे उनके दर्शनके लिए दक्षिण पहुँचे, किन्तु दुर्भाग्यसे महाप्रभु उससे पहले ही वृन्दावनके लिये चल पड़े थे । श्रीलोकनाथजी दौड़ कर जब तक वृन्दावन पहुँचे, तब तक महाप्रभु पुरीके लिए प्रस्थान कर चुके थे । लोकनाथजीने समझ लिया कि भाग्यमें महाप्रभुके दर्शन बदे ही नहीं हैं । उनका शेष जीवन, इस प्रकार, प्रभुके विरहमें तड़पते ही बीता ।

श्रीलोकनाथ गोस्वामीने 'छत्रवन' के पास 'उमराव' नामक ग्राममें किशोरकुण्डके तटपर निर्जन वनमें भजन किया और राधा-विनोद-विग्रहको प्रकट किया। आपकी समाधि वृन्दावनमें गोकुलानन्दजीके मन्दिर में है।

कहते हैं, 'श्रीचैतन्य-चरितामृत' के रचयिता श्रीकृष्णदास कविराज अपने ग्रन्थके प्रणयनसे पूर्व श्रीलोकनाथजीका आशीर्वाद लेनेके लिये वृन्दावन आये थे। श्रीलोकनाथजीने ग्रन्थ लिखनेकी स्वीकृति तो दे दी, पर इस शर्तके साथ कि ग्रन्थमें कहीं उनके नामका उल्लेख न किया जाय।

(श्रीमधु गुसाईं जी)

भक्ति-रस-बोधिनी

श्रीमधु गोसाईं आये बृंदावन, चाह बढ़ी, देखें इन नैननि सों कैसो धौं सरूप है।
ढूंढ़त फिरत बन-बन कुंज लता द्रुम, मिटी भूख प्यास, नहीं जानें छांह धूप है॥
जमुना बढ़त, काट करत करारे जहाँ, बंसीबट तट ठौर परे वे अनूप हैं।
अंक भरि लिये दौर, अजहूँ लों सिरमौर चाहे भाग भाल साथ गोपीनाथ रूप है॥३८०॥

अर्थ—श्रीमधु गोस्वामी जब बंगालसे वृन्दावन आये, तो उनके मनमें यह उत्कंठा हुई कि किसी प्रकार मैं इन आँखोंसे यह देखूं कि श्रीकृष्णचन्द्रका कैसा रूप है। वृन्दावनकी प्रत्येक लता-कुञ्जमें, वृक्षों में और अवान्तर वनोंमें भगवानको ढूँढ़ते हुए वे पागलसे होगये। न उन्हें भूख का ज्ञान रहा, न प्यासका अनुभव। क्या धूप और क्या छाया— सब उनके लिये एक-जैसी होगईं।

एक दिन जब वर्षा-ऋतुमें यमुनाजी बढ़ रही थीं और मिट्टीके कगारे कट-कट कर गिर रहे थे, वंशीवटके पास उन्हें भगवानकी अनुपम छविके दर्शन हुए। श्रीमधु गोस्वामीजीने दौड़ कर प्रभुको भुजाओंमें समेट लिया। भक्तकी अभिलाषा पूरी हुई।

आज भी भगवानका अर्चा-विग्रह 'श्रीगोपीनाथजी' के रूपमें वृन्दावनमें विराजमान है। बड़भागी लोग चाहें तो उसके दर्शन कर सकते हैं।

(श्रीकृष्णदास ब्रह्मचारी जी)

भक्ति-रस-बोधिनी

गुसाईं श्रीसनातन जू 'मदनमोहन' रूप माथे पधराय कही "सेवा नीके कीजियै"।
जानौं 'कृष्णदास' ब्रह्मचारी' अधिकारी भये, भट्ट श्रीनारायण जू शिष्य भये रीझियै॥
करिकै सिंगार चारु आपही निहार रहै, गहै नहीं चेत भाव मांझ मति भीजियै।
कहाँ लौं बखान करौं राग-भोग रीति भाँति, अबलौं विराजमान देखि देखि जीजियै॥३८१॥

अर्थ—श्रीसनातन गोस्वामीने अपने शिष्य श्रीकृष्णदास ब्रह्मचारीको 'श्रीमदनमोहनजी' की सेवाका भार सौंप कर कहा कि 'प्रभुकी सेवा भलीभाँति करना'। गोस्वामीजी जानते थे कि कृष्णदास इस सेवाका अधिकारी है। कालान्तरमें श्रीनारायणभट्टजी ब्रह्मचारीजीके शिष्य

हुए । श्रीब्रह्मचारीजीकी भक्ति-भावना रीझनेके योग्य थी । आप प्रभुका सुन्दर शृङ्गार कर एक-टक दृष्टिसे उनकी रूप-माधुरीको घंटों तक निहारा करते, यहाँ तक कि सुध-बुध खो जाती और मन-बुद्धि दोनों प्रेम-भावमें लीन हो जाते । उनकी भोग-रागकी रीतिका कहाँ तक वर्णन किया जाय ? आपके विराजमान किये हुए श्रीमदनमोहनजी ठाकुरके दर्शन कर भक्तोंको अब भी प्राण-दान मिलता है और वे अपने जीवनको धन्य मानते हैं ।

ठाकुर श्रीमदनमोहनजीकी प्राप्ति—इस कवित्तमें कहा गया है कि श्रीसनातन गोस्वामीजीने ठाकुर श्रीमदनमोहनजीकी सेवाका भार श्रीकृष्णदास ब्रह्मचारीजीको सौंपा । यह मूर्ति गोस्वामीजीको किस प्रकार मिली तथा उनकी सेवा-पद्धति कैसी थी, इस विषयपर टीकाकारों द्वारा लिखा गया रोचक वृत्तान्त इस प्रकार है :—

एक बार श्रीसनातनजी चुटकी माँगते हुए पहुँचे महावन । वहाँ वे भिक्षाके लिए संयोगसे एक भाटके घर गये तो देखा कि उसके यहाँ श्रीमदनमोहनजीकी एक बड़ी सुन्दर मूर्ति है । श्रीठाकुरजीका सुन्दर स्वरूप देख कर सनातनजी प्रेममें विभोर होकर रो पड़े । उस दिन तो वे चुटकी लेकर चले आये, पर उन्हें चैन नहीं मिला । रात-भर उसी मूर्तिका रह-रह कर स्मरण हो आता । दूसरे दिन फिर वे पहुँचे उसी भाटके घर और फिर वही आँसू और गद्गद् स्वर । इस प्रकार जब तीन-चार दिन बीत गये, तब भाटने पूछा—"भाई ! तुम यहाँ आकर इस प्रकार क्यों रो पड़ते हो ?" सनातनजीने कहा—"पहले हम भी गृहस्थ थे । लाखोंकी सम्पत्ति थी; सब प्रकारका सुख था, किन्तु संयोगसे ऐसा ही काला ठाकुर किसी प्रकार हमारे घरमें आगया । बड़ी श्रद्धासे हम उसकी पूजा करते, पर फल उलटा ही हुआ । दाने-दानेको मुहताज हो गए और आज यह हाल है कि करवा लिये गली-गलीका चक्कर काटते हैं । हमें डर है कि हमारा-जैसा हाल तुम्हारा भी न हो जाय, इसीलिये जब यहाँ आते हैं, तो रो पड़ते हैं ।"

भाटने यह सुना तो चिन्तामें पड़ गया । बोला—"यदि ऐसी बात है, तो हम ऐसे ठाकुरको अपने घर नहीं रक्खेंगे, किसीको दे देंगे ।"

श्रीसनातनजीने कहा—"यह तो तुम्हारा कहना ठीक है, पर जिस-किसीको दोगे वही खाने-खराब हो जायगा । जो देना है, तो हमें ही दे दो । हमारी तो जितनी बर्बादी होनी थी सो हो चुकी ।"

भाट तुरन्त राजी होगया और श्रीसनातनजी उस ठाकुरको ले आये और यमुनाजीके किनारे प्रस्वेदकन्द घाटपर रहने लगे । आप गाँवोंसे आटा माँग लेते और उसके अलौने अङ्गा सेंक कर भोग रखते । इस प्रकार जब बहुत दिन बीत गए, तब एक दिन ठाकुर सनातनजीसे बोले—"भले आदमी ! जिस प्रकार चुटकी माँग कर लाते हो, वैसे ही नोनकी एक कंकड़ी भी माँग लाया करो । अलोने अङ्गे गलेसे नीचे नहीं उतरते ।"

श्रीसनातनजीने उत्तर दिया—"महाराज ! आज तुमने नमक माँगा है, कल कहोगे घी चाहिए, परसों मिठाईकी फरमाइश करोगे । अपने राम ठहरे विरक्त; आपकी ये माँगें भला हम कैसे पूरी करेंगे ?"

ठाकुर मदनमोहनजी अपने भक्तकी ऐसी बेरुखी देख कर चुप होगए । मनमें निश्चय कर लिया कि अपना प्रबन्ध स्वयं करना पड़ेगा । इस ढंगसे कहना बेकार है ।

कुछ दिन बाद एक व्यापारीकी नाव दिल्लीकी ओरसे आती हुई प्रस्वेदकन्द घाटसे ऊपर

एकाएक रुक गई। मल्लाहोंने बहुत तरकीब लड़ाई, लेकिन नाव थी कि टससे मस नहीं होती थी। व्यापारीने सोचा, अवश्य कोई और कारण है। इधर-उधर नजर दौड़ाई, तो देखा कि कुछ दूरपर एक घाट है और वहाँ कुटिया बनी हुई है। गया वह वहाँ, ठाकुरके दर्शन किए और गोस्वामीजीसे हाथ जोड़ कर बोला—"अब तो मेरी नाव को आगे बढ़ने दीजिये।" गोस्वामीजी बोले—"मुझसे क्या पूछते हो? यह बात ठाकुर श्रीमदनमोहनजीसे पूछो। यह तो तुम्हारे और उनके बीचकी बात है।"

इसपर व्योपारीने अपने कारवारियोंको बुलाकर आज्ञा दी—"यहाँ बहुत जल्दी एक नया मन्दिर बन जाना चाहिये और भोग-रागकी सुन्दर व्यवस्था हो जानी चाहिए।"

साहूकारकी नाव चल निकली। जब वह चला गया, तो सनातनजी श्रीठाकुरजीसे बोले—"देखता हूँ, अब तुम राहजनीपर उतर आये हो। लगता है,जैसे यह पुरानी आदत हो। खैर, तुम जानो, पर हमसे अब तुम्हारी सेवा नहीं बनेगी। यह कह कर श्रीसनातनजीने ठाकुर श्रीमदनमोहनजीकी सेवा-पूजाका भार अपने प्रिय-शिष्य श्रीकृष्णदास ब्रह्मचारीको सौंप दिया और आप निर्द्वन्द्व होकर व्रजमें विचरण करते हुए भजन करने लगे।

(श्रीकृष्णदास पंडितजी)

भक्ति-रस-बोधिनी

श्री गोविन्दचन्द रूपरासि रसरासि दास कृष्णदास पंडित ये दूसरे यों जानि लै।
सेवा अनुराग अंग-अंग मति पागि रही, पागि रही मति जो पै तो पै यह मानि लै॥
प्रीति हरिदासन सों विविध प्रसाद देत, हिये लाय लेत, देखि पद्धति प्रमानि लै।
सहज की रीति में प्रतीत सों बिनीति करें, ढरें वाही ओर मन अनुभव आनि लै॥३८२॥

अर्थ—ये कृष्णदास पण्डितजी श्रीकृष्णदास ब्रह्मचारीजीसे भिन्न हैं। ये रूपके निधान ठाकुर 'श्रीगोविन्दचन्द्र' की अर्चा-विग्रहके सेवक थे और अत्यन्त भावुक थे। प्रभुकी सेवा-अनुरागके जितने भी अङ्ग हैं उन सबमें आपकी बुद्धि अत्यन्त प्रवीण थी। पाठकोंका मन भी यदि उन्हींकी तरह प्रभु-प्रेममें मग्न है, तो उन्हें इस बातको स्वीकार करनेमें तनिक देर न लगेगी।

भगवानके भक्तोंसे आप अत्यन्त प्रेम करते थे; उन्हें अनेक प्रकारके प्रसाद-वितरण करते थे और प्रेमसे गले लगाते थे। श्रीकृष्णदासजी पंडित-जैसे भक्त महानुभावोंके द्वारा अपनाया गया प्रेम-मार्ग अन्य भक्तोंको प्रमाण-रूपमें मानना चाहिए। पंडितजीका हरि-भक्तोंके प्रति अत्यन्त स्वाभाविक अनुराग था। अतीव नम्रतापूर्वक वे उनमें श्रद्धा रखते थे तथा उन्हींकी सेवाकी ओर उनकी मानसिक वृत्तियाँ झुकी रहती थीं। इस प्रेमा-भक्तिका अनुभव पाठकोंको अपने मनसे करना चाहिए।

श्लोकोंकी चटपटी—पंडित श्रीकृष्णदासजी अपने आराध्य श्रीगोविन्दचन्द्रजीकी अर्चा करनेके उपरान्त उन्हें विनयके सौ श्लोक गाकर सुनाया करते थे। एक दिन ऐसा हुआ कि किसी विद्यार्थीके आ जानेसे सौ श्लोक बिना सुनाए ही आप उसे पढ़ाने लग गये। रातको जब वे सोए तो श्रीगोविन्दचन्द्रजी ने उनसे स्वप्नमें कहा—"तुमने आज थोड़े श्लोक क्यों सुनाए? मुझे तुम्हारे श्लोक बहुत अच्छे लगते हैं।" प्रभुकी ऐसी वाणी सुनकर आप नित्य-प्रति उन्हें सौ श्लोक नियमसे सुनाने लग गए।

एक दिन जिस समय आप श्लोक गाकर सुना रहे थे, उसी समय एक सन्त आपसे मिलनेके लिए आए। आप श्री-विग्रहसे कहने लगे—"अभी जरा सन्तसे मिलकर आता हूँ, फिर आपको श्लोक सुनाऊँगा।" सन्तके पास जाकर जब आपको लौटनेमें विलम्ब हुआ तो प्रभुने मन्दिरका एक पात्र बाहर फेंक कर उन्हें ध्यान दिलाया कि बहुत देर हो गई है, अब आते हो कि नहीं? प्रभुके इस श्लोक-श्रवणकी चटपटीको देखकर भक्त श्रीकृष्णदासजीको कितना आनन्द हुआ होगा, इसका अन्दाजा तो वे ही लगा सकते हैं, जिन्हें अपने आराध्यका ऐसा साहचर्य प्राप्त हुआ हो।

(भक्त-दाम-गुण-चित्रनी, पद्य सं० २८१)

(श्रीभूगर्भ गोस्वामीजी)

भक्ति-रस-बोधिनी

गुसाईं 'भूगर्भ' वृन्दावन बास कियौ, लियौ सुख बैठि कुंज 'गोविन्द' अनूप हैं।
बड़ेई विरक्त, अनुरक्त रूप-माधुरी में, ताही को सवाद लेत मिले भक्त भूप हैं॥
मानसी बिचार ही अहार, सो निहारि रहैं, गहैं मन वृत्ति वेई युगल सरूप हैं।
बुद्धि के प्रमान अनुमान मैं बखान करयौ, भरयौ बहु रंग जाहि जानैं रस रूप हैं॥३८३॥

श्रीभूगर्भ गोस्वामीजीने वृन्दावनके प्रति अविचल निष्ठा रखते हुए वहाँ निवास किया। आप संसारसे अत्यन्त विरक्त थे। यदि किसीमें आसक्ति थी तो प्रभुकी रूप-माधुरी में। प्रमुख भक्तोंके साथ रहकर आप उस रूप-माधुरीका स्वाद लेते थे। मानसी सेवा ही आपका आहार था—उसीसे आपको बल मिलता था। आपके मनकी वृत्ति उन्हीं श्रीयुगलकिशोरके स्वरूपका ध्यान करनेकी ओर लगी रहती थी। टीकाकार श्रीप्रियादासजी कहते हैं कि 'मैंने अपनी बुद्धिके अनुसार केवल अनुमानके बलपर गोस्वामीजीके चरित्रका वर्णन किया है। आपके हृदयमें जो प्रेम-रंग भरा था, उसे वे ही जानते थे जो रसकी साक्षात् मूर्ति थे।'

भक्तवत्सलता—एक बार गोवर्द्धन-गिरिकी परिक्रमा करते हुए श्रीभूगर्भ गोस्वामीके पैरमें चोट लग गई, रास्ता चलना दूभर हो गया। उसी समय भगवान हट्टे-कट्टे भक्तका वेश बनाकर वहाँ आए और श्रीभूगर्भ गोस्वामीको, उनके मना करनेपर भी, कन्धेपर चढ़ाकर घर ले आए, किन्तु जब भगवान अचानक उनके यहाँसे अन्तर्धान हो गए, तो रहस्य उनकी समझमें आया। गोस्वामीजी प्रभुके लिए दिनभर विलाप करते रहे। रात्रिको जब उन्हें नींद आई तो भगवानने स्वप्नमें कहा—"तू मेरा नित्य भजन-पूजन करता है, यदि एक दिन मैंने तुझे अपने कंधेपर उठा लिया तो इसके लिए तुझे व्याकुल नहीं होना चाहिए।" श्रीगोस्वामीजी भगवानकी इस अमृतमयी-वाणीको सुनकर कृतार्थ हो गए।

(भक्त दाम-गुण-चित्रनी, पद्य सं० २८१)

विशेष-वृत्त—श्रीलोकनाथ गोस्वामीजीके प्रसंगमें यह लिखा जा चुका है कि श्रीचैतन्य महाप्रभुने वृन्दावन-मथुराका उद्धार करनेके लिए श्रीलोकनाथजीके साथ भूगर्भ-आचार्यको भी भेजा था। इन दोनों भक्तोंको अपने गुरु श्रीमहाप्रभुजीकी आज्ञा पालन करनेमें अनेक कष्टोंका सामना करना पड़ा, परन्तु अन्तमें वे सफल हुये। श्रीलोकनाथजी तो महाप्रभुके दर्शनके लिए कई बार वृन्दावन छोड़कर चले गए, परन्तु श्रीभूगर्भ-आचार्य अविचल रूपसे वहीं बने रहे।

श्रीरंग—आपका चरित्र श्रीप्रियादासजीने नहीं लिखा है। श्रीबालकरामजीकी टीका 'भक्त-दाम-गुण-चित्रनी' (पत्र सं० ३८१) के आधार पर वह नीचे दिया जाता है—

एक बार आपने सन्तोंको प्रसाद पानेका निमन्त्रण दिया, किन्तु पंगतके समय दुगुने सन्त जमा हो गए। यह देख आपसे एक अन्य सन्त बोले—"जो बिना निमन्त्रण के आए हैं उनको तो प्रसाद दे दो और अन्य सन्तोंकी पंगत कराओ।" इसपर श्रीरंगने कहा—"भगवानके दरबारमें कभी किसी बातकी नहीं है। सभी सन्तोंको प्रसाद पवाओ।" लोगोंने देखा कि उसी प्रसादमें-से सब सन्तोंकी पंगत हुई और अन्तमें सामग्री बच भी गई।

श्रीहृषिकेशदेवाचार्यजी—आप श्रीहरिव्यास देवाचार्यजी महाराजके प्रधान बारह शिष्योंमें-से एक हैं। आप निरन्तर वृन्दावनवास करते हुए मानसी-भावना द्वारा श्रीश्यामा-श्यामकी उपासना एवं ध्यानमें सदा लीन रहा करते थे। कहा जाता है, सखी-भावके उपासक श्रीअग्रदासजी जब श्रीवृन्दावनमें आए थे तब उनका साक्षात्कार आपसे हुआ था और परस्पर कुछ सत्संग-चर्चा भी हुई थी। जब आपसे कुशल-मंगल पूछा गया, तो आपने यह पद सुना दिया—

> **मन-मंदिर में राधा-मोहन।**
> **नित्य किसोर-किसोरी दोऊ करत बिहार निरन्तर निस-दिन॥**
> **दिव्य-धाम ब्रज-मंडल सगरौ भगरौ माँहि पैठत तहँ नेकुन।**
> **ता मधि राजत परम मनोहर सूछिम तें सूछिम वृन्दाबन॥**
> **नव निकुंज नव लता-भवन में अष्ट-कमलदल मृदुल सिंहासन।**
> **प्रमुदित राजत जुगल-चन्द तहँ सेवत अगणित ललितादिक ललनागन॥**
> **सेवा साँज सँवारि लियें करि अरपित करि निज तन मन धन।**
> **'हृषिकेश' निरषत अति हरषत निवछावरि हो बलि जाउं छिनहिं छिन॥**

श्रीउद्धवघमण्डदेवाचार्यजी—इस ६४ वें छप्पयमें श्रीनाभादासजीने आपका 'घमण्डी' कहकर केवल नामोल्लेख किया है और आपको श्रीयुगलकिशोरका भृत्य कह कर सम्बोधित किया है। आप निखिल-महीमंडलाचार्य जगद्गुरु श्रीनिम्बार्काचार्य श्रीहरिव्यासदेवजी महाराजके द्वादश प्रधान शिष्योंमें एक थे। आपका जन्म जयपुर राज्यके अन्तर्गत टोड़ा भीमके सन्निकट 'डूबरदू' नामक ग्राममें हुआ था। आप बाल्यावस्थामें ही श्रीहरिव्यासदेवाचार्यजीके शरणापन्न हो गए। इसी समय आपका नाम 'उद्धवदेव' पड़ा। आपने प्रारम्भमें तो अपने गुरुदेवजीके साथ एवं बादमें स्वयं अनेक स्थानोंमें भ्रमण करते हुए भक्ति-प्रचार किया। जहाँ भी आप गए वहाँ आपके मठ-मन्दिर स्थापित हो गए। आज भी वे मन्दिर हरि-याणा, पंजाब, राजपूताना, मध्य-प्रदेश, बंगाल आदि सभी प्रान्तोंमें पाए जाते हैं। इनका सबसे पुराना स्थान 'गोली' (हरियाणा) में है। गोहद (ग्वालियर), नानपारा, (बहराइच), हाटी, बिजोलिया (बिहार), बल्लभपुर, मैदनीपुर (बंगाल), सिगड़ा (पोरबन्दर), मुचुकुन्दतीर्थ (धवलपुर), बड़ा मठ (दुर्ग) आदि में आपके स्थान हैं। ब्रजकी कोरपर स्थित 'लीली' नामक ग्राममेंआपकी चरण-पादुकाएं स्थापित हैं। वहाँ हिन्दू-मुसलमान—सभी उनकी पूजा करते हैं और उनके अभिषिक्त-जलसे आज भी रोग-दोष दूर हो जाते हैं।

यात्राके अवसरपर जिज्ञासु भावुक-भक्तोंको भक्ति-तत्त्वका उपदेश देते समय आप गद्गद्

हो जाते थे और आपकी आँखोंसे प्रेम-प्रवाह प्रवाहित होने लगता था। आपको अपने प्रभुपर बड़ा विश्वास था। अपने आराध्यके बलपर वे सदा गर्वीले रहते थे। इसी कारण वे साधारण एवं भक्त जनतामें 'घमण्डी' के नामसे सुख्यात हो गए और अब तो प्रायः बहुतसे लोग आपको 'घमण्डीदेवाचार्य' ही के नामसे जानते हैं।

परम्परागत यह बात प्रसिद्ध है कि गुरुदेवकी आज्ञानुसार जब आप करहलामें भजन किया करते थे, उस समय आपको श्रीश्यामसुन्दरने दर्शन दिए और अपना मुकुट एवं चन्द्रिका देकर आज्ञा की कि 'तुम हमारी लीलाओंका अनुकरण कराओ।' तदनुसार आप व्रजवासी-बालकों द्वारा रासलीलानुकरण कराने लगे। जिन बालकोंने सर्व-प्रथम प्रिया-प्रियतमका मुकुट धारण किया था, उनके नाम हैं—तुलसी और कमलनयन। ये दोनों ही करहलाके थे। कुछ लोगोंका कहना है कि रासलीला सर्व-प्रथम करहला में हुई, किन्तु 'वृन्दावनधामानुरागावली' के रचयिता श्रीगोपालराय कविका कथन है कि रासलीलानु-करण सबसे पहले वृन्दावनमें सेवाकुञ्जके पास हुआ।

आपके तीन मन्दिर थे—(१) ठाकुर मदनमोहनजीका, (२) मुरलीमनोहरजीका एवं (३) रास-विहारीजी का।*

आपके सम्बन्धमें श्रीध्रुवदासजीने कहा है कि आप श्रीवृन्दावनमें बंशीवटपर निवास किया करते थे। निरन्तर युगल-रसकी घुमड़नसे आपका हृदय व्याप्त रहता था और आप सदा श्यामा-श्यामकी लीलाओंका गान किया करते थे—

> घमंडी रसमें घुमड़ि रह्यौ, वृन्दावन निजधाम।
> बंशीबट तट बास किय, गायौ स्यामा-स्याम॥

(श्रीरसिकमुरारिजी)

मूल (छप्पय)

> **तन मन धन परिवार सहित सेवत संतन कहँ।**
> **दिव्य भोग आरती अधिक हरि हू ते हिय महँ॥**
> **श्री बृंदाबनचंद स्याम-स्यामा रँग भीने।**
> **मगन प्रेम पीयूष पयध परचै बहु दीने॥**
> **श्री हरिप्रिय स्यामानंदवर भजन भूमि उद्धार कियौ।**
> **(श्री) रसिकमुरारि उदार अति मत्त गजहिं उपदेश दियौ॥९५॥**

अर्थ—श्रीरसिकमुरारिजी अपने तन, मन, धनसे परिवार-सहित सन्तोंकी सेवा किया करते थे। इतना ही नहीं, आप श्रीहरिसे भी अधिक हरि-भक्तोंका आदर करते थे और भगवानकी तरह उनको दिव्य भोग रखते तथा आरती करते थे। श्रीवृन्दावनमें चन्द्रमाकी तरह सुशोभित

---

* मदनमोहन अरु मुरली मनोहर रासक रासबिहारी। (वृ० धामानुरागावली)

श्रीराधाकृष्णकी प्रीतिके रँगमें आप रँगे रहते थे और उन्हींके प्रेम-रूपी अमृतके समुद्रमें अवगाहन किया करते थे। आपने भगवानके भक्तोंके प्रति अपनी दृढ़-निष्ठाका कई बार परिचय दिया। उदाहरणके लिए, आपने अपने गुरुदेव, भगवानके प्यारे, श्रीश्यामानन्दजीकी भजन-स्थलीका, जोकि तत्कालीन राजाने छीन ली थी, उद्धार किया। आप स्वभावसे अत्यन्त उदार थे। एक बार आपने एक मदमत्त हाथीको भक्तिका उपदेश देकर उसे अपना शिष्य बना लिया था।

भक्ति-रस-बोधिनी

रसिकमुरारि साधु-सेवा बिसतार कियौ, पावै कौन पार, रीति भाँति कछु न्यारियै।
संत-चरणामृत के माट गृह भरे रहैं, ताही को प्रनाम पूजा करि उर धारियै॥
आवैं हरिदास जिन्हैं देत सुखराशि, जीभ एक न प्रकासि सकै, थकै सो बिचारियै।
करें गुरु-उत्सव, लै दिन मान सबै कोऊ, द्वादस दिवस जन घटा लागी प्यारियै॥३८४॥

अर्थ—श्रीरसिकमुरारिजीने साधु-सेवाका खूब प्रचार किया। आपकी इस भावनाकी थाह कौन पा सकता है? आपका साधु-सेवा करनेका ढंग कुछ विलक्षण ही था। आपके घरमें सन्तों के चरणामृतके घड़े भरे हुए रहते थे और आप उन्हींको अपना इष्ट मान कर और हृदयके सिंहासनपर विराजमान करके उनकी उपासना और वन्दना करते थे। जितने भी साधु-सन्त आपके घरपर आते थे उन सबको आप अत्यधिक सुख देते थे। आपकी साधु-सेवाकी महिमा का वर्णन नहीं किया जा सकता; क्योंकि वर्णन करनेवाली जीभ (जिह्वा) एक है और चरित्र अनेक। सच बात तो यह है कि उनके अनन्त चरित्रोंको मनमें विचार सकना भी असम्भव है। आप अपने गुरुदेवके वार्षिकोत्सव पर सबका भोजन आदि द्वारा स्वागत करते थे। यह उत्सव बारह दिन तक चलता रहता था। इन दिनों आगन्तुक सन्तोंकी घटा-सी छाई रहती थी।

भक्ति-रस-बोधिनी

"संत चरणामृत कों ल्यावो जाय नीकी भाँति," जीकी भाँति जानिबे को दास लै पठायौ है।
आनि कै बखान कियौ "लियौ सब साधुन कौ," पान करि बोले, "सो सवाद नहिं आयौ है॥
जिते सभा-जन, कही चाखौ देहु मन कोऊ महिमा न जानै किन, जानी छोड़ि आयौ है।
पूछी, कही "कोढ़ी एक रह्यौ," आनो, ल्यायौ, पियौ, दियौ सुख पाय, नैन नीर ढरकायौ है॥३८५

अर्थ—(एक दिन श्रीरसिकमुरारिजीके यहाँ विशाल भण्डारेका आयोजन हुआ। जब सन्त-लोग प्रसाद पा रहे थे तब,) आपने एक शिष्यकी भावनाकी परीक्षा करनेके लिये आपने उससे कहा—"श्रद्धा-भक्ति-पूर्वक सब सन्तोंका चरणोदक लाओ।" आज्ञानुसार चरणामृत लाकर शिष्यने निवेदन किया कि "मैं सब सन्तोंका चरणामृत ले आया हूँ।" उसका आचमन लेते हुए आपने कहा—"क्या कारण है कि और दिनकी तरह आज स्वाद नहीं आया?" उस समय और लोग भी आस-पास बैठे थे। आपने उन्हें चरणामृत देते हुए कहा—"तनिक एकाग्र चित्तसे इसे चाखिये तो सही और बतलाइये कि क्या वैसा ही स्वाद है?" ये बेचारे

चरणामृतकी महिमाको क्या जानें, पर आप समझ गये कि शिष्य किसी सन्तका चरणामृत लेनेसे रह गया है । उससे जब पूछा गया, तो वह बोला—"केवल एक कोढ़ी रह गया है ।" आपने आज्ञा दी कि 'उसका भी ले आओ ।' जब शिष्य ले आया, तो उसे पीकर आप बड़े सुखी हुए और आपके नेत्रोंसे प्रेमाश्रु बह निकले ।

भक्ति-रस-बोधिनी

नृपति समाज में विराजमान भक्तराज, कहैं, वे बिवेक, कोऊ कहनि प्रभाव है ।
तहाँ एक ठौर साधु भोजन करत रौर देवौ दूजी सोंटा संग, कैसे आवै भाव है ।।
पातरि उठाय श्री गुसाईं पर डारि दई, दई गारी, सुनी, आप बोले देख्यो दाव है ।
"सीथ सौं विमुख मैं तौ, आनि मुख मध्य दियौ," कियौ दास दूर, संत-सेवा में न चाव है ।।३८६।।

अर्थ—एक बार श्रीरसिकमुरारिजी सज्जनोंके समाजमें, जिसमें कि कई-एक राजा भी उपस्थित थे, विवेक-पूर्ण उपदेश दे रहे थे । आपके कहनेका ढंग बहुत ही प्रभावोत्पादक था । वहीं एक ओर साधु-सन्तोंके भोजनका कार्य-क्रम भी चल रहा था । साधुओंमें-से एक अपने सोंटे (डंडे) के लिए दूसरा पारस माँग रहा था और पारस देनेवालेके मना करनेपर हल्ला मचा रहा था । पारस देनेवालेका सोंटेके प्रति वही भाव कैसे हो सकता था जो कि साधु-महाराजके प्रति था ? इसपर साधुने खीझ कर पत्तलको गुसाईंजीके सिरपर डाल दिया और न-जाने क्या-क्या गालियाँ भी दीं । गालियाँ सुन कर गुसाईंजी बोले—"देखिये, भगवानने मेरे लिये कैसा सुयोग उपस्थित कर दिया कि चरणामृत लेनेके उपरान्त सीथ-प्रसादी भी मेरे मुँहमें डलवादी; नहीं तो, संभव है, मैं प्रसादीसे वंचित रह जाता ।" (यह कहकर आपने उस साधुको सोंटेके नामका एक परोसा अलग से दिलवा दिया) । जिस शिष्यने सोंटेकी पत्तल देनेसे मना किया था, उससे आपने साधुओंकी सेवा करनेका अधिकार यह कहकर छीन लिया कि 'तुम्हारी साधु-सेवामें रुचि नहीं है ।'

भक्ति-रस-बोधिनी

बाग में समाज सन्त चले आप देखिबे कों, देखत दुरायो जन हुक्का, सोच परयौ है ।
बड़ो अपराध मानि, साधु सनमान चाहैं, घूमितन बैठि कही देखौ "कहूँ धरयौ है" ।।
जायकै सुनाई बात, काहू के समाज पास, सुनिकै हुलास बढ्यौ, आगें आनि करयौ है ।
झूठे ही उसाँस भरि, साँचे प्रेम पाय लिये, किये मन भाये, ऐसें संका दुख हरयौ है ।।३८७।।

अर्थ—एक समय श्रीरसिकमुरारिजीके बागमें सन्तोंका समाज एकत्रित था । उनके दर्शन के लिये आप गये, तो एक साधुने उन्हें देखते ही अपने हुक्केको छिपा लिया । आपने समझा कि यह तो अपराध होगया, अतः उस साधुका सम्मान करनेके लिये आप झूँठे ही पेट पकड़ कर शरीरसे ऐंठते-से बैठ गये और एक सेवकसे बोले—"पेटमें अचानक दर्दका मरोड़ उठ आया है; देखो तो, कहीं किसी सन्तके पास हुका हो तो लाओ ?" आज्ञा पाकर सेवक साधुओंके

पास जाकर बोला—"आप लोगोंमें-से किसीके पास हुक्का-तमाखू तो नहीं है ?" यह सुनते ही हुक्का पीनेवाला साधु प्रसन्न होकर आगे बढ़ा और हुक्का प्रस्तुत कर दिया। आपने झूँठे ही एक-दो फूँक मारीं और ऐसा दिखलाया मानों कि पेटकी पीड़ा शान्त होगई है। इस प्रकार झूँठे ही फूँक भर कर आपने साधुका सच्चा प्रेम प्राप्त कर लिया। और उधर उसका सब शंका-संकोच भी दूर होगया।

भक्ति-रस-बोधिनी

उपजत अन्न गाँव, आवै साधु-सेवा ठाँव, नयौ नृप दुष्ट आय फाँस-फाँस कियौ है।
ग्राम सो जवत करयौ, करयौ लै विचार, स्यामानन्द जू मुरारि आप पत्र लिखि दियौ है॥
जाही भाँति होहु ताही भाँति उठि आवौ, इहाँ आये हाथ बाँधि करि अँचेहू न लियौ है।
पाछे साष्टांग करी, करी लै निवेदन सो भोजन में कही चले आये भोज्यौ हियौ है॥३८८॥

अर्थ—श्रीरसिकमुरारिजी जहाँ रहते थे उस स्थानसे एक गाँव लग रहा था जिसकी आमदसे साधु-सन्तोंकी सेवा होती थी। संयोगसे एक नया राजा राज्यका अधिकारी बना। यह प्रकृतिका अत्यन्त दुष्ट था और साधुओंसे द्वेष करता था। उसने बहुत हल्ला मचाया कि साधु-लोग व्यर्थ ही पड़े-पड़े गाँवकी आमदनी खा जाते हैं और गाँवको जब्त कर लिया। श्रीरसिकमुरारिजीके गुरुदेव उसी गाँवमें रहते थे। उन्होंने वहाँसे आपको एक पत्र लिखा कि 'जैसे बैठे हो वैसे ही तत्काल चले आओ।' जिस समय श्रीरसिकमुरारिजीको गुरुदेवका पत्र मिला उस समय वे भोजन कर रहे थे। आज्ञा पाते ही आप बिना जल पिए ही ज्योंके त्यों उठ दिये और हाथ जोड़कर सामने खड़े होगए। आपने साष्टांग प्रणाम बादमें किया (क्योंकि जूठे मुँह और हाथोंसे ऐसा करना निषिद्ध है); पहले यह निवेदन किया कि आपकी आज्ञाके अनुसार बिना हाथ-मुँह धोये ही चला आया हूँ। श्रीश्यामानन्दजी उनकी ऐसी गुरु-भक्ति देख कर बड़े प्रसन्न हुए।

भक्ति-रस-बोधिनी

आज्ञा पाय, अचयौ लै, दै पठायौ वाही ठौर दुष्ट-सिरमौर जहाँ तहाँ आप आये हैं।
मिले मुतसद्दी, सिष्य आइकै सुनाई बात "जावौ उठि प्रात" यह नीच जैसे गाये हैं॥
"हम ही पठावैं, काम करि समझावैं सब," मन में न आवै, जानौ नेह ढरपाये हैं।
"चिन्ता जिनि करौ, हिये धरौ निहचिन्तताई" भूप सुधि आई दिना तीन कहाँ छाये हैं॥३८९॥

अर्थ—गुरुदेवकी आज्ञा पाकर श्रीरसिकमुरारिजीने आचमन किया और मुँह-हाथ धोये। श्रीश्यामानन्दजीने, इसके उपरान्त, आपको दुष्टोंके शिरोमणि राजाके पास भेजा। राजाके यहाँ ऊँचे पदोंपर स्थित कई कायस्थ थे जोकि आपके शिष्य थे। वे आपसे आकर मिले और बताया कि राजा कैसा नीच है। उन्होंने यह भी सलाह दी कि 'आप प्रातःकाल यहाँसे चले जाइये; हम ही राजाके पास जाकर उसे समझा-बुझाकर काम करा देंगे।' यह बात आपकी

समझमें नहीं आई। आपने समझ लिया 'कि हमसे स्नेह करने के कारण ये लोग डरते हैं कि राजा हमारे गुरुका अपमान न कर दे।' आपने शिष्योंसे कहा—"तुम लोग चिन्ता मत करो; बिलकुल निश्चिन्त रहो।"

शिष्य लोग आपकी सेवामें तीन दिन तक रहे। राजाको जब याद आया कि वे लोग तीन दिनसे दिखाई नहीं दे रहे हैं, तो बुलाकर पूछा—"तीन दिन तक तुम लोग कहाँ रहे?"

भक्ति-रस-बोधिनी

सुनी आये गुरुवर, कही "ल्यावो मेरे घर, देखों करामात", बात यह लै सुनाई है।
कह्यौ आनि 'अभूँ जावौ,' 'चलौ, उनमान देखें,' चले सुख मानि, आयौ हाथी घूम छाई है॥
छोड़िकै कहार भाजि गये, न निहारि सके, आप रससार बानी बोले जैसी गाई है।
"बोलो हरेकृष्ण कृष्ण, छाँड़ौ गज तम तन" सुनि गयौ हिये भाव, देह सौं नवाई है॥३६०॥

अर्थ—राजाने मन्त्रियोंसे जब सुना कि उनके गुरु आये हैं, तो बोला—"उन्हें हमारे पास लाओ; हम देखेंगे कि उनमें क्या करामात है, तब गाँव देंगे।" शिष्योंने लौट कर यह सब गुरुदेवसे कहा और उनसे प्रार्थना की कि 'अब भी आप अपने स्थानको लौट जाइये।" आपने उत्तर दिया—"चलकर देखता हूँ कि राजा क्या कहता–करता है"। ऐसा कह, पालकी पर बैठ कर आप राजासे मिलने चल दिये।

इतने ही में (दुष्ट राजा द्वारा छोड़ा गया) एक उन्मत्त हाथी पालकी की ओर दौड़ता हुआ दिखाई दिया। चारों ओर हल्ला मच गया और कहार लोग पालकी पटक कर भाग खड़े हुए—उन्होंने मुड़कर देखा भी नहीं कि हाथी कैसा है। हाथीके सामने आते ही श्रीरसिक-मुरारिजीने अपनी मधुर वाणीमें कहा—"हरे कृष्ण! हरे कृष्ण! कहो और इस तमोगुणकी वृत्तिको छोड़ो जो साधारणतया हाथीके शरीरमें रहती है।" आपका यह उपदेश सुनते ही हाथी का हृदय भक्ति-भावसे भर गया और उसने अपना मस्तक झुका कर आपको प्रणाम किया।

भक्ति-रस-बोधिनी

बहे दृगनीर, देखि हूँ गयौ अधीर, आप कृपा करि धीर कियौ, दियौ भक्ति-भाव है।
कान में सुनायौ नाम, नाम दै 'गुपालदास,' माल पहिराई गरें, प्रगट्यौ प्रभाव है॥
दुष्ट सिरमौर भूप लखि उहिं ठौर आयौ, पाँव लपटायौ, भयौ हिये अति चाव है।
निपट अधीन, गाँव केतिक नवीन दिये, लिये कर जोरि "मेरौ फल्यौ भाग दाव है" ॥३६१॥

अर्थ—श्रीरसिकमुरारिजीके दर्शन कर (और उनकी सरस वाणी सुनकर) हाथी प्रेमसे अधीर होगया और उसकी आँखोंसे आँसुओंकी धारा बह निकली। आपने कृपा कर हाथीको धीरज बँधाया और उसके हृदयमें भक्ति-भाव भर कर कानमें भगवन्नाम-मन्त्र सुनाया। हाथी का नाम आपने 'गोपालदास' रक्खा और उसके गलेमें तुलसीकी माला पहिना दी।

श्रीरसिकमुरारिजीका प्रभाव, इस घटनासे, सब लोगों को स्पष्ट होगया। दुष्ट राजा भी

यह देख कर आपके पास आया और चरणोंमें लिपट गया। उसके हृदयमें प्रेम-भावका संचार हो गया और आत्म-समर्पण कर उसने कई नवीन गाँव आपके भेंट किये। अन्तमें बोला—"मेरा यह बड़ा सौभाग्य है कि आपके दर्शन मिले।"

भक्ति-रस-बोधिनी

भयौ गजराज भक्तराज, साधु-सेवा साज, संतनि समाज देखि करत प्रनाम है।
आनि डारै गौनि, बनजारनि की बारन सो, आयेई पुकारन वे जहाँ गुरु धाम है॥
आवत महोच्छौ मध्य, पावत प्रसाद सीथ, बोले आप हाथी सों यों "निन्द्य यह काम है"।
छोड़ दई रीति, तब भक्तन सों प्रीति बढ़ी, संग ही समूह फिरे, फैलि गयौ नाम है॥३६२॥

अर्थ—श्रीरसिकमुरारिजी राजाको, इस प्रकार, अपने भक्ति-भावका परिचय देकर और हाथीको अपने साथ ले स्थानको लौट आये। वह गजराज अब पूरा भक्त होगया। साधुओंकी सेवा करना उसने अपना उद्देश्य बना लिया। सन्तोंको देखकर वह प्रणाम करता और बनजारों के स्थानसे दाल-चावल आदि की गठरियाँ लाकर सन्तोंके यहाँ रख देता। यह देखकर बनजारों ने उस स्थानपर जाकर जहाँ गजराजके गुरुदेव रहते थे, शिकायत की। हाथीका यह नियम था कि जहाँ-कहीं सन्तोंका भण्डारा होता, वहाँ जाकर सन्तोंकी प्रसादी ग्रहण करता। ऐसे ही किसी महोत्सवमें एक दिन जब वह आया, तो गुरुदेवने कहा—"किसीकी वस्तु जबरन् ले लेना निन्दनीय कार्य है; इसे छोड़ दो।" गुरुकी आज्ञा शिरोधार्य कर गोपालदासने वह आदत छोड़ दी। अब भक्तोंसे वह और भी प्रेम करने लगा। गोपालदासके साथ अब सन्तोंकी जमात चलती थी। उसकी ख्याति दूर-दूर तक फैल गई।

भक्ति-रस-बोधिनी

संत सत पाँच सात संग, जित जात तित लोग उठि धावैं, ल्यावैं सीधे, बहु भीर है।
चहूँ दिसि परी हुई, 'सूबा' सुनि चाह भई, हाथ पै न आवत सो आनै कोऊ बीर है॥
साधु एक गयौ, गहि लयौ भेष दास तन, मनमें प्रसाद नेम, पीवै नहीं नीर है।
बीते दिन तीन चारि, जल लै पिवावैं धारि, गंगा जू निहारि भयि तज्यौ यों सरीर है॥३६३॥

अर्थ—भक्तराज गोपालदास-गजके साथ अब पाँच-सात सौ सन्तोंका जमघट बना रहता था। जिधर वे जाते उधर ही लोग दौड़ पड़ते और सन्तोंके स्वागतके लिये सीधा-सामान ले आते। गजेन्द्रकी भक्तिकी चारों ओर धूम मच गई।

यह समाचार जब प्रान्तके शासक 'सूबेदार' के पास पहुँचा, तो उसे भी देखनेका कुतूहल हुआ और उसने हाथीको पकड़ कर ले आने का हुक्म दिया। किन्तु हाथी किसीके हाथ आता ही न था। अन्तमें राजाने कहा कि देखते हैं कि कौन साहसी इसे पकड़ कर लाता है, (हम उसे इनाममें बहुत द्रव्य देंगे)। इसपर एक दुष्टने साधुका बाना धारण किया और उसे पकड़ लाया। गज-गोपालदासका नियम था कि सन्तोंका चरणामृत-प्रसाद लिये बिना जल नहीं ग्रहण

करते थे, इसलिए तीन दिन बीत गये, लेकिन उन्होंने जल नहीं पिया। तब उन्हें प्यासा समझ कर सूबेदारके सेवक उन्हें गंगाजीकी धारामें जल पिलानेके लिये ले गए। आपने भक्ति-पूर्ण हृदयसे गंगामें प्रवेश किया और नश्वर शरीरको छोड़कर परम-धामको चले गए।

'भक्तदाम-गुण चित्रनी'में रसिक मुरारीजीका एक विशेष वृत्त इस प्रकार दिया है—श्रीरसिक-मुरारीजीकी किसी ब्राह्मणी शिष्याके एक पुत्र हुआ और जब वह शिशु था तभी इतना बीमार होगया कि उसके जीवनकी आशा न रही। ब्राह्मणीने आपके पास आकर अपना दुःख कहा तो आपने सन्त-चरणामृत दे दिया जिसकी कुछ बूंदोंसे ही ब्राह्मणीका शिशु नीरोग हो गया।

एक बार इसी ब्राह्मणीका जामाता आया। दैवयोगसे रसिकमुरारीजीके सन्त-चरणामृतकी चर्चा सुनकर वह वहाँ गया और उनकी तथा चरणामृत की निन्दा करता हुआ बोला—"भगवानका चरणामृत तो मोक्ष देनेवाला होता है, ऐसा वेद मानते हैं, किन्तु इन साधुओंके चरणामृतका इतना सम्मान मैंने आपके द्वारा ही देखा है। महाराज! इस ढोंग में क्या रखा है? यह कपट-व्यवहार त्याग कर वेद-विहित प्रकारोंसे भगवानकी उपासना करके उनका चरणामृत पियो।"

इससे रसिकमुरारीजी किञ्चित् भी क्रुद्ध नहीं हुए और सरलतासे कहा—"ब्रह्मदेव! हम आपसे तो नहीं कहते कि सन्त-चरणामृत पान करें। यदि आपकी श्रद्धा महात्माओंके पादोदकमें नहीं है तो रहने दीजिए।" इतने पर भी जामाता-महानुभाव न जाने क्या-क्या बड़बड़ाते हुए वहाँसे गए।

किन्तु सन्त-चरणामृतका उसने अपमान किया था अतः कुछ ऐसी भगवानकी इच्छा हुई कि घर आते ही उसके पेटमें भयंकर पीड़ा होने लगी। लाख उपचार करने पर भी कोई लाभ न हुआ तो उस की सास उसे अपने गुरुदेवके पास ले गई और अपनी परेशानी कह सुनाई। श्रीरसिकमुरारीजी जामाता की ओर देखकर थोड़ा मुस्कराए और फिर बोले—"हमारे पास कोई दवा तो है नहीं, सन्तोंका चरणा-मृत है, उसमें तुम्हारे जामाता-महानुभावकी श्रद्धा नहीं है। सन्त-चरणामृत या भगवत्प्रसाद—सभी श्रद्धा पर आधारित हैं।" अंतमें जामाताके द्वारा भी विशेष आग्रह करने पर आपने सन्त-चरणामृत उसे दे दिया कि पीड़ा दूर होगई। श्रीरसिकमुरारीजीके इस अद्वितीय चमत्कारको देखकर वह आपके चरणोंमें गिर पड़ा और मना करने पर भी हठ-पूर्वक उनसे दीक्षा ग्रहण की।

मूल (छप्पय)

सोझा, सींवाँ, अधार धीर, हरिनाभ, तिलोचन।
आसाधर, धौराजनीर, सधना, दुख मोचन॥
काशीश्वर, अवधूत, कृष्ण किंकर कटहरिया।
सोभू, उदाराम, नामडूंगर व्रत धरिया॥
पदम, पदारथ, रामदास, बिमलानँद अमृत श्रये।
भव-प्रवाह निस्तार हित अवलंबन ये जन भये॥

अर्थ—संसारके प्रवाहमें बहनेवाले जीवोंके लिये (नीचे लिखे हुए १७) भगवद्-भक्त अवलम्बनरूप हुए, अर्थात् इन भक्तोंने संसार-समुद्रमें डूबते हुए लोगोंका उद्धार किया—

(१) श्रीसोझाजी, (२) सींवाँजी, (३) धीर-गंभीर बुद्धिवाले अधारजी, (४) हरिनाभजी, (५) त्रिलोचनजी, (६) आशाधरजी, (७) श्रीराजनीरजी, (८) संसारी लोगोंको दुःखसे छुटकारा देनेवाले सधनजी, (९) काशीश्वरजी, जो पूर्वजन्ममें अवधूत थे, (१०) कृष्णके उपासक श्रीकटहरियाजी, (११) श्रीस्वभूरामदेवाचार्यजी, (१२) उदारामजी, (१३) श्रीरामनामके व्रती डूँगरजी, (१४) पद्मजी, (१५) पदारथजी, (१६) रामदासजी और (१७) विमलानन्दजी।

अपनी भक्तिके प्रभावसे ये भक्त अमर-पदके अधिकारी हुए।

इस छप्पय में रूपकलाजीने १८ भक्तोंके नाम दिए हैं, किन्तु बालकरामने अपनी टीका भक्त-दाम-गुण-चित्रनीमें १७ भक्तोंका उल्लेख किया है। (देखिए, पद्य सं० २८५)। सम्भवतः 'कृष्ण-किंकर' जो कटहरियाजीका विशेषण है, उसे भी रूपकलाजीने एक भक्त मान लिया है।

(श्रीसदन (सधन) जी)

भक्ति-रस-बोधिनी

सधना कसाई, ताकी नीकी कस आई, जैसे बारावानी सोने की कसौटी कस आई है।
जीव को न बध करै, ऐपै कुलाचार ढरै, बेंचै मांस ल्याय, प्रीति हरि सों लगाई है॥
गंडकी को सुत बिन जाने तासों तोल्यो करै, भरे दृग साधु आनि पूजे, पै न भाई है।
कही निसि सुपने में, "वाही ठौर मोंको बेवो, सुनो गुनगान, रीझ्यो हिय की सचाई है" ॥६९४॥

अर्थ—सधन (सदन) जातिके कसाई थे, किन्तु दुःखोंकी कसौटीपर कसे जाकर ऐसे शुद्ध (निर्मल) होगए थे, जैसे कि बारह टंचका सोना जिसमें टाँका-बट्टा बिलकुल नहीं होता। वे कभी किसी जीवकी हत्या नहीं करते थे, किन्तु कुल-परंपराका पालन तो करना पड़ता था, अतः अन्य कसाइयोंके यहाँ से मांस लाकर बेचा करते थे। पूर्व-संस्कारके कारण उनका भगवानसे प्रेम हो गया था। सदनजीके पास शालग्रामकी एक बटिया थी, किन्तु उन्हें इसका पता न था। वे तो बाटकी तरह उसका उपयोग करते थे और उसीसे तोल कर मांस बेचा करते थे। एक दिन किसी साधुने यह देखा, तो उनसे शालग्रामजीको माँग लाये और विधि-पूर्वक उनकी पूजा करने लगे। परन्तु साधुकी यह पूजा भगवानको पसन्द न आई, अतः उन्होंने स्वप्नमें साधुको आज्ञा दी कि—'हमें सदनके घर पहुँचा आओ; हमें उसीके मुखसे अपना गुण-गान सुनना अच्छा लगता है। उसके हृदयकी सचाईपर हम रीझ गये हैं।'

भगवानकी यह बात सुनकर साधुके हृदयमें जो विचार आ सकता है उसका किसी कविने बड़ा सुन्दर पद्य-बद्ध रूपान्तर किया है। साधु भगवानसे कहता है—

वह पद भाषा ऊँक जैसें तैसें गावत है, हम तुम्हें गावत हैं सदा वेद-बानी सों।
माँस-भरे हाथ वह थाम तुम्हें छीवत हो, कैंधौ मास बीते हम्हें तुम्हरी कहानी सों॥
लच्छमीनारायनजू बड़े रिझवार तुम, रीझि निकसत हैं तुम्हारी रजधानी सों।
निर्मल गंगाजल सों हम न्हवावें तुम्हें, तुम रीझे सधना के कॅधना के पानी सों॥

भक्ति-रस-बोधिनी

लैकै आयौ साधु "मैं तो बड़ौ अपराध कियौ, कियौ अभिषेक सेवा करी पै न भाई है ।
ए तो प्रभु रीझे तो पै जोई चाहौ सोई करो, भरी भरि आयौ सुनि,मति बिसराई है ।।
वे ई हरि उर धारि, डारि दियौ कुलाचार, चले जगन्नाथ देख चाह उपजाई है ।
मिल्यौ एक संग संग जात, वे सुगात सब, तब आप दूरि दूरि रहे जानि पाई है ।।३६५।।

अर्थ—स्वप्नमें प्रभुकी आज्ञा पाकर साधु शालग्रामजीको ले सदनके घर पहुँचे और कहने लगे—"मुझसे यह बड़ा अपराध बन गया कि मैं तुम्हारे यहाँसे शालग्रामजीको ले गया। मैंने अभिषेक कर इनकी विधिपूर्वक पूजा-सेवा की, पर वह इन्हें पसन्द नहीं आई । ये प्रभु तो तुमपर ही रीझे हैं, अतः यह लो और जो मनमें आवे सो करो—चाहे इनकी पूजा करो या इनसे मांस तोलो ।" यह सुनते ही सदनजीका गला-भर आया और प्रभुकी दयालुताका विचार कर प्रेममें ऐसे डूब गये कि शरीरका होश नहीं रहा । उन्हीं शालग्रामजीको हृदयमें धारणकर वंश-परंपरासे चली आई हुई वृत्तिको उन्होंने छोड़ दिया और घर-बारको तिलांजलि देकर श्रीजगन्नाथजीके दर्शनको चल दिये । मार्गमें उन्हें और यात्री जगन्नाथजी जाते हुए मिले । उन्हींके साथ सदन भी हो लिये, पर उन्हें इस बातका अभिमान था कि हम ऊँची जातिके हैं (जब कि सदन कसाई हैं) । उनके मनका ऐसा अभिप्राय समझकर आप उनसे अलग रह कर यात्रा करने लगे । भगवद्-भक्तका यह पहला कर्तव्य है कि किसीके मिथ्याभिमानको भी ठेस नहीं पहुँचावे ।

भक्ति-रस-बोधिनी

आयौ मग गाँव, भिक्षा लैन इक ठाँव गयौ, नयौ रूप देखि कोऊ तिया रीझि परी है ।
"बैठौ याही ठौर, करौ भोजन", निहोरि कह्यौ, रह्यौ निसि सोच, आई "मेरी मति हरी है ।।
लैबो मोकों संग," "गरौ काटौ तौ न होय रंग," बूझी और काटी पति-ग्रीव,पै न डरी है ।
कही"अब पागौ मोसों","नातौ कौन तोसों मोसों",सोर करि उठी "इन मारयौ"भीर करी है ।।३६६।।

अर्थ—श्रीजगन्नाथजीकी यात्रा करते हुए मार्गमें सदनजी को एक गाँव पड़ा । वहाँ एक घरमें आप भिक्षा माँगने गये, तो इनका सुन्दर रूप देखकर कोई स्त्री मोहित होगई और आग्रह-पूर्वक बोली—"आज यहीं भोजन करिये और रहिये । आपने यह प्रस्ताव स्वीकार कर लिया । जब रात हुई, तो वह स्त्री आकर कहने लगी—"आपको देख कर मेरा मन मेरे वशमें नहीं रहा है; आप मुझे अपने साथ ले चलिये ।" सदनजीने उत्तर दिया—"यदि तुम (मेरा) गला काट डालो, तो भी ऐसा नहीं हो सकता ।"

उस स्त्रीने इसका दूसरा ही अर्थ लगा लिया और बिना डरे अपने पतिका गला काट डाला । इसके बाद वह सदनजीके पास आकर बोली—"अब मेरे साथ भोग करो ।" श्रीसदनजी बोले—"मेरा तेरा क्या नाता ?" इसपर उसने हल्ला मचा दिया कि 'मुझे भगा ले जानेके लिये इस आदमीने मेरे पतिकी हत्या कर दी है ।' सुनकर लोगोंकी खासी भीड़ जमा होगई ।

भक्ति-रस-बोधिनी

हाकिम पकरि पूछे, कहे हँसि "मार्‌यौ हम", डार्‌यौ सोच भारी, कह्यो "हाथ काटि डारिये ।
कट्यौ कर, चले, हरिरंग मांझ भिले, मानी आनी" कछू चूक मेरी" यहै उर धारिये ॥
जगन्नाथदेव आगे पालकी पठाई लेन, सधना सो भक्त कहाँ, चढ़ै न विचारिये ।
चढ़े आये प्रभु पास, सुपनों सो मिट्यौ त्रास, बोले—"है कसौटी हू पे भक्ति बिसतारिये ॥३६७॥

अर्थ—गाँवके हाकिमने सदनजीको गिरफ्तार कर जब पूछा, तो आपने हँस कर कह दिया—'हाँ, हमने मारा है ।" आपकी सौम्य-मूर्ति और सन्तोंका वेष देखकर हाकिम कुछ निश्चय नहीं कर सका और चिन्तामें पड़ गया कि उन्हें प्राण-दंड दिया जाय या नहीं । अन्तमें उसने हाथ कटवा कर उन्हें छोड़ दिया ।

हाथ कट जानेपर श्रीसदनजी फिर जगन्नाथजीके दर्शनको चल दिये । हाथ कट जानेका उन्हें कुछ भी दुःख न था । उनका मन अब प्रभुकी भक्तिमें पहलेसे भी ज्यादा रँग गया था । उन्हें अपने मनमें यह दृढ़ विश्वास होगया कि यह पूर्व-जन्मके किसी कर्मका ही फल मुझे मिला है ।

सदनजीका स्वागत करनेके लिए प्रभु श्रीजगन्नाथजीने पहले ही अपनी पालकी भेज दी थी । पालकी लानेवाले मार्गमें लोगोंसे पूछ रहे थे कि सदना-भक्त कहाँ हैं, कौनसे हैं? सदनजीके पास जब पालकी पहुँची तो वे उसमें बैठनेको तैयार नहीं हुए । प्रभुकी पालकीमें वे भला कैसे बैठ सकते थे ! अन्तमें श्रीठाकुरजीके सेवकोंने जब जबर्दस्ती करनी चाही, तो आप बैठ गये और प्रभुके आगे उपस्थित हुए । दर्शन करते ही उनके सब दुःख-डर दूर होगये । भगवान बोले—"सदन ! तुम भक्तिकी कसौटीपर खरे उतरे हो; अब मेरी भक्तिका प्रचार करो ।"

पूर्वजन्म का फल—कहते हैं, श्रीजगन्नाथजीने ब्राह्मणका रूप धारण कर सदनजीको बतला दिया कि भगवानके ऐसे भक्त होते हुए भी उनके हाथ क्यों काट डाले गये । पूर्व-जन्ममें वे काशी-निवासी एक पण्डित थे । एक दिन एक गाय कसाईके घरसे भाग आई । गायको खोजता हुआ कसाई पीछे-पीछे दौड़ा आरहा था । उसने जब पण्डितसे गायके बारेमें पूछताछ की, तो उसने बता दिया कि गाय किधर गई है । यही गाय दूसरे जन्ममें अपने पतिका गला काटने वाली स्त्री हुई; कसाई उसका पति और पण्डित सदन कसाई । इस घटनाका संकेत भक्तदामगुण चित्रनी टीकामें पत्र २८६ में भी किया है—

पूरब जनम भक्ति दृढ सोई । चूका इहाँ अधम गति होई ॥

(श्री गुसाईं काशीश्वरजी)

भक्ति-रस-बोधिनी

श्री गुसाईं काशीश्वर आगे अवधूत वर, कर प्रीति नीलाचल रहे, लाग्यौ नीको है ।
महाप्रभु कृष्णचैतन्यजू की आज्ञा पाय, आये वृन्दावन, देखि भायौ भयौ हीको है ॥
सेवा अधिकार पायौ रसिक गोविन्दचन्द चाहत मुखारविन्द जीवनि जो जीको है ।
नितही लड़ावें, भाव-सागर बढ़ावें, कौन 'पारावार पावें, सुन लागै जग फीको है ॥३६८॥

अर्थ—श्रीगुसाईं काशीश्वरजी पहले अवधूत संन्यासी थे। बादमें आप श्रीजगन्नाथजीके भक्त होगये और जगन्नाथ-क्षेत्रमें जा बसे। वहाँ रहना आपको बड़ा अच्छा लगा, अतः बहुत दिन तक वहीं रहे आये। इसके उपरान्त महाप्रभु श्रीकृष्णचैतन्यजीकी आज्ञासे आप वृन्दावन चले आये। वृन्दावन आपको बड़ा सुन्दर लगा। हृदयकी एक बड़ी भारी अभिलाषा पूर्ण हुई।

वृन्दावनमें आपको श्रीगोविन्दचन्द्रजीकी सेवा-पूजाका अधिकार मिल गया। पृथ्वीके समस्त प्राणियोंके जीवन-आधार श्रीगोविन्दचन्द्र ठाकुरके मुख-कमलको आप रोज प्रेमसे निहारा करते और लाड़-प्यारसे सेवा करते। प्रभुके प्रति आपका प्रेम उसी प्रकार बढ़ता जाता था जैसे कि पूर्णिमाके चन्द्रको देखकर सागरकी तरंगें बढ़ती हैं। समुद्रकी भाँति आपकी प्रेम-भावनाकी थाह कौन पा सकता है? आप जिस हालतमें रहते थे उसका विवरण सुनकर संसारके सब प्रपञ्च झूठे प्रतीत होने लगते हैं।

इस छप्पय संख्या ६६ में उल्लिखित कुछ अन्य भक्तोंका यशोगान भी बालकरामजीने किया है; पाठकों के लाभार्थ उसका सार नीचे दिया जाता है—

श्रीसोभाजी—निरन्तर सन्त-सेवामें लगे रहनेसे श्रीसोभाजी संसारके वास्तविक स्वरूपको समझ गये थे और उनके हृदयमें गृहस्थसे पूर्ण विराग होगया था। हाँ, उन्हें एक पुत्र-प्राप्तिकी अभिलाषा अवश्य थी। भगवानने उनकी इस इच्छाको पूरा कर दिया और जब पुत्र दस माहका हुआ तो अपनी पत्नीसे उन्होंने घर त्यागनेकी बात कही। अत्यन्त स्नेहशीला पत्नीने कहा कि मैं भी आपके साथ चलूंगी। आप बोले—"समस्त विकारोंको त्यागकर यदि भगवच्चरणारविन्दमें सानुराग रह सकती हो तो मुझे कोई अड़चन नहीं।"

जब पत्नी सब तरहसे राजी होगई तो सोभाजी आधी रातपर समस्त परिजन-परिवार एवं सम्पत्तिको त्यागकर पत्नीके साथ घरसे निकल पड़े। सुबह होने तक बहुत दूर जा चुकनेपर उन्होंने सूर्य के प्रकाशमें पत्नीकी गोदमें शिशु देखा तो क्रुद्ध होकर कहा—"अभी तुम्हारा मन कच्चा है; यदि मेरे साथ चलना है तो इस शिशुको यहीं त्याग दो।" पत्नी बोली—"यहाँ इस अनाथ शिशुका प्रतिपालन कौन करेगा?" आपने जमीनपर रेंगते हुए कीट-समूहकी ओर संकेत करके कहा—"इन तुच्छ जीवोंका जो पालक है वही वास्तवमें सभीका रक्षक है। मानव तो केवल निमित्त-मात्र है।" पत्नीको अपना पुत्र त्याग देना पड़ा। सुबह सोभाजीकी खोजमें परिजन चारों ओर दौड़े तो मार्गमें पड़े शिशुको वे उठा लेगए। सोभाजीकी भी खोज की, किन्तु वे अब तक बहुत दूर निकल चुके थे। उन्हें चलते-चलते एक दिन समाप्त होगया, किन्तु उदर-भरणके लिए कुछ भी न मिला। यह देख आपने पत्नीसे कहा—"भगवान तो अत्यन्त दयालु, भक्तवत्सल और सदा अपने जनोंके साथ रहते हैं। इतनी देर होजाने पर भी जो हमें भोजन नहीं मिला है इसका कारण क्या है? कहीं तुमने अपने पास कुछ दाम छिपाकर तो नहीं रख लिए हैं?" इसपर पत्नीने एक मोहर निकाल कर सोभाजीको दिखाई। आप बोले—"जो कुछ तुम्हारे पास हो उसे यहीं डाल दो। जब तक जीव पूर्ण-रूपसे भगवानके भरोसे नहीं होता तब तक कष्ट भोगना पड़ता है।" पत्नीने मोहर निकालकर जमीन पर डाल दी और पतिके साथ आगे चल दी। रास्ते में आते हुए दस ब्राह्मणोंने मोहर फेंकते हुए उसे देख लिया और इस दम्पतिको सिद्ध मानकर सारे नगरमें

इनकी सिद्धिका ढिंढोरा पीट दिया। नगरके महाजन दौड़कर इनके पास आए, इन्हें नगरमें लिवाकर ले गए और सम्मान-पूर्वक भोजन कराया। कुछ समय वहाँ रहकर फिर ये द्वारका की यात्रा करनेको चल दिए। रास्तेमें भक्ति और वैराग्यका उपदेश देकर ये अन्य-मनुष्योंको भी संसारसे पार करनेका प्रयत्न किया करते थे।

रास्तेमें जाते हुए इन्हें दुष्ट संन्यासियोंका एक दल मिला जो इनकी पत्नीको छीनकर मठमें ले गया। श्रीसोभाजीको तो कोई चिन्ता थी ही नहीं, पर पत्नी चीखती–बिलखती रही। रात होनेपर जब घृणित कार्य करनेका उन दुष्टोंने प्रस्ताव किया, तो पत्नीने रक्षाके लिए भगवानको पुकारा। प्रभुके आदेशसे उनके पार्षद श्रीहनुमानजी आए, दुष्टोंको मारा और परम साध्वी श्रीसोभाजीकी पत्नीको पति के पास लाकर रख दिया। साथ ही आकाश-वाणी द्वारा उसकी पवित्रताकी घोषणा भी हनुमानजी ने कर दी। घूमते-फिरते जब बारह वर्षका समय समाप्त हो गया, तो पत्नीके मनमें अपने पुत्रकी कुशलता जाननेकी अभिलाषा हुई। उसने सोभाजीसे प्रार्थना की तो—केवल इसलिए कि भगवानकी शक्ति में उसे विश्वास हो जाय—वे उसे लेकर नगरकी ओर चल दिए और एक बागमें जाकर मालीसे पूछा—"इस नगरका राजा कौन है ?" उसने बतलाया कि 'सोभा नामक एक व्यक्तिका लड़का जिसे उसके माता-पिता मार्गमें डाल गए थे और निःसन्तान राजाने गोद ले लिया था, वही आज-कल राजा है।' उसकी बात सुनकर पत्नीको भगवानकी शक्तिमें पूर्ण विश्वास हो गया।

श्रीसीवाजी—आपका जन्म कायस्थ-परिवारमें हुआ था, किन्तु भगवानकी कृपासे आप मद-ममता आदि से दूर रह कर साधु-सेवा और भगवद्भजन किया करते थे। दूसरे लोगोंको भी आप सन्त-सेवा करनेका उपदेश दिया करते थे। आपकी बातोंको लोग बड़े ध्यानसे सुनते थे और अधिकांश व्यक्ति आपके द्वारा बतलाए गए मार्गका अनुसरण भी करते थे। इस प्रकार से आपका यश फैलते देख कुछ ईर्ष्यालु मनुष्योंने आपके प्रतिकूल राजासे न जाने क्या-क्या शिकायत कर दी और राजाने भी बिना सोचे-समझे आपको कारागारमें डलवा दिया।

तभी उस नगरमें कुछ सन्त-जन पधारे और मक्खर सीवाजीका मकान पूछने लगे। यह समाचार किसी प्रकार सीवाजीके पास भी चला गया। वे सन्त-दर्शनके लिए व्याकुल होकर कहने लगे—"यदि भगवान पङ्ख दें, तो मैं अभी जाकर अपने प्राण-प्यारे सन्तोंका सम्मान करूँ।" यह विचार आते ही भगवानकी कुछ ऐसी कृपा हुई कि उनके बंधन टूट गये और उन्होंने घरपर आकर सन्त-सत्कार किया।

जब राज-कर्मचारियोंको इस बातका पता चला तो वे पुनः आपको गिरफ्तार करनेके लिए आए, किन्तु इस बार आपका स्पर्श पाते ही लौह-शृङ्खलाएँ टुकड़े-टुकड़े हो गईं। यह समाचार राजाके पास गया। उसने सीवाजीको मार डालनेका आदेश दे दिया। जल्लादोंने उन्हें मारनेको कृपाण उठाए तो उनके हाथ स्तम्भित हो गए। इस आश्चर्यको सुनकर राजाने सम्मान-पूर्वक श्रीसीवाजीको अपने दरबार में बुलाया। उसी समय आकाश-वाणी हुई—"इस सीवाकी रक्षा मैंने की है। यह मेरा परम-भक्त और साधु-सेवक है। यदि राजाने चुगली करनेवालोंको दण्ड न देकर इसकी ओर आँख भी उठाई, तो मैं राजाका सर्वनाश कर दूँगा।"

राजा इस आकाश-वाणीको सुनकर श्रीसीवाजीके चरणोंमें गिर पड़ा और चुगली करनेवालोंको मौतकी सजा दी; पर श्रीसीवाजीने राजासे आग्रह करके चुगलखोरोंको भी बचा लिया।

हरिनाभ—ब्राह्मणकुलमें उत्पन्न हरिनाभ भगवानके परम-भक्त और सन्त-सेवामें लगे रहनेवाले सद्गृहस्थ थे । आपके गाँवमें एक बार संन्यासियोंका एक समूह आया । ग्राम-वासियोंने उन्हें आपका घर बतलाते हुए कहा कि समस्त साधु-सन्तोंका सत्कार यही हरिनाभ करता है । संन्यासी जबरन् श्रीहरिनाभके घर जाकर उनसे सीधा माँगने लगे । आपके घर उस समय कुछ भी नहीं था, अतः अपनी विवाह-योग्य कन्याको एक सजातीय ब्राह्मणके घर रहन रखकर आप कुछ सीधा-सामान लाए और सन्त-वेशधारी संन्यासियोंको सौंप दिया ।

कुछ समयके बाद ही हरिनाभकी कन्याके विवाहका समय आ गया । हरिनाभजी अपनी कन्याको लेनेके लिए सजातीय ब्राह्मणके पास गए और बोले—"आप हमारी पुत्रीको वापस कर दीजिए, हम आपको रुपये बादमें दे देंगे ।" उस अभिमानीने साफ मना कर दिया ।

प्रभु अपने भक्तका अपकर्ष कभी नहीं देख सकते । वे एक दिन रातको दूसरी कन्या लेकर आए और ब्राह्मणके घर उसे छोड़कर हरिनाभकी कन्याको उसके घर पहुँचा आए । दूसरे दिन जब प्रातःकाल हुआ तो वह ब्राह्मण फिर उसी कन्याको ले गया । यही क्रम दो-चार दिन तक चलता रहा । एक दिन भगवानने स्वप्नमें उस अभिमानी ब्राह्मणसे कहा—"इस कन्याको रोज रातमें श्रीहरिनाभजीके यहाँ मैं पहुँचा आया करता था । आज रातको भी मैं ऐसा ही कर रहा हूँ । हरिनाभ मेरे परम भक्त हैं । तुम सभी ब्राह्मण मिलकर उस कन्याका विवाह करो, नहीं तो मैं तुम्हें इसका दण्ड दूँगा ।"

प्रातःकाल होते ही ब्राह्मणने अपना स्वप्न अन्य ब्राह्मणोंको सुनाया । अब तो सब लोग डरकर श्रीहरिनाभजीके पास आए और उनके चरणोंमें गिर पड़े । आपने सबको भगवानकी भक्तिका उपदेश दिया । आपकी कन्याका विवाह भी यथासमय हो गया ।

श्रीस्वभूरामदेवाचार्यजी—श्रीनाभादासजीने स्वभूरामदेवाचार्यजीका ९६, १६० और १६१ संख्यावाले तीन छप्पयोंमें स्मरण किया है और उनके भ्राताओं एवं शिष्य-प्रशिष्योंके सम्बन्धमें पूरे छप्पय भी लिखे हैं । श्रीग्वालबालजी एवं श्रीराघवदासजी आदि भक्तमालकारोंने भी आपका नामोल्लेख-मात्र किया है । श्रीबालकरामजीने आपके सम्बन्धमें एक चमत्कार-पूर्ण घटना उल्लिखित की है जोकि इस प्रकार है—

> **अब सुनौं सोभूराम कथा, जथा सुख-धाम, एक ग्राम माँहि एक विप्र धनवंत है ।**
> **सोई सोभूरामजी कौ सेवक अनूप संत सेवा रेवा माँहि भूलै फूलै मन मंत है ॥**
> **ताकै तीन नारी, पुत्र किहू नहीं जन्यौ, तब भन्यौ विप्र जातो तातो छातो देखें संत है ।**
> **भक्तन कूं पूजै ताते याकैं नहीं पुत्र होत, ऐसे ते लगावैं गोत हासल अनन्त है ॥१॥**
> **बूढ़िया ते ताकौ ग्राम निकट ही होतो सोभूरामजू पै दरसन आयौ सोई गाई है ।**
> **प्रभु मेरे विप्र-न्याती बातनि सूं मार छाती, कहैं संत सेवै ताते पुत्र नाहि जाई है ॥**
> **ऐसी सुनि सोभूराम ह्वै कृपाल कही तासु, तेरी छोटी तिया जनै पुत्र भक्तराई है ।**
> **सोचो मति भक्ति रक्ति रह्यो गह्यो संतबानी, मानी ताकै समै पाई पुत्र जन्म पाई है ॥२॥**
> **पिता मोद भर्यो कर्यो महोछाह ताकौ धर्यो स्वामी पग लगि बहु भेट धन धारीए ।**
> **ताही पीछे विप्र सोई अति संत सेवा मोई रावत ही माल विप्र पाँति में उचारीए ॥**

अहो ! विप्र ! देखो मेरे सत सेवा फल पायौ जायौ पुत्र अब सबै तुम हासी कारीए।
पीछे पुत्र बड़ौ भयौ पिता त्रिय मरि गयौ कोई समै बाल सोई भुजंग डसारीए ।।३।।
भयौ मृत पाय ताहि माता सोभूरामजू के चरननि धारि सो पुकार रोई स्वामी ए।
स्वामी देषि कृपा भरि हरि चरणामृत कूं लै कै ताहि बालक कूं दियो जियो मानी ए ।।
ऐसो सोभूराम को प्रताप आप हिये हरि, करि बहु सिष्य साखा जग उधरानी ए।
विप्र-सुत सोऊ कोऊ समै आयौ सरणें हू नाम है कान्हरदास पीछे कथा गानी ए ।।४।।

यद्यपि इन पंक्तियोंमें श्रीस्वभूरामदेवजीके जीवनके एक चमत्कारका वर्णन किया गया है, किन्तु इससे ऐतिहासिक तथ्यका भी पता लगता है। सहारनपुरके पास बूड़िया नामक एक ग्राममें कोई सन्त-सेवी ब्राह्मण रहता था। वह स्वभूरामदेवाचार्यजीका शिष्य था। उसने तीन शादियाँ कीं, किन्तु सन्तान किसी भी पत्नीके नहीं हुई। जातिवाले ताना मारते—'साधु-सन्तोंकी सेवाका यही फल है।' ब्राह्मणने गुरुदेव श्रीस्वभूरामदेवजीसे अपना दुःख निवेदन किया। गुरुदेवने आशीर्वाद दिया, कि तुम्हारी छोटी पत्नीके एक भगवद्भक्त पुत्र पैदा होगा। प्रभुकी कृपासे ऐसा ही हुआ। पुत्र-जन्मपर महान् महोत्सव मनाया गया। दैवयोगसे कुछ वर्ष बाद उस ब्राह्मणकी मृत्यु हो गई और कुछ काल उपरान्त पुत्रको भी एक सर्पने डस लिया। यह देख पुत्रकी माँ बड़ी व्याकुल हुई और अपना मृत शिशु ले जाकर गुरुदेवके चरणों में डाल दिया। स्वभूरामदेवजीने प्रभुका चरणामृत जो उसके मुँहमें डाला तो वह जी उठा। बड़ा होने पर यही बालक श्रीस्वभूरामदेवाचार्यजीकी शरण होकर कन्हरदेवाचार्यके नामसे सुख्यात हुआ। इनकी कथाका वर्णन श्रीनाभादासजीने छप्पय सं० १६१ में किया है।

बालकरामजीका यह उल्लेख साम्प्रदायिक ऐतिह्यसे भी मिलता है। यमुना-तटवर्ती बूड़िया जगाधरीके पास है। श्रीस्वभूरामदेवजीने अपना अधिकांश समय इसी स्थानपर बिताया था। कहा जाता है कि सन्तान न होनेके कारण प्रारम्भमें आपके माता-पिता बड़े व्याकुल रहते थे, किन्तु बादमें श्रीहरि-व्यासदेवाचार्यजीकी कृपासे आपका आविर्भाव हुआ। गुरुदेवने उसी समय यह भी कह दिया कि यह स्वभू गृहस्थ नहीं होगा। हुआ भी ऐसा ही। जब बालककी अवस्था आठ सालकी हुई, उसी समय दम्पति उसे लेकर नारद-टीला (मथुरा) में श्रीहरिव्यासदेवजीके पास आए और उनसे यज्ञोपवीत आदि कराकर वैष्णवी-दीक्षा दिला दी। गुरुदेवकी आज्ञानुसार कुछ समयके लिए श्रीस्वभूरामदेवजी अपने माता-पिताके साथ चले गए। बादमें आप पुनः श्रीगुरुदेवके पास आए और उनके पास रहकर भगवान का भजन करने लगे।

कुछ समय बाद हरियाणामें नाथोंके आतंकसे वहाँकी जनताके त्रस्त हो जानेपर गुरुदेवकी आज्ञा से आप वहाँ गए। उस समय बूड़ियामें जाकर जहाँ आप ठहरे थे, वह स्थान आज भी 'श्रीस्वभूराम-देवजीकी थमी' के नामसे प्रसिद्ध है।

नाथोंको जब आपके आगमनका पता चला तो वे अनेक प्रकारके रूप रख कर आए और आपकी कुटीके चारों ओर बहुतसे उत्पात मचाने लगे। चारों ओर आगकी भयंकर ज्वालाएँ उन्होंने प्रकट कीं। यह दृश्य देख श्रीस्वभूरामदेवजीने सुदर्शन-चक्रका आह्वान किया। श्रीचक्रराजकी प्रेरणासे वह अग्नि आपकी कुटीको त्याग कर उन्हीं कुकर्मियोंके पीछे दौड़ी और उन्हें भस्म करना आरम्भ कर दिया। तब सभी डरकर प्राण बचानेके लिए आपके चरणोंमें आकर गिर गए। आपने उन्हें क्षमा कर दिया।

समय—आपके समयके सम्बन्धमें विद्वानोंमें मतभेद है। श्रीकिशोरदासजीके मतसे आपको परम-धाम-प्राप्ति सम्वत् १५४५ में हुई थी। उस समय आपकी आयु एक सौ पच्चीस वर्षकी थी। कुछ ऐतिहासिक आलोचक आपका समय सौ वर्ष और आगे मानते हैं।

नाम—आपके नाम स्वभूरामदेवाचार्यके आधारपर कुछ लोग आपको अयोनिज मानते हुए कहते हैं कि भगवानने आपके रूपमें स्वयं अवतार लिया था और आप अपने माता-पिताको गौशालामें प्राप्त हुए थे। इसी कारण आपका नाम 'स्वभू' (स्वयं उत्पन्न होने वाले) पड़ा। संस्कृत-भाषामें उपलब्ध आपके एक जीवन-चरित्रमें आपकी माताका नाम 'राधा' दिया है। साथ ही श्रीबोधवजी एवं श्रीपरशु-रामदेवजी—दोनोंको आपका सहोदर बतलाया है।

उपर्युक्त विभिन्न मतमतान्तरों के होते हुए भी आपके बारेमें इतना तो निश्चित है कि आप श्रीहरिव्यासदेवाचार्यजीके प्रधान शिष्योंमें-से थे और आपका समय श्रीनाभाजीसे पूर्व था। आपने हरियाणामें जिस वैष्णव-धर्मका प्रचार किया उसे आपके शिष्य-प्रशिष्योंने सारे भारतमें फैलाया। आज भी अन्य वैष्णवोंकी अपेक्षा आपकी शाखाके साधु-सन्तों एवं वैष्णव-भक्तोंकी संख्या अधिक है।

आपने संस्कृत एवं हिन्दी—दोनोंमें कुछ रचनाएँ की थीं। उदाहरणार्थ आपकी एक हिन्दी रचना नीचे दी जाती है—

कंठी माला सुमिरिनी, पहिरत सब संसार।
पनधारी कोउ एक है, औरन कियौ सिंगार॥
'सोभू' माला सोभ की पन की माला नांहि।
ऐंडे को सो लड-गड़ो पाल रह्यो गल मांहि॥

श्रीऊदारामजी—आप जाति के वैश्य थे और सन्त-सेवा में सदा लगे रहा करते थे। एक बार आपकी पत्नीके उल्टा बालक पैदा होनेसे बड़ा कष्ट हुआ। उस समय उसने मन-ही-मन प्रार्थना की कि यदि इस बार भगवान बचा लेंगे तो फिर कभी भी मैं पतिदेवके साथ संग-संग नहीं करूँगी। उस समय भगवानकी दयासे वह जीवित बच गई। उसने पतिको भी अपनी प्रतिज्ञासे अवगत करा दिया और दोनों विषयोंसे विमुख होकर भगवान और भक्तोंकी सेवा-सत्कारमें लग गए।

एक बार आपकी भक्ति-भावना और सन्त-सेवाकी परीक्षा लेनेके लिए एक सन्त पधारे। ऊदाराम-जीने उनका यथा-शक्ति आदर-सत्कार किया। अन्तमें वे ऊदारामजीसे बोले—"भक्तवर ! हमें टहलके लिए तुम्हारी स्त्रीकी आवश्यकता है। हमारी गृहिणी कुछ समय पूर्व ही मरकर चुकी है।" भक्तने सन्त की मांगको स्वीकार कर लिया और अत्यन्त कीमती वस्त्राभूषणोंसे सजाकर अपनी प्रियतमाको उनके साथ विदा कर दिया। सन्त तो आपकी परीक्षा लेना चाहते थे—उन्होंने सिद्धिके बलसे रातको ही ऊदारामजीकी पत्नीको उनके घर भेज दिया। सवेरा हुआ तो दम्पतिको यह अपूर्व चमत्कार देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ। ऊदारामने अब संसारको एकदम त्याग दिया और वैष्णव-भक्त बन गये। जाति वालोंको यह अच्छा न लगा। उन्होंने ऊदारामजीको ऐसा करनेसे रोका भी, किन्तु आप न माने।

यह देखकर वणिक्-समाजने स्थानीय राजाके यहाँ ऊदारामजीकी मिथ्या शिकायत करते हुए कहा कि "ऊदाके पास अपार सम्पत्ति है। उसे छिपानेके लिए ही वह वैष्णव होगया है।" राजाने आप

को पकड़नेके लिए अनुचर भेजे। वे आपके निवास-स्थानके पास आए तो अन्धे होगए। राजाके पास यह खबर पहुँची। वह समझ गया कि ऊदाराम सच्चे सन्त हैं और आकर आपके चरणोंमें गिर गया। सभीकी आँखें उसी समय खुलगईं। लोग समझ गए कि भक्त ऊदाराम कितने ऊँचे सन्त हैं। उन्होंने आपकी भक्तिको स्वीकार किया और संसारको त्यागकर भगवद्-भजन और सन्त-सेवामें लग गए।

एक बार किसी ढोंगी सन्तने यह देख आपकी पत्नीको मांग लिया और नगरके बाहर जाने लगा, किन्तु सीमाके पास जाते ही वह अन्धा होगया। अब वह श्रीऊदारामजीके महत्त्वको समझ गया। वह लौटकर आपके पास आया और चरणोंमें गिरकर क्षमा प्रार्थना की। बादमें वह आपका शिष्य बन गया।

श्रीडूंगरजी—भक्त डूंगर पटेल नामक जाटके पुत्र थे। जब आपने सन्त-सेवामें अपने पिताका बहुत-सा धन व्यय कर दिया तो पिताने आपको घरसे निकाल दिया और तीन सेर अनाज रोज देने लगे। उसमेंसे आप अधिकांश भाग सन्तोंको दान कर देते थे और बहुत थोड़ा-सा अपने प्रयोगमें लाते थे, किन्तु नित्य-प्रति आनेवाले सन्तोंकी संख्या इतनी अधिक थी कि और ज्यादा अनाजकी आवश्यकता पड़ने लगी। कुछ समय तक तो आपने अपनी पत्नीके आभूषणोंको बेचकर काम चलाया, पर अन्तमें फिर अन्नका अभाव रहने लगा।

एक दिन ऐसा हुआ कि बहुतसे सन्त आपके यहाँ आए हुए थे। उस समय आपके पासमें एक पैसा भी नहीं था। पत्नी-सहित आप इसी चिन्तामें बैठे हुए थे कि आकाशसे अन्नकी वर्षा होने लगी। आप की पत्नीने तुरन्त आटा तैयार किया, रसोई बनाई और ठाकुरजीका भोग लगाकर सन्तोंको प्रसाद पवाया। जब यह समाचार डूंगरके पिताके पास गया तो वह अपने पुत्र और पुत्र-वधूके चरणोंमें गिर गया और समस्त सम्पत्तिका अधिकारी उन्हें बना दिया। वह स्वयं भी अनेक प्रकारसे सन्तोंकी सेवा करने लगा।

कालान्तरमें पत्नीके मर जानेके बाद द्वारावतीकी यात्रा करते समय देवगिरिमें जब डूंगरजी पहुँचे तो कोई अघोरी मनुष्य आपको मारकर खानेके लिए तैयार हो गया। उस समय एक सिद्ध-पुरुष आपके पास आया और उस अघोरीको दूर भगाकर विलीन हो गया।

एक गर्भवती स्त्री अपने युवक-पतिके मर जाने पर उसके साथ सती होकर जलना चाहती थी। श्री डूंगर भक्तने उसके पतिको जीवित कर दिया। आपके इस प्रकारके चमत्कारोंको देखकर अनेक व्यक्ति आपके अनुयायी हुए और भगवद्भक्तिमें तल्लीन रहकर सन्त-सेवा करते हुए इस संसार-सागर से पार होगए।

श्रीपदारथजी—एक ठग साधुके वेशमें रहकर दूसरे लोगोंको ठगा करता था। सन्त-स्वरूपको देखकर एक बनियाकी स्त्री उसका बड़ा स्वागत-सम्मान किया करती थी। एक दिन जब बनिया कहीं बाहर गया हुआ था तो वह ठग उसकी स्त्रीके आभूषणोंको लेकर भाग गया। पत्नीको जैसे ही यह मालूम हुआ, वैसे ही उसने जोर-जोरसे चीखना प्रारम्भ कर दिया। शोर-गुल सुनकर राज-पुरुष ठगके पीछे भागे। वह पदारथजीके मकानमें घुस गया और कह दिया कि राजाके नौकर उसे व्यर्थ ही पकड़नेको आरहे हैं। सन्त-वेश देखकर पदारथजीको दया आगई और उन्होंने उसे अपनी स्त्रीके पास सुला दिया। राज-पुरुष जब मकानके अन्दर गए और पूछ-ताछ की तो उन्हें निराश लौट आना पड़ा। बादमें पदारथजीने

ठगको श्रीठाकुरजीका चरणामृत और प्रसाद दिया जिससे उसकी बुद्धि एकदम निर्मल होगई। अब उसने सब बात श्रीपदारथजीको ठीक-ठीक बतला दी। वणिकके आभूषण उसके पास पहुँचा दिये गये। वास्तवमें श्रीपदारथजी तीक्ष्णसे तीक्ष्ण विषको भी अमृत बना देनेमें समर्थ थे। आपने इसी प्रकार कितने ही दुष्टोंके हृदयोंको फेरकर उन्हें इस संसार-सागरसे पार किया।

श्रीविमलानन्दजी—किसी राजाने एक बनिएकी रूपवती कन्या पर रीझकर काम-भावनासे प्रेरित हो अपने नौकरोंको उसे जबरन पकड़ लानेकी आज्ञा दी। इस बातको सुनकर कन्याका पिता बड़ा व्याकुल हुआ और जाकर श्रीविमलानन्दजीको उसने सब समाचार कह सुनाया। साथ ही उनसे रक्षाके लिये प्रार्थना भी की। श्रीविमलानन्दजीने अभय-दान दे दिया। राजाज्ञाके अनुसार जब राज-पुरुष कन्या को पकड़ने आए तो वे अन्धे हो गये। यह समाचार सुनकर राजा भी वहाँ आया, किन्तु आते ही वह भी अन्धा हो गया। राजाके बहुत विनती करने पर आपने कहा—"तुम्हारी आँखें कामुकताके कारण अन्धी हो गई हैं। जब तक तुम्हारी आन्तरिक भावना शुद्ध नहीं होगी, तब तक आँखें ऐसी ही रहेंगी।" हृदयकी शुद्धिके साथ ही राजा तथा अन्य राज-कर्मचारियोंकी आँखें ठीक हो गईं। बादमें उसने श्री विमलानन्दजीसे दीक्षा लेकर अपने जीवनको सफल बनाया।

इसी प्रकार एक अन्य ब्राह्मण-कुमारकी काम-वृत्तिको आपने अपने सीथ-प्रसादसे दूर किया और उसे शिष्य बनाकर परमपदका अधिकारी बनाया।

मूल—(छप्पय)

जती, रामरावल, स्याम, खोजी संत सीहा।
दल्हा, पदम, मनोरथ, राका, धौगू, जप जीहा॥
जाड़ा, चाचागुरु, सवाई, चांदा नापा।
पुरुषोत्तम सौं साँच, चतुर, कीता मन (कौ जिहि) मेट्यौ आपा॥
मति सुन्दर; धी धागै श्रम संसार चाल नाहिन नचे।
करुना छाया, भक्तिफल, ए कलियुग पादप रचे॥९७॥

अर्थ—(जिनका नाम-निर्देश यहाँ किया जाता है) इन १८ भक्तोंको भगवानने कलियुग में वृक्षके समान परोपकारी बनाया। जीव-मात्रके प्रति दया इन वृक्षोंकी छाया समझनी चाहिए और भगवद्-भक्तोंके प्रति प्रीतिके भाव-उदय होना इनके फल हैं। इन सन्तोंके नाम इस प्रकार हैं—(१) श्रीयतीरामजी, (२) रामरावलजी, (३) स्यामजी, (४) खोजीजी, (५) सन्त-सीहाजी, (६) दलहाजी, (७) पद्मजी, (८) मनोरथजी, (९) राँकाजी, (१०) भगवान-का नाम जपनेवाले धौगूजी, (११) जाड़ाजी, (१२) चाचा-गुरु (खेमदासजी), (१३) सवाईजी, (१४) चाँदाजी, (१५) नापाजी, (१६) यथा नाम तथा गुणवाले पुरुषोत्तमजी, (१७) चतुरजी

और (१८) मनके ममत्वका त्याग करनेवाले कीताजी। (सांसारिक प्रपञ्चोंसे हटकर प्रभुके चरण-कमलोंमें लगनेके कारण) इन भक्तोंकी बुद्धि बड़ी सुन्दर थी। ये लोग परिश्रम-रूपी 'धीङ् धाङ्'—अर्थात् मृदङ्गकी तालके साथ संसारकी गतिके साथ कभी नहीं नाचे।

श्रीरूपकलाजीने अपनी टीकामें १७ भक्तोंका उल्लेख करते हुए 'अतीराम रावल' को एक ही भक्त माना है, किन्तु बालकरामजीने 'अतीराम' और 'राम रावल' दो पृथक् भक्त मानकर दोनों का चरित्र दिया है और भक्तोंकी संख्या १८ बतलाई है।

(श्रीखोजीजी)

भक्ति-रस-बोधिनी

'खोजी' जू के गुरु हरि-भावना प्रवीन महा, देह अन्त समै बाँधि घंटा सो प्रमानियै।
"पावैं" प्रभु जब तब बाजि उठै, जानौ यही, पाये पै न बाजी, बड़ी चिन्ता मन आनियै॥
तन त्याग बेर नाहिं हुते, फेरि पाछे आये, वाही ठौर पौढ़ि देख्यौ, आँब पक्यौ मानियै।
तोरि ताके टूक किये, छोटी एक जंतु मध्य, गयौ सो बिलाय बाजि उठी अब जानियै॥३९९॥

अर्थ—खोजीजीके गुरुदेव भक्ति-भावनामें बड़े निपुण थे। आपने शरीर छोड़नेसे कुछ दिन पूर्व एक घंटा बाँध दिया था और कह दिया था कि जब हम प्रभुके चरणोंमें पहुँच जावेंगे, तब यह घंटा आप ही बज उठेगा। किन्तु हुआ यह कि आपने शरीर तो छोड़ दिया; पर घंटा नहीं बजा। अब तो सेवकोंको बड़ी चिन्ता हुई कि यह हुआ क्या और क्यों कर हुआ जिस समय गुरुजीने शरीर छोड़ा उस समय श्रीखोजीजी उपस्थित नहीं थे। कुछ समय बाद वे पहुँचे। जब आपको यह वृत्तान्त मालूम हुआ तो आप उसी जगहपर लेट गए जहाँ गुरुजीने शरीर छोड़ा था। लेटते हुए आपने देखा कि ठीक ऊपर एक पका हुआ आम लटक रहा है। आपने उठकर उस आमको तोड़ा और बीचमेंसे दो टुकड़े कर दिये। इसी समय उन दोनों टुकड़ोंके बीचमें-से एक कीड़ा निकला और उड़कर अदृश्य हो गया। कीड़ेके उड़ते ही घण्टा बज उठा।

भक्ति-रस-बोधिनी

सिष्य की जौ जोग्यताई नीके मन आई, अजू गुरु की प्रबल ऐ पै नेकु घट क्यों भई ?
सुनौ याकी बात 'मन बात बत गति' कही, सही लै दिखाई, और कथा अति रसमई॥
वे तो प्रभु पाय चुके प्रथम प्रसिद्ध, पाछे आछ्यौ फल देखि हरि जोग उपजी नई।
इच्छा सो सकल स्याम भक्तबस करी वही, रही पूर पच्छ सब, बिथा उर की गई❀॥४००॥

अर्थ—ऊपर कहे हुए प्रसंगसे यह बात तो ठीक-ठीक मनमें उतर गई कि खोजीजी बड़े योग्य शिष्य थे (क्योंकि उन्होंने घण्टाके न बजनेका कारण मालूम कर लिया और आमके फलको चीर कर एक मनोवैज्ञानिक सत्यका उद्घाटन किया), किन्तु उनके गुरुजी जैसे प्रबल भक्तकी महिमामें तो कमी आगई (इसलिये कि जिनका जन्म भक्ति-भावना तथा सत्संगमें व्यतीत हुआ था, उन्हें अन्तमें कीड़ा बनना पड़ा। श्रीप्रियादासजी कहते हैं कि गुरुदेवके

❀ यह कवित्त सं० १८३१ में लिखी भक्तमालकी 'ख' प्रतिमें नहीं है।

सम्बन्धमें ऐसी कल्पना करना उचित न होगा।) गुरुदेवका आशय शिष्योंको यह बतलाना था कि, जैसा कि गीतामें भगवानने कहा है—'मन बड़ा चञ्चल है; उसकी गतिको रोकना उतना ही कठिन है जितना कि वायुके वेगको थामना।' (इसलिये अन्तिम क्षण तक मनको भगवानके सिवा और कहीं न भटकने देना चाहिए।)

एक दूसरी बात और है जिसे सुनकर भक्त आनन्दमें डूब जायेंगे। वह यह कि खोजीजी के गुरुदेव तो घण्टा बजनेसे पूर्व ही भावनामय शरीरसे प्रसिद्ध पदको प्राप्त हो गए थे—भगवानके परम-धाममें पहुँच चुके थे, (पीछे रह गया था केवल अन्न-कोष-मय शरीर जिसमें रहनेवाली इन्द्रियाँ और मन एवं मनके संस्कार अपना-अपना काम यथावत् कर रहे थे।) जैसे गायका बच्चा जन्मान्तरीय संस्कारोंके वश होकर पैदा होते ही थनोंकी ओर दौड़ता है, वैसे ही परमधाममें पहुँच जानेपर भी भोग-राग आदि के कारण आमके पके फलको देखकर गुरुजीके मनमें यह अभिलाषा पैदा हुई कि यह तो भगवानके अर्पण करनेके योग्य है। भक्तकी यह इच्छा भगवानने स्वयं कीट बनकर पूर्ण की—अर्थात् आमका भोग लगाया और इस प्रकार भक्तके हृदयकी विकलताको दूर किया। (उधर भक्त भजनके बलपर वैकुण्ठ पहुँचे और इधर उनकी अन्तिम इच्छाको पूरा करनेके लिए भगवान यहाँ दौड़े आये।)

'खोजी' नामका कारण—खोजीजीका असली नाम 'चतुरदासजी' था। एक दिन इन्होंने देखा कि गुरुजी लघुशंका करते हुए हँस रहे हैं। आते ही उन्होंने गुरुजीसे हँसनेका कारण पूछा। गुरुदेवने कहा—"तुम हमारे मनका अभिप्राय ही नहीं समझ पाते हो, तो सेवा करनेके अधिकारी नहीं, अतः यहाँसे चले जाओ। जब तुम यह खोजकर लाओगे कि हम क्यों हँसे, तब सेवाके योग्य समझे जाओगे।"

चतुरदासजी गुरुदेवकी आज्ञाको शिरोधार्य कर चले तो गये, पर बार-बार यही विचार मनको दुखित करता रहता कि 'हाय मैं इतना मूर्ख हूँ कि गुरुदेवके मनकी बात भी नहीं समझता! गुरुजीकी सेवासे वंचित रहकर इस जीवनको धिक्कार है!"

यह सोच कर निर्जन वनमें जाकर प्राण-त्यागनेका उन्होंने निश्चय कर लिया। कबीरदासजी उस युगके अन्तर्यामी भक्तोंमें-से थे। इनकी गुरु-भक्तिसे प्रसन्न होकर एक दिन वे इनके पास पहुँचे और वनमें आकर इस प्रकार रहनेका कारण पूछा। चतुरदासजीने सब कह सुनाया।

कबीरजी बोले—"तुम्हारे गुरुदेवके हँसनेका कारण मैं बतलाये देता हूँ। बात यह है कि (गुरुजी जब लघुशंका कर रहे थे, तो उन्होंने देखा कि पीपलके वृक्षका एक बीज धारमें बहता हुआ जा रहा है। बस, इसीपर उन्हें हँसी आगई। उन्होंने सोचा कि "बीजसे उत्पन्न वृक्ष तो स्थिर खड़ा है और बीज मारा-मारा डोलता है। जीवात्माकी भी यही दशा है। यह परमात्माका ही अंश है, किन्तु अविद्याके कारण भ्रममें पड़ा हुआ घूमता रहता है।"

चतुरदासजीने जब गुरुजीको यह बात बताई तो वे बड़े प्रसन्न हुए और चतुरदासकी जगहपर उनका नाम 'खोजी' रख दिया। इस कथानकपर निम्नलिखित दोहा भी कहा जाता है—

विटप बीज के बीच में, अटक भया मन धीर।
खोजी का संसय मिटा, सतगुरु मिला कबीर॥

श्रीखोजीजीके सम्बन्धमें जो विशेष वृत्त भक्तदाम गुण चित्रनी (पत्र २७७) में दिया है, उसका आशय निम्न-प्रकार है—

ब्राह्मण-कुलोत्पन्न श्रीखोजीजीका पहला नाम चतुरदास था। आप घरके समस्त कार्योंसे उदासीन रहकर भगवद्-भजन एवं साधुओंका सत्संग किया करते थे। इस कारण भाइयोंसे इनकी नहीं पटती थी। एक बार आपके भाइयोंने आपको पिताजीके फूल (भस्म) को गंगामें डालनेके लिए भेजा और यह कहा कि इसे गङ्गामें डालनेसे पिताजीका उद्धार हो जावेगा। आपने कहा—

जहाँ भक्त हरि को गुण गावत। तित गंगादिक तीरथ आवत ॥

चतुरदासजीकी यह बात सुनकर बड़े भाइयोंको बड़ा क्रोध आया। उन्होंने समझा कि आलस्य के वशीभूत रहनेके कारण यह ऐसी बात कर रहा है। उन्होंने चतुरदासजीको बुरा-भला कहा और जबरन् गङ्गाजीके लिए भेज दिया। अकेले चलते हुए आपको डर लगता था, अतः आप सन्तोंके साथ-साथ भगवानका स्मरण करते हुए चल दिए। कुछ रास्ता पार करते ही श्रीगङ्गा-यमुनाने सुन्दर नारियों के वेष धारण किए और मस्तकपर स्वर्ण-पात्रोंमें जल भरे हुए सामनेसे आकर आपसे पूछा—"कहाँ जा रहे हो, चतुरदास ?" आपने कह दिया—"गङ्गाजीको फूल भेंट करने।" "गङ्गा-यमुना तो हम ही हैं, लाओ, फूल कहाँ हैं ? यहीं डालो और स्नान करके चले जाओ।" उन्होंने कहा।

गङ्गा-यमुनाने माथेपर रखे कलशोंकी अनन्त-धारासे खोजीजीको स्नान कराया और प्रमाणके लिए पात्रमें यमुना-जल भर दिया। साथ ही उनकी हथेलीपर जव(जौ)की क्यारी भी उगा दी। जब खोजी जी लौट कर घर आये तो भाइयोंको पहले तो इनकी बातका विश्वास ही नहीं हुआ, किन्तु जब उन्होंने प्रमाण देखे तो वे आश्चर्यमें पड़ गए। उन्होंने खोजीजीका बड़ा सम्मान किया और अनेक प्रकारके मंगल-वाद्य बजाकर सबने सन्तोंकी महिमा स्वीकार की।

वि० सं० १८३१ की प्रति (ख)में एक निम्नलिखित पृथक् छप्पय और मिलता है—

ईंटा थोई बास धर्म की धुजा बिराजै।
चतुरदास को नाम देस परदेसनि गाजै ॥
तन, मन, इंद्रिय सोध्य अध्यातम चित लायौ।
पद साखी परबंध प्राण उपरि सब गायौ ॥
लापरचो लोभ जानै नहीं परमानंद पद अनुसरै।
कलिजुग माधोदास को धरी भक्ति खोजी करै ॥

श्रीबालकरामजीने इस छप्पयकी टीका भी की है जो विस्तार-भयसे नहीं दी गई।

(श्रीरांकाजी)

भक्ति-रस-बोधिनी

रांका पति, बांका तिया बसैं पुर पंढर में उर में न चाह नेकु रीति कछु न्यारियै।
लकरीनि बीनि कर जीविका नवीन करैं, धरैं हरि-रूप हिये, ताही सों जियारियै ॥
बिनती करत नामदेव कृष्णदेव जू सों कीजै दुख दूर, कही "मेरी मति हारियै।
चलौ ले दिखाऊँ, तब तेरे मन भाऊँ," रहे वन छिपि दोऊ, थैली मग माँझ डारियै ॥४०१॥

अर्थ—राँका नामके एक हरि-भक्त थे । उनकी पत्नीका नाम बाँका था । दोनों पण्ढरपुरमें रहते थे । भगवानके सिवा और किसीको प्रसन्न करनेकी चाह मनमें न थी । उनकी जीवन-चर्याकी रीति विलक्षण थी । जङ्गलमें से रोज लकड़ी बीनकर लाना और उन्हें बेचकर नित्य जीविका चलाना, यह उनका नियम था । हृदयमें सदा भगवानका ध्यान किया करते—बस, यही उनका जीवन था ।

श्रीनामदेवजीपर उनका कष्टमय जीवन देखते नहीं बना । एक दिन उन्होंने प्रभुसे प्रार्थना की—"हे दयालो ! इनका दुःख दूर करिये ।" भगवानने कहा—"क्या करूँ ? मैं स्वयं हैरान हूँ—कुछ समझमें नहीं आता कि क्या किया जाय । चलो मेरे साथ; मैं तुम्हें दिखलाऊँ कि दोनोंकी मनोवृत्ति क्या है । तभी तुम्हें, मैं अच्छा लगूँगा, (अभी तो शायद तुम यह समझते होगे कि मैं जान-बूझकर इनके लिए कुछ नहीं करता) ।

यह कहकर भगवान नामदेवजीको साथ ले जङ्गलको गये और रास्तेमें मुहरोंकी एक थैली डालकर छुपकर बैठ गये ।

भक्ति-रस-बोधिनी

आये दोऊ तिया पति, पाछे बहू आगे स्वामी, औचक ही मग माँझ संपति निहारियै ।
जानी यों जुवति जाति कभूँ मन चलि जाति, याते बेगि संभ्रम सों धूरि वापै डारियै ।।
पूछी "प्रभू ! कहा कियौ भूमि मैं निहुरि तुम !" कही वही बात, बोली "धन हूँ बिचारियै" ।
कही मोसों रांका ऐपैं बांका आज देखी तूही," सुनि प्रभु बोले बात साँची है हमारियै ।।४०२।।

अर्थ—इसी बीचमें राँका और उनकी पत्नी दोनों उधर आते हुए दिखाई दिये । आगे राँका थे और पीछे बाँका । अचानक राँकाजीने देखा कि रास्तेमें धनकी थैली पड़ी है । झट उसपर धूल डाल दी कि स्त्रीकी जाति है, कहीं इसका मन विचलित न हो जाय । पीछेसे आकर पत्नीने पूछा—"अभी पृथ्वीकी ओर झुक कर आपने क्या किया था ?" आपने जो बात थी सो कह सुनाई । इसपर वह बोली—"तो अभी धनका ज्ञान बना हुआ है ?" राँकाजीने प्रसन्न होकर कहा कि लोग मुझे तो राँका (रंक—कंगाल) कहते ही हैं, पर तुम तो सचमुच 'बाँका' (दृढ़व्रती) हो ।" यह सब देखकर नामदेवजीसे भगवान बोले—"बताइए, मैंने जो कहा था सो ठीक निकला न ?"

भक्ति-रस-बोधिनी

नामदेव हारे हरिदेव कही और बात, "जोपै दाहु गात, चलो लकरी सकेरियै ।
आये दोऊ बीनवे को देखी इकठौरी ढेरी, ढूँढ़ें मिलि पावैं तऊ हाथ नहिं छेरियै ।।
तब तौ प्रगट स्याम ल्याये यों लिवाय घर, देखि मूँड़ फोरौ, कह्यौ ऐसे प्रभु फेरियै ।
बिनती करत करि जोरि अंग पट धारौ, भारौ बोझ परचौ लियो चीरमात्र हेरियै ।।४०३।।

अर्थ—नामदेवजी हार गये । अब भगवानने फिर कहा—"यदि तुम्हें इनके परिश्रमका

बहुत दुःख है, तो चलो; हम दोनों इनके लिये लकड़ियाँ बीन कर इकट्ठी करदें। ऐसा करनेसे इन दोनोंका परिश्रम बच जायगा।"

भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र और नामदेवजीने ऐसा ही किया, लेकिन पति-पत्नीने उन लकड़ियोंसे हाथ तक नहीं लगाया। वे तो बहुत लकड़ियाँ थीं। यदि उन्हें दो लकड़ियाँ पास-पास भी रक्खी मिल जातीं, तो वे उन्हें किसी दूसरेकी समझकर नहीं छूते थे। अब तो श्याम-सुन्दर उनके सामने प्रकट होगये और दोनोंको घर लिवा लाये। फिर श्रीकृष्णचन्द्र तथा नामदेवजीने राँका-बाँकाजीसे अनुरोध किया—"हठ छोड़कर कुछ तो माँगो।" दोनोंने जवाब दिया—"प्रभो! जो आपसे भजनका बदला चाहते हैं, वे तो 'सिर फोड़ा' होते हैं। ऐसे ही ये नामदेवजी हैं जो आपको वन-वनकी खाक छनवा रहे हैं।" नामदेवजी बोले—"अच्छा और कुछ न सही; प्रभुकी आज्ञा मानकर शरीर ढकनेके लिये एक वस्त्र तो स्वीकार करिये।" राँका-बाँकाजीको ऐसा लगा मानों उनपर क्या भार आ पड़ा है, किन्तु भगवानकी आज्ञा पालन करनेके लिए उन्होंने केवल एक वस्त्र ले लिया।

विशेष वृत्त—श्रीराँकाजी पण्ढरपुर (दक्षिण) निवासी श्रीलक्ष्मीदत्त नामक एक ऋग्वेदी ब्राह्मणके सुपुत्र थे। आपके पिता सन्तोंकी बड़ी सेवा किया करते थे। उसीके फलस्वरूप मार्गशीर्ष शुक्ल द्वितीया गुरुवार संवत् १३४७ वि० को धन-लग्नमें इनकी पत्नी रूपादेवीके गर्भ से महाभागवत श्रीराँकाजीका जन्म हुआ। राँकाजीकी पत्नी बाँकाजी का जन्म संवत् १३५१ वि० को पण्ढरपुरमें ही श्रीहरिदेव ब्राह्मण के घर हुआ था। राँकाजीकी पतिव्रता भक्तिमती पत्नीका नाम उनके प्रखर वैराग्यके कारण 'बाँका' पड़ गया। जीवन-भर भगवानका ध्यान, स्मरण और गुण-गान करते हुए १०१ वर्षकी अवस्थामें श्री राँकाजी वैशाख शु० पूर्णिमा, संवत् १४५२ वि० को अपनी पत्नी बाँकाके साथ परम-धाम चले गए।

उपर्युक्त छप्पयमें आए हुए कुछ अन्य भक्तोंका वृत्त श्रीबालकरामजीने अपनी 'भक्त दाम गुण चित्रनी'में निम्न प्रकारसे दिया है—

श्रीयतीरामजी—आप श्रीसुखानन्दजीके शिष्य थे। पहले आप सेवरा थे। एक बार श्रीसुखा-नन्दजीसे वाद-विवाद हो जाने पर उनकी वैष्णवी शक्तिसे परिचित होकर आप उनके शिष्य हो गए। किसी समय आप रास्तेमें जा रहे थे। उसी मार्गसे राजाके यवन-कर्मचारी कुछ सामान खरीद कर ला रहे थे। उन्होंने अपने सिरका बोझा आपके ऊपर रख दिया और उसे ले चलने को कहा। आपसे इतना वजन न चला और गट्ठर जमीनपर गिर पड़ा। इसपर उन दुष्टोंने आपको मारना प्रारम्भ कर दिया। तब आपने भी अपना चमत्कार दिखलाया। उस स्थानपर हजारों गिरगिट पैदा होकर यवनोंको काटने लगे। उसी रास्तेसे राजा भी रथमें बैठकर आ रहा था। अपने कर्मचारियोंकी यह दशा देखकर और श्रीयतीरामजीके प्रभावको पहिचान कर वह आपके चरणोंमें गिर पड़ा और कर्मचारियोंकी ओर से क्षमा माँगी। उसकी प्रार्थनापर आपने यवनोंका कष्ट दूर कर दिया। (भक्त-दाम-गुण-चित्रनी, पत्र—२६६)

श्रीरामरावलजी—श्रीरामरावलजी भगवान श्रीरामके परम-भक्त थे। नेटक-कलामें प्रवीण एक दुष्ट इनकी सन्त-सेवा करते देखकर जला करता था। उसने अपनी विद्याके बलसे कभी सर्प, कभी शेर

और कभी अग्नि पैदा करके इनको डराना चाहा। पर जो भगवानके शरणागत है, उसे किसका डर ? अन्तमें आपके महत्त्वको पहिचान कर वह आपका शिष्य हो गया और अपनी चेटक-कलाको तिलाञ्जलि देकर भगवद्भजनमें मग्न रहने लगा।

(भक्त-दाम-गुण-चित्रनी, पत्र-२६६)

श्रीसीहाजी—प्रभु-नामके अत्यन्त अनुरागी होनेके कारण श्रीसीहाजी नित्य-प्रति पुरके बालकों को बुलाकर उनसे हरिका कीर्तन कराया करते थे और अन्तमें उन्हें कुछ मिठाई प्रसादके रूपमें दे दिया करते थे। एक बार ऐसा हुआ कि तीन दिन तक बालकोंको देनेके लिए आपके पास कुछ भी न रहा और तीनों दिन बालकोंको निराश लौट जाना पड़ा। इधर तो आपके पास दाम नहीं थे जिनसे मिठाई खरीदी जा सके और उधर प्रभुके प्रति इतना अनुराग था कि बिना कीर्तन कराये आपको कल नहीं पड़ती थी। तीसरे दिन इसी विषयको लेकर आपको महान् चिन्ता सवार होगई। भगवानने जब आपकी यह दशा देखी तो स्वयं बालकका वेश बनाकर आये और कीर्तन करने वाले बच्चोंके लिये लड्डू दे गये।

कभी-कभी भगवान स्वयं किसी बालकका रूप धारण करके कीर्तनमें बैठ जाया करते थे। एक दिन प्रभु एक वैश्यके पुत्रका रूप बनाकर आगये। उसी समय वह वैश्य भी श्रीसीहाजीके पास आया। उसने अपने पुत्रको—जिसे वह अभी घर छोड़ कर आया था—बाल-मंडलीके बीचमें बैठा हुआ देखा। वह कई बार घर गया और मन्दिरमें आया, किन्तु दोनों स्थानोंपर अपने पुत्रको देखकर उसके आश्चर्यका ठिकाना न रहा। अन्तमें श्रीसीहाजीके चरणोंमें गिरकर उसने सब हाल कहा। आपने वैश्यको घरसे पुत्रको बुला लानेकी आज्ञा दी। पुत्रको लेकर वैश्य-भक्त जब तक मन्दिरमें आया उससे पहले ही भगवान अन्तर्धान हो गये। इस प्रकार भगवान भक्त सीहाके पास ही, कभी किसी रूपमें और कभी किसीमें, रहा करते थे। (भक्त-दाम-गुण-चित्रनी, पत्र २६६)

श्रीदल्लासिंहजी—'खीचीवाड़ा' के निवासी भक्तवर श्रीदल्लासिंहजी राजपूत थे। आपकी यह प्रतिज्ञा थी कि कोई भी सन्त द्वार पर से बिना कुछ पाए नहीं लौट सकता। आपने सन्त-सेवाके व्रतको निभाया भी अच्छी तरहसे। दरवाजेपर जो भी सन्त-साधु आते सभीका आप यथाशक्ति सत्कार करते। इस प्रकार धीरे-धीरे आपका समस्त धन साधु-सेवामें लग गया और फिर वस्त्राभूषणोंको बेचकर साधु-सत्कार होने लगा। अन्तमें आप निष्किञ्चन होगए। उसी समय आपके यहाँ एक सम्बन्धीके यहाँसे विवाहका निमन्त्रण आया। वहाँपर आपको 'भात' देना था; इसलिए आपको धनकी आवश्यकता पड़ी। रातभर चिन्तामें पड़े रहनेके बाद जब सवेरा होनेपर किसी कारणसे आप एक टीलेपर गए तो वहाँ अपार धन गड़ा हुआ मिला। अब आपने डटकर भात दिया और शेष धनसे पुनः साधु-सेवा करने लगे।

एक बार आपकी तलवारको ग्राम-ग्रामपतिने चुपचाप उठवा लिया। उस समय भी भगवानने देवीको आपकी सहायताके लिए भेजा और तलवार दिलाकर विरोधी राजाको दंड दिलवाया।

(भक्त-दाम-गुण-चित्रनी, पत्र २६६)

श्रीपद्माजी—एक बार आप अपनी विष्णुकी प्रतिमा एवं उसके आभूषण आदि लेकर मार्गमें जारहे थे। एक यवन-राहगीरने आपको देखकर अनुमान लगाया कि आपके पास बहुत कीमती सामान होगा। उसने विष्णुकी मूर्ति आपसे छीनली और भाग गया। प्राणोंसे भी प्यारी प्रतिमाके चले जाने पर

आप रास्तेमें बैठ कर उसके विरहमें रोने लगे और कहने लगे—"जब तक प्रतिमा नहीं मिलेगी, एक कदम भी आगे नहीं बढ़ूँगा।" आपका ऐसा प्रेम देखकर भगवानने एक कला दिखलाई। ठग-यवनके जूते स्वयं ही पैरोंसे निकल कर तड़ातड़ उसकी खोपड़ीपर पड़ने लगे। वह घबड़ा कर पीछे लौटा और आपके चरणोंमें गिरकर इस आपत्तिसे बचा लेनेकी प्रार्थना करने लगा। आपके कहने-मात्रसे जूतोंका प्रहार समाप्त होगया। (भक्तदाम गुण-चित्रनी, पत्र ३००)

श्रीमनोरथजी—परम भगवद्-भक्त एवं साधु-सेवी श्रीमनोरथजीके एक कन्या थी। शादीके योग्य होनेपर आपने उसका विवाह एक रामभक्त ब्राह्मणसे करना चाहा। वह ब्राह्मण गरीब था। दूसरी ओर कन्याके मामाने उसके विवाहकी बात-चीत राजदरबारमें सम्मान-प्राप्त एक धनी ब्राह्मण-कुमारसे कर रखी थी। जब उसने श्रीमनोरथजीका विचार सुना तो उसे अपनी बात गिरती हुई दिखाई दी। वह तुरन्त ब्राह्मण-कुमारसे मिला और राज-पुरुषोंकी सहायतासे कन्याको धनी ब्राह्मणके घर मँगा लिया। श्रीमनोरथजीको यह देख बड़ा दुःख हुआ। रातको वे इसी सम्बन्धमें भगवानका स्मरण कर रहे थे कि प्रभुने कन्याको लाकर आपके पास उपस्थित कर दिया। आपने उसका विवाह भक्त-ब्राह्मणके साथ कर दिया। दूसरे दिन जब इस चमत्कारका पता साले साहब और राजदरबारके लोगोंको लगा तो वे बड़े भयभीत हुए और आकर श्रीमनोरथजीके चरणोंमें गिरकर क्षमा माँगी। अब सब लोग साधु-सेवीकी शक्तिके बारेमें समझ गए और स्वयं भी सन्त-महात्माओंका सत्कार करने लगे।

(भक्तदाम गुण-चित्रनी, पत्र ३००)

श्रीचौगूजी—प्रभुके ध्यानमें सदा लीन रहनेवाले श्रीचौगूजीकी सन्तोंकी टहल करनेकी प्रतिज्ञा थी। जो भी सन्त आता आप आदर-पूर्वक उसका सत्कार करते। एक बार ऐसा हुआ कि बिना किसी बीमारीके आपके पिताजीकी मृत्यु होगई। तब आप समस्त जातिवालोंको लेकर भगवान श्रीराघवेन्द्रके मन्दिरमें गए और तुलसी-दल मस्तकपर रखकर प्रभुसे बिना बीमारीके ही पिताके मर जानेका कारण पूछा। आप भगवानके सामने अड़कर बैठ गए और बोले—

"कुल-सहित मरिहूँ मैं हू प्रभुजी अन्न-जल कूँ त्यागिए,
नहि करहु जीवित पिता मेरो शरण तेरी लागिए।"

श्रीचौगूजीको इस प्रकार बैठे-बैठे दूसरा दिन होगया, पर पिताजी जीवित न हुए। तीसरे प्रहर मन्दिरमें सन्तोंकी एक जमात आई। श्रीचौगूजीने प्रतिज्ञानुसार सन्तोंसे सीधा-आदि ग्रहण करनेका आग्रह किया; किन्तु वे बोले—"तुम्हारे मनमें इस समय पिताके मर जानेका शोक छाया हुआ है, अतः हम तुम्हारा सीधा-सामान नहीं ले सकते।"

"मुझे पिताके मरनेका बिलकुल दुःख नहीं।" चौगूजीने कहा।

"तो फिर यों हठ करके क्यों बैठे हो?" सन्तोंने पूछा।

"मुझे आश्चर्य इस बातका है कि पिताजी बिना किसी बीमारीके कैसे मर गए; यदि आप सन्त-जन आज्ञा करें तो मैं अभी इनके शवको जला सकता हूँ, किन्तु बिना खाए-पिए आप लोगोंको नहीं जाने दूँगा, ऐसी मेरी प्रतिज्ञा है।" चौगूजीने कहा।

अपने भक्तकी इन भोली-भाली बातोंसे भगवान बड़े प्रसन्न हुए और पिताजीको जीवित कर दिया। अनन्तर साधु-सेवी श्रीचौगूजीका यश चारों ओर फैल गया। (भक्तदाम-गुण-चित्रनी, पत्र ३०३)

श्रीचाचा-गुरुजी—श्रीचाचा-गुरुका वास्तविक नाम श्रीक्षेमदासजी था । सन्त-सेवा और भगवान का भजन ही आपका सर्वस्व था । आपका नाम चाचा-गुरु कैसे पड़ा, इस सम्बन्धमें एक बात इस प्रकार सुनी जाती है कि एक बार बहुतसे साधु-महात्मा आपके यहाँ आए । उनके लिए सीधा-सामान आदि लेनेके लिए आप ग्राम-निवासियोंके पास गए और बोले—"भैया ! मेरे चाचा-गुरु आए हुए हैं । उनके साथमें और भी दूसरे सन्त हैं, अतः सबको भोजन करानेके लिए सामानकी आवश्यकता है ।" सभी ग्रामीणोंने कुछ न कुछ दिया । रसोई बनी और डट कर सन्त-सेवा हुई ।

अब आपकी ख्याति चाचा गुरुके नामसे चारों ओर फैल गई । सन्त-मण्डलीके बीचमें आप चाचा-गुरुके ही नामसे पुकारे जाते और दूसरे सन्त भी जब आपकी कुटियापर आते तो चाचा-गुरु कह कर ही आपका पता पूछते । आपके यहाँ बराबर सन्त आते रहते और आप किसी न किसी प्रकार उनका स्वागत-सत्कार करते रहते ।

आपके यहाँ एक बार पुनः सन्तोंकी एक विशाल जमात आई । इस बार जब आप ग्राम-निवासियोंके पास सीधा-सामान माँगने गये तो सबने यह कहकर मना कर दिया कि 'आपके यहाँ तो रोज चाचा-गुरु आते हैं, हम इतना सीधा-सामान कहाँसे लाकर देंगे' ? निदान आपको निराश लौट आना पड़ा । जब आप रास्तेमें आरहे थे तो आकाश-वाणी द्वारा भगवानने कहा—"तुम्हारे मन्दिरमें एक वैश्य जिस चाँदीके पात्रको न्यास (धरोहर) रख गया है उसे बेचकर साधु-सत्कार करो और जब वैश्य उसे माँगने आवेगा तब सब कुछ मैं सँभाल लूँगा ।" आकाश-भाषितके अनुसार आपने रजत-पात्रको बेच दिया और साधु-सेवा की ।

कुछ दिन बाद वह व्यक्ति लौटा जो रजत-पात्र रहन रख गया था और अपनी धरोहर माँगने लगा । आपने चार-पाँच बार उसे बहाना लगाकर लौटा दिया । इसपर किसी दिन एक जन-समुदायमें उसने अपनी बात चलाते हुए कहा—"मेरा एक चाँदीका पात्र चाचा-गुरुके यहाँ धरोहर रखा था, सो अब देता ही नहीं है ।" उसी समाजमें वह वैश्य भी बैठा था जिसे आपने पात्र बेचा था। वह बोला—"एक चाँदीका पात्र तो चाचा-गुरुने हमको भी बेचा है ।" उसने वह पात्र दिखा भी दिया । उसी समय रहस्य खुल गया । सब लोग समझ गए कि न्यासको तो चाचा-गुरुने बेच दिया, अब लौटाए कहाँसे ? उसी समाजमें दैवयोगसे चाचा-गुरु विराजमान थे । वे यह सुनकर एक साथ बोल उठे—"क्या हल्ला-गुल्ला है ? आप स्वयं अपना पात्र हमारे मन्दिरमें रख गए थे, वह अब भी वहीं रखा है; यदि विश्वास न हो तो जाकर देख लो ।"

यह सुनकर वैश्य मन्दिरमें पहुँचा तो सचमुच उसे रजत-पात्र यथास्थान रखा हुआ मिला । उसने उसे उठाकर छिपा लिया और आकर बोला—"पात्र वहाँ नहीं है ।" आप फिर उसके साथ गये तो इस बार भी पात्र यथास्थान रखा हुआ मिला । वैश्यने जिस स्थानपर उसे छिपाया था, वहाँ देखा तो पात्र नहीं मिला । श्रीचाचा-गुरुके प्रभावको वह समझ गया और आगेसे वह भी सन्त-सेवामें यथाशक्ति योग देने लगा । धन्य हैं वे सन्त-सेवी भक्त जिनके लिए भगवान इस प्रकार सदा सहायक बने रहते हैं ।

(भक्तदाम-गुण-चित्रनी, पत्र ३०३)

श्रीतत्वाईसिहजी—श्रीतत्वाईसिहजी क्षत्रिय-जातिके सन्त-सेवी थे । महात्माओंके चरणोंमें अडिग अनुरागके साथ-साथ आप अत्यन्त उदार और शूर-वीर भी थे । एक बार कोई भक्त-दम्पती जंगलमें होकर

यात्रा कर रहा था। उन्हें अत्यन्त सम्पन्न जानकर कुछ लुटेरोंने लूट लिया। पासके गाँवमें आकर दम्पतिने सब घटना कही। इसी गाँवमें श्रीसवाईसिंहजी रहते थे। और लोग तो लुटेरोंका नाम सुनकर चुप होगए, पर श्रीसवाईसिंहजी अपना घोड़ा कसकर अकेले ही दुष्टोंके पीछे चल दिए और कुछ देरमें ही उन्हें जा दबाया। आप बोले—"या तो भक्तोंके धनको छोड़कर भाग जाओ, नहीं तो मैं सबका नाश कर दूंगा।" वे संख्यामें तेरह थे और सभी प्रकारके अस्त्रोंसे सजे थे, अतः सामने आकर अड़ गए। घमासान मार-काटके बाद लुटेरोंने देखा कि आपकी भुजापर लगकर भी तलवार कोई प्रभाव नहीं दिखाती। इस आश्चर्यको देखकर उनके दम टूट गए और वे आपके चरणोंमें गिरकर क्षमा माँगने लगे। आपने उन्हें क्षमा करते हुए उपदेश दिया कि आजके बाद सन्तोंको कभी मत लूटना। श्रीसवाईसिंहजीकी वाणी का दुष्टोंपर ऐसा प्रभाव हुआ कि उस दिनसे उन्होंने यह नीच कर्म छोड़ दिया और सबके सब भगवान के परम-भक्त होकर सन्तोंकी सेवा करने लगे। श्रीसवाईसिंहजीने लौटकर सब सम्पत्ति दम्पति-महानुभावको सौंप दी। धन्य हैं वे जिनका प्रभुके चरणोंमें सच्चा अनुराग है। उनका दुष्ट-जन बाल भी बाँका नहीं कर सकते। (भक्त-दाम-गुण-चित्रनी, पद्य ३०४)

श्रीनापाजी—एक बार ग्रामपतिने यह देखकर कि आप नित्य-प्रति सन्त-सेवा करते हैं, तो अवश्य ही धनी होंगे, आपको दरबारमें बुलाया और राज-काजके लिए आपसे करके रूपमें धनकी एक विशाल-राशिकी मांग की। इतनी राशि न दे सकनेके अपराधमें आपको वहाँ दो दिन तक नजर-बन्द भी रखा गया। इसी बीचमें पहले दिन सायंकालके समय कुछ हारे-थके सन्त-जन आपके यहाँ पधारे। परम-भक्तवती पत्नीने नापाजीके पास इसकी खबर दी तो आपने कहला भेजा कि घरकी थालियोंको वेचकर सन्त-सेवा कर दो। पत्नीने आज्ञानुसार ऐसा ही किया। दूसरे दिन फिर सन्त आगए। इस दिन भी वैसा ही हुआ और लोटाओंको बेचकर उनका सत्कार किया गया।

सन्त-जन अभी प्रसाद पाकर गए ही थे कि नापाजीकी स्वसुरालके कुछ व्यक्ति आगए। अब तो आपकी पत्नीको बड़ी चिन्ता हुई—न तो घरमें बर्तन ही थे और न खाद्य-सामग्री ही। अपने भक्तकी इस अवस्थाको देखकर भगवान भला शान्त कब बैठ सकते थे? वे नापाजीका वेश बनाकर आए और थाली-लोटेके साथ-साथ बहुत-सा अनाज घरमें देकर अन्तर्धान होगए। आपकी पत्नीने अपने सम्बन्धियों का खूब आदर-सत्कार किया। दूसरे दिन जब नापाजी लौटे तो पत्नीसे अनाजकी राशि एवं बर्तनों के बारेमें पूछा। उसने कह दिया—"आप ही तो कल दे गए थे।" सुनते ही नापाजी समझ गए कि यह परम दयालु भगवानकी ही कृपा थी।

नापाजीके सम्बन्धमें एक वार्ता और सुनिए। आप दिन-भर तो सन्तोंकी सेवा करते और रात्रि के समय अपने खेतोंमें पानी देने जाते, किन्तु रातमें अँधेरा होनेके कारण खेतमें न जाकर पानी बाहर निकल जाता और आपको मालूम भी न पड़ता। इस कारण नापाजीका मन थोड़ा उदास रहता। भक्त की इस चिन्ताको देखकर भगवानने खेतमें पानी देनेका काम अपने हाथमें ले लिया और नित्य-प्रति रात के समय नापाके पुत्रका वेश बनाकर वे खेत सींचने लगे। नापाजीने जब यह देखा तो उन्होंने अपने पुत्र से रातमें खेतपर जानेकी मनाही कर दी, किन्तु अब भी खेतोंमें पानी लगा हुआ देखकर आपको बड़ा आश्चर्य हुआ। एक दिन रातको वे जगे और अपने पुत्रके कमरे में जाकर देखा तो वह वहाँ सो रहा था। इसके बाद आप खेतपर गए। वहाँपर उन्होंने भगवानको अपने पुत्रके वेशमें कुएँपर चरस चलाते हुए

देखा । आपने जाकर प्रभुका हाथ पकड़ लिया । उन्होंने बीस बहाने लगाए कि 'मैं भगवान नहीं हूँ', किन्तु आप न माने । अन्तमें प्रभुको अपने भक्त-हृदय-हारी स्वरूपमें आना पड़ा । उन्होंने आपके मस्तकपर अपना वरद-हस्त रखा और कहा—"तुम हमारे भक्तोंकी सेवा करते हो, मैं तुम्हारी सेवा करता हूँ" इसमें तुम्हीं बतलाओ कि मैं तुम्हारे ऊपर क्या अहसान कर रहा हूँ ।" भगवानकी इस अनुपम वाणीको सुनकर आपकी आँखोंसे आँसू बरस पड़े । प्रभुके नयन भी छल-छला आए, उन्होंने प्रेमावेशके कारण अपने भक्त को छातीसे लगा लिया ।

आपके सम्बन्धमें कुछ पंक्तियाँ भक्तदाम-गुण-चित्रनी, पत्र ३०५ से उद्धृत की जाती हैं—

अब नाम हरि आपको जस, सुनिए सुरति लगाई । कुल माली, पाली हरि-प्रीतिहि, धारी मन-कलुषाई ॥
हढ़ हरि-भक्ति सुधारी बारी, संत-सेव जल पावै । सुभ हरि-नाम बीज-सम रोपत, प्रेम-रसाल निपावै ॥
कपट घास को करी निराई, धरी ओट सतसंगा । अस नापा की बारी निरखत मुदित संत हरि अंगा ॥

श्रीकीताजी—श्रीकीताजी अहेरी जातिके भक्त थे । आप साधु-सेवा करते थे और उसके लिए किसी भी प्रकारसे धन प्राप्त करनेको वे पाप नहीं समझते थे । एक बार आप रातको फौजके पड़ावपर गए और पहरेदारके सामनेसे ही अन्दर घुसकर एक घोड़ा चुराकर ले जाने लगे । पहरेदारके पूछने पर आपने सच-सच कह दिया कि मैं चोर हूँ । ऐसा सुनकर किसीको भी आपपर शंका न हुई और सबने यह समझा कि ये मजाकमें अपने आपको चोर बतला रहे हैं ; कोई सेनाके अधिकारी होंगे । आप घोड़ा लेकर अपने स्थानपर आगए और भगवानकी सेवामें लग गए ।

उधर सवेरा होनेपर घोड़ेको अस्तबलमें न देखकर लोगोंने वास्तविकताको समझा कि रातको सचमुच ही घोड़ा चोरी चला गया है । वे संकेतोंके सहारे श्रीकीताजीके मकानपर आगए । अन्दर जा कर देखा तो मालूम पड़ा कि वहाँ घोड़ा तो बँधा है, किन्तु वह फौजका नहीं है; क्योंकि फौजका घोड़ा तो काला था और इसका रंग था सफेद । स्वयं कीताजीको यह देखकर आश्चर्य हुआ । उन्होंने सैनिकोंको एक बार फिर रातवाली घटना सच-सच सुनाकर कहा कि घोड़ा तो यह आपका ही है, किन्तु रंग न जाने कैसे पलट गया ? घोड़ेके अन्य संकेतोंसे भी यही ज्ञात हुआ कि घोड़ा फौजका ही है । एक सैनिक ने इसपर आपसे पूछा—"आप कौन हैं ? क्या काम करते हैं ? और आपने यह घोड़ा क्यों चुराया ?" उत्तरमें आपने कह दिया—"मैं अहेरी हूँ और सन्त-सेवाके लिए किसी भी कार्यको बुरा नहीं मानता । मेरा नाम कीता है और मैं बहुत समयसे यहाँ रहकर सन्तोंकी सेवा कर रहा हूँ ।"

इतनी बात सुनकर सरदार समझ गया कि यह सब तो भगवानकी कृपा है । उन्होंने इस घोड़े का रंग पलट दिया है । उसने यह जानकर बहुत-सा धन कीताजीको दिया और उनके पैरों पड़कर क्षमा माँगी ।

एक बार श्रीकीताजीके घर बहुतसे सन्त पधारे । उस समय न तो आपके पास द्रव्य था और न अन्य सामग्री जिससे आप उनका स्वागत करते । अन्तमें एक उपाय आपकी समझमें आया । वे अपनी परम-सुन्दरी युवती कन्याको लेकर राजाके पास गए और उसे रहन रखकर कुछ द्रव्य ले आए । इस प्रकार आपने सन्त-सेवाका व्रत निभाया ।

एक दिन जब राजाकी दृष्टि उस कन्याके ऊपर पड़ी तो उसके रूप और यौवनको देखकर वह पागल

होगया। उसने आज्ञा दी कि आज रातको वह (कन्या) हमारे कमरेमें लाई जाय। यह जानकर कन्या बड़ी घबड़ाई और उसने सभी बातें साफ-साफ कीताजीके पास कहला भेजीं। श्रीकीताजी राजाके पास गए और इस प्रकारका अनर्थ न करनेकी बार-बार प्रार्थना की, किन्तु उस नीचने एक न सुनी। राजा के सामने आप क्या करते ?

रात्रिके समय कन्याके पास उसे बुला लानेको बाँदियाँ गईं। जब उसने राजाके पास राजीसे जानेकी मना कर दी तो वे जबरन् उसे राजाके कमरेमें खींच लाईं और बाहरसे दरवाजा बन्द कर दिया। इस समय अत्यन्त व्याकुल होकर कन्याने भगवानका स्मरण किया। इधर कीताजीका ध्यान भी प्रभुमें ही था। इसका परिणाम यह हुआ कि राजाको वह कन्या सिंहिनी दिखाई देने लगी। अब तो वह भयके कारण काँपने लगा। अन्तमें फिर कन्याकी आकृति पूर्ववत् ही देखकर वह उसके पैरोंमें गिर पड़ा। उसी समय कन्याको पालकीमें लेकर राजा श्रीकीताजीके पास आया। अनेक प्रकारसे प्रार्थना करके उसने आपको प्रसन्न कर लिया। वह बोला—"मैंने यह सब अज्ञानके कारण किया था। अब मेरे हृदयमें विवेक जागृत हो गया है। मेरी भावनाएँ आपकी पुत्रीमें अब अपनी कन्यासे भी अधिक पवित्र हैं।" आपने उसे दीन देखकर क्षमा कर दिया। (भक्त-दाम-गुण-चित्रनी, पत्र—३०६)

मूल (छप्पय)

लछमन, लफरा, लड्डू संत जोधपुर त्यागी।
सूरज, कुंभनदास, बिमानी, खेम बिरागी॥
भावन, बिरही भरथ, नफर, हरिकेस, लटेरा।
हरिदास,अजोध्या चक्रपानि(दियो)सरजू तट डेरा॥
तिलोक, पुखरदी, बिज्जुली, उद्धव बनचर बंस के।
पर-अर्थ-परायन भक्त ये कामधेनु कलिजुग के॥९८॥

अर्थ—कलियुगके ये भक्त परोपकार करनेमें प्रवृत्त कामधेनुके समान दूसरोंकी अभिलाषा पूरी करने वाले हुए—

(१) श्रीलक्ष्मणजी, (२) लफराजी, (३) लड्डूजी, (४) जोधपुरके त्यागी संत जी, (५) सूरजजी, (६) कुंभनदासजी, (७) विमानीजी, (८) खेम विरागीजी, (९) भावनजी, (१०) विरही भरतजी, (११) नफरजी, (१२) हरिकेशजी, (१३) लटेरा वंशमें उत्पन्न हरिदासजी, (१४) अयोध्या-निवासी चक्रपाणिजी, (१५) तिलोक सुनारजी, (१६) पुखरदीजी (पुहकरदास), (१७) बिज्जुलीजी और (१८) वनचर (हनुमान) वंशमें उत्पन्न श्रीउद्धवजी।

श्रीबालकरामने इस छप्पयमें केवल १७ भक्त माने हैं और छः का परिचय दिया है जो आगे दिया जायगा। हो सकता है 'बिमानी' पृथक् किसी भक्तका नाम न होकर 'कुम्भनदास' का विशेषण हो।

(श्रीलड्डू भक्तजी)

भक्ति-रस-बोधिनी

लड्डू नाम भक्त जाय निकसे विमुख देस, लेस हूँ न संत-भाव जानैं, पाप पागे हैं।
देवी कों प्रसन्न करें, मानस को मारि धरैं, लै गये पकरि, तहाँ मारिवे को लागे हैं॥
प्रतिमा को फारि, विकरार रूप धरि आई, लै कै तरवारि मूंड़ काटि, भीजे आगे हैं।
आगे नृत्य करें, दृग भरें साधु पाँव धरें, ऐसे रखवारे जानि जन अनुरागे हैं॥४०४॥

अर्थ—श्रीलड्डू नामक एक भक्त घूमते-घामते बंगालके ऐसे प्रदेशमें जा पहुँचे जहाँके निवासी हरि-विमुख थे, सन्तोंमें किञ्चित् भी भाव-भक्ति नहीं रखते थे और दिन-रात पाप-पूर्ण कृत्योंमें लिप्त रहते थे। ये लोग देवीके उपासक थे और उसे प्रसन्न करनेके लिए मनुष्यको भेंट चढ़ाते थे। संयोगसे लड्डू-भक्त उनके हाथ पड़ गए और उनकी बलि चढ़ानेके लिए वे उन्हें देवीके मन्दिरमें ले गये। किन्तु ज्योंही उन्होंने लड्डू-भक्तको मारनेके लिये तलवार उठाई, त्योंही मूर्तिमें से निकल कर भयङ्कर-रूप धारण किये हुए देवी प्रकट हो गई। उन्होंने तलवार से कई दुष्टोंके सिर काट डाले, कई प्राण बचाकर भाग गये। इसके उपरान्त देवी नेत्रोंमें प्रेमके आँसू भरकर श्रीलड्डू-भक्तके सामने नाचने लगी और उनके चरणोंमें सिर रखकर क्षमा माँगी। भगवानको अपने भक्तोंकी इस प्रकार रक्षा करते देखकर सब लोगोंकी उनके चरणोंमें प्रीति हो जाती है।

श्रीबालकरामने अपनी टीकामें इस कथाको प्रकारान्तर से निम्न प्रकार दिया है—

एक बार लड्डू-भक्त भक्ति-हीन प्रदेशके किसी शाक्त-राजाके राज्यमें जा पहुँचे। वहाँ का राजा देवीको प्रसन्न करनेके लिए नर-बलि दिया करता था। श्रीलड्डूजी जब यहाँ भ्रमण कर रहे थे तो उन्हें वैष्णव-भक्तोंकी एक टोली और मिली। पूछने पर ज्ञात हुआ कि इस सन्त-मण्डलीको तीन दिन से भोजन नहीं मिला था। यह समाचार सुनकर आपका हृदय बड़ा व्याकुल हुआ और आप सन्तोंको एक स्थानपर ठहराकर उनके भोजनका प्रबन्ध करने नगरमें गए। वहाँ एक व्यक्तिसे सन्तोंके लिए सीधा माँगा तो वह बोला—"सीधा जितना चाहो ले लो, किन्तु हमें एक आदमी देवीकी बलिको दे दो। यहाँ का राजा नित्य-प्रति एक आदमीकी बलि चढ़ाता है। आज उसने मुझे बुलाया है।" यह सुन कर आप बड़े प्रसन्न हुए और बोले—"तुम हमारे सन्तोंका दस दिन तक स्वागत-सत्कार कर भोजन आदि से उन्हें सन्तुष्ट करो, तुम्हारे इस कामको करनेके लिए मैं तैयार हूँ।"

उस व्यक्तिने आपको तो राजाके पास देवीकी बलिके लिए पहुँचा दिया और स्वयं सन्तोंके भोजन का प्रबन्ध करनेके लिए चल पड़ा। बलिके लिए मनुष्य आ जाने पर राजाने देवीके मन्दिरमें जाकर उसकी पूजा की और बलि चढ़ानेको ज्योंही तलवार उठाई कि देवीकी प्रतिमा फट गई और उसमेंसे देवीने निकलकर सब लोगोंको मार डाला। अन्तमें भक्तवर लड्डूके चरणोंमें गिरकर क्षमा माँगी और कहा—"मुझे कुछ सेवा बतलाइए।" आपने समस्त मृत-जनोंको जीवित करनेका आदेश दिया। देवीके द्वारा ऐसा करनेपर आपने सबको उपदेश देकर वैष्णवोंकी सेवाका पाठ पढ़ाया और उन्हें सच्चे रास्ते

पर आगे बढ़ाया। राजा भी आपसे बड़ा प्रभावित हुआ और उसने उसी दिनसे नर-बलिके स्थानपर सन्त-सेवा आरंभ कर दी। (भक्त-दाम-गुण-चित्रनी, पत्र—३०६)

(श्रीसन्तजी)

भक्ति-रस-बोधिनी

सदा साधु-सेवा-अनुराग-रंग पागि रह्यो, गह्यो नेम भिक्षा-व्रत गाँव गाँव फरे आय कै।
आये घर संत पूछें तिया सों यों "संत कहाँ ?" "संत चूल्हे माँझ," कही ऐसे अलसाय कै॥
बानी सुनि जानी, चले मग, सुखदानी मिले "कहौ कित हुते ?" सो बखानी उर आय कै।
"बोली वह साँच, वाही आँच ही को ध्यान मेरे, "आनि गृह फेरि किये मगन जिवाय कै॥४०५॥

अर्थ—श्रीसन्तजी साधु-सेवाके प्रेममें डूबे हुए गाँव-गाँव भिक्षा माँगते और जो कुछ मिलता उससे साधु-सेवा करते थे। एक बार जब आप भिक्षाके लिए किसी गाँवमें गये हुए थे, पीछेसे घरपर सन्त आगए और इनकी स्त्रीसे पूछा—"सन्तजी महाराज कहाँ हैं ?" उत्तरमें स्त्रीने अनखाकर (रूखे भावसे) कहा—"चूल्हेमें।" स्त्रीके उत्तर देनेके ढङ्गसे सन्तोंने समझ लिया कि यह हरि-विमुख है, और वहाँसे चल दिये। रास्तेमें सन्तोंको सुख देनेवाले श्रीसन्त-भक्त मिले। सन्तोंने पूछा—"कहाँ गए थे आप ?" आपको भगवानकी कृपासे इसका आभास मिल गया कि स्त्रीने उन्हें क्या जवाब दिया था। बोले—" उसने ठीक ही कहा था, मुझे हर समय चूल्हेका ही ध्यान रहता है—यह कि कब चूल्हा जलकर सन्तोंके लिए रसोई तैयार करूँ और उन्हें पवाऊँ।" यह कहकर आप सन्तोंको फिर घर लौटा लाए और उन्हें भोजन कराकर प्रसन्न किया।

(श्रीत्रिलोकजी)

भक्ति-रस-बोधिनी

पूरब में ओक, सो 'तिलोक' हो सुनार जाति, पायो भक्ति-सार साधु-सेवा उर धारियै।
भूप के विवाह सुता, जोरौ एक जेहरि कों, गढ़िबे कों दियौ, कह्यौ "नीके कै सँवारियै॥
आवत अनंत संत औसर न पावै किहूँ, रहे दिन दोय, भूप रोस यों सँभारियै।
"ल्यावो रे पकरि," ल्याये, "छाँड़ियै मकर," कही नेकु रह्यौ काम, आवै ना तौ मारि डारियै॥"४०६॥

अर्थ—श्रीतिलोकजी पूर्वदेशके रहनेवाले थे और जातिके सुनार थे। आपने भक्तिका मर्म समझ लिया था; इसी लिए हृदयमें सदा साधु-सेवाकी भावना रखते थे। एक बार उस नगरके राजाकी पुत्रीका विवाह होनेवाला था। राजाने आपको एक जेहरि (पायजेब) की जोड़ी बनानेकी आज्ञा दी और कह दिया कि जोड़ी बहुत बढ़िया बननी चाहिये।

श्रीतिलोकजीके घर रोज अनेक सन्त पधारते, अतः उनके स्वागत-सत्कारमें लगे रहनेके कारण उन्हें समय नहीं मिलता था। निदान एक-एक करके सब दिन बीत गये। जब केवल दो दिन रह गये और पायजेब बनकर नहीं आये, तो राजाने कुपित होकर उन्हें पकड़ लानेकी

आज्ञा दी। सेवकोंने उन्हें पकड़कर राजाके सामने हाज़िर किया। आपने कहा—"मुझे छोड़ दीजिए; पायजेबोंमें अभी थोड़ा-सा काम बाकी रह गया है; यदि मैं ठीक समयपर न लाऊँ तो मुझे बेशक मरवा डालियेगा।"

भक्ति-रस-बोधिनी

आयौ वही दिन, कर छुयौ हू न इन, "नृप करै प्रान बिन," बन माँझ छिप्यौ जाइकै।
आये नर चारि पाँच, जानी प्रभु आँच, गढ़ लियौ, सो दिखायौ साँच, चले भक्त भायकै॥
भूप कौ सलाम कियौ, जेहरि कौ जोरौ दियौ, लियौ कर, देखि नैन छोड़ैं न अघायकै।
भई रीझि भारी, सब चूक मेटि डारी, धन पायौ लै मुरारी, ऐसे बैठे घर आइकै॥४०७॥

अर्थ—कन्याके विवाहका ठीक दिन आ पहुँचा, पर तिलोकजीने तो भूषणके सुवर्णको हाथसे भी नहीं छुआ था—बनाना तो दूर रहा। उन्होंने सोचा, अब राजा मार ही डालेगा, और जंगलमें जाकर छिप गये।

विवाहके दिन राजाके भेजे गये चार-पाँच व्यक्ति आभूषण लेनेके लिए इनके घर पहुँचे। प्रभुने अपने भक्तपर आपत्ति आई हुई जानकर आभूषणको तत्काल तैयार कर राज-सेवकोंके सामने रख दिया और भक्तके प्रति प्रीतिके कारण तिलोकजीका रूप धारण करके राजाके सामने जा उपस्थित हुए। राजाको आपने सलाम किया और पायजेबका जोड़ा सामने रख दिया। राजाने हाथमें लेकर देखा, तो लट्टू हो गया। देखते-देखते आँखें तृप्त ही नहीं होती थीं। बहुत प्रसन्न हुआ वह और देरीसे लानेका अपराध क्षमा कर दिया। पुरस्कार-स्वरूप राजाने बहुत-सा धन दिया। भगवान् उसे लेकर भक्तके घरमें आकर बैठ गये।

भक्ति-रस-बोधिनी

भोर ही महोछौ कियौ, जोई माँगै सोई दियौ, नाना पकवान रस खान स्वाद लागे हैं।
संत कौ सरूप धरि, लै प्रसाद मोद भरि गये जहाँ पावौजू तिलोक गुह पागे हैं॥
"कौन सो तिलोक"? "अरे, दूसरो तिलोक मैं न" बैन सुनि चैन भयौ, आगे निसि रागे हैं।
चहल-पहल धन भरचौ घर देखि ढरचौ प्रभु पद-कंज जान्यौ मेरे भाग जागे हैं॥४०८॥

अर्थ—भक्त-रूपधारी भगवानने दूसरे दिन सबेरे तिलोकजीके घर बड़ी धूमधामसे महोत्सव किया—(जिसमें कि दूर-दूरके सन्तोंने प्रसाद ग्रहण किया।) जिसने जो माँगा वही उसे दिया। अनेक प्रकार के स्वादिष्ट व्यंजन साधुओंको खिलाये। इसके उपरान्त आप एक साधुका रूप धारण कर और बहुत-सा प्रसाद साथमें लेकर वहाँ पहुँचे जहाँ तिलोकजी बैठे थे। उन्हें प्रसाद देते हुए आपने कहा—"हम तिलोकजीके घर गये थे, तो उन्होंने हमको खूब प्रसाद खिलाया और बहुत-सा बाँध दिया है, सो पाइये।" तिलोकजीने पूछा—"कौन तिलोक?" भगवानने कहा—"अरे! वैसा भक्त क्या तीनों लोकोंमें दूसरा कोई है जो तुम इस तरह पूछते हो?"

संत-वेषधारी भगवानकी यह बात सुनकर तिलोकजीको बड़ा आनन्द हुआ—समझ गये,

यह सब माया प्रभुकी ही रची हुई है। आपने बड़े प्रेमसे प्रसाद ग्रहण किया और रातको
आये। देखा, वहाँ बड़ी चहल-पहल हो रही है; घर धन-धान्यसे भरपूर है। समझ गये
भगवानके चरण-कमल उनके घरमें पधारे हैं और उनके भाग्य जाग गये हैं।

छप्पय संख्या ९८ में आए हुए जिन भक्तोंकी गाथाएँ श्रीप्रियादासजीने अपनी टीकामें नहीं
हैं और जो श्रीबालकरामकी टीकामें उपलब्ध हैं, उनका आशय नीचे दिया जाता है—

श्रीलक्ष्मणजी—आप परोपकार करनेमें बड़े कुशल थे। एक बार सन्तोंके लिये-स्थान बनवाते सम
शामको जब मजदूर लोग अपने-अपने घर जारहे थे, तब एक बल्ली खुलकर नीचे लटक गई। हालाँह
वहाँ स्तम्भ बनाकर उसे साधना असम्भव देखकर लोग बड़ी चिन्तामें पड़ गए कि अब क्या किया जा
यदि बल्ली रातको नीचे गिर गई तो बड़ी हानि हो जायगी। व्यक्तियोंको यों चिन्तामें उलझा दे
श्रीलक्ष्मणजी वहाँ गए और बल्लीको अपने कन्धोंपर साधकर आपने सब लोगोंको वहाँसे घर भेज दिय

अंधकारके घने हो जानेपर भगवान आए और ऊपरसे बल्लीको खींचकर उसी स्थानपर बाँध
जहाँसे वह खुली थी। आपने भक्तसे कहा कि बल्ली बँध गई है, अब तुम भी आराम करो। यह देख भ
को बड़ा आश्चर्य हुआ। वह समझ गया कि भगवानने उसके ऊपर कृपा करके ही इतना कष्ट उठाय
है। सुबह होने पर जब मजदूर आए तो उन्हें बल्ली बँधी हुई मिली। (भक्तदाम-गुण-चित्रनी, पद्य ३०

श्रीलफरागोपाल देवाचार्य—आप श्रीहरिव्यासदेवाचार्यजीके प्रधान बारह शिष्योंमेंसे एक थे
आपका नाम तो गोपालदेव था, किन्तु गुरुदेवके द्वारा एक बार 'लफरा' नामसे सम्बोधित होनेके बा
आपको इसी नामसे सब सन्त पुकारने लगे। बालकरामने इस घटनाका उल्लेख करते हुए लिखा है कि
आपको जब एक स्थलका भार सौंपा गया तो पहले तो गुरुजीके सामने कुछ न कह सकनेके कारण आ
ने उसे स्वीकार लिया; किन्तु बादमें अपनी विरक्ततामें खलल पड़ा देख तीर्थ-यात्राके बहाने आप क
चले गए। इसी कारण गुरुदेवने आपका नाम 'लफरा' रख दिया—

> लफरा नाम भक्तकी गाथा सुनिए जथा सुहाई।
> लफरा छाप दास गोपाल सूं नाम तास हो ताई॥
> गुरु हरीव्यास ताहि असथल को भार धारिवे जाँचा।
> सो बिरक्त नहीं चहत पसारा पै गुरु आगे काँचा॥
> ताते गुरुसौं भरयौ हुँकारौ पीछें मन सो षटका।
> तब गुरु पै दिन दसकी अग्या माँगि रमण कूं सटका॥
> दस दिन बीते गुरु मग चाहत सिष्य न आयो जबही।
> दूरि कोस गत सुनि लखि लापर गुरु कहि लपरा तबही॥
> अस लपरा लिस छाप परांनी नाम जगति प्रगटांनां।
> सो लपरा बिचरत भुव स्वच्छा निचिंति सूं मनमाना॥

श्रीबालकरामने आपके सम्बन्धमें एक चमत्कारपूर्ण घटनाका उल्लेख भी किया है जिसका
आशय निम्न प्रकार है—

किसी स्थानपर एक साधु-सेवी और परोपकारी संतका आश्रम था। उस आश्रमको एक यवन-
राजने हथिया लिया था। एक बार जब श्रीलफराजी उस सन्तके आश्रममें ही थे तभी यवनराजने अपने कुछ

कर्मचारियोंको सन्तके आश्रममें घेरा डालकर सब सन्तोंको गिरफ्तार करनेके लिए भेजा । श्रीलफराजी ने आश्रमकी सुरक्षाका भार अपने ऊपर लेकर अन्य सभी साधुओंको आश्रमसे भगा दिया । यवन-कर्मचारियोंने आकर आपको नजरबन्द कर लिया ।

रातको जब यवन-राज सो रहा था तो भगवानने उसके इष्टके वेशमें उसे स्वप्न दिया और कहा कि 'या तो भक्तराज लफराको प्रातः काल ही सम्मान-पूर्वक मुक्त कर दो, नहीं तो मैं तुम्हारा सर्व-नाश कर दूंगा ।'

प्रातः काल होते ही यवन आकर आपके चरणोंमें गिर पड़ा और अनेक प्रकारसे प्रार्थना करके क्षमा माँगी । उसके द्वारा कुछ सेवा बतलानेका आग्रह किए जाने पर आपने यही कहा कि 'आजसे तुम सन्त-सेवाका व्रत ले लो ।' यवन-राज उसी दिनसे सन्त-सेवामें प्रवृत्त हो गया और आश्रमके लिए बहुत-सा धन देकर आपको विदा किया । (भक्त-दाम-गुण-चित्रनी, पत्र सं० ३०८)

श्रीखेमदासजी—आप अत्यन्त ही सरल-स्वभावके निरभिमानी और परोपकारी महात्मा थे । एक बार कुछ सन्तोंके आ जानेपर आप उनके लिए सीधा लेनेके लिए अपने एक वैश्य-सेवक के यहाँ गये । उसके यहाँ से सीधा-सामान लेकर जब लौट रहे थे, तो वैश्यके यहाँ ही बैठे हुए एक ब्राह्मण-किसानने कहा—

पुनि साधु-साधु कहाइ, जग कौ माल सबई खाइए ।
नहि साधु, तुम हौ बड़े थींगा, साधुता कठिनाइए ।।
पुनि साधु है इक वृषभ जग में, खेत जितनूं खावहीं ।
अरु भार कंधर-प्रभु आहृत, क्यों करै क्यूं भावहीं ।।
सो जित ही प्रेरत तितहिं चालत, साधु-गुण अस जानिए ।

× × ×

—" इस प्रकार महाराजजी ! साधु होना बड़ा कठिन है ।"

ब्राह्मणकी बातपर आपने मुस्करा कर कहा—ब्रह्मदेव ! हम तो ऐसे ही साधु हैं ।" इसपर ब्राह्मण बोला—"अच्छा, पहले आप अपना सीधा-सामान रख आइए, फिर हमारे घर आना, तब देखेंगे कि आप कितने परोपकारी हैं ?"

श्रीखेमजी जब बादमें ब्राह्मणके घर गए तो उसने बतलाया—"मेरा एक बैल कोई चुरा ले गया है और उसकी जोड़का दूसरा मिलता नहीं । जब तक दूसरे बैलका कोई प्रबन्ध न हो जाय, तब तक आप ही कष्ट करिए । मुझे खेत जोतना है, अतः आप हल खींचने के लिए मेरे साथ चलिए ।"

ब्राह्मणने खेतमें ले जाकर परम-भागवत सन्तको जुएमें जोत दिया; किन्तु भला वे बैलके बराबर कैसे चल सकते थे—स्थान-स्थानपर थक कर ठहरने लगे । भगवानपर अपने भक्तकी यह दशा न देखी गई । उनकी प्रेरणासे चोरी गया बैल स्वयं खेतमें आ गया । उसे देख ब्राह्मण पकड़नेको जब उसके पास गया तो उसने उसे सींगोंपर उठाकर उसे दूर फेंक दिया । बैल खेमदासजीके पास आकर उनके पैरोंको चाटने लगा और स्वयं आपके स्थानपर आकर जुएमें लग गया । आपकी यह महिमा देखकर कपटी ब्राह्मण की आँखें खुल गईं । वह दौड़कर आपके चरणोंमें गिर पड़ा और बार-बार दैन्यता-पूर्ण वाणीमें क्षमा माँगने लगा, किन्तु आपने उसे अपराधी भी स्वीकार न किया । धन्य हैं भगवानके ऐसे भक्त जो संसारको अपने

आवर्शोंसे उत्तम शिक्षा देकर उनका मंगल-पथ प्रशस्त करते हैं। (भक्त-दाम-गुण-चित्रनी, पत्र ३१०)

श्रीहरिदासजी—श्रीहरिदासजी अयोध्यामें रह कर भगवान् राघवेन्द्रकी उपासना किया करते थे। आपके आश्रममें जो सन्त आते उन सबको भोजन कराकर ही आप प्रसाद पाया करते थे। जो कुछ स्वयं प्राप्त हो जाता आप उसी पर सन्तोष करके सन्त-सेवाका निर्वाह किया करते थे। एक बार कई दिनके भूखे कुछ सन्त आपके यहाँ आ गए और उस समय सीधा-सामग्री आपके पास कुछ था नहीं। बड़ी चिन्तामें आप डूब गए। उसी समय किसी कार्यवश जब आप ठाकुरजीके सिंहासनके पास गए तो आपको वहाँ कुछ स्वर्ण-मुद्राएँ प्राप्त हुईं। श्रीरामचन्द्रजीने आपको यह भी आदेश दिया कि यह धन सन्त-सेवाके लिए है। प्रभुकी इस प्रिय वाणीको सुनकर आप कृतार्थ हो गए। (भक्त-दाम-गुण-चित्रनी, पत्र ३११)

श्रीउद्धवजी—आप भगवान रामके परमभक्त थे और प्रत्येक प्रकारसे सन्तोंकी सेवामें निरत रहा करते थे। एक राजा आपका काफी सम्मान करता था। आपकी प्रेरणासे ही वह साधुओंका सत्कार करने लगा था। कुछ समय बाद तो वह आपसे इतना प्रभावित हुआ कि आपके द्वारा बतलाए हुए सन्तोंका सम्मान अन्तःपुरमें ले जाकर करता। आप भी वेश-धारी प्रत्येक सन्तको राजाके दरबार में भेज देते।

यह रंग-ढंग देख एक लम्पट जो राजमहलकी एक युवतीके सौन्दर्यपर मुग्ध था, सन्तका वेश बना-कर आया और श्रीउद्धवजी की कृपासे अन्तःपुरमें सन्तोंके साथ प्रवेश भी पा गया। रातको वह दुष्ट मनचाही युवतीको ले भागा। सवेरा होनेपर जब इसका रहस्य खुला तो राजा श्रीउद्धवजीपर बड़ा रुष्ट हुआ। आपको भगवानमें अपरिमित विश्वास था, अतः आपने कह दिया कि यह प्रभुने तुम्हारी परीक्षा ली है; तुम धैर्य-धारण करो। राजा जैसे-तैसे मान गया, पर आप नगरको छोड़कर जंगलमें जा बसे। दूसरे ही दिन रातको भगवानने साधु-वेशधारी लम्पटसे उस रूपवती युवतीको छीनकर आकाश-मार्गसे महलमें पहुँचा दिया। यह देख राजाका विश्वास सन्त-सेवामें और अधिक दृढ़ हो गया और अब वह श्रीउद्धवजीमें पहिलेसे ज्यादा श्रद्धा रखने लगा। (भक्त-दाम-गुण-चित्रनी, पत्र ३१२)

श्रीकुम्भनदासजी—श्रीकुम्भनदासजीका जन्म १५२५ की चैत्र कृ० ११ को गोवर्द्धनके पास यमुनावतो नामक ग्राममें हुआ था। आप गोरवा-क्षत्रिय थे। आपकी प्रारम्भसे ही संगीत और पद-रचना की ओर रुचि थी। सं० १५५० के लगभग आप गोवर्द्धनमें महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यजीके पास आए और उनके शिष्य हो गए। बादमें श्रीनाथजीकी प्रतिमाके प्रतिष्ठित हो जानेके उपरान्त आप पद-रचना द्वारा उनके सामने कीर्तन करने लगे।

सं० १६२० में व्रज-यात्रा करते हुए महाराजा मानसिंह जिस समय श्रीनाथजीके दर्शन करनेके लिए जतीपुरा पहुँचे, उस समय श्रीकुम्भनदासजी पद गा रहे थे। आपके पदोंपर महाराजा मानसिंह इतने प्रसन्न हुए कि दूसरे दिन प्रातः ही आपके गाँव जमनावतो पहुँचे और बहुत-सा धन देना चाहा; पर आपने उसे स्वीकार नहीं किया। महाराजको आपकी इस सन्तोषमयी प्रकृतिसे बड़ा आनन्द हुआ।

श्रीकुम्भनदासजी श्रीनाथजीकी सेवा त्यागकर कहीं भी जाना नहीं चाहते थे। एक बार सं० १६३१ में आपकी दयनीयताको देखकर श्रीविट्ठलनाथजीने आपको द्वारकापुरी ले जाना चाहा। वे चाहते थे कि वहाँके वैष्णव-भक्तों द्वारा दी हुई भेंटसे श्रीकुम्भनदासजीका अर्थ-कष्ट दूर हो जायगा। गुरुदेवकी आज्ञा पाकर आप चले तो गए, किन्तु पहले ही पड़ावके समय जब आपको श्रीनाथजी

की याद आई तो आँखोंसे प्रेमाश्रु फूट पड़े । उस समय आपने एक पद बनाकर गाया—

के तै द्वै जुग गे बिन देखें ।
तरुन किसोर रसिक नंदनन्दन कछुक उठत मुख रेखें ॥
वह सोभा वह कांति बदन की कोटिक चन्द विसेखें ।
वह चितवन वह हास्य मनोहर वह नटवर वपु भेखें ॥
स्यामसुंदर संग मिल खेलन की आवत जिए अपेखें ।
'कुंभनदास' लाल गिरधर बिन जीवन जन्म अलेखें ॥

श्रीविट्ठलदासजीने कुम्भनदासजीकी यह दशा देखकर कहा—"श्रीनाथजीके कुछ समयका वियोग भी तुमको युगोंके समान असह्य हो रहा है । तुम्हारी यात्रा तो हो चुकी, अपने घर जाओ ।"

कहा जाता है, एक बार अकबरका एक दरबारी श्रीनाथजीके मन्दिरमें श्रीकुम्भनदासजीका एक पद सुन गया और उसने वह पद राज-दरबारमें गाया । पद सुनकर अकबर बड़ा प्रसन्न हुआ । जब उसे ज्ञात हुआ कि यह पद श्रीकुम्भनदासजीका था तो उसने आपको लिवा लानेके लिए पालकी भेज दी । आपका मन तो श्रीनाथजीकी सेवाको त्याग कर एक पल भी कहीं जानेका नहीं था; किन्तु यह सोचकर कि बादशाहके बुलानेपर राजीसे ही चला जाना ठीक है, आप दरबारमें जा पहुँचे और बादशाहके द्वारा गानेकी प्रार्थना करनेपर अपनी खिन्नताको व्यक्त करते हुए आपने निर्भयतासे गाया—

भक्तन को कहा सीकरी काम ।
आवत जात पन्हैयाँ टूटीं, बिसर गयो हरिनाम ॥
जाको मुख देखै दुख लागै, ताको करन परी परनाम ।
'कुंभनदास' लाल गिरधर बिन, यह सब झूठो धाम ॥

सहृदय बादशाह आपके भक्ति-गाम्भीर्य और स्पष्ट कथनसे बड़ा प्रभावित हुआ । उसने आपको सादर जमुनावती भिजवा दिया ।

यद्यपि श्रीकुम्भनदासजीके सात पुत्र थे, किन्तु आपका उन सबमें किञ्चिन्मात्र भी ममत्व नहीं था । एक बार आपसे जब पूछा गया कि 'आपके कितने पुत्र हैं ?', तो जवाब मिला—"डेढ़-एक तो चतुर्भुज-दास है जो श्रीनाथजीकी सेवा भी करता है और उनका गुण-गान भी, और आधा पुत्र कृष्णदास है जो श्रीनाथजीकी गाय चराकर सेवा तो करता है, किन्तु गुण-गान नहीं । शेष पाँच किसी प्रकार भी श्रीनाथजी के काम नहीं आते, अतः उनका होना न होना बराबर है ।"

आप गृहस्थसे कितने अनासक्त थे, इसका ज्ञान एक और घटना से हो सकता है । एक बार जब आपके पुत्र कृष्णदासजी श्रीनाथजीकी गाएँ चरानेके लिए जंगलमें गए हुए थे, तो अचानक एक शेरने गायोंपर धावा बोल दिया और उनकी रक्षामें ही श्रीकृष्णदासका शरीरान्त होगया । इस घटनाको सुन कर श्रीकुम्भनदासजी शोक प्रकट करनेके स्थानपर सन्तोष व्यक्त करते हुए बोले—"आज मैं परम कृतार्थ हुआ जो श्रीनाथजीकी गायोंकी रक्षा करनेमें मेरे पुत्रका जीवन सार्थक होगया ।"

श्रीकुम्भनदासजीके पद साधारण होते हुए भी सरलता और भक्ति-भावनाके प्राचुर्यकी दृष्टिसे विशेष महत्त्व के हैं ।

एक उदाहरण देखिए—

आवत मोहन मन जु हरयौ हो।
हौं गृह अपने सचु सौं बैठी, निरखि बदन अस्वरा बिसरयौ हो॥
रूप-निधान रसिक नँदनंदन निरखि बदन धीरज न धरयौ हो।
'कुंभनदास' प्रभु गोवर्धन अंग-अंग प्रेम-पियूष भरयौ हो॥

श्रीबालकरामजीने इस स्थानपर दो छप्पय और दिए हैं और उनकी टीका भी की है। श्रीरूप-कलाजीकी टीका तथा भक्तमालकी अन्य हस्त-लिखित-मुद्रित प्रतियोंमें ये छप्पय नहीं हैं। पाठकोंके लाभार्थ इन्हें नीचे दिया जाता है—

सुनि विहंग के बचन, मराल मरालनी आए।
नृपति नाइका सहित, दरस दै दरसन पाए॥
बिभौ सम्पदा देखि, चुगनि हंसनि कूं दीन्हीं।
रैन सयन के समय, नरेश्वर चिन्ता कीन्हीं॥
दीनबंधु कीन्ही दया, मुक्ताहल फल फले तरु।
दयाधर भूप के दास कूं, आए हंस अभिलाष करु॥१॥ (पत्र—३१३)

सन्त पधारे द्वार, देखि हरषौ मन मांही।
पिता पुत्र करि सोच, नाज तब घर मैं नांही॥
संतनि हित मुसि हाट, चाहतौ सीधौ काढ्यौ।
हाट मति गहियौ पाव दाव लखि सुत सिर बाढ्यौ॥
जीव दीया जन पाथीया कीया मृतक जीवत हरी।
सत्य धर्म सेऊ समन कौ भक्त सीस साटै करी॥२॥ (पत्र—३१४)

मूल (छप्पय)

सोम, भीम सोमनाथ, बिको बिशाखा, लखण्याना*।
महदा, मुकुंद, गनेस, त्रिबिक्रम, रघु जग जाना॥
बालमीक, बृद्धव्यास, जगन, झाँझू बीठल आचारज।
हरिभू, लाला, हरिदास, बाहबल, राघव आरज॥
लाखा, छीतर, उद्धव, कपूर, घाटम, घूरी, कियौ प्रकास।
अभिलाष अधिक पूरन करन, ये चिन्तामनि चतुर दास॥६६॥

अर्थ—भगवद्-भक्तिकी कामना रखनेवाले लोगोंकी अभिलाषाओंको पूर्ण करनेके लिए चिन्तामणिके समान परमार्थ पदमें चतुर निम्नलिखित २७ भक्त हुए—

(१) सोमजी, (२) भीमजी, (३) सोमनाथजी, (४) बिको (बिकोदी) जी,

---

* पाठान्तर—लखण्याना, लखनराण्याना।

(५) विशाखाजी, (६) लखध्यानजी, (७) महदाजी, (८) मुकुन्दजी, (९) गणेशजी, (१०) त्रिविक्रमजी, (११) रघुजी, (१२) वाल्मीकि ऋषि, (१३) व्यासदेव, (१४) जगनजी, (१५) झाँझूजी, (१६) आचार्य विट्ठलजी, (१७) हरिभूजी, (१८) लालाजी, (१९) हरिदासजी, (२०) बाहुबलजी, (२१) आर्य राघवजी और संसारमें अपना यश फैलानेवाले (२२) लालाजी, (२३) छीतरजी, (२४) उद्धवजी, (२५) कपूरजी, (२६) पाटमजी और (२७) श्रीधूरीजी।

इस छप्पयमें रूपकला जी ने २७ एवं श्रीबालकरामजीने २५ भक्त माने हैं और सातका परिचय दिया है। श्रीप्रियादासजी ने इसकी टीकामें एक भी कवित्त नहीं लिखा। श्रीबालकरामजीने अपनी टीकामें जिन भक्तोंके वृत्त दिये हैं उन्हें संक्षेपमें नीचे दिया जाता है—

श्रीसोमभक्तजी—आप एक धन-सम्पन्न भक्त थे और सदैव धनका प्रयोग सन्त-सेवामें ही किया करते थे। कथा, कीर्तन, सत्संग इन सब चीजोंसे एक गुरु-भाईको बड़ी चिढ़ थी—न तो उसे सन्त-सेवा ही अच्छी लगती, न ठाकुर-पूजा ही। वह अक्सर आपपर क्रोध प्रकट किया करता था। जब उसने देखा कि इस प्रकार क्रोध करनेका श्रीसोमजीपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता तो वह श्रीगोपालजीकी मूर्तिको उठाकर नदीके गहरे जलमें डाल आया, किन्तु श्रीसोमजीको इस बातका पता भी न लगा; क्योंकि जब आप पूजाके लिए गए तो श्रीगोपालजी स्वयं ही पानीमेंसे आकर सिंहासनपर बैठ गये थे। गुरु-भाईने दोबारा फिर उन्हें ले जाकर पानीमें डाल दिया। इस बार वे फिर आगए। तीसरी बार जब उसने यही कार्य किया तो ठाकुरजीने उसे स्वप्न देकर कहा—"दो बार तो मैंने तुमको क्षमा कर दिया है। इस बार तुम्हें अपने किएका फल भोगना पड़ेगा; अन्यथा अपनी कुटिलता त्यागकर प्रातः काल होते ही सोम-भक्तके चरणोंका आश्रय लो और अपने अपराधके लिए क्षमा-याचना करो।" सवेरा होते ही गुरु-भाई आपके पास आया और अपना समस्त अपराध कह कर क्षमा माँगी तथा उसी दिनसे सोम-भक्तके समान ही सन्त-सेवामें लग गया।

श्रीभीमाजी—सन्त-चरणारविन्दमें अचल अनुराग वाले श्रीभीमाजी जूनागढ़के पास रहा करते थे। श्रीराघवेन्द्र एक बार आपकी परीक्षा करनेकी इच्छासे पाँच सन्तोंका वेश बना कर आए। उनमें-से एक सन्त आपकी पत्नीको और शेष चार आपके दो पुत्र और दो पुत्रियोंको आपसे माँग कर ले गए। इससे आपको तो बड़ा संतोष हुआ, किन्तु पड़ौसियोंने आपको उल्टे-सीधे व्यंग सुनाए। दूसरे दिन सब लोगोंने देखा कि न-जाने कैसे आपका सारा परिवार पुनः आपके आश्रममें ही आगया।

श्रीभीमाजीकी ऐसी प्रवृत्ति देखकर एक दुष्ट लम्पट आपके पास संतका वेश बनाकर आया और आपकी पत्नीको माँगकर ले गया। घर ले आकर जब उसने कामुकता-भरी दृष्टिसे उसे देखा तो उस लम्पटको आपकी पत्नीके शरीरपर सर्प लिपटे दिखाई दिए। सम्मान-पूर्वक वह आपकी पत्नीको लेकर आया और चरणोंमें लेट गया। इसके बाद जीवन-भर वह आपका अनुयायी रहा।

श्रीध्यानदासजी—परोपकार और सन्त-सेवामें निरत रहनेवाले श्रीध्यानदासजीके पास उनकी उदारता और दयाकी बात सुनकर एक बनियेकी स्त्री आई और उसने बतलाया कि मेरी सन्तान जीवित नहीं रहती है—होते ही मर जाती है; आप कोई उपाय बतलाइये। श्रीध्यानदासजीने कहा—

"माता ! सन्त-सेवा करनेसे आपकी सन्तान अवश्य चिरायु होगी तथा दूसरी मनोकामनाएँ भी पूरी होंगी ।" उसी दिनसे वैश्य-पत्नीने सन्त-सेवाका व्रत ले लिया और उसीका प्रभाव यह हुआ कि उसके पुत्र जीवित रहने लगे । इस प्रकार ध्यानदासजीने सन्त-महिमाको प्रकट करके दिखा दिया ।

श्रीमुकुन्ददेवजी—आप श्रीप्रबोधानन्दजीके पोता-शिष्य थे । एक बार आपके काका-गुरुने कहा—"मुकुन्द ! तुम अपना स्थान हमें दे दो और अपने लिए दूसरा आश्रम बना लो ।" इसपर आप राजी हो गए और स्थान त्याग कर चल दिए । रास्तेमें आपने देखा कि एक राजाका घोड़ा मर गया है और राजा बड़ा व्याकुल हो रहा है । आपने प्रभुसे प्रार्थना करके उसे जीवित कर दिया । आपका यह चमत्कार देख राजा बड़ा प्रसन्न हुआ और पहले स्थानसे भी अच्छा स्थान बनवाकर आपको अपार धन और सत्कारसे सम्मानित किया ।

श्रीवृद्धव्यासजी—श्रीवृद्धव्यासजीकी रस-भरी कथा इस प्रकार है—एक बार आपने अपनी कन्याके विवाहके लिए इकट्ठी की गई समस्त सामग्री एक सन्तको गुरु-महोत्सव करनेके लिए दे दी । आपको विश्वास था कि सब कार्योंको पूरा करनेवाला भगवान है। इसी विश्वासके बलपर आप निश्चिन्त रहे और विवाहका दिन आ गया । उसी समय एक वैश्य आया और कन्याके विवाहके लिये आवश्यक समस्त सौंज-सामग्री आपको दे गया । इस वैश्यको भगवानने ही स्वप्नमें ऐसा करनेकी आज्ञा दी थी । वास्तवमें बात तो यह है कि—

उपकारी के काज कौं, साधत हैं रघुराज । पै चहिए बिसवास दृढ़, नहिं कायर कौ काज ॥

श्रीजगनजी—आपका एक शिष्य आश्रममें रहनेवाली एक गायको बहुत चाहता था । वह सुबह से शाम तक उसीकी सेवामें लगा रहता था । एक बार ऐसा हुआ कि गायको कोई चुरा ले गया । यह देखकर शिष्य बहुत रोया और गुरुजीको भी भली-बुरी सुनाते हुए बोला—"एक नामदेवजी थे जिन्होंने मरी हुई गायको जिन्दा कर लिया और एक आप हैं जो घरकी गायको भी गँवा बैठे ।" यह सुनकर श्रीजगनजीने कहा—"अरे मूर्ख ! रोता क्यों है ? गौशालामें जाकर देख, गाय वहीं बँधी है ।" शिष्यने जाकर देखा तो गुरुजीकी बात सच्ची निकली । बादमें गुरुजीने बतलाया कि तुम्हें अपने हृदयका मोह त्यागकर भगवानकी भक्तिमें लगना चाहिए ।

श्रीकपूरजी—आपके मनमें सदा सन्त-सेवा करनेकी अभिलाषा बनी रहती थी । एक बार कोई महात्मा आपके आश्रममें आए । आप उनके पैरोंको कई स्थानपर घायल देखकर बोले— "महाराज ! आप जूते क्यों नहीं पहिनते ?" साधु महाराजने कहा—"पहिनते तो हैं, किन्तु एक नियम है और उसे पूरा करनेके लिए हमारे पास द्रव्य नहीं है ।" आपने पूछा—"वह नियम कैसा है ?" वे बोले—"हम हजार सन्तोंको भोजन कराकर और जूतियाँ पहिना कर ही अपने पैरोंसे जूते छुवायेंगे, पहिले नहीं ।" आपने साधु-महाराजको अपना आधा धन दे दिया और तब उन्होंने यथाकल्पित सन्त-सत्कार करके जूतियाँ धारण कीं ।

श्रीबाहुबल देवाचार्यजी—श्रीबाहुबलदेवजीका नाम केवल इसी छप्पयमें मिलता है । आप श्रीहरि-व्यासदेवाचार्यजीके द्वादश-द्वारा-प्रवर्तक महानुभावोंमेंसे एक थे । कहा जाता है कि एक समय किसी राजापर उसके शत्रुओंने चारों ओरसे चढ़ाई कर दी । अपने प्राण बचानेके लिए वह राजा मारा हुआ

आपकी शरणमें जा पहुँचा। शरणागतको भयभीत देखकर आपने उसे अभय प्रदान किया और केवल हाथके संकेत-मात्रसे ही शत्रुकी सेनाओंका स्तम्भन कर दिया। इसी कारण आप बाहुबलदेवके नामसे प्रसिद्ध हुए। आप योग-साधनमें पारङ्गत महापुरुष थे। आपके सम्बन्धमें अनेकों आश्चर्य-जनक घटनाओं में-से स्थानाभावके कारण केवल नाम-प्रसिद्धि वाली इस एक घटनाका ही यहाँ उल्लेख किया गया है।

श्रीलाखाजी—इस नामके कई भक्त होगये हैं। इनमें एक लाखाजी श्रीहरिव्यासदेवाचार्यजीके शिष्य भी थे। श्रीध्रुवदासजीने अपनी भक्तमालके छप्पय २५७ में 'लाखापाका' नामसे उनका स्मरण किया है। नाभाजीने १५८ वें छप्पयमें भी श्रीलाखाजीका नाम-निर्देश किया है, अतः उनका विशेष परिचय १५८में वहीं दिया जायगा।

श्रीघाटमजी—दादू-पंथी-सन्त श्रीघाटमजी जयपुर राज्यके 'खेड़ी' ग्रामके निवासी और जातिके मीना थे। प्रारम्भिक जीवनमें ये डाकू थे और राहगीरोंको लूटा करते थे। संयोगसे इनकी मुलाकात किसी भक्तसे होगई। भक्तने इनसे डाकेजनी छोड़नेको कहा, लेकिन ऐसा करनेमें उन्होंने असमर्थता प्रकट की। कह दिया—"यह तो मेरी जीविकाका आधार है। डाका न डालूँगा, तो करूँगा ही क्या ?"

सन्तने कहा—"अच्छा, डाके डालो, पर इन चार नियमोंका पालन अवश्य करो—(१) सत्य बोलना, (२) साधु-सेवा, (३) भगवानको बिना अर्पण किये कुछ न खाना और (४) भगवानकी आरतीमें शामिल होना।" श्रीघाटमजीने ये चारों उपदेश ग्रहण कर लिये और उनके पालन का दृढ़ संकल्प कर लिया।

एक दिन घाटमजीके यहाँ साधु-सन्त पधारे। संयोगसे उस दिन घरमें कुछ भी न था। आप गये एक खलिहान में और गेहूँ बाँध लाये। बाँध तो लाये,पर मनमें डर रहे थे कि किसीने पैरोंके निशानों को पहिचान लिया, तो पकड़ा जाऊँगा। इतनेमें ही आँधी और वर्षा आई और पैरोंके निशान बराबर होगए। आपने तब निश्चिन्त होकर साधुओंका सत्कार किया।

एक दिन गुरुजीने उत्सव किया और द्रव्यकी सहायता करनेके लिए घाटमजीको बुलाया। घाटमजीके पास उस समय कानी कौड़ी भी देनेको नहीं थी। बड़ी चिन्तामें पड़ गए थे। अन्तमें बहुत सोच-विचार करनेके बाद उन्होंने राजाके घरमें चोरी करनेका निश्चय किया। घरके अन्दर पैर रखते ही द्वारपालोंने पूछा—"कौन है ?" आपने जवाब दिया—"चोर !" द्वारपालोंने सोचा, हँसी कर रहा है और अन्दर चले जाने दिया। घाटमजी अब पहुँचे घुड़सालमें और मुश्की रंगका उत्तम नस्लका एक घोड़ा छाँट कर उसपर चढ़कर चल दिये। घुड़सालके रखवालोंने जब उन्हें टोका, तो. वही पहलेका जवाब दे दिया। उन्होंने समझा, राजाका कोई आदमी होगा।

घाटमजी अब घोड़ेपर चढ़कर गुरुजीके पास जा रहे थे। रास्तेमें एक मन्दिर पड़ा, जिसमें कि आरती हो रही थी। घोड़ेको आपने मन्दिरके बाहर बाँध दिया और नियमानुसार आरतीके दर्शन करने के लिए अन्दर चले गए।

उधर राज-घरानेमें जब चोरीका पता लगा, तो घोड़ेको ले जानेके लिए लोग दौड़े और टापोंके निशानोंपर चलते हुए उसी मन्दिरपर आ पहुँचे। इसी समय प्रभुकी कृपासे घोड़ा काले रंगका हो गया। घोड़ा वहीं था, पर रंग बदला हुआ था। अब तो खोजी लोग बड़े चकराये। उन्हें इस प्रकार असमंजस

में पड़े हुए देखकर घाटमजीने कहा—"सन्देह मत करो। घोड़ा वही है और उसका चुरानेवाला मैं ही हूँ। तुम लोग घबड़ाओ मत। मैं स्वयं तुम्हारे साथ राजाके पास चलता हूँ।"

घाटमजीके मुँहसे राजाने जब सब वृत्तान्त सुना, तो एकाएक उसके हृदयमें भक्ति जागृत होगई। उसने घाटमजीके चरण पकड़ लिए और उन्हें बहुत-सा द्रव्य भेंट किया। घाटमजीने इस द्रव्यको लाकर गुरुदेवके अर्पण कर दिया।

आज भी श्रीघाटमजीकी स्मृतिमें बसा हुआ एक छोटा-सा नगरा 'घाटमजीकी ढाणी' के नामसे जयपुरराज्यान्तर्गत श्रीमाधोपुरके पास स्थित है।

सम्वत् १८३१ को लिखी भक्तमाल की (ख) प्रतिमें श्रीघाटमजीके सम्बन्धमें श्रीप्रियादासजी की टीकाके छः कवित्त और मिले हैं। इनमें श्रीघाटमजीका जो चरित्र वर्णित है वह प्रायः ऊपर लिखे चरित्रसे मिलता हुआ ही है। कवित्त इस प्रकार हैं—

घाटम को सुनौ हेत, भक्ति-भाव सौं सुचेत, ताको अब सुनि लेत प्रभु काज कियौ है।
मीणा को करम ये ही, पार धारो खोस लेही साधन को सेवै सही यो ही लाभ लियो है॥
एक समै साध आये घर मैं न नाज पाये गाँव में उधारे ल्याये काहू नहीं दियौ है।
तब तो कियौ बिचार नाज घलौ गाँव बार चोरी कौ भयौ तयार ऐसौ जाको हियौ है॥ १॥
प्रभू म्हारी लाज आवौ या ही पण कौ निबाहौ साधको सेवन करावो ऐसी टेक धरी है।
अहो देवो याकी छाती संग मारि लई गाती तिया हात डालो लाती कमर कटोरी है॥
आवो चल गाव बार घला कौं भयो तियार सूते चोकीदार माली लैके भूखी डारी है।
डालो गेहूँ भरि लियौ मन मैं बिचार कियौं आजि लायो मन भायो द्वार हाक पारी है॥ २॥
तिया खोल दिया द्वार पति कौ लियो संभार सारो ले कह्यो बिचार ऐसो भक्ति प्यारी है।
नाज को ढेरी अपार तापै लै बिभूत डार ताको हिये सोच धार याही बात भारी है॥
कहन लागो झूठो देह सायां सौं रह्यो सनेह पाछै आयो आंधी मेह येक कर डारो है।
करी है रसोई त्यारी पंगति बैठाइ डारी प्रभू को भरोसो भारी लाज यों संवारी है॥ ३॥
घाटम कौ ऐसो घाट साधन को डारै ठाट फेर चोरी चल्यौ बाट साच हिये रह्यौ है।
गयौ एक नृप द्वार भलो सु सरूप धार कोई जो कहै पुकार सांची बात कह्यौ है॥
नृप सौं करे जुहार छीप रह्यौ काहू बार स्याम घोरा को निकार कह्यौ प्रभु दयौ है।
मालुम भई सकार ताके पाछै चढ़ो बार घोरो छोड़ि प्रभु द्वार मंदिर में गयौ है॥ ४॥
ताके हिये योही प्रेम चरणामृत को रहै नेम करकै कुसल षेम प्रभु को रिझायो है।
स्याम कौं कियौ दीवार उलटी आईं बार ठाढ़े देखे असवार कछू भे न लायौ है॥
घाटम को देषि हेत स्याम घोरो भयो सेत बूझत परे सुचेत अश्व कासौं आयौ है।
घाटम कै साचो बात घोरा चोरी करलात सुनि के सबैल जात मैं तो यौं बुझायो है॥ ५॥
तब तौ कह्यो असवारो मेरो घोरो हुतो कारो तुम याहे बिचारो प्रेम रंग भीनो है।
मैं तौ साम गयौ मेल प्रभू कोई कियो खेल नृपति बोलाय लेत बड़ोई अचम्भो है॥
राजा उठै बेग आय घाटम के लगे पाय मन में बढ़्यो है भाय सेवा चित दीन्ह्यो है।
अहो प्रभू कृपा कीजै चाहो सोही मोपै लीजै और मैं न चाहौं कछू योंही घोरा लियो है॥ ६॥

ऐसौ सेवनं साध को जो कर जाने कोय। उलटी सुलटी होय परं ज्यों घाटम की होय॥

श्रीघाटमजीके सम्बन्धमें एक छप्पय बालकरामकी टीकामें और उपलब्ध हुआ है । बालकरामने उसकी टीका भी की है । छप्पय इस प्रकार है—

पचवारं प्रसिध सदा व्रत सब कूं बाँटे ।
हरिजन दुरबल देखि, पछौड़ा माँहि ऊभाँटे ॥
ध्वजा धरम की द्वारि, कोऊ नहीं भूखौ ताड़्यौ ।
संत जिमावन काजि, नगर कौ धातो फाड़्यौ ॥
उमगि उरभ्र घन आईयौ, तसकर नौका मन लीयौ ।
कबंध भक्ति घाटिम करी, आंज भरम घाट सूधो कीयौ ॥

मूल (छप्पय)

देवानन्द, नरहरियानन्द मुकुन्द महीपति संतराम तम्मोरी ।
खेम, श्रीरंग, नंद, बिस्नु, बींदा, बाजू सुत जोरी ॥
छीतम, द्वारिकादास, माधव, मांडन, रूपा दामोदर ।
भक्त नरहरि, भगवान, बाल, कान्हर, कैसौ सोहैं घर ॥
दास प्रयाग, लोहंग, गुपाल, नागसुत गृह भक्त भीर ।
भक्तपाल दिग्गज भगत, ए थानाइत सूर धीर ॥१००॥

अर्थ—ये निम्नलिखित २६ भक्त दिग्गजोंके समान स्थानाधिपति, अत्यन्त निर्भय और धैर्य्य-गुण-युक्त हुए—

(१) श्रीदेवानन्दजी, (२) नरहरियानन्दजी, (३) मुकुन्दजी, (४) महीपतिजी, (५) संतराम तम्मोरी जी, (६) खेमजी, (७) श्रीरंगजी, (८) नन्दजी, (९) बाजूजी के दोनों पुत्र (१०) विष्णुजी, (११) बींदाजी, (१२) छीतमजी, (१३) द्वारिकादासजी, (१४) माधवजी, (१५) मांडनजी (१६) श्रीरूपाजी, (१७) दामोदरजी, (१८) नरहरिजी, (१९) भगवानजी, (२०) बालजी, (२१) कान्हरजी, (२२) केशौजी, (२३) प्रयागदासजी, (२४) लोहंगगोपालजी,(२५) नागूजी के पुत्र श्रीगोपालजी ।

इनमें श्रीनरहरियानन्दजीका चरित्र छप्पय-संख्या ६७ पृष्ठ ४६२पर और श्रीरंगजीका कवित्त : संख्या ११७, पृष्ठ २६४ पर दिया जा चुका है ।

माधवजीके नामके कई भक्त हुए हैं—(१) माधवदासजी जगन्नाथी, (छप्पय-संख्या ७० पृष्ठ ४७२) (२) माधवजी गढ़ागढ़वाले (छप्पय-संख्या ११२) (३) माधवजी चरणगायक मथुरावाले (छप्पय-संख्या १३६), (४) माधवानन्दजी सरस्वती (छप्पय-संख्या १८१), (५) माधवग्वालजी (छप्पय-संख्या १६५), (६) माधवदासजी छप्पय-संख्या १९१) और (७) माधवजी भक्तपाल । इनके

अतिरिक्त माधवदासजी बरसानेवाले, माधवदासजी कपूर, माधवदासजी—भगवतमुदितजीके पिता, माधवदासजी दादूजीके शिष्य, माधवभट्ट काश्मीरि, माधवदासजी (मीर माधव) काबुली, माधवदासजी कायस्थ (सहारनपुरवाले) आदि और भी सुने जाते हैं। श्रीप्रयागदासजीका चरित्र छप्पय संख्या १६६ में वर्णित है।

भक्तदाम-गुण-चित्रनीमें जिन भक्तोंके चरित्र दिये गये हैं वे निम्न प्रकारसे हैं—

श्रीदेवानन्दजी—आपके घर एक बार बहुतसे सन्त आगए। उनके सत्कारके लिए अपने पास कुछ भी न देखकर आप नगर के एक वैश्यके पास गये और कुछ सीधा-सामान उधार माँगने लगे। बनिया बोला—"महाराज ! अभी पहला ऋण शेष है। जब तक उसका हिसाब नहीं हो जावेगा तब तक और उधार मैं नहीं दे सकता।" इस उत्तरसे देवानन्दजी बड़ी चिन्तामें पड़ गए। साधुओंका सत्कार तो करना ही था, इसलिए आप ठाकुरजीके मन्दिरका एक पात्र रहन रखकर बाजारसे सीधा-सामान खरीद लाए और. बनियासे कह आए कि दाम आते ही हम अपना पात्र वापस ले जावेंगे। घर आकर आपने समनियाँ तैयार करवाया और ठाकुरजीका भोग लगाकर भक्तोंको प्रसाद पवाया।

दूसरे दिन सेवा-पूजाके लिए मन्दिरमें जानेपर आपने देखा कि जिस पात्रको बनियाके यहाँ रहन रक्खा था वह तो मन्दिरमें अपने स्थानपर रक्खा है। आप समझ गए कि यह सब प्रभुकी ही कृपाका फल है। कुछ समय बीत जानेपर जब आपके पास दाम आ गए तो बनियाके यहाँ जाकर आपने अपना पात्र माँगा। उसने सारा मकान खोज डाला, पर पात्र न मिला। बनियाको अत्यन्त विकल देखकर आप बोले—"भैया ! अब तुम अधिक परेशान मत होओ। पात्र तो उसी दिन हमारे घर पहुँच गया जिस दिन हम दे गए थे। यह सुन बनिया बड़ा आश्चर्य-चकित हुआ और उसी दिनसे सन्त-सेवा और भगवानकी भक्तिको ही संसारमें परम साध्य समझने लगा। (भक्तदाम-गुण-चित्रनी पत्र, ३१८)

श्रीखेमजी—श्रीखेमजी जातिके वैश्य एवं जैन-मतावलम्बी थे। आपपर वैष्णवताका कुछ ऐसा रंग चढ़ा कि सन्तोंकी संगतिके अतिरिक्त कुछ सुहाता ही नहीं था। आपको सन्त-सेवा करते देख जाति वाले बहुत जलते थे। उन सबने मिलकर विचार किया कि खेमको बुलाकर पूज्य-जनोंकी शपथ दिलाई जाय कि न तो वह अब साधु-सेवा करे और न उनका सङ्ग ही। ऐसा ही किया गया। श्रीखेमजी आए और जब आपको जैन-धर्मपर आसक्त रहनेकी शपथ दिलाई गई तो आप उठकर यह कहते हुए चले गए कि 'हम जैन-फैन किसी मतके प्रपंचमें नहीं पड़ते; हमारा मन तो वैष्णवतामें रमता है'।

जातिवाले बैनियोंने जब यह देखा तो राज-दरबारमें जाकर उनके प्रतिकूल न जाने क्या-क्या कहा और राजाने भी सभी बातोंको सही मानकर राज-कर्मचारियों द्वारा श्रीखेमजीको कारागारमें डलवा दिया।

उसी समय सन्त-जन आपके घर पधारे। आपकी पत्नीने उन्हें सब समाचार कह सुनाया। सुनते ही वे इतने दुखी हुए कि सीधा लेना भी अस्वीकार कर दिया और प्रभुसे प्रार्थना की कि जब तक भक्त-वर खेमजी कारागारसे घर नहीं आ जावेंगे तब तक हम भी भोजन नहीं करेंगे। सन्त-आगमन और उनकी प्रतिज्ञाका समाचार सुनकर श्रीखेमजीको बड़ा दुःख हुआ और आप मन-ही-मन प्रभुका ध्यान करने लगे। उसी समय शृङ्खलाएँ स्वयं टूटकर दूर जा गिरीं, कारागारके फाटक भी खुल गए और

क्षेमजी प्राण-प्यारे सन्तोंके दर्शनके लिए उतावले होकर चल दिए। घर आकर सन्तोंके दर्शन करते ही आप दौड़कर उनके चरणोंसे लिपट गए। उधर श्रीक्षेमजी द्वारा सच्चा परिचय पाकर सब लोगोंको बड़ा आश्चर्य हुआ और फिर किसीकी आपके सामने आनेकी भी सामर्थ्य न हुई।

(भक्तदाम-गुण-चित्रनी, पत्र ३१६)

श्रीरूपाजी—आप सन्त-सेवी किसान थे। खेतीमें जो कुछ भी उत्पन्न होता उससे सन्त-सत्कार करते हुए भगवानके भजनमें लीन रहते। एक बार वर्षा कुछ कम हुई और खेतोंमें अनाज पैदा न हो सका, किन्तु सन्त-सेवा अब भी नहीं रुकी। बर्तन, कपड़े और मकान सब कुछ बेच दिया, यहाँ तक कि खेतको भी गिरवी रख दिया। बच्चे भूखे-नंगे घूमने लगे, पत्नीकी आँखोंसे दीनता झाँकने लगी। ऐसी दशामें भी आप सन्तोंको लिवालाए और पत्नीसे कहा—"लाओ, कुछ आभूषण दो जो साधुओंके लिए सीधा-सामान खरीद लाऊँ।" यह सुनकर पत्नी झल्लाकर बोली—"यदि आभूषण ही रखे होते तो बच्चे भूखे क्यों मरते ?" आपको पत्नीकी बातपर विश्वास नहीं हुआ और कहने लगे—"तुमने अब भी कुछ न कुछ अवश्य छिपा रखा है; यदि ऐसा न होता तो साधु-सेवाके लिये परम-कृपालु भगवान स्वयं कुछ प्रबन्ध कर देते।"

पत्नीने सचमुच एक नथ छिपा रखी थी। उसे लेकर आप बाजारसे सीधा-सामान लाए और सन्तोंका खूब सत्कार किया। उसी दिन रातको जब आप सोए तो भगवानने स्वप्न देकर बतलाया कि कि तुम्हारे घरमें अमुक स्थानपर धन गड़ा है; खोदकर [निकाल लो। सुबह होनेपर आपने अपार धन-राशिको खोदकर निकाल लिया और घरमें फिर पूर्ववत् सन्त-सेवाका क्रम आनन्दसे चलने लगा।

(भक्तदाम-गुण-चित्रनी, पत्र ३१६)

श्रीरूपाजीको 'रूप रसिकदेव' नामसे भी पुकारते हैं। आपका विशेष-वृत्त छप्पय सं० १०५ में दिया गया है।

श्रीमाधवजी—इस नामके अनेक भक्त होगए हैं। इनमें दो माधव निश्चित रूपसे श्रीनिम्बार्क-सम्प्रदायके महानुभाव हैं, एक तो स्वभूरामदेवाचार्यजी सहोदर हैं,(छप्पय-संख्या १६०)और दूसरे श्रीहरि-व्यासदेवाचार्यजीके प्रधान बारह शिष्योंमें-से एक हैं। इस छप्पयमें दामोदर, भगवान, मुकुन्द, लोहंग-गुपाल आदि निम्बार्कीय सन्तोंके साथ जिन माधवजीका वर्णन किया गया है वे द्वादश- द्वारा-प्रवर्तक महानुभावोंमें-से एक हैं।

यद्यपि 'श्रीआचार्य-परम्परा-परिचय' आदि ग्रन्थोंमें श्रीमाधवदासजीका विशेष वृत्तान्त नहीं मिलता तथापि—'वे भक्तोंके पालक, दिग्गज-भक्त तथा स्थान-धारी, धीर और बड़े पराक्रमी सन्त थे'—श्रीनाभाजीके इस कथनके अनुसार उनका संक्षिप्त परिचय मिल जाता है। माधव नामवाले अन्य भक्तोंसे उनकी भिन्न-भिन्न विशेषताओं द्वारा इनसे पार्थक्य भी स्पष्ट है।

श्रीलोहंग-गुपालजी—आपको 'जनगोपाल' और 'मदनगोपाल' भी कहते हैं। श्रीनाभाजीने आपके सम्बन्धमें एक स्वतन्त्र छप्पय (१११ वाँ) लिखा है। वहीं ही आपका विशेष-वृत्त दिया गया है।

श्रीमांडनजी—आपका नाम छप्पय-संख्या १३६ में भी आया है। आपका विशेष-वृत्तान्त नहीं दिया गया है।

मूल—(छप्पय)

केसौ पुनि हरिनाथ, भीम, खेता, गोबिंद, ब्रह्मचारी।
बालकृष्ण, बड़भरत, अच्युत, अपया ब्रतधारी॥
पंडा गोपीनाथ, मुकुंदा, गजपति महाजस।
गुननिधि, जसगोपाल, दई भक्तनि को सरबस॥
श्री अंग सदा सानिधि रहैं, कृत पुन्य-पुंज भल भाग भर।
बद्रीनाथ उड़ीसे, द्वारिका सेवक सब हरि-भजन-पर॥१०१॥

अर्थ—श्रीबदरिकाश्रम, जगदीश-क्षेत्र, उड़ीसा और द्वारकापुरीमें श्रीजगन्नाथजी तथा श्रीरनछोरजीके सेवक ये (निम्नलिखित) १४ भक्त हरि-भजन-परायण हुए। इन्होंने भक्तोंकी सेवाके निमित्त अपना सर्वस्व अर्पण कर दिया। ये प्रभुके अंगसेवी होनेके कारण सदा उनके समीप ही रहते थे। पूर्वजन्ममें इन भक्तोंने अनेक पुण्य किये थे जिसके फल-स्वरूप इन्हें भगवान की सेवामें रहनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ।

(१) श्रीकेशवजी, (२) हरिनाथजी, (३) भीमजी, (४) खेताजी, (५) गोविन्द ब्रह्मचारीजी, (६) बालकृष्णजी, (७) बड़ भरतजी, (८) अच्युतजी, (९) अपयाजी, (१०) गोपीनाथजी पंडा, (११) मुकुन्दजी, (१२) गजपतिजी, (१३) गुणनिधिजी और (१४) जसगोपालजी।

बालकरामजीने इस छप्पयमें १० भक्त माने हैं और श्रीहरिनाथ एवं श्रीगोविन्द ब्रह्मचारीका परिचय दिया है।

(श्रीरुद्रप्रताप गजपतिजी)

भक्ति-रस-बोधिनी

श्रीप्रतापरुद्र गजपति कै बखान कियौ, लियौ भक्ति-भाव महाप्रभु पै, न देखहीं।
किये हूं उपाय कोटि, ओटि लै संन्यास लियौ, हियौ अकुलायो "अहो! किहूं मोको देखहीं"॥
जगन्नाथ-रथ आगे नृत्य करैं मत्त भये नीलाचल नृप पाँय परयौ, भाग लेखहीं।
छाती सों लगायौ, प्रेम-सागर बुड़ायौ, भयौ अति मन-भायौ, दुख देत ये निमेखहीं॥४०६॥

अर्थ—श्रीरुद्रप्रताप गजपतिजी नीलाचल पुरुषोत्तमपुरीके राजा थे। महाप्रभु श्रीकृष्ण-चैतन्यजीके दर्शन कर इनके हृदयमें भक्तिका सागर उमड़ पड़ा। ये महाप्रभुजीके शिष्य होना चाहते थे, पर शिष्य करना तो दूर रहा, महाप्रभु इनकी ओर आँख उठाकर भी नहीं देखते थे। आपने करोड़ों उपाय किए, पर सफल नहीं हुए। तब आपने संन्यासकी शरण ली, किन्तु इतने पर भी महाप्रभु जब अनुकूल नहीं हुए, तो बड़े घबड़ाये। अब इनकी यह इच्छा और भी प्रबल हो गई कि 'किसी प्रकार गुरुदेव मेरी ओर देखें
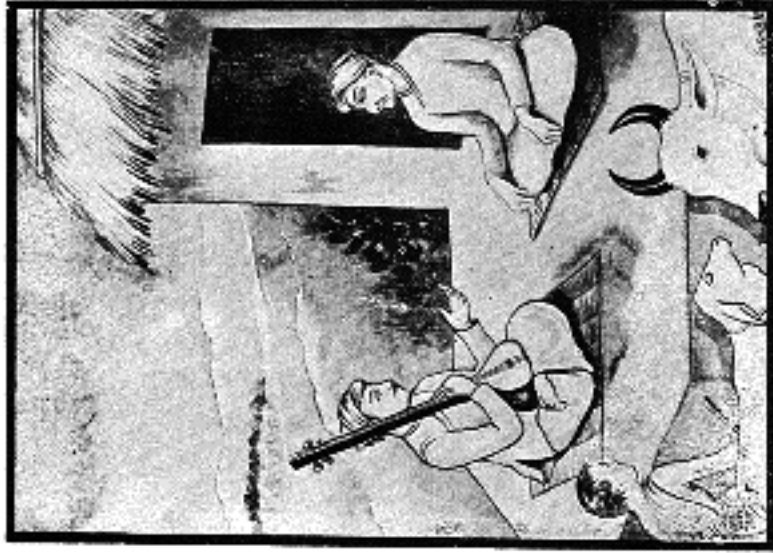
श्री चतुर्भुजदास जी
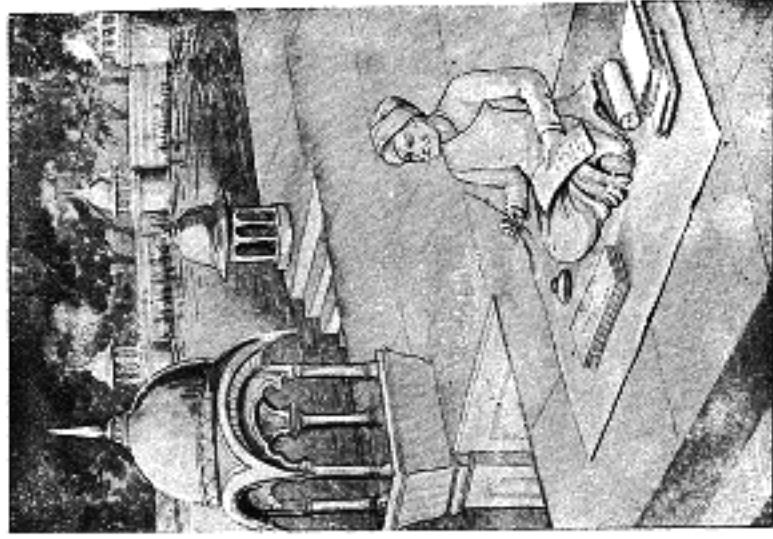
श्री नंददास जी

एक बार महाप्रभुजी प्रेममें उन्मत्त होकर श्रीजगन्नाथजीके रथके आगे नृत्य कर रहे थे। गणपतिजीने देखा कि यह तो बड़ा सुन्दर अवसर है, और महाप्रभुके पैर पकड़ लिये। महाप्रभुजी अब तक आपकी परीक्षा ले रहे थे। अब उन्होंने समझ लिया कि आपका प्रेम सत्य है और उठाकर छातीसे लगा लिया। महाप्रभुजीके श्रीअंगका स्पर्श पाकर राजा प्रेम-सागरमें डुबकियाँ लेने लगे। मनोरथ पूर्ण हुआ। गुरु-भगवान थोड़े ही समयके लिए अपने भक्तको दुख देते हैं और वह भी उसकी भक्ति-भावनाको दृढ़ करनेके लिए। बादमें उसे अखंड सुखका अधिकारी बना देते हैं।

श्रीहरिनाथजी—आप दक्षिण-निवासी भक्त थे। धन-धन—सब प्रकारसे आप परम सम्पन्न थे। एक बार श्रीबद्रीनारायणजीने आपको स्वप्नमें आज्ञा दी कि 'इस धन-जन-संकुल परिवारको त्यागकर मेरी सेवामें आजाओ'। सुबह होते ही आप समस्त कुल-सम्पत्तिको त्याकर बद्री-खण्डमें आकर प्रभुकी सेवामें तल्लीन होगए। श्रीबद्रीनाथजीने फिर वहाँके राजाको स्वप्न देकर कहा कि इस हरिनाथकी सेवा पर मेरा मन रीझ गया है, इसलिए आप सब इसके आदेशको हमेशा पालन करते रहिए।

(भक्तदाम-गुण-चित्रनी, पत्र ३२०)

श्रीगोविन्दब्रह्मजी—आप परोपकारी एवं दूसरों के दुःखको दूर करनेवाले सन्त थे। एक बार आपने देखा कि कोई भक्त मन्दिरमें दर्शन करता फिर रहा है और थोड़ा बहुत चढ़ावा भी चढ़ा रहा है, किन्तु उसकी आँखोंसे अविराम अश्रु-धारा प्रवाहित होरही है। उसे इस प्रकारसे शोकाकुल देखकर आपका हृदय द्रवीभूत होगया और आप बोले—"भक्तवर! तुम इस प्रकार रो क्यों रहे हो?" उसने उत्तर दिया—"महाराज! मैं भगवानको भेंट चढ़ाने और सन्त-सेवा करनेके लिए घरसे बीस स्वर्ण-मुद्राएँ लेकर चला था, उन्हें रास्तेमें किसीने चुरा लिया है।" "तो तुम केवल स्वर्ण-मुद्राओंके लिए रो रहे हो?" आपने पूछा। भक्तने इसपर कहा—"महाराज! मुझे स्वर्ण-मुद्राओंके खो जानेका जरा भी दुःख नहीं है, दुःख तो इस बातका है कि मेरी सन्त-सेवाकी साध पूरी न हो सकी।" उसकी बात सुनकर आप बड़े प्रसन्न हुए और बोले—"तुम्हें जितने धनकी आवश्यकता हो, मुझसे लेलो और जैसी भी सन्त-सेवा करना चाहो करो।"

भक्तकी आँखें आनन्दसे खिल उठीं। उसने श्रीगोविन्दब्रह्मजीसे धन लेकर सन्त-सत्कार किया और ठाकुरजीको चढ़ावा चढ़ाया।

उसी रात भगवानने श्रीगोविन्द ब्रह्मको स्वप्नमें बतला दिया कि भक्तकी मुहरें किसने चुराई हैं। आपने चोरको एकान्तमें बुलाया और भय दिखाकर उससे मोहरें लेकर भक्तको वापस कर दीं। आपके इस चमत्कारसे तो वह बहुत ही प्रभावित हुआ।

भक्तने मुहरें मिल जानेपर आनन्दके साथ महोत्सव किया और साधु-सन्तोंको प्रसाद पवाया। अन्तमें श्रीगोविन्दब्रह्मजीके चरणोंमें गिरकर अत्यन्त प्रेम-पूर्ण-दृष्टिसे वह उनकी ओर देखने लगा। उसके प्रेमको देखकर आपने अपनी भक्तिका समस्त रहस्य बतलाते हुए कहा—"सन्त-सेवा करो, यही वैष्णवताका सार है।" (भक्त-दाम-गुण-चित्रनी, पत्र ३२०)

मूल (छप्पय)

विद्यापति, ब्रह्मदास, बहोरन, चतुरबिहारी ।
गोबिंद, गंगाराम, लाल, बरसानियाँ मंगलकारी ॥
पियदयाल, परसराम, भक्तभाई, खाटीकौ ।
नन्द-सुवन की छाप कवित केसौ को नीकौ ॥
आसकरन, पूरन नृपति, भीषम, जनदयाल गुन नाहिन पार ।
हरि सुजस प्रचुर कर जगत में, ये कबिजन अतिसै उदार ॥१०२॥

अर्थ—श्रीहरिके सुन्दर यशका संसारमें प्रचार करनेवाले ये (निम्नलिखित) १६ कवि-जन अत्यन्त उदार हुए—

(१) श्रीविद्यापतिजी, (२) ब्रह्मदासजी, (३) बहोरनजी, (४) चतुरकवि बिहारीजी, (५) गोविन्द स्वामीजी, (६) गंगारामजी, (७) लोगोंका कल्याण करनेवाले बरसाना-निवासी लालजी, (८) प्रियदयालजी, (९) परशुरामजी, (१०) भक्तभाईजी, (११) खाटीकजी, (१२) अपनी सुन्दर कवितामें 'नन्दसुत' की छाप देनेवाले केशवजी, (१३) आशकरनजी, (१४) राजा पूर्णजी, (१५) भीष्मजी तथा (१६) श्रीजनदयालजी ।

रसिक-भक्त श्रीविद्यापतिजी—श्रीविद्यापति कवि साहित्य-संसारमें 'मैथिल कोकिल' के उपनाम से प्रसिद्ध हैं। उनका जन्म पन्द्रहवीं शतीमें बिहार प्रान्तके बिषयी नामक गाँवमें हुआ था। उनका परिवार बिहारके तत्कालीन शासक 'हिन्दूपति' महाराज शिवसिंहके पूर्वजोंका कृपापात्र था। विद्यापतिके कण्ठसे निकली हुई मधुर वाणी, उस समय, बिहारमें ही नहीं, सारे उत्तर-भारतमें प्रतिध्वनित हो उठी थी। महाप्रभु चैतन्यदेव और उनकी भक्त-मंडली इनके पदोंको गा-गाकर प्रेमसे उन्मत्त हो जाती थी। एक ओर विद्यापतिने जहाँ 'दुर्गा-भक्ति-तरंगिणी' और "गङ्गावाक्यावली" लिखी है, तो दूसरी ओर श्रीराधाकृष्णकी शृङ्गार-लीलाओंके अनुपम पदोंकी भी रचना की है। भगवद्-लीलासे सम्बन्धित शृङ्गार-रसका शायद ही कोई अङ्ग उनसे अछूता रहा हो। शृङ्गार और भक्तिका जैसा सुन्दर सामंजस्य उनकी वाणीमें हुआ है, वैसा संभवतः और किसी कविकी रचनामें नहीं हुआ।

श्रीविद्यापतिकी सरस रचनाका एक उदाहरण देखिए—

कानन भेल विषम सर रे, भूवन भेल भारी ।
सपनहुँ हरि नहिं आएल रे, गोकुल गिरधारी ॥
एक सरि ठाढ़ि कदम तर रे, पथ हेरथि मुरारी ।
हरि बिनु हृदय दगध भेल रे, झामर भेल भारी ॥
जाह जाह तोहें ऊधव हे, तोहें मधुपुर जाहे ।
चन्द्रबदनि नहि जीवति रे, बध लागत काहे ॥

भनइ 'विद्यापति' तन मन रे, सुनु गुनमति नारी ।
आज आओत हरि गोकुल रे, पथ चलु झट झारी ॥

(श्रीगोविन्द स्वामीजी)

भक्ति-रस-बोधिनी

गोवर्धननाथ साथ खेलें, सदा झेलें रंग अंग, सख्य भाव हिये, गोविंद सुनाम है ।
स्वामी करि ख्यात, ताकी बात सुनि लीजै नीके, सुने सरसात नैन, रीति अभिराम है ॥
खेलत हो लाल संग, गयौ उठि दाव लैके, मारी खैंचि गिल्ली देखि मंदिर में स्याम है ।
मानि अपराध, साधु धक्का दै निकारि दियौ, मति सो अगाध, कैसे जाने वह ग्राम है ॥४१०॥

अर्थ—श्रीविट्ठलनाथजी गोस्वामीके शिष्य श्रीगोविन्द स्वामीकी वार्ता अब भलीभाँति सुनिये । उनकी सख्य-भावनासे युक्त उपासनाकी सुन्दर रीतिको देखकर नेत्र प्रेम-जलसे परिपूर्ण हो जाते हैं । आप सदा भगवानके साथ खेलते थे और क्रीड़ा-रसका आनन्द लिया करते थे ।

एक बार आप श्रीगोवर्धननाथके साथ गुल्ली-डण्डाका खेल खेल रहे थे । खेलनेमें भगवान ने तो अपना दाव ले लिया और अपने सखा गोविन्दको खूब भगाया और परेशान किया, लेकिन जब अपने दाव देनेका समय आया तो श्यामसुन्दर भाग खड़े हुए और मन्दिरमें घुसकर बैठ गये, (शायद उनका अनुमान यह था कि गोविन्द यहाँ नहीं आयेगा ।) उनके पीछे-पीछे गोविन्दजी भी दौड़े गये और जगमोहनमें खड़े होकर मारी खींच कर गुल्ली । मन्दिरका एक साधु यह दृश्य देख रहा था । प्रेमके रहस्यको तथा सख्य-रसकी भावनाको वह क्या जाने ? उसने समझा कि गोविन्द स्वामीसे बड़ा अपराध बन गया है और उन्हें धक्का देकर निकाल दिया ।

भक्ति-रस-बोधिनी

बैठ्यौ कुंड तीर आय, निकसैगो आय बन, दियै हूँ लगाय, ताको फल भुगताइयै ।
लाल हिय सोच पर्यौ, कैसे भर्यौ आत, वह अर्यौ मग माँझ, भोग धर्यौ पै न खाइयै ॥
कही श्रीगुसाई जू कों, मोकों ये न भाई कछू, चाहौ जो खवायौ, मोपै वाकों जा मनाइयै ।
"वाको हुतो दाव मोपै, सो तो भाव जान्यौ नहीं, कही मोसौं बातें सो कुमारे बेगि ल्याइयै" ॥४११॥

अर्थ—साधुके द्वारा मन्दिरसे निकाल दिये जानेपर गोविन्द स्वामीजी एक कुंडके किनारे पर बैठ गये और कहने लगे—"वनमें जानेके लिये तो इसी रास्तेसे निकलेगा, तब मैं धक्का मारकर निकलवा देनेका मजा चखाऊँगा ।" अब लालजीको यह चिन्ता सवार हुई कि वन कैसे जाया जाय । वह तो मार्गमें ही अड़ा हुआ बैठा है और अपना दाव बिना लिये किसी तरह भी नहीं छोड़ेगा । इसी बीच भगवानके आगे भोग रक्खा गया, पर उन्होंने नहीं पाया । तब आपने प्रत्यक्ष होकर गोस्वामीजीसे कहा—"यह सब भोग मुझे बिलकुल अच्छा नहीं लगता है । यदि मुझे कुछ खिलाना चाहते हो तो पहले उसको अनुनय-विनय करके लाओ । उसे मुझसे एक दाव लेना है; इसीलिए उसने मुझे गुल्ली मारी थी । साधु इस बातको नहीं जान

पाया और उसको भला-बुरा कह डाला । अब आप उस ब्राह्मण-कुमारको शीघ्र लिवा लाइये ।"

भक्ति-रस-बोधिनी

बन बन खेले बिन बनत न मोको नेकु, भनत जु गारी अनगनत लगावैगो ।
सुधि-बुधि मेरी गई, भई बड़ी चिंता मोहि, ल्याइबू ढूँढ़ि कहूँ चैन ढिग आवैगो ॥
भोग जे लगाये, मैं तो तनक न पाये, रिस वाकी जब जाये, तब मोहूँ कछु भावैगो ।
चले उठि धाये, नीठ-नीठ कै मनाय ल्याये, मंदिर में आय मिलि, कह्यौ गरें लावैगो ॥४१२॥

अर्थ—श्रीलालजी गुसाईंजीसे बोले—"देखिये, जब तक मैं हरएक वनमें खेल नहीं लेता, तब तक मेरा जी नहीं भरता है, लेकिन जाऊँ तो जाऊँ कैसे ? वह तो रास्तेमें बैठा हुआ मुझे गालियाँ दे रहा है (और उधर जाऊँगा, तो पिटे बिना नहीं रहूँगा)। मेरी तो बुद्धि काम नहीं देती—बड़ी चिन्तामें पड़ गया हूँ । जब तक आप उसे खोजकर साथ नहीं लावेंगे, तब तक मुझे चैन नहीं मिलेगा । देखिये, आपने मेरे भोगके लिये जो पदार्थ रक्खे हैं, उनमें से मैंने कुछ भी नहीं खाया है । उसका क्रोध जब शान्त होगा, तभी मुझे खाना-पीना अच्छा लगेगा ।"

यह सुनकर गोस्वामीजी दौड़े-दौड़े गये और बड़ी कठिनाईसे गोविन्द-सखाको खुशामद-बरामद कर लाये । गुसाईंजीने गोविन्दजीसे यह भी कहा—"तुम्हारे सखाने कहलवाया है कि 'अभी मैंने कुछ नहीं खाया है; तुम आजाओगे तभी दोनों एक-साथ बैठकर भोजन करेंगे और एक-दूसरेके गले लगेंगे ।'

(गोविन्द स्वामीके आनेके बाद कहीं लालजीने भोग लगाया ।)

भक्ति-रस-बोधिनी

गये हे बहिर भूमि, तहाँ कृष्ण आये झूमि, करी बड़ी धूम आक-बोड़िन सौं मारिकै ।
इनहूँ निहारि उठि मार दई वाही सौं जू, कौतुक अपार सख्य-भाव रस-सार कै ॥
माता मग चाहै, बड़ी बेर भई, आई तहाँ, "कहाँ बार लाई ?" ओट पाई उर धारि कै ।
आयौ यों बिचार अनुसार सदाचार कियौ, लियौ प्रेम गाढ़, कभूँ करत सँभारि कै ॥४१३॥

अर्थ—एक दिन गोविन्द स्वामीजी शौचके लिये बाहर जंगलमें गए हुए थे कि श्रीकृष्ण-चन्द्र झूमते-झूमते वहाँ आ पहुँचे और उनके आककी बौड़ियाँ मार-मार कर ऊधम खड़ा कर दिया । गोविन्द स्वामीने जब यह देखा, तो वे उठे और बौड़ियोंका जवाब बौड़ियोंसे देने लगे । इस खेलमें दोनोंको मित्रताका पूरा आनन्द आरहा था । किन्तु उधर गोविन्द स्वामीकी माताजी अपने पुत्रकी राह देख रही थीं । सोच रही थीं कि 'आज न-जाने कहाँ रह गया ?' अन्तमें वे वहीं पहुँचीं जहाँ दोनों मित्र खेल रहे थे । उन्हें देखते ही श्रीकृष्णचन्द्र छिप गए और गोविन्द-स्वामी भी उनकी ओटमें खड़े होगये । बादमें ढूँढ़-ढाँढ़ कर जब माताजी चली गईं, तब

गोविन्द स्वामीको होश आया कि खेल-ही-खेलमें वे शौचकी क्रिया करना तो भूल ही गये। तत्काल आपने उसको किया। इस प्रकार आपने अगाढ़ मैत्री-सुखका अनुभव किया—कभी सावधान रहकर और कभी सुध-बुध खोकर (जैसा कि इस प्रसंगमें दिखाया गया है)।

भक्ति-रस-बोधिनी

आवत हो भोग महा सुन्दर सुमन्दिर कों, रह्यौ मग बैठि, कही "आगे मोहि दीजियै।
भयौ कोप भार, थार डारि, जा पुकार करी, भरी न अनीति जात, सेवा यह लीजियै॥
बोलिकै सुनाई "अहो कहा मन आई?" तब बोलि कै बताई "अजू बात कान कीजियै।
पहिले जु खाय, बन मांझ उठि जाय, पाछे पाऊं कहाँ धाय," सुनि मति रस भीजियै॥४१४॥

अर्थ—एक दिन पुजारी लोग बड़े सुन्दर-सुन्दर भोग मन्दिरको ले जारहे थे। गोविन्द स्वामी, जो कि रास्तेमें ही बैठे थे, बोले—"इस भोगको पहले मुझे खानेको दो।" पुजारियोंने यह सुना, तो उनके गुस्सेका ठिकाना न रहा। उन्होंने भोगके थालको एक ओर पटका और पहुँचे गुसाईंजी के पास और ज़ोर-ज़ोरसे कहने लगे—"यह लीजिये अपनी सेवा; हमपर इस लड़के की अनीति अब नहीं देखी जाती।"

गुसाईंजीने लड़केको बुलाकर पूछा—"क्यों भाई, तेरे मनमें क्या है?" ये बोले—"सुनिये, बात यह है कि आपका यह लाला पहले खाकर वनको चला जाता है, मैं रह जाता हूँ पीछे। बताइए, मैं इसे कहाँ-कहाँ ढूँढ़ता फिरूँ?"

गुसाईंजीने यह सुना तो प्रेमसे गद्‌गद् होगये। (आपने तब यह प्रबन्ध कर दिया कि मन्दिरमें भोगका थाल जाते ही गोविन्द स्वामीजीको भी खानेको दे दिया जाय।)

विशेष-वृत्त—श्रीगोविन्द स्वामीका जन्म व्रजके निकट आँतरी ग्राममें सं० १५६२वि०में एक ब्राह्मण-घरमें हुआ था। उनके हृदयमें आरम्भसे ही भक्तिके बीज थे, अतः कुछ दिन तक गृहस्थ-धर्मका पालन कर उन्होंने वैराग्य ले लिया। महावनमें अब वे रहते थे और एक ऊँचे टीलेपर बैठकर कीर्तन किया करते। धीरे-धीरे उनकी प्रसिद्धि दूर-दूर तक फैल गई। स्वामीजी संगीतके आचार्य थे और उधर श्री-विट्ठलनाथजी संगीतके परम-प्रेमी। दोनोंका मिलन होना अनिवार्य था। सं० १५९२ वि० में गोविन्द स्वामीने गोकुलमें श्रीविट्ठलनाथसे ब्रह्म-संबन्ध ले लिया और गोवर्धनके निकट वृक्षोंकी एक सुन्दर वाटिकामें निवास करने लगे। यह स्थान आज भी 'गोविन्ददासकी कदम-खण्डी' नामसे प्रसिद्ध है।

श्रीगोविन्द स्वामी उत्कृष्ट कोटिके कवि थे। उनकी सहज-सुन्दर पदावलीसे प्रभावित होकर श्री-विट्ठलनाथजीने उन्हें 'कवीश्वर' की उपाधि द्वारा सम्मानित कर अष्टछापके कवियोंमें सम्मिलित किया था। कहते हैं, संगीत-सम्राट् तानसेन उनकी संगीत-माधुरीका आस्वादन करनेके लिए यदा-कदा उनके पास आते थे।

श्रीगोविन्द स्वामीकी कविताका एक नमूना यहाँ दिया जाता है। होलीका अवसर है। श्रीनन्द-नन्दन अपने ग्वाल-बालोंके साथ फाग खेलने निकले हैं। दरवाजेसे बाहर निकलकर उन्होंने ज्योंही

मुरली बजाई, त्योंही—

स्रवन सुनत सब ब्रज-बधू जहाँ-तहाँ ते चली हैं धाय ॥
बिबिधि भाँति बाजे सजे ताल मृदंग उपंग ।
रुंज मुरज डफ दुंदुभी कर कठताल सुरंग ॥

होलीका खेल आरम्भ हुआ। इधरसे पिचकारियाँ चल रही हैं, तो उधरसे कुंकुम और अबीरकी मुट्ठियाँ कस-कस कर मारी जा रही हैं। इसी समय क्या हुआ कि—

बहुरि सिमिटि ब्रज-सुन्दरी, मोहन लीने घेरि ।
एक जु मुरली लै भजी, एक कहैं देहु फेरि ॥
ललित बचन ललिता कहै, सुनि गोकुल के राय ।
तौ हम तुम कों छाड़हीं राधा कौं सिर नाय ॥

इस समय व्रजकी गोपियोंकी जो शोभा बनी थी उसका वर्णन करते हुए कवि कहता है—

अरुन नैन अति रस-मसे, अंजन खरे बिराज ।
जुगल कमल मुकुलित मनों, बैठे जुग अलि-राज ॥
मुख ऊपर लट लटकहीं, लागति परम सुदेस ।
मनो भुजंगिनि चहूँ दिसि, अमिय पियत राकेस ॥
लसति अलप कटि किंकनी, पिय संग करत बिहार ।
अति रसमयी ब्रजसुन्दरी, अंग न कछू सँभार ॥

श्रीगोविन्द स्वामीने सम्वत् १६४२ वि० में गोवर्धनकी एक कन्दराके निकट लीला-प्रवेश किया।

बालकरामजीकी टीकाके आधारपर ब्रह्मदासजी एवं पूर्णसिंहजीका चरित्र नीचे दिया जाता है—

श्रीब्रह्मदासजी—कविवर ब्रह्मदासजी भगवान श्रीकृष्णकी मधुर-लीलाओंका गान किया करते थे। एक बार कोई अभक्त कवि आपके पास आकर वाद-विवाद करने लगा। उसका कहना था कि जैसे अलंकार-छन्द-रस आपकी रचनाओंमें हैं, वैसे ही मेरीमें भी हैं; आप भी शृङ्गार-रसके कवि हैं और मैं भी। फिर आप अपनी रचनाओंको श्रेष्ठ क्यों बतलाते हैं? आपने नम्रतासे कहा—"मैं अपनी कृतियोंको श्रेष्ठ नहीं कहता; मेरा कहना तो यह है कि मेरी रचनाका विषय तुम्हारी रचनासे श्रेष्ठ है; क्योंकि तुम्हारी रचनामें उस मानवकी शृंगार-चेष्टाओंका वर्णन है जो क्षण-भंगुर है, अपूर्ण है, अस्थायी है और मेरी रचनाओंमें सच्चिदानन्द, अजर, अमर, पूर्ण, सर्वव्यापी और सर्व-शक्तिमान् रसिकवर श्रीयुगलकी ललित-केलिका वर्णन है, इसलिए मेरी कविता पूर्ण, अमर और श्रेष्ठ है।" यह सुनकर प्रतिवादी बोला—"यदि तुम्हारी रचनाएँ अमर हैं और हमारी नाशवान्, तो आओ, दोनों अपनी रचनाओंको अग्निके समर्पण करें। यदि दोनोंकी रचनाएँ जल गईं, तो आपको हार माननी पड़ेगी। रचनाएँ कागजपर लिखकर आगमें छोड़ी गईं। कौतुक-वश वहाँ कितने ही आदमी आकर इकट्ठे होगये थे। सबने देखा कि अभक्तकी रचना तो जलकर राख हो गयी, किन्तु भक्तकी रचना बची रही। यह चमत्कार देख अभक्त भी हठ छोड़ कर श्रीश्यामसुन्दरकी मनोहर लीलाओंका गान करने लगा। (भक्तदाम-गुण-चित्रनी, पत्र ३२१)

श्रीपूर्णसिंहजी—आप भगवानके परम भक्त थे। आपने श्रीकृष्णकी एक मनोहर प्रतिमा अपने घरमें विराजमान कर रक्खी थी और नित्य-प्रति उसीके सामने बैठकर श्रीयुगलकी ललित-लीलाओंको

कवित्त-बद्ध करके गाया करते थे। एक दिन किसी कार्य-वश आपको इस यशोगानका समय न मिल सका। इसका परिणाम यह हुआ कि रातको जब आप सोए तो भगवानने स्वप्नमें कहा—"तुम्हारे कवित्त हमें बड़े रुचते हैं; आज तुमने एक भी रचना नहीं सुनाई?" भगवानका ऐसा अनुरोध देखकर दूसरे दिन से आप नियमित रूपसे कवित्त-रचना करके प्रभुको सुनाने लगे।

एक बार फिर ऐसी ही घटना घट गई। राज-कार्यमें उलझे रहनेके कारण आपको कवित्त सुनानेका ध्यान नहीं रहा। बादमें जब आप दर्शन करने गए तो प्रतिमा ही न दिखाई दी। आपने पुजारी से पूछा—"प्रतिमा कहाँ गई, पुजारीजी?" वह बोला—"सिंहासनपर ही तो विराजमान है।" इस कौतुकको देखकर आपको अपनी चूकका ध्यान हो आया। तुरन्त आपने पद-रचना करके सुनाई और पहली प्रकारसे ही प्रभुके दर्शन प्राप्त किए। (भक्तदाम-गुण-चित्रनी, पत्र ३२२)

श्रीकेशवदासजी—आप सनाढ्य-ब्राह्मण कुल-भूषण श्रीकाशीनाथजीके पुत्र थे। आपका काल सम्वत् १६१२ से १६७४ तक माना जाता है। भगवानके परम भक्त होनेके साथ-साथ आप साहित्य-शास्त्रज्ञ और प्रसिद्ध कवि भी थे। ओड़छा-नरेश महाराज रामसिंहके भाई इन्द्रजीतके आप दरबारी कवि थे। आपका वहाँ बड़ा सम्मान होता था।

कहा जाता है, प्रारम्भमें श्रीकेशवदास साधारण-जन-गुण-गानमें ही अपनी कवित्व-शक्तिको व्यय किया करते थे। यद्यपि भक्तिकी भावना तो आपके हृदयमें आरम्भसे ही थी, तथापि आपका काव्य-स्रोत उधर प्रवाहित नहीं हुआ था। अन्तमें एक दिन स्वप्नमें आदि-कवि श्रीवाल्मीकिने आपको जन-काव्य सृजनके स्थानपर श्रीरामके यशोगान का आदेश दिया। इसी प्रेरणासे आपने प्रकाण्ड-पांडित्य और भक्तिसे परिपूर्ण 'राम-चन्द्रिका'में श्रीरामका यशोगान किया।

श्रीकेशवदासजी द्वारा रचित सात ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं—(१) कविप्रिया (अलंकारोंका विवेचन); (२) रसिक-प्रिया (रसका विवेचन), (३) राम-चन्द्रिका (श्रीरामका यशोगान), (४) वीरसिंहदेव चरित, (५) विज्ञान-गीता, (६) रतन-बावनी और (७) जहाँगीर-जस-चन्द्रिका।

श्रीकेशवदासजीकी सरस एवं चमत्कार-पूर्ण कविताका एक उदाहरण नीचे दिया जाता है। वनवासके समय श्रीसीताजीके मुखको देखकर ग्राम-वधुओंमें-से एकने उसे चन्द्रमाकी उपमा दी, दूसरीने कमल के समान सुन्दर बतलाया और तीसरी कहती है—

एकै कहैं अमल कमल मुख सीता जू को, एक कहैं चंद्र सम आनँदको कंद री।
होय जो कमल तौ रयनिमें न सकुचै री, चंद जौ तौ बासर न होइ दुति मंद री॥
बासर ही कमल, रजनि ही में चंद, मुख, बासरहू रजनि बिराजै जग-बंद री।
देखे मुख भावै अनदेखेई कमल चंद, तातें मुख मुखं, सखी! कमलौ न चंद री॥

श्रीआसकरनजी—इनका परिचय छप्पय संख्या-१७४ में देखिए।

श्रीलालजी—श्रीलालजी नामक दो भक्त कवि हुए हैं—एक आगरा जिलेके वैश्य-कवि जिनका रचना-काल—१६४३ है और दूसरे मथुरा जिलेके निवासी। सम्भव है, श्रीनाभाजीने दूसरे लालजीका नाम-निर्देश किया है और 'बरसानियाँ' इनका विशेषण दिया है। इनका रचना-काल १६१० है।

(देखिए, मिश्र-बन्धु-विनोद, प्र० भा०, पृष्ठ ३४४, ३६५)

———

मूल (छप्पय)

रघुनाथ, गोपीनाथ, रामभद्र, दासूस्वामी।
गुंजामाली चित उत्तम, बीठल, मरहठ निहकामी॥
जदुनंदन, रघुनाथ, रामानंद, गोबिंद, मुरली सोती।
हरिदास मिश्र, भगवान, मुकुंद, केसौ दंडौती॥
चतुरभुज, चतुर* बिस्नुदास, बैंनी, पद मो सिर धरौं।
जे बसे बसत मथुरा मंडल, ते दया दृष्टि मो पर करौं॥१०३॥

अर्थ—जो भक्त मथुरा-मण्डलमें निवास कर चुके हैं और जो आजकल निवास करते हैं, वे मुझपर दयाकी दृष्टि बनाये रहें और अपने चरण मेरे सिरपर रक्खें। इन २१ भक्तों की नामावली इस प्रकार है—(१) श्रीरघुनाथजी, (२) गोपीनाथजी, (३) रामभद्रजी, (४) दासू स्वामीजी, (५) उत्तम-चित्त वाले गुंजामालीजी, (६) बीठलजी, (७) निष्काम भक्त मरहठजी, (८) यदुनन्दनजी, (९) द्वितीय रघुनाथजी, (१०) भक्त रामानन्दजी, (११) गोविन्दजी, (१२) मुरलीधरजी, (१३) सोतीजी,(१४) हरिदास मिश्रजी, (१५) भगवानजी, (१६) मुकुन्दजी, (१७) केशव दंडवतीजी, (१८) चतुर्भुजजी, (१९) चतुर भक्तजी, (२०) विष्णुदासजी, (२१) बेनीजी।

(श्रीगुंजामालीजी और उनकी पुत्र-वधू)

भक्ति-रस-बोधिनी

कही नाभा स्वामी आप, गायौ मैं प्रताप संत बसे व्रज बसैं सो तो महिमा अपार है।
भये गुंजामाली, गुंजा हार धारि नाम परयौ, करयौ वास लाहौरमें, आगे सुनौ सार है॥
सुत-वधू विधवासों बोलि कै सुनायौ "लेहु धनपति गेहु श्रीगोपाल भरतार है।"
"देवौ प्रभु सेवा", माँगै नारि बारबार यहै डारे सब वारि पायँ, गनै जग छार है॥४१५॥

अर्थ—जो सन्त व्रजमें रहे और रहते हैं उनकी महिमाका गान श्रीनाभाजीने किया। वही मैं(टीकाकार) भी करता हूँ। 'गुंजामाली' नामके एक भक्त थे। वे लाहौरमें रहते थे। घुंघची (चिरमिटी) की माला पहिननेके कारण उनका नाम 'गुंजामाली' पड़ गया था। अब इससे आगेका वृत्तान्त सुनिये। उनकी एक विधवा पुत्र-वधू थी। आपने उससे कहा—"देखो, यह है तुम्हारे पतिका घर और धान। इन्हें लो और यह समझ लो कि यह गोपालजी ही तुम्हारे पति हैं—इन्हींको पति-रूपमें स्वीकार करो।" वधूके हृदयमें भक्तिके संस्कार पहले ही से थे। उसने आपसे बार-बार अनुरोध किया कि 'मुझे केवल गोपालजीकी सेवा सौंप दीजिये।' वह अपने प्रभुपर सब कुछ न्यौछावर करनेको तैयार थी, क्योंकि वह जानती थी कि सिवा प्रभुकी सेवाके संसारकी सब वस्तुएँ मिट्टीके समान व्यर्थ हैं।

---

*पाठान्तर—चरित्र

भक्ति-रस-बोधिनी

दई सेवा वाहि और घर धन लिया दियौ, लियौ ब्रजबास, वाकी प्रीति सुन लीजियै।
ठाकुर बिराजैं, तहाँ खेलैं सुत औरनि के, डारैं ईंटा खोहा, परची प्रभु पर लीजियै॥
दिये वे बिडारि, धरयौ भोग, पै न खात हरि, पूछी, कही वेई आवैं तब ही तौ जीजियै।
कह्यौ रिस भरि "धूरि नीकी, भोर डारैं भरि, खावौ" अब हाहाकरी पायौ, ल्याई रीझियै॥४१६॥

अर्थ—पुत्र-वधूकी भक्ति-भावसे भरी हुई ऐसी प्रार्थना सुनकर श्रीगुंजामालीजीने घर और धन तो अपनी स्त्रीको दे दिया और ठाकुर-सेवाका अधिकार उसे दे दिया। आप लाहौरसे वृन्दावन आकर रहने लगे। अब पुत्र-वधूकी प्रीतिकी बात सुनिये। जिस स्थानपर श्रीगोपाल ठाकुर विराजमान थे वहाँ और लोगोंके लड़के खेला करते थे और ईंट, धूल-मिट्टी आदि ठाकुरजीपर डाल देते थे। आपको आई गुस्सा और लड़कोंको डाँट-फटकार कर वहाँसे भगा दिया। इसके उपरान्त आपने भोग रक्खा, पर प्रभुने उसे ग्रहण नहीं किया। जब पूछा, तो बोले—"उन लड़कोंको तुमने भगा क्यों दिया? अब तो जब वे आवेंगे तभी प्रसन्नता-पूर्वक खाऊँगा, वरना नहीं।" पुत्र-वधू गुस्सेमें भरी हुई तो थी ही; बोली—"यदि आपको धूल ही अच्छी लगती है, तो सवेरे लड़कोंको बुलाकर चाहे जितनी आपपर डलवा दूँगी। अब तो खा लीजिये।" परन्तु जब प्रभुने इतनेपर भी नहीं खाया, तो वह गई और लड़कोंको बुला लाई। बहुतेरी खुशामद करवानेके बाद प्रभुने भोग लगाया।

श्रीभगवानजी—श्रीनाभाजीने इस नामके आठ भक्तोंका उल्लेख किया है। छप्पय-संख्या १५४ व १८८—ये दो स्वतन्त्र छप्पय तो दो 'भगवान' नामक भक्तोंके सम्बन्धमें हैं ही। इनके अतिरिक्त सुपथवाले (छ० १०६), राजवंशी (छ० ११७), श्रीअग्रजीके अनुग्रही (छ० १५०) और कील्ह-कृपा-पात्रोंमें परिगणित (छ० १५८)—इन चार भगवान भक्तोंका पृथक् विशेषणों द्वारा परिचय दिया है। छप्पय-संख्या १४६ में श्रीबोहिथदेव आदि भक्तोंके साथ जनभगवान* का स्मरण किया है। इन सात भक्त भगवानोंके अतिरिक्त एक भगवान वे हैं जिनका उल्लेख प्रियादासजीने 'अलि भगवान'‡ (कवित्त—३७६) एवं ध्रुवदासजीने 'अलिभगवान' (छ० ३२०) के नामसे किया है।

श्रीनाभाजीने यहाँ जिस भगवान भक्तका उल्लेख किया है वह श्रीध्रुवदासजीके २५७ वें छप्पयके अनुसार श्रीहरिव्यासदेवाचार्यजीके शिष्य थे। भारत-भ्रमणके समय आप अपने गुरुदेवके साथ थे। आपने कुछ रचनाएँ भी की हैं, किन्तु अभी तक आपकी कोई कृति उपलब्ध नहीं हो पाई है।

श्रीमुकुन्दजी (मुकुन्ददेवाचार्य)—श्रीनाभाजीने मुकुन्द नामके कई भक्तोंका उल्लेख किया है। प्रस्तुत छप्पयमें मथुरा-मण्डलमें बसनेवाले भक्तोंके साथ जिन मुकुन्दजीका स्मरण किया गया है वे श्री-

---

* मिश्रबन्धु विनोद—पृ० ११३ और २५० में जनभगवान और हितभगवानका उल्लेख करते हुए उनका समय १६२१ के लगभग माना है।

‡ मिश्रबन्धु विनोद—पृ० २०७ में अलि भगवानको हित-सम्प्रदायका माना है और उनका कविता-काल १५४० लिखा है, किन्तु यह युक्ति-संगत प्रतीत नहीं होता; क्योंकि उस समय तक तो हिताचार्यजीका भी प्रादुर्भाव नहीं हुआ था।

हरिव्यासदेवाचार्यके प्रधान बारह शिष्योंमें-से एक हैं। छप्पय-संख्या ९९ में भी शरणागतोंकी अभिलाषाओंको पूर्ण करनेवाले चिन्तामणिके सदृश भक्तोंकी गणनामें बाहुबलदेव, उद्धवघमण्डी, लाला आदि श्रीहरिव्यासदेवजीके प्रमुख शिष्योंके साथ श्रीनाभाजीने आपका नामोल्लेख किया है।*

श्रीमुकुन्ददेवाचार्यजीके इतिवृत्तके सम्बन्धमें अधिक जानकारी प्राप्त नहीं होती तथापि नाभाजी के वचनोंके अनुसार इतना तो निश्चित है कि श्रीहरिव्यासदेवाचार्यके प्रमुख शिष्योंमें आप बारहवें थे और निरन्तर व्रज-वृन्दावन-वासके प्रेमी थे। आपकी शाखा आगे चलकर 'मुकुन्ददेवजीका द्वारा' के नामसे प्रसिद्ध हुई। वृन्दावनस्थ 'टोपीवालीकुञ्ज' एवं 'वनविहार' आदि स्थान इस शाखाके विशिष्ट स्थल हैं।

श्रीकेशवजी—आपकी छाप 'दंडौती' पड़नेका कारण यह है कि आप नित्य-प्रति गिरिराज की 'दंडौती-परिक्रमा' किया करते थे। इसी परिक्रमामें आपको भगवानके दर्शन भी प्राप्त हुए। एक बार गोवर्द्धनकी परिक्रमा देते हुए जब आपको रात होगई तो भगवान एक हृष्ट-पुष्ट सन्तका वेश बनाकर आए और आपसे कहने लगे—"मैं भी तुम्हारे साथ परिक्रमा करूँगा।" आप बोले—"आइए, महाराज!" भगवानने कहा—"ऐसे नहीं, थोड़ी देर तुम ठहर जाओ, दोनों-जने साथ-साथ दण्डवत् करेंगे और साथ-ही साथ आगे बढ़ेंगे।" आप रुक गए और जब भगवानके साथ दण्डवत् करनेके लिए जमीनपर लेटे तो आपको पीठपर उठाकर वे बहुत दूर आगे छोड़ आए। इस व्यवहारसे आपका मन बड़ा दुःखी हुआ। जब आप लौटकर वापस आए तो भगवान भी साथ ही आ गए और पुनः साथ-साथ 'दण्डौती' लगाने लगे। इस बार फिर भगवान आपको हाथोंमें उठाकर ले भागे और पहलेसे भी दूर जाकर छोड़ा। अब तो आपके क्रोधका वार-पार ही न रहा और अनेक उलटी-सीधी गालियाँ सन्त-वेशधारी भगवान को सुना दीं। हल्ला-गुल्ला सुनकर कुछ राहगीर पास आगए और केशवजीसे इस प्रकार बड़बड़ानेका कारण पूछा। आपने सब साफ-साफ कह दिया। जब उन लोगोंने भगवानकी ओर देखा तो वे छिप गए और राहगीर आगे बढ़ गए। उनके कुछ दूर पहुँचते ही प्रभु फिर आगए। श्रीकेशवजीने इस बार उनसे कहा—"भैया! हम तुमसे क्या कह रहे हैं जो तुम हमें तंग कर रहे हो? तुम्हारे-जैसे व्यक्तिको ऐसा अन्याय नहीं करना चाहिए।" भगवान बोले—"अन्याय तुम कर रहे हो या मैं?" आपने पूछा—"मैं कैसे कर रहा हूँ?" भगवानने मुसकराकर कहा—"तुम कैसे नहीं कर रहे हो? यह वसुधा सूअरकी पत्नी है और तुम रातके समय इसका आलिङ्गन कर रहे हो।" "इसमें दोषकी क्या बात है? क्या माताकी गोदमें स्नेह-वश होकर पुत्र नहीं जाता?" भक्तने कहा। इस उत्तरको सुनकर प्रभु बड़े प्रसन्न हुए और अपने वास्तविक रूपमें आकर भक्तको दर्शन दिए। (भक्तदाम-गुण-चित्रनी, पत्र ३२२)

विशेष—श्रीकेशवजी विहानीके रहनेवाले थे, अतः इन्हें 'केशवदण्डौती' और 'केशव विहानी' दोनों नामोंसे पुकारते हैं। नाभाजीने १०० और १०१ संख्यावाले छप्पयोंमें भी आपका स्मरण किया है। इससे ज्ञात होता है कि आप स्थान-धारी एवं सन्तोंका सत्कार करने वाले भक्तोंमें अन्यतम थे।

* श्रीबालकरामने छप्पय—संख्या ९९ में आए मुकुन्दको प्रबोधानंदका पौता शिष्य माना है। प्रबोधानंद नाम के भी कई भक्त होगए हैं। वृन्दावन-शतककार श्रीप्रबोधानंदजीके अतिरिक्त एक प्रबोधानंदजी हरिव्यासदेवाचार्यजीके शिष्य भी होगए हैं। 'श्रीहरिव्यास-स्तव' आदि कुछ रचनाएँ भी उनकी प्राप्त होती हैं। सम्भवतः श्रीबालकरामजीने यहाँ श्रीकेशवकाश्मीरि के शिष्य श्रीप्रबोधानंदजीका ही उल्लेख किया है।

बद्रीनारायण, जगदीश, द्वारका आदि तीर्थोंकी आपने यात्राकी और मन्दिर भी बनवाए। जिस प्रकार आपके गुरु श्रीहरिव्यासदेवजीके साथ सहस्रों सन्त रहते थे और उनका सम्यक् आदर-सत्कार हुआ करता था उसी प्रकार आपने भी साधु-सेवामें ख्याति प्राप्त की थी।

श्रीवेनीजी—एक बार बीमार हो जानेपर आप प्रभुसे रुष्ट होकर बैठ गए। आपने खाना-पीना सब त्याग दिया। दूसरे लोग जब आपसे भोजन करनेके लिए कहते तो उनकी बातका कोई उत्तर न देकर आप हरिके भजनमें लग जाते और उसी आनन्दमें सुध-बुध खो बैठते। इस अनशनका प्रभाव भगवानपर अन्तमें हो ही गया। वे आए एक ब्राह्मणका वेश बनाकर और सन्तके शरीरका स्पर्श करके उसे नीरोग बना दिया। बादमें उन्होंने अपने हाथसे भक्तको भोजन कराया। इस बार न-जाने क्यों वेनीजी इन्कार न कर सके। वहाँ खड़े हुए लोगोंने देखा कि प्रभु भक्तके सामनेसे उसे भोजन कराकर तुरन्त अन्तर्धान हो गए। अब भगवानकी असीम कृपाका ज्ञान सब लोगोंको हुआ और भक्तके आनन्दका तो कोई वारपार ही न रहा। (भक्तदाम-गुण-चित्रनी, पत्र २२२)

मूल (छप्पय)

सीता, झाली, सुमति, सोभा, प्रभुता, उमा भटियानी।
गंगा, गौरा, कुँवरि, उबीठा, गोपाली, गनेसदे रानी॥
कला, लखा, कृतगढ़ौ, मानमती, सुचि सतभामा।
जमुना, कोली, रामा, मृगा देवादे भक्तन बिश्रामा॥
जुग जेवा,कीकी,कमला,देवकी,हीरा,हरिचेरी पोषे भगत।
कलिजुग जुवती जन भक्तराज महिमा सब जानैं जगत॥१०४॥

अर्थ—कलियुगमें ये २९ स्त्रियाँ भगवानकी भक्त हुईं। इनकी महिमा सारे संसारमें प्रसिद्ध है।

(१) श्रीसीतासहचरीजी, (२) झालीजी, (३) सुमतिजी, (४) शोभाजी, (५) प्रभुताजी, (६) उमा भटियानीजी, (७) गंगाजी, (८) गौराजी, (९) कुँवरीजी, (१०) उबीठाजी, (११) गोपालीजी, (१२) रानी गणेशदेईजी, (१३) कलाजी, (१४) लखाजी, (१५) कृतगढ़ौजी, (१६) मानमतीजी, (१७) सत्यभामाजी, (१८) यमुनाजी, (१९) कोलीजी, (२०) रामाजी, (२१) मृगाजी, (२२) दयाजी, (२३-२४) दोनों जेवाजी, (२५) कीकीजी, (२६) कमलाजी, (२७) देवकीजी, (२८) हीराजी और (२९) हरिचेरीजी।

श्रीबालकरामजीने इस छप्पयमें २७ भक्त माने हैं और झालीजी, शोभाजी, प्रभुताजी, उमा भटियानीजी, गौराजी, रानी गणेशदेईजी, कलाजी और पहली जेवाजी—इन आठ भक्तोंकी गाथाएँ दी हैं। श्रीरूपकलाजी २९ भक्त मानते हैं;

(गणेशदेई रानी)

भक्ति-रस-बोधिनी

'मधुकर साह' भूप भयौ 'ओड़छे' कौ, ताकी रानी सो 'गनेसदेई' काम बाँको कियौ है ।
आवैं बहु संत सेवा करत अनंत भाँति, रह्यौ एक साधु खान-पान सुख लियौ है ॥
निपट अकेली देखि बोल्यौ "धन-थैली कहाँ ?" "होय तौ बताऊँ सब तुम जानैं हियौ है" ।
मारी जाँघ छुरी लखि लोहू बेगि भागि गयौ, भयौ सोच, "जानैं जिनि राजा दंड दियौ है" ॥४१७॥

अर्थ—श्रीमधुकरसाहजी ओड़छाके राजा थे। इनकी भक्तिमती रानी गणेशदेईने भक्तिका एक बाँका (वीरतापूर्ण) कार्य किया। आपके यहाँ जितने सन्त आते थे उनकी अनेक प्रकारसे आप सेवा करती थीं। एक बार ऐसा हुआ कि कपट-वेष धारण किये एक साधुको वहाँ आदर-सत्कार और भोजन-वस्त्र आदिका सुख मिला, तो वहीं रह गया। एक दिन रानी जब अकेली ही थीं, वह (छुरी लेकर) उनके पास गया और बोला—"धनकी थैली कहाँ है ? इधर लाइये।" रानीने कहा—"मेरे पास थैली हो तो बताऊँ। आप तो मेरे हृदयकी यह बात जानते हैं कि मेरे पास जो कुछ आता है, सब साधुओंकी सेवामें लग जाता है।" साधुको रानीके कहनेका विश्वास नहीं हुआ और उसने रानीकी जाँघमें छुरी मार दी। जब जाँघमें-से खूनकी धार बहने लगी, तो वह डर कर भाग गया। अब रानीको यह चिन्ता हुई कि यदि राजाको इस घटनाका पता लग गया, तो वे साधुको दंड दिये बिना नहीं छोड़ेंगे।

भक्ति-रस-बोधिनी

बाँधि नीकी भाँति, पौढ़ि रही, कह्यौ काहू सों न, आयौ ढिग राजा 'मति आवौ, तिया धर्म है' ।
बीते दिन तीन आनी वेदन नवीन कछु, "कहियै प्रवीन मोसों खोलि सब मर्म है ॥"
टारी बार दोय-चारि, नृपके विचार परयौ, करयौ समाधान 'जिन आनौ जिय भर्म है ।'
फिरयौ आस-पास भूमि पर तन रास करौ, भक्तिको प्रभाव छाड़ि तिया पति सर्म है ॥४१८॥

अर्थ—जाँघके घावको अच्छी तरह बाँध कर रानी गणेशदेई पड़ रहीं। कुछ समय बाद जब राजा उनके पास गये, तो यह बहाना बनाकर उन्हें दूर रक्खा कि 'मुझे मासिक धर्म हुआ है।' तीन दिन बाद रानीको शुद्ध हुई समझ कर राजा फिर उनके पास गये, लेकिन उन्हें पड़े हुए देखा तो राजाने जान लिया कि अवश्य कोई न कोई तकलीफ है। तब राजाने कहा—"हे प्रवीण-प्रिये ! मुझे साफ-साफ हृदयके भीतरकी बात बताओ।" रानीने दो चार बार तो टालनेकी चेष्टा की, किन्तु राजा नहीं माना। तब आपको सच बात कहनी पड़ी। अन्तमें, राजाको समझाते हुए रानीने कहा—"इस घटनाके कारण अपने मनमें साधु-सन्तोंके प्रति अविश्वासकी भावना लाना ठीक नहीं होगा। (अपने किसी पूर्व जन्मके कर्मका ही यह फल मुझे मिला है; इसके लिये और कोई दोषी नहीं है।)

राजाने रानीकी यह क्षमा-शीलता देखी, तो वह उनकी भक्ति-भावनापर न्यौछावर हो गया

पहले तो उनकी परिक्रमा की और फिर पति-पत्नीका आपसी लिहाज (लज्जा) छोड़ कर उनके पैरोंमें गिरकर प्रणाम किया ।

(भक्तदाम-गुण-चित्रनीमें भी यह कथा इसी प्रकार वर्णित है ।)

अयोध्याकी घटना—बुंदेलखंडमें इस भक्ति-मती रानीके सम्बन्धकी एक वार्ता और प्रचलित है जिसे कि श्रीरूपकलाजीने अपनी टीकामें उद्धृत किया है । संक्षेपमें वह इस प्रकार है—

राजा मधुकरसाह और रानी गणेशदेई—दोनों एक दूसरेसे बढ़कर भक्त थे, परन्तु विचित्र बात यह है कि राजा श्रीकृष्णचन्द्रके उपासक थे जबकि रानीके इष्ट श्रीरामचन्द्रजी थे । रानी इसीलिये समय-समयपर अयोध्याजी जाया करती थीं और कुछ दिन तक वहाँ रहती थीं । एक बार वे आवश्यकतासे अधिक दिनों तक अयोध्यामें रह गईं । उन्हें बुलानेके लिये राजाने कई पत्र लिखे, परन्तु रानी नहीं गईं। आज-कल करते-करते काफी दिन निकल गए ।

राजा अन्तमें राजा ही होता है । क्रोधमें आकर उन्होंने रानीको लिख भेजा कि अब तो अपने प्रभुको साथ लेकर ही आना । रानीके आग लग गई, लेकिन प्रभुको साथ ले आना कोई सरल कार्य नहीं था । रानी सोचती—"प्रभुकी सेवामें तो एकसे एक उत्तम दासियाँ रहती हैं; वे मुझ अधमके साथ क्यों आने लगे ?" निराश होकर एक दिन वे सरयूके अगाध जलमें कूद पड़ीं, किन्तु भक्त-वत्सल श्रीरामचन्द्र ने उन्हें प्रवाहमें-से निकाल कर किनारेपर खड़ा कर दिया । रानीने देखा कि उसकी गोदमें प्रभुका एक मणि-विग्रह विराजमान है । अत्यन्त प्रसन्न होकर रानीने उस विग्रहको अपने निवास-स्थान पर प्रतिष्ठित किया और इस उपलक्ष्यमें महान् उत्सव किया । यह घटना रानीने अपने पतिदेवको भी सूचित कर दी ।

राजाने यह समाचार सुना, तो उनकी प्रसन्नताका ठिकाना न रहा । बहुत-सी फौज तथा सामान लेकर वे अयोध्या पहुँचे । बादमें दोनों उस विग्रहको बड़ी धूम-धामके साथ ओड़छा ले आये और वहाँ पधरा दिया ।

कहते हैं, बादमें कुछ अविश्वासी लोगोंने यह अफवाह फैला दी कि श्रीरामचन्द्रजीका यह विग्रह सरयूमें नहीं मिला, बल्कि रानी कहींसे उठा लाई है । इस अपवादका निराकरण करनेके लिये प्रभु एक दिन रानीसे बोले—"तुम्हें मेरी सेवामें खड़े-खड़े बहुत देर होगई है; अब बैठ जाओ ।"

रानीने कहा—"प्रभो ! यह कैसे हो सकता है कि आप खड़े रहें और मैं बैठ जाऊँ ?"

प्रभुने कहा—"हम बैठेंगे तो ऐसे बैठेंगे कि फिर खड़े होनेका नाम भी नहीं लेंगे ।"

रानीने कहा—"जैसी प्रभुकी इच्छा ।"

कहते हैं, इसपर श्रीरामचन्द्रजी वीरासन लगाकर बैठ गए । उक्त मूर्त्ति आज भी उसी प्रकार वीरासनमें देखी जा सकती है ।

रानी झाली—आपका विशेष परिचय छप्पय संख्या ५९ पृष्ठ ४११ में दिया जा चुका है । यहाँ केवल 'भक्तदाम-गुण-चित्रनी' (पत्र ३२४) के आधारपर उनके जीवनकी एक और चमत्कार-पूर्ण घटनाका उल्लेख किया जाता है—

सन्तोंमें अपार श्रद्धा रखनेवाली रानी झालीने सुना कि रैदासजीके एक शिष्य अनेक सन्तोंकी जमातके साथ नगरमें ठहरे हुए हैं । उसी समय आपके मनमें उनके दर्शनोंकी चटपटी लग गई । अपनी इस अभिलाषाको आपने जब राजासे कहा तो उसने कह दिया कि महलोंसे बाहर निकलनेकी कोई आवश्यकता नहीं । भक्तिमती रानीका दिल कसक उठा । वह अपने हृदयके भाव

को न रोक सकी और भगवानके चरणारविन्दोंका ध्यान करते हुए अकेली ही सन्त के दर्शनको जानेके लिए तैयार होगई। उधर राणाने प्रत्येक दरवाजेपर पहरेदार नियुक्त कर दिये थे और सबसे कह दिया था कि 'कोई भी व्यक्ति यहाँसे निकलने न पावे।' पर भगवानकी कुछ ऐसी कृपा हुई कि रानी झेलटके दरवाजोंसे निकलती चली गई और कोई भी पहरेदार आपको देख भी न पाया। उसी समय बाँदीने यह समाचार राजाको दिया कि 'रानी महलमें नहीं है।' राजाने सुना तो अचम्भेमें पड़ गया। साथ ही द्वार-पालोंके प्रति क्रोधके भावसे वह तिलमिला भी गया। तुरन्त ही पहरेदारोंके पास आकर उसने उन्हें डाटते हुए कहा—"रानी कैसे बाहर चली गई? क्या तुम लोग अन्धे हो?" सभी पहरेदार सिर झुकाए खड़े रहे, किसीका यह कहनेका भी साहस न हुआ कि हमने रानीको जाते हुए नहीं देखा है। अन्तमें राणाने फिर कहा—"अच्छा, जो हुआ सो हुआ, पर अब सावधान रहना; यदि इस बार रानी महलके अन्दर आगई तो तुम्हारी किसीकी खैर नहीं—सबका माथा कटवा दूंगा।"

राजा चला गया और पहरेदार विशेष चौकसीसे दरवाजोंपर घूमने लगे। रानी सन्त-दर्शन करने के उपरान्त पुनः भगवानका स्मरण करते हुए निर्भीकतासे अन्दर चली गईं और सकुशल महलोंमें जा पहुँचीं। राजाको इस समाचारका भी पता लगा। अब वह समझ गया कि रानीकी भक्ति सत्य है। वह महलमें गया और अपने दुर्व्यवहारके लिए रानीसे क्षमा माँगी, जब कि रानीको उसके दुर्व्यवहारका आभास भी नहीं था। अन्तमें दोनों सन्तोंमें परम श्रद्धा रखकर उनका यथासाध्य आदर-सत्कार करने लगे।

श्रीशोभाजी—परम-भक्तिमती श्रीशोभाजी अपने देवर एवं देवरानीके साथ रहा करती थीं। सन्त-सेवा ही आपका सर्वस्व था। एक बार आपका देवर कुछ जोड़ी कड़क (हाथमें पहिननेका आभूषण विशेष—कंकड़) आपके पास रखकर परदेश चला गया। आपकी देवरानीने उन्हें चुराकर छिपा लिया; क्योंकि आप देवरानीकी इच्छाके प्रतिकूल सन्त-सत्कार किया करती थीं। देवरने आकर जब 'कड़े' माँगे तो आप जहाँ रक्खे थे वहाँ खोजने लगीं और न मिलनेपर आपने देवरसे कह दिया कि 'मुझे नहीं पता, मैंने तो अमुक स्थानपर रक्खे थे।' देवरने अपनी पत्नीसे पूछा। वह बोली—"मुझे क्या सौंप गए थे? जिसे आपने दिए हों उससे लीजिए। रोज सन्तोंको बुला-बुलाकर जो पकवान खिलाए गए हैं वे क्या बिना पैसेके आ गए थे?" उसके पतिने आगे कुछ भी न कहा। किन्तु शोभाजीको यह सुनकर बड़ा कष्ट हुआ और भगवानसे इस मिथ्या-आरोपसे मुक्तिके लिए प्रार्थना करने लगीं। प्रभु-कृपासे अगले दिन सोकर जब आप उठीं तो खाटपर ही कड़े रक्खे हुए मिले। आपने उन्हें लाकर देवर को सौंप दिया। इस आश्चर्यको देखकर देवरानी शोभाजीके पास जाकर पूछने लगीं—"आपके पास कड़े कहाँसे आए?" उसने सच-सच बतला दिया। इसपर देवरानीने आपपर भगवानकी कृपा समझ कर चुराए हुए कड़ोंको लाकर भी आपके हाथमें रख दिया। शोभाजीने उन्हें लेकर देवरको सौंप दिया। इसी समय एक आश्चर्य और हुआ। भगवानके द्वारा दिए गए कड़े देवरके हाथसे अचानक गायब हो गए और उसके अपने कड़े ही उसके हाथमें रह गए। इससे सबकी समझमें आ गया कि श्रीशोभाजीपर भगवानकी असीम कृपा है और अपने भक्तके विरुद्ध आरोपका निवारण करनेके लिए उन्होंने यह लीला रची थी।

(भक्त-दाम-गुण-चित्रनी, पत्र ३२४)

श्रीप्रभुताजी—आप भक्त-प्रवर रैदासजीको धर्म-पत्नी थीं और उन्हींके समान भक्ति-रसमें निमग्न

रहती थीं । एक बार रैदासजीके यहाँ सन्त आ गए । उस समय घरमें एक मुट्ठी भी अनाज नहीं था । रैदासजीने प्रभूताजीके पास आकर कहा—"सन्त आए हुए हैं, कुछ सीधे-सामानका प्रबन्ध करो ।" श्रीप्रभूताजी कुछ देर तो सोचती रहीं । दूसरे ही क्षण उन्हें एक उपाय सूझा । वे तुरन्त अपनी सासजी के पास गईं और बोलीं—"मुझे कुछ समयके लिए कहीं बाहर जाना है, अतः तब तक के लिए अपना बनवरा (गलेमें पहननेका आभूषण) मुझे दे दीजिए ।" उनके आग्रहसे सासने दे तो दिया, किन्तु साथ ही साथ यह भी कह दिया कि 'अभी दे जाना ।'

श्रीप्रभूताजी आभूषण लेकर श्रीरैदासजीके पास दौड़ी आई और कहा—"जल्दीसे इसे बेचकर सन्तोंको भोजन करानेका प्रबन्ध कीजिए ।" रैदासजी बाजारसे सीधा-सामान लाए और रसोई तैयार कराकर सन्तोंको भोजन कराया ।

उसी समय सासजीने अपना आभूषण माँगा । श्रीप्रभूताजीने सब समाचार सच-सच कह सुनाया । इसपर सासजी बड़ी नाराज हुईं और उन्होंने इनको कोठेमें बन्द कर दिया । एक रात वे वहाँ बन्द रहीं । दूसरे दिन प्रातःकाल ही भगवान रैदासका वेश बनाकर आए और वैसा ही आभूषण देकर प्रभूताको मुक्त कराया । बादमें प्रभूताने अपने पतिसे पूछा—"कहाँसे मिल गया आपको आभूषण ?"

"कैसा आभूषण ?" रैदासजीने पूछा । उत्तरमें प्रभूताजीने सब बात कह सुनाई । रैदासजी बोले—"तब तो परम-कृपालु भगवानने ही तुम्हारे ऊपर कृपा की है ।" यह सुनकर श्रीप्रभूताजीको जो आनन्द हुआ उसकी कोई सीमा नहीं । (भक्त-दाम-गुण-चित्रनी, पद ३२५)

उमाभटियानीजी—आप सन्त-सेवा करनेमें बड़ी कुशल थीं । हरिकी भक्तिसे आपका हृदय हमेशा परिपूर्ण रहता था । एक समय आपकी अद्वितीय भक्ति-भावनाकी परीक्षा करनेके लिए भगवान किसी सन्तका वेश रखकर आये और उमाजीसे बोले—"बाईजी ! अपने गुरुका महोत्सव करनेके लिए हमें दो हजार रुपयेकी आवश्यकता है; किसी प्रकार प्रबन्ध कीजिए ।" उमाजीका हृदय प्रसन्नतासे नाच उठा । आपने समस्त आभूषणोंको बेच दिया और महोत्सवके लिए दो हजार रुपये सन्तको देते हुए बोलीं—"आनन्द-पूर्वक गुरुदेवका महोत्सव कीजिए ।"

सन्तजी रुपये लेकर चले गए, किन्तु दूसरे दिन एक चमत्कार यह हुआ कि जो आभूषण उमाजीने बेचे थे, वे उनके आँगनमें एक-एक करके बरस पड़े । आपको यह समझते देर न लगी कि यह सब भगवानकी कृपा और सन्त-सेवाका फल है ।

कुछ ही समयमें श्रीउमाजीके दानकी बात चारों ओर फैल गई । एक ढोंगीने इसे सुना तो सन्त-बाना धारण करके आपके यहाँ आकर आभूषण माँगने लगा । आपने देनेमें देर न की । आभूषण लेकर ढोंगी-सन्त नगरसे बाहर जाने लगा तो उसकी आँखोंका प्रकाश जाता रहा । भय-ग्रस्त हो वह उलटा लौट पड़ा, किन्तु नगरकी ओर जाते ही उसकी आँखें ठीक होगईं । उसने समझा कि भगवानकी यही अभिलाषा है कि मैं नगरसे बाहर न जाऊँ । फिर वह नगरमें ही एक स्थानपर रहने लगा । रातको जब वह सोया तो प्रभुने स्वप्नमें कहा—"क्यों रे, मूढ़ ! अब भी तेरा अज्ञान दूर न हुआ । मेरे भक्तके धनको सन्त ही खा सकते हैं, तुझ-जैसा ठग नहीं खा सकता । या तो सवेरा होते ही समस्त आभूषण उमाजी को जाकर लौटा दे, नहीं तो तेरा सर्वनाश कर दूँगा ।" सुबह होनेपर ढोंगी बहुत डरा और उमाजीको सब आभूषण लौटाकर पैरोंमें पड़ गया । उसने चमत्कारकी बात भी उमाको सुनाई । उमाजीने भगवान

की दयालुतामें विश्वास दिलाते हुए कहा—"भगवान तो दयाकी मूर्ति हैं, उनसे डरनेकी जरूरत नहीं, जरूरत है उनसे और उनके सन्तोंसे प्रेम करने की। आजसे प्रभुमें विश्वास रखते हुए सन्त-सेवामें लग जाओ, फिर तुम्हें किसी भी बातका भय नहीं होगा।" (भक्तदाम-गुण-चित्रनी, पत्र ३२६)

श्रीगौरा बाईजी—सन्त-सेवा और भगवत्-कथा-श्रवण ही आपकी दिनचर्या थी। आपके यहाँ दूर-दूरसे साधु-महात्मा पधारते और आप उनसे प्रार्थना करके सरस कथाओंका आनन्द प्राप्त करतीं। एक बार आपके यहाँ कुछ सन्त पधारे। श्रीगौराजीने उनका यथाशक्ति आदर-सत्कार किया। सत्सङ्गके समय एक सन्तने श्रीकृष्णकी बाल-केलिका वर्णन करते हुए कहा कि 'जो परब्रह्म परमात्मा योगिराज मुनीश्वरोंके ध्यानमें भी नहीं आता उसने यशोदाके यहाँ पुत्र-रूपमें अवतार लेकर उसका स्तन-पान किया और अनेक प्रकारकी सरस-लीलाओंसे उसे आनन्दित किया।' श्रीकृष्ण द्वारा यशोदाके स्तन-पान की बात सुनकर श्रीगौराजीका हृदय प्रेमसे भर गया और वे कहने लगीं—"अहा! वह यशोदा धन्य है जिसका स्तन-पान करके श्रीश्यामसुन्दरको तृप्ति होती थी।" सन्तोंने यह सुनकर कहा—"गौराजी, यशोदा धन्य नहीं, धन्य तो उसका प्रेम है। वैसा प्रेम यदि आपके मनमें है, तो श्रीश्यामसुन्दर आपके भी स्तन-पान कर सकते हैं।" गौराजीके मनमें श्रीकृष्णको स्तन-पान करानेकी इच्छा बलवती होगई।

भगवानने यह देखा तो सन्तका वेश बनाकर आप भी सत्संग में जा बैठे। कथा-समाप्तिपर सभी सन्तोंके साथ आपने गौराजीके हाथका भोजन किया और रातके समय उनसे बोले—"हमारी तो आज तेरे साथ सोनेकी इच्छा है।" गौराजी मनमें सोचने लगीं कि 'सन्त तो काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह आदि समस्त विकारोंसे दूर रहते हैं, फिर ये ऐसा कैसे कह रहे हैं? निश्चय ही ये मेरी परीक्षा ले रहे हैं।' आपने आनन्दित होकर कहा—"आज मैं धन्य हुई जो आपने ऐसा प्रस्ताव किया।" आपने सुन्दर सेज बिछाई और सन्तको अपने पास ही उसपर पौढ़ाया। सेजपर आते ही सन्त एक शिशुके रूपमें आकर श्रीगौराजीका स्तन-पान करने लगे। श्रीगौराजीके आश्चर्यका ठिकाना न रहा। वे शिशुको गोदमें लेकर बाहर सन्तोंके सामने आईं और सब घटना उनसे कही। उसी समय शिशु गोदसे गायब हो गया। सन्तोंको बड़ा आश्चर्य हुआ। वे गौराजीसे बोले—"तुम्हारी सच्ची प्रीति देखकर प्रभुने बाल-रूप में आकर तुम्हारी अभिलाषा पूरी की है।" (भक्तदाम-गुण-चित्रनी, पत्र ३२६)

श्रीकलाजी—आप सन्त-सेवा और गुरु-चरणारविन्दमें अटूट श्रद्धा रखती थीं। एक बार आपने सुना कि गुरुदेव पासके किसी ग्राममें ठहरे हुए हैं और उनका यहाँ भी पधारना होगा, तो आपका मन-मयूर आनन्दसे नाच उठा और लोचन गुरु-दर्शनके लिए ललचाने लगे। किन्तु हुआ ऐसा कि गुरुदेव श्री कलाजीके ग्राममें न जाकर अगले ग्रामको चले गये। यह समाचार पाते ही श्रीकलाजी स्तन-पान करते हुए शिशुको पालनेमें डालकर गुरुदेवके दर्शनोंको चल दीं। पाँच कोस तक दौड़नेके बाद गुरुजीके दर्शन हुए। इस समय तक रात होगई थी। वहाँसे अपने गाँवमें लौटना असम्भव देख कर श्रीकलाजी गुरुजी की जमातके साथ ही रातको रह गईं, किन्तु अचानक उस समय आपको अपने शिशुका ध्यान आगया और स्तनोंसे दूधकी धार निकलने लगी। आपका हृदय पुत्रके लिए बड़ा व्याकुल होने लगा। उसी समय आपने देखा कि कोई स्तन-पान कर रहा है। जब प्रकाशमें उसे पहिचाना तो मालूम पड़ा कि वह तो वही पुत्र था जिसे आप घर पर छोड़ आई थीं। इस घटनाकी चर्चा उसी समय सब जगह फैल गई। लोगों का मस्तक श्रद्धाके कारण भक्तिमती कलाजीके चरणोंमें झुक गया। (भक्तदाम-गुण-चित्रनी, पत्र १२८

श्रीजीवाबाई—श्री जीवाबाईका स्वयं तो भगवान एवं भगवद्-भक्तोंके प्रति अपार प्रेम था ही, साथ ही वे अन्य नारियोंको भी इसकी शिक्षा दिया करती थीं। आपका जन्म ब्राह्मण-परिवारमें हुआ था, किन्तु अब आपकी जाति 'भक्त' हो गई थी। एक बार आपके एक पुत्रको शीतला निकल आई। पतिदेवने कहा—"शीतला (माता) की पूजा आजसे ही करना शुरू कर दो, तभी बच्चेकी जान बच सकती है।" आपने कहा—"कर्त्ता-धर्त्ता तो सबका भगवान है, जो वह चाहेगा वही होगा। इन देवी-देवताओं के सामने रोने झींकनेसे क्या लाभ ?" इसपर पति-महानुभाव बिगड़ कर बोले—"अच्छा, देखना है तेरा भगवान; यदि बच्चा मर गया तो साथमें तुझे भी जला दूँगा।" श्रीजीवाजी मौन होगईं। उन्हें अपने भगवानपर पूरा विश्वास था, अतः देवीकी पूजा करना उन्होंने स्वीकार न किया। उधर बीमारी दिन-प्रतिदिन बढ़ती चली गई और बच्चा मर गया। इसपर पतिने खरी-खोटी सब तरहकी सुनाईं। श्रीजीवाजी इन सबको भगवानकी कृपा समझ कर धैर्य-पूर्वक सहन कर गईं और मृत पुत्रको गोदमें लेकर चितापर जा बैठीं। इस समय पति एवं दूसरे लोगोंने आपसे ऐसा न करनेका आग्रह किया, किन्तु वे न मानीं। इस दृढ़ताको देखकर भगवान बड़े प्रसन्न हुए और जीवाजीकी गोदका शिशु जीवित हो गया। भगवानमें विश्वास होना चाहिए, फिर व्यक्तिको किसी प्रकारकी चिन्ता करनेकी आवश्यकता नहीं—उसका समस्त भार भगवान अपने ऊपर ले लेते हैं। (भक्तदाम-गुण-चित्रनी, पत्र ३२८)

श्रीसीता-सहचरीजी—ये श्रीपीपाजीकी धर्म-पत्नी थीं। इनका चरित्र पीपाजीके साथ पृष्ठ ४२६ पर दिया गया है।

श्रीगंगाजी एवं यमुनाजी—सोलहवीं शताब्दीमें जब चारों ओर यवनोंका आतंक छाया हुआ था और उनके द्वारा अनेक प्रकारके अत्याचार हो रहे थे, तब एक मुसल्मान सरदारने कामवनपर आक्रमण कर के आस-पासके गावोंको लूटना आरम्भ कर दिया। वहींसे गंगा-यमुना नामकी दो कन्याएँ भागकर पास के जंगलमें जा छिपीं। कुछ दिनके पश्चात् मनोहर नामक मथुरा-निवासी किसी ब्राह्मणने इन्हें देखा और घर लिवा लाया। वह इन्हें नाच-गानकी शिक्षा देने लगा। अब वह इन्हें जगह-जगह नचाकर इनसे पैसा भी पैदा करने लगा। गंगा-यमुना अत्यन्त सुन्दरी कन्याएँ थीं, अतः मनोहरदास इनसे अधिक-से-अधिक लाभ प्राप्त करना चाहता था। उसने आगरेके किसी राजा मानसिंहसे दो हजार रुपये पेशगी लेकर इनका सौदा कर लिया, किन्तु अपने पापके कारण उसी रात वह मर गया।

वृन्दावनके एक वृद्ध सन्त श्रीपरमानन्ददासजी इन कन्याओंसे गायन सुननेको प्रायः आया करते थे। मनोहरदासके मरने पर दोनों कन्याएँ उन्हींके पास आगईं। अब उन्हें नाच-गान द्वारा पैसा कमाने से विरक्ति होगई थी और वे भगवद्भक्तिमें स्वाभाविक मन लगाने लगी थीं। वैष्णवी दीक्षाके लिये आग्रह करने पर श्रीपरमानन्ददासजीने इन्हें गोस्वामी श्रीहितहरिवंशजीके शरणापन्न करा दिया। वैष्णवी दीक्षा के बाद गंगा-यमुना दोनों श्रीठाकुरजीकी सेवा, नाम-जप और भजन - पाठ आदि बड़ी प्रीतिसे करने लगीं। इनके पास मनोहरदासकी कुछ पूंजी भी थी, उसे ये सन्त-सेवामें लगाने लगीं।

कुछ समय उपरान्त एक दिन रातको मथुराके तत्कालीन हाकिम अजीजबेगने कन्याओंके रूप और यौवनपर आसक्त होकर उनकी कुटियाके चारों ओर घेरा डाल दिया। जब अजीज कुटियाके अन्दर जाने लगा, तो उसने देखा कि एक सिंहनी द्वारपर खड़ी हुई उसकी ओर देखकर गुर्रा रही है।

यह देख डरके मारे वह मथुरा भाग गया। उस रात वह किसी भी प्रकार अपने हृदयके भयको दूर न कर सका।

गंगा-यमुनाको इस घटनाका कोई पता ही नहीं था। दूसरे दिन जिस समय वे अन्य सन्तोंके साथ बैठकर भगवानका कीर्तन कर रहीं थीं, अजीमबेग वहाँ उपस्थित हुआ और 'माँ' कह कर दोनों कन्याओंको सम्बोधित करनेके बाद उसने रातकी समस्त घटना कही एवं अपने अपराधके लिए क्षमा माँगी। अजीजने भेंटके रूपमें अपार धन भी दिया, किन्तु इन देवियोंने उसे नहीं स्वीकार किया।

इन दोनों भक्तिमती बहिनोंके सम्बन्धमें श्रीगोविन्द अलीजीने अपनी भक्तमाल में लिखा है—

हीनकुली वपु धार सार हितजू ते पायौ। जैसे पारस परस लोह ते हेम कहायौ॥
दास मनोहर वास गृह परमानँद के संग। कुंजमहल में प्रगट ह्वै गावत तान तरंग॥
इह विधि जुगल रिझाय कैं बसी विपिन में आइ। गंगा-जमुना की कथा सुनहु रसिक चित लाइ॥

मूल—(छप्पय)

नरवाहन, वाहन बरीस, जापू, जैमल, बीदावत।
जयंत, धारा, रूपा, अनुभई, उदारावत॥
गंभीरे अर्जुन, जनार्दन गोबिंद, जीता।
दामोदर साँपिले, गदा, ईश्वर, हेमबिदीता॥
मयानंद, महिमा अनंत गुढ़ीले तुलसीदास।
हरि के संमत जे भगत ते दासनि के दास॥१०५॥

अर्थ—भगवानके अनुकूल निम्नलिखित जो भक्त हैं, मैं उनके दासोंका दास हूँ।

(१) श्रीनरवाहनजी, (२) जापूजी, (३) जयमलजी, बिदावत, (४) जयन्तजी, (५) धाराजी, (६) रूपाजी, (७) अनुभवीजी, (८) उदारावतजी, (९) गंभीरे अर्जुनजी, (१०) जनार्दनजी, (११) गोविन्दजी, (१२) जीताजी, (१३) सांपिल्ले-निवासी दामोदरजी, (१४) गदाभक्तजी, (१५) ईश्वरजी, (१६) हेमबिदीताजी, (१७) मयानन्दजी और (१८) गुढ़ीलेके निवासी तुलसीदासजी (द्वितीय)।

बालकरामजीने ये १८ भक्त माने हैं, रूपकलाजीने २२, वालवालजी और प्रियादासजीने भी संख्या में अन्तर माना है।

(श्रीनरवाहनजी)

भक्ति-रस-बोधिनी

रहैं भौगाँव नाँव, नरवाहन साधु-सेवी, लूटि नई नाव जाकी, बंदीखानें दियौ है।
लौंड़ी आवै वैन कछू खायवे को, आई दया, अति अकुलाई, लै उपाय बहु कियौ है॥
बोलो 'राधावल्लभ' औ सेवौ 'हरिबंस' नाम, पूछैं 'सिष्य' नाम कहौ, पूछौ नाम लियौ है।
बई-मेंगवाय वस्तु राखि यों दुराय बात आय दास भयौ कही रीझि पद दियौ है॥४१६॥

अर्थ—श्रीनरवाहनजी भौगाँवके रहनेवाले और सन्तोंके सेवक थे। ब्रजके जमींदार होने के अतिरिक्त आप लूटमार भी करते थे। एक बार आपने नावमें माल भरकर ले जाते हुए किसी साहूकारका सारा धन लूट कर उसे बन्दीगृहमें डाल दिया। एक दासी उस सेठको नित्य-प्रति खाना देने जेलखानेमें जाया करती थी। सेठकी दुर्दशा देखकर उसे तरस आया और व्याकुल होकर उसने सेठसे कहा कि तुम ऊँचे स्वरसे 'श्रीराधावल्लभ श्रीहरिवंश' नामका उच्चारण करना और पूछने पर कहना कि 'मैं श्रीहितहरिवंशजीका शिष्य हूँ।' सेठने वैसा ही किया। नरवाहनजीने तब उसका सब द्रव्य लौटा दिया और कहा कि गोस्वामीजीसे यह सब वृत्तान्त मत कहना।

घर आकर सेठने पहिला काम यह किया कि शीघ्र ही वह श्रीहितहरिवंशजीका शिष्य होगया और उनसे कह दिया कि "मैं झूठ ही आपका शिष्य बन कर छूट आया हूँ।" सुनकर श्रीहित-प्रभु बड़े प्रसन्न हुए। श्रीनरवाहनजीकी भक्तिको अमर करनेके लिये महाप्रभुजीने 'चतुरासी' के दो पदोंमें 'नरवाहन' की छाप दी है।

पदोंके प्रारम्भिक और अन्तिम चरण इस प्रकार हैं—

मंजुल कल कुंज देस राधा हरि बिसद बेस, राका नभ कुमुदचंद सरद जामिनी।

× × ×

नरवाहन प्रभु सुकेलि बहुबिधि भर भरत झेलि, रति रस रूप नदी जगत पावनी ॥१॥

चलहु राधिके सुजान, तेरे हित सुख निधान रास रच्यो स्याम तट कलिंदनंदिनी।

× × ×

नरवाहन प्रभु निहारि लोचन भरि घोष नारि नखसिख सौंदर्य काम दुख निकंदिनी।
बिलसो भुजग्रीव मेलि भामिनि सुखसिंधु झेलि, नव निकुंज स्याम केलि जगत बंदिनी ॥२॥

श्रीबापूजी—आप भगवानके परम भक्त थे और विभिन्न प्रकारके उत्सव करके साधु-सन्तोंको भोजन कराया करते थे। इसके लिए जब धनकी आवश्यकता होती तो आप राहजनी करने निकल जाते और पथिकोंको लूटकर फिर भंडारा करते। आपका यही क्रम बहुत दिनों तक बराबर चलता रहा।

एक बार आपने देखा कि एक सुनार बहुत-सा धन बाँधकर रास्तेमें जा रहा है। उसे देख आप आनन्दसे प्रसन्न हो उठे और उसका सब द्रव्य छीन लिया। घर आते ही आपने सन्तोंको बुलाया और महोत्सव होने लगा। सुनार धन छिन जानेके उपरान्त आपका पीछा करता हुआ आश्रमपर ही आ गया और आपसे वाद-विवाद करने लगा। झगड़ा बढ़ जानेपर राज-पुरुष दोनोंको पकड़कर दरबार में लेगए और राजाने दोनोंसे झगड़ेका कारण पूछा। जब उसकी समझमें किसीकी भी बात ठीक न जँची तो उसने दोनोंको कारागारमें डाल दिया। श्रीबापूजीको अपनी तो कोई चिन्ता नहीं थी, पर सन्त-सेवा में विघ्न पड़ जानेके कारण उनका हृदय विदीर्ण होने लगा। इसी व्याकुलतामें दिन छिप गया। उधर रातको जब राजा सोया तो भगवानने स्वप्नमें उससे कहा—"क्यों रे राजा! तूने बिना अपराधके मेरे

परम-भक्त जापूको क्यों बन्दी बना रक्खा है ? उसे सवेरा होते ही मुक्त नहीं किया तो तेरा कल्याण नहीं।"

प्रातःकाल होते ही राजाने श्रीजापूजीको मुक्त कर दिया। आप बोले—"सुनारको भी छोड़ दो।" राजा इसके लिए राजी न हुआ। जापूजीने बिना सुनारके अकेले मुक्त होना अस्वीकृत कर दिया। रातको उस दिन राजा जब सोया तो भगवानने स्वप्नमें कहा—'क्योंरे, नीच ! तूने भक्त-जापूको नहीं छोड़ा ?" अब सवेरा होते ही उसे छोड़ दे और जैसा वह कहे वैसा ही कर।"

प्रातःकाल होने पर राजा बहुत डरा। उसने जापूजीको सम्मान-पूर्वक सुनारके साथ विदा कर दिया।

रातको जब जापूजी सोये तो भगवानने कहा—"अब तुम किसी भी राहगीरको मत सताया करो। मैंने तुम्हारे लिए अमुक स्थानपर धन गाड़ दिया है; उसे खोदकर निकाल लो और उसीसे सन्त-सेवा करो।"

आप भगवानकी आज्ञा मान गए और उनके द्वारा बतलाए गये धनको निकालकर उसीसे सन्त-सेवा करने लगे। (भक्तदाम-गुण-चित्रनी, पत्र ३२६)

श्रीअर्जुनजी—सन्त-सेवा करनेके लिए एक बार श्रीअर्जुनजी एक भैंस लाए। उसके दूधसे सन्तों का आदर-सत्कार होने लगा। कुछ समय बाद उस भैंसको कोई चुरा ले गया। इसपर आप भगवानसे रूठकर जंगलमें जा बैठे और बोले—"मेरी भैंसको तुम्हींने खोया है, अब तुम्हीं लाकर दो।" भगवान श्रीअर्जुनका वेश बनाकर आए और घरमें भैंस बाँध गए। कुछ समय बाद परिवारके किसी व्यक्तिने आपको जंगलमें देखकर पूछा—"क्यों जी ! भैंस कहाँ मिली ?" आप बोले—"मिल गई क्या ?" उसने कहा—"हाँ"। आपने पूछा—"कौन लाया ?" उसने कहा—"आप ही तो लाए थे।"

श्रीअर्जुनजी समझ गए कि भगवानने अपना काम कर दिया।

(भक्तदाम-गुण-चित्रनी, पत्र ३२६)

श्रीरूपाजी—श्रीरूपाजीका पूरा नाम रूपरसिकदेवाचार्य था। आप दाक्षिणात्य ब्राह्मण थे। श्रीहरिव्यासदेवाचार्यका प्रभाव सुनकर आप अपने देशसे मथुरा-वृन्दावनके लिये चल दिये; किन्तु आपके मथुरा पहुँचनेसे पूर्व ही श्रीहरिव्यासदेवाचार्य लीला-संवरण कर चुके थे। यह समाचार पाकर आप बड़े खिन्न हुए और प्राण त्यागनेका निश्चय करके यमुना-तटपर जा बैठे। आपकी ऐसी श्रद्धा देखकर परम सन्तुष्ट हो श्रीहरिव्यासदेवाचार्यने दर्शन दिये और मंत्रोपदेशदेकर "महावाणी" के अनुशीलन करने की आज्ञा दी। तदनुसार आप आजीवन महावाणीकी साधनामें संलग्न रहे। ब्रज-मण्डलमें निरन्तर निवास करते हुए आपने अपने गुरुदेवकी महिमाको प्रकाशित करनेवाला 'हरिव्यास-यशामृत' ग्रन्थ लिखा। इसके पश्चात् 'बृहदुत्सवमणिमाल' और 'नित्यविहार-पदावलीकी' रचना की। 'लीलाविंशति' आपकी सबसे अन्तिम रचना मानी जाती है, जो वि० सम्वत् १५८७ में पूर्ण हुई थी। आपने 'कृपा-कल्पतरु' नामका एक ग्रन्थ और भी रचा, किन्तु वह अभी तक प्राप्त नहीं हुआ है। श्रीनाभाजीने आदर्श हरि-गुरु-भक्तोंमें आपकी गणना की है।

श्रीदामोदरजी—श्रीनाभास्वामीजीने प्रस्तुत छप्पय १०५ के अतिरिक्त १०० और १४७ वें छप्पयोंमें भी श्रीदामोदरजीका नामोल्लेख किया है। इन छप्पयोंके मननसे ज्ञात होता है कि श्रीदामोदरजी किसी विशिष्ट स्थानके संस्थापक, दृढ़-प्रतिज्ञ, भक्तोंका पालन करनेवाले, संसारसे निवृत्त एवं अत्यन्त

ही विनम्र भक्त थे। उनका शोध-द्वारा प्राप्त जीवन-परिचय निम्न प्रकार से है—

किशनगढ़ (राजस्थान) से पूर्व दिशामें कुछ मील दूरपर स्थित 'काचरिया' नामक ग्राममें १५वीं शताब्दीमें मुद्‌गल-गोत्रीय, यमदग्नि-शाखा-पंच प्रवर वाले पं० श्रीकेशवानन्दजी खण्डेलवाल नामके एक ब्राह्मण रहते थे। निरन्तर युगलकिशोरकी उपासनामें लगे रहनेवाले इन ब्राह्मणके घर ही श्रीदामोदरजी का जन्म हुआ था। वे अन्य बालकोंके समान साधारण खेलोंमें अपना समय न लगाकर माता-पिताके अनुसार भगवानकी सेवा-वन्दनामें ही लगे रहा करते थे। उनकी ऐसी प्रवृत्ति देखकर गाँवके समस्त नर-नारी चकित रहते थे।

बड़े होनेपर श्रीदामोदरदासजीको सुयोग्य गुरुसे दीक्षा लेकर श्रीश्यामसुन्दरकी उपासना-पद्धति जाननेकी उत्कट लालसा उत्पन्न हुई। इसके लिए वे हमेशा चिन्तित रहते थे। माता-पिता इस चिन्ता का रहस्य न समझ सके। उन्होंने विवाह-योग्य अवस्था देखकर श्रीदामोदरजीकी शादी एक कुलीन एवं सुशील कन्यासे कर दी। इससे उनकी प्रवृत्तिमें कोई रुकावट न आई। संसारसे धीरे-धीरे पूर्ण वैराग्य होगया। उनकी धर्म-परायणा पत्नी भी पतिकी इस कल्याणकारिणी प्रवृत्तिमें सहयोगिनी हुई।

उन्हीं दिनों एक बार श्रीदामोदरजी स्नानके लिए पुष्करराज गए। वहाँपर श्रीनिम्बार्क-सम्प्रदाय के एक महान् सन्त श्रीहरिव्यासजी* भी अपने शिष्य श्रीपुष्करदासजीके साथ विराज रहे थे। दामोदरजी इनके दर्शनसे बहुत प्रभावित हुए और चरणोंमें गिरकर दीक्षाके लिए प्रार्थना की। श्रीहरिव्यासदेवजीने उनको मन्त्रोपदेश देकर उपासना-पद्धति बतलाई। तदुपरान्त वे गुरुदेवकी आज्ञासे पुनः घर लौट आए और कुछ काल वहीं रहे। श्रीदामोदरजीके पुत्र और पुत्री—दो सन्तान हुईं। समय आनेपर उन्होंने पुत्रीका विवाह वृषभानुपुर (सांपला) निवासी एक ब्राह्मण-कुमारसे कर दिया और इसके बाद वे पूर्ण विरक्त हो गए।

दैवयोगसे थोड़े ही दिनोंके पश्चात् श्रीदामोदरजीके पुत्र एवं पत्नीका देहान्त होगया। उस समय आप एकान्तमें बैठकर भजन कर रहे थे। परिवारवालोंने इस दुखद घटनाको उन्हें जा सुनाया, किन्तु इससे वे जरा भी विचलित नहीं हुए। इस विषयको लेकर पूरे गाँवमें उनकी चर्चा होने लगी। अन्तमें 'काचरिया' गाँवसे भी उन्हें वैराग्य होगया और वे वृषभानुपुर (सांपला) आगए और भक्तों द्वारा बनवाई गई पर्णशालामें निवास करने लगे। इस स्थानपर रहकर वे भगवानके भजन और सत्सङ्गमें व्यस्त रहते थे। उनके सत्सङ्गियोंमें श्रीरतनसिंहजी रैरया, सूरतरामजी सोनी (माहेश्वरी वैश्य), हरकाजी, लाखाजी जाट, (बटाला) श्रीचाँदकुँवर, श्रीअहिल्याबाई, श्रीसुभद्राबाई और श्रीगोमती कुँवरि आदिके नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

द्वारकापुरीकी यात्रामें अधिक रुचि होनेके कारण श्रीदामोदरजी प्रायः सांपलेसे वहाँ जाया करते थे। एक बार सांपलाके प्रेमी भक्तोंने उनके द्वारकापुरी जानेके समय वियोगसे संतप्त होकर कहा— "स्वामीजी! यदि द्वारकानाथ आपकी इसी कुटियामें विराजमान होते तो कितना अच्छा होता!"

भगवानकी प्रेरणासे ग्राम-निवासियोंकी बात उनके मनमें बैठ गई। उन्होंने अन्न-जल त्यागकर

* पं० श्रीराधागोविन्दशरण उपाध्यायके मतमें 'हरिदास' नाम दिया है और यह घटना सम्वत् १५७६ के पूर्वकी बतलाई है। इस सम्बन्धमें बहुत खोजबीनकी आवश्यकता है।

कठोर-व्रत धारण कर लिया और तुलसीके गमले दोनों हाथोंमें लेकर द्वारकाकी ओर चल दिए। उसी दशामें वे गोमती-नदीके किनारे जा पहुँचे। उस स्थानपर श्रीबलराम (केशवराय) सहित प्रभुके प्रत्यक्ष दर्शन करके आपकी समस्त थकावट दूर होगई, पर आन्तरिक चिन्ता अभी दूर नहीं हुई थी। वे मन ही मन भगवान् से यही प्रार्थना कर रहे थे—"आप वृषभानुपुर पधारें और वहीं विराजकर भक्तोंको दर्शन देते रहें।" इसी चिन्तामें कुछ क्षणके लिए आँख लगनेपर प्रभुने आपको स्वप्न दिया और कहा—"तुम्हारा मनोरथ पूर्ण होगा।" उसी समय भगवानने अपनी योगमायाके द्वारा उनको वृषभानुपुर भी पहुँचा दिया।

प्रातःकाल होनेपर अपने मनोरथको अपूर्ण देख उनका चित्त बड़ा बेचैन हुआ और वे फाँसी लगा कर मरनेको तैयार होगए। उसी समय श्रीनारदजीने उपस्थित होकर उनको बताया—"भक्तवर! तुम्हारी मनोकामना पूर्ण करनेके लिए भगवान स्वयं पधार रहे हैं; तुम धैर्य धारण करो। देखो, अभी कुछ दिन बाद लाखा बनजारेकी 'बालद' इधरसे गुजरेगी और इस स्थानपर आकर उसके एक बैलकी पीठ से गेहूँका बोरा अपने आप जमीनपर गिर जावेगा। उसमें एक गोपालजीकी प्रतिमा होगी। तुम उसे बोरेमें-से निकालकर अपने यहाँ विराजमान कर लेना।"

श्रीनारदजीके चले जानेपर श्रीदामोदरजीने प्रभुका यह सन्देश अन्य लोगोंको सुनाया, किन्तु भगवानके प्रति वैसा अनुराग न होनेके कारण उन्हें इस बातमें विश्वास ही न हुआ।

श्रीनारदके कथनानुसार मार्गशीर्ष कृ० ६ को श्रीदामोदरजी 'बालद' के आनेकी प्रतीक्षा सुबहसे ही कर रहे थे। और भी बहुतसे नर-नारी वहाँ उपस्थित थे। ठीक समयपर 'बालद' आई, बोरा गिरा और बनजारा जब उसे उठाकर बैलकी पीठपर दोबारा रखने लगा तो, श्रीदामोदरजीने बोरा जा पकड़ा और बोले—"मुझे अपने ठाकुरजी तो निकाल लेने दो।"

बनजारेने सुना और आश्चर्यसे श्रीदामोदरजीकी ओर देखने लगा। उन्होंने पलक मारते गेहूँका बोरा खोल डाला। उसी समय चारों ओर एक दिव्य प्रकाश फैल गया। श्रीयुगलकिशोर एवं बलरामजी के दर्शन करके एकत्र जनताके हृदयका आनन्द जयकारोंके रूपमें उमड़ पड़ा। प्रतिमाएँ दामोदरदासजी ने अपनी कुटियामें विराजमान कीं। दो वर्षके बाद उसी लाखा बनजारेने एक भव्य मन्दिर बनवाया और उसमें प्रभुकी प्रतिष्ठा कराई।ॐ भक्तजन प्रेमसे श्रीगोपालजीकी पूजा करने लगे। बनजारोंने प्रति बोरा एक पाव वस्तु ठाकुरजीकी सेवाके लिए देना प्रारम्भ कर दिया जो आज तक चालू है।

साँपलेमें प्रतिवर्ष भाद्रपद शु० ११ को जल-यात्राकी सवारी निकाली जाती है। इसमें हजारों नर-नारियाँ दर्शन करनेको आते हैं। उत्सवमें एक चमत्कार-पूर्ण दृश्य यह देखा जाता है कि उस अपार जन-समुदाय को चीरती हुई एक गाय आती है और गोपालजीके विमानके नीचेसे निकल जाती है इस गायके रंगोंके आधारपर ही वर्ष-भरका भविष्य आँका जाता है। यदि गायका रंग सफेद, पीला या लाल हुआ तो वर्ष श्रेष्ठ, और काला या नीला हुआ तो मध्यम माना जाता है। कहते हैं, यह प्रथा श्रीदामोदरजीके समयसे चली आ रही है।

ॐ यह घटना सम्वत् १४७४ की बतलाई जाती है। मंदिर-निर्माण सं० १५७५ में हुआ। ताम्रपत्रोंमें सम्वत् १७०८ तक दामोदरजीका नाम मिलता है। यदि उनका जन्म-सम्वत् १५२८ भी माना जाय तो उनकी आयु २०० वर्ष की ठहरती है। सम्भव है, डा० भाण्डारकरने 'शैविज्म-वैष्णविज्म' में श्रीहरिव्यासदेवजीके शिष्य इन्हीं दामोदर गोस्वामी को सन् १५५० में विद्यमान मानकर उनके समय का अनुमान लगाया हो। इस सम्बन्धमें छानबीन करना आवश्यक है।

अन्नकूटके अवसरपर जब डोला निकाला जाता है और जब वह रैण्या राजपूतोंके रावलेके पास पहुँचता है, तो विमानको टेढ़ा करके रावलेके सम्मुख किया जाता है । रैण्या रतनसिंहजीकी वहिन या पुत्री अहिल्याबाई आदि गोपालजीकी परम भक्त थीं । उनको दर्शन करानेके लिए ही ऐसा नियम बनाया गया था जो आज भी प्रचलित है ।

आज तक श्रीगोपालजीकी सेवा-पूजा श्रीदामोदरजीके परिवारवाले और उनकी पुत्रीके वंशज करते चले आ रहे हैं । उनके पास जमीनोंके कई ताम्रपत्र भी हैं । उनमें एक ताम्रपत्र सम्वत् १५३० का भी बताया जाता है । किशनगढ़-राज्यके इतिहास-विभागमें जिन ताम्रपत्रोंके उल्लेख मिले हैं, उनमें सबसे पुराना ताम्रपत्र वि० सम्वत् १६६५ काती सुदी १२ का है जिससे ज्ञात होता है कि महाराज उदयसिंह ने तीन सौ बीघा जमीन गोपालजीको भेंट की थी ।

दामोदरजीके गुरु-भ्राता श्रीपुष्करदासजी भी सांपलेमें ही रहे थे । आज-कल जहाँ कबूतर खाना है, वहाँ उनकी समाधि भी बनी है ।

दामोदरजीके परवर्तियोंमें वि सं० १७१६ के पट्टेमें स्वामी गरीबदासजी और सं० १७२१ के पट्टेमें स्वामी नाथूका नाम मिलता है।

कृष्णगढ़ राज्यके कागजातोंसे पता चलता है कि यवन आदि विधर्मी तथा बागियोंके आतङ्क-कालमें श्रीगोपालजी सांपलासे अन्यत्र भी पधारे थे। वि० सं० १८५६ के एक जमा खर्च में लिखा है—

श्रीगोपालजी नांदसी छा सो काती में पाछा पधारया तरां रसोई २), भेंट १), पोसाख ॥=), कीरतन्यां नें १), तेल १) ।

सांपलामें मार्गशीर्ष कृ० ६ को पाटोत्सव और वसन्त—फूलडोल, अक्षय-तृतीया, नृसिंह-चतुर्दशी, झूलनोत्सव, जन्माष्टमी, जल-झूलनी एकादशी, वामन-द्वादशी, शरद-पूर्णिमा, दीपमालिका, अन्नकूट आदि सभी उत्सव श्रीनिम्बार्क-सम्प्रदायकी प्रणालीके अनुसार मनाये जाते हैं । गोवर्द्धन-उत्सवको देखनेके लिये बाहरसे भी हजारों यात्री आते हैं ।

दामोदरजीने कुछ पदोंकी भी रचना की थी । वहाँके उत्सवोंमें वे ही पद गाये जाते हैं ।*

श्रीमयानन्दजी—श्रीमयानन्दजी समस्त सन्तोंका गुरुके समान आदर-सत्कार किया करते थे । एक बार आपको अत्यन्त बारीक चादर ओढ़े हुए देखकर एक विरक्तने कहा—"सेवकका यह धर्म नहीं है कि स्वयं इतनी कीमती चादर ओढ़े और अन्य सन्त उघाड़े रहें ।" आपने यह सुनकर कह दिया—"मुझे भगवानकी ऐसी आज्ञा है ।" इसपर विरक्त सन्त बोला—"यदि भगवान तुम्हें चादर ओढ़नेकी आज्ञा देते हैं तो चादर भी देते होंगे—यह चादर मुझे दे दो ।" यह बात उसने विवादमें ही कही थी, पर श्रीमयानन्दजीने प्रसन्नतासे अपनी चादर उतार कर उनके ऊपर डाल दी । उसी समय आकाश से दूसरी चादर आकर भक्तके शरीरसे लिपट गई और कुतर्कीके विरक्त ऊपरकी चादर लुप्त हो गई । यह चमत्कार देखकर वह श्रीमयानन्दजीके चरणोंमें गिर पड़ा और अपने कुतर्कके लिए क्षमा मांगी ।

(भक्तदाम-गुण-चित्रनी, पत्र ३३०)

---

* नोट—श्रीदामोदरजीसे सम्बन्धित ये सूचनायें सांपला-निवासी श्रीरामगोविंदशरण उपाध्यायजीके अनुग्रह और कृष्णगढ़ राज्यकी तवारीखसे प्राप्त हुई हैं ।

मूल (छप्पय)

यहै वचन परमान दास गाँवरी जटियाने भाऊ।
बूँदी बनियाँराम मंडोते मोहनबारी दाऊ॥
माड़ोठी जगदीसदास लछमन चटुथावल भारी।
सुनपथ में भगवान सबै सलखान गुपाल उधारी॥
जोबनेर गोपाल के भक्त इष्टता निर्बही।
श्रीमुख पूजा संत की आपुन तें अधिकी कही॥१०६॥

अर्थ—भगवानने अपने श्रीमुखसे अपने भक्तोंकी पूजाको अपनी पूजासे भी श्रेष्ठ बताया है। इसी बातको प्रमाण मानकर 'जटियाना' के श्रीभाऊजी और गाँवरीके श्रीदासजीने सन्तोंके प्रति श्रद्धाका भाव रक्खा। इसी प्रकार 'बूँदी' के बनियारामजीने, 'मंडोते' के श्रीमोहनबारी और दाऊजीने, 'माड़ोठी' के श्रीजगदीशदासजीने और 'चटुथावल' के श्रीलछमणजीने भगवद्-भक्तोंको अपना इष्ट करके माना। 'सुनपथ' के श्रीभगवान भक्त इसी भावको लेकर साधु-सेवा करते थे। श्रीगोपाल भक्तजीके कारण तो सारे 'सलखान' नगरका ही उद्धार हुआ। दूसरे गोपालभक्त 'जोबनेर' के थे जिन्होंने भगवद्-भक्तोंके प्रति सदा इष्ट-भावका निर्वाह किया।

इस छप्पयमें बालकरामने १० और रूपकलाजीने ९ भक्त माने हैं श्रीप्रियादासजी और बालबाल जीका भी मतभेद है!

(श्रीगोपालजी)

भक्ति-रस-बोधिनी

'जोबनेर' बास सो 'गोपाल' भक्त-इष्ट ताकौं कियौ निर्बाह, बात मोकौं लागी प्यारियै।
भयौ हो बिरक्त कोऊ कुल मैं, प्रसंग सुन्यौ, आयौ यों परीक्षा लैन, द्वार पै बिचारियै॥
आय परयौ पाँय, "पाँव धारौं निज मंदिर मैं," सुंदरि न देखौं मुख, पन कैसे डारियै?"
"चलौ, जिन डारौ, तिय रहैंगी किनारी: करि चले सब छिपी नेंकु देखी, याकै मारियै॥४२०॥

अर्थ—जयपुर रियासतमें 'जोबनेर' के रहनेवाले श्रीगोपालजीने भक्तको इष्ट माननेकी भावनाका जिस प्रकार निर्वाह किया, वह मुझे बड़ा अच्छा लगा। आपके वंशमें एक व्यक्ति विरक्त-वैष्णव हो गया था। उसने कहीं सुना कि श्रीगोपालजी भक्तको इष्ट मानते हैं, सो वे उनकी परीक्षा लेनेके लिए गये और दरवाजेपर खड़े हो गये। यह देखकर श्रीगोपालजीने उनके चरणोंमें प्रणाम कर कहा—"आइए, अपने घरमें पधारिये।" उस व्यक्तिने उत्तर दिया—"मेरा यह प्रण है कि मैं स्त्रियों का मुँह नहीं देखूँगा। आपके घरके अन्दर जाकर मैं इस प्रतिज्ञाको कैसे तोड़ दूँ?" श्रीगोपालजीने कहा—"आप अपनी प्रतिज्ञाको भंग मत करिए; चलिए। औरतें तो सब एक तरफ हो जायँगीं।"

यह कह कर वे घरमें गये । श्रीगोपालजीने सब स्त्रियाँ छिपा दीं, परन्तु कुतूहल-वश एक स्त्री झाँक उठी ! स्त्रीका झाँकना था कि उस व्यक्तिने गोपालजीके मुँहपर एक तमाचा जड़ दिया ।

भक्ति-रस-बोधिनी

एक पै तमाचो दियो, दूसरे ने रोस कियो "देवो या कपोल पै" यों बानी कही प्यारी है ।
सुनि आँसू भरि आये, जाय लपटाये पाँय, "कैसे कही जाय यह रीति कछु न्यारी है ॥
'भक्त इष्ट' सुन्यो, मेरे बड़ो अचरज भयो, लई मैं परीक्षा, भई सिच्छा मोको भारी है ।"
बोल्यो अकुलाय, "प्रभू देवै कहाँ भाव, ऐपै साधु सुख पाय कहैं, वही मेरी ज्यारी है ॥"४२१॥

अर्थ—श्रीगोपालजीको तमाचा लगते ही, उनके पास खड़े हुए एक दूसरे व्यक्तिको तो बड़ा क्रोध आया, पर श्रीगोपालजीने अपना दूसरा गाल भी परीक्षा लेनेके लिए आये हुए व्यक्ति की ओर फेर दिया और मीठी वाणीमें बोले—"कृपया इसपर एक और मारिये" (नहीं तो यह आपके हाथके स्पर्शके सुखसे वंचित ही रह जायगा ।) यह सुनते ही परीक्षा लेनेवाले व्यक्तिकी आँखें भर आईं । वह श्रीगोपाल-भक्तजीके पैरोंसे लिपट गया और बोला—"आपकी उपासना की इस लोकोत्तर रीतिके विषयमें क्या कहूँ ? मैंने सुना था कि आप हरि-भक्तोंको ही अपना इष्ट मानते हैं । इसपर मुझे कुछ आश्चर्य हुआ और मैंने आपकी परीक्षा ली । मुझे आप से यह महान् शिक्षा मिली है (कि १. भगवानके भक्तोंके प्रति भगवद्-बुद्धि रखनी चाहिये, २. भक्तको सहनशील होना चाहिए ।)"

अपनी प्रशंसा सुनकर श्रीगोपाल-भक्त कुछ घबड़ा-से गये और कहने लगे—"अजी, जिसकी आप चर्चा कर रहे हैं वह भाव तो मैं कहाँ पा सकता हूँ, किन्तु सन्त-जन कृपाकर मुझे अपना दास बतलाते हैं, यही मेरा जीवन है—सर्वस्व है ।"

श्रीदासजी—आप सन्त-सेवाको भगवानकी पूजासे भी अधिक मानते थे । एक बार आपने यहाँ कुछ सन्तोंके आ जाने पर रात्रिको उनकी टहलमें लगे रहने के कारण आप ठाकुरजीको शयन कराना भूल गए । दूसरे दिन जब आप मन्दिर खोलने लगे तो किवाड़ें अन्दरसे बन्द मिलीं । उसी समय आकाश-वाणी हुई—"अब किवाड़ क्यों खोलते हो ? साधु-सेवामें ही लगे रहो । तुमको यह पता नहीं कि हम रात-भर सिंहासनपर ही खड़े रहे और तुम इधर झाँके भी नहीं ।" सुनकर भक्तने सरल भावसे कहा—"प्रभो ! इसमें मेरा क्या दोष ? आपके भक्तोंके आदर-सम्मानमें मैं सब कुछ भूल गया ।"

सन्तोंके प्रति इतना प्रेम देखकर भगवान बड़े प्रसन्न हुए और बोले—"यदि ऐसी बात है तो कोई चिन्ता नहीं । हम तुमपर बहुत प्रसन्न हैं, मन्दिरके अन्दर आ जाओ, दरवाजा खोल दिया है ।"

भक्त दासजी अन्दर गए और चतुर्भुज भगवानके प्रत्यक्ष दर्शन करके पैरोंमें लिपट गये । भगवानने आपको उठाकर छातीसे लगाया और कहा—"भक्तराज ! हमारा मन तो ऐसा है कि सन्त-

भगवानकी इस आनन्दमयी वाणीको सुनकर श्रीदासजी कृतार्थ हो गए ।

श्रीबनियारामजी—बूँदी-निवासी श्रीबनियारामजी वैश्य-जातिके भक्त थे । आप सन्तोंकी मनोभावनाके अनुसार ही उनका आदर-सत्कार किया करते थे । एक बार आपके यहाँ पाँच-सात सन्त आगए। आपने उनसे पूछा—"भोजन अपने आप बनाएँगे या हमारे हाथका ही कर लेंगे ?" सन्तोंने उत्तर दिया—"आपके ही हाथका ठीक है ।" आपने पत्नीके द्वारा रसोई तैयार करवाई और सन्तोंको भोजन परोस दिया । उस दिन ज्वारकी रोटियाँ ठाकुरजीके भोग लगी थीं । वो सन्त उन रोटियोंको देखकर उठ खड़े हुए और बोले—"ज्वारकी रोटियाँ हमें नहीं रुचतीं ।" आपने यह सुनकर अपनी पत्नीसे पूछा—"ज्वारकी रोटियाँ क्यों बनाई ?" वह बोली—"इस लिए कि ठाकुरजीने कभी भी इनका भोग लगानेसे नाहीं नहीं की ।" आपने उससे कहा—"ठाकुरजी केवल हमारे यहाँ ही खाते हों ऐसी बात नहीं; वे तो और लोगोंके यहाँ भी अपनी रुचिका भोजन कर लेते हैं, किन्तु ये सन्त आज और किसीके यहाँ भोजन थोड़े ही करेंगे।"यह कह कर आपने गेहूँकी बढ़िया रोटियाँ बनवाईं और साधुओंको भोजन कराया।

एक बार कुछ लोगोंने राजासे आपकी शिकायत करते हुए कहा—"महाराज ! बनियारामके पास अपार धन-राशि है । वह उसे साधुओंको भोजन करानेमें व्यर्थ व्यय करता है । यदि आपके राजकोषमें वह आ जाय तो बड़ा अच्छा हो ।"

राजाको यह प्रस्ताव बड़ा अच्छा लगा । उसने कर्मचारियोंको भेजकर श्रीबनियारामजीको बुलाया और सब समाचार कह सुनाया । श्रीबनियाराम जब धन न दे सके तो उसने आपको कारागार में डाल दिया । आप बड़ी चिन्तामें पड़ गए—यदि राजा सब धन छीन लेगा तो साधु-सेवा फिर कैसे होगी ? कोई भी उपाय आपकी समझमें न आया । अन्तमें आप अपने इष्ट श्रीरामके छोटे भाई लक्ष्मणजीका ध्यान करने लगे । स्मरण करते ही श्रीलक्ष्मणजीने कला दिखलाई । बनियारामको तो कारागृहसे घर भेज दिया और स्वयं बनियारामका वेश बनाकर कारागार में रहने लगे ।

श्रीबनियारामजीके घर आते ही पुनः सन्त-जन आपके यहाँ आने लगे । यह देख कुछ चुगलखोर कर्मचारी पुनः राजाके पास पहुँचे और श्रीबनियारामको मुक्त कर देनेका कारण पूछा । राजा बोला—"अभी तो वह कारागारमें ही है ।" वे बोले—"नहीं, महाराज ! हम तो उसे घरपर देखकर आये हैं ।"

जाँच करनेपर ज्ञात हुआ कि एक बनियाराम तो जेलमें है और दूसरे अपने मकान पर । राजाने दोनोंको दरबारमें उपस्थित करने की आज्ञा दी । कुछ कर्मचारी तो इधरसे श्रीबनियारामजीको लेकर राजदरबारमें आए और कुछ उधरसे बनियाराम वेशमें रहनेवाले श्रीलक्ष्मणजीको लाए; किन्तु उन लोगोंने देखा कि थोड़ा-सा रास्ता पार करनेके उपरान्त ही वे बनियारामजी अन्तर्धान होगए। यह समाचार राजाके सामने आया । वह समझ गया कि यह सब भगवानका दिखाया हुआ चमत्कार है । श्रीबनियारामजीके चरणोंमें वह लेट गया और क्षमा माँगी तथा आदर-पूर्वक आपको स्थान पर पहुँचा दिया ।

श्रीलक्ष्मणजी—आपको सन्त-सेवा करते देख एक संन्यासी सन्त-बाना धारण करके आपके पास आया और चार दिन रहा । आपने अपने प्रणके अनुसार उसका खूब आदर-सत्कार किया । अन्तमें एक दिन घात लग जानेपर वह ठाकुरजीके मन्दिरमें घुस गया और वस्त्राभूषण आदि सामानको बगलमें दबाकर चलता बना । इस प्रकार चोरी करके भागते हुए उसे भगवान किसी राज-पुरुषका वेश धारण करके

पकड़ लाए और उसे आपके सामने उपस्थित करके सब हाल कह सुनाया। आपने उसे यह कह कर छुड़ा दिया कि "इन सन्तजीको आभूषणोंकी आवश्यकता होगी, इस लिए ले जा रहे हैं। इसके लिए इन्हें दण्ड देनेकी कोई आवश्यकता नहीं।" राज-पुरुष-रूपमें आए भगवान अब क्या करते? कुछ दूर संन्यासी के साथ जाकर अन्तर्धान हो गए। संन्यासीने जब यह देखा तो उसे पहिचानते देर न लगी कि यह तो लक्ष्मणजीकी सहायता के लिए भगवान स्वयं आए थे। वह लौटकर श्रीलक्ष्मणजीके पास गया और उनका सब धन लौटाकर उस दिनसे सच्चा सन्त हो गया।

मूल (छप्पय)

(श्रीलाखाजी)

मुरधर खंड निवास भूप सब आज्ञाकारी।
राम नाम बिस्वास भक्त-पद-रज-व्रतधारी॥
जगन्नाथ के द्वार दंडौतनि प्रभु पै धायौ।
दई दास की दादि हुंडी करि फेरि पठायौ॥
सुरधुनी ओघ संसर्ग तें नाम बदल कुच्छित नरौ।
परमहंस बंसनि में भयौ बिभागी बानरौ॥१०७॥

अर्थ—श्रीलाखाजी मेवाड़के 'मुरधरखंड' के रहनेवाले थे। आपके भजनके प्रभावसे सब राजे-महाराजे आपकी आज्ञाका पालन करते थे। श्रीराम-नाममें आपका अखण्ड विश्वास था और भक्तोंकी चरण-रजको सर्वस्व माननेका आपका व्रत था। श्रीजगन्नाथजी प्रभुका दर्शन करनेके लिए आप अपने देशसे दंडवत् करते हुए उनकी ड्योढ़ियोंपर पहुँचे। प्रभुने अपने मनमें इस भक्तकी निष्ठाकी बड़ी सराहना की और उनकी कन्याके विवाहके लिए हुंडी करा कर उन्हें घर भेजा। जिस प्रकार गन्दा नाला श्रीगङ्गाजीके प्रवाहमें मिलकर गङ्गाजी ही जाता है और उसका नाम बदल जाता है, वैसे ही वानर-वंश (डोम जाति) में पैदा होकर भी आप परम-हंसोंके समान सुख, सुयश, भजन और सुकृतके भागीदार हुए।

श्रीनाभास्वामीके इस छप्पयकी 'सुरधुनी ओघ संसर्ग तें नाम बदल कुच्छित नरौ' इस पंक्तिको पढ़कर महाकवि सूरदासजीका निम्नलिखित पद स्मरण हो आता है—

प्रभु मेरे औगुन चित न धरौ।
... ...

इक नदिया इक नार कहावत मैलौ नीर भरयौ।
जब दोऊ मिलि एक बरन भए सुरसरि नाम परयौ॥

भक्ति-रस-बोधिनी

'लाखा' नाम भक्त, ताकौं 'बानरौ' बखान कियौ, कहैं जग डोम जासौं मेरौ सिरमौर है।
करै साधु-सेवा बहु पाकि डारि मेवा, संत जेंवत अनंत सुख पावैं कौर-कौर है॥
ऐसे में अकाल परचौ, आवैं भरि माल-जाल, कैसे प्रतिपाल करै, ताकी और ठौर है।
प्रभुजी स्वपन दियौ "कियौ मैं जतन एक गाड़ी भरि गेहूँ भैंसि आवैं करौ गौर है"॥४२२॥

अर्थ—श्रीनाभा स्वामीजीने जिनका 'वानर-वंशी' कह कर वर्णन किया है, उन भक्त-महोदयका नाम श्रीलाखाजी था। दुनिया उन्हें 'डोम' बतलाती थी, पर, प्रियादासजी कहते हैं, भक्त होनेके कारण मेरे लिए तो वे शिरसे नमस्कार करनेके योग्य हैं। आप मेवा आदि से बने अनेक व्यञ्जनों द्वारा साधुओंका सत्कार करते थे। इन पकवानोंके खाते समय सन्त लोगोंको प्रत्येक ग्रासपर अनन्त सुख मिलता था।

श्रीलाखाजी द्वारा जब सन्तोंकी इस प्रकार सेवा की जा रही थी, तभी दुर्भाग्यसे मार-वाड़में दुर्भिक्ष पड़ गया। अकालके मारे हुए बहुतेरे लोग माला पहिन कर आपके यहाँ आने लगे। इनके भरण-पोषणका क्या उपाय था? बहुत सोच-विचार कर अन्तमें श्रीलाखाजीने निश्चय किया कि उस मकानको छोड़कर और कहीं जा बसें। इसी बीचमें भगवानने लाखाजीसे स्वप्नमें कहा—"हमने एक तरकीब निकाली है, जिसके अनुसार एक गाड़ी-भर गेहूँ और एक भैंस तुम्हारे यहाँ पहुँच जायगी। इस बातको सत्य समझना।"

भक्ति-रस-बोधिनी

"गेहूँ कोठी डारि मुंह मूंदि नीचे देवो खोलि, निकसै अतोल पीसि रोटी लै बनाइयै।
दूध जितौ होय सो जमाय कै बिलोय लीजै, दीजै घी चुपरि संग छाछि दै जिमाइयै"॥
खुल गई आँखें, भाखें तिया सों जु आज्ञा दई, भई मन भाई, अब हरि गुन गाइयै।
भोर भये गाड़ी भैंस आई, वही रीति करी, करी साधु सेवा नाना भाँतिन रिझाइयै॥४२३॥

अर्थ—भगवानने लाखाजीसे स्वप्नमें यह भी कहा कि जब गाड़ी-भरे गेहूँ आ जाँय, तब उन्हें एक कोठीमें भरकर ऊपरसे उसका मुँह बन्द कर देना, किन्तु नीचेसे खोल देना। इस प्रकार उस कोठीमें-से चाहे जितना गेहूँ निकलेगा। उसे पीस-पीस कर रोटियाँ बनाना। भैंससे जितना दूध मिले उसका दही जमाना और उसको बिलोनेसे जो घी निकले उससे रोटियों को चुपड़ना। जो छाछ बचे उसके साथ रोटियाँ खिलाना।

यह सुनते ही श्रीलाखाजीके नेत्र खुल गए और उन्होंने अपनी स्त्रीसे वह आज्ञा कह सुनाई जो प्रभुने दी थी। बोले—"यह मेरे मनकी बात हो गई। अब मैं सन्तोंकी सेवा करूँगा और प्रेमसे भगवानका गुणानुवाद करूँगा।"

भक्ति-रस-बोधिनी

भाई कौन रीति वाकी प्रीति हू बखान कीजै, लीजै उर धारि सार भक्ति निरधार है ।
रहै ढिग गाँव, तहाँ सभा इक ठौर भई, टूटि गयौ भाई सौ उमाहौ कौ विचार है ।।
बोलि उठ्यौ कोऊ "यों ब्यौहार को तौ भार बुढ्यौ, लीजिए सँभारि लाखा संत भव पार है ।"
लाज दबि तिन दिये गेंहू ले पचास मन, दई निज भैंसि संग सब सरदार हैं ।।४७४।।

अर्थ—गेहूँकी यह गाड़ी किस प्रकार श्रीलाखाजीके घर पहुँची और इसके पीछे लाखाजी के प्रति लोगोंकी क्या प्रेम-भावना थी, इसका भी विवरण सुनिये । किन्तु इससे पूर्व अपने मन में इस धारणाको पक्का कर लीजिए कि इस संसारमें भक्ति ही एक मात्र सार पदार्थ है ।

जिस गाँवमें लाखाजी रहते थे उसके पास ही के एक दूसरे गाँवमें लोगोंने एक दिन सभा की और उसमें यह निश्चय किया कि उन्हीं सबका एक भाई जो निर्धन हो गया था, उसकी सहायताके लिये सबसे द्रव्यका संग्रह किया जाय । इसी समय एक व्यक्तिने उठकर कहा—"हम लोगोंने आपसदारीका कर्त्तव्य तो पालन कर दिया, पर सन्त लाखाजीकी सहायताके बारेमें भी तो कुछ सोचना चाहिए जिससे इस भव-सागरसे हम लोगोंका उद्धार हो ।" यह सुन-कर सब लोगोंने शर्माशर्मी पचास मन गेहूँ इकट्ठे किये । गाँवके मुखियाने साथमें अपनी एक भैंस दे दी ।

भक्ति-रस-बोधिनी

मारवाड़ देस तें चल्यौई साष्टांग किये, हिये "जगन्नाथदेव याही पन जाइयै ।"
नेह भरि भारी, देह धारि कोरि डारी, कैसे करें तनधारी, नेंकु श्रम मुरझाइयै ।।
पहुँच्यौ निकट आय, पालकी पठाय दई, कहैं "लाखा भक्त कौन ? बेगि दै बताइयै ।"
काहू कहि दियौ, आय कर गहि लियौ "अजू! चलौ प्रभु पास, इहि छिन ही बुलाइयै ।।"४७५।।

अर्थ—श्रीलाखाजी मारवाड़ देशसे यह प्रतिज्ञा करके चले कि मार्ग-भर साष्टांग प्रणाम करते हुए ही श्रीजगन्नाथजी तक पहुँचूगा । आपके हृदयमें प्रभुके प्रति असीम प्रेम था, इसलिए आपने प्रभुपर अपनी देहको न्यौछावर कर दिया । साधारण शरीर-धारी व्यक्तिके बूतेका यह काम कैसे हो सकता है ? वह तो जरा-सा परिश्रम करके ही थक कर बैठ जाता है ।

प्रतिज्ञानुसार 'दंडौती' करते हुए जब आप श्रीजगन्नाथजीके निकट पहुँचे, तो प्रभुने इन्हें लिवालानेके लिए एक पालकी भेजी । पालकीके साथके पण्डे और पुजारी लोग मार्गमें यह पूछते चले कि "लाखा भक्त कौन-से हैं? जल्दी बताइए ।" लाखाजीके किसी साथीने उन्हें बता दिया । बस, पंडोंने उनका हाथ पकड़ लिया और बोले—"अजी भक्त महोदय ! इस पालकी पर विराजमान होकर चलिये; प्रभुने आपको इसी समय बुलाया है ।"

भक्ति-रस-बोधिनी

"कैसे चढ़ौं पालकी मैं ?" पन प्रतिपाल कीजै, दीजै मोकों दान, याही भाँति जा निहारियै ।"
बोले "प्रभु कही भाय सुमिरनी बनाय ल्याये, अब पहिराय मोहि," सुनि उर धारियै ॥
"चढ़ि-चढ़ि कियौ चाहैं, यह जानी मैं तो, पढ़ि-पढ़ि पोथी प्रेम मोपै विसतारियै ।"
जाय कै निहारि, तन-मन-प्रान वारे, जगन्नाथ जू के प्यारे नेकु ढिग ते न टारियै ॥४२६॥

अर्थ—पालकीपर चढ़कर चलनेकी बात सुनकर श्रीलाखाजीने पंडोंसे कहा—"पालकी पर मैं कैसे चढ़ सकता हूँ ? मैंने तो प्रण किया है कि साष्टांग प्रणाम करते हुए ही प्रभु श्रीजगन्नाथजीके दर्शन करूँगा । आप लोग जो मुझे यही दान देकर कृतार्थ करें कि मैं अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण कर प्रभुके दर्शन करूँ ।" पंडोंने उत्तर दिया—"प्रभुने बड़े स्नेहसे आपको आज्ञा दी है, सो चलिये । साथ ही यह भी कहा है कि आप जो सुमिरनी बनाकर साथ लाये हैं उसे मुझे (प्रभुको) आकर पहिनाइये, (वह मुझे अत्यन्त प्रिय है ।)

सुमिरनीकी बात सुनते ही लाखाजीको विश्वास होगया कि पालकी सचमुच प्रभुने ही भेजी है । पालकीपर चढ़ते हुए आप कहने लगे—"अब मैं समझ गया कि प्रभु मेरे लिये पालकी भेजकर मेरा गौरव बढ़ाना चाहते हैं और प्रेम-तत्त्वका अनुशीलन कर अपनी कृपाका मुझपर प्रयोग करना चाहते हैं ।"

मन्दिर पहुँच कर भगवानके जो दर्शन किये, तो लाखाजी निहाल होगए । अपना तन, मन, धन सब कुछ प्रभुपर न्यौछावर कर दिया । श्रीजगन्नाथ-प्रभुका आपसे इतना अनुराग था कि एक क्षणके लिए भी अपनी सेवासे उन्हें पृथक् नहीं होने देते थे ।

भक्ति-रस-बोधिनी

बेटी एक क्वारी ब्याहि देत न विचारी मन, धन हरि साधुन कौ कैसे कै लगाइयै ।
"कीजै वाकौ काज," कही जगन्नाथदेव जूने, "लीजै मोपै द्रव्य," उर नैंक हू न आइयै ॥
बिदा पै न भये चले, दृग भरि लये, गये आगे नृप भक्त मग चौकी अटकाइयै ।
दियौ है सुपन प्रभु जिनि हठ करौ, अजू हूँडी लिख दई लई बिनै के जताइयै ॥४२७॥

अर्थ—श्रीलाखाजीके एक कुँवारी पुत्री थी । आप उसका विवाह इसलिये नहीं करते थे कि उनके पास जितना द्रव्य था, वह तो सन्तोंकी सेवाके लिए समर्पित था; उसे विवाहमें कैसे लगाते ? एक दिन श्रीजगन्नाथजीने उनसे कहा—"अपनी पुत्रीके विवाहके लिए हमसे धन लो और उसका विवाह कर दो," किन्तु लाखाजीको ऐसा करना अच्छा नहीं लगा । कुछ दिन जगन्नाथपुरीमें रहकर आप घरको चल दिये, पर इस डरसे प्रभुसे विदा माँगने नहीं गये कि धन लेना पड़ेगा । चलते समय प्रभुसे अलग होनेका उन्हें इतना दुःख हुआ कि आँसू बहने लगे । उसी समय श्रीजगन्नाथ-प्रभुने अपने एक भक्तराजाको स्वप्न दिया और उसने मार्गमें पहरा बिठा

दिया। जिसने लाखाजीसे कहा—"आप हठ न करें! प्रभुकी आज्ञा है कि मैं आपकी कन्याके विवाहका प्रबन्ध करूँ।"

इसके उपरान्त राजाने हुंडी कर दी और लाखाजीने उसे स्वीकार कर लिया।

भक्ति-रस-बोधिनी

हुंडी सौ हजार की, यों लैकैं गृहद्वार आये, तामें ते लगायौ सौक बेटो ब्याह कियौ है।
और सब संतनि बुलाय कैं खवाय दिये, लिये पग वास सुख रासि मन लियौ है॥
ऐसे ही बहुत दाम वाही के निमित्त लै लै, संत भुगताये अति हरषित हियौ है।
चरित अपार कछु मति अनुसार कह्यौ, लह्यौ जिन स्वाद सो तो पाय निधि जियौ है॥४२८॥

अर्थ—इस प्रकार एक हजार रुपयोंकी हुंडी लेकर लाखाजी अपने घर आये। उनमें एक सौ रुपए लगाकर तो आपने कन्याका विवाह कर दिया और बचे हुए द्रव्यसे सब संतोंका भोजन-आदि से सत्कार किया। अन्तमें आपने हरि-भक्तोंके चरण छुए और हृदयमें बड़ा आनन्द माना। राजाके धन देनेसे पूर्व भी जिन लोगोंने कन्याके विवाहके निमित्त रुपये दिये थे, वे भी आपने साधु-सन्तोंको ही खिला दिये और यह कार्य करके आप बड़े प्रसन्न हुए। टीकाकार श्रीप्रियादासजी कहते हैं कि श्रीलाखा-भक्तके ऐसे-ऐसे अनेक चरित्र हैं। उनमें-से कुछ का ही उन्होंने अपनी बुद्धिके अनुसार वर्णन किया है। जो लोग सन्तोंके चरित्रका स्वाद ले चुके हैं, उन्हें तो श्रीलाखाजीकी कथा ऐसी लगती है जैसे कोई अक्षय कोष मिल गया हो। इस कथा को उन्होंने अपने जीवनका आधार बनाया है।

श्रीलाखा-भक्तका दूसरा चरित्र—'कल्याण' मासिक-पत्रके 'भक्त चरितांक' के पृष्ठ ६०६ पर 'भक्त लाखाजी और उनका आदर्श परिवार' शीर्षकके नीचे श्रीलाखाजीका चरित्र एक दूसरे ही प्रकार से दिया गया है। इसके अनुसार भक्त लाखाजी जातिके गौड़ ब्राह्मण थे। राजपूतानेके एक छोटेसे गाँवमें उनका घर था। इनकी पत्नी खेमाबाई अत्यन्त साध्वी रमणी थीं। इनके दो सन्तान थीं—एक देवा नामका पुत्र, दूसरी गङ्गाबाई कन्या। यथासमय आपने दोनों सन्तानोंका विवाह कर दिया और तब स्त्री-पुरुष दोनों भगवानका भजन करने लगे।

दैवयोगसे इनके जामाताकी साँपके डसनेके कारण मृत्यु हो गई। अपनी स्त्री और पुत्र-वधू लछिमीसे परामर्श कर आपने यह निश्चय किया कि गङ्गाबाईको यहीं बुला लिया जाय और उसे भगवान की सेवामें लगा दिया जाय, ताकि वह अपने दुःखको भूल जाय। इसके अनुसार लाखाजी जब अपने समधीके यहाँ पहुँचे, तो उन्होंने देखा कि जिस गङ्गाबाईको सान्त्वना देनेके लिए वे गए थे, वह स्वयं अपने सास-ससुरको संसारकी क्षण-भंगुरताका उपदेश दे रही है। धन्य हो गये लाखा-भक्त ऐसी पुत्री पाकर। उन्होंने अपने समधी-समधिनको निर्वाहके लिए आवश्यक द्रव्य देकर पुष्कर-तीर्थ भेज दिया और लड़कीको लेकर घर आ गए।

लाखाजीका शेष जीवन अपनी पत्नीके साथ भगवद्-भजनमें व्यतीत हुआ। लगभग पच्चीस वर्षके बाद श्रीलाखाजी तथा खेमाबाई एकही दिन भगवानका नाम-स्मरण करते हुए परम-धामको प्राप्त हुए।

उनके बाद बहिन, भाई-भौजाई तीनों भगवानके भजनमें तल्लीन हो गए और शेष जीवन सच्चे भक्त की तरह बिताया ।

कहना न होगा कि यह चरित्र श्रीनाभा-स्वामी द्वारा उल्लिखित चरित्रसे सब प्रकारसे भिन्न है सम्भव है, 'भक्तचरितांक' के श्रीलाखाजी और कोई भक्त रहे हों । इतना अवश्य कहा जा सकता है कि 'कल्याण' में दिया गया चरित्र श्री गुञ्जामाली और उनकी पुत्र-वधूके चरित्रसे कई अंशोंमें मेल खाता है । देखिये कवित्त संख्या ४१४-४१५, पृष्ठ ६४८, ६४९ ।

(श्रीनरसी मेहताजी)

मूल (छप्पय)

महा समारत लोग भक्ति लौलेस न जानें ।
माला मुद्रा देखि तासु की निंदा ठानें ॥
ऐसे कुल उत्पन्न भयौ भागौत सिरोमनि ।
ऊसर ते सर कियौ खंड दूषन खोयो जिनि ॥
बहुत ठौर परचौ दियो रस-रीति भक्ति हिरदै धरी ।
जगत बिदित नरसी भगत (जिन) गुज्जर धर पावन करी ॥१०८॥

अर्थ—गुजरात प्रदेशके निवासी बड़े स्मार्त और कर्मकाण्डमें फँसे हुए थे । भक्ति-भावना इन्हें छू तक नहीं गई थी । यदि कोई तुलसीकी माला पहिने, वैष्णव तिलक और शंख-चक्र आदि मुद्राओंको धारण किये दिखाई दे जाता, तो उसकी भूरि-भूरि निन्दा करते । ऐसे कुल (वातावरण) में पैदा होकर श्रीनरसीजी भगवानके भक्तोंके शिरोमणि हुए । उस समय गुजरात खण्ड (प्रदेश) ऊसर भूमिके समान था । भक्तिका प्रवाह कहीं देखनेको नहीं मिलता था । भागवत-धर्मसे विहीन ऐसे प्रदेशको आपने भक्तिका छलछलाता हुआ सरोवर बना दिया । आपने कई स्थानोंपर अपनी भक्तिके चमत्कार दिखाये । आप माधुर्य-रसकी उपासना करनेवाले भक्त थे । इस प्रकार गुजरात प्रदेशको पवित्र करनेवाले श्रीनरसी समस्त संसारमें प्रसिद्ध हुए ।

भक्ति-रस-बोधिनी

'जूनागढ़' वास, पिता-मात तन नास भयौ, रहे एक भाई औ भौजाई रिस-भरी है ।
डोलत फिरत आप बोलत "पियावौ नीर," भाभी पै न जानी पीर, बोली जरी-बरी है ॥
"आवत कमाए, जल प्यावै बिन सरै कैसे ? पियौ," यौं जवाब दियौ, देह थरहरी है ।
निकसे विचारि "कहूँ दीजै तन डारि," मानी शिव पै पुकार करी, रहे चित धरी है ॥४२६॥

अर्थ—श्रीनरसी भगत गुजरात प्रदेशके 'जूनागढ़' के रहनेवाले (नागर ब्राह्मण) थे ।

आपके माता-पिता स्वर्गवासी हो गए थे–रह गये थे एक शाक्त भाई और क्रोधी-स्वभावकी भावज। एक दिन आप बाहरसे घूम-घाम कर घर आये और भावजसे पानी माँगा। भाभीने यह तो देखा नहीं कि देवर प्यासा है, उलटे अन्दरसे जल-भुनकर बोली—"बड़ी कमाई करके आये हो न लालाजी; भला तुम्हें जल न पिलाऊँगी। पियो, पीते क्यों नहीं?" भाभीका यह उत्तर सुनकर नरसीजीका शरीर अपमानकी चोट खाकर काँप उठा। बिना जल पिये ही आप घरसे चले आये और सोचने लगे—"इस शरीरको कहीं त्याग क्यों न दें?"

नगरसे बाहर एक शिवालय था। आप वहीं जाकर पड़ गये, मानो ऐसा करके शिवजी के सामने अपना दुःख प्रकट कर रहे हों। इस समय आपका हृदय महादेवजीकी ओर लगा हुआ था।

शंका-समाधान—भाभीसे प्रताड़ित होकर नरसीने प्राण त्यागनेकी बात क्यों सोची? इसलिए कि उन्होंने देखा कि सब दुःखोंका मूल यह शरीर है। दोष वास्तवमें भाभीका नहीं, इस शरीरका है जिसे भूख-प्यास लगती है, अतः इससे ही छुटकारा पा लेना चाहिए।

भक्ति-रस-बोधिनी

बीतें दिन सात, शिव-धाम तें न जात बात "परें काहू तुच्छ द्वार, सोई सुधि लेत है"।
इतनी विचार, भूख-प्यास दई टारि, दियौ प्रगट सरूप धारि, भयौ हिये हेत है॥
बोले "वर माँग", "अजू माँगि मैं न जानत हौं, तुम्हें कोई प्यारौ सोई देवौ, चित चेत हो"।
परयौ सोच भारी "मेरी प्रान-प्यारी नारी, तासों कहत डरत, वेद कहे 'नेति-नेति है'"॥४३०॥

अर्थ—इस प्रकार शिवालयमें भूखे-प्यासे पड़े हुए नरसीजीको सात दिन होगये, तो श्रीशिवजीने सोचा—"यदि कोई व्यक्ति किसी दरिद्र या तुच्छ आदमीके दरवाजेपर जाकर पड़ रहे, तो वह भी उसकी पूछताछ करता है, जिसमें मैं तो महेश्वर हूँ। ऐसा सोचकर महादेवजीने पहले तो नरसीजीकी भूख-प्यासको शान्त किया और फिर साक्षात् दर्शन देते हुए बोले—"वर माँगो।"

नरसीजीने कहा—"मुझे तो यह भी मालूम नहीं कि वर कैसे माँगा जाता है; हाँ इतना कह सकता हूँ कि आपकी जो सबसे प्रिय वस्तु हो, उसे ही समझ-बूझकर देनेकी कृपा करिये।"

शिवजी सोच-विचारमें पड़ गए–"जो मेरा प्रिय तत्त्व है उसका भेद तो मैं उन पार्वतीजी को बतलाते डरता हूँ, जो मुझे प्राणोंसे भी प्यारी हैं। वेद भी उस तत्त्वका वर्णन 'नेति-नेति' कह कर करते हैं।"

भक्ति-रस-बोधिनी

"दियौ मैं वृकासुर को वर, डर भयौ तहाँ, वैसे डर कोटि-कोटि या पै वारि डारे हैं।
बालक न होय यह पालक है लोकनि कौ, मन कौ विचार कहा, दीजै प्रानप्यारे हैं॥
जो पै नहीं देत मेरौ बोलिबो अचेत होत" दियौ निज हेत, तन आलिन के धारे हैं।
ल्याये वृन्दावन रास-मंडल जटित मनि, प्रिया अनगन बीच लालजू निहारे हैं॥४३१॥

उनके बाद बहिन, भाई-भौजाई तीनों भगवानके भजनमें तल्लीन हो गए और शेष जीवन सच्चे भक्तों की तरह बिताया।

कहना न होगा कि यह चरित्र श्रीनाभा-स्वामी द्वारा उल्लिखित चरित्रसे सब प्रकारसे भिन्न है। सम्भव है, 'भक्तचरितांक' के श्रीलालाजी और कोई भक्त रहे हों। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि 'कल्याण' में दिया गया चरित्र श्री गुञ्जामाली और उनकी पुत्र-वधूके चरित्रसे कई अंशोंमें मेल खाता है। देखिये कवित्त संख्या ४१५-४१६, पृष्ठ ६४८, ६४६।

(श्रीनरसी मेहताजी)

मूल (छप्पय)

महा समारत लोग भक्ति लौलेस न जानें।
माला मुद्रा देखि तासु की निंदा ठानें॥
ऐसे कुल उत्पन्न भयौ भागौत सिरोमनि।
ऊसर ते सर कियो खंड दूषन खोयो जिनि॥
बहुत ठौर परचौ दियो रस-रीति भक्ति हिरदै धरी।
जगत बिदित नरसी भगत (जिन) गुज्जर धर पावन करी॥१०८॥

अर्थ—गुजरात प्रदेशके निवासी बड़े स्मार्त और कर्मकाण्डमें फँसे हुए थे। भक्ति-भावना इन्हें छू तक नहीं गई थी। यदि कोई तुलसीकी माला पहिने, वैष्णव तिलक और शंख-चक्र आदि मुद्राओंको धारण किये दिखाई दे जाता, तो उसकी भूरि-भूरि निन्दा करते। ऐसे कुल (वातावरण) में पैदा होकर श्रीनरसीजी भगवानके भक्तोंके शिरोमणि हुए। उस समय गुजरात खण्ड (प्रदेश) ऊसर भूमिके समान था। भक्तिका प्रवाह कहीं देखनेको नहीं मिलता था। भागवत-धर्मसे विहीन ऐसे प्रदेशको आपने भक्तिका छलछलाता हुआ सरोवर बना दिया। आपने कई स्थानोंपर अपनी भक्तिके चमत्कार दिखाये। आप माधुर्य्य-रसकी उपासना करनेवाले भक्त थे। इस प्रकार गुजरात प्रदेशको पवित्र करनेवाले श्रीनरसी समस्त संसारमें प्रसिद्ध हुए।

भक्ति-रस-बोधिनी

'जूनागढ़' बास, पिता-मात तन नास भयौ, रहे एक भाई औ भौजाई रिस-भरी है।
डोलत फिरत आप बोलत "पियावौ नीर," भाभी पै न जानी पीर, बोली खरी-खरी है॥
"आवत कमाए, जल प्यावै बिन सरै कैसे ? पियौ," यौं जवाब दियौ, देह थरहरी है।
निकसे बिचारि "कहूँ दीजै तन डारि," मानौ शिव पै पुकार करी, रहे चित धरी है॥४२१॥

अर्थ—श्रीनरसी भगत गुजरात प्रदेशके 'जूनागढ़' के रहनेवाले (नागर ब्राह्मण) थे।

आपके माता-पिता स्वर्गवासी हो गए थे—रह गये थे एक शाक्त भाई और क्रोधी-स्वभावकी भावज। एक दिन आप बाहरसे घूम-घाम कर घर आये और भावजसे पानी माँगा। भाभीने यह तो देखा नहीं कि देवर प्यासा है, उलटे अन्दरसे जल-भुनकर बोली—"बड़ी कमाई करके आये हो न लालाजी; भला तुम्हें जल न पिलाऊँगी। पियो, पीते क्यों नहीं?" भाभीका यह उत्तर सुनकर नरसीजीका शरीर अपमानकी चोट खाकर काँप उठा। बिना जल पिये ही आप घरसे चले आये और सोचने लगे—"इस शरीरको कहीं त्याग क्यों न दें?"

नगरसे बाहर एक शिवालय था। आप वहीं जाकर पड़ गये, मानो ऐसा करके शिवजी के सामने अपना दुःख प्रकट कर रहे हों। इस समय आपका हृदय महादेवजीकी ओर लगा हुआ था।

शंका-समाधान—भाभीसे प्रताड़ित होकर नरसीने प्राण त्यागनेकी बात क्यों सोची? इसलिए कि उन्होंने देखा कि सब दुःखोंका मूल यह शरीर है। दोष वास्तवमें भाभीका नहीं, इस शरीरका है जिसे भूख-प्यास लगती है, अतः इससे ही छुटकारा पा लेना चाहिए।

भक्ति-रस-बोधिनी

बीतें दिन सात, शिव-धाम तें न जात बार "परै काहू तुच्छ द्वार, सोई सुधि लेत है"।
इतनी विचार, भूख-प्यास दई टारि, लियौ प्रगट सरूप धारि, भयौ हिये हेत है॥
बोले "बर माँग", "अजू माँगि मैं न जानत हौं, तुम्हें कोई प्यारो सोई देवौ, चित चेत हो"।
परयौ सोच भारी "मेरी प्रान-प्यारी नारी, तासौं कहत डरत, बेद कहै 'नेति-नेति है'"॥४३०॥

अर्थ—इस प्रकार शिवालयमें भूखे-प्यासे पड़े हुए नरसीजीको सात दिन होगये, तो श्रीशिवजीने सोचा—"यदि कोई व्यक्ति किसी दरिद्र या तुच्छ आदमीके दरवाजेपर जाकर पड़ रहे, तो वह भी उसकी पूछताछ करता है, जिसमें मैं तो महेश्वर हूँ। ऐसा सोचकर महादेवजीने पहले तो नरसीजीकी भूख-प्यासको शान्त किया और फिर साक्षात् दर्शन देते हुए बोले—"वर माँगो।"

नरसीजीने कहा—"मुझे तो यह भी मालूम नहीं कि वर कैसे माँगा जाता है; हाँ इतना कह सकता हूँ कि आपको जो सबसे प्रिय वस्तु हो, उसे ही समझ-बूझकर देनेकी कृपा करिये।"

शिवजी सोच-विचारमें पड़ गए—"जो मेरा प्रिय तत्त्व है उसका भेद तो मैं उन पार्वतीजी को बतलाते डरता हूँ, जो मुझे प्राणोंसे भी प्यारी है। वेद भी उस तत्त्वका वर्णन 'नेति-नेति' कह कर करते हैं।"

भक्ति-रस-बोधिनी

"दियौ मैं बृकासुर को बर, डर भयौ तहाँ, वैसे डर कोटि-कोटि या पै वारि डारे हैं।
बालक न होय यह पालक है लोकनि कौ, मन को विचार कहा, दोऊ प्रानप्यारे हैं॥
जो पै नहीं देत मेरो बोलिबो अचेत होत" दियौ निज हेत, तन आलिन के वारे हैं।
ल्याये वृन्दावन रास-मंडल जटित मनि, प्रिया गनगन बीच लालजू निहारे हैं॥४३१॥

अर्थ—शिवजी सोचने लगे—"एक बार मैंने वृकासुरको वर दिया था सो उसके कारण मुझे बादमें घोर संकटका सामना करना पड़ा। उस प्रकारकी कोई आशंका यहाँ नहीं की जा सकती। सच बात तो यह है कि वैसी करोड़ों आशंकायें इसपर न्यौछावर की जा सकती हैं; क्योंकि यह बालक नहीं है, बल्कि वह महापुरुष है जो आगे बढ़कर लोगोंका पालन करनेवाला और उद्धारकर्त्ता होगा।" शिवजीने यह भी सोचा कि 'इस सम्बन्धमें अधिक सोचने-विचारनेसे क्या अर्थ निकलेगा; इन्हें हरिको ही दे देना चाहिए जो मुझे अत्यन्त प्रिय हैं। कुछ न देना भी ठीक नहीं होगा; क्योंकि ऐसा करनेसे अपनी बात झूँठी पड़ेगी।"

यह सोचकर शिवजीने नरसीजीको अपना प्रिय सखी-रूप दिया और स्वयं भी सखी-रूप धारण कर नरसीजीको नित्य-वृन्दावन ले पहुँचे। वहाँ रास-मण्डलकी स्फटिक मणियोंकी भूमि पर अगणित प्रियाओंके बीचमें विहार करते हुए 'लालजी' के दर्शन कर दोनों कृतार्थ होगए।

वृक-मोक्षण का आख्यान—श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धके ८८ वें अध्यायमें वृकासुरसे शिवजी की रक्षाका आख्यान इस प्रकार वर्णन किया गया है—

शकुनिके पुत्र वृकासुरको एक दिन रास्तेमें नारदजी मिल गए। उसने पूछा—"महाराज! कृपया मुझे यह बतलाइए कि वह देवता कौन-सा है जो शीघ्र प्रसन्न हो जाता है।" नारदजीने कहा—"ऐसे देव तो महादेवजी ही हैं जो थोड़े-से गुणसे ही सन्तुष्ट हो जाते हैं और थोड़े-से दोषसे रुष्ट हो जाते हैं।" यह सुनकर वृकासुर पहुँचा केदारेश्वर महादेवके पास और एक वेदीमें अग्नि प्रज्वलित कर अपने शरीरका मांस काट-काट कर आहुति देने लगा। इतनेपर भी शिवजी जब प्रत्यक्ष नहीं हुए, तो सातवें दिन ज्यों ही अपना मस्तक काटनेको उसने खड्ग उठाया, त्योंही शिवजीने प्रकट होकर उसका हाथ पकड़ते हुए कहा—"वर माँगो।" पार्वतीजीके रूप पर मोहित वृकासुर उन्हें हरण करना चाहता था, अतः उसने वर माँगा—"मैं जिसके सिरपर हाथ रख दूँ, वही भस्म हो जाय।" शिवजीने कह दिया—"तथास्तु।"

वर प्राप्त करते ही वृकासुर शिवजीके मस्तकपर हाथ रखने को ज्योंही बढ़ा, त्योंही वे भाग खड़े हुए। पृथ्वी, आकाश, पाताल कहीं भी उन्हें बचानेवाला कोई तैयार नहीं हुआ। अन्तमें उन्हें संकटमें पड़ा हुआ जानकर भगवान योगमायासे ब्रह्मचारीका रूप धारण कर वृकासुरके सामने आये और कहने लगे—हे शकुनिके पुत्र! तुम थके हुए मालूम पड़ते हो; शायद बहुत दूरसे चले आरहे हो। आओ, यहाँ थोड़ी-देर विश्राम कर लें।" इसके बाद श्रीहरिके पूछनेपर वृकासुरने पूर्व वृत्तान्त कहा। भगवान सुन-कर बोले—"अरे! तुम किसकी बातोंमें आगए। दक्ष प्रजापतिके शापसे शिवजीकी यह हालत होगई है कि प्रेत और पिशाचोंके सिवा उसका कोई साथी नहीं। उसका क्या विश्वास? न हो तो अपने सिरपर हाथ रखकर परीक्षा कर लो।"

भगवानकी बातोंके चक्करमें फँसकर ज्योंही मूर्ख वृकासुरने अपने माथेपर हाथ रक्खा, त्योंही जलकर राखका ढेर होगया।

भक्ति-रस-बोधिनी

हीरनि खचित रास-मंडल नचत दोऊ रचित अपार नृत्त गान तान न्यारियै।
रूप उजियारी, चंद चाँदनी न सम, तारी देत करतारी, लाल गति लेत प्यारियै॥
ग्रीव की दुरनि, कर आँगुरी मुरनि, मुख मधुर सुरनि, सुनि श्रवन तवारियै।
बजत मृदंग मुँहचंग संग, अंग-अंग उठति तरंग रंग छवि की जियारियै॥४३२॥

अर्थ—श्रीशिवजी और नरसीजीने देखा कि रास-स्थल हीरा जड़े हुए सुवर्णसे मंडित है, प्रिया-प्रियतम दोनों अलौकिक नृत्य कर रहे हैं और गान-तान चल रहा है। श्रीश्यामा-श्याम के रूपकी चाँदनीकी तुलनामें चन्द्रमा और उसका प्रकाश फीका-सा लगता था। लालजी हाथोंसे तालियाँ बजा-बजा कर ताल दे रहे थे और बड़ी सुन्दर गति ले रहे थे। गर्दनका एक ओरको झुका लेना, अंगुलियोंसे सुन्दर मुद्राएँ बनाना आदि देखते ही बनता था। मुँहसे निकले हुए मधुर-स्वरको सुनकर तो कानोंका सारा सन्ताप ही दूर हो जाता था। गायनके साथ-साथ मृदंग और मुँहचंग बज रहे थे। नृत्यके प्रसंगमें श्रीराधा-कृष्णके प्रत्येक अंगमें कान्ति की जो तरंगें उठती थीं वह तो मानों प्राणोंको भी प्राण-दान कर रही थीं।

भक्ति-रस-बोधिनी

दई लै मसाल हाथ, निरखि निहाल भई, लाल डीठि परी कोऊ नई यह आई है।
शिव सहचरी-रँगभरी अटकरी; बात मृदु मुसकात नैन कोर मैं जताई है॥
चाहै याहि टारी यह चाहै प्रान वारी, तब स्याम ढिग आय कही नीकैं समुझाई है।
"जावो यही ध्यान करो, करो सुधि आऊँ वहीं," आए निज ठौर, चटपटी सी लगाई है॥४३३॥

अर्थ—श्रीशिवजीने कृपाकर नरसी-सखीके हाथमें मसाल दी और उसके प्रकाशमें युगल-छविको निहारकर नरसी-सखी कृतकृत्य होगई। इतने ही में लालजीकी निगाह जो इनपर पड़ी, तो आप जान गये कि यह कोई नई सखी आई है। लालजीने यह भी अनुमान लगा लिया कि यह रसिक-शिरोमणि श्रीशिव-सहचरीके ही साथ आई है। श्रीशिवजीने भी मन्द-मन्द मुसकरा कर चितवनोंसे प्रार्थना की 'कि इन्हें आप अंगीकार करें।'

प्रिया-प्रियतमके नित्य-विहारकी झाँकी कर लेनेपर शिवजीने नरसी-सहचरीको वहाँसे लिवाकर लेजानेका प्रयत्न किया, परन्तु वह तो अपने प्राण न्यौछावर करनेपर तुली हुई थीं। तब भगवान श्रीश्यामसुन्दरने जरा पास आकर नरसीजीको समझाया—"अब यहाँसे चली जाओ और हमारे इसी रूपके ध्यानमें मग्न रहो। जब-कभी और जिस स्थानपर तुम मेरा स्मरण करोगी वहीं आकर मैं दर्शन दूँगा।"

प्रभुकी आज्ञा शिरोधार्य कर नरसीजी अपने गाँवको लौट आये, पर भगवानके नित्य-विहारके एक बार फिर दर्शन करनेकी तीव्र उत्कंठा हृदयको सताती ही रही।

भक्ति-रस-बोधिनी

कीनो ठौर न्यारो, विप्र-सुता भई नारी, एक सुत उभै वारी, जग भक्ति बिसतारी है।
आवैं बहु संत, सुख देत हैं अनंत, गुन गावत रिझावत औ सेवा-विधि धारी है॥
जितो द्विजजात दुख भयो अति गात, मान्यो बड़ो उतपात, रोष करै न विचारी है।
ऐसो रूप-सागर मैं नागर मगन महा, सकै कहा करि चहूँ ओर गिरधारी है॥४३४॥

अर्थ—भगवानका दर्शन हो जानेके बाद श्रीनरसीजी एक अलग स्थान बनाकर एकान्त में रहने लगे। इसी समय आपका विवाह एक ब्राह्मण-कन्याके साथ हो गया। उससे आपके दो कन्याएँ और एक पुत्र हुआ। गृहस्थ-धर्मका पालन करते हुए भी आपने भगवद्-भक्तिका संसारमें प्रचार किया। आपके घर सन्त-समाजका आना-जाना बना ही रहता था। आप उन्हें सब प्रकारका सुख देते। इस प्रकार प्रभुका गुण-गान करते और उन्हें प्रसन्न करते हुए आप विधि-विधान-पूर्वक भगवानकी आराधनामें संलग्न रहते थे।

नरसीजीके ऐसे आचरण और प्रभाव देखकर आस-पासके सब ब्राह्मणोंके हृदयको बड़ी ठेस लगी (क्योंकि समाजमें उनका पहले-जैसा आदर अब नहीं रहा था)। नरसीजीके सब कार्य उन्हें उपद्रवके समान लगते थे। अविवेकी होनेके कारण उनकी बुद्धिमें यह आता ही नहीं था कि वे नरसीजीके प्रति दुष्टता कर रहे हैं। इधर यह हो रहा था, उधर रसिक नरसीजी भगवानके रूप-सागरमें झकोरे ले रहे थे। दुष्ट लोग भला उनका क्या बिगाड़ सकते थे। उनके तो चारों ओर रक्षक गिरिधारी जो थे। नरसीजी सर्वत्र उन्हींको देखते थे।

भक्ति-रस-बोधिनी

तीरथ करत साधु आये पुर, पूछें "कोऊ हुंडी लिखि देय हमें द्वारिका सिधारिबे।"
जे वे रहे दुखि, कही आस ही भगावैं भूखि, नरसी बिदित साह आगे दाम डारिबे॥
चरन पकरि गिरि जावो औ खिजावो महो कहो बार-बार सुनि बिनती न टारिबे।
दियौ लै बताय घर, जाय वही रीति करी, भरी अंकवार "मेरे भाग, कहा वारिबे"॥४३५॥

अर्थ—एक बार तीर्थाटन करते-करते कुछ सन्त जन जूनागढ़ पहुँचे और पूछने लगे कि 'हमें द्वारिका जाना है; यहाँ कोई महाजन है जो वहाँके लिए हुंडी कर दे।' यह बात उन दुष्टों को मालूम हो गई जो नरसीजीकी निन्दाका प्रचार कर रहे थे। उन्होंने सन्तोंसे कहा—"नरसी जी यहाँके विख्यात महाजन हैं; वे आते ही आपकी आवश्यकताकी पूर्ति कर देंगे। आप रुपए रखकर उनके पैरोंमें गिर जाना और अनुनय-विनय करना। इस प्रकार आप लोग जब बार-बार प्रार्थना करेंगे, तो आपकी बातको वे टालेंगे नहीं और हुंडी कर देंगे।" यह कह कर उन दुष्टोंने नरसीजीका घर भी दिखला दिया।

सन्तोंने ऐसा ही किया; पहुँचे नरसीजीके घर। उन्होंने उठ कर सन्तोंको हृदयसे लगाया और नम्रतापूर्वक बोले—"मेरा बड़ा सौभाग्य है कि आप लोगोंके दर्शन मिले। आज्ञा करिये, मैं क्या निछावर करूँ?"

भक्ति-रस-बोधिनी

सात सौ रुपया गिनि ढेरी करि दई आगे, लागे पग "हुंडी लिखि" कह्यो बार-बार है।
जानी बहकाये, प्रभु दाम दै पठाये, लिखी किये मन भाये "साह साँवल उदार है॥
वाही हाथ दीजियै, लै कीजिये निसंक काज" गये जदुराज धानी पूछ्यौ सो बजार है।
ढूँढ़ि फिरि हारे, भूख-प्यास मीड़ि डारे, पुर तजि भये न्यारे, दुख-सागर अपार है॥४३६॥

अर्थ—सन्तोंने सात सौ रुपयोंकी नरसीजीके आगे ढेरी लगा दी और तब चरणोंमें नमस्कार कर बार-बार कहने लगे—"हमें हुंडी लिख दीजिए।" नरसीजी समझ गये कि किसी ने इन्हें बहका दिया है, किन्तु उन्होंने सोचा कि प्रभुने रुपया देकर इन्हें मेरे पास भेजा है, इस-लिए उन्हींके नामकी हुंडी लिख देनी चाहिये। बस, नरसीने हुंडी लिख दी और बोले—"हमारे आढ़तिया साँवल साह हैं। बड़े उदार हैं वे; उन्हींके हाथमें यह हुंडी दे दीजियेगा और बिना किसी शंकाके अपना काम करिएगा।"

द्वारका पहुँच कर सन्तजनोंने साँवल साहकी कोठीके बारेमें पूछताछ की, बहुत खोजा, यहाँ तक कि भूखे-प्यासे ही घूमते फिरे, पर कहीं पता नहीं लगा। तब निराश और दुखी होकर शहरसे बाहर आकर कहीं पड़ गए।

भक्ति-रस-बोधिनी

साह को सरूप करि आये काँधे थैली धरि "कौन पास हुंडी? दाम लीजिये गनाय कैं"।
बोलि उठे "ढूँढ़ि हारे, भले जू निहारे आजु, कह्यो "लाज हमैं देत, मैं हूँ पाये आय कैं॥
मेरी है इकौसो बास, जानें कोऊ हरिदास, लेवो सुख-रासि, करो चीठी दीजै जाय कैं।
धरे हैं रुपैया ढेर, लिख्यौ करौ बेर-बेर" फेरि आइ, पाती दई, लई गरे लाइ कैं॥४३७॥

अर्थ—सन्तोंको हुंडी लेकर घूमता देखकर स्वयं श्रीकृष्णचन्द्रजी महाजनका रूप धारणकर कन्धेपर थैली रक्खे उनके सामने पहुँचे और कहने लगे—"नरसीजीकी हुंडी किसके पास है? अपना रुपया वह गिनकर लेले।" सन्त बोले—"अजी! आप अच्छे आ गये; हम तो आपको खोजते-खोजते हार गये।" भगवान बोले—"मैं बड़ा शर्मिन्दा हूँ कि आपको रुपये मिलनेमें इतनी देरी हुई। बात यह है कि मैं एकान्तमें रहता हूँ। इस बातको केवल भगवानके भक्त ही जानते हैं। यह लीजिये अपने रुपए और निश्चिन्त हूजिये।" यह कह कर आपने रुपये गिन दिये और नरसीजीको देनेके लिये एक चिट्ठी लिख दी और उनके द्वारा नरसीसे कहलवाया—"आप बार-बार हुंडी लिखा करें। यहाँ भुगतान करनेके लिये रुपयों की कमी नहीं है।"

तीर्थ-यात्रा करनेके बाद सन्त-गण लौटकर फिर नरसीजीके पास पहुँचे और पत्र दिया। पत्र पाकर नरसी मेहता फूले नहीं समाये। उसी आनन्दके आवेशमें वे सन्तों से गले लगा कर मिले।

भक्ति-रस-बोधिनी

"देखि आये साह ?" दौरि मिले उत्साह अंग, बेऊ रंग बोरे संत, संग को प्रभाव है।
हुंडी लिखि दई, दाम लिये सो खवाय दिये, किये प्रभु पूरे काम, संतनि सों भाव है॥
सुता ससुरारि, भयौ छूछक बिचारि, सासु देत बहु गारि, जाके निपट अभाव है।
पिता सों पठाई कहि, "छाती लै जराई इनि, जो पै कछु दियौ जाय, आवो" यह दाव है॥४३८॥

अर्थ—श्रीनरसीजीने सन्तोंसे पूछा—"कहिये, साँवल साहसे मुलाकात हुई आपकी ?" सन्तोंने कहा—"हाँ !" तब सन्त और नरसीजी एक दूसरेसे बड़े उत्साहके साथ मिले। नरसीजी तो आनन्दमें मग्न थे; उनका रंग अब सन्तोंपर भी चढ़ गया। सत्संगका प्रभाव ऐसा ही होता है। हुंडी लिखकर नरसीजीको जो द्रव्य मिला था उसे आपने सन्तोंको खिला-पिला दिया। साधुओंके प्रति नरसीजीकी ऐसी निष्ठा थी, इस लिये प्रभुने आपकी सब अभिलाषायें पूर्ण कीं।

इसी समयके आस-पास नरसीजीके पुत्रीके, जो ससुरालमें थी, पुत्र पैदा हुआ और उसके साथ-साथ छूछक देनेका प्रश्न उपस्थित हुआ। नरसीजीके पास भेजनेको क्या था ? फलस्वरूप छूछक नहीं गया। उधर सास लड़कीको चोंट-चोंटकर खाए जा रही कि 'तेरे बापके यहाँसे कुछ नहीं आया।' अन्तमें ऊबकर पुत्रीने अपने पितासे कहला भेजा—"सास गालियाँ देकर दिन-रात मेरी छातीको जलाती है, यदि आपके पास कुछ देनेको हो, तो अवश्य भेज दें।"

भक्ति-रस-बोधिनी

चले गाड़ी टूटी-सी लै बैल उभय बूढ़े जोरि, पहुँचे नगर-छोर, द्विज कही जाय कैं।
सुनत ही आई, देखि मुँह पियराई, फिरी "दाम नहीं एक तुम कियौ कहा आय कैं ?"॥
चिंता जिनि करौ, जाय सासु हिय ढरौ, लिखि कागद में धरौ अति उत्तम अघाय कैं।
कही समुझाय, सुनि निपट रिसाय उठी, कियौ परिहास, लिख्यौ गाँव लुनसाय कैं॥४३९॥

अर्थ—एक टूटी-सी गाड़ीमें दो बूढ़े बैल जोड़कर नरसीजी उस गाँवमें पहुँचे जहाँ कि उनकी पुत्री ब्याही थी। एक ब्राह्मणने उनके आनेका समाचार उनकी पुत्रीके पास पहुँचाया। सुनते ही वह आई, किन्तु जब देखा कि पिताजी कुछ भी सामान नहीं लाये हैं, तो उसका मुँह पीला पड़ गया। कहने लगी—"यदि आपके पास देनेको एक पैसा भी न था, तो यहाँ क्यों आये ?"

नरसीने उत्तर दिया—"चिन्ता मत करो बेटी। साससे कह दो कि जिन वस्तुओंकी आवश्यकता हो उसका एक चिट्ठा बनादें।" पुत्रीने जब साससे यह कहा, तो वह गुस्सेमें भर कर बोली—तेरे पिताजी मजाक करने आये हैं क्या ?" खिसिया कर सासने गाँवके सब लोगोंके नाम लिखवा दिये कि "इन्हें वस्त्र और आभूषण चाहिये।"

भक्ति-रस-बोधिनी

कागद लै आई, देखि दूसरें फिराई पुनि भूल पै न पाई जात 'पाथर' लिखाये हैं।
रहिबे कों दई ठौर फूटी वही पौरि जाय बैठे सिरमौर आय बहु सुख पाये हैं॥
जल दै पठायौ भली भाँति कै औटायौ, भई बरषा, सिरायौ, यों समोय कै अन्हाये हैं।
कोठरी सँवारि, आगे परदा सो दियौ डारि, लै बजाये तार बेस अगनित आये हैं॥४४०॥

अर्थ—पुत्री जब आवश्यक सामानकी सूची लेकर लौटी, तो नरसीजीने देखकर उसे लौटते हुए कहा—"यदि कोई वस्तु भूलसे रह गई हो, तो फिर लिखवा लाओ, नहीं तो बाद में नहीं मिलेगी। इसपर सासने झुँझला कर सूचीमें 'दो पत्थर' और लिखवा दिये।

(इससे भी अधिक नरसीजीका एक अपमान और किया गया।) उन्हें रहनेके लिये एक टूटा-फूटा घर बता दिया। नरसीजीने उसीमें डेरा डाल दिया और बड़ी प्रसन्नतासे रहने लगे। पुत्रीकी सासने इनके नहानेके लिये खूब औटाकर जल भेजा, लेकिन भगवानकी कृपासे उसी बीच वर्षा होगई। नरसीजीने वर्षाका ठण्डा पानी गरममें मिला दिया और इस प्रकार स्नान किया। इसके बाद आपने कोठरीकी सफाई कर दरवाजेपर एक पर्दा डाल दिया और (सामानकी सूचीको सामने रखकर) तानपूरा ले प्रभुका गुणानुवाद करने लगे। फल यह हुआ कि सूचीमें लिखे हुए अनगिनती पदार्थोंसे कोठरी भरगई।

भक्ति-रस-बोधिनी

गाँव पहिरायौ, छबि छायौ, जस गायौ, अहो हाटक रजत उभै पाथर हू आये हैं।
रहि गई एक भूलें लिखत अनेक जहाँ "लै हौं ताही पास जापै सब मिलि पाये हैं"॥
बिनती करत बेटी "दीजिये जू लाज रहै," दियो मँगवाय, हरि फेरि कै बुलाये हैं।
अंग न समात सुता तात कौ निरखि रंग संग चली आई पति आदि बिसराये हैं॥४४१॥

अर्थ—नरसीजीने गाँवके सब स्त्री-पुरुषों की 'पहिरावनी' की। नए-नए वस्त्र-आभूषण पहिन कर लोगोंकी शोभा बढ़ गई। सब उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगे। इस सामानके साथ नरसीजीने समधी-समधिनके लिये सोने-चाँदीकी दो ईंटें भी दीं। संयोगसे जहाँ गाँवके सब स्त्री-पुरुषोंके नाम सूचीमें लिख दिए, वहाँ एक औरत लिखनेसे रह गई। उसने आकर कहा—"जिन हाथोंसे गाँवके सब स्त्री-पुरुषोंको वस्त्र-आभूषण मिले हैं, उन्हींसे मैं लूँगी।" इसपर पुत्रीने अपने पिताजीसे प्रार्थना की—"इसको भी दीजिए ताकि मेरी लज्जा रह जाय।" नरसीजीने एक बार फिर प्रभुका स्मरण किया और उस स्त्रीकी इच्छा पूरी की।

नरसीजीकी पुत्री अपने पिताजीका ऐसा चमत्कार देखकर फूली नहीं समाई। वह अपने पति, सास-ससुर सबको भूलकर नरसीजीके साथ जूनागढ़ चली आई।

भक्ति-रस-बोधिनी

सुता हुती दोय, सोय भक्ति, रही घर ही में, एक पति त्यागि, एक पति हू न कियौ है।
पुर में फिरत उभै गाइन सुनाइन सों, धन सों न भेंट, काहू नाम कहि दियौ है॥
आई लगीं गाइबे कों, कही समझाय, "अहो पाइबे को नाहीं कछु पावै दुख हियौ है।
चाही हरि-भक्ति तो मुँड़ाय कै लड़ाय लीजै, कीजै बार दूर", रहीं प्रेम-रस पियौ है॥४४२॥

अर्थ—नरसीजीकी दो पुत्रियाँ थीं—कुँवर सेना और रतन सेना। हरि-भक्तिमें विभोर होकर दोनों अपने पिताके पास ही रहती थीं। बड़ीने तो अपने हरि-विमुख पतिको त्याग दिया था और छोटीने विवाह ही नहीं किया।

एक बार जूनागढ़में सामान्य जाति की दो गानेवाली स्त्रियाँ आईं। उन्होंने कई स्थानों पर बड़े उत्साह और प्रेमके साथ अपना गाना सुनाया, पर किसीने कुछ नहीं दिया। तब किसी ने उनसे कहा—"नरसीजीके यहाँ जाओ।" उन्होंने ऐसा ही किया और नरसीजीको अपना गाना सुनाया। गाना सुनकर आप कहने लगे—"मुझसे तुम्हें कुछ नहीं मिलेगा और तुम्हारे मनमें दुःख होगा। हाँ, यदि भगवानकी भक्ति करना चाहो, तो सिर मुँड़ाकर विरक्त हो जाओ; इन शालोंको उतरवा डालो। उन्होंने ऐसा ही किया और आपके यहाँ रहते हुए प्रेमा-मृतका पान करने लगीं।

भक्ति-रस-बोधिनी

मिलीं उभै सुता, रंग झिलीं संग गायन वै, चायनि सों नृत्य करें, भायनि बताय कें।
"सालंग" है नाम मामा मंडलीक मंत्री रहै, कही "विपरीत बड़ी" राजा सों सुनाय कें॥
बड़े बड़े दंडी और पंडित समाज कियौ, करी वाकी भंडी, देश दीजिये छुड़ाय कें।
आये चार चोबदार चलौ जू बिचार कीजै, भयौ दरबार हमें दियो है पठाय कें॥४४३॥

अर्थ—अब दोनों गायिकायें और नरसीकी पुत्रियाँ भगवानके प्रेममें रँगकर साथ-साथ रहतीं, गातीं और भावोंका प्रदर्शन करती हुई प्रेमसे नाचतीं। यह देखकर 'सालंग' नामक राजाके प्रधान-मन्त्रीने, जो कि नरसीजीका मामा होता था, राजासे (नरसीजीकी शिकायत करते हुए) कहा कि 'यह तो बड़ा अनुचित काम होरहा है (कि चार युवती लड़कियाँ इस प्रकार गाती फिरती हैं)। राजाकी आज्ञा लेकर सालंगने संन्यासी और विद्वानोंकी सभा बुलाई और उनसे कहा—"आप लोग नरसीजीको शास्त्रार्थमें पराजित कर उसे कुमार्गगामी सिद्ध करिये; हम उसे देशसे निकाल देंगे।" यह कहकर नरसीजीको बुलानेके लिये चार राज-पुरुष भेज दिये।

राज-पुरुषोंने आकर कहा—"दरबारने हमें आपको बुलानेके लिये भेजा है। वहाँ पंडितों की सभा जुड़ी है। उसमें कुछ विचार-विमर्श होगा।"

भक्ति-रस-बोधिनी

"चारौं तुम जावो टरि, भयौ हमें राजा डर," सकै कहा करि? प्रभू चलें संग संग हीं"।
नाचत बजावत ये चलीं छिब गावत सुभावत मगन मानी भीजि गईं रंग हीं॥
आये वाही भाँति, सभा प्रभा-हत भई तऊ बोले कही—"रीति यह युवती प्रसंग हीं?"।
कही "भक्ति-गंध दूरि, पढ़े पोथी, परी धूरि, भीखुक सराही तिया माधुरनि भंग हीं॥४४४॥

अर्थ—राज-पुरुषों द्वारा राजाका सन्देश सुनकर नरसीजीने चारों लड़कियोंसे कहा—

"तुम लोग यहाँसे कहीं चली जाओ; राजाकी ओरसे हमें भय पैदा होगया है।" इन्होंने उत्तर दिया—"राजा हमारा क्या कर सकता है ? हम अभी आपके साथ चलती हैं।"

और तब वे चारों नरसीजीको साथ लेकर गाती-बजाती और प्रेम-भावमें मग्न होती हुई अपने ही रंगमें मस्त हो राजाके पास पहुँचीं। इस प्रकार नरसीजी जब सभामें पहुँचे, तो वहाँ उपस्थित सारा जन-समाज उन्हें देखकर फीका-सा पड़ गया। सबके मुँहकी कान्ति क्षीण होगई।

इतने पर भी पंडितोंने पूछा—"आप इस प्रकार तरुणियोंको जो साथ लिये फिरते हैं, यह किस शास्त्रमें लिखा है ? भजन करनेकी यह कौन-सी रीति है ?" आपने कहा—"तुम लोगोंको भक्ति छू तक नहीं गई है; तुम्हारे ऐसे कोरे शास्त्र-ज्ञानपर धूल पड़ गई ! आपको मालूम होना चाहिए कि श्रीमद्भागवतमें श्रीशुकदेवजीने उन माथुर ब्राह्मणों (चौबों) की स्त्रियों की कितनी प्रशंसा की है जो अपने हरि-विमुख पतियोंके मना करनेपर भी अनेक प्रकारके व्यंजन लेकर भगवान श्रीकृष्ण और ग्वाल-बालोंके पास गईं और उनकी क्षुधाका निवारण किया। बादमें स्वयं उनके पतियोंने उनकी प्रशंसा की और अपने आपको धिक्कारा। (अतः भगवानकी भक्तिके प्रसंगमें स्त्री-पुरुषका अथवा युवा-युवतीका प्रश्न ही नहीं उठता।)

मथुराके ब्राह्मणों द्वारा अपने आपको धिक्कारनेका प्रसंग श्रीसूरदासजीके मुँहसे सुनिये—

हम सबहिं मंदभाग भगवान सों बिमुख भये, अन्य वे नारि गोबिंद पूजैं ।
मूँदि रहे नैन हम सब उलूक ज्यों, भानु भगवान आये न सूझै ॥
संग गोधन लगे खेल रसरंग में, भोर के निकसि भूके हम आये ।
देहु तौ भात करि जोर ग्वालन कह्यौ, अहो भूदेव तुम पैं पठाये ॥
केवल करुना हरनि प्रात भोजन करनि, निगम हू अगम महिमा बतावैं ।
कहाँ प्रभु की बचनि हमारे मद की मचनि,वेद की रचनि कछु कहि न आवैं ॥
सौच आचार गुरु कुल हि सेवा कछू, कुटिल करकस हिये बुद्धि दीनी ।
देखौ इन तियनि कौ भाग या जगत में, सच्चिदानंद के रंग भीनी ॥
उमँगि पहले चली पार संसार के, साँवरी कुँवर हिय माँझ पोयो ।
परि रहे कूर सुरलोक आसा अलप, पाइ अमी आस अमृत निचोयो ॥
तिया कौतुक मिली कछुक जानी चली,कमलिनी हियो मन ना मिलावैं ।
सेस त्रिपुरारि ब्रह्मादि सनकाद सुख, चरन की रेनु सिर पर चढ़ावैं ॥
जदपि नारायन अवतार जदुकुल बिषै, सुन्यौ बहु भाँति तौ मन न आये ।
देखौ या दैव की माया अति मोहिनी, दई ठग धूरि हम सब भुलाये ॥
धिक जन्म जाति कुल क्रिया स्वाहा स्वधा,जोगजत जप तप सकल धिक हमारे।
ज्ञान विज्ञान धर्म कछु कर्म नाहीं, ईस-पद-बिमुख आरंभन सारे ॥
गृह आगार संसार दुख संभवै, मिथुन मृग निर्मयो मन मिलावैं ।
'सूर' कीसोर हरि-बिमुख जग में बड़े, बुझि गयौ दीप जस बड़ कहावैं ॥

भक्ति-रस-बोधिनी

बोलि उठ्यो विप्र एक "छूछक प्रसंग देख्यौ," कह्यौ रस रंग भरयौ, ढरयौ नृप पाँय मैं।
कही जू "विराजौ, गाजौ नित सुख साजौ जाय, किये हरि राय बस, भीजे रह्यौ भाय मैं॥
धारी उर और, सिरमौर प्रभु मंदिर मैं, सुन्दर केदारौ राग गावै भरे चाय मैं।
स्याम-कंठ-माल टूटि आवत रसाल हियें, देखि दुख पावै, परे विमुख सुभाय मैं॥४४५॥

अर्थ—नरसीजीके उत्तरसे प्रतिपक्षी पंडित जब मौन होगये, तब सभामें बैठे हुए एक ब्राह्मणने कहा—"राजन्! मैंने अपनी आँखोंसे देखा है कि नरसीजी जब अपनी पुत्रीका छूछक देने गए थे तब किस प्रकार इन्होंने अपनी भक्तिके प्रभावसे एक कोठरीमें-से ही वस्त्रा-भूषण निकाल कर सारे गाँवको पहिना दिये।" यह सुनकर राजा आपके पैरोंपर गिर पड़ा और बोला—"आप जाइये और सुख-पूर्वक विराजिये। आपने भगवानको अपने अधीन कर लिया है; उन्हींकी प्रेमा-भक्तिमें आप मग्न रहिये।"

एक बात और सुनिये और उसे अपने हृदयमें सदाके लिये रख लीजिये। भक्त शिरो-मणि नरसीजी प्रभु-मन्दिरमें प्रेमसे तन्मय होकर 'केदारा' राग गाया करते थे। गा चुकनेपर श्रीश्यामसुन्दरके कंठकी फूलोंकी माला टूट कर आपके वक्षःस्थलपर आ जाती थी। यह चरित्र देखकर भक्तोंको बड़ा सुख मिलता था, किन्तु जो नरसीजीसे स्वभावसे ही द्वेष रखते थे, उन्हें दुःख होता था।

भक्ति-रस-बोधिनी

नृपति सिखायौ जाय, "वृथा जस छायौ, काचे सूतमें पुवायौ हार, टूटै ख्याल करी है।"
माता हरिभक्त भूप कही "जिनि करौ कान" तऊ बानि राजस की माया मति हरी है॥
गयौ दिग मन्दिरके सुन्दर मँगाय पाट तागौ बटवाय करि माला गुहि धरी है।
प्रभु पहिराय कह्यौ, 'गाय अब आनि परै", भरे सुर, राग और गायौ पै न परी है॥४४६॥

अर्थ—नरसीजीसे द्वेष रखनेवाले लोगोंने राजाको सिखला दिया कि 'नरसीकी भक्तिके चमत्कारका जो इतना यश फैला हुआ है, उसके पीछे कोई वास्तविकता नहीं है। यह सब कोरा पाखण्ड है। यह कच्चे सूतमें फूलोंको गूँथकर भगवानको पहिना देता है। फूलोंके बोझ से माला टूट पड़ती है, पर विख्यात इसने यह कर रक्खा है कि वह टूट कर प्रसादीके रूपमें इसे मिलती है।' राजाकी माता हरिभक्त थीं। उन्होंने राजासे कहा कि 'ये सब हरि-विमुख हैं; इनकी बातोंका विश्वास मत करो।'

किन्तु राजा नहीं माना। उसके स्वभावमें राजाओं जैसा अहंकार था; मायाके कारण बुद्धि ठिकाने नहीं थी। वह उस मन्दिरमें गया जहाँ नरसीजी गाया करते थे। उसने बहुत बढ़िया रेशम मँगाकर, उसका धागा बँटवाकर माला बनवाई और प्रभुको धारण कराकर बोला—"अब गाइए, सब पता लग जायगा।"

नरसीजीने स्वर-साधना की तथा केदारा राग न गाकर अन्य राग गाए, पर माला टूट कर नहीं गिरी।

भक्ति-रस-बोधिनी

विमुख प्रसन्न भये, तब तौ उराहनें दें नये-नये चोज हरि सनमुख भाखिये।
"जाने ग्वाल बाल, एक माल गहि रहे हिये, जिये लाग्यो यही रूप, कही लाख लाखिये॥
नारायण बड़े महा, अहो मेरे भाग लिख्यौ, करै कौन दूरि, छबि पूर अभिलाखिये।
मेरो कहा जाय, आय परसँ कलंक तुम्हें, राखिये निसंक हार, भक्त मार नाखिये॥४४७॥

अर्थ—नरसीजीके गाने पर जब भगवानने गलेमें की माला नहीं टूटी, तो उनके द्वेषी लोग बड़े प्रसन्न हुए। इसपर नरसीजी नई-नई चमत्कार-भरी उक्तियों द्वारा भगवानको इस प्रकार उलाहने देने लगे—"मैं समझ गया कि तुम निरे ग्वाल के बालक हो, अर्थात् रसिकता से अपरिचित हो। यदि ऐसा नहीं है, तो एक पैसेकी इस मालाको गलेसे क्यों चिपकाए बैठे हो। इधर मेरी लाचारी यह है कि मुझे आपका यह गोप-वेष ही अच्छा लगता है; कोई लाख समझावे, इसके अतिरिक्त और कोई रूप मुझे भाता ही नहीं है। आपका एक रूप 'नारायण' भी है। उनकी महिमा क्या कही जाय। वे लक्ष्मीके पति हैं और संसारको सब कुछ देनेमें समर्थ हैं, पर वे नारायण मेरे किस कामके? मेरे भाग्यमें तो 'गोपाल' (पशुओंको चराने वाले) ही लिखे हैं। इस लिखेको कौन मेट सकता है? इसीलिये अनूप सौन्दर्यशाली गोपालकी छबि को ही देखनेकी मैं अभिलाषा रखता हूँ। यदि आप दया नहीं करते तो हमारा क्या बिगड़ता है? यह कलंक तो आपको ही लगेगा कि आपने अपने भक्तकी उपेक्षा की। आप बिना किसी शंका-संकोचके मालाको गलेमें पहिने रहिये। यदि भक्त मरता है तो आपकी बलासे?

इस प्रसंगको लेकर गुजरातमें बड़े-बड़े सुन्दर पद गाये जाते हैं। उनमेंसे एक इस प्रकार है—

बधिर नवे ली देवा, बधिर भये तौ, आपनो विरद क्यों विसरे जौं?
कोपियो मदनी कम्हाने मारिसो, मुझ टीक धूलि दालि आपसी भक्ति करी तो नरसी।
यौं मारिसी तो भक्त बछल तारों विरद जाहसी, मलेछनी जाति कबीर उधारी नाम न माला छापसी॥

भक्ति-रस-बोधिनी

रहैं तहाँ साह, किये उभै लै विवाह जाने तिया एक भक्त कही 'हरि कों दिखाइये।'
नरसी कही हौ "भलै", सोई प्रभु बानी लई, साँच करि दई, गए राग छुटवाइये॥
बोले, पट खोलि दिये, किये दरसन तानें, लाभे पट सोवे वह कही "देवो भाइये।"
लिये दाम, काम कियौ, कागद महाय दियौ, दियौ कल्हु साहबे कों, पायौ ले भिजाइयें॥४४८॥

अर्थ—जिस प्रदेशमें नरसीजी रहते थे वहाँ एक सेठ था। उसने दो विवाह किये थे। इनमेंसे एक स्त्री हरि-भक्त थी। उसने नरसीजीसे अनुरोध किया कि 'मुझे भगवानके दर्शन करा दीजिये।' आपने उसकी प्रार्थना स्वीकार कर ली। भक्तके बचनको सत्य सिद्ध करने तथा गिरवी रक्खे गए केदारा रागको छुड़ानेके लिये, भगवान नरसीजीकारूप धारणकर सेठके घर

गए और पुकारा उसे। स्त्रीने किवाड़ खोल दिये और प्रभुके दर्शन किये। अभागा सेठ उस समय मुँह ढाँककर सो रहा था। उसने सोचा कि नरसी रुपया देकर केदारा राग छुड़ाने आया है, अतः स्त्रीसे कह दिया—"रुपए ले लो और रुक्का लौटा दो।" उसने ऐसा ही किया और बाद में खानेके लिए प्रभुको कुछ अर्पण किया। प्रभुने जब भोग लगा लिया, तो सेठानी कृत-कृत्य होगई।

शंका-समाधान—कुछ टीकाकारोंने इस स्थानपर एक विलक्षण शंका उठाई है उसका समाधान भी विलक्षण किया है।

प्रश्न यह है कि यदि भगवान नरसीका रूप धारणकर सेठानीके पास पहुँचे, तो उसे यह कैसे विश्वास हुआ कि उसके घर स्वयं भगवान ही पधारे हैं? उत्तर यह दिया जाता है कि रुपया देकर और रुक्का लौटाकर भगवान सेठकी स्त्रीके सामने प्रत्यक्ष होगए और अपने रूपका दर्शन कराया।

भक्ति-रस-बोधिनी

गहने धरयौ हो राग केदारौ, श्री साहु घर, धरि रूप नरसीको, जाय के छुटायौ है।
कागद लै डारयौ गोद, मोद भरि गाय उठे, आय भक्त भक्त स्याम हार पहिरायौ है॥
भयौ जै जैकार, नृप पाय लपटाय गयौ, गह्यौ हिये भाव सो प्रभाव दरसायौ है।
विमुख खिसाने भये, गये उठि, नये नाँहि, बिन हरि कृपा भक्ति-पंथ जात पायौ है?॥४४९॥

अर्थ—श्रीनरसीजीने सन्त-सेवाके निमित्त कुछ द्रव्य सेठसे उधार लिया था और केदारा रागको उसके यहाँ गिरवी रख दिया था। भगवानने नरसीजीको इस ऋणसे मुक्त करनेके लिए नरसीका रूप धारण किया और सेठके रुपए चुका कर लिखा-पढ़ी वाले कागजको वापिस ले आये और नरसीजीकी गोदमें डाल दिया। कागजको देखकर नरसीजी समझ गये कि यह कृपा भगवानने ही की है। बस, आपने केदारा राग गाना प्रारम्भ कर दिया। केदारा गाते ही नूपुरोंसे झनझनाते हुए स्वयं श्रीश्यामसुन्दर अपने सिंहासनसे उठे और अपने कर-कमलोंसे नरसीजीको माला पहिना दी। भक्त जय-जयकार कर उठे। यह चमत्कार देखकर राजा नरसीजीके पैरोंपर गिर पड़ा और आपके प्रति अत्यन्त भक्ति प्रदर्शित की।

नरसीके द्वेषी लोग खिसियानेसे रह गये और उठकर चल दिये। उन्होंने न तो प्रभुको प्रणाम किया और न नरसीजीको। भला भगवानकी कृपाके विना कोई भक्ति-मार्गका अधिकारी हो सकता है!

कहते हैं राजाके जिस मंडलीक (मन्त्री) ने राजाको नरसीजीके विरुद्ध भड़काया था, वह तीन माह पीछे यवनोंके हाथसे मारा गया।

भक्ति-रस-बोधिनी

करन सगाई आयौ, पायौ वर भायौ नाँहि, घर-घर फिरयौ, द्विज नरसी बतायौ है।
आय, सुख पाय, पूछ्यौ, सुत सो दिखाय दियौ, कियौ लै तिलक मन देखत चुरायौ है॥
"प्रभू हम लायक न, तुम सब लायक हौ," लायक सो छुट्यौ आय नाम लै सुनायौ है।
सुनत ही माथौ ढोरि कहै 'तालकूटा वह, बाल बोरि आयौ, जावौ फेरि, दुख पायौ है॥४५०॥

अर्थ—एक पुरोहित कहींसे अपने ब्राह्मण-यजमानकी कन्याके लिये वर खोजता हुआ जूनागढ़ आया। उसने घर-घर जाकर कई लड़के देखे; पर कोई पसन्द न आया। इसी बीच किसीने उसे खबर दी कि नरसीके एक बड़ा सुन्दर पुत्र है। यह सुनकर ब्राह्मण बड़ा प्रसन्न हुआ और नरसीजीके यहाँ जाकर उसने लड़केके सम्बन्धमें पूछताछ की। नरसीजीने अपने पुत्र को दिखला दिया। देखते ही ब्राह्मण लट्टू हो गया और तत्काल तिलक कर दिया। नरसीजी ने पुरोहितसे कहा—"आपके यजमान (कन्याके पिता) तो बड़े सम्पन्न हैं; उनके मुकाबिलेमें हम तो कुछ भी नहीं हैं।" ब्राह्मणने उत्तर दिया—"नहीं, आप सब प्रकारसे योग्य हैं।"

तिलक करके ब्राह्मण तीरकी तरह जूनागढ़से चला और कन्याके पिताको समाचार सुनाया कि 'मैं नरसीजीके लड़केका तिलक कर आया हूँ।' नरसीजीका नाम सुनते ही कन्या का पिता माथा ठोककर बोला—"वह तो झाँझ—कूटा है। तुमने मेरी लड़कीको कुएँ में फेंक दिया। जाओ, तिलक वापिस कर लाओ। मेरे लिए यह बड़े दुःखका विषय हो गया।

भक्ति-रस-बोधिनी

"काटि कै अँगूठा डारौ, तब सो उतारौ भाल, मन मैं विचारौ, कियौ तिलक बनाय कैं।"
जाने 'सुता भाग ऐसे,' रहे सोच पागि सब, आवै जब ब्याहिबे कौं धन दै अघाय कैं॥'
लगन हू लिखि दियौ, लियौ, द्विज आनि लियौ, डारि राख्यौ कहूँ, गावैं ताल ए बजाय कैं।
रहे दिन चार, पै बिचार नहीं नेकु मन, आये कृष्ण रुक्मिणी जू, भूमि मिले धाय कैं॥४५१॥

अर्थ—अपने यजमानकी यह बात सुनकर कि तिलकको वापिस कर लो, ब्राह्मणने कहा—"पहले मेरे इस अँगूठेको जिससे कि मैंने तिलक किया है, काट डालिए, तब तिलक फेरनेकी बात मुँहसे निकालिये। भला सोचिये तो सही, मैं वहाँ जा कर क्या कहूँगा? मैंने तो अपनी समझमें खूब सोच-समझकर तिलक किया है।"

कन्याके पिताने यह सोचकर संतोष कर लिया कि बेटीके भाग्य ही ऐसे हैं। अन्तमें बहुत दुखी होकर घरवालोंने यह निर्णय किया कि जब वर-पक्षके लोग ब्याहने आवेंगे, तो उन्हें बहुत-सा द्रव्य दहेजमें देकर अपने योग्य बना लिया जायगा।

इसके बाद लग्न-पत्रिका भेजनेका समय आया। घरके पुरोहितने लग्न-पत्रिका लिखकर नरसीजीके सामने रक्खी, तो उन्होंने उसे बिना देखे ही एक ओर रख दिया और ताल बजा-बजा कर हरि-कीर्तन करने लगे। जब बिवाहके केवल चार दिन बाकी रह गए और भगवानने देखा कि नरसीजीको ब्याहकी कोई चिन्ता नहीं है, तो आप रुक्मिणीजीको लेकर आये। नरसीजी प्रेमसे विह्वल होकर भगवानसे मिले और उनके चरणोंमें अपना सिर रख दिया।

विशेष—कहते हैं, एक दिन श्रीकृष्ण भगवान द्वारकामें रुक्मिणीजीके साथ चौपड़ खेलते-खेलते अचानक उठ खड़े हुए। रुक्मिणीजीने पूछा—"प्रभो! कहाँ पधारे?" भगवानने उत्तर दिया—

"नरसीजीके पुत्रका विवाह बिलकुल निकट आ गया है और उस भले आदमीने कोई तैयारी नहीं की है—बैठा हुआ झाँझ पीट रहा है। ऐसेमें उसके यहाँ का सब प्रबन्ध मैं न करूँगा तो और कौन करेगा?"

रुक्मिणीजी बोलीं—"भला सुनूँ तो आपको विवाह करानेका कब का अनुभव है? बालकपन गायें चराते बीता, किशोर-अवस्था गोपियोंको रिझाने में; अब चले हैं समधी बनने।"

"और वे जो सोलह हजार एक सौ आठ आई हैं, इन्हें क्या रुक्मिणीजी ब्याह कर लाई थीं?" श्रीकृष्णने पूछा।

"मौहर बाँधकर तो इनमें-से एकको भी नहीं लाए आप। या तो अपहरण किया होगा, या किसीने चलते-फिरते पकड़ाई होंगी।" रुक्मिणीजीने व्यंग करते हुए कहा।

"यह नहीं कहोगी कि पत्र भेजकर बुलवाय लिया होगा?" श्रीकृष्णने मुस्कराते हुए पूछा।

रुक्मिणीजी निरुत्तर होगईं। बात बदल कर बोलीं—"यही सही, पर सच बात तो यह है कि विवाहके प्रबन्धका अनुभव आपको नहीं है।"

"नहीं है, तो तुम चलो न मेरे साथ?"

रुक्मिणीजी यही कहलवाना चाहती थीं। भगवानकी स्वीकृति पाकर वे जल्दीसे तैयार होगईं और तब दोनोंने जूनागढ़की ओर प्रस्थान किया।

भक्ति-रस-बोधिनी

ठौर-ठौर पकवान होत, तिया गान करें, घुरत निसान, कान सुनियै न बात है।
चित्र मुख कियो लै विचित्र पटरानी आप, घोरी रंग बोरी पै चढ़ायौ सुत, रात है॥
करी सो ज्योंनार, तामें मानस अपार आये, द्विजनि बिचारि पोट बाँधी, पैन मात है।
मणि मैं ही साज बाज गज रथ ऊँट कोर, भमकें किशोर आज सजी यों बारात है॥४५२॥

अर्थ—श्रीकृष्ण और रुक्मिणीके पहुँचते ही नरसीजीका घर ऐश्वर्यकी चहलसे गूँज उठा—जगह-जगहपर मिठाइयाँ और पकवान बनने लगे, स्त्रियाँ गाने लगीं और नगाड़े आदि मांगलिक बाजोंकी ध्वनिके कारण एक-दूसरेकी बात सुनाई देना कठिन हो गया। पटरानी श्रीरुक्मिणीजीने स्वयं अपने कर-कमलोंसे बरदाके मुँहको तरह-तरहकी पत्र लेखाओंसे सजाकर रंगीन छापे लगी हुई घोड़ीपर सवार किया। तदुपरान्त ज्योंनारका आयोजन हुआ जिसमें असंख्य मनुष्योंने भोजन किया। ब्राह्मण भोजन कर गये और साथमें पारस भी बाँधकर ले गए, परन्तु ऐसा करनेसे भी भंडारमें कोई कमी नहीं पड़ी। बारातके घोड़ा, हाथी, रथ, ऊँट आदि सवारियाँ रत्न-जटित सोनेके साजसे सजाई गईं। इनपर किशोर अवस्थाके दिव्य पुरुष बैठे हुए अदासे झूम रहे थे। ऐसी दिव्य बारात सजाई गई उन नरसीजीके पुत्र की।

भक्ति-रस-बोधिनी

नरसी सों कहैं गहैं हाथ "तुम साथ चलो, अंतरिछ मैं हूँ चलौं, इती बात मानियै।"
कही "प्रभू! जानो तुम, मैं तो हिये आनों यही लहै सुख मन मेरो फेट लाल आनियै॥"
आप ही बिचारि सब भार सो उठाय लियौ, दियौ डेरा पुरी समधी की पहिचानियै।
मानस पठायौ दिन आयौ पै न आये, अहो देखें छबि छायें नर पूछें जू बखानियै॥४५३॥

अर्थ—बरात सज जानेके बाद श्रीकृष्णचन्द्रने नरसीजीका हाथ पकड़ कर कहा—"तुम बरातके साथ चलो, मैं आकाश-मार्गसे आता हूँ; इतनी बात तो हमारी मान लो।" नरसीजी बोले—"भगवन्! आप जानो, आपका काम जाने। मुझे तो केवल एक काम आता है। वह यह कि जहाँ आप आज्ञा करें वहीं फेंट बाँध और मँजीरा हाथमें लेकर आपके गुण-गान करता रहूँगा।" इसपर भगवानने सोचा कि यह भला आदमी कुछ नहीं करेगा, और सारा उत्तरदायित्व अपने ऊपर ले लिया। बरात चढ़ाकर आप समधीके नगर पहुँचे और पास ही कहीं बरातको टिका दिया—सोचा कि समधी स्वयं खबर लेगा कि बरात आ गई है या नहीं। उधर समधीने अपने आदमी भेजे। उसे चिन्ता हो रही थी कि विवाहका नियत दिन आ पहुँचा, फिर भी बरात क्यों नहीं आई। खोज-खबर लेनेके लिये गये हुए आदमियोंने जब बरातको देखा, तो पूछने लगे कि 'यह सुन्दर बरात किसकी है?' बरातके लोगोंने उन्हें बता दिया कि यह 'नरसी मेहताके पुत्रकी बरात है।'

भक्ति-रस-बोधिनी

"नरसी बरात? मत जानौ यह नरसी की, नरसी न पावै ऐसी समझ अपार है।"
आय कै सुनाई, सुधि-बुधि बिसराई, कही "करत हँसाई, बात भाखौ निरधार है॥"
गयौ जो सगाई करि दर बर आयौ द्विज निज अंग मात कैसे रंग बिस्तार है।
कही "एक घास धनरासि सौं न पूजै कि हूं, चहूँ दिसि पूरि रही देखौ भक्ति-सार है॥४५४॥

अर्थ—"नरसीके पुत्रकी बरात है," यह सुनकर कन्या-पक्षके लोगोंके आश्चर्यका ठिकाना न रहा। उन्हें विश्वास ही नहीं होता था—बार-बार आपसमें यही कहते थे कि यह नरसीकी बरात हो ही नहीं सकती। नरसीमें भला इतनी समझ कहाँ कि वह ऐसी बरात चढ़ा सके! वहाँसे लौटकर जब यह समाचार कन्याके पिताको दिया, तो वह होश-हवास भूल गया। कहने लगा—"क्यों हँसी करते हो? ऐसी निराधार बात करनेसे क्या फायदा?"

इतने ही में वह ब्राह्मण भी आ गया जिसने अपने हाथोंसे तिलक किया था। वह भी बरात देख कर लौट रहा था। उसके रोम-रोमसे प्रसन्नता फूटी पड़ती थी—प्रेमका रंग शरीर में समा नहीं पा रहा था। बोला—"जितना तुम्हारे पास धन है उससे घोड़ोंकी घासका भी पूरा नहीं पड़ेगा। यह नरसीजी की उस भक्तिका प्रभाव है जो चारों दिशाओंमें फैल रही है।"

भक्ति-रस-बोधिनी

चले अचरज मानि, देखि अभिमान गयौ, लयौ पाछौ बांभन को "हमैं राखि लीजियै।"
'जाय गहि पाँय रह्यौ भाय भरि 'दया करौ' गये दृग भरै, पाँय परै "कृपा कीजियै॥"
मिले भरि अंक, लै दिखायौ तो मयंक-मुख "हूजियै निसंक इन्हैं भार सुता दीजियै।"
ब्याह करि आये, भक्ति-भाव सरसाये, सब गाये गुन जाने जेते, सुनि-सुनि भीजियै॥४५५॥

अर्थ—नरसीजीकी बरातका विवरण सुनकर कन्याके पिताका सारा अभिमान दूर हो

गया। आश्चर्यमें भर कर उसने ब्राह्मणके पैर पकड़ लिये और कहने लगा—"मेरी लाज अब आपके ही हाथ है।" ब्राह्मणने उत्तर दिया—"हृदयमें भक्ति रख कर उन नरसीजीके ही पैरोंमें पड़िये और उनसे दयाकी भीख माँगिये।"

कन्याके पिताने वैसा ही किया—आँखोंमें प्रेमके आँसू भरकर नरसीजीके पैर पकड़ लिये और कहा—"दास पर कृपा करिये।"

नरसीजीने समधीको उठाकर गलेसे लगाया और श्रीकृष्णके मुखचन्द्रका दर्शन कराया। प्रभुने कन्याके पितासे कहा—"डरनेकी आवश्यकता नहीं है; अपनी कन्याके विवाहका भार इन नरसीजीपर ही छोड़ दीजिये—ये सब कर लेंगे।"

इस प्रकार नरसीजी अपने पुत्रका विवाह कर भगवानके भक्ति-भावमें रँगे हुए अपने घर आये। टीकाकार श्रीप्रियादासजी कहते हैं कि 'नरसीजीके जितने गुण मैं जानता था, यहाँ वर्णन किए हैं। मनुष्यका कर्तव्य है कि इन चरित्रोंका अनुशीलन करते हुए अपना जीवन बितावे।'

मूल (छप्पय)

(श्रीजसोधरजी)

सुत कलत्र संमत सबै गोबिंद-परायन।
सेवत हरि हरिदास, द्रवत मुख राम-रसायन॥
सीतापति कौ सुजस प्रथम ही गवन बखान्यौ।
द्वै सुत दीजै मोहि कवित सब ही जग जान्यौ॥
गिरा-गदित लीला मधुर संतनि आनँददायनी।
दिवदास बंस 'जसोधर' सदन भई भक्ति अनपायनी॥१०६॥

अर्थ—श्रीजसोधरजी श्रीदिवदासजीके वंशमें उत्पन्न हुए थे। आपके पुत्र (श्रीअभय-रामजी), धर्मपत्नी आदि सब भगवानके भक्त थे और श्रीहरि और हरि-भक्तोंकी सेवा किया करते थे। सबके मुखसे अहर्निश राम-नामका उच्चारण होता रहता था। एक दिन आपके यहाँ रामायणकी कथाका प्रसंग आया, जबकि श्रीरामचन्द्रजी विश्वामित्रजीके साथ पहले-पहल घर छोड़कर गए थे। श्रीतुलसीदासजी द्वारा कवितामें वर्णित यह प्रसंग सबको विदित है कि किस प्रकार श्रीविश्वामित्रजीने महाराज दशरथसे उनके दो पुत्रों—श्रीराम-लक्ष्मणको यज्ञकी रक्षाके लिये माँगा था।

श्रीजसोधरजी इस वृत्तान्तको सुनकर प्रेमावेशमें विह्वल होकर पुकार उठे—"मैं भी आपके साथ चलूँगा।" इसपर प्रभु श्रीरामचन्द्रजीने प्रत्यक्ष होकर कहा—"तुम यहीं ठहरो;

हम अभी लौट कर आते हैं।" परन्तु, श्रीजसोधरजीसे, भगवानका वियोग सहन नहीं हुआ और उन्होंने वहीं अपने प्राण भगवानपर न्यौछावर कर दिये।

इस प्रकार सन्तोंको आनन्द देनेवाली यह मधुर लीला हुई।

विशेष—श्रीनाभाजीके छप्पयकी यह व्याख्या श्रीरूपकलाजीके अनुसार की गई है, परन्तु यह सन्देहसे शून्य नहीं। श्रीजसोधरजीके इस प्रकार प्राण त्यागनेकी घटना की ओर संकेत करनेका क्षीण आभास भी श्रीनाभाजीके शब्दोंमें नहीं मिलता। यदि इसे इस प्रकार मान भी लिया जाय, तो 'गिरा गदित लीला मधुर संतनि आनँददायनी' इस चरणकी संगति खींच-तान करनेपर भी नहीं बैठती। बहुत सम्भव है, श्रीजसोधरजीने श्रीरामचन्द्रजीके विश्वामित्रजीके साथ जानेके प्रसंगको स्वयं कविता-बद्ध किया हो और श्रीनाभाजीने आपकी वाणीसे निकली हुई श्रीरामचन्द्रजीकी उस मधुर-लीलाका ही छप्पयमें उल्लेख किया हो।

भक्तदाम-गुण-चित्रनी ३४३, पत्रमें श्रीजसोधरजीका परिचय निम्न प्रकारसे मिलता है—

एक बार कोई सन्त आपकी प्रीति-रीतिकी परीक्षा करनेको आया। और पास आकर बोला—"हम तो अपना विवाह करना चाहते हैं।" आप बोले—"हाँ, हाँ इसमें चिन्ताकी क्या बात है, मैं कल ही तुम्हारे लिए कन्या तलाश कर दूंगा।" इसपर आगन्तुक सन्तने कहा—"मैं तो आपकी ही पुत्रीसे विवाह करना चाहता हूँ।"

भक्त-प्रवर श्रीजसोधरजीने इस प्रस्तावको स्वीकार कर लिया। आपने यह चर्चा अपनी पत्नी एवं पुत्रीसे भी कर दी। शादीकी तैयारियाँ होने लगीं।

कालान्तरमें जब विवाहका समय आया और सन्तसे विवाह करने को कहा गया तो उसने जसोधरजीसे कहा—"मुझे इस प्रकार आपकी लड़कीसे विवाह नहीं करना, पहिले एक लाख रुपया दीजिए।"

सन्तकी बात सुनकर आपने कहा—"महाराज! अब इस प्रकारका हठ करनेसे तो ऐसा लगता है कि आप विवाह करना ही नहीं चाहते।"

आपकी यह बात सुनकर सन्त महाराज मुस्करा दिए और बोले—"भक्तवर! वास्तवमें हमें विवाह-शादी कुछ नहीं करना। हम तो तुम्हारी परीक्षा लेने आए थे।"

श्रीजसोधरजीकी सन्तोंके प्रति कितनी श्रद्धा थी, यह इस घटनासे स्पष्ट है।

श्रीजसोधरजीके सम्बन्धमें एक आनन्ददायिनी कथा और सुनिए। एक बार कुछ ठगोंने आपको रास्तेमें जाते हुए देखकर घात लगाना चाहा। श्रीरामजीने जब अपने भक्तको इस स्थितिमें देखा तो वे छोटे भाई लक्ष्मणजीके साथ आपके पीछे हो लिए। इन युगल-भाइयोंको देखकर ठगोंके होश उड़ गए और वे उल्टे पैरों लौट गये। जसोधरजीको अपने घर पहुँच जानेपर प्रभु अन्तर्धान होगए।

कुछ समय बाद ठगोंने आपके पास आकर पूछा—"महाराज! उस दिन आपके साथ वे जो दो राजकुमार आरहे थे सो कौन थे?" श्रीजसोधरजी यह सुनकर अचम्भेमें पड़ गए। अन्तमें ठगोंके द्वारा विशेष पहिचान बतलाए जानेपर आप समझ गए कि स्वयं श्रीरामचन्द्रजी ही अपने भाईके साथ वहाँ आए होंगे। आनन्द-विभोर होकर आपने ठगोंको भी यह रहस्य समझा दिया। सुनते ही उनकी बुद्धि अत्यन्त निर्मल होगई और उन्होंने भी सन्त-सेवा करते हुए भगवानका यश-गान आरम्भ कर दिया।

मूल (छप्पय)

(श्रीनन्ददासजी)

लीला पद रस रीति ग्रंथ रचना में नागर।
सरस उक्ति जुत जुक्ति भक्ति रस गान उजागर॥
प्रचुर पयोधि लौं सुजस रामपुर ग्राम निवासी।
सकल सुकुल संवलित भक्त पद रेनु उपासी॥
चंद्रहास अग्रज सुहृद परम प्रेम पय में पगे।
(श्री) नंददास आनंदनिधि-रसिक सु प्रभु हित रंगमगे॥११०॥

अर्थ--महाकवि श्रीनन्ददासजीने भगवान श्रीकृष्णचन्द्रजी द्वारा व्रजमें की गई लीलाओं को लेकर बड़े-बड़े सुन्दर पदोंकी रचना की। भक्ति-रसकी परंपराका निर्वाह करते हुए आपने अत्यन्त कलात्मक ढङ्गसे (रासपंचाध्यायी, रुक्मिणी-मंगल, नाममाला, दानलीला आदि) सरस ग्रन्थोंकी रचना की। (भ्रमर-गीतमें) आपके द्वारा उपस्थित किए गए तर्क बड़े अकाट्य बन पड़े हैं, किन्तु इन तर्कोंकी अपनी विशेषता यह है कि वे बड़े सरस हैं--उनमें दार्शनिक शुष्कता नहीं है, बल्कि भक्ति-रस छलछला रहा है। आप एक अच्छे संगीतज्ञ भी थे। रहनेवाले तो आप 'रामपुर' नामक गाँवके थे, किन्तु कविके रूपमें आपका यश समुद्र पर्यन्त फैला हुआ था। अच्छे कुलमें उत्पन्न होकर भी आप भगवानके भक्तोंकी चरण-रजके उपासक थे। आपके ज्येष्ठ भ्राता श्रीचन्द्रहासजी भी अत्यन्त सहृदय और प्रेम-रसमें पगे हुए महानुभाव थे। आनन्दके निधान श्रीनन्ददासजी, इस प्रकार अत्यन्त रसिक और प्रभुके प्रेममें रँगे हुए थे।

विशेष-वृत्त--नन्ददासजीके सम्बन्धमें अभी तक प्रामाणिक इतिवृत्तकी खोज नहीं हो पाई है। कुछ लोग इन्हें गोस्वामी तुलसीदासजीका गुरु-भाई मानते हैं, तो दूसरे छोटा भाई। ये तुलसीदासजी रामचरितमानसके प्रणेता गोस्वामी तुलसीदासजी थे या अन्य कोई, इसका अन्तिम निर्णय अभी तक नहीं हो पाया है। अस्तु।

नन्ददासजीका जीवन-काल १५६० से १६४० वि० के बीच माना जा सकता है। कुछ विद्वानोंके अनुसार इनका जन्म १५७० में हुआ था। इनके पिताका नाम जीवाराम और चाचाका आत्माराम था। कहते हैं, नन्ददासजीके साथ तुलसीदासजी भी काशीमें विद्याध्ययन करते थे। एक बार एक वैष्णव-समाज रणछोरजीके दर्शनके लिए द्वारका जारहा था। नन्ददासजी उसके साथ हो लिये, पर मथुरा पहुँच कर उन्होंने वैष्णवोंका साथ छोड़ दिया। कुछ दिन बाद वे अकेले मथुरासे द्वारकाके लिये चले, तो रास्ता भूल गये और कुरुक्षेत्रके पास 'सीहनन्द' गाँवमें जा पहुँचे। वहाँसे वे आगे न बढ़कर वृन्दावन लौट आये।

कहते हैं, वैष्णव-समाज जब गोस्वामी श्रीविट्ठलनाथजीके दर्शन करनेके लिए पहुँचा, तो

गोस्वामीजीने पूछा कि 'ब्राह्मण-देवता कहाँ रह गए।' सुनकर वैष्णव-लोग चकित रह गये।

इसकेबाद गोस्वामीजीने नन्ददासजीको बुलाया और उन्हें दीक्षित किया।

कहते हैं, "नन्ददासजीकी सूरदासजीसे बड़ी घनिष्ठता थी। महाकवि सूरदासजीने उनके बोधके लिये अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'साहित्य-लहरी' की रचना की थी। एक दिन महात्मा सूरने उनसे स्पष्ट कह दिया कि अभी तुममें वैराग्यका अभाव है। अतः महाकवि सूरदासजीकी आज्ञासे वे घर चले आये। वहाँ कमला नामक कन्यासे उन्होंने विवाह कर लिया। उन्होंने अपने ग्रामका नाम श्यामपुर रक्खा और श्यामसर नामक एक तालाब बनवाया। वे आनन्दसे घरपर रहकर भगवानकी रसमयी लीलापर काव्य लिखने लगे। पर उनका मन तो श्रीनाथजीके चरणोंपर न्यौछावर हो चुका था। कुछ दिनोंके बाद वे गोवर्धन चले आये और वे स्थायी-रूपसे मानसी-गङ्गापर रहने लगे तथा शेष जीवन श्रीनाथजीकी सेवामें समर्पित कर दिया।

किंवदन्ती है कि एक बार तानसेनजी अकबरकी राज-सभामें नन्ददासजीका यह प्रसिद्ध पद गा रहे थे—"देखौ री नागर नट निरतत कालिंदी तट।" इस पदका अन्तिम चरण था—"नन्ददास तहँ गावै निपट निकट।" बादशाह आश्चर्यमें पड़ गये कि नन्ददासजी किस तरह 'निपट निकट' थे। व्रज-यात्राके प्रसंगमें अकबरने नन्ददासजीको बुलाया और उनसे भेंट करनेपर उसे विश्वास होगया कि नन्ददासजी वास्तवमें भगवानके अत्यन्त निकट-कोटिके भक्त थे।

साहित्यिक प्रतिभा—नन्ददासजी व्रजभाषाके सर्वोत्कृष्ट कवियोंमें अन्यतम माने जाते हैं। रसमयी और भाव-पूर्ण कविता करनेमें यदि कोई कवि सूरदासजीकी कोटिमें आता है, तो वे नन्ददासजी हैं। सूरकी तरह आपने भी भगवानकी किशोर-लीलायें गाई हैं, पर उनकी कवितामें कहीं भी वह खीझापन या उपालम्भकी मनोवृत्ति नहीं मिलती जो सूरमें पाई जाती है। कहना चाहिए कि नन्ददासजीकी भाषा सूरकी अपेक्षा कहीं अधिक परिष्कृत और प्रभावशालिनी है। इन्हीं दुर्लभ गुणोंके कारण उन्हें—"नंददास जड़िया, और सब गढ़िया।" कह कर 'जड़िया' की उपाधिसे विभूषित किया गया था 'रासपंचाध्यायी' 'भ्रमर-गीत' तथा 'स्याम-सगाई' में उनके कवि-हृदयके दर्शन होते हैं। 'भ्रमर-गीत' में उद्धवके 'निर्गुण' उपदेशको सुनकर गोपियाँ कहती हैं—

> जौ उनके गुन नाहिं, और गुन भये कहाँ ते।
> बीज बिना तरु जमैं, मोहि तुम कहो कहां ते॥
> वा गुन की परछाँहि री माया दरपन बीच।
> गुन ते गुन न्यारे भये अमल बारि जल कीच॥
> सखा सुन स्याम के॥

व्रजसे मथुरा लौटकर उद्धवजी श्रीकृष्णसे कहते हैं—

> करुनामई रसिकता है तुम्हरी सब झूँठी।
> जब ही ज्यों नहिं लखौं तबहिं लौं बाँधी मूठी॥
> मैं जानौ ब्रज जायकें, तुम्हरो निर्दय रूप।
> जो तुमको अवलंबहीं, ताको डारौ कूप॥
> कौन यह धर्म है?

श्रीनंददासजीकी प्रशंसामें श्रीध्रुवदासजीने ठीक ही कहा है—

> नंददास जो कछु कह्यौ, राग रंग में पागि।
> अच्छर सरस सनेहमय, सुनत होत हिय जागि॥
> रसिक दसा अद्भुत हुती करत कवित्त सुढार।
> बात प्रेम की सुनत ही, छुटत प्रेम जल धार॥

भक्तदाम-गुण-चित्रनी, पत्र ३४४ में महाकवि नन्ददासजीसे सम्बंधित एक चमत्कार-पूर्ण घटना निम्न प्रकारसे मिली है—

एक बार भक्त-मण्डलीके बीच विराजमान होकर श्रीनन्ददासजी अपना एक पद गारहे थे। आनन्दकी वर्षा हो रही थी। उसी समय अचानक वाद्यका तार टूट गया। आपको इसका पता भी नहीं चला, क्योंकि आप तो आनन्द-सागरमें डूबे हुए थे। निदान, भगवानको समाजमें आना पड़ा। वे आए और एक क्षणमें ही तार बाँध कर चले गए। कोई भी उन्हें न देख पाया।

समाजके अन्तमें नन्ददासजीको यह रहस्य मालूम हुआ। आप श्रीकृष्णके दर्शनोंको बड़े बेचैन हुए और एकान्त स्थान में जाकर एक पद श्रीश्यामसुन्दरको सुनाया। पद सुनकर मोहन-मूर्ति आए। नन्ददासजीने उनसे कहा—"आप समाजके साथ आए और तुरन्त चले गये; हमें मालूम भी न हुआ।"

सुनकर व्रजचन्द्र मुस्करा दिये और कहा—"इसमें मालूम पड़ने की क्या बात है? मैं तो जिस-समय तुम गाते हो उस समय सदा ही तुम्हारे पास बैठा रहता हूँ।"

प्रभुकी प्रेमभरी वाणीको सुनकर आप कृतार्थ हो गये।

मूल (छप्पय)

(श्रीजनगोपालजी)

> भक्ति तेज अति भाल संत मंडल कौ मंडन।
> बुधि प्रवेश भागौत ग्रन्थ संशय कौ खंडन॥
> नरहड़ ग्राम निवास देस बागड़ निस्तारचौ।
> नवधा भजन प्रबोध अनन्य दासन व्रत धारचौ॥
> भक्त कृपा वांछी सदा पदरज राधालाल की।
> संसार सकल व्यापक भई जकरी जन गोपाल की॥१११॥

अर्थ—भक्तिके तेजसे देदीप्यमान श्रीजनगोपालजीका ललाट सन्त-समाजका भूषण था। सब सन्देहोंको दूर करनेवाली आपकी बुद्धि श्रीमद्‌भागवतका अनुशीलन करनेकी ओर प्रवृत्त रहती थी। आप 'नरहड़' ग्रामके निवासी थे। भक्तिके उपदेश द्वारा आपने समस्त बागड़ प्रदेशका उद्धार किया। नव प्रकारकी भक्ति के युक्त, अनन्य भावसे भगवान की उपासना करनेवाले भक्तों

के नियमोंका आप दृढ़तापूर्वक पालन करते थे । हरि-भक्तोंकी कृपा और श्रीराधाकृष्णकी चरण-रजको छोड़कर आप और कोई कामना नहीं रखते थे । आपकी बनाई हुई प्रभुका गुण-गान करनेवाली जकरीकी चारों ओर धूम थी ।

विशेष—श्रीनाभाजीके इस छप्पयसे श्रीजनगोपालजीकी पर्याप्त विशेषताओंपर प्रकाश पड़ जाता है; जैसे—बहुतसे सन्तोंका आपके साथ रहना, भागवत प्रवचनमें आपकी निपुणता, नवधा भक्तिके साथ-साथ अनन्यताका प्रचार करना, नरहड़ नामक ग्राममें निवास करते हुए वागड़ (मारवाड़) प्रदेशका निस्तार करना आदि । अन्तमें नाभाजीने यह भी कहा है कि श्रीजनगोपाल द्वारा रचित जकरियाँ उस समय समस्त संसारमें व्याप्त हो रहीं थीं; किन्तु कालकी कराल गतिके कारण आज जनगोपाल नामक किसी भी कविकी रचीहुई जकरियाँ प्राप्त नहीं होतीं ।

मिश्रबन्धु-विनोद, प्रथम भाग (पृष्ठ ३९३) में 'ध्रुव-चरित्र' और 'भरतरी-चरित्र' के रचयिता किसी दादूपंथी जनगोपालका उल्लेख किया गया है और उनका रचना-काल सं० १६५७ दिया गया है । ये जनगोपाल दादूजीके शिष्य थे, ऐसा उल्लेख उन्होंने स्वयं किया है—

गुरु दादू परसादतें कह्यो भक्ति रस-सार । जन गोपाल हरिगुन कथ्यो वानी करि विस्तार ।।

(पुरातत्त्व-मंदिर, जोधपुर के संग्रहालय से प्राप्त ध्रुव-चरित्रका २३७ वाँ दोहा)

इसके अतिरिक्त मिश्रबन्धु-विनोद भाग २, पृ० ७८५ पर जनगोपाल नामक एक कविका उल्लेख और मिलता है । ये मऊरानीपुर, जिला झाँसीके निवासी थे और इन्होंने सं० १८३३ में 'समर-सार' नामक एक ग्रन्थकी रचना की थी ।

मिश्रबन्धु-विनोदमें उल्लिखित इन दोनों जनगोपालोंसे श्रीनाभाजी द्वारा जिनका यशोगान किया गया है वे भिन्न हैं; क्योंकि समर-सागरके रचयिता तो १९ वीं शतीसे सम्बन्धित होनेके कारण (सं० १६९०से पूर्व रचित) भक्तमालमें स्थान पा ही नहीं सकते । साथ ही दादूपंथी जनगोपालकी भी ये विशेषताएँ नहीं हो सकतीं जो श्रीनाभाजीने अपने छप्पयमें लिखी हैं क्योंकि दादूपंथी प्रायः रामोपासक होते हैं, श्रीकृष्णके अनन्य उपासक नहीं ।

इस सम्बन्धमें विशेष उल्लेखनीय बात यह है कि शायद नाभाजीने अपने भक्तमालमें घाटमजी* (छप्पय ९६) के अतिरिक्त किसी भी दादूपंथी सन्तका नामोल्लेख नहीं किया । सम्भवतः इसीलिए सं० १७७७ में दादूपंथी राघवदासजीने एवं सं० १८०९ रामसनेही रामदासजीके साधक शिष्य श्रीचालवाल जीने अपनी स्वतन्त्र भक्तमालोंकी रचना की । इनमें नाभाजीकी अपेक्षा उत्तरोत्तर भक्तोंकी संख्या अधिक ही होती गई है ।

चालवालजीने यद्यपि नाभाजीके क्रमका अनुसरण सर्वत्र नहीं किया है, किन्तु फिर भी नाभाजी द्वारा लालमती (छ० १९९) तक जिन भक्तोंका यशोगान किया गया है उनमेंसे चालवालजीने किसीको नहीं छोड़ा । हाँ, बीच-बीचमें मुसल्मान, जैनी, गोरखपंथी और नाथ-भक्तोंका चरित्र और सन्निविष्ट कर दिया है । लालमतीके पश्चात् उन्होंने अपने सम्प्रदायके दादूपंथी, रामसनेही, निरंजनी और नानक पंथी भक्तोंका नामोल्लेख किया है ।

---

* कुछ सज्जन घाटमजीको दादूपंथियोंमें गणना करते हैं, किन्तु श्रीचालवालजीकी भक्तमालमें दादूपंथी भक्तोंमें इनका उल्लेख न मिलनेसे इनका दादूपंथी होना पूर्णरूपसे निश्चित नहीं होपाता।

कई स्थानोंपर तो श्रीग्वालवालजीने श्रीनाभाजीके छप्पयोंका ज्यों-का-त्यों अनुवाद कर दिया है। उदाहरणके लिए, श्रीनाभाजीने जिस ९३ वें छप्पयमें श्रीरूप-सनातनका चरित्र-वर्णन किया है वह श्री ग्वालवालकी भक्तमालमें ३११ वें छप्पयमें पाया जाता है। इससे आगे २० छप्पयोंके बाद ११४ वें छप्पयमें नाभाजीने जैसे चतुर्भुज नृपतिका उल्लेख किया है उसी प्रकार २० छप्पयोंके बाद ३४० वें छप्पयमें श्रीग्वालवालने भी 'चतुर्भुज नृपति'का वर्णन किया है। अन्तर इतना ही है कि ग्वालबालजीने बीचके इन २०-२२ छप्पयोंमें श्रीगोपालदास गज (३२२), तिलोक सुनार (३२४-३२५) और जोबनेरी गुपाल (३३४)—ये चार छप्पय नाभाजीसे अधिक लिखे हैं। इधर श्रीनाभाजीने जिन युवती-भक्तोंका परिचय छप्पय-संख्या १०४ में किया है उनका उल्लेख ग्वालबाल अपने भक्तमालमें पहिले (छ० ३१०में) ही कर आए हैं। इसी प्रकार नरसीजीका (छ० २६२ में) और अंगद जीका (छ० २८९ में) पहिले ही उल्लेख हो चुका है। यह आगे पीछेका क्रम भी श्रीग्वालवालजीने किसी विशेष उद्देश्यसे ही रखा होगा।

कुछ छप्पय ग्वालबालजीने नाभाजीके क्रमसे भी लिखे हैं, जैसे—१०० से १०३ तकके नाभाजी के चार छप्पयोंका अनुवाद ग्वालवालजीने ३२९ से ३३२ तकके चार ही छप्पयोंमें कर दिया है।

इन दोनों भक्तमालोंके अनुशीलनसे यह बात बिलकुल स्पष्ट हो जाती है कि इस छप्पय (१११)में जिन जनगोपालका चरित्र-वर्णन किया है वे दादूपंथी जनगोपालसे भिन्न हैं और वे श्रीहरिव्यासदेवाचार्यके शिष्य हैं। यदि ऐसा न होकर जनगोपालजी दादूजीके शिष्य होते तो ग्वालबाल अपनी भक्तमालके ३१७ वें छप्पयमें उन्हें श्रीहरिव्यासदेवाचार्यजीके शिष्योंमें क्यों लिखते? जो जनगोपाल दादूजीके शिष्य हैं उनका उल्लेख तो उन्होंने गरीबदास आदि दादूके अन्य शिष्योंके साथ ४०६ वें छप्पयमें किया है।

श्रीजनगोपालसे सम्बन्धित १११ वें छप्पयकी श्रीप्रियादासजीने टीका नहीं की है। अतः छप्पय में उल्लिखित विशेषताओं और ग्वालबालकी भक्तमालके आधार पर यह बात स्पष्ट हो जाती है कि इस छप्पयमें श्रीनाभाजीने हरिव्यासदेवाचार्यजीके प्रमुख शिष्य श्रीजनगोपालका ही वृत्त अंकित किया है, अन्य किसीका नहीं।

छप्पय संख्या १०० में नाभाजीने जिन लोहंगगुपालका उल्लेख किया है उसका अनुवाद ग्वालवाल जी ने ३२९ वें छप्पयमें किया है। रूपकलाजीने इस छप्पयकी टीकामें 'लोहंग' और 'गुपाल' दो पृथक् भक्त मान लिए हैं; किन्तु ग्वालबालने लोहंग शब्दका प्रयोग तक नहीं किया। वास्तवमें 'लोहंग' 'लघु' शब्दका अपभ्रंश रूप है। राजस्थानी भाषामें (लघु) छोटेके अर्थमें इस शब्दका प्रयोग होता है।

श्रीहरिव्यासदेवाचार्यके शिष्योंमें 'गोपाल' नामवाले तीन महानुभाव हुए हैं, अतः उनका पार्थक्य बतलानेके लिये 'लकरा' आदि विशेषणोंका प्रयोग होता आया है। 'परम्परा-परिचय' आदि साम्प्रदायिक ग्रन्थोंमें जिन्हें 'मदनगोपालदेव' कहा जाता है, अन्य गोपालोंमें छोटा होनेके कारण उन्हींको 'लघुगोपाल' कहते रहे हैं; किन्तु कवितामें उन्होंने अपना नाम जनगोपाल ही ग्रहण किया है।

नाभाजीने अपने छप्पयमें आपके सम्बन्धमें पर्याप्त प्रकाश डाल दिया है। इस संबन्धमें अब अधिक न लिखकर श्रीबालकरामकी टीका भक्तदाम-गुण-चित्रनी, पत्र ३४४ के आधारपर एक चमत्कारपूर्ण घटनाका आशय और दिया जाता है—

श्रीजनगोपालजीकी रस-भरी कथा सुननेसे भक्तोंका मन आनन्द-सागरमें डूब जाता। आप सन्तोंको

जमात लेकर स्थान-स्थानपर सत्संग करते फिरते थे। एक बार इसी प्रकार यात्रा करते हुए आप किसी गाँवमें पहुँचे वहाँपर आपने कहा—"आज सन्तोंकी तस्मै (खीर) पानेकी इच्छा है, तुम अपने घरसे दूध ले आओ।"

शिष्य-भक्तने कहा—"गुरुदेव ! भगवानकी कृपासे दूधकी तो कोई कमी नहीं है, किन्तु मेरी माँ देगी तोले-भर भी नहीं। हाँ, यदि निगाह बच गई तो जरूर ले आऊँगा।" श्रीजनगोपालजी तो जो होनहार था उसे पहिलेसे ही जानते थे, बोले—"जैसी तेरी इच्छा हो वैसा करना।"

भक्त घर आया और जब उसकी माँ इधर-उधर हो गई तभी सब दूधको एक पात्रमें उड़ेलकर गुरुजीके पास ले आया। उधर जब माँ आई तो समझ गई कि यह सब उसीकी करतूत है। वह अपने पुत्रको खोजती हुई श्रीजनगोपालजीकी सन्त-मण्डलीमें पहुँची और अपने पुत्रको लगी उलटी-सीधी सुनाने। जनगोपालजीने जब इस कलहका कारण पूछा तो वह बोली—"महाराज इसने सारा-का-सारा दूध इन मुंडियोंको लाकर पिला दिया है।"

श्रीजनगोपालजीने उसे शान्ति-पूर्वक घर भेजा और कहा कि 'जरा इस बार जाकर और देखिए, दूध घरमें है या नहीं।' आपकी बात पर वह घर लौट गई और वहाँ जाकर देखा तो आश्चर्यका वार-पार न रहा। जो पात्र अभी थोड़ी देर पहिले बिलकुल रिक्त थे वे ही पात्र अब दूधसे भर गए थे। इस चमत्कारसे भक्तकी माँ बड़ी प्रभावित हुई और उसी दिनसे श्रद्धा-सहित सन्त-सत्कार करने लगी।

मूल (छप्पय)

(श्रीमाधवदासजी—लोटन भगत)

प्रसिध प्रेमकी बात 'गढ़ागढ़' परचौ दीयौ।
ऊँचे तें भयो पात स्याम साँचौ पन कीयौ॥
सुत नाती पुनि सदस चलत ऊही परिपाटी।
भक्तनि सौं अति प्रेम नेम नहिं किहुँ अंग घाटी॥
नृत्य करत नहिं तन सँभार समसर जनकन की सकति।
माधौ दृढ़ महि ऊपरैं प्रचुर करी लोटा भगति॥११२॥

अर्थ—श्रीमाधवदासजीके भगवत्-प्रेमसे सम्बन्धित घटना अत्यन्त प्रसिद्ध है। आपने 'गढ़ागढ़' नामक स्थानमें अपने भगवत्प्रेमका सबको परिचय दिया। आप नृत्य करते करते बहुत ऊँची छत परसे गिर पड़े, किन्तु श्यामसुन्दरने आपकी रक्षा की और इस प्रकार अपने भक्तकी प्रतिज्ञाको पूर्ण किया। आपके इस चमत्कारको देखकर राजा आपका शिष्य हो गया और उसके बेटा-नाती भी उसी भक्ति-परिपाटी पर चले। भगवान्‌के भक्तोंसे श्रीमाधवदासजी का अगाध प्रेम था और प्रेमके सब अंगोंका आप यथावत् पालन करते थे, किसी अंशमें भी त्रुटि

नहीं होने देते थे। प्रेमके आवेशमें जब आप नाचते थे, तो इतने बेसुध हो जाते थे कि शरीर का कुछ भी ध्यान नहीं रहता था। आप राजा जनकके समान निर्लिप्त रहते थे।

श्रीमाधवदासजीने, इस प्रकार, भूमिपर लोटनेकी भक्तिका प्रचार किया। इसीलिये वह 'लोटन भगत' कहलाते थे।

भक्ति-रस-बोधिनी

गढ़ागढ़ पुर नाम माधौ बढ़ि प्रेमि, भूमि लोटैं, जब नृत्य करें भूलें सुधि अंग की।
भूपति विमुख, भूठ जानिकै परीक्षा लई, आनि तीन छाति पर देखी गति रंग की॥
नूपुरनि बाँधि, नाचि साँच सो दिखाय दियौ, गिरचौ हू कराह मध्य जियौ मति पंग की।
बड़ौ त्रास भयौ नृप, दास बिसवास बढ्यौ, मढ्यौ उरभाव, रीति-न्यारीय प्रसंग की॥४५६॥

अर्थ—'गढ़ागढ़' नामक नगरमें माधवदासजी बड़े बढ़े-चढ़े प्रेमी हुए। नृत्य करते-करते आपको अपने शरीरकी सुध नहीं रहती थी और आप पृथ्वीपर लोटने लगते थे। वहाँका राजा हरि-विमुख था। वह समझता था कि नाचने-गानेका यह सब पाखंड है, अतः उसने आपकी भक्तिकी परीक्षा लेनी चाही। इसके लिए राजाने तिमंजिलेकी सबसे ऊपरकी छतपर कीर्तनका आयोजन किया। श्रीमाधवदासजी पैरोंमें घुंघरू बाँधकर नाचने लगे और अपने भगवत्-प्रेमको इस प्रकार सच्चा प्रमाणित किया कि नाचते-नाचते ऊपरसे नीचे गिर पड़े जहाँ कि घीका कढ़ाह उबल रहा था। परन्तु प्रभु-कृपासे आपका बाल-बाँका न हुआ और आप स्वस्थ-दशामें उसमेंसे निकल आये। इस चमत्कारको देखकर सबकी बुद्धि हैरान होगई। अब तो राजा बड़ा भयभीत हुआ। भगवान्के भक्तोंमें उसकी श्रद्धा बढ़ गई और हृदयमें भक्ति-भावना विकसित होगई। इस प्रेम-प्रसंगकी रीति कुछ ऐसी ही विचित्र है।

श्रीमाधवदेवजी—श्रीरूपकलाजीने सम्भवतः इस छप्पयके "सुतनाती" और "सम सर जनकन की सकति" इन शब्दोंसे इनको गृहस्थाश्रमी मान लिया है, किन्तु श्रीप्रियादासजी आदि टीकाकारोंने इन शब्दोंका कुछ भी स्पष्टीकरण नहीं किया। श्रीग्वालवालजीने अपने भक्तमालके छ० ३३६ वें द्वारा नाभाजीके छप्पयका इस प्रकार अनुवाद किया है:—

गांव गढागढ वास सुनी यह भूपति बाता,
निरत अटन चढ करी गिरयां भूँमि किम साता।
साम करयौ यन साचै नृपत भगती मन भीनी,
हरजन हर है एक तास की सरणौ लीनी।
बिढ खित ऊर परचै सुजस प्रगट भक्त भगवद सही,
प्रेम भवन माधो रंमन ज्यूं गोपी तन सुध नहीं॥३३६॥

इसके अनुसार यह व्यक्त होता है कि श्रीमाधवदासजीका परीक्षण करलेनेके अनन्तर गढागढके राजाका भी मन भगवद् भक्तिमें भीग गया और वह माधवदासजीके शरणागत हो गया, फिर उस राजा के पुत्र और नातियोंने भी उसी वैष्णव परिपाटीका पालन किया। नाभाजीने माधवदासजीको जो जनक

श्रीग्वालवालजीने गोपियोंकी की उपमा दी है वह ज्ञान-पक्षके उद्देश्यसे दी है आश्रमकी दृष्टिसे नहीं । श्रीग्वालवालजीने गोपियोंकी उपमा देकर उनकी प्रेम-भावनाका प्रकाश किया है । आप दिलाव भक्तपाल रथानाधीश थे जैसा कि नाभाजीने १०० वें छप्पयमें दिग्दर्शन कराया है । यहां उनकी प्रेमा-भक्तिका ही विशेष परिचय दिया गया है । वस्तुतः आप श्रीहरिव्यासदेवाचार्यके द्वादश प्रधान शिष्योंमें एक परम-विरक्त संत थे ।

मूल (छप्पय)

(श्रीअंगदजी)

नग अमोल इक ताहि सबै भूपति मिलि जाचैं ।
साम दाम बहु करैं दास नाहिंन मत काचैं ।।
एक समै संकट लै वह पानी मैं डारयौ ।
प्रभू तिहारी वस्तु बदन ते बचन उचारयौ ।।
पाँच दोय सत कोस ते हरि हीरा लै उर धरयौ ।
अभिलाष भक्त अंगद कौ पुरुषोत्तम पूरन करयौ ।।११३।।

अर्थ—श्रीअंगदजीके पास एक हीरा था । उसे एक-एक कर सब राजाओंने उनसे माँगा और हथियानेके लिये साम, दाम आदि उपायोंका प्रयोग किया, किन्तु भक्त अंगदजीका मत ऐसा कच्चा नहीं था कि लोभमें पड़कर भगवानके निमित्त अर्पण की गई वस्तुको आसानीसे दे देते । एक बार जब लोगोंने उन्हें बहुत तंग किया, तो संकटका समय उपस्थित जानकर आपने हीरेको यह कहकर पानीमें डाल दिया कि 'प्रभो ! यह आपकी वस्तु है, आप लीजिये ।' प्रभु श्रीजगन्नाथजीने सात सौ कोससे लम्बा हाथ फैलाकर अपने श्रीअङ्गमें उसे धारण किया । इस प्रकार प्रभु पुरुषोत्तमने अपने भक्त अंगदजीकी अभिलाषाको पूरा किया ।

भक्ति-रस-बोधिनी

'रायसेन' गढ़ बास नृप सो 'सिलाहदी' जू , ताको यह काका रहै 'अंगद' विमुख है ।
ताकी नारी प्यारी, प्रभु साधु-सेवा धारी उर, आये गुरु घर, कहैं कृष्ण कथा सुख है ।।
बैठे भौन कौन ? देखि कैसे मौन रह्यौ जात, बोल्यौ 'तियाजात, कहा करौं नर रुख है' ।
सुनि उठि गये, वधू अन्न-जल त्यागि दिये, लिये पांव जाय, बिधें बस भयौ दुख है ।।४५७।।

अर्थ—श्रीअंगदसिंहजी जातिके क्षत्रिय और रायसेनगढ़के रहनेवाले थे । आप राजा सिलाहदी सिंहके चाचा थे । पहले आप भगवानसे विमुख रहते थे । आपकी स्त्री बड़ी रूपवती थी और आप उसे बहुत प्यार करते थे । संयोगसे यह स्त्री भगवानकी भक्त थी और हृदयमें साधु-सेवाकी भावना रखती थी । एक दिन अंगदसिंहजीकी स्त्रीके गुरुदेव घर आये और आनन्दसे श्रीकृष्णकी कथा कहने लगे । इतने ही में कहींसे अंगदसिंहजी आ गये । उन्होंने

पूछा—"अन्दर कौन बैठा है ?" पर-पुरुषको देखकर भला वे चुप कैसे रह सकते थे ? गुरुजी से बोले—"स्त्री जातिके पास एकान्तमें बैठकर क्या कर रहे हो ?"

इस अपमान-जनक प्रश्नको सुनते ही गुरुदेव तत्काल उठकर चले गये। उधर अंगद-सिंहजीकी स्त्रीने अन्न-जल ग्रहण करना छोड़ दिया। कामी तो थे ही अंगदसिंहजी। उनको इसका बड़ा दुःख हुआ और उन्होंने अपनी स्त्रीके पैर पकड़ लिये।

भक्ति-रस-बोधिनी

मुख न दिखावै, याहि देख्यो ही सुहावै, कही "भावै सोई करौ, नेकु बदन दिखाइयै।
मैं हू जल त्यागि दियौ, अन्न बात का पै लियौ, जीयो जब नीको तब आपु कछू खाइयै" ॥
बोली "मोसों बोलौ जिन, छाड़ौं तन याही छिन, मन साँचौ हो तौ जो पै सुनत समाइयै"।
"कहौ अब कीजै जोई, मेरी मति गई खोई," भोई उर दया, बात कहि समझाइयै ॥४५८॥

अर्थ—इधर अंगदसिंहजीकी स्त्री क्रोधके कारण उन्हें मुँह भी नहीं दिखाती थी और उधर उन्हें उसका मुख देखे बिना चैन नहीं पड़ता था। हार कर बोले—"तुम्हें जो अच्छा लगता है वही करूँगा, पर तनिक अपने मुख-चन्द्रके दर्शन तो कराओ। यदि तुम नहीं खातीं, तो मैंने भी अन्न-जल त्याग दिया है। मुझे जीना तभी अच्छा लगेगा जब तुम कुछ खाओगी।"

स्त्री अभी गुस्सेमें भरी थी। कहने लगी—"मुझसे बोलिये मत, नहीं तो इसी क्षण शरीर छोड़ दूँगी। मेरा प्रण तो तभी सच्चा होता जब कि गुरुदेवसे कहे गये अपमान-जनक वाक्योंको सुनकर ही मैं पृथ्वीमें समा जाती।"

अंगदसिंहजीने फिर कहा—"उस समय मेरी बुद्धि नष्ट होगई थी; अब जो तुम कहोगी वही करूँगा।" पतिकी ऐसी बातें सुनकर भक्तिमतीको दया आगई। पतिको समझाते हुए वह इस प्रकार कहने लगी—

भक्ति-रस-बोधिनी

"वेई गुरु करौ जाय, पाँयन मैं परौ," गयौ, चायनि लिवाय ल्यायौ, भयौ सिष्य दीन है।
धारी उर माल, भाल तिलक बनाय कियो, लियो सीत, प्रीति कोऊ उपजी नवीन है ॥
चढ़ी फौज संग, चढ्यौ बैरी पुर, मारि बढ्यौ, कढ्यौ, टोपी लै कै हीरा लाल, एक पीन है।
डारे सब बेचि, पाग पेच मध्य राख्यौ मुख,भाख्यौ,"सो अमोल करौं जगन्नाथ लीन है" ॥४५९॥

अर्थ—"आप मेरे गुरुदेवके चरणोंमें पड़कर उन्हें अपना गुरु बनाइए।" यह सुनकर अंगदजी गये और बड़े उत्साहसे उन्हें घर लिवा लाकर दीनता-पूर्वक उनके शिष्य होगये। वैष्णव-धर्मके अनुकूल अंगदजीने तुलसीकी माला धारण की, मस्तकपर तिलक लगाया और गुरुजीको भोजन कराकर उनका उच्छिष्ट—'सीथ-प्रसाद' ग्रहण किया। उनके हृदयमें अब भगवान और सन्तोंके प्रति एक नये प्रकारका प्रेम पैदा होगया।

एक समय राजा सिलाहदीसिंहने एक दूसरे राजाके नगरपर चढ़ाई की। श्रीअंगदसिंहजी भी राजाके साथ थे। वे शत्रुकी सेनाको मारते हुए बढ़ते चले गए। लौटते समय उनके हाथ शत्रु-राजाकी एक टोपी लगी जिसमें सौ हीरे जड़े थे। इनमें एक हीरा सबसे बड़ा और मूल्यवान् था। निन्नानवे हीरे तो आपने बेच दिये, किन्तु बड़ेको अपनी पगड़ीमें सुरक्षित रख लिया। उनकी अभिलाषा थी—'इसे मैं जगन्नाथजीकी भेंट करूँगा।

भक्ति-रस-बोधिनी

कानाकानी भई, नृप, बात सुनि लई, कही "हीरा वह देय तो पै और माफ किये हैं"।
आय समुझावैं, बहु जुगति बतावैं, याके मन मैं न आवैं, जाय सबै कहि दिये हैं॥
अंगद बहिन लागै, बाकी भूवा पागैं, तासौं "देवो विष, मारौ फिरि तूही," पग छिये हैं।
करत रसोई बोरि गरल मिलायौ पाक, भोग हूँ लगायौ, "प्रभू आवो" बोलि लिये हैं॥४६०॥

अर्थ—हीराकी खबर एक कानसे दूसरेमें होती हुई अन्तमें राजा तक पहुँची। उसने अंगदजीसे कहलवाया कि यदि वे बड़ा हीरा राजाको देदें, तो बाकी हीरोंको वह माफ कर देगा। लोगोंने जाकर बड़ी-बड़ी युक्तियोंसे उन्हें फुसलाया, पर अंगदजीने एक नहीं मानी। लोगोंने, हारकर, राजासे कह दिया कि वे किसी तरह हीरा देनेको तैयार नहीं होते। इसपर राजाने एक दूसरी तदबीर सोची। अंगदजीकी एक बहिन थी जो राजाकी बुआ होती थी। वह अंगदजीका भोजन बनाया करती थी। राजाने उसके पैर छूकर कहा कि 'तुम अंगदको जहर देदो, मैं तुम्हें बहुत सारा धन दूँगा।" उसने ऐसा ही किया। रसोईके सामानमें जहर मिला दिया और नियमानुसार भगवानका भोग लगाकर अंगदजीको बुलाया—"आइए, भोजन परोस दिया गया है।"

भक्ति-रस-बोधिनी

याकी एक सुता, संग लैके बैठें जेंवन कौं, आई सो छिपाय, कही "जेवौ, कहूँ गई है।"
जेंवत न बोध हारी, तब सो बिचारी प्रीति, भीति, रोष मिली गरैं, रीति कहि दई है॥
प्रभु लै जिवाये रौड़, भांड कै निकासि हार, दै करि किवार, सब पायी ओप नई है।
वह दुख हिये रह्यौ, कह्यौ कैसे जात काहू ? बात सुनि नृपहू नै जैसी भांति भई है॥४६१॥

अर्थ—अङ्गदजीकी बहिनकी एक लड़की थी जिसे अपने साथ बिठाकर वे भोजन किया करते थे। उस दिन वह उसे कहीं छिपा आई और कह दिया कि 'आप प्रसाद पाइये; वह कहीं चली गई है।' किन्तु अङ्गदजीने बिना लड़कीके भोजन नहीं किया, यद्यपि बहिनने उन्हें बहुत समझाया।

अपनी पुत्रीमें अङ्गदजीका ऐसा स्नेह देखकर बहिनको बड़ी लज्जा आई। अब उसे यह डर लगा कि यदि भाईने कहीं भोजन कर लिया होता, तो क्या होता? वह अङ्गदके गलेसे लिपट गई और रोने लगी। बादमें सब वृत्तान्त उसने सच-सच बता दिया।

अङ्गदजी क्रोधमें भरकर बोले—"राँड़ ! तूने मेरे प्रभुको विष मिला हुआ भोग लगा दिया; अब मुझसे कहती है कि 'मत खाओ !' तत्काल उन्होंने उसे धक्का देकर दरवाजेसे बाहर कर दिया और किवाड़ बन्द करके विष मिला हुआ भोजन खा लिया।

प्रभु-कृपासे विषका उनपर तनिक भी असर नहीं हुआ, बल्कि प्रेमजन्य एक नवीन कान्ति मुखपर चमक उठी। फिर भी आपके हृदयको इस बातका कष्ट ही रहा कि प्रभुको आज जहर मिला हुआ भोग लगाया गया। उस दुःखका वर्णन किसी प्रकार भी नहीं किया जा सकता। राजाको जब समाचार मालूम हुआ, तो वह बड़ा लज्जित हुआ।

भक्ति-रस-बोधिनी

चले नीलाचल, हीरा जाय पहिराय आवें, आय घेरि लीने नृप नरनि, खिसाय कें।
कही डारि देवौ, कै लराई सनमुख लेवौ, बस न हमारौ, भूप आज्ञा आये धाय कें॥
बोले "नेंकु रहौ, मैं अन्हाय पकराय देत," हेत मन और, जल डारयौ लै दिखाय कें।
"वस्तु है तिहारी प्रभु, लीजियै" उचारी यह बानी, लगी प्यारी, उर धारी सुख पाय कें॥४६२॥

अर्थ—हीराको लेकर श्रीजगन्नाथजीको धारण करानेकी इच्छासे श्रीअङ्गदजी नीलाचल-धामकी ओर चल पड़े, किन्तु मार्गमें ही राजाके भेजे हुए आदमियोंने खिसिया कर आपको घेर लिया और कहने लगे—"या तो हीरा यहीं रख दीजिए या युद्ध करनेके लिये तैयार हो जाइये। इसके सिवा और कोई छूट हम नहीं दे सकते; क्योंकि हम लोगोंने राजाकी आज्ञा पाकर आपपर धावा बोला है।"

अङ्गदसिंहजीने उत्तर दिया—"थोड़ी देर ठहरिये; मैं स्नान कर अभी आता हूँ; दे दूँगा।" कह तो यह दिया, किन्तु आपके मनमें तो श्रीजगन्नाथजीके प्रति प्रेम समाया हुआ था। नहाते समय आपने यह कह कर हीरेको जलमें डाल दिया कि 'प्रभो ! यह आपकी ही वस्तु है; इसे अङ्गीकार करिये।" प्रभु श्रीजगन्नाथजीको अपने भक्तकी यह मधुर प्रार्थना बड़ी प्यारी लगी और आपने सात सौ कोससे हाथ बढ़ाकर हीरेको जलमें ऊपर ही ऊपर रोक लिया और अपने श्रीअंगमें धारण किया।

भक्ति-रस-बोधिनी

एतौ घर आये, वे तौ जल मधि कूदि धाये, अति अकुलाये, नेंकु खोज हू न पायौ है।
राजा चलि आयौ, सब नीर कढ़वायौ, कीच देखि मुरझायौ, दुख सागर अन्हायौ है॥
जगन्नाथदेव आज्ञा दई "वाहि सुधि देवौ," आयकै सुनाई, नर तन खिसरायौ है।
गयौ, जाय देख्यौ उर पर जगमग रह्यौ, लह्यौ सुख नैननि कौ, कापै जात गायौ है॥४६३॥

अर्थ—हीरेको तालाबमें फेंक कर अङ्गदजी तो घर चले आये, पर राजाके लोग जलमें कूद पड़े और हीरे को खोजनेमें जुट गए। जब हीरा नहीं मिला तो वे बड़े घबड़ाये। इसपर

राजा स्वयं आया और उसने तालाबके सब पानीको बाहर निकलवा लिया। इतनेपर भी हीरेका जब पता न लगा और कीचड़ ही हाथ पड़ी, तो वह बड़ा निराश हुआ।

इसी बीच श्रीजगन्नाथजीने अपने पुजारियोंको आज्ञा दी कि 'अंगदजीसे जाकर यह समाचार कहो कि प्रभुने तुम्हारे हीरेको धारण कर लिया है।' यह खबर सुनते ही अंगदजी प्रेमके आवेशमें ऐसे विह्वल हो गये कि शरीर तक की सुध न रही। उन्होंने पुरुषोत्तमपुरीमें जाकर देखा कि प्रभुके श्रीअंगमें हीरा चमचमा रहा है। उस समय उन्हें जो आनन्द हुआ उसका कौन वर्णन कर सकता है?

भक्ति-रस-बोधिनी

राजा हिय ताप भयो वयो अन्न त्यागि, कह्यौ "आवै जो पै भाग मेरे", ब्राह्मन पठाये हैं।
धरनौ दै रहे, कहे नृपके बचन सब, तब ह्वै दयाल आप पुर ढिग आये हैं॥
भूप सुनि आगे आय पाँय लपटाय गयौ, लयौ उर लाय, दृग नीर लै भिजाये हैं।
राजा सरबसु दियौ, जियौ हरिभक्ति कियौ, हियौ सरसायौ, गुन जाने जिते गाये हैं॥४६४॥

अर्थ—अंगदजीके इस आश्चर्यजनक प्रभावको देखकर राजाके हृदयको बड़ा पश्चात्ताप हुआ। उसने अन्न-जल ग्रहण करना छोड़ दिया और ब्राह्मणोंको बुलाकर कहा—"यदि किसी प्रकार अंगदजीको ला सको, तो मैं अपनेको धन्य समझूँगा।" राजाकी आज्ञासे ब्राह्मण अंगदजी के पास पहुँचे और राजाकी प्रार्थना सुनाकर धरना देकर पड़ गये। अंगदजीको दया आ गई और राजाको दर्शन देनेके लिये चल दिये। राजाने जब सुना कि आप नगर तक आगए हैं, तब स्वयं उन्हें लेने पहुँचा और पैरोंमें गिर पड़ा। अंगदजीने राजाको उठा कर छातीसे लगाया। ऐसा करते समय अंगदजीके नेत्रोंसे आँसुओंकी झड़ी लग गई। राजाने सर्वस्व आपको समर्पित कर दिया और जीवन-पर्यन्त हरि-भक्ति की। राजाका हृदय भक्तिके प्रभावसे अत्यन्त सरस हो गया। टीकाकार कहते हैं कि अंगदजीके जितने गुण उन्हें मालूम थे, उनका वर्णन यहाँ कर दिया है।

मूल (छप्पय)
(महाराजा चतुर्भुजजी)

भक्त आगमन सुनत सनमुख जोजन एक जाईं।
सदन आनि सतकार सदस गोबिंद बड़ाईं॥
पाद प्रछालन सुहथ राय रानी मन साँचें।
धूप दीप नैवेद्य बहुरि तिन आगें नाचें॥
यह रीति करौलीधीस की तन मन धन आगें धरें।
चत्रभुज नृपति की भक्ति कौं कौन भूप सरवर करें॥११५॥

अङ्गदजी क्रोधमें भरकर बोले—"राँड़! तूने मेरे प्रभुको विष मिला हुआ भोग लगा दिया; अब मुझसे कहती है कि 'मत खाओ!' तत्काल उन्होंने उसे धक्का देकर दरवाजेसे बाहर कर दिया और किवाड़ बन्द करके विष मिला हुआ भोजन खा लिया।

प्रभु-कृपासे विषका उनपर तनिक भी असर नहीं हुआ, बल्कि प्रेमजन्य एक नवीन कान्ति मुखपर चमक उठी। फिर भी आपके हृदयको इस बातका कष्ट ही रहा कि प्रभुको आज जहर मिला हुआ भोग लगाया गया। उस दुःखका वर्णन किसी प्रकार भी नहीं किया जा सकता। राजाको जब समाचार मालूम हुआ, तो वह बड़ा लज्जित हुआ।

भक्ति-रस-बोधिनी

चले नीलाचल, हीरा जाय पहिराय आवैं, आय घेरि लीने नृप नरनि, खिसाय कें।
कही डारि देवौ, कै लराई सनमुख लेवौ, बस न हमारौ, नृप आज्ञा आये धाय कें॥
बोले "नेकु रहौ, मैं अन्हाय पकराय देत," हेत मन और, जल डारयौ लै दिखाय कें।
"वस्तु है तिहारी प्रभु, लीजियै" उचारी यह बानी, लगी प्यारी, कर धारी सुख पाय कें॥४६२॥

अर्थ—हीराको लेकर श्रीजगन्नाथजीको धारण करानेकी इच्छासे श्रीअङ्गदजी नीलाचल-धामकी ओर चल पड़े, किन्तु मार्गमें ही राजाके भेजे हुए आदमियोंने खिसिया कर आपको घेर लिया और कहने लगे—"या तो हीरा यहाँ रख दीजिए या युद्ध करनेके लिये तैयार हो जाइये। इसके सिवा और कोई छूट हम नहीं दे सकते; क्योंकि हम लोगोंने राजाकी आज्ञा पाकर आपपर धावा बोला है।"

अङ्गदसिंहजीने उत्तर दिया—"थोड़ी देर ठहरिये; मैं स्नान कर अभी आता हूँ; दे दूँगा।" कह तो यह दिया, किन्तु आपके मनमें तो श्रीजगन्नाथजीके प्रति प्रेम समाया हुआ था। नहाते समय आपने यह कह कर हीरेको जलमें डाल दिया कि 'प्रभो! यह आपकी ही वस्तु है; इसे अङ्गीकार करियें।" प्रभु श्रीजगन्नाथजीको अपने भक्तकी यह मधुर प्रार्थना बड़ी प्यारी लगी और आपने सात सौ कोससे हाथ बढ़ाकर हीरेको जलमें ऊपर ही ऊपर रोक लिया और अपने श्रीअंगमें धारण किया।

भक्ति-रस-बोधिनी

एतौ घर आये, वे तौ जल मधि कूदि आये, अति अकुलाये, नेंकु खोज हू न पायौ है।
राजा चलि आयौ, सब नीर कढ़वायौ, कीच देखि मुरझायौ, दुख सागर अन्हायौ है॥
जगन्नाथदेव आज्ञा दई "वाहि सुधि देवौ," आयकै सुनाई, नर तन बिसरायौ है।
गयौ, जाय देख्यौ उर पर जगमग रह्यौ, लह्यौ सुख नैननि कौ, कापै जात गायौ है॥४६३॥

अर्थ—हीरेको तालाबमें फेंक कर अङ्गदजी तो घर चले आये, पर राजाके लोग जलमें कूद पड़े और हीरे को खोजनेमें जुट गए। जब हीरा नहीं मिला तो वे बड़े घबड़ाये। इसपर

राजा स्वयं आया और उसने तालाबके सब पानीको बाहर निकलवा लिया। इतनेपर भी हीरेका जब पता न लगा और कीचड़ ही हाथ पड़ी, तो वह बड़ा निराश हुआ।

इसी बीच श्रीजगन्नाथजीने अपने पुजारियोंको आज्ञा दी कि 'अंगदजीसे जाकर यह समाचार कहो कि प्रभुने तुम्हारे हीरेको धारण कर लिया है।' यह खबर सुनते ही अंगदजी प्रेमके आवेशमें ऐसे विह्वल हो गये कि शरीर तक की सुध न रही। उन्होंने पुरुषोत्तमपुरीमें जाकर देखा कि प्रभुके श्रीअंगमें हीरा चमचमा रहा है। उस समय उन्हें जो आनन्द हुआ उसका कौन वर्णन कर सकता है ?

भक्ति-रस-बोधिनी

राजा हिय ताप भयो दयो अन्न त्यागि, कह्यौ "आवैं जो पै भाग मेरे", ब्राह्मन पठाये हैं।
धरनौ दै रहे, कहे नृपके बचन सब, तब ह्वैं दयाल आप पुर ढिग आये हैं॥
भूप सुनि आयौ आय पाँय लपटाय गयौ, लयौ उर लाय, दृग नीर लै भिजाये हैं।
राजा सरबसु दियौ, जियौ हरिभक्ति कियौ, हियौ सरसायौ, गुन जाने जिते गाये हैं॥४६४॥

अर्थ—अंगदजीके इस आश्चर्यजनक प्रभावको देखकर राजाके हृदयको बड़ा पश्चाताप हुआ। उसने अन्न-जल ग्रहण करना छोड़ दिया और ब्राह्मणोंको बुलाकर कहा—"यदि किसी प्रकार अंगदजीको ला सको, तो मैं अपनेको धन्य समझूँगा।" राजाकी आज्ञासे ब्राह्मण अंगदजी के पास पहुँचे और राजाकी प्रार्थना सुनाकर धरना देकर पड़ गये। अंगदजीको दया आ गई और राजाको दर्शन देनेके लिये चल दिये। राजाने जब सुना कि आप नगर तक आगए हैं, तब स्वयं उन्हें लेने पहुँचा और पैरोंमें गिर पड़ा। अंगदजीने राजाको उठा कर छातीसे लगाया। ऐसा करते समय अंगदजीके नेत्रोंसे आँसुओंकी झड़ी लग गई। राजाने सर्वस्व आपको समर्पित कर दिया और जीवन-पर्यन्त हरि-भक्ति की। राजाका हृदय भक्तिके प्रभावसे अत्यन्त सरस हो गया। टीकाकार कहते हैं कि अंगदजीके जितने गुण उन्हें मालूम थे, उनका वर्णन यहाँ कर दिया है।

मूल (छप्पय)

(महाराजा चतुर्भुजजी)

भक्त आगमन सुनत सनमुख जोजन एक जाई।
सदन आनि सतकार सदस गोबिंद बड़ाई॥
पाद प्रक्षालन सुहथ राय रानी मन साँचें।
धूप दीप नैवेद्य बहुरि तिन आगें नाचें॥
यह रीति करौलीधीस की तन मन धन आगें धरें।
चत्रभुज नृपति की भक्ति कौ कौन भूप सरबर करें॥११७॥

अर्थ—महाराज चतुर्भुजजी ऐसे संत-सेवी थे कि किसी हरि-भक्तके आने का समाचार सुनते ही चार कोस जाकर स्वयं उसे घर लाते और भगवानकी भाँति उसका आदर करते; स्तुति करते और फिर राजा-रानी दोनों मिलकर अपने हाथोंसे उसके चरण धोते। इसके उपरान्त धूप-दीप-नैवेद्य अर्पण कर उसकी आरती उतारते और कीर्तन करते हुए उसके सम्मुख नृत्य करते। करौलीके राजाकी इस प्रकार की रीति थी कि हरि-भक्तको अपना तन-मन-धन सब अर्पण कर देते थे। ऐसा कौन राजा है जो उनकी बराबरी कर सके?

भक्ति-रस-बोधिनी

पुर ढिग चारौं ओर चौकी राखी जोजन पै, जो जन ही आवैं तिन्हें ल्यावत लिवाय कै।
मालाधारी दास मानि, आवैं कोऊ द्वार जो पै, करै वही रीति सों सुनाई छप्पै गाय कै॥
सुनी एक भूप, भक्त निपट अनूप कथा, सबकों भंडार खोलि देत, बोल्यौ धाय कै।
"पात्र औ अपात्र यों विचार ही जो नाहीं, तो पै कहा ऐसो बात? दई भेंकु मैं उड़ाय कै॥४६५॥

अर्थ—राजा श्रीचतुर्भुजजीने करौली नगरकी चारों दिशाओंमें चार-चार कोसके फासले पर पहरा बिठा दिया था और आज्ञा निकाल दी थी कि यदि कोई हरि-भक्त आवे, तो तुरन्त खबर दें। खबर पाते ही राजा स्वयं जाकर उसको लिवाकर लाते थे। इसी प्रकार माला-तिलक धारण किये जो कोई दरवाजेपर आता उसको भी वास्तविक भक्त समझकर उसी रीतिसे पूजते थे जैसा कि नाभा स्वामीजीने अपने छप्पयमें वर्णन किया है।

एक राजाने चतुर्भुज महाराजकी यह विचित्र प्रशस्ति सुनी कि जो कोई माला-तिलकधारी आता है उसी के लिए अपना खजाना खोल देते हैं तो उसने कहा—"यह तो कोई अच्छी बात नहीं कि पात्र और अपात्रका विचार किये बिना सबका इस प्रकार सत्कार किया जाय।" इस प्रकार बात ही बातमें उसने राजा चतुर्भुजजीकी सब प्रशंसाको चुटकियोंमें उड़ा दिया।

भक्ति-रस-बोधिनी

भागवत गावै भक्त भूप एक विप्र तहाँ, बोलिकै सुनावै "ऐसो मन जिन ल्याइयै।
पावै आसै कौन हृदय-भौनमें प्रवेस करि, भरि अनुराग कही उर मधि आइयै॥
करी लै परीक्षा, भाट विमुख पठाय दियो, दियो माला तिलक द्वारदास यों सुनाइयै।
गयौ, गयौ भूलि, फूलि कुल विसतार कियो, लियो पहिचानि, अब जान कैसे पाइयै? ॥४६६॥

अर्थ—चतुर्भुजजीकी जो आलोचना करता था, उसके यहाँ ब्राह्मण-भागवतकी कथा कहा करते थे। उन्होंने राजासे कहा—"आपका यह सोचना ठीक नहीं कि राजा चतुर्भुजजी पात्र-अपात्रका विचार नहीं करते। उनके मनकी बातको कोई नहीं जान सकता है। न जाने वे हृदयमें क्या भाव रखकर ऐसा करते हैं?"

इसपर राजाने चतुर्भुजजीकी परीक्षा लेनेके लिये एक विमुख भाटको भेजा और तिलक-

माला धारण कराकर उसका वेश भक्तों जैसा बना दिया। उससे कह दिया कि वहाँ जाकर अपने को भगवानका दास बतलाना।

भाट गया तो सही, पर तिलक लगाना और माला पहिनना भूल गया। ड्योढ़ियोंपर पहुँचते ही अपने अभ्यासके अनुसार उसने राजाके कुलकी महिमाका वर्णन करना प्रारंभ कर दिया। सब समझ गये कि यह भाट है। ऐसे में उसे अन्दर कौन घुस आने देता?

भक्ति-रस-बोधिनी

बीते दिन बीस-तीस आई वह सीख सुधि, कही हरिदास कोऊ आयौ, यों सुनाइये।"
बोले "जू निसंक आवौ, गावौ गुन गोविंदके", आये घर मध्य, भूप करी जैसी भाइये॥
भक्तिके प्रसंग कौं न रंग कहूँ नेकु जान्यौ, जान्यौ उनमान सौं परीक्षा मँगवाइये।
दियौ लै भंडार खोलि, लियौ मन मान्यौ, दई संपुट में कौड़ी डारि, जरी लपटाइये॥४६७॥

अर्थ—लगभग एक माह बीत जानेपर भाटको याद आया कि राजाने क्या सिखला कर उसे भेजा था। जब उसने साधुओं-जैसा वेष बनाया और ड्योढियोंपर नियुक्त द्वारपालोंसे कहा—"राजा साहिबके पास जाकर कहिये कि कोई भगवद्-दास आया है।" द्वारपालने कहा—"आप बिना किसी शङ्काके चले जाइये और भगवानका गुण गाइए।" इसपर वह भाट महलोंके अन्दर चला गया। श्रीचतुर्भुजजीने भक्त-वेषको देखकर उसका यथोचित स्वागत-सत्कार किया। किन्तु भक्तिकी चर्चा चलनेपर राजाको विदित हो गया कि उसका भक्ति-भावनासे तनिक भी परिचय नहीं है। अनुमान लगाकर उन्होंने यह भी जान लिया कि मेरी परीक्षा लेनेके लिये इसे भेजा गया है। फिर भी राजाने उस साधु-वेषधारी भाटके लिए अपना खजाना खोल दिया। भाटने अपनी इच्छानुसार धन ले लिया। जब वह चलने लगा, तो श्रीचतुर्भुजजीने जरीदार कपड़ेमें लिपटी हुई एक कौड़ीको डिबियामें रखकर उसे और दिया।

भक्ति-रस-बोधिनी

आयौ वाही राजा पास, सभामें प्रकाश कियौ, लियौ धन दियौ, पाछे सोई लै दिखायौ है।
खोलिकै लपेटा मध्य संपुट निहारि कौड़ी, समुझि बिचारि हारे मनमें न आयौ है॥
बड़ौ भागवत विप्र पंडित प्रवीन महा, निसि रस लीन जानि आयकै बतायौ है।
कह्यौ उनमानि, भक्त मानिबौ प्रधान जरी मूँदिकै पठाई, ताहि गुण समुझायौ है॥४६८॥

अर्थ—राजा चतुर्भुजजीके पाससे लौटकर भाट अपने उसी राजाके पास आया और भरे दरबारमें सारा हाल सुनाकर जो धन लाया था वह तथा पीछे जो डिबिया दी थी—वह सब राजाके आगे खोलकर रख दिया। राजाने डिबिया (संपुट) खोली तो अन्दर गोटेमें लिपटी एक कौड़ीको देखा। बहुत सोचने-विचारनेपर भी उसकी समझमें नहीं आया कि इस तरह जरीमें कौड़ी लपेट कर भेजनेका क्या अर्थ है? राजाके यहाँ जो कथा-वाचक ब्राह्मण आया

करते थे। राजाको मालूम था कि वे ऊँची श्रेणीके भगवद्-भक्त हैं और भगवानकी भक्तिमें तन्मय रहते हैं। सो रातमें जाकर राजाने उनसे कौड़ी भेजनेका तात्पर्य पूछा। पंडितजीने अनुमान लगा कर बताया कि 'चतुर्भुजजीका आशय यह है कि आपने भक्ति-हीन, किन्तु साधु-वेषधारी व्यक्तिको भेजा है, सो उसका मूल्य उनकी दृष्टिमें वही है जोकि जरीमें लिपटी हुई कानी कौड़ी का। फिर भी हमने तो साधु-वेषका सत्कार कर ही दिया।'

भक्ति-रस-बोधिनी

राजा रीझि पाँव गहे, "कहे जू वचन नीके, ऐपै नेकु आप जाय तत्व याको ल्याइयै।"
आये, दौरि पाँव लपटाय भूप भाय-भरे परे प्रेम-सागरमें, चरचा चलाइयै॥
चलिबे न देत, दुख देत चले लोल मन, खोलि कै भंडार दियौ, लियौ न रिझाइयै।
उभै सुवा-सारौ कह्यौ एक कर धारौ मेरे दई अकुलाय लई मानौ निधि पाइयै॥४६९॥

अर्थ—पंडितजीके मुँहसे कौड़ी भेजनेका अर्थ समझ कर राजा उनके चरणोंमें गिर पड़ा और बोला—"आपने बड़ी सुन्दर बात बताई है, पर जरा आप चतुर्भुजजीसे मिलकर इसका असली तत्त्व (आशय) समझकर आइए।" पंडितजी पहुँचे करौली। उन्हें देखते ही चतुर्भुजजी प्रेमसे पैरोंमें गिर पड़े। उसके बाद बहुत देर तक हरि-चर्चा चलती रही और दोनोंने अत्यन्त आनन्द लिया।

कुछ दिन रहकर पंडितजीने जब चलनेकी बात चलाई, तो चतुर्भुजजी उन्हें जाने न देते थे। अन्तको जब चले; तो वियोगकी पीड़ासे दोनोंका मन आतुर हो गया। उस पीड़ामें, किन्तु, सुखकी अनुभूति भी थी। चलते समय राजाने अपना धन-भण्डार खोल दिया, पर पंडितजीने उसमेंसे कुछ भी न लिया। बोले—"मैं तो आपकी भक्ति-भावनापर रीझ गया हूँ—धन उसके सामने तुच्छ है। राजाके बहुत आग्रह करनेपर उन्होंने तोता-मैनाके जोड़ेमें-से एक माँगा। राजाको ये दोनों बड़े प्यारे थे, अतः वे बड़े घबड़ाये, पर अन्तमें मैनाको दे ही दिया। ब्राह्मण को लगा जैसे उसे खजाना मिल गया हो।

भक्ति-रस-बोधिनी

आयौ राज-सभा, बहु बातनि प्रचारौ जहाँ, बोलि उठी सारौ "कृष्ण कहौ" झारि डारे हैं।
पूछें नृप "कहौ", "अहो! लह्यौ सब याही सों जू, पच्छी वा समाज रहे हरि प्रान प्यारे हैं॥
कोटि-कोटि रसना बखानौं पै न पाऊँ पार," सार सुनि भक्ति, आय सीस पाँव धारे हैं।
"राखौ यह खग, पगि रह्यौ तन मन स्याम," अति अभिराम रीति मिले औ पधारे हैं॥४७०॥

अर्थ—अब पण्डितजी उस मैनाको लेकर अपने राजाके दरबारमें आये। दरबार आखिर दरबार ही ठहरा। सब तरहके आदमी वहाँ आते थे और सब प्रकारकी दुनियादारीकी बातें होती थीं। मैनाने वे बातें सुनीं तो बोली—"कृष्ण कहो।" उन दुनियादार आदमियोंको मैना की यह करारी फटकार थी।

राजाने पंडितजीसे पूछा—"चतुर्भुजजीका प्रेम-भाव कैसा है, कुछ बताइए।" पंडितजीने उत्तर दिया—"इस मैनाको ही देखकर समझ लीजिये। जिस समाजमें रहनेवाले पक्षीको भी भगवान इस प्रकार प्रिय हैं, तो राजाका तो कहना ही क्या? यदि मैं करोड़ों जीभोंसे भी उनकी भक्तिकी महिमाका वर्णन करूँ, तो भी पार नहीं पा सकूँगा।"

पंडितजीकी ऐसी सारगर्भित बातें सुनकर राजा स्वयं श्रीचतुर्भुजजीके पास गया और उनके पैरोंमें अपना सिर रख दिया। मैनाको वह अपने साथ ले गया था। उसे आगे करते हुए बोला—"इस पक्षीको आप अपने ही पास रखिये; क्योंकि इसका तन-मन श्यामसुन्दरके प्रेमके रंगमें रंगा हुआ है।

कुछ दिन तक राजा चतुर्भुजजीके यहाँ रहा। यह समय भक्ति-चर्चा करते हुए बड़े सुन्दर ढंगसे बीता। बादमें राजा अपने घर लौट आया।

शंका-समाधान—इस प्रसंगको और भी मनोरम रूप देनेके लिए भक्तोंने एक शंका उठाई है। वह यह कि जिस मैनाके कारण राजाको तत्त्व-ज्ञान हुआ था, उसे वे राजा चतुर्भुजजीको लौटाने क्यों गए?

वास्तविक बात तो यह है कि पंडितजीके द्वारा राजाको यह मालूम होगया था कि चतुर्भुजजी ने कुछ कष्ट पाकर मैनाको दिया है। ऐसी दशामें उचित यही था कि भक्तिकी शिक्षा-ग्रहण करनेके बाद मैनाको लौटा दिया जाय ताकि चतुर्भुजजीको उसकी याद न सतावे। किन्तु भक्त-मण्डलीमें प्रचलित वार्ताके अनुसार जब चतुर्भुजजीने मैनाको लौटानेका कारण पूछा, तो राजाने कहा—"ऐसे पक्षीको भला कौन अपने यहाँ रखना चाहेगा जो उसका घर बिगाड़ दे; इसमें हमारे ऊपर तो राज्यके संचालन का भार है।" श्रीचतुर्भुजजीने हँसकर कहा—"यदि ऐसा है तो आप वही करियें, जिसमें आपका घर न बिगड़े।"

'घर बिगाड़ने' की बातको लेकर एक सुन्दर दृष्टान्त भी दिया जाता है जो कि इस प्रकार है—

दृष्टान्त—एक बार किसी शेखचिल्लीको भूख लगी। इधर-उधर बहुत पलीता लगाया, परन्तु किसीने हाथ नहीं रखने दिया। आखिर शेखचिल्लीने निश्चय किया कि बाजारमें जाकर भाग्यकी परीक्षा की जाय। पहुँचे आप बाजार और विविध मिठाइयोंसे सजी हुई एक दूकानके सामने खड़े होगए। दूकानदार ने जब कोई ध्यान नहीं दिया, तब आपने उसकी आँखोंके सामने अँगुली फेरना शुरू किया। दूकानदार बोला—"यह क्या करते हो?"

शेखचिल्ली—"देखता हूँ कि तुम्हें दिखता भी है कि नहीं।"

दूकानदार—"दीखता नहीं, तो दूकानपर कैसे बैठा हूँ?"

शेखचिल्ली—"दीखता है तो इतनी सुन्दर-सुन्दर मिठाइयाँ तुम्हारे सामने रक्खी हैं, इन्हें खाते क्यों नहीं?"

दूकानदार—"इन्हें खाकर क्या मुझे अपना घर बिगाड़ना है?"

शेखचिल्ली—"तुम अपना घर मत बिगाड़ो, पर इन्हें खाकर यदि मेरा घर बिगड़ता हो, तो तुम्हें क्या एतराज है ?"

दूकानदार इस उत्तरसे बड़ा प्रसन्न हुआ और उसने शेखचिल्लीको भरपेट भोजन करा दिया।

भक्तदाम-गुण-चित्रनी, पत्र ३५० पर श्रीचतुर्भुज भक्तके सम्बन्धमें एक विशेष वार्ता निम्न प्रकार से प्राप्त हुई है—

एक बार कोई ठग सन्त-वेश बनाकर श्रीचतुर्भुज भक्तके महलमें प्रवेश कर गया। राजाके यहाँ सन्तोंसे किसी भी प्रकारका भेद-भाव तो था ही नहीं, वे अपनी इच्छानुसार सर्वत्र घूमा करते थे। यह ठग भी महलमें इधरसे उधर कुछ द्रव्य हाथ लग जानेकी ताकमें घूमता रहा। अन्तमें वह राजाके उस महलमें पहुँचा जहाँ पटरानी शयन कर रही थी। उसने देखा कि रानी अपने गलेमें एक अत्यन्त कीमती हार पहने हुए है। देखते ही ठगका मन लुभा गया और कटार निकाल कर उसने रानीके गलेपर रख दी, किन्तु उस समय जो आश्चर्य हुआ उससे ठगका शरीर काँप गया। प्रयत्न करनेपर भी वह रानीके गलेको छुरीसे न काट सका। उसे लगा जैसे गला वज्रका बना हो और कटारी हो मोम की।

यह चमत्कार देखकर ठग बड़ा भयभीत हुआ। उसी समय रानी जाग पड़ी। ठग उसके चरणोंमें गिर पड़ा और सब घटना सच-सच कह सुनाई। अब तक दूसरी बाँदियाँ भी आ चुकी थीं। रानीने उस का सन्त-वेश देखा और यह भी जान लिया कि वह कितना डरा हुआ है। वह बोली—"सन्त महाराज ! आप डरिए नहीं। मन अच्छे-बुरे विचारोंका महासागर है। उनसे प्रेरित होकर शरीर भी कभी-कभी बुरे काम करने लगता है।"

रानीकी यह बात सुनकर ठगके मनका कालुष्य पानी-पानी होगया। वह उसी दिनसे संसारसे विरक्त हो भगवान और भगवद्-भक्तोंके प्रति अपार श्रद्धा रखने लगा।

× × ×

विशेष-परिचय—करौलीका यह यदुवंशी राजवंश भगवान श्रीकृष्णचन्द्रकी परम्परामें है। इस वंशके सभी नरेश वैष्णव-धर्मके अनुयायी हुए हैं। श्रीवज्रनाभजी (श्रीकृष्णके प्रपौत्र) को उनकी प्रार्थनानुसार दर्शन देकर भगवानने अपनी प्रस्तर-चौकी देते हुए आज्ञा दी कि 'मेरे स्नान करनेकी यह चौकी है, इसमें-से मेरी आकृतिकी मूर्तियाँ बनवाकर संस्थापित करवा देना।' तदनुसार श्रीवज्रनाभजीने उस चौकीमें-से श्रीगोविन्दजी, श्रीमदनगोपालजी आदि❀ प्रतिमायें बनवाईं और श्रीवृन्दावनमें प्रतिष्ठापित करवाईं। इस राजवंशकी १३६ वीं (भगवान श्रीकृष्णसे ८२ वीं) पीढ़ीमें होनेवाले श्रीइन्द्रपालजी तक सभी नरेशोंकी मथुरापुरी ही राजधानी रही। आगे चलकर विजयपाल नरेशने बयानाको अपनी राजधानी बनाया। उस समय यहाँ विदेशी आक्रान्ताओं (यवनों) का आतङ्क छाया हुआ था। महाराजा विजयपाल (वि० सं० ११७३ में) बुबकसाहसे संग्राम करते हुए कंधारमें परलोकवासी हुए। कवि नल्लने "विजयपाल रासो" नामक ग्रन्थमें उनका समय इस प्रकार दिया है—

दश शत वर्ष तिरान, मास फाल्गुन गुरु ग्यारिस।
पाय सिद्ध वरदान, तेज भडुव कर धारिस॥

❀ डा० श्रीमदनमोहनजीका पहले यही नाम था, देखिये—श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती-कृत मदनगोपालाष्टक (गौड़ीय-सम्प्रदाय का सचित्र इतिहास, मदनमोहनजीका मन्दिर वृन्दावन)

ग्यारहसौ तिहोतरा, फाग तीज रविवार।
विजयपाल रण जूझियो, बुवकशाह कंधार॥

नल्लुके इन वाक्यों द्वारा विक्रम सं० १०९३से ११७३ तक विजयपालका राज्य-काल ज्ञात होता है। करौलीके प्रसिद्ध विद्वान् कवि श्रीअर्जुनदत्तजीने 'बयाना' का निर्माण काल 'द्विबाणखेन्दुवत्सरे' अर्थात् १०५२सम्वत् माना है। विजयपालके पुत्र तिमनपालके पश्चात् "धुन्धुलदेव" तक १३ पीढ़ियोंका इतिवृत्त अज्ञात है। धुन्धुपालजीके पुत्र अर्जुनदेवजीने अपने उपास्यदेव श्रीकल्याणरायजीके नामपर भद्रावती नदीके तटपर वि० सं० १४०२ में कल्याणपुरी नामक नगरी बसाई। आगे चलकर अपभ्रंश रूपसे उसी का करौली नाम प्रसिद्ध होगया। अर्जुनदेवके पश्चात् छठी पीढ़ीमें महाराजा चन्द्रसेनजी बड़े तपस्वी भगवद्-भक्त राजा हुए जो इस राजवंशकी १५८ वीं पीढ़ीमें परिगणित हैं। आप डेढ़-सौ वर्षसे भी अधिक समय तक जीवित रहे। आपके नेत्रोंकी पलकें इतनी बढ़ गई थीं कि सामने आये हुए व्यक्तिको देखनेके लिये बार-बार उन्हें हटाना पड़ता था। करौलीसे ६ कोसकी दूरीपर बहादुरपुरके ऐकान्तिक महलोंमें रहते हुए वहाँ पर विराजमान चतुर्भुज भगवानकी सेवामें आप सदा लगे रहते थे। आपके पास बहुतसे साधु-सन्त आते-जाते रहते थे। जो साधु-सन्त वहाँ आते आप बड़े सम्मान-पूर्वक उनकी सेवा किया करते थे।

कहा जाता है, आगरेके किलेका जब बनना आरम्भ हुआ तब कई दिनों तक यमुनाजीकी टक्करों ने उनकी दीवारोंको खड़ा ही नहीं होने दिया। उस समय किसी वयोवृद्ध समझदार व्यक्तिने बादशाहको यह परामर्श दिया कि 'इस किलेकी नींव यहाँके किसी भोमियाँ ठाकुरसे लगवानी चाहिये'। सुझावको मानकर चन्द्रसेनजीको लिवानेके लिये बादशाह अकबर स्वयं बहादुरपुर पहुँचे, किन्तु अत्यन्त वृद्ध अवस्था के कारण चन्द्रसेनजी स्वयं आगरा नहीं आ सके। उन्होंने अपने पौत्र गोपालदासजीको किलेकी नींव लगानेके लिये भेज दिया। वही गोपालदासजी चन्द्रसेनजीके पश्चात् करौलीके राज्यासनपर आरूढ़ हुए। उनके पिता भारतीचन्द्रजीका पहले ही परलोकवास हो चुका था।

गोपालदासजी भी गोपालजीके बड़े भक्त थे*, उन्हें दौलताबाद(दक्षिण)के किलेकी एक दीवारमें श्रीगोपालजीकी प्रतिमा प्राप्त हुई थी जो आज करौलीके राज-महलोंमें विराजमान हैं। आपके पश्चात् आठवीं पीढ़ीमें श्रीगोपालसिंहजीके राज्यकाल (संवत् १७८७ के लगभग) में जयपुरसे ठाकुर श्रीमदन गोपालजी करौली पधारे थे।£ उस समय उनकी पूजा गो० श्रीसुबलदासजी किया करते थे। कहा जाता है कि उन्होंने महाराजा श्रीगोपालसिंहजीसे गौड़ीय सम्प्रदायकी दीक्षा लेनेका अनुरोध किया, किन्तु उन्होंने स्वयं दीक्षा न लेकर रावठराके ठाकुर और एक हरदैनियां पुरोहितको गोस्वामीजीसे दीक्षा दिलवा दी और यह कह दिया कि इन पूत पुरोहितोंको हमारे ही समान समझें। हम अपनी परम्परागत संप्रदाय-प्रणालीको बदल नहीं सकते। श्रीवज्रनाभसे लेकर आज तक यह राज-घराना निम्बार्क-सम्प्रदाय

---

* इनके नामकी एक हवेली पुष्कर क्षेत्रके उस स्थलमें भी थी जहाँ पर 'श्रीनिम्बार्काचार्यपीठ परशुरामपुरी' (सलेमाबाद) स्थित है। वहांकी जनता उसे 'गोपालदास गाडी' की हवेली कहती थी।

£ महाराजा जयसिंह जयपुरकी एक भेंटनामेकी सनद जिसमें कि श्रीमदनगोपालजीके जयपुर पधारनेका निश्चय हुआ तब कामवनमें एक नौहरा भेंट करनेका उल्लेख है, (श्रीमदनमोहनजीके मुख्तार आम बाबू पीताम्बर प्रसाद चमकनी द्वारा प्रकाशित 'परदे में सीन' पृ० ४)

का अनुवर्ती रहा है और यहाँकी प्रजा भी "यथा राजा तथा प्रजा" इस उक्तिको चरितार्थ करती रही है। इस आशयको करौलीके विद्वान् कवियोंकी संस्कृत-उक्तियाँ भी पुष्ट करती हैं—

> कृष्णप्रपौत्रो नृपवज्रनाभः संवीक्षितो निम्बदिवाकरार्यैः ।
> अद्यापि तत्पद्धतिवर्तमानास्तद्वंशजा भूपवराः प्रजाश्च ॥

इस प्रकार करौली नरेशोंकी १६८ पीढ़ियोंके इतिहासका अनुशीलन करनेसे इस राजवंशकी भक्ति-भावनाका परिचय मिल जाता है, किन्तु उस नरेशका पता नहीं चलता जिसका नाम 'चतुर्भुज' बताया जाता है। नाभाजीने करौलीधीशका जिस रूपमें परिचय दिया है वह महाराजा चन्द्रसेनजीकी जीवनीसे मिलता है। वे नाभाजीसे कुछ वर्षों पूर्व तक जीवित थे। चतुर्भुज भगवान्के उपासक होनेके साथ-साथ उन्हींको राज्याधिपति समझते थे। सम्भव है, इसी कारण उनकी 'चतुर्भुज-नृपति' नामसे ख्याति हो गयी हो। और नाभाजीने भी चन्द्रसेन नामका उल्लेख न करके चतुर्भुज नामका उल्लेख कर दिया हो।× लेखकोंके प्रमादसे भी 'चन्द्रसेन' का चतुर्भुज पाठ बन सकता है, किन्तु दो सौ वर्षोंसे पुरानी पुस्तकोंमें भी पाठ ऐसा ही मिल रहा है। यद्यपि श्रीप्रियादासजीकी टीकामें इस नामका उल्लेख नहीं मिलता है, तथापि उनकी कृति 'भक्त-सुमिरनी' और बालकरामजीकी भक्तमाल (छ० ३४०) में भी 'चतुर्भुज' नामका ही उल्लेख है; किन्तु करौलीके राजाओंकी वंशावलीमें यह नाम न मिलनेसे उसकी संगति नहीं बैठती। अतः इस छप्पयकी अन्तिम दोनों पंक्तियोंका यह अर्थ मानना ही उचित मालूम पड़ता है कि—'भक्तोंको अपना तन-मन-धन अर्पण करके श्रीचतुर्भुज भगवान्की जैसी भक्ति वे करौली राज्यके अधिपति किया करते थे, वैसी और कौन कर सकता है?'

मूल (छप्पय)

(श्रीमीराँबाईजी)

> सदृश गोपिका प्रेम प्रगट कलिजुगहिं दिखायौ ।
> निरअंकुश अति निडर रसिक-जस रसना गायौ ॥
> दुष्टनि दोष विचारि मृत्यु को उद्यम कीयौ ।
> बार न बाँकौ भयौ, गरल अमृत ज्यौं पीयौ ॥
> भक्ति निसान बजाय कै, काहू ते नाहिन लजी ।
> लोक लाज कुल शृंखला तजि मीराँ गिरधर भजी ॥११५॥

अर्थ—श्रीमीराँबाईने इस कलियुगमें गोपियों-जैसा प्रेम प्रकट किया। निरंकुश और अत्यन्त निडर होकर उन्होंने रसिक-शिरोमणि प्रभु श्रीकृष्णचन्द्रके यशका गान किया। दुष्टोंने

× करौली-इतिहासकी जाँच-पड़तालके समय वहाँके पण्डित श्रीगंगादत्तजी कथा-वाचककी विशेष प्रेरणानुसार ठाकुर श्रीनारायणसिंहजी बी० ए० कलदरी रावल करौली (भूतपूर्व संचालक दान-धर्म) द्वारा प्रेषित एक विस्तृत लेखका यहाँ यह संक्षिप्त सारांश दिया गया है।

समझा कि इस प्रकारकी भक्ति-रीति एक स्त्रीके लिये अत्यन्त अनुचित है, अतः उनकी मृत्युका उपाय किया, किन्तु भगवत्-कृपासे उनका बाल भी बाँका न हुआ । जो जहर उन्हें पीनेके लिये दिया गया था उसे वे अमृतके समान पी गईं । आपने नगाड़ा बजाकर खुले रूपमें भगवानको भजा और किसीकी लज्जा नहीं की । इस प्रकार लोक-लज्जा और कुल-रीतिकी बेड़ियोंको तोड़कर श्रीमीराँबाईने गिरधरगोपालका भजन किया ।

भक्ति-रस-बोधिनी

'मेरतौ' जन्म-भूमि, भूमि हित नैन लगे, पगे गिरिधारीलाल, पिता ही के धाममैं ।
रानाकें सगाई भई, करी ब्याह सामा नई, गई मति बूड़ि वा रँगीले घनश्याममैं ॥
भाँवरे परत मन साँवरे स्वरूप माँझ, ताँवरें सी आवें चलिबेकौ पति-राममैं ।
पूछें पिता-मात 'पट आभरन लीजियैजू' लोचन भरत नीर कहा काम दाममैं ॥४७१॥

अर्थ—श्रीमीराँबाईकी जन्म-भूमि 'मेरते (जोधपुर) में थी । कौमार्य अवस्थामें, जब आप पिताके ही घरमें रहती थीं, आपकी आँखें भगवत्-प्रेममें झूमकर गिरधारीलालसे लग गईं । बादमें विवाह-योग्य हो जानेपर चित्तौड़के राना साँगाके पुत्र भोजराजसे आपकी सगाई हुई । पिताने विवाहके अवसरपर नई-नई सामग्रियाँ इकट्ठी कीं, परन्तु मीराँका मन तो रँगीले घनश्याम में डूबा हुआ था । भाँवरें पड़ते समय भी आपका मन श्रीकृष्णके साँवले स्वरूपमें उलझ रहा था । विवाहके उपरान्त जब ससुरालके गाँवको चलनेका समय हुआ, तो उन्हें मूर्छा-सी आगई । माता-पिता कहते थे—"वस्त्र, आभूषण जो-जो तुम्हें अच्छे लगते हों, ले लो," परन्तु आपने आँखोंमें आँसू भरकर उत्तर दिया—"मुझे द्रव्यसे क्या प्रयोजन ?"

कहते हैं, विवाहके फेरे पड़ते समय मीराँजीने मंडपके नीचे पहलेसे ही से अपने गिरधरगुपालको विराजमान कर दिया था और कुमार भोजराजके साथ फेरे लेते समय ठाकुरजीके साथ भी फेरे ले लिये । मीराँकी माँने जब ऐसा करनेका कारण पूछा, तो आपने कहा—

माई म्हाँने सुपनें वरी गोपाल ।
राती पीती चुनरी ओढ़ी, मेंहदी हाथ रसाल ।
कोई औरको वरूँ भाँवरी, म्हाँके जग जंजाल ॥
मीराँके प्रभु गिरिधर नागर करी सगाई हाल ॥

भक्ति-रस-बोधिनी

"देवौ गिरिधारीलाल जौ निहाल कियौ चाहौ, और धन माल सब राखियै उठाय कैं ।
बेटी अति प्यारी, प्रीति-रंग चढ्यौ भारी, रोय मिली महतारी, कही "लीजियै लड़ाय कै" ॥
डोला पधराय, दृग दृग सौं लगाय चलीं, सुख न समाय चाय, प्रानपति पाय कैं ।
पहुँची भवन सासु देवी पै गवन कियौ, तिया अरु बर गँठजोरी करयौ भाय कैं ॥४७२॥

अर्थ—माँ-बापने मीराँजीसे जब अपनी पसन्दके वस्त्र-आभूषण लेनेको कहा, तो उन्होंने उत्तर दिया—"यदि मुझे अनुगृहीत करना चाहते हैं तो गिरधारीलालजीको दे दीजिये; बाकी

धन और आभूषण उठाकर रख लीजिए, (ये मेरे किसी कामके नहीं हैं)।"

मीराँजी अपनी माँकी बड़ी लाड़िली थीं, अतः माँने जब देखा कि बेटीपर भगवानका रंग बहुत चढ़ गया है, तो उसे आँखोंमें आँसू भरकर गलेसे लगाते हुए कहा—"गिरिधरलाल जीको ले जाओ; बड़े प्रेमसे इनकी उपासना करना।"

दुलहिनका डोला तैयार था। मीराँजी बैठ गईं और प्रभुको रख लिया सामने। इस प्रकार उनकी आँखोंसे आँखें मिलाती हुई आप चलीं। इस समय उनके हृदयके आनन्दकी सीमा न थी; क्योंकि प्राणपति भगवान साथ चल रहे थे। ससुरालमें पहुँची, तो सासने वर-वधूको पालकीसे उतारा और गाँठ जोड़कर देवीके मन्दिरमें लिवा ले गई।

कहते हैं, मीराँने जब कुछ भी लेनेसे मना कर दिया, तो माँने पूछा—"बेटी! तू क्या चाहती है?" मीरां बोली—

> दे री माई अब म्हाँको गिरिधर गोपाल।
> प्यारे चरण आन करति हौं, और न दे मणिलाल॥
> नातो सगो परिवारो सारो, मुनें लगै मानों काल।
> मीराके प्रभु गिरिधर नागर, छबि लखि भई निहाल॥

भक्ति-रस-बोधिनी

> देवी के पुजायबे कौं कियौ ले उपाय सासु, वर पै पुजाइ, पुनि वधू पूजि भाखियें।
> बोली "जू बिकायौ माथौ लाल गिरिधारी हाथ, और कौं न नयें एक वही अभिलाखियें॥"
> "बढ़त सुहाग याकें पूजे, तातें पूजा करौ, करौ जिनि हठ, सीस पायनि पै राखियें।"
> कह्यौ बार-बार "तुम यही निरधार जानौ, वही सुकुमार जापै वारि फेरि नाखियें॥४७३॥

अर्थ—मन्दिरमें पहुँचकर मीराँजीकी सासने देवी-पूजनका सब सामान ठीक किया और तब पहले वरसे पूजन कराकर फिर वधूसे पूजनेको कहा। मीराँजीने कहा—"मेरा यह मस्तक तो गिरिधारीलालके हाथों बिक चुका है; यह अन्य किसी देवी-देवताके सामने नहीं झुकेगा। इसे तो केवल उन्हींके चरणोंमें प्रणाम करनेकी कामना रहती है।" सास बोली—"देवीकी पूजा करनेसे स्त्रीका सौभाग्य बढ़ता है, इसलिये हठ न करो; अपना सिर देवीके चरणोंमें झुकाकर प्रणाम करो।" उत्तरमें मीराँजीने बार-बार यही कहा—"आप इसे निश्चय करके मान लीजिये कि उस सुकुमार श्यामसुन्दरके चरणोंपर एक बार झुककर यह और किसीके सामने नहीं झुकेगा।"

इस प्रसंगको लेकर किसी कविने नीचे लिखा एक सुन्दर सवैया कहा है—

> पल काढौ यहीं इन नैननि के गिरिधारी बिना पल अंत निहारें।
> जीभ कटै न भजै नँदनंदन, बुद्धि कटै हरि नाम बिसारें॥
> 'मीरा' कहै जरि जाहु हियौ पद-कंज बिना मन अंत न धारें।
> सीस नवै ब्रजराज बिना वा सीसहि काटि कुआँ किन डारें॥

भक्ति-रस-बोधिनी

तब खिसानी भई, अति जरि बरि गई, गई पति पास "यह बधू नहीं काम की ।
अब ही जवाब दियौ, कियौ अपमान मेरौ, आगे क्यों प्रमान करै ?" भरै स्वास चाम की ॥
राना सुनि कोप कर्यौ, धर्यौ हिये मारिबोई, दई ठौर न्यारी, देखि रीझी मति बाम की ।
लालनि लड़ावै, गुन गाय कै मल्हावै, साधु संग ही सुहावै, जिन्हैं लागी चाह स्याम की ॥४७४॥

अर्थ—मीराँजीका उत्तर सुनकर सास क्रोधसे जल-भुन गईं और पतिके पास जाकर बोली—"यह बहू तो कुछ कामकी नहीं है। अभी यह मेरा कहना नहीं मानती, तो आगे चल कर मुझे क्या गिनेगी ?" यह कहकर वह लुहार की धौंकनीकी भाँति जोर-जोरसे साँसें भरने लगी। रानीकी बात सुनकर राणाके क्रोध का भी ठिकाना न रहा और उन्होंने उसे मार डालने का निश्चय कर लिया। मीराँजीको अब एक अलहदा कोठरी रहने के लिये दे दी गई। उन्हें मनमाँगी मुराद मिली। उस एकान्त घरमें वे अपने गिरिधरगुपालको आठों पहर लाड़ लड़ातीं और सेवा-पूजा करती हुई उनके गुण-गान किया करतीं। आपको उन साधुओंका संग ही अच्छा लगता था जो भगवानको हृदयसे प्रेम करते थे।

मीराँने गौरी-पूजनका निषेध करते समय जो दोहा कहा था वह इस प्रकार है—

ना म्हे पूजाँ गौर ज्याजी, ना पूजाँ अनदेव ।
म्हे पूजाँ रणछोड़जी साखु, थे काँई जाणो भेव ॥

बादकी घटनाएँ—इसके बादकी घटनायें प्रियादासजीने नहीं लिखी हैं। हुआ यह कि मीराँजी को संसारसे इस प्रकार विमुख देखकर उनके पतिने दूसरा विवाह कर लिया और कुछ दिन जीवित रह कर चल बसे। मीराँजीका रहा-सहा बन्धन भी अब टूट गया। भगवानके प्रेममें वे खुलकर खेलने लगीं।

भक्ति-रस-बोधिनी

आय कै ननँद कहै "गहै किन चेत भाभी ? साधुनि सों हेतु में कलंक लागै भारियै ।
राना देस-पती लाजै, बाप कुल रती लाजै, मानि लीजै बात बेगि संग निरवारियै ॥"
"लागे प्रान साथ संत, पावत अनंत सुख, जाको दुख होय ताको नीके करि टारियै ।"
सुनि कै कटोरा भरि गरल पठाय दियौ, लियौ करि पान, रंग चढ्यौ यों निहारियै ॥४७५॥

अर्थ—मीराँजीको साधुओंकी संगति करते देखकर एक दिन उनकी ननद ऊदाबाईने कहा—"भाभी ! यह बात तुम्हारी समझमें क्यों नहीं बैठती कि साधुओंसे प्रेम करनेसे कलंक लगता है। तुम्हारे रहन-सहनका ढंग-ढील देखकर इस प्रदेशके स्वामी राजाको लज्जित होना पड़ता है और तुम्हारे पिताके कुलकी मर्यादा भी नष्ट होती है। मेरा कहना मानो; साधुओंके साथ रहना छोड़ दो।" मीराँने उत्तर दिया—"मैं क्या करूँ ? मेरे प्राण साधुओंमें रमते हैं; उन्हींमें मुझे सुख मिलता है। मेरा चरित्र देखकर जिसे कष्ट होता हो उसे मुझसे दूर रक्खो।"

यह उत्तर सुनकर राणाने जहरका एक कटोरा (चरणामृत कहकर) मीराँके पास भेज दिया। मीराँजी उसे खुशी-खुशी पी गईं। पीनेके बाद उनका मुख एक विचित्र कान्तिसे देदीप्यमान हो उठा।

प्याला पीते समय मीराँजीने जो पद गाया था, वह इस प्रकार है—

राणा जी ज़हर दियो मैं जाणी।
जिन हरि मेरो नाम निबेर्‌यो, छर्‌यो, दूध अरु पाणी॥
जब लग कंचन कसियत नाहीं होत न बारह बानी।
अपने कुल को पड़दो करियो, मैं अबला बौरानी॥
स्वपच भक्त नाहीं तन गनते, हौं हरि हाथ बिकानी।
मीरा प्रभु गिरधर भजिबे को, संत चरण लिपटानी॥

भक्ति-रस-बोधिनी

गरल पठायौ, सो तो सीस लै चढ़ायौ, संग त्याग विष भारी, ताकी झार न सँभारी है।
रानाने लगायौ चर, बैठे साधु ढिग ढर, तब ही खबर कर, मारौं यहै धारी है॥
राजैं गिरिधारीलाल, तिनहीं सों रंग जाल, बोलत हँसत ख्याल, कानपरी प्यारी है।
जाय कै सुनाई, भई अति चपलाई, आयौ लिये तरवार, दै किवार, खोलि न्यारी है॥४७६॥

अर्थ—राणाके द्वारा भेजा गया विष तो मीराँ पी गईं, किन्तु संतोंका साथ छोड़ते नहीं बना। यह विष उनको उससे कहीं अधिक भयंकर था, अतः इसके असरको पचा जाना उनके लिये कठिन था। जब विषसे आप नहीं मरीं, तो राणाने अपने गुप्तचरोंसे कहा 'कि जब मीराँ के पास कोई साधु बैठा हो, तभी मुझे तुरन्त खबर देना। उसी समय मैं मीराँका काम तमाम कर दूँगा, ऐसा मैंने निश्चय कर लिया है।'

एक समय मीराँजी अपने प्रभु गिरिधरगोपालके साथ रंगकी क्रीड़ाएँ कर रही थीं—हँस-बोल रही थीं, चौपड़ खेल रही थीं कि गुप्तचरोंके कानोंमें वह स्वर पड़ा। तत्काल उन्होंने राणाको इसकी खबर दी। सुनते ही राणाका धैर्य्य नष्ट हो गया और तलवार हाथमें लेकर दरवाजेपर उसने पुकारा—"खोलो किवाड़!" मीराँजीने तत्काल किवाड़ खोल दिये।

भक्ति-रस-बोधिनी

"जाके संग रंग भीजि करत प्रसंग नाना, कहाँ वह नर गयौ, वेगि दै बताइयै।"
"आगे ही विराजै, कछु तो सों नहीं लाजै, अभूँ देखि मुख साजै, आँखैं खोलि दरसाइयै॥"
भयोई खिसानौ राजा लिख्यौ चित्र भीत मानौं, उलटि पयानौ कियौ, नेंकु मन आइयै।
देख्यौ हूँ प्रभाव, ऐपै भाव में न भियौ जाय, बिना हरि कृपा कहौ कैसे करि पाइयै॥४७७॥

अर्थ—किवाड़ खोल कर राणाने जब देखा कि कमरेके अन्दर कोई नहीं है, तो मीराँजी से पूछने लगा—"कहाँ है वह आदमी जिसके साथ तू अभी-अभी रँगरेलियाँ कर रही थी? जल्दी बता!" मीराँजीने जवाब दिया—"वह पुरुष तुम्हारे सामने ही तो विराजमान हैं। वह तुमसे कोई शर्म तो करते ही नहीं जो तुम्हें देखकर छिप जायँगे। आँखें खोल कर देखो।"

राजा खिसियाना-सा रह गया—एक दम स्तब्ध जैसे दीवारपर अङ्कित कोई चित्र हो। उलटे पैरों लौट गया वह अपना-सा मुँह लेकर, परन्तु भक्तिका प्रत्यक्ष प्रभाव देखकर भी उसके हृदयमें भगवानके प्रति प्रेम उत्पन्न नहीं हुआ। होता भी कैसे? भगवानकी कृपा जो नहीं थी।

भक्ति-रस-बोधिनी

विषई कुटिल एक भेष धरि साधु लियौ, कियौ यौं प्रसंग, "मोसों अंग संग कीजियै।
आज्ञा मोकों दई आप लाल गिरिधारी," "अहो सीस धरि लई, करि भोजन हू लीजियै॥"
संतनि समाज में बिछाय सेज बोलि लियौ, "संक अब कौन की ? निसंक रस भीजियै।"
सेत मुख भयौ, विषै भाव सब गयौ, नयौ पाँयनि पै आय, "मोकों भक्ति दान दीजियै॥४७८॥

अर्थ--एक दिन एक कामी और नीच पुरुष साधुका वेष रख कर मीराँजीके पास पहुँचा और बोला—"तुम्हारे गिरिधर गोपालजीने मुझे आज्ञा दी है कि तुम मीराँके साथ शारीरिक सम्पर्क करो।" मीराँजीने उत्तर दिया—"आपकी आज्ञा शिरोधार्य है। पहले आप भोजन करिये, फिर मैं सेवामें उपस्थित हूँगी।"

यह कहकर मीराँने साधुओंके बीच पलँग बिछाकर उस विषयीसे आनेको कहा। बोलीं—"जब मेरे प्रभुने ही आपको आज्ञा दी है, तो संकोच किसका ? आप निर्भय होकर मेरा अङ्ग-संग कीजिये।"

यह सुनकर उस व्यक्तिका मुँह सफेद पड़ गया—काटो तो खून नहीं। तत्काल उसका विषय-विकार न जाने कहाँ चला गया और पैरोंपर पड़कर गिड़गिड़ाते हुए बोला—"मुझे आप हरि-भक्तिका दान दीजिये।"

कहते हैं, मीराँको मारनेके लिए राणाने एक बार एक पिटारीमें काले साँपको बन्दकर मीराँजीके पास यह कह कर भेजा कि इसमें शालग्रामकी मूर्ति है। शालग्रामका नाम सुनते ही मीराँकी आँखें प्रेमसे डबडबा गईं। बड़े उत्साहसे ज्योंही पिटारीको खोला, त्योंही सचमुच उसमें शालग्रामकी मूर्ति दिखाई पड़ी। उस समय मीराँने प्रेमसे नृत्य करते हुए यह पद गाया—

मीरा मगन भई हरिके गुण गाय।
साँप पिटारा राणा भेज्या, मीरा हाथ दिया जाय।
न्हाय धोय जब देखण लागी, सालगराम गई पाय॥
मीराके प्रभु सदा सहाई, राखे बिघ्न हटाय।
भजन भावमें मस्त डोलती, गिरधर पै बलि जाय॥

भक्ति-रस-बोधिनी

रूपकी निकाई भूप अकबर भाई हिये, लिये तानसेन संग देखिबेकों आयौ है।
निरखि निहाल भयौ छबि गिरिधारीलाल, पद सुख जाल एक तब ही चढ़ायौ है॥
वृन्दावन आई, जीव गुसाईं जू सों मिलि झिली, तिया मुख देखिबेको पन लै छुटायौ है।
देखी कुंज कुंज लाल प्यारी सुख-पुंज भरी, धरी उर माँझ, आय देस, बन गायौ है॥४७९॥

अर्थ—मीराँजीके अद्भुत प्रेम और रूप-लावण्यकी प्रशंसा सुनकर अकबर बादशाह

एक बार तानसेनजीको साथ लेकर उन्हें देखनेको गया। मीरांके ठाकुर गिरधरलालकी शोभा और मीरांके सहज सौन्दर्यको देखकर वह निहाल हो गया। उसी समय तानसेनने आपके समक्ष एक सुन्दर पद गाया। उसके बाद दोनों चले आये।

वृन्दावनमें आकर मीरांजी जीव गोस्वामीजीसे मिलीं और स्त्रीके मुख न देखनेका उनका प्रण छुड़ाया। वृन्दावनमें आपने प्रत्येक कुञ्जमें आनन्द-राशिसे परिपूर्ण श्रीराधाकृष्णके युगल स्वरूपका दर्शन किया और उनकी भक्तिको हृदयमें भरकर अपने देशको लौट आईं। वहाँ आकर वृन्दावनमें आपने जो कुछ अनुभव किया था उसे छन्दोंमें रचकर गाया।

विशेष—कहते हैं, राणाने मीरांजीको जब बहुत सताना आरम्भ किया तब वह घर छोड़कर वृन्दावन चली गई थीं। वृन्दावन आनेसे पूर्व गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीको जो पत्र लिखा था, वह इस प्रकार बताया जाता है—

स्वस्ति श्री तुलसी गुणभूषण दूषण-हरण गुसाईं।
बारहिं बार प्रणाम करहुँ, अब हरहु सोक समुदाई॥
घर के स्वजन हमारे जेते, सबनि उपाधि बढ़ाई।
साधु संग अरु भजन करत मोहिं, देत कलेस महाई॥
सो तो अब छूटति नहिं क्यों हू, लगी लगन बरि आई।
बालपने में मीरा कीन्ही, गिरधरलाल मिताई॥
मेरे मात तात सम तुम हो, हरि भक्तन सुखदाई।
मोको कहा उचित करिबो, अब सो लिखिये समुझाई॥

उत्तरमें गोस्वामीजीने उन्हें अपना यह प्रसिद्ध पद लिख दिया—

जाके प्रिय न राम बैदेही।
तजिये ताहि कोटि बैरी सम यद्यपि परम सनेही॥
नाते नेह राम के मनियत सुहृद सुसेव्य जहाँ लौं।
अंजन कहा आँखि जेहि फूटै, बहुतक कहौं कहाँ लौं॥
तुलसी सो सब भाँति परम हित पूज्य प्रान ते प्यारो।
जासों होय सनेह राम पद एतो मतो हमारो॥

जीव गोस्वामीजीके स्त्रियोंका मुख न देखनेके प्रणको छुड़ानेकी वार्ता इस प्रकार कही जाती है—
एक बार मीरांजी वृन्दावनमें श्रीचैतन्य महाप्रभुके शिष्य श्रीजीव गोस्वामीजीके दर्शन करनेके लिये गईं। गोस्वामीजीने अन्दरसे कहला भेजा कि वे स्त्रियोंसे नहीं मिलते। मीरांने उत्तर दिया—“मैं तो समझती थी कि वृन्दावनमें श्रीनन्दनन्दनके सिवा सब स्त्रियाँ ही हैं, आज मुझे मालूम हुआ कि एक पुरुष आप भी हैं।” जीव गोस्वामीजी यह उत्तर सुनकर बड़े प्रसन्न हुए और आकर मीरांजीसे सप्रेम मिले।

भक्ति-रस-बोधिनी

राना की मलीन मति देखि बसी द्वारावति, रति गिरिधारीलाल नितही लड़ाइयै।
लागी चटपटी भूप भक्ति को सरूप जानि, अति दुख मानि विप्र श्रेणी लै पठाइयै॥
वेगि लैकै आवौ मोको प्रानन जिवावौ, अहो गये द्वार धरनो दै विनती सुनाइयै।
सुनि बिदा होन गई राय रणछोर जू पै छाड़ो राखौ हीन, लीन भई नहीं पाइयै॥४८०॥

अर्थ—राणाकी दुर्बुद्धि देखकर मीराँजी द्वारका चली गईं और वहीं रहकर अपने गिरिधारीलालको लाड़ लड़ाने लगीं। उधर धीरे-धीरे रानाको भी भक्तिके स्वरूपका ज्ञान हुआ। मीराँपर अपने द्वारा किये गये अत्याचारोंको सोचकर वह अपने मनमें बड़ा दुखी हुआ और उन्हें बुलाकर ले आनेके लिये बहुत-से ब्राह्मणोंको यह कहकर द्वारका भेजा कि 'जल्दी जाकर मीराँजीको लिवा लाइए और मुझे जीवन-दान दीजिए।' ब्राह्मण गए और राजाकी प्रार्थना सुनाई। मीराँजी किसी प्रकार राजी नहीं हुईं। इस पर ब्राह्मणोंने अन्न-जल त्याग दिया और धरना देकर पड़ रहे।

तब मीराँजी ब्राह्मणोंसे यह कहकर कि 'मैं प्रभु रणछोरसे विदा माँग लाऊँ,' मन्दिरमें गईं। वहाँ प्रभुके सामने खड़े होकर उन्होंने एक पद गाया जिसका आशय यह था कि 'प्रभो! मुझ अधमाको अपने चरणोंमें स्थान दीजिए या त्यागिए, आपकी इच्छा है।' यह पद गाते-गाते नृत्य करती हुई मीराँ रणछोरजीमें समा गईं। फिर कहीं उनका पता न चला।

इस समय मीराँजीने जो पद गाए थे वे इस प्रकार हैं—

(१) सजन! सुध-ज्यें जाणौं त्यें लीजै।
तुम बिन मेरे और न कोई, कृपा रावरी कीजै॥
दिन नहिं भूख, रैण नहिं निद्रा, यों तन पल-पल छीजै।
मीराँके प्रभु गिरिधर नागर मिलि बिछुरन नहिं दीजै॥

(२) अब तो निभायाँ सरसी, बाँह गहेकी लाज।
समरथ सरण तुम्हारी सइयाँ, सरब सुधारण काज॥
भव-सागर संसार अपर-बल जामें तुम हो जहाज।
निरधाराँ आधार जगत गुरु, तुम बिन होय अकाज॥
जुग-जुग भीर हरी भक्तनकी, दीनी मोच्छ समाज।
मीराँ सरण गही चरणनकी, लाज रखो महाराज॥

विस्तृत-परिचय

(१) 'मीराँ' शब्दकी निरुक्ति—'मीराँ' शब्दके मूलके अर्थके सम्बन्धमें विद्वानोंकी विभिन्न खोजों का सार, संक्षेप में, इस प्रकार है—(१) 'मीराँ' शब्दका अर्थ है परमात्मा या ईश्वर और 'बाई' का पत्नी—अर्थात् ईश्वरकी पत्नी। (डा० बड़थ्वाल), (२) 'मीराँ' का मूलरूप 'मिहिर' (सूर्य) है, (पं० केशवराम काशीराम शास्त्री), (३) 'मीराँ' का मूलरूप 'बीराँ' है, (प्रो० नरोत्तमदास स्वामी),

(४) 'मीरां' का अर्थ है महान्–उच्च गुणोंसे युक्त। राजस्थानमें प्रचलित 'मीरांजी' शब्दसे यही सिद्ध होता है, (महावीरसिंह गहलौत)।

वंशका इतिहास—राव दूदाजीने संवत् १५१६ वि० में मेड़ता नामक नगर बसाया। दूदाजी जोधपुरके संस्थापक राठौर राव जोधाजीके चतुर्थ पुत्र थे। राव दूदाजीके सबसे बड़े पुत्र वीरमसी (या वीरमदेव) थे और चतुर्थ पुत्र रतनसी (या रत्नसिंह)। रतनसी (वि०१५४०–१५८०) को जागीरके रूपमें १२ गाँव मिले थे जिनमें एक 'कुड़की' भी था। यहींपर मीरां बाईका जन्म हुआ।

जन्म-संवत्—'मीरां' का जन्म-संवत् विवाद और सन्देहसे शून्य नहीं। कर्नल टाडने, संवत् १५०५ में निर्मित महाराणा कुम्भाके शिवालयके निकटवर्ती मन्दिरको मीरांका मान कर, उन्हें महाराणा कुम्भाकी पत्नी माना है। उत्तरवर्ती इतिहासकार बहुत समय तक इसी धारणाको लेकर चलते रहे। बादमें जार्ज ग्रियर्सन ने मीरांको मैथिल-कवि विद्यापतिका समसामयिक बतलाया, तो दूसरोंने उन्हें राठौर जयमलकी पुत्री सिद्ध किया। कुछ लोगोंने तुलसीदासजीके साथ मीरांके पत्र-व्यवहार तथा अकबर-तानसेनकी भेंटके आधारपर उन्हें और आगे बढ़ा दिया। तात्पर्य यह है कि प्रामाणिक रूपसे इस विषयमें अभी कुछ नहीं कहा जा सकता। फिर भी हालमें हुई शोधोंके फल-स्वरूप अनु-मान यह है कि मीरांका जन्म-संवत् १५६० वि० है।

उक्त मान्यताका आधार यह है कि वीरमसीका जन्म-संवत् जब १४३४ वि० है, तो मीरांके पिता रतनसीका दूदाजीके चतुर्थ पुत्र होनेके कारण, जन्म सं० १५४० के आस-पास होना चाहिए। यदि मीरांका जन्म अपने पिताकी बीस वर्षकी अवस्थामें हुआ मान लिया जाय, तो जन्म-वर्ष १५६० ठहरता है। कुछ लोग मीरांका जन्म-संवत् १५५५ वि० मानते हैं, पर इस प्रकार वे अपने पति कुँवर भोजराजसे बड़ी ठहरती हैं जोकि कैसे भी सम्भव नहीं है।

मीरां का जीवन—बाल्यावस्था—मीरांके जन्मके दो वर्ष बाद उनकी माताका देहान्त हो गया, अतः राव दूदाजी मीरांको उसके गाँवसे मेड़ते ले आये और वहीं उनका पालन-पोषण किया। वीरमसीके पुत्र जयमलके साथ उनकी बाल्यावस्था बीती। पिताके घरमें सब लोगोंके वैष्णव होने के कारण मीरांका पालन-पोषण धार्मिक वातावरण में हुआ। परिणाम-स्वरूप बहुत पहले ही उनका परिचय हिन्दू-धर्मके पुराणोंके साथ हो गया था। इसके प्रमाण-स्वरूप राजस्थानके प्रसिद्ध इतिहास-वेत्ता श्रीजगदीशसिंह गहलौतने एक ताम्रपत्रका उल्लेख किया है। यह ताम्र-लेख मीरांने अपने बचपनके पुरोहित गजाधरको प्रदान किया था। इस ताम्र-पत्रके द्वारा 'दानमें दी गई जमीनका उपभोग गजाधरके वंशज आज भी कर रहे हैं। विवाह हो जानेके बाद मीरां गजाधरको अपने साथ चित्तौड़ ले गई थीं।

विवाह—इस विषयमें सब विद्वान् अब प्रायः एकमत हैं कि मीरांका विवाह भोजराजके साथ हुआ था। इस आशयका एक पद भी भक्त हरिदासका रचा हुआ मिला है जिसकी प्रारम्भिक पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

> एक राणी गढ़ चित्तौड़ की।
> मेड़तणी निज भगति कुमायँ भोजराइजी का जोड़ा की।
> हिमरू मिसरू साल दुसाला बैठण गद्दी मोढ़ा की॥

मीरांका विवाह-संवत् भी विवादास्पद ही है। महाराज रघुराजसिंहने 'राम-रसिकावली' में लिखा है कि मीरांका विवाह उनकी बारह वर्षकी अवस्थामें हुआ था। इस आधारपर विवाह-संवत् १५७२ माना जा सकता है।

मीरांके द्वारा देवी-पूजनके अस्वीकार कर देनेकी बातको भी इतिहासकारोंने प्रवाद माना है। सती-साध्वी मीरां ऐसा नहीं कर सकती थीं। 'और चित्तौड़का राज-धर्म तो शैव था। सिसोदिया-वंशका धर्म उदार था; राणा कुम्भ परम वैष्णव-हृदयवाले थे, तभी तो वे गीत-गोविन्दकी टीका लिख सके। इस प्रकारके कई प्रसंग-मीरां-छापवाले पदोंमें मिलते हैं। कई पदोंमें मीरां अपनी सास, ननद और पिय (पति) से अनबन कर लेती है, पर उन्हीं पदोंके अन्य पाठोंमें कुछ और ही मिलता है।'

मीरां का वैधव्य—मीरांके वैधव्यकी तिथिके बारेमें इतिहास द्वारा कुछ निश्चित तथ्य उपलब्ध नहीं होते। कुँवर भोजराज अपनी युवावस्थामें ही काल-ग्रस्त हुए होंगे; क्योंकि किसी भी युद्धमें उनके योग देनेका उल्लेख नहीं है। राणा-सांगा सं० १५८४ वि० में फतहपुर-सीकरीके प्रसिद्ध युद्धमें पातसाह बाबरके प्रतिकूल लड़ते हुए वीरगतिको प्राप्त हुए। इनके बाद रत्नसिंह गद्दीपर बैठे जो थोड़े ही समय पश्चात् बूँदीके हाड़ा सूरजमलके हाथसे मारे गये। तब मेवाड़का सिंहासन उनके छोटे भाई विक्रमादित्य को मिला। इस प्रकार हम देखते हैं कि कुँवर भोजराजका देहान्त सं० १५७२ से १५८४ वि० के मध्य में ही हुआ होगा। उनके विवाहित-जीवनकी अवधि बहुत ही अल्प रही होगी।

विष-पान—मीरांके कई पदोंमें इस आशयके संकेत मिलते हैं कि मीरांके देवर महाराणा विक्रमादित्यने उन्हें तरह-तरहकी यातनाएँ दी थीं, अतः इन्हींके द्वारा विष दिलवाया गया होगा। स्व० मुंशी देवीप्रसादका कहना है कि राणा-विक्रमादित्यके दीवान (जो जातिका वैश्य बीजावर्गी था) ने मीरांको विष दिया था।

मेवाड़-त्याग—अपने देवरके अत्याचारसे तंग आकर मीरांने मेवाड़ छोड़ा होगा। इसी बीचमें सं० १५८९ वि० में गुजरातके पातशाह बहादुरशाहने मेवाड़पर आक्रमण कर दिया। सं० १५९१ वि० में उसने दोबारा आक्रमण किया और मेवाड़को हस्तगत कर लिया। अनुमान यह है कि मीरां इसी बीच (सं० १५९०) में मेड़ता आगई होंगी।

मेड़तामें निवास—मेड़ताका वातावरण सत्संग और भजनके अनुकूल था। अतः वे वहाँ साधु-सेवामें लग गई होंगी। 'चौरासी वैष्णवोंकी वार्ता' से पता लगता है कि उनके यहाँ वैष्णव साधु-सन्तों का जमघट बना ही रहता था।

एक प्रसंग और देखिए—

"सो एक दिन मीरांबाईके श्रीठाकुरजीके आगे रामदासजी कीर्तन करते हुते।"

"एक समै गोविंद दुबे मीरांबाईके घर हुते। तहाँ मीरांबाईसों भगवत् वार्ता करते अटके।"

चौरासी वैष्णवोंकी वार्ताके प्रसंगसे यह धारणा कर लेना ठीक नहीं होगा कि मीरां वल्लभकुल में दीक्षा ले चुकी थीं। सत्य बात तो यह है कि वे साम्प्रदायिक कट्टरतासे बहुत दूर थीं। साम्प्रदायिक मनोवृत्तिको लेकर वल्लभीय वैष्णव मीरांके प्रति अपशब्दोंका प्रयोग करते थे। एक बार मीरांने रामदास जीसे कहा—"कोई दूसरा पद ठाकुरजीका गावो।" इस समय रामदासजी "श्री आचार्य महाप्रभुके पद

गावत हुती ।" इस पर रामदासजी बिगड़ उठे और बोले—"अरे मरी राँड़ यह कौनको पद है? यह कहा तेरे खसमको मूंड़ है। जा आजते तेरो मुहड़ो न देखूंगो।"

मेड़ता-त्याग—जोधपुर और मेड़तेके मध्यमें सं० १५८८ वि० से ही मन-मुटाव चला आ रहा था। राव मालदेवने वीरमदेवपर आक्रमण करके सं० १५९५ वि० में मेड़ता छीन लिया। इसी समय के आसपास, अनुमानतः, मीराँ मेड़तेसे चल दी होंगी।

वृन्दावन-वास—नागरीदासके अनुसार "रानाको छोटो भाई मीराको देह संबन्धको भर्ता हो, तो ताको परलोक भयो, ता पीछें मीरांबाई गंगादिक तीरथ करकैं अरु वृन्दावन हू आये।"

वृन्दावनमें रूपगोस्वामीके भतीजे जीवगोस्वामीसे मीराँकी मुलाकातका उल्लेख प्रायः सर्वत्र मिलता है। पर यह कहना संगत नहीं है कि वृन्दावनमें मीराँकी भेंट श्रीचैतन्य महाप्रभुसे भी हुई थी। महाप्रभु सं० १५७२ में वृन्दावन पधारे थे और इस समय मीराँ चित्तौड़की कुँवरानी थीं। मीराँ जगन्नाथजी गई होंगी तो सं० १५९५ वि० के पश्चात्। इस समय तक महाप्रभुने समुद्र-लाभ (सं० १५८४) कर लिया था।

यह कहनेकी आवश्यकता नहीं कि वृन्दावनके वातावरणमें मीराँके हृदयमें एक नई सरसता सजग हो उठी होगी। मीराँके श्वसुर-कुल और पैतृक-वंशके वैष्णव होने पर भी उन प्रदेशोंमें निर्गुण एकेश्वरवादका बोलबाला था और वैष्णवताके इस भावुक पक्षकी अनुभूति वहाँ एक प्रकारसे विजातीय थी। वृन्दावन पहुँच कर मीराँ 'भगतिन' से ऊपर उठकर 'गोपी' बन गईं। स्वयं उन्होंने कहा है—

'पूरब जनमकी मैं हूँ गोपी।'

महात्मा ध्रुवदासजीने ठीक ही लिखा है—

'आनँदसों निरखत फिरे वृन्दावन रस-खेत।'

वृन्दावनमें प्राप्त होनेवाले सुखका मीराँने जिन शब्दोंमें वर्णन किया है वे अत्यन्त मृदुल और सहज हैं। वे कहती हैं—

> **आली म्हांनें लागत वृन्दावन नीको।**
> **घर घर तुलसी ठाकुर पूजा, दरसण गोविंदजीको ॥**
> **निरमल नीर बहत जमनामें भोजन दूध दहीको।**
> **रतन सिंघासण आप बिराजे, मुकुट धर्‌यो तुलसीको ॥**
> **कुंजन कुंजन फिरत राधिका सबद सुणत मुरलीको।**
> **मीराँके प्रभु गिरधर नागर, भजन बिना नर फीको ॥**

किन्तु मीराँ बहुत दिनों तक वृन्दावनमें न रम सकीं और द्वारका जानेको उद्यत हुईं। वृन्दावन-त्यागका कारण बताते हुए श्रीप्रियादासजी कहते हैं—"रानाकी मलीनमति देखि बसी द्वारावती।" अनुमानतः यह राणा विक्रमादित्यके छोटे भाई उदयसिंह होंगे जो सं० १५८४ वि० में गद्दी पर बैठे। मीराँका वृन्दावनमें आनेका समय यदि सं० १५९७ के आसपास है, तो वृन्दावनसे उसके बाद सं १६०० वि० के लगभग उन्होंने प्रयाण किया होगा।

संभवतः इस बीचमें श्वसुर-कुल और पितृ-कुल दोनों जगहोंसे मीराँसे लौट आनेका आग्रह बराबर होता रहा था, इसीलिए अनुमान यह है कि द्वारकामें भी मीराँको अकेला नहीं छोड़ा गया

था। उनके साथ राजकुलके व्यक्ति लगे रहते थे और वे उन्हें चैनसे नहीं बैठने देते थे। इसीलिए तंग आकर मीराँके मुँहसे ये उद्गार निकले थे—

"दीस न भूख, रैन नहिं निद्रा, यह तन पल पल छीजै।
सजन सुधि ज्यों जानें त्यों लीजै॥

इसके उपरान्त ही मीराँ अपने प्रभुमें लीन होगई। यदि द्वारकामें मीराँके निवासकी अवधि दो साल मानी जाय तो उनकी मृत्यु सं० १६०२ वि० में होनी चाहिये।

यहाँ श्रीबालकरामजीवाली प्रतिमें एक छप्पय और मिला है जो भक्तमालकी अन्य प्रतियोंमें प्राप्त नहीं होता। इसमें राम-भक्त रतन नागरकी कथा वर्णित है। बालकरामजीने इसकी टीका भी की है। छप्पय इस प्रकार है—

यह पतिव्रता प्रवीन भवन की सरद उजारी।
राम धरम के हेत करी मिन कासों नारी॥
करम कुसंबंधि साध केई बूडे नरलोई।
पै दया धरम के काज करै ऐसी नर कोई॥
पीढै बैठी मोक्षके ग्राहक कै श्रीपति गह्यौ।
नवै नगर नागर रतन भक्ति काज बिभचर भयो॥

(भक्तदाम-गुण-चित्रनी, पत्र ३५१)

मूल (छप्पय)

(श्रीपृथ्वीराजजी)

(श्री) कृष्णदास उपदेस परम तत्व परचौ पायौ।
निरगुन सगुन निरूपि तिमिर अज्ञान नसायौ॥
काछ बाच निकलंक मनौं गांगेय युधिष्ठिर।
हरिपूजा प्रहलाद धर्मध्वजधारी जग पर॥
पृथीराज परचौ प्रगट तन संख चक्र मंडित कियौ।
आमेर अछत कूरम कौं द्वारिकानाथ दरसन दियौ॥११६॥

अर्थ—भक्त श्रीपृथ्वीराजजीको श्रीकृष्णदासजी पयहारीके उपदेशसे आध्यात्मिक तत्त्व-ज्ञान हुआ। गुरुदेवने निर्गुण और सगुण ब्रह्मका स्वरूप बतलाकर आपके अज्ञान-रूपी अन्धकारको दूर किया। आप गङ्गाजीके पुत्र बालब्रह्मचारी भीष्मकी तरह जितेन्द्रिय और धर्मराज युधिष्ठिरकी तरह सत्यवादी थे। श्रीहरिके पूजन (दृढ़-निष्ठा) में आपकी तुलना भक्त-प्रवर श्रीप्रह्लादसे की जाती है। भागवत-धर्मकी ध्वजाको फहरानेवाले और सांसारिक प्रलोभनोंसे दूर

थे—अथवा, आप जगत्‌के लोगोंमें श्रेष्ठ (पर) थे। पृथ्वीराजजीकी भक्तिका प्रत्यक्ष परिचय लोगोंको उस समय मिला जब आमेर ही में द्वारकाके शंख, चक्र, गदा और पद्मके चिह्नोंसे आपका शरीर विभूषित हुआ। इस प्रकार कूर्म अर्थात् कछवाहा वंशमें उत्पन्न पृथ्वीराजजीको आमेरमें रहते हुए ही द्वारकानाथके प्रत्यक्ष दर्शन करनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ।

भक्ति-रस-बोधिनी

पृथीराज राजा चल्यौ द्वारिका श्रीस्वामी संग, अति रस रंग भरयौ, आज्ञा प्रभु पाई है।
सुनि कै दीवान दुख मानि निसि कान लग्यौ, कही "पग्यौ साधु-सेवा भक्ति पुर छाई है॥
देखिय निहारि कै विचार कीजै इच्छा जोई" "लीजै नहीं साथ, जावौ," बात लै दुराई है।
आयौ भोर भूप हाथ जोरि करि ठाढ़ौ रह्यौ, कह्यौ, "रह्यौ देश," सो निदेस न सुहाई है॥४८१॥

अर्थ—आमेरके राजा पृथ्वीराज अपने गुरुदेव श्रीकृष्णदासजीकी आज्ञा लेकर उनके साथ द्वारकाकी यात्रा करनेके लिए तैयार हो गये। प्रभु और गुरु दोनोंके प्रति प्रेम और श्रद्धासे उनका हृदय सराबोर हो रहा था। मुख्य-मन्त्रीने जब यह सुना, तो उसे बड़ा कष्ट हुआ। वह चुपचाप रातको श्रीस्वामीजीके पास गया और बोला—"गुरुदेव! राजा इस समय साधु-सेवा की भावनासे ओत-प्रोत हैं और सारे नगरमें भक्ति-भावना छाई हुई है। इस समय राजाके चले जानेसे साधु-सेवामें बाधा पड़ेगी। आप स्वयं देख भाल लें और विचार करके जो उचित हो वह करें।" इसपर श्रीपयहारीजीने मंत्रीसे कह दिया कि वे राजाको अपने साथ नहीं ले जायँगे। स्वामीजीने मन्त्रीके आनेका भेद राजाको नहीं बताया। प्रातःकाल होते ही राजा हाथ जोड़कर सामने खड़े हो गए। स्वामीजीने आदेश दिया—"आप यहीं रहिये।" राजाको यह आज्ञा अच्छी नहीं लगी।

भक्ति-रस-बोधिनी

"द्वारावतीनाथ देखि गोमती स्नान करौं, धरौं भुज छाप, आप मन अभिलाखियै।"
"चिन्ता जिनि कीजै, तीनों बात इहाँ लीजे प्रभू" "दीजे जोई आज्ञा सोई सिर धरि राखियै"॥
आये पहुँचाय दूर, नैन जल पूर बहै, दहै उर भारी, "कहाँ संग रस चाखियै?"
बीते दिन दोय, निसि रहे हुते सोय, भोइ गई भक्ति, गिरा आय बानी मधु भाखियै॥४८२॥

अर्थ—राजाने अपने गुरुदेवसे कहा—"श्रीद्वारिकानाथके दर्शन कर मैं गोमती नदीमें स्नान करूँगा और अपनी भुजाओंमें शंख-चक्र आदि की छाप लगवाऊँगा। कृपया आप अपने मनमें मुझे साथ ले चलनेकी अभिलाषा कर लीजिए।" गुरुदेवने उत्तर दिया—"चिन्ता मत करिये; तीनों वस्तुएँ—दर्शन, स्नान, छाप—तुम्हें यहीं आमेरमें बैठे-बैठे मिल जायँगी।" राजाने कहा—"आप जो आज्ञा देंगे मैं उसे ही शिरोधार्य करूँगा।"

यह कहकर गुरुदेवने द्वारकाको प्रस्थान किया। उनके चले जानेके दो दिन बाद, तीसरे

दिन जब राजा रातको सोये तब श्रीद्वारकानाथ जिनके हृदयमें श्रीकृष्णदासजीकी बात भर गई थी—अर्थात् जिन्हें अपने भक्तकी बातका ध्यान था, मधुर वाणीमें बोले—

भक्ति-रस-बोधिनी

"अहो पृथीराज," कह्यौ, स्वामी की सी बानी लही, आयौ उठि वौर वाही ठौर प्रभु देखे हैं।
चुम्यौ कह्यौ कान धरौ, गोमती सनान करौ, सुनि कै अन्हायौ, पुनि बैन कहूँ पेखे हैं॥
संख-चक्र आदि छाप तन सब व्याप गई, भई यौं अवार रानी आय अब देखे हैं।
बोले–"रह्यौ नीर में सरीर, लै सनाथ कीजै, लीजै नाथ छिये," निज भाग करि लेखे हैं॥४८३॥

अर्थ—प्रभु श्रीद्वारकानाथने श्रीकृष्णदासजीकी ही वाणीमें पुकारा—"पृथ्वीराज!" आवाज़के कानमें पड़ते ही राजा दौड़कर वहाँ गये और प्रभुको साक्षात् खड़ा हुआ देखकर साष्टांग प्रणाम किया और परिक्रमा की। प्रभुने आज्ञा दी—"कानोंको बन्दकर गोमतीमें स्नान करो।" आज्ञानुसार राजाने स्नान किया, किन्तु ज्योंही डुबकी लगाकर बाहर निकला कि प्रभु अदृश्य हो गये। अपने शरीरपर जब उसने दृष्टि डाली, तो मालूम हुआ कि शंख, चक्र आदि के चिह्न स्पष्ट रूपसे वहाँपर अंकित हो गये हैं।

राजाको उठनेमें विलम्ब हुआ जानकर रानी जब उनके पास गई और सारा शरीर भीगा हुआ देखा, तो राजा बोले—"मैं गोमतीमें स्नान करके निकला हूँ। मेरे वस्त्रोंका जल लेकर तुम भी अपनेको कृतकृत्य कर लो और हृदयमें प्रभुका ध्यान धर लो।" रानीने वैसा ही किया और अपनेको धन्य समझा।

भक्ति-रस-बोधिनी

भयौ जब भोर पुर बड़ौ भक्ति सोर परयौ, करयौ आनि दरसन, भई भीर भारी है।
आये बहु संत औ महंत बड़े-बड़े धाये, अति सुख पाये, देह रचना निहारी है॥
नाना भेंट आवैं, हित महिमा सुनावैं, राजा सुनत लजावैं, जानी कृपा बनवारी है।
मंदिर करायौ, प्रभुरूप पधरायौ, सब जग जस गायौ, कथा मोकों लागी प्यारी है॥४८४॥

अर्थ—प्रातःकाल होते ही राजा जब बाहर आये और लोगोंने उनकी देहमें शंख-चक्र आदि के चिह्नोंको देखा, तो सारे नगरमें उनकी भक्तिके चमत्कारकी धूम मच गई। नगरके बड़े-बड़े संत-महन्त सब दौड़े हुए गए और राजाके शरीरपर मुद्राओंको देखकर परम आनन्दित हुए। फिर तो दूर-दूरसे राजाके लिए बड़े-बड़े उपहार आने लगे। लोग राजाकी भक्तिकी महिमा गाते, तो उन्हें सुनकर बड़ी लज्जाका अनुभव होता। वे सोचते, यह सब वनमाली की ही कृपा है कि मुझ-जैसे तुच्छ व्यक्ति को भी इतना ऊँचा चढ़ा दिया।

इस घटनाके बाद राजाने एक विशाल मन्दिर बनवाया और उसमें प्रभुके अर्चा-विग्रहकी स्थापना कर भजन करनेमें लग गये। सारा संसार आपके यशका गान करता था। टीकाकार श्रीप्रियादासजी कहते हैं कि पृथ्वीराजजीकी यह कथा मुझे बड़ी प्यारी लगती है।

भक्ति-रस-बोधिनी

विप्र दृग-हीन सो अनाथ, वैजनाथ द्वार परयो, चख चाहै, मास केतिक बिहाने हैं।
आला बार दोय-चार भई "पै न फेरि होंहि," याको हठसार देखि सिव पिघलाने हैं॥
"पृथीराज अंग के अँगोछा सों अँगोछो जाय," आयकै सुनाई द्विज गौरव डराने हैं।
नयो मँगवाय तन छुवाय दियो छुवायो नैन खुले चैन भयो, जन लखि सरसाने हैं॥४८५॥

अर्थ—एक बार एक अन्धा ब्राह्मण वैजनाथ महादेवजीके द्वारपर नेत्रोंकी खोई हुई ज्योतिको पुनः प्राप्त करनेके लिये पड़ा रहा। पड़े-पड़े उसे कई महीने बीत गये। शिवजीने स्वप्नमें उससे दो-चार बार कहा कि एक बार अन्धा होने पर फिर सूझना कठिन है, किन्तु वह हठ पकड़ गया। शिवजीको यह देखकर कि इसका हठ सच्चा है, दया आ गई और आपने आज्ञा दी—"पृथ्वीराज जिस अँगोछेसे अपना शरीर पोंछते हैं, उससे अपनी आँखें अँगोछो, नेत्र खुल जायँगे।"

ब्राह्मणने यह समाचार पृथ्वीराजजीको सुनाया। पहले तो ब्राह्मणके गौरवका विचार कर आपको संकोच हुआ कि अपने शरीर पोंछनेका वस्त्र कैसे दिया जाय, परन्तु बादमें एक नया वस्त्र मँगवा कर और अपने अंगसे उसे लगाकर ब्राह्मणको दे दिया। वस्त्रका आँखोंसे स्पर्श कराते ही नेत्र खुल गये; ब्राह्मण बड़ा प्रसन्न हुआ। लोगोंने जब भक्तिकी ऐसी महिमा जानी, तो उनका हृदय भी सरस हो गया।

भक्तदाम-गुण-चित्रनी, पत्र ३५० पर श्रीपृथ्वीराजजीके सम्बन्धमें उपर्युक्त वृत्तके अतिरिक्त उनकी सत्यता के सम्बन्धमें एक और घटनाका उल्लेख किया गया है। उसका आशय निम्न प्रकार है—

एक बार किसी खूनी मन्त्रीने आपके राज-कोशसे धन चुरा लिया। आपने उसे बुलाया और उसके आ जाने पर उसका अपराध क्षमा कर दिया। बादमें अन्य मन्त्रियोंने खूनी मन्त्रीके खिलाफ शिकायत करते हुये कहा कि उसके पास तो अन्याय से कमाया हुआ बहुत-सा धन है, आप उससे ताड़ सेवा करें। राजाने इसपर कहा—"अब ऐसा नहीं हो सकता। मैंने इस मन्त्रीका अपराध क्षमा कर दिया है, अब इसे दण्ड नहीं दिया जायगा।"

आपकी इस सत्य प्रतिज्ञा और दृढ़ताको देखकर वह खूनी बड़ा प्रभावित हुआ। उसने श्री पृथ्वीराजके चरणोंमें अपना समस्त धन ला पटका और भविष्यमें फिर कभी अनीति या अत्याचार न करनेकी प्रतिज्ञा की।

पृथ्वीराजजी की भक्तवत्सलता विषयमें और भी अनेक वार्ताएँ प्रचलित हैं जिनसे स्पष्ट है कि अपने समयके आप परम-प्रतापी भक्त और नरेश थे।

मूल (छप्पय)

लघु मथुरा मेरता भक्त अति जैमल पोषे।
टोड़े भजन निधान रामचँद हरिजन तोषे॥
अभैराम एकरस नेम नींवां के भारी।
करमसी सुरतान भगवान बीरम भूपति-व्रतधारी॥
ईश्वर अखैराज रायमल कन्हर मधुकर नृप सरबसु दियो।
भक्तनिको आदर अधिक राजबंसमें इन कियो॥११७॥

अर्थ—राजवंशियोंमें इन राजपुरुषोंने भगवद्-भक्तोंका विशेष आदर किया—

(१) श्रीजयमलजीने साधु-सन्तोंकी ऐसी सेवा की जिससे उनका गाँव मेड़ता छोटी मथुरा पुरी जैसा प्रतीत होने लगा। टोड़ेमें भजन-निधान (२) श्रीरामचन्द्रजीने हरिजनोंको संतुष्ट किया; (३) श्रीनींवांजी तथा (४) श्रीअभयरामजीने एक-चित्त होकर साधु-सेवाके व्रतको निबाहा; (५) करमसीजी; (६) श्रीभगवानजी; (७) सुरतानजी; (८) श्रीबीरमजी—ये चारों राजा वंशी-भक्त साधु-सेवाके व्रतपर अटल रहे; (९) श्रीईश्वरजी, (१०) श्रीअखयराजजी, (११) श्री रायमलजी, (१२) श्रीकन्हरजी, (१३) श्रीमधुकरसाहजी—इन सबने भक्तोंकी सेवाके निमित्त अपना सर्वस्व अर्पण कर दिया।

भक्ति-रस-बोधिनी

(श्रीजयमलजी)

मेरतें बसत भूप भक्ति को सरूप जानें, जैमल अनूप जाकी कथा कहि आये हैं।
करी साधु-सेवा रीति प्रीति की प्रतीति भई, नई एक सुनौ हरि कैसे कै लड़ाये हैं॥
नीचे मानि मन्दिर सों सुन्दर बिचारी बात, छात पर बँगला के चित्र लै बनाये हैं।
बिबिधि बिछौना सेज राजत उढ़ौना पानदान धरि सौना जरी परदा सिवाये हैं॥४८६॥

अर्थ—मेड़ता (जोधपुर) के निवासी राजा जयमलजी भक्तिका स्वरूप जानते थे। इनका परिचय इससे पूर्व (कवित्त संख्या २३१, पृष्ठ ३८१ पर) दिया जा चुका है। सर्व-प्रथम इनकी साधु-सेवा की ओर रुचि हुई; फिर उसीके कारण भक्तिकी रीति तथा प्रेमके महत्त्वका ज्ञान हुआ। इनके सम्बन्धकी एक नई वार्ता और सुनिये जिससे विदित होगा कि ये किस प्रकार प्रभु को लाड़ लड़ाया करते थे। पहले ठाकुरजीका मन्दिर नीचे की मञ्जिल में था। आपने सोचा, यह ठीक नहीं, अतः छतके ऊपर एक बँगला (सुन्दर कमरा) बनवाया जिसमें भगवानकी लीलासे सम्बन्धित अनेक प्रकारके चित्र अङ्कित थे। कमरेको सुन्दर-सुन्दर चँदोवे, सेज, ओढ़नेके रेशमी वस्त्र, पान-दान आदि वस्तुओंसे सजाया गया था और दरवाजेपर सोनेकी जरीके परदे टँगे थे।

भक्ति-रस-बोधिनी

ताको वारु सीढ़ी करि रचना उतारि धरैं, भरैं दूरि चौकी, आप भाव स्वच्छताई है।
मानसी विचारैं "लाल सेज पग धारैं, पान खात लै उगार डारैं, पौढ़े सुखदाई है॥
तिया हू न भेद जानै, सो निसैनी धरी वानै, देखै को किसोर सोयौ, फिरी भोर आई है।
पति कौं सुनाई, भई अति मन भाई, वाकौं खीझि डरपाई, जानी भाग अधिकाई है॥४८७॥

अर्थ—ठाकुरजीके कमरेको जानेके लिए राजा जयमलजीने काठकी एक सीढ़ी बनवाई थी। कमरेमें जाकर अपने हाथों शय्या आदि बिछाते और फिर नीचे उतर कर नसैनीको हटा देते थे ताकि कोई दूसरा न चढ़ जाय। आपका हृदय भावनाके द्वारा निर्मल हो गया था, अतः अपने सोनेका प्रबन्ध आपने पृथक् ही कर रक्खा था—पास रहनेसे प्रभुके नित्य-विहार में बाधा पड़ती। आप मानसी सेवाकरते थे—जैसे अब भगवानने सेजपर अपने चरण रक्खे हैं, अब पान खा रहे हैं, पीक उगल रहे हैं और सबसे अन्तमें सुख पूर्वक सो रहे हैं।

इस भेदको आपकी स्त्री भी नहीं जानती थी। एक रात उसने कुतूहल-वश नसैनीको लगाया और चढ़ गई। झाँककर देखा कि किशोर-अवस्थामें वर्तमान श्रीश्यामसुन्दर शयन कर रहे हैं। देखकर वह लौट आई। सुबह होते ही उसने सब बात अपने पतिदेव राजा जयमलसे कही। राजाने समझ लिया कि मनोरथ पूर्ण होगया। किन्तु ऊपरसे अपनी स्त्रीको डाँट बताई कि भविष्यमें ऐसा कभी मत करना। किन्तु मनमें वे समझ रहे थे कि यह बड़भागी है जो इसे प्रभुके दर्शन हो गये।

भक्तदाम-गुण-चित्रनीमें पत्र ३६० पर जयमलजीके सम्बन्धमें एक और वार्ता निम्न प्रकार दी है—

एक बार कोई साधु आपके यहाँ ठहरा हुआ था। कुछ समय बाद उसके पैरमें तकलीफ होगई। उसी समय उसने सुना कि गुरुदेव पासके किसी गाँवमें ठहरे हुए हैं। वह राजा जयमलके पास गया और बोला—"हे नरपति! मेरे गुरुदेव पासके किसी गाँवमें ठहरे हुए हैं, यदि आप कृपा करके अपनी सवारीके घोड़ेको मुझे दे दें तो मैं उनके दर्शन कर आऊँ।" श्रीजयमलजीने तुरन्त घोड़ा साधुको दे दिया और वह उसपर चढ़कर गुरुदेवके दर्शनके लिए चला गया।

वहाँ जाकर साधुने गुरुदेवके दर्शन किए और बड़ा प्रसन्न हुआ। जब वह चलने लगा तो गुरुजी की निगाह घोड़ेपर पड़ी। उसपर उनका मन रीझ गया। शिष्य गुरुकी मनोभिलाषाको पहिचान गया। उसने तुरन्त घोड़ा गुरुदेवके समर्पित कर दिया और लौटकर सब बात राजाको सच-सच आ सुनाई। राजा जयमलजी साधुकी गुरु-भक्तिसे बड़े प्रसन्न हुए और बोले—"अब यदि दूसरे घोड़ेकी आवश्यकता हो तो ले जाओ।" राजाके इस भावको देखकर तो साधुका मस्तक स्वयं श्रद्धाके कारण उनके सामने झुक गया। वास्तवमें राजा जयमलके त्याग और भक्ति-भावनाका वर्णन करना सर्वथा असम्भव है।

विशेष—मीरांबाईके चरित्रमें यह लिखा जा चुका है कि राजा जयमल राव दादूजीके ज्येष्ठ पुत्र वीरमसी (वीरमदेव) के पुत्र थे। रतनसी दादूजीके चतुर्थ पुत्र थे। मीरां इन्हीं रतनसीकी पुत्री थीं। जयमलजी इस प्रकार मीरांके भाई थे

भक्ति-रस-बोधिनी

(मधुकरशाहजी)

मधुकरसाह नाम कियौ लै सफल जानें, भेष गुनसार गहैं, तजत असार है ।
'ओड़छे' को भूप, भक्त भूप सुखरूप भयौ, लयौ पन भारी, जाके और न विचार है ॥
कंठी धरि आवै कोय, सोय पग पीवै सदा, भाई दुखि खर गर डार्‌यौ माल-भार है ।
पाँय परछाल कही "आज जू निहाल किये", हिये हये दुष्ट पाँव गहे दृग धार हैं ॥४८८॥

अर्थ—ओड़छा (टीकमगढ़) के राजा श्रीमधुकरसाहने अपने नामको सार्थक कर दिखला दिया । जिस प्रकार छोटे-बड़े, ऊँचे-नीचे सब प्रकारके फूलोंसे भौंरा (मधुकर) सार-वस्तु मधुको ग्रहण कर लेता है, उसी प्रकार आप ऊँचे-नीचे सब तरहके मनुष्योंमेंसे हरि-भक्तका वेष ग्रहण करते थे । जाति-बिरादरीका कोई विचार नहीं था; केवल भक्त-वेषधारी होना चाहिए । जो कोई कंठी पहिनकर आजाता उसीके चरण धोते और चरणामृत लेते । आपके भाइयोंको यह बात बहुत खटकती थी । एक दिन उन दुष्टोंने एक गधेके गलेमें कंठी डालकर उसे उधरकी ओर हाँक दिया । राजाने देखते ही गधेके पैर धोये और चरणामृत लेते हुए कहा—"आज मेरा जन्म सफल हुआ—यह देखकर कि गधे भी मेरे घर बिना कंठी पहिने नहीं आते ।"

दुष्टोंने आपकी ऐसी निष्ठा देखी, तो पानी-पानी होगये । उन्होंने आकर राजाके पैर पकड़ लिए और आँखोंसे प्रेमके आँसू बहाते हुए हरि-भक्तिकी ओर उन्मुख हुए ।

श्रीबालकरामने इस वार्ताको अपनी टीकामें कुछ भिन्न प्रकारसे लिखा है । उसके अनुसार जब कंठी-मालाधारी गधेका भी राजा मधुकरशाहने सन्तों-जैसा सम्मान किया तो भगवानकी कृपासे अशक्त गधेमें अपार शक्ति आ गई और वह राजासे द्वेष रखनेवाले सन्तोंको लातोंसे मारने तथा दाँतोंसे काटने लगा । यह देखकर दुष्ट-लोग भक्तिके वास्तविक रहस्यको समझ गए और रक्षाके लिये राजासे प्रार्थना की । मधुकरशाहने दयासे अभिभूत होकर उन्हें बचा लिया ।

विशेष—श्रीहरिराम-व्यासजीके प्रसंगमें यह लिखा जा चुका है कि मधुकरशाहजी व्यासजीके मंत्र-शिष्य थे । संवत् १६१२ में जब व्यासजी अपना जन्म-स्थान छोड़कर वृन्दावन चले आए, तो उन्हें ओड़छा वापिस लानेके लिए मधुकरशाहजीने बड़ी चेष्टा की, परन्तु वे किसी प्रकार भी वृन्दावन छोड़नेको राजी नहीं हुए ।

श्रीरामचन्द्रजी—टोड़ा-निवासी श्रीरामचन्द्रजी सन्तोंकी उपासना मन लगाकर किया करते थे । आपके यहां सुबहसे शाम तक बराबर सन्त आते रहते थे और आप प्रसन्न मनसे सदा उनका सत्कार किया करते थे । इस प्रकार सन्त-सेवामें आपके घरका समस्त धन समाप्त होगया । परिवार वालोंने कहा—"सन्त तो बराबर आरहे हैं, पर घरमें अब एक मुट्ठी अनाज भी नहीं है, क्या करना चाहिए ? श्रीरामचन्द्रजी बाजार गए और तत्काल उधार सामान लाकर सन्त-सेवा की ।

इसी प्रकार उधार लाते-लाते बाजारका दो हजार रुपया कर्जा होगया और बिना पहले दाम दिए अब कोई उधार देनेको राजी नहीं था । भक्त रामचन्द्र दिन-भर इसी चिन्तामें रहे । रातको

भगवानने स्वप्नमें बतलाया कि "अमुक स्थानपर राजाके खजानेको एक स्थानसे दूसरे स्थानपर ले जाते समय कर्मचारियों द्वारा स्वर्णकी मोहरोंसे भरा एक बोरा छूट गया है, तुम जाकर उसे ले आओ।" भगवानकी आज्ञानुसार आप प्रातःकाल होते ही निर्दिष्ट स्थानपर गए और मोहरोंके बोरेको ले आए। इस प्रकार प्राप्त धनसे आपने बाजारका ऋण चुकाया और पुनः अधिक श्रद्धासे सन्त-सत्कारमें लग गए।

(भक्तदाम-गुण-चित्रनी, पत्र ३६१)

श्रीरायमलजी—आप क्षत्रिय-वंशमें उत्पन्न अत्यन्त सन्त-सेवी भक्त थे, किन्तु आपकी पत्नी सन्त-सेवाको कोई महत्व नहीं देती थी। एक दिन आपके पास आकर वह बोली—"प्राणनाथ ! आप रात-दिन भगवद्-भक्तोंकी सेवा किया करते हैं, इसमें आपको कौन-सा लाभ दिखाई देता है ?" पत्नीकी भोली बातोंको सुनकर आपने सन्त-सेवाका सच्चा रहस्य उसके सामने खोल दिया, बोले—"सन्त-सेवा और भगवानकी सेवामें कोई अन्तर नहीं, यदि भगवानके दर्शन करना हो तो सन्त-सेवा ही उसका एक अचूक उपाय है।"

पतिकी बात सुनकर पत्नीके मनमें भगवानके दर्शनकी अभिलाषा बलवती होगई और उसी दिन से निष्कपट भावसे सन्त-सत्कार करने लगी। कभी-कभी वह सन्तोंसे पूछ भी लेती कि भगवान कैसे मिलेंगे और वे भी कह देते कि 'सन्त-सेवासे'। कुछ समय बाद उसे कृतार्थ करनेके लिए भगवान एक तेजस्वी सन्तका वेश बनाकर सचमुच आगए। उनके दिव्य-स्वरूपने रायमलजीकी पत्नीका अन्तःकरण एकदम आकर्षित कर लिया। वह सन्तजीको घरमें ले गई, भोजन कराया और फिर बोली—"महाराज! एक बात तो बताइए कि मुझे भगवानके दर्शन कब होंगे ?" सन्तने कहा—"यदि भगवानके दर्शन करना चाहती हो तो आओ, मेरे साथ एकान्तमें चलो।"

निर्जन स्थानमें जाकर भगवान सन्त-वेश त्यागकर तुरन्त अपने चतुर्भुज-रूपमें आगए। रायमल जीकी पत्नी धन्य होगई। भगवान जब जाने लगे तो उसने तुरन्त उनका हाथ पकड़ लिया और बोली—"पतिदेवको तो दर्शन देते जाइए।" भगवान मुस्कराकर ठहर गए। उसने तुरन्त पतिदेवको बुलाकर दर्शन कराए। भगवान जयमलके मनोभावको पहिचान कर बोले—"भक्तवर ! तुम्हारी बातको सत्य करनेके लिये ही मैंने इसे (पत्नीको) दर्शन दिए हैं। इसमें तुम अपनी भक्ति-भावनामें किसी प्रकार की कमी मत मानो।"

भगवानके मुखारविन्दसे अपनी शंकाका समाधान पाकर रायमलजी बड़े प्रसन्न हुए।

इस छप्पय द्वारा श्रीनाभाजीने उन १३ राजवंशी भावुक भक्तोंका नामोल्लेख किया है जो भक्तों का एवं साधु-सन्तोंका बहुत अधिक आदर-सत्कार किया करते थे। टीकाकार श्रीप्रियादासजीने यहाँ केवल जयमल और मधुकरसाह-इन दो भक्तोंका ही परिचय दिया है, किन्तु उनकी 'भक्त सुमिरणी' में उन्होंने बारह नामोंका उल्लेख किया है। पता नहीं, वहाँ जयमलका नामोल्लेख क्यों नहीं किया? जयमलजीका नाम भक्तमालके छप्पय ५२ में भी आया है और इस ११७ वें छप्पयमें भी है। दोनों ही स्थलोंकी टीकामें श्रीप्रियादासजीने दो-दो कवित्तों द्वारा जयमलजीका परिचय दिया है। उन कवित्तोंसे यह स्पष्ट हो जाता है कि इन दोनों स्थानोंमें वर्णित जयमलजी भिन्न-भिन्न नहीं, अपितु एक ही व्यक्ति हैं जो मेड़ताके वासी थे। सम्भव है, इसी कारण प्रियादासजीने 'भक्त सुमिरणी' में जयमलजीके नामको यहाँ नहीं दुहराया हो।

श्रीद्यालवालजीने इस छप्पयके भक्तोंका वर्णन अपनी भक्तमालके ३४२ और ३४३ इन दो छप्पयोंमें किया है। उनमें-से पहला छप्पय इस प्रकार है—

> अभैराम इकरस रामचन्द्र ईश्वर भूपत ।
> अखैराज वीरम भयौ भगवान सतव्रत ॥
> रायमल्ल सुरताण करमसी कान्हड़ कहियै ।
> नीवै प्रेम प्रवाह साधसंगत मन रहियै ॥
> मेडतै आद मुरधरधरा अंश वंश पावन करयौ ।
> जैमल्ल परम भक्तको इन जन गुन उर विस्तर्यौ ॥३४२॥

इस छप्पयमें बारह भक्तोंका नामोल्लेख करके अगला पूरा छप्पय मधुकर साहके परिचयमें पूर्ण हुआ है। इस प्रकार श्रीप्रियादासजी और द्यालवालजीके समान ही बालकरामजीने भी इस छप्पयमें १२ ही भक्त माने हैं, किन्तु रूपकलाजीने बारहके नाम लिखे हैं। उन्होंने करमसी और सुरताण इन इतिहास प्रसिद्ध दोनों राज-भक्तोंके नाम नहीं दिये, क्योंकि उन दोनोंको उन्होंने व्यक्ति न मानकर गाँव मान लिया है। साथ-ही-साथ 'जघु' शब्द जो मथुरा-शब्दके विशेषण-रूपमें प्रयुक्त हुआ है, उसे भक्तका नाम मान लिया और जघुजनजी आदि बारह नाम अङ्कित कर दिये, किन्तु इस सम्बन्धमें वे स्वयं भी शंकित रहे हैं। स्वयं उन्होंने "इन नामोंका ठीक-ठीक पता लगाना बड़ा कठिन है", इन शब्दोंमें अपनी असमर्थता प्रकट कर दी। टिप्पणीमें जयमलजीको मीराँजीके भाई बतलाते हुए भी उनके गाँव मेड़ता जिसका छप्पयमें स्पष्ट उल्लेख है, को "मीरथ (मेरठ) मान बैठे हैं।

एक मधुकर साहको छोड़कर अन्य सभी राजस्थानीय थे। 'मुंहणोत नैणसीकी ख्यात' आदि ऐतिहासिक ग्रन्थोंमें उनके नाम और परिचय कई स्थानों पर मिलते हैं।

श्रीवीरमजी—इस नामके कई नरेश भी हुए हैं और कई एक राज-कुलोत्पन्न व्यक्ति भी, अतः यह निश्चय करना कठिन हो जाता है कि उनमें-से ये वीरमजी कौनसे थे। एक वीरम जोधपुरके राजा थे[1] जो राजा सलखाके पुत्र थे। दूसरे मेड़ताके नरेश[2] और तीसरे वीरम जैसलमेरके भाटियोंके कुलमें हुए[3] हैं। नाभाजीने वीरमजी और करमसी, सुरताण तथा भगवान—इन चारोंकी एक विशेषता बतलाई है—ये चारों भूपति न होते हुए भी अच्छे भूपतियोंके समान व्रत धारण किये हुए थे। जैसे राजा दीन-दुखियोंका पालन करता है, उसी प्रकार इन चारोंने दीनोंकी रक्षा और साधु-सन्तोंकी सेवा की। वीरमजीने वैभवको त्यागकर श्रीभट्टदेवाचार्यजीसे विरक्त-दीक्षा प्राप्त की थी। भजन-साधनमें निरत रहते हुए उन्होंने साधु-सेवाके व्रतके आदर्शका पालन किया था। अतएव वीरम त्यागीके नामसे वे प्रसिद्ध हो गये। उनके शिष्य-प्रशिष्योंकी भी परम्परा प्रचलित हुई। आज भी छोटा उदयपुर (किशनगढ़ राजस्थान) आदिमें उनकी परम्पराके कई मन्दिर विद्यमान हैं।

श्रीभगवानजी—आप भी वीरमजीकी भाँति साधन-सम्पन्न एक विशिष्ट राजवंशी सन्त थे। श्रीद्यालवालजीने अपनी भक्तमालके छप्पय २५७ में भगवानजीको श्रीहरिव्यासदेवाचार्यका शिष्य बतलाया है। सम्भव है, राज-वंशोत्पन्न होनेके कारण उनका नाम द्वाराप्रवर्तकोंमें नहीं गिना गया हो। यद्यपि उनका पूर्ण परिचय उपलब्ध नहीं हो सका है, तथापि द्यालवालके कथनानुसार वे एक माने हुए सन्त थे।

---

१ मुहणोत नैणसीकी ख्यात द्वितीय भाग, पृ०, ४४, ६७। २ वही पृ० १६०, १६१। ३ वही, पृष्ठ २२१, २६६।

करमसी और सुरताण ये दोनों राजवंशज उच्चकोटिके सन्त थे। आमेरके कछवाहों, जैसलमेरके भाटियों और राठौर-वंशमें भी करमसी नामके कई व्यक्ति मिलते हैं. इसी प्रकार सुरताणका नाम भी कई राजवंशोंमें मिलता है। यहाँ उनका केवल नामोल्लेख ही किया गया है।

मूल (छप्पय)

(राठौर श्रीखेमालरत्नजी)

रैना पर गुन राम भजन भागवत उजागर।
प्रेमी प्रेम किसोर उदर राजा रतनाकर॥
हरिदासनि के दास दसा ऊँची धुजधारी।
निर्भय अननि उदार रसिक जस रसना भारी॥
दसधा संपति संत बल सदा रहत प्रफुलित बदन।
खेमाल रतन राठौर के अटल भक्ति आई सदन॥११८॥

अर्थ—राठौरवंशीय श्रीखेमालरत्नजीके घरमें भगवद्-भक्ति अटल होकर रही। श्रीखेमालजीके पुत्र रामरयनजी श्रीरामचन्द्रजीके गुण-गायक और भजन-परायण थे। आप परम यशस्वी भागवत—भगवद्-भक्त हुए। उनके पुत्र किशोरसिंहजी परम भगवत्-प्रेमी थे—हृदयके ऐसे गम्भीर जैसे कि समुद्र। ये तीनों नरेश भगवानके दासानुदास थे। साधु-सेवा तथा हरि-भक्तिकी ध्वजाको इन्होंने सदा ऊँचा रक्खा। ये सब अत्यन्त निर्भीक, अनन्यव्रती और रसिक थे और अपनी जिह्वासे भगवानका यश गाया करते थे। दश प्रकारकी भक्तिको ही ये सबसे बड़ी सम्पत्ति मानते थे; इनका बल केवल संत-जन थे। प्रेममें मग्न रहनेके कारण इनके मुख सदा खिले हुए रहते थे।

इस छप्पयकी टीकामें श्रीप्रियादासजीने एक भी कवित्त नहीं लिखा। बालकराम-कृत भक्त-दाम-गुण चित्रनी टीका, पत्र ३६२ के आधारपर राजा खेमालका चरित्र नीचे दिया जाता है—

बालकरामजी राजा खेमालके घरमें भक्तिकी परम्पराके पीढ़ी-दर-पीढ़ी चले आनेके सम्बन्धमें एक मनोहर कथाका उल्लेख करते हुए कहते हैं कि राजा खेमालके घरमें एक परम सन्त-सेवी एवं भगवानका भक्त सन्त रहा करता था। उसके साथ राजाका प्रायः सत्संग हुआ करता था। उसीने खेमालको भक्ति-तत्त्वके रहस्योंका उद्घाटन किया था और उसीने सन्त-सेवाका माहात्म्य बतलाया था। इसलिए खेमालजी उसे अत्यधिक चाहते थे। कुछ समयके बाद कालकी गति कुछ ऐसी हुई कि उस सन्तका शरीरान्त हो गया। खेमालजीको यह देख बड़ा दुःख हुआ; किन्तु उस विरह-जन्य वेदनाको अपने हृदयमें ही छिपाए रखकर खेमालजीने सन्तका महोत्सव किया और समस्त सन्तोंको निमन्त्रण देकर प्रसाद पवाया। यह सब तो राजाने किया; पर उनके मनका शोक इस समय अचानक अनियंत्रित हो उठा और आँखोंसे आँसुओंकी धारा झर-झर करके बहने लगी। सन्त-मण्डलीने जब राजाकी यह दशा देखी तो

उनमें-से एकने पूछा—"राजन् ! इतने अधीर क्यों होते हो ? जब इस संसारसे एक दिन सबको जाना है तो फिर इस नाशवान् शरीरके लिए शोक करनेका कारण समझमें नहीं आता ।" खेमालजीने गीली पलकोंसे एक बार महात्माकी ओर देखा और फिर कहा—"मुझे सन्त-महाराजकी मृत्युका बिलकुल भी दुःख नहीं है । मैं तो यह सोचकर व्याकुल हो रहा हूँ कि हाथीके समान मदमस्त मेरे जिस मनको ज्ञानके अंकुशसे सन्तजी पथ-भ्रष्ट होनेसे पद-पदपर रोका करते थे, वह अब उनके न रहनेपर, सम्भव है, भक्ति और सन्त-सेवाके मार्गसे हटकर कहीं कुमार्गपर आगे बढ़ जाय ।"

राजाकी यह बात सन्त-मण्डलीको बड़ी अच्छी लगी । उनमें-से एकने अत्यन्त आत्मीयता-पूर्वक राजासे कहा—"राजन् आपका भय सत्य है, पर हमारी भी भगवानसे प्रार्थना है कि आपके वंशमें तीन पीढ़ियों तक भक्ति-भावना अविच्छिन्न रूपसे बनी रहे ।"

सन्तके उसी आशीर्वादके फलस्वरूप श्रीखेमालजीके घरमें भगवद्भक्ति अटल हो कर रही एवं उनके उपरान्त उनके पुत्र रामरयनजी तथा पौत्र किशोरसिंहजी भक्तिके अपार सागरके समान वर्तमान रहकर सन्त-सेवा करते रहे ।

धन्य सन्त जग विष्णुप्रिय, जे धर तिलक सुमाल । तिनहिं भजत पायौ प्रगट, भक्ति बरहिं खेमाल ।।

मूल (छप्पय)

(राजा श्रीरामरयनजी)

अजर धर्म आचरयो लोक हित मनो नीलकंठ ।
निंदक जग अनिराय कहा महिमा जानैगो भूसठ ।।
विदित गंधर्बी ब्याह कियो दुस्कंत प्रमानैं ।
भरत पुत्र भागवत स्वमुख सुकदेव बखानैं ।।
और भूप कोउ छ्वै सकै दृष्टि जाय नाहिन धरी ।
कलिजुग भक्ति कररी कमान रामरैनु कैं रिजु करी ।।११६।।

अर्थ—श्रीरामरयनजीने धर्मका इस प्रकार पालन किया कि उसमें कभी कोई कमी न आई और न वह पुराना ही पड़ा । लोगोंका कल्याण करनेमें आप शिवजीके समान थे । जगत् की निन्दा करनेवाला कुबुद्धि कुत्ता (भूसठ) आपकी महिमाको कैसे जान सकता है ? राजा दुष्यन्तने जिस प्रकार कण्वकी पुत्री शकुन्तलासे गान्धर्व रीतिसे विवाह किया, उसी प्रकार आपने अपनी कन्याका गान्धर्व विवाह श्रीकृष्णचन्द्रसे किया । भागवतमें श्रीशुकदेवजीने वर्णन किया है कि किस प्रकार दुष्यन्त और शकुन्तलाके भरत नामक पुत्र हुए । किसी साधारण राजा में इतना साहस कहाँ कि ऐसी बात मनमें भी सोच सके—इन संभावनाओंकी ओर आँख उठाकर देख भी सके । कलियुगमें भक्ति-धर्मका निबाहना कठोर धनुषके समान है—अर्थात्

जैसे कठोर धनुषकी प्रत्यंचा चढ़ाना सरल काम नहीं, वैसे ही कलियुगमें भक्तिका पालन करना भी आसान नहीं। किन्तु रामरयनजीने इस कठिन कार्यको भी बड़ी सरलताके साथ किया।

भक्ति-रस-बोधिनी

पून्यो में प्रकास भयौ सरद समाज रास बिबिधि बिलास नृत्य राग रंग भारी है।
बैठे रस-भोजि दोऊ, बोल्यो राम राजा रीझि, भेंट कहा कीजै, बिप्र कही जोई प्यारी है॥
प्यार को विचारें न निहारें कहूँ नेकु छटा, सुता रूप-घटा अनुरूप सेवा न्यारी है।
रही सभा सोचि, आप जाय के लिवाय ल्याये, भेष सौं दिवाये फेरे संपत लै वारी है॥४८६॥

अर्थ—आश्विन मासकी शरद-पूर्णिमाकी चाँदनीमें, एकबार रासलीलानुकरण का आयोजन हुआ जिसमें श्रीराधा-कृष्ण एवं सखियोंने अनेक प्रकारसे विलासपूर्ण नृत्य किया। राग-रंगका उस दिन समाँ बँध गया। नृत्य समाप्त हो जानेके बाद परस्पर-प्रेममें मग्न श्रीराधा और श्रीकृष्ण सिंहासनपर विराजमान हुए। राजा रामरयनने भगवद्-प्रेममें विह्वल होकर अपने मित्र-वर्गसे पूछा कि प्रभुको क्या भेंट करना चाहिए। एक ब्राह्मणने कहा—"जो वस्तु आपको सबसे प्यारी हो, वही भेंटमें अर्पण करनी चाहिए।" राजाने बहुत सोचा कि वह कौनसी प्रिय-वस्तु है, किन्तु ऐसी कोई चीज उसे दिखाई न पड़ी। अन्तमें आपने निश्चय किया कि बादलों की छटाके समान जिसका सौन्दर्य उमड़ रहा है, उस अपनी पुत्रीको ही भेंट कर दिया जाय। जिससमय सारा समाज यह तर्क-वितर्क कर रहा था कि देखें राजा क्या भेंट करते हैं, आप अन्दर गये और अपनी पुत्रीको साथमें ले आये। इसके उपरान्त आपने श्रीकृष्णका वेष धारण किये हुए रासविहारीके साथ उसके फेरे डाल दिये और दहेजमें अतुल सम्पत्ति भी दे डाली।

उपर्युक्त बातके अतिरिक्त भक्त-दाम-गुण-चित्रनी, पत्र ३६४ पर श्रीरामरयनजीके सम्बन्धमें एक और चमत्कार-पूर्ण घटनाका उल्लेख किया गया है जिसका आशय निम्न प्रकार से है—

एक राजा आपकी भक्ति-भावनासे चिढ़ा करता था। एक दिन अचानक रामरयनजीको देखकर वह उनकी तथा सन्तोंकी निराधार निन्दा करने लगा। जब रामरयनजीने उसे बरजा तो वह तर्क करनेपर उतारू हो गया। सन्तोंकी निन्दा भला आप कैसे सह सकते थे? आपने डटकर उसके तर्कों का खण्डन किया और वाद-विवादमें उसे करारी मात दी।

खूनका-सा घूँट पीकर वह राजा उस दिन तो चला गया, पर अपने अपमानका बदला लेनेके लिए हमेशा मौकेकी तलाशमें रहने लगा। एक दिन रास्तेमें जाते हुए रामरयनजीपर उसकी निगाह पड़ गई। वह सशस्त्र साथियोंको लेकर उनके पीछे चल दिया। दुष्ट राजाका निर्णय था कि पहिले तो मिलनेका बहाना करके सब लोग रामरयनजीके पास चले चलेंगे, बादमें अन्य लोग जब उन्हें बातोंमें लगाए रहेंगे, तब एक साथी उनकी गर्दन अलग कर देगा। पर भक्तकी चिन्ता भगवान उसी प्रकार करते हैं जिस प्रकार माँ अपने अबोध शिशु की।

दुष्ट राजा और उसके साथियोंका दल अभी दूर ही था कि भगवानकी प्रेरणासे सबकी आँखोंके सामने अचानक गहरा अँधेरा छा गया। अब उन्हें न तो रामरयनजी ही दिखाई देते थे और न आगे

का मार्ग ही । इस चमत्कारको देखकर सबको समझमें आ गया कि रामरयनजी भगवानके निष्कपट भक्त हैं और उनके सम्बन्धमें कलुषित-भावनाके परिणाम-स्वरूप ही हमारी आँखें मारी गई हैं। वे विभिन्न मार्गोंकी ओर अत्यन्त व्याकुल होकर भागने लगे और रामरयनजीको अपनी रक्षाके लिए पुकारने लगे । रामरयनजीने भगवानसे प्रार्थना करके सबके नेत्रोंको अच्छा करवा दिया और समस्त व्यक्तियोंको भगवद्भक्ति एवं सन्त-सेवाका उपदेश देकर अनुगृहीत किया ।

मूल (छप्पय)

(श्रीरामरयनजीकी धर्म-पत्नी)

आरजको उपदेश सु तौ उर नीकैं धार्‍यौ ।
नवधा दसधा प्रीति आन धर्म सबै बिसार्‍यौ ॥
अच्युत कुल अनुराग प्रगट पुरुषारथ जान्यौ ।
सारासार बिबेक बात तीनों मन मान्यौ ॥
दासतनि अननि उदारता संतन मुख राजा कही ।
हरि गुरु हरिदासनि सों राम धरनि साँची रही ॥१२०॥

अर्थ—श्रीरामरयनजीकी धर्म-पत्नीने श्रेष्ठ जनोंके उपदेशको हृदयमें भली-भाँति धारण किया और नव प्रकारकी भक्तिके साथ-साथ दस प्रकारकी प्रेमा-भक्तिको अपनाकर अन्य सब धर्मोंको भुला दिया। अच्युत-कुल, अर्थात् वैष्णवोंसे, प्रेम करनेको ही उन्होंने परम-पुरुषार्थ माना। सारको ग्रहण करने और असारको त्याग देनेका विवेक आपमें था। अपनेको प्रभुका दास मानना, अनन्य भावसे उपासना करना तथा वैष्णवों और साधुओंके प्रति उदारतापूर्ण व्यवहार करना—ये तीनों बातें आपके मनमें बस गई थीं। इस सम्बन्धमें उनकी प्रशंसा संत-लोग तथा स्वयं राजा भी किया करते थे। इस प्रकार रामरयनजीकी गृहणी भगवान, गुरु और भगवद्दासोंके प्रति सदा सच्ची रहीं—इनसे किसी प्रकारका कपट नहीं रक्खा।

भक्ति-रस-बोधिनी

आये मथुपुरी राज राम अभिराय दोऊ, दाम पै न राख्यो साधु विप्र भुगताये हैं ।
ऐसे वे उदार राह खरच सँभार नाहि, चलिबो विचार भयो चूरा बीठ आये हैं ॥
मुद्रा सत पाँच मोल खोलि लिया आगे धरे, दीजै देखि गए नाभा कर पहिराये हैं ।
पतिको बुलाय कही नीके देखि रीझे भौन कादिकै करज पुर आये वे पठाये हैं ॥४६६॥

अर्थ—एक बार रामरयन तथा उनकी पत्नी मथुराजी आये और कुछ दिनों वहीं रहने का विचार किया। किन्तु खर्चा चलानेके लिये दोनोंके पास कुछ भी नहीं बचा था। सब द्रव्य पहले ही साधुओं और ब्राह्मणोंको दे डाला था। दोनों ही प्राणी धनके विषयमें इतने उदार थे

कि राह-खर्चकी भी चिन्ता नहीं की। कुछ दिन बाद मथुरासे अपने नगरको जाने लगे, तो द्रव्यकी समस्या सामने आई। संयोगसे राजाने देखा कि उनकी पत्नी हाथमें कड़े पहिने हुए हैं। उनका मूल्य पाँच-सौ रुपये था। पत्नीने उन्हें हाथोंसे उतार राजाके सामने रख दिया और कहा कि इन्हें बेच आइए। राजा गए तो उन्हें बाजारमें बेचने, पर मार्गमें भेंट होगई थी नाभा-स्वामीजीसे। आपने कड़ोंको स्वामीजीके हाथमें पहिना दिया। पत्नीने जब यह देखा तो राजा साहबको बुलाकर कहने लगीं—"आपने यह बहुत ही अच्छा किया।" पत्नीकी ऐसी संत-निष्ठा देखकर राजा प्रेममें गद्‌गद् होगये। इसके उपरान्त नगरको लौटनेके लिए आपने कर्ज लिया जिसे वहाँ पहुँच कर आपने चुकाया।

भक्त-दाम-गुण-चित्रनी, पत्र ३६५ पर श्रीरामरयनजीकी धर्मपत्नीके सम्बन्धमें एक वार्ता और उपलब्ध हुई है। पाठकोंके लाभार्थ उसका आशय नीचे दिया जाता है—

सन्त-सेवाके महत्वको न पहिचाननेवाले किसी नीचको कुछ भक्ति-विमुख राजाओंने सिखाकर श्रीरामरयनजीके पास भेजा और वह आकर आपकी धर्मपत्नीके सामने ही मजाक करता हुआ बोला—"हमारी भाभी तो सन्तोंपर आसक्त हैं, इन्हें और कोई नहीं मिला।" केवल इतना ही नहीं, वह बात ही बातमें और आगे बढ़ गया एवं अश्लील बातोंपर उतर आया। यह देख रामरयनजी चुप न रह सके। बोले—"हम सन्तोंसे कैसा प्रेम करते हैं, यह तो वही जान सकता है जिसने कभी उस प्रकारका प्रेम करके देखा हो। तुम हँसी-हँसीमें बहुत आगे बढ़ गये हो। यदि अब आगे भी सन्तोंकी निन्दा की तो अच्छा न होगा, बातें करनी हैं तो जबान संभालकर करो, नहीं तो अपना रास्ता पकड़ो।"

वह नीच रामरयनजीकी बातकी सत्यताको न पहिचान सका और आँखें लाल करता हुआ उत्तर में बोला—"वाह ! तुम तो बड़े सिद्ध हो गए हो, जो अभी धूलमें मिला दोगे !" रामरयनजीको इस पर थोड़ा क्रोध हो आया। उसी समय भगवानकी प्रेरणासे क्या हुआ कि एक काला भैंसा आकाशसे जमीनपर उतरा और उस सन्त-निन्दकपर टूट पड़ा। सींगोंसे मारता हुआ वह उसे पैरोंसे कुचलने लगा। अब तो वह नीच जोर-जोरसे चीख उठा। हल्ला-गुल्ला सुनकर उसके साथी सहायता करनेको जब दौड़े तो वे अन्धे हो गये। सन्त-निन्दकोंकी यह दशा देखकर राजाको बड़ी हँसी आई और वह कहने लगा—"मूर्ख ! अब देवर बननेका लाभ ले ले।"

अन्तमें नीचोंके द्वारा क्षमा याचना करनेपर श्रीरामरयनजी तथा उनकी धर्मपत्नीने भगवानसे प्रार्थना करके उन्हें बचा लिया। भक्तकी विनयपर भैंसा आकाशमें गायब हो गया और अन्धे लोगोंकी आँखें पुनः ठीक हो गईं। राजाने कहा—'देखो भाई ! सन्त-निन्दाका फल तो तुम लोग भोग चुके, अब यदि अपना कल्याण चाहते हो तो मेरी बात मानकर सन्त-सेवाको अपना सर्वस्व समझो और सन्तों का चरणामृत ग्रहण करो। सन्त-सेवा और भगवानकी भक्ति ही संसारमें सार है।"

राजाकी बात सब मान गए और उसी दिनसे परम-भागवत-मार्गको उन्होंने अपना लिया।

मूल (छप्पय)

(राजकुमार श्रीकिशोरसिंहजी)

पाँयनि नूपुर बाँधि नृत्य नगधर हित नाच्यौ।
राम कलस मन रली सीस तातें नहिं बाँच्यौ॥
बानी बिमल उदार, भक्ति महिमा बिसतारी।
प्रेम पुंज सुठि सील बिनय संतन रुचिकारी॥
सृष्टि सराहै रामसुवन लघु बैस लच्छन आरज लिया।
अभिलाष उभै खेमालका ते किसोर पूरा किया॥१२१॥

अर्थ—किशोरसिंहजी अपने पैरोंमें नूपुर बाँधकर श्रीगिरिधारीलालको प्रसन्न करनेके लिये उनके सामने नाचते और श्रीरामचन्द्रजीके पूजनके लिये मन लगाकर स्वयं घड़ा भरकर लाते। ऐसा एक भी दिन नहीं था जब कि आपका सिर ठाकुरजीके घड़ेसे अछूता रह गया हो। आपकी निर्मल वाणी कविताके रूपमें बिना रुके हुए प्रवाहित होती थी। इसी छन्दोबद्ध वाणी द्वारा आपने भक्तिकी महिमाका प्रचार किया। आप प्रेमकी राशि, अत्यन्त विनयशील और सन्तोंकेप्रेम-पात्र थे। सारा संसार यह कहकर आपकी प्रशंसा करता था कि छोटी-सी अवस्थामें ही श्रीरामरयनजीके पुत्रमें श्रेष्ठजनोंके सब लक्षण उत्पन्न होगए। श्रीकिशोरसिंहजीने, इस प्रकार, अपने पितामह श्रीखेमालजीकी दोनों अभिलाषाओंको पूर्ण किया।

भक्ति-रस-बोधिनी

खेमाल तन त्याग समै अश्रुपात आँखिनते, बात सुत पूछी अजू नीकें खोलि दीजियै।
कौनें पुन्य दान बहु, संपति अमान भरी, धरी हियें दोष सो कही सुनि लीजियै॥
बिबिधि बड़ाई में समाई मति भई पै न, नित ही बिचार अब मन पर खीजियै।
नीर भरि घट सीस धरि कै न ल्यायौ और नूपुर न बाँधि नृत्य कियौ नाहिं छीजियै॥४६१॥

अर्थ—खेमालरत्नजीका जब शरीर त्यागनेका समय आया, तो उनकी आँखोंसे आँसुओंकी झड़ी-सी लग गई। यह देखकर आपके पुत्र रामरयनजीने पूछा—"आप साफ-साफ खोल कर बताइये कि आपको किस बातका कष्ट है? आप जो चाहते हों, हम उसी वस्तुका पुण्य-दान करें; आपकी कृपासे घरमें अतुल सम्पत्ति भरी पड़ी है।" आपने कहा—"हमारे मनकी दो अभिलाषाएँ अपूर्ण रह गई हैं, उन्हें सुनो। हमारी बुद्धि राज्यके गौरवमें लिप्त रही, इस-लिए दोनों मनोरथोंको पूरा करनेकी बात सोचते तो प्रतिदिन थे, पर पूरा एक दिन भी नहीं कर पाये। यही कारण है आज हमें कष्टका अनुभव हो रहा है। दो अभिलाषाओंमें एक तो यह थी कि कभी प्रभुके पूजनके लिए अपने सिरपर रखकर पानीका घड़ा नहीं लाये और दूसरी

यह कि नूपुर बाँधकर किसी दिन भगवानके सामने नाचे नहीं। ये दो इच्छाएँ मनकी मनमें ही रह गईं और अब अन्त समय आ गया है।"

भक्ति-रस-बोधिनी

रहे चुपचाप सबै जानी काम आप ही कौ, बोल्यौ यों किसोर नाती आज्ञा मोकों दीजियै।
यही नित करौं, नहीं टरौं जौ लौं जीवै तन, मन में हुलास उठि छाती लाय लीजियै॥
बहु सुख पाये, पाये, वैसे ही निबाहे पन, गाये गुन लाल प्यारी अति मति भीजियै।
भक्ति विसतार कियौ, बैस लघु भीज्यौ हियौ, दियौ सनमान संत सभा सब रीझियै॥४६२॥

अर्थ—श्रीखेमालरत्नजीकी बात सुनकर उनके पुत्र आदि सब यह सोच कर चुप हो गये कि यह तो उनका ही काम था, किन्तु नाती किशोरसिंह तत्क्षण बोले—"मुझे आज्ञा दीजिये। ये दोनों काम मैं नित्य करूँगा; जब तक मेरा जीवन है, तब तक इसी नियमका पालन करूँगा।"

श्रीखेमालरत्नजीने नातीकी यह प्रतिज्ञा सुनी, तो उनका शरीर और मन उल्लास (हर्ष) से भर गया और उन्होंने किशोरसिंहजीको छातीसे लगा लिया। श्रीखेमालरत्नजीको बड़ी प्रसन्नता हुई और उन्होंने सुख-पूर्वक शरीर त्याग दिया। श्रीकिशोरसिंहजीने अपनी प्रतिज्ञा निभाई। जीवन-पर्यन्त उन्होंने प्रेमसे श्रीकृष्ण-राधिकाके गुण गाये और भक्तिका प्रचार किया। इस प्रकार छोटी अवस्थामें ही उनका हृदय प्रभुके अनुरागसे परिपूर्ण हो गया। आपकी चर्यासे प्रसन्न होकर सन्त-समाजने आपका अत्यन्त आदर किया।

मूल (छप्पय)

(श्रीहरिदासजी)

हरीदास हरिभक्त भक्ति मंदिर कौ कलसौ।
भजन भाव परिपक्व हृदै भागीरथ जल सौ॥
त्रिधा भाँति अति अननि राम की रीति निबाही।
हरि गुरु हरि बल भाँति तिनहिं सेवा दृढ़ साही॥
पूरन इंदु प्रमुदित उदधि त्यों दास देखि बाढ़ै रली।
खेमाल रतन राठौर के सुफल बेलि मीठी फली॥१२२॥

अर्थ—श्रीखेमालरत्नजीकी सन्तान श्रीहरिदासजी भगवान तथा भगवद्-भक्तोंके दास एवं भक्ति-रूपी मन्दिरके कलश थे। वे भक्ति-भावनामें पगे हुए थे और उनका हृदय ऐसा निर्मल था जैसे गंगाजीका जल। उन्होंने अनन्य भावसे मन, वाणी और कर्म तीनोंसे श्रीरामरत्नजीकी भक्ति-नीति का अनुसरण किया। भगवत्-स्वरूप श्रीगुरुदेवजीका बल इन्हें ऐसा था जैसा श्रीहरि

का होता है। दोनों—हरि और गुरुकी सेवा—आपने राज्य-सुलभ ठाट-बाटसे की। जिस प्रकार पूर्ण-चन्द्रमाको देखकर समुद्र हिलोरें भरने लगता है, उसी प्रकार हरि-भक्तोंके दर्शनकर आपका प्रेम उमड़ आता था। इस प्रकार राठौर श्रीखेमालरत्नकी मनोरथ-लता भक्ति-भूमिमें खूब फूली-फली।

विशेष—कुछ लोगोंके मतमें यह छप्पय श्रीकिशोरसिंहजीके ही विषयमें लिखा गया है, तो कुछ कहते हैं कि यह श्रीखेमालरत्नजीके पोते और किशोरसिंहजीके छोटे भाई श्रीहरिदासजीको लक्ष्यकर लिखा गया है। श्रीबालकराम भी इसे श्रीहरिदासजीसे सम्बन्धित मानते हैं।

श्रीहरिदासजीके सम्बन्धमें भक्त-दाम-गुण-चित्रनी, पत्र ३६७में प्राप्त एक चमत्कार-पूर्ण घटना का आशय नीचे दिया जाता है—

श्रीहरिदासजी बड़े सन्त-सेवी थे। एक समय जब आप कहीं बाहर गए हुए थे तब आपके घरपर सन्त आए और यथोचित सेवा-सत्कारके बाद चले भी गए। जब लौटकर आनेपर श्रीहरिदासको यह समाचार मिला तो वे सन्तोंके दर्शनके लिए व्याकुल होकर उनके पीछे भागे। चारों दिशाओंमें खोजनेपर भी आपको जब सन्तोंके दर्शन न मिले तो अत्यन्त व्याकुल होकर इधर-उधर दौड़ना प्रारम्भ कर दिया। उसी समय भगवान एक सन्तका वेश बनाकर वहाँ आ गए और बोले—"क्यों जी! तुम यहाँ एकान्त जङ्गलमें किसे ढूंढ़ रहे हो?"

आप बोले—"सन्तोंको खोज रहा हूँ।"

उन्होंने कहा—"मैं भी तो सन्त हूँ।"

श्रीहरिदासने उनको दण्डवत् किया और फिर पूछा—"और सन्त कहाँ गए?" भगवान बोले—"सब मेरे अन्दर ही समझ लो।" आपने कहा—"सो कैसे हो सकता है? वे बीस सन्त जितना प्रसाद-पाते उतना आप कैसे पा सकते हैं? वे अलग-अलग भगवानकी अनेक कथा कहते, उन्हें आप अकेले कैसे कह सकेंगे?"

इस प्रकार अनेक प्रकारसे आमोद-विनोद करते हुए भगवानसे आप बोले—"सन्त महाराज! कुछ प्रभुका गुण-गान कीजिए।" तब भगवानने जो गाया उसपर भक्तका मन ऐसा रीझ गया कि कुछ कहते ही न बना।

इसके बाद भगवानने स्वयं भोजन मँगाया। भक्तने बीस सन्तोंके लिए भोजन तैयार कराया था। भगवान धीरे-धीरे सब साफ कर गए। यह देखकर भक्त समझ गया कि ये भक्त नहीं, भक्तके वेशमें भगवान ही आ गए हैं। उसने भगवानसे कहा—"प्रभो! आप तो अनन्त हैं। मैं आपको पहिचान नहीं पाया था।" श्रीहरिदासका इतना कहना ही था कि भगवान तुरन्त अन्तर्धान हो गए। भगवान वास्तवमें अपने भक्तोंको इसी प्रकारके कौतुक दिखाया करते हैं और उन्हें प्रसन्न किया करते हैं।

मूल (छप्पय)

(श्री चतुर्भुजजी कीर्तन-निष्ठ)

गायो भक्ति प्रताप सबहिं दासत्व दृढ़ायौ।
राधावल्लभ भजन अनन्यता बरग बढ़ायौ॥
'मुरलीधर' की छाप कबित अति ही निर्दूषन।
भक्तनि की अँघ्रिरेनु वहै धारी सिर भूषन॥
सतसंग महा आनन्द मैं, प्रेम रहत भीज्यौ हियौ।
(श्री)हरिवंस चरण बल चत्रभुज गौड़ देस तीरथ कियौ॥१२३॥

अर्थ—कीर्तनके प्रेमी श्रीचतुर्भुजजीने भक्तिके प्रभावका गानकर 'गौड़वाना' देशकी जनतामें भगवानकी दासताके भावको स्थायी रूपसे जमाया तथा एकमात्र श्रीराधावल्लभ ठाकुरके भजनका उपदेश देकर अनन्यताके परिवारको बढ़ाया। आपके बनाये हुए पदोंमें 'मुरलीधर' की छाप रहती थी। आपकी कविता साहित्यके दोषोंसे सर्वथा मुक्त थी। भक्तोंके चरणोंकी धूलको आप अपने मस्तकपर भूषणके समान धारण करते थे। साधुओंकी संगतिमें तथा प्रभुके प्रेमानन्दमें आपका हृदय सदा डूबा रहता था। इस प्रकार श्रीचतुर्भुजजीने श्रीहितहरिवंशजीके चरणोंके प्रतापसे समस्त 'गौड़वाना' प्रान्तको धार्मिक तीर्थके समान पवित्र बना दिया।

भक्ति-रस-बोधिनी

गोंड़वाने देस भक्ति लेस हू न देख्यौ कहुँ, मानुस कौं मारि इष्टदेव कौं चढ़ायौ है।
तहाँ जाय देवता को मन्त्र लै सुनायौ कान, लियौ उनमानि, गाँव सुपन सुनायौ है॥
'स्वामी चत्रभुज के बेगि तुम दास होहु, नातौ होय नास सब'' गाँव भजयौ आयौ है।
ऐसे शिष्य किये, माला कण्ठी धाय लिये, पाँव लिये, मन दिये यौं अनन्त सुख पायौ है॥४६३॥

अर्थ—'गोंड़वाना'में, श्रीचतुर्भुजजीके समयमें, कहीं भी भक्तिका प्रवेश न था। वहाँके लोग ऐसे आततायी थे कि मनुष्यको मारकर कालीदेवीकी भेंट चढ़ा देते थे। श्रीचतुर्भुजजीने देवीके मन्दिरमें जाकर उसके कानमें राधा-मन्त्र सुनाया। देवीने मन्त्रको ग्रहण किया और गाँववालोंसे स्वप्नमें कहा कि 'शीघ्र ही सब लोग श्रीचतुर्भुजजीके शिष्य बनकर भगवानकी भक्ति करो, नहीं तो सबका नाश हो जायगा।' सुनते ही लोग श्रीचतुर्भुजजीके पास दौड़े हुए आये। उन्होंने सबको दीक्षा दी। कण्ठी-माला पहिनकर और वैष्णव-धर्ममें दीक्षित होकर लोगोंको नया जीवन मिला। सबने आपके चरणोंमें प्रणाम किया, हरि-भक्तिकी ओर प्रवृत्त हुए और आनन्दसे जीवन बिताने लगे।

भक्ति-रस-बोधिनी

भोग लै लगावैं नाना संतनि लड़ावैं कथा भागवत गावैं, भाव भक्ति बिसतारियै ।
भज्यौ धन लै कै कोऊ, धनी पाछे पर्‌यौ सोऊ, आनिकै दबायौ, बैठि रह्यौ न निहारियै ॥
निकसौ पुरान बात, करै नयौ गात, दिच्छा सिच्छा सुनि शिष्य भयौ, गह्यौ यों पुकारियै ।
कहै "या जनम मैं न लियौ कछू" दियौ फारौ हाथ सै उबार्‌यौ प्रभु, रीति लागी प्यारियै ॥४८४॥

अर्थ—गौड़देशमें रहतेहुए श्रीचतुर्भुजजी भगवानको नाना-प्रकारके भोग लगाते, सन्तों से प्रेमपूर्ण व्यवहार करते, श्रीमद्‌भागवतकी कथा बाँचते और लोगोंमें भक्ति-भावका प्रचार करते ।

एक बार एक चोर किसीका धन लेकर भागा । धनीने भी उसका पीछा किया और पकड़ा ही जाने वाला था कि चतुर्भुजजीकी कथाके श्रोताओंके बीच घुसकर बैठ गया । धनीने बहुत इधर-उधर नजर दौड़ाई, पर वह दिखाई ही नहीं पड़ा ।

इसी बीचमें कथाके प्रसङ्गमें चोरने सुना कि जो कोई भगवन्-मन्त्रकी दीक्षा लेता है उसका नया जन्म हो जाता है । इस उपदेशको सुनते ही वह चतुर्भुजजीका वहीं का वहीं शिष्य हो गया (और चोरीके धनको भेंटके रूपमें चढ़ादिया) । कथा समाप्त होनेपर जब श्रोतागण उठे, तो धनीने उसे पकड़ लिया और पुकार मचाई । चोरने सब लोगोंके सामने कहा— "इस जन्ममें मैंने किसीका कुछ नहीं चुराया । इसपर चोरके सत्यकी परीक्षा करनेके लिए लोगोंने उसके हाथपर तपाया हुआ लोहा रख दिया । प्रभुने उसे बचा दिया । श्रीप्रियादासजी कहते हैं कि 'इसके विश्वासकी रीति मुझे बहुत अच्छी लगी' ।

विशेष—दीक्षा द्वारा नवीन जन्म होनेके सम्बन्धमें नारद-पंचरात्रका निम्न-लिखित श्लोक प्रमाण-रूपमें उपस्थित किया जाता है—

रामंमंत्रोपदेशेन मायादूरमुपागता ।
कृपया गुरुदेवस्य द्वितीयं जन्म कथ्यते ॥

—राम-मंत्रके उपदेशसे माया दूर भाग गई और गुरुदेवकी कृपासे दूसरा जन्म मिला ।

श्रीभगवतमुदितजी कृत 'श्रीरसिक अनन्य-माल' में अग्नि-परीक्षाका वर्णन करते हुए लिखा है—

राजाकै बाढ्यौ संदेह, साँचो है तो फारौ लेहु ।
इन्हूँ फारो लैनो कर्‌यौ, कौतुक देखन जग उभर्‌यौ ॥
पहले हाथ न सूत लपेट्यौ, घृत जुत पीपर पात चपेट्यौ ।
तापर लाल कुसो करि धर्‌यौ, इन गुरु बचननि सुमिरन कर्‌यौ ॥
जो प्रभु जन्म भयौ नव मेरौ, सब तजि सरन गह्यौ है तेरौ ।
यह कहि लियौ हाथ पै फारौ, सात पैंड़ चलि डारौ न्यारौ ॥
फिर उतते इत लै चलि आयौ, पातहु जर्‌यौ न पर्‌यो पायौ ।
हाथ सूत दल नेंकु न जरे, साहुके हाथ फफोला परे ॥

भक्ति-रस-बोधिनी

राजा झूठ मानि कह्यौ "करौ बिन प्रान याको, साधु ये बिराजमान सो कलंक दियो है।"
चले ठौर मारिबेकों, धारिबेकों सकै कैसे, नैन भरि आये नीर बोल्यौ, "धन लियौ है" ॥
"कहै नृप "साँचौ ह्वै के झूठौ जिन ह्वै संत," महिमा अनंत कही "स्वामी ऐसो कियो है।"
भूप सुनि आयौ उपदेश मन भायौ, शिष्य भयौ नयौ तन पायौ भीजि गयौ हियौ है ॥

अर्थ—अग्नि-परीक्षा द्वारा सच्चा प्रमाणित होनेके बाद राजाने सोचा कि धनीने इस भले आदमीको झूठा ही कलंक लगाया। उसने अपने अधिकारियोंको आज्ञा दी कि 'इसे मार डालो'। आज्ञा पाकर उसे मार डालनेके लिये लोग ले जाने लगे। चोर (पूर्व-जन्मका) भला यह कैसे देख सकता था? उसकी आँखोंमें आँसू छलछला आये। बोला—"धन मैंने ही लिया था।"

राजाने इसपर, कहा—"सन्त-महोदय! आप सच्चे होकर अब झूठ बोलते हैं!" उन्होंने उत्तरमें स्वामीजीकी अनन्त-महिमाका वर्णन करते हुए कहा—"इन्होंने ही मुझे ऐसा बना दिया कि मैं सच्चा चोर होकर झूठा होगया हूँ।"

राजा सारा वृत्तान्त सुनकर धनीको छोड़ दिया और स्वामीजीके पास आया। उनके उपदेश राजाके मनमें घर कर गए। वह स्वामीजीका शिष्य हो गया। उसे मानो नया शरीर मिला। स्वामीजीके उपदेशसे राजाका हृदय भक्ति-भावनासे सरस होगया।

भक्ति-रस-बोधिनी

पकि रह्यौ खेत, संत आये करि तोरि सेत, जिते रखवारे मुख सेत सोर कियौ है।
कह्यौ स्वामी नाम सुन्यौ, कही "बड़ो काम भयौ यह तौ हमारौ", सोई आप सुन लियौ है॥
लै कै मिष्टान्न आय, सुमुख बखान कीनौ, "लीनौ अपनाय आज भीज्यौ मेरौ हियौ है।
लै गये लिवाय, नाना भोजन कराय, भक्ति चरचा चलाय, चाय हित रस पियौ है" ॥४६१॥

अर्थ—एक बार श्रीचतुर्भुजजीका खेत पका हुआ खड़ा था। संयोगसे कहींसे सन्तोंकी एक मंडली उधर आ निकली और फसलको तोड़-फोड़कर खाने लगी। रखवालोंने कहा कि 'यह स्वामी चतुर्भुजजीका खेत है।' यह सुनते ही संत-लोग बोले—"तब तो हमारा काम बन गया; खेत तो अपना ही निकला।" खेत रखाने वालोंने यह देखा, तो गलेका थूक सूख गया; मुँहपर हवाइयाँ उड़ने लगीं। उसी बीचमें किसीने जाकर स्वामीजीको खबर कर दी। स्वामीजी मिष्टान्न लेकर खेतपर उपस्थित हुए और प्रसन्न मुद्रा बोले—"आज यह देखकर मुझे बड़ा आनन्द होरहा है कि सन्तोंने मुझे अपना लिया।" इसके उपरान्त आप सब सन्तोंको अपने साथ घर ले गये, उन्हें प्रेमसे भोजन कराया और भक्ति-सम्बन्धी प्रसंग छेड़कर प्रेम-रसका छक कर पान किया।

अन्य चरित्र—गौड़ देशमें भूतोंका एक बाग था। उसमें बड़े-बड़े प्रेत रहते थे। इनके उपद्रवके कारण लोगोंको आस-पास खेती करना कठिन हो गया था। वे किसानोंको छीनकर ले जाते, बैलोंको

मार डालते और यदि कोई भूला-भटका बच्चा उधर जा निकलता, तो उसे भी खत्म कर देते। एक बार घूमते-घामते स्वामीजी कुछ सन्तोंके साथ वहाँ पहुँच गए। वे किसी ऐसे एकान्त-स्थानकी खोज में थे जहाँ मुरलीधरकी सेवा करें और तदुपरान्त रसोई बनाकर प्रभुके भोग धरें। कुछ दुष्टोंने उन्हें वहीं बाग बता दिया—यह कह कर कि वहाँ सेवा-पूजाके लिए बड़ा सुन्दर स्थान है; जितने साधु-सन्त आते हैं, सब यहीं ठहरते हैं। स्वामीजी बातोंमें आ गए और उसी बागमें जाकर डेरा डाल दिया। पहले सन्तोंने जगहको झाड़-बुहार कर साफ किया और तब एक आमके मंडपके नीचे मुरलीधरको विराजमान कर दिया। इसके उपरान्त प्रभुकी सेवा-पूजा की गई और सबने चरणोदक लिया।

संयोगसे उस समय सब भूत खेलने चले गए थे; रह गए थे तीन प्रेत जो उस स्थानके रक्षक थे। उन्होंने प्रभुकी आरतीके जो दर्शन किए, तो तत्काल सबका उद्धार हो गया। कुछ समय बाद बाकी प्रेत भी आगए। उनके साथ यमराजके दूत भी थे। इन प्रेतोंने जब रक्षक प्रेतोंको न देखा, तो सारा रहस्य उनकी समझमें आ गया। वे ज़ोर-ज़ोरसे हा-हाकार करने लगे। सुनकर चतुर्भुजदासजीने उन्हें बुलाया और पूछा —"तुम इतना शोर क्यों करते हो?" प्रेत बोले—"मरनेके बाद जब हम धर्मराजके पास पहुँचे, तो उन्होंने रहनेके लिए हमें यह जगह बता दी। आपने हमसे यह भी छीन ली। बताइए, अब हम कहाँ जायें? या तो रक्षक-प्रेतोंकी तरह हमारा भी उद्धार करिये या अपने मुरलीधरको हमारे पास छोड़कर आप लोग यहाँसे लम्बे हूजिये।"

चतुर्भुजजीने कहा—"तुम सबको अपने कर्मोंका फल भोगनेके लिये यह योनि मिली है। यह कैसे हो सकता है कि कर्म-फल भोगे बिना तुम्हारा छुटकारा हो जाय?"

प्रेत बोले—"हमें आप लोगोंके पास आनेका अधिकार नहीं है, अतः आप कृपया एक काम करिये। एक गड्ढा खुदवाइए और उसमें सब सन्तोंके चरण धुलवाइए; सबसे अन्तमें आप अपना चरणोदक उसमें डाल दीजिए। आधी रातको आकर हम सब उस चरणोदकको पीवेंगे और इस प्रकार हमारा उद्धार हो जायगा।"

स्वामीजीने प्रेतोंपर कृपाकर वैसा ही किया और फलस्वरूप सब प्रेत कृतार्थ हो गये। प्रेतोंके सीधा स्वर्ग चले जानेपर यमदूत दौड़े-दौड़े धर्मराजके पास पहुँचे और सारा वृत्तान्त निवेदन किया। धर्मराज हँसकर बोले—"तुम बड़े अभागे हो। प्रेत तो भक्तोंके दर्शनकर तर गये, पर तुम नहीं तरे। तुम सदा पापियोंके साथ रहते हो—उनके पापोंका ही तुम्हें सदा ध्यान रहता है, अतः तुम्हें भक्त दिखाई नहीं पड़ते। भक्तोंके निकट पहुँचनेके लिए बड़े भाग्य चाहिए।"

धर्मराज जिस समय यह सब कह रहे थे, उस समय एक तरफ खड़ा हुआ था एक ब्राह्मण भी अपनी पेशीकी प्रतीक्षा कर रहा था। धर्मराजने उसकी ओर नज़र डाली, तो एकदम अपने दूतोंसे क्रोध-भरे स्वरमें चिल्लाकर कहने लगे—"दुष्टो! यह तुम किसको ले आये? इसकी आयु तो अभी पूरी नहीं हुई है। ले जाओ इसे! कहीं ऐसा न हो कि लोग चितामें आग लगाकर इसके शरीरको जला डालें।"

उधर मरघटपर पहुँचकर ज्यों ही लोग चितामें आग लगानेको तैयार हुए, त्योंही चितापर रक्खा हुआ शरीर हिलने-डुलने लगा। लोग जहाँ के तहाँ ठहर गए। इतनेमें चितामेंसे आवाज़ आई—"मुझे निकालो; मैं मरा नहीं हूँ।" लोगोंने तुरन्त लकड़ियाँ हटाकर उसे बाहर निकाल लिया। कफन

से अपने शरीर पर खुर्सटोंको सहलाते ब्राह्मणने उपस्थित समाजसे कहा—"आप लोग आश्चर्य न करें। मुझसे जो बीती है, वह सब गाँवमें पहुँचकर सुनाऊँगा।"

सारा गाँव उसे सुननेके लिये उमड़ पड़ा। ब्राह्मणने कहा—"सबसे पहला शुभ समाचार तो यह है कि तुम्हारे गाँवके भूतोंके बागमें अब एक भी भूत नहीं रहा। सबके सब स्वर्ग चले गये।" लोगों के आश्चर्यकी सीमा न थी। उनके पूछनेपर ब्राह्मणने फिर विस्तार-पूर्वक बतलाया कि किस प्रकार उसने यमराजके दरबारमें भूतोंके उद्धारकी कथा सुनी थी और अन्तमें बोला—"यह सब सन्तोंके चरणोदक की, विशेष रूपसे स्वामीजीकी कृपाका फल है, अतः हम लोगोंको भी सन्तोंकी सेवा करनी चाहिए और भक्ति-मार्गको अपनाना चाहिए।" राजाने जब यह सुना, तो प्रजा-सहित स्वामीजीकी शरणमें गया और भगवद्-भक्त बन गया—

भगवत चत्रभुज चरण-जल, लै-लै तरे जु भूत।
बिना कृपा खाली गये, धर्मराज के दूत।

[भगवतमुदितजी कृत—श्रीरसिक-अनन्य-माल]

जीवन चरित्र—श्रीभगवत मुदितजी कृत 'श्रीरसिक-अनन्य-माल' के आधारपर स्वामी चतुर्भुज-दासजीका जीवन-वृत्त इस प्रकार है—

गौड़वाना प्रदेशके 'गढ़ा' नामक स्थानमें चतुर्भुजजी रहते थे। सेवकजी भी वहीं के निवासी थे। दोनों ब्राह्मण-कुलमें उत्पन्न हुए थे और घनिष्ठ मित्र थे। हरि-भक्तोंके प्रति दोनोंकी सहज प्रीति थी। जब-कभी सन्तोंकी सेवा करनेका अवसर मिलता, तो अपना बड़ा सौभाग्य मानते। किन्तु दोनोंको यह बात बड़ी खलती थी कि कोई गुरु नहीं किया। एक दिन कोई रसिक महानुभाव उधर आ निकले और उन्हींके यहाँ रातको ठहरे। प्रभु-चर्चा जब प्रारम्भ हुई, तो रसिक-सन्तने नित्य-विहारकी महिमा का गान किया। चतुर्भुजदासजी और सेवकजीको परम श्रद्धालु जानकर उन्होंने पूछा—"आप लोगोंके गुरुदेव कौन हैं?" दोनोंने उत्तर दिया—"हम भी इसी सोच-विचारमें पड़े हैं कि किसको गुरु बनाया जाय। कृपया आप कुछ सलाह दीजिये।"

इसपर रसिक-सन्तजीने वृन्दावनस्थ श्रीहितहरिवंश गोस्वामीसे दीक्षा लेनेकी उन्हें सलाह दी। किन्तु इसी समय कुछ ऐसे विघ्न आ गए कि इच्छा रखते हुए भी उनमेंसे एक भी वृन्दावन न जा सका। इसी बीचमें महाप्रभु श्रीहितहरिवंशजी निकुञ्ज-वासी हो गए। इन्होंने यह सुना, तो पागल हो गए। अब क्या करें? कुछ दिन बाद इन्होंने सुना कि श्रीहितहरिवंशजीकी गद्दीपर उनके पुत्र श्रीवन-चन्द्रजी गोस्वामी विराजमान हुए हैं और वे हित-धर्मके सबसे बड़े अधिकारी हैं। चतुर्भुजदासजीने सेवक जीसे कहा—"चलिए, वृन्दावन चलकर श्रीवनचन्द्रजी महाराजसे दीक्षा ले आवें।" किन्तु सेवकजी वहाँ से नहीं हिले उन्होंने प्रण किया कि मैं श्रीहितजीसे ही दीक्षा लूंगा, नहीं तो इस शरीरको छोड़ दूंगा।"

चतुर्भुजजी नहीं माने। सेवकजीको वहीं छोड़कर वे वृन्दावनको चल दिये और श्रीवनचन्द्रजी से हित-धर्मकी दीक्षा ली। इधर श्रीहितहरिवंशजीने स्वप्नमें प्रकट होकर सेवकजीको निज-मन्त्रका उपदेश दिया और वृन्दावनकी केलि-कुञ्जों तथा यमुनाजीके 'गढ़ा' में ही दर्शन कराये। चतुर्भुजदासजी वृन्दावनसे लौटकर जब 'गढ़ा' पहुँचे, तो दोनोंने अपने-अपने निज-मन्त्रोंको मिलाया और जब एक ही पाया, तो बड़े प्रसन्न हुए।

इस वृत्तके अनुसार स्वामी चतुर्भुजदासजी श्रीहितहरिवंशमहाप्रभुके समयमें मौजूद थे, किन्तु अवस्थामें अन्तर रहा होगा। पाठकोंको स्मरण होगा कि श्रीहितमहाप्रभुजीका निकुञ्ज-लीला-प्रवेश सं० १६०६ वि० में हुआ था। चतुर्भुजदासजीके 'द्वादश यश' से पता लगता है कि इस ग्रन्थकी रचना उन्होंने सं० १६८० वि० में की थी। इस हिसाबसे चतुर्भुजदासजी बहुत दीर्घायु रहे होंगे।

श्रीध्रुवदासजीने आपके सम्बन्धमें ठीक ही कहा है—

सकल देस पावन कियौ, भगवत जसहिं बढ़ाय। जहाँ तहाँ निज एकरस, गाई भक्ति लड़ाय॥

इनके अतिरिक्त करौलीके राजा श्रीचतुर्भुज (चन्द्रसेन) जीका चरित्र छप्पय संख्या ११४, पृष्ठ७०१ पर दिया जा चुका है। दूसरे चतुर्भुजदासजी श्रीविट्ठलनाथजीके शिष्य सुकवि हुए हैं। ये कुंभनदासजीके सबसे छोटे पुत्र थे। इनका स्थिति-काल है वि० सम्वत् १५९७ से १६४२ तक।

मूल (छप्पय)

(श्रीकृष्णदासजी चालक)

सक्र कोप सुठि चरित प्रसिध पुनि पंचाध्याई।
कृष्ण रुक्मिनी केलि रुचिर भोजन बिधि गाई॥
'गिरिराज धरन' की छाप गिरा जलधर ज्यौं गाजै।
संत सिखंडी खंड हृदै आनन्द के काजै॥
जाड़ा हरन जग जाड़ता कृष्णदास देही धरी।
चालक की चरचरी चहूँ दिसि उदधि अंत लौं अनुसरी॥१२४॥

अर्थ—श्रीकृष्णदासजी चालकने व्रजपर इन्द्रके कोपके कारण श्रीकृष्णचन्द्र द्वारा की गई 'गोवर्धन-लीला', प्रसिद्ध 'रासपञ्चाध्यायी', 'कृष्ण-रुक्मिणी-केलि' तथा सुन्दर 'भगवद्-भोजन-विधि' इत्यादि काव्य लिखे। आपकी कवितामें 'गिरिराज-धरन' की छाप रहती थी। आपकी गम्भीर वाणी मेघोंके समान गरजती थी जिसे सुनकर सन्त-रूपी मोरोंका समाज आनन्दसे नाच उठता था। संसारके जड़ता-रूपी शीतको दूर करनेके लिए आपने सूर्यके समान भक्तिसे प्रकाशित शरीर धारण किया। श्रीकृष्णदासजी चालककी 'चरचरी' छन्दमें की गई रचनायें समुद्रों के तटों तक प्रसिद्ध हुईं।

श्रीबालकरामजीकी टीकाके आधारपर श्रीकृष्णदासजीसे सम्बन्धित एक विशेष वार्ता दी जाती है—

श्रीकृष्णदासजी चालककी एक 'चरचरी' किसी भाटके हाथ लग गई। उसने उसमें-से कृष्णदासजीके नामकी छाप निकाल कर अपना नाम रख दिया और उसे अपने आश्रय-दाताको जा सुनाया। राजाने उसे सुनकर भाटको बहुत-सा द्रव्य इनाम में दिया।

उसी दिनको भगवानने राजाको कहा कि या तो इनाममें मिला सारा धन वह श्रीकृष्णदासजीको दे आए, नहीं तो मैं उसका सर्वनाश कर दूंगा। राजाने दूसरे दिन भाटसे कहकर इनाममें दिए गए धनको श्रीकृष्णदासजीके पास भिजवा दिया।

मूल (छप्पय)

(श्रीसन्तदासजी)

गोपीनाथ पद राग भोग छप्पन भुंजाये।
पृथु पद्धति अनुसार देव दम्पति दुलराये॥
भगवत भक्त समान ठौर द्वै कौ बल गायौ।
कवित सूर सों मिलत भेद कछु जात न पायौ॥
जन्म कर्म लीला जुगति रहसि भक्ति भेदी मरम।
विमलानन्द प्रबोध बंस संतदास सीवाँ धरम ॥१२५॥

अर्थ—श्रीसन्तदासजीका श्रीगोपीनाथ ठाकुरके चरणोंमें बड़ा प्रेम था। आप उन्हें छप्पन प्रकारके पदार्थ तैयार कर भोग लगाया करते थे। राजा पृथुके द्वारा चलाये भक्ति-मार्गका अनुसरण कर आप श्रीराधाकृष्णकी उपासना करते थे। आपने भगवान और भक्त दोनोंका समान रूपसे यश-वर्णन किया। आपकी पद-रचना सूरदासजीके काव्यसे इतनी मिलती-जुलती है कि दोनोंमें अन्तर मालूम करना कठिन हो जाता है। अपनी कवितामें आपने भगवानके जन्म, कर्म, लीला आदि का बड़े कौशलसे वर्णन किया है, क्योंकि आप भक्तिके गूढ़-तत्त्वों और रहस्योंके पूर्ण जानकार थे। श्रीसन्तदासजी, इस प्रकार श्रीविमलानन्दजी प्रबोधके कुलमें धर्मकी मर्यादाके रूपमें प्रकट हुए।

भक्ति-रस-बोधिनी

बसत 'निबाई' ग्राम, स्याम सों लगाई मति, ऐसी मन आई, भोग छप्पन लगाये हैं।
प्रीति की सचाई यह जग में दिखाई, सेवें जगन्नाथ देव आप रुचि सों जो पाये हैं॥
राजा कों सुपन दियौ, नाम लै प्रगट कियौ, "संत ही के गृह मैं तो जेवों यों रिझाये हैं।"
भक्ति के आधीन, सब जानत प्रवीन जन ऐसे हैं रंगीन, लाल ठौर-ठौर गाये हैं॥४८७॥

अर्थ—श्रीसन्तदासजी 'निबाई' गाँवमें रहते थे। श्रीश्यामसुन्दरके चरणोंमें आपकी प्रीति ऐसी बढ़ी कि रोज छप्पन प्रकारके भोग नित्य नवीन उत्साहके साथ तैयार कर लगाते। आपका प्रभुके प्रति प्रेम संसारमें इस प्रकार प्रसिद्ध हो गया कि श्रीजगन्नाथजी स्वयं आपके घरपर भोजन करते। (जैसा कि होना अनिवार्य था, कुछ ही दिनोंमें घरका सब रुपया-पैसा बराबर हो गया और भोग लगानेमें कठिनाई पड़ने लगी।) प्रभुने राजासे स्वप्नमें सन्तदासजीका नाम-निर्देश करते हुए कहा—"सन्तदासजीने मुझे अपने प्रेममें ऐसा फँसा लिया है कि मैं नित्य उन्हींके घर भोजन करता हूँ, (सो तुम मेरे भोग-रागके लिए आवश्यक सामग्री उनके यहाँ पहुँचा दिया करो)।" राजाने श्रीजगन्नाथजीकी आज्ञाका पालन किया।

भगवद्-भक्तिमें पगे हुए सब लोग जानते हैं कि रँगीले प्रभु इसी प्रकार भक्तके आधीन हो जाते हैं। भक्तोंने भगवानकी इस भक्त-परवशताका स्थान-स्थानपर वर्णन किया है।

मूल (छप्पय)

(श्रीसूरदास मदनमोहन)

गान काव्य गुन रासि सुहृद सहचरि अवतारी।
राधाकृष्ण उपास रहसि सुख को अधिकारी॥
नवरस मुख्य सिंगार विविध भाँतिन करि गायो।
बदन उचार बेर सहस पायनि ह्वै धायो॥
अँगीकार की अवधि यह ज्यों आख्या भ्राता जमल।
(श्री)मदनमोहन सूरदास की नाम शृंखला जुरि अटल॥१२६॥

अर्थ—श्रीसूरदास मदनमोहनजी संगीत-शास्त्रके उच्च कोटिके ज्ञाता, उत्कृष्ट कवि और गुणोंके भण्डार थे। आपका हृदय अत्यन्त सरस था और इसी लिये आप श्रीराधाकृष्णकी सखीके अवतार माने जाते थे। श्रीराधा-कृष्ण आपके इष्ट थे और आप निकुंज-लीलाके रहस्य-सुख को अनुभव करनेके अधिकारी थे। नव रसोंमें प्रधान शृङ्गार-रसको आपने अपने काव्यका विषय बनाया और उसीमें अनेक प्रकारसे भगवानकी लीलाओंका वर्णन किया। मुखसे बाहर निकलते ही आपकी कविता हजार पैरकी हो कर चारों दिशाओंमें फैल जाती थी। यह सब प्रभुकी कृपा द्वारा ही सम्भव है और इस बातका सूचक है कि भगवानने इन्हें सर्वतोभावेन अपना भक्त मान लिया था। तभी तो 'सूरदास' के साथ 'मदनमोहन' नाम इस प्रकार जुड़ गया जैसे भक्त और भगवान जुड़वाँ-भाई अश्विनीकुमारोंके समान अविच्छेद्य हों। श्रीसूरदास और मदनमोहनके नामकी यह शृङ्खला अन्त तक अटल रही।

भक्ति-रस-बोधिनी

सूरदास नाम नैन कंज अभिराम फूले, फले रंग पीके नीके जीके और न्यारे हैं।
भये सों अमीन यों संडीले के नवीन प्रीति रीति गुड़ देखि दाम बीस गुने लाये हैं॥
कहो पूजा पावें आप मदनगुपाल लाल परे प्रेम ख्याल लादि छकरा पठाये हैं।
आधी निसि भये स्याम कियो आज्ञा ओग लै कै अबही लगावो भोग जागे फिरि पाये हैं॥४९८॥

अर्थ—आपका नाम तो सूरदास था, पर वास्तवमें आप नेत्र-विहीन नहीं थे; प्रत्युत आपकी आँखें खिले हुए कमलके समान सुन्दर थीं। प्रभुके अनुरागको पीकर ये आँखें दिन-रात झूमती-सी रहती थीं। अपनी प्रगाढ़ भक्ति द्वारा आपने अपना ही जीवन सफल नहीं बनाया,

किन्तु अपना उदाहरण उपस्थित कर औरोंको भी जीना सिखलाया। दिल्लीपतिकी ओर से आप सँडीलेमें अमीनके पदपर नियुक्त थे। प्रभुमें आपकी प्रतिक्षण उत्तरोत्तर बढ़नेवाली प्रीति थी और उसकी अभिव्यक्ति का ढङ्ग भी नित्य-नूतन था। इसका प्रमाण यह है कि एक दिन आपने सँडीलेमें बहुत अच्छे प्रकारका गुड़ बिकता हुआ देखा। तुरन्त इच्छा हुई कि इसके मालपुवा बनवा कर प्रभुके भोग लगाने चाहिए। आज्ञा दी कि गुड़को वृन्दावन भेजा जाय। उसे वृन्दावन भेजनेका अर्थ यह था कि सँडीलेके बाजार-भावसे बीस गुने दाम अधिक पड़ते थे; परन्तु आपने यह कुछ नहीं सोचा। आपपर मदनगोपालके प्रेमका आवेश जो सवार था। उसके सामने गुड़ बेचारेका क्या मूल्य था? बस, छकड़ोंमें गुड़ भरवा दिया गया। गुड़के वृन्दावन पहुँचते-पहुँचते रात अधिक हो गई और प्रभुका शयन हो गया। परन्तु उसी समय श्यामसुन्दरने स्वप्नमें अधिकारियोंको आज्ञा दी कि मालपुवे उसी समय बनाकर भोग रक्खे जायँ। तैयार हो जानेपर प्रभुने सोते से जाग कर उनका भोग लगाया।

भक्ति-रस-बोधिनी

पद लै बनायौ, भक्ति रूप दरसायौ, दूर 'सन्तन की पनही कौ रक्षक कहाऊँ मैं।'
काहू सीखि लियौ साधु, लियौ चाहे परचै कों, आये द्वार मन्दिर के खोलि, कही आऊँ मैं॥
रह्यौ बैठि जाय, जूती हाथ में उठाय लीनी, कीनी पूरी आस मेरी, निसि दिन गाऊँ मैं।
भीतर बुलावें श्रीगुसाईं बार दोय-चार, सेवा सौंपी सार कह्यौ जन-पग ध्याऊँ मैं॥४६६॥

अर्थ—श्रीसूरदासजीने एक पद बनाया जिसका अन्तिम चरण था—

सूरदास मदनमोहन गुण गाऊँ, संतनकी पानहीं को रक्षक कहाऊँ।'

इस पदको किसी साधुने सुनकर कंठाग्र कर लिया और श्रीसूरदासजीकी परीक्षा लेना चाहा। वह मदनमोहनजीके दर्शनको गया। दरवाजेपर सूरदासजी खड़े थे। साधुने जूतियाँ उतार कर आपसे कहा—"देखते रहना, मैं दर्शन करके अभी आता हूँ।" यह कहकर साधु महाराज अन्दर जाकर आरामसे बैठ गये। इधर सूरदासजीने जूतियाँ हाथमें उठा लीं और मन ही मन कहने लगे—"अब तक तो मैं जूतियाँ उठानेकी बात दिन-रात गाया करता था, परन्तु आज मेरी अभिलाषा पूरी हुई।" मन्दिरके अन्दरसे गुसाईंजीने आपको दो-चार बार बुलाया, पर आपने कहलवा दिया कि 'आज मुझे एक सन्त महोदयने सेवाका भार सौंपा है और संतके चरणोंकी उसी सेवाको मैं कर रहा हूँ।'

ऊपर जिस पदका उल्लेख किया गया है वह इस प्रकार है—

मेरे गति तू ही अनेक तोष पाऊँ।
चरन कमल नख मनि पै विषय सुख बहाऊँ। घर घर जोरी लौं हरि तो तुम्हें लजाऊँ॥
तुम्हरो कहाय कहौ कौन को कहाऊँ। तुमसे प्रभु छाँड़ि काहि दीननको धाऊँ॥
सीस तुम्हें नाइ कै अब कौनको नवाऊँ। कंचन उर हार छाँड़ि काँचको बनाऊँ॥
सोभा सब हानि करौं जगत को हँसाऊँ। हाथी ते उतरि कहा गदहा चढ़ि धाऊँ॥

कुमकुम को लेप छाँड़ि काजर मुँह लाऊँ। कामधेनु घर में तजि अजा को दुहाऊँ॥
कनक महल छाँड़ि क्यों परन कुटी छाऊँ। पाँहिनि जो पै लो प्रभु तो अनत जाऊँ॥
सूरदास मदनमोहन लाल गुन गाऊँ। संतन की पानही को रच्छक कहाऊँ॥

भक्ति-रस-बोधिनी

पृथीपति संपति लै साधुनि खवाइ दई, भई नहीं संक यों निसंक रंग पागे हैं।
आये सो खजानो लैन मानी यह बात सही, पाथर लै भरे आप आधी निसि भागे हैं॥
रुक्का लिखि डारे 'दाम गटके ये संतनि नें, याते हम सटके हैं,' चले जब जागे हैं।
पहुँचे हुजूर, भूप खोलिकै संदूक देखें, पेखें आँक कागदमें रीझि अनुरागे हैं॥५००॥

अर्थ—श्रीसूरदास मदनमोहनजीने (वसूलयाबीसे प्राप्त हुई) बादशाहकी सब रकम साधु-सन्तोंको खिला-पिला दी। ऐसा करते समय आपको जरा भी झिझक या डर नहीं लगा। संत-सेवामें आपकी ऐसी प्रीति थी कि हिचकिचाना या डरना जानते ही न थे। जब नियमानुसार दिल्लीसे रुपया लेनेके लिये बादशाहके अधिकारी आये, तो आपने सन्दूकोंमें पत्थरके टुकड़े भरकर ताले डाल दिये और एक पद लिखकर भेज दिया जिसका आशय यह था कि 'वसूल-याबीकी रकम सन्त-लोग खा गये, इसलिए हम भागे जाते हैं।' पद लिखकर भेजनेके बाद आधी रातको उठकर आप भाग खड़े हुए।

सन्दूकें जब दिल्ली पहुँचीं और बादशाहके सामने खोली गईं तो देखा कि उनमें रुपयोंकी जगह पत्थर भरे पड़े हैं। बादमें जब लेख (पद) पढ़ा, तो बादशाह भी सूरदास मदनमोहनकी भाँति प्रेममें सराबोर हो गये।

तेरह लाख संडीले उपजे, सब सन्तनि मिलि गटके।
सूरदास मदनमोहन, वृन्दावन को सटके॥

भक्ति-रस-बोधिनी

लैनको पठाये, कही निपट रिझाय हमें, मनमें न ल्याये, लिखी "बन तन डारयौ है।"
टोडर दीवान कह्यौ "धनकों बिरान कियौ, ल्यावो रे पकरि", मूढ़ फेरिकै सँभारयौ है॥"
लै गये हुजूर, नृप बोल्यौ "मोसों दूर राखौ, ऐसो महाक्रूर सौंपि दुष्ट कष्ट भारयौ है।
दोहा लिखि दीनो अकबर देखि रीझि लीनो "जावो वाही ठौर, तोपै सर्ब सब वारयौ है॥"॥५०१॥

अर्थ—श्रीसूरदास मदनमोहनजीके भागकर वृन्दावन पहुँच जानेके बाद बादशाहने अपने आदमियोंको यह कहला कर आपके पास भेजा कि 'हम आपसे बहुत प्रसन्न हैं, अब आप लौट आइये।' आपको यह बात बिलकुल नहीं जँची—लिख भेजा कि 'हमने इस शरीरको वृन्दावनमें लाकर डाल दिया है, (अब वापिस मत बुलाइये)'। बादशाह तो मान गया, पर अकबरके मंत्री टोडरमलने आज्ञा दी—"इसने सरकारी रुपया बर्बाद किया है, अतः पकड़ लाओ।" उस निर्गुण और बुद्धि-हीन मंत्रीने बादशाहका भी रुख बिगाड़ दिया। इसीलिए जब सूरदास

मदनमोहनजीको पकड़कर बादशाहके सामने हाजिर किया गया, तो उसने कहा—"मेरे सामने से इसे दूर हटाओ।" टोडरमल इतना निर्दयी था कि उसने सूरदास मदनमोहनजीको दुष्ट 'दसतम' नामक जेलरको सौंप दिया। उसने आपको भयंकर यातनाएँ पहुँचाईं। इसपर आपने एक दोहा लिखकर बादशाहके पास भेजा। उसे पढ़कर अकबर बड़ा प्रसन्न हुआ और हुक्म दिया—'हमने तुमपर तेरह लाख रुपया न्यौछावर कर दिया। अब तुम वृन्दावन चले जाओ।'

श्रीसूरदास मदनमोहनने जो दोहा बादशाहके पास लिखकर भेजा था वह इस प्रकार है—

एक तम अँधियारी करै, सून्य दई पुनि ताहि।
'दसतम' ते रक्षा करौ, दिन मनि अकबर साह॥

अर्थात्—एक तम (अन्धकार) से ही सारे संसारमें अँधेरा होजाता है, आपने एक शून्य और रख दी। सूर्यके समान हे अकबर! मेरी इस 'दसतम' से रक्षा करिये।

वृन्दावनसे क्यों नहीं गये?—ऊपरके कवित्तमें यह कहा गया है कि बादशाहके बुलानेपर मदनमोहनजीने यह कहला भेजा कि 'हमने इस शरीरको अब तो वृन्दावनमें डाल दिया है।' इस प्रसंग को लेकर भक्तोंने एक बड़े सुन्दर उत्तरकी उद्भावना की है। वह यह कि मदनमोहनजीने साथ ही यह भी कहला भेजा कि 'यदि हम लौट आयेंगे, तो वृन्दावनमें रहनेवाले सन्तोंकी वैराग्य-भावनाके प्रति लोगोंकी श्रद्धा हट जायगी। सब यही कहेंगे कि यहाँके साधु चाहे जब विरक्तका बाना पहिन लेते हैं और चाहे जब उसे उतार फेंकते हैं।

दृष्टान्त—इसी बातको लेकर एक सुन्दर दृष्टान्त भी दिया जाता है जो कि इस प्रकार है—

एक चोर किसी सेठकी थैली लेकर भागा। सिपाहियोंने तत्काल उसका पीछा किया। चोर भागते-भागते युद्धके एक मैदानमें पहुँचा जहाँ कि युद्धमें मरे हुए सिपाहियोंकी लाशें पड़ी हुई थीं। वह उन्हींके बीचमें जाकर मुर्देकी तरह पड़ गया। सिपाही बड़े परेशान हुए। उनके आगे-आगे चोर भागता हुआ दिखाई पड़ रहा था, फिर कहाँ गायब हो गया? किसीने कहा, "इन मुर्दोंको देखना चाहिए। इनमें ही कहीं छिपा होगा।" उन्होंने सब लाशोंको उलट-पलट कर देखा पर कहीं पता न लगा। इसी बीचमें चोरने एक होशियारी और कर ली थी। उसने मुर्दोंके खूनसे अपने कपड़े रँग लिए थे ताकि पहिचाना न जा सके। सिपाही जब सब उपाय करके थक गए, तो उन्होंने एक युक्ति निकाली। एक तरफसे उन्होंने मुर्दोंको भालेकी नोंकोंसे छेद डाला। चोर इतनेपर भी न हिला-डुला और न चीखा-चिल्लाया ही। इससे अधिक सिपाही और क्या कर सकते थे? निराश होकर लौट गये और सेठको सारा हाल सुना दिया।

सेठ भी पूरा काइयाँ था। उसने सब दूकानदारोंसे कहलवा दिया कि यदि कोई घावकी दवा लेने आवे, तो तुरन्त सूचित करें। यह तरकीब सफल हो गई। चोरकी माँ दूसरे दिन जब एक पंसारी के यहाँ दवा लेने पहुँची, तभी उसकी खबर भेज दी गई और चोर पकड़ कर अदालतमें हाजिर कर दिया गया। अदालतने उससे पूछा—"भाले लगने पर तू बोला क्यों नहीं?" चोरने जवाब दिया—"यदि मैं चिल्ला पड़ता, तो सब मुर्दोंका नाम बदनाम हो जाता कि युद्धमें ये लोग मरे नहीं थे, बल्कि बहाना बनाकर लेट गए थे।"

भक्ति-रस-बोधिनी

आये वृंदावन, मन माधुरी में भीजि रह्यौ, कह्यौ कोई पद, सुन्यौ रूप रस रास है ।
जा दिन प्रगट भयौ, गयौ सत जोजन पै, जन पै सुनत भेद बाढ़ी जग प्यास है ?
सूर-द्विज द्विज निज महल टहल पाय चहल पहल हिये जुगल प्रकास है ।
मदनमोहन जू हैं इष्ट इष्ट महाप्रभु अचरज कहा कृपा-दृष्टि अनायास है ॥५०२॥

अर्थ—वृन्दावन पहुँचते ही सूरदास मदनमोहनजीका हृदय युगल-उपासनाके माधुर्य-रस में रम गया । ऐसी मानसिक स्थितिमें आपने जो काव्य बनाया वह रूप-रसकी राशि होकर निकला । जिस दिन पद रचा जाता, उसी दिन चार-सौ कोस तक उसकी ख्याति पहुँच जाती और उसकी आन्तरिक व्यंजनाको हृदयंगम कर संसारकी रस-पिपासा और भी बढ़ जाती ।

ब्राह्मण-कुलमें उत्पन्न सूरदास मदनमोहनजी, जिनका कि पहला नाम 'सूरध्वज' था, इस प्रकार अपने प्रभुकी सेवाके सच्चे अधिकारी बनकर बड़े सुख से रहे । यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है; क्योंकि ठाकुर मदनमोहनजी आपके उपास्य थे और महाप्रभुजी गुरु थे । ऐसी स्थितिमें भगवद्-कृपाका होना और युगल-छविसे हृदयका प्रकाशित होना स्वभाविक ही था ।

मूल (छप्पय)

(श्रीकात्यायनीजी)

मारग जात अकेल गान रसना जु उचारै ।
ताल मृदंगी वृक्ष रीझि अंबर तहँ डारै ॥
गोप नारि अनुसारि गिरा गद-गद आवेसी ।
जग प्रपंच ते दूरि अजा परसैं नहिं लेसी ॥
भगवान रीति अनुराग की संत साखि मेली सही ।
कात्यायनी के प्रेम की बात जात कापै कही ॥१२७॥

अर्थ—श्रीकात्यायनीजीकी भगवत्प्रेमके कारण यह दशा होगई थी कि आप रास्तेमें चलती हुई भी भगवानका गुणानुवाद करती रहती थीं । उस समय वायुसे हिलकर जब वृक्ष शब्द करते तो उन्हें लगता जैसे वे भी प्रभुके अनुरागमें मुग्ध होकर ताल दे रहे हैं । यह देखकर पेड़ोंपर वे ऐसी रीझ जातीं कि अपने वस्त्र उतार कर उन्हें उढ़ा देतीं । आपके प्रेमकी पद्धति गोपियों-जैसी थी । प्रभुका यश गाते समय आपका गला भर आता था । संसारके प्रपञ्चोंसे आप दूर रहती थीं; माया आपको स्पर्श भी नहीं कर पाती थी । आपके भगवत्-प्रेमकी रीतिकी सन्तोंने भूरि-भूरि प्रशंसा की । कात्यायनीजीके प्रेमका वर्णन भला कैसे किया जा सकता है !

श्रीकात्यायनी बाईके सम्बन्धमें भक्तदाम-गुण-चित्रनी, पत्र ३७२ में दी गई वार्ताका आशय पाठकों के लाभार्थ नीचे दिया जाता है—

भगवद्-भजन, सन्त-सेवा और प्रभु-गुण-गानमें सदा लगी रहनेवाली श्रीकात्यायनी बाईका जीवन व्रज-गोपियोंके समान श्रीकृष्णके चरणारविन्दमें समर्पित हो चुका था और वे घरसे भाग-भागकर बाहर जंगलोंमें चली जातीं। वहाँ आप समस्त लोक-लाजको तिलाञ्जलि देकर नन्दनन्दनके ध्यानमें नाचने लगतीं। इससे आपके परिवारके मनुष्य बहुत बिगड़ते; क्योंकि वे उस प्रकारकी भक्तिके रहस्यको बिल-कुल नहीं जानते थे। एक बार इसी प्रकार जब आप श्रीकृष्णके ध्यानमें उन्मत्त हो घरसे बाहर निकल कर नाचने लगीं, तो मनुष्योंने उन्हें पकड़ कर घरमें बन्द कर दिया। वहाँपर श्रीकात्यायनीको जब प्रेमका आवेश आया और वे दरवाजा खोलने लगीं तो साँकल अपने आप टूट गई और किवाड़ खुल गए। इसी प्रकार दूसरी बार जब आपको जलती हुई लोहेके शलाकाओंसे झुलसाने का प्रयत्न किया गया तो शलाकाएँ ठंडी पड़ गई। सत्य है, जिसने संसारके सब बन्धन तोड़ दिए, फिर उसे कोई बन्धन कैसे बाँध सकता है और विषय-वासनाओंकी अति तीव्र आग ही जिसे नहीं जला पाई उसे साधारण आग कैसे जला सकती है?

यह चमत्कार देखकर श्रीकात्यायनीके पिता समझ गए कि उनकी पुत्रीकी भक्ति-भावना बिलकुल सत्य है और उसे पूर्ण-रूपसे स्वच्छन्द कर दिया।

भगवानके गुण-गान और नाचमें मग्न हो जानेपर जब हवाके कारण उत्पन्न हुई वृक्षोंकी सन-सनीको आप सुनतीं तो समझतीं कि ये वृक्ष भी मेरे साथ श्रीकृष्णका गुण-गान कर रहे हैं, और अपने वस्त्रोंको उतारकर उनके ऊपर डाल देतीं। इस प्रकार प्रेम-दिवानी कात्यायनीको नग्न देखकर भगवान उसी क्षण दूसरा वस्त्र आकाशसे उसके ऊपर उढ़ा देते।

एक बार किसी कामीने जब आपको अङ्ग-सङ्ग करनेकी इच्छासे देखा तो उसे लगा जैसे आप आगकी जलती हुई लपट हों। यह देख उसकी विषैली-भावना नष्ट हो गई।

मूल (छप्पय)

(श्रीमुरारिदासजी)

विदित 'बिलौंदा' गाँव देस मुरधर सब जानै।
महा महोच्छौ मध्य संत पारषद परवानै॥
पगनि घूँघुरू बाँधि रास कौ चरित दिखायौ।
देसी सारँगपानि हंस ता संग पठायौ॥
उपमा और न जगत में पृथा बिना नाहिंन बियौ।
कृष्ण बिरह कुन्ती सरीर त्यौं मुरारि तन त्यागियौ॥१२८॥

अर्थ—श्रीमुरारिदासजी मारवाड़ प्रदेशके विख्यात 'बिलौंदा' नामक गाँवके रहनेवाले

थे। आप प्रतिवर्ष बड़ा भारी महोत्सव किया करते थे। एक बार ऐसे ही महोत्सवके प्रसंगमें आपने घुँघरू बाँधकर नाचते हुए श्रीरामचन्द्रजीके चरित्रका ऐसा गान किया कि दर्शकोंकी आँखोंके सामने सब घटनाएँ प्रत्यक्ष-सी हो उठीं। अन्तमें आपने देशीय पद्धतिसे गाते हुए चतु-र्भोगी श्रीरामचन्द्रजीके वन-गमनका दृश्य जो उपस्थित किया, तो प्रभुके साथ आपने जीवात्मा को भी भेज दिया—अर्थात् उसी प्रसंगमें तन्मय होकर प्राण त्याग दिये। आपकी उपमा केवल कुन्तीजीसे दी जा सकती है जो श्रीकृष्णके वियोगको न सह सकनेके कारण इस भौतिक शरीरको छोड़ कर चल बसीं।

भक्ति-रस-बोधिनी

श्री मुरारिदास रहैं राजगुरु, भक्तदास, आवत स्नान किये कान धुनि कीजियै।
जाति कौ चमार करै सेवा सो उचारि कहै "प्रभु चरणामृत कौ पात्र ल्योई लीजियै"॥
गये घर भक्ति बाके, देखि डर काँपि उठ्यौ, "ल्यावो, देवो हमैं, सही पान करि जीजियै"।
कही "मैं तौ न्यून तुच्छ," बोले "हम हूं ते स्वच्छ, जानै कोऊ नाहिं तुम्हें, मेरी मति भीजियै"॥५०३॥

अर्थ—श्रीमुरारिदासजी राज-गुरु और भगवानके भक्तोंके दास थे। एक दिन आप स्नान कर लौट रहे थे कि एक ध्वनि आपको सुनाई पड़ी। एक चमार भगवत्-सेवा करके नित्यकी भाँति पुकार रहा था—"जो प्रभुके चरणामृतका पात्र हो वह आकर ले जाय।" कानमें शब्द पड़ते ही आप तुरन्त उसके घर पहुँचे। चमार भयसे थर-थर काँप उठा। आप बोले—"लाओ, मुझे दो। इसे मैं पान कर अपनेको धन्य करूँ।" चमार बोला—"मेरी तो जाति बड़ी हीन है, मैं अत्यन्त तुच्छ हूँ—आपको चरणामृत देने का अधिकारी नहीं।" आप बोले—"भगवद्-भक्त होनेके कारण तुम तो हमसे कहीं अधिक पवित्र हो। लोग तुम्हारी श्रेष्ठताको पहिचानते नहीं। पर मेरा मन तो तुम्हारा प्रेम देखकर सरस हो गया है।"

भक्ति-रस-बोधिनी

बहै दृग नीर, कहै मेरे बड़ी पीर भई, तुम मति धीर, नहीं मेरी जोग्यताई है।
लियोई निपट हठ, बड़े पटु साधुता में स्याम प्यारी भक्ति, जाति-पाँति लै बहाई है॥
फैलि गई गाँव, वाकी नाँव लै चवाव करैं, भरैं नृप कान, सुनि वाहू न सुहाई है।
आयौ प्रभु देखिबे कौं गयौ वह रंग ढरि, जान्यौ सो प्रसंग, सुन्यौ वही बात छाई है॥५०४॥

अर्थ—चमारकी आँखोंसे आँसू बह निकले। बोला—"चरणामृत देनेकी जो पुकार मैंने लगाई थी उसके लिए अब बहुत पछता रहा हूँ। कहाँ धीर-गम्भीर बुद्धिवाले आप और कहाँ अपदार्थ मैं! मुझ में इतनी योग्यता कहाँ कि आपको चरणामृत दूँ।" किन्तु मुरारिदासजी कब माननेवाले थे? साधुताकी कलामें आप बड़े प्रवीण थे। हठ करके ले ही तो लिया। आपने सोचा; जब प्रभुको भक्ति ही प्यारी है, तो जाति-पाँतिको कौन पूछता है?

इस घटनाको नगरमें फैलते देर नहीं लगी और भक्त-द्वेषी लोग चमारका नाम ले-लेकर

आपकी निन्दा करने लगे। राजाने जब यह सुना, तो उसे भी अच्छा नहीं लगा। वह एक दिन मुरारिदासजीसे मिलने आया। देखते ही आपने भाँप लिया कि राजाकी पहली श्रद्धा-भक्ति दबा हो गई है। कारण भी आपकी समझमें आ गया। बादमें चरणामृत लेनेकी बात जगह-जगह सुनाई पड़ी, तो उन्हें विश्वास हो गया कि सबके हृदयमें यही एक बात समा गई है।

भक्ति-रस-बोधिनी

गये सब त्यागि, प्रभु सेवा ही सों राग जिन्हें, नृप दुख पागि, गयौ सुनी यह बात है।
होत हो समाज सदा भूप के बरष माँझ, बरस न काहू होत, मान्यौ उतपात है॥
चलेई लिवाइबे कों जहाँ श्री मुरारिदास, करी साष्टांग राखि नैन अश्रुपात है।
मुख हू न देखे याकौ बिमुख कै लेखें रहो, देखें लोग कहे यह गुरु शिष्य ख्याल है॥५०५॥

अर्थ—नगरमें अपवाद फैल जानेपर श्रीमुरारिदासजी सब कुछ वहीं छोड़कर चले गए। प्रभुकी सेवाको छोड़कर और किसी वस्तुमें तो आपकी आसक्ति थी ही नहीं। राजाने जब यह समाचार सुना तो उसे बड़ा कष्ट हुआ। उसके यहाँ वर्ष-भरमें एक बार सन्तोंका समाज आकर इकट्ठा होता था और बड़ी धूम-धामसे उत्सव मनाया जाता था। आपके चले जानेके बाद कोई सन्त वहाँ फटकता भी न था। राजाने सोचा, यह तो महान् अनर्थकी बात है। निदान श्री-मुरारिदासजीको बुलानेके लिए वह उस स्थानपर गया जहाँ कि वे निवास करते थे और कई बार साष्टांग प्रणाम कर और आँखोंमें आँसू भरकर खड़ा हो गया। आपने उसे सन्त-विमुख जानकर उसका मुँह देखना भी पसन्द नहीं किया। लोगोंने जब यह दृश्य देखा तो कहने लगे कि गुरु और शिष्य इसी प्रकारके होने चाहिए।

भक्ति-रस-बोधिनी

ठाढ़ो हाथ जोरि, मति दीनता में बोरि,"कीजै दंड मोपै कोरि, यों निहोरि मुख भाखियै।
घटती न मेरी, आप कृपा ही की घटती है, बढ़ती सो करौ तातें रघुनाई राखियै॥
सुनि कै प्रसन्न भये, कहे लै प्रसंग नये, बाल्मीकि आदि दै-दै नाना विधि साखियै।
आये निज गाँव नाम, सुनि सब साधु आये, भयोई समाज जैसो देखि अभिलाखियै॥५०६॥

अर्थ—राजाने हाथ जोड़कर अत्यन्त दीनताकी भावनासे कहा—"आप मुझे चाहे जितना दंड दे दीजिये, पर एक बार मेरी ओर देखकर श्रीमुखसे कुछ कहिए अवश्य। मेरे हृदय आपके प्रति जो दूषित भाव आ गए उसमें मेरी त्रुटि नहीं है; सच पूछा जाय तो कमी आपकी ओर से ही रही। आपने कृपा कम कर दी तो मेरी बुद्धि मलिन हो गई। अब आपने उसमें वृद्धि की है, तो फिर आपके चरणोंमें आकर उपस्थित हो गया हूँ।"

राजाकी बातें सुनकर मुरारिदासजी बड़े प्रसन्न हुए! आपने श्वपच-वाल्मीकि ऋषि तथा शबरी आदिके दृष्टान्त देकर राजाको अनेक प्रकारसे समझाया। उसके बाद राजाके आग्रह करने पर आप अपने गाँवको लौट आए। आपका नाम सुनते ही साधु-सन्त आपसे मिलनेके लिये

दौड़े आये। पहले की भाँति राजाके यहाँ फिर समाजका आयोजन हुआ। राजाकी अभिलाषा पूर्ण हुई।

भक्ति-रस-बोधिनी

आये बहु गुनीजन नृत्य गान छाई धुनि, ऐपं संत सभा मन स्वामी गुण देखिये।
जानि कै प्रवीन उठे, नूपुर नवीन बाँधि, सप्तसुर तीन ग्राम लीन भये पेखिये॥
गायौ रघुनाथ जू कौ बन कौ गमन समैं तासँग गमन प्रान चित्र सम लेखिये।
भयौ दुख रासि 'कहाँ पैये श्री मुरारिदास, गये राम पास, एतौ हिये अवरेखिये॥५०७॥

अर्थ—राजाके यहाँ आयोजित महोत्सवमें बहुतेरे गुणी लोग पधारे। नाच, गान और श्रीराम-नामकी मंगल-ध्वनि चारों ओर छा गई, परन्तु इतनेपर भी सन्तोंको तृप्ति नहीं हुई। उनके मनमें हुआ कि स्वामीजीकी नृत्य-कला यदि देखनेको मिले तो क्या ही बात है।

मुरारिदासजी सन्तोंके मनकी बात भाँप गये। नृत्य-कलामें पारंगत तो थे ही। पैरोंमें नए घुँघरू बाँध उठ खड़े हुए नाचने को। फिर तो सातों स्वर और तीनों ग्राम (मूर्छनाओं) में आप डूब-से गए। आपने रघुनाथजीके वन जानेका प्रसंग गाया और इस प्रकार गाया कि राम-रूपमें तदाकार होकर आपके प्राण भी प्रभुके साथ हो लिये। शरीर-मात्र चित्रके समान निश्चेष्ट पड़ा रह गया।

यह देखकर लोगोंको बड़ा कष्ट हुआ। सब कहने लगे—"हाय! श्रीमुरारिदासजी अब कैसे देखनेको मिलेंगे? किन्तु आप तो श्रीरामजीके पास पहुँच चुके थे। पाठकों को अपने हृदयमें इसी बातको स्थान देना चाहिए कि सच्चा प्रेम इसी प्रकार का होता है।

मूल (छप्पय)

(गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी)

त्रेता काव्य निबन्ध करिब सत कोटि रमायन।
इक अच्छर उद्धरें ब्रह्महत्यादि करी जिन होत परायन॥
अब भक्तनि सुख दैन बहुरि बपु धरि लीला बिसतारी।
रामचरन रसमत्त रटत अहनिसि ब्रत धारी॥
संसार असार के पार को सुगम रूप नौका लयौ।
कलि कुटिल जीव निस्तार हित बाल्मीक तुलसी भयौ॥१२९॥

अर्थ—त्रेता-युगमें महर्षि श्रीवाल्मीकिने श्रीरामायण नामक प्रबन्ध-काव्य लिखा, जिसकी श्लोक-संख्या एक अरब कही जाती है। इस रामायणका एक-एक अक्षर उच्चारण-मात्रसे

लोगोंको ब्रह्म-हत्या, गो-हत्या आदि जघन्य पापोंसे छुटकारा दिलाता है। उसके उपरान्त इस कलियुगमें उन्हीं वाल्मीकि ऋषिने श्रीतुलसीदासजीके रूपमें अवतार लेकर भक्तोंको सुख देनेके लिए 'श्रीरामचरित-मानस' का प्रणयन किया जिसमें श्रीरामचन्द्रजीके जीवनसे सम्बन्धित अनेक चरित्रोंका विस्तार-पूर्वक वर्णन किया गया है। श्रीतुलसीदासजी (अनन्य-व्रती भ्रमरकी भाँति) प्रभु श्रीरामचन्द्रजीके चरण-कमलोंके प्रेम-परागको पीकर मस्त रहते थे। आप दिन-रात राम-नामका उच्चारण करते रहते थे और श्रीरामकी ही एकान्त-भावसे उपासना करते थे। इस अपार भव-सागरको पार करनेके लिये आपने श्रीराम-नाम तथा उनकी लीला-कथा को सुगम नौका बनाया। इस प्रकार स्वयं श्रीवाल्मीकि ऋषि ही कठिन कलि-कालमें प्राणियों के उद्धार करनेके लिए श्रीतुलसीदासजीके रूपमें प्रकट हुए।

प्रमाण—गोस्वामीजीके महर्षि वाल्मीकिका अवतार होनेके सम्बन्धमें निम्नलिखित प्रमाण दिए जाते हैं—

वाल्मीकिस्तुलसीदासः कलौ देवि भविष्यति।
रामचन्द्रकथां साध्वीं भाषारूपां करिष्यति॥ (भविष्य-पुराण)

—हे देवि ! कलियुगमें श्रीवाल्मीकिजी श्रीतुलसीदास होंगे और वे रामायणकी पवित्र कथाको भाषा में कहेंगे।

श्रीनाभा स्वामीके छप्पयसे बहुत कुछ मिलता-जुलता हुआ संस्कृतका एक श्लोक देखिये—

जीवान्मन्दमतीन् सुभाग्यरहितान् ज्ञात्वा कलेर्दोषत-
स्तत्कल्याणः परायणः परकविः श्रीमन्महर्षिः स्वयम्।
वाल्मीकिः कृपया सुहृत्सु तुलसीदासेति नाम्ना कला-
वाविर्भूय चकार रामचरितं भाषाप्रबन्धेन वै॥

भक्ति-रस-बोधिनी

तिया सों सनेह बिन पूछे पिता गेह गई, भूली सुधि देह, भजे वाही ठौर आये हैं।
बधू अति लाज भई, रिसि सो निकसि गई, प्रीति राम नई तन हाड़ चाम छाये हैं॥
सुनी जब बात, मानों होइ गयो प्रात, वह पाछे पछितात, तजि काशीपुरी आये हैं।
कियो तहाँ बास, प्रभु सेवा लै प्रकास कीनो, लीनो दृढ़ भाव, नैन रूप के तिसाए हैं॥४०८॥

अर्थ—प्रारंभिक जीवनमें श्रीतुलसीदासजी अपनी पत्नीसे बड़ा प्रेम करते थे। एक बार वह आपकी स्वीकृति लिये बिना नैहरको चली गई। उस समय आप घरपर उपस्थित नहीं थे। बादमें आकर देखा, तो विरहमें ऐसे पागल होगये कि शरीरकी सुध-बुधि भी नहीं रही। तुरंत दौड़कर आप उसके पिताके घर पहुँचे। पत्नीने यह देखा, तो शर्मसे गड़ गई।

पतिके इस अनुचित कृत्यपर पत्नीको क्रोध होगया और उसी आवेशमें मुँहसे निकल पड़ा—"मेरा यह शरीर तो हाड़-मांसका बना हुआ है। इससे इतना प्रेम ! प्रेम करिए श्री रघुनाथजीसे जो नित्य-नवीन ही बना रहता है।"

पत्नीके मुखसे यह बात सुनते ही श्रीतुलसीदासकी मोह-निशा समाप्त होगई और ज्ञान-वैराग्यरूपी प्रातःकालका उदय हुआ। चल दिये आप वहाँसे—पत्नी पछताती ही रह गई—और पहुँचे सीधे काशी। वहाँ रहते हुए श्रीरामचन्द्रजीकी सेवाका व्रत अंगीकार किया और भजन-भावनाके प्रति दृढ़ता पैदा की। इन दिनों आपके नेत्र श्रीरामचन्द्रजीके दर्शनके लिए तृषार्तकी तरह छटपटाते रहते थे।

श्रीतुलसीदासजीकी पत्नीने जिन शब्दोंमें उनकी भर्त्सना की थी उनका छन्दोबद्धरूप इस प्रकार है—

लाज न आवत आपको, दौरे आयहु साथ।
धिक-धिक ऐसी प्रीति कौं, कहा कहौं मैं नाथ॥
अस्थि चरममय देह यह, तामें इतनी प्रीति।
तैसी जो श्रीराम महं, होति न तौ भवभीति॥

भक्ति-रस-बोधिनी

सौच जल सेस पाय, भूत हू विशेष कोऊ बोल्यो सुख मानि, हनूमान जू बताये हैं।
रामायन कथा सो रसायन है काननि कौ, आवत प्रथम पाछे जात, घृना छाये हैं॥
जाय पहिचानि संग चले उर आनि, आये बन मांझ, जानि, धाय पायँ लपटाये हैं।
करैं तीतकार, कही "सकोगे न टारि, मैं तो जाने रससार", रूप धरयौ जैसे गाये हैं॥५०६॥

अर्थ—(काशीमें रहते हुए श्रीतुलसीदासजी शौचके लिए 'असी' नदीके पार जाया करते थे। लौटते समय शौच-क्रियासे बचे हुए जलको आप एक बेरके पेड़की जड़में डाल देते थे। (इस पानीको प्रेत पी जाता था)।

एक दिन उस पानीको पीकर प्रेत (विशिष्ट भूत) सुख मानते हुए गोस्वामीजीसे बोला—"कुछ माँगिए।" इसपर गोस्वामीजीने श्रीरामचन्द्रजीके दर्शनका वर माँगा। प्रेतने हनुमानजी का पता बता दिया और कहा—"अमुक स्थानपर कानोंके लिए रसायनका काम करने वाली राम-कथा रोज होती है। उसमें हनुमानजी अत्यन्त दीन-मलिन ब्राह्मणका रूप धारण किए हुए आते हैं। वे सबसे पहले आते हैं और सबसे बादमें जाते हैं। आपको वहीं श्रीरामचन्द्रजी के दर्शन करा सकते हैं।"

श्रीतुलसीदासजी उस स्थानपर पहुँचे और हनुमानजीको पहिचान कर बैठ गए। जब हनुमानजी उठे, तो दृढ़ संकल्प कर आप भी उनके पीछे हो लिये। जब बस्ती दूर छूट गई और जंगल आगया, तब आपने दौड़कर उनके चरण पकड़ लिये और उनसे लिपट गये। श्री हनुमानजीने डाँट-फटकारकर उन्हें लौटाना चाहा, पर बोले—"मैं सहज ही में आपको नहीं छोड़नेका। मैंने समझ लिया है कि आप राम-भक्तिके मूर्तिमान् रस-स्वरूप हैं। यह सुनकर हनुमानजी बड़े प्रसन्न हुए और उस रूपसे आपके सामने प्रकट होगए जिसका कि वर्णन रामायणमें किया गया है।

भक्ति-रस-बोधिनी

"माँगि लीजै वर", कही "दीजै राम भूप रूप, अति ही अनूप, नित नैन अभिलाखियै।"
कियौ लै संकेत, वाही दिन ही सों लाग्यौ हेत, आई सोई समै चेत "कब छबि चाखियै॥"
आए रघुनाथ, साथ लछिमन, चढ़े घोरे, पट रंग बोरे हरे, कैसे मन राखियै।
पाछे हनुमान आय बोले 'देखे प्रानप्यारे', 'नैकु न निहारे मैं तो भले, फेरि भाखियौ" ॥५१०॥

अर्थ—श्रीहनुमानजीने श्रीतुलसीदासजीसे जब वर माँगनेको कहा, तो आप बोले—"राजा श्रीरामचन्द्रजीके उस अनुपम रूपके मुझे दर्शन कराइए जिसके लिए मेरी आँखें नित्य लालायित रहती हैं।" श्रीहनुमानजीने इसपर चित्रकूटका संकेत किया। गोस्वामीजी वहाँ पहुँच कर सोचने लगे—"वह शुभ समय कब आवेगा जब मैं प्रभुकी शोभाको देखूँगा?" इतने ही में श्रीरघुनाथजी, लक्ष्मणजीके साथ, घोड़ेपर चढ़े हुए और शिकार करनेके समयके हरे वस्त्र धारण किए हुए आये और सामनेसे निकल गये। गोस्वामीजीने देखा, पर यह निश्चय न कर सके कि वे श्रीराम-लक्ष्मण ही थे।

बादमें श्रीहनुमानजीने आकर पूछा—"आपने प्राण-प्यारे प्रभुके दर्शन किये?" श्रीतुलसीदासजीने जवाब दिया—"मैं अच्छी तरह नहीं देख पाया; एक बार फिर दर्शन करानेकी कृपा करिए।"

कहते हैं, श्री हनुमानजीने गोस्वामीजीकी इस प्रार्थनापर उन्हें गंगाजीके तीरपर सिंहासनपर सीता-सहित विराजमान प्रभुके दर्शन कराये। गोस्वामीजी कृतकृत्य हो उसी मूर्तिको हृदयमें रखकर काशी चले गए।

भक्ति-रस-बोधिनी

हत्या करि विप्र एक तीरथ करत आयौ, कहै मुख "राम, भिक्षा डारियै हत्यारे कौं।"
सुनि अभिराम नाम धाममें बुलाय लियौ, दियौ लै प्रसाद, कियौ शुद्ध गायो प्यारे कौं॥
भई द्विज सभा, कहि बोलिके पठाये आप, 'कैसे गयौ पाप, संग लैके जैये न्यारे कौं।"
"पोथी तुम बाँचौ, हिये सार नहीं साँचौ, अजू ताते मत काँचौ, दूर करै न अँध्यारे कौ" ॥५११॥

अर्थ—एक समय कोई ब्राह्मण हत्या करनेके बाद प्रायश्चित्त के रूपमें अनेक तीर्थोंमें भ्रमण करता हुआ काशी पहुँचा। जैसा कि हत्यारेके लिये शास्त्रोंका नियम है, वह पुकार कर कहता था—"राम! राम! हत्यारेको भिक्षा दीजिये।" श्रीतुलसीदासजीने उसके मुँहसे सुन्दर राम-नाम जो सुना, तो घरके अन्दर बुला लिया और अपने साथ बिठाकर उसे प्रसाद पवाया। उस हत्यारेको इस प्रकार आपने शुद्ध कर दिया। वह प्रभुका नाम जो उच्चारण करता था! फिर तुलसीदासजीको भला कैसे न प्रिय लगता?

काशीके पण्डितोंने जब यह सुना तो एक सभाका आयोजन किया। उसमें गोस्वामीजीको खास तौरपर बुलाया गया। पण्डितोंने आपसे प्रश्न किया—"बिना प्रायश्चित्तके पूर्ण हुए

हत्यारेकी पापसे मुक्ति किस प्रकार हुई ? यदि नहीं, तो फिर आपने जातिसे बहिष्कृत उसे अपने साथ बिठाकर कैसे भोजन कराया ?"

गोस्वामीजीने उत्तर दिया—"आप लोगोंने शास्त्रोंको पढ़-मात्र लिया है, हृदयमें अनुशीलन कर उनका मर्म जाननेकी चेष्टा नहीं की। इसी लिए आपका मन अभी कच्चा है—उसमें वास्तविक दृढ़ता नहीं—और इसी लिए आपका अज्ञान-रूप अन्धकार अभी दूर नहीं हुआ है।"

रामनाम-की महिमा—सनत्कुमार-संहिता आदि आर्ष-शास्त्रोंमें बतलाया गया है कि किस प्रकार राम-नामका जाप करनेसे ब्रह्म-हत्या, माता-पिताकी हत्या आदि भयंकर पापोंसे मनुष्यकी मुक्ति हो जाती है। इन प्रमाणोंमें-से केवल एक यहाँ दिया जाता है—

य एतत्तारकं ब्राह्मणो नित्यमधीते स सर्वं पाप्मानं तरति, स मृत्युं तरति, स ब्रह्महत्यां तरति, स भ्रूणहत्यां तरति, स वीरहत्यां तरति, स सर्वहत्यां तरति, स संसारं तरति, स सर्वं तरति, सोऽविमुक्तमाश्रितो भवति, स महान् भवति, सोऽमृतत्वं च गच्छति। (रामतापनीयोपनिषद्)

जो ब्राह्मण उद्धार करनेवाले राम-नामका नित्य पाठ करता है, वह सब पापोंसे, मृत्युसे, ब्रह्म-हत्या, भ्रूण-हत्या, वीर-हत्यासे तथा अन्य सब प्रकारकी हत्याओंसे छुटकारा पा जाता है। वह सबको पार कर मुक्त-जनोंका आश्रय लेता है, वह महान् हो जाता है तथा अमर-पदका अधिकारी बन जाता है।

भक्ति-रस-बोधिनी

देखी पोथी बाँच, नाम महिमा हू कही साँच, "ऐपै हत्या करै कैसें तरै कहि दीजियै ?"
"आवै जो प्रतीति कहौ," कही, "याके हाथ जेंवै शिवजू कौ बैल तब पंगति मैं लीजियै॥"
थारमें प्रसाद दियौ, चले जहाँ पन कियौ, बोले, "आप नाम कै प्रताप मति भीजियै।
जैसी तुम जानो तैसी कैसे कै बखानो अहो,"सुनि कै प्रसन्न पायौ 'जै जै' धुनि रीझियै॥५१२॥

अर्थ—श्रीतुलसीदासजीके कहनेपर काशीके पण्डितोंने शास्त्रोंको उलटा, पलटा और उनमें जब राम-नामकी महिमाका वर्णन देखा तो मान गए, परन्तु कहने लगे—"यह सब कुछ ठीक है, पर इसका क्या प्रमाण है कि यह व्यक्ति हत्यासे मुक्त होकर शुद्ध हो गया ?" गोस्वामीजीने कहा—"जैसे आप लोग चाहें, वैसे अपना मन भर लीजिए।" पण्डितोंने (आपसमें परामर्श करनेके बाद) कहा—"यदि शिवजीके बैल (नन्दी) इसके हाथसे खा लें, तो हम लोग इसे अपनी पंक्तिमें बिठा लेंगे।" तुलसीदासजी राजी हो गए।

आपने एक थालमें प्रसाद सजाया और नन्दीजीके पास पहुँच कर बोले—"भगवन्! राम-नामके द्वारा अपनी बुद्धिको सरस बनाकर आप इस व्यक्तिके हाथसे प्रसाद-ग्रहण करिए। राम-नामकी महिमा जितनी आप जानते हैं उतनी मैं कहाँ ?"

यह सुनकर नन्दीजी बड़े प्रसन्न हुए और उसके हाथसे प्रसाद खा लिया। इसपर सब पण्डितोंको विश्वास हो गया कि वास्तवमें राम-नाममें ऐसी ही शक्ति है। उन्होंने श्रीरामचन्द्रजी का जय-जयकार किया और तुलसीदासजीके विश्वास की भूरि-भूरि प्रशंसा की।

भक्ति-रस-बोधिनी

आए निसि चोर, चोरी करन, हरन धन, देखे श्यामघन हाथ चाप सर लिये हैं।
जब जब आवैं बान सांधि डरपावैं, एतो अति मँडरावैं, ऐपै बली दूरि किये हैं ॥
भोर आय पूछैं, "अजू साँवरो किशोर कौन ?" सुनि करि मौन रहे, आँसू डारि दिये हैं।
दई सबै लुटाय, जानी चौकी रामराय दई, लई उन्हीं दिक्षा-सिक्षा, सुद्ध भये हिये हैं ॥५१३॥

अर्थ—एक रात कुछ चोर गोस्वामीजीके घरमें चोरी करनेके लिए घुसे, तो देखते क्या हैं कि बादलोंके समान नील वर्णका कोई व्यक्ति हाथमें धनुष-बाण लिये खड़ा है। घरके चारों ओर चोरोंने चक्कर काटे कि कहीं घुसनेको जगह मिले, पर जिधर भी गए सर्वत्र उसी धनुष-बाण लिए हुए व्यक्तिको पाया। इस भाँति चोर मँडराते रहे, पर पराक्रमी रघुनाथजीने उन्हें पास नहीं फटकने दिया।

प्रातःकाल होते ही चोर गोस्वामीजीके पास पहुँचे और लगे पूछने—"ये साँवले रंगके किशोर अवस्थावाले आपके यहाँ कौन हैं ?" सुनकर गोस्वामीजी चुप बैठे रहे, परन्तु प्रभुकी कृपाका ख्याल आते ही आपकी आँखोंसे टप-टप आँसू टपकने लगे। यह सोचकर आपके हृदयको बड़ा कष्ट हुआ कि उनके तुच्छ सामानकी रक्षा करनेके लिए प्रभुको इतना कष्ट सहना पड़ता है। आपने उसी क्षण घरका सारा-सामान गरीबोंको लुटा दिया। भगवान श्रीरामचन्द्रजीके अनुपम रूपकी झाँकी पाकर और तुलसीदासजीकी अनन्य-भक्ति देखकर चोरोंके हृदय निर्मल हो गए। उन्होंने गोस्वामीजीसे राम-नामकी दीक्षा लेकर एक नया जीवन प्रारम्भ किया।

शंका-समाधान—यहाँ यह शंका की जाती है कि श्रीरामचन्द्रजीने भक्त-विमुख चोरोंको मार क्यों नहीं डाला ? बाण तान कर ही क्यों रह गए ?

उत्तर यह दिया जाता है कि भिन्न-भिन्न परिस्थितियोंमें जैसी आवश्यकता होती है, वैसे ही भगवानजीवोंका उद्धार करते हैं—कभी स्वयं, कभी भक्त द्वारा; कहीं कृपा-कटाक्ष मात्रसे, तो कभी युद्ध-स्थलमें उतरकर। रावण-जैसे तामसी व्यक्तियोंका उद्धार आप शस्त्र द्वारा करते हैं और छोटे-मोटे आततायियोंको केवल डरा-धमका कर। युद्ध-स्थलमें उतरनेसे पूर्व भगवानको एक बातका ध्यान और भी रहता है। वह यह कि दया या कृपा द्वारा तो एक ही व्यक्तिका उद्धार किया जा सकता है, पर युद्ध-भूमिमें हजारों हरि-विमुखोंका। हर जगह और हर समय युद्धकी भेरी बजा देना भी तो ठीक नहीं। कभी भक्त-सन्तोंको भी अवसर देना चाहिए कि वे अपनी भक्ति-महिमाके बलपर जीवोंका उद्धार करें। प्रस्तुत प्रसंगमें चोरोंको प्रभु इसलिए भी नहीं मार सकते थे कि उनके भक्तके घरकी पवित्र रजका स्पर्श करते ही उनके पाप तो पहले ही धुल चुके थे, फिर हो गए उन्हें प्रभुके दर्शन ! बस, भगवानके हाथ रुक गए। अब तो केवल दूरसे डराना ही बाकी रह गया था। इस प्रकार हम देखते हैं कि भगवद्-दर्शनसे चोरोंके निर्मल हो जानेके बाद उनकी विमुखताको तुलसीदास-जैसे महात्मा ही दूर कर सकते थे। यह कार्य बादमें उन्होंने किया।

भक्ति-रस-बोधिनी

कियौ तन विप्र त्याग, लिया चली संग लागि, दूर ही तें देखि कियौ चरण प्रणाम है ।
बोले यों "सुहागवती", "मरचौ पति होऊँ सती", "अब तौ निकसि गई, ज्याऊँ सेवौ राम है ।।"
बोलिकै कुटंब कही, "जो पै भक्ति करौ सही", गही तब बात, जीव दियो अभिराम है ।
भये सब साधु, व्याधि मेटी लै विमुखताकी जाकी बास रहै तौ न सूझै स्याम धाम है ।।५१४।।

अर्थ—काशीजीमें एक ब्राह्मणका शरीरान्त होगया । शोकाकुल उसकी पत्नी अपने पतिके साथ सती होने जा रही थी कि मार्गमें गोस्वामीजीके दर्शन हो गए । उन्हें देखते ही दूर ही से उसने उनके चरणोंमें प्रणाम किया । गोस्वामीजीने आशीर्वाद दिया—"सौभाग्य-वती हो ।" स्त्री बोली—"स्वामीजी ! मेरे पतिका तो शरीर छूट गया है और मैं सती होनेके लिए चली हूँ, यह आशीर्वाद कैसा ?" गोस्वामीजी बोले—"अब जो मुँहसे बात निकल गई । अब यदि घरके सब लोग श्रीरघुनाथजीके चरणोंमें भक्ति करें, तो यह जीवित हो सकता है ।"

स्त्रीने सब कुटुम्बियोंको बुलाकर कहा, "यदि आप लोग श्रीरघुनाथजीकी भक्तिका व्रत लें, तो यह जी उठेगा । सब लोगोंने इस बातको मान लिया और राम-नामका जप करने लगे । इसका प्रभाव यह हुआ कि मृत व्यक्ति जी उठा । अब तो परिवारके सब लोग साधु होगए । गोस्वामीजीने उपदेश द्वारा सबको हरि-विमुखताके रोगसे मुक्त कर दिया । यह विमुखता ऐसी बलवती है कि इसकी गन्ध-मात्रसे भी श्यामसुन्दरका धाम दिखाई नहीं देता ।

भक्ति-रस-बोधिनी

दिल्लीपति पातसाह अहदी पठाये लैन ताकों, सो सुनायौ सूबै विप्र ज्यायौ जानियै ।
देखिबेकों चाहै नीकै सुखसों निबाहैं, आय कही बहु बिनै गही चले मन आनियै ।।
पहुँचे नृपति पास, आदर प्रकास कियौ, दियौ उच्च आसन लै, बोल्यौ मृदु बानियै ।
"दीजै करामात जग ख्यात सब मात किये," कही, "झूठ बात एक राम पहिचानियै" ।।५१५।।

अर्थ—दिल्लीके बादशाहने अपने दूतोंको गोस्वामी तुलसीदासजीको लिवाकर ले आनेके लिए काशी भेजा । दूतोंने उस प्रान्तके सूबेदारके पास जाकर कहा कि 'बादशाह, यह सुनकर कि गोस्वामजीने एक मरे हुए ब्राह्मणको जीवित कर दिया है, उनके दर्शन करना चाहते हैं । उन्हें बड़े आरामके साथ ले जाया जायगा ।' सूबेदारने अत्यन्त विनय-पूर्वक गोस्वामीजीसे बाद-शाहका सन्देश निवेदन किया । गोस्वामीजीके मनमें जाने क्या आगई और चल दिये । जब बादशाहके सामने पहुँचे । तो उसने आपको ऊँचे आसनपर बिठलाया और कहा—"आपकी करामात (चमत्कार) का यश सारे संसारमें फैल गया है; कुछ मुझे भी दिखलाइये ।" आपने कहा—"यह सब झूठ है । हम पर कुछ नहीं आता । हम तो एक-मात्रश्रीरामचन्द्रजीका भजन करना जानते हैं ।"

भक्ति-रस-बोधिनी

"देखें राम कैसो," कहि कैद किये, किये हिये "हूजिये कृपाल हनुमान जू दयाल हो।"
ताही समै फैलि गए, कोटि-कोटि कपि नये, लोचें तन खैंचें चीर भयौ यौं बिहाल हो॥
फोरें कोट, मारें चोट, किए डारें लोट पोट, लीजै कौन ओट जाय, मान्यौ प्रलय-काल हो।
भई तब आँखें, दुख सागरकों चाखें, अब वेई हमैं राखें भाखें, वारौ धन माल हो॥५१६॥

अर्थ—श्रीतुलसीदासजीका यह उत्तर सुनकर कि 'हम तो सिवा रामके और कुछ जानते ही नहीं हैं,' बादशाह क्रोधमें भर कर बोला—'हम अभी देखते हैं कि तेरे राम कैसे हैं।' यह कह कर उसने गोस्वामीजीको कैद कर लिया। अब गोस्वामीजीने अपने हृदयमें श्रीहनुमानजीका ध्यान किया और उनसे प्रार्थना की—"हे कृपासिन्धो! अब आप दासपर दया दिखलाइये।" यह कहते ही करोड़ों बन्दर तरह-तरहके रूपोंमें चारों ओर आगए और लगे लोगोंको नोंचने-खोंसने; यहाँ तक कि उन्होंने बेगमोंके कपड़ोंको भी फाड़कर चीर-चीर कर डाला। उन्होंने किलेको जगह-जगहसे तोड़ डाला और उसीके पत्थरोंसे लोगोंमें ऐसी मार लगाई कि लोट-पोट होगये। कहीं छिपनेको उन्हें जगह नहीं मिली। लोग समझने लगे कि प्रलय-काल आ गया।

यह देखकर बादशाहकी आँखें खुलीं। उसने कहा कि अब तुलसीदासजी ही हमें इस दुःख-समुद्रमें डूबनेसे बचा सकते हैं। उन्हींपर हम अपना तन-मन निछावर कर देंगे।"

पद—कहते हैं, हनुमानजीसे प्रार्थना करनेके लिए गोस्वामीजीने इस अवसर पर जो पद बनाया था, वह इस प्रकार है—

ऐसी तोहिं न चाहिये हनुमान हठीले। साहिब कहूँ न रामसे तुमसे न वसीले॥
तेरे देखत सिंह के सिसु मेंढक लीले। जानत हौं कलि तेरेहु मनों गुनगन कीले॥
हाँक सुनत दसकंध के बंधन भये ढीले। सो बल गयो किधौं भयो गरब गहीले॥
सेवक को परदा फटै तू समरथ सीले। अधिक आपते आपनो सुन मान सहीले॥
साँसति तुलसीदास की सुनि सुजस तुही ले। तिहुं काल तिनको भलो जो राम रँगीले॥

भक्ति-रस-बोधिनी

आय पाय लिये 'तुम दिये हमैं प्रान पावैं', आप समझावैं "करामात नेकु लीजिये।"
लाज दबि गयौ नृप, तब राखि लियौ कह्यौ "भयौ घर रामजूकौ बेगि छोड़ि दीजिये॥"
सुनि तजि दयौ और करयौ लैके कोट नयौ, अबहूँ न रहै कोऊ वामैं, तन छीजियै।
काशी जाय, वृन्दावन आय मिले नाभाजू सौं, सुन्यौ हो कवित्त निज रीझि मति भीजियै॥५१७॥

अर्थ—बन्दरों द्वारा किलेके तोड़ दिये जाने पर दिल्लीका बादशाह गोस्वामीजीके पास आया और पैरोंमें पड़कर बोला—"अब तो आप बचावें तभी हमारी जान बच सकती है, अन्यथा नहीं।" गोस्वामीजीने व्यंग-पूर्वक कहा—"थोड़ी-सी करामात और देख लो न!" बादशाह यह सुनकर बहुत लज्जित हुआ और अपने किये पर पछताने लगा। तब दयासे द्रवित होकर गोस्वामीजीने उसकी रक्षा की, परन्तु अन्तमें यह आज्ञा दी—"अब तुम्हारा यह घर

और नगर सब श्रीरामचन्द्रजीका होगया, अतः इसे छोड़कर चले जाइये।" आज्ञा पाकर बादशाहने उस किलेको छोड़ दिया और नया किला बनवा कर रहने लगा। अब तक भी उस पुरानी जगहमें कोई नहीं रह पाता है, और यदि दुराग्रहसे रहनेकी चेष्टा करता है, तो बन्दरोंके उत्पातसे उसे भागना पड़ता है।

इस घटनाके बाद गोस्वामीजी दिल्लीसे चलकर काशी पहुँचे। मार्गमें वृन्दावनमें श्री नाभास्वामीजीसे उनकी भेंट हुई। श्रीनाभाजीने आपके विषयमें लिखा हुआ छप्पय सुनाया, तो बड़े प्रसन्न हुए। उधर नाभाजी भी गोस्वामीजीकी अपूर्व निष्ठा देखकर प्रेमसे पुलकित होगए।

विशेष—बहुत संभव है, इस कवित्तमें प्रियादासजीका संकेत अकबरका आगरा छोड़कर फतहपुर सीकरी बसानेकी तरफ हो।

भक्ति-रस-बोधिनी

मदनगोपालजूको दरसन करि कही "सही राम इष्ट मेरे दृष्टि भाव पागी है।"
वैसो ही सरूप कियो, दियो ले दिखाय रूप, मन अनुरूप छबि देखि नीकी लागी है॥
काहू कही "कृष्ण अवतारीजू प्रसंस महा, राम अंस," सुनि बोले "मति अनुरागी है।"
दसरथ-सुत जानों, सुन्दर अनूप मानों, ईसता बताई रति बीस गुनी जागी है" ॥५१८॥

अर्थ—वृन्दावनमें (नाभास्वामी तथा अन्य वैष्णवोंके साथ) गोस्वामी ठाकुर श्रीमदनगोपालजीके मन्दिरमें दर्शन करनेके लिए गये। वहाँ मुरलीधारी प्रभुके दर्शन कर आप बोले—"प्रभो! आप मुरली धारण किये हैं, बड़े सुन्दर लगते हैं, पर यथार्थ बात तो यह है कि मेरी दृष्टिमें तो इष्टदेव श्रीरघुनाथजी ही समाये हुए हैं।"

गोस्वामीजीकी इस भावनाका आदर करते हुए प्रभु श्रीकृष्णचन्द्रने श्रीरामचन्द्रजीका रूप धारण कर लिया। तुलसीदासजीने अपने मनके अनुकूल जब यह छवि देखी, तो आपको बड़ी सुन्दर लगी।

कुछ दिन तक गोस्वामीजी ज्ञानगुदड़ीमें रहे। उन्हीं दिनों किसीने आपसे कहा—"श्रीकृष्ण तो सोलह कलाओंके प्रशंसनीय अवतार हैं और श्रीरामचन्द्रजी अंशावतार हैं।"

गोस्वामीजीने उत्तर दिया—"अब तक तो मैं इतना ही जानता था कि श्रीरामचन्द्रजी दशरथके पुत्र हैं और अनुपम सौन्दर्यशाली हैं; आज आपसे मालूम हुआ कि वे अंशावतार भी हैं। यह जानकर तो मेरी उनमें प्रीति बीस-गुनी बढ़ गई है।"

विशेष—कहते हैं, गोस्वामीजी जब ठाकुर श्रीमदनमोहनजीके दर्शन कर रहे थे, तो वहाँ उपस्थित किन्हीं परशुरामनेॐ निम्नलिखित दोहा पढ़ा—

अपने अपने इष्ट को, नमन करें सब कोय। इष्ट विहीने परशुराम, नबै सो मूरख होय॥

ॐ ये परशुराम निम्बार्काचार्य पीठस्थ परशुरामसे भिन्न हैं, क्योंकि यह दोहा उनकी वाणीमें नहीं है।

इसका उत्तर गोस्वामीजीने उस व्यक्तिको तो कुछ नहीं दिया, पर प्रभु श्रीमदनमोहनजी सम्बोधित करते हुए आपने कहा—

> कहा कहौं छबि आजु की, भले बने हो नाथ ।
> तुलसी मस्तक तब नवै, धरौ धनुष सर हाथ ॥

इतना कहते ही यह हुआ कि—

> मुरली लकुट दुराय कै, धर्यो धनुष सर हाथ ।
> तुलसी लखि रुचि दास की, नाथ भये रघुनाथ ॥

विशेष-वृत्त—जन्म-संवत्—संस्कृतके महाकवियोंकी भाँति तुलसीदासजीने भी अपने जन्म-संवत् जाति, कुल आदिके विषयमें स्वरचित ग्रन्थोंमें कुछ नहीं लिखा। ऐसी स्थितिमें किंवदन्तियों एवं यत्र तत्र बिखरे हुए सांकेतिक तथ्योंके आधारपर ही विद्वानोंने उनकी जीवनी लिखी है। सर्व-प्रथम जन्म संवत्के विषयमें विद्वान् एकमत नहीं हैं। जगमोहन वर्मा 'रामभुक्तावली' के आधारपर जन्म-संवत् १५६० वि० मानते हैं, तो 'मानस-मयंक' के लेखकके अनुसार यह संवत् १५५४ है। विलसन सं० १६०० वि० बताते हैं, तो डा० ग्रियर्सन और रामगुलाम द्विवेदी सं० १५८९ वि० मानते हैं। जो कुछ भी हो, उक्त मतोंमें सर्वाधिक-सम्मत पक्ष सं० १५५४ का ही है। निधन-तिथिके सम्बन्धमें, जहाँ तक संवत् का प्रश्न है, सब १६८० मानते हैं, किन्तु दिनके सम्बन्धमें मत भिन्न-भिन्न हैं। कुछ विद्वान् श्रावण शुक्ल सप्तमी और कुछ श्रावण शुक्ल तीज शनिवारको निधन-तिथि बताते हैं। तुलसीदासजी के परम मित्र टोडरके वंशज अभी तक गोस्वामीजीके नामका "सीधा" तीजको ही निकालते हैं।

जन्म-स्थान—यह भी एक विवाद-ग्रस्त प्रश्न बना हुआ है। कुछ विद्वान् तारी, चित्रकूटमें जन्म-स्थान मानते हैं, तो दूसरे राजापुरको और तीसरे सोरों को। भाषा-साक्ष्यके आधारपर आलोचक-गण प्रायः राजापुरके ही पक्ष में हैं। "मैं पुनि निज गुरु सन सुनी, कथा जो सूकर खेत" के आधार पर कुछ विद्वान् सोरोंके जन्म-स्थान होनेपर अधिक जोर देते हैं। इसी आधारपर हरि-गङ्गा (हापुर) तटपर गोस्वामीजीका एक स्मारक भी खड़ा कर दिया गया है।

वंश और जाति—वंश और जातिके सम्बन्धमें भी कोई निश्चित मत नहीं है। 'शिवसिंह सरोज' के आधारपर वे सरयूपारीण ब्राह्मण थे और 'भक्तकल्पद्रुम' के अनुसार कान्यकुब्ज। "दियो सुकुल जनम सरीर सुंदर हेतु केवल चारि को" के आधारपर सोरोंके विद्वान् गोस्वामीजीको शुक्ल-गोत्रीय सनाढ्य-ब्राह्मण मानते हैं। अधिकांश विद्वान् उन्हें सरयूपारीण ही मानते हैं।

माता-पिता—तुलसीदासजीकी माताका नाम हुलसी था और पिताका नाम आत्माराम दुबे। इसके प्रमाण-स्वरूप 'गोद लिये हुलसी फिरे, तुलसी सो सुत होय', यह दोहा प्रायः उद्धृत किया जाता है।

तुलसीदासजीके मूल-नामके बारेमें इसी प्रकारका सन्देह चला आरहा है। कोई 'राम बोला' बताते हैं, तो दूसरे 'तुलाराम'। 'नाम तुलसी पै भौंड़े भाग सों कहायो दास,' तथा 'नाम जपत भयो तुलसी तुलसीदास' के अनुसार गोस्वामीजीका नाम 'तुलसीदास' ही ठहरता है।

कहते हैं, आपका जन्म अभुक्त मूल नक्षत्रमें होनेके कारण माता-पिताने आपको पैदा होते ही त्याग दिया था—'मात पिता जग जाय तज्यो, विधि हू न लिख्यो कछु भाल भलाई।' ऐसे परित्यक्त

बालककी होश सँभालनेकी अवस्था तक पहुँचते-पहुँचते कैसे-कैसे संकटोंका सामना करना पड़ा होगा, इसका अनुमान लगाया जा सकता है। प्रतिकूल परिस्थितियोंके फेरमें पड़कर तुलसीदासजीको जगह-जगह भटकना पड़ा होगा। आश्रयके अभावमें कुछ समय तक न-जाने उन्होंने कितने कष्ट उठाये होंगे। 'गोस्वामीजीकी भक्तिमें पाया जानेवाला दैन्य-तत्त्व इन्हीं पिछले संस्कारोंकी सात्विक परिणति है। किन्तु यह न भूल जाना चाहिए कि दैन्यका तत्त्व मनुष्यको कर्मठ भी बना देता है। गोस्वामीजीका जीवन इन दोनों तथ्योंका अपूर्व संमिश्रण है। यदि वे कर्मण्य न होते, तो 'रामचरितमानस' जैसा अनुपम ग्रन्थ उनकी लेखनीसे कदापि नहीं निकल पाता।'

बाबा वेनीमाधवदासके मतानुसार तुलसीदासजीकी कृतियोंके नाम और उनका रचना-काल इस प्रकार है :—

१. रामगीतावली, २. कृष्णगीतावली (संवत् १६२८), ३. रामचरितमानस (सं० १६३१), ४. दोहावली (सं० १६४०), ५. सतसई, (सं० १६४२)६. विनय-पत्रिका (सं० १६४२), ७. राम-ललानहछू (सं० १६४१), ८. पार्वतीमंगल (सं० १६४३), ९. वैराग्य-संदीपिनी, १०. रामाज्ञाप्रश्न, ११. बरवै रामायण (सं० १६६९)। इस सूचीमें 'कवितावलीका' उल्लेख नहीं किया गया है।

रामचरितमानस—तुलसीदासजी-प्रणीत सब ग्रन्थोंमें रामचरितमानसका जितना आदर है, उतना अन्य किसी का नहीं। इसकी सामग्री उन्होंने पुराण, शास्त्र, वेद वाल्मीकि-रामायण तथा अन्यान्य प्राचीन ग्रन्थोंसे ली है—जैसे महाभारतसे शैव-वैष्णवोंके पारस्परिक विग्रहकी शान्ति-सम्बन्धिनी उक्तियाँ, श्रीमद्भागवतसे वर्षा, शरद् के वर्णन, वाल्मीकिसे रामकी गाथा, प्रसन्नराघवसे स्वयंवर का वर्णन, हनुमन्नाटकसे मुद्रिका-प्रसंग और अध्यात्म—रामायणसे नाम-माहात्म्य आदि। किन्तु इन सब प्रसंगोंको उन्होंने ऐसा आत्मसात् करके लिखा है कि उनमें एक अनोखा सौष्ठव और स्वाभाविकता आ गई है। रामचरितमानसके प्रणयनसे पूर्व भी भारतमें सर्वत्र श्रीराम-कृष्णकी कथाका पूर्ण प्रचार था। भक्तिका सर्वस्व होते हुए भी एक सरल, रोचक सर्वोपयोगी भाषा-ग्रन्थ अपेक्षित था जिसकी कि तुलसी-दासजीके युगको आवश्यकता थी। इसी लक्ष्यको दृष्टिमें रखकर गोस्वामीजीने रामचरित द्वारा मंगलमय-आदर्शोंकी सृष्टि की। भक्ति और श्रद्धा, लोक-धर्म और सन्त-वृत्ति, बाह्य-शक्ति और अन्तः शक्ति—सभी का उसमें सामंजस्य दिखाई पड़ता है। क्या लौकिक, क्या धार्मिक, क्या आध्यात्मिक—कुछ भी इस महाकविकी लेखनीसे छूट नहीं पाया।

'गोस्वामीजीकी भक्ति दास्य—सेव्य-सेवक-भाव की है। व्यक्तिगत और सामाजिक जीवनके लिये यह भावना एक सुदृढ़ आधारका काम करती है। जिस व्यक्तिके जीवनमें यह भावना नहीं है, उसके आचार-निष्ठ बननेमें सन्देह है। विनय कुलीनताका चिन्ह है। नम्रता हमारी जीवन-निर्मितिके मूलपर प्रकाश डालती है। गोस्वामीजीको यह अपने आप ही उपलब्ध होगई जिससे वे स्वयं आदर्श-जीवनका निर्माण कर सके।'

उत्तरकाण्डमें तुलसीदासजी द्वारा किये गये ज्ञान और भक्तिके विवेचनसे उनकी विकसित अध्यात्म-शक्तिका परिचय मिलता है। 'दार्शनिक-सिद्धान्तको अपनाकर गोस्वामीजी जीवको ईश्वरका अंश मानते हैं। जीव जब जड़ प्रकृतिके पाशोंमें आबद्ध रहता है, तभी वह दुःखका भाजन बनता है। दुःखोंसे छूटनेके लिए ज्ञानी जिन लौकिक साधनोंका उल्लेख करते हैं उनसे छूटनेके स्थानपर जीव और अधिक उलझता जाता

है अतः यह श्रद्धाका अवलम्बन लेकर आगे बढ़ता है और ज्ञानका दीपक प्रज्वलित करता है। पर यह दीपक मायाके प्रभंजनसे बुझ जाता है ज्ञान-मार्गकी अपेक्षा भक्ति-मार्ग सुगम है। मोक्ष स्वयं ह भक्तिके बिना नहीं टिक सकता। तुलसीकी सम्मतिमें उनकी रामकथा-रूपी सुधाकी मधुरता भक्ति है और यह भगवत्-कृपा-साध्य है।

मूल (छप्पय)
(श्रीमानदासजी)

करुणा वीर सिंगार आदि उज्जल रस गायो।
पर उपकारक धीर कवित कविजन मन भायो॥
कौसलेस पद कमल अननि दासन व्रत लीनौ।
जानकी जीवन सुजस रहत निसिदिन रंग भीनौ॥
रामायन नाटक की रहसि उक्ति भाषा धरी।
गोप्य केलि रघुनाथ की मानदास परगट करी॥१३०॥

अर्थ—श्रीमानदासजीने श्रीरामचन्द्रजीकी रहस्यमय शृङ्गार-लीलाओंको अपने काव्य द्वारा सर्वजन-भोग्य बनाया। इन लीलाओंके वर्णनमें आपने प्रसंगानुसार करुणा, वीर, उज्ज्वल, शृङ्गार आदि रसोंका भी समावेश किया। आप बड़े परोपकारी और धीर-गम्भीर प्रकृतिके थे। आपकी कविता तो कवि-जनोंको बहुत प्रिय लगती थी। कौशल देशके राजा श्रीरामचन्द्रजीके चरण-कमलोंकी उपासनाका आपका अनन्य व्रत था। श्रीजानकीजीके प्राण-स्वरुप श्रीरामचन्द्रके यशका वर्णन तथा अनुशीलन करने में आपकी चित्त-वृत्ति डूबी रहती थी। श्रीरामायण तथा हनुमान्नाटक आदि की रहस्यपूर्ण उक्तियोंकी आपने भाषामें व्याख्या की।

श्रीमानदासजीके सम्बन्धमें भक्त-दाम-गुण चित्रनीमें जो वार्ता प्राप्त हुई है उसका आशय नीचे दिया जाता है—

एक बार श्रीमानदासजी भगवान श्रीरामचन्द्रजीका ध्यान कर रहे थे। उसी समय प्रभु राघवेन्द्रजी अत्यन्त सुन्दर रूप धारण करके आपके सामने उपस्थित हुए और आज्ञा दी "मेरा यशोगान करो।"

इस आज्ञाके अनुसार आपने समस्त रसोंमें श्रीरामके पावन चरित्रोंका वर्णन किया। आपके काव्यकी सरसता, मधुरता, सादगी और हृदयग्राहकता आपको उच्च भक्त-कवियोंकी श्रेणीमें ला रखती है। एक बार किसी ब्राह्मणने आकर अपनी कन्याके लिए धन माँगा। आपने ठाकुरजीके प्रयोगके बर्तनों को उसे दे दिया। बादमें भगवानकी प्रेरणासे एक वैश्यने आपको पुनः बर्तन दे दिये।

एक बार सन्त-सेवा करते समय आप ऊँची अटारीसे गिर गये। उसी समय भगवानने अलक्ष्य वेशमें वहाँ आकर आपको अंकमें ले लिया और थोड़ी भी चोट नहीं आने दी इस प्रकार श्रीमानदासजी की सहायताके लिए श्रीरामचन्द्रजी सदा तत्पर रहते थे।

मूल (छप्पय)
(श्रीगिरिधरजी)

अर्थ धर्म काम मोच्छ भक्ति अनपायनि दाता।
हस्तामल स्तुति ज्ञान सब ही सास्त्र को ज्ञाता॥
परिचर्या ब्रजराज कुँवर कें मन कों कर्षै।
दरसन परम पुनीत सभा तन अमृत वर्षै॥
विट्ठलेस नंदन सुभाव जग कोऊ नहिं ता समान।
(श्री) वल्लभ जू के बंस में सुरतरु गिरिधर भ्राजमान॥१३१॥

अर्थ—श्रीगिरधरजी भक्तोंको धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष तथा अक्षय भक्ति प्रदान करते थे। वेद-वेदाङ्गोंका ज्ञान आपको हथेली पर रक्खे हुए आमलेकी तरह प्रत्यक्ष था। सब शास्त्रोंके आप पारदर्शी विद्वान् थे। आपकी सेवा-पद्धतिने ब्रजराज-कुँवर श्रीकृष्णचन्द्रको भी मोह लिया था। आपके दर्शन-मात्रसे लोग अपने आपको पवित्र मानने लगते थे और भक्त-मण्डलीके बीच विराजमान होकर आप उपदेश देते थे, तब तो अमृतकी मानों वर्षा होने लगती थी। इन श्रीविट्ठलेसजीके सुपुत्रके समान सरस और कोमल स्वभाव संसारमें किसी का नहीं था। श्रीगिरधरजी, इस प्रकार, श्रीवल्लभाचार्यजीके वंशमें कल्प-वृक्षके समान सुशोभित थे।

भक्त-दाम-गुण-चित्रनी, पत्र १८० पर श्रीगिरिधरजीके सम्बन्धमें कुछ विशेष वार्ता निम्न प्रकार प्राप्त हुई है—

श्रीगिरधरजीके एक वैश्य शिष्य था। उसके पास अपार सम्पत्ति थी, किन्तु दैवयोगसे वह सम्पत्ति नष्ट हो गई। उस वैश्यका एक पुत्र था। रही-सही सम्पत्तिको इसने खा-पीकर बराबर कर दिया और अन्तमें श्रीगिरधरजीके पास आकर बोला—

"प्रभु मेरे पिता कै तो होतो धन बहु गेह, मैं तो ऐसो भागहीन पाये न मिलाइऐ।
तापै कृपा आप की सो हुती घनी तातें हुतो, धनवन्त अरु मोपै कृपा नहीं छाइऐ॥"

उसकी बात सुनकर आपको दया आ गई और आपने कहा—"प्रभुमें विश्वास रखकर उनकी सेवा कीजिए।"

वैश्य-पुत्रने उसी दिन से भगवानकी सेवा प्रारंभ कर दी और कुछ ही दिन में उसका व्यापार इतना बढ़ गया कि वह लाखोंकी सम्पत्तिवाला हो गया। अब वह साधुओंकी सेवा भी करने लगा; क्योंकि वह जानता था कि सन्तोंकी कृपा से ही यह सब वैभव प्राप्त हुआ है। साथ ही वह अवकाश मिलने पर श्रीगिरधरजीके पास आकर सत्सङ्ग भी किया करता था। इसका फल यह हुआ कि उसकी आँखें प्रभुके दर्शनको व्याकुल होने लगीं और एक दिन उसने श्रीगिरधरजीसे प्रभु-साक्षात्कारका उपाय भी पूछा। आपने बतला दिया कि 'जब हृदयमें प्रेम होगा, भगवानके दर्शन तो तभी प्राप्त हो सकते हैं। वैश्य-पुत्रने पूछा—"महाराज! प्रेमके लक्षण क्या हैं?" आपने बतलाया—"जब प्रभुका नाम

रटते-रटते हृदय आनन्दमयी आकुलतासे भर जाय और आँखोंसे भर-भर करके अश्रुधारा प्रवाहित होने लगे तो समझना चाहिए कि यह प्रेमके आवेशकी अवस्था है और अब भगवानके दर्शन दूर नहीं।"

वैश्य-पुत्रने कितनी ही देर बैठकर भगवानके पुनीत नामोंका उच्चारण किया, पर न तो भक्ति का वैसा आवेश ही आया और न आँखोंसे आँसुओंकी धारा ही प्रवाहित हुई। उसने श्रीगिरधरजीके पास आकर सब बात सच-सच कह सुनाई। उसकी निश्छलताको देखकर आपका मन प्रेमसे भर गया और आपने उसे खींच कर अपनी छातीसे लगा लिया। आपकी आँखोंसे प्रेमका पारावार उमड़ चला। यह देख वैश्य-पुत्र का हृदय भी हिलोरें लेने लगा और आँखें टप-टप करके बरस पड़ीं। उसी समय प्राण-प्यारे लालजी वहाँ प्रकट हो गए, किन्तु दूसरे ही क्षण उन्हें अन्तर्धान हुआ देखकर वैश्य-पुत्रकी व्याकुलता अमर्यादित हो उठी और वह बोला—"महाराज मुझे वह मनमोहन-रूप एक बार फिर दिखलाइए।" किन्तु इस ओर गिरधरजीने प्रभुको अब बुलाया तो वे सामने न आए और बोले—"इस वैश्य से एक अपराध बन गया है, उसके कारण यह मेरे दर्शन प्राप्त नहीं कर सकता।"

श्रीगिरधरजीने पूछा—"वह कौन सा अपराध है, प्रभो?" भगवान बोले—

"जाकी तिया मेरे भक्त-संग सेवा-रंग भीजी, ताकूँ इन खीजि संत-संगते निवारिये।"

(इसने अपनी स्त्रीको मेरे सन्तोंकी सेवा करनेसे रोक दिया है, यही बड़ा भारी अपराध है।)

सुनकर वैश्यने कहा—"प्रभो! मुझे अपना भक्त समझकर दर्शन दो। मैं अब कभी भी ऐसा अपराध नहीं करूँगा।"

यह सुनते ही भगवान सामने आकर खड़े हो गए और वैश्यने श्रीगिरधरजीकी कृपासे परमानन्दित होकर उनके रूप-रसका पान किया।

मूल (छप्पय)

(श्रीगोस्वामी गोकुलनाथजी)

उदधि सदा अच्छोभ सहज सुंदर मितभाषी।
गरुवतन गिरिराज भलपन सब जग साषी॥
बिट्ठलेस की भक्ति भयौ बेला दृढ़ ताकैं।
भगवत तेज प्रताप नमित नरवर पद जाकैं॥
निर्विलीक आसय उदार भजन पुंज गिरिधरन रति।
(श्री) बल्लभ जू के बंस में गुननिधि गोकुलनाथ अति॥१३२॥

अर्थ—श्रीवल्लभाचार्यजीके पौत्र तथा श्रीविट्ठलनाथजीके सुपुत्र गोस्वामी श्रीगोकुलनाथजी समुद्रके समान क्षुब्ध (विचलित) न होने वाले और सहज सुन्दर थे। आप आवश्यकता से अधिक बोलते न थे। आपकी सुन्दर देह गिरिराज गोवर्धनके समान दृढ़ और विशाल

थी। सारा संसार इसका साक्षी है कि आप कितनी साधु प्रकृतिके थे। अपने पितृदेव श्री विट्ठलनाथजीके भक्ति-सागरकी मर्यादा बाँधने वाले आप किनारे थे। भगवानकी तेजस्वी और प्रतापशाली विभूति होनेके कारण बड़े-बड़े श्रेष्ठ व्यक्ति आपके चरणोंमें अपने मस्तक झुकाते थे। आपका अन्तःकरण छल-कपट-रहित और अत्यन्त उदार था। भजनकी राशि थे आप और श्रीगोवर्धननाथजीकी भक्तिमें अनुराग रखते थे। श्रीगोकुलनाथजी, इस प्रकार, श्रीवल्लभाचार्यजीके वंशमें गुणोंके समुद्र बन कर पैदा हुए।

भक्ति-रस-बोधिनी

आयौ कोऊ शिष्य होन, ल्यायौ भेंट लाखनकी, भाखनकी चातुरी पै मेरी मति रीझियै।
"कहूँ है सनेह तेरो ? जाके मिलें बिना देह व्याकुलता होय जोपै तोपै दीक्षा दीजियै॥"
बोल्यौ "अजू मेरो काहू बस्तुसों न हेत नेकु" "नेति नेति कही हम गुरु ढूँढ़ि लीजियै।
प्रेम ही को बात इहाँ कही है पलटि जात", गयौ दुख गात, कही कैसें रंग भीजियै॥५१६॥

अर्थ—एक बार कोई धनी व्यक्ति भेटके लिए लाखों रुपए लेकर गोस्वामी श्रीगोकुल नाथजीका शिष्य होनेके लिये आया। प्रियादासजी कहते हैं कि 'उस समय गोस्वामीजीने जिस चतुराईसे बातें कीं उसे देखकर मेरा मन रीझ गया है।' गोस्वामीजीने उस धनिक व्यक्तिसे पूछा—"तेरे हृदयमें संसारकी किसी वस्तुके लिए स्नेह है ?—ऐसा स्नेह कि उसके बिना तेरा शरीर (मन) बेचैन हो उठे। यदि हो, तो हम तुझे दीक्षा देनेको तैयार हैं।"

धनिकने उत्तर दिया—"भगवन् ! मेरा तो किसी चीजके प्रति तनिक भी स्नेह नहीं है।" इसपर गोस्वामीजीने कहा—"तो हम तुझे अपना शिष्य नहीं बना सकते। तू और कोई गुरु तलाश कर। क्योंकि हमारे भक्ति-मार्गमें प्रेम ही प्रधान है—यहाँ तो प्रेमकी ही बात पूछी जाती है। लौकिक प्रेम ही धीरे-धीरे भगवानकी ओर मुड़ जाता है, (पर जिसके हृदयमें प्रेमका बीज ही नहीं है, उसकी भक्तिकी ओर प्रवृत्ति कैसे हो सकती है ?)।

गोस्वामीजीका यह उत्तर सुनकर धनिकको बड़ी निराशा हुई और वह लौट गया। ऐसा स्नेह-हीन व्यक्ति प्रभुके प्रेममें कैसे रँग सकता है ?

विशेष—श्रीप्रियादासजीने इस कवित्तमें प्रेम-दर्शनके जिस सिद्धान्तका प्रतिपादन किया है वह बीसवीं सदीके आधुनिकतम मनोवैज्ञानिक विश्लेषणसे पूर्णतया मेल खाता है। नवीन मनोवैज्ञानिक तथ्यों के अनुसार मानवकी लौकिक वासनाएँ ही किसी कारणवश भक्ति, धार्मिकता, दार्शनिकता, कवित्व आदि विभिन्न रूपोंमें प्रस्फुटित होती हैं। गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी, श्रीबिल्वमंगलजी आदि भक्त इसके साक्षी हैं। इससे यह भी सिद्ध हो जाता है कि ज्ञान-विज्ञानकी भाँति भक्ति कोई बाह्य उपलब्धि नहीं है, प्रत्युत बीज-रूपमें प्रकारान्तरेण जन्मके साथ पैदा होती है। लोकमें जिसे 'रति' कहा जाता है, भक्ति-मार्गमें वही भावना 'प्रीति' के रूपमें प्रकट होती है। संसारमें प्रेम जिस प्रकार अपने प्रेम-पात्रको हठात् अपनी ओर खींच लेता है, वैसे ही भक्ति भी श्रीकृष्णचन्द्रको भक्तकी ओर खींच लेती है—

सान्द्रानन्दविशेषात्मा सा कृष्णाकर्षिणी मता।

भक्ति-रस-बोधिनी

कान्हा हो हलालखोर, घोरि दियौ मन लैकै स्याम रस सागरमें नागर रसाल है।
निसिकों सुपन माँझ निपुन श्रीनाथजू नें आज्ञा दई 'भीत नई भई ओट साल है॥
गोकुलके नाथजू सों बेगि दै जिताय दीजै, कीजै याहि दूर छवि पूर देख्यौ ख्याल है।
भोर जौ बिचारै, नहिं धीरजकों धारै, "उहाँ जाऊँ कोऊ मारै, पैंड़ परचौ यह लाल है॥५२०॥

अर्थ—कान्हा नामका एक हरिजन था जिसने अपना मन रसके समुद्र नागर-शिरोमणि श्यामसुन्दरमें डुबा दिया था। (वह नित्य श्रीनाथजीके दर्शन करता। गोकुलनाथजी महाराज को इसमें आपत्ति थी, अतः उन्होंने सामनेकी तरफ एक दीवार खड़ी करादी, ताकि हरिजन लोग दर्शन न कर सकें।) भक्त कान्हाको इस प्रकार अपने दर्शनोंसे वञ्चित देखकर ठाकुर श्रीनाथजीने रात्रिमें स्वप्नमें उससे कहा—"यह जो नई दीवार खड़ी कर दी गई है, इससे हमारे हृदयको बड़ी चोट पहुँचती है, अतः तुम गोकुलनाथजीसे जाकर कहो कि दीवारको शीघ्र यहाँसे हटवा दें ताकि हम अपने सामने होने वाले भक्तोंके सुन्दर कौतुक देख सकें।"

प्रभुकी आज्ञाके अनुसार कान्हाने दूसरे दिन सुबह गोस्वामीजीसे इस संदेशको कहनेका विचार किया, परन्तु ऐसा करनेका उसे साहस नहीं हुआ। वह डरता था कि ऐसा न हो कि कोइ मुझे मारे। पर उधर भगवान उसके पीछे पड़ गए थे और गोस्वामीजीसे उस बातको कहनेके लिए बार-बार विवश कर रहे थे।

भक्ति-रस-बोधिनी

ऐसे दिन तीन आज्ञा देत वे प्रवीन नाथ, हाथ कहा, मेरे बिन काज नहीं सरैगो।
गए द्वार, द्वारपाल बोले "जू बिचार एक दीजै सुधि कान", सुनि खीझै "बात करैगो॥"
काहूने सुनाय दई, लीजियै बुलाय "अहो कहो' और "दूर करौ, करे दूरि डरैगो।
जाय वही कही, लही आपनौं पिछानि, मिले, सुन्यौ, "मेरौ नाम स्याम कह्यौ, नहीं डरैगो"॥५२१॥

अर्थ—परम प्रवीण ठाकुर श्रीनाथजी तीन दिन तक बराबर कान्हाको इसी आशयकी आज्ञा देते रहे। कान्हाने अन्तमें सोचा—"भगवान जब आज्ञा दे रहे हैं तो मेरे हाथमें अब क्या है? अब तो ऐसा लगता है कि मेरे जाये बिना काम चलेगा नहीं।"

वह गोकुलनाथजीकी ड्यौढ़ियोंपर पहुँचा और दरबानसे बोला—"मुझे गुसाईंजी महाराज से कुछ निवेदन करना है, सो आप उनके कानमें कह दीजिए।"

यह सुनकर द्वारपाल बिगड़ उठे। बोले—"तेरा इतना साहस कि तू गुसाईंजीसे बात करेगा?"

किसीने यह वृत्तान्त गुसाईंको बतला दिया। उन्होंने कान्हाको बुलाकर कहा—"कहो, क्या कहना चाहते हो?" कान्हाने कहा—"अपने आस-पासके लोगोंको जरा हटा दीजिए, तब कहूँगा।"

गुसाईंजीने लोगोंको हटा दिया। तब कान्हाने गुसाईंजीको वही बात कह सुनाई जो प्रभुने कही थी। महाप्रभुजी सुनकर बड़े प्रसन्न हुए। सोचने लगे—"प्रभुने मुझे अपना समझ कर यह सब कहलवाया है।" बादमें बोले—"यदि भगवानने मेरा नाम लेकर कहा है, तो उनकी आज्ञाका अवश्य पालन किया जायगा।"

श्रीगोकुलनाथजीसे सम्बन्धित एक वार्ता भक्त-दाम-गुण चित्रनी, पद ३८२ पर निम्न प्रकार प्राप्त हुई है—

कोई ब्रजवासी ब्राह्मण अपनी कन्याके साथ रास्तेसे जा रहा था। उन दिनों चारों ओर यवनों की शक्तिका बोलबाला तो था ही। उन्होंने ब्राह्मणकी कन्याके अद्वितीय रूपको देखकर उसे छिना लिया। ब्राह्मण बेचारा क्या करता? रोता, बिलबिलाता और सिर धुनता हुआ चला गया अपने रास्ते पर। रातको वह वहीं ठहरा जहाँ गोकुलनाथजी रहते थे। जिन लोगोंने उसको इस प्रकार दुःखी देखा उन्होंने कह दिया कि—'गोकुलनाथजीके पास चले जाओ। वे अवश्य तुम्हारा दुःख दूर कर देंगे।' ब्राह्मणने जाकर गोकुलनाथजीके सामने सब समाचार कह सुनाया। श्रीगोकुलनाथजीको दया आ गई। उन्होंने अपने एक कायस्थ शिष्यको, जो उसी यवनके यहाँ लेखक था, बुलाया और उससे कहा कि 'यवन से कह-सुनकर ब्राह्मणकी कन्याको लौटवा दो। उत्तरमें कायस्थ लेखक श्रीगोकुलनाथजीसे बोला—"महाराज! वह यवन-सरदार तो बड़ा अत्याचारी है। उसकी कामुकता आजकल चरम सीमापर पहुँची हुई है। ऐसी दशामें भला वह मेरी बात क्या मानेगा?"

इस प्रकार अपनी आज्ञाकी अवहेलना देखकर श्रीगोकुलनाथजी श्रीनाथजीके सामने गए और बोले—

... ...

अब सुनहु नाथ! अनाथ-नायक! रखो निज जन लाज॥
खल जवन मेरो हुकम टारयो, विप्र-कन्या काज।
सो सुधारहु काज द्विज को, हमारो हित साज॥

गोकुलनाथजीकी विनती सुनकर श्रीनाथजी उसी रात अलक्ष्यरूपसे यवन सरदारके पास गए और उसके मुँहपर पैरकी ठोकर मारकर कहा—"क्योंरे, दुष्ट! तूने हमारा हुकम क्यों नहीं माना?"

यह सुनकर यवन-सरदारके होश हवा हो गए। वह हुचकियोंसे रो पड़ा, मुखकी सुर्खीपर पीला-पन छा गया और बदन एक दम सूख गया। अन्तमें उसने यह घटना अन्य लोगोंके सामने रक्खी तो कायस्थ-लेखकने कहा—"आप श्रीगोकुलनाथजीके पास चले जाइए; वे अवश्य आपको निडर कर देंगे।"

यवन-सरदार श्रीगोकुलनाथजीके पास आया और अत्यन्त विनीत भावसे बोला—"महाराज! मैं आपके पैरों पड़ता हूँ; मुझे क्षमा कर दीजिए! आप जो आज्ञा करेंगे, मैं उसे सिर-माथे रखकर पालूँगा।" उसी समय कायस्थ-लेखक भी आ गया और श्रीगोकुलनाथजीसे बोला—"हाँ, महाराज! हमारे सरदार का भय दूर कर दीजिए; आप इसमें समर्थ हैं।"

श्रीगोकुलनाथजीने श्रीनाथजीसे प्रार्थना करके यवन-सरदारको उस अलक्ष्य त्राससे मुक्त करवा दिया और कन्याको सरदारसे लेकर ब्राह्मणको सौंप दिया। यवन-सरदारने उस समय अनेक प्रकारके वस्त्राभूषण भी ब्राह्मण-कन्याको दिए।

मूल (छप्पय)

(श्रीबनवारीदासजी)

बात कबित बड़ चतुर चोख चौकस अति जानैं।
सारासार बिबेक परमहंसनि परवानैं॥
सदाचार संतोष भूत सबको हितकारी।
आरज गुन तन अमित भक्ति दसधा व्रतधारी॥
दरसन पुनीत आसय उदार आलाप रुचिर सुखधाम कौ।
रसिक रँगीलौ भजन पुंज सुठि बनवारी स्याम कौ॥१३३॥

अर्थ——श्रीबनवारीदासजी बातें करना तथा काव्य-रचना करना बड़ी अच्छी तरह जानते थे। इन दोनों गुणोंमें वे बड़े चौकस (प्रवीण) थे। सार पदार्थको ग्रहण करने तथा असारका परित्याग करनेमें आप परमहंसोंके समान थे। आप उच्च कोटिके सदाचारी और सन्तोषी थे और प्राणिमात्रका उपकार करनेके लिए तत्पर रहते थे। आपका शरीर (मन) विशाल और श्रेष्ठ गुणोंका स्थान था और दस प्रकारकी भक्ति करनेका आपने व्रत ले रक्खा था। आपके दर्शन अत्यन्त पवित्र, अन्तःकरण उदार और सुन्दर बातें सुख देनेवाली थीं। श्रीबनवारीदासजी इस प्रकार, श्यामसुन्दरके अत्यन्त रंगीले रसिक और भजनकी राशि थे।

भक्त-दाम-गुण-चित्रनी पत्र, ३८१ के आधारपर बनवारीदासजीका वृत्त निम्न प्रकार से है—

एक बार आपकी बातोंकी चतुरतासे प्रभावित होकर कोई सरनंगी सरदार आपके पास आया और उसे अपनी सरस उक्तियोंसे श्रीबनवारीदासजीने रिझाया भी खूब। लम्बी-चौड़ी बातोंको सुनकर सरदारने समझा कि श्रीबनवारीदासजी कोरे बातून हैं, अतः उनकी परीक्षा लेनेकी दृष्टिसे वह पूछ उठा—"महाराज! एक बात तो मैं पूछना चाहता हूँ कि मेरी मृत्यु कब होगी? क्योंकि यदि मृत्युकालका पता पहिले से लग जायगा तो उस समय मैं भगवानका स्मरण-ध्यान करके संसार-सागरसे पार तो भी हो जाऊँगा।"

श्रीबनवारीदासजी समझ गए कि सरदार मेरी परीक्षा लेना चाहता है। उन्होंने उसी समय अपने इष्टका ध्यान किया और बतला दिया कि 'तुम्हारी मृत्यु एक महीने बाद होगी——जो बात तुमसे तुम्हारे ज्योतिषी गुरुने कही है वह एक दम सत्य है।'

श्रीबनवारीदासजीकी इस सत्य-वाणीको सुन कर सरदार आपपर न्यौछावर हो गया।

श्रीप्रियादासजीने इस छप्पयकी टीका नहीं की। अपनी 'भक्त-सुमिरनी' में उन्होंने मानदासके पश्चात् 'बनवारीजी' का नामोल्लेख-मात्र किया है। श्रीबालकरामके अवश्य इस छप्पयपर तीन कवित्त हैं जिनमें किसी राजाके प्रश्नपर उनके द्वारा उसकी मृत्युका भविष्य बतलाना वर्णित है, किन्तु उन्होंने उनके जन्म-स्थान, गुरु-परम्परा-सम्प्रदाय आदि का कोई विशेष उल्लेख नहीं किया। इसी प्रकार श्रीबाल-बालजीने भी नाभाजीके छप्पयका पद्यानुवाद-मात्र कर दिया है।

आपके सम्बन्धमें परम्परागत एक यह प्रसिद्ध जनश्रुति है कि आप तत्वज्ञ थे; अतएव परमहंसों की भाँति रहते थे, फिर भी अपनी संप्रदायकी पद्धतिके अनुसार आप सदाचार पालनमें बड़ी सावधानी रखते थे। जो कुछ दैवयोगसे प्राप्त हो जाता, संतोष-पूर्वक उसे अङ्गीकार करते और स्वयं पाक बनाकर प्रभुके अर्पण करते थे। उस समय कोई भी अतिथि आ जाता तो चाहे स्वयं न पावें, किन्तु अतिथि का सम्मान किये बिना नहीं रहते। सन्तोष, सरलता और परोपकार—ये तीनों गुण आपमें स्वाभाविक थे। आप खण्डेलवाल ब्राह्मण-जातिके कहे जाते हैं।

एक बार अपनी जन्म-भूमि (राजस्थान) से चलकर पर्य्यटन करते हुए आप मथुरामें नारद-टीलापर पहुँचे। वहाँ सैकड़ों शिष्य-प्रशिष्यों-सहित विराजमान श्रीहरिव्यासदेवाचार्यके दर्शन करने पर आपके चित्तमें बड़ी प्रसन्नता हुई। सब प्रकारसे अनुकूलता देखकर आप वहाँ ठहर गये। कुछ दिनोंके पश्चात् जब विरक्त-दीक्षा लेनेके लिये आपकी लालसा बढ़ी, तब आचार्य-श्रीसे आपने प्रार्थना की। श्रवण-कीर्तनादि नवधा-भक्तिमें निरन्तर लवलीन रहनेवाले बनवारीदासजीको अधिकारी समझकर आचार्य-श्रीने विरक्त-दीक्षा दी और महावाणीके गान एवं अनुशीलनकी आज्ञा प्रदान की। आपके आलापमें विशेष रस था। जब आप महावाणीके पदोंको गाते तब स्वयं तो तल्लीन होते ही थे, श्रोतागण भी तन्मय हो जाते थे।

कुछ दिनोंके पश्चात् गुरुदेव जब पर्य्यटनके लिये पधारने लगे तब आप भी साथ चलनेको तय्यार हो गये। श्रीहरिव्यासदेवाचार्यने कहा—"तुम यहाँ ही वृन्दावन, मथुरा, गोवर्धन आदि में पर्य्यटन करते हुए श्रीयुगलकिशोरकी परिचर्य्यामें लगे रहो।" तदनुसार आप आजीवन उसी दशधा (अनुरागात्मिका) अनन्य-रसकी उपासनाके व्रतमें निमग्न रहे।

कोई-कोई इन्हें बनमालीदास भी कहते हैं; किन्तु आपकी जो कुछ रचनायें मिली हैं उनमें अधिकतर 'बनवारी स्याम' की ही छाप मिलती है। आपके रचे हुए पदोंका राजस्थानमें भी विशेष प्रचार है। यद्यपि अभी तक पदोंका संकलन रूप कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हो सका है, तथापि कई-एक गायकोंके मुखसे उनके सुन्दर पद सुनने में आये हैं। वृन्दावनमें वंशीवटके पास यमुना-तटपर ध्यान करते समय सहज-रस-सागर श्रीलाड़िलीलालका सुभग स्वरूप उनके हृदयमें किस प्रकार उलझता था, इस आशयको व्यक्त करनेवाला उनका एक पद यहाँ दिया जाता है—

बसो उर जोरी जुगल अनूप।
स्यामा-स्याम सहज रस सागर उभलत सुभग सुरूप॥
राजत गौर किशोर स्याम दोउ दामिनि घन दुति देत।
चितवत हरत सकल चित कलमष करत हिये अनुरूप॥१॥
श्रीहरिव्यास चरण-रज रंजित मंजित करि मन नैन।
बसि विन्दावन वंशीवट ढिग तरि कालिन्दी कूल॥२॥
यह "बनवारी स्याम" सुखद अति भाग सुभाग बन्यों।
अनत चलन चित चहत न कबहूँ चाहत हों भल भूप॥३॥

ऐसे और भी बहुतसे उनके पद हैं जिनमें जहाँ-तहाँ उनकी जीवनीकी भी झलक मिलती है, इस पदमें भी यह संकेत कि "कोई राजा उन्हें अपने यहाँ ले जानेका अनुरोध किया करता था" है।

कुछ लोगोंका कहना है कि वह राजा खंडेलाका था । वहाँकी 'करमैती बाई' भी श्रीबनवारीदा से प्रभावित होकर ही वृन्दावन आई थीं । इन भक्तोंके परिचयके लिये विशेष अन्वेषण अपेक्षित है

मूल (छप्पय)

(श्रीनारायण मिश्रजी)

नाम नरायन मिश्र वंश नवला जु उजागर ।
भक्तन की अति भीर भक्ति दसधा कौ आगर ॥
आगम निगम पुरान सार शास्त्र सब देखे ।
सुर गुरु शुक सनकादि व्यास नारद जु विसेखे ॥
सुधा बोध मुख सुरधुनी जस बितान जग में तन्यौ ।
भागौत भली विधि कथान कौ धनि जननी एकै जन्यौ ॥१३४॥

अर्थ--श्रीनारायण मिश्रजीने नवला-वंशमें उत्पन्न होकर अपनी कीर्तिसे उसे प्रकाशि किया । भागवतकी कथा सुननेके लिए आये हुए भक्तोंकी आपके यहाँ भीड़ लगी रहती थी आप दस प्रकारकी भक्तिकी खान थे । आप आगम, निगम (वेद), पुराण तथा अन्य शास्त्रों में पूर्ण पारंगत थे और इस दृष्टिसे बृहस्पति, शुकदेव, सनकादि ऋषि और नारदके समान थे। आपके मुखसे, श्रोताओंको ज्ञान देने वाली अमृत-जैसी वाणी गङ्गाजीके समान निकलती थी। आपका यश-रूपी वितान संसारमें फैल गया था । श्रीनारायण मिश्रजीकी माताको धन्य है जिनके गर्भसे श्रीमद्भागवतके कुशल वक्ता श्रीनारायण मिश्रजी पैदा हुए ।

श्रीनारायण मिश्रजी की भक्ति-भावना, सन्त-सेवा, भागवत-कथन, भजन-पद्धति आदिका गायन करनेके उपरान्त श्रीबालकरामने अपनी टीका भक्त-दाम-गुण चित्रनी, पत्र २८३ में आपके सम्बन्धमें एक चमत्कारपूर्ण घटनाका उल्लेख किया है जिसका सारांश नीचे दिया जाता है--

श्रीनारायण मिश्रजीके एक पुत्र था और एक पुत्र-वधू । एक बार पुत्र-वधूकी बहिनने इस पुत्र-वधूको बहकाते हुए कहा--"देखो, तुम्हारा श्वसुर रात-दिन मुंडियोंको बुलाकर सब धन उन्हींको खिलाए देता है । उसे तुम लोगोंका जरा भी ख्याल नहीं है । तुम इसकी जल्दी ही रोक-थाम करो, नहीं तो जीवन-भर रोना पड़ेगा ।" वधूकी समझमें बात ठीक उतर गई । उसने अपने पतिको भी फुसला लिया और अगले दिन ही सास-श्वसुर दोनोंके भोजनमें विष मिला दिया, पर उसका भक्त-दम्पतिपर कोई असर न हुआ । हो भी कैसे--

सन्त-सेव हरि-प्रेममय, सुधा कियो जिहि पान ।
ताको विष कैसे लगे, जाहि रखैं भगवान ॥

किन्तु इससे भी पुत्र और पुत्र-वधूकी बुद्धि निर्मल न हुई । दूसरी बार और अधिक मात्रामें विष

दिया, किन्तु इस बार भी जब कोई प्रभाव न दिखाई दिया, तो पुत्र-वधूने समझा कि विष प्रभाव-हीन है, अतः थोड़ा-सा उसने एवं उसके पतिने भी अपनी जीभपर रख लिया। मुखमें डालते ही दोनोंका शरीर नीला पड़ गया, उनका ताप बढ़ गया और मुँहसे झाग देते हुए वे जमीनपर लोट-पोट हो गए। कुछ समय बाद पत्नीको कै हो जानेके कारण होश आया, तो उसने अपने पतिको भी होश कराया और फिर बोली—"तुम्हारे माँ-बाप विषसे नहीं मरे, यह देखकर तुमको निराश होनेकी आवश्यकता नहीं है, कोई दूसरा उपाय करो।"

इस घटनासे पतिके सामनेका पर्दा हट चुका था। वह उठा और पत्नीकी लातोंसे खबर ली। पिताको विष देनेके कारण उसका हृदय पश्चात्तापसे जला जा रहा था। वह दौड़ा आया अपने पिता श्रीनारायण मिश्रके पास और विष देने आदि की समस्त बात सत्यरूपसे कहकर अपने अपराधकी क्षमा माँगी।

यह सुनकर श्रीनारायण मिश्रजीको पुत्रवधूके अपराधका तो ध्यान रहा नहीं, वे भगवानकी दया और सन्त-सेवा के प्रभावका स्मरण करते हुए अपरिमित आनन्दमें डूब गए।

विशेष—श्रीनारायणमिश्रजीके छप्पयकी श्रीप्रियादासजीने टीका नहीं की। श्रीबालकरामजीने यद्यपि उनके पुत्रकी सालीकी प्रेरणासे पुत्रवधू द्वारा दो बार विष खिलाये जाने पर श्रीनारायणमिश्रजी के बच जानेकी एक विशेष घटनाका उल्लेख किया है, तथापि उन्होंने उनके ग्राम, नाम और समय आदि की कुछ भी चर्चा नहीं की।

श्रीध्रुवदासजीने भी नाभाजीके छप्पयके अर्थका द्योतक एक छप्पय लिखा है, उससे भी विशेष जीवनवृत्तका पता नहीं लगता।

बाल गणकने स्वरचित संस्कृत भक्तमालमें "मिश्रो नारायणाभिधस्त्रिलोकविदितो बभौ" कहकर उन्हें त्रिलोकीमें प्रख्यात तो बतलाया है, किन्तु किसी भी संस्कृत या हिन्दी भक्तमालकारने उनके जन्म-स्थानादि का परिचय नहीं दिया।*

राम-रसिकावली (अ० ११४) में उनके सम्बन्धका एक कवित्त दिया गया है जिसमें उनके मथुरापुरी बसनेके पश्चात् हरिद्वार और बद्रिकाश्रम जानेका और वहाँ (बदरिकाश्रम) में ही उन्हें शुक-देवजी के दर्शन मिलनेकी चर्चा है। अन्तमें यह कह दिया है—

> **तिनकी कथा अपार पुहुमीमें सन्तन विदित।**
> **मैं कछु कियो उचार बिस्तर भय यहि ग्रंथमें॥**

उपर्युक्त ग्रन्थोंके अतिरिक्त नारायणमिश्रजीका इति-वृत्त शोध द्वारा इस प्रकारसे मिला है।

कुछ महानुभाव श्रीनारायण मिश्रजीको सनाढ्यकुलोत्पन्न बतलाते हुए ब्रजके किसी सीमावर्ती नगरको आपकी जन्म-भूमि मानते हैं। उनके वंशज कई शताब्दियोंसे श्रीवृन्दावनमें निवास करते हैं।

कुछ सज्जनोंका निश्चय है कि वे राजस्थानके पाटण (नीलो पाटण जयपुर तंवरावाटी) के

* श्रीनिम्बार्क-सम्प्रदायके विद्वान् और भक्तोंका परिचय सम्भवतः साम्प्रदायिकोंकी गोपन-वृत्तिके कारण उन्हें नहीं मिल सका है।

निवासी नवलकिशोरजी मिश्र (गौड) के सुपुत्र थे। इस मिश्र-कुलका सदासे ही पुराण-प्र व्यवसाय रहा है और इस कुलके कथाकार विद्वानोंकी ख्याति राजस्थानके अतिरिक्त अन्य प्रदेशं रही है। यद्यपि मैथिल, कान्यकुब्ज आदि विप्र-कुलोंमें भी मिश्र उपपद हैं, तथापि राजस्थानमें संख्या बहुत ही कम है, अतः नारायणदासजी मिश्रकी जन्म-भूमि पाटण और गौडकुल मानना युक्ति-संगत प्रतीत होता है। आज भी इस कुलके विद्वान् पुराण-प्रवचनमें ही सन्तुष्ट देखे जाते हैं।

संगीतकी भांति पौराणिक प्रवचनकी भी भिन्न-भिन्न पद्धतियाँ हैं। इस कुलके विद्वान् यह पद्धति वर्द्धमान-मण्डलकी परंपरानुवर्ती मानते हैं और आजकल भी अपने बालकोंको श्रीमद्भाग अध्ययन मथुरा-वृन्दावनमें कराते हैं।+

श्रीनारायण मिश्रजीने श्रीकेशवकाश्मीरी भट्टाचार्यजीकी सन्निधिमें रहकर वेदान्त-पुराण शास्त्रोंका अध्ययन मथुरामें ही किया था। तत्पश्चात् उन्होंने तीर्थाटन एवं भारत-भ्रमण किया भागवत-प्रवचन द्वारा मुमुक्षु जनोंका कल्याण किया। गृहस्थाश्रममें रहते हुए भी उन्होंने साधु-सन्त हृदयसे सेवा की। कथा-पूर्तिपर भेंट-रूपमें जो कुछ द्रव्य प्राप्त होता वह सब सन्तोंकी सेवामें लगा देते थे।

वृद्धावस्थामें श्रीभट्टदेवाचार्यजीसे विरक्त-वेश (वानप्रस्थ) लेकर आप निरन्तर व्रजमें ही निव किया करते थे। श्रीनाभाजीके "भक्तिदशधाको आगर" और "सनकादि व्यास नारदजू विशेषें" ये मूल संकेत आपकी सम्प्रदाय-परंपराको ही व्यक्त करते हैं। भक्तमालमें कई स्थलों पर एक सम्प्रदाय के भ का क्रम से वर्णन भी मिलता है। यहाँ भी परशुरामदेवाचार्य तक वही क्रम है।

मूल (छप्पय)

(श्रीराघवदासजी)

काम क्रोध मद मोह लोभ की लहर न लागी।
सूरज ज्यौं जल ग्रहै बहुरि ताही ज्यौं त्यागी॥
सुंदर सील सुभाव सदा संतनि सेवा व्रत।
गुरु धर्म निकष निर्बह्यौ विश्व में बिदित बड़ौ भृत॥
अल्हराम रावल कृपा आदि अंत धुकर्ती धरी।
कलिकाल कठिन जग जीति यों राघो की पूरी परी॥१३५॥

अर्थ—काम, क्रोध, मद, लोभकी लहरें श्रीराघवदासजीको छू तक नहीं गई थीं। जिस प्रकार सूर्य जलाशयोंसे जल खींचता है और समय आनेपर (वर्षा-ऋतुमें) लोगोंके कल्याण के लिए उसे बरसा देता है, उसी प्रकार आप भी साधु-सेवाके निमित्त ही धनका संग्रह करते

* पाटणके मिश्रकुलमें वर्तमान पं० श्रीउदयचन्दजी भागीरथजी आदि उसी प्रवृत्तिके विद्वान् हैं।

\+ पंडित काशीप्रसादजी शा० पपुरणा (जोधपुर) के संग्रह को देखनेसे यह ज्ञात हुआ है कि जीवीपाठ्य में निम्बार्क-सम्प्रदायके प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थोंका भी अच्छा संग्रह था।

थे। आपका स्वभाव और आचरण बड़े सुन्दर थे और सन्तोंकी सेवा करना ही जीवनका एक-मात्र लक्ष्य था। गुरु-सेवा-रूपी धर्मकी कसौटीपर आप खरे उतरे। यही कारण था कि आप एक आदर्श गुरु-सेवीके रूपमें संसारमें विख्यात हुए। श्रीअग्रके शिष्य और अपने गुरुदेव श्री रामरावलजीकी कृपासे आप जीवनके प्रारंभसे लेकर अन्त-समय तक प्रभुमें ही अपनी वृत्तियों को लगाए रखनेमें समर्थ हुए। श्रीराघवदासजीने, इस प्रकार, इस भयंकर कलियुगके प्रभाव को जीत कर भगवद्-भक्ति और साधु-परायणताके व्रतको निभाया।

श्रीराघवदासजीका विशेष वृत्त भक्त-दाम-गुण चित्रनी, पृष्ठ ३८४ में निम्न प्रकारसे मिला है—

गुरुदेवके परम-भक्त श्रीराघवदासजी काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह आदि सांसारिक महान् अजेय शत्रुओंको जीतकर इस धरतीपर भ्रमण करते हुए भगवानका गुण गान किया करते थे और संसारके मनुष्योंको भक्तिका उपदेश देकर अपने गुरु-चरणोंकी शरण प्राप्त कराया करते थे।

एक बार श्रीराघवदासजी अकेले ही भ्रमण करते-करते गिरि-प्रदेशमें जा पहुँचे और भक्तिका उपदेश देने लगे। इनके कहनेके ढङ्गसे प्रभावित होकर सभी रजवाड़ोंकी रानियाँ भी इकट्ठी होने लगीं। यह देखकर एक क्षत्रिय-राजकुमारके मनमें आपके प्रति दुर्भाव पैदा होगया और वह आपकी परीक्षा लेने के लिए एक शराबकी बोतल लेकर आपके पास आकर बोला—"महात्माजी! स्त्रियोंकी सङ्गति तो साधुके लिये उचित नहीं मानी गई, फिर आप कैसे साधु हैं जो हर समय इन युवती स्त्रियोंसे घिरे रहते हैं?"

राघवदासजी—"हमारे लिए स्त्री-पुरुषमें कोई भेद नहीं है। हमें तो सभीमें एक ही भगवानके दर्शन होते हैं।"

राजकुमार—"ऐसा तो सर्वथा असम्भव है। हमारे पास इस बोतलमें शराब है, भला यह दूध के समान कैसे हो सकती है।"

राघवदासजी—"हमारे लिए तो यह भी दूधके समान है।"

राजकुमार—यदि ऐसी बात है और आप इस कोटि तक पहुँच गए हैं, तो शराबका दूध करके भी दिखला सकते हैं?"

राघवदासजी—हाँ, हाँ, भगवानकी कृपासे यह भी कोई महान् कार्य नहीं है।"

इतना कहते ही मदिराकी बोतल दूधसे भर गई। राजकुमारके आश्चर्यका कोई ठिकाना न रहा। वह काँपता हुआ श्रीराघवदासजीके पैरोंसे लिपट गया और क्षमा-याचनाके बाद बोला—

"तुम समरथ मन-जीत अतीता दीजै दीक्षा मोही।"

श्रीराघवदासजी उस राजकुमारको दीक्षा देकर अपने आश्रमपर लौट आए। आपके गम्भीर और सुविस्तृत यशका गान करना बड़ा कठिन है।

मूल (छप्पय)
(श्रीबावनजी)

अच्युत कुल सों दोष सुपनेहूँ उर नहिं आनै।
तिलक दाम अनुराग सबनि गुरुजन करि मानै॥
सदन माँहि बैराग्य बिदेहन की सी भाँती।
रामचरन मकरंद रहत मनसा मदमाती॥
जोगानंद उजागर बंस करि निसिदिन हरिगुन गावनौ।
हरिदास भलपन भजन बल बावन ज्यौं बढ़्यौ बावनौ॥१३६॥

अर्थ—श्रीबावन (वामन) जी अच्युत-गोत्रिय वैष्णवोंके किसी अवगुणपर तनिक भी ध्यान नहीं देते थे। वैष्णवोंके चिह्न तिलक और कण्ठी-मालासे आपका अनुराग था तथा वैष्णवका वेष धारण किए हुए प्रत्येक व्यक्तिको आप अपना गुरु करके मानते थे। राजर्षि जनककी भाँति गृहस्थ-धर्मका पालन करते हुए भी आप वैराग्य-भावनासे युक्त थे। श्रीराम-चन्द्रजीके चरण-कमलके कृपा-रूपी परागको पीकर आपका मन-रूपी भ्रमर सदा मतवाला रहता था। श्रीयोगानन्दजीके वंशकी कीर्तिको फैलाकर आप रात-दिन भगवानके गुण गाया करते थे। श्रीबावनजी, इस प्रकार, हरि-भक्तोंकी सज्जनता तथा प्रभुके भजनके आधारपर भगवानकी तरह छोटे होकर भी बहुत बड़ गए।

पाठ-भेद—इस छप्पयके अन्तिम चरणका पाठ्य कुछ प्रतियोंमें इस प्रकार पाया जाता है—

हरिदास भलप्पन भजन बल मन ज्यौं बाढ्यौ बावनौ।

इसके अनुसार कुछ विद्वानोंका मत है कि इस छप्पयमें भक्त 'हरिदासजी' का वर्णन किया है। बालक-रामने भी अपनी टीका भक्त-दाम-गुण चित्रनी, पत्र ३८४ में 'हरिदास' ही नाम माना है और 'बावन' उनकी छाप बतलाई है—

"हरिदास नाम छाप बावना कहत तासूं बावन ग्रामनि के सों मंडल बसाइये।"

भक्तिसे परिपूर्ण श्रीहरिदासजीका उपनाम 'बामन' था, क्योंकि आपने ५२ ग्रामोंमें भक्तिका मण्डल बनाया था। ये जातिके ब्राह्मण थे और इनका काम था सीधा-सामान माँग लाना और सन्तोंको रसोई बना बना कर प्रसाद पवाना। सन्त-समाजमें आपका बड़ा सम्मान था। एक दिन इनके यहाँ सन्तोंके साथ उन्हींका वेश बनाकर एक नीच व्यक्ति भी आ गया। वह उनके घरपर कई दिन रहा और अन्तमें जब जाने लगा तो एक दिन इनकी पत्नीसे बोला—"आपके पास एक रुपया हो तो मुझे दे दो, ब्राह्मणजीने भेजा है।" पत्नीके पास एक ही रुपया था। उसने वह दे दिया। जब श्रीहरिदासजी लौटे तो पत्नी को सब रहस्य मालूम हुआ। वह इनसे बोली—"देखो, सन्तोंमें भी कैसे ठग होते हैं। अब मेरी बात मानो तो इनका घरमें बुलाना छोड़ दो।" आप सन्तोंके सम्बन्धमें एक बात भी सुननेको तैयार नहीं

थे। उन्होंने पत्नीसे कहा—"सन्त ले गये तो मेरा ले गये, तेरा क्या ले गये ? तू क्या रुपया अपने बापके यहाँसे लाई थी ? मेरा सन्तोंसे वैसा ही प्रेम है जैसा मछलीका पानीसे होता है। आजके बाद भविष्यमें कभी भी सन्तोंके सम्बन्धमें ऐसी बात नहीं करना। वे जितना ले जायेंगे उससे कई गुना दे भी जायेंगे।" यद्यपि पत्नीको इस बातपर विश्वास नहीं हुआ, पर वह आगे श्रीहरिदासजीसे कुछ न बोली।

दूसरे ही दिन भगवान सन्तके वेशमें दो सौ रुपये लेकर भक्त हरिदासके घर आये और बोले—"जब मैं गृहस्थी था, मुझसे एक व्यक्ति कुछ धन उधार ले गया था। वह आज चुका गया है। अब मैं हो गया विरक्त, धनका करूँगा ही क्या ? आप साधु-सेवी सन्त हैं, अतः यह रुपये ले लीजिये, साधु-सेवामें लगा देना।" इतना कहकर और रुपये देकर भगवान हरिदासके घरसे बाहर आते ही अन्तर्धान हो गये। हरिदासजीने पासमें खड़ी अपनी पत्नीसे कहा—"देखा, तुमने सन्त प्रेम !" पतिकी बात सुनकर उनकी पत्नीका मन सन्त-प्रेमसे सराबोर हो गया। उस दिन भक्त हरिदासने डटकर भण्डारा किया और सब सन्तोंको भोजन कराया।

श्रीहरिदासजीके सम्बन्धमें एक वार्ता और सुनिए। एक बार आपके यहाँ कोई बीमार सन्त आया। आपने उसकी खूब सेवाकी और उसकी बीमारी भी दूर हो गयी। तभी उसने श्रीहरिदासजीकी पत्नीसे कहा—"मेरे लिये दलिया बना दो।" उसने दलिया तैयार कर दिया। सन्तने उसे चाखा तो स्वाद नहीं आया। उसने कहा—"हमारा मन तो चनेकी दाल और गेहूँकी रोटी खानेका है। दलिया तो अच्छा नहीं लग रहा है।" स्त्रीने मनाकर दिया। इसपर सन्तको थोड़ा-सा क्रोध आ गया। स्त्रीने जब यह देखा तो सन्तको फटकारते हुए बोली—"जो दे रहे हैं सो तो खाता नहीं, बातें बनाता है दुनिया-भर की। यहाँ तू कोई कमाकर तो रख नहीं गया, नहीं खाता है, तो मत खा !"

इसी प्रकार श्रीहरिदासजीकी पत्नी और सन्तके बीच विवाद बढ़ गया और गाली-गलौज होने लगी। इसपर सन्त अपने क्रोधको न रोक सका। उसने उठकर पाँच-सात चाँटे श्रीहरिदासजीकी पत्नी में जड़ दिए। वह रोती हुई आपके पास गई और सारी बात कहनेके बाद बोली—"इस साधुको घरसे भगा दीजिए।" आप बोले—"ऐसा कभी नहीं हो सकता। सन्त तो मेरे माँ-बाप हैं। वे लात मार कर भी धर्म करनेकी शिक्षा देते हैं।" यह सुनकर पत्नीने गाल फुला लिए और सबसे बोलना-चालना छोड़कर एक तरफ जा बैठी। यह हाल देखकर एक दिन सन्त भी चुपचाप उठ करके चला गया। उसी समय कुछ ऐसी होनी हुई कि हरिदासजीका पुत्र मर गया। पत्नी विह्वल होकर रोने लगी। आपने उसे ज्ञानका उपदेश देते हुए कहा—"तूने सन्तका अपमान किया था; इसीलिए भगवानने तुझे यह दंड दिया है। यदि तू अपना कल्याण चाहती है तो आजसे पुनः श्रद्धा और भक्ति-पूर्वक सन्त सेवा प्रारम्भ कर दे।

पतिदेवकी बातपर उसने कहा—"यदि संत-सेवामें कुछ चमत्कार है तो आप इस पुत्रको जिन्दा कर दीजिए, मै तो संत-सेवा नहीं करती, आप तो करते हैं।"

इतना कहते ही मृत पुत्र जी उठा। हरिदासजी बोले—"देखो, भगवानकी कृपासे तुम्हारा पुत्र पुनः जीवित होगया है। आजसे श्रद्धा-पूर्वक भगवानकी सेवा करना प्रारंभ कर दो।"

पत्नी हरिदासजीकी बात मान गई और वह पुनः सन्त-सेवा करने लगी।

मूल (छप्पय)

(श्रीपरशुरामदेवाचार्यजी)

ज्यों चन्दन कौ पवन निंब पुनि चंदन करई ।
बहुत काल तम निविड़ उदै दीपक ज्यों हरई ॥
श्रीभट पुनि हरिव्यास संत मारग अनुसरई ।
कथा कीरतन नेम रसन हरिगुन उच्चरई ॥
गोविंद भक्ति गद रोग गति तिलकदाम सद बैद हद ।
जंगली देश के लोग सब परसराम किये पारषद ॥१३७॥

अर्थ—जिस प्रकार चन्दनके वृक्षसे बहने वाली हवाका स्पर्श पाकर आस-पासके नीमके पेड़ भी चन्दन-तुल्य हो जाते हैं और जिस प्रकार दीपक चिरकालीन घने अन्धकारको दूर कर देता है, वैसे ही श्रीपरशुरामदेवाचार्यजीने भी जंगली लोगोंको भक्तिका उपदेश देकर उन्हें भगवानके पार्षदोंके समान पूजनीय बना दिया। आपने श्रीनिम्बार्क-सम्प्रदायके आचार्य श्री भट्टजी तथा श्रीहरिव्यासदेवजीके मार्गका अनुसरण किया। आप नियम-पूर्वक भगवत्-कथा-कीर्तन करते थे और जिह्वासे सदा प्रभुके गुण गाया करते थे। कोई सद्वैद्य जिस प्रकार स्वादिष्ट अनुपान-सहित रस-रसायन द्वारा रोगीको रोग-मुक्त कर देता है, वैसे ही श्रीपरशुरामजी भी तिलक-मालाके सहित भक्तिका उपदेश देकर पाप, ताप, सन्ताप आदि सांसारिक रोगोंसे लोगों का उद्धार करते थे।

विशेष—आयुर्वेद-शास्त्रके अनुसार वैद्य लोग दो प्रकारकी औषधियोंकी व्यवस्था करते हैं—काष्ठादिक और रस। इनमें काष्ठादिकके द्वारा तैयार किये जानेवाले काढ़े तो प्रायः कड़वे होते हैं जिन्हें पीते समय रोगीका जी काँप उठता है। काष्ठादिक द्रव्योंका संग्रह करना तथा उन्हें कूट-पीसकर कपड़-छन करना भी बहुत ही कष्ट-साध्य है। रस और रसायन, इसके विपरीत, खानेमें कड़वे नहीं होते और अपना असर भी जल्दी दिखलाते हैं। श्रीनाभाजीने भक्ति-मार्गको रसायनके तुल्य बतलाया है और साथ ही में यह व्यंजना भी की है कि कर्म-मार्ग और ज्ञान-मार्ग अपेक्षाकृत कहीं कठिन हैं, अतः भव-रोगसे मुक्ति चाहनेवालोंको कर्म-मार्गका प्राविक-प्राणायाम छोड़कर सरस भक्ति-मार्गका ही अनुसरण करना चाहिए।

भक्ति-रस-बोधिनी

राजसी महंत देखि गयौ कोऊ अंत लैन, बोल्यौ "जू अनंत हरि संपी माया टारियै।"
चले उठि संग वाके, त्यागि, पहिरि कोपीन अंग, बैठे गिरि कंदरा में लागी ठौर प्यारियै ॥
तहाँ बनिजारौ आय संपति चढ़ाय दई, दई और पालकी हू, महिमा निहारियै।
आय लपटायौ पाय, "भाव मैं न जान्यौ कछू, आन्यौं उर माँझ, आवै प्रान वार डारियै ॥५२२॥

अर्थ—श्रीपरशुरामजीको राजाओंकी तरह राजसी ठाट-बाटसे रहता हुआ देख कर कोई व्यक्ति परीक्षा लेनेके लिए उनके पास जाकर कहने लगा—"आपको तो हमने यह कहते हुए सुना है कि—

माया सगी न तन सगो, सगो न यह संसार।
'परशुराम' या जीव को, सगो सो सिरजनहार॥

आपका यह भी कहना है कि इस जीवका सदा (अनन्त-काल तक) साथ देने वाले केवल श्रीहरि ही हैं, तो इस वैभवको अपने पाससे दूर कीजिये।"

यह सुनते ही परशुरामजी समस्त ऐश्वर्यको लात मार कर और केवल एक कौपीन पहिन कर उसके साथ हो लिये और एक पर्वतकी कन्दरामें जाकर आसन जमा दिया। यह एकान्त स्थान आपको बहुत ही अच्छा लगा और वहीं रहकर आप भजनमें प्रवृत्त हो गए।

इसी समय न-जाने कहाँ से एक व्यापारी वहाँ पहुँचा और बहुत-सी सम्पत्ति भेंट कर उनका शिष्य बन गया। साथमें उसने एक पालकी भी भेंट की। आपकी ऐसी महिमा देख कर परीक्षा करनेके लिये गये हुए व्यक्तिकी आँखें चौंध गईं और वह पैरोंमें गिरकर बोला—"मैंने यह नहीं समझा था कि आपका ऐसा प्रभाव है। मेरे जीमें आता है कि आप पर अपने प्राण निछावर कर दूँ।"

जीवन-वृत्त—सोलहवीं शताब्दीमें जयपुर-राज्यान्तर्गत नारनौलके संनिकट गौड़-ब्राह्मण कुलमें श्रीपरशुरामदेवाचार्यजीका आविर्भाव हुआ था। निखिल-महीमण्डलैकदेशिक श्रीहरिव्यासदेवाचार्यजीसे मन्त्रोपदेश लेकर आपने श्रीनारद-टीला, मथुरामें कुछ दिन भजन-साधन किया। श्रीगुरुदेवके भारत-भ्रमणमें आप उनके साथ थे। अवस्थामें आप छोटे थे। वैसे कुछ गुरु-भाइयोंसे आप बड़े और कुछसे छोटे थे, पर गुरुदेवकी दया-दृष्टि आपपर सबसे अधिक थी।

उस सोलहवीं शताब्दीके मुगल शासन-कालमें यवन तान्त्रिकोंने हिन्दू-धर्मके मूलोच्छेदनका आतंक जमा रखा था। राजस्थानके पवित्र तीर्थ पुष्करराज एवं द्वारकाकी यात्राको जानेवाले सभी प्रान्तोंके हिन्दू-यात्रियोंपर भी इनका अत्याचार कम नहीं था। शासकोंका सहयोग भी इन्हें प्राप्त था। ऐसी स्थितिमें उन यात्रियोंके द्वारा रक्षाकी प्रार्थना करनेपर श्रीहरिव्यासदेवाचार्यजीने अपने प्रिय शिष्य श्रीपरशुरामदेवजीको आज्ञा देकर कुछ शिष्योंके साथ वहाँ भेज दिया। इसी समय श्रीसर्वेश्वर-प्रभुकी सेवा भी आपको सौंप दी गई।

श्रीपरशुरामदेवाचार्यजी वहाँ गए तो तान्त्रिकोंके समस्त प्रयत्न आपके सामने निष्फल हो गए। वे ऐसा अद्भुत चमत्कार देखकर आपके चरणोंमें आकर क्षमा माँगने लगे। इससे उस स्थानकी यात्रा करनेवाले हिन्दुओंको बड़ा आनन्द हुआ और वे अपार भीड़के रूपमें वहाँ आपके दर्शनको आने लगे। आगे चलकर आपके प्रतापके कारण इस स्थानका नाम 'परशुरामपुरी' पड़ा और वही आज अखिल-भारतीय निम्बार्काचार्य-पीठके नामसे विख्यात है।

तत्कालीन दिल्लीका बादशाह भी श्रीपरशुरामदेवजीके प्रतापकी चर्चा सुनकर वहाँ पहुँचा और

एक उत्तम जातिका कीमती दुशाला आपको भेंट किया। स्वामीजी उस समय हवन कर रहे थे उन्होंने दुशालेको उठाकर दहकती ज्वालामें होम दिया। बादशाहको इससे बड़ा कष्ट हुआ। उसके मनोभावको स्वामीजी समझ गए और उसी प्रकारके कई दुशाले राजाके सामने अग्निमें-से निकालकर डालते हुए बोले—"आप अपना दुशाला ले सकते हैं। बादशाह लज्जित हो चरणोंमें गिर पड़ा। स्वामीजीने उसे पुत्र होनेका आशीर्वाद दिया जो बादमें सत्य सिद्ध हुआ। जिस स्थानपर इस समय बादशाहका 'अमला' ठहरा था वह स्थान आगे 'सलीमाबाद' नामसे ख्यात हुआ। वहाँके व्यासोंके पट्टोंसे यह बात ज्ञात होती है कि विक्रम की १६ वीं शताब्दीके सलीमाबाद बस चुका था और यह एक अच्छा कस्बा एवं परगना बन चुका था। उसके अधीन सात गाँव थे। सं० १६६४ में किशनगढ़ राज्यकी स्थापना होनेपर उन सात गाँवोंके साथ सलीमाबाद भी महाराजा किशनसिंह को मिला। जोधपुरकी तवारीखोंमें ऐसा उल्लेख भी मिलता है कि मथुरामें यमुना-किनारे विराजते हुए श्रीपरशुरामदेवजीको इस गाँव (परशुरामपुरी) का ताम्र-पत्र बादशाहने अर्पण कर दिया था। आज भी ग्रामका अधिकांश भाग श्रीसर्वेश्वर-प्रभुके अधिकार में है। राजस्थानके सभी छोटे-बड़े राजे-महाराजाओंने श्रीसर्वेश्वर प्रभु एवं उनके लिये बनवाए गए मन्दिरका यथाशक्ति मान सम्मान किया है और वर्तमान समयमें उनके वंशज भी ऐसा ही करते चले आ रहे हैं। श्रीपरशुरामदेवजीकी उस समय की कुछ वस्तुएँ जैसे—माला, चित्रपट, खड़ाऊँ, धूनी (हवन-कुण्ड) आदि आज भी विद्यमान हैं और भक्त-जन वहाँ आकर इन वस्तुओंके दर्शन कर अपनेको कृतकृत्य समझते हैं।

अन्य विशेषताएँ—श्रीनाभाजीने 'हरिसुजस-प्रचारक' कवि-भक्तों (छप्पय सं० १०२) में श्रीपरशुरामदेवजीका उल्लेख करके उनकी रचना "परशुराम-सागर" की ओर संकेत किया है। प्रस्तुत छप्पय १३७ में उनकी गुरु-परम्परा एवं जंगली प्रदेश (राजस्थान) के निवासियोंको भगवद्-पार्षद बना देने आदिका वर्णन किया गया है।

नाभाजीके कुछ ही पश्चात् अन्य भक्तमालकार दादू-पंथी श्रीराघवदासजीने विरहत जंगली (जाङ्गल) देशमें उस स्थानका भी निर्देश कर दिया है जहाँपर श्रीपरशुरामदेवजी मथुरासे आकर विराजमान हुए थे जैसे मलयागिरिकी पवन अपने स्पर्शसे चन्दनेतर वृक्षोंको भी सुगन्धित बना देती है, उसी प्रकार श्रीपरशुरामदेवाचार्यजीने वहाँके अभक्तोंको भी भक्त बना दिया। उन्होंने वहाँके निवासियोंके हृदयका अज्ञान दूर कर ज्ञानका प्रकाश कर दिया। वह छप्पय इस प्रकार है—

मलिया ज्यूं बहु बृक्ष बास सूं चंदन कीना।
है हरि-नाम मसाल अँधेरा अघ हरि लीना॥
भक्ति नारदी भजन कथा सुनतें मन राजी।
श्री भट पुनि हरिव्यास कृपा सत संगति साजी॥
भगवन्त नाम औषदि पिवाइ रोग दोष गति करि दिया।
अजमेरा के आदमी श्री परसराम पावन किया॥

उपर्युक्त छप्पयमें श्रीराघवदासजीने श्रीपरशुरामदेवको नारदीय भक्ति-गान कलामें प्रवीण कह कर उनकी संगीतज्ञताकी ओर संकेत किया है। यद्यपि नाभादासजीने इस सम्प्रदायके एक ही सन्त श्रीहरिदासजीका ही संगीतके विशिष्ट आचार्यके रूपमें स्मरण किया है, किन्तु वास्तवमें बात यह

है कि इस सम्प्रदायके समस्त आचार्य ही सङ्गीतज्ञ हुए हैं। श्रीनारदजीकी सङ्गीत-विद्याका परम्परागत रूपसे आपको ज्ञान होना स्वाभाविक भी है। श्रीभट्टजीसे आगेके सभी आचार्य कवि हुए हैं और उन्होंने अपनी रचनाएँ गेय पदोंमें की हैं। इन समस्त पदोंकी गेयता एवं उनके ऊपर दिए गए राग-रागनियोंके नामोंसे भी यह स्पष्ट है कि ये समस्त आचार्य गान-कलामें बढ़े-चढ़े थे। साधारण कवि भी अपनी रचनाको प्रायः गाकर ही सुनाते हैं। वस्तुतः सङ्गीत और कवित्वका परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है और एकसे दूसरेकी पूर्णता है। हाँ, इतना अवश्य कहा जा सकता है कि कविमें काव्यकी और सङ्गीतज्ञमें सङ्गीतकी प्रधानता रहती है। अतः राघवदासजी द्वारा श्रीपरशुरामदेवजीको सङ्गीतज्ञ बतलाना युक्तियुक्त ही है।

श्रीराघवदासजीने उपर्युक्त छप्पयके अतिरिक्त दो इन्दव छन्दों द्वारा श्रीपरशुरामदेवजीके विशिष्ट गुणोंकी ओर संकेत करते हुए और भी लिखा है—

१—करणी, जरणी, सत, सील, दया प्रसराम सौं राम रजा मैं रह्यो।
कहणी, रहणी, सरसौ परसौ निश्चै दिन राति यों राम कह्यो॥
ममता तजि कै समता संग लै भ्रम छाड़ि सबै दिढ़ ध्यान गह्यो।
लीन्हों महा मथि नांव निर्मल राघौ तज्यौ कृत काज मह्यो॥६२२॥

२—राज महंत गयौ इक देखन बोलि कह्यो यह साधि विचारो।
ऊठि चलै नगर्‌ जात पर्ब जग बैठि गुफा हरि नांव उचारौ॥
नाइक आइ चढ़ावत संपति और दई सुखपाल निहारो।
आइ परचौ पग भाव न जांनत भाव भयौ इनकौ नहीं सारौ॥६२३॥

श्रीपरशुरामजीके त्यागकी गाथा जैसे राघवदासजीने लिखी है, उसी प्रकारसे श्रीप्रियादासजी और बालकरामजीने भी लिखी है।‡ किन्तु श्रीद्यालवालजीने उपर्युक्त सभी महानुभावोंकी अपेक्षा एक विशेष परिचय दिया है। श्रीप्रियादासजी आदिके वर्णनके अनुसार श्रीपरशुरामदेवजीके त्यागकी परीक्षा किसी राज-महन्त द्वारा हुई थी। और श्रीद्यालवालके अनुसार किसी धनी सेठके द्वारा हुई थी। श्रीद्यालवालजीने श्रीपरशुरामदेवाचार्यके सम्बन्धमें कई छप्पय रचे हैं। उनमेंसे केवल दो को यहाँ उद्धृत किया जाता है—

१—तोडै मेल्यौ* संत मेडतै भूप बुलायौ।
राज काज भव छाडै साध दरसन कूं ध्यायौ॥
भगवत धर अवतार सूतको कारज कीयौ।
सैलंग पूछ्यो यही भगत परचै सुष दीयौ॥
पेख निरपत सिष होय सबै चरण सरण अवलाषियौ।
परसराम की साध सुण जन दरसण परण राषियौ॥ (छ० सं० २५२)

२—दान पुंण्य जिग जोग होम तीरथ व्रत केता।
तपस्या संजम त्याग राम बिन सुंन कित जेता॥

※ सालम पहाड (पुष्करराज) सलेमाबादसे १२ कोश दक्षिण में है।

‡ बालकराम कृत भक्तमाल-टीका पत्र २८७।

* राजस्थानी भाषामें "तोडै" शब्द धन्देशवाहक दूतका वाचक है, सम्भवतः लेखकके प्रमादसे उसके स्थानमें "तोडै" होगया हो।

रिध सिध चरण निवास येहस कूं परिचौ दीनौ।
चले विभूएती त्याग निरंतर आसण कीनौ॥
छाया ज्यूं माया जांहीं जिन आसै भगती अघट।
राम नाम माहातम अगम परसराम गायो प्रगट॥ (छ० सं० २५१)

इन छप्पयोंमें २५१वें छप्पयका वृत्तान्त प्राय: प्रसिद्ध है, किन्तु छप्पय संख्या २५२ में श्रीग्वाल-बालजीने एक ऐतिहासिक घटनाकी चरचाकी है, संक्षेपमें उसका तात्पर्य इस प्रकार है—

मेड़ता नरेशने एक सन्तको भेजकर श्रीपरशुरामदेवाचार्यको आमंत्रित किया। श्रीपरशुराम-देवाचार्य जब वहाँ पधारे तो नरेश राजके समस्त कार्योंको त्यागकर आपके दर्शनार्थ आए। उन्होंने आपका विशिष्ट स्वागत-सत्कार किया। इनके अतिरिक्त और भी जिन-जिन राजा महाराजाओंने श्री-परशुरामदेवाचार्यका दर्शन किया वे सभी उनके शिष्य बन गए। बहुतसे राजा-महाराजा उनके चरणोंकी शरणमें पहुँचनेकी अभिलाषा किया करते थे।

श्रीपरशुरामदेवजीका समय—श्रीग्वालबालजीके उपर्युक्त छप्पयपर विचार-विमर्श करनेपर श्री-परशुरामदेवाचार्यके समय—निर्धारणमें विशेष सहयोग मिल सकता है, अत: उस सम्बन्धमें थोड़ा विचार कर लेना असंगत न होगा।

राजस्थानके इतिहासोंके अनुसार वि० सं० १५१५ में 'रावजोधा' जीने अपने नाम पर 'जोधपुर' नगर बसाया।× उसी समय (सं० १५१५) श्री 'वीरसिंह' द्वारा 'मेड़ता' बसाया गया।❀ फिर जोधाजीके चतुर्थ पुत्र 'रावदूदाजी' ने (जन्म सं० १४९७) विक्रम सं० १५१८ में मेड़ताका पुनरुद्धार करवाया था।❀ वे ही वहाँके नरेश बने।

दूदाजीके दो पुत्र हुए—(१) वीरमदेव (जन्म-सम्वत् १५३४)§ और (२) रतनसिंह। वीरमदेवके भक्त और वीरवर पुत्र जयमल (सम्वत् १५६४) हुआ।° उस समय रतनसिंहकी पुत्री भक्तिमती मीराँबाई की अवस्था पाँच वर्षकी हो चुकी थी।× विक्रम सम्वत् १५७३ में उदयपुरके राणा भोजराजसे मीराँजीका विवाह हुआ।% और विक्रम सम्वत् १६०३ में वे श्रीद्वारकाधीशके विग्रहमें लीन हो गईं।

जब मीराँकी अवस्था सात वर्षकी हो चुकी थी उस समय ऐसे योग पारंगत महात्मा मेड़ते पधारे थे जो अच्छे कवि और गायक भी थे। मीराँके पितामह रावदूदाजीने बड़े मान-सम्मान-पूर्वक उन्हें राज-महलोंके सन्निकट श्रीचारभुजाजीके मन्दिरमें ही ठहराया था। उस समय दूदाजीकी अवस्था लगभग ७० वर्षकी थी। आधुनिक इतिहासकार भी उस योगी के मेड़ते जानेका उल्लेख करते हैं।@ किन्तु योगीका विशेष परिचय नहीं देते।

श्रीराघवदासजी और श्रीग्वालबालजीके इन छप्पयोंके आधारपर यह निश्चय होता है कि वे योग—पारंगत, सुकवि, गायक एवं उपदेशक महात्मा श्री परशुरामदेवाचार्य ही थे। ये तीनों ही भक्तमालकार राजस्थानी होने के कारण मेड़ता-नरेश और सलेमाबादके आचार्य दोनोंकी ऐतिहा-

---

× मीराँ-सुधा-सिन्धु, पृष्ठ ७। ❀ मुहणोत नैणसीकी ख्याति, पृ० १४२ द्वितीय खण्ड, नागरी-प्रचारिणी-सभा, काशी द्वारा प्रकाशित। ❀ मीराँ-सुधा-सिंधु पृ० ७। § वही, पृ० ७। ° वही, पृ० १४।
% नरसिंहदासजी भावजी अग्रमहू—"सूरदासनूं जीवन चरित्र"। @ मीराँ-सुधा-सिन्धु, पृ० १६।

सिक घटनाओंके जानकार थे। राघवदासजीने जब भक्तमाल लिखी थी उस समय तक श्रीपरशुराम देवाचार्यजीको अन्तर्धान हुए एक शताब्दी पूरी हो गई थी। उस समय श्रीवृन्दावन देवाचार्य (परशुराम देवाचार्यजीसे तृतीय) पीठाधिपति थे। उदयपुर, जोधपुर, मेड़ता आदि सभी नगरोंके नरेश उन का विशेष मान-सम्मान करते थे। वह सम्मान उनके पूर्वजों द्वारा निर्धारित मर्यादाके अनुसार ही होता था। आजकल भी जब श्रीनिम्बार्काचार्य-पीठाधिपति श्री श्रीजी महाराजका उन नरेशोंके यहाँ पदार्पण होता है तब वे पुराने कागजातोंको दिखलाकर उसीके अनुसार अगवानी करते हैं।

जब श्रीपरशुरामदेवाचार्य मेड़ता पधारे तब वहाँके वृद्ध नरेश राव दूदाजीपर आचार्य-श्रीके उपदेशोंका इतना प्रभाव पड़ा कि वे अपने बड़े पुत्र वीरमदेवजीको समस्त राज-काज सौंपकर सत्संग में निरत रहने लगे, जैसा कि श्रीग्वालबालजीने "राजकाज सब छाड़ि साथ दरसन कूं ध्यायौ" इन शब्दोंसे व्यक्त किया है। मेड़ताकी राज्य-परिस्थितिपर दृष्टि-पात करनेसे भी यही प्रमाणित होता है कि वि० सं० १५६६ या १५६७ में ही श्रीपरशुरामदेवाचार्य मेड़ता पधारे थे।

श्रीपरशुरामदेवाचार्यजीके सत्सङ्गमें सभी राज-परिकर सम्मिलित हुआ। मीराँजी भी वहाँ आई थीं। जो पद श्रीपरशुरामदेवजीने गाया था उसे मीराँजीने तुरन्त कंठाग्र कर लिया और जब दूसरे दिन प्रातःकाल हुआ तो उसी पदको गाने लगीं। श्रीपरशुरामदेवाचार्यजी, जैसा कि ऊपर कह आए हैं, महलों के निकट चारभुजाजीके मंदिरमें⊛ ठहरे हुए थे। उन्होंने पुजारियोंसे जब पूछा कि 'यह कौन गारहा है ?' तो उन्होंने मीराँका परिचय बतला दिया। आचार्य-श्री बड़े संतुष्ट हुए और राज-कन्याको आशीर्वाद दिया कि 'प्रभु इसे अपनी भक्ति प्रदान करें।' पाँच-छः वर्षके पश्चात् ही वि० सं० १५७२ में राव दूदाजीका देहान्त होगया।+

जोधपुर नरेश राव-गांगाजीका राजकुमार मालदेव वीरमदेवजीसे बहुत चिढ़ा करता था। जोधपुरके राज्य-सिंहासन पर बैठनेके बाद उन्होंने निरन्तर मेड़ताको छीननेका प्रयत्न किया। वि. सं. १५८४ में श्रीवीरमदेवजी बाबरके साथ लड़कर युद्धमें मारे गए।× इसके बाद उनका पुत्र जयमल सिंहासनारूढ़ हुआ। बहुत लड़ाई-झगड़ेके पश्चात् वि० सं० १६११ में राव मालदेवका मेड़तापर अधिकार हो गया।∴ जयमल उदयपुर (मेवाड़) चले गए और जीवन-पर्यन्त वहीं रहे। अन्तमें अकबरके साथ लड़कर उन्होंने वीर-गति पाई।

इन ऐतिहासिक विवरणोंसे प्रमाणित होता है कि वि० सं० १६११ में मेड़तामें कोई स्वतन्त्र राजा नहीं रहा। उधर वि० सं० १५७२ के पश्चात् आपसी लड़ाई-झगड़ेमें वीरमदेव और जयमलका जीवन संघर्षमय स्थितिमें ही व्यतीत होता था। सम्भवतः दूदाजीके जीवन-कालमें ही मालदेव और वीरमदेवके परस्पर-कलहका बीज-वपन हो चुका था और वृद्ध राव दूदाजीका चित्त भगवानकी भक्ति एवं साधु-सन्तोंकी संगतिकी ओर झुक गया था, अतः 'मेड़ते भूप बुलायौ'—इस श्रीग्वालबालजीकी उक्तिके अनुसार १५७२ से पूर्व ही वि० सं० १५६६में, जब मीराँजीकी अवस्था छः-सात वर्षकी थी, श्रीपरशुरामदेवाचार्य जीका मेड़तामें पधारना हुआ था।

मीराँजीका चचेरा भाई जयमल भी भगवान्‌का प्रेमी भक्त था।= श्रीनाभाजीने भक्तमालके छप्पय ११७ में कहा है कि 'लघु मथुरा मेड़ता भक्त अति जैमल पोषै', अर्थात्—जयमलजीके यहाँ मेड़तामें बहुत सन्त

⊛ आज भी श्रीचारभुजाजी निम्बार्कीय तिलकसे ही विभूषित हैं। यह तिलक उनके स्थायी स्वरूपमें प्राचीन समय से ही चर्चित है।

\+ मीराँ सुधा-सिन्धु पृ० २० । × मुहणोत नैणसीकी ख्यात पृ० १४५ दूसरा खण्ड ।

∴ वही पृ० १६१ । वही पृ० १४१ । = देखिए इसी भक्तमालका छप्पय सं० ११७ ।

रहते थे, अतः उसे छोटी मथुरा ही कहने लग गए थे। बालकरामजीकी टीकाके अनुसार एक बार जयमलजीने एक सन्तको घोड़ेपर बिठाकर गुरुदेवके दर्शनार्थ भेजा था। वह उसे अपने गुरुको दे आया था। इससे जयमलजी बड़े प्रसन्न हुए। इससे बालवालजीकी 'तोड़ै मेल्यो सन्त""' इस तुकका भाव स्पष्ट हो जाता है और यह प्रमाणित होता है कि जयमलके समय (सं० १५६४ से १६११) तक भी श्रीपरशुरामदेव भी विद्यमान रहे हैं।

इससे यह सम्भावना भी की जा सकती है कि श्रीपरशुरामदेवाचार्य सं० १५६६-६७ से २०-३० वर्ष पश्चात्‌मे डते पधारे हों, किन्तु 'मेड़ता भूप बुलायौ' बालवालकी इस उक्तिका संकेत बालकरामकी टीकामें नहीं मिलता। जयमलकी बीस वर्षकी अवस्थामें ही उनके पिता वीरमदेवका देहावसान हो चुका था। उस समय जोधपुर और मेड़ताके नरेशोंमें कलह भी बढ़ा हुआ था। मीरांजी उन दिनों चित्तौड़में ही रहती थीं, अतः १५६६–६७ में ही श्रीपरशुरामदेवाचार्यका मेड़ते पधारना युक्ति-संगत है। यह निश्चित कहा जा सकता है कि जयमलकी श्रीपरशुरामदेवाचार्यमें बड़ी श्रद्धा थी और वे, आपसे बहुत प्रभावित थे। वे श्रीपरशुरामदेवाचार्यके दर्शनार्थ समय-समयपर सेवामें पहुँचते रहते थे। उनके कुछ शिष्य तो सदा मेड़तेमें ही रहा करते थे।

राव दूदाजीका इस (१५६६ वि.) से पूर्व भी श्रीनिम्बार्क-सम्प्रदायसे सम्पर्क था यह श्रीचारभुजाजीके ललाटपर लगे हुए तिलकसे प्रमाणित होता है। मेड़ताके नरेशके वंशज क्षत्रिय मेड़तिया कहलाते हैं। बड़ू रीयाँ, चाँदारुण आदि राजस्थानमें उनके बहुत बड़े-बड़े ठिकाने हैं जो आज भी श्रीनिम्बार्काचार्यपीठको ही अपना गुरु-स्थान मान रहे हैं। जब कभी निम्बार्कपीठाधिपति श्री श्रीजी महाराजका उधर पादार्पण होता है तब उसी प्राचीन मान-मर्यादाके अनुसार स्वागत-समारोह, अगवानी एवं भेंट-पूजा आदि की जाती है। इस परम्परागत पद्धतिके आधारपर आलोचक विद्वानोंकी इस मान्यताको कि 'श्रीमीरांबाई निम्बार्क-सम्प्रदायकी शिष्या थीं', निराधार नहीं कहा जा सकता है।

कुछ विद्वानोंका यह भी मत है कि उनकी माताजीके कथनानुसार श्रीगोपालजी ही उनके गुरु थे। यद्यपि कई लेखकोंने श्रीरैदासजीको भी मीरांका गुरु माना है, और उसकी पुष्टिके लिए उपलब्ध मीरांके नामके कुछ पद भी उद्धृत किए हैं, तथापि बहुतसे आलोचक इस बातको माननेके लिए तैयार नहीं हैं। उनका कहना है कि मीरांजीने आजन्म गिरधरगोपालजीकी आराधना की, उन्हींका गुण-गान किया और अन्तमें लीन भी द्वारकानाथमें ही हुईं। श्रीरामोपासक रैदासजी यदि मीरांजीके गुरु होते तो ऐसा सम्भव नहीं था, अपितु गुरुके आदेशानुसार श्रीकृष्णकी अपेक्षा वे श्रीरामकी भक्तिमें अधिक संलग्न होतीं। वैसे भक्तजन सभी महात्माओंका श्रद्धा-पूर्वक सम्मान करते हैं, अतः मीरांजीकी भी रैदासजीमें भी श्रद्धा होना स्वाभाविक था, किन्तु रैदासजी और मीरांकी सम-सामयिकता सिद्ध नहीं हो पाती। मीरांके जन्मके समय रैदासजी इस धरा-धाम पर ही नहीं थे, क्योंकि वे श्रीरामानन्दस्वामी (१३५६–१४६७ वि०) के शिष्य और कबीर, पीपा आदिके सम-सामयिक माने जाते हैं।

यद्यपि श्रीपरशुरामदेवाचार्यजी मीरांजीसे आयुमें बड़े थे और वि० सं० १६०३ के पश्चात् भी कई वर्षों तक वे धरा-धामपर विराजमान रहे होंगे, तथापि कुछ सज्जनोंका अनुमान है कि मीरांके अन्तर्धानके उपरान्त वे अधिक दिन वर्तमान नहीं रहे थे। इस अनुमानका कारण श्रीपरशुरामदेवजीकी एक रचना है। श्रीनामदेवजी आदिका उन्होंने कई पदोंमें संकेत किया है, किन्तु मीरांजीका नामोल्लेख केवल एक ही पदमें प्राप्त होता है जो 'परशुराम-सागर' के अन्तिम पदोंमेंसे एक है। वह इस प्रकार है—

हरि हरि-जनकी ओर ढरें।
दुरजन कष्ट देत तब-तब ही आय सहाय करें ॥टेक॥

व्यंग वचन कोई कहत हाँसि कर केई करि क्रोध लरै।
केई दुख देत लेत परचै को कुल मल समत धरै ॥१॥
केई दुर्वाद उचरत निलंज दंभुनि फर्न भरै।
फिरि सन्मुख लै करत प्रसंसा मिलि-मिलि बात करै ॥२॥
कोई बल पात उठावत हठि-हठि सेवा सौंज हरै।
लै लै दोष लगावत हरिजन, वाद-विवाद करै ॥३॥
करत उपाय मरनको अनहित ह्वै मन मतै धरै।
तिन रक्षक करुणामयके सब दुष्टनि कहा सरै ॥४॥
चरणोदक करि पियो हलाहल जगजीवत न मरै।
शाखी साखि प्रगट मीराँजन जाको अजर जरै ॥५॥
सोई असुर आतमा घाती जो हरि तें न डरै।
भगति विमुख हरि शरण हीन नर निहचै नरक परै ॥६॥
जो निन्दा करै पतित पापी पशु पाथर नाव भरै।
सोई बूडै भगत तिरे जन परसा हरि पारि परै ॥७॥

यदि मीराँजीके बाद बहुत वर्षों तक श्री परशुरामदेवजी विद्यमान रहते, अथवा उनका रचना-कार्य चालू रहता तो अवश्य ही मीराँके सम्बन्धमें वे और कुछ चर्चा करते।

महाकवि श्री आनन्दघनजी भी श्री बालबालजीके सम-सामयिक थे। उन्होंने कहा है कि, श्री हरिव्यासदेवाचार्यके सिंहासनको अलंकृत करनेवाले श्रीपरम-निधि परशुरामदेवाचार्य ऐसे कृपालु मुनि थे जिन्होंने पदवीको भी पदवी प्रदान की। अगम पदार्थोंको भी भाषामें वर्णन करके सुगम बनाया। वे गङ्गाके समान स्वच्छ थे। राजा महाराजा भी उनके चरणोंमें पड़े रहते थे। उनकी बड़ाई कहाँ तक की जा सकती है। श्रीपुष्करजीमें इन्होंने एक बहुत बड़ा सत्र (यज्ञ) किया था जिससे वैष्णव-धर्मका बहुत प्रचार एवं प्रसार हुआ है—

तिनके पाट विराजि कै परमा निधि श्रीमान। पदवी को पदवी दई मुनिवर कृपा निधान ॥
अगम पदारथ सुगम किय, भाषा हित विस्तार।
हरि गुन चरितन सुरसरित महा धीर मतमौन। तहाँ नमित नर पति कहे कहौ बड़ाई कौन।
जीव दया हरि धर्म हित रच्यौ सबै सुख दानि। श्री पुहकर विसि विदित नित साध समत सनमान ॥

श्रीमंडन कविके उद्गार तो और भी अनूठे हैं—
परसुराम यह नाम नर, मुख बोलहु इक बार। कहत पार सब होंहुगे भव सागर के पार ॥
इक मुख से कहिये कहा महिमा परम विसेख। परशुराम महाराजके गाय सकत गुन शेष ॥
परशुराम महाराज को करहु भजन बिन शंक। इक छिनही मैं होत है कोढ़ी बिना कलंक ॥
(जय साह सुजस प्रकाश)

श्री नागरीदासजीकी बहिन सुन्दर कुँवरीने कहा है कि-वे प्रिया-प्रियतमके नित्य-निकुञ्ज-विहार की परमा सखीके अवतार थे। श्रीसर्वेश्वर-प्रभु दिव्य युगल-रूपमें व्यक्त होकर उनके साथ क्रीड़ा करते थे। एक दिन नाग पहाड़पर युगलकिशोर अपनी सहचरी परमा सखीसे वार्तालाप कर रहे थे।, उसी समय दर्शक आने लगे। यह देख प्रभु अन्तर्धान होनेको तैयार ही हुए कि परमासखी (श्रीपरशुरामदेवजी) ने

उन्हें ऐसा पकड़ा कि वे छुड़ा न सके। इसपर उसी क्षण वे उनके हृदयमें लीन हो गये और परशुरामदेव के हाथमें वे सर्वेश्वर प्रभुकी मूर्ति थी शालग्रामजी ही रह गये जिनका वे अभिषेक कर रहे थे—

परशुराम के करहिं कर जब नहिं सके छुड़ाय। तबै झपटि उर लपटि कर हृदय सु गये समाय ॥

—भिन्न-शिक्षा

राजस्थानमें तो आपका प्रभाव बढ़ा-चढ़ा था ही, भारतके अन्यान्य प्रान्तोंमें भी आपका सुयश फैला हुआ था। आपके शिष्य भी बड़े प्रतापी थे। उनमें हरिवंशदेवजी आपके पश्चात् आचार्यपीठपर विराजमान हुए और तत्ववेत्ता (टीकम), पीताम्बरदेवजी, खेमदासजी आदि जयतारण, चला, बीरांल आदि स्थानोंपर विराजे। ये सभी श्रीनाभाजीके सम-सामयिक ही थे, किन्तु विस्तार-भयसे श्रीनाभाजी उनकी चर्चा नहीं कर पाए। तत्ववेत्ताजी बड़े प्रसिद्ध सन्त एवं कवि थे। उनके सम्बन्धमें रामवालजीका एक छप्पय देखिए—

ज्ञान उदै अंकूर सरवि निरगुँ दरसायौ।
सार असार बमेक नाम महातम तत गायौ ॥
च्यार बरण आश्रम हृदत अज्ञान मिटारे।
श्री मन भगत प्रताप जीव केतांन उधारे ॥
जैतारण थानक प्रगट नीबावम जस लै रह्यौ।
परसराम परत पतैं टीकम तत वेता भयौ ॥२६०॥

परम धाम प्राप्ति—श्रीपरशुरामदेवाचार्यके सम्बन्धमें यह भी प्रसिद्ध है कि उन्होंने जीवित-समाधि ले ली थी। उस समय पुष्कर, सलेमाबाद और वृन्दावन, तीनों स्थानोंपर एक साथ आपने जनताको दर्शन दिये थे। आपकी समाधि पुष्कर गऊघाट पर परशुराम-द्वारामें है और चरण-पादुका सलेमाबादमें पूजी जाती हैं। कुछ व्यक्तियोंको आजकल भी कभी-कभी उनके दर्शन होजाते हैं। उपर्युक्त भिन्न-भिन्न रचनाकारोंके कथनकी पुष्टिके लिए अन्य किसी युक्तिकी अपेक्षा नहीं। उनकी कृतियोंमें 'परशुराम सागर' राजस्थानी मिश्रित ब्रजभाषाका सुन्दर ग्रन्थ है जो प्रत्येक नरनारियोंके लिए परम हितकारी-अतएव नित्यपाठ व मनन करने योग्य है।

मूल (छप्पय)
(श्रीगदाधरभट्टजी)

सज्जन सुहृद सुसील बचन आरज प्रतिपालय।
निर्मत्सर निहकाम कृपा करुना को आलय ॥
अननि भजन दृढ़ करन धर्‌यो बपु भक्तन काजैं।
परम धरम को सेतु बिदित बृन्दावन गाजैं ॥
भागौत सुधा बरसै बदन काहू कों नाहिन दुखद।
गुन निकर गदाधर भट्ट अति सब ही को लागै सुखद ॥१३८॥

अर्थ—श्रीगदाधरभट्टजी स्वभावसे सज्जन, सबको मित्रवत् माननेवाले, अत्यन्त नम्र और महापुरुषोंके वचनोंका पालन करनेवाले थे। आप ईर्ष्या-द्वेषकी भावनाओंसे रहित,

निष्काम, तथा कृपा और दयाके सागर थे। लोगोंमें अनन्य-भावसे भजन करनेकी भावनाको दृढ़ करनेके उद्देश्यसे आपने शरीर धारण किया था। आप भागवत-धर्मकी मर्यादा बाँधने वाले थे। यह सबको मालूम है कि किस प्रकार वृन्दावनमें रहते हुए जब आप श्रीमद्‌भागवत की कथा कहते थे, तो आपकी गम्भीर वाणी मेघके समान गरजती थी। उस समय आपके श्रीमुखसे श्रीभागवत-रूपी अमृतकी वर्षा होती थी। किसीको आप कष्ट नहीं पहुँचाते थे। गुणों की खान श्रीगदाधरभट्टजी, इस प्रकार, सबके लिए सुखदायी हुए।

भक्ति-रस-बोधिनी

'स्याम रंग रँगी' पद सुनि कै, गुसाईं जीव पत्र दै पठायो उभै साधु बेगि आये हैं।
"रैंनी बिन रंग कैसे चढ्यौ, अति सोच बढ्यौ", कागद मैं प्रेम मढ्यौ तहाँ लैकै आये हैं॥
पुर ढिग कूप, तहाँ बैठे रस रूप, लगे पूछिबे कौ तिनहीं सों नाँव लै बतायें हैं।
"रहौ कौन ठौर," "सिर मौर वृंदावन धाम," नाम सुनि मुरछा ह्वै गिरे प्रान पाये हैं॥५२४॥

अर्थ—अपने गाँवमें रहते हुए श्रीगदाधरभट्टजीने एक पद बनाया, जिसकी प्रथम पंक्ति इस प्रकार थी—"सखी हौं स्याम रँग रँगी।" वृन्दावनमें श्री जीव गोस्वामीजीने किसीके मुँहसे इस पदको सुना तो मुग्ध हो गये। शीघ्र ही एक पत्र लिखकर दो साधुओंको भट्टजीके पास भेजा। पत्रमें लिखा था कि 'मुझे यह सोच-सोचकर बड़ा आश्चर्य हो रहा है कि बिना रैंनी (नाँद) के आपपर श्याम-रंग कैसे चढ़ गया!' (श्रीजीव गोस्वामीका तात्पर्य शायद यह था कि वृन्दावनका सेवन किये बिना ऐसी प्रगाढ़ भक्ति कैसे पैदा हो गई?)

इस प्रेम-पत्रको लेकर दोनों साधु गाँव में पहुँचे। उस समय रस-मूर्ति श्रीभट्टजी नगरके समीपके एक कुएँपर बैठे हुए दाँतुन कर रहे थे। साधु उन्हें क्या पहिचानते? उन्होंने आप से ही पूछा कि 'श्रीगदाधरभट्टजी कहाँ रहते हैं?' उत्तरमें भट्टजीने उलट कर साधुओंसे पूछा—"आप लोग कहाँ रहते हैं?" उन्होंने उत्तर दिया—"इस संसारके सर्वश्रेष्ठ स्थान श्रीवृन्दावन-धाम में।" सुनते ही भट्टजी पछाड़ खाकर पृथ्वीपर गिर पड़े। देखनेवाले साधुओंको लगा कि उनके प्राण निकल गए।

श्रीजीव गोस्वामीजीने गदाधरभट्टजी-रचित जो पद वृन्दावनमें सुना था, वह इस प्रकार है—

सखी हौं स्याम रंग रँगी।
देखि बिकाय गई वह मूरति सूरति माँहि पगी॥
संग हुतो अपनो सपनो सो सोई रही रस खोइ।
जागे हूँ आगे दृष्टि परै सखि नेकु न न्यारो होइ॥
एक जु मेरी अँखियन में निसि द्यौस रह्यौ करि भौन।
गाय चरावत जात सुन्यो सखि सो धौं कन्हैया कौन॥
कासों कहौं कौन पतियावे कौन करे बकवाद।
कैसे कै कहि जात गदाधर गूँगे कौ गुड़ स्वाद॥

भक्ति-रस-बोधिनी

काहू कही "भट्ट श्रीगदाधर जू एई जानो," मानो उही पाती चाह फेरि कै जिवाये हैं।
दियौ पत्र, हाथ लियौ, सीस सौं लगाय चाय बाँचत ही चले वेगि वृन्दावन आये हैं॥
मिले श्री गुसाईं जी सौं, आँखें भरि आई नीर, सुधि न सरीर, धरि धीर पढ़ी गाये हैं।
पढ़े सब ग्रंथ संग नाना कृष्ण कथा रंग रस की उमंग अंग अंग भाव छाये हैं॥५२४॥

अर्थ—पत्र लेकर पहुँचानेवाले साधुओंको किसीने बता दिया कि 'यही गदाधरभट्टजी हैं।' साधुओंने भट्टजीसे तब कहा कि 'हम आपके लिये एक पत्र लाये हैं।' भट्टजी यह सुनते ही उठकर बैठे हो गए मानों उस पत्रको पढ़नेकी अभिलाषाने उन्हें फिरसे जीवित कर दिया हो। साधुओंने पत्र दिया, भट्टजीने उसे लेकर सिरसे लगाया और पढ़ा। पढ़नेके दूसरे क्षण ही आप उठकर चल दिए और उन वैष्णवोंके साथ वृन्दावन आगए।

वृन्दावन पहुँचकर भट्टजी जीव गोस्वामीजीसे मिले। उनके दर्शन करते ही भट्टजीकी आँखोंसे आँसुओंकी झड़ी लग गई और कुछ समयके लिये होश-हवास भूल गये। बादमें तदवस्थ होकर गोस्वामीजीके सामने फिर वही पद गाया। वृन्दावनमें निवास करते हुए आपने गोस्वामीजीसे अनेक ग्रन्थोंका अध्ययन किया। तदुपरान्त आप श्रीकृष्णकी लीलाओंकी कथा कहने लगे। फलस्वरूप आपके अङ्ग-अङ्गमें रसकी तरंगें उठने लगीं और भक्ति-भावसे हृदय परिपूरित हो गया।

भक्ति-रस-बोधिनी

नाँव हो कल्यान सिंह जात रजपूत पूत, बैठ्यौ आय, कथा सों अभूत रंग लाग्यो है।
निपट निकट बास चौहरा प्रकास गाँव हास परिहास तज्यो, तिया दुःख पाग्यो है॥
जानी भट्ट संग सो अनंग बास दूर भई, करौं लैके नई आनि हिये काम जाग्यो है।
माँगत फिरत हुती जुवती सौ गर्भवती, कही "ले रुपैया बीस नेकु कही राग्यो है" ॥५२५॥

अर्थ—कल्याणसिंह नामक एक राजपूत एक दिन गदाधर भट्टजीकी कथामें आ बैठा। उसे इतना आनन्द आया कि रोज सुनने की चाट पड़ गई। वृन्दावन-मथुराके बीचमें बसे हुए "चौरहरा" गाँवमें वह रहता था। धीरे-धीरे कथा श्रवण करते-करते उसके हृदयमें वैराग्य-भावना उदित हुई और उसने स्त्रीसे हँसना-बोलना एकदम छोड़ दिया। स्त्रीको बड़ा दुःख हुआ। उसे पता लग गया कि श्रीगदाधरभट्टजीकी संगतिमें रहकर ही उसके पतिकी काम-वासना छूट गई है।

राजपूतकी स्त्रीने तब यह तरकीब सोची कि भट्टजीकी ऐसी निन्दा कराई जाय जैसी कि किसीकी न हुई हो। एक तरुण अवस्थाकी गर्भवती स्त्री भीख माँगती फिरती थी। राजपूतकी स्त्रीने उसे बुलाकर कहा—"यह ले बीस रुपये और भट्टजीके सम्बन्धमें मैं जो कहलवाऊँ, कह दे।"

भक्ति-रस-बोधिनी

गदाधर भट्टजू की कथा में प्रकास कह्यौ, "अहो कृपा करी, अब मेरी सुधि लीजियै।"
दई लौंड़ी संग, लोभ रंग चित भंग किये, दिये लै बताय, बोली "मेरौ काम कीजियै ॥"
बोले आप "बैठिये जू, आप नित करौ हिये, पाप नहीं मेरौ, गई, दर्शन दीजियै।"
स्रोता दुख पाय भाखैं "झूठी याहि मारि नाखैं," साँची कहि राखैं, सुनि तन मन छीजियै ॥५२८॥

अर्थ—राजपूतकी स्त्रीने युवती भिखारिन से कहा—"भट्टजीकी जब कथा चल रही हो, तब वहाँ जाकर तू सब लोगोंके सामने उनसे कहना—"महाराज! आपने मुझे यह प्रसाद देकर अनुगृहीत किया, पर अब भविष्यके लिए मेरा कुछ प्रबन्ध होना चाहिए।" रुपयोंके लोभ-वश उस स्त्रीकी नीयत डिग गई और वह उस जगहपर जा पहुँची। साथमें भेजी गई एक दासीने दूरसे ही भट्टजीको पहिचनवा दिया और वह बोली—"अब मेरा काम हो जाना चाहिए।"

उसकी यह बात सुनकर गदाधरभट्टजी तनिक भी विचलित नहीं हुए, बल्कि बोले—"आओ, बैठो। मैं तो रोज तुम्हारी याद करता था, पर तुम न-जाने कहाँ चली गईं। इसमें मेरा तो कोई दोष नहीं। आओ, तुमने बहुत ठीक समयपर आकर दर्शन दिया।"

श्रोताओंने जब यह सम्वाद सुना, तो उनके हृदयको बड़ा आघात लगा। उन्हें तो विश्वास था कि वह स्त्री झूठ बोल रही है। वे कहने लगे—"इसे मार डालना चाहिए," किन्तु भट्टजीने कहा—"यह सच कहती है।" इसपर श्रोता लोग बड़े दुखी हुए।

भक्ति-रस-बोधिनी

फाटि जाय भूमि तौ समाय जायँ, श्रोता कहैं, बहैं दृग नीर ह्वै अधीर सुधि गई है।
राधिका वल्लभ दास प्रगट प्रकास भास, भयौ दुख रास, सुनि सो बुलाय लई है ॥
"साँच कहि दीजै, नहीं अभी जीव लीजै," डरि सबै कहि दियौ, सुख लियौ, संज्ञा भई है।
काढ़ि तरवारि लिया मारिबे कल्यान धायौ, दियौ परबोध "हमैं करी दया नई है" ॥५२९॥

अर्थ—श्रोता लोग सब सोच रहे थे कि 'यदि भूमि फट जाय, तो हम उसमें समा जाँय।' लज्जा और कष्टके कारण उनकी आँखोंसे आँसू गिर रहे थे, शरीरका होश-हवास जाता रहा था। इसी समय राधिकावल्लभदास नामक एक सन्तने जो बड़े बुद्धिमान थे, उस स्त्रीको एक तरफ बुलाकर कहा—"सच-सच बता क्या बात है, नहीं तो तेरी जान की खैर नहीं।" इतना सुनते ही स्त्री डर गई और उसने सारा भेद खोल दिया। सुनते ही सब श्रोताओंके जी में जी आया। कल्यानसिंहजीने अपनी स्त्रीकी जब यह करतूत सुनी, तो तलवार लेकर उसे मारने को दौड़े, किन्तु भट्टजीने उन्हें रोक लिया और समझाते हुए बोले—"तुम्हें नहीं मालूम, इस स्त्रीने मेरे ऊपर बड़ी कृपा की है जो ऐसा अपवाद लगाया।"

विशेष—'हमें करी कृपा नई है,' यह कहनेका भट्टजीका तात्पर्य, टीकाकारोंके अनुसार, यह है कि एक स्थानपर बहुत दिन तक कथा कहते हुए उन्हें अपनी प्रभुताका कुछ-कुछ अभिमान होने लगा था। कथामें भेंट भी आती थी, श्रोतागण प्रशंसा कर-कर उन्हें अपने सिरपर उठा लेते थे और शिष्योंकी संख्या दिन ब दिन बढ़ती जारही थी। भट्टजीको इस बातका ध्यान ही न था कि धीरे-धीरे वे अपने चारों ओर इतने बन्धनोंकी सृष्टि कर रहे हैं। इस विशाल कार्य-क्रमके फेरमें पड़कर उनका भजन तो छूटा ही जारहा था। अतः यह अच्छा ही हुआ कि उस स्त्रीने उनकी आँखें खोल दीं। लोगोंके बीचमें अधिक रहने तथा उनसे संपर्क बढ़ानेका यह परिणाम होता है। संसार तो वह कोठरी है जिसमें 'कैसो हू सयानो जाय, एक लीक काजरकी लागि है पै लागि है।'

भक्ति-रस-बोधिनी

रहैं काहू देस में महन्त, आये कथा माँझ, आगें लै बैठायौ देखें सबै साधु भीजे हैं।
"मेरे अश्रुपात क्यों न होत ?" सोच सोत परे, करि लै उपाय दै लगाय मिर्च खीजे हैं॥
संत एक जानि कै जताय दई भट्ट जू कौ, गये उठि सब जब, मिलि अति रीझे हैं।
"ऐसी चाह होय मेरे" रोय कै पुकारि कही, चली जलधार नैन प्रेम आप भीजे हैं॥५२८॥

अर्थ—एक बार कहींसे एक महन्तजी महाराज भट्टजीकी कथा सुननेके लिए आये। अत्यन्त आदर-पूर्वक उन्हें आगे बिठाया गया। कथाके प्रसंगमें महन्तजीने देखा कि सब श्रोताओंकी आँखोंमें आँसू झलक रहे हैं। अब वह सोचने लगे कि 'मेरी आँखोंसे आँसू क्यों नहीं गिरते ?' बड़ा चिन्तामें पड़ गए वे। अन्तमें उन्हें एक उपाय सूझा। दूसरे दिन जब वे कथामें आये, तो साथमें पिसी हुई मिर्चें ले आये और कथा प्रारंभ होते ही आँखोंमें आँज लीं। लगा तो लीं उन्होंने, पर जब आँखोंमें चिनमनी लगी, तो लगे खीझने और अपनी मूर्खताको कोसने। एक संत महाशयने उन्हें ताड़ लिया और कथा समाप्त होते ही भट्टजीसे सब हाल कह सुनाया।

जब सब लोग उठ गए, तब भट्टजी महन्तजीके पास पहुँचे और उन्हें छातीसे लगाकर रोते हुए कहने लगे—"कहीं मेरे हृदयमें भी रोनेकी ऐसी ही उत्कट इच्छा पैदा हो जाती जैसी कि आपके है, तो मेरा जन्म सार्थक हो जाता।" यह कहते-कहते आपके नेत्रोंसे आँसुओंकी धारा फूट निकली और आप प्रेममें सराबोर होगये।

भक्ति-रस-बोधिनी

आयौ एक चोर घर सम्पति बटोरि, गाँठि बाँधी, लै मरोरी, किहूँ उठै नाहिं भारी है।
आप कै उठाय दई, देखी इन रीति नई, पूछ्यौ नाम, प्रीति भई, भूलें मैं बिचारी है॥
बोले आप लै पधारौ होत ही सवारौ आवै और वस्तु गुनी मेरे, तेरी यह न्यारी है।
प्रानन कौं आगें धरी, आनि कै उपाय करी, रहे समुझाय, भयौ सिष्य चोरी टारी है॥५२९॥

अर्थ—श्रीगदाधरभट्टजीके घरमें एक बार कोई चोर घुस गया और उसने सब माल-टाल बटोरकर एक गठरीमें बाँध लिया। किन्तु जब उसने गठरीको उठाना चाहा, तो भारी होने-

के कारण वह उससे उठ न सकी। यह देखकर भट्टजी उसके पास पहुँचे और सहारा लगा कर उसे उठवा दिया। मालिक-मकानका यह रवैया देखकर चोर चक्करमें पड़ गया। वह भी पुराना चोर था, पर यह नई बात उसे देखनेको मिली। चोरने पूछा—"आपका नाम क्या है?" भट्टजीने बता दिया। नाम उसने सुन रक्खा था, पर घर नहीं मालूम था। उसके हृदयमें एका-एक भट्टजीके प्रति श्रद्धा-भाव उमड़ आया और कहने लगा—"मुझसे भूल हुई। आप-जैसे महात्माका धन लेकर मैंने अपराध किया है।"

भट्टजी बोले—"इसे लेकर तुम चलते बनो। सवेरा होते ही मेरे पास तो इसके दस गुना और आ जायगा, पर तुम्हारी जीविकाका आधार तो चोरी ही है। तुम इस तरह सोचोगे तो क्या एक दिनकी है?"

भक्ति-रस-बोधिनी

प्रभु की टहल निज करनि करत आप, भक्ति को प्रताप जाने, भागवत गाई है।
देत हुते चौका, कोऊ सिष्य बहु भेंट ल्यायौ, दूर ही ते दास देखि आयौ सो जनाई है॥
"धोवौ हाथ बैठौ आय," सुनि कै रिसाय उठे, सेवा ही मैं चाय वाकों सोधि समझाई है।
हिये हित रासि जग आसि को विनाश कियौ, पियौ प्रेम रस, ताकी बात लै दिखाई है॥५३०॥

अर्थ—श्रीगदाधरभट्टजी प्रभुकी सेवा-पूजा तथा सेवकके अन्य सब कृत्य स्वयं अपने ही हाथोंसे करते थे; क्योंकि भक्तिकी रीति और महिमा जैसी श्रीमद्भागवत आदि ग्रन्थोंमें वर्णित है, वह आपको मालूम थी। एक दिन आप पूजा करनेसे पूर्व मन्दिरका चौका लगा रहे थे कि इसी समय आपका कोई शिष्य भेंट करनेके लिये बहुत-सा द्रव्य लेकर आ पहुँचा। भट्टजीका एक सेवक उसे देखकर आपसे बोला—"आप हाथ धोकर अपने आसनपर बैठ जाइये।" किन्तु भट्टजीकी प्रभु-सेवासे अधिक अन्य किसी वस्तुमें आसक्ति नहीं थी, अतः आप नाराज होगए और उसे समझाया कि 'जिस तरह तुम कहते हो, उस प्रकार सेवा नहीं की जाती। भला किसीके लिए मैं अपना सहज काम कैसे छोड़ दूँ?"

भट्टजीके हृदयमें सबके लिए कल्याणकी भावना थी। आपने सांसारिक तुच्छ वस्तुओं की आशाको सदाके लिए त्याग दिया था और भगवत्-प्रेममें रँग गए थे। ऊपरकी वार्ता इसी तथ्यको प्रकट करती है।

आशाके त्यागसे प्राप्त होनेवाले सुखके सम्बन्धमें एक सुन्दर सवैया यहाँ दिया जाता है—

आस को दास रहे जबलौं, तबलौं जग को नर दास कहावै।
त्यागी गुनी कवि पंडित कोऊ हो, आस लिए सबको भरमावै॥
स्वर्ग महीतल वास कहूँ करो, आस जहाँ लगि नाच नचावै।
ताते महासुख पाय निरास में, आस तजे भगवान को पावै॥

भट्टजीकी कविताकी एक दो बानगी देखिये—

जयति श्री राधिके सकल सुख साधिके, तरुनि-मनि नव तन किशोरी।

कृष्ण तनु लीन घन रूप की चातकी, कृष्ण मुख हिम किरन की चकोरी ॥
कृष्ण हग भृंग बिश्राम हित पद्मिनी, कृष्ण हग मृगज बंधन सुडोरी ।
कृष्ण अनुराग मकरंद की मधुकरी, कृष्ण गुन गान रस सिंधु बोरी ॥
एक अद्भुत अलौकिक रीति मैं न लखी, मनसि स्यामल रंग अंग गोरी ।
और आश्चर्य कहूँ मैं न देख्यौ सुन्यौ, चतुर चौंसठ कला तदपि भोरी ॥
बिमुख पर चित्त तै चित्त जाको सदा, करत निज नाह की चित्त चोरी ।
प्रकृति यह 'गदाधर' कहत कैसे बनै, अमित महिमा इतै बुद्धि थोरी ॥

भट्टजीकी प्रशस्तिमें किसी कविने ठीक ही कहा है—

भट्ट गदाधर साधु अति, विद्या भजन प्रवीन ।
सरस कथा बानी मधुर, सुनि रुचि होत नवीन ॥

मूल (छप्पय)

चौमुख चौरा चंड जगत ईश्वर गुन जाने ।
करमानंद अरु कोल्ह अल्ह अच्छर परवाने ॥
माधौ मथुरा मध्य साधु जीवानँद सींवा ।
दूदा नरायनदास नाम माँडन नत ग्रीवा ॥
चौरासी रूपक चतुर बरनत बानी जूजुवा ॥
चरन सरन चारन भगत हरि गायक एता हुआ ॥१३६॥

अर्थ—प्रभुके चरण-कमलकी शरण लेने वाले और उन्हींका गुण-गान करने वाले १३ चारण (क्षत्रिय) कुल भक्त हुए जिनके नाम इस प्रकार हैं—

(१) श्रीचौमुखजी, (२) चौराजी, (३) जगत्में भगवानका ही गुणानुवाद करने वाले ईश्वरदासजी, (४) चंडजी, (५) करमानन्दजी, (६) कोल्हजी, (७) प्रामाणिक पद-रचना करने वाले अल्हजी, (८) मथुरा वाले माधवजी, (९) साधु (सरल) स्वभाव वाले जीवानन्दजी, (१०) सींवाजी, (११) दूदाजी, (१२) नारायणदासजी, (१३) प्रभुके चरणोंमें मस्तक झुकाने वाले मांडनजी । ये चौरासी रूपकोंकी रचनामें प्रवीण तथा पृथक-पृथक हरियश वर्णन करने वाले भक्त चारण-कुलमें हुए हैं ।

भक्ति-रस-बोधिनी (श्रीकरमानन्दजी)

करमानंद चारन की बानी की उचारन में 'दारुन' जो हियो होय सोऊ पिघलाइयै ।
दियो गृह त्यागि, हरि-सेवा अनुराग भरे, बटुवा सुग्रीव हाथ छरी पधराइयै ॥
काहू ठौर जाय गाड़ि, वहीं पधराये वापै त्याए उर प्रभु, भूलि आये ! कहाँ पाइयै !
फेर चाह भई, दई स्याम को जताय बात, लई मँगवाय. देखि मति लै भिजाइयै ॥५३१॥

अर्थ—श्रीकरमानन्दजी जातिके चारण (क्षत्रिय) थे। आपकी वाणीमें इतना रस था कि कठोरसे कठोर हृदय भी सुनकर पसीजे बिना नहीं रह सकता था। घर त्यागकर आप तीर्थाटनके लिए निकल दिए। प्रभुकी सेवामें आपका ऐसा अनुराग था कि शालग्रामजीका बटुआ गलेमें ही लटकाये रहते थे। मार्गमें जहाँ-कहीं विश्राम करते अपनी छड़ी जमीनमें गाड़ देते और उसीमें बटुआ लटका देते। यह छड़ी ही शालग्रामजीका सिंहासन था।

एक बार इसी प्रकार आपने छड़ी गाड़कर बटुआ लटका दिया, पर चलते समय शालग्रामजीका बटुआ तो उठाकर ले आए, पर छड़ी पीछे ही छोड़ आए। बादमें जब याद आई, तो प्रभुसे बोले—"चलते समय आपने छड़ीकी याद नहीं दिलाई; अब बताइए आपके विराजनेके लिये दूसरी छड़ी कहाँसे लाऊँ? भगवानसे जब आपने अपनी उत्कट अभिलाषा इस प्रकार निवेदन कर दी, तो उन्होंने अपने भक्तपर कृपाकर वही छड़ी वहाँ लाकर रखदी। श्रीकरमानन्दजीने यह देखा, तो भगवत्-प्रेममें सराबोर होगये और भगवानको फिर उसी छड़ीके सहारे पधरा दिया।

विशेष—इस वार्ता द्वारा यह सिद्ध होता है कि भगवान भक्तके कितने वशमें रहते हैं। इसी विषयपर एक दृष्टान्त और पढ़िये—

एक बाई चुटकी माँगकर भगवानकी सेवा-पूजा किया करती थी। उसकी ऐसी वृत्तिके कारण उसे भिक्षामें आवश्यकतासे अधिक अन्न मिलने लगा। बाई भगवानके भोग-रागसे जो बच जाता उसे जमा करती रहती। धीरे-धीरे उसके पास खासी रकम जमा होगई और उसने सोचा कि इस प्रकार एकत्रित किए द्रव्यसे सोना खरीद कर भगवानके लिए एक जोड़ी चूड़ा बनवाया जाय। इस निश्चयके अनुसार उसने सोना लाकर एक सोनारको दे दिया। जब चूड़ा बनकर आए और उसने तुलवाया, तो वे कम निकले। बाईने सोनारसे तो कुछ कहा नहीं, पर हाथमें एक छड़ी लेकर भगवानकी ओर तानती हुई बोली—"तुम तो चोरोंके सरदार हो, अतः यह कैसे हो सकता है कि मेरा सोना चुरा लिया जाय और तुम्हें न मालूम हो। अब खैर इसीमें है कि सोना लौटा दो, नहीं तो इस छड़ीसे ही ऐसी खबर लूंगी कि बेटा याद रक्खोगे।"

भगवानने बाईका जब ऐसा रुख देखा, तो घबड़ा गये। ऐसा भक्त पहली बार उनके पाले पड़ा था। बोले—"सोनारने तेरा सोना अपने चूल्हेकी राखमें गाड़कर रक्खा है, सो उसके घर जाकर निकलवा ले।" बाईने ऐसा ही किया और सोना निकलवा लिया। बादमें उसी प्रकारसे उसने पूरे सोनेके चूड़े भगवानको धारण कराये।

भक्ति-रस-बोधिनी

(श्री कोल्हजी, अल्हजी)

कोल्ह अल्ह भाई दोऊ, कथा सुखदाई सुनो, पहिलौ विरक्त मद माँस नहीं खात है।
हरि ही के रूप गुण बानी में उचार करें, धरें भक्ति-भाव हिये, ताकी यह बात है॥
दूसरौ अनुज जानो साथ सब उन मानौ, नृप ही कौ गावै प्रभु कभूं गाय जात है।
बड़े के आधीन रहै, सोई करै जोई कहै, ईश करि चहै, आप दीनता मैं मात है॥५३२॥

अर्थ—अब कोल्ह और अल्ह—दो चारण भाइयोंकी सुख देने वाली कथा सुनिये। इनमें पहले—अर्थात् कोल्हजी सांसारिक विषयोंसे उदासीन होकर अत्यन्त सात्विक जीवन व्यतीत करते थे। आप मांस आदि तामस द्रव्योंका कभी सेवन नहीं करते थे, अपनी वाणीसे सदा हरिके गुण गाया करते थे और हृदयमें भक्ति-भावना रखते थे। दूसरे—छोटे भाई अल्ह जीको खान-पानका कोई खास परहेज न था और सुख-गान करते तो राजा का। कभी-कभी प्रभुका नामोच्चारण भी कर लेते थे, पर किसी नियम या निष्ठासे बँधे नहीं थे। हाँ, अपने बड़े भाईकी आज्ञामें जरूर रहते थे। उन्हें ईश्वरके समान पूजनीय मानते थे और स्वयं अत्यन्त दीन बन कर रहते थे।

भक्ति-रस-बोधिनी

बड़े आय कही चलो द्वारिका निहारें सही, मिथ्या जग, भोग यामें आय ही बिहात है।
आज्ञाके अधीन चल्यौ, आये पुर, लीन भये, गये चोज मंदिर में, सुनी कान बात है॥
कोल्ह ने सुनाये सब जे जे नाना छंद गाये, पाछे अल्ह दोय चार कहे सकुचात है।
भर्यौ ही हुंकारौ, प्रभु कही माला गरे डारौ, ल्याये पहिरावें, कह्यौ "मेरो बड़ो भ्रात है॥५३३॥

अर्थ—एक दिन कोल्हजीने अल्हजीसे कहा—"चलो, द्वारिका चलें और वहाँ प्रभुके दर्शन करें; क्योंकि ये सांसारिक भोग सब मिथ्या हैं और इनके चक्करमें आयु व्यर्थ ही बीती जा रही है। अल्हजी तो बड़े भाईके आज्ञाकारी थे ही। चल दिये उनके साथ और द्वारिका पहुँचे। इसके उपरान्त मन्दिरमें उनके साथ जो एक चमत्कार-पूर्ण अद्भुत घटना घटी उसका विवरण ध्यान देकर सुनिये।

मन्दिरमें प्रभुके सामने खड़े होकर कोल्हजीने एक-एक कर वे सब पद सुनाये जोकि उन्होंने बनाये थे। बादमें अल्हजीने भी कुछ झिझकते हुए दो-चार पद सुनाये। अल्हजीके पदोंका प्रभुने हुंकार द्वारा समर्थन किया और अपनी प्रसादी माला देनेकी पुजारीको आज्ञा दी। ज्यों ही पुजारी माला पहिनानेके लिए अल्हजीकी ओर बढ़े, त्यों ही उन्होंने कोल्हजीकी ओर संकेत करते हुए कहा—"आप मेरे बड़े भाई हैं; आप ही को पहिनाइए। मैं इसका अधिकारी नहीं हूँ।"

भक्ति-रस-बोधिनी

"दयौ पै न याहि," दयौ, बड़ौ अपमान भयौ, गयौ बूड़ो सागर मैं, दुख कौ न पार है।
बूड़त ही आगें भूमि पाई, चल्यौ भूमि प्रीति, सो अनीति भूलें नाहि मानों तरवार है॥
सौं ही आये लैन हरिजन, मन चैन भिल्यौ मिल्यौ कृष्ण जाय, पायौ अति सुखसार है।
बैठे जब भोजन कों वही उभै पातर लै "दूसरी जु कैसी? कही वही भाई प्यार है॥५३४॥

अर्थ—जब अल्हजीने पुजारीजीसे बड़े भाई को माला पहिनानेको कहा तो पुजारी ने उत्तर दिया—"मालातो प्रभुने आपको पहिनानेकी आज्ञा दी है, न कि बड़े भाईको।"

और यह कहकर अल्हजीके गलेमें उसे डाल दिया। कोल्हजीने इसे अपना अपमान समझा और ग्लानिके मारे समुद्रमें कूद पड़े। जलके अन्दर प्रवेश करते ही उनके पैर जमीनपर टिक गये। अब तो कोल्हजी बड़े प्रसन्न हुए और आगे बढ़ने लगे। किन्तु प्रभुकी प्रसादी माला न दिये जानेका क्षोभ अब भी हृदयको व्यथित कर रहा था। यह अपमान तलवारके घावकी तरह रह-रहकर उन्हें दुःख दे रहा था। कुछ दूर आगे बढ़ते ही उन्हें भगवानके पार्षद मिले जोकि उन्हें लेनेके लिये आये थे। उनके साथ जाते हुए आपके मनको शान्ति मिली और जब श्रीकृष्ण-चन्द्रके दर्शन किए तो उस समयके आनन्दकी तो बात ही क्या है? भूल गए अपमानके दुःखको।

कोल्हजी जब प्रसाद पानेको बैठे, तो प्रभुकी आज्ञासे दो पत्तलें उनके सामने परोसी गईं। उन्होंने पूछा—"यह दूसरा पारस किसके लिए है?" भगवान बोले—"तुम्हारे छोटे भाईके लिए। हमें वह अत्यन्त प्रिय है।"

भक्ति-रस-बोधिनी

सबै विस भयौ, दुख गयौ सोई हुयौ नयौ, दयौ परबोध याकी बात सुनि लीजियै।
"तेरौ छोटो भाई, मेरौ भक्त सुखदाई," ताकी कथा लै चलाई जामें आप ही सों बीजियै॥
"प्रथम जनम मांझ बड़ौ राजपुत्र भयौ, गयौ गृह त्यागि, सदा मोसों मति भीजियै।
आयौ वन कोऊ भूप संग राग रंग रूप, देखि चाह भई, देह दई भोग कीजियै"॥५३५॥

अर्थ—भगवानके यह कहते ही कि दूसरा पारस छोटे भाई अल्हजीके लिए है, कोल्हजी के लिये भोजन विष बन गया। अपमानके जिस दुखको वे भूल गए थे, वह फिर हरा हो गया। यह देख कर भगवान अल्हजीके पूर्व-जन्मका वृत्तान्त कह कर कोल्हजीको समझाने लगे, ताकि उनके मनका मैल धुल जाय और वे फिर प्रसन्न हो जायँ। भगवान बोले—"तुम्हारा छोटा भाई पूर्व-जन्ममें मुझे सुख देनेवाला मेरा भक्त था। यह एक राजकुमार था, किन्तु वैराग्य-भावनाके उदय होनेके कारण घर-द्वार छोड़ वनमें रहकर भजन करने लगा। इसी बीचमें एक राजा शिकार खेलता हुआ उधर आ निकला। उसके साथ भोग-विलासके सब साधन मौजूद थे। राजाको ऐश-आराम करते देख त्यागी राजकुमारकी अतृप्त प्यास भड़क उठी। यह देख-कर हमने विषय भोगनेके लिए फिर मनुष्य-योनिमें जन्म दिया ताकि यह वासना-मुक्त हो जाय।"

विशेष—ज्ञान-मार्गमें उन विक्षेपोंका सविस्तार वर्णन किया गया है जो किसी साधकको अपने मार्गसे विचलित कर देते हैं। यह आशंका ज्ञानीकी भाँति भक्तके लिए भी बनी रहती है, पर उसी समय तक जब तक कि भक्त भक्तिकी परिपक्व अवस्थाको नहीं पहुँच जाता। उसके बाद सांसारिक विषय उसका कुछ नहीं बिगाड़ सकते। श्रीमद्भागवतमें भगवानने कहा है—

बाध्यमानोऽपि मद्भक्तो विषयैरजितेन्द्रियः।
प्रायः प्रगल्भया भक्त्या विषयैर्नाभिभूयते॥

—इन्द्रियाँ जिनके अपने वशमें नहीं हैं, ऐसे मेरे भक्त सांसारिक वासनाओंसे तृप्त न होनेसे दुःख पाते रहते हैं, किन्तु भक्ति जब प्रगल्भ हो जाती है, तब विषय उनका कुछ नहीं बिगाड़ पाते।

जो भक्त वासनाओंसे मुक्त नहीं होते भगवान उनकी इच्छा पूरी करते हैं। इस सम्बन्धमें श्रीमद्भागवतका ही प्रमाण सुनिये—

सत्यं दिशत्यर्थितमर्थितो नृणां नैवार्थदो यत्पुनरर्थिता यतः।
स्वयं विधत्ते भजतामनिच्छतामिच्छापिधानं निजपादपल्लवम्॥

—यह सत्य है कि भगवान भक्तों को, याचना करने पर, मोक्ष आदि देते हैं, किन्तु धन नहीं देते। इसीलिए मनुष्योंकी वासना बनी ही रहती है। परन्तु जो लोग किसी वस्तुके प्रति अनुराग या अभिलाषा न रखकर अहैतुकी उपासना करते हैं, उन्हें भगवान अपने चरण-कमलोंका आश्रय देते हैं। इस आश्रयको पाकर सब इच्छायें सदाके लिए शान्त हो जाती हैं।

भक्ति-रस-बोधिनी

"तेरेई वियोग अन्न-जल सब त्यागि दियौ, जियौ नहीं जात वापै बेगि सुधि लीजियै।"
हाथ पै प्रसाद दीनों, आय घर चीन्ह लीनों, सुपनो सो गयौ बीति, प्रीति वासों कीजियै॥
द्वारिका की संग सुनि आवत ही आगे चल्यौ मिल्यौ भूमि पर दृग भरि बहै बीजियै।
कही सब बात स्याम धाम तज्यौ ताही छिन, करयौ बन बास दोऊ अति मति भीजियै॥५३६॥

अर्थ—भगवानने कोन्हजीसे फिर कहा—"तुम्हारे वियोगमें तुम्हारे छोटे भाईने अन्न-जल ग्रहण करना छोड़ दिया है और अधिक दिन तक जीवित रहना उसकी सामर्थ्यसे बाहर है। अतः शीघ्र जाकर तुम उसको सँभालो।"

यह कह कर प्रभुने कोन्हजीके हाथमें प्रसाद दिया और वे उसको लेकर समुद्रके ऊपर आ गए। द्वारकासे आपने भगवानके शंख-चक्र आदि चिन्ह लिए और घरकी ओर चल पड़े। अपमानकी भावना उनके लिये स्वप्नके समान हो गई थी और हृदय भाईकी ओर ढल गया था। उधर छोटे भाई अन्हजीने जब सुना कि श्रीकोन्हजी दिव्य द्वारकासे भगवानका दर्शन कर लौट रहे हैं, तो उनके स्वागतके लिए पहुँचे। भाईको देखते ही उन्होंने भूमिपर मस्तक रखकर आँसू-भरे नेत्रोंसे साष्टांग प्रणाम किया। श्रीकोन्हजीने द्वारकामें उनके साथ जो कुछ हुआ था, सब कह सुनाया। उसी दिन दोनों भाइयोंने घर-द्वारको तिलांजलि दे दी और प्रेम-पूर्वक भगवान का भजन करते हुए अन्तमें उन्हींके स्वरूपमें लीन होगए।

छप्पय संख्या १३१ में आए चारण-भक्तोंमें से चौमुख, ईश्वरदास, दूदा और नारायणदास—इन चार भक्तोंका चरित्र भक्तदाम-गुण-चित्रनी, (पत्र ३६०–३६२) के आधारपर यहाँ दिया जाता है—

श्रीचौमुखजी—आप चारण-भक्त थे। एक बार जब आप भगवानकी स्तुति कर रहे थे उसी समय राजाका भेजा हुआ नौकर कई बार आपको बुलानेके लिए आया, पर स्तुति आधी छोड़कर आप भला कैसे आ सकते थे? इसपर राजा बड़ा नाराज हुआ और जब पूजा समाप्त करनेके उपरान्त

श्रीचौमुखजी दरबारमें आये तो उसने उन्हें फटकार कर बाहर निकाल दिया। इसपर भगवानको बड़ा दुःख हुआ। उन्होंने रातमें राजाको स्वप्न देकर कहा—"हमको चौमुख बड़ा अच्छा लगता है। हम उसकी भक्तिसे रीझ गए हैं। तुम आज सवेरा होते ही उसे अपने दरबारमें बुला लो।"

भगवानकी चौमुखजीपर ऐसी कृपा देखकर राजाने तुरन्त आदमी भेजकर उन्हें बुलाया और उनका यथोचित सम्मान किया।

श्रीईश्वरदासजी—भगवानकी भक्तिमें सदा निमग्न रहनेवाले श्रीईश्वरदासजी एक बार द्वारका-पुरीमें श्रीद्वारकाधीशजीके दर्शन करने गए। प्रभुको देखनेके उपरान्त उनके प्रत्यक्ष दर्शनकी अभिलाषा आपके मनमें जाग उठी और आप समुद्रमें कूद पड़े, किन्तु समुद्रकी सतह आपके लिए जमीनके समान हो गई और चारों दिशाओंमें घूमनेके बाद आप पुनः द्वारकाधीशके मन्दिरके सामने आकर अनशनका व्रत लेकर बैठ गए। इस प्रकार कुछ दिन बीत गए और आपका शरीर बहुत दुबला हो गया तो एक दिन रातमें भगवानने कहा—"तुम सुबह होते ही घर चले जाओ और जितना भी धन तुम्हारे घर में है उसे साधुओंको भोजन करानेमें समाप्त कर दो, तभी तुम्हें मेरे प्रत्यक्ष दर्शन मिल सकते हैं।" प्रमाण-स्वरूप भगवानने अपनी माला आपके गले में डाल दी।

भगवानकी ऐसी आज्ञा सुनकर दूसरे ही दिन श्रीईश्वरदासजी अपने घर आए और सारा धन भगवद्-भक्तोंको भोजन करानेमें व्यय कर दिया। उसी समय भगवान आए और उन्होंने श्रीईश्वरदासजी को प्रत्यक्ष दर्शन देकर कृतार्थ किया।

श्रीदूदाजी—समस्त देवी-देवताओंको तिलाञ्जलि देकर आप अनन्य-भावसे सन्तोंके उपासक थे। जो भी आपके पास आता उसे सन्तोंको खिला-पिलाकर बराबर कर देते थे। एक बार आपका षोडष-वर्षीय पुत्र मर गया। इसपर आपकी पत्नी रोती हुई कहने लगी—"तुमने देवी-देवताओंका पूजन करना जो छोड़ दिया, इसीसे तुम्हारा पुत्र मर गया। पहिले हमने मना किया था कि इन मुंडियोंके चक्करमें पड़कर सारा घर बरबाद मत करो। देखूंगी, अब कौन-सा मुंडी आकर इसे जिन्दा करता है।"

श्रीदूदाजी इन कर्कश शब्दोंसे तिलमिला गए और आंखोंमें आंसू भरकर भगवानकी विभिन्न प्रकारसे प्रार्थना करने लगे। प्रभु तो परम दयालु हैं। भक्तकी इस विपत्तिको देखकर उन्हें दया आगई और उन्होंने श्रीदूदाजीके पुत्रको पुनर्जीवित कर दिया।

श्रीनारायणदासजी—आप भक्तवर अल्हके वंशमें उत्पन्न हुए थे। आप बड़े सन्त-सेवी और चारण-कुलका उद्धार करनेवाले थे। अपने भाई और भाभीके साथ आप रहा करते थे। एक दिन जब भाभी आपको ताजी रोटियाँ न देकर बासी रोटी देने लगी तो आपने कहा—"जब ताजी रोटियाँ हैं तो हमें बासी क्यों देती हो?" इसपर भाभीने आँखें तरेर कर कहा—"सवेरेसे शाम तक ठाले-बैठे पड़े रहते हो तुमसे कमाया नहीं जाता?"

आप बोले—"भाभीजी! भगवानका यशोगान करनेसे ही हमें तो फुर्सत नहीं मिलती; तुम्हारे लिए कमाकर कब लाएँ?"

भाभीने कहा—"कहीं भगवानके ऐसे भक्त नहीं हो। यदि द्वारकासे आकर भगवान तुम्हें भक्त स्वीकार करलें तो हम भी मान लेंगे कि तुम भक्त हो।"

भाभीकी बात आपके लग गई। आप सीधे द्वारकापुरी पहुँचे और हठ करके भगवानसे यह बात स्वीकार करवाली कि "नारायणदास मेरा भक्त है।"

उसी दिनसे श्रीनारायणदासजीके भाई और भौजाई आदर-सम्मान करने लगे।

विशेष—इस छप्पयके भक्तोंकी नामावली लिखते समय श्रीरूपकलाजीने प्रसिद्ध चारण-भक्त ईश्वरदासको छोड़ दिया है और ३ भक्तेतर व्यक्तियोंको सम्मिलित करके १५ नामोंका उल्लेख किया है। किन्तु श्रीबालकरामजीने १३ ही भक्त माने हैं और उन्होंने उनमेंसे चौमुख, ईश्वरदास, करमानन्द, दूदा, नारायणदास, कोल्ह और अल्हू इन ७ भक्तोंका परिचय भी दिया है। इनमें और सबकी कथा तो प्रियादासजीके अनुसार ही है, किन्तु चौमुख, ईश्वरदास और दूदाकी कथा इनमें विशेष लिखी है। श्रीप्रियादासजीने अपनी भक्तसुमिरनीमें गदाधरभट्टजीके उत्तरवर्ती छप्पयकी भक्तनामावली इस प्रकार दी है:—"चौमुख चौर नव सरवंग। चंद अपत ईश्वर अरु कोल्ह। साधु अलूको दाख्यो बोल। भीषोकरमानन्द सुमाढ़ण। जीवानन्द रहे तन मन हरि सन। नारायणदास सुचारन" इनके पश्चात् वे भक्त पृथ्वीराजका उल्लेख करते हैं जो छप्पय १४० वें में आता है।

श्रीलालदासजीने अपने भक्तमालके छप्पय ३५६ में नाभाजीके प्रस्तुत छप्पयका पद्यानुवाद इस प्रकार किया है—

ईश्वर चौमुख चंद्र करमानन्द चौरा जाता। मथुरा माधोदास भगत परचै बिख्याता॥
भीषण आसोदास जीवानन्द सीवां मांढण। मदन सूरपत्र जुगल कबल दूदा हर बंदन॥
चौरासी रूपग अरथ लोक अलू भव दुख हरयौ। बल जाऊं चारण गिरा रांम सुजस गुण उचरयौ॥

श्रीरूपकलाजीने "चौरासी" और "जुजुवा" इन दोनोंको भी भक्तनामावलीमें ही समाविष्ट कर लिया है। वस्तुतः ये दोनों भक्तोंके नाम नहीं हैं। चौरासी शब्द संख्या-वाचक है और जुजुवा-शब्द "पृथक्-पृथक्" अर्थका वाचक है। यह राजस्थानी भाषाका शब्द है। राजस्थानके चारण-विद्वानोंका❀ मत है कि इस छप्पयमें जो 'साधु' शब्द है वह 'साधु' न होकर 'सानु' होना चाहिये, जो चारण जातिके १२० गोत्रोंके अतिरिक्त एक प्रसिद्ध उपगोत्र है; अतः वह भी किसी भक्तका नाम नहीं हो सकता, इस प्रकार "जुजुवा, चौरासी और साधु" ये तीन नाम रूपकलाजीकी गणनामें कम होने पर बारह ही भक्त रह जाते हैं। श्रीसीतारामजी लालसकी धारणानुसार एक 'पिठवा' नाम और होना चाहिये और करमा-नन्द शब्दसे 'करमा' और 'आनन्द' ये दो भक्त समझे जाने चाहिये। सम्भव है, नतग्रीवाके स्थानमें 'नत पिठवा' पाठ रहा हो जिससे कि पिठवाकी गणना हो सकती थी और ऐसे चारण जातिके चौदह भक्त हो जाते हैं, जैसा कि इस जातिके विद्वानोंमें प्रसिद्धि हो रही है। आनन्द और पिठवाको छोड़ दें और उनके स्थानमें सीवां और आसानन्दको ले लेनेपर भी उनके मन्तव्यानुसार चौदह भक्तोंकी नामावली पूरी हो जाती है। लालदासके छप्पयके अनुसार भी ऐसे ही संख्या पूर्ण होती है।

यद्यपि बालकरामजीने इस छप्पयके तेरह भक्त माने हैं, किन्तु उन सबके नामोंका उल्लेख नहीं किया×। श्रीप्रियादासजीने भक्त सुमिरनीमें नामोंका उल्लेख किया है, किन्तु उन्होंने ग्यारह ही नाम दिये

❀ मास्टर श्रीसीतारामजी "लालस" सिवला रोड जोधपुर, आपने राजस्थानी भाषाका व्याकरण और एक शब्द-कोष भी लिखा है। प्रस्तुत छप्पयके सम्बन्धमें आपसे विशेष परामर्शका योग प्राप्त हुआ है।

× किशोरसिंह बार्हस्पत्य, (ईश्वरदासकृत हरिरसकी भूमिका कलकत्ता संस्करण)

हैं। यदि "सब सरबग्र" उनकी चौपाईका पाठ "सोंवा सरबग" मान लिया जाय तो एक 'सोंवा' नाम और बढ़ जाता है, किन्तु फिर भी बारह ही होते हैं। पता नहीं उन्होंने दूदाजीको क्यों छोड़ दिया, हाँ? करमानन्द शब्दसे करमा और आनन्द दो व्यक्ति मान लें, दूदा और आशानन्दको भी मिला लें तो चौदह नाम हो सकते हैं।

इसी प्रकार बालबालजीके छप्पयकी पाँचवीं तुकमें आये हुए "लोक" शब्दके अक्षर और मात्रा क्रमका विपर्यय मान लिया जाय, तो "कोल" नाम निकल आता है। लेखकके प्रमादसे ऐसा विपर्यय होना भी सम्भव है। इस संगतिसे बालबालजी भी तेरह नामोंसे सहमत हो जाते हैं, परन्तु आशोदास (आशानन्द जो ईश्वरदासके चाचा एवं महाकवि तथा जोधपुरके राव राजा मालदेवके कृपापात्र थे) का नाम बढ़ जाता है। नाभाजीके मूल छप्पयमें आशानन्द नाम नहीं मिलता, अतः बालकरामके मन्तव्यानुसार तेरह नाम ही मान लेनेपर करमानन्द शब्दमेंसे आनन्दको पृथक् माननेकी भी आवश्यकता नहीं रहती।

श्रीरूपकलाजीने साधु-शब्दसे ही एक साधुजी भक्तकी कल्पना करली, किन्तु स्पष्ट संकेत होते हुए भी प्रसिद्ध चारण भक्त 'ईश्वर' को उन्होंने सर्वथा छोड़ ही दिया; अतः उनका यहाँ संक्षिप्त रूपसे शोध द्वारा प्राप्त परिचय दिया जाता है।

बूंदीके कवि सूर्यमलजी मिश्रण-कृत वंश भास्कर तृतीय भाग मयूख १७७ पृ० २०५८से २१०२ तक पैंतालीस पृष्ठोंमें ईश्वर करमानन्द, आनन्द आदि कई एक चारण भक्तोंका इतिवृत्त मिलता है। ये सब हरि-भक्त कवि थे, सभीने रचनायें की हैं। उनमें करमानन्दके दोहे, अल्लू (अलूदास) के छप्पय कवित्त, माधोदासका रामरासा, नारायणदासका गजमोक्ष और मांडणके रूपक मिलते हैं। सबसे अधिक रचना ईश्वरदासजीने की है। उन्होंने ईश्वर-चरित्रपर छोटा बड़ा हरिरस, बाल-लीला, गुण-भगवन्त, हंस, गरुड-पुराण, गुण-आगम, निन्दास्तुति, देवीयाण, वैराठ, रासकैलास, सभापर्व, हरजीरा हजार-नाम और फुटकर कविता आदि १५ ग्रन्थ लिखे हैं। कविराज शंकरदान जेठाभाईने, लींबडी (सौराष्ट्र) में देवीयाण और राजस्थान रिसर्च सोसाइटी कलकत्तामें हरिरसका प्रकाशन किया था, इन दोनों पुस्तकोंकी भूमिकामें ईश्वरदासजीके इतिवृत्तपर प्रकाश डाला गया है।

श्रीशंकरदान जेठाभाईने देवीयाणकी भूमिकामें निम्नांकित दोहेके आधारपर ईश्वरदासका जन्म संवत् १५१५ माना है—

पनरा सै पनरोत्तरा जन्म्या ईश्वरदास। चारण वरण चकारमें उण दिन हुवो उजास॥

किन्तु 'हरिरसकी' भूमिकाके लेखक श्रीकिशोरसिंह बार्हस्पत्यने उपर्युक्त दोहेके प्रथम-चरणका "पनरासौ पच्चाणवें" पाठ उचित माना है और तदनुसार ईश्वरदासका जन्म संवत् १५९५ सिद्ध किया है, जिसकी पुष्टि इस प्रकार की है—

ईश्वरदासके चाचा महाकवि आशानन्द जोधपुर-नरेश राव मालदेवके कृपा-पात्र थे। राव मालदेव का जन्म सं० १५६८ और राज्याभिषेक सं० १५८८ में हुआ था। जैसलमेरके महारावल लूणकर्णजी की राजकुमारी उमा भटियाणी* का सं० १५९३ वैशाखसुदी ४ को राव मालदेवके साथ विवाह-सम्बन्ध हुआ था।

---

* उमा भटियाणी प्रसिद्ध भागवद्भक्त राजमहिलाओंमें गिनी जाती हैं, भक्तमाल छप्पय १०७ में नाभाजीने भी उनका नामोल्लेख किया है।

इधर पहली धर्म-पत्नी देवलबाईकी असामयिक मृत्युके कारण ईश्वरदासजीको खिन्न देखकर उनके चाचा महाकवि आशानन्द उन्हें भी द्वारका यात्रामें अपने साथ लिवा गये। वापिस लौटतेस मय वे दोनों ही जामनगरमें ठहरे। वहांके रावलकी प्रेरणासे पेथाभाई अवचूराकी पुत्री राजबाईके साथ ईश्वरदासका दूसरा विवाह हुआ था। जामनगरका बसना वि० सं० १५९६ श्रावण सुदी ७ बुधवारको आरंभ हुआ था, जिसके ऐतिहासिक प्रमाण मिलते हैं। ऐसी स्थितिमें ईश्वरदासका जन्म सं० १५१५ निश्चित नहीं हो सकता, क्योंकि ८१ वर्षकी अवस्थाके पश्चात् फिर ईश्वरदासके दूसरे ब्याहकी संगति ही नहीं बैठ सकती। इसके अतिरिक्त बीकानेर राज्यान्तर्गत 'देशनोक' के बारहठ चामुण्डदानजीके ऐतिहासिक संग्रहालयमें कई-सौ जन्म-कुण्डलियोंका संग्रह है जिनमें ईश्वरदासकी भी जन्म-कुण्डली उपलब्ध है। उसके ऊपर लिखा हुआ है "सं० १५६५ चैत सुदी ९, ई० ४५ ईसरदासजी बारहठ (स्य) पत्री लहा- विद्या सिद्ध विद्या वल्लभ योग"।

९	१०	११	१२	१	२	३	४	५	६	७	८
			सू. बु.	गु. शु.	रा.	मं.	चं.		श.		के.

अन्तिम दिनोंमें जब ६५ वर्षकी वृद्ध-अवस्था होगई तब जामनगरसे लौटकर ईश्वरदासजी मारवाड़में ही आगये थे और भाद्रेस गांवसे कुछ कोसकी दूरीपर लूणी नदीके तटपर एक पर्णकुटी बना कर उसीमें वे आजीवन भजन करते रहे। ८० वर्षकी अवस्थामें उनका देहान्त हुआ। उनके सम्बन्धमें एक यह दोहा प्रसिद्ध है—

"ईश्वर घोड़ा रेलिया भव सागर रै मांहि। तारण वालो तारसी सांई पकड़ी बांहि॥

उनके गुरु जामनगर-निवासी पीताम्बरभट्ट थे जिनकी वन्दना उन्होंने "हरिरस" के आदिमें इस प्रकार की है—

लागूं हूं पहली लुलै पीताम्बर गुरु पाय। भेद महारस भागवत पाम्यू जास पसाय॥६॥
जाल टलै मन भ्रम गलै निरमल थावै देह। भाग हुवै तो भागवत सांभल जो श्रवणेह॥७॥

हरिरसके अन्तिम दोहेमें उन्होंने ग्रन्थ-संख्या और फल स्तुति भी लिखी है :—

ईसर ओ हरिरस कियो दुहां तीन सो साठ। महा पापी आमैं मुकत जो कीजै नित पाठ॥

ईसरदासजीकी भांति अल्हू अलूजाजीभी सन्त प्रकृतिके व्यक्ति थे। कहा जाता है कि वे नाथपंथके साधु हो गये थे। इंडो भरण नाथके चेले होकर❀ मेड़ताके आसपास रहने लगे। उधर ही उनका शरीर छूटा था। मेड़ता (मारवाड़) तहसीलके जसराणा ग्राममें एक मन्दिर है, उसमें अल्हूजीकी मूर्ति भी है। इन चारण-भक्तोंका जहाँ-तहाँ थोड़ा परिचय मिलता है, वंश भास्करमें विशेष परिचय है। यहाँ सबका परिचय न देकर उपर्युक्त दो व्यक्तियोंका ही परिचय दिया जा सका है।

❀ श्री नाथ-सम्प्रदाय, लेखक पं० श्री हजारीप्रसादजी द्विवेदी।

मूल (छप्पय)

(श्रीपृथ्वीराजजी)

सवैया गीत श्लोक बेलि दोहा गुन नवरस।
पिंगल काव्य प्रमान बिबिध बिधि गायौ हरिसस ॥
परदुख बिदुख श्लाघ्य बचन रचना जु बिचारै।
अर्थ बित्त निर्मोल सबै सारँग उर धारै ॥
रुक्मिनी लता बरनन अनूप बागीश बदन कल्याण सुव।
नरदेव उभै भाषा निपुन पृथ्वीराज कविराज हुव ॥१४०॥

अर्थ—बीकानेरके राठौ श्री पृथ्वीराजजीने सवैया, गीत, श्लोक, बेली, दोहा आदि छन्दोंमें माधुर्य, ओज, प्रसाद नामक तीन गुण तथा शृङ्गार और नव-रसोंसे युक्त छन्द-शास्त्र पिंगलके नियमोंका पालन करते हुए प्रामाणिक साहित्य-परम्पराके अनुसार अनेक प्रकारकी काव्य-रचनाएँ कीं और उनके द्वारा हरिके यशका वर्णन किया। आप दूसरोंके दुखको अपना दुख मानते थे और कल्पना द्वारा सुन्दर और अनूठी उक्तियोंका सृजनकरते थे। काव्यके अर्थ रूपी धनको आप भ्रमरकी तरह अपने हृदयमें धारण करते थे —अर्थात् शाब्दिक प्रपंचसे दूर रहकर काव्यकी आत्माको इस प्रकार ग्रहण करते थे जैसे भौंरा परागको। आपने 'कृष्ण रुक्मिणी रीबेली' नामक ऐसे उत्कृष्ट काव्यकी रचना की किपढ़नेवाला यही सोचता है कि कविकी जिह्वामें साक्षात् सरस्वती देवीका निवास है। इस प्रकार कल्याणसिंहजीके सुपुत्र श्रीपृथ्वीराजजी संस्कृत और प्राकृत दोनों भाषाओंमें कविता करनेमें प्रवीण हुए।

भक्ति-रस-बोधिनी

मारवार देस बीकानेर को नरेस बड़ौ, 'पृथीराज' नाम भक्तराज कविराज है।
सेवा अनुराग और विषै वैराग ऐसौ, रानी पहिचानी नाहि, मानों देखी आज है ॥
गयौ हो बिदेस, तहाँ मानसी प्रवेस कियौ, हियौ नहीं सूझे, कैसे सरै मन काज है।
बीते दिन तीन प्रभु मंदिर न दीठि परै, पाछे हरि देखि भयौ सुख को समाज है ॥५३८॥

अर्थ—मारवाड़ प्रदेशके बीकानेरके राठौ श्रीपृथ्वीराजजी उच्च कोटिके भक्त और कवि थे। भगवानकी सेवामें आपका ऐसा अनुराग था और सांसारिक भोगोंसे ऐसे विमुख रहते थे कि एक दिन आपने अपनी रानीको भी नहीं पहिचाना। आपको लगा जैसे उसे सबसे पहले उसी दिन देखा हो।

एक बार आपको कार्य-वश विदेश जाना पड़ा। वहाँ आपने मानसी-सेवा प्रारंभ करनी कर दी किन्तु जब आपने प्रभुका आवाहन किया, तो हृदयमें प्रभुका विग्रह-आ कर विराज-

मानही नहीं हुआ। ऐसे में मानसी-सेवा कैसे करते ? इस प्रकार तीन दिन बीत गए और मन्दिरमें प्रभुके दर्शन नहीं हुए। बादमें चौथे दिन जब दर्शन हुए तब आपके हृदयको शान्ति मिली।

भक्ति-रस-बोधिनी

लिखि कै पठायौ देस सुन्दर संदेस यह, मंदिर न देखे हरि, बीते दिन तीन हैं।
लिख्यौ आयौ साँच- बाँचि अति ही प्रसन्न भये लगे राज बैठे प्रभु बाहर प्रवीन हैं ॥
सुनौ एक एक और यों प्रतिज्ञा करी हिये धरी 'मथुरा सरीर त्याग करें'' रसलीन हैं।
पृथिवीपति जानि कै मुहीम दई काबुल की, बस अधिकाई, नहीं काल के अधीन हैं ॥५३९॥

अर्थ—पृथ्वीराजजीने पत्र द्वारा यह सन्देश लिख कर अपने देशको भेजा कि 'क्या कारण है कि मुझे (मानसी-सेवामें) तीन दिन तक मन्दिरमें प्रभुके दर्शन नहीं हुए।' वहाँसे जो उत्तर लिखकर आया उसे पढ़कर और अपनी भावनाको सत्य सिद्ध होते देखकर आप बड़े प्रसन्न हुए। उत्तरमें लिखा था कि मन्दिरमें मरम्मतके लिए राज लगे थे, अतः प्रभु तीन दिन तक बाहर ही विराजे थे।

एक वृत्तान्त और सुनिये। प्रभु प्रेममें मग्न राजाने यह प्रतिज्ञा (संकल्प) की थी कि मैं अपना शरीर मथुरामें छोड़ूँगा'। यह सुनकर बादशाहने आपको द्वेष-वश काबुलकी लड़ाई पर जानेके लिए नियुक्त कर दिया। किन्तु पृथ्वीराज उन महात्माओंमेंसे थे जो इच्छा-मृत्युके द्वारा शरीर छोड़ते हैं। ऐसे महानुभाव कालके वशमें नहीं होते। फिर आपके तो आत्म-बलकी कमी ही नहीं थी।

भक्ति-रस-बोधिनी

जीवन अवधि रहे निपट अलप दिन, कलप समान बीते पल न बिहात हैं।
आगम जनाय दियौ, चाहैं इन्हैं साँचौ कियौ, लियौ भक्ति भाव जाके छायौ गात-गात है ॥
चल्यौ चढ़ि साँड़िनी पै लई मधुपुरी आनि, करिकै असनान प्रान तजे, सुनौ बात है।
जै जै धुनि भई, व्यापि गई चहूँ ओर अहो, भूपति चकोर जसचंद दिन रात है ॥५४०॥

अर्थ—(पृथ्वीराजजीको अपनी आयुकी अवधि मालूम हो गई थी।) जब आपने देखा कि दिन थोड़े ही रह गये हैं, तो एक-एक क्षण आपको युगके समान भारी लगने लगा। भगवान उनकी प्रतिज्ञाको सत्य सिद्ध करना चाहते थे, अतः उन्होंने आपके हृदयमें यह बात बिठादी कि अब यहाँसे चल देना चाहिए। राजाका तो रोम-रोम भक्तिमें डूबा हुआ था, सो वे उसी क्षण साँड़िनीपर चढ़कर चल दिये और मथुरा पहुँच कर दम लिया। मथुरामें आपने श्रीयमुनाजीमें स्नान किया और योग-मुद्रामें आसीन होकर प्राण छोड़ दिये। भक्तोंने जब यह सुना, तो पृथ्वीराजजीका जय-जयकार किया। आपकी कीर्ति चारों दिशाओंमें फैल गई। बादशाह भी आपकी दृढ़ निष्ठासे अत्यन्त प्रभावित हुआ। वह आपके यशरूपी चन्द्रमाका चकोर की तरह प्रेमी बन गया।

विशेष वृत्त——राव बीकाजीके वंशज श्रीपृथ्वीराजजीका जन्म वि० सं० १६०६ मार्गशीर्षमें हुआ था। इनके पिताका नाम कल्याणमलजी एवं माताका नाम जैतसी था। श्रीपृथ्वीराजजी बीकानेर-राज्यके शासक थे, पर वैसे ये अकबरके दरबारियोंमें प्रायः आगरे रहा करते थे। अकबरके प्रसिद्ध सेनापति महाराज रायसिंह इनके बड़े भाई थे।

श्रीपृथ्वीराजजीके दो विवाह हुए थे। पहिली पत्नी लालादेका असमयमें परलोकवास हो जाने पर आपने दूसरा विवाह जैसलमेरके रावल हरराजकी कन्या चाँपादेसे किया था। आपकी दोनों ही पत्नियाँ परम भगवद्भक्त, पति-परायणा सुशीला एवं अनुपम लावण्यमयी थीं।

श्रीपृथ्वीराजजी भक्त तो उच्चकोटिके थे ही, साथ ही दर्शन, ज्योतिष, संगीत एवं छन्द-शास्त्रके प्रकाण्ड विद्वान् एवं महान् कवि थे। 'वेलि किसन रुक्मिनीरी', 'दशरथ रावउत', 'वंसदे रावउत', 'गङ्गा-लहरी', 'प्रेम दीपिका' और 'श्रीकृष्ण-रुक्मिनी चरित्र' आदि आपकी प्रसिद्ध रचनाएँ हैं। इनमें 'वेलिकिसन रुक्मिनीरी' ३०५ छन्दोंका एक अनुपम ग्रन्थ है जिसे प्रायः समस्त कवियोंने डिंगल भाषा का सर्वोत्कृष्ट काव्य माना है।

मूल (छप्पय)

(श्रीसींवाजी)

असुर अजीज अनीति अगिनि में हरिपुर कीधौ।
साँगन सुतनै सादराय रनछौरै दीधौ॥
धरा धाम धन काज मरन बीजा हूँ मांड़ै।
कमधुज कुट कै हुवौ चौक चत्रभुजनी चांड़ै॥
बाढ़ैल बाढ कीवी कटक चौंद नाम चाँड़ै सबल।
द्वारका देखि पालंटती अचढ़ सींव कीधी अटल॥१४१॥

श्रीबालकरामजीने प्रियादासजीके कवित्त अनुसार ही इस छप्पयकी टीका लिखी है। अजीजखाँ की अनीति देखकर प्रभुने सींवासे कहा—"हमने तेरी कई बार रक्षा की है, अब तू हमारी रक्षा कर"—

रणछोड़ तब निज ईशता तजि भक्त जस के काज।
सो भक्त सींवा कूं पुकारे द्वारिका पति गाज॥
झट करहु रक्षा हमारी अब असुर कोपितिहार।
बहु बार रक्षा करत हम तव अब ही तेरी बार॥
हरि बोल अस कल्लोल सुनि सो बोल मन प्रभु हेत।
झट लेय निज दल प्रबल हरिबल हय उठाये चेत॥
हय डारि अरि दल मारि असुरहिं कष्ट टारि मुरारि।
निज देह डार्यौ हरि हि वार्यौ प्रेम प्रतिमति धारि॥

श्रीलालदासजीने भी इस छप्पयका बड़ा सुन्दर अनुवाद किया है, किन्तु उन्होंने उस यवनका मजोज नाम नहीं लिखा और सींवांका नाम भी नहीं लिया। उनका छप्पय यह है—

जवन मजीत अनीत बुद्ध द्वारा मति जारण।
पुरवत लोकपुकार सुणत ध्यायौ सिय कारण॥
हटक हटक कर बटक रटक अदभूत दिखाई।
गटक काल मुख सटक रंक तढ़ लटक सवाई॥
सेवग सांमी परस पर यह विख्यात कारन कयौ।
वाढेलचांव सांगन सुतन सूरधीर हर हित भयौ॥३५७॥

श्रीलालदासजीने यद्यपि सींवांजीका नामोल्लेख नहीं किया, तथापि उनके कुलका परिचय दे दिया है। यदुवंशी भाटियोंकी एक परम्परा—जैठवे, वाढेले और काठिये इन शाखाओंमें विस्तृत हुई है।* उसी वाढेल शाखाके जसहड़के पुत्र सांगण थे। ‡ किन्तु उनके पुत्र सींवांका नामोल्लेख इस ख्यातमें नहीं मिलता।

यद्यपि भाटी-राजवंशके सीहाका नाम कई स्थलोंपर अंकित है और वे सभी भिन्न व्यक्ति हैं, पर उनमें से एक भी ऐसा सीहा नहीं मिलता जो सांगणका पुत्र हो, अतः सींवांको सीहा मान करके भी इस छप्पयकी ऐतिहासिक संगति नहीं बिठाई जा सकती।

वस्तुतः इस छप्पयके शब्दों और उनकी मात्राओंके हेर-फेरसे भी टीकाकारोंको बड़ी भ्रान्ति हो गई है। हस्त-लिखित प्रतियोंमें—अचढ (अवट), कटक (विकट), सींवें (सींव) आदि पाठ-भेद मिलते हैं, जिससे लगता है कि इस चरित्र नायकके नाममें ही भ्रम हो गया है।

कावाओं (भीलों) की भाषाके प्रयोग मानकर श्रीरूपकलाजीने इस छप्पयके शब्दोंका अर्थ जाननेमें असमर्थता प्रकट की है और उन शब्दोंका भावार्थ भी प्रकट किया है, किन्तु वाढेल आदि शब्दोंके अर्थमें विचारकी कमी ज्ञात होती है।

वस्तुतः कीधौ, दीधौ, कीवी आदि शब्द तो ऐसे हैं कि मेवाड़, मारवाड़, जैसलमेर आदि राज्यों में उनका प्रयोग सभी वर्णोंके शिक्षित व्यक्ति भी करते हैं, अतः वे भीलों ही की भाषाके शब्द कैसे माने जायँ ?

यद्यपि श्रीप्रियादासजीने इस छप्पयके चरित्र-नायकको कावाओंका पति माना है, तथापि वह भील जातिके व्यक्ति नहीं कहे जाते।

आजकल भी सीरोही उदयपुर, जोधपुर, जैसलमेर आदि राज्योंमें भीलोंकी वस्तियाँ हैं, किन्तु उनके अधिपति, देवड़ा, सीसोदिया, भाटी, राठोड़ राजा ही रहे हैं।

यदि इस छप्पयके 'सांगण सुत नैं" में के 'सुत' शब्दका अर्थ अनुज मान लिया जाय, जैसा कि वत्स, तात आदि शब्द जहाँ-तहाँ अनुजके अर्थमें प्रयुक्त होते हैं और "सींवैं" शब्दके स्थानमें सीमावाचक "सींव" पाठ ही अङ्गीकार कर लिया जाय, तो इस छप्पयकी घटना इतिहाससे मेल खा सकती है। कई पुस्तकोंमें पाठ सींव ही मिलता भी है।

* मुंहणोत नैणसीकी ख्यात, द्वितीय खण्ड, पत्र ३२५। ‡ वही, पत्र २८८, ३४४

वस्तुतः मूल छप्पयमें चांद नामक भक्तका स्पष्ट उल्लेख है जो सांगण भाटीका छोटा भाई × एवं भीलोंका अधिपति भी था।

इन सब ऊहापोहोंके पश्चात् छप्पयका शब्दार्थ इस प्रकार निश्चित हुआ है—

दुर्नीति मदांध अजीजखाँने जब द्वारका पुरीको जलाना आरम्भ किया तब श्रीरणछोर भगवानने सांगण (भाटी) के सुत (अनुज) को प्रेरणा की। कमध्वज, जो राठौड़ोंकी तेरह शाखाओंका राय माना जाता था *, का उदाहरण दिया गया है०। पृथ्वी, धन, आदिके निमित्त तो सभी साधारण व्यक्ति भी प्राण दे बैठते हैं, किन्तु बाढेल-वंशी चाँद नामक भक्तने यवनों की सेनाका विध्वंसकर परमार्थ-दृष्टिसे श्रीचारभुजा (रणछोड़) जीके चौकमें वीर-गति प्राप्त की जिससे द्वारका और उसकी सीमाकी रक्षा हो सकी।

भक्ति-रस-बोधिनी

काबा-पति सींवा, सुत सांगन को, प्यारो हरि, द्वारावति ईस यों पुकारें "रक्षा कीजियै।"
सदा भगवान आप भक्त प्रतिपाल करैं, 'करो प्रतिपाल,' मेरी सुनि मति भीजियै॥
तुरक अजीज नाम धाम कों लगाई आगि, लई बाग घोरन की, आये हूक कीजियै।
दुष्ट सब मारे प्रभु कष्ट ते उबारे, निज प्राण वारि डारे, यह नयौ रस पीजियै॥५४१॥

अर्थ—काबा जातिके भीलोंके सरदार और साँगनके सुपुत्र श्रीसींवाजी भगवानके अति-प्रिय थे। एक बार (अजीजखाँ द्वारा द्वारकामें आग लगाये जाने पर) द्वारकाके स्वामीने स्वयं यों पुकार की—"आकर मेरी रक्षा कीजिये।" श्रीसींवाजीने मनमें सोचा कि जो भगवान स्वयं भक्तोंकी रक्षा करते हैं, वही अपनी रक्षाके लिये आज मेरी दुहाई दे रहे हैं, इससे बढ़े सौभाग्यकी बात और क्या हो सकती है ?" यह विचार मनमें आते ही श्रीसींवाजी भगवत्-प्रेमके रंगमें कुछ देर तक मग्न हो गये।

बात यह थी कि एक तुर्क बादशाह अजीजखाँ ने द्वारकाको घेरकर आग लगा दी थी। यह समाचार मिलते ही श्रीसींवाजी घोड़े पर सवार हो (और थोड़ी-सी सेना साथ ले) द्वारका पहुँचे और बादशाही फौजको मार भगाया। आपने प्रभुकी आज्ञानुसार द्वारका वासियोंको बचाया और आप उसी युद्धमें लड़ते-लड़ते वीर-गतिको प्राप्त हुए। भक्तोंकी महिमाको बढ़ाने का यह भगवानका विलक्षण ढङ्ग है। ऐसे ही चरित्रों द्वारा प्रभु भक्तोंको अपनी कृपाका रस पिलाते रहते हैं

विशेष :— टीकाकारने सांगणका सुत सींवा माना है किन्तु छप्पयमें चांदका नाम स्पष्ट है, यहाँ यह बात विचारणीय है।

× मुहणोत नैणसी की ख्यात द्वितीय खंड पृ० २११ *वही पृ० ९७

०इनकी कथा देखें इसी अङ्क के पृ २८०, २८२

मूल (छप्पय)

(श्रीरत्नावतीजी)

कथा कीरतन प्रीति भीर भक्तन की भावै।
मदा महोछौ मुदित नित्य नंदलाल लड़ावै ॥
मुकुन्द चरण चिंतवन भक्ति महिमा ध्वज धारी।
पति परलोभन कियौ टेक अपनी नहिं टारी ॥
भलपन सबै विशेषहीं आमेर सदन सुनखाजिती।
पृथीराज नृप कुल बधू भक्त भूप रतनावती ॥१४२॥

अर्थ—श्रीरत्नावतीजीको भगवानकी कथा सुनना और उनके गुणोंका कीर्तन करना अच्छा लगता था। आपके यहाँ हर समय भक्तोंका जमाव रहता था। आप सन्तोंकी सेवा-सत्कार करनेके उद्देश्यसे विशाल समारोह किया करतीं और नन्दलालजीको लाड़ लड़ाती थीं। श्रीमुकुन्दके चरणोंके ध्यानमें मन लगाकर आपने भक्तिकी पताका फहराई आपने अपने पतिका बिल्कुल लोभ नहीं किया, बल्कि उसे हरि-विमुख जानकर अपना मन उधरसे हटा लिया और इस प्रकार अपनी भक्तिके प्रणका निर्वाह किया आमेरके भवनोंमें रहनेवाली सुनखाजीतकी पुत्री रत्नावतीमें सज्जनताके सब गुण विशेष मात्रामें विद्यमान थे। भक्त शिरोमणि पृथ्वीराजके कुल में ही ब्याह कर आप आई थीं (अतः आपका भक्त होना स्वाभाविक ही था)।

भक्ति-रस-बोधिनी

मानसिंघ राजा ताको छोटो भाई माधौसिंघ, ताकी रानी तिया, जाकी बात लै बखानियै।
दिग जो खवासिनि सो स्वासनि भरत नाम, रटति जटित प्रेम रानी उर आनियै ॥
नवलकिसोर कभूं नन्दके किसोर कभूं वृन्दावन चंद कहि आँखें भरि पानियै।
सुनत बिकल भई, सुनिबेकी चाह भई, रीति यह नई कछु प्रीति पहिचानियै ॥५४२॥

अर्थ—श्रीमती रत्नावतीजी राजा मानसिंहके छोटे भाई माधवसिंहकी रानी थीं। उन्हीं का वृत्तान्त यहाँ वर्णन किया जाता है। इनके पास एक दासी परिचर्याके लिये रहती थी जोकि लंबी-लंबी साँसें भरकर भगवानका नाम लिया करती थी। सुनते-सुनते रानीके हृदयमें भी भक्ति-भावना उदित हुई। एक दिन यह दासी कभी भगवानको 'नवल-किशोर', कभी 'नन्द-किशोर' और कभी 'वृन्दावनचन्द्र' आदि नामोंसे संबोधित करती हुई भजन कर रही थी। उसकी आँखोंमें प्रेमके आँसू छलछला रहे थे। रानीने ये नाम जो सुने और दासीकी वैसी हालत देखी, तो स्वयं बेचैन हो उठीं। उन्हें लगा कि वह बराबर प्रभुके इन नामोंको ही सुनती रहें। भगवत प्रेममें किसीकी ऐसी दशा भी हो सकती है, यह उनके लिए बिलकुल नई

भाव थी। पर इन लक्षणोंसे रानीको निश्चय होगया कि दासीका प्रेम सच्चा है और वह भगवान की सच्ची भक्तिमती है।

भक्ति-रस-बोधिनी

"बार-बार कहै कहा कहै ? उर गहै मेरौ", बहै दृग नीर हो, सरीर सुधि गई है।
"पूछौ मत बात, सुख करौ दिन रात, यह सहै निज गात, रागौ साधु कृपा भई है ॥
अति उतकंठा देखि कह्यौ सो विशेष सब, रसिक नरेसनि की बानी कहि दई है।
टहल छुड़ाई औ सिरहाने लै बैठाई वाहि, गुरु बुद्धि आई, यह जानौ रीति नई है ॥५४३॥

अर्थ—रानी अब उस दासीसे पूछने लगी—"यह तू बार-बार क्या कहती रहती है ? किसका नाम लिया करती है ?" न जाने क्यों मेरा हृदय तेरी तरफ खिंचा हुआ चला आ रहा है ?" यह कहते-कहते रानीकी आँखोंसे आँसुओंकी धार बह चली और तन-बदनका होश जाता रहा।

दासीने जवाब दिया—"क्या करेंगी आप यह सब पूछकर ? आप तो अपने राजसी रंग-रागमें मस्त रहिये। रही मैं, सो मेरे ऊपर तो एक प्रेमी साधु महाराजकी कृपा होगई है। प्रेमके उस सुख-दुखको मैं ही भोगनेके लिये बहुत हूँ।"

फिर भी रानी नहीं मानी। दासीने जब उसकी उत्कंठा अधिक देखी, तो प्रेम-मार्गसे सम्बन्धित कुछ बातें विस्तारसे बतलाईं और (स्वामी हरिदास आदि) भक्त-शिरोमणियोंकी कथा सुनाई। इस सबका रानीके हृदयपर ऐसा प्रभाव पड़ा कि उसने दासीको अपने दैनिक-कार्योंसे मुक्त कर दिया और उसे अपनेसे ऊँचे स्थानपर सम्मान-सहित बिठाया। उस दिनसे अपना गुरु मानने लगी। सत्संग द्वारा प्रेम उदय होनेका यह बड़ा विलक्षण सिद्धान्त है।

भक्ति-रस-बोधिनी

निसिदिन सुन्यौ करै, देखिबेको अरबरै, बेसे कैसें जात जल जात दृग भरे हैं।
कछुक उपाय कीजै, मोहन दिखाय दीजै, तब ही लौ जीजै, वे तो आनि उर अरे हैं ॥
दरसन दूर, राज छोड़ै लोटैं धूरि, पै न पावैं छवि-पूर, एक प्रेम-बस करे हैं।
करौ हरि-सेवा, भरि भाव धरि मेवा पकवान रसखान, दै बखान मन धरे हैं ॥५४४॥

अर्थ—रानी रत्नावती अपनी दासीके मुँहसे प्रभुकी रूप-माधुरी सुना करती। फल यह हुआ कि प्रभुके दर्शन करनेको उतावली हो उठी किन्तु भगवान दीखते कैसे ? रानीके नेत्र-कमल तो दिन-रात आँसुओंमें भीगे रहते थे। एक दिन, अन्तमें, वह दासीसे कहने लगी—"कुछ उपाय करो और मुझे मोहनके दर्शन करा दो।" तभी मैं जीवित रह सकती हूँ। जब वे मेरे हृदयमें तो अड़कर बैठे हैं, तो बाहर आकर दर्शन क्यों नहीं देते ?

दासीने उत्तर दिया—"दर्शन करना तो बहुत दूरकी बात है। उनके दर्शनके लिये तो लोग राज-पाटको लात मारकर, वैरागी बनकर धूलमें लोटते फिरते हैं, परन्तु उस शोभा-धाम

की एक झलक भी नहीं देख पाते। उन्हें तो केवल प्रेम वशमें कर सकता है, अतः हृदयमें सच्चा प्रेम-भाव रख कर उनकी सेवा करो, मेवा-पकवानका भोग लगाओ। तब शायद वे कृपा करें।

दासीने जो कुछ करनेके लिये कहा था, रानीने सब स्वीकार कर लिया।

भक्ति-रस-बोधिनी

इन्द्रनील-मणि रूप प्रगट सरूप कियौ, लियौ वही भाव यों सुभाव मिलि चली है।
नाना विधि राग-भोग लाड़की प्रयोग जामैं, जामिनी सुपन जोगभई रंग रली है॥
करत सिंगार छबि-सागर न वारपार रहत निहारि वाही माधुरी सौं पली है।
कोटिक उपाय करैं, जोग जज्ञ पार परैं, ऐं पै नहीं पावै, यह दूर प्रेम-गली है॥५४५॥

अर्थ—रानी रत्नावतीने भगवानका इन्द्र-नीलमणिका एक अर्चा-विग्रह बनवाया। यह मूर्ति इतनी सम्पूर्ण थी कि प्रभुकी रूप-माधुरी ज्योंकी त्यों इसमें उतार दी गई थी। इस सुन्दर स्वरूपकी वह सेवामें जुट गई—हृदयमें वही भाव और स्वभाव लेकर जैसा कि दासीका था। अनेक प्रकारके भोग-राग लगाकर वह श्यामसुन्दरको लाड़ लड़ाती, यहाँ तक कि रात्रिमें स्वप्न भी प्रभु-सेवाका ही देखती थी। ऐसे प्रेम-रङ्गमें रानी अब रँग गई। दिनमें ठाकुरका शृङ्गार कर उन्हींके रूप-वैभवको टकटकी लगाए देखा करती और उन्हींकी माधुरीसे जीवनकी प्रेरणा ग्रहण करती।

कोई करोड़ों उपाय क्यों न करे, योग और कर्मकाण्डकी चरम-सीमाको भले ही पार क्यों न कर ले, परन्तु प्रेमकी मंजिल तक पहुँचना कठिन हो जाता है। प्रेमका पन्थ ऐसा ही विलक्षण है।

विशेष—टीकाकारने इस कवित्तमें भक्तिके पूर्वरागका वर्णन किया है। उत्कंठा, विकलता, निद्रा-नाश आदि इस रागके लक्षण हैं। 'रसखान' ने निम्नलिखि सवैयामें इस अवस्थाका बड़ा सुन्दर वर्णन किया है। सखी नायिकाको चेतावनी देती हुई कहती है—

हेरत मारहि बार उतै अजू बावरी बाल कहाँ धौं करैगी।
जो कबहूँ रसखानि लखै फिरि क्यों हु न बीर री धीर धरैगी॥
मानि है काहू की कानि नहीं जब रूप ठगी हरि रंग ढरैगी।
या ते कहूँ, सिख मानि भटू यह हेरनि तेरेई पैंड़े परैगी॥

प्रेमके कठिन मार्गका वर्णन प्रायः सभी कवियोंने किया है। कुछ नमूने देखिये—

प्रीति की रीति अनीति है, प्रीति करो जिन कोय।
सुख दीपक कैसे बरै, बिरह नाग जहँ होय॥१॥
विद्या आदर लच्छिमी, और ज्ञान गुन गर्ब।
प्रेम पौरि पग धरत ही, गये ततच्छन सर्ब॥२॥
नेह नेह सब कोउ कहै, नेह करौ मति कोइ।
मिलें दुखी, बिछुरैं दुखी, कबहू सुखी न होइ॥३॥

नेह स्वर्ग ते उतरयो, भू पर कीनौं गौन ।
गली गली ढूँढ़त फिरै, बिन सिर को घर कौन ॥४॥
जरे जरे सो जरि बुझे, बुझकर जरेहु नाहिं ।
अहमद वाहे प्रेम के, बुझि बुझि कै सुलगाहिं ॥५॥

भक्ति-रस-बोधिनी

देखयोई चहत तऊ कहति "उपाय कहा ? अहो चाह बात कहौ कौन को सुनाइयै ।"
कही जू बनावो ढिग महलके ठौर एक, चौकी लै बैठावो चहूँ ओर समझाइयै ॥
आवैं हरि-प्यारे तिन्हैं ल्यावें वे लिवाय इहाँ, रहैं ले धुवाय पाँय रुचि उपजाइयै ।
नाना विधि पाक सामा आगे आनि धरें, आप डारि चिक देखौ, स्याम दृगनि लखाइयै ॥५४६॥

अर्थ—रानीने भगवानके दर्शन करनेका दृढ़ संकल्प कर लिया है; फिर भी पूछती ही रहती है—"क्या उपाय किया जाय ? प्रभुके दर्शन करनेकी व्याकुलताको किस पर प्रकट करूँ ?" इस पर दासीने रानीसे कहा—"रानीजू ! आपने महलके निकट ही एक 'सन्तशाला' बनवाइए और चारों दिशाओंमें पहरेदार बिठा दीजिए और उन्हें आज्ञा दे दीजिए कि जो कोई हरि-भक्त वहाँसे गुजरें उन्हें वे यहाँ अपने साथ ले आवें, यहाँके लोग उनके चरण धोकर सम्मान-पूर्वक उन्हें बिठावें और भाँति-भाँतिके पकवान उनके सामने रखकर भोजन करावें । जब यह सब स्वागत-सत्कार किया जा रहा हो, तो आप चिकके पीछेसे उन सन्तोंके दर्शन किया करें । तब श्यामसुन्दर आपको दिखाई देने लगेंगे ।"

भक्ति-रस-बोधिनी

आवैं हरि-प्यारे साधु-सेवा करि टारे दिन किहूँ पाँव धारे जिन्हैं ब्रजभूमि प्यारियै ।
जुगलकिसोर गावैं, नैननि बहावैं नीर, ह्वै गई अधीर रूप दृगनि निहारियै ॥
पूछी वा खवास सों "जू रानी कौन अंग ? जाके इतनी अटक संग भंग सुख भारियै ।"
चली उठि हाथ गह्यौ, "रह्यौ नहीं जात, अहो सह्यो दुख लाज बड़ी, तनक बिचारियै" ॥५४७॥

अर्थ—दासीके द्वारा बताई हुई योजनाके पूर्ण होनेपर प्रभुके प्यारे साधु-सन्त वहाँ आया करते । रानीने उनकी सेवा-टहल करते कुछ दिन व्यतीत किये । इसी बीच व्रज-भूमिके उपासक कुछ प्रेमी वहाँ पधारे । वहाँ रहते हुए वे युगल-किशोरके नित्य-विहारके पद गाया करते । एक दिन गाते-गाते इन लोगोंकी आँखोंसे प्रेमके आँसू बहने लगे । रानीने यह देखा, तो अधीर हो उठी और दासीसे पूछने लगी—"भला बताओ तो, मेरे अंगोंमें ऐसा कौन-सा अंग है जिस पर रानीपनकी छाप लगी है ? इसी एक अटकाव (अड़चन) के कारण मैं सन्तोंकी संगति से वंचित हूँ ।"

इतना कह कर रानी उठ कर एक कदम बढ़ी ही थी कि दासीने हाथ पकड़ कर उन्हें

रोक लिया। रानीने कहा—"अब मुझसे किसी तरह भी नहीं रहा जाता। मुझे यह बतलाइए कि कुल की लज्जा बड़ी है या सन्तोंके वियोग का दुख ?"

भक्ति-रस-बोधिनी

"देख्यौ मैं विचारि हरि-रूप सर सार, ताकौं कीजिये अहार लाज कानि नीकें टारियें।"
रोकत उतरि आई, जहाँ साधु सुखदाई, आनि लपटाई पाँय, बिनती लै धारियें॥
संतनि जिमायवे की निज कर अभिलाष, लाख-लाख भाँतिन सौं कैसे कै उचारियें।
आज्ञा जोई दीजै, सोई कीजै, सुख याही मैं, जु प्रीति अवगाही कही "करौ लागी प्यारियें" ॥५४८॥

अर्थ—रत्नावती अपनी दासीसे कहती चली गई—"मैंने खूब सोच-विचार कर देख लिया है कि भगवानकी रूप-माधुरीकी अनुभूतिसे प्राप्त होने वाला आनन्द सब सुखोंका सार है, अतः कुलकी मर्यादाको तिलांजलि देकर उसीका पान करूँगी।"

इतना कह कर दासीके रोकते-रोकते वह अपने महल-परसे उतर आई और वहीं आकर दम लिया जहाँ कि साधु-सन्त विराजमान थे। आकर वह उनके पैरोंसे लिपट गई और विनय-पूर्वक प्रार्थना करने लगी—"अपने हाथोंसे सन्तोंको प्रसाद खिलाने की मेरी अभिलाषा है और वह इतनी तीव्र है कि लाखों प्रयत्न करनेपर भी दूर नहीं की जा सकती। अब आप लोगोंकी जो आज्ञा हो वही मैं करूँ; उसीमें मुझे सुख मिलेगा।"

सन्तोंने रानीका जब ऐसा अगाध प्रेम देखा, तो कहा—"जो बात तुम्हें प्रिय लगती हो, वही करो।"

भक्ति-रस-बोधिनी

प्रेम में न नेम, हेम थार लै उमगि चली, दृग धार सो परोसि कै जिवांये हैं।
भीजि गये साधु नेह-सागर अगाध देखि, नैननि निमेखि तजी, भए मन भाये हैं॥
चंदन लगाय आनि बीरी हू खवाय, स्याम चरचा चलाय चख रूप सरसाये हैं।
धूम परी गाँव, भूमि आये सब देखिवे कों, देखि नृप पास लिखि मानस पठाये हैं॥५४९॥

अर्थ—प्रेममें नियम नहीं होता। सन्तोंकी आज्ञा पाकर रानी रत्नावती सोनेके थालमें अनेक प्रकारके प्रसादी पदार्थ सजाकर आँखोंसे प्रेमके आँसू बहाती हुई सन्तोंकी सेवामें पहुँची और उन्हें भोजन कराया। रानीका समुद्रके समान अगाध प्रेम देखकर साधु-लोग भी प्रीतिके समुद्रमें डुबकियाँ लगाने लगे। रानीकी ऐसी भक्ति देखनेके लिए उनके नेत्र टकटकी लगाए हुए रह गए। आज उनकी अभिलाषा पूरी हुई थी।

इसके उपरान्त रानीने चन्दन लाकर सबके लगाया, पानकी बीड़ियाँ खिलाईं और फिर श्यामसुन्दरका प्रसंग छेड़ दिया। साधु-समाजके उस अलौकिक दृश्यको देखकर रानीके नेत्र रससे भीग गये।

उधर नगरमें यह अफवाह फैलते देर न लगी कि रानी पर्दा तोड़ कर सन्तोंके पास

चली गई है। देखनेको आये हुए लोगोंकी एक खासी भीड़ वहाँ जमा होगई। राजाके अधिकारियोंने भी सारा वृत्तान्त लिखकर राजाके पास भेज दिया।

'प्रेममें नेम नहीं' के समर्थनमें एक दृष्टान्त यहाँ दिया जाता है—

दृष्टान्त—एक बार श्रीप्रियादासजी और गोविन्ददासजी बरसानेमें मोरकुटीपर जाकर रहने लगे। किसी भक्तिमती बाईने यह सुना तो दूसरे दिन प्रातःकाल होते ही हलवा और मोहन-भोग लेकर उन्हें खिलाने पहुँची। दोनों सन्त उस समय दाँतुन कर रहे थे। बाईको देखकर बोले—"कुछ समय तक ठहरो; हम स्नान कर लें।" बाई बोली—"स्नान पीछे कर लेना। मेरा यह हलवा क्या जिस लकड़ी को तुम चबा रहे हो उससे भी बुरा है?" दोनों सन्त यह सुनकर हँस पड़े और स्नान किये बिना ही खा लिया।

भक्ति-रस-बोधिनी

"छूँ करि निसंक रानी बंक गति लई नई, दई तजि लाज, बैठी मोड़नि की भीर में"।
लिख्यौ लै दिवान नर आये, सो बखान कियौ, बाँच सुनि, आँच लागी नृप के सरीर मैं॥
प्रेमसिंह सुत ताही काल तो रसाल आयौ, भाल पै तिलक, माल कंठी कंठ तीर मैं।
भूप को सलाम कियौ, नरनि जताय दियौ, बोल्यौ "आव मोड़ी के रे!" परयौ मन पीर में॥५५०॥

अर्थ—मन्त्रियोंने राजाको लिखा था "कि महारानीजीने शंका-संकोच सब छोड़कर अनुचित मार्ग अपनाया है और लज्जाको त्यागकर मुड़िया वैरागियोंके बीच जा बैठी हैं।" इस आशय का पत्र लेकर मन्त्री द्वारा भेजे गये दूत राजाके पास पहुँचे और पत्र हाथमें देते हुए मौखिक-रूपमें भी सारा हाल निवेदन कर दिया। पत्रको पढ़ते ही राजाके शरीरमें आग-सी लग गई। संयोग से उसी समय रानी रत्नावतीके पुत्र प्रेमसिंहजी मस्तकपर वैष्णव-तिलक लगाए, गलेमें माला धारण किए वहाँ पहुँचे और राजाको प्रणाम किया। पास खड़े हुए लोगोंने राजाको बताया कि 'कुँवरजी जुहार कर रहे हैं।'

राजाने प्रेमसिंहजीका इन शब्दोंमें स्वागत किया—"आओ, वैरागिनके पुत्र!" यह सुनकर प्रेमसिंहके हृदयको बड़ी चोट लगी।

भक्ति-रस-बोधिनी

कोप भरि राजा गयौ भीतर, सो सोच नयौ, पाछे पूछि लयौ, कह्यौ नरनि बखान कै।
तब तो बिचारी "अहो मोड़ा ही हमारी जाति," भयौ सुख गात भक्तिभाव उर आनि कै॥
लिख्यौ पत्र माजी कों "जु प्रीति हिये ताजी तो पै सीस पर बाजी आप राखौ तजि प्रानि कै"।
सभा मध्य भूप कही 'मोड़ी को बिरुप भयौ,' रहैं अब मोड़ी के ही, भूलैं मति जान कै॥५५१॥

अर्थ—पुत्रको कटु उत्तर देकर क्रोधमें भरा हुआ राजा महलोंके अन्दर चला गया। प्रेमसिंह अब बड़ी चिन्तामें पड़ गए कि राजाने ऐसे शब्दोंका प्रयोग क्यों किया। बादमें उन्होंने लोगोंसे पूछा, तो उन्होंने सब मामला कह सुनाया। तब प्रेमसिंहने मनमें कहा—"यदि मैं मोड़ीका पुत्र हूँ, तो अब वही बनकर दिखा दूँगा।" किन्तु दूसरी ओर जब उन्होंने अपनी

माँकी भक्ति-भावनापर विचार किया, तो हृदयको बड़ा सुख मिला। आपने अपनी माताजीको एक पत्र भेजा जिसमें लिखा था—"यदि हृदयमें भगवद्-भक्ति धारण की है, तो भले ही ऐसा अवसर आजाय कि अपने सिरकी भी बाजी लगानी पड़े, तो प्राणोंका मोह न कर उसकी रक्षा करना। आज राजाने मेरे दरबारमें मुझे 'मोड़ीका पूत' बतलाया है, इस लिए ऐसा करिए कि मोड़ीका ही पुत्र बना रहूँ। अपनी इस जातिको कभी न भूलना।"

भक्ति-रस-बोधिनी

लिख्यौ ले पठाये बेगि मानस लै आये जहाँ रानी भक्ति-सानी, हाथ दई, पाती बाँचियै।
आयौ चढ़ि रंग, बाँचि सुतको प्रसंग, बार भीजे जे फुलेल दूर किये, प्रेम साँचियै॥
आगे सेवा पाक निसि महल बसत जाय, ल्याय वाही ठौर प्रभु नीके गाय नाचियै।
नृप अन्न त्यागि दियौ, दियौ लिखि पत्र पुत्र, भई मोड़ी आज, तुम हित करि आँचियौ॥५५२॥

अर्थ—कुँवर प्रेमसिंहजीने उक्त आशयका पत्र लिखकर आदमियोंके हाथ माताजीके पास भेज दिया। पत्र-वाहक भक्तिमती रानीके रहनेके स्थानपर पहुँचे और रानीके हाथमें पत्र दिया। पढ़ा रानीने उसे। पत्रमें अपने पुत्रके साथ जो घटना घटी थी उसे पढ़कर रानी आवेश में आगई। वे सच्ची प्रेमिका तो थी हीं। उसी क्षण उन्होंने अपने फुलेलसे भीगे हुए बालोंको मुड़वा दिया (और मुंडी होगईं)। इससे पूर्व वे सन्तोंको प्रसाद खिलाकर रात होते ही अपने महलोंको चली जाती थीं, पर अब अपने अर्चा-विग्रहको वहीं सन्त-शालामें ले आईं और वहीं सेवा-पूजा, नृत्य-गान करने लगीं। आपने राजाका दिया हुआ अन्न ग्रहण करना भी छोड़ दिया। इसके उपरान्त आपने एक पत्रमें पुत्रको लिख भेजा—मैं आज मोड़ी (वैरागिन) हो गई। तुमने मुझसे हितकी बात खूब सोच-समझकर कही थी।

भक्ति-रस-बोधिनी

गए नर पत्र लियौ, सीस सो लगाय लियौ, बाँचि कै मगन हियौ, रीझि बहु दई है।
नौबत बजाई द्वार, बाँटत बधाई; काहू नृपति सुनाई, कहो—"कहा रीति भई है"॥
पूछी भूप लोग, कह्यौ "मिटे सब सोग, भये मोड़ीके जू, जोग स्वाँग कियौ बनि गई है।"
भूपति सुनत बात, अति दुख गात भयौ, लयौ बैर-भाव, चढ्यौ त्यारी इत भई है॥५५३॥

अर्थ—रानी रत्नावतीका पत्र लेकर लोग गए, पुत्रके हाथमें उसे दिया, पुत्रने उसे सिर माथे लगाया और पढ़कर प्रेमानन्दमें डूब गये। इतनी प्रसन्नता हुई उन्हें कि बहुत-सा द्रव्य खुशीमें भिखारियोंको बाँटा और दरवाजेपर नौबत बजवाई। किसीने राजा माधवसिंहजीको भी यह समाचार सुना दिया। वे बोले—जाकर पता लगाओ कि यह उत्सव किस उपलक्ष्यमें मनाया जारहा है। राजाके लोगोंने जाकर पूछा, तो प्रेमसिंहजी बोले—अब हमारे सब दुःख-शोक दूर होगए; अब हम सचमुच 'मोड़ीके' होगए, क्योंकि हमारी माताजीने उसीके अनुरूप

भेष धारण कर लिया है। हमारी बात बन गई (उन्हींकी खुशीमें यह समारोह किया जा रहा है)।

राजाने यह सुना, तो उसे बड़ा क्रोध और साथमें दुःख हुआ। उसके हृदयमें रानी तथा पुत्रके साथ वैरकी भावना पैदा होगई और उसने सेना लेकर कुँवर पर आक्रमण करनेकी तैयारियाँ कर दीं। इधर कुँवर प्रेमसिंह भी युद्धके लिये सन्नद्ध हो गये।

भक्ति-रस-बोधिनी

नृप समझाय राख्यौ, "देसमें चवाय ह्वै है", बुधवंत जन आय सुत सों जनाई है।
बोल्यौ' बिषै लगि कोटि-कोटि तन खोये, एक भक्ति पर काम आवै यह मन भाई है" ॥
पाँय परि माँगि लई, दई जो प्रसन्न तुम राजा निसि चल्यौ जाय करौं जिय भाई है।
आयौ निज पुर ढिग, दुरि नर मिले आनि, कह्यौ सो बखानि सब, चिंता उपजाई है ॥५५४॥

अर्थ—लोगोंने माधवसिंहको बहुत समझाया कि 'पुत्रके साथ युद्ध करनेसे आपकी निन्दा होगी। उधर बुद्धिमान व्यक्तियोंने प्रेमसिंहजीसे भी यही बात कही। उन्होंने उत्तर दिया—"सांसारिक विषयोंके लिये मैंने अब तक अनेकों जन्म व्यर्थ ही गँवाये हैं, एक जन्म भगवद्-भक्तिके लिए ही समर्पित हो जाय, तो क्या बुराई है?" कुँवरका ऐसा निश्चय जानकर लोग उनके पैरोंमें पड़ गए और क्षमा करनेकी प्रार्थना की। कुँवरने कहा—"यदि आप सब ऐसा ही चाहते हैं, तो यही सही।"

उधर माधवसिंह रातमें ही दिल्लीसे चल दिया—यह सोचकर कि मेरे मनमें जो आवेगा वही करूँगा। नगरके समीप पहुँचते ही उसे लोग मिले जिन्होंने रानीका सब वृत्तान्त सुनाया। अब राजा चिन्तामें पड़ गया।

भक्ति-रस-बोधिनी

भवन प्रवेस कियौ, मंत्री सो बुलाय लियौ, दियौ कहि "कटी नाक लोहू गिरवारियै।
मारिबौ कलंक हू न आवै", यों सुनावै भूप, काहू बुधिवंत नै बिचारि लै उचारियै ॥
"नाहर जु पींजरामैं दीजै छोड़ि लीजै मारि, पाछेते पकरि वह बात दाबि डारियै।
सबनि सुहाई, जाय करी मन भाई, आयौ, देख्यौ वा खवासी, कह्यौ "सिहजू निहारियै" ॥५५५॥

अर्थ—घरमें पहुँचकर राजाने मंत्रीको बुलाकर कहा—"मेरी नाक कट गई है और उसमेंसे खून बह रहा है—अर्थात् वैरागियोंका बाना पहिने हुए जब तक रानी जीवित रहेगी, तब तक मेरी निन्दाका प्रवाह बन्द नहीं होगा, अतः ऐसा उपाय करो कि रानीसे छुटकारा मिले और हत्याका कलंक भी न लगे।"

इस पर राजाके किसी चतुर दरबारीने सुझाया—"पिंजड़ेमें जो सिंह बन्द है, उसे रानी के कमरेमें छोड़ दीजिये। जब वह रानीको मार डाले, तो बादमें उसे पकड़वा लीजियेगा।

इस प्रकार असली बातका किसीको पता नहीं लगेगा—लोग यही समझेंगे कि सिंह पिंजड़े से छूट गया और रानी उसकी चपेटमें आगई।"

यह प्रस्ताव सबको ठीक जँचा। राजाने ऐसा ही किया। जब सिंहको छोड़ा गया, तब दासीने उसे रानीकी ओर आते हुए देखा और कहा—"देखिए, सिंह आपकी तरफ आ रहा है।

भक्ति-रस-बोधिनी

करैं हरि-सेवा भरि रंग अनुराग हग, सुनी यह बात, नैकु नैन उत ढारे हैं।
भाव ही सों भाने, उठि अति सनमाने, "अहो! आज मेरे भाग, श्रीनृसिंहजू पधारे हैं" ॥
भावना सचाई, वही शोभा लै दिखाई, फूल-माल पहिराई, रचि टीको लागे प्यारे हैं।
भौन तें निकसि धाये, मानो खंभ फाटि आये, विमुख-समूह तत्काल मारि डारे हैं ॥५५६॥

अर्थ—जिस समय सिंह छोड़ा गया, उस समय रानी रत्नावती नेत्रोंमें प्रेम भरकर प्रभु की सेवा कर रही थीं। दासीकी बात सुनकर उन्होंने आँखोंको जरा टेढ़ी करके उधर देखा। रानीके तो भाव ही प्रधान था—सब वस्तुओंमें वे भगवानके स्वरूपका ही दर्शन करती थीं। सिंहके प्रति भी उनकी तत्क्षण श्रीनृसिंह भगवानकी बुद्धि होगई। वे उठीं और अत्यन्त आदर दिखाते हुए बोलीं—"अहो भाग्य मेरे जो आज मेरे घर श्रीनृसिंह भगवान पधारे हैं!"

प्रभु जान गये कि रानीकी भावना यथार्थ है और उन्होंने श्रीनृसिंह-रूप धारणकर रानी को दर्शन दिया। रानीने भगवानको फूलोंकी माला धारण कराई और तिलक लगाकर आरती की और निहारने लगी कि उनकी छवि कैसी सुन्दर लगती है।

इसके उपरान्त श्रीनृसिंह प्रभु रानीके घरसे बाहर निकल आये, मानों (प्रह्लाद-लीलामें) खंभ फाड़कर बाहर आये हों और तत्काल विद्वेषी सब लोगोंको (हिरण्यकशिपुके समान) मार गिराया।

भक्ति-रस-बोधिनी

भूपको खबरि भई, रानीजू की सुधि लई, सुनी नीकी भाँति, आप नम्र ह्वै कै आये हैं।
भूमि पर साष्टांग करी, कैउ यों मति हरी, भरी दया आप वाके वचन सुनाये हैं ॥
"करत प्रनाम राजा" बोली "प्रभु लालजू कों," "नैकु फिरि देखो", एक ओर ए लगाये हैं।
बोल्यो नृप, "राज धन सब ही तिहारो, वारो", पति पै न लोभ, कह्यो, करो मुख भाये हैं॥५५७॥

अर्थ—राजाके पास जब इस घटनाकी खबर पहुँची, तो उसने रानीके सम्बन्धमें पूछा। लोगोंने बता दिया कि वे तो आनन्दसे भजन करती रहीं; सिंहने उनसे कुछ नहीं कहा, उलटे और लोगोंको मार डाला। राजाने मनमें प्रसन्न होकर ये सब बातें सुनीं और तब अत्यन्त नम्र बनकर रानीके पास पहुँचा और पैरोंमें पड़कर कई बार साष्टांग प्रणाम की। रानीके चरित्रके कारण राजाकी बुद्धि फिर गई थी।

राजाके प्रणाम करने पर भी जब रानीने उधर मुड़कर देखा तक नहीं, तब दासीको

दया आगई और वह रानीसे बोली—"राजाजी प्रणाम कर रहे हैं।" रानीने उधर देखे बिना ही उत्तर दिया—"नन्दलालको प्रणाम कर रहे हैं शायद।" दासीने फिर अनुरोध पूर्वक कहा—"ज़रा इधर दृष्टिपात तो कीजिये।" रानी बोली—"अब तो आँखें एक ही तरफ लगी हैं; दूसरी ओर नहीं मुड़ सकतीं।" राजाने कहा—"यह सारा राज्य और कोष तुम्हारा है, इसे अंगीकार करो।" रानीको पतिका लोभ अब नहीं रह गया था। जवाब दिया—"यह सब आप ही भोगिए। मेरे सुखदाता तो और ही कोई हैं।"

विशेष—इस कवित्तके द्वितीय चरणका पाठ कुछ पुस्तकोंमें इस प्रकार मिलता है—'भूमि पर साष्टांग करिकैं यों हरि मति भई, दया आई, वाकौं वचन सुनाये हैं।' इसके अनुसार अर्थ इस प्रकार होगा—राजाने पृथ्वीपर मस्तक रख कर रानीको साष्टांग-प्रणाम किया और उसी समय राजाकी बुद्धि भगवानकी ओर उन्मुख हो गई।

भक्ति-रस-बोधिनी

राजा मानसिंह माधौसिंह उभै भाई चढ़े नाव परि कहूँ, तहाँ बूड़िबे को भई है।
बोल्यौ बड़ौ भ्राता,"अब कीजिये जतन कौन?""भौन तिया भक्त,"कहि छोटे सुधि दई है॥
नैकु ध्यान कियौ, तबै आनिकै किनारौ लियौ, हियौ हुलसायौ, जेठ चाह नई लई है।
करयौ आय दरसन, विनै करि गयौ भूप, अति ही अनूप कथा हिये व्यापि गई है॥५५८॥

अर्थ—एक बारकी बात है, राजा मानसिंह और उनके छोटे भाई माधवसिंह कहीं नौका-यात्रा कर रहे थे। दैवयोगसे नाव डूबने लगी। बड़े भाई छोटेसे बोले—"अब क्या उपाय किया जाय?" माधवसिंहने कहा—"मेरी घरवाली भगवानकी परम-भक्त है।" बस, दोनोंने रानी रत्नावतीका ध्यान किया और नाव किनारेपर जा लगी। दोनों भाई बड़े प्रसन्न हुए और मानसिंहके मनमें यह अभिलाषा हुई कि ऐसी भक्तिमती रानीके दर्शन करने चाहिए। इसके अनुसार राजा मानसिंहने रानीके दर्शन किये और विनम्रता प्रकट की। टीकाकार कहते हैं कि रानी रत्नावतीकी यह अनुपम वार्ता मेरे हृदयमें घर करके बैठ गई है।

मूल (छप्पय)

(श्रीजगन्नाथ पारीख)

(श्री) रामानुज की रीति प्रीति पन हिरदै धारयौ।
संसकार सम तत्व हंस ज्यौं बुद्धि बिचारयौ॥
सदाचार मुनि वृत्ति इंदिरा पधति उजागर।
रामदास सुत संत अननि दसधा कौ आगर॥
पुरुषोत्तम परसाद तें उभै अंग पहिरयौ बरम।
पारीष प्रसिध कुल काँथड़्या जगन्नाथ सीवाँ धरम॥१४३॥

अर्थ—श्रीरामानुजाचार्य्य द्वारा संस्थापित भक्ति-पद्धतिके अनुसार श्रीजगन्नाथजी पारीख भगवानसे प्रेम करनेके दृढ़ व्रतको अपने हृदयमें धारण किया। हंस जिस प्रकार नीर-क्षीर विवेचन करता है, वैसे ही आपने वैदिक एवं शास्त्रीय संस्कारोंका विधिवत् अनुष्ठान करते हुए भी भगवत्-तत्त्वको ही, अपनी बुद्धिसे, चरम पुरुषार्थ माना। आप सदाचारका पालन करते हुए मुनियों-जैसा सात्विक जीवन व्यतीत करते थे। श्रीलक्ष्मी-सम्प्रदायमें आप प्रकाशकी भाँति थे। रामदासजीके पुत्र थे आप—स्वभावसे पूरे सन्त और दसवीं प्रकारकी प्रेमा-भक्तिमें प्रवीण। अपने गुरु श्रीपुरुषोत्तमजीकी कृपासे आपने बाह्य और आन्तरिक—दोनों शरीरोंपर कवच पहिन रक्खा था—अर्थात् राजाके पुरोहित होनेके अतिरिक्त आप प्रसिद्ध योद्धा थे, अतः लोहेका कवच पहिनते थे, परन्तु हाड़-मांसके बाह्य शरीरकी भाँति आपका हृदय-प्रदेश भी क्षमा, शील, सौजन्य आदि के आध्यात्मिक कवचसे सुरक्षित था। इस प्रकार काँथड़्या-कुलमें उत्पन्न श्रीजगन्नाथजी पारीख भागवत-धर्मकी मर्यादाके समान थे।

श्रीजगन्नाथजी पारीख—आपका चरित्र भक्तदाम-गुण-चित्रनी पत्र, ३८७ के आधारपर नीचे दिया जाता है—

एक बार किसी स्थानपर बैठे पाँच-सात व्यक्तियोंके साथ एक शाक्त-ब्राह्मण तर्क कर रहा था। उसी समय श्रीजगन्नाथजी वहाँ कहींसे आ निकले और अत्यन्त पाण्डित्य-पूर्ण उक्तियोंसे शाक्त-ब्राह्मण को परास्त किया। उसपर सभी वैष्णव-ब्राह्मणों को, जिनके साथ वह शाक्त तर्क कर रहा था, बड़ी प्रसन्नता हुई। यह देख शाक्तके क्रोधकी कोई सीमा न रही। उसने परम-भक्त श्रीजगन्नाथजीपर अपनी चेटक-विद्यासे आघात करना चाहा, पर उस निकृष्ट विद्याकी शक्तिका भगवद्भक्त श्रीजगन्नाथजीपर कोई प्रभाव न पड़ा। हार कर शाक्त-ब्राह्मणको अपना हठ त्यागकर श्रीजगन्नाथजीके चरणोंमें झुक जाना पड़ा और उनकी वैष्णवी-भक्तिका प्रभाव स्वीकार करना पड़ा।

श्रीजगन्नाथजीके सम्बन्धमें एक वार्ता और सुनिए। एक बार आप कुछ द्रव्य लेकर जंगलके रास्तेसे कहीं जा रहे थे। उस निर्जन-स्थानमें जाते हुए उन्हें किसी लुटेरेने देख लिया और तलवार खींचकर आपके गलेपर मारी, पर आपपर इसका कोई प्रभाव नहीं हुआ, यहाँ तक कि आपको उसके मारने तक का पता न चला। इस अद्वितीय प्रभावको देखकर ठग आपके चरणोंमें गिर पड़ा और समस्त घटना कह चुकनेके बाद क्षमा माँगते हुए बहुत-सा द्रव्य आपको भेंट किया।

श्रीध्यानदासने जगन्नाथजी और मथुरादासजी दोनोंका एक ही छप्पयमें वर्णन कर यह व्यक्त किया है कि ये दोनों ही समान-गुण-शील और परस्पर परिचित थे। जगन्नाथजी ज्ञानभक्तिके विषयमें श्रीरामानुजजीके समान समझे जाते थे।

रामदास सुतसंत वंशपारीक उज्यागर। रामानुज ज्यूं ग्यान प्रेम वराधा को सागर॥ छप्पय ३५८ वाँ

श्रीप्रियादासजीने मथुरादासजीसे सम्बन्धित जो चमत्कारी कथा दी है उसका गाँव सिवारा बतलाया गया है, पारीख ब्राह्मणोंके कांथड्या वंशमें करमैती बाई हुई है, जो खंडेला की थी। सम्भव है, कांथड्या पारीख कुलके ये जगन्नाथजी भी उधरके ही रहे हों।

मूल (छप्पय)

(श्रीमथुरादासजी)

सदाचार संतोष सुहृद सुठि सील सुभासै ।
हस्तक दीपक उदय मेटि तम वस्तु प्रकासै ॥
हरि कौ हिये बिस्वास, नंदनंदन बलभारी ।
कृष्ण कलस सौं नेम जगत जानै सिर धारी ॥
(श्री) बर्द्धमान गुरु बचन रति सौं संग्रह नहिं छंड्यौ ।
कीरतन करत कर सुपने हूँ मथुरादास न मंड्यौ ॥१४४॥

अर्थ—श्रीमथुरादासजीमें सात्त्विक आचरण, यथालाभ-संतोष, सहृदयता, उच्च कोटि का शील आदि सुन्दर गुण प्रकाशित रहते थे। जिस प्रकार हाथमें लिए हुए दीपकके द्वारा घरके अन्दरका अन्धकार दूर हो जाता है, वैसे ही भगवद्-विषयक तत्त्व-ज्ञानके द्वारा आपका अन्तरतम-प्रदेश उद्भासित रहता था। आपके हृदयमें नन्दनन्दन श्रीकृष्णचन्द्रका असीम विश्वास था। यह बात सर्व विदित है कि आप भगवानकी पूजाके निमित्त जलका घड़ा अपने मस्तकपर रखकर लाते थे। आपको अपने गुरुदेव श्रीबर्द्धमानजीके वचनोंमें दृढ़ विश्वास था— उन्हें आप्त-वाक्य करके मानते थे और जब तक जीवित रहे तब तक आप उनके उपदेशोंका संग्रह करते रहे। भगवानके नाम और कीर्तनके बलपर श्रीमथुरादासजीने चेटकियों (तांत्रिकों) की करतूत बिलकुल नहीं चलने दी।

भक्ति-रस-बोधिनी

बास कै तिजारे माँझ भक्ति रस रास करी, करी एक बात, ताको प्रगट सुनाइयै ।
आयौ भेषधारी कोऊ, करै सालग्राम सेवा, डोलत सिंहासन पै, आनि भीर छाइयै ॥
स्वामीके जु शिष्य भयौ, तिनहूँ के भाव देखि, बाही की प्रभाव आय कह्यौ, हिये भाइयै ।
"नैकु आप चलौ, उह रीतिकों बिलोकिये जू," बड़े सरबज्ञ, कही "दूर्व नहीं जाइयै" ॥५५६॥

अर्थ—'तिजारे' गाँवमें रहते हुए श्रीमथुरादासजीने एक चमत्कार ऐसा दिखाया कि लोगोंको विश्वास होगया कि आप वास्तवमें भक्ति-रसके समुद्र हैं। उस घटनाका वर्णन सुनिये। एक बार गाँवमें वैष्णव-वेश धारणकर कोई चेटकी आया। वह शालग्रामजीकी सेवा करता था, परन्तु विचित्र बात यह थी कि उसके शालग्रामजी सिंहासन पर आप ही आप हिला करते थे। इस चमत्कारको देखने के लिए लोगोंकी भीड़ उसके यहाँ इकट्ठी रहती थी।

जो लोग पहले ही स्वामीजीके शिष्य हो चुके थे उनके मनपर भी इस चमत्कारका बड़ा प्रभाव पड़ा। उन्हें वह बहुत अच्छा लगा और वे स्वामीजीके पास जाकर बोले—"थोड़ी देरके लिए आप वहाँ पधारें और उसकी रीतिको देखें।" स्वामीजी समझ गये कि उनके शिष्योंपर

चेटकीके चमत्मकारका जादू चल गया है। आपने उत्तर दिया—"हमारे जानेसे उसे कष्ट होगा ऐसा करना ठीक नहीं है।"

भक्ति-रस-बोधिनी

पाँय परि गये लैकें, जाय ढिग ठाढ़े भये, चाहत फिरायौ पै न फिरें, सोच परचौ है।
जानि गयौ आप, कछु याही कौ प्रताप, ऐपै मारौं करि जाय, यौं बिचार मन धरचौ है॥
मूठ लै चलाई, भक्ति तेज आगें पाई नहिं, वाही लपटाई, भयौ ऐसौ मानौ मरचौ है।
हूँ करि दयाल जा जिवायौ, समझायौ, प्रीति पंथ दरसायौ, हिये भायौ, शिष्य करचौ है॥५६०॥

अर्थ—शिष्योंके पैरों पड़कर प्रार्थना करनेपर मथुरादासजी उस स्थानपर गये जहाँ चेटकीने पाखंड रच रक्खा था। जाकर आप उसके पास खड़े हो गये। चेटकीने शालग्रामको डुलाना चाहा, किन्तु वे न डोले। अब तो वह बड़ी चिन्तामें पड़ गया कि यह हुआ क्या! शीघ्र ही वह समझ गया कि हो न हो, इस पास खड़े हुए व्यक्तिका ही प्रभाव है। उसने सोचा, "मैं मंत्र द्वारा घात चलाकर उसे मार डालूँ।" बस, उसने मूठ (मारण-मंत्र) का प्रयोग कर दिया। मथुरादासजीके भक्तिके तेजके कारण मूठ आगे नहीं बढ़ पाई; उल्टे उसने चेटकीपर ही चोट की और वह पृथ्वीपर गिर पड़ा। लोगोंने समझा कि मर गया।

बादमें मथुरादासजीको दया आई और उन्होंने फिर जीवित कर दिया। आपने उसे भगवद्-भक्तिका उपदेश दिया और प्रेमकी महिमा बताई। उसके हृदयमें आपका उपदेश उतर गया और वह शिष्य हो गया।

विशेष—श्रीप्रियादासजी और बालकरामजी इन दोनोंकी टीकामें श्रीमथुरादासजीका इति-वृत्त एक समान ही है। श्रीनाभाजीने उन्हें श्रीवर्द्धमानजीका शिष्य लिखा है, और टीकाकारोंने तिजारा-ग्राममें घटी हुई उनकी एक घटनाका उल्लेख किया है। यद्यपि श्रीग्वालग्वालजीने अपने छप्पय ३५८ वें द्वारा—"पुन जन मथुरादास, अतुल बल भजन प्रतापी, मूंठ न लागी जास चलावन मरयो स पापी," इन शब्दोंमें अपने पूर्ववर्ती दोनों टीकाकारोंके अभिमतका समर्थन किया है, तथापि उस गाँवका नामोल्लेख नहीं किया। ग्वालियर (मध्यप्रदेश) और जयपुर, अलवर (राजस्थान) के अन्तर्गत भी एक तिजारा गाँव सुना जाता है। अधिकतर श्रीनाभाजीने राजस्थानीय भक्तोंका ही संचय किया है। अतः अनुमान होता है कि राजस्थानवाले तिजारागाँवकी ही वह घटना होगी। सम्भवतः श्रीमथुरा-दासजीकी जन्म-भूमि और गुरु-स्थान भी उधर ही रहा होगा।

श्रीवर्द्धमानजी श्रीनिम्बार्क-सम्प्रदायके अनुवर्ती थे, यह तो निश्चित ही है। उनका इति-वृत्त भक्तमाल छप्पय ८२ में दिया जा चुका है। वे जगद्विजयी श्रीकेशवकाश्मीरी भट्टाचार्यसे दो पीढ़िका पूर्व हुए हैं। उनका समय विक्रमकी तेरहवीं शताब्दी माना जाता है, तदनुसार श्रीवर्द्धमानजीका समय बारहवीं शताब्दीका अन्त एवं तेरहवीं शताब्दीका पूर्वार्ध निश्चित होता है। वही समय श्रीमथुरादासजी का होना चाहिये। इस छप्पय से १४८ वें छप्पय तक श्रीनाभाजीने श्रीनिम्बार्क-सम्प्रदायके भक्तोंका स्मरण किया है।

मूल (छप्पय)

(श्रीनारायणदास नृतक)

पद लीनो परसिद्ध प्रीति जामें दृढ़ नातो।
अच्छर तनमय भयो मदनमोहन रंग रातो॥
नाचत सब कोउ आहि काहि पै यह बनि आवै।
चित्र-लिखित सो रह्यो त्रिभंग देसी जु दिखावै॥
हँडि़या सराय देखत दुनी हरिपुर पदवी को चढ़्यो।
नृतक नरायन दास को प्रेम पुंज आगे बढ़्यो॥१७५॥

अर्थ—श्रीनारायणदासजी नर्तक (कत्थक) ऐसी ऊँची कोटिके भक्त थे कि एक दिन आप मीराँबाईका वह पद गाते हुए नाचने लगे जिसमें 'प्रीति जामें दृढ़ नातो' ये शब्द आते हैं। गाते-गाते इसी पदमें जब ये शब्द आये 'मदनमोहन रँग रातो,' तो आप एक दम तन्मय हो गये। यों नाचते-गाते तो सभी लोग हैं, पर ऐसी तन्मयता किस पर बन आती है ? उस तन्मयतामें आप चित्र-लिखितसे हो गये और उस अलौकिक प्रदेशमें भावना द्वारा प्रवेश कर गये जहाँ कि भगवानके ललित त्रिभंग रूपका प्रत्यक्ष दर्शन मिलता है। प्रयागसे छः कोसकी दूरी पर स्थित) हडि़या सरायके लोगोंके देखते-देखते आप हरि-पुर-गामी मार्ग पर आगे बढ़े और प्रभुके सान्निध्यमें पहुँच गये। नारायणदासजी, इस प्रकार, अपने जीवनमें प्रेमकी भावना का संग्रह करते हुए आगे ही बढ़ते गये और अन्तमें परम पदवीको प्राप्त हुए।

पद—श्रीनारायणदासजी नर्तकने नाचते हुए जिस पदको गाया था, वह इस प्रकार है—

साँची एक प्रीति को नातो।
कै जानें राधिका नागरी कै मदनमोहन रँग रातो।
मीराँ प्रभु गिरिधर संग हिलि मिलि सदा निकुंज बसातो॥

भक्ति-रस-बोधिनी

हरि ही के आगे नृत्य करैं, हिये धरैं यही, ढरैं देस देसनि में जहाँ भक्त भीर है।
'हड़ियासराय' मध्य आयकै निवास लियो, लियो सुनि नाम सो मलेच्छ जाति मीर है॥
बोलि कै पठाये "महाजन हरिजन सबै आयौ है सदन," सुनी ल्यायौ चाह पीर है।
आनि कै सुनाई, भई बड़ी कठिनाई, अब कौन जोई भाई, वह निपट अधीर है॥५६१॥

अर्थ—श्रीनारायणदासजीका यह नियम था कि आप हरिकी मूर्तिके ही सामने नाचते-गाते थे, अन्यत्र नहीं। जहाँपर भक्त-समुदाय होता था, उन्हीं प्रदेशोंमें आप आया-जाया करते थे।

एक बार आप विचरण करते-करते हँडियासराय जा पहुँचे और एक भक्तके यहाँ डे डाल लिया। धीरे-धीरे उनके नृत्यकी ख्याति गाँव भरमें फैल गई। सुनकर वहाँके अधिक ने, जोकि म्लेच्छ (यवन) जातिका मीर था, आपको बुलवाया और यह सन्देश भेजा 'मेरे यहाँ महाजन, भक्त-जन सब आये हैं, अतः आप भी पधारिये। मुझे गुणी लोगोंसे मि की बड़ी उत्सुकता रहती है।' लोगोंने यह सन्देश नारायणदासजीको सुना दिया।

सुनकर आप बड़े संकटमें पड़ गये। लोगोंने उनसे कहा—"आपकी जैसी इच्छा ह कीजिये, पर मीर साहब आपसे मिलनेके लिए बड़े अधीर हो रहे हैं।"

भक्ति-रस-बोधिनी

बिना प्रभु आगें नृत्य करिये न नेम यही, सेवा वाके आगें कहो कैसे दिसतारियै।
कियौ यों बिचार ऊँचो सिंहासन माला धारि, तुलसी निहारि हरि गान करयौ भारियै॥
एक ओर बैठयौ मीर निरखै न कोर दृग, मगन किशोर रूप, सुधि लै बिसारियै।
चाहे कछु वारो परे औचक ही प्राण हाथ, रीझि सनमान कीनौ मीचि लागी प्यारियै॥५६२

अर्थ--मीरके यहाँ जानेके लिये जो लोग बार-बार कह रहे थे, उनसे आप बोले— "मेरा नियम तो यह है कि मैं भगवानके सिवा और किसीके आगे नृत्य नहीं करूँगा। मीर आगे मैं अपने सेवा-स्वरूपको कैसे पधराऊँगा?" अन्तमें आपने सोच-विचार कर एक तरकी निकाली। मीरके यहाँ जाकर आपने एक ऊँचे सिंहासनपर तुलसीजीकी मालाको पधरा दिय (और तुलसी तथा भगवानमें अभेद-बुद्धि रखकर) बड़ा सुन्दर नृत्य किया। मीर एक तरफ बैठा हुआ था। उसकी तरफ आपने एक नजरसे भी नहीं देखा। इस प्रकार नाचते हुए आप तन्मयतामें देहकी सुध ध्यान खो बैठे। नाचनेमें आपके मनमें हुआ कि भगवानपर कुछ न्यौ-छावर करना चाहिए। अचानक, इस कार्यके लिये, अपने प्राण उनके हाथ पड़ गये और उन्हें अत्यन्त आदर-पूर्वक प्रभुके अर्पणकर इस संसारसे विदा हुए। टीकाकार कहते हैं कि ऐसी मृत्यु भी बड़ी सुन्दर है।

विशेष—श्रीप्रियादासजी और श्रीबालकरामजी दोनों ही टीकाकारोंने "हँडिया सराय" नामक किसी ग्राममें वहाँके शासक किसी यवनके यहाँ श्रीनारायणदासजी द्वारा अपनी अनन्यताकी दृढ़ प्रतिज्ञ के परिचय देनेका उल्लेख किया है और वहाँ ही अपने उपास्य श्रीयुगलकिशोरके चरण-कमलोंमें प्राण न्यौछावर कर देनेका भी उल्लेख किया है। किन्तु 'हँडिया सराय देखत दुनी" इस तुकका तात्पर्य्य यह भी हो सकता है, कि दुनियाँ रूपी सरायको उन्होंने हँडियाके समान समझा। जैसे मिट्टीकी हँडिया साधारण आघातसे फूट जाती है, वैसे ही जगत् क्षणभंगुर है। इस प्रकारकी पदवी उन्हें हरिपुर (मथुरा) में प्राप्त हुई थी, कुछ आलोचकोंकी ऐसी धारणा है। वस्तुतः श्रीनारायणदासजी द्वारा किसी यवनके यहाँ नृत्य करनेका संकेत मूल छप्पयमें नहीं मिलता।
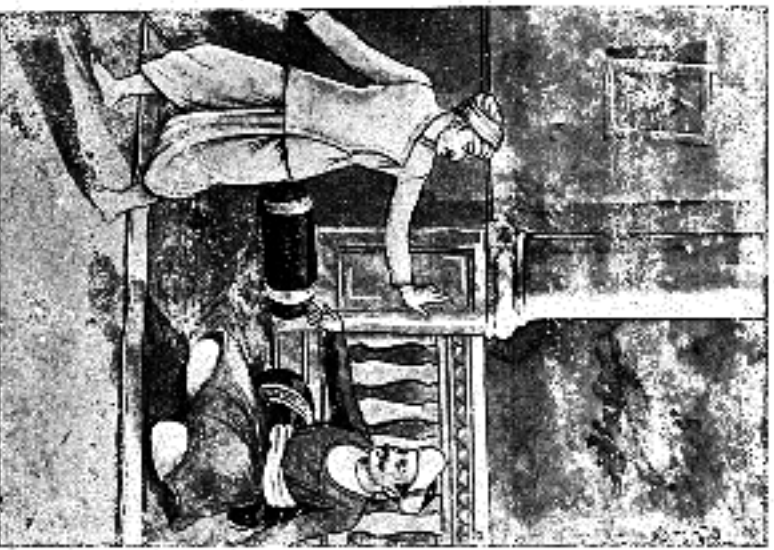
श्री छीतस्वामी
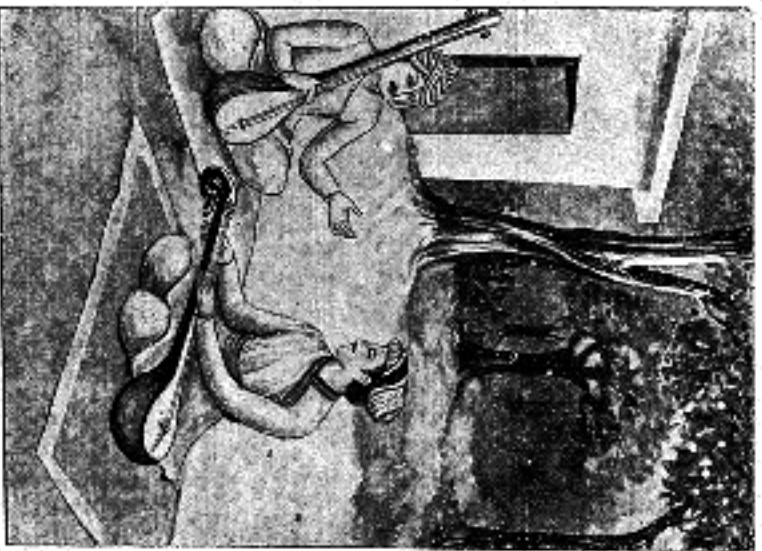
श्री गोविन्दस्वामी

मूल (छप्पय)

बोहित रामगुपाल कुँवरबर गोविंद माँडिल।
छीतस्वामी जसवंत गदाधर अनंतानंद भल॥
हरिनाभ मिश्र दीनदास बछपाल कन्हर जस गायन।
गोसू रामदास नारद स्याम पुनि हरिनारायन॥
कृष्णजीवन भगवानजन स्याम दासबिहारी अमृतदा।
गुनजन बिसद गुपाल के ऐते जन भये भूरिदा॥१४६॥

अर्थ—श्रीभगवानके विशद गुणोंका (उपदेश द्वारा) दान करने वाले ये बाईस भक्त हुए—

(१) श्रीबोहितजी, (२) रामगोपालजी, (३) कुँवरबरजी, (४) गोविन्दजी, (५) माँडिलजी, (६) छीतस्वामीजी, (७) यशवन्तजी, (८) गदाधरजी, (९) अनन्तानन्दजी (१०) हरिनाभमिश्रजी, (११) दीनदासजी, (१२) बछपालजी, (१३) कन्हरजी, (१४) गोसूजी, (१५) रामदासजी, (१६) नारदजी, (१७) श्यामजी, (१८) हरिनारायणजी, (१९) कृष्णजीवनजी, (२०) जनभगवानजी, (२१) श्यामजी और (२२) महा-मधुर-सार-रूपी अमृतके दाता श्रीबिहारीदासजी।

इस छप्पयमें आए हुए बोहितदेवजी, हरिनाभ मिश्रजी एवं बछपालजीका चरित्र बालकरामजी की टीका भक्तदाम-गुण-चित्रनी (पत्र, ३९९-४०१) के आधारपर नीचे दिया जाता है।

श्रीबोहितदेवाचार्यजी—आपका निवास-स्थान जिस जगह था उसके पास ही एक भूत रहा करता था। वह गाँवके बच्चोंके साथ खेलता हुआ नित्य-प्रति श्रीबोहितदेवजीसे कृष्ण-चर्चा सुना करता था।

एक दिन चाँदनी रातमें सब बालक मैदानमें खेल रहे थे। वह भूत भी उन्हींमें मिलकर खेल रहा था। अचानक श्रीबोहितदेवजीको देखकर सब बच्चे तो उनके पास चले गए, पर वह भूत दूर ही खड़ा रहा। बोहितदेवजीके बुलानेपर भी वह नहीं आया। तब उन्होंने दूसरे लड़कोंको उसे पकड़ लाने को भेजा। एक बार तो वह बच्चोंको मारता-कूटता भाग गया। दूसरी बार जब वे फिर उसे पकड़ने गए तो एक लड़केके हाथ उसकी चोटी पड़ गई और इस बार बालक उसे पकड़कर बोहितदेवजीके पास ले आए। जब आपने उसके दाँत देखे तो आप समझ गए कि यह भूत है और आपने उसकी चोटी खींचकर पकड़ ली। इसके बाद आपने उससे पूछा—"सच-सच बतला, तू कौन था? और प्रेत कैसे हुआ?" तब वह बोला—"महाराज! मैं बड़ा ज्वारी और कामी रजपूत था। मैंने सती-साध्वी अपनी पत्नीको बिना अपराधके ही मार दिया। यह मुझसे बड़ा भारी अपराध हो गया था। कालान्तरमें अपने एक पड़ौसीकी सहायतासे मुझे भगवानकी कथा सुननेको मिली और मेरा मन भी उसमें रम गया। इसके कुछ समय बाद मेरी मृत्यु हो गई और जब मैं यमराजके सामने गया तो उसने पापोंका

फल भोगनेके लिए मुझे इस योनिमें डाल दिया। तभीसे मैं आपके आश्रमके पास रहता हुआ बच्चों साथ खेलता हूँ और आपके द्वारा भगवद्-गुणानुवादका श्रवण करता हूँ। अब आपसे यही प्रार्थना है कि आप मेरा उद्धार कीजिए।"

श्रीबोहितदेवजी भूतकी इन बातोंसे बड़े द्रवित हुए और उसके कानमें गोविन्दका नाम सुना कर उसका उद्धार किया। बालकोंके सामने ही वह दिव्य-रूप धारण कर आकाशकी ओर चला गया और श्रीबोहितजीका यश इस घटनाके बाद चारों दिशाओंमें फैल गया।

श्रीहरिनाभ मिश्रजी—आप अत्यन्त नम्र, साधु-सेवी एवं उपदेश-कुशल रसिक सन्त थे। एक बार आपका कोई ब्राह्मण-शिष्य आपके पास आया और अपने नीच पुत्रकी चर्चा करते हुए कहने लगा—"गुरुवर! मेरा पुत्र अत्यन्त कुकर्मी, वेश्यागामी, ज्वारी, चोर और शराबी है। कृपा करके आप उसके सुधारका कोई उपाय बतलाइए।"

मिश्रजीने कहा—"उसे हमारे पास भेजा करो।" ब्राह्मण गुरुदेवकी बात सुनकर अपने घर गया। उसने पुत्रसे मिश्रजीके पास जानेको कहा तो वह उलटा-सुलटा बकने लगा। जो विषयोंमें जकड़ा हुआ है उसे सज्जनोंका सङ्ग भला कब अच्छा लगने लगा? ब्राह्मणने जाकर सब समाचार गुरुदेवको जा सुनाया। वे बोले—"अच्छा हम कुछ उपाय कर लेंगे।"

एक दिन जब ब्राह्मणका पुत्र हरिनाभजीके पाससे निकला तो उन्होंने अपना स्पर्श किया हुआ जल उसके ऊपर डाल दिया। उसके शरीरपर पड़ते ही ब्राह्मण-पुत्रके समस्त पाप नष्ट हो गये और उसकी बुद्धि एकदम निर्मल हो गई। दूसरे दिनसे वह सत्सङ्गमें भी आने लगा। मिश्रजीने भगवान श्रीकृष्णकी रसमयी लीलाओंका जब उसके सामने गायन किया तो उसका मन विषय-वासनाओंसे हटकर इन पवित्र चरित्रोंपर रीझने लगा और कुछ समय बाद तो वह ऐसा हो गया कि बिना कृष्ण-लीलाओंके श्रवण किए उसे चैन ही नहीं पड़ता था। श्रीबालकरामजी कहते हैं कि जिस प्रकार पारस का स्पर्श खराब-से-खराब लोहेको भी कंचन बना देता है, उसी प्रकार श्रीहरिनाभजीका उपदेश भी नीच-से-नीच मनुष्यको सुधार कर उसे कृष्ण-भक्ति-रसका अधिकारी बना देता था।

श्रीबच्छपाल (वत्सपालजी)—आपकी माताका जब अन्तकाल उपस्थित हुआ तो यमके दूत आकर उसे डराने लगे। उस समय माता अपने शरीरका ध्यान भुलाकर अत्यन्त व्याकुल होकर बेसुध हो गई। उसी समय श्रीबच्छपालजी, जो कहीं बाहर गए हुए थे, आगए और अपनी माताकी इस दुर्दशाको देखकर भगवानके गुणोंका गायन और उनके पवित्र नामोंका कीर्तन करने लगे। सुनते ही यमदूत भाग खड़े हुए और उनके स्थानपर भगवानके पार्षदोंने आकर माताको दर्शन दिए। दर्शनकर वह कृतार्थ होगई और पुत्रकी कृतज्ञताका गायन करती हुई उनके साथ भगवानकी सन्निधिमें जा पहुँची। श्रीबालकरामजी कहते हैं कि केवल अपनी माँका ही नहीं श्रीबच्छपालजीने तो इस प्रकार संसारके असंख्य मनुष्योंको यमके त्राससे छुड़ाकर भगवानके परिकरका अधिकारी बनाया है।

श्रीछीतस्वामीजी—श्रीछीतस्वामी मथुराके चौबे थे, उनका जन्म लगभग संवत् १५१२ वि० में हुआ था। वे बाल्यावस्थासे ही नटखट और असाधु प्रकृतिके व्यक्ति थे। परन्तु भक्तिके महान् आचार्य, परम भगवदीय गोसाईं विट्ठलनाथजीकी कृपा-सुधाने छीत चौबेको परम भक्त, हरिपरायण और रसिक भगवद्यश-गायकमें रूपान्तरित कर लिया। ये बीस सालकी अवस्थामें गोसाईं श्रीविट्ठलनाथजीके शिष्य

हो गये । उन दिनों श्रीविट्ठलनाथजीकी अलौकिक भक्ति-निष्ठाकी चर्चा चारों ओर तेजीसे फैल रही थी। कुछ साथियोंको लेकर छीत चौबेने उनकी परीक्षा लेनेके लिये गोकुलकी यात्रा की । गोसाईंजीके हाथमें सूखे नारियल और खोटे रुपयेकी भेंट रक्खी । नारियलमें गिरी निकल आयी और खोटा रुपया ठीक निकला । गोसाईंजीके दर्शनसे उनका मन बदल चुका था, उनके चमत्कारसे प्रभावित होकर उन्होंने क्षमा माँगी और कहा कि 'मुझे अपनी चरण-शरणके अभय दानसे कृतार्थ कीजिए । आप दयासिन्धु हैं, हरि-भक्तिसुधादानसे मेरे पाप-तापका शमन करके भवसागरसे पार होनेका मन्त्र दीजिये । आपका आश्रय छोड़कर दूसरा स्थान मेरे लिये है भी तो नहीं; सागरसे सरिता मिलती है तो प्यासी थोड़े रह जाती है ।' श्रीगोसाईंजी महाराजने उनको ब्रह्म-सम्बन्ध दिया, गुरुके पादपद्ममकरन्दके रसास्वादनसे प्रमत्त होकर छीतस्वामीने अपनी काव्य-भारतीका आवाहन किया—

> **भई अब गिरिधर सों पहिचान ।**
> **कपटरूप धरि छलिबे आये, पुरुषोत्तम नहिं जान ॥**
> **छोटो बड़ो कछू नहिं जान्यो, छाय रह्यो अग्यान ।**
> **'छीत' स्वामि देखत अपनायो, विट्ठल कृपानिधान ॥**

दीक्षा-ग्रहणके बाद उन्होंने नवनीतप्रियके दर्शन किये । उन्होंने गोसाईंजीसे घर जानेकी आज्ञा माँगी । कुछ कालके बाद वे स्थायीरूपसे गोवर्धनके निकट पूँछरी स्थानपर श्याम तमाल वृक्षके नीचे रहने लगे । वे श्रीनाथजीके सामने कीर्तन करते और उनकी लीलाके सरस पदोंकी रचना करते थे । उनके पद सीधी-सादी सरल भाषामें हैं, व्रजभूमिके प्रति उनमें प्रगाढ़ अनुराग था । 'ए हो बिधिना ! तो सों अँचरा पसारि माँगौं, जनम-जनम दीजे याही व्रज बसिवौ' से उनकी व्रजक्षेत्रके प्रति आस्थाका पता चलता है । गोसाईं विट्ठलनाथजीने उनकी दृढ़ भक्ति और सरस पदरचनासे प्रसन्न होकर उनको अष्टछापमें सम्मिलित कर लिया । वे निःस्पृहताके मूर्तिमान् रूप थे ।

श्रीविट्ठलनाथजीके लीला-प्रवेशके बाद संवत् १६४२ वि० में उन्होंने अपने निवासस्थानपर पूँछरी में देहत्याग कर दिया। उन्होंने पुष्टिमार्गके विकासमें महान् योग दिया ।

स्वामी श्रीबिहारिनदेवजी—स्वामी श्रीवीठलविपुलदेवजीके दो प्रधान शिष्य हुए—श्रीकृष्णदास एवं श्रीबिहारीदासजी । श्रीबिहारीदासजीके पिता श्रीमित्रसेनजी दिल्लीके बादशाहके उच्चपदाधिकारियों में से एक थे । आपको समस्त सुख सन्तानके अभावसे दुःख रूप ही ज्ञात होते थे । आपके परम मित्र पण्डित चतुर्भुजजीको वृन्दावनके स्वामी श्रीहरिदासजीकी कृपासे पुत्र प्राप्ति हुई, तो उन्होंने अपने मित्र मित्रसेनके लिए भी श्रीस्वामीजीसे प्रार्थना की । चतुर्भुजजीके कहनेसे श्रीमित्रसेनजी भी श्रीस्वामीजीके दर्शनोंको वृन्दावन आए और उन्हें श्रीस्वामीजीके प्रसादसे श्रावण शुक्ला ३ को एक पुत्र-रत्नकी प्राप्ति हुई । बिहारीदास नामक यही बालक आगे चलकर स्वामीजीकी गद्दीपर श्रीबिहारिनदेवजीके नामसे प्रतिष्ठित हुए । पंडित चतुर्भुजजीके पुत्र श्रीकृष्णदासजी थे । वे भी स्वामीजीके अनन्य रसिकोंमें-से एक थे । आप दिन-रात नित्य-विहार-उपासनामें इतने लीन रहते थे कि अन्य बातोंकी सुध ही नहीं रहती थी । इसीलिए न तो आपका रचित कोई साहित्य ही मिलता है और न अन्य विवरण ही ।

पिताके देहान्तके उपरान्त श्रीबिहारीदासजी राज-सेवामें नियुक्त हुए । कहा जाता है कि एक बार आसामपर आक्रमण करनेके लिए आपको खानखानाके साथ जाना पड़ा । वहाँ खानखानाकी

श्रीआघड़ीसे आपके हृदयमें ऐसा वैराग्य उत्पन्न हुआ कि अपना एक हाथ काटकर सीधे स्वामीजीके वृन्दावन चले आए। स्वामीजीके चरणस्पर्श करते ही आपका कटा हुआ हाथ पूर्ववत् हो गया।

स्वामी श्रीवीठलविपुलदेवजीसे दीक्षा लेकर श्रीविहारीदासजी नित्य-विहारके अनन्य उपासक बने और आपका नाम श्रीविहारिनदेवजी हुआ। आपकी निष्ठा और रहनी-रीति इस प्रकार की थी कि आपके समकालीन रसिकवर श्रीव्यासजीको भी कहना पड़ा—

साँची प्रीति विहारिन दासैं।
कै करुवा कै कुंज कामरी, कै धन श्री स्वामी हरिदासैं॥
अतिबाधिक कहि सकत न जिनको, जानत नहीं कहा कहि आसैं।
महामाधुरी मत्त मुदित ह्वै, गावत रस बस जगत उदासैं॥
छिन ही छिन परतीत बढ़त रस, रीत निरखि छिबि बदन बिलासैं।
अंग संग नित्य बिहार बिलोकत, इहै आस निधु बन बसि व्यासैं॥

स्वामीजीके निकुंज-प्रवेशके सातवें दिन ही जब स्वामी श्रीवीठलविपुलदेवजी भी श्रीस्वामिनीरूप में लीन हो गए, तो उनके स्थानपर श्रीविहारिनदेवजी ही विराजमान हुए। श्रीविहारीजीकी सेवा एक उसी लाड़-चावसे करते थे, किन्तु कभी-कभी नित्यकेलिकी भावनामें ऐसे लीन हो जाते कि देह-कुलादिककी सुध-बुध भी भूल बैठते। एक दिन स्नानके लिए आप श्रीयमुना-तटपर पहुँचे। दाँतुन करते जाते थे और "विहरत लाल-विहारिन दोऊ श्री यमुनाके तीरे-तीरे" इस तुकको गाते जाते थे।

युगलकी छवि-छटामें आप ऐसे छक गए कि इसी प्रकार दाँतुन करते और गाते-गाते सन्ध्या हो गई। श्रीमदनमोहनजीके पुजारीजीने, जो कि त्रिकाल जमुना-स्नान करते थे, इनकी यह दशा देखी तो गोस्वामी श्रीसनातन पादसे जाकर निवेदन किया—

"महाराज! आज यमुना किनारे एक बाबाजी सवेरेसे दाँतुन कर रहा है और पद गा रहा है। न तो अब तक उसकी दाँतुन ही पूरी हुई है न पद ही।"

सुनकर गोस्वामी पाद समझ गए कि ऐसे रसोन्मत्त महात्मा तो स्वामी श्रीविहारिनदेवजी ही होंगे। उन्होंने पुजारीके हाथों विहारिनदेवजीके लिए श्रीमदनमोहनजीका प्रसाद भिजवाया। पुजारीके द्वारा कई बार कहनेपर भी आपने ध्यान नहीं दिया, तो पुजारी लौटकर गोस्वामीजीके पास आया। गोस्वामीजीने कहा कि "उनसे जाकर यह कहो कि श्रीस्वामीजीका प्रसाद लाया हूँ।"

पुजारीने ऐसे ही कहा, तो स्वामी श्रीविहारिनदेवजीने तुरन्त उठकर हाथ फैलाकर प्रसाद ग्रहण कर लिया।

उसी समय आपको अपनी दशाका भान भी हुआ। तुरन्त स्नान इत्यादि करके लौटे और श्रीविहारीजी महाराजकी सेवा की।

इस घटनाका संकेत आपने अपनी वाणीमें स्वयं किया है—

सरस रूप सुख में सम्यौ, मन अटक्यौ गुन गान।
बिहारीदास जानैं नहीं कित भोजन स्नान॥
उठि बैठ्यौ हौं भोर ही एक तान गुन गान।
आवत जात अथै गयौ तीन काल अस्नान॥

आपकी सेवामें भाँटका मूलचन्द नामक एक ब्राह्मण बहुधा आया करता था । श्रीबिहारीजीकी भोगसामग्री भी वही लाया करता था । आप कभी यमुना किनारे बैठे पाते, तो कभी किसी लता-कुञ्ज में । आपकी इस तन्मयताका ध्यान करके उसने स्वयं श्रीबिहारीजीकी सेवा प्राप्त करनेकी प्रार्थना की । स्वामी श्रीबिहारिनदेवजीने भी कुछ विचार कर और उसकी भाव-भक्ति देखकर श्रीबिहारीजी उसे दे दिए । कुछ समय बाद उसका देहान्त हो गया, तो उसके भाईने श्रीबिहारीजीकी सेवा की । उसकी मृत्युके उपरान्त श्रीबिहारीजी पुनः स्वामीजीके पास आगए । कुछ समय उपरान्त गोस्वामी श्रीजगन्नाथजीने आपसे सेवाकी प्रार्थना की, तो आपने उनकी प्रीतिसे प्रसन्न होकर श्रीबाँकेबिहारीजीको उन्हें दे दिया ; तबसे अब तक श्रीबिहारीजीकी सेवा गोस्वामी श्रीजगन्नाथजीके वंशज करते चले आ रहे हैं।

सुहावनी शरद-ऋतुका समय था । निधिवनका सौन्दर्य-सीमाके बन्धनोंको तोड़ रहा था । नित्यकेलि रसके मत्तमधुप श्रीबिहारिनदेवजी नेत्र मूँद कर प्रिया-प्रियतमकी कुञ्ज-क्रीड़ाके अवलोकनमें निमग्न हो रहे थे । उसी समय अपने सखाओंके साथ खेलते हुए त्रिभुवनमोहन श्यामसुन्दर वहाँ आ पहुँचे । सखाओंने स्वामी श्रीबिहारिनदेवजीको इस प्रकार नयन बन्द किए देखा तो उनका कौतूहल जाग्रत हो उठा । श्रीकृष्णसे पूछ ही बैठे—

"अरे कन्हैया ! देख तौ जु कौन बाबाजी आँख मींच कें बैठ्यौ ऐ ?"

श्यामसुन्दरने उन्हें कोई प्रोत्साहन न देते कहा—'रहन दे, तोय का परी । बैठ्यौ ऐ तो बैठ्यौ रहन दै, अपनो भजन करन दै !' अब तो सारे सखा मिलकर पीछे ही पड़ गए—'नाँय भैया ! नैंक चल तौ सई । जासे कछू बातचीत करिंगे ।'

सखाओंकी हठके आगे भला नन्दनन्दनकी क्या चलती ? उन्हें स्वामी बिहारिनदेवके पास आना ही पड़ा । आकर आवाज लगायी—'ओ बाबा नैंक आँख तो खोल ।'

दो-तीन आवाजोंका तो कुछ पता ही न चला । जब सबने मिलकर पुकारा तो आपका ध्यान इधर आकर्षित हुआ । पर नेत्र बन्द किए ही बोले—'कौन हो ? क्या बात है भाई ?'

श्रीनन्दनन्दनजी बोले—'मैं बुई हूँ, जाय सब लोग माखन-चोर, चित-चोर, गोपीजनवल्लभ कहैं हैं ।'

स्वामी बिहारिनदेवने पूछा—'तौ तिहारे संग हमारे स्वामीजी हू हैं का ?'

'बु तो हे नाँय पर सबरे सखा मेरे संग हैं ।' नन्दनन्दनने उत्तर दिया ।

तौ आप जिनके चित्तवित्त कौ ब्रजमें नित्त हरन करौ तहाँई जाओ ।' हम तौ श्रीहरिदासीके अंकमें विराजवेवारे जुगलके रसके अनन्य हैं । बाके बिना हम काहूँ कौं नाँय देखें । इन्हें ही जानैं । औरन कूँ तौ जिऊ नाँय पेंहचानें कै कौन कहाँके हैं । जाई हठ कूँ सदा राखें हैं :—

चित्त हरौ सब वित्त हरौ नव-नीत हरौ ब्रजजानि जहाँ कौ ।
हरे हरि ह्वं रहि हो हौ लला, हौं तौ हेरि रह्यौ हठ ही हठ हाँकौ ॥
श्रीबिहारिनदास अनन्य मिले, रस पाय प्रिया-पिय अंक महाँ कौ ।
हौं तौ और सरूप पिछानौ नहीं, श्रीहरिदास बिना हरि को है कहाँ कौ ॥

लगभग ६८ सालकी आयुमें स्वामीबिहारिनदेवजीने निकुञ्जलीलामें प्रवेश किया ।

स्वामीबिहारिनदेवजी स्वामीहरिदासजी द्वारा प्रवर्तित वृन्दावनकी निकुंजोपासनाके सुदृढ़ स्तम्भ थे । स्वामीजीके सिद्धान्तोंके सबसे बड़े ज्ञाता और भाष्यकार आप ही थे । अपनी वाणीमें आपने स्वामीजीके सिद्धान्तोंका बड़ी अनन्यता एवं स्पष्टतासे विवेचन किया है । इसीलिए आपको 'गुरुदेव' कहा जाता है और इस संज्ञासे एकमात्र आपका ही बोध होता है ।

आपने रस और सिद्धान्त दोनों प्रकारकी रचनायें की हैं। भाषाकी स्पष्टता और लाग लपेटके अभावसे आपकी अनन्यता और निर्भयता पद-पद पर परिलक्षित होती है। रसके पद बड़े सरस और मधुर हैं, जिनमें केवल निकुंजविहारका ही वर्णन है। आपका एक पद देखिए—

प्रथम रसिक ह्वै आपुन तब रस की रसिकनि पै सुनि बात।
नीरस कवि सब बक्ता श्रोता बिनु समझें भुकि जात॥
ब्याहे नहीं बरात भात बिनु खायें क्यों इतरात।
गांठत कूर कांम सौं चूतर कहि आये अनखात॥
प्रेम प्रताप माधुरी महातम बिलखत सठ न लजात।
सात छांनि कौ फूंस पिढ़भरा अंधरे पसु ज्यौं खात॥
हीरा बैरागिर ही पैयत घूर खनत न खिस्यात।
साधन और और सिधांत बिनु पावें पछितात॥
राख्यौ बांधि अविवेक महाभ्रम क्यौं संदेह नसात।
अभिमान्यौ दरवान ध्यान को कौन कहै कुसलात॥
याही तें दुर्लभता सबकौं लछमीपति ललचात।
यदपि राधाकृष्ण बसत बृज बिनु बिहार बिललात॥
बिनु श्री हरिदास बिहारै सेवत बरस परस नहिं तात।
ते क्यौं पावहिं महामाधुरी बन बसि संग न समात॥
गुरु ग्रंथ मत सदाचार चलि चौकस करि गहि घात।
श्री बिहारिदास बिरले अनन्य धनि जे बिहार रंगरात॥

आपकी कथनी, करनी और रहनी तथा निर्भयता और निस्संकोचताकी प्रशंसा प्रायः सभी समकालीन वृन्दावनस्थ रसिकों एवं कविगणोंने की है जिसमें श्रीव्यासजी, ध्रुवदासजी, नाभाजी तथा व्रजनाभजी के नाम उल्लेखनीय हैं। व्रजनाभजीके शब्दों में :—

ऐंड्यौ ऐंड्यौ फिरै विपुल बल रस कौ पीये। बानी जाकी सुनत छूटैं सब साधन हीये॥
कुंजबिहारी बर बिहार कुंजनि बसि गायौ। इह बल गरजत रह्यौ लरजि रसिकन सिर नायौ।
रसभूमि उपासक रहसि कौ, ऐसौ को ह्वै है सुभट। सपूत पूत हरिदास कौ बिहारीदास अनन्यनि मुकट॥

विशेष—श्रीप्रियादासजीकी भक्तसुमिरनी और श्रीबालकरामजीकी टीकामें भी इस छप्पयमें वर्णित भक्तोंकी संख्या २२ ही है। ये सभी भक्त श्रीगोपालजीके उपासक थे। इनमें कुछ ऐसे भी नाम हैं, जो भिन्न-भिन्न सम्प्रदायोंके भक्तोंके नामोंसे मिलते हैं; किन्तु एक नामके कई व्यक्ति भी हो सकते हैं। श्रीनारद, जनभगवान बिहारीदास, बोहितदेव, कन्हरदेव, रामगुपाल आदि बहुतसे तो निम्बार्क-सम्प्रदायकी परम्पराके महानुभावोंके नाम स्पष्ट हैं ही। साथ ही बहुतसे नाम ऐसे भी हैं जिनकी कथायें भिन्न-भिन्न छप्पयोंमें आगे-पीछे भी आ गई हैं। श्रीनाभाजीने इस छप्पयमें और आगे छप्पय १६६ में श्रीबोहितदेवजीका नामोल्लेख किया है। उस छप्पयमें आपके निवास स्थान सुहेला ग्रामका निर्देश किया है। पण्डित श्रीकिशोरदासजी वेदान्त निधि-लिखित आचार्य-परम्परा परिचयमें आपका प्रधान स्थान मकरापुरा, जिला कर्नाल (पंजाब) लिखा है, वहाँ ही उनकी समाधि

बनी हुई है, उनका परम-धामवास भी वहाँ ही हुआ था । आपकी परम्पराके स्थान पञ्जाब और राजस्थान आदि कई प्रान्तोंमें मिलते हैं । नीमके थानेकी जमातमें इस द्वारेके साधुओंकी संख्या अधिक मिलती है । कन्हरदेवाचार्यजीके चतुर्थ शिष्य श्रीरामगोपालजी बड़े प्रसिद्ध भक्त थे ।

मूल (छप्पय)

उद्धव रामरेनु परसराम गंगा धूवेत निवासी ।
अच्युत-कुल कृष्णदासबिश्राम सेषसाईके बासी ॥
किंकर कुंडा कृष्णदास, खेम सोठा गोपानँद ।
जैंदेव राघौ बिदुर दयाल दामोदर मोहन परमानँद ॥
उद्धव रघुनाथी चतुरो नगन कुंज ओक जे बसत अब ।
निरवर्तं भये संसारतें ते मेरे जजमान सब ॥१४७॥

अर्थ—श्रीनाभाजी कहते हैं कि जो भक्त संसारसे छुटकारा पा चुके हैं वे सब मेरे यजमान हैं । इन १८ भक्तों* की नामावली इस प्रकार है—

१ श्रीउद्धवजी, २ रामरेनुजी, ३ ध्रुवखेत निवासी श्रीपरशुरामजी और गङ्गाबाईजी, ५ शेषशायीके वासी अच्युत-कुल-विश्रामी श्रीकृष्णदासजी, ६ कुण्डाके किंकर कृष्णदासजी, ७ खेमजी, ८ सोठाजी, ९ गोपानन्दजी, १० जयदेवजी, ११ राघौजी, १२ जयतारन निवासी बिदुरजी, १४ दामोदरजी, १५ मोहनजी, १६ परमानन्दजी, १७ रघुनाथी उद्धवजी और श्रीचतुरोनगनजी जो निकुञ्जोंमें निवास कर रहे हैं ।

विशेष—इन भक्तोंमें श्रीपरशुरामदेवाचार्यजीका परिचय छप्पय सं० १३७, श्रीजयदेवजीका छ० सं० ४४ तथा श्रीपरमानन्ददासजीका छ० सं० ७४ में पहले दिया जा चुका है ।

भक्ति-रस-बोधिनी

(जयतारन निवासी श्रीबिदुरजी)

झीथड़ो ढिग ही मैं जैतारन बिदुर भयौ, हरिभक्त साधु-सेवा मति पागी है ।
बरषा न भई, सब खेती सूखि गई, चिंता नई, प्रभु आज्ञा दई, बड़ी बड़भागी है ॥
"खेत कौं कटावौ औ गहावौ, लै उड़ावौ, पावौ वो हजार मन अन्न, "सुनी प्रीति जागी है ।
करी वही रीति, लोग देखें न प्रतीत होत, गाए हरि मीत रासि लागी अनुरागी है ॥५६३॥

अर्थ—जोधपुर-राज्यके झींथड़ा नामक गाँवके पास जयतारन गाँवमें बिदुरजी हुए ।

---

* श्रीबालकरामजीने इस छप्पयमें अठारह भक्त माने हैं—अच्युत कुल और विश्राम ये दोनों कृष्णदासजीके विशेषण होंगे, इसीप्रकार किंकर कृष्णदासजीका और उद्धवजीका रघुनाथी विशेषण माने जायँ तो भक्तोंकी संख्या अठारह रह जाती है ।

आप परम हरि-भक्त और साधु-सेवा-परायण थे। एक बार वर्षा न होनेके कारण सारी फसल सूख गई और विदुरजीको यह चिन्ता हुई कि अन्नके अभावमें साधु-सन्तोंका स्वागत-सत्कार किस प्रकार किया जायगा। अपने भक्तको इस प्रकार चिन्तित देखकर प्रभुने बड़भागी विदुर जीको स्वप्नमें आज्ञा दी—"सूखे खेतोंको ही कटवाकर उन्हें गहाओ (बैलोंसे खुँदवाओ) और तब उड़ाओ—अर्थात् हवामें भूसा और दानोंको अलग करो। ऐसा करनेसे तुम्हें दो हजार मन अन्न मिल जायगा।"

विदुरजी सोकर उठे, तो भगवानकी दयालुता पर विचार करके बड़े प्रसन्न हुए। आपने वैसा ही किया। लोग उन्हें देख कर हँसते थे, उन्हें विश्वास ही नहीं होता था। किन्तु विदुर जी भगवानमें अटूट विश्वास रखकर उनका गुण गा रहे थे और काम कर रहे थे। बादमें लोगोंको यह देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ कि वहाँ अन्नका ढेर लग गया। फलतः सब लोग भगवानमें श्रद्धा रखने लगे।

विशेष—ध्रुवक्षेत्र (ध्रुवटीला मथुरा) में रहनेवाली गङ्गाबाई छप्पय ३९ और १०४ में वर्णित गङ्गा बाइयोंसे भिन्न हैं। कृष्णदासजी जो अच्युत-कुल (वैष्णवधर्म) के लिए विश्राम स्थान शेषशायी (मथुरा जिला) में रहते थे। कुण्डाके किंकर कृष्णदासजी और जैतारणके दयालु एवं विदुरजी, सांपलावाले दामोदरजी, मोहनदेवजी नागाजीके शिष्य, और परमानन्ददेवजी नागाजीके गुरु और उद्धवजी जिनका कि नाम छप्पय ९९ में भी आया है ये सभी भक्त निम्बार्कीय हैं। छप्पय ९८ में वर्णित उद्धव इन दोनोंसे भिन्न थे।

इस छप्पयमें वर्णित सभी भक्त श्रीनिम्बार्क-सम्प्रदायके हैं। दयालु विदुरजीका स्थान श्रीप्रियादासजी और बालकरामजीने जैतारण बतलाया है। वहां ही श्रीतत्ववेत्ताजी हुए हैं। उनका समय १५६२ से १६६६ तक माना जाता है और वे श्रीपरशुराम देवाचार्यजीके शिष्योंमें एक विश्रुत सन्त थे। वे बड़े दयालु थे। बाल्य-कालमें खेतमें पानी देते समय चींटियोंको बचानेके कारण उनकी भाभीने बोल मार दिया था जिससे वे घर छोड़ कर साधु बन गये थे। तीर्थाटनके पश्चात् अपनी जन्म-भूमि (फूल-माल) के सन्निकट जैतारणमें ही रह कर वे भगवद्भागवतोंकी सेवा करते थे। जोधपुरका राज-वंश उनमें बहुत श्रद्धा रखता था। वहाँके राजा उनके दर्शनोंको आते थे।

आज भी दो सौ दस गाँवोंके उदावत क्षत्रिय श्रीतत्ववेत्ताजी द्वारा संस्थापित गोपाल-द्वारा (जैतारण) को अपना पूज्य गुरु-स्थान मानते हैं। सम्भव है, श्रीनाभाजीने विदुरजीके समान ज्ञानी और दयालु मान कर विदुर दयालु शब्दसे तत्ववेत्ताजीका ही स्मरण किया हो। उनका पहला एक नाम टीकमजी भी था। श्रीबालकरामजीने अपने छप्पय २५० में उनका परिचय दिया है, किन्तु छप्पय २६१ में उन्होंने विदुरजीका भी एक स्वतन्त्र छप्पय लिखा है। इससे ज्ञात होता है, जैतारणके तत्ववेत्ता और विदुर ये दोनों पृथक्-पृथक् हैं। नाभाजीने अपनी भक्तमालमें संभवतः उनमेंसे एकको ही चुन लेना पर्याप्त समझा हो।

श्रीउद्धवजी—आपके पास श्रीठाकुरजी महाराजकी पूजाके काममें आने वाली एक बड़ी सुन्दर

कमुती (कुटिया) थी। उसे देखकर एक सन्तका मन रीझ गया और वह उसे माँग बैठा। आपने निःसंकोच उसे दे दिया और श्रीठाकुरजीकी सेवा दूसरी साधारण-सी अमुतीसे करने लगे। इस पर ठाकुरजीने बनावटी क्रोध दिखाकर कई बार उसे अलग फेंक दिया। इस पर आपने कहा—"महाराज! उसे एक सन्त दे गया था, दूसरा ले गया, इससे क्रुद्ध होनेकी क्या आवश्यकता है? यदि आपको यह अमुती अच्छी नहीं लगती है तो दूसरी किसीसे कहकर मँगवालो, तुम्हारे कमी ही किस बातकी है?"

भक्तकी वाणी सुनकर भगवान बड़े प्रसन्न हुए और उन्होंने श्रीउद्धवजीके कहनेके अनुसार वैसी ही अमुती मँगाली जैसी कि पहली थी।

एक बार श्रीउद्धवजीके आश्रममें बहुतसे सन्त आगए। उस समय आपके यहाँ सीधा-सामान कम था। यह देख आपने रसोई बनाना तो आरम्भ कर दिया, पर इस बातकी चिन्ता मनमें लगी रही कि सन्तोंका पूरा कैसे पड़ेगा। उसी समय भगवान द्वारा प्रेरित होकर उनकी माया बहुत-सा सीधा सामान लेकर आगई और उसे सन्त-महाराजको देती हुई बोली—"इसकी रसोई तैयार कीजिए और जी-भर कर सन्तोंको भोजन कराइए।"

इतना कहनेके बाद वह अन्तर्धान होगई और श्रीउद्धवजीने प्रेमसे रसोई बना कर सन्तोंको प्रसाद पवाया। वास्तवमें भक्तोंके कार्योंको पूरा करनेकी चिन्ता तो भगवानको रहती है, न कि स्वयं भक्तको। (भक्तदाम-गुण-चित्रनी, पद्य ४०३)

मूल (छप्पय)

(चतुरा (चतुर चिन्तामणि) नागाजी)

सदा जुक्त अनुरक्त भक्त-मंडल को पोषत।
पुर मथुरा ब्रजभूमि रमत सबहीं को तोषत॥
परम धरम दृढ़ करन देव श्रीगुरु आराध्यौ।
मधुर बैन सुठि ठौर-ठौर हरिजन सुख साध्यौ॥
संत महंत अनंत जन जस बिस्तारत जासु नित।
श्रीस्वामी चतुरो नगन मगन रैन दिन भजन हित॥१४८॥

अर्थ—नागा चतुरदासजी ध्यान-समाधि लगाकर, भगवच्चरणोंमें दृढ़ अनुराग रखते हुए न केवल स्वयं भजन करते थे, बल्कि अपने-जैसे अन्य अनुरागी भक्तोंको भी प्रेमके उज्ज्वल आदर्शसे तृप्त करते थे। निवासी आप वृन्दावनके थे, पर भ्रमण करते पूरे व्रज मण्डलमें और सबको आनन्द प्रदान करते थे। आपने परम धर्म (भक्ति) को दृढ़तापूर्वक स्थापनाकरनेके लिए अपने गुरुदेवकी आराधना की। आपकी वाणी अत्यन्त मधुर थी। स्थान-स्थान पर आप उससे भगवानके गुण गाते और भक्तोंको सुखी करते थे। संत-जन, गद्दीधारी महन्त तथा अन्य असंख्य जन नागाजीका यश नित्य गाते हैं। श्रीस्वामी चतुरो नगनजी, इस प्रकार, दिन-रात भगवद्-भजनमें लीन रहते थे।

भक्ति-रस-बोधिनी

श्रीगोविंदचंदजू की भोर ही दरस करि, केसव सिंगार, राजभोग नंदग्राम मैं।
गोवर्धन राधाकुंड ह्वै कै आवैं बृंदाबन, मन में हुलास नित करैं चारि जाम मैं॥
रहे पुनि पावन पै भूखे दिन तीन बीते, आये दूध लै प्रबीन, एऊ रंगे स्याम मैं।
माँग्यौ "नेकु पानी लावौ," फेर वह प्रानी कहाँ? दुख मति सानी निसि कह्यौ "कियौ काम मैं"॥५६५॥

अर्थ—नागा चतुरदासजीका दैनिक कार्यक्रम इस प्रकार था कि आप (वृन्दावनकी परिक्रमाके बाद) प्रातः श्रीगोविन्ददेवजीकी मंगला-आरतीके दर्शन करते, मथुरामें श्रीकेशवदेवजीकी शृङ्गार-आरतीमें हाजिरी देते और राजभोगकी आरती नन्दगाँवमें करते। उसके उपरान्त गोवर्धन, राधाकुण्ड होते हुए संध्या होते-होते वृन्दावन लौट आते। इस प्रकार चारों पहर (प्रातःकालसे लेकर सूर्यास्त पर्यन्त) आपके आनन्दमें बीतते थे।

एक बार पवित्र पावनसरोवरपर आपको तीन दिन तक भूखा ही रहना पड़ा। यह देख कर भक्त-वत्सल प्रवीण नन्दकुमार स्वयं दूध लेकर आपके पास पहुँचे और पिलाया। नागाजी भी प्रभुके लाड़में ऐसे आगए कि उनसे थोड़ा पानी पीनेको और माँगा। मनुष्य-रूपधारी भगवान जल लेनेके लिए गए, तो फिर लौट कर नहीं आये। नागाजीको बड़ा दुख हुआ। इसपर भगवानने स्वप्नमें आपको बताया कि "रातको दूध मैं ही दे गया था।"

भक्ति-रस-बोधिनी

"पानी सौं न काज, ब्रजभूमि मैं बिराज दूध, पीवौ घर-घर" यह आज्ञा प्रभु दई है।
"ए तौ ब्रजबासी सब क्षीर के उपासी, कैसे मोको लैन दैहैं?" कही "दैहैं," सुनी नई है॥
डोल धाम-धाम स्याम कह्यौ कोई मानि लियौ, दियौ परचे हूँ, परतीति तब भई है।
कहौं जा छिपावैं पात्र, बेगि आप ढूँढ़ि ल्यावैं, अति सुख पावैं, कौमी लीला रसमई है॥५६६॥

अर्थ—पानी दिये बिना ही अपने चले जानेका कारण बताते हुए भगवानने स्वप्नमें नागाजीसे यह भी कहा—"तुम्हें पानी पीनेसे अब मतलब ही क्या है? व्रज-भूमिमें रहते हुए घर-घर जाकर दूध पी आया करो।" (यह सारा सम्वाद स्वप्नमें ही चल रहा था।) नागाजीने पूछा—"भगवन्! ये व्रजवासी तो दूधको प्राणोंसे भी अधिक प्यारा मानते हैं, फिर मुझे क्यों देने लगे?" भगवान बोले—"नहीं; मेरी आज्ञा है; तुम्हें अवश्य देंगे।"

नागाजी प्रभुकी आज्ञाको शिरोधार्य कर अब गाँव-गाँव घूमने लगे और गोपिकाओंसे दूध माँग-माँग कर पीने लगे। कुछ ऐसी भी थीं जो देनेमें आनाकानी करती थीं। उन्हें आपने भगवद्-भक्तिका परिचय देकर राजी कर लिया। बादमें तो सबको विश्वास हो गया कि यह भगवानकी आज्ञासे ही दूध माँगने आते हैं। कोई-कोई गोपिका हँसी करनेके लिए दूधके भाँड़े को कहीं छिपा कर रख आती, तो आप घरमें घुसकर उसे ढूँढ़ लाते। इसपर गोपिका आनन्द में मग्न हो जाती। नागाजी इसी प्रकारकी आनन्दमयी लीलाएँ करते हुए व्रजमें रहते थे।

समीक्षा—उपर्युक्त दोनों कवित्तोंके अतिरिक्त इस छप्पयकी टीकामें मुद्रित और हस्त-लिखित बहुत-सी प्रतियोंमें एक कवित्त और मिलता है, जो नाभाजीके छप्पयके विरुद्ध ही नहीं, अपितु श्रीनागाजी की जीवनीसे भी सर्वथा विपरीत है और उनके गुरुदेवकी अमल जीवनीपर एक अनर्गल आक्षेप प्रतीत होता है। साथ ही साथ वह श्रीप्रियादासजी-जैसे भावुक-भक्तके हृदयको भी लाञ्छित कर देता है। अतएव उसे प्रियादासजीका रचा हुआ नहीं माना जा सकता। यद्यपि यहाँ उस कवित्तकी चर्चा करनेकी विशेष आवश्यकता नहीं थी, तथापि उसके सम्बन्धकी शोधका थोड़ा दिग्दर्शन-मात्र करा देना परम आवश्यक है।

कुछ सम्प्रदायोंमें कई व्यक्तियोंकी ऐसी कल्पना-पूर्ण कृतियाँ मिलती हैं जिनमें दूसरे सम्प्रदायों के महापुरुषोंका अपकर्ष दिखलाकर अपने सम्प्रदायाचार्योंकी विशेषता बतलानेकी चेष्टायें की गई हैं। वल्लभ-सम्प्रदायके वार्ता-ग्रन्थोंमें ऐसे कई उदाहरण भरे पड़े हैं। यहाँ तक कि उनके लेखकोंको पूर्वापर का भी अनुसन्धान नहीं रहा है। जैसे—पहले तो वे यह लिख देते हैं कि—"तहाँ कोकिला बनमें निम्बार्क-सम्प्रदायको चतुरो नागा करिकैं वैष्णव हतो", उसके पश्चात् उनकी डेढ़-सौ वर्षकी आयु का भविष्य बतलाया गया है* और फिर एक-सौ दश वर्षके भीतर उन्हें (नागाजी को) अङ्गी-कार करनेकी बात लिख डाली है। कहीं पर "श्रीनागाजीके साथ दस हजार नागाओंके रहने और पाँच सेर दूधकी खीरसे ही श्रीवल्लभाचार्यजी द्वारा उनको तृप्त कर देना फिर भी उतनीकी उतनी खीर का बना रहना" आदि का उल्लेख किया गया है।

उन वार्तोपर जब श्रद्धालु-जनोंको भी पूर्ण विश्वास होना कठिन है, फिर आलोचक उन्हें कैसे मान सकते हैं? यदि इनमें तथ्यांश खोजा जाय तो इतना ही हो सकता है कि जिन व्यक्तियोंके सम्बन्ध में ये कल्पनायें की गई हैं, वे व्यक्ति कल्पकोंसे पूर्ववर्ती थे। वे जब श्रीनिम्बार्क-सम्प्रदायके महापुरुष थे, तब श्रीवल्लभाचार्यजीके शरणागत होनेकी उन्हें क्या आवश्यकता थी? वार्ता लेखककी यह मिथ्या कल्पना है।

हाँ, उनके आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि—सम्वत् १५१७ से १६६७ तक श्रीनागाजी इस धराधामपर विद्यमान रहे होंगे। क्योंकि सम्वत् १५३७ में प्रादुर्भूत होकर श्रीवल्लभाचार्यजीने यदि बीस वर्षकी अवस्थामें भी व्रजकी यात्रा की होगी, तो उस समय ४० वर्षकी अवस्थावाले श्रीनागाजीका प्रादुर्भाव-समय १५१७ सिद्ध होता है और वार्ताओंके लेखकके मतानुसार डेढ़-सौ वर्ष नागाजीकी आयु रही हो, तो उन्होंने १६६७ सम्वत् तक व्रज-मण्डलमें प्रत्यक्ष-वास किया होगा। इस प्रकार वार्ता-ग्रन्थोंसे ही सिद्ध होता है कि श्रीवल्लभाचार्यजीसे पहले सारे व्रज-मण्डलमें श्रीनागाजीका बोलबाला था। हजारों सन्त उनके साथ रहते थे और उस समय (वि० १५५७) तक श्रीराधावल्लभीय, श्रीवल्लभ और श्रीचैतन्य इन सम्प्रदायोंके नामका भी व्रज-मण्डलमें किसीको पता नहीं था। क्योंकि यह निर्विवाद सिद्ध है कि सम्वत् १५३५ के पश्चात् ही इन सम्प्रदायोंके प्रवर्तकोंका प्रादुर्भाव हुआ था। श्रीनाथजीकी सेवा भी पहले नागाजी ही करते थे, उन्हींसे श्रीवल्लभाचार्यजीको वह प्राप्त हुई थी, यह मान्यता भी उन्हीं वार्ता-ग्रन्थोंसे निर्धारित होती है।

---

* श्रीवल्लभाचार्यजीकी बैठकोंका चरित्र, गोवर्धनदास लक्ष्मीदास द्वारा सम्पादित, एन० डी० मेहता कम्पनी लक्ष्मी-विलास छापाखाना बम्बईमें सम्वत् १९५९ में मुद्रित संस्करण पृ० १६३, १६४, १६५।

उपर्युक्त सम्प्रदायोंके मुख्य प्रवर्तक दर्शन एवं साधना करनेके उद्देश्यसे ही यहाँ व्रज-मण्डलमें आये और उन्होंने इसी उद्देश्यसे यहाँ निवास किया। किन्तु उनके परवर्ती अनुयायियोंका उत्तरोत्तर स्व-सम्प्रदायका प्रचार ही लक्ष्य बनता गया। थोड़े बहुत रूपमें सभी परवर्ती सम्प्रदायोंकी पुस्तकोंमें ऐसा देखा जाता है कि अपने सम्प्रदायके प्रचारार्थ कई प्रकारके ऐसे उपाय उन्होंने अपनाये हैं जिनसे कि पहलेसे व्याप्त सम्प्रदायोंकी अपेक्षा अपने सम्प्रदायका उत्कर्ष अधिक व्यक्त हो सके।

इस सम्बन्धमें चैतन्य (गौड़ीय) सम्प्रदाय-सम्बन्धी थोड़ा विमर्श भक्तमाल छप्पय ७४ की आलोचनामें किया जा चुका है। यह आलोचनीय कवित्त कब किसके द्वारा गढ़ा गया, यद्यपि इस बातका पता लगाना कठिन है, किन्तु प्राचीन हस्त-लिखित भक्तमालकी पुस्तकोंको देखनेसे पता चलता है कि उस कवित्तका उत्तरोत्तर पाठ-परिवर्तन किया गया है और उसमें वीभत्सता बढ़ानेका ही प्रयत्न दिखाई दे रहा है। पुरातत्त्व-मन्दिर जोधपुर (राजस्थान) के हस्तलिखित भक्तमालकी पुस्तकोंके आधार पर यहाँ उसके क्रम विकास पर थोड़ा दिग्दर्शन करा देना उचित है—

वि० सं० १८०७ की लिखी हुई (ग्रन्थ संख्या ६०५४) प्रतिमें उस कवित्तके तीसरी तुकका पाठ इस प्रकार मिलता है—

"सेवा कै रिझाये तातैं प्रेम उर नित नयो गयो घर बन बधू कृपा करि लीजिये।"

ग्रन्थ सं० ११५६२ में लिपि-काल नहीं दिया है, उसमें 'गयो' के स्थानमें 'दयो' ऐसा पाठ बदला गया है। ग्रन्थ सं० ६५७१ लिपि-काल १८६४ 'वाली प्रतिमें' उस तुकका 'देख्यौ अंग संगको प्रभाव सो रिझाये जातें प्रेम उर नित नयो दयो घर०' ऐसा रूप बन गया है। इस पुस्तकमें आलोचनीय कवित्तके पश्चात् उसीसे संलग्न रसखानका यह सवैया लिखा हुआ है—

डोलत है एक तीरथमें एक न बेद पुरान पढ़ौ है।
एक लगे जपमें तपमें एक सिद्ध समाधिनमें अटके हैं॥
भूलि गये रसखानि सबै ये मूढ़ महा सगरे भटके हैं।
साँचे हैं वे जिन आपन पो यह साँवरो ग्वाल ही बाल हके हैं॥

इस सवैयेके साथ-साथ ही आगे 'सीखे व्याकरण कोश०' इत्यादि पाठवाला एक कवित्त है। तत्पश्चात् 'श्रीगोविन्द चन्दजूको भोर ही' यह कवित्त है। इस प्रतिमें प्रियादासजीकी टीकाका ऐसा रूप मिलता है। ग्रन्थ सं० ११५४४ की प्रतिमें उस तुकके उपर्युक्त पाठ पर हरताल फेर कर उसके नीचे— 'देख्यो उरकाय अंग संगको लुभाव भयो' ऐसा पाठ बनाया गया है। इस पुस्तकमें लिपि-सम्वत् नहीं दिया गया है, किन्तु लिपिके आधारपर यह १८५० से पूर्वकी ही लिखी हुई जँचती है। इसकी अन्तिम पुष्पिका शोधमें विशेष सहायक हो सकती है। वह इस प्रकार है—

माघ मासे सिते पक्षे द्वादश्यां तिथौ गुरुवासरे पुस्तक सम्पूर्ण। लिखितं वैष्णव चरणदास ग्राम छपिया श्रीहरिमन्दिर मध्ये। श्रीकृष्णचैतन्यो जयति। ॐ।

इससे स्पष्ट होता है कि इस प्रतिका लेखक अवश्य ही कोई गौड़ीय वैष्णव था।

श्रीसर्वेश्वर कार्यालयमें भी १७७२ तककी हस्त-लिखित कई प्रतियोंका संग्रह किया गया है। उनमें भी इसी प्रकार उस कवित्तके पाठ-भेद और बहुत अन्तर मिलता है, किन्तु यहाँ उनका उदाहरण न देकर

राजकीय-संग्रहालयकी प्रतियोंका ही उदाहरण देना उचित है। यद्यपि वहाँ और भी बीसों प्रतियाँ हैं, किन्तु उपर्युक्त दो प्रतियोंके उदाहरण ही पर्याप्त हैं।

ग्रन्थ सं० ६५७१ वाली प्रतिमें श्रीप्रियादासजीके निश्चित दो कवित्तोंके पूर्व एक कवित्त, एक सवैया और फिर एक कवित्त, इस प्रकार जो तीन छन्द अधिक हैं, उनमेंसे रसखानकी छापवाला एक सवैया ही यह निर्णय कर देता है कि इस सवैयाके पूर्व और परवर्ती दोनों ही कवित्त श्रीप्रियादासजीकी रचना नहीं है और न उनका श्रीनागाजीको जीवनीसे ही कोई सम्बन्ध है। ज्ञात होता है, श्रीनागाजीकी श्रीयुगल किशोरमें अनन्य-रतिके उदाहरणके लिये जैसे रसखानका सवैया किसीने वहां संग्रह किया है वैसे ही प्रकार उनकी गुरुदेवके प्रति निष्ठाका उदाहरण दिखानेके लिये पहला कवित्त कहींसे संग्रह किया गया होगा और हरि-गुरु-रति-रहित व्यक्तियोंको धिक्कारनेके लिये तीसरे कवित्तका संग्रह किया होगा जिसे किसी लेखक ने संकेत दे कर टिप्पणीके रूपमें लिखा होगा; किन्तु आगे चल कर वे तीनों छन्द भी मूल टीकाके रूपमें ही लेखकोंने सम्मिलित कर लिये होंगे।*

श्रीप्रियादासजीने अपनी इस टीकामें एक भी सवैया छन्द नहीं लिखा है और उसमें रसखानकी छाप भी स्पष्ट है। अतः ज्ञात होता है कि कुछ लेखकोंने उस सवैया और उसके आगेके एक कवित्तको तो निकाल दिया है और सवैयासे पूर्ववर्ती कवित्तको प्रियादासजीकी ही रचना मान कर रख लिया है। फिर वही पाठ परम्परा प्रचलित होगई होगी।

उस समयकी गौड़ीय और निम्बार्कीयोंकी वैमत्य-स्थितिके आधार पर कुछ समीक्षक यह भी अनुमान लगाते हैं कि प्रियादासजीने उस कवित्तकी रचना न की है, बल्कि उस पक्षके किसी अन्य व्यक्तिने बनाकर उसे सम्मिलित कर दिया हो। अथवा कदाचित् प्रियादासजीने ही यह कवित्त रचा हो तो उस कवित्त को मध्यवर्ती दो तुकोंका पूरा पाठ ही बदल दिया होगा। तीसरी तुकका पाठ भेद मिलनेसे यह अनुमान भी पुष्ट होता है। उपर्युक्त ११५४४ संख्या वाली प्रतिकी पुष्पिकासे भी इस धारणाको बल मिलता है।

जो कुछ भी हो, जिस बीभत्स रूपसे आज वह कवित्त जिन प्रतियोंमें मिलता है, आदरणीय नहीं हो सकता। अन्य भक्तमालोंसे और भक्तमालके संस्कृत-अनुवादवाली पुस्तकोंसे भी इस मन्तव्यकी पुष्टि होती है। उनके उद्धरण देखिये—

प्रियादासजीकी टीकाके पश्चात् सं० १७७७ में दादूपंथी राघोदासजीने भक्तमालकी रचना की है। उन्होंने नाभाजी और प्रियादासजीका आधार तो लिया ही है, इनके द्वारा संकलित भक्तोंके अतिरिक्त और भी बहुतसे भक्तोंकी गाथायें भी उन्होंने दी हैं। श्रीनागाजीके सम्बन्धमें उन्होंने दो छन्द लिखे हैं, पहले छन्दमें उस आलोचनीय कवित्तकी छायाका किसीको भ्रम न हो जाय, सम्भवतः इसीलिये उन्होंने निम्नांकित दूसरे छन्द-द्वारा स्पष्टीकरण किया है—

> **ब्रज भूमि सूं नेह रमें नित ह्वं चतुरो नगरूप अनूप है नागो।**
> **सनकादिक भाव चूकं नहीं दाव भक्तिकी नाव रहै चढ़ि यों सुख स्यंध समागो॥**
> **हरि सार अपार जपे रसना दिनरात अखंड रहै लिव लागो।**
> **राघो कहै घर आदि रह्यो जिनि छांड्यो नहीं अति ही बड़ भागो॥**

---

* सम्भव है, राघोदासजीने भी उस कवित्तकी छाया जो हो। उनके पहले छन्दसे ऐसा ही प्रतीत होता है, किन्तु उनके चित्तमें वह कल्पना नहीं जँची होगी, अतः दूसरे छन्द-द्वारा उसका यह स्पष्टीकरण किया होगा।

इस छन्दमें राघोदासजीने उन्हें सनकादिकोंके भावमें अचूक रहने वाला बतलाया है जिससे स्पष्ट होता है कि नागाजीने आजीवन नैष्ठिक व्रतका पालन किया था। फिर नई रूपवती तियाको गुरुकी सेवा में लगाना और उनके अङ्ग-सङ्गका लगाव होना, यह सम्भव ही नहीं हो सकता।

श्यालवालने भी अपने पूर्ववर्ती लेखकोंका आधार लेकर ही सं० १८०६ में एक भक्तमाल रची थी। उनका वह ३६४ वां पूरा छप्पय यह है—

राम रूप गुर सन्त प्रथम दासातन कीनी, घर श्री अर्पण सोंप आप निरञ्जन पद लीनी।
उनमुन प्रेम प्रचण्ड दिवस तीनों वरतायो, भगवदपरसण होय आप पय आन पिलायो॥
कुंज-कुंज परसा-परस सांमी सेवक एकजन, जग वसतर सैं नगन हुय चतुरी नागो मगन मन॥

श्रीबालकरामजीने सं० १८३३ में भक्तमालकी जो टीका लिखी है वह प्रियादासजीकी टीकासे विस्तृत है, किन्तु उन्होंने इस सम्बन्धमें इतना ही लिखा है—

"हुतौ अगृह गृहमें जेता, गुरुकौं अर्पण कीन्हों तेता।"

श्रीबालकरामजीने प्रियादासजीकी टीकाके अनुसार ही इस छप्पयका अर्थ किया है। यदि यह कवित्त भी उन्हें उपलब्ध होता तो वे भी वैसा ही अनुवाद करते, तिया-अर्पणवाली बातको क्यों छिपाते?

उन्होंने अपनी इस टीकामें व्रजवासियोंसे दूध लेनेकी कथाका विशेष वर्णन किया है—

सन्त वृन्द पथि रहत सदाई ❀ व्रजमण्डल कूं लियो चिताई।
मांगत आप मरनि पै दूधहि ❀ जो न देवें तो ठानें रूधहि॥
तो परि जायें दूध मैं कीरा ❀ अर्थ जानि देत सब छीरा।
जो पय पात्र लुकावें कोई ❀ ढूंढि लेत स्वामी जित होई॥
दुरगम ठौर रहै नहिं छानी ❀ सब अजरच मानें सब प्रानी।
वरसण आवें भेंट चढ़ावें ❀ संत खीर पावें गुण गावें॥
नगन मगन हरि लगन में, नगरण भगरण फल जास।
पावत गावत संत सब, आवत अज हूँ वास॥

मालूम होता है, श्रीबालकरामजीने प्रियादासजीकी टीकाके आधारके अतिरिक्त व्रजमें घूम-घूमकर व्रजवासियोंसे भी श्रीनागाजीकी महिमा सुनी होगी और साधु सन्तों द्वारा दूध लूटनेवाली लीलाका उन्होंने दर्शन किया होगा एवं जन-जनके मुखसे उन्होंने यह लोकोक्ति सुनी होगी—

नीमारकके वंशमें नागाजी महा सिद्ध। व्रज दूलहकी छाप धर दूध पूत अध अद्ध॥

कहा जाता है कि उस समय व्रजकी जनता आधा दूध और आधे पूत नागाजीको भेंट करती थी। यही कारण है कि श्रीनिम्बार्क-सम्प्रदायमें श्रीनागाजीकी परम्पराके विरक्त-सन्तोंकी संख्या अधिक है।

जयपुर-नरेश महाराजा ईश्वरीसिंहजीके आदेशानुसार एक विद्वानने भक्तमालका संस्कृत-भाषामें श्लोकबद्ध अनुवाद किया था। उसमें श्रीनागाजीका इतिवृत्त इस प्रकार दिया गया है—

सदा भवे भक्तजनानुरक्तहृत्-स्वभाव-सम्पोषित-भक्त-मण्डलः।
......वनौ श्री मथुरा परे वसन्, समस्तसन्तोषण-कर्मतत्परः॥४५॥

❀ संस्कृत भक्तमाल, जीर्ण प्रति पृ० ४१। इसमें जहाँ तहाँ अक्षर कट गये हैं।

हर्त्तसमाराधनमात्र संधितः, प्रमोदवः श्री हरदेवपादुकः ।
प्र···शवाचा मधुरो महामतिः, सर्वं सदा भक्तजनानुरागी ॥५६॥
हरिजनसुख साधनकृत्······सद्भि······र्तैर्महद्भिरेव जनैः ।
निरुपमसौ विस्तारित--विशद यशाः श्री गुरुः स्वामी ॥५७॥
चतुरो नाम्ना नग्नः प्रेम······सिन्धु---रस---मग्नः ।
अनवरत भजनहित कृत्, जयति तरां साधु–सम्मतो लोके ॥५८॥

बहुतसे सज्जनोंने विशेष ऊहापोह न करके जैसा पाठ मिला उसका अनुवाद या भावार्थ भी वैसा ही लिख डाला है। अतः मराठी, बंगला, गुजराती आदि प्रान्तीय भाषाओंमें अनूदित और कुछ संस्कृत-अनुवाद वाली पुस्तकोंमें भी उसी अन्ध-परम्पराने ही स्थान प्राप्त कर लिया है।

वास्तवमें अत्यन्त अतिशयोक्तियाँ, महापुरुषोंके चरित्रको विकृत बना देती हैं। अतः इस प्रस्तुत छप्पयकी टीकाके रूपमें श्रीप्रियादासजीके उपर्युक्त दो ही कवित्त ग्राह्य और उचित हैं।

विशेष-वृत्त—श्रीनिम्बार्क-सम्प्रदायके महापुरुषोंमें श्रीस्वभूरामदेवाचार्यजी एक आदर्श भगवद्-विभूति हो गये हैं। उनकी कथा इस अङ्क के पृष्ठ ६०६ पर संक्षिप्त रूपसे उल्लिखित है। उनके प्रशिष्य श्रीपरमानन्ददेवाचार्य एक बार कुरुक्षेत्र, हरियाणा आदि प्रदेशोंका भ्रमण करके व्रज-मण्डल पधारे और श्रीनागाजीकी जन्म-भूमि पैंगांवके सन्निकट की एक बनीमें विराजे। कदम-वृक्ष अधिक होनेके कारण उसे कदमखंडी कहते हैं। उनके दर्शनार्थ पैंगांवके सभी नर-नारी आते थे और कथा-कीर्तन-सत्सङ्गका लाभ उठा लेते थे।

दीक्षा और विरक्ति—श्रीचतुरानागाजी यद्यपि उस समय किशोर-वयस्क ही थे, तथापि भगवद्भागवतोंमें उनका बहुत अनुराग रहता था। वे श्रीपरमानन्ददेवाचार्यजीकी बड़े प्रेमसे सेवा करते थे। एक दिन चरण-सेवा करते समय उन्होंने विरक्त-दीक्षा लेनेकी अभिलाषा प्रकट की, किन्तु श्रीपरमानन्द-देवाचार्यजीने यह कहकर टाल दिया कि—"अभी तुम बालक हो, पढ़ो-लिखो, माता-पिताकी सेवा करो और गृहस्थ-धर्ममें रहते हुए ही प्रभुका भजन करो।" नागाजी उस समय तो मौन हो गये, किन्तु दूसरे-तीसरे दिन फिर वही प्रार्थना की।

कहा जाता है कि उनकी जन्म-कुण्डलीमें अल्पायु योग था जिससे उनके माता-पिता चिन्तित रहा करते थे और नागाजीको भी यह ज्ञात हो गया था।

एक बार स्वप्नमें उन्हें प्रभुसे ऐसी प्रेरणा मिली—"मेरी भक्ति और मेरे भक्त असम्भवको भी सम्भव कर देते हैं। संसारमें फँसे रहना ही मृत्यु है और इस दुःख-पंकसे निकल जाना ही मुक्ति एवं अमरत्व है। अतः तुम भी सांसारिक मोह छोड़कर गुरुकी शरण ले लो। सन्तोंके समागमका सौभाग्य बड़े भाग्यसे ही मिलता है"।

इस स्वप्नका आदेश उनके चित्तमें जम गया, अतः प्रातः उन्होंने अपने माता-पित.को भी वह समस्त वृत्तान्त सुना दिया। माता-पिता भी सहमत हो गये। सब मिलकर श्रीपरमानन्ददेवाचार्यजीके सन्निकट पहुँचे और अनुरोध किया। उनके अनुरोधको मानकर उन्होंने चतुरानागाजीको विरक्त-दीक्षा प्रदान कर दी। फिर नागाजी उनकी सेवामें ही रहने लगे।

जब श्रीपरमानन्ददेवाचार्यजी हरियाणाकी ओर प्रस्थान करने लगे तब नागाजी भी गुरुदेवके साथ हो लिये। अपने गुरु-स्थान "ओमों" पहुँच कर भगवद्-भागवत् सेवा-पूर्वक प्रभुकी आराधना करते रहे। वहाँ गौ बहुत थीं। आप भी गायोंके लिये घास लाते और उनको चराते थे। किन्तु प्रभु का चिन्तन निरन्तर इस प्रकार करते रहते थे कि उन्हें अपने सिरपर रखे हुए घासके भाराका भी ध्यान नहीं रहता था।

किसी एक दिनकी घटना बतलाई जाती है कि आप मन्त्रका जप और प्रभुका ध्यान करते हुए चले आरहे हैं और मस्तकपर रखा हुआ घासका भारा अपने आप ऊपर-ऊपर चला आरहा है। देखने वालोंने विस्मित होकर इसकी चर्चा गुरुदेवसे भी कर दी, तब गुरुदेवने इनसे कहा—"अब तुम जाओ और निरन्तर ब्रजमें ही रहो।

गुरुदेवकी आज्ञानुसार आप ब्रजमें आ गये और प्रति-दिन ब्रज-परिक्रमा करने लगे। प्रभुका साक्षात्कार हुआ। प्रभुने स्वयं उन्हें दूध पिलाया और उनका अल्पायु योग टल गया। ब्रजवासियोंके घरोंसे दूधलेने वाली आपकी प्रसिद्ध कथाका उल्लेख पहले हो चुका है।

आपकी महत्त्व-पूर्ण और प्रसिद्ध गाथा श्रीयुगलकिशोर द्वारा जटा सुलझानेवाली है, जिसकी ब्रजके गाँव-गाँव और घर-घरमें प्रसिद्धि है। उस कथाके द्योतक ऐसे चित्र भी मिलते हैं जो सैकड़ों वर्ष पुराने हैं। पता नहीं भक्तमालकी टीका करने वालोंने उसपर विशेष प्रकाश क्यों नहीं डाला? संक्षेपमें वह कथा इस प्रकार है—

एक दिन आप ध्यान-मग्न ब्रज-परिक्रमा कर रहे थे, लम्बी-लम्बी जटायें चारों ओर फैल रही थीं। अचानक वह एक हींसके पेड़की टहनियोंमें उलझ गईं। आप खड़े रह गये। जब गोप-बालकोंने देखा और उसे सुलझानेके लिये तैय्यार हुए तो नागाजीने यह कहकर उन्हें रोक दिया—"जिसने उलझाई हैं, वही सुलझावेगा।" दिन बीता और रात भी बीत गई, किन्तु आप वैसे ही ध्यान-मग्न खड़े रहे, जैसे कोई ऊर्ध्ववरी तपस्वी खड़ा हो। तीन दिन और तीन रात बीत गये, परीक्षा पूर्ण हुई। अपने व्रतपर अटल रहनेवाले प्रिय-भक्तकी जटा सुलझानेके लिये स्वयं श्यामसुन्दरको आना पड़ा, किन्तु जब उन्होंने जटाको हाथ लगाया तो नागाजीकी समाधि खुली और जब उन्होंने देखा कि अकेले श्यामसुन्दर हैं, तो उन्हें भी रोक दिया।

प्रभुने पूछा—'क्यों?' उन्होंने उत्तर दिया—"क्या पता आप कौन हैं? ऐसा बनावटी वेष-धारण करके कोई और भी आ सकता है। श्रीकिशोरीजीके बिना श्रीश्यामसुन्दरके स्वरूपकी न पहिचान है, न शोभा, न पूर्णता ही और न वे कभी उनके बिना रह ही सकते।"

ऐसा दो टूक जवाब सुनकर प्रभु भी प्रमुदित होगये उसी क्षण श्रीकिशोरीजी प्रकट हो गईं और दोनों श्रीलाड़िलीलालजी नागाजीकी जटाको सुलझाने लगे। अपने उपास्यदेवकी अनुपम रूप-माधुरीके रसामृतको पीते-पीते नागाजी समाधिस्थ होगये। क्षणभरमें अपार अनन्त-संसारकी समस्याओं को सुलझानेवाले युगलकिशोरको जटा सुलझानेमें कितना समय लगता, वह एक अनिर्वचनीय आनन्द का क्षण था।

ब्रज-मण्डलमें अनेकों स्थलोंपर श्रीनागाजीके स्मारक, मठ-मन्दिर और आश्रम बने हुए हैं, उनके

सहस्रों शिष्य-प्रशिष्योंने भारतमें भ्रमणकर धर्मका प्रचार किया। गोवर्धनमें गोविन्दकुण्डपर एक मन्दिर और आपकी समाधि बनी हुई है। वृन्दावन-विहारघाट और भरतपुरके किलेमें आपके प्राचीन मन्दिर हैं।

आपकी दैनिन्दिनी ब्रज-प्रदक्षिणा-पद्धतिके अनुसार वार्षिक व्रज-परिक्रमा होने लगी, जो श्रीनागाजीके अनुवर्ती व्रजविदेही महान्तोंकी अध्यक्षतामें प्रतिवर्ष होती है, जिसमें सैकड़ों सन्त-महान्त और भावुक-भक्त सम्मिलित रहते हैं। यह परिक्रमा वृन्दावनसे भाद्रपद कृष्णा १० को आरम्भ होती है।

भरतपुर किलेके राज-मन्दिरमें आपकी मूर्ति भी प्रतिष्ठित है, वहाँपर श्रीनागाजीके पहननेकी पुरानी कंथा (गुदड़ी) भी सुरक्षित है। इनके दर्शनार्थ दूर-दूरके यात्री और अन्वेषक समय-समयपर पहुँचते हैं। उन्होंने पदोंकी भी रचना की थी। उनमें वे 'चतुरसखी' के नामकी छाप लगाते थे।

इनके अतिरिक्त मथुरा बैरागपुरा, कामवन, बरसाना, कदमखण्डी और वहीं पर नागाजीकी गुफा आदि दर्शनीय हैं भरतपुर नरेशोंकी 'ब्रजेन्द्र' और बिहारीजीके महन्तोंकी 'ब्रज दूलह' पदवी रही है,

जो महान्त नागाजीके परिवारमें परम्परागत ब्रज परिक्रमा करते हैं। वे ब्रज विदेही कहलाते हैं। सुदूरवर्ती भक्त भले ही अपरिचित रहे किन्तु ब्रजवासी भक्तोंके हृदयसे श्रीनागाजीकी अमर-कथा ओझल नहीं हो सकती।

मूल (छप्पय)

गोमा परमानँद (प्रधान) द्वारिका मथुरा खोरा।
कालख साँगानेर भलौ भगवान को जोरा॥
बीठल टोड़े खेम पँडा गूनोरै गाजैं।
स्याम सेनके बंस चीधर पीपार विराजैं॥
जैतारन गोपाल को केवल कूबै मोल लियौ।
माधुकरी माँगि सेवैं भगततिन पर हौं बलिहार कियौ॥१४६॥

अर्थ—श्रीनाभाजी कहते हैं कि मधुकरी माँगकर हरि-भक्तोंकी सेवा करने वाले सन्तों में अपना सर्वस्व निछावर करता हूँ ऐसे तेरह भक्तोंकी नामावली इस प्रकार है—

इस छप्पयकी टीकामें श्री रूपकलाजीने तेरह भक्त माने हैं। बालकरामजीने भी भक्तोंकी संख्या तेरह ही बतलाई है, उनमेंसे गोपानन्द, परमानन्द, भगवानदास और स्याम भक्त इन चार की उन्होंने कथा भी दी है। किंतु अवशिष्ट ९ के नाम नहीं बतलाए। श्रीप्रियादासजीने अपनी 'भक्त सुमिरनी' में प्रस्तुत छप्पयके भक्तों का नाम निर्देश "चतुरदास नागा रंग भगे" छप्पय १४८ के पश्चात् इस प्रकार किया है:—

गोमा परमानन्द जगमगे।
प्रधान द्वारका मथुरा खोरा। बीठल श्री भगवान को जोरा॥
चीधर श्याम सुखेम गोपाल। सन्तन सों करी रति प्रतिपाल॥
केवल कूबा सोवा साथ................

श्रीप्रियादासजी और ग्वालबालजीके इन सन्दर्भोंसे १० ही भक्त निश्चित होते हैं। यदि 'भक्त-सुमिरनी'के 'प्रधान द्वारका मथुरा खोरा'' इस तुकसे प्रधानजी और खोराजी भी दो भक्त मान लिए जाँय तो उनकी संख्या १२ हो सकती है। श्रीरूपकलाजीने ''चीधर पीपार विराजें'' नाभाजीकी इस तुकसे चीधर, पीपा दो भक्त माने हैं, किन्तु यह तो स्पष्ट भ्रान्ति ही है। वस्तुतः 'पीपा रविराजें' न हो कर यह पाठ 'पीपार विराजें' है। चीधड़ भक्तका गाँव पीपाड़ बतलाया गया है।

इस छप्पयमें बालकरामजीने भी भक्तोंकी तेरह संख्या किस आधार पर लिखी, इसका पता नहीं चलता।

इस छप्पयका श्रीग्वालबालजीने अपने छप्पय ३६५ में जो स्पष्टीकरण किया है वह इस प्रकार है—

प्रगट भगत मन बच क्रम गांव नीम जन वेमनो

कालऊ साँगानेर जुगल भगवांन विराजे।
गोमा परमानन्द द्वारका खोरा राजे॥
बीठल टोडै बास खेम गुनौरे परघट।
जैतारण गोपाल भाव परगट्यौं घट घट॥
चीघड़ियौ पीपाड़ थिग साम सेन-वंश, हरजना।
प्रगट भगत मन बच क्रम गांम नांम जिन वंदना॥

१-२ कालख और साँगानेरमें रहने वाले दोनों भगवान नामक भक्त, ३ द्वारकाके गोमानन्द, ४ खोरावाले परमानन्द, ५ टोडाके बीठलजी, ६ गुनौराके खेमजी, ७ जैतारणवाले गोपालभक्तजी, ८ पीपाड़वाले चीधड़जी, ९ सेनवंशीय श्याम भक्त, १० केवल कूबाजीका उन्होंने स्वतंत्र छप्पय (३६६) लिखा है। इतने ही नाम प्रियादासजीकी 'नाम सुमिरणी' में मिलते हैं। अतः तेरह नाम न हो कर इस छप्पयमें १० ही भक्तोंके नाम हैं।

इस छप्पयमें आए हुए गोमानन्दजी, परमानन्दजी, कालखके भगवानजी और श्रीश्यामजी इन चार भक्तोंके चरित्र बालकरामजीकी टीका भक्तदाम गुण चित्रनी (पत्र ४०४ से ४०६) के आधारपर नीचे दिए जाते हैं—

१—श्रीगोमानन्दजी—आप जहाँ-तहाँसे चुटकी माँगने जाते और इस प्रकार मिले आटेसे श्रद्धापूर्वक सन्त-सेवा करते थे। एक बार आपके यहाँ बीस संतोंकी एक जमात चली आई। गोमानन्दजी बोले—''आपकी जो आज्ञा हो सोही रसोई बनाऊँ, पर मेरे घर आटा तो भिक्षाका है—सब अनाजोंका मिला हुआ।'' सुनकर एक सन्त बोला—''हमको तो गेहूँकी रोटियाँ अच्छी लगती हैं।'' दूसरे सन्तोंने भी यही कहा, ''हम भी गेहूँकी ही पावेंगे।'' गोमानन्दजी बोले—''यह तो ठीक है, पर गेहूँका आटा तो मेरे पास केवल एक सेर है, आप जैसा आदेश करें वैसा करूँ।'' एक संत कहने लगा—''अच्छा जितना हो उतना ही ले आइए।''

किन्तु यह बात सब सन्तोंको स्वीकार नहीं थी। वे उठकर चल दिए। गोमानन्दजी ये कैसे देख सकते थे कि उनके यहाँसे सन्त निराश लौट जाँय। आप उनके पीछे दौड़े गए और प्रार्थना करके वापस बुला लाए। इसके बाद आप बाजारमें बनियाओंकी दूकानों पर गए और उनसे उधार सामान माँगा, किन्तु कोई चार दिनके लिए भी उधार देनेको राजी नहीं हुआ। आप बड़े असमंजसमें पड़ गए और इसके लिए व्याकुल होने लगे कि गेहूँका आटा कहाँसे लाया जाय।

भगवानने अपने भक्तकी जब यह दशा देखी तो उनसे रहा नहीं गया। गोमानन्दजी तो उधार बाजारमें टक्कर खाते फिर रहे थे और इधर भगवान गेहूँकी पोटली सिरपर रख कर गोमानन्दजीके वेशमें उनके घर आगए एवं गोमानन्दजीकी पत्नीसे बोले—"देखो, इन गेहूँओंको जल्दीमें साफ करके पीस डालो और रोटियाँ पोकर सन्तोंको प्रेमसे भोजन कराओ। मैं अभी आता हूँ।"

भगवान यह कह कर चले गए। उसी समय गोमानन्दजी बनियोंसे कोई काम बनता न देखकर खाली हाथों ही घर लौट पड़े। यहाँ आए तो देखा—पत्नीजी रोटियाँ बना रही हैं। आप बड़े प्रसन्न हुए और बोले—"अरे, यह आटा कहाँसे आया ?" पत्नीने जवाब दिया—"अभी तो आप देकर गए हैं, भूल बड़ी जल्दी जाते हैं।"

पत्नीकी बात सुनते ही श्रीगोमानन्दजी समझ गए कि यह भगवानने ही कृपाकी है। आपने रसोई कराकर सन्तोंको भोजन कराया।

श्रीपरमानन्दजी—आपको बार-बार महोत्सव करनेमें और सन्तोंको लाड़ लड़ानेमें एक अद्वितीय आनन्द मिलता था। इसलिए आप अक्सर महोत्सव करते रहते थे, किन्तु अधिक पैसा पासमें न रहनेके कारण उत्सव वैसे न हो पाते थे जैसे आप करना चाहते थे। इसके लिए आप भगवान को उलाहना देते हुए हँसी-हँसीमें कहते—प्रभो ! आप तो भिखारियोंके राजा हो, जब आपके ही पास नहीं, तो भिखारियोंके पास ही कहाँसे होगा ? इसीलिए आपके भक्तोंके पास धनका अभाव ही रहता है।"

भक्तकी ये बात सुन कर भगवान दो सौ मोहरें लेकर श्रीपरमानन्दजीके घर आए और उन्हें देने लगे। परमानन्दजी बोले—"आखिर ये मोहरें आप लाए किस लिए हैं ?"

भगवान—"बड़े चालाक मालूम पड़ते हो ! वैसे तो कहते हो कि भगवान कंगला हैं, उसके पास क्या रक्खा है, अपने भक्तको देनेके लिए ? और जबमें देता हूँ तो लेते नहीं।"

श्रीपरमानन्दजीकी आँखें यह सुन कर आँसुओंसे भर आईं। वे भगवानके चरणोंसे लिपट कर बोले—"यह सब तो मैंने हँसीमें कहा था।"

सुनकर भगवानका मन आनन्दसे भर गया। वे बोले—"हमसे झूठ क्यों बोलते हो, परमानन्दजी ? तुम्हारे मनमें जो उत्सव करनेकी अभिलाषा है उसे इस धनकी सहायता से पूरा करो और इसके अतिरिक्त जो चाहो सो माँग लो। आगेसे फिर कभी मुझे इस प्रकार उलाहना नहीं देना जैसा कि आज दिया था। मैं तो इसलिए तुमको धन नहीं देता था कि धन न रहने पर भी अपना सर्वस्व जब सन्त-सेवामें लगता है तब जितनी प्रसन्नता होती है उतनी केवल धनसे सन्त-सेवा करनेसे नहीं होती।"

भगवानके साथ इस वार्तालापसे भक्तवर श्रीपरमानन्दजीको जो आनन्द हुआ उसका वर्णन कोई नहीं कर सकता। उन्होंने भगवानके हाथसे धन ले लिया और बड़े उत्साहसे महोत्सव करके सन्त-सेवा की।

श्रीभगवानजी (कालख निवासी)—आप हरि-भक्तोंसे बड़ा प्रेम किया करते थे। दिन-भर भिक्षा माँग कर आप जो कुछ भी लाते उससे सन्तोंका सत्कार करते।

एक बार गाँवमें अकाल पड़ जानेसे लोगोंने आपको भिक्षा देना बन्द कर दिया। इस दशामें भी साधु-सन्त बराबर आपके यहाँ आते रहे और जब उनका यथोचित सत्कार नहीं होता था तो आपको बड़ा दुःख होता। इस पर आपने उस स्थानको छोड़ कर किसी दूसरे स्थान पर भाग जानेका निश्चय कर लिया। उसी दिन रातको आकाशवाणी द्वारा प्रभुने कहा—"तुम इस स्थानको छोड़कर कहीं मत जाओ। मैं तुम्हें धन दिए देता हूँ जिससे यथोचित सन्त-सत्कार करो।" आप बोले—"मुझे इस प्रकारसे धन नहीं

चाहिए। मेरी वृत्ति तो भिक्षा है। भिक्षा द्वारा जो मिलेगा मैं उसे ही ग्रहण कर सकता हूँ। प्रभुने उत्तर दिया—"यदि ऐसी बात है तो तुम यहीं रहकर भिक्षा करो, मैं तुम्हारी झोलीको आटेसे भर दिया करूंगा, पर तुम यहांसे जानेका तो नाम ही मत लो।"

आप प्रभुकी आज्ञाके अनुसार उसी स्थानपर रहे। वे आपकी झोलीको प्रतिदिन आटेसे भरने लगे और आपकी सन्त-सेवा निर्विकल्पसे चलती रही।

श्रीश्यामजी—सेन वंशके प्रदीप स्वरूप श्रीश्यामजी पहले गृहस्थाश्रम धर्म पालन करने वाले थे। एक बार कोई सिद्ध महात्मा आपके यहाँ आये और संत-सेवा करनेकी शिक्षा देकर बोले—"यदि इस मानव शरीरको सफल करनेकी अभिलाषा हो तो सन्त-सेवा करनेका व्रत आजसे ही ले लो।" आपने पूछा—"महाराज ! सन्त कैसे होते हैं ?" उन्होंने कह दिया—हमारे जैसे—जिनके गलेमें कंठी-माला हो माथे पर तिलक हो और भगवानके आश्रित हों। तुम हमारी बात मानो और आजसे ही ऐसे सन्तोंकी सेवा करना प्रारम्भ कर दो। घर-परिवार त्यागकर भिक्षा मांगो और देखो फिर कितनी जल्दी तुम सिद्ध होते हो—भगवान तुम पर रीझते हैं।" श्रीश्यामजी पर सिद्ध-सन्तका रंग ऐसा चढ़ा कि वे उसी दिन सब कुछ त्याग कर विरक्त होगए और सन्त-सेवा करने लगे।

एक बार आप भिक्षा मांगते हुए एक मकानमें गए। वहाँ उन्होंने देखा कि गृह-स्वामीका इकलौता बेटा मर गया है और परिवारके जन उसके लिए बड़े व्याकुल हो रहे हैं। छाती और सिर पीट-पीटकर करुण विलाप कर रहे हैं। श्रीश्यामजीको इस पर दया आगई उन्होंने भगवानका नाम लेकर बच्चेका जो स्पर्श किया कि वह जी उठा। रोते क्यों हो तुम्हारा पुत्र तो जिन्दा हो गया।

स्वामीजीका यह चमत्कार देखकर सभी लोग उनके पैरोंसे लिपट गए और उनका विशेष सम्मान किया। आप बोले—"इसमें मेरी कोई महत्ता नहीं है। ऐसी शक्ति तो प्रत्येक व्यक्ति श्रद्धापूर्वक सन्त-सेवा करके प्राप्त कर सकता है।" श्यामजीसे सन्त-सेवाका पाठ पढ़कर और उनका ऐसा चमत्कार देखकर न जाने कितने गृहस्थ भगवानके भक्त बन गए।

श्रीकूबाजी (केवलदासजी)

भक्ति-रस-बोधिनी

> कहत कुम्हार जग कुल निस्तार कियौ, 'केवल' सुनाम साधु-सेवा अभिराम है।
> आये बहुसंत, प्रीति करी लै अनंत, जाको अंत कौन पावे, ऐपै सीधौ नहीं धाम है॥
> बड़ी ए गरज, चले करज निकासिबे कों, बनिया न देत, "कुवाँ खोदो कीजे काम है"।
> कही बोल कियौ तोल लियौ नीके रोल,करि, हित सौं जिवांये जिन्हें प्यारो एक श्याम है॥५९६॥

अर्थ—केवलराम नामक प्रसिद्ध भक्तको लोग कुम्हार जातिका बतलाते हैं, पर आपने गुणोंके द्वारा अपने वंशको ही नहीं, वरन् सारे संसारको संसार-समुद्रसे पार उतार दिया। आप बड़े सुन्दर ढंगसे साधु-सेवा करते थे। एक दिन उनके घरमें बहुत-से संत आगए। आपने बड़े प्रेमसे उनके साथ व्यवहार किया, परन्तु घरमें अन्न तो था नहीं। सेवा कैसे करते ? और कुछ उपाय न देखकर आप बड़ी उत्कण्ठाके साथ महाजनोंसे कर्ज माँगने गये। बनियोंने साफ मना कर दिया। एक बोला—"यदि वायदा करो कि मेरा कुआँ खोद दोगे, तो मैं देता हूँ।" आपने वायदा कर लिया और सब सामग्री लाकर श्रीकृष्णके प्यारे भक्तोंको भोजन कराया।

भक्ति-रस-बोधिनी

गए कुंवा खोदिबे कों, सुवा ज्यों उचारें नाम, हुआ काम जान्यौ, वामें भयो सुख भारी है ।
आई रेत भूमि भूमि माटी गिरि दबे तामें, केतिक हजार मन होत कैसे न्यारी है ।।
सोक करि आये धाय, राम नाम सुनि काहू कान धरो, बीत्यौ मास कही बात प्यारी है ।
चले वाही ठौर स्वर सुनि प्रीति और धरे, रीति कछु और, यह सुधि-बुधि टारी है ।।५६७।।

अर्थ—श्रीकेवलरामजी, सन्तोंको विदा कर बनियाका कुँआ खोदने लगे । और खोदते में आप तोतेके समान भगवानका नामोच्चारण करते जाते । बनियाने जब देखा कि कुँआ काफी गहरा खुद गया है, तो वह बड़ा प्रसन्न हुआ । अकस्मात् ऐसा हुआ कि ज्योंही नीचे बालू मिली, त्योंही ऊपरसे हजारों मन मिट्टी खिसक पड़ी आप उसके नीचे दब गये । लोगोंने समझा कि ये मर गये और शोक करते हुए घर आगये ।

एक माह बाद उस कुएँके पाससे जाते हुए किसीने राम-नामकी ध्वनि सुनी और उसने यह शुभ समाचार लोगोंको सुनाया । गये लोग वहाँ । वही राम-नामका स्वर कुँएके अन्दरसे निकल रहा था । लोगोंकी प्रसन्नताका ठिकाना न रहा । ऐसे ही अपूर्व प्रेमसे वह नाम लिया जा रहा था । सुनकर लोग अपने आपको कुछ क्षणोंके लिये भूल गये ।

भक्ति-रस-बोधिनी

माटी दूर करी, सब पहुँचे निकट जब, बोलि कै सुनायौ 'हरि', बानी लागी प्यारियै ।
दरसन भयौ, आय पाँय लपटाय गये, रही मिहरावसी ह्वै कूप हू निहारियै ।।
धरयौ जल-पात्र एक, देखि बड़े पात्र जाने, आने निजगेह, पूजा लागी अति भारियै ।
भई द्वार भीर, नर उमड़ि अपार आये, महिमा विचारि बहु संपति लै वारियै ।।५६८।।

अर्थ—लोगोंने श्रीकेवलरामजीके ऊपर लदी हुई मिट्टीको जल्दीसे हटाया और वहाँ पहुँचे जहाँ आप बैठे थे । लोगोंको देखते ही आपके मुँहसे वही 'हरि' का नाम निकला । लोगोंको उनकी यह वाणी बड़ी प्यारी लगी । आपके उस हालतमें दर्शन कर लोग पैरोंमें पड़ गये । उन्होंने देखा कि भगवानकी कृपासे कुँएमें मेहराबके आकारकी एक गुफा-सी है । उसमें एक माह तक बैठे रहनेके कारण केवलरामजीकी पीठमें कूबड़ निकल आया था । आपके आगे जलका एक पात्र रक्खा था । यह इस बातका प्रमाण था कि आप भगवानके कितने कृपापात्र थे ।

बादमें सब लोगोंने केवलरामजीको कुँएके बाहर निकाला और उनके घर ले गये । अब तो आपकी बड़ी पूजा होने लगी । सैकड़ों मनुष्य आपके दर्शन करनेके लिये उमड़ पड़े और आपके घरके सामने मेला-सा लग गया । आपकी महिमाको ध्यानमें रखकर लोगोंने बहुत-सा द्रव्य आपकी भेंट चढ़ाया और गरीबोंको बाँटा ।

भक्ति-रस-बोधिनी

सुन्दर स्वरूप श्याम ल्याये पधरायबे कों साधु निज धाम, आय कूबाजू के बसे हैं।
रूप कों निहारि मन मैं बिचार कियो आप "करें कृपा मोकों प्रभु," अचल ह्वै लसे हैं॥
करत उपाय संत टरत न नेकु किहूँ, कह्यो जू अनंत हरि रीझे स्वामी हसे हैं।
धरचौ 'जानराय' नाम, जानि लई हीये की बात, अंग मैं न मात सदा सेवा-सुख रसे हैं॥५६९॥

अर्थ—एक बार एक सन्त श्यामसुन्दरकी मनोहर मूर्तिको अपने मन्दिरमें पधारने लिये जाते थे। मार्गमें वे कूबाजीके घरमें ठहरे। प्रभुके सुन्दर स्वरूपको सतुष्ट नेत्रोंसे देख कर कूबाजी के मनमें एक विचार आया और उन्होंने भगवानसे प्रार्थना की—"प्रभो! कृपा कर मेरे ही यहाँ विराजिये न।" भक्तके प्रार्थना करते ही प्रभु वहीं अचल होकर रह गये। सन्तजीने बहुत चेष्टा की, पर आप किंचित् भी टससे मस नहीं हुए। तब स्वामीजीने हँसकर सन्तजीसे कहा—"हरि अनन्त हैं, आपके उठाये नहीं उठेंगे। वे तो हमपर प्रसन्न होगए हैं और यहीं रहेंगे।"

भगवानने अपने भक्तके मनकी बात जान ली थी, अतः कूबाजीने ठाकुरका नाम 'जान-राय' रक्खा और उन्हें प्रेमसे अपने घरमें विराजमानकर सेवा-सुखका अनन्त आनन्द लेने लगे।

भक्ति-रस-बोधिनी

चले द्वारावति, 'छाप ल्यावैं,' यह मति भई, आज्ञा प्रभु दई फिरि घर ही को आये हैं।
"करौ साधु-सेवा, धरौ भाव दृढ़ हिये माँझ, टरौ जिनि कहूँ, कीजै जो जो मन भाये हैं"॥
गेह ही मैं संख चक्र आदि निज देह भये, नये नये कौतुक प्रगट जग गाये हैं।
गोमती सो सागर को संगाम रह्यौ सुन्यौ, सुमिरनी पठाय कै यों दोऊ लै मिलाये हैं॥५७०॥

अर्थ—एक बार कूबाजीके मनमें आई कि द्वारका जाकर शंख-चक्र आदि के चिन्ह धारण करके आवें। चल दिये आप, पर मार्गमें ही भगवानकी आज्ञा हुई 'कि कहीं जानेकी आवश्यकता नहीं है। घरपर ही रहकर अविचल भावनासे साधु-सेवा करो। तुम्हारी सब अभिलाषायें घर बैठे ही पूर्ण हो जायँगी।"

आज्ञा मानकर कूबाजी घर लौट आये। कुछ समय बाद घरमें रहते हुए ही आपकी भुजाओंमें शंख-चक्र आदि की मुद्रायें स्वतः प्रकट होगईं। यह चमत्कार देख सारा संसार आपका यश-गान करने लगा।

गोमती नदी और समुद्रके बीचमें बालुकामय प्रदेश है। समुद्रकी लहरें जब आती हैं, तो दोनोंका संगम एक स्थानपर होता है। एक बार ऐसा हुआ कि गोमतीकी तरफ लहरोंका आना बन्द हो गया। श्रीकेवलरामजीने यह सुना, तो भजन करनेकी अपनी माला वहाँ भेज दी। सुमिरनीके रखते ही समुद्रकी लहरोंने गोमतीको गोदमें भर लिया और यह संगम फिर पूर्ववत् चालू हो गया।

भक्ति-रस-बोधिनी

भये शिष्य शाखा, अभिलाषा साधु-सेवा ही की, महिमा अगाध जग प्रगट दिखाई है।
आये घर संत, तिया करत रसोई, कोई आयो वाको भाई, ताकों खीर लै बनाई है ॥
कूबाजू निहारि जानी वाकी हित सोदर सों, कीजियै विचार एक सुमति उपाई है।
कही "भरि ल्यावो जल," गई डरि कल पै न लई, तबमई सब भक्तनि जिमाई है ॥५७१॥

अर्थ—केवलरामजीके अनेक शिष्य हुए और उन शिष्योंकी अनेक शाखायें चलीं, परन्तु सब शिष्योंकी एक ही अभिलाषा रहती थी, और वह यह कि सब प्रकार साधुओंकी सेवा करें। कारण यह था कि केवलरामजीने अपने जीवन-कालमें सन्त-सेवा की अगाध महिमाको प्रत्यक्ष कर दिखाया था।

एक बार आपके घर कुछ सन्त-गण पधारे। उस समय आपकी पत्नी रसोई बना रही थी। दैवयोगसे उसी समय उसका भाई भी आ गया। भाईकी खातिर करनेके लिए स्त्रीने खीर बनाई, जबकि साधुओंके लिये साधारण ही भोजन बनाया गया था। कूबाजीने यह देखा, तो समझ गये कि उनकी पत्नीकी प्रीति अपने भाईके प्रति अधिक है। आपने तब सोच-विचार करके एक युक्ति निकाल। अपनी स्त्रीसे बोले—"तू जल ले आ।" स्त्री चली गई, पर उसे डर यही बना रहा कि महात्मा कहीं खीर सन्तोंको न खिला दें। आपने वही कर दिखलाया। उधर उसकी पीठ फिरी और इधर आपने सब खीर संतोंको परोस दी।

भक्ति-रस-बोधिनी

वेगि जल ल्याई, देखि आगि सी बराई हियें, झाँकै मुख भाई, दुख-सागर बुड़ाई है।
विमुख विचार तिया कूबाजी निकारि दई, गई पति कियौ और, ऐसी मन आई है ॥
परचौई अकाल बेटा बेटी सो न पाल सकै, तकै कोऊ ठौर मति अति अकुलाई है।
लिए संग करघौ जोई, पुत्र सुता भूख भोई, आय परी झौंपड़ा में, स्वामी कौं सुनाई है ॥५७२॥

अर्थ—कूबाजीकी पत्नी जल्दीसे जल लेकर लौटी, परन्तु जब उसने सन्तोंको खीर खाते देखा, तो आग बबूला हो गई। उधर भाईका मुँह भी फीका पड़ गया था। उसे देख कर वह दुखके समुद्रमें डूब गई। कूबाजीने अपनी पत्नीको संत-सेवासे विमुख जान कर घरसे निकाल दिया। स्त्रीने भी दूसरा पति कर लिया। उससे पुत्र-पुत्रियाँ भी हुईं।

एक समय दुर्भिक्ष पड़ा और कूबाजीकी स्त्री तथा उसके उप-पतिको बाल-बच्चोंका पेट भरना कठिन हो गया। वे किसी ऐसी जगहकी खोजमें थे जहाँ उन्हें आश्रय मिले। हालत ऐसी ही कुछ बुरी हो गई थी। अन्तमें हार कर भूखसे बिलबिलाते लड़के-लड़कियोंको साथ ले कर वह झोंपड़ा पहुँची और रो-रोकर अपनी दुःख-गाथा कूबाजीको सुनाने लगी।

भक्ति-रस-बोधिनी

नाना विधि पाक होत, संत आवैं जैसे सोत, सुख अधिकाई, रीति कैसे जात गाई है।
सुनत बचन वाके दीन, दुख-लीन महा, निपट प्रवीन मन माँझ दया आई है॥
"देखि पति मेरो और तेरो पति देखि याहि कैसे कै निबाहि सकै, परी कठिनाई है।
रहो, द्वार झारची करौ, पहुँचै अहार तुम्हैं, महिमा निहारि दृग धार लै बहाई है॥५८६॥

अर्थ––उधर कूबाजीकी पत्नीका परिवार भूखसे तड़प रहा था, तो इधर कूबाजीके यहाँ सन्त-लोगोंके आने-जानेका ताँता ऐसा बँध रहा था, जैसे किसी नदीका अविच्छिन्न प्रवाह। उनके स्वागत सत्कारके लिये रोज अनेक प्रकारके पकवान तैयार होते रहते थे। इस सबके कारण कूबाजीके यहाँ आनन्दका जैसा वातावरण रहता था, उसका वर्णन कैसे किया जा सकता है? कूबाजीका सेवा करनेका ढंग ऐसा ही अलौकिक था।

स्त्रीकी दीनता भरी करुण-गाथाको सुनकर कूबाजीका उदार हृदय पसीज उठा। दया करके बोले—"एक तो मेरे पति (भगवान) को देख जिनकी कृपासे यह सब आनन्द हो रहा है, एक अपने पतिको देख जो अपने बाल-बच्चोंका भरण-पोषण न कर सकनेके कारण मुसीबतमें फँसा हुआ है। अब तू बाहर पड़ी रह और दरवाजेके सामने झाड़ू दे दिया कर। तुम सबको खानेको मिल जाया करेगा।"

कूबाजीकी ऐसी दयापूर्ण महिमा देखकर स्त्री रोने लगी।

भक्ति-रस-बोधिनी

कियौ प्रतिपाल तिया पूरौ कौ अकाल मास, भयौ जब समै बिदा कीनी, उठि गई है।
अति पछितात, यह बात अब पावै कहाँ, जहाँ साधु-संग रंग सभा रसमई है॥
करैं जाको शिष्य, संत-सेवा ही बतावैं, "करौ जो अनन्त रूप गुन चाह मन भई है।"
नाभाजू बखान कियौ, मोकों इन मोल लियौ, दियौ दरसाय सब लीला नित नई है॥५८७॥

अर्थ––दुर्भिक्षका समय पूरा होने तक कूबाजीने स्त्रीके पूरे परिवारका पालन किया, अन्त में विदा कर दिया। वह भी (अपने पति और बच्चोंको लेकर) चली गई। वह मनमें पछताई, परन्तु बिगड़ी हुई बात अब कैसे बन सकती थी? कहाँ तो उसका दरिद्र जीवन और कहाँ कूबाजीका घर जहाँ सन्त-समाजका नित्य नवीन आयोजन होता था और जिसमें प्रेम-रसकी वर्षा होती थी।

कूबाजी जिस किसीको शिष्य करते, उसे सन्त-सेवाका उपदेश देते हुए यही कहते—"यदि तुम्हारे मनमें भगवानके रूप और गुणोंके प्रति उत्कण्ठा है, तो यही करो।"

टीकाकार श्रीप्रियादासजी कहते हैं कि श्रीनाभास्वामीजीने अपने छप्पयमें यह जो कहा है कि 'केवलरामके कूबाके हाथ मैं बिक गया', सो मैंने उन्हीं केवलरामजीके नये चरित्रका यहाँ वर्णन किया है। इससे पाठकोंको स्पष्ट हो जायगा कि आप सन्त-सेवाके लिये ही "कूबा" हुए।

विशेष—श्रीबालकरामकी टीका भक्त-दाम-गुण चित्रनी, पत्र ४०६ पर श्रीकेवलरामजीसे सम्बन्धित एक छप्पय और भी मिलता है। श्रीबालकरामने उसकी टीका भी की है और उसमें वर्णित समस्त चरित्र प्रियादासजीकी टीकाके समान ही है। छप्पय इस प्रकार है—

भयौ खीच की भात दास कौ धरम अपारा।
मृतिका कंचन थाम भए कीरति संसारा॥
बचन मानि कै सिन्धु गोमती संगम होई।
गेह रमा जुत राम रह्यौ इक बच्छर सोई॥
पगपग परचौ प्रगट्यौ जानि राय जग में जयौ।
तारण मरुधर-खंड कौ भक्ति धरम कूबें लयौ॥

मूल (छप्पय)

जंगी प्रसिध प्रयाग बिनोदी पूरन बनवारी।
नरसिंघ भक्त भगवान दिवाकर दृढ़ ब्रतधारी॥
कोमल हृदै किशोर जगत जगन्नाथ सलूधौ।
औरौ अनुग उदार खेम खीची धरमधी लघु ऊधौ॥
त्रिविध ताप मोचन सबै सौरभ प्रभु निज सिर धुजा।
श्री अग्र अनुग्रह तें भये शिष्य सबै धर्म की धुजा॥१५०॥

अर्थ—स्वामी श्रीअग्रदासजीके कृपापात्र ये निम्नलिखित १३ शिष्य* हुए—

१ श्रीजंगीजी, २ विख्यात प्रयागदासजी, ३ विनोदीजी, ४ पूरनदासजी, ५ बनवारी ६ नरसिंहदासजी, ७ भगवानदासजी, ८ भगवत्-भजनके नियमको दृढ़ता-पूर्वक पालन करने वाले दिवाकरजी, ९ जगत्में सरस हृदय वाले किशोरजी, १० जगन्नाथजी, ११ सलूधीजी, १२ अपने गुरु श्रीअग्रदेवजीका अनुसरण करने वाले उनके शिष्य उदारचेता-खींची वंशके खेम जी तथा १३ धर्ममें धीर रहने वाले लघु ऊधौजी, इत्यादि।

स्वामी श्रीअग्रदासजीकी कृपासे ये सब शिष्य भगवत्-धर्मकी पताकाके समान हुए। इन के मस्तक पर "सौरभ" अर्थात् श्रीअग्रदासजी स्वामीने अपना कर-कमल रक्खा जिसके फल-स्वरूप इन्होंने शरणागत जीवोंको तीनों तापोंके भयसे मुक्त किया।

ऊपरवाले छप्पयमें आए हुए भक्तोंमें-से केवल विनोदी और जंगी—दो भक्तोंका परिचय बालकरामजीने अपनी टीका भक्तदाम-गुण-चित्रनी (पत्र ४१०) में दिया है। उनका आशय नीचे दिया जाता है—

---

*बालकरामजी इस छप्पय में १३ भक्तोंका ही उल्लेख मानते हैं।

श्रीजंगीजी—आप बड़े प्रसिद्ध और पहुँचे हुए सन्त थे। एक बार भ्रमण करते हुए आप किसी स्थान-धारी महात्माके यहाँ पहुँचे। महात्माजी उस समय बड़े चिन्तित थे। बात यह थी कि स्थानके पास ही एक यवनका दुर्ग था। उसमें कुछ दिन पहले ही एक दूसरा सरदार आया था। वह चाहता था कि महात्माके स्थानको लेकर दुर्गका घेरा और बड़ा कर लिया जाय। इसकी सूचना भी उसने स्थान-धारी महात्माको देदी थी और कहला भेजा था कि वे जल्दीसे अपने रहनेको दूसरा स्थान देख लें।

स्थान-धारी महात्मा यह हाल जंगी-भक्तको बतला ही रहे थे कि यवन-सरदारके भेजे हुए सिपाही स्थान खाली करानेका पैगाम लेकर आ गए। जंगीजी उनसे बोले—"कह देना अपने सरदार से कि या तो कोई दूसरा ऐसा ही स्थल बनवाकर रहनेको दे, नहीं तो हम नहीं करते स्थान खाली।" भला अत्याचारी यवन इस प्रकारकी बातोंको माननेके लिये तैयार कब थे? उन्होंने आश्रमको तोड़ना-फोड़ना आरम्भ कर दिया। अब तो श्रीजंगीजी अपनी कला दिखानेके लिए विवश होगए। आपने जाकर किले की बाहरवाली दीवारपर जो एक आघात किया कि वह धराशायी हो गई। यह चमत्कार देख यवन सरदार-सहित आपके चरणोंमें आ पड़े।

श्रीजंगीजीने उनसे दंडके रूपमें प्रचुर धन लिया और उससे बृहद् समारोह करके साधुओंको प्रसाद पवाया।

श्रीविनोदीजी—एक बार मानसी-पूजा करनेके उपरान्त जब आपने आँखें खोलीं तो पास बैठे एक शिष्यने पूछा—"गुरुदेव! इतनी देरसे आप आँखें बन्द करके क्या कर रहे थे?"

गुरुजी बोले—"अभी प्रभुकी मानसी-पूजा करके चुका हूँ।"

"आपने चरणामृत तो दिया ही नहीं" शिष्यने कहा। श्रीविनोदीजीने पास रखे बर्तनमें से शिष्यको चरणामृत दे दिया। उसे पीते ही शिष्यकी आन्तरिक आँखें खुल गईं और फिर वह शिष्य प्रकाशदासजीके नामसे विख्यात हुए।

मूल (छप्पय)

अंगज परमानन्द दास जोगी जग जागै।
खरतर खेम उदार ध्यान केसौ हरिजन अनुरागै॥
सस्फुट त्यौला शब्द लोहकर बंस उजागर।
हरीदास कपि प्रेम सबै नवधा के आगर॥
अच्युत कुल सेवैं सदा दासन तन दसधा अघट।
भरतखंड भूधर सुमेर टीला लाहा की पद्धति प्रगट॥१५१॥

अर्थ—भरत-खंड-रूपी सुमेरु-पर्वतके शिखरके समान (१) श्रीटीलाजी भक्त हुए। टीलाजीके शिष्य (२) लाहाजी हुए जिनकी पद्धति—शिष्य-परम्परा परम प्रतापी हुई। लाहाजीके पुत्र संसार-प्रसिद्ध (३) श्रीपरमानन्दजी योगी हुए। अति उदार स्वभाववाले

(४) श्रीखरतरजी, (५) श्रीखेमजी, (६) श्रीध्यानदासजी, तथा (७) श्रीकेशवदासजी का हरि-भक्तोंमें महान अनुराग था। (८) श्रीत्यौलाजीने लोहार-वंशमें पैदा होकर अपनी जाति का यश प्रकाशित किया। (९) श्रीहनुमानजीके सेवक श्रीहरिदासजी नवधा भक्तिमेंकी उपासनामें प्रवीण हुए।

ये सब महात्मागण भगवान और सब भक्तोंके प्रति दासताका भाव रख कर अच्युतगोत्रीय वैष्णवोंकी सेवा करते थे और फल-स्वरूप अक्षय-भक्तिके अधिकारी हुए।

इस छप्पयमें आए हुए श्रीटीलाजी, श्रीलाहाजी, श्रीपरमानन्दजी और श्रीत्यौलाजी—इन चार भक्तोंका परिचय श्रीबालकरामजीकी टीका पत्र (४११-४१२) के आधारपर नीचे दिया जाता है—

श्रीटीलाजी—आप जातिके ब्राह्मण थे। एक बार जब आप अपने स्थानपर बैठे हुए थे तब एक सिद्ध सन्त आए और आपसे बोले—"हमारी दूध पीनेकी इच्छा है।" आप उसी समय गए और दूध लाकर सन्त को पिलाया।

आपके यहाँ एक गाय रहती थी। उसकी ओर इशारा करके सन्तने कहा—"क्यों टीलाजी ! जब आपके यहाँ गाय है तो बाहरसे दूध क्यों लाए ?" आप बोले—"महाराज ! यह बाँझ है, दूध नहीं देती।" सन्तने इसपर कहा—"लगता तो ऐसा है जैसे इसके थन दूधसे भरे हों। तुम जाकर देखो तो ?"

श्रीटीलाजी, सन्तकी आज्ञा थी इसलिए, गायके पास गए और उसका दूध दुहने लगे। उन्होंने देखा कि थनका स्पर्श करते ही उनसे झर-झर करके अमृतमय दुग्धकी धारा बहने लगी। अतिथि सन्तके आदेशसे श्रीटीलाजीने वह दूध पिया तो हृदय एक दिव्य प्रकाशसे भर गया और श्रीटीलाजी सिद्ध-सन्त हो गए।

श्रीलाहाजी—एक बार आपके गुरुदेव श्रीटीला-मन्दिरमें बैठकर मानसी-उपासना करते-करते गायोंका ध्यान आजानेके कारण गोशालामें भटक गए। जिस समय आपका मन गायोंके बारेमें सोच रहा था, उसी समय एक सन्त आए और लाहाजीसे पूछा—"तुम्हारे गुरुदेव कहाँ हैं ?" आपने कहा—"हम नहीं बतलाते हैं, किसी दूसरे से पूछ लो।" आगन्तुक सन्त दूसरे शिष्यसे पूछकर मन्दिरमें पूजा करते हुए गुरुदेवके पास गए और श्रीलाहाजीको उद्दण्डता कह सुनाई। गुरुदेवने आपको बुलाया और पूछा—"क्यों रे ! इन महात्माको बतलाया क्यों नहीं कि हम कहाँ हैं ?"

श्रीलाहाजीने कहा—"यदि आपकी आज्ञा हो तो सच-सच बतलाऊँ, कि क्या कारण था।" गुरुजी बोले—"बतलाओ।" तब आपने कहा—"सत्य बात तो यह है कि मैं कहाँ बतलाता ? आपका शरीर तो मन्दिरमें ठाकुरजीके सामने था और मन गोशाला में।"

अपने शिष्यकी इस चमत्कारमयी दृष्टिसे गुरुदेवको बड़ा आनन्द हुआ। उन्होंने शिष्यको बाहुओं में समेट कर छातीसे लगा लिया और आँखोंसे अविराम आँसुओंकी धारा बहने लगी।

श्रीपरमानन्ददासजी—जिस गाँवमें आप रहा करते थे उसमें एक बार बड़ा भयंकर अकाल पड़ा और लोग गाँव छोड़कर भागने लगे। आपने उन लोगोंको रोकते हुए कहा—"तुम लोग कहाँ

मत जाओ, यहीं रहो और अमुक स्थानपर बनी हुई खत्ती (अनाज-भण्डार) को खोद कर प्र निकाल लो।"

लोगोंने कहा—"वहाँ तो हमने खोदकर पहले ही देख लिया है। उसमें तो अनाजका एक दाना नहीं है।" आप बोले—"भाई ! तुम लोग पहलेसे ही क्यों मना करते हो ? जरा जाकर देखो तो सही।

गाँवके कुछ लोग वहाँ गए और निर्दिष्ट स्थानपर खुदाई की तो सचमुच अनाजका भण्डार भ पाया। तब भक्त लौटकर परमानन्ददासजीके पास आए और उनके चरणोंमें लिपट गए। श्रीबालकराम कहते हैं कि श्रीपरमानन्दजीके जीवनसे सम्बन्धित ऐसी चमत्कार-पूर्ण अनेक वार्ताएँ हैं जिनमें से यह केवल एकका ही वर्णन किया गया है।

श्रीत्यौलाजी—लोहार-जातिके श्रीत्यौलाजी भगवानके परम-भक्त थे। आप नाल ठोकनेमें च चतुर थे और प्रायः राजकुमारोंके घोड़ोंकी टापोंमें नाल जड़ा करते थे। एक बार ऐसा हुआ कि जब आप भगवानकी पूजा कर रहे थे, उसी समय एक सरदारका नौकर नाल लगानेके लिये आपको बुलाने आया। जब आप दो-तीन बार बुलानेपर भी नहीं गए तो सरदारको क्रोध आगया। उसने नौकरोंसे कह दिया कि त्यौलाको जबरन् बाँधकर हमारे सामने लाओ। इधर तो नौकर चले त्यौलाको लेने और उधर भगवान उसीका वेष बनाकर झट सरदारके सामने जा पहुँचे और उसके घोड़ेके पैरमें नाल लगाकर अन्तर्धान हो गए।

इस बार जब नौकर त्यौलाजीके मकानपर पहुँचे तो पता लगा कि वे अभी-अभी पूजा समाप्त करके सरदारके यहाँ ही गए हैं। वे लौट गए। उधर त्यौलाजी जब सरदारके पास गए और नाल ठोकने को घोड़ा माँगा तो सरदार बोला—"कहीं तुम्हारा माथा तो नहीं फिर गया है ? अभी तो नाल ठोकना गए हो और फिर चले आए।"

यह सुनते ही श्रीत्यौलाजी समझ गए कि यह तो भगवानकी ही करतूत है। आपने सरदार से कहा—"मालिक ! आप धन्य हैं जो आपको परम-पिता परमेश्वरके दर्शन प्राप्त होगए। मैं तो अभी आया हूँ। निश्चय ही पहिले भक्त-वत्सल भगवान ही आए होंगे।" इस रहस्यको सुनकर सरदार बड़ा प्रभावित हुआ और श्रीत्यौलाजीका विशेष सत्कार करने लगा।

मूल (छप्पय)

(श्रीकन्हरजी—विट्ठल-सुत)

चारि बरन आश्रम रंक राजा अन पावैं।
भक्तनि कौ बहु मान बिमुख कोऊ नहिं जावैं॥
बीरी चंदन बसन कृष्ण कीरतन बरखैं।
प्रभु के भूषन देय महामन अतिसय हरखैं॥
बीठल-सुत बिमल्यौ फिरै दास चरण रज सिर धरै।
मधुपुरी महोछौ मंगलरूप कान्हर को सौ को करै॥१५२॥

अर्थ—श्रीकान्हरजी मथुरामें जिन विशाल महोत्सवोंका आयोजन करते थे उनमें चारों वर्ण (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र) और चारों आश्रमों (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ वानप्रस्थ, संन्यास) के लोगोंको—चाहें वे राजा हों या रंक—अन्न मिलता था। इन उत्सवोंमें भक्तोंका ऐसा सम्मान होता था कि कोई भी व्यक्ति निराश होकर नहीं लौटता था। भगवानका कीर्तन करनेवाले समाजमें पानके बीड़े, चन्दन और वस्त्रोंकी वर्षा-सी होती थी। इस अवसरपर श्रीकान्हरजी मन में अत्यन्त आनन्दका अनुभव करते हुए समाजियोंको प्रभुके भूषण उतारकर निछावर कर देते थे। विट्ठलजीके सुपुत्र श्रीकान्हरजी, इस प्रकार, इन उत्सवोंमें संतोंकी चरण-रजको अपने मस्तक पर लगाते हुए प्रसन्नतापूर्वक एक भक्तसे दूसरे भक्तके पास घूमते फिरते थे। मथुरामें कल्याण-कारी ऐसे महोत्सव श्रीकान्हरजीको छोड़ कर और कौन कर सकता है ?

विशेष—श्रीनाभाजीने कन्हर नामका कई छप्पयोंमें उल्लेख किया है, जैसे:— छप्पय ३९ में पय-हारीजीके कृपापात्र कन्हरजी, छप्पय १०० में, भक्तपाल दिग्गज रथानाधिपति कन्हरजी, छप्पय ११७ में राजवंशी कन्हरजी, छप्पय १७१ में सन्तोंके कृपापात्र कान्हरदासजी, छप्पय १९१ में श्रीस्वभूरामदेवजी के कृपापात्र और बूढ़ियाके निवासी सुप्रसिद्ध कान्हरजी और प्रस्तुत छप्पयमें श्रीकेशवकश्मीरिभट्टजीका मथुरामें प्रतिवर्ष महामहोत्सव करनेवाले कान्हरजी। इनमें छप्पय ३९ और ११७ में आये हुए दोनों कान्हरोंके अतिरिक्त चारों छप्पयोंके कान्हरजी एक ही व्यक्ति प्रतीत होते हैं। उनकी विशेषताओंके अनुसार ही भिन्न-भिन्न छप्पयोंमें नामोल्लेख किया गया होगा। श्रीप्रियादासजीने चारोंमेंसे किसी भी छप्पयपर टीका नहीं की। श्रीबालकरामजीने १५२, १७१, १९१ इन तीनों छप्पयोंपर टीका लिखी है, किन्तु उन्होंने छप्पयके अक्षरार्थ और सन्त-सेवाके प्रसंगोंका ही स्पष्टीकरण किया है। छप्पय १०० में वर्णित कन्हरके सम्बन्धमें तो उन्होंने भी कुछ नहीं लिखा।

श्रीराघवदासजीने नाभाजीके १५२, १७१, और १९१ इन छप्पयोंका आशय क्रमशः अपने ३२५, ६७६ और ५८९ इन तीन छप्पयोंमें व्यक्त किया है।

कान्हर अंत उदार सुगम संत रीझ उज्यागर। मथुपुरी महोछौ प्रगट जस धिन हरजन जीवन सुगत ॥

....

कान्हर अंतउदार होय जग सु निरवाला। मांहि बारे एक मैंड माया भ्रम जाला ॥३७६॥

....

कान्हर आतम राम नेह परमातम सो रचौ।

परम धरम हर गुरु किया दरस परस जिव जन थिये। रामनेह जीवन सुफल धिन हरजन सो पन प्रिये ॥

ज्ञात होता है कि श्रीकन्हरदेवजीकी दयालुता, सरलता और उदारता से श्रीनाभाजी विशेष परि-चित थे और उनसे वे बहुत प्रभावित भी थे। कई दिनों तक वे उनके साथ रहे भी थे। श्रीरूपकलाजीकी धारणा है कि वि० सं० १६५२ में जब मथुरामें श्रीकान्हरजीका भण्डारा (महोत्सव) हुआ था, तो उसमें बहुतसे महानुभाव इकट्ठे हुए थे। उस समय सबोंने मिलकर नाभाजीका भी सम्मान किया था।* विशेष श्रद्धाभावके कारण ही भक्तमालकारने श्रीकान्हरदेवजीके सम्बन्धमें तीन पूरे छप्पय लिखे हैं और एक छप्पय (१००) में "भक्तपाल दिग्गज भक्तसुरधीर" स्थानाधिपोंमें उनके नामका उल्लेख किया है।

* श्रीरूपकलाजीकी टीका सहित भक्तमाल के पृ० ५६०, तृतीय संस्करण।

मूल (छप्पय)
(श्रीनीवाजी)

आवहिं दास अनेक ऊठि आदर करि लीजै।
चरण धोय दंडौत सदन में डेरा दीजै॥
ठौर ठौर हरि कथा हृदै अति हरिजन भावैं।
मधुर वचन मुँह लाय बिबिधि भाँतिन जु लड़ावैं॥
सावधान सेवा करैं निर्दूसन रति चेतसी।
भक्तनि सौं कलिजुग भलैं निबाही नीवा खेतसी॥१५३॥

अर्थ—श्रीनीवाजीके घरमें अनेक भगवद्-भक्त समय-समय पर आते रहते थे। आप उठकर उन सबका आदर करते, उनके चरण धोते और प्रणाम कर घरके अन्दर ले जाकर उन्हें ठहराते। आपको हरि-भक्त हृदयसे प्रिय थे। स्थान-स्थान पर आप हरि-कथाका आयोजन करते और अपने मुखसे भक्ति-युक्त मीठे वचन कह कर भाँति-भाँतिसे लाड़ लड़ाते थे। हृदयमें भक्तोंके प्रति निष्कपट प्रीति रख कर अत्यन्त सावधानीके साथ आप भक्तोंकी सेवा करते थे। इस रीतिसे श्रीनीवाजीने कलियुगमें भक्तोंके साथ उसी प्रकार प्रेम-पूर्ण व्यवहार किया जैसे किसान (विघ्न-बाधाओंका सामना करते हुए) अपने खेतसे करता है।

विशेष— भगवानके भक्तोंकी सेवा और खेतीकी तुलनाके आशयका एक दोहा देखिये—

हरिया हरि सों प्रीति कर, ज्यों किसान की रीति। दाम चौगुनो, ऋण घनो, तऊ खेत सों प्रीति॥

किन्तु श्रीबालकरामने 'खेतसी'को नीवाजीके पुत्रका का नाम मान करलिया है—

"सुनौ नीवा खेतसी की कथा दोई पिता पुत्र...... ।"

आगे उन्होंने इसके सम्बन्धमें एक चमत्कार-पूर्ण घटनाका भी उल्लेख किया है

—◦◦◦—

मूल (छप्पय)
(श्रीतूँवर भगवान)

यह अचरिज भयौ एक खाँड़ घृत मैदा बरषै।
रजत रुक्म की रेल सृष्ट सबही मन हरषै॥
भोजन रास बिलास कृष्ण कीरंतन कीनौ।
भक्तनि कौ बहु मान दान सब ही कौ दीनौ॥
कीरति कीनी भीम सुत (मधुपुरी) सुनि भूप मनोरथ आन के।
बसन बढ़े कुंतीबधू त्यौं तूँवर भगवान के॥१५४॥

अर्थ—यह बड़े आश्चर्यकी बात है श्रीभगवानदासजी तूँवर द्वारा किये गए एक महोत्सवमें खाँड़, घी, मैदा आदि भोज्य-सामग्री वर्षाके प्रवाहके समान इतनी बढ़ गई कि फैली-फैली डोली। और चाँदी-सोनेकी मुद्राएँ भी इस प्रकार हाथ खोलकर दी गईं कि सारे संसारके लोग देखकर चकित होगए कि इतना धन कहाँसे फट पड़ा। इस उत्सव में भक्तोंको भोजन कराया गया और उसके बाद रासलीलानुकरण और कीर्तनका कार्यक्रम चला। भक्तोंका खूब सम्मान किया गया और सबको आदर-पूर्वक दान-दक्षिणा द्वारा संतुष्ट किया गया। भीमजीके सुपुत्र श्रीभगवानदासजीने, इस प्रकार ऐसी कीर्ति की कि उसका वृत्तान्त सुन कर राजा लोग भी यह मनोरथ करने लगे कि कहीं ऐसा समारोह वे भी कर सकते। भगवानदासजी तूँवरके यहाँ महोत्सवमें सब वस्तुएँ इस तरह बढ़ीं जैसे कौरवोंकी सभामें द्रौपदीके वस्त्र।

भक्ति-रस-बोधिनी

बीतत बरस मास आवैं मथुपुरी नेम, प्रेम सों महोछौ रास हेम ही लुटाइयै।
संतनि जिमाँय, नाना पट पहिराय, पाछे द्विजन बुलाय कछु पूजैं पै न भाइयै॥
आयौ कोऊ काल, धन माल जा बिहाल भये, चाहैं धन पारचौ, आए "अलप कराइयै।"
रहे बिप्र रूपि, सुनि भयौ सुख, भूख बढ़ी, आयौ यौं समाज करी स्वारी मन आइयै॥५७५॥

अर्थ—भगवानदासजीका नियम था कि बारह माह बीतने पर मथुरामें आकर प्रेमसे एक विशाल महोत्सव, रास-लीला करते और सोना लुटाते थे। इस कार्य-क्रममें वे साधु-सन्तों को भोजन कराते थे। उसके उपरान्त ब्राह्मणोंको बुलाकर उनका भी आदर-सम्मान करते। इससे ब्राह्मण मन ही मन कुछ असंतुष्ट रहते थे।

दुर्भाग्यसे एक समय ऐसा आया कि भगवानजीकी आर्थिक दशा खराब होगई, सम्पत्ति निकल गई। ऐसी स्थितिमें वे अपने नियमका पालन करना चाहते थे। इसके लिये वे ब्राह्मणों के पास जाकर बोले—"थोड़ेसेमें ही करा दीजिए।" ब्राह्मण-लोग तो पहले ही से कुपित हो कर बैठे थे। उन्होंने जब तूंवरजीकी हालत देखी, तो मन ही मन बड़े खुश हुए। उनके लोभकी मात्रा बढ़ गई। वे चाहते थे कि सारे द्रव्यको आपस ही में बाँट कर खत्म करदें। उन्होंने सोचा, तूंवरजीकी बदनामी कराई जाय और उनका उत्सव बिगाड़ दिया जाय।

भक्ति-रस-बोधिनी

अति सनमान कियौ, ल्याये जोई सौंपि दियौ, लियौ गांठ बाँधि, तब बिनती सुनाइयै।
"संतनि जिवावौ, भावै रास लै करावौ, भावै जैवौ सुख पावौ, कीजै बात मन भाइयै॥
सीधौ ल्याय कोठै धरयौ, रोक हो सो थैली भरयौ, द्विजन बुलाय देत क्योंहू न घटाइयै।
जितनौ निकासैं ताते सौगुनौ बढ़त और, एक-एक ठौर बीस गुनौ है चढ़ाइयै॥५७६॥

अर्थ—मथुरा आकर भगवानजीने ब्राह्मणों-पंडोंको, जो कुछ साथ लाये थे, अत्यन्त आदर-

पूर्वक सौंप दिया और उनसे कह दिया—"जो कुछ है सो यही है। इससे आप लोग चाहे साधु-सन्तोंको भोजन करायें, या रास-लीला करायें, अथवा आप लोग ही सुखसे भोजन करें। जो मनमें आवे, वही करें।"

ब्राह्मणोंने नकदी अपने हाथ की, बादमें उससे सीधा-सामान खरीदा और एक कोठरीमें भर दिया। सामान खरीदनेसे बची हुई रोकड़को उन्होंने एक थैलीमें भर कर रख दिया। इसके बाद वे अपने वर्गके ब्राह्मणोंको बुला-बुलाकर देने लगे। उनकी नीयत यह थी कि ऐसा करनेसे तूंवरका सामान जल्दी खत्म हो जायगा और फिर इसकी बदनामी करेंगे। किन्तु भगवानकी ऐसी कृपा हुई कि जिस चीजको वे जितना निकालते थे उससे वह सौ गुनी बढ़ जाती थी। अब ब्राह्मणोंने एक-एक आदमीको बीस-बीस गुना देना शुरू किया, किन्तु माल फिर भी नहीं घटा।

भगवानदासजी तूंवरने परमार्थका यह पथ इसलिए ग्रहण किया था कि वे भौतिक सम्पत्तिकी असारताको समझकर बैठे थे—जानते थे कि लक्ष्मी तो प्रारब्धके अधीन है; आज है कल नहीं। प्रारब्ध में न होने पर कभी-कभी तो लक्ष्मीके लिये दिये गए वरदान भी निष्फल हो जाते हैं। इस प्रसंगको लेकर भक्तमाली विद्वान् नारदजी और ब्राह्मणका एक दृष्टान्त दिया करते हैं, जोकि इस प्रकार है—

दृष्टान्त—एक बार मृत्यु लोकमें भ्रमण करते हुए नारदजीने एक ब्राह्मण-परिवारको अत्यन्त दुर्दशामें देखकर भगवानसे प्रार्थना की कि उसकी दरिद्रता दूर करनेकी कृपा करें। भगवानने नारदजीको बतलाया कि ब्राह्मणके भाग्यमें सुख नहीं बदा है, अतः वे उसकी सहायता करनेमें असमर्थ हैं। नारदजी ने समझा, भगवान बहाना बना रहे हैं। बोले—"मैं यह सब माननेको तैयार नहीं हूं। नहीं देना है, तो साफ मना क्यों नहीं कर देते।"

नारदकी बात पर भगवान हँसे और बोले—"देखिये, वे तीन प्राणी हैं। मेरी आज्ञासे आप उनके पास जाइये और तीनोंको अलग-अलग वर माँगनेको कहिए।" नारदजीने ऐसा ही किया। सबसे पहले वे ब्राह्मणकी पत्नीके पास पहुँचे और अभीष्ट वर मांगनेको कहा। स्त्रीने कहा—"यदि आप वर देने आए हैं, तो ऐसी कृपा करिये कि मैं संसारकी स्त्रियोंमें सबसे अधिक रूपवती हो जाऊं।" नारदजी 'तथास्तु' कह कर चल दिए। गये थे वे दरिद्रता मिटाने, पर देना पड़ा सौन्दर्यका वरदान। परन्तु उन्होंने यह सोचकर संतोष कर लिया कि अभी तो पिता और पुत्र वर माँगनेके लिये बाकी हैं।

उधर नारदजी गए और इधर ब्राह्मणकी स्त्रीके रूपवती होनेकी खबर आगकी तरह चारों ओर फैल गई। राजाने जब यह सुना, तो बलात् उसे पकड़वा कर अपने अन्तःपुरमें रख लिया।

कुछ दिन बाद नारदजी ब्राह्मणके पास पहुँचे और वर माँगनेको कहा। ब्राह्मणने यह वर माँगा कि उसकी स्त्री अत्यन्त कुरूपा होजाय। नारदजीकी समझमें नहीं आरहा था कि यह क्या तमाशा होरहा है, पर करते क्या? लाचार थे। 'तथास्तु' कह कर अपना-सा मुँह लेकर लौट आये।

उधर राजाने ब्राह्मणीको कुरूप देखकर महलोंसे निकाल बाहर किया। निदान वह अपने पतिके

पास लौटकर गई, परन्तु वह इतनी कुरूप थी कि ब्राह्मणपर उसकी ओर देखाभी नहीं जाता था । कुरूपता का वरदान माँगकर ब्राह्मण अब पछता रहा था ।

कुछ दिन बाद नारदजी फिर पहुँचे और अबकी ब्राह्मण पुत्रसे वर माँगने को कहा । उसने यह वर माँगा कि मेरी माता पहिली–जैसी होजाय । नारदजी को फिर 'तथास्तु' कहना पड़ा ।

इस प्रकार नारदजी–जैसे महर्षिके वरोंका वे लोग लाभ नहीं उठा सके । नारदजी की समझमें आगया कि भगवानने ठीक ही कहा था ।

विशेष-परिचय—आपके सम्बन्धमें श्रीप्रियादासजीने जैसा परिचय दिया है उसीके अनुसार श्रीबालकरामजीने अपनी टीकामें उल्लेख किया है और उसी प्रकार श्रीदासबालजीने अपने भक्तमालके छप्पय ३६८ द्वारा पद्यानुवाद किया है ।

श्रीरूपकलाजीने इन्हें सेठ लिख दिया है और सेठ प्राय: वैश्योंको कहा जाता है, किन्तु श्रीभग-वानदासजी वैश्य नहीं थे, तुंवर (तँवर) क्षत्रिय थे । उनके पूर्वज पाटण (जीलोपाटण) से गाँवड़ी आ बसे थे । आपके पिता भगवानदासजी गाँवड़ीमें ही रहा करते थे । वे भी बड़े भावुक-भक्त थे । श्री-नाभाजीने छप्पय ९९ में जो सोम, भीम, सोमनाथ, बीको आदि नामोंका उल्लेख किया है उनमें कई नाम इसी राज-वंशके व्यक्तियोंके हैं । बीकोजी और भीमजी तो निश्चित ही हैं । यह क्षत्रिय-कुल जयपुर राज्यके उस प्रदेशमें बहुतसे गाँवोंमें फैला हुआ है। उनका एक भाग तँवरावटीके नाम से ख्यात है ।

गाँवड़ीसे पश्चिम की ओर तीन कोसकी दूरीपर भूदौली गाँवमें अपने एक कुटुम्बी घरानेमें भीमजी ने अपने पुत्र भगवानको दत्तक रूपमें दिया था ।

कुछ दिनों पश्चात् उस घरानेमें एक पुत्रका जन्म होनेपर भगवानदासजीने अपने आप ही वहाँसे पृथक् होकर भूदौलीसे दस-मील दूर दक्षिणमें अपना स्वतन्त्र शासन जमा लिया । उस गाँवको "चीपलाटा" कहते हैं ।

आप बड़ो उदार प्रकृतिके थे । जिस घरानेमें आप दत्तक-रूपमें रहे थे वहाँ की एक राजकुमारी मरु (मारवाड़) प्रदेशमें ब्याही थी । एक बार दयनीय स्थिति होनेके कारण उसने पीहर (भूदौली) वालोंसे सहयोग चाहा । जब वे सहायता न देसके तब उनके निर्देशसे उसने आपसे कहा और आपने तेरह हजार बीघा भूमि उसे दे दी । कालान्तरमें जब स्थिति ठीक हो गई तब वह बहन उस भूमिको वापिस लौटाने आई, किन्तु भगवानदासजीने यह कह कर उसे लौटा दिया कि मैं दान देकर वापिस कैसे लूँ ? भूदौली वालोंने उस जमीनको ले लिया ।

आप ऐसे दानी थे, एक बार पिताने विनोदमें ही आपसे कह दिया; "तू क्या "पाटौदी" को लाट सकता है ?" उन्होंने उसे पिताजीको सत्य कर दिया था । पाटौदी (नारनौलके पास) के युद्धमें आपकी विजय हुई । आपकी अन्तिम घटना बड़ी महत्वपूर्ण है—एक बार बहनकी सहायताके लिये आप बनेटी गाँव गये हुए थे । वहाँ घोर युद्ध छिड़ गया, डटकर लड़ाई हुई । संग्राममें विपक्षियोंके प्रहारसे आपका सिर कट गया, किन्तु वहाँ वह किसीको नीचे गिरता हुआ नहीं दीखा । कहा जाता है कि उछल कर वह कोसों दूर "चीपलाटा" जा पहुँचा और घोड़ेपर स्थित धड़ बहुत समय तक युद्ध करता ही रहा, जिससे विपक्षी पराजित हो गये । देखने वालोंको बड़ा आश्चर्य हुआ । उनमें एक कोई नीच वर्णकी स्त्री

भी देख रही थी। उसकी छाया पड़नेपर वह अश्व घोड़ेसे नीचे गिर पड़ा। उस संग्राम भूमि (बनेटी) में आपका स्मारक (जूझार) बना हुआ है। चीपलाटामें भी पहाड़ीपर एक छत्रीमें घोड़े-सवार आपकी पाषाण प्रतिमा है, जो उपर्युक्त घटनाकी सूचना दे रही है। उसी पहाड़ीपर बने हुए मन्दिरमें आपके चरण-चिन्ह भी स्थापित हैं और वहाँ जलके दो कुण्ड (टाँके) हैं। नीचे गाँवमें एक चबूतरा है जो भगवानदासजीकी पर्चाके नामसे प्रसिद्ध है।

प्रति-वर्ष भाद्रपद शुक्ला ५ को उनकी स्मृतिके रूपमें एक मेला भी लगता है। वैशाख शुक्ला ५ को भी जनता उनकी मनौती करती है। दोनों उनके जन्म और निधनकी तिथियाँ हैं। जो लोग उनकी मानता बोलते हैं, उनमें बहुतलोंके कार्य सिद्ध हो जाते हैं। ऐसा भी कहा जाता है कि किसी श्रद्धालु व्यक्तिको कभी-कभी उनके दर्शन भी हो जाते हैं।

लगभग पच्चीसौ मनुष्योंकी आबादीवाले उस चीपलाटा गाँव और आसपासके नगरोंकी जनता भगवानदासजीमें बहुत श्रद्धा रखती है।

उनके पुत्रका नाम सूरदास था। वह बादशाहकी नौकरी करते हुए भी नियमतः प्रभुकी अर्चा-पूजा और भजन-साधन करता था। वह राजवंश प्राचीनकालसे ही श्रीनिम्बार्क-सम्प्रदायका अनुयायी रहा है। उस समय "नन्दगाँव" (जिला मथुरा) में रहनेवाले श्रीनाफादासजीसे यह घराना दीक्षा (मन्त्रोपदेश) लेता था।

उनके पश्चात् वहाँके गुसाईं जो इस राजवंशके तीर्थगुरु भी थे ? उनका सम्मान करने लग गये। श्रीनाफादासजीका विशेष परिचय (छप्पय १७६) श्रीहरिदासजीके प्रसंगमें दिया गया है।‡

मूल (छप्पय)

(श्रीजसवन्तजी)

भक्तनि सों अति भाव निरंतर अंतर नाहीं।
कर जोरे इक पाय मुदित मन आज्ञा माहीं॥
श्रीबृंदाबन बास कुंज-क्रीड़ा रुचि भावै।
राधाबल्लभलाल नित्त प्रति ताहि लड़ावै॥
परम धरम नवधा प्रधान सदन साँच निधि प्रेम-जड़।
जसवंत भक्ति जयमालकी रूड़ा राखी राठवड़॥१५५॥

अर्थ—श्रीजसवन्तजी भगवानके भक्तोंसे निष्कपट प्रेम करते और आनन्द-पूर्वक हाथ जोड़े एक पैरसे उनकी आज्ञामें खड़े रहते थे। श्रीवृन्दावन-वास तथा युगल-स्वरूपकी नित्य-निकुंज-लीलामें आपकी बड़ी प्रीति थी। ठाकुर श्रीराधावल्लभलालजीको आप नित्य लाड़

---

‡ अन्वेषण करनेपर श्रीभगवानदासजीका यह विशेष परिचय अपर प्राइमरी स्कूल चीपलाटाके प्रधान अध्यापक श्रीयुत श्रीरामेश्वरजी द्वारा प्राप्त हुआ है। इस शोधमें उनका ही यह सहयोग है।

लड़ाया करते और सब धर्मोंके सारभूत नवधा-भक्ति एवं प्रधान प्रेमा-भक्ति-रूपी निधिको अपने हृदय-देशमें संचित कर रखते । प्रेमकी अवस्थामें कभी-कभी आप देहानुसन्धान भूल कर जड़-पदार्थकी भाँति निश्चल हो जाते । इस प्रकार राठौर वंशमें उत्पन्न जसवन्तसिंहने अपने बड़े भाई श्रीजयमालसिंहजीकी भक्ति-पद्धतिको उनके बाद भी सुरक्षित (सुप्रतिष्ठित) रक्खा ।

विशेष—इस छप्पयके अन्तिम चरणमें प्रयुक्त 'रूढ़ा' शब्द रूढ़का अपभ्रंश प्रतीत होता है । 'रूढ़' का अर्थ है—बद्धमूल ।

श्रीजसवन्तसिंहजीको श्रीरूपकलाजीने स्वामी श्रीहरिदासजीका शिष्य लिखा है, जो निम्बार्कीय थे और इधर नाभाजीके छप्पयमें "श्रीराधावल्लभलाल" इस नामका उल्लेख होनेके कारण इन्हें कुछ लोग राधावल्लभीय मान रहे हैं । श्रीभगवत मुदित कृत 'रसिक अनन्यमाल' में जसवन्तजीका चरित्र भी दिया है किन्तु इसमें वर्णित घटना नाभाजीके छप्पय ५१ में वर्णित 'सदाव्रती महाजन' की कथासे पूरी मिलती है, अतः वह संदिग्ध है ।

भक्त-दाम-गुण-चित्रनी, पत्र ४१५ में लिखा है कि एक बार कोई सन्त आपसे आकर पूछने लगा—"आपकी भक्ति सच्ची है या झूठी ?" आपने कहा—"बिलकुल सच्ची !" इस पर वह सन्त बोला—"यदि सच्ची हो तो अपने हाथके सोनेके कड़े हमें दे दीजिए ताकि उन्हें बेचकर मैं सन्तोंका भंडारा तो भी कर लूंगा ।" उसका मांगना हुआ कि आपने प्रसन्नता-पूर्वक दोनों कड़े उसे दे दिए ।

मूल (छप्पय)

(श्रीहरिदासजी)

अमित महागुन गोप्य सार वित सोई जानै ।
देखत कौ तुलाधार दूर आसै उनमानै ॥
देय दमामौ पैंज बिदित बृंदावन पायौ ।
राधावल्लभ भजन प्रगट परताप दिखायौ ॥
परम-धरम साधन सुदृढ़ कलियुग कामधेनुमें गन्यौ ।
हरीदास भक्तनि हित धनि जननी एकै जन्यौ ॥१५६॥

अर्थ—केवल श्रीहरिदासजी ही प्रभुके असीम और रहस्यमय गुणोंको जानते थे । कहने के लिये आप जातिके वैश्य थे, किन्तु व्यक्तियों और शास्त्रकी-मर्यादाका गूढ़ आशय अनुमान के बल पर दूरसे ही देखकर लगा लेते थे । । आपने इस बातकी घोषणा कर दी थी कि 'मेरे शरीरको वृन्दावनमें ही रज-लाभ होगा । इस प्रतिज्ञा द्वारा आपने ठाकुर श्रीराधावल्लभजीके भजनका प्रभाव स्पष्ट करके लोगोंको दिखा दिया । परम-धर्म अर्थात् भक्तिके साधनमें आप अडिग होकर जुट गए थे । कलियुगमें, कामधेनुके समान, लोग आपको भक्ति-मनोरथका पूरा

करने वाला मानते थे। श्रीहरिदासकी माताजीको धन्य है कि उनकी कोखसे ऐसा अद्वितीय पुत्र पैदा हुआ।

भक्ति-रस-बोधिनी

हरीदास बनिक, सो कासी ढिग बास जाको, ताको यह पन, तन त्यागौं ब्रजभूमि हीं।
भयौ ज्वर, नाड़ी छीन, छोड़ि गए बैद तीन, बोल्यौ यों प्रबीन, "वृन्दावन-रस झूम हीं" ॥
बेटो चारि संतनि कौं दई "अंगीकार करौ, धरौ डोली मांझ, मोको ध्यान दृग घूम हीं"।
चले सावधान राधावल्लभ कौ नाम करे, करें अचिरज लोग, परी गाँव धूम हीं ॥५७८॥

अर्थ—श्रीहरिदासजी वैश्य काशीके पासके रहने वाले थे। आपका यह प्रण था कि "मैं वृन्दावनमें ही शरीर छोड़ूंगा।" एक बार काल-ज्वरके सांघातिक आक्रमणके कारण आपकी नाड़ी छूट गई। तीन वैद्य आये, पर जवाब देकर चले गये।

इस हालतमें परम प्रवीण हरिदासजीने आस-पासके लोगोंसे कहा—"मेरा मन व्रजभूमिके प्रेम-रँगमें झूम रहा है।" आपके चार पुत्रियाँ थीं। उन्हें चार सज्जनोंको देते हुए आपने कहा—"इन्हें स्वीकार करिये और मुझे डोलीमें रख कर वृन्दावन पहुँचा दीजिए; मेरे नेत्रोंके सामने वहींके दृश्य घूम रहे हैं।" हरिदासजीकी नाड़ी छूट चुकी थी। फिर भी आप अपनेको सावधान करके श्रीराधावल्लभजीका नाम लेते हुए चले। लोगोंको उन्हें देख कर आश्चर्य हो रहा था कि ये ऐसी अवस्थामें भला वृन्दावन कैसे पहुँच सकेंगे।

भक्ति-रस-बोधिनी

आवत ही मग मांझ छूटि गयौ तन, पन सांचौ कियौ स्याम, वन प्रगट दिखायौ है।
आय दरसन कियौ, इष्ट गुर प्रेम भरि नेम परयौ पूरौ जाय चीरघाट न्हायौ है ॥
पाछें आये लोग, सोग करत भरत नैन बैन सब कह्यो, कह्यो "ता दिन ही आयौ है।"
भक्ति कौ प्रभाव यामें भाव और आनौ जिनि, बिन हरि-कृपा यह कैसें जात पायौ है ॥५७९॥

अर्थ—वृन्दावन जाते-जाते रास्तेमें हरिदासजीका शरीर छूट गया, किन्तु श्रीराधावल्लभजी ने आपके प्राण-प्रणको पूरा किया और (दूसरा वैसा ही शरीर देकर) उन्हें वृन्दावन पहुँचा दिया। वृन्दावन पहुँच कर आपने अपने उपास्य श्रीराधावल्लभजी तथा गुरुदेवके प्रेमपूर्वक दर्शन किये और चीरघाटपर यमुना-स्नान कर अपना नियम पूरा किया। पीछे आने वाले लोग आँखोंमें शोकके आँसू भर कर कहने लगे—"श्रीहरिदासजीका तो मार्गमें ही शरीरान्त हो गया; वे वृन्दावन नहीं पहुँच पाये।" गुरुदेव आदि सभी भावुक कहने लगे—"यह कैसे हो सकता है कि उनका मार्गमें ही देहान्त हो गया। उसी दिन तो उन्होंने यहाँ आकर श्रीराधावल्लभजीके दर्शन किए हैं।"

यह सब भक्तिका ही प्रभाव समझना चाहिए; यह शंका नहीं करनी चाहिए कि हरिदासजी प्रेम-रूपमें वृन्दावन आये थे। उन्हें प्रभुने ही दिव्य शरीर देकर वृन्दावन भेजा था। बिना भगवानकी कृपासे यह कदापि संभव नहीं है।

अन्य वार्ताएँ—श्रीभगवतमुदितजी कृत 'रसिक अनन्यमाल' में श्रीहरीदास तुलाधारके जीवनसे संबन्धित दो घटनाएं और दी गई हैं जोकि इस प्रकार हैः—

(१) एक बार हरीदास साधुओंके दर्शनके लिये वनमें गये। इस समय उनकी अवस्था ६५ वर्ष की थी। वनमें उन्होंने देखा कि एक सिंह गायकी गर्दन पर सवार है और उसे मार डालना चाहता है। हरीदासजी स्वभावके अत्यन्त दयालु थे। उन्होंने सिंहमें श्रीनृसिंह भगवानकी धारणा कर उसके पैर पकड़ लिये और गायको छोड़नेकी प्रार्थना की। सिंहकी भूख शान्त करनेके लिए हरीदासजी अपना शरीर अर्पण करनेको तैयार होगए, पर सिंहका पेट उनकी बूढ़ी देहसे क्या भरता। उसने हरीदासजी की शर्तको माननेसे मना कर दिया। तब हरीदासजी सिंहसे यह वायदा कर घर गए कि दूसरे दिन सुबह तक अपने पुत्रको और ला देंगे। पुत्रको जब यह वृत्तान्त हरीदासजीने सुनाया, तो वह बड़ा प्रसन्न हुआ। इससे अच्छा उपयोग हाड़-मांसके नश्वर शरीरका क्या हो सकता था?

प्रातः काल होते ही हरीदासजी पुत्रको लेकर जंगलमें पहुँचे। उस समय सिंह सोरहा था। एक पहर बाद जब वह उठा, तो वह उन्हें डरानेके लिये खूब गरजा, पर पिता-पुत्र दोनों नम्रता-पूर्वक हँसते ही रहे। जो सर्वत्र प्रभुको ही देखता है, उसे डर किसका।

सिंहरूप-धारी भगवान हरीदासकी ऐसी निष्ठा देखकर श्रीनृसिंहदेवके रूपमें प्रकट होगये। पर हरीदासको यह स्वरूप कैसे अच्छा लगता। उनके नेत्रोंमें तो वृन्दावन-बिहारी युगल-दम्पतिकी छवि बसी हुई थी। अपने भक्तकी इच्छा पूर्ण करनेके लिए भगवान मुरलीधरके रूपमें प्रकट हुए। उनके पास ही सुधा-वदनी श्रीराधिकाजी मुस्करा रही थीं। हरीदास निहाल हो गये।

(२) प्रसाद-महिमा—एक बार हरीदासजीकी इच्छा जगन्नाथपुरी जानेकी हुई। आप वहाँ गये पर श्यामा-श्यामके अर्चा-विग्रहको साथ लेते गए। पुरीमें भी वे नियम-पूर्वक अपने इष्टकी सेवा करते और उनके सिवा और कहींका प्रसाद ग्रहण न करते। मन्दिरके पुजारी जब 'अटका' लेकर आते तब आप सिरसे लगाकर उसे स्वीकार करते और फिर एक ओर उठाकर रख देते। श्रीजगन्नाथजीके प्रति यह अक्षम्य अपराध था और फल-स्वरूप पंडे-पुजारी बिगड़ खड़े हुए। इस पर श्रीजगन्नाथ प्रभुने पंडोंसे स्वप्नमें कहा कि हरीदासजीने मेरे प्रसादकी अवज्ञा नहीं की है। यदि ऐसा समझते हो, तो तुम्हारी भूल है। उनके इष्टदेव श्यामा-श्याम तो अंशी हैं, मैं उनका अंशावतार-मात्र हूँ। फिर हरीदासजी तो महाप्रसादको ही अपना इष्ट मानते हैं। उनसे बढ़ कर प्रभुका अनन्य-सेवी कोई भी नहीं हो सकता।

भक्तदाम-गुण-चित्रनी, पत्र ४१५ में श्रीहरिदासजीके सम्बन्धमें एक और घटनाका वर्णन करते हुए लिखा है—एक बार कोई ठग व्रजवासी आपके यहाँ बहुत दिन तक रहा। एक दिन जब उसने देखा कि हरिदासजी घर पर नहीं हैं तो उनकी पत्नीके मुँहमें कपड़ा भर कर और उसे खम्भेसे बाँध कर स्वयं घरके कपड़े और आभूषणोंको एक पोटलीमें बाँधने लगा। उसी समय हरीदासजी आगए। उन्होंने जब अपनी पत्नीको इस प्रकार बँधा हुआ देखा तो व्रजवासीसे बोले—"महाराज! आप मेरी परीक्षा क्या लेते हैं? मेरा मन तो भगवानके रंगमें रंगा है।"

यद्यपि आपको पता था कि यह चोर है और सामान चुरा कर जाने वाला था, किन्तु फिर भी इस लिए ऐसा कहा कि कहीं व्रजवासीके प्रति पत्नीकी दुर्भावना न हो जाए।

हरिदासके शब्दोंने ब्रजवासी पर जादूका काम किया। उसकी बुद्धि तत्क्षण ही बिलकुल निर्मल हो गई और वह हरीदासजीके चरणोंमें गिरकर क्षमा माँगने लगा। आपने उसे उठाकर छातीसे लगा लिया। भला आपकी जैसी उदारताका कौन कर सकता है ?

मूल (छप्पय)

(श्रीगोपाल भक्त और श्रीविष्णुदासजी)

'बाँबोली' गोपाल गुननि गंभीर गुनारट।
दच्छिन दिसि विष्णुदास गाँव 'काशीर' भजन-भट॥
भक्तनि सों यह भाव भजै गुरु गोविंद जैसे।
तिलक दाम आधीन सुबर संतनि प्रति तैसे॥
अच्युत कुल पन एक रस निबह्यौ ज्यौं श्रीमुख गदित।
भक्ति-भाव जूड़ैं जुगल धर्मधुरंधर जग बिदित॥१५७॥

अर्थ—'बाँबोली' नामक गाँवके रहनेवाले श्रीगोपाल-भक्तजी गम्भीर (अगाध) गुणोंसे युक्त थे और भगवन् का नाम सदा उच्चारण करते रहते थे।

दक्षिण दिशामें 'काशीर' नामक गाँवमें रहनेवाले श्रीविष्णुदासजी भजनके सम्बन्धमें बड़े शूर-वीर थे।

ये दोनों भक्त महानुभाव हरि-भक्तोंमें गुरु और गोविन्दका भाव रखते थे और तिलक और तुलसीकी माला धारण करनेवाले साधारण व्यक्तिको भी श्रेष्ठ सन्तके समान आदरणीय समझते थे। अच्युत-कुल, अर्थात् वैष्णवोंके प्रति दोनों भक्तोंने जैसा कि भगवानने अपने श्रीमुखसे कहा है—"मद्भक्तपूजाभ्यधिका", भगवानकी भावना रक्खी। इस प्रकार ये दोनों भक्त-भक्तिके जुवा (उत्तरदायित्वों) को वहन करनेवाले, संसारमें विख्यात धर्म-धुरन्धर हुए।

भक्ति-रस-बोधिनी

रहे गुरुभाई दोऊ भाई साधु-सेवा हिये, ऐसे सुखदाई, नई रीति लै चलाइयै।
जायँ जा महोछौ मैं बुलाये, हुलसाए अंग, संग गाड़ी-सामा सो भंडारी वै मिलाइयै॥
याको तात्पर्य संत घटती न सही जात, बात वे न जानैं, सुख मानैं, मन भाइयै।
बड़े गुरु सिद्ध जग महिमा प्रसिद्ध, बोले बिनै कर जोरि सोई कहिकै सुनाइयै॥५८०॥

अर्थ—श्रीगोपाल भक्त और श्रीविष्णुदासजी दोनों एक ही गुरु (श्रीसुन्दरदासजी) के शिष्य थे। दोनों सन्त-सेवासे अनुराग रखते थे। आप लोग दूसरोंको इस प्रकार सुख देते थे कि इसके लिए उन्होंने एक प्रथा चलाई। जहाँ कहीं किसी महोत्सवमें आप लोग बुलाये जाते

वहाँ बड़ी प्रसन्नताके साथ घी, आटा, चीनी आदि सामान गाड़ीमें भरकर ले जाते और चुप-चाप कोठारीको सौंपकर उस सबको और सामानमें मिलवा देते, ताकि किसीको पता न चले। ऐसा करनेका उनका मन्तव्य यह होता था कि किसी भी प्रकार घाटा न पड़े और महोत्सव करने वाले भक्तकी निन्दा न हो। कोई इस बातको जान नहीं पाता था, पर उत्सवके सानन्द समाप्त होनेपर वह सुखी अवश्य होता था कि किसी वस्तुकी कमी नहीं पड़ी और सब काम ठीक-ठीक हो गया।

आप दोनोंके गुरुदेव महान् सिद्ध और संसार-प्रसिद्ध व्यक्ति थे। एक दिन आप दोनोंने हाथ जोड़कर उनसे विनम्र प्रार्थना की—

भक्ति-रस-बोधिनी

चाहत महोछौ कियौ, हुलसत हियौ नित, लियौ सुनि, बोले "करौ बेगि दै तियारियै।"
चहूँ दिसि डारयौ नीर, करयौ न्यौतौ ऐसे धीर, आवैं बहु भीर संत, ठौरनि सँवारियै॥
आए हरि-प्यारे चारौ खूँटतें निहारे नैन, आय पग धारे सीस, लिये लै उचारियै।
भोजन कराय दिन पाँच लगि छाय रहे, पट पहिराय सुख दियौ अति भारियै॥५८१॥

अर्थ—"गुरु देव! सन्त-महोत्सव करनेकी हमारे हृदयमें बहुत दिनोंसे अभिलाषा हो रही है; (आज्ञा दीजिए, यह कार्य कैसे सम्पन्न हो।)

गुरुदेवने कहा—"यदि ऐसा है, तो जल्दीसे तैयारियाँ करो।"

यह कह कर गुरुजीने चारों दिशाओंमें जल फेंका और इस प्रकार सब सन्तोंको निमन्त्रण पहुँचा दिया। उन्होंने शिष्योंसे कह दिया कि सन्तोंकी विशाल भीड़ इकट्ठी होगी और उसके लिये स्थानका प्रबन्ध होना चाहिए। उत्सवके दिन चारों दिशाओंसे सन्त-गण पधारे। दोनों भाइयोंने यह देखा, तो पहुँचे गुरुदेवके पास और चरणोंमें प्रणाम कर बोले—"प्रभो! सन्त तो बहुत आ गए हैं; इनके लिए सामग्री कहाँसे आवेगी?" गुरुजीने कहा—"इसकी चिन्ता मत करो। सबका यथेष्ट सम्मान करो और प्रभुमें विश्वास रक्खो।"

गुरुदेवकी आज्ञासे आश्वस्त हो दोनों शिष्योंने भोजन आदि द्वारा सन्तोंका खूब सत्कार किया, वस्त्र भेंट किए और सब प्रकार उन्हें सुखी किया।

भक्ति-रस-बोधिनी

आज्ञा गुरु दई "भोर आवौ फिरि आस-पास, महासुखरासि नामदेव जू निहारियै।"
उज्ज्वल बसन तन एक लै प्रसन्न मन चले जात बेगि सीसि पाँयनि पै धारियै॥
देई है बताय श्रीकबीर अति धीर साधु, चले दोऊ भाई परवसिना विचारियै।
प्रथम निरखि 'नामा' हरखि लपटि पग लगि रहे, छोड़त न बोले सुनौ भारियै॥५८२॥

अर्थ—श्रीगुरुदेवने दोनों शिष्योंको आज्ञा दी—"कल प्रातःकाल इस संत-शालाकी परिक्रमा करना। वहाँ तुम्हें उज्ज्वल वस्त्र पहने प्रसन्न मनसे अकेले जाते हुए, परम आनन्दके

देनेवाले श्रीनामदेवजीके दर्शन होंगे । उनके चरणोंमें प्रणाम करना । वही तुम्हें धीर-गंभीर प्रकृतिके साधु श्रीकबीरके दर्शन करा देंगे ।

आज्ञानुसार दोनों परिक्रमाको गए । प्रथम उन्हें श्रीनामदेवजीके दर्शन हुए । देखते ही दोनों उनके पैरोंसे लिपट गये । छोड़ते ही न थे । तब श्री नामदेवजीने कहा—"पैर छोड़ो और हम जो कहते हैं उस पर ध्यान दो ।"

भक्ति-रस-बोधिनी

"साधु-अपराध जहाँ होत तहाँ आवत न, होय सनमान सब संत तोही आइयै ।
देखि प्रीति-रीति हम निपट प्रसन्न भये, लये उर लाय, "जावौ, श्री कबीर पाइयै" ॥
आगें जो निहारें भक्तराज, दृग चारें चलौं, बोले हँसि आप, "कोऊ मिल्यौ सुखदाइयै ?"
कह्यौ "हांजू," मानि बड़ी भई कृपा पूरन यौं, सेवा को प्रताप कहौ कहाँ लगि गाइयै ॥५८३॥

अर्थ—श्रीनामदेवजी दोनों शिष्योंसे बोले—"जहाँ साधुओंका तिरस्कार होता है, वहाँ हम नहीं आते; जाते वहीं हैं जहाँ उनका आदर होता हो । अस्तु । हम तुम दोनोंके भक्ति-भाव से बड़े सन्तुष्ट हैं ।" यह कहकर श्रीनामदेवजीने गोपाल भक्त और विष्णुदासको गलेसे लगा लिया और बोले—"जाओ, आगे चलकर तुम लोगोंको श्रीकबीरदासजीके दर्शन होंगे ।" ज्यों ही दोनों कुछ आगे बढ़े, त्यों ही श्रीकबीरजीने उन्हें दर्शन हुए । अब तो दोनों उनके पैरोंमें पड़ गये और आँखोंसे आँसुओंकी अविरल धारा बह निकली । श्रीकबीरजी ने पूछा—"तुम्हें और किसी सुखदाई सन्तके अभी-अभी दर्शन हुए ?" भक्तोंने उत्तर दिया—"हाँ महाराज, मिले ।"

इसके उपरान्त श्रीकबीरजीने उनके प्रति आदर-भाव प्रदर्शित किया और इस प्रकार वे सन्तों और गुरुदेवकी कृपाके अधिकारी बने । टीकाकार श्रीप्रियादासजी कहते हैं कि सन्तोंकी सेवाकी महिमा कोई कहाँ तक गाएगा ?

मूल (छप्पय)

आसकरन रिषिराज रूप भगवान भक्ति गुर ।
चतुरदास जग अभै छाप, छीतर जु चतुर बर ॥
लाखै अदभुत रायमल खेम* मनसा क्रम बाचा ।
रसिक रायमल गौर देवा दामोदर हरि रँग राचा ॥
सबै सुमंगल दास दृढ़ धर्म-धुरंधर बचन भट ।
कील्ह कृपा कीरति बिसद परम पारषद सिष प्रगट ॥१५८॥

अर्थ—(१) राजर्षि श्रीआसकरनजी, (२) श्रीरूपदासजी, (३) परम गुरुभक्त श्रीभगवानदासजी, (४) भक्ति-द्वारा संसारको अभय-दान देनेवाले श्रीचतुरदासजी, (५) परम

चतुर श्रीजीवरजी, (६) अद्भुत गुणोंसे युक्त श्रीलाखैजी, (७) मन वचन और कर्म द्वारा दूसरोंका मङ्गल करनेवाले श्रीरायमलजी, (८) भगवानके रँगमें रँगे श्रीरसिकरायमलजी, (९) श्रीगौरदासजी, (१०) श्रीदेवादासजी, और (११) श्रीदामोदरजी—ये सब भक्तजन जोकि परम मंगलमय प्रभुके सेवक और धर्मात्माओंमें अग्रणी थे, गुरु श्रीकील्हदेवजीकी कृपा द्वारा उज्ज्वल कीर्तिसे संसारमें प्रकाशित हुए और भगवानके प्रिय पार्षदोंके समान थे।

श्रीबालकरामने भक्त-दाम-गुण चित्रनी, पद ४१८ में चतुरदास, रायमल और क्षेमदास—इन तीन भक्तोंका वृत्त लिखा है। पाठकोंके लाभार्थ संक्षेपमें उसे नीचे दिया जाता है—

श्रीचतुरदासजी—भ्रमण करते हुए श्रीचतुरदासजी एक गाँवमें जाकर किसी ऐसे स्थानपर ठहरे जहाँ एक अत्यन्त प्रबल प्रेत रहता था। यह देख गाँवके लोगोंने आपको समझाते हुए कहा कि महाराज यह स्थान रातमें रहनेके लायक नहीं है, क्योंकि यह प्रेत किसीको भी जिन्दा नहीं छोड़ता। श्रीचतुर दासजी भूत-प्रेतको अपने प्रभुके सामने कुछ नहीं समझते थे। वे रातको वहीं जम गये और प्रभुके नामोंका सप्रेम उच्चारण करने लगे।

रातको प्रेत घूम-फिर कर वापस लौटा तो अपने स्थानपर इन भगवत्-भक्त महात्माको बैठा देख वह गाँवके चारों ओर यह कहता हुआ फिरता रहा कि 'यह जगह तो बहुत समयसे हमारी है, यहींपर आकर साधु-महाराजने डेरा डाल दिया है; अब हम कहाँ जायँ ?' भूतके इस प्रलापको गाँवके लोगोंने भी सुना और सवेरा होते ही श्रीचतुरदासजीके पास आये तो देखा कि वे तो मजेमें बैठे कीर्तन कर रहे हैं। आपका यह चमत्कार देख समस्त ग्राम-निवासी आपके चरणोंमें आकर पड़ गये और विभिन्न प्रकारके पकवानोंका आपके सामने ढेर लगा दिया।

उनके चले जानेके कुछ समय बाद एक दूसरा सन्त आया। उससे जब सब बात कही गई तो वह पहिचान गया कि वे कील्हजीके शिष्य श्रीचतुरदासजी ही होंगे और लोगोंसे बोला—"भाई कील्हजी के शिष्योंकी तो बात छोड़िये, वे तो बड़े प्रतापी हैं। एक बार हमने देखा कि प्रज्ज्वलित आगमें पड़कर भी श्रीचतुरदासजी नहीं जले।"

पेड़पर रहने वाला प्रेत इस सत्सङ्गसे पाप मुक्त होगया। वह उसी समय श्रीचतुरदासजीके पास गया और उनसे प्रभु-नाम ग्रहण करके उस प्रेत-योनिसे अपना उद्धार किया।

श्रीरायमलजी—एक बार होलियोंके दिनोंमें लोग फाग खेल रहे थे और एक-दूसरे पर धूल-मिट्टी उछाल रहे थे। किसी कार्य-वश श्रीरायमलजी भी उधर आ निकले। उन्हें देख कर लोगोंने उनपर भी धूल डालना प्रारम्भ कर दिया। श्रीरायमलजीने पहले तो लोगोंसे मना किया, किन्तु जब वे न माने तो कहने लगे—"भगवान आप इनपर धूलकी वर्षा क्यों नहीं करते ?"

श्रीरायमलजीका इतना कहना हुआ कि लोगोंके ऊपर आकाशसे धूल और कंकड़ोंकी वर्षा होने लगी और फाग खेलने वाले लोग उसमें दबने लगे। इस भयंकर दृश्यसे बचने के लिए समस्त जन-समुदाय श्रीरायमलजी की शरण में आगया और उनके पैरों में पड़ कर क्षमा माँगी। श्रीरायमलजीने ऐसी दशा देख कर प्रभुसे प्रार्थना करके उस धूलकी वर्षाको बंद करवा दिया और संसारके नश्वर सुखोंमें

भूले हुए मनुष्योंको भगवद्भक्ति और संत-सेवाका उपदेश दिया।

श्रीक्षेमदासजी—आप अपने गुरु श्रीकील्हजीकी सेवाको सर्वस्व समझकर रात-दिन उसीमें लगे रहते थे। गुरुदेवके सीथ-प्रसादमें भी आपकी ऐसी ही श्रद्धा थी। जब तक उन्हें सीथ नहीं मिल जाता तब तक वे जल तक ग्रहण नहीं करते थे।

एक बार ऐसा हुआ कि किसी कारणवश आपको गुरुदेवकी प्रसादी न मिल सकी। अब तो दिन-भर आप बड़े परेशान रहे। न तो भोजन ही किया आपने और न जल ही पिया। भगवान समझ गए कि क्षेमदासका गुरु-प्रेम सच्चा है। वे स्वयं कील्हजीका वेश बनाकर आए, उन्हें अनेक प्रकारसे समझाया-बुझाया और अन्तमें सीथ प्रसाद देकर चले गए। इस प्रकार गुरु-देवकी सेवाके फलस्वरूपही श्रीक्षेमदासजीको भगवानके दर्शन प्राप्त हो सके। सच पूछा जाय तो वास्तविक बात यह है कि—

बहु फल गुरु-सेवा विटप, सेवत नर बड़ भाग। छाया-सुख हरिदरस-फल, लेत अमाय सुराग॥

मूल (छप्पय)

(श्रीनाथभट्टजी)

आगम निगम पुरान सार सास्त्र जु बिचारयौ।
ज्यों पारौ दै पुटहिं सबनि कौ सार उधारयौ॥
श्री रूप सनातन जीव भट्ट नारायण भाख्यौ।
सो सर्बस उरि साँच जतन करि नीके राख्यौ॥
फनी बंस गोपाल सुव रागा अनुरागा कौ अऐन।
रस रास उपासक भक्तराज नाथभट्ट निर्मल बैन॥१५६॥

अर्थ—श्रीनाथभट्टने समस्त आगम, निगम, पुराण तथा अन्य शास्त्रोंका गंभीर अनु-शीलनकर उनका तत्व उसी भाँति निकाल लिया था जैसे वैद्य लोग पारेमें पुट देकर उसे रसायन बना देते हैं। श्रीरूप, सनातन, जीव और नारायणभट्टजीने भक्ति-सिद्धान्तका जैसा निरूपण किया है, उस सबको आपने अपने हृदयमें संचित करके रक्खा। फणी-वंशमें उत्पन्न, ऊँचे गाँवके रहनेवाले श्रीगोपालदासजीके आप पुत्र थे और शृंगाररसके उपासक। आपकी वाणी अत्यन्त निर्मल और मधुर थी।

श्रीनाथ भट्टजीके सम्बन्धमें एक चमत्कारपूर्ण घटना भक्तदाम गुण चित्रनी, पत्र ४१६के आधार पर नीचे दी जाती है—

एक बार कायस्थ-जातिका कोई पढ़ा-लिखा तार्किक विद्वान् श्रीनाथभट्टजीके पास आया और भक्तिमार्ग सम्बन्धी उल्टे-सीधे प्रश्न पूछने लगा। श्रीनाथभट्टजीने उन सबका प्रमाण सहित ऐसा अकाट्य उत्तर दिया कि उसकी बोलती बन्द हो गई। यह भैरवका उपासक था। अपनी इस प्रकार पराजय देखकर अत्यन्त दुःखी होकर अपनी सहायताके लिए उसने भैरोंका आह्वान किया और जब शरीरमें

उसका आवेश पूर्ण रूपसे होगया तब पुनः तर्क करने लगा। श्रीनाथभट्टजीने भैरोंकोभी हरा दिया और अन्तमें उसकी चोटी पकड़ कर कार्तिक कायस्थके शरीरसे बाहर खींच लिया। भगवद्-भक्तके सामने भला उस भैरोंकी क्या चलती वह काँपता हुआ बोला—'महाराज मैं तो इस कुबुद्धि कायस्थकी बातोंमें आकर आपसे तर्क कर बैठा, अब आप मुझे क्षमा कीजिए।" तब नाथभट्टजीने उसे छोड़ दिया और वह आपसे वैष्णवी दीक्षा लेकर चला गया।

अपने आराध्यका यह हाल देखकर तार्किक कायस्थकी भी आँखें खुल गई और वह भी आपका शिष्य होकर उसी दिनसे वैष्णव-सन्तोंका सत्कार करने लगा।

मूल (छप्पय)

(श्रीकरमैतीजी)

नस्वर पति रति त्यागि कृष्ण–पद सों रति जोरी।
सबै जगति की फाँसि तरकि तिनुका ज्यों तोरी॥
निर्मल कुल कांथड्या धन्य परसा जिहिं जाई।
बिदित बृंदावन वास संत मुख करत बड़ाई॥
संसार स्वाद–सुख बांत करि फेर नाहिं तिन तन चही।
कठिन काल कलिजुग में करमैंती निःकलंक रही ॥१५०॥

अर्थ—श्रीकरमैतीजीने अपने पतिके प्रति नाशवान् और झूठे प्रेमको त्याज्य मानकर श्रीकृष्णचन्द्रके चरणोंसे प्रीति की और सब प्रकारके सांसारिक बन्धनोंको तर्क द्वारा तिनकेकी तरह काट फेंका। निर्मल काँथड्या कुल धन्य है और धन्य हैं करमैतीके पिता श्रीपरशुरामजी जिनके ऐसी हरि-भक्त पुत्री हुई। यह बात सबको मालूम है कि करमैती बाई वृन्दावनमें रहीं। उनकी भक्तिसे प्रभावित होकर सब संत-समाज उनकी प्रशंसा करता था। आपने सांसारिक विषयोंके भोगसे होनेवाले सुखको एक बार वमन की गई वस्तुकी तरह जो त्यागा, तो फिर उनकी ओर कभी मुड़कर नहीं देखा। करमैतीजी, इस प्रकार, इस घोर कलियुगमें उत्पन्न होकर भी निष्कलंक ही रहीं।

भक्ति-रस-बोधिनी

शेखावत नृप के पुरोहित की बेटी जानौ, बास है खँडेला, करमैती जो बखानियै।
बस्यौ उर स्याम अभिराम कोटि काम हूँ तें, भूले धाम काम सेवा मानसी पछानियै॥
बीत जात जाम, तन बाम अनुकूल भयौ, फूलि फूलि अंग गति मति छबि सानियै।
आयौ पति गौनौ लैन, आयौ पितु मात हिये, लिये चित्त चाव पट आभरन आनियै ॥५८४॥

अर्थ—श्रीकरमैतीजी शेखावतके राजाके पुरोहित, खँडेलाके रहनेवाले श्रीपरशुरामजीकी पुत्री थीं। करोड़ों कामदेवोंसे भी अधिक सुन्दर श्रीश्यामसुन्दरने आपके हृदयमें घर कर लिया, अतः आप घरके सब काम-धन्धोंकी ओर से विमुख होकर भगवानकी मानसी सेवा करने लगीं। प्रभुके ध्यानमें इस प्रकार लीन रहते हुए आपको पहरों बीत जाते। शरीर तो स्त्री-जाति का पाया था, किन्तु प्रभु-कृपासे वह साधनाके अनुकूल बन गया था। आपका प्रत्येक अङ्ग प्रेमानन्दसे सराबोर रहता था और बुद्धि (मन) की प्रवृत्ति श्रीकृष्णकी रूप-माधुरीके अनुभव में ही लिप्त रहती थी। विवाहके उपरान्त आपके पतिदेव द्विरागमनके अवसरपर आपकी विदा कराने आये, तो माता-पिता बड़े प्रसन्न हुए और बड़े चावके साथ पुत्रीको दिये जानेवाले वस्त्र एवं आभूषणोंको सजाकर रखने लगे।

भक्ति-रस-बोधिनी

परयौ सोच भारी, कहा कीजिये बिचारी, "हाड़-चाम सों सँवारी देह रतिके न काम की।
तासे येवौ त्यागि! मन सोवै जिनि, जाग अरे, मिटै उर दाग, एक साँची प्रीति स्याम की॥
लाज कौन काज जो पै चाहै ब्रजराज-सुत, बड़ोई अकाज, जो पै करें सुधि धाम की।
जानी भोर गौनौ होत, लागी अनुराग-रंग, संग एक वही, चली भौजि मति बाम की॥५८५॥

अर्थ—द्विरागमनकी बात सुनकर करमैतीजी चिन्तामें पड़ गईं कि अब क्या करना चाहिए? सोचने लगीं—हाड़-माँससे बना हुआ यह शरीर विषय-भोगके योग्य तो नहीं है। इससे तो अच्छा यही है कि इसे त्याग दिया जाय।" मनको सम्बोधित करते हुए आप कहने लगीं—"रे मन! तू सो मत, जाग पड़। यदि प्रेम करना है, तो श्रीश्यामसुन्दरसे कर। वही प्रेम सच्चा है। उसीसे तेरे मनकी मलिनता धुलेगी। यदि ब्रजराजनन्दनसे प्रेम किया तो लज्जा किसकी? गृहस्थके भोगोंके लिये लालायित रहना तो बहुत ही अनुचित कार्य है।"

दूसरे दिन सुबह गौना होनेको था, किन्तु करमैतीजी पहली रातको ही भगवानके प्रेममें मग्न होकर अकेली ही घरसे निकल दीं।

भक्ति-रस-बोधिनी

आधी निसि निकसी यों बसी हिये मूरति सो, पूरति सनेह तन सुधि बिसराई है।
भोर भये सोर परयौ, परयौ पितु-मातु सोच, करयौ लै जतन, ठौर-ठौर ढूँढ़ि आई है॥
चारों ओर दौरे नर, आये ढिग डरि आनि, ऊँट के करंक मध्य देह जा दुराई है।
जग दुरगंध कोऊ ऐसो बुरी लागी, जामें वहू दुरगंध सो सुगंध सी सुहाई है॥५८६॥

अर्थ—इस प्रकार करमैतीजी आधी रातको घरसे निकल कर चल दीं। उनके हृदयमें बसी हुई श्रीश्यामसुन्दरकी मूर्तिने उनके शरीरको प्रेमसे पूर्ण कर रक्खा था। उसीके आवेशमें उन्हें तन-बदनकी सुध न रही। दूसरे दिन प्रातःकाल होते ही जब पता लगा, तो घर-भरमें खलबली मच गई। माता-पिता चिन्तामें पड़ गए। उन्होंने अपनी पुत्रीको खोज लानेका बहुत प्रयत्न किया और दूर-दूर आदमी दौड़ाये।

जब करमैतीजीने देखा कि खोज करनेवाले लोग बिलकुल उनके निकट ही आगए हैं, तो वहीं पड़े हुए एक ऊँटके कंकाल (हड्डियोंके ढाँचे) में घुस कर छिप गईं। उन्हें संसारकी दुर्गन्ध इतनी बुरी लगी कि ऊँटका कंकाल उसकी तुलनामें सुगन्धसे भरा हुआ प्रतीत हुआ।

भक्ति-रस-बोधिनी

बीते दिन तीनि वा करंक ही में संक नहीं, बंक प्रीति-रीति, यह कैसें करि गाइये।
आयो कोऊ संग, ताही संग गंग-तीर आई, तहाँ सो अन्हाई दै भूषन बन आइये ॥
ढूंढत परसराम पिता मधुपुरी आये, पते लै बताये जाय माथुर मिलाइये।
सघन बिपिन ब्रह्मकुंड पर बर एक, चढ़ि करि देखी भूमि अँसुवा भिजाइये ॥५८७॥

अर्थ—ऊँटके कंकालमें रहते हुए करमैतीजीको तीन दिन बीत गये। उनके मनमें किसी प्रकारकी शङ्का या घृणा नहीं थी। बाँके प्रेमकी रीति ही निराली है। उसका क्या किसीपर वर्णन हो सकता है ?

चौथे दिन गङ्गा-स्नानको जाते हुए किसी आदमीके साथ आप पड़ लीं। गङ्गाजीके तीरपर आपने स्नान किया और सब वस्त्र-आभूषणोंको दान कर दिया।

पिता परशुरामजी अपनी पुत्रीको खोजते-खोजते मथुरा पहुँचे। वहाँ लोगोंने उन्हें करमैतीजीका पता बताया। उसके अनुसार आप मथुरावासीके साथ वृन्दावन गए और बड़के एक पेड़पर चढ़कर जो दृश्य देखा उससे उनकी आँखोंसे आँसुओंकी धाराएँ बह निकलीं।

भक्ति-रस-बोधिनी

उतरि कै आय देखि पाँय लपटाय गयौ, "कटी मेरी नाक जग मुख न दिखाइयै"।
चलौ गृह बास करौ, लोक-उपहास मिटै, सासु घर जावौ, मत सेवा चित लाइयै ॥
कोऊ सिंह-व्याघ्र अजू वपु कों बिनास करै, त्रास मेरे होत, फिरि मृतक जिवाइयै।
बोली, "कही साँच, बिन भक्ति तन ऐसो जानौ, जोपै जियौ चाहौ, करौ प्रीति जस गाइयै" ॥५८८॥

अर्थ—करमैतीजीके पिता बड़के पेड़से उतर कर नीचे आये और पुत्रीके पैरोंमें पड़ कर कहने लगे—"बेटी ! यह तुमने क्या किया ? संसारमें मेरी नाक कट गई; मैं मुँह दिखाने लायक नहीं रहा। घर चलो और वहीं रहो, जिससे मेरी लोक-निन्दा दूर हो। सुसराल नहीं जाना चाहती हो तो मत जाना; घरपर ही रहकर भगवानकी पूजा करना। मुझे डर है कि इस घोर जङ्गलमें कोई सिंह, व्याघ्र आदि तुम्हें मार न डाले। चलो और अपने मृतप्राय माता-पिताको प्राण-दान दो।"

श्रीकरमैतीजीने उत्तर दिया—"पिताजी ! आप सत्य कहते हैं। बिना भक्तिके शरीर मरे के ही समान है। अगर आप लोग जीना चाहते हैं, तो भगवानसे प्रेम करिए और उनके गुणोंका गान करिये।"

भक्ति-रस-बोधिनी

कही तुम कटी नाक, कटै जो पै होय कहूँ, नाक एक भक्ति, नाक लोक में न पाइयै।
बरस पचास लगि विषै ही में वास कियौ, तऊ न उदास भये, चर्बे को चबाइयै ॥
देखे सब भोग मैं न देखे, एक देखे श्याम, तातें तजि काम तन सेवा में लगाइयै।
रात तें ज्यों प्रात होत, ऐसे तम जात भयौ, दयौ लै सरूप प्रभु, गयौ, हिये आइयै ॥५८६॥

अर्थ——करमैतीजीने पितासे आगे कहा—"और आपने कहा कि 'मेरी नाक कट गई,' सो नाक तो तब कटे जब हो। नाक (प्रतिष्ठाका केन्द्र) तो केवल-भक्ति है। बिना इसके स्वर्ग-लोकमें भी नाक नहीं बच सकती——अर्थात् स्वर्गवासी भी नकटे हैं। जरा विचार कर देखिए, पचास वर्षकी आयु तक आपने विषयोंको भोगा, तो भी उधरसे मन हटा नहीं——पशु जैसे खाये हुए की जुगाली करता है, वैसे ही संसारी जीव भोगे हुए विषयोंको ही बार-बार भोगते हैं। मैंने तो सब भोगोंको देखकर भी नहीं देखा——यदि देखा, तो केवल श्रीश्यामसुन्दरकी ही ओर।"

करमैतीजीका उक्त उपदेश सुनकर पिता परशुरामजीका अज्ञान उसी प्रकार नष्ट हो गया जैसे प्रातःकाल होते ही अँधेरा दूर हो जाता है। चलते समय करमैतीजीने पिताको एक शालग्राम-विग्रह दिया जिसे लेकर वे घरको विदा हुए। करमैतीजीका ज्ञानोपदेश उनके हृदयमें उतर गया।

भक्ति-रस-बोधिनी

आये निसि घर, हरि-सेवा पधराय, चाय मन को लगाय, करी टहल सुहाई है।
कहूँ आत जात न भावत मिलाप कहूँ, आप नृप पूछें द्विज कहाँ? सुधि आई है॥
बोल्यौ कोऊ जन धाम स्याम संग पागे, सुनि अति अनुरागे, वेगि खबर मँगाई है।
कही तुम जाय, "ईस इहाँ ही असीस करौं," कही, भूप आयौ, हिये चाह उपजाई है ॥५९०॥

अर्थ——अपनी पुत्री करमैतीजीसे भक्तिका उपदेश लेकर परशुरामजी रातको घर आकर लगे। बड़े उत्साहसे उन्होंने भगवानके सेवा-स्वरूपको घरमें पधराया और एकाग्र-मनसे सेवा करने लगे। उन्हें अब कहीं आना-जाना अच्छा न लगता था, और न किसीसे मिलते ही थे।

एक दिन राजाको उनकी याद आई तो पूछने लगा——"परशुरामजी नहीं दिखाई देते; कहाँ गये हैं?" उत्तरमें किसी व्यक्तिने कहा——"घरमें ही रह कर भगवत्-प्रेममें अनुरक्त हो भजन करते हैं।" सुनकर राजाको भी अनुराग हुआ और एक सेवक भेजकर मिलनेकी आज्ञा मँगवाई। परशुरामजीने कहला भेजा——"मेरे राजा (ईश) मेरे पास हैं——अर्थात् मनुष्यको जिस राजाकी उपासनाकरनी चाहिए, मैं उन्हींकी कर रहा हूँ।" यहाँ बैठा ही मैं आशीर्वाद देता हूँ कि भगवानमें राजाजीकी भक्ति हो।"

सेवकने यह सन्देश जब लौटकर राजासे कहा, तो उसके हृदयमें परशुरामजीके दर्शन करनेकी अभिलाषा पैदा होगई।

दृष्टान्त—वैराग्य-भावनाके एक बार उदय होजानेके बाद सन्तोंको किसीसे कुछ आशा रखनेकी इच्छा नहीं रहती। इसीलिए परशुरामजीने राजाको उदासीनता-भरा उत्तर भिजवाया था। भक्तोंकी इस प्रकारकी निरपेक्षताको लेकर नीचे लिखा दृष्टान्त दिया जाता है—

शाहजहाँके पुत्र दाराशिकोहके यहाँ एक मुन्शी बनवारीदास थे। एक बार किसी निजी कामको लेकर मुन्शीजी दरबारमें पहुँचे और प्रतीक्षा कर रहे थे कि कब बादशाहका रुख उनकी तरफ हो और कब वे अपनी अर्जी पेश करें। संयोगसे दारा किसी जरूरी कार्यमें व्यस्त थे, अतः मुन्शीजीकी ओर निगाह उठाकर भी उन्होंने नहीं देखा। घंटों खड़े रहे मुन्शीजी और अन्तमें लौट आये। सोचने लगे, यदि इतनी बन्दगी भगवानके सामने करता तो एक दम व्यर्थ न होती। उन्हें उसी समयसे ऐसा वैराग्य हुआ कि वे अपनी सब सम्पत्तिको गरीबोंको लुटाकर साधु हो गये। दाराशिकोहने बहुत बुलवाया, पर आप गये ही नहीं।

अब मुन्शीजी दिल्लीसे दूर मेवाड़के एक पहाड़ी प्रदेशमें रहते थे। एक दिन दारा अपनी फौज ले कर उधरसे गुजर रहा था कि किसीने खबर दी कि आपके मुन्शी बनवारीदास पासकी पहाड़की गुफामें रहते हैं। दाराशिकोह एक माने हुए दार्शनिक थे और हिन्दू-धर्मशास्त्रके प्रति उनकी श्रद्धा थी। उन्होंने सोचा, मुन्शीजीके अनुभवसे कुछ लाभ उठाना चाहिये और पहुँचे उनके पास। उस समय मुन्शीजी, जो कि अब बलीसाहब कहलाते थे, पैर पसारे बैठे हुए थे। दाराशिकोहको सामने देखकर भी उन्होंने जब पैर नहीं ऊँचे किये, तो उसने पूछा—"बलीसाहब, यह पैर पसारना कबसे सीखा ?

"जबसे हाथ सिकोड़े," मुन्शीजीने उत्तर दिया।

"और हाथ सिकोड़ना कबसे सीखा" ? बादशाहने पूछा।

"जबसे पैर सिकोड़े," मुन्शीजीने उत्तर दिया।

"लेकिन शाहबी छोड़कर क्या मिला जो यहाँ धूलमें पड़े हो ?" दाराने पूछा।

"सबसे पहली चीज तो यह मिली कि जो तुम चार घंटे हाजिरीमें खड़े रहने पर भी मेरी बात नहीं पूछते थे, वही तुम अब मेरे पास आये हो और मैं इतना लापरवाह हूँ कि पैरभी सिकोड़ना जरूरी नहीं समझता। आगे जो कुछ मिलेगा, उसे समय बतायेगा," मुंशीजीने कहा।

दाराशिकोह बड़े प्रसन्न हुए और कुछ उपदेश देनेकी प्रार्थना की। कहते हैं, इसपर मुन्शीजी ने सिर्फ एक रेखता पढ़ा जिसकी अन्तिम पंक्ति यह है—

"जहाँ मरके जाना है'बली' वहाँ जिन्दा ही क्यों नहीं जाइये जी।"

भक्ति-रस-बोधिनी

देखी नृप प्रीति-रीति, पूछी, सब बात कही, नैन अश्रुपात "वह रँगी श्याम-रंग में"।
बरजत आयौ भूप "जाय कै लिवाय ल्याऊँ पाऊँ जो पै भाग मेरे", बढ़ी चाह अंग में॥
कालिंदी के तीर ठाढ़ी, नीर दृग, भूप लखी रूप कछु और, कहा कहै ? वे उमंग में।
कियौ मनै लाख बेर, ऐ पै अभिलाष राजा कीनी कुटी, आए देश, भीजे सो प्रसंग में॥५६१॥

अर्थ—राजाने परशुरामजीकी भगवानमें अनोखी प्रीति देखी, तो कारण पूछा। उत्तरमें

परशुरामजीने करमैतीजीका सब वृत्तान्त सुनाया और, अन्तमें, आँखोंमें आँसू भर कर बोले-
"करमैती तो अब भगवानके रँगमें रँग गई है; उसके लौटनेका कोई प्रश्न ही नहीं रहा !"

राजाने कहा—"मैं उन्हें अपने साथ लाऊँगा। यदि मुझे उनके दर्शन हो जायँ तो
अपनेको धन्य समझूँगा।"

परशुरामजी द्वारा सारा हाल बताए जाने पर राजाकी उत्सुकता और भी बढ़ गई और
पहुँचे वह वृन्दावन। जाकर वह क्या देखते हैं कि करमैतीजी यमुना-किनारे खड़ी हैं और
आँखोंसे आँसू बरस रहे हैं। उनका रूप कुछका कुछ होगया था। ऐसेमें राजा क्या कहते ?
करमैती तो अनुरागकी उमंगोंमें बह रही थी।

राजाने चाहा कि करमैतीजी कुछ सेवा बतलाएँ, पर उन्होंने बिलकुल मना कर दिया।
अन्तमें राजाने ब्रह्मकुंड पर उनके लिये एक कुटिया बनवा दी और अपने देशको लौट आए।
वहाँ जाकर वह भी भगवानमें मन रख भजन करने लगे।

विशेष—इस कथासे वृन्दावनके प्राकट्यकी भ्रान्त धारणाओंका भी निराकरण हो जाता है।
यद्यपि वृन्दावनस्थ करमैती-कुटी ध्वस्त होगई है, तथापि उनके द्वारा प्रदत्त वह प्रभु-प्रतिमा श्रीविहारीजी
के मन्दिर खंडेलामें आज भी विराजमान है। उनके ही वंशज उसके सेवाधिकारी हैं।

मूल (छप्पय)

(श्रीखड्गसेनजी)

गोपी ग्वाल पितु मात नाम निरनै कियौ भारी।
दान केलि दीपक प्रचुर अति बुद्धि बिचारी॥
सखा सखी गोपाल काल लीला में बितयौ।
कायथ-कुल उद्धार भक्ति दृढ़ अनत न चितयौ॥
गौतमी तंत्र उर ध्यान धरि तन त्याग्यो मंडल सरद।
गोबिंद चंद गुन ग्रथन को खरगसेन बानी बिसद॥१६१॥

अर्थ—श्रीखड्गसेनजीने कई महत्वपूर्ण शोध-कार्य किए। उदाहरणार्थ, उन्होंने गोपी,
ग्वाल आदिके पिता-माताओंके नामका यथार्थ निर्णय किया। इसके अतिरिक्त उन्होंने 'दान-
केलि-लीला', 'दीपमालिका-चरित्र' आदि रचनाएँ कीं जिनसे आपकी प्रखर बुद्धिका परिचय
मिलता है। आपके जीवनका अधिक भाग श्रीकृष्णचन्द्र तथा उनके सखा-सखियोंकी लीलाका
वर्णन करनेमें व्यतीत हुआ। आपने कायस्थ-जातिका उद्धार किया और दृढ़ भक्तिको छोड़
कर अन्यत्र कहीं चित्तको नहीं भटकने दिया। गौतमी-तंत्रमें प्रतिपादित रीतिसे समाधिस्थ हो
कर शरदकालीन रासको देखते-देखते प्राण छोड़े। खड्गसेनजीकी वाणी (कवि-प्रतिभा)
श्रीगोविन्दचन्द्रके गुणोंको गूँथनेमें बड़ी उज्ज्वल थी।

भक्ति-रस-बोधिनी

ग्वालियर बास, सदा रासको समाज करें, सरद उजारी, अति रंग चढ़्यौ भारी है।
भाव की बढ़नि दृगन रूप की चढ़नि, तता थेई की रटनि, जोरी सुन्दर निहारी है॥
खेलमें आय मिले त्यागि तन भावना सों झेलत अपार सुख, रीझि देह वारी है।
प्रेम की सचाई, ताकी रीति लै दिखाई, भई भावकनि सरसाई, बात लागी प्यारी है॥५८२॥

अर्थ—खड्गसेनजी ग्वालियरमें रहते थे। रास-समाजके आयोजनके आप प्रेमी थे। एक दिन शरद्‌की चाँदनीमें रास हो रहा था। उस दिन कुछ ऐसा समा बँधा कि खड्गसेनजीका प्रेमावेश बढ़ता ही चला गया, आँखोंमें लालजीकी छवि समाती ही चली गई और 'तताथेई' करके गानेका प्रवाह प्राणोंके अनुकूल होता ही चला गया। ऐसी स्थितिमें उन्होंने श्यामा-श्यामकी सुन्दर जोड़ीको निहारा, तो भावना द्वारा उस परम तत्त्वके साथ एकाकार हो गये और असीम आनन्दका अनुभव करते हुए अद्वय-युगल स्वरूपकी नित्य-केलिमें जा मिले। इस प्रकार उन्होंने प्रेमकी सचाईके भावको प्रत्यक्ष करके दिखा दिया। रास-समाजमें उपस्थित तथा अन्य भावुक लोगोंने जब यह दृश्य देखा अथवा बादमें सुना, तो उन सबकी देह भक्तिके प्रवाहसे सरस हो गई। टीकाकार कहते हैं कि खड्गसेनजीका इस प्रकार शरीर छोड़ना मुझे बहुत ही प्रिय लगता है।

पद—कहते हैं, खड्गसेनजीने नीचे लिखे पदको गाते-गाते अपना शरीर प्रभु पर निछावर किया था—

हैं गोपिन बिच-बिच नँदलाला।
करत नृत्य संगीत भेद गति गुंजनि गरब मराला।
फहरत अंचल चंचल कुंडल, थहरत है उर माला॥
मध्य रली मुरली मोहन धुनि, गान बितान छयौ तिहि काला।
चलित झमकि झंकार बलय मिलि, नूपुर किंकिनि जाला॥
देव बिमानन कौतुक मोहे, लखि भौ मदन बिहाला।
'खड्गसेन' प्रभु रैन सरद की, बाढ़ो रंग रसाला॥

विशेष—'रसिक-अनन्यमाल' में भानुगढ़के निवासी और ग्वालियरके राजा माधवसिंहजीका 'प्रधान' बतलाया है। साधु-सन्तोंकी सेवा तथा रासके आयोजनोंमें आपको खुलकर खर्चा करते हुए देखकर राजाको एक बार यह सन्देह होगया कि यह सब खजानेका रुपया उड़ाया जा रहा है। फलतः राजाने इन्हें बन्दी-गृहमें डाल दिया। इस घटनाके बाद ही राजा ऐसा बीमार पड़ गया कि बचनेकी आशा न रही। यह देखकर राजाको ज्ञान हुआ और उसने तुरन्त खड्गसेनजीको रिहा कर दिया। कुछ दिन बाद राजा भी स्वस्थ होगया। किन्तु बालकरामजी आदिकी टीका एवं लालदासजी आदिकी भक्तमालों में ऐसा कोई संकेत नहीं मिलता। सम्भवतः रसिक अनन्यमालमें वर्णित खड्गसेन कोई दूसरे भक्त रहे हों।

मूल (छप्पय)

(श्रीगंग-ग्वालजी)

स्यामाजू की सखी नाम आगम बिधि पायौ ।
ग्वाल गाय ब्रजगाँव पृथक नीके करि गायौ ॥
कृष्ण केलि सुख सिंधु अघट उर अंतर धरई ।
ता रस में नित मगन असद आलाप न करई ॥
ब्रजबास आस 'ब्रजनाथ' गुरु भक्त चरण रज अननि गति ।
सखा श्याम मन भावतौ गंग ग्वाल गंभीर मति ॥१६२॥

अर्थ—श्रीगंग-ग्वालजीने श्रीराधिकाजीकी सखियोंके नाम पौराणिक ग्रन्थोंसे खोज कर निश्चित किये और गोप तथा गायोंके नाम तथा ब्रजके गाँवोंके स्थानोंका ठीक-ठीक पता लगाया। अपार आनन्द-समुद्रमें डुबा देने वाले नित्य-विहारका आप एकरस होकर चिन्तन करते थे। आप ब्रजमें निवास करते और केवल ब्रजराजकी ही आशा रखते थे, गुरुदेव एवं भक्तों की चरण-रजको ही वे अनन्यभावसे अपनी गतिका साधन मानते थे। श्रीगंग-ग्वालजी, इस प्रकार, श्रीश्यामसुन्दरके प्यारे सखा थे। आपकी बुद्धि (भक्ति-भावना) बड़ी अगाध थी।

भक्ति-रस-बोधिनी

पृथ्वीपति आयो बृन्दाबन, मन चाह भई सारंग सुनावै कोऊ, जोरावरी ल्याये है।
बल्लभ हू संग, सुर भरत ही छायो रंग, अति ही रिझायो, दृग अँसुवा बहाये हैं।
ठाढ़ो करि जोरि बिनै करी, पै न धरी हिये, जिये ब्रज भूमि ही, सो बचन सुनायो है।
कैद करि साथ लिये, दिल्ली ते छुडाय दिये हरीदास तुँवर नें, आये, प्रान पाये हैं ॥५६३॥

अर्थ—एक बार दिल्लीका बादशाह वृन्दावन आया। उसने चाहा कि कोई सारङ्ग राग सुनाये। लोग उसकी इच्छाके विरुद्ध गंग ग्वालजीको पकड़कर बादशाहके पास ले पहुँचे। गंग ग्वालजीके साथ 'बल्लभ' नामक कोई गायक था। दोनोंने मिलाकर जो स्वर भरा कि सारा वातावरण रसमय हो गया। उपस्थित समुदाय बड़ा प्रसन्न हुआ, यहाँ तक कि लोगोंकी आँखों में आँसू आ गये।

बादशाहने, इसपर, खड़े हो, हाथ जोड़कर गंग ग्वालजीके साथ चलनेकी प्रार्थना की, पर आपके हृदयने इस बातको नहीं माना। कह दिया—"मेरा जीवनतो ब्रज-भूमि ही है; इसे छोड़कर अब मैं और कहीं नहीं जा सकता।"

निदान बादशाह आपको कैदकर अपने साथ दिल्ली ले गया। वहाँ पाटम-राजवंशी भक्तवर हरीदास तुँवरने बादशाहसे कह कर आपको छुड़वा दिया। दिल्लीसे चलकर आप पुनः ब्रजमें आगए। मृतकको मानो प्राण-लाभ हुआ।

विशेष :—आप जातिके गुजर गौड़ ब्राह्मण थे । भक्त-दाम-गुण चित्तनी पत्र ४२५ पर आपकी एक कथा और मिलती है—साधु सन्तोंकी सेवा में अन्न-धनको खर्चते हुए देखकर बड़ा भाई इनपर बड़ा क्रुद्ध रहता था । एक दिन वह जब जानसे मारनेको उतारू होगया, तब गंगग्वाल भागकर एक कुएमें कूद पड़े । भगवानने इन्हें अधर ही झेलकर बचा लिया । प्रभुके अनुपम रूपको देखकर ग्वालजीके हर्षका पारावार नहीं रहा । प्रभुको सन्तुष्ट देखकर इन्होंने प्रार्थना की—"प्रभो! मुझे आप अपनी सभी लीलाएँ दिखाओ। भगवान्ने सब लीलायें दिखाकर कहा—"तेरी संत-सेवा वाली निष्ठापर मैं मुग्ध हूँ ।" इतना कहकर प्रभुने उन्हें कूपके बाहर उछाल दिया और आप अन्तर्धान होगये । प्रभुके दर्शन होने पर गंगग्वालके मुखमंडल पर एक अपूर्व तेज छागया । भाई-आदि भी सब अनुकूल होगये । फिर निर्द्वन्द्व हो आप पद रचना करने लगे । उनमें प्रभुकी लीलाओंका वर्णन है ।

भगवान श्रीनिम्बार्काचार्यपर भी आपने रचनायेंकी हैं । उनमेंसे एक कवित्त यहाँ दिया जाता है—

फर्के पाप पुंजन की पल में पलायमान, थर्के विषमता की थँडें जाके नेक छूजिये ।
नर्के के निकेत नोकवारते निकासि नाखे, पुर्षन की पंगत किते की कहूँ हूजिये ।
सर्के जाय संकट "समूह ग्वाल कवि" भाखें, गर्के करें मोद मैन और विधि दूजिये ।
तर्के के वितर्क के औ फर्के कें मिटैया ऐसे स्वामी श्री निम्बार्क जू के पद्म पद पूजिये ॥

मूल (छप्पय)

(श्रीदिवाकरजी)

परम भक्ति परताप धरम ध्वज नेजाधारी ।
सीतापति को सुजस बदन सोभित अति भारी ॥
जानकी जीवन चरन सरन थाती थिर पाई ।
नरहरि गुरु परसाद पूत पोते चलि आई ॥
'राम उपासक' छाप दृढ़ और न कछु उर आनियो ।
'सोती' सलाघ्य संतनि सभा दुतिय दिवाकर जानियो ॥१६३॥

अर्थ—श्रीसोतीजी भक्तिके प्रकाश-रूप थे और धर्म-रूपी ध्वजाके दण्ड । आपका मुख सीतापति श्रीरामचन्द्रजीके यशोगान करते रहने के कारण सदा सुशोभित रहता था । जानकी-जीवन श्रीराघवेन्द्रके चरणोंमें शरण जानेकी भावना आपने हृदयमें ऐसी धरोहरके रूपमें रक्खी कि उसके उठानेका प्रश्न ही नहीं था । आपके गुरुदेव श्रीनरहरिदासजी थे जिनकी कृपासे आप के पुत्र-पौत्रों तकमें रामभक्ति दृढ़ रही । "राम उपासक सोती जी" आपकी अमिट छाप थी—अर्थात् 'रामोपासक' विशेषण आपके नामका एक अमिट अङ्ग बन गया था । राम-भजनके अतिरिक्त और कोई अभिलाषा आपकी थी ही नहीं । सन्तोंके समाजमें प्रशंसनीय पद प्राप्त करनेवाले श्रीसोतीजी, इस प्रकार, दूसरे सूर्यके समान हुए ।

भक्त-दाम-गुण चित्रणी, पत्र ४२५ पर श्रीदिवाकरजीका जो वृत्त प्राप्त हुआ है उसका आशय नीचे दिया जाता है—

अपनी भक्तिके प्रकाशसे सूर्यके समान प्रकाश करने वाले श्रीदिवाकरजी मोती जातिके (ओझा) ब्राह्मण थे। आप सन्त-मण्डलीके बीचमें विराज कर श्रीरामचन्द्रके पवित्र नामोंका कीर्तन जिस" प्रीति करते थे उसका वर्णन कर सकना कठिन है।

एक बार आपके किशोर पुत्रके शीतला निकल आई। आपकी पत्नी बोली—"शीतलादेवीकी उपासना कीजिये तो पुत्रका दुख बहुत जल्दी दूर हो जायगा।" यह सुनकर श्रीरामचन्द्रजीके अनन्य-उपासक श्रीदिवाकरजीको क्रोध आ गया और वे बोले—

अरी! सुनि, नारी! तू गँवारी, न बिचारी भक्ति, तातें व्यभचारी बात उचारी बताइये।
एक प्राणनाथ रघुनाथ बिना आन देव, पूज्यो न सम जाते स्वधरम घटाइये॥
राम की उपासमें न आन की उपास मिलै, मिलै जैसे दूध काँजी बोऊ स्वादु हानिये।
जैसे आन धास-पात खेलो धान नास जाय, जैसे बहु पति नीकी कौन नारि जानिये॥
ऐसे ही समझि लेऊ राम की उपासी जैसे—हाथी पै चढ़यो सो कैसे खर मन मानिये।
जिवावै तौ राम भलै, मारै तौ हू राम भलै, पै न चले आन पास, ऐही दृढ़ जानियै॥

इस प्रकार अपनी पत्नीको समझाकर आपने श्रीरामके ऊपर अपने पुत्रके जीवन-मरणका भार सौंप दिया और उनकी कृपासे वह जल्दी ही अच्छा भी हो गया। तब श्रीदिवाकरजीने बहुत बड़ा भंडारा किया और श्रीरामके भोग लगाकर सन्तोंको प्रसाद पवाया।

एक बार आपके पास जब अन्नका अभाव होगया तो जगज्जननी श्रीसीताजी साधारण स्त्रीका वेश बनाकर आई और आपको बीस रुपये धरोहरके रूपमें देकर चली गई। आपने उन्हें सिंहासन पर रख दिया। बादमें जब देखा तो वहाँ चमचमाते हुए चाँदीके रुपयोंकी विशाल राशि निगाह पड़ी। आपने सोचा कि यह तो मेरे प्रभुने ही कृपा की है और बड़े उत्साहसे भण्डारा करके साधुओंको भोजन कराया। धन मिल जाने पर आपने पुनः सन्त-सेवा पूर्ववत् करनी चालू कर दी।

एक बार आपकी पुत्र-वधू बीमार हो गई। उसने आपसे वैद्यराजसे दवाई खरीदनेके लिये कुछ रुपये माँगे। आप बोले—"संसारसे, जो सबसे भयंकर रोग है, मुक्ति दिलाने वाला तो सन्तोंका चरणामृत होता है, फिर तुम इस साधारण रोगके लिए किस वैद्यकी खोजती फिरोगी? जो यह संत-भगवानका चरणामृत और श्रद्धा पूर्वक पा जाओ; तुम्हारा रोग अभी समाप्त हो जायगा।"

श्वसुरके इस प्रकार कहने पर बहूने जब सन्तोंका चरणामृत पिया तो उसका दुःख-दर्द सब दूर होगया। श्रीबालकरामजी कहते हैं कि दिवाकर भक्तके इन सरस चरित्रोंसे हमारा मन तो पूर्ण-रूपसे भीग गया है।

मूल (छप्पय)
(श्रीलालदासजी)

हिरदै हरी गुन खानि, सदा सतसंग अनुरागी।
पदम-पत्र ज्यों रह्यौ लोभ की लहर न लागी॥
बिस्नुरात समरीति "बघेरे" त्यों तन त्याग्यौ।
भक्त-बराती-बृंद मध्य दूलह ज्यों राज्यौ॥
खरी भक्ति 'हरिपाँपुरै' गुरु प्रताप गाढ़ी रही।
जीवत जस पुनि परम पद 'लालदास' दोनों लही॥१६४॥

अर्थ—श्रीलालदासजीका हृदय गुणोंकी खान था। सत्-संगसे आपको अनुराग था। संसार में रहते हुए भी आप कमलके पत्ते की तरह लोभ-रूपी जलकी लहरसे अछूते रहे। श्रीराजा परीक्षितकी तरह आपने भी 'बँतुरे' (बँघेरे) ग्राम में श्रीमद्‌भागवतकी कथा सुनते हुए शरीर छोड़ा।

बरातियों में दूलहका जो स्थान होता है वही भक्त-मंडलीमें श्रीलालदासजी का था। गुरुदेवके निवास-स्थान 'हरिपाँपुर' में रह कर आपने गुरुकी कृपासे दृढ़ भक्ति अपनाई। श्रीलाल-दासजी को इस प्रकार इस जीवनमें यश मिला और शरीरान्त होनेके उपरान्त परम पद।

भक्तदाम गुण चित्रनी, पद ४२७ के आधारपर श्रीलालदासजीसे सम्बंधित कुछ घटनाएँ नीचे दी जाती हैं :—

१—भजनानन्दी एवं सन्त-सेवी श्रीलालदासजी एक बार भ्रमण करते हुये अपने किसी शिष्यके यहाँ पहुँचे। कुछ दिन वहाँ रहनेके उपरान्त उनके पास बाईस हरिके भक्त और आए जो बड़े भूखे थे। यह देख लालदासजीने अपने शिष्यसे कहा—"अरे भाई! कुछ खाने पीनेका सामान हो तो लाओ।"

वह बोला—"महाराज। सामानतो इस समय भगवत्कृपासे बहुत-सा भरा पड़ा है, पर पिताजी उसमेंसे लाने रत्ती-भर भी न देंगे, क्योंकि वह बहिनके विवाहके लिये तैयार कराया गया है।"

आप बोले—'तुम उसीमें से जल्दी ले आओ, तुम्हारे पिता इस समय घर पर नहीं है और जब वे आवेंगे तब उन्हें मालूम भी न पड़ेगा कि इसमेंसे सामान लिया गया है। क्योंकि जितना तुम लाओगे उतना ही उसमें बढ़ जायगा।"

गुरुदेवकी आज्ञा मानकर वह गया और सामान बाँधकर लाने लगा। माँने जब पूछा—"कहाँ ले जारहा है रे?" तो उसने कह दिया—"थोड़ा-सा उठाकर अलग रखे देता हूँ, बादमें काम तो भी आजाएगा, नहीं तो पिताजी सब समाप्त कर डालेंगे"

सन्तोंने खूब पकवान खाए और फिर उठकर कीर्तन करते हुए आगे बढ़ गए। श्रीलालदासजीने जब यह दृश्य देखा तो उनकी आँखें झर-झर करके बरस पड़ीं और वे एक दम गद्-गद् हो गए। शिष्य

सन्तोंको पकवान खिला पिलाकर जब घर गया और भंडारघर देखा तो वह पहली तरह ही लबालब भरा था। गुरुदेवके इस प्रभावकी चर्चा उसने चारों ओर की और उनकी निर्मल कीर्तिको शरद-पूर्णिमा की धवल ज्योत्स्नाके समान सर्वत्र विकीर्ण कर दिया।

२—एक बार कोई अत्यन्त दीन-हीन भिखमंगा ब्राह्मण अपने एक पुत्र एवं पत्नीके साथ आपके पास आया और अपनी दरिद्रताके निवारणका उपाय पूछने लगा। आप बोले—"हमारी बात मानो तो हम एक उपाय बतलावें।"

ब्राह्मणने कहा—"बतलाइये महाराज ! बड़ी कृपा होगी।" आपने बतलाया, देखो, आजसे ही सन्त-सेवाका व्रत ले लो और फिर तुम्हारी दरिद्रता शीघ्र ही दूर हो जायगी ?"

ब्राह्मणने निराश होकर कहा—"महाराज ! बिना अन्नके यह काम कैसे सम्भव है ?"

आप बोले—"इसके लिए अन्नकी कोई आवश्यकता नहीं। तुम भिक्षा तो करते ही हो। मान लो उसमें चार रोटियाँ मिलती हैं, तो एक किसी संतको खिला दो और तीनसे अपना निर्वाह करो। इस प्रकार करते करते ६ माहके उपरान्त तुम्हारे पास अपार सम्पत्ति हो जावेगी।"

आपने ब्राह्मणको जब विभिन्न प्रकारसे समझाया तो उसे विश्वास होगया कि संत-सेवासे ही दरिद्रता दूर हो सकती है और वह भिक्षामें प्राप्त अन्नसे ही सन्त-सेवा करने लगा। इसी क्रमसे श्रीलालदास जीकी आज्ञाको पालन करता हुआ छः महीनेमें वह अतुल सम्पत्तिका अधिकारी बन गया। उसने गुरुदेवके चरणोंमें भी अपार धन भेंट किया जिसे आपने उसी समय विशाल भंडारा करके साधु-सेवामें लगा दिया।

३—एक बार कोई सरदार किसी असाध्य रोगसे ग्रसित अपनी पत्नीको लेकर आपके पास आया। आपने सन्त-चरणामृत और सीथ-प्रसादीसे ही उसे अच्छा कर दिया। इससे वह सरदार बड़ा प्रभावित हुआ और उसने एक बृहद् भंडारा करके सन्तोंको भोजन कराया।

विशेष :—अजमेर राज्यान्तर्गत केकड़ीके निकट "बंघेरा" ग्राम है जिसे देवगाँव बघेरा" कहते हैं। वहाँ ही आपने शरीर छोड़ा था। हरषांपुरमें आपका गुरु स्थान था जो श्रीनिम्बार्काचार्य-पीठ सलेमाबाद से पश्चिमोत्तर पर है। इसे हरसोर भी कहते हैं। लालदासजीने पदोंकी रचना भी की थी।

मूल (छप्पय)

(श्रीमाधवग्वालजी)

निस दिन यहै विचार दास जिहि विधि सुख पावैं।
तिलक दाम सों प्रीति हृदै अति हरिजन भावैं॥
परमारथ सों काज हिए स्वारथ नहिं जानैं।
दसधा मत्त मराल सदा लीला गुन गानैं॥
आरत हरि गुन सील सम प्रीति-रीति प्रतिपाल की।
भक्तनि हित भगवत रची देई माधौ ग्वाल की॥१६५॥

अर्थ—श्रीमाधवग्वालजी को दिन-रात यही चिन्ता रहती थी कि भक्तोंको किस प्रकार सुख मिले। तिलक और तुलसी-मालासे आपका प्रेम था और भगवानके भक्तोंको आप हृदयसे चाहते थे। यदि किसी बातसे प्रयोजन था तो केवल परोपकार से। अपना स्वार्थ सिद्ध करने की बात तो कभी मनमें आती ही न थी इस प्रकारकी भक्तिसे आपका वैसा ही अनुराग था जैसा हंसका मानसरोवरके जल से। हंस जैसे मोती चुगता है, वैसे ही आप हरि-गुणका गान करते मस्त रहते थे। हरि-गुणोंको सुननेके लिए आप हर समय अधीर रहते थे। शील-सदाचार, समत्व-बुद्धि रखकर आपने भगवत्-प्रेमका निर्वाह किया। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि श्रीमाधवजी ग्वालको भगवानने भक्तोंका कल्याण करनेके लिए ही इस संसारमें जन्म दिया था।

भक्तदाम-गुण-चित्रनी, पत्र ४२९ के आधारपर श्रीमाधवदास ग्वालजीका विशेषवृत्त नीचे दिया जाता है—

श्रीमाधवदासजी बड़े परोपकारी और साधु-सेवी सन्त थे। एक बार आपके पास कोई महात्मा आए और अपने गुरुदेवका भण्डारा करनेके लिए धनकी माँग की। आप उन्हें लेकर गाँवके बनियोंके पास गए और बोले—"आप सब लोग चन्दा करके थोड़ा-बहुत धन इकट्ठा कर दीजिए ताकि इन महात्माजीके गुरुदेवका भण्डारा हो जाय। इससे इस लोकमें यश होगा एवं परलोकके लिए आपका धन सुरक्षित हो जायगा और महात्माजीका काम भी निकल जायगा।"

श्रीमाधवदासजीने उन्हें बहुत समझाया, पर किसीने एक पैसा भी जब न दिया तो आप अपने घर आए और बेटीके विवाहके लिए जो सामान रख छोड़ा था, वह पत्नीसे छिपकर इन महात्माजीको सौंप दिया। वे लेकर सानन्द चले गए।

इधर जब पत्नीने सुना कि लड़कीके विवाहका सारा सामान उठाकर महात्माको दे डाला है, तो उसके क्रोधका वार-पार न रहा। माधवदासजी क्लेशके कारण उसके सामने नहीं आते थे। आपकी पत्नीने कुछ समय बाद भण्डार-घरमें जब पैर रक्खा तो देखकर हैरान हो गई। पुत्रीके विवाहका समस्त सामान तो ज्योंका त्यों रखा था। वह दौड़कर आपके पास आई और प्रसन्नतासे पुकार कर कहा—"क्यों जी! आपने तो सारा सामान महात्माको भण्डारेके लिए दे दिया था न, फिर वह कहाँसे आ गया?"

आप समझ गए कि यह प्रत्यक्ष चमत्कार सन्तोंकी सेवासे ही देखनेको मिला है और भगवान उन्हींपर कृपा करते हैं जो सन्तोंकी आराधना करते हैं। सन्त-सेवाके रसकी तुलना में मुक्ति आदि सब पुरुषार्थ हेय हैं। यह विचारते ही श्रीमाधवदासजी आनन्दमें विभोर हो गए और उनके मुँहसे निकल पड़ा—

> ते बड़ भागी जे करत हरि-जन-सेव-विनोद।
> इहाँ सुजस सम्पति लभत, आगें मुक्ति प्रमोद॥

विशेष—गुर्जरगौड़ ब्राह्मणकुलमें गङ्गकी भाँति इनकी भी ग्वाल उपाधि थी और श्रीनिम्बार्क-सम्प्रदायके ये दोनों साधना-निष्ठ भक्त थे।

मूल (छप्पय)

(श्रीप्रयागदासजी)

मानस बाचक काय रामचरननि चित दीनौ ।
भक्तनि सों अति प्रेम भावना करि सिर लीनौ ॥
रास मध्य निर्जान देह दुति दसा दिखाई ।
'आड़ो बलियो' अंक महोछौ पूरो पाई ॥
'क्यारे' कलस औली धजा बिदुष श्लाघा भाग की ।
श्री 'अगर' सुगुरु परताप तें पूरी परी 'प्रयाग' की ॥१६६॥

अर्थ—श्रीप्रयागदासजीने मन, वाणी और कर्मसे श्रीरामचन्द्रजीके चरणोंमें अपना मन अर्पित कर दिया था । भक्तगण आपको बड़े प्रिय थे । अत्यन्त आदर-भावनाके साथ उन्हें आप अपने सिर-माथे लेते थे । एक समय जब रासलीलाका अनुकरण चल रहा था, तब प्रभुकी छविका ध्यान करते हुए आपने शरीर छोड़ दिया । इससे पूर्व आपने अपनी भक्तिका प्रभाव उस समय दिखाया जब कि एक ओर 'आडाबला' नामक स्थानके किसी मन्दिरपर 'क्यारे' नामक गाँवके एक मन्दिरके शिखरपर कलश चढ़ाया जानेको था और दूसरी ओर उसी दिन औलीगाँवमें ध्वजारोपणका उत्सव होनेको था । दोनों ही स्थानोंसे आपको बुलाया आया और दो शरीर धारण कर आपने दोनोंमें भाग लिया और दोनों उत्सवोंको सम्पन्न कराया । यह चमत्कार देखकर विद्वानोंने आपकी बड़ी प्रशंसा की । गुरुदेव श्रीअग्रदासजीकी कृपासे, इस प्रकार, प्रयागदासजीके भक्ति-सम्बन्धी सब कार्य बिना विघ्न-बाधाके पूरे उतरे ।

श्रीप्रयागदासजीकी यह गाथा भक्तदाम-गुण-चित्रनी टीकाके पत्र ४३० पर जिस प्रकार दी गई है, उसका उल्लेख नीचे किया जाता है—

भगवान श्रीरामके अनन्य उपासक एवं अग्रदासजीके शिष्य श्रीप्रयागदासजी सन्तोंसे कितना प्रेम करते थे, यह बात वर्णन करनेकी नहीं है ।

एक बार अपना अन्तिम समय जानकर आपने सन्त-समाज एकत्रित किया और उसमें अनेकों प्रकारसे रास-विलास, नृत्य-गान एवं भजन-कीर्तन होने लगे । उसी समय आपके पास एक सन्त-महाराज पधारे और बोले—"अमुक महात्माजीके आश्रममें सन्तोंकी विशाल जमात इकट्ठी हुई है और उसमें आपको भी बुलाया गया है ।"

जिस प्रकार सांसारिक मनुष्यकी रूप, धन एवं शक्तिकी इच्छा कभी शान्त नहीं होती—प्रति क्षण बढ़ती ही जाती है, उसी प्रकार भक्तके मनमें सन्त-दर्शनकी अभिलाषा क्षण-क्षण उत्कट होती जाती है । इस समय श्रीप्रयागदासजीने जब दूसरे साधु-समाजका समाचार सुना तो वे विकल हो उठे । उनका मन न तो यहाँके उत्सवको त्यागना चाहता था और न वहाँके ही को । उन्हें इस चिन्तामें देखकर

भगवानने उनके दो शरीर कर दिए और इस प्रकार वे दोनों स्थानोंके सन्तोंके दर्शनका आनन्द प्राप्त कर सके ।

विशेष—"आड़ो वलियो अंक महोछौ" इन शब्दोंसे श्रीरूपकलाजीने "आरा और वलिया का तात्पर्य व्यक्त किया है, किन्तु वह भ्रान्ति है । आड़ा—वलिया आबू पर्वतका नाम है "अर्बुद पहाड़का बहुतसा भाग राजस्थानमें ही है । उसी पहाड़के अङ्क (उपत्यका-स्थल) में स्थित क्यारा गाँवमें एक महोत्सव था ।

इधर हरियाना प्रदेशके ओली गांवमें श्रीपरमानन्दजीके यहाँ महामहोत्सव था । परमानन्दजी (श्रीनागाजीके गुरुदेव) में सभी सन्तोंकी विशेष श्रद्धा थी । उस उत्सवमें पहुँचकर सन्त-समाजके दर्शन करने के लिए प्रयागदासजीके चित्तमें भी उत्कट अभिलाषा हुई थी । इधर सन्निकट ही आड़ावलियाके पास "क्यारा" ग्रामके उत्सवमें भी उन्हें सम्मिलित होना अभीष्ट था । प्रभुने ऐसी कृपा की कि आप दोनों उत्सवोंमें वे सम्मिलित हो सके । श्रीपरमानन्ददेवजीके यहाँ ओली ग्राममें ध्वजारोपण महोत्सवका आगे छप्पय १६६ वें में उल्लेख है ।

मूल (छप्पय)

(श्रीप्रेमनिधिजी)

सुंदर सील सुभाव मधुर बानी मंगल करु ।
भक्तनि कों सुख दैन फल्यौ बहुधा दसधा तरु ॥
सदन बसत निर्वेद सारभुक जगत असंगी ।
सदाचार ऊदार नेम हरिदास प्रसंगी ॥
दया दृष्टि बसि 'आगरैं' कथा लोग पावन कर्यौ ।
प्रगट अमित गुन 'प्रेमनिधि' धन्य विप्र जे नाम धर्यौ ॥१६७॥

अर्थ—श्रीप्रेमनिधिजी स्वभावके अत्यन्त विनयी थे । आपकी वाणीमें बड़ा रस था और उस (कथा-वार्ता, उपदेश आदि) के द्वारा आप सबका कल्याण करते थे । भक्तोंको सुख देनेके लिये आप एक प्रकारके कल्पवृक्ष थे जिसमें प्रेम-लक्षणा भक्तिके फल लगते थे । आप रहते तो घरमें ही थे, पर अत्यन्त अनासक्तिसे तत्त्व पदार्थको ग्रहण करते और संसारके प्रपंचोंसे दूर रहते थे । आपके आचरण अत्यन्त पवित्र और उदारतापूर्ण थे और रसिक-शेखर स्वामी श्रीहरिदासजीके आप कृपापात्र थे, अतः उनके दर्शन-स्पर्श नियमसे किया करते थे । लोगों पर दया करके आपने श्रीवृन्दावन छोड़ कर आगरेमें रहना स्वीकार किया और भगवत्-संबन्धी चर्चाओं द्वारा उन्हें पवित्र किया । श्रीप्रेमनिधिजीमें, इस प्रकार, प्रेमके गुण प्रत्यक्षरूपसे प्रकट थे । उस ब्राह्मणको धन्य है जिसने आपका ऐसा सार्थक नाम रक्खा ।

भक्ति-रस-बोधिनी

प्रेमनिधि नाम, करैं अभिराम स्याम, आगरौ सहर, निसि सेस जल ल्याइयै।
बरखा सुरितु जित तित अति कीच भई, भई चित चिंता, "कैसे अपरस आइयै ॥
"जो पै अंधकार ही मैं चलौं, तो बिगार होत," चले यौं बिचारि नीच छुवै न सुहाइयै।
निकसत द्वार जब देखौ सुकुमार एक, हाथ मैं मसाल "याके पीछे चले जाइयै ॥५६४॥

अर्थ—श्रीप्रेमनिधि नामक आगरामें रहते हुए बड़े सुन्दर ढंगसे भगवानकी सेवा-पूजा किया करते थे। आपका यह नित्यका नियम था कि रात्रि बीतनेसे पूर्व ही ठाकुरके लिए यमुना-जल लाया करते थे।

एक बार वर्षा ऋतुका समय था और सारे मार्ग कीचड़से भरे हुए थे। आपको अब फिक्र पड़ी कि बिना किसीके छुए हुए अपरसी जल कैसे लावें। सोचा—"यदि अँधेरेमें चल पड़ूं तो भी खराबी है, (और यदि दिनके प्रकाशकी प्रतीक्षा करें तो किसी नीच जातिका व्यक्ति छू सकता है)। अन्तमें निर्णय किया कि अँधेरेमें ही जाना ठीक है; क्योंकि उस समय नीच जातिके लोगोंसे छू जानेका डर तो नहीं रहता। दरवाजेसे बाहर पैर रक्खा ही था आपने कि मसाल हाथमें लिए एक किशोर-अवस्थाके बालकको आगे जाता हुआ देखा और उसके पीछे हो लिये।

भक्ति-रस-बोधिनी

जानी यहै बात, पहुँचाय कहूं जात यह, अबहीं बिलात, भले चैन कोऊ घरी है।
जमुना लौं आयौ, अचरज सो लगायौ मन, तन अन्हवायौ, मति वही रूप हरी है ॥
घट भरि धर्यौ सीस पट वह आय गयौ, आय गयौ घर, नहीं देखौ कहा करी है।
लगी चटपटी अटपटी न समझि परै, भटभटी भई नई, नैन नीर झरी है ॥५६५॥

अर्थ—श्रीप्रेमनिधिजीने समझा कि यह लड़का किसी व्यक्तिको पहुँचा कर लौट रहा है और थोड़ी देर बाद अपनी दिशाको मुड़कर गायब हो जायगा, पर जितनी देर प्रकाशका लाभ मिले उतना ही सही। लेकिन लड़का कहीं गया नहीं, बल्कि यमुनाजी तक आया। प्रेम-निधिजीको बड़ा आश्चर्य हो रहा था। अस्तु, उन्होंने स्नान किया, पर उनका मन उस बालककी ओर ही खिंचा हुआ पड़ा था। ज्योंही स्नान करनेके उपरान्त उन्होंने सिर पर घड़ा रक्खा, त्योंही एक क्षणमें फिर वह लड़का आ उपस्थित हुआ और पहलेकी तरह फिर आगे-आगे चलने लगा। कुछ देर बाद प्रेमनिधिजीका घर आगया, पर लड़का न-जाने कहाँ गायब हो गया। कुछ पता न चला।

अब तो प्रेमनिधिजी उसके लिए अधीर हो उठे। यह एक ऐसी विलक्षण घटना हुई थी जिसका रहस्य उनकी समझमें नहीं आ रहा था। आपको बड़ी भड़भड़ी (अधीरता) हुई कि उसे कहां देखें, कैसे देखें? आपके नेत्रोंसे आँसुओंकी धार बह चली।

भक्ति-रस-बोधिनी

कथा ऐसी कहैं जामें गहे मन भाव भरै, करैं कृपा दृष्टि, दुष्ट जन दुख पायौ है ।
जाय के सिखायौ बादशाह उर दाह भयौ, कही तिया भली की समूह घर छायौ है ॥
आए चोवदार, कहैं, चलौ एही बार-बार, झारी प्रभु आगे धरयौ चाहैं, सोर लायौ है ।
चले तब संग गए, पूछे नृप "रंग कहा ? तियनि प्रसंग करौ ?" कहि कै सुनायौ है ॥५६६॥

अर्थ—श्रीप्रेमनिधिजी श्रीमद्भागवतकी ऐसी सुन्दर कथा कहते थे कि वह मनको प्रेमानन्दसे भर कर अपनी ओर खींच लेती थी । जीवों पर उन्हें इस प्रकार कृपा करते देख कर दुष्टोंके ईर्षा हुई और उन्होंने यह कह कर बादशाहके कान भरना शुरू किया कि 'प्रेमनिधिके घरमें नगरके भले घरोंकी औरतोंका जमघट हर समय बना रहता है । यह कोई अच्छी बात नहीं है ।'

बादशाहने दुष्टोंकी बातोंमें आकर चोबदारको आज्ञा दी कि 'प्रेमनिधिको बुलाकर हाजिर किया जाय ।' आज्ञाके अनुसार चोबदार प्रेमनिधिजीके घर पहुँचे और बार-बार कहने लगे कि 'इसी वक्त चलिये ।' उस समय आप प्रभुको जलका भोग रखनेके लिए झारी रखनेकी सोच रहे थे, पर चोबदारोंने इतना समय भी नहीं दिया । निदान उन्हें जैसे बैठे थे उसी हालतमें चल देना पड़ा । सामने आते ही बादशाहने पूछा—"यह क्या हाल है तुम्हारा ? सुना है, तुम भले घरकी स्त्रियोंको बुला कर उनसे सम्पर्क करते हो ?"

भक्ति-रस-बोधिनी

"कान्ह भगवान ही की बात सो बखानि कहौं, आनि बैठें नारी नर लागी कथा प्यारी है ।
काहू को बिडारैं, झिरकारैं, नैकु टारैं, बिसैं दृष्टि कै निहारैं, ताको लगै दोष भारी है" ॥
"कही तुम भली, तेरी गली ही के लोग मोसों आय कै जताई यह रीति कछू न्यारी है" ।
बोल्यौ, "याहि राखौ, सब करौ निरधारि नीके" चले चोबदार लेकै, रोके प्रभु धारी है ॥५६७॥

अर्थ—प्रेमनिधिजीने उत्तरमें बादशाहसे निवेदन किया—"सरकार ! मैं तो श्रीकृष्ण भगवानकी लीलाओंकी कथा कहता हूँ । जिन पुरुषों अथवा स्त्रियोंको वह अच्छी लगती है, वे सुननेके लिये आ जाते हैं । इनमेंसे किसीको डाट-फटकारकर निकाल दिया जाय, अथवा कोई उनकी ओर बुरी निगाहसे देखे, तो यह बड़ा अपराध माना जाता है ।"

बादशाहने कहा—"बात तो तुम ठीक कहते हो, पर तुम्हारे पड़ोसियोंने ही हमसे शिकायत की है कि तुम्हारा तो रंग-ढंग ही कुछ और है ।"

यह सुनकर बादशाहने चोबदारोंको हुक्म दिया कि जब तक इसका निर्णय न हो जाय कि इसकी नीयत कैसी है, तब तक इसको नजरबंद करके रखा जाय ।"

आज्ञानुसार चोबदारोंने लेजाकर प्रेमनिधिजीको बन्द कर दिया । अपनेको इस अवस्था में देखकर आपने भगवानसे प्रार्थना की और भक्त-वत्सल प्रभुने उसे सुना ।

भक्ति-रस-बोधिनी

सोयौ बादसाह निसि, आयकै सुपन दियौ, कियौ वाकौ इष्ट भेष, कह्यौ 'प्यास लागी है।'
"पीवौ जल," कह्यौ "आबखाने लै बखाने," तब अति ही रिसाने, "को पियावै, कोऊ रागी है।"
फेर मारी लात, "अरे सुनी नहीं बात मेरी?" "आप फुरमायौ जोई प्यावै बड़ भागी है।"
"सो तौ लै लै कैद करयौ," सुनि थरथरयौ, डरयौ, भरयौ हिये भाल, मति सोवत तें जागी है ॥५६०॥

अर्थ—प्रेमनिधिजीको कारागारमें डालनेके बाद उस रातको जब बादशाह सोया, तब प्रभुने उसीके इष्टदेव मुहम्मद साहबका वेष बनाकर उससे स्वप्नमें कहा—"हमको प्यास लगी है, पानी लाओ।" बादशाहने कहा—आबखानेमें जल है, शौकसे पीजिये" मुहम्मद साहब इस बातपर नाराज हो गये और कहने लगे—"कौन पिलायेगा? ऐसा खादिम है कोई जो सच्ची मुहब्बतसे पिलाए?"

बादशाह क्या जवाब दे। उसे चुप देखकर मुहम्मद साहबने उसमें कसकर एक लात जमाई और चिल्लाकर बोले—"सुना नहीं तूने?"

बादशाहने कहा—"जिस खुशकिस्मतको आपका हुक्म फरमावें वही पिला देगा।"

मुहम्मद साहब बोले—"उसे तो तूने कैदमें डाल रक्खा है!"

यह सुनते ही बादशाहके होश फाख्ता हो गये और उसके मनमें प्रेमनिधिजीके प्रति श्रद्धा का संचार हो गया। वह मानो सोतेसे जाग पड़ा।

भक्ति-रस-बोधिनी

दौरे नर नारी सबै, बेगि दै लिवाय ल्याये, देखि लपटाये पाँय नृप, दृग भीजे हैं।
साहिब तिसाये, आप अब हीं पियावौ नीर, और पै न पीवें, एक तुम ही पर रीझे हैं॥
लेवौ देस गाँव," "सदा पीव हीं सों लाग्यौ रहौं, गह्यौ नहीं नेकु, धन पाय बहु छीजे हैं।
संग दै मसाल ताही काल में पठाये, यों कपाट जाल खुले, लाल प्यायौ जल, भीजे हैं ॥५६१॥

अर्थ—बादशाहकी आज्ञा सुनकर तुरन्त नौकर-चाकर दौड़े गये और प्रेमनिधिजीको कारागारसे साथ ले आये। देखते ही बादशाह आँखोंमें आँसू भर आपके पैरों गिर पड़ा और कहने लगा—"साहबको प्यास लगी है; और किसीके हाथसे पीते ही नहीं हैं; वह आप पर ही खुश हैं। जल्दीसे जाकर उन्हें पानी पिलाइये और मुझसे जितने भी प्रदेश या गाँव लेने हों, लीजिये।

प्रेमनिधिजीने उत्तर दिया—"मेरे लगन उसी एक प्रियतमसे लगी है, मुझे आपकी दौलत नहीं चाहिये। धन तो मेरे पास बहुतेरा आया और चला गया। ऐसी चीज लेकर मैं क्या करूँगा?

बादशाहने उसी समय मसालचियोंके साथ आपको घर पहुँचवा दिया। इस प्रकार

राजाकी अज्ञान-रूपी किवाड़ें, जो अब तक बंद पड़ी थीं, खुल गईं—अर्थात् उसे मालूम हो गया कि भक्तोंकी महिमा कैसी होती है। उधर घर पहुँच कर प्रेमनिधिजीने ठाकुरको जलका भोग लगाया और उन्हें प्रसन्न कर स्वयं भी प्रसन्न हुए।

मूल (छप्पय)

(श्रीराघवदास दूबलोजी)

सदाचार गुरु सिष्य त्याग विधि प्रगट दिखाई।
बाहेर भीतर विसद लगी नहिं कलिजुग काई॥
राघौ रुचिर सुभाव असद आलाप न भावै।
कथा कीरतन नेम मिलें संतनि गुन गावै॥
ताप तोलि पूरौ निकष ज्यों घन अहरनि हीरौ सहंत।
'दूबलौ' जाहि दुनियाँ कहै, सो भक्त भजन मोटो महंत॥१६८॥

अर्थ—श्रीराघवदासजीने सदाचार, गुरु-शिष्यके पारस्परिक संबन्ध तथा त्यागकी रीति के आदर्शोंको अपने कर्तव्यों द्वारा स्पष्ट रूपसे संसारके सामने रक्खा। आपके बाह्य और आभ्यन्तर—दोनों स्वरूप अत्यन्त निर्मल थे, कलियुगके दोष उन्हें छु तक नहीं गये थे। आपका स्वभाव बड़ा ही सुन्दर था। बुरी बातोंको तो आप बिल्कुलही पसन्द नहीं करते थे। सन्तोंके सम्पर्कमें रहकर नियमपूर्वक प्रभुकी कथा कहते, सुनते और उनके गुणोंका कीर्तन करते थे। जिस प्रकार सुवर्णकी परीक्षा आगमें तपाने और कसौटीपर कसनेसे होती है, और अपनेको सच्चा सिद्ध करनेके लिए जैसे हीराको निहाईपर हथौड़ेकी चोटें झेलनी पड़ती हैं, उसी प्रकार राघवदासजीभी गुरु और सन्तोंकी कठिन परीक्षाओंमेंसे गुजरते हुए खरे उतरे थे। जिन राघवदास जीको दुनियाँ 'दुबला' महन्तके नामसे पुकारती थी, वे शरीरसे दुर्बल होते हुए भी भजन करनेमें बलशाली थे।

भक्तदाम-गुण-चित्रनी, पत्र ४३४ पर श्रीराघवदासजीका जो चरित्र प्राप्त हुआ है, उसका आशय संक्षेपमें नीचे दिया जाता है—

श्रीराघवदासजीका एक वैश्य-शिष्य किसी गाँवमें रहता था। वह साधुओंकी सेवा तो खूब करता था, पर पहिले उनकी परीक्षा भी लेता था। एक बार श्रीराघवदासजी जब उनके घर गए तो इनकी परीक्षाके लिए भी वैश्यने अपनी पत्नीको भेज दिया। वह आई और आपके पैर दबाने लगी। श्रीराघवदासजी बिलकुल साफ दिलके सन्त थे। आप भक्तकी इच्छा समझकर पैर दबवाते रहे। आपके मनमें किसी भी प्रकारका विकार पैदा नहीं हुआ। इन दोनोंकी विरोधी बात समझ कर पत्नी आपके सम्बन्ध में कुछ भी निर्णय न कर सकी।

इसी प्रकार नित्य-प्रति नये उपायोंका प्रयोग करते-करते २० दिन व्यतीत हो गए, पर स्त्री आपके सम्बन्धमें कोई भी मत निश्चित न कर सकी। इक्कीसवें दिन रातको नए उपायका प्रयोग प्रारम्भ होनेवाला था। वैश्य-शिष्यकी पत्नी सज-धजकर आपके बिस्तरके पास आई और कटाक्षसे देखती हुई बोली—"आइए, ज़रा मेरी गोदमें बैठ जाइए, न-जाने मेरा जी आज क्यों उड़ा जा रहा है।"

आप बोले—"अच्छा, माताजी! यदि मेरे गोदमें बैठनेसे तुम्हें आनन्द मिल सकता है तो मैं तैयार हूँ और आप पुत्रके समान झटसे उसकी गोदमें जा बैठे।

गुरुदेवके मुँहसे 'माताजी' ऐसा सम्बोधन सुननेके बाद वैश्यने स्वाभाविकतासे कहा—"सन्तोंकी परीक्षा लेनेसे और कोई विशेष हानि तो नहीं, पर भक्ति अवश्य घटती है, अतः हमारी समझ में यह काम ठीक नहीं।"

गुरुदेवकी ऐसी मधुर वाणी सुनकर वैश्य कृतकृत्य हो गया और उस दिनसे श्रीराघवदासजी द्वारा बतलाई गई भक्ति-पद्धतिके अनुसार ही सन्तोंकी सेवा करने लगा।

श्रीराघवदासजीके सम्बन्धमें एक बात और सुनिए जिससे उनके स्वभावका और भी स्पष्ट परिचय मिल जावेगा। एक बार आप किसी राजाके यहाँ ठहरे हुए थे। राजा आपका बड़ा सम्मान करता था। एक असहिष्णु ब्राह्मणने उनके इस सत्कार को न सह सकनेके कारण एक वेश्याको कुछ रुपए और एक अङ्गोछा देते हुए कहा—"ये रुपये तो तुम्हारे इनामके हैं और तुम्हारा काम यह है कि जिस समय श्रीराघवदासजी राजाकी सभामें बैठकर उपदेश कर रहे हों उस समय तुम वहाँ जाना और इस अङ्गोछे को उन्हें देते हुए कहना कि 'महाराज कल रातको यह अङ्गोछा आप दासीके कोठेपर ही भूल आए थे, सो लीजिए।"

वेश्याने राज-सभामें आकर जब ब्राह्मणके सिखाए अनुसार अङ्गोछा श्रीराघवदासजीको दिया तो उन्होंने सहर्ष ले लिया—जैसे वह उन्हीं का हो। राजाने जब यह दृश्य देखा तो एक बार तो उनकी गर्दन लज्जासे नीचे झुक गई, पर दूसरे ही क्षण उन्होंने वेश्याको बुलाया और भय दिखाकर सच-सच बात पूछी। उसने सब हाल कह सुनाया। इसपर राजाने ब्राह्मणको मार डालनेकी आज्ञा निकाल दी, पर श्रीराघवदासजीने कह-सुनकर उसे भी क्षमा करा दिया।

मूल (छप्पय)

हरिनारायन नृपति पदम 'बेरछै' बिराजैं।
गाँव हुसंगाबाद अटल ऊधौ भल छाजैं॥
भेलै तुलसीदास भट ख्यात देव कल्यानौ।
बोहिथ श्रीरामदास 'सुहेलै' परम सुजानौ॥
'औली' परमानंद कै ध्वजा सबल धर्म कि गड़ी।
दासनि के दासत्त कौ चौकस चौकी ए मड़ी॥१६६॥

अर्थ—'वेरछा' में श्रीहरिनारायणजी और राजा पदुमजी, होशंगाबादमें अटल ऊधौजी, भैंसा ग्राममें श्रीतुलसीदासजी तथा श्रीदेवकल्याणजी, 'सुहेला' में जीवोंको भव-सागरसे उद्धार करनेवाले श्रीबोहिथदेवजी और बीरारामजी तथा "श्रौली" में परमानन्दजी, जिनके दरवाजेपर भागवत-धर्मकी पताका फहराती रहती थी, हुए। भगवानके दासोंमें सेवा-भावकी रक्षा करनेके लिए ये महानुभाव किसी राज्यकी चौकियोंके समान थे। अथवा जिस प्रकार राहगीरोंके विश्रामके लिए स्थान-स्थानपर चौकियाँ बनी रहती हैं, वैसे ही इन भक्तोंके घर भगवद्-दासोंके एकमात्र आश्रय थे।

श्रीबालबालजीने इस छप्पयमें छै गाँवोंके छै भक्त ही माने हैं और देव कल्याणको उन्होंने स्थान बतलाया है, किन्तु श्री प्रियादासजीने कल्याण और बोहिथदेवजी सहित आठ भक्त माने हैं। बालकराम जीने भी इन भक्तोंकी संख्या आठ ही मानी है। श्रीरूपकलाजीने बोहिथजीको छोड़कर अटलजी द्वारा इस संख्याकी पूर्ति की है।

भक्त-दाम-गुण-चित्रनी, पत्र ४३५-४३६ के अनुसार तीन भक्तोंकी गाथाएँ यहाँ दी जाती हैं—

श्रीहरिनारायणजी—सन्त-सेवा और भगवानका भजन, इन दोनोंको ही आपने कल्याणकारी समझा था। जब वे अपने पुत्रको देखते तो उनकी आँखोंसे आँसू बरस पड़ते थे, क्योंकि वह अत्यन्त ही अभक्त और साधुओंसे विमुख रहनेवाला था। श्रीहरिनारायणजीको सबसे अधिक भय इस बातका था कि मेरे बाद इस घरसे सन्तोंकी सेवा बिलकुल उठ जायगी। आप भगवानसे सदा यही कामना करते रहते थे कि किसी प्रकार पुत्रकी बुद्धि ठीक हो जाय और उसका सन्त-सेवामें मन लगे। भगवानने आपकी इस मनोकामनाको पूरा किया।

आपका पुत्र नौकरी करनेके लिए फौजमें भर्ती हो गया। कुछ समय बाद उसे एक बड़ी भारी लड़ाईमें जाना पड़ा जिसमें उसके सब साथी काम आए, केवल एक सन्तकी कृपासे वह अकेला ही बचा रहा। इसी समयसे सन्तोंके प्रति उसके मनमें अपार श्रद्धा होने लगी और वह सन्त-सेवाको जीवनका प्रधान कार्य समझने लगा। इस घटना से श्रीहरिनारायणजीको जो प्रसन्नता हुई उसे इस लेखनी से व्यक्त कर सकना बिलकुल असम्भव है।

श्रीऊधौ (उद्धवजी)—भक्तवर श्रीउद्धवजीको जब कभी यह मालूम पड़ जाता कि अमुक स्थान पर साधु-सन्त पधारे हुए हैं, तो आप वहाँ जाते और निहोरे करके उन्हें अपने घर लाकर स्वादिष्ट पक-वान खिलाते। इसी प्रकार एक बार आपको खबर मिली कि किसी सन्तके महोत्सवमें साधुओंकी अच्छी-खासी भीड़ इकट्ठी हुई है। आप वहाँ गए और सब सन्तोंसे अपने घर चलनेके लिए प्रार्थना करने लगे। यह देख आपके साथ रहने वाला एक नौकर बोला—"महाराज! आप इतने साधुओंको लिवाकर तो ले जा रहे हैं पर घरमें सामान तो बहुत थोड़ा है, उससे सब सन्तोंके भोजनका प्रबन्ध कैसे हो सकेगा?" आप बोले—"यह तो बादमें सोचनेकी बात है। पहिले तो सन्तोंको अपने यहाँ लिवा ले चलो।"

आप सब सन्तोंको लिवा लाए। वास्तवमें घरपर सामान तो थोड़ा ही था। यह देखकर आप भी चिन्तामें पड़ गए कि अब क्या किया जाय। उसी समय अचानक आकाश-वाणी हुई—"भक्तराज! निकाल लो, चिन्ता मत करो, वह समाप्त नहीं होगी।"

इस आकाश-वाणीको सुनकर श्रीउद्धवजीको बड़ी प्रसन्नता हुई और इसी प्रकारसे मन चाहा सामान लेकर आपने समस्त साधु-सन्तोंको तृप्त कर दिया।

श्रीतुलसीदासजी—मैजा-ग्राम निवासी श्री तुलसीदासजीको सन्तोंकी सेवा करनेमें बड़ा
आता था। एक बार आप किसी दूरके गाँवसे साधु-सेवाके लिए अपनी गाड़ीमें गेहूँ भर कर लौ
थे कि रास्तेमें उन्हें कुछ लुटेरोंने घेर लिया और बोले—"भाग जाओ गाड़ी छोड़ कर, नहीं तो
तुम्हारी भी गर्दन अलग कर देंगे।" आपने उन्हें समझाते हुए कहा—"भैया ! इस गाड़ीमें तो
सेवाके लिए गेहूँ लिए जा रहा हूँ; तुम्हारे लिए और हजारों जगह लूटनेके लिए हैं; अगर एक गा
छोड़ ही दोगे तो क्या हो जायगा ?"

श्रीतुलसीदासजीने उन्हें बहुत समझाया, पर उनकी समझमें एक न आई। अब श्रीतुलसीदा
क्या करते ? बेचारे गाड़ीको छोड़कर आगे बढ़ गए। उधर जब लुटेरे लोग गाड़ीके पास आए तो
उन्हें शेरके समान लगे और उनका रँभाना उन्हें शेरकी दहाड़के समान सुनाई पड़ा।

इस दृश्यको देखकर लुटेरे भाग चले और तुलसीदासजीके पास जाकर बोले—"महाराज
जाकर सँभालिए अपनी गाड़ीको। हम तो मूर्ख आदमी हैं, इसीसे आपको नहीं पहचान सके।"

आपने पूछा—"आखिर बात क्या है ? साफ-साफ क्यों नहीं कहते ? उत्तरमें ठगोंने सारा हा
कह सुनाया और आपके चरणोंमें गिरकर अपने अपराधकी क्षमा-याचना करने लगे। उधर श्रीतुल
दासजीका हृदय भगवानकी दयालुताके कारण अपार आनन्दसे झूम उठा।

मूल (छप्पय)

दमा प्रगट सब दुनी रामबाई बीरा हीरामनि।
लाली नीराँ लछि जुगल पार्वती जगत धनि॥
खीचनि केसी धना गोमती भक्त उपासनि।
बादररानी बिदित गंगा जमुना रैदासिनि॥
जेवा हरिषा जोइसिनि कुँवरि राय कीरति अमल।
अबला सरीर साधन सबल ए बाई हरिभक्ति बल॥१७०॥

अर्थ—निम्नलिखित बाइयाँ शरीरसे तो अबला थीं, किन्तु सबल (शक्तिशाली) साधनों
को अपनाकर हरि-भक्ति करनेमें बड़ी बलवती सिद्ध हुईं—

(१) समस्त संसारमें प्रसिद्ध श्रीदमाबाई, (२) रामाबाई, (३) बीराँ बाई, (४) हीरामनि
जी, (५) लालीजी, (६) नीराँ जी, (७) लछमी बाई जी, (८-९) जगतमें धन्य दोनों पार्वती
बाइयाँ, (१०) खीचनिजी, (११) केशीजी, (१२) धनाबाईजी, (१३) हरि-भक्तोंकी उपासिका
श्रीगोमतीजी, (१४) संसार-प्रसिद्ध बादररानीजी, (१५) गंगाबाईजी, (१६) जमुना बाईजी (१७)
रैदासिनजी, (१८) जेवा बाईजी, (१९) हरिषाँ बाईजी, (२०) जोइसिनिजी और (२१) निर्मल
कीर्तिवाली कुँवरि रायजी।

जिन छः बाइयोंके चरित्र भक्तदाम-गुण-चित्रनी (पत्र ४३७–४४०) में प्राप्त हुए हैं उन्हें क्रमशः नीचे दिया जाता है—

श्रीदेमाबाईजी—आपके मनमें एक अभिलाषा सदा बनी रहती थी कि भगवान श्रीश्यामसुन्दर अपनी मोहनी छटा दिखलाकर मुझे कृतार्थ करें। वैसे भगवान कई बार आचुके थे और आपको दर्शन भी दे चुके थे, पर आप उन्हें एक बार भी नहीं पहिचान पाईं, क्योंकि प्रभु हर बार सन्तोंके ही वेशमें आए थे। जब आप भगवान श्रीमदनमोहनके दर्शनोंको अधिक व्याकुल होने लगीं तो भगवान पुनः एक सन्तका वेश बनाकर आए और देमाबाईका स्वागत-सत्कार स्वीकार किया। अन्तमें आप प्रभुसे कहने लगीं—"सन्त महाराज ! एक बात तो बतलाइए कि भगवानके दर्शन कभी किसीको होते हैं या नहीं ?"

सन्त-वेशधारी भगवान बोले—"होते क्यों नहीं हैं ? कई एक बार तो तुम्हें भी हो चुके हैं। एक बार जब तुम बीमार थीं तब वैद्य सन्तका वेश बना कर आए थे और तुम्हारी नब्ज देख कर दवा दी थी।"

इस प्रकारकी गुप्त बातोंको यों साफ-साफ कहते सुनकर सन्त-वेशमें आए भगवानके प्रति श्री देमाबाईका सन्देह जाग उठा और वे बोलीं—"महाराज ! एक बात बतलाइए। आपको इस बातका कैसे पता है कि अमुक-अमुक समय भगवान सन्तका वेश धारण कर मेरे पास आए थे ?" इतना कहकर आपने आगे बढ़ कर उनका हाथ पकड़ना चाहा कि वे उठकर चल दिए और कुछ दूर जाकर अन्तर्धान हो गए। अब तो देमाबाई भगवानके विरहमें विलाप करती हुई बेहोश होकर जमीनमें गिर पड़ीं। भगवान श्यामसुन्दरने आकाशवाणीमें कहा—"तुम्हें इस प्रकार मेरे लिए व्याकुल होकर प्राणोंको परित्याग करनेकी आवश्यकता नहीं है; मैं तो सब समय तुम्हारे ही साथ रहता हूँ।"

भगवानकी इस अमृतमयी वाणीको सुनकर देमाबाईका हृदय आनन्दसे भर गया और वे प्रसन्नतासे झूमती हुई अपने घर लौट आईं।

श्रीलालीजी—आप श्रद्धा-पूर्वक सन्तोंकी सेवा किया करती थीं और उसे अन्य सभी कार्योंमें प्रधानता प्रदान किया करती थीं। इसी सन्त-प्रीतिके सम्बन्धमें एक छोटी-सी घटना देखिए।

एक बार दैवयोगसे लालीजीका पुत्र मर गया। उसी समय आपकी भक्तिकी परीक्षा करनेके लिए एवं संसारको साधु-सेवा सिखलानेके उद्देश्यसे भगवान एक भक्तका वेश बनाकर दरवाजे पर आगए। लालीजीने यह देखा तो अपने मृत पुत्रको एक कपड़ेसे ढक दिया और सन्त-भगवानके चरण धोकर उन्हें आसन पर बिठाकर बोलीं—"कहिए कृपा-निधान ! आप रसोई स्वयं बनाएँगे या हमारी तैयार की हुई ही पा लेंगे ?"

सन्त-भगवानने कहा—"आपके यहाँ जो बनेगा वही पा लेंगे।"

यह कह कर भगवान सन्तका वेश त्यागकर आपके पतिका रूप बना कर आगए और आपसे बोले—"क्यों री, रांड़ ! यह सन्त-सेवाका कौन-सा तरीका है कि घरमें तो पुत्र मरा पड़ा है और तू उस मुच्चियेके लिए व्यंजन तयार कर रही है ? तुझे मेरा थोड़ा भी भय नहीं ?"

श्रीलालीजीने नम्र होकर कहा—"प्राणनाथ ! पुत्रका अन्तिम संस्कार तो बादमें भी हो जावेगा, किन्तु एक बार हाथसे निकली हुई सन्त-सेवाका अवसर पुनः लौट कर नहीं आनेका।"

श्रीलालीजीकी यह बात सुनकर भगवान बड़े प्रसन्न हुए और बाहर जाकर पुनः सन्त-वेष प्रकट होकर बोले—"हम अभी सुन रहे थे कि तुम्हारा पुत्र मर गया है, सो बतलाइए, वह कहाँ है हमारे पास ऐसी जड़ी है जिससे मरे हुए व्यक्तिमें पुनः प्राण आ जाते हैं।"

श्रीलालीजीने जब प्रभुको पुत्रका शव दिखाया तो वे पास गए और उसे हाथसे छूकर पुनर्जीवित कर दिया। बादमें आप यह कह कर चले गए कि 'अब हम जरा नदी पर स्नान कर आवें, तब प्रसाद पावेंगे' और फिर लौटकर नहीं आये। जब लालीजीके पतिदेव लौटकर आए तो सब रहस्य खुल गया। भगवानकी अहैतुकी कृपासे लालीजीको बड़ी प्रसन्नता हुई।

श्रीनीरांजी—आप अंगद भक्तकी धर्म-पत्नी थीं। जब अंगदजीको भगवानके दर्शन होगए और उन्होंने आनन्दमें झूम-झूम कर श्रीनीरांजीके सामने प्रभुकी रूप-माधुरीका वर्णन किया तो आपके मन में भी मनमोहनके दर्शनोंकी लालसा जाग उठी। आप भगवानके विरहमें इतनी व्याकुल होगईं कि शरीरकी सुध-बुध भी जाती रही।

नीरांजीकी इस विकलताको देखकर प्रभु आए और अपने सुन्दर रूपके दर्शन देकर भक्तिमती नीरांके मनकी अभिलाषाको पूरा किया। श्रीबालकरामजी कहते हैं कि—

देखहु अबला, देह धरि, सबला साधन कीन्ह। जाकर हरि हू बस भयौ, ऐसें बरसन दीन्ह॥

—देखो, नीरांजीने अबला स्त्रीका शरीर धारण करके भी सबलाओं का-सा कार्य कर दिखलाया। आपके वशमें श्रीहरि भी हो गये और स्वयं आकरके दर्शन दिये।

श्रीखीचनिजी—आपका नाम तो कुछ और था, पर 'खीचनि' जातिकी होने के कारण लोग आपको इसी नामसे पुकारने लग गये थे। आपका विवाह एक राजाके साथ हुआ था। आपकी सन्त-चरणोंमें कैसी प्रीति थी, यह सावधान मनसे सुनिये।

एक बार अपने परिचित सन्तको किसी गाँवमें आया सुनकर आपने पकवान बनाये और अपने महलकी एक दासीको सभी सामग्री देकर एक लड़केके साथ सन्तोंके पास भेज दिया। जब वह दासी सन्तोंको पकवान देकर लौट रही थी तो रास्तेमें उसके सौंदर्य पर मुग्ध होकर कुछ लुटेरोंने उसे पकड़ लिया और साथके लड़कोंको मार भगाया। उस लड़केने सभी बातें रानी खीचनिको जा सुनाईं। राजा को वह दासी बड़ी प्यारी लगती थी। जब उसे उसके खोजानेका समाचार मिला तो वह बड़ा दुखी हुआ और खीचनिसे बोला—

क्यों तैं करि मुंडियन की सेवा मेरी लौंडी खोई। ऐसी कहा मिले फिर सुन्दर सब बिधि चातुर सोई।

केवल इतना ही नहीं, आगे राजाने यह भी कहा कि मैं जानता हूँ कि वे ही भिखमंगे मेरी रूपवती नौकरानीको ले भगे होंगे।'

राजाकी यह बात रानीको खटक गई। वह सब सुननेको तैयार थी, पर सन्तोंकी निन्दा नहीं। इस मर्माघातसे उसका दिल चूर-चूर हो गया और वह भगवानसे प्रार्थना करती हुई इस कलंकसे मुक्ति प्राप्त करनेकी प्रार्थना करने लगी। प्रभु भला भक्तकी उपेक्षा कब कर सकते है? उन्होंने लुटेरोंके यहाँ से दासीको राजमहलमें ला दिया। इस चमत्कारको देखकर खीचनिजीके आनन्दका पार-पार न रहा और सन्तोंके चरणोंमें पहलेसे भी दृढ़ श्रद्धा हो गई।

श्रीकेशीबाईजी—आप श्रीखोजीजीकी धर्मपत्नी थीं और सन्त-सेवा करनेमें बड़ी चतुर थीं। एक बार शीत-ऋतुमें आपके यहाँ सन्त आये। उन्हें जाड़ेसे काँपता हुआ देखकर आपने अपने पतिसे कहा—"देखिए, बेचारे ये सन्त कैसे ठिठुर रहे हैं। इन्हें कुछ वस्त्र हों तो दे दीजिये।" पति महोदयने कहा—"मेरे पास तो इस समय रुपये नहीं हैं, यदि तुम अपने आभूषण दे दो तो यह काम हो सकता है।" आपने सहर्ष अपने आभूषण निकालकर दे दिये जिन्हें बेचकर सन्तोंको वस्त्र तैयार किये गये।

श्रीजेवाजी—आप लाखा भक्तकी धर्मपत्नी थीं। जब आपके पति लाखाजी दण्डवत् करते हुए जगन्नाथजीकी यात्राको गये, उस समय आपने घरमें रहकर सन्तोंकी सेवाके कार्यको सँभाला था। आपके यहाँ जो सन्त आते थे उनकी सेवामें पति-द्वारा छोड़ा गया धन तो बहुत जल्दी समाप्त हो गया। बाद में आपने घरके गहने, कपड़े, बर्तन आदि सब सामानको भी बेचकर सन्त-सेवामें लगा दिया। अब घरमें कुछ भी न देखकर आपको बड़ी भारी चिन्ता हुई कि अब पैसा कहाँसे लायें। उसी समय भगवानने एक राजाको स्वप्न दिया कि 'जल्दीसे जाकर जेवाजीके घर सीधा-सामान पहुँचा आओ ताकि उनके यहाँ सन्त-सेवाका क्रम चलता रहे।'

सुबह होते ही वह राजा आया और स्वप्नकी बात सुनानेके साथ-साथ बहुत-सा सीधा-सामान दे गया और श्रीजेवाजी पुनः पूर्ववत् सन्त-सेवा करने लगीं।

मूल (छप्पय)

(श्रीकान्हरदासजी)

श्री गुरु शरणैं आय भक्ति मारग सत जान्यौ।
संसारी धर्महि छांड़ि झूठ अरु साँच पिछान्यौ॥
ज्यौं साखा द्रुम चंद जगत सौं इह बिधि न्यारौ।
सर्वभूत सम दृष्टि गुननि गंभीर अति भारौ॥
भक्त भलाई बदन नित कुबचन कबहुँ नाहिंन कह्यौ।
कान्हरदास संतनि कृपा हरि हिरदै लाहौ लह्यौ॥१७१॥

अर्थ—श्रीकान्हरदासजीने गुरुकी शरणमें जाकर भक्ति-मार्गके शुद्ध स्वरूपको पहिचाना और दुनियादार लोगोंके द्वारा अपनाए गए स्वार्थ-पूर्ण धर्मको छोड़कर सत्य-असत्यका विवेक प्राप्त किया। आप संसारसे उसी भाँति निर्लिप्त रहते थे जैसे वृक्षोंकी शाखाओंसे चन्द्रमा। (वृक्षों की घनी डालियोंमेंसे झाँकता हुआ चन्द्र-बिम्ब वृक्षका ही अंग दिखाई पड़ता है, पर यथार्थमें यह पृथक् है।) सब प्राणियोंको आप समान दृष्टिसे देखते थे, अनेक गंभीर गुणोंसे युक्त थे। आपके मुँहसे सदा भक्तोंकी प्रशंसा ही निकलती थी, न कि किसीके प्रति निन्दा-सूचक वचन। कान्हरदासजीने, इस प्रकार, सन्तोंकी कृपाके फल-स्वरूप भगवानको अपने अन्तः करणमें प्रतिबिम्बित पाया। इससे बड़ा लाभ और क्या हो सकता है?

भक्त-दाम-गुण-चित्रनी, पद ५४० के आधार पर श्रीकान्हरदासजीके जीवनसे संबन्धित दो घट
नीचे दी जाती हैं—

१—एक बार आपके यहाँ दो सन्त इतने भूखे आए कि घरमें तैयार किए गए समस्त सामान
खालेने पर भी उनकी भूख दूर न हुई, अत: वे घरसे एक धातुपात्र लेजाकर उससे एक हलवाईसे मिठाई
खाए। यह देख आपका शिष्य कहने लगा—"देख लिया आज-कलके सन्तोंका रंग ? घरसे बर्तन निकाल
ले गए और उसे बेचकर हलवाईकी दुकानपर मिठाई खा आए !" उस मूर्ख शिष्यकी ऐसी ओछी बातें सुनक
आप बोले—"अरे, मूर्ख ! अब सन्तोंके बारे में ऐसी बातें कभी नहीं कहना। सन्त तेरे बापका क्
ले गए ? रामजीके संत हैं और रामजी का ही यह सब माल है, फिर तू बीचमें ही बेकार कटु वचन क्
कहता है ?"

इसके बाद आपने उसी सन्तको बुलाया जो पात्र बेचकर मिठाई खा आया था और बोले—
"महाराज ! आपने जो कुछ भी किया वह बहुत अच्छा किया। अब हमारे लिए और कोई आज्ञा कीजिए।"

श्रीकान्हरदासजीके इस व्यवहारसे यह भली भाँति स्पष्ट हो गया कि आप सन्तोंको कितने सम्मान
की दृष्टिसे देखते थे और उनका कितना सत्कार करते थे।

२—एक बार श्रीकान्हरदासजीको बुखार चढ़ आया। वे खाटमें पड़े रहते और उसी दशामें
भगवानकी मानसिक पूजा किया करते थे। एक दिन प्रात:कालके समय जब कि आपको बहुत तेज बुखार
चढ़ रहा था, भावनामें आप ठाकुरजीको भोजन करा रहे थे। भगवानके हाथमें ग्रास लगा देखकर आप एक
शिष्यसे बोले—"जल्दीसे कटोरा ले आओ, प्रभु मुझे अपना प्रसाद दे रहे हैं।"

किन्तु एक शिष्यने इस कथनको बुखारकी गर्मीके कारण होने वाला प्रलाप-मात्र समझकर कोई
ध्यान नहीं दिया। कान्हरदासजीको बड़ा क्रोध आया। आपने दो बार पुन: कटोरा माँगा, तब शिष्यने लाकर
दिया। जैसे ही कटोरा गुरुदेवके हाथमें आया, वह भगवानके प्रसादसे भर गया। श्रीबालकरामजी कहते हैं
कि सन्त श्रीकान्हरदासजीके ऐसे चरित्रोंने ही मेरे मनको रिझा रखा है।

मूल (छप्पय)

(श्रीकेशवलटेरा; श्रीपरशुरामजी)

कहनी रहनी एक एक प्रभुपद अनुरागी।
जस बितान जग तन्यौ संत संमत बड़भागी ॥
तैसोई पूत सपूत नूत फल जैसोई परसा।
हरि हरिदासनि टहल कवित्त रचना पुनि सरसा ॥
सुरसरानँद संप्रदाय दृढ़,'केसव' अधिक उदार मन।
लट्यौ'लटेरा' आन विधि परम धरम अति पीन तन ॥१७२॥

अर्थ—श्रीकेशवदासजीकी कहनी और रहनीमें कोई अन्तर न था—अर्थात् जो उपदेश देते थे
उसीके अनुसार आचरण करते थे। प्रभुके चरणोंमें आपका अद्वितीय अनुराग था। आपके भक्त
होनेकी प्रसिद्धि सारे संसारमें फैली हुई थी। आपका जीवन संतोंके आदर्शोंपर ढला हुआ

था । जैसे बड़भागी श्रीकेशवजी थे वैसे ही उनके सुपुत्र श्रीपरशुरामजी भी थे, मानों सुकृत-रूपी कल्पवृक्षके नये फल हों । श्रीपरशुरामजी भगवान उनके प्रवीण सेवक थे और अत्यन्त सरस पद-रचना करते थे। श्रीकेशव लटेराजी श्रीसुरसुरानन्दजीकी सम्प्रदायके कट्टर अनुयायी थे और बड़े उदार-हृदय के थे। आपकी 'लटेरा' पदवी या उपनाम जिसका शाब्दिक अर्थ दुबला पतला होता है, इस अर्थमें सार्थक है कि आप जगद्के दृष्टिकोणसे दुर्बल थे । जहाँ तक हरि-भक्तिका सम्बन्ध है, वहाँ तक आप अत्यन्त पुष्टशाख थे ।

भक्तदाम-गुण-चित्रनी, पत्र ४४१ के आधार पर श्रीकेशवदासजी लटेराकी विशेष वार्ता नीचे दी जाती है—

लटेराकी छाप वाले श्रीकेशवदासजी शरीरसे तो बड़े दुबले-पतले थे, पर आपकी भक्ति बड़ी प्रबल थी । एक बार आपके किसी सन्तने एक महोत्सवका आयोजन किया जिसमें उसने गुरुदेवके लाल जीके साथ अपनी लाड़लीजीका विवाह रचा था । श्रीकेवदासजी सन्त-मण्डलीको लेकर लालजीकी बारातमें गए । बारात शिष्यके यहाँ ठहरी, डटकर खातिरदारी हुई और अन्तमें बहुत-सा सामान दहेज के रूपमें देकर उसे विदा कर दिया गया ।

जब यह बारात रास्तेमें आरही थी तो कुछ यवन-सैनिकोंकी निगाह उधर गई और वे तुरन्त श्रीकेशवदासजीके सामने आकर बोले—"क्यों जी! आप इस गाड़ीमें क्या भरे ले जारहे हैं ?"

श्रीकेशवदासजीने कहा—"यह हमारे ठाकुरजीको दहेजमें मिला हुआ सामान है और आश्रम पर पहुँचनेके बाद यह सन्त-सेवाके काम आएगा ।"

यवनोंने कहा—"सन्त-सेवा क्या होती है ? भाग जाओ गाड़ी छोड़ कर; अब तो इस धनसे हम लोगोंकी सेवा होगी ।"

इतना कह कर वे गाड़ीके ऊपर चढ़ गए और उसके सामानको कुरेदने लगे । उसी समय गाड़ी के अन्दरसे शेरके गुर्रानेकी आवाज आई और उसे सुनकर सब भाग खड़े हुए । श्रीकेशवदासजीकी समझ में इसका कुछ भी रहस्य नहीं आया ।

रात होते-होते बारात आश्रम पर पहुँची । वहाँ एक सन्त आपके आगमनकी प्रतीक्षा कर रहा था । उससे पूछने पर मालूम पड़ा कि वह सन्त-सेवा करना चाहता है और उसके लिए कुछ धन माँगने आया है । आपने दहेजमें मिला सारा धन उसे दे डाला । वास्तवमें श्रीकेशवदासजीके सन्तोंको रिझाने का प्रधान प्रण था ।

वस्तुतः सन्तोंके ऐसे ही लक्षण होते हैं जो दूर ही से दीखते हैं—

कबिरा हरिके भावतो दूरि हिते दीखंत । तन छीने मन उनमने जग रूठड़े फिरंत ॥

यदि साधुता न हो तो—

कहा चीकने गात, रस पूछत खिसले परें । सरस न आवे बात, रास उड़े रूखे हिये ॥

मूल (छप्पय)

(श्रीकेवलरामकी)

भक्त भागवत विमुख जगत गुरु नाम न जानैं।
ऐसे लोक अनेक ऐंचि सनमारग आनैं॥
निर्मल रति निहकाम अजा तें सदा उदासी।
तत्त्वदरसी तम-हरन सील करुना की रासी॥
तिलक दाम नवधा रतन कृष्ण कृपा करि दृढ़ दिया।
'केवलराम' कलियुग के पतित जीव पावन किया॥१७३॥

अर्थ—श्रीकेवलरामजी उन लोगोंको जो भगवानकी भक्ति करनेका विरोध करते थे, भक्तोंके विरुद्ध थे और गुरुओंका नाम-मात्रभी आदर नहीं करते थे, भक्ति-मार्गमें खींचकर लाये और उन्हें कल्याणका मार्ग दिखलाया। प्रभुमें आपका प्रेम अत्यन्त निर्मल था—स्वार्थ की उसमें कहीं गन्ध तक न थी और अजा, अर्थात् अनादि मायाकी तरफसे उदासीन रहते थे। सब शास्त्रोंका अनुशीलन कर आपने परमार्थको पहिचान लिया था, इसीलिए जीवोंके अज्ञान-रूपी अन्धकारको दूर करनेमें आप सफल हुए। सदाचार, विनय और करुणाके अक्षय भण्डार थे। आपने लोगोंकी भावनामें तिलक और कण्ठीका महत्व, नवधा-भक्तिकी रीति तथा कृष्ण-कृपाको जमाकर बिठाया। श्रीकेशवदासजीने, इस प्रकार, कलियुगके अनेक पतित (मार्ग-भ्रष्ट) प्राणियोंका उद्धार किया।

भक्ति-रस-बोधिनी

घर-घर जाय कहैं, यहै दान दीजै मोकों, कृष्ण कृपा कीजै, नाम लीजै चित लाइकै।
देखे भेषधारी दस-बीस कहूँ अनाचारी, दये प्रभु सेवनि कों, रीति दी सिखाय कै॥
करुणा-निधान, कोऊ सुने नहीं कान कहूँ बैल के लगायौ साँटो, लोटे दया आयकै।
उपड्यौ प्रगट, तन मन की सचाई अहो, भये तदाकार, कहौं कैसे समझाय कै॥६००॥

अर्थ—श्रीकेवलदासजी घर-घर जाकर लोगोंसे यही भीख माँगते थे कि श्रीकृष्णकी सेवा करिये और मनको एकाग्र कर उनका नाम जपिये। यदि कहीं आपको दस-बीस ऐसे वैष्णव दिखाई दे जाते जो कि अपने आदर्शसे पतित हो चुके थे, तो आप उन्हें प्रभुकी मूर्तियाँ देकर सेवा-पूजा और भजनकी रीति समझाते। दयालु ऐसे थे कि संसारमें उन सरीखा कहीं सुना नहीं गया। एक बार एक बनजारा बैलोंको लेकर जा रहा था। उसने बैलोंमें एक साँटा मारा, तो आपको ऐसी पीड़ाका अनुभव हुआ कि तत्काल पृथ्वीपर गिर पड़े। आपको उठाया गया, तो लोगोंने देखा कि बैलकी पीठपर मारे गये कोड़ेका निशान आपकी पीठपर

उपड़ आया था। इसे कहते हैं हृदयकी सचाई। केवलरामजीने तदाकार होकर बैलके कष्टको अपना कष्ट समझा। ऐसी दयालुताका वर्णन भला शब्दों द्वारा कैसे किया जा सकता है।

दृष्टांत—श्रीनाभाजीने केवलरामजीको 'तत्त्वदर्शी' कहा है। यों वेदान्तकी बोलीमें तत् और त्वम् पदार्थका ज्ञान तो साधारण व्यक्ति भी कर सकता है, परन्तु वास्तविक परमार्थका ज्ञान लेना केवलरामजी सरीखे महानुभावोंका ही कार्य था। इस सम्बन्धमें एक प्रचलित दृष्टांत यहाँ दिया जाता है—

एक समयकी बात है कि किसी मुगल बादशाहने एक बड़ी सुन्दर और विशाल मस्जिद बनवाई। बादशाह रोज वहाँ नमाज पढ़ने जाता और साथमें अमीर-उमरा भी। ये लोग बादशाहका रुख देखकर मस्जिदकी तारीफके पुल बाँध देते। बादशाह अभिमानके मारे फूला नहीं समाता। वह समझता था कि मस्जिद बनवाकर उसने 'साहब'को पहिचान लिया है।

एक दिन सुतरा नामक किसी फकीरने उस मस्जिदको जा तोड़ा। सुबह पता लगते ही मौलवी लोग उसे पकड़ कर बादशाहके पास लाए। खुदाके दरगाहको तोड़नेसे ज्यादा गुनाह और क्या हो सकता है? बादशाहने हुक्म दिया कि फ़कीरकी गर्दन उतार ली जाय।

जब जल्लाद उसे पकड़कर मारनेके लिए ले जा रहे थे, तो उसने बादशाहसे मिलनेकी इच्छा प्रकट की। प्रार्थना मंजूर हो गई और फकीरको हाजिर किया गया। फकीरने निडर होकर बादशाहसे पूछा—"हमने क्या गुनाह किया है जो हमें यह सजा दी जा रही है?"

बादशाहने कहा—"इससे ज्यादा गुनाह और क्या हो सकता है? मैं पूछता हूँ, तुमने ऐसा क्यों किया?"

फकीरने कहा—"मुझे रहनेके लिए कोई जगह नहीं मिली, तो मैं मस्जिदमें जा पड़ा और रात गुजारनेका कोई सामाँ न मिला तो बैठा-बैठा मस्जिदको ही तोड़ता रहा।"

बादशाहने कहा—"यही तो गुनाह है जिसके लिए तुम्हारा सर उतारा जा रहा है"

फकीरने कहा—"मस्जिद तो ईंट-पत्थरोंकी बनी हुई है। आप चाहें तो उसे फिर बनवा सकते हैं लेकिन यह जिस्म तो खुदाका अपने हाथोंसे बनाया गया दरगाह है। आपको इसे नेस्त-नाबूद करने का हक कैसे हासिल हो गया?"

बादशाह सोच ही रहा था कि इसका क्या जवाब दिया जाय कि फकीरने फिर कहा—"जहाँपनाह! आपने अभी फर्माया कि मस्जिद खुदाकी दरगाह है। मैं पूछता हूँ, क्या हुजूरने खुदाको जान लिया है?"

बादशाहने छाती फुलाकर कहा—"बेशक!"

फकीर हँस पड़ा। बादशाहने जब हँसनेका कारण पूछा, तो फकीरने कहा—"इसका जवाब इतना जल्दी नहीं दिया जा सकता। कुछ मोहलत देनी होगी।"

इस पर बादशाहने फकीरको रिहा कर दिया।

फकीरको रिहा हुए बहुत दिन बीत गए थे। उसके बादकी घटना है कि एक दिन मौलवियोंने बादशाहसे अर्ज किया—'जहाँपनाह! एक जूती मस्जिदमें पड़ी हुई मिली है। ऐसा लगता है कि हजरत

पैगम्बर साहब जल्दीसे कहीं उठकर चले गये और एक जूती ही पहिन सके। दूसरी पीछे छोड़ गए। आप चलकर मुलाहिजा फरमावें।"

बादशाह मस्जिदमें गया तो दर असल एक जूती वहाँ पड़ी थी। उसने उसे उठाकर अपनी आँखोंसे लगाया, उस खुशीमें बड़ी-बड़ी खैरातें कीं और जूतीको सोनेकी पालकीमें रखकर एक आलीशान जलूस निकाला। वहीं कहीं रास्तेमें एक कोनेमें सिमटे हुए मुतरा फ़कीर इस गुजरते हुए जलूसको देख रहे थे। जब पालकी आगे निकल गई और हाथी पर सवार बादशाह आए, तो एक फटे बाँसके सिरे पर एक जूती टाँगे हुए मुतरा उनके पास पहुँचा और बोला—"जहाँपनाह! पालकीमें रक्खी हुई जूती इसके साथकी है। अरसा हुआ वह खोगई थी; आज बड़ी मुश्किलसे नजर पड़ी है। इतबार न हो तो मिला लीजिए।"

बादशाहने गुस्सेमें भर कर पालकी वाली जूतीको फेंक दिया। फकीर अबकी फिर हँस पड़ा। बादशाहने फिर वही सवाल किया—"तुम्हारे हँसनेका मतलब?"

फकीरने कहा—उस वक्त आपने बड़े दावेके साथ कहा था कि मैं 'साहब' को जानता हूँ। आज आपको पता लग गया होगा कि जो 'साहब' की जूती तकको नहीं पहिचान सकता है, वह 'साहब' को क्या पहिचानेगा?

मूल (छप्पय)
(श्रीआसकरनजी)

धर्मं सील गुन सींव महा भागौत राजरिषि।
पृथीराज कुल-दीप भीम-सुत बिदित कील्ह सिषि॥
सदाचार अति चतुर बिमल बानी रचना-पद।
सूर धीर उदार बिनै भलपन भक्तनि हद॥
सीतापति राधा-सुबर भजन नेम कूरम धर्यौ।
मोहन मिश्रित पद-कमल 'आसकरन' जस बिस्तर्यौ॥१७४॥

अर्थ—श्रीआसकरनजी धर्म, सौजन्य और गुणोंकी सीमा थे और परम-भागवत राजर्षि करके माने जाते थे। आप पृथ्वीराजके कुलमें भीमसिंहजीके सुपुत्र थे और स्वामी कील्हदेवजी के शिष्य। सदाचारका पालन करनेमें आप अत्यन्त प्रवीण थे। आपके द्वारा बनाये गए पदोंमें आपकी निर्मल वाणी बोलती है। शूर, धैर्यवान्, उदार, विनयी और सज्जन भक्तोंके आप अग्रणी थे। श्रीरामचन्द्रजी और श्रीकृष्णचन्द्र दोनोंके भजन करनेका आपका नियम था। श्रीआसकरनजी, इस प्रकार, जिनके नाममें मोहन-पदका समासान्त प्रयोग होता है—श्रीराधा-मोहन (श्रीकृष्ण) और जानकी-मोहन (श्रीरामचन्द्र), इन दोनों इष्टोंकी आशा करनेवाले परम यशस्वी भक्त थे।

भक्ति-रस-बोधिनी

नरवरपुर ताको राजा नरवर जानौ, मोहन जू धरि हिये सेवा नीके करी है।
घरी दस मंदिरमें रहैं, रहैं चौकीदार, पावत न जान कोऊ, ऐसी मति हरी है॥
परयौ कोऊ काम आय, अब हीं लिवाय ल्यावौ, कहे पृथिवीपति लोग कानमें न धरी है।
आई फौज भारी सुधि दीजियै हमारी, सुनि वहू बात टारी, परी अति खरबरी है॥६०१॥

अर्थ—नर-श्रेष्ठ श्रीआसकरनजी नरवरगढ़के राजा थे। आप श्रीश्यामसुन्दरको अपने हृदयमें धारण कर अत्यन्त भक्ति-पूर्वक और विधि-विधानके अनुसार सेवा करते थे। दस घड़ी अर्थात् चार घन्टे दिन चढ़े तक आप मन्दिरमें रहते और बाहर पहरेदार बिठाल देते कि इतने समयके अन्दर कोई पूजामें विघ्न न डाले। भजनमें उनका मन ऐसा एकाग्र रहता था।

एक समय ऐसा संयोग हुआ कि नरवरगढ़में मुगल-सम्राट् आया और उसने राजा साहब का तुरन्त तलब किया। बादशाहके सन्देशवाहकोंने राजा आसकरनजीके सेवकोंसे खबर भेजने को कहा, पर किसीके कानपर जूँ भी नहीं रेंगी। इसका परिणाम यह हुआ कि बादशाहके द्वारा भेजी गई सेना आ पहुँची और सेनापतिने हुक्म दिया कि उनके आनेकी खबर राजाको तुरन्त दी जाय। सेवक लोग इस बातको भी सुनी-अनसुनी कर गये। अब तो बड़ी खल-बली मच गई।

भक्ति-रस-बोधिनी

कहि कै पठाई "कहौ कीजियै लराई," सुनि रुचि उपजाई, चलि पृथ्वीपति आयौ है।
परयौ सोच भारी, तब बातयों बिचारी कही, "आप एक जावौ," गयौ अजिरज पायौ है॥
सेवा करि सिद्धि, साष्टांग ह्वै कै भूमि परे, देखि बड़ी बेर, पाँव खड्ग लगायौ है।
कटि गई एड़ी, एपै टेड़ी हू न भौंह करी, करी नित नेम-रीति, धीरज दिखायौ है॥६०२॥

अर्थ—सेनापतिने बादशाहके पास सन्देश भेजा कि 'हमारे कहनेसे राजाको कोई खबर नहीं भेजता; यदि हुक्म हो तो लड़ाई छेड़ दी जाय।' बादशाहने यह सुना, तो उसके मनमें आया कि 'ऐसे राजाको तो देखने आना चाहिए।' पहुँचा वह। अब तो आसकरनजीके मंत्रि-गण बड़ी चिन्तामें पड़ गये कि क्या करना चाहिए। आखिर उन्होंने बादशाहसे निवेदन किया कि 'आप अकेले ही मन्दिरमें जाइये।' बादशाहने जाकर जो कुछ देखा उससे वह हैरान हो गया। आसकरनजी पूजा समाप्त कर भूमिपर पड़े हुए साष्टांग प्रणाम कर रहे थे। जब इस मुद्रामें राजाको बड़ी देर हो गई और उनके उठनेके कोई लक्षण दिखाई नहीं पड़े, तो बादशाहने राजाकी एड़ीमें तलवार मारी। एड़ी कट गई, किन्तु राजा अपने ध्यानसे किंचित् भी विचलित नहीं हुए और न कोई क्रोधका भाव ही उनके मुखपर दिखाई पड़ा। जिस प्रकार रोज धैर्य्य-पूर्वक सेवा-पूजाके नियमका पालन करते थे, वैसे ही उस समय भी करते रहे।

भक्ति रस-बोधिनी

उठि चिक डारि, तब पाछें सो निहारि, कियौ मुजरा विचारि, बादशाह अति रीझे हैं।
हित की सचाई यही, नेंकु न कचाई होत, चरचा चलाई भाव सुनि-सुनि भीजे हैं।।
बीते दिन कोऊ नृप-भक्त सो समायौ, पृथीपति दुख आयौ, सुनी भोग हरि छीजे हैं।
करें विप्र सेवा तिन्हें गाँव लिखि न्यारे दिये, बाके प्रान-प्यारे लाड़ करौं कहि पीजे हैं ।।६०३।।

अर्थ--प्रभुकी साष्टांग प्रणामसे उठकर राजा आसकरनजीने चिक डाली (ताकि यवन-राजको ठाकुरके दर्शन न हो पावें) और बा-कायदा बादशाहको सलाम किया। राजाकी ऐसी भक्ति और नियम-निष्ठाको देखकर बादशाह बहुत प्रसन्न हुआ। सच्चे प्रेमका लक्षण यही है कि किसी भी प्रतिकूल परिस्थितिमें उसके पालन करनेमें शिथिलता न आने पावे। बादशाहने आसकरनजीसे, इसके उपरान्त, भक्तिके विषयपर कुछ वार्तालाप किया और अत्यन्त सन्तुष्ट हुआ।

कुछ समयके बाद राजा आसकरनजी परम-धामको पधार गये। बादशाहने यह सुना, तो बड़ा दुखी हुआ। बादमें उसे यह भी खबर लगी कि राजाजीके ठाकुरकी सेवा-पूजा ठीक ढङ्ग से नहीं चल रही है। इसपर उसने सेवाके लिए कुछ ब्राह्मणोंको नियुक्त कर दिया और उनके लिये अलग-अलग जागीरें बाँध दीं और यह आज्ञा निकाल दी कि आसकरनजीके प्राण-प्यारे ठाकुरकी प्रेमसे सेवा-पूजा की जाय। यह प्रबन्ध करके बादशाह बड़े प्रसन्न हुए।

मूल (छप्पय)

(निष्किञ्चन श्रीहरिवंशजी)

कथा कीरतन प्रीति संत-सेवा अनुरागी।
खरिया खुरपा रीति ताहि ज्यों सर्बसु त्यागी।।
संतोषी सुठि सील असद आलाप न भावै।
काल वृथा नहिं जाय निरंतर गोविंद गावै।।
शील सपूत श्रीरंग को उदित पारषद अंस के।
निहकिंचन भक्तनि भजै हरि प्रतीति 'हरिवंस' के ।।१७५।।

अर्थ—श्रीहरिवंशजीका भगवानकी कथा-कीर्तनमें बड़ा अनुराग था और सन्तोंकी सेवा आप प्रेमसे करते थे। जिस प्रकार द्वापरमें एक घसियारा अपनी खरिया (जाली) और खुरपा को दानमें देकर स्वर्गका अधिकारी हुआ, उसी प्रकार हरिवंशजी भी अपने पास जो कुछ थोड़ा-बहुत था उसे त्यागकर यशके भागी हुए। आप संतोषी और अत्यन्त विनयशील थे, बुरी

बातें कहना आपको बिलकुल नहीं भाता था। भगवानका गुण-गान करनेके अतिरिक्त व्यर्थ की बातोंमें आप समय नष्ट करना नहीं जानते थे। आप श्रीरंगजीके सुपात्र शिष्य थे और भगवानके पार्षदोंके अंश-रूपमें अवतरित हुए थे। श्रीहरिवंशजी, इस प्रकार, स्वयं निष्किञ्चन (त्यागी) थे और अपने ही जैसे निष्किञ्चन भक्तोंकी उपासना करते थे।

भक्त-दाम-गुण-चित्रनी, पत्र ४४५ पर जो वार्ता श्रीहरिवंशजीके सम्बन्धमें प्राप्त हुई है उसका आशय नीचे दिया जाता है—

एक बार ऐसा हुआ कि कई दिन तक बराबर सन्तोंके आते रहनेके कारण आपने उनके स्वागत में घरका समस्त सामान लगा डाला और बहुत-सा धन साहूकारोंके यहाँसे उधार लाकर सन्तोंको भोजन कराया। इस सन्त-सेवासे भगवान इतने प्रसन्न हुए कि उन्होंने घरके आँगनमें ही अनाजकी वर्षा कर दी।

इसी प्रकार एक बार कुछ ब्राह्मणोंके द्वारा दान माँगनेपर आपने अपना सारा धन उनसे लुटवा दिया। इस बार भी भगवानने उनके घरको पुनः धनसे भरा-पूरा कर दिया।

मूल (छप्पय)

(श्रीकल्यानदासजी)

नव किसोर दृढ़ व्रत अनन्य मारग इक धारा।
मधुर बचन मन हरन सुखद जानत संसारा॥
पर उपकार विचार सदा करुना की रासी।
मन बच सर्बस रूप भक्त-पद रेनु उपासी॥
धर्मदास सुत सील सुठि मन मान्यौ कृष्ण सुजान के।
हरि-भक्ति भलाई गुन गँभीर बाँटें परी 'कल्यान' के॥१७६॥

अर्थ—श्रीकल्यानदासजीके मनकी ऐकान्तिक वृत्ति नवल-किशोर श्रीकृष्णचन्द्रके प्रेम-व्रत की ओर नदीकी धाराकी तरह सदा प्रवाहित रहती थी। मीठी वाणीका प्रयोग करके आप सुनने वालोंके मनको अपनी ओर हठात् खींच लेते थे और इसी कारण सबको आपसे सुख ही मिलता था। आप प्रायः यही सोचते रहते थे कि दूसरोंका कल्याण कैसे किया जाय, और परम दयालु स्वभावके थे। मन, वाणी, अथवा यों कहना चाहिए कि, सर्वात्मना हरि-भक्तोंकी चरण-रजकी वे उपासना करते थे। धर्मदासजीके शिष्य श्रीकल्यानदासजी अपने शील-सौष्ठवके द्वारा भक्तोंके मनकी बातको जानने वाले श्रीकृष्णके प्रिय थे। इस प्रकार भगवान्के भक्तोंकी भलाई करनेका कार्य अगाध-गुण-शील होनेके कारण श्रीकल्याणदासजीके ही हिस्सेमें आया था।

भक्त-दाम-गुण-चित्रनी, पत्र ४४५ पर श्रीकल्याणदासजीके सम्बन्धमें जो वार्ता प्राप्त हुई है उसका आशय नीचे दिया जाता है—

एक बार किसी ब्राह्मणने एक यवन-धनीसे कुछ धन उधार तो ले लिया, पर खेतीमें कुछ पैदा न होनेके कारण वह उसे चुका नहीं सका। तब यवनके द्वारा ब्राह्मणको तंग किए जाने पर श्रीकल्याणदासजी ने उसका धन चुकाया और ब्राह्मणका कष्ट मुक्त किया।

एक बार कोई भक्त सन्त-सेवाका महोत्सव करते समय आपको निमंत्रण देना भूल गए। तब भगवान एक संतका वेश बनाकर भक्तके घर आए और उसे कल्याणदासजीका स्मरण कराया और महोत्सवमें बुलवाया। इस प्रकार भगवानने कल्याणदासजीके प्रति अपनी आत्मीयता प्रकट की।

विशेष—श्रीस्वभूरामदेवाचार्यजीके प्रमुख शिष्य श्रीकन्हरदेवजी थे। उनके प्रतापी भक्त-शिष्योंमें श्री धर्मदास (देव) जी प्रसिद्ध सन्त हो गए हैं। वे विशेषकर हरियाणा प्रदेशमें ही निवास करते थे। श्रीपुरुषोत्तम, श्रीअनन्तराम आदि उद्भट विद्वान् उन्हींके शिष्य थे जिन्होंने कई एक विशिष्ट संस्कृत-ग्रन्थोंकी रचना द्वारा वैष्णव-धर्मकी महती सेवाकी। पं० श्रीकिशोरदासजी वेदान्त-निधिने "आचार्य-परम्परा-परिचय" में उनका सूक्ष्म परिचय दिया है। ये कल्याणदासजी भी उन्हीं धर्मदासजीके विशिष्ट कृपा पात्र शिष्य थे।

मूल (छप्पय)
(श्रीबीठलदासजी)

आदि अंत निर्बाह भक्त-पद-रज- व्रत धारी।
रह्यो जगत सों एँड़ तुच्छ जानै संसारी॥
प्रभुता पति की पधति प्रगट कुल दीप प्रकासी।
महत सभा मैं मान जगत जानै रैदासी॥
पद पढ़त भई परलोक गति गुरु गोबिंद जुग फल दिया।
'बीठल दास' हरि-भक्ति के दुहूँ हाथ लाड़ू लिया॥१७७॥

अर्थ—श्रीबीठलदासजीका प्रण था कि वे जीवन-भर सन्तोंकी चरण-रजके सेवक बने रहेंगे। इस व्रतको उन्होंने अन्त-समय पर्यन्त निबाहा। संसारसे आप ऐंठकर चलते थे—अर्थात् उसके प्रलोभनोंको ठोकर मारते थे और धनी लोगोंको तुच्छ समझते थे। प्रभुता-पति-सम्प्रदाय, अर्थात् श्री-संप्रदायमें आप कुल-दीपककी तरह प्रकट हुए। दुनिया जानती थी कि आप जातिके चमार हैं, परन्तु तो भी जन्म-जातिका विचार न कर प्रतिष्ठित लोग आपका आदर करते थे। भगवानके गुणगान करनेवाले पदोंको पढ़ते-पढ़ते ही आपका शरीर छूट गया था। गुरु और गोबिंद की कृपासे श्रीबीठलदासजीके दोनों हाथ लड्डू थे। जीते-जी आपको हरि-भक्त होनेका यश मिला और बादमें परम-धामको प्राप्त किया।

भक्त-दाम-गुण-चित्रनी, पत्र ४४६ से श्रीबीठलदासजीकी विशेष वार्ता नीचे दी जाती है—

श्रीबीठलदासजी अत्यन्त स्वाभिमानी भक्त थे। आपको भगवानके चरणारविंदका बड़ा भरोसा था। उसीके बल पर आप अच्छे-अच्छे लखपतियोंकी भी खुशामद नहीं करते थे और भगवानकी कृपाके बल पर सदा सन्त-सेवा भी चलती थी।

एक बार धनके मदमें चूर एक सेठको आपने डाँट दिया और वह नाराज होकर चला गया।

कुछ समय बाद श्रीबीठलदासजीके वार्षिक महोत्सवका समय आया। इसमें वह सेठ पहिले पूरी-पूरी सहायता देता था, किन्तु इस बार झाँका तक नहीं, सहायता देनेकी बात तो अलग रही। यह देखकर भक्तोंके एक-मात्र सर्वस्व भगवान न रह सके। वे वैश्य-वेश बनाकर आए और तीन-सौ सोनेकी अशर्फियाँ श्रीबीठलदासजीके हाथ पर रखते हुए बोले—"महाराज ! मैं एक परदेशी बनिया हूँ, भगवानने मुझे स्वप्न देकर बतलाया है कि आपके इस महोत्सवमें सहायता देने वाले अभिमानी सेठने अब आना-जाना भी बन्द कर दिया है, अतः मैं यह धन आपकी सेवामें अर्पण करना चाहता हूँ।"

श्रीबीठलदासजीने अशर्फियाँ ले लीं और उन्हें देकर शिष्योंको महोत्सवका सामान लानेके लिए भेज दिया। भगवान् बोले—भक्तवर ! मुझे तो रास्तेमें चलते-चलते प्यास लग आई है, थोड़ा-सा जल तो पिलाइये श्रीबीठलदासजी जल लेने चले गए और जब तक वे लौटकर आए तब तक भगवान अन्तर्धान हो गए। श्रीबीठलदासजीकी समझमें आ गया कि अशर्फियाँ लाने वाला वैश्य नहीं था, अपितु वही भक्त-वत्सल भगवान थे। उस समय आपको जितनी प्रसन्नता हुई वह क्या वर्णन करनेमें आ सकती है ?

श्रीबीठलदासजीने ठाटसे महोत्सव किया। समस्त संतोंको निमंत्रण दिया गया और उचित आदर-सत्कारके साथ भोजन कराया गया। सेठको विश्वास था कि इस बार तो महोत्सव होगा ही नहीं, किन्तु जब उसने इतनी चहल-पहल देखी और अशर्फियों वाली घटना सुनी तो दंग रह गया। वह श्रीबीठलदासजीके चरणोंमें आकर गिर पड़ा और अपने अपराधके लिए क्षमा माँगी।

मूल (छप्पय)

काहव श्री रँग सुमति सदानँद सर्वसु त्यागी।
स्यामदास लघुलंब अननि लाखै अनुरागी॥
मारू मुदित कल्यान परस वंसी नारायण।
चेता ग्वाल गुपाल संकर लीला पारायन॥
संत सेय कारज किया तोषत स्याम सुजान कौं।
भगवंत रचे भारी भगत भक्तनि के सनमान कौं॥१७८॥

(१) सर्वस्व-त्यागी श्रीसदानन्दजी, (२) पवित्र भाव वाले श्रीरंगजी, (३) लघु कलेवर वाले श्रीश्यामदासजी, (४) अनन्य-अनुरागी श्रीलाखाजी, (५) मारू रागमें सदा प्रमुदित रहने वाले श्रीकल्याणजी, (६) परसवंशी श्रीनारायणजी, (७) श्रीचेताजी, (८) श्रीग्वालजी, (९) श्रीगोपालजी, और (१०) भगवानकी लीलाओंको ही अपना अवलम्ब मानने वाले श्रीशंकरजी। भक्तोंका सम्मान करनेके उद्देश्यसे भगवानने इन भक्तोंको पृथ्वीपर जन्म दिया और इन्होंने संतों की सेवा द्वारा भगवानको सन्तुष्ट किया।

श्रीबालकरामजीने इस छप्पयमें भक्तोंकी सं० ११ बतलाई है। सम्भवतः 'काहव' नामसे उन्होंने पूर्ति की होगी। श्रीरूपकलाजीने 'काहव, लघुलम्ब, परस और चेता' इन सबको नाम माना है, किन्तु प्रियादासजी आदिकी उक्तियोंसे ये नाम सिद्ध नहीं होते।

इस छप्पयमें वर्णित भक्तोंके नामोंका श्रीप्रियादासजीने अपनी भक्तसुमिरणीमें इस प्रकारसे उल्लेख किया है—

> पद्माहृव बीठलदास सदानन्द । श्रीरंग श्यामदास आनंद कन्द ॥
> लाखो मारु मुदित कल्यान । बंशी परस नरायण गान ॥
> शंकर चेता ग्वाल गोपाल । लीला गाई रसिक रसाल ॥

इनमें बीठल नाम पहले वाले (१७७) वें छप्पयका है, अवशिष्ट सभी नाम प्रस्तुत छप्पयमें उल्लिखित हुए हैं।

श्रीराघवदासजीने अपने भक्तमालके छप्पय ३८२ में इन भक्तोंकी नामावली इस प्रकारसे दी है—

> **सदानन्द श्रीरंग अनन्य लाखा प्रोती जन । श्यामदास किल्यान नारायण परजबंशीधिन ॥**
> **चेता ग्वाल गोपाल संक मारण इधकारी । सब सिधांयत सार आतमा तत्त बिचारी ॥**
> **राम नामकी छाप दिढ़ केता जिव भवतरण । साध आव सुंन मांन विध साचो यह जन धारण ॥**

यद्यपि श्रीरूपकलाजीने इस छप्पयमें वर्णित आठ ही भक्त माने हैं, तथापि उपर्युक्त दोनों महानुभावोंके आधार पर इस छप्पयके भक्तोंकी संख्या १० निश्चित होती है, जैसा कि ऊपर छप्पयार्थमें दिया गया है।

श्रीसदानन्दजी—एक बार कोई सन्त इनके पास आया और अपने रहनेके लिए एक स्थानकी माँग पेश की। श्रीसदानन्दजी स्थानका प्रबन्ध कहाँसे करते ? उन्होंने अपना मकान उसे दे दिया और स्वयं जंगलमें जाकर रहने लगे। इसपर भगवानने एक धनी वैश्यको स्वप्न देकर उनके लिए मकानका प्रबन्ध करवा दिया। वे फिर जङ्गलसे लौटकर आगए और वहाँ रहते हुए पुनः सन्तोंकी सेवा करने लगे।

इसके उपरान्त एक बार जब सन्तोंकी सेवाके लिए श्रीसदानन्दजीके पास सामग्री नहीं रही तो आप जङ्गलमें भाग गए। बादमें भगवान आपका वेश बनाकर आए और घरपर एकत्रित सन्तोंका सम्मान करके बहुत-सी सीध-सामग्री रख गए। बादमें श्रीसदानन्दजीको इस बातका पता लगा तो आप बड़े प्रसन्न हुए और प्रभुके आश्रयमें रह कर पुनः सन्त-सेवा करने लगे।

श्रीनारायणदासजी—एक बार कोई राजा हरा वृक्ष कटवा रहा था। उससे परम सन्त-सेवी श्रीनारायणदासजीने मना किया, पर वह न माना और उसने अपने कर्मचारियोंको पेड़ काट डालनेकी आज्ञा दे दी। आप कर्मचारियोंके साथ-साथ जाकर पेड़के पास खड़े हो गए और बोले—"चाहे मेरे प्राण चले जावें, किन्तु इस हरे वृक्षको नहीं काटने दूँगा।" इसपर कर्मचारियोंको क्रोध आ गया और उनमें से एकने जैसे ही श्रीसदानन्दजीके ऊपर वार किया वैसे ही वह चीख मार कर जमीनपर गिर पड़ा। इस चमत्कारको देखकर कर्मचारियोंने राजाके पास जाकर सब समाचार कह सुनाया। राजा आपके पास आया और विशेष सत्कार-पूर्वक श्रीनारायणदासजीको अपने महलोंमें लिवा ले गया और उन्हें बहुत भेंट दी। इस घटनासे यह स्पष्ट हो गया कि न केवल प्राणियोंके प्रति, अपितु वृक्षोंके प्रति भी श्रीनारायणदासजीके मनमें महान् करुणा थी।

श्रीशङ्करजी—एक बार यात्रा करते हुए आप एक गाँवमें-से गुजर रहे थे तो किसी वैश्यके घरके द्वारपर आपने देखा कि कुछ साधु-सन्त धी और गेहूँके आटेके लिए हठ पकड़ रहे हैं और वैश्य उन्हें सब

अन्नोंका मिला हुआ आटा दे रहा है। यह देखकर आपसे न रहा गया और वैश्यसे बोले—"भले आदमी ! तेरे घरमें इतना सामान भरा पड़ा है, यदि थोड़ा बहुत उसमेंसे इन सन्तोंको दे ही देगा तो कौन-सा घाटा आ जायगा ?"

इसपर वह वैश्य क्रुद्ध होकर बोला—"यदि आप इतने ऊँचे सन्त-उपासक हैं, तो ले जाइए इन्हें अपने साथ और जो ये माँगें वह दिलाइए।"

इसपर आप सब सन्तोंको अपने साथ लिवा ले गए और जो भी सामान आपके पास था, उसे बेचकर प्रेम-पूर्वक साधुओंका सत्कार किया—उन्हें भोजन और वस्त्र दिए। आपकी इस भक्तिको देखकर भगवान वैश्यका वेश बनाकर आए और एक पात्रमें भरकर स्वर्णकी मुहरें दे गए।

श्रीलाखाजी—लक्षपाजी, लाखापाजी, लाखा लक्षदास आदि कई नामोंसे जहाँ-तहाँ आपका उल्लेख मिलता है। श्रीनाभाजीने अनन्य-अनुरागी कहकर आपकी गणना उन भक्तोंमें की है जिन्हें भगवानने भक्तोंके सन्मानके लिये ही पृथ्वीपर जन्म दिया था। यद्यपि नाभाजीने "लाखा" नामके भक्तों का कई छप्पयोंमें उल्लेख किया है, किन्तु छप्पय ९८ और प्रस्तुत १७८वें छप्पयमें उपलब्ध लाखा नामके दोनों एक ही व्यक्ति हैं उनकी जीवनीपर विचार करनेसे ऐसा निश्चय होता है।

लक्षदास-रचित "भागवत-पुराण सारांश" और चन्ददास-कृत "भक्तविहार" के पढ़नेसे पता चलता है कि वे हँसवा फतेपुरके गुनीर गाँवके निवासी अध्वर्यु ब्राह्मण थे। उनके पिताका नाम परमानन्दजी था।

यद्यपि आज वहाँके निवासियोंको भी लक्षदासजीके गृहस्थ या नैष्ठिक-विरक्त आश्रम सम्बन्धी पूरी जानकारी नहीं, तथापि उनकी रचनाओंके अनुशीलनसे उनके जीवनकी बहुत-सी बातोंका पता चल सकता है।

गुनीर गाँव गङ्गाजीके तटपर ही बसा हुआ है। उसी तटपर झोंपड़ी बनाकर लक्षदासजी रहते थे। उनका नित्य गङ्गा-स्नान करनेका नियम था। दैवयोगसे एक बार गङ्गाजी उस स्थानसे बहुत दूर हट गईं। उस समय लक्षदासजी पूर्ण वृद्ध हो चुके थे, फिर भी अपने नियमानुसार वे प्रति दिन गङ्गाजीमें स्नान करने जाते। ग्रीष्म-ऋतुकी घामसे जलती हुई रेती और उस पर धीरे-धीरे नंगे पैरों चलना उनकी एक कठिन तपश्चर्या थी।

एक दिन जब उन्होंने सोचा कि अब उनसे इतनी दूर आना-जाना नहीं बन सकेगा, तो वे तटपर बैठ गये और गङ्गाजीसे प्रार्थना की—"मातः गङ्गे ! अब आप अपने पूर्व-स्थानपर पधारिये, यदि नहीं चलेंगी तो मैं भी अब कुटिया पर नहीं जाऊँगा।"

अपने भक्तकी दृढ़-निष्ठा देखकर गङ्गाजीने कहा—भक्त लक्षदास ! तू कुटियापर चल, मैं भी तेरे पीछे-पीछे आरही हूँ। गङ्गाजीके अन्दरसे ऐसे वचन निकलकर कानोंमें पहुँचे तो प्रसन्न-चित्त हो कर लक्षदासजी अपनी कुटियापर जानेको चल पड़े। ज्यों ही वे कुटियापर पहुँचकर पीछे देखने लगे त्यों ही उन्हें कुटियाके निकट ही श्रीगङ्गाजी बहती हुई दिखाई पड़ीं। अचानक इस घटनाको देखकर दर्शक चकित हो गये। लक्षदासजीका सुयश चारों ओर फैल गया।

उन्होंने अपने ग्रन्थमें अपनी गुरु परम्पराका भी उल्लेख किया है और अपनेको श्रीवर्द्धमान एवं गङ्गलभट्टाचार्यकी परम्पराका अनुवर्ती लिखा है। कई स्थलोंपर उन्होंने हरि, नारायण आदि शब्दों

के साथ गुरु शब्दको जोड़कर अपनी हरि-गुरु-निष्ठाका परिचय दिया है, उससे यह भी ध्वनित होता है कि श्रीवर्द्धमानजीकी परम्परावाले श्रीरूपनारायणजीसे भी आपको सम्प्रदायकी शिक्षा प्राप्त हुई थी और श्रीहरिव्यासदेवाचार्य उनके दीक्षा-गुरु थे।

कहा जाता है कि लक्षदासजीका बचपनसे ही प्रभुमें अनुराग था और तपश्चर्याके कारण वे सिद्धोंमें गिने जाने लगे थे, किन्तु फिर भी वे गुरुदेवकी खोजमें थे। एक बार श्रीहरिव्यास-देवाचार्य पर्यटन करते हुए सैकड़ों सन्तोंको लिये हुए उधर पधारे, लक्षदासजीने उनकी महिमा सुन रखी थी। अत: दर्शन मिलने पर उनकी खुशीका वार-पार नहीं रहा। उनके चरणोंमें पड़कर जब लक्षदासजी ने दीक्षाके लिये प्रार्थना की तब श्रीहरिव्यासदेवाचार्यजीने उन्हें एक लक्ष साधु-ब्राह्मण अतिथियोंको भोज करानेका आदेश दिया। तदनुसार उन्होंने भी वैसा ही किया। आचार्य-श्रीने दीक्षा-मन्त्रोपदेश देकर कहा—यहीं गङ्गा तटपर रहते हुए भजन साधन करते रहो। तभीसे उनका "लक्षपाकी" एवं लाखापाकी नाम प्रसिद्ध हो गया।

परम्परा-स्तोत्रोंमें "लक्षपाकी मुकुन्दस्तु" इस प्रकारसे उल्लेख मिलता है और भाट जाग उन्हें लाखा-पाकी कहते हैं। संक्षिप्त-रूपसे "लाखा" नाम प्रचलित है। अपनी रचनाओंमें उन्होंने लक्षदास, लच्छदास, "लच्छ" आदि नामोंका उल्लेख किया है।

यहाँ रहते हुए भी उनका श्रीश्यामसुन्दर और उनके धाम श्रीवृन्दावनमें अनन्य अनुराग था। अतः अन्तिम अवस्थामें वे जब वृन्दावन आये तो फिर यहाँ ही रह गये। कहा जाता है कि उस समय गो० तुलसीदासजी भी उनके साथ थे। लक्षदासजीका शरीर वृन्दावनमें ही छूटा। सूरदासजी वाली कुंज पत्थरपुरा वृन्दावनमें उनकी समाधि बनी हुई थी।

उनके रचे हुए भाषा-छन्दोबद्ध "भागवत-पुराण सारांश" से उनकी भक्ति-भावना और अनन्य अनुरागका पूरा परिचय प्राप्त हो जाता है। उसीके अनुसार भक्तमाल-कारने उन्हें अनन्य-अनुरागी लिखा है।

विशेष—एक २६ पुस्तकोंका संग्रह जिसके अन्तिम पृष्ठोंमें लिपि-काल वि० सम्वत् १७७६ लिखा गया है, अभी मिला है। इसके प्रारम्भिक भागमें छठा ग्रन्थ मूल-भक्तमाल भी है। यह प्रति वि० सम्वत् १७६९ से पूर्वकी लिखी हुई प्रतीत होती है, जबकि श्रीप्रियादासजीने भक्तमाल टीका नहीं की थी। इसमें "व्रजराज सुवन संग" (छ० २३), केशी भटनर मुकुट मणि (छ० ७५), रसिक मुरारी उदार अति (छ० ९५), आमेर अछत कूरमको० (छ० ११६), कीन्ह कृपा कीरति विशद० (छ० १५८), ये छप्पय यहाँ तकके पाठमें नहीं मिलते हैं। अवशिष्ट छप्पय और दोहे आदि प्रचलित पुस्तकोंके समान ही हैं।

यहाँसे आगे कई छप्पयोंका व्यतिक्रम है और निम्नांकित छप्पयोंका सर्वथा ही अभाव है—

१. गदाधरदासजी (छ० १८६), २. नारायणदासजी (छ० १८७), ३. भगवानदासजी (छ० १८८), ४. कल्याणजी (छ० १८९), ५. सोवर सीभूरामके (छ० १९०), ६. बुद्धिसे विदित (छ० १९१), ७. गोविन्ददासजी (छ० १९२), ८. नृप जगतसिंहजी (छ० १९३), ९. रामदासजी (छ० १९६), १०. रामरायजी (छ० १९७), ११. भगवतमुदितजी (छ० १९८), १२. लालमती (छ० १९९)।

इस प्रतिमें यहाँसे आगे दो साखियाँ और ३ छप्पय प्रचलित प्रतियोंसे अधिक भी मिलते हैं—साखियाँ इस प्रकार हैं—

सदाचार सन्तनिकी सेवा मिसि दिन आई चालो।
हरिगुरु सिंधु भक्तिको आकर गरबो भक्त गुलालो ॥१७२॥
गोविंददास गंभीर मति प्रगट छाप गुनरासि।
हरि लीला रुद मुख बसे जाके भक्ति उपासि ॥१७३॥

इन साखियोंके पश्चात्—अष्टांग जोग तन त्यागियौ०, द्वारकादासजी, १७४। गलिता गलित अमित गुण०, पयोहारी कृष्णदासजी १७५, परम धर्म प्रतिपोषकों०, सन्यासी भक्त १७६ पूरन प्रताप महिमा अनंत०, पूर्णजी १७७, इस क्रमसे कुण्डलियाँ सहित ये छप्पय हैं; प्रचलित पुस्तकोंमें इनके पाठ-क्रमकी संख्याका व्यतिक्रम है जो क्रमसे इस प्रकार है—१८२, १८५, १८१ और १८३।

उपर्युक्त चारों छन्दोंके पश्चात् प्रचलित पुस्तकोंमें न मिलने वाले निम्नांकित दो छप्पय और मिलते जो इस प्रकार हैं—

(श्री) वल्लभ बंश विख्यात जगत जसु धर्म धुरंधर।
तिनके बीठल नाथ विश्व मंगल करुना भर ॥
श्रीगिरधर गुननि अगाध नाथ पद प्रीति निरंतर।
नंद धाम दीक्षत सदन नहि उपमा कछु अंतर ॥
सुत सपूत गिरिधरनके सदाचार रत मन मुदित।
संत कमल सुख देन को दामोदर दिनिधर उदित ॥१७८॥

... ...

गायौ नित्य विहार रीति सब जगतें न्यारी।
स्यामा स्याम उपासि महा बांकौ ब्रत धारी ॥
श्रीजुत बीठल विपुल सु गुरुवर शिष्य उजागर।
रचि पद साखी छंद लड़ावै नागरि नागर ॥
एक टेक नित निरबही राउ रंक तजि आस।
श्रीहरिदास प्रसाद गुन भयौ बिहारीदास ॥१७९॥

इन छप्पयोंमें वर्णित महानुभावोंका वर्णन छप्पय ४८, ७६, ८०, १४६ में पहले भी हो चुका है। सम्भवतः इसी कारणसे श्रीप्रियादासजीने टीका करते समय इन छप्पयोंको छोड़ दिया हो और आगेकी प्रतियोंमें इन्हें स्थान न मिला हो। इससे यह भी अनुमान होता है कि टीका करते समय ही कुछ छप्पय बढ़ाये भी गये होंगे। इस विषयका स्पष्टीकरण सं० १७२४ और १७१३ वाली प्रतियोंसे हो सकता था, किन्तु दुर्भाग्यवश वे अभी देखनेको नहीं मिल सकी हैं, अतः उनका विवरण पृथक् दिया जायगा।

मूल (छप्पय)

(श्रीहरीदासजी)

सरनागतकों सिवर दान दधीच टेक बलि ।
परम धर्म प्रह्लाद सीस जगदेव देन कलि ॥
बीकावत बानैत भक्त-पन धर्म-धुरंधर ।
तूँवर कुल दीपक संत-सेवा नित अनुसर ॥
पारथ पीठ अचरज कौन सकल जगतमें जस लियो ।
तिलक दाम पर-कामकों 'हरीदास' हरि निर्मयो ॥१७६॥

अर्थ—श्रीहरिदासजी शरणागतकी रक्षा करनेमें राजा शिविके समान थे, दान करनेमें महर्षि दधीचिके समान, प्रण निबाहनेमें राजा बलिके सदृश, परम-धर्म अर्थात् भगवद्-भक्तिमें प्रह्लाद सरीखे और प्रसन्न होकर अपना सिर दे देनेमें जगदेवजीके तुल्य थे । आप बीकाजीके वंशमें प्रसिद्ध योद्धा थे। आपने अपनी भक्तिमत्ताकी टेकका पूर्ण पालन किया । धर्मात्मा पुरुषोंमें आप अग्रगण्य थे, तूँवर-कुलके दीपक थे और सन्त-सेवामें नित्य तत्पर रहते थे । पार्थ-पीठ—परीक्षित-कुलमें उत्पन्न होने वाले हरीदासजीमें ऐसे गुण होना कोई आश्चर्यकी बात नहीं है । अपनी अनुपम भक्तिके कारण ही आप संसारमें यशके भागी बने । ऐसा प्रतीत होता है कि तिलक और कंठी धारण करने वाले वैष्णवोंके मनोरथको पूरा करानेके उद्देश्यसे ही भगवानने श्रीहरिदासजीको यहाँ जन्म दिया था ।

राजा शिविका वृत्तान्त इसी अङ्कके पृ० १५६ पर दिया जा चुका है ।

भक्ति-रस-बोधिनी

(राजा श्रीजगदेवजी)

प्रह्लाद आदि भक्त गाये गुण भागवत, सब इक ठौर आय देखें 'हरिदास' में ।
रीझि जगदेव सों यों कहि कै बखान कियौ, जानत न कोऊ, सुन्यौ करयौ लै प्रकास में ॥
रही एक नटी सक्ति-रूप गुण-अटी, गावै लावै चटपटी, मोह पावै मृदु हास में ।
राजा रिझवार करैं देवेको बिचार, पै न पावै सार, काटि सीस "राख्यौ तेरे पास में" ॥६०४॥

अर्थ—प्रह्लाद, शिवि, दधीचि, बलि—इन भक्तोंके गुण श्रीमद्भागवतमें वर्णित हैं। श्रीहरिदासजीमें ये सब गुण एकत्र पाये जाते थे । श्रीनाभास्वामीने रीझनेमें उनकी तुलना श्रीजगदेवजीसे की है । इनका वृत्तान्त कोई नहीं जानता, अतः मैं (प्रियादासजी) उसे यहाँ प्रकाशमें ला रहा हूँ ।

एक अतीव रूपवती और गुणोंसे युक्त नर्तकी थी । देखनेमें ऐसी लगती थी मानो शरीर-धारिणी शक्ति हो । जिस समय वह गाती थी, सुनने वाले उत्कंठासे विकल हो जाते थे

और हँसती थी इस तरह कि लोगोंकी सुध-बुध जाती रहती। राजा जगदेवने उसकी उत्कृष्ट कलासे प्रसन्न होकर उसे कुछ देनेका विचार किया, पर उसके योग्य कोई वस्तु जब दिखाई न दी, तो नटीसे कहने लगे—"शीस अब मेरा है और मेरी धरोहरके रूपमें आपके ही पास रहेगा।"

भक्ति-रस-बोधिनी

"दियौ कर दाहिनो मैं, यासों नहीं जाचौं कहूँ," सुनि एक राजा भेद-भाव सों बुलाई है।
निर्त करि गाई रीझि "लेवौ" कह्यो, आई "देहु", आड़्यौ बाँयौ हाथ, रिस भरिकै सुनाई है॥
"इतौ अपमान!" "पानि दच्छिन लै दियौ अहो नृप जगदेवजूकों", ऐसी कहा पाई है?।
तासौं दसगुनी लीजै, मोको सो दिखाय दीजै", "दई नहीं जाय काहू, मोहि ये सुहाई है" ॥६०५॥

अर्थ—राजा जगदेवजीके मस्तक दे देने पर नटीने कहा—"मैं अपना दाहिना हाथ आपको देती हूँ। अब इस हाथसे किसीसे न तो कुछ माँगूँगी और न लूँगी।"

इस बातको एक राजाने सुना और उसने अपने हृदयके भावोंको छिपाकर नटीको नाचनेके लिये बुलाया। जब नृत्य हो चुका तब उस राजाने प्रसन्न होकर कुछ देना चाहा। नर्तकीने लेनेके लिए अपना बाँया हाथ बढ़ाया। राजाने इस बात पर नाराज होकर कहा—"हमारा ऐसा अपमान!" नर्तकीने उत्तर दिया—"मैं अपना दाहिना हाथ राजा जगदेवजीको दे चुकी हूँ।" राजाने पूछा—वहाँसे ऐसी क्या अमूल्य वस्तु तुम्हें मिली है? उस वस्तुको जरा दिखाओ तो सही; मैं उससे दसगुनी वही वस्तु तुम्हें दूँगा।" नटीने कहा—"वैसी वस्तु हर कोई नहीं दे सकता। मेरा हृदय इस बातको जानता है।"

भक्ति-रस-बोधिनी

किती समझावै, "ल्यावो" कहै, गहै, अक लागी, गई बड़भागी पास "वस्तु मेरी दीजियै॥"
काटि दियौ सीस तन रहै ईश-शक्ति लखी, ल्याई अकसीस थार ढाँपि, "देखि लीजियै॥"
खोलिकै दिखायौ, नृप मुरछा गिरायौ तन "धनकी न बात अब, याको कहा कीजियै।"
"मैं जु दीनौ हाथ जानि," आनि पाँव जोरि दई, लई वही रीझि यह तान सुनि जीजियै ॥६०६॥

अर्थ—नटीने राजाको बहुत समझाया, पर उसे तो वही जिद पड़ गई और बार-बार उस वस्तुको लानेके लिए नटीसे आग्रह किया। नटीको भाग्यशाली राजा जगदेवके पास जाना पड़ा और बोली—"लाइए, मेरी वस्तु मुझे दीजिये।"

राजाने प्रतिज्ञानुसार अपना सिर काटकर नटीको दे दिया। नटी शक्तिका अवतार थी। राजा जगदेवजी द्वारा दिए गए पुरस्कारको वह एक थालमें ढक कर लाई और राजासे कहा—"यह देखिये।" देखते ही राजा मूर्छित होकर धरती पर गिर पड़ा। उसे अब चिन्ता लगी कि "मैंने तो समझा था कि धनकी बात होगी, किन्तु यहाँ तो कुछ और ही निकला। अब क्या करूँ—क्या दूँ?"

नटीने कहा—"ऐसी वस्तु पाकर ही मैंने अपना दाहिना हाथ दिया है ।"

इसके बाद नटीका वेष धारण किये हुए शक्तिमहाकालीने राजा जगदेवके सिरको फिर पहलेसे जोड़ दिया और वही पद गाने लगी जिस पर रीझ कर राजाने अपना मस्तक दे डाला था । नटीके संगीतकी ध्वनि कानोंमें पड़ते ही राजा जगदेव जीवित हो गये ।

भक्ति-रस-बोधिनी

सुनी जगदेव रीति, प्रीति नृपराज सुता पिता सों बखानि कही वाही को लै दीजियै ।
तब तौ बुलाये समझाये बहु भाँति खोलि बचन सुनाये "अजू ! बेटी मेरी लीजियै ।"
नट्यौ सत बार तब कही "डारौ मारि," चले मारिबेको, बोली वह 'मारौ मत भीजियै ।'
"दृष्टि सो न देखै' कही "ल्यावौ काटि मूंड़," "लाये, चाहे सीस आँखिनकी, गयौ फिरि रीझियै ॥६०७॥

अर्थ—राजा जगदेवजीकी गुण-ग्राहकताका वृत्तान्त एक बड़े राजाकी पुत्रीने सुना, तो वह उस पर आसक्त होगई और अपने पितासे यह प्रस्ताव किया कि उसका विवाह जगदेवजीके साथ कर दिया जाय । यह एक बड़ा राजा था और जगदेवजी उसके अधीन थे । इसने जग-देवजीको बुलाकर अनेक प्रकारसे समझाया और अपनी पुत्रीके स्वीकार करनेकी बात कही । किन्तु जगदेवजी, सहमत नहीं हुए; मना करते ही चले गये । इस पर राजाने आज्ञा दी कि जगदेवजीका वध कर दिया जाय । जब लोग उन्हें मारनेके लिये ले जा रहे थे, तब राज-कन्याने आकर कहा—"इन्हें मत मारो; मैं इनसे प्रेम करती हूँ ।" इतने पर भी जब जगदेवजी ने नजर फेर कर राज-पुत्रीकी ओर नहीं देखा, तो उसने भी कह दिया कि उन्हें मार डाला जाय । जगदेवजीका मस्तक जब काट कर राजाकी लड़कीके सामने उपस्थित किया गया, तो वह उनकी आँखोंकी ओर देखने लगी, किन्तु मस्तक राज-पुत्रीकी ओरसे घूम गया । इस बात पर कौन नहीं रीझेगा ?

भक्ति-रस-बोधिनी

निष्ठा रिझवार रीति कीनी विस्तार यह, सुनौ साधु-सेवा हरीदासजूने करी है ।
परवा न संत सों है, देत हैं अनंत सुख, रह्यौ सब आनि, भक्त-सुता चित धरी है ॥
दोऊ मिलि सोवें रितु ग्रीषमकी छात पर गात पर गात सोये सुधि नहीं परी है ।
दातुन के करिबे को चहे निसि शेष आप, चादर उढ़ाय नीचे आये, ध्यान हरी है ॥६०८॥

अर्थ—इस निष्ठापर प्रसन्न होकर एक बार स्वयं भगवान ही*एक अल्प-वयस्क साधुके रूपमें हरिदासजीके यहाँ आये । हरिदासजीने उनका बड़ा आदर-सत्कार किया । वे इनके यहाँ निवास करने लगे और अपने समवयस्क बालक-बालिकाओंके साथ क्रीड़ा करने लगे । हरिदासजी की राजकुमारी भी उनके साथ खेलती कूदती थी । वे दोनों साथ-साथही रहते थे । एक-दूसरेके बिना एक क्षण भी नहीं रह सकता था जैसे अपनी राजकुमारीमें हरिदासजीका

---

*इन दोनों कवित्तोंका भावार्थ श्रीबालकरामजीकी टीकाके आधारपर व्यक्त किया है ।

वात्सल्य-भाव था, उसी प्रकार उस संत-रूपी बालकका भी वे अपने पुत्रसे भी बढ़कर पालन करते थे। उन्हें वे बालक-सन्तके रूपमें आये हुए साक्षात् भगवान ही समझते थे। एक दिन ग्रीष्म-ऋतुमें दोनों बालक-बालिका ऊपर छतपर सोये हुए थे, किन्तु कुछ भी ओढ़े हुए नहीं थे। ग्रीष्म-ऋतुमें भी कभी-कभी प्रातःकाल बड़ी ठंड पड़ती है। हरिदासजी दाँतुनके लिये ऊपर छतपर चढ़े, तो देखा कि दोनों ठंडके मारे सिकुड़े हुए सोये पड़े हैं और गहरी नींदके गहरमें बेसुध हो रहे हैं। हरिदासजीने उस समय यह नहीं सोचा कि संत-भगवानको अपने उपयोगमें लाई हुई चादर उढ़ाऊँ या नहीं; झटपट उन्होंने अपनी चादर बालिका और बालक-रूपी संतको उढ़ा दी।

भक्ति-रस-बोधिनी

> जागि परे दोऊ अरबरे देखि चादर कों, पेखि पहिचानी सुता, पिता ही की जानी है।
> संत हग नये चले, बैठे मग, पग लये, गये लै एकांत में यों बिनती बखानी है॥
> "नैकु सावधान ह्वैके कीजिये निसंक काज, दुष्टराज छिद्र पाय कहैं कटु बानी है।
> तुमको जु नाँव धरें, जरें सुनि हियो मेरो, डरें निंदा आपनी न होत सुखदानी है॥६०९॥

अर्थ—जब दोनों जागे तो विचार करने लगे कि यह चादर किसकी है? कहाँसे आई? बालिकाने कहा यह तो पिताजीकी चादर है। अर्द्ध खुले नयनोंसे सन्त-भगवान उठकर चले तो मार्गमें बैठे हुए हरिदासजीने उन्हें प्रणाम किया और एकान्तमें उनसे यह विनती की, "प्रभो! आप सन्त-रूपमें हैं, अतः सन्तोंका कार्य (प्रभुका ध्यान अर्चा-पूजा) सावधानी-पूर्वक करना चाहिये। प्रातःकाल ब्राह्म-मुहूर्तमें उठकर शौच-स्नानादिसे निवृत्त हो प्रभुकी आराधना करनेका विधान है। यदि आप ही निःशंक होकर दिन चढ़े तक पौढ़े रहें तो साधुओंके प्रति दुष्ट-राज नास्तिक कड़ुवे बोल बोलेंगे। साधुका बाना धर कर केवल खान-पान और सोनेमें ही समय बितानेसे वे आपकी अवज्ञा करेंगे। उसे सुनकर हमारा दिल जलेगा। क्योंकि सन्तोंकी निन्दाको मैं अपनी ही निन्दा समझता हूँ और अपनीनिन्दा कोई भी सुनना नहीं चाहता।"

भक्ति-रस-बोधिनी

> "इतनी जताधनी में भक्ति कों कलंक लगै, ऐ पै संक बड़ो, साधु घटती न भाइयै।
> भई लाज भारी चिबै बास धोय डारी मोके, जीके दुख राखि चाहैं कहूँ उठि जाइयै॥
> निपट मगन किये, नाना बिधि सुख दिये, दिये पै न जान "मिलि लाबन लड़ाइयै।
> गोबिंद अनुज जाके बाँसुरी की साँचोपन, मन में न ल्यायौ नृप, इह बिधि गाइयै॥६१०॥

अर्थ—हरिदासजीने बाल-सन्त-रूपी प्रभुसे यह भी निवेदन किया—'प्रभो! मैं आपको उपदेश देता हूँ तो मेरी निष्ठापर लाञ्छन लगता है, किन्तु इसी शंकासे यह प्रार्थना करता हूँ कि साधु-सन्तोंकी कोई अवज्ञा न कर बैठे।'

सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र प्रभुको भी सन्त-वेष धारण करनेके कारण हरिदासजीके उपर्युक्त उपदेश

से लज्जा होना स्वाभाविक था। अतः उन्होंने उस दिन कुछ भी खान-पान नहीं किया जिससे हरिदासजीके चित्तकी दुख-प्रद उन समस्त आशङ्काओंको अच्छी प्रकारसे धो दिया। अब उन्हें ज्ञात हो गया कि यह बालक-संत केवल खान-पान और बच्चोंके साथ खेल-कूद, एवं सोनेमें ही समय नहीं बिताता है भजन-साधनमें भी परिपक्व है। इस प्रकार अपने स्वरूपका परिचय दे कर जब उस बालक-संतने वहाँसे अन्यत्र जानेका विचार किया तो भक्त हरिदासने विनम्रता-पूर्वक बहुत अनुनय-विनय करके रोका और सब प्रकारसे उनकी सेवा की। अपने भक्तकी सच्ची निष्ठा देखकर भगवानने उसे दिव्य अलौकिक अपने रूपका दर्शन कराया। हरिदासजीभी कृत-कृत्य होकर समस्त परिवार-सहित श्रीश्यामसुन्दरको लाड़ लड़ाने लगे।

हरिदासजीके छोटे भाई गोविंददासजी भी प्रभुके अनन्य भक्त थे। वे बाँसुरी बजानेकी कलामें पारंगत थे, किन्तु भगवान और भक्तोंके अतिरिक्त अन्य किसीके सामने वह वंशी नहीं बजाते थे। उनकी ख्याति सुनकर बादशाहने एक बार उन्हें बुलाया और बाँसुरी बजानेको कहा, पर आपने अपनी प्रतिज्ञाको निभाते हुए उसके सामने वंशी नहीं बजाई। यह है श्रीहरिदासजी तथा गोविन्ददासजीकी दृढ़ निष्ठाका चरित्र।

शोध द्वारा संप्राप्त विशेष परिचय—श्रीनाभाजीके छप्पय और श्रीप्रियादासजीकी टीकामें जिन-जिन भक्तोंके निवास-स्थानों (गाँवों) के नाम मिलते हैं, उनमें एक क्षेत्र दिल्ली और अजमेरके मध्यवर्ती एवं श्रीपुष्कर देवयानी, च्यवनाश्रम (ढोसी गिरि), लोहार्गल (केतुमाल पर्वत), गणेश्वर-गांवडी (गालव आश्रम) आदिके बीचमें एक मैदानी भाग है। जहाँसे कि चारों ओर पर्वत-मालाओं का मनोहर दृश्य दिखाई देता है।

यह स्थल जयपुरसे ६० मील उत्तर-पश्चिमी-कोण और श्रीनिम्बार्काचार्य-पीठ परशुरामपुरी (सलेमाबाद) से लगभग ८०-९० मीलकी दूरीपर उत्तर में है। श्रीपरशुरामदेवाचार्यजीके एक तपो-निधि शिष्य श्रीपीताम्बरदेवाचार्यजीने परशुरामपुरीसे चलकर पहले किशनगढ़के उन पहाड़ोंमें तपश्चर्या की जो आज पीताम्बरकी गालके नामसे ख्यात है। फिर वहाँसे वे उत्तरकी ओर ८०-९० मील तक चलकर नदीके तटपर एक पीलु-वृक्षके नीचे वहाँ आ बैठे जहाँ किसी भक्त नरेशकी स्मृतिमें बना हुआ पाषाणका अष्टकोण चबूतरा और थोड़ी दूरपर ही ५-७ घरोंवाली एक छोटी-सी बस्ती भी बसी हुई थी। कालान्तरमें बढ़कर वही बस्ती "चला" ग्रामके नामसे ख्यात हो गई। इस चला ग्रामके चारों ओर उस समय भक्तोंका विशद मंडल था। उन भक्तोंमें-से नाभाजी बहुत थोड़ेसे ही भक्तोंको अपनी इसमालामें गूंथ सके। जैसे—चलासे पश्चिम ५ कोसकी दूरीपर खंडेलाकी करमैतीबाई (छप्पय १६०), ३ कोस पूर्व भगेगाके हरिदासजी तंवर यही (छप्पय १७६) ६ कोस पूर्व गांवड़ीके दास (छप्पय १०६), भीम (सम्भवतः भगवानदास तूंवरके पिता छप्पय (९९-१००) बीकोजी (हरिदासजी गोविन्ददासजी के पिता (छप्पय ९९) वहाँसे सन्निकटवर्ती टोडाके रामचन्द्र (छप्पय ११७) और विट्ठलजी (छप्पय १४९), चलासे ६ कोस पूर्व दक्षिणके कोणपर चीपलाटाके भगवानदासजी तूंवर (छप्पय १५४) और ८-९ कोस दक्षिणमें घाटमजी (छप्पय ९९) तथा १५ कोसपर हरसोलीमें झांझूजी (छप्पय ९८)

उत्तरमें कुण्डाके कृष्णदासजी किंकर छप्पय १४७) और जटियानाके भाऊजी (छप्पय १०६) इत्यादि भक्तोंका ही नामोल्लेख मिलता है। किन्तु इस क्षेत्रके तत्कालीन बहुतसे विशिष्ट भक्त भक्तमालमें नहीं गूँथे जा सके। इस सम्बन्धमें स्वयं भक्तमालकारने संकेत कर दिया है—"इस भूतलपर स्थित सभी भक्तोंका वर्णन कौन कर सकता है ? जिन-जिन महानुभावोंने भक्तमाल कही हैं उन्हींमें-से छाँट-छाँट कर मैंने भी दो अक्षरोंका यह शिला (चुनाव) कर लिया है"।※ यदि सभी भक्तोंका नामोल्लेख करते तो इसी एक ही क्षेत्र में यह माला पूर्ण हो जाती। सम्भव है, श्रीपीताम्बरदेवजीकी प्रेरणा यहाँसे ही इस क्षेत्रमें चारों ओर चली हो, अतएव इस ग्रामका नाम "चला" प्रसिद्ध हुआ हो, क्योंकि इस क्षेत्रमें निम्बार्क-सम्प्रदायके भक्त अधिक हुए हैं। यह धारणा उनके मठ-मन्दिरोंसे भी पुष्ट होती है, जो आज भी इस क्षेत्रके प्रत्येक ग्राममें विद्यमान हैं।

अन्यान्य सम्प्रदायोंमें भी डाकीरामजी, मीठाजी, अलखरामजी, शीतलदासजी आदि-आदि प्रसिद्ध सन्त थे। आज भी जनता उनकी धूनी बनी आदिको पूजती है और अपने मनोरथोंकी पूर्ति करती है।

पीताम्बरदेवजी और अलखरामजीके चमत्कारोंकी गाथा जन-जनकी वाणीसे सुनी जारही है। श्रीनाभाजी-जैसे श्रीपरशुरामदेवाचार्यजीको लेकर उनके प्रतापी भक्त-शिष्य तत्त्ववेत्ता श्रीपीताम्बर-देवजी आदि जो भक्तमालके रचनाकालमें प्रसिद्ध थे, उनको इस मालामें नहीं गूँथ सके। उसी प्रकार बड़े भाई हरिदासजीके छप्पयमें भी उनके छोटे भाई भक्त गोविन्ददासजीका नामोल्लेख नहीं कर सके। वस्तुतः श्रीहरिदासजीकी अपेक्षा उनके छोटे भाई गोविन्ददासजीका प्रभाव इस क्षेत्रमें अधिक देखा जाता है। नाभाजी द्वारा नामोल्लेख न होनेके कारण प्रियादासजीने भी टीकाके कवित्त ६१० में संकेत-मात्र ही किया है। अतः शोध-सम्प्राप्त× उनका चरित्र यहाँ संक्षेपमें दिया जाता है।

कुछ शताब्दियोंसे तंवर-राजवंशकी एक राजधानी पाटण (जीलो पाटण) में रही है। यहाँ कई एक विद्वानोंके घराने भी प्रसिद्ध थे। इस राजवंशमें सांगाजी नामक एक साहसी वीर पुरुष हुए हैं। वे अपनी जन्म-भूमि पाटणसे उठकर वहाँसे ८-९ कोसकी दूरीपर दक्षिणमें (गांवडी गणेश्वर ग्राम में) रहने लगे। यहाँके पहाड़ोंमें कई ठौर प्रपात और निर्झर झरते हैं, आस-पासकी जनता पर्वोंके समय इन तीर्थोंमें स्नान करनेको एकत्रित होती है। सांगाजीने मीणों (राजस्थानकी एक जाति) को परास्त करके गांवडीको अपने आधिपत्यमें ले लिया था। उनकी तीसरी पीढ़ीमें पीपाजीका जन्म हुआ। उनके तीन पुत्रोंमें चोकाजी सबसे बड़े थे। वे बड़े भक्त थे। किसी कारणवश गांवडीको छोड़कर वे चला की ओर चल दिये और वहाँसे चार कोसकी दूरीपर भगेगा (पहाड़) में निवास करने लगे। वहीं ही उनके हरिदासजी और गोविन्ददासजी ये दो पुत्र हुए। कहा जाता है कि किसी महात्माका उन्हें आशीर्वाद मिला था। अतः उनके ये दोनों ही पुत्र परम भगवद्भक्त हुए। गोविन्ददासजी वंशी बहुत अच्छी बजाते थे। जब अपने उपास्य श्रीगोपालजीके सम्मुख बैठकर वे वंशी बजाते तब तन्मय हो

※ भक्तमाल छन्द २०४ और २१३।

× श्रीहरिदासजीके वंशजोंमें वयोवृद्ध ठाकुर फूलसिंहजी (अवस्था ७४ वर्ष) और श्रीगोविन्ददासजीके मन्दिरके पुजारी पं० रामगोपालजी वैद्य द्वारा मौखिक बतलाया हुआ और उनके राजपुरोहितकी पुस्तकोंमें प्राप्त लेखोंसे यह परिचय संग्रह किया गया है। (सम्पादक)

जाते थे। बादशाही नौकरी करते हुए भी वे प्रभुकी आराधना और सन्तोंका सत्सङ्ग किये बिना नहीं रहते थे।

एक दिन किसीके द्वारा बादशाहको उनके वंशी-वादनका पता चल गया। बादशाहने इनसे अनुरोध किया कि "हमको भी अपनी वंशी बजाकर सुनाओ।" गोविन्ददासजीने स्पष्ट इन्कार करते हुए कहा—

वंशी बाजै हरि के बेहुरै, कै साथां कै संग मांहि।

यह सुनकर बादशाह कुछ रुष्ट तो हुआ, किन्तु उस समय अपने रोषको दबा लिया।

फिर एक दिन किसी विद्वेषीने बादशाहको उभारा और कहा—"हुजूर! इसकी तलवार तो देखिये, काठ की है।" जब गोविन्ददासजी दरबारमें पहुँचे तब बादशाहने कहा—"अपनी तलवार तो जरा निकालो, कैसी है?" गोविन्ददासजी समझ गये। उन्होंने कहा—"प्रहार किसपर किया जायेगा? पहले यह बतला दीजिये; क्योंकि मेरी तलवार विशेष प्रयोजनके बिना कोष (म्यान) से बाहर नहीं निकल सकती।"

उसी समय एक बागी (विद्रोही) अमरचिपु से शाही-सेना लड़ रही थी, अतः बादशाहने हुक्म दिया कि अमरचिपुपर प्रहार करना है। गोविन्ददासजीने मन ही मन सोचा—अब तो दो में से एक काम अवश्य करना ही पड़ेगा। उस समयकी स्थितिपर किसी कवि द्वारा एक दोहा इस प्रकार कहा गया था—

गोविन्दा गाढ़ी बनी, हुक्म कियौ पतसाह।
कै वंशी के टेर हैं, कै अमरचिपु के बाह॥१॥

उन्होंने अमरचिपुसे लड़नेका निश्चय कर लिया। इधर किसी विद्वेषीने उनका वह घोड़ा चुरा लिया जो बत्तीस हजार रुपये कर्ज करके खरीदा था। फिर भी वे साहस करके संग्राम करनेको चल पड़े। युद्ध-स्थलपर पहुँचकर तलवार खींची और अमरचिपुपर प्रहार किया तो एक ही बार में—"झांड़ी कटि मांडी कढ्यो, पगड़ी पाँचों पेच।" अमरचिपुको धराशायी बना दिया; उनकी काठकी तलवारका यह चमत्कार देखकर सभी चकित हो गये। किन्तु ऐसे हिंसामय कार्योंसे उन्हें ग्लानि हो गई थी, अतः उसी युद्धमें लड़कर उन्होंने वीर-गति प्राप्त की।

उनकी संतान केवल एक लड़की ही थी जो बूँदीके हाड़ा-नरेश भोजराजजी (जन्म सं० १६०५ राज्य-काल सं० १६४२*) को ब्याह दी थी। उसके भी पुत्री ही हुई थी जो बीकानेर-नरेश दलपतसिंहजी को ब्याही गई थी।

श्रीगोविन्ददासजीके पूर्वज श्रीबिहारीजीके उपासक थे, अतः वे अभिवादनमें "जयबिहारीजीकी" शब्द बोला करते थे। उन्होंने श्रीवृन्दावनमें जुगल-घाटपर श्रीजुगल-बिहारीजीका मन्दिर बनवाया था, जो वृन्दावनके पुराने मन्दिरोंमें गिना जाता है। किन्तु श्रीगोविन्ददासजीके श्रीगोपालजीका इष्ट था। अतः अभिवादनमें भी उन्होंने "जयगोपाल" शब्द अपनाया। भगेगा और गोविन्दपुरामें उनके दोनों मन्दिरोंमें श्रीगोपालजीकी ही प्रतिमा प्रतिष्ठित है और दोनों ही स्थलोंमें गोविन्ददासजीकी चरण-पादुकायें स्थापित हैं। गोविन्दपुरा ग्राम जो चला और भगेगाके बीचमें बसाया गया था, श्रीगोविन्ददासजीकी स्मृतिमें ही बसा था। भगेगामें एक मन्दिर पीछेसे और बनाया गया। उसमें श्रीजुगलकिशोरजीकी प्रतिमा विरा-

* हरिचरणसिंह चौहाण सूर्यवंश नहितावली (सं० १९५३ का संस्करण) पृ० ४७-६२।

जमान कर अपने पूजनीय श्रीपीताम्बरदेवजीको परम्परावाले (चलाके) महन्तोंके भेंट किया गया। इस प्रकार उनके सभी मन्दिर श्रीनिम्बार्क-सम्प्रदायकी पद्धतिसे बने और आज भी वे श्रीम्बार्कियोंके ही आधिपत्य में हैं।

कहा जाता है कि श्रीहरिदासजीके गुरुदेव नन्दग्राममें रहते थे, उनका नाम नाफादासजी था। वे बड़े परोपकारी थे। एक बार वे किसी जेलखानेके द्वारपर जा बैठे। उन्होंने जेलरसे कहा कि 'या तो हमें भी बन्दी बना लो या इन समस्त कैदियोंको छोड़ दो।' कई दिनों तक उन्होंने कुछ भी नहीं खाया-पिया। इस घटनाके समाचार जब बादशाह तक पहुँचे, तो समस्त कैदियोंको छोड़नेकी आज्ञा दे दी।

श्रीनाफादासजीके सम्पर्कमें रहनेके कारण आज तक भी नन्दगाँवके एक गोस्वामी-घरानेका यह राजवंश गुरु-तुल्य सम्मान करता है। गोविन्दपुराके मन्दिरके अर्चकोंकी भी आरम्भमें विरक्त-परम्परा थी। वि० सं० १८४० में महात्मा नन्दरामदासजी विरक्त ही थे। फिर उनके प्रशिष्य जुगलदासजी गृहस्थ हो गये। इस समय उनकी चौथी पीढ़ीमें रामगोपालजी वैद्य आदि हैं।

माघ शुक्ला ६ और भाद्रपद शु० ६ इन दोनों तिथियोंमें गोविन्ददासजीका स्मृति-उत्सव मनाया जाता है। जिन गाँवोंमें उनके वंशजोंका आधिपत्य रहा है, वहाँके कृषक उपर्युक्त दोनों दिनोंमें बैलोंको नहीं जोतते। भाद्रपदकी शु० ६ को तो गोविन्दपुरामें एक अच्छा मेला भी लगता है, जिसमें मनोरंजनात्मक कार्योंके साथ-साथ आस-पासकी जनता एकत्रित होकर श्रीगोविन्ददासजीकी पूजा करती है और उन्हें श्रद्धांजलियाँ अर्पित करती है।

कहा जाता है कि हरिदासजी और गोविन्ददासजीकी वीरता तथा भगवद्भक्तिमें उनकी दृढ़-निष्ठा देखकर बादशाह चकित हो गया। ऐसे भक्त-वीरकी मृत्युपर उन्हें पश्चात्ताप होना भी स्वाभाविक था। अतः मान-सम्मान पूर्वक गोविन्ददासजीके परिवारको उपहार-रूपमें अजमेर शहर प्रदान कर दिया। किन्तु भक्त-द्रोही विद्वेषियोंने पटा लिखनेवालोंसे अजमेरके अन्तिम अक्षरपर 'ई' की मात्रा लगवादी, जिससे अजमेर न मिलकर उन्हें बारह गाँवोंमेंसे एक अजमेरी ही प्राप्त हो सका। यह आज तक उनके वंशजों के अधिकारमें चला आ रहा है।

गोविन्ददासजी का ही यह प्रभाव है कि आज भी उन बारह गाँवोंके क्षत्रियोंमें कोई भी व्यक्ति मद्य-मांसका उपयोग नहीं करता और गलेमें तुलसीकी कण्ठी धारण किये बिना नहीं रहता।

रसिक-अनन्यमाल और उसके ही आधारपर बनाई हुई अन्य-भक्तमालोंमें भी इन दोनों भक्तोंकी कथा मिलती है, किन्तु वहाँ उनकी वंश-परम्पराका उल्लेख नहीं मिलता। इन दोनों पुस्तकोंकी अपेक्षा श्रीवृन्दावनदासजी-कृत "रसिक-अनन्य-प्रचावली" आकारमें बड़ी है और उसे प्रामाणिकता भी इनसे अधिक मिलनी चाहिये। इन दोनों भक्तमालोंमें पूरे चालीस भक्तोंका भी परिचय नहीं दिया गया, किन्तु रसिक-अनन्य-प्रचावलीमें लगभग सवा-दो-सौ भक्तोंका परिचय दिया गया है, पर उसमें भी इनका कोई विशेष परिचय नहीं मिलता।

बहुतसे आलोचक विद्वान् "रसिक-अनन्यमाल" को भगवत मुदित-कृत न मानकर किसी अन्य ही व्यक्ति द्वारा बनाई हुई, अतएव कल्पित मानते हैं। इस सम्बन्धमें भक्तमाल-साहित्य-सूची-प्रकरणमें विचार किया गया है।

मूल (छप्पय)

(श्रीकृष्णदासजी)

तान मान सुर ताल सुलय सुंदरि सुठि सोहै।
सुधा अंग भ्रू भंग गान उपमा को को है॥
रत्नाकर संगीत राग माला रँग रासी।
रिझये राधालाल भक्त-पद-रेनु उपासी॥
स्वर्णकार 'खरगू' सुवन भक्त भजन पद दृढ़ लियौ।
नंद-कुँवर 'कृष्णदास' कों निज पग तें नूपुर दियौ॥१८०॥

अर्थ—श्रीकृष्णदासजी जब गा कर नाचते, तब तान, स्वर, ताल, लयका बड़ा अपूर्व सामञ्जस्य देखनेको मिलता था। भौंहों तथा अन्य अङ्ग-अङ्गों द्वारा जब आप अभिनय करके भावोंको व्यञ्जित करते और साथ-साथ गाते भी जाते थे, तब इस गान और अभिनयकी समता कहीं भी खोजे नहीं मिल सकती थी। 'रत्नाकर-संगीत', 'रागमाला', 'रंगराशि' आदि संगीत-शास्त्रके ग्रन्थोंमें नृत्य और गानके जो भेद बतलाये गये हैं, उन सबको आप जानते थे। इन गुणोंसे ही आप श्रीराधा और श्रीलालजीको रिझानेमें समर्थ हुए। हरि-भक्तोंकी चरण-रजके उपासक, जातिके सुनार, 'खरगू'जीके पुत्र श्रीकृष्णदासने भगवद्-भक्तोंकी चरण-सेवाका दृढ़ व्रत लिया। एक बार नाचतेमें कृष्णदासजीके पैरोंमेंसे नूपुर खुलकर गिर गया, तो नन्दलालने स्वयं अपने श्रीचरणोंमेंसे एक नूपुर खोलकर उनके पैरोंमें बाँध दिया था।

भक्ति-रस-बोधिनी

कृष्णदास ये सुनार राधाकृष्ण सुखसार, लियौ सेवा करि पाछे नृत्य गान बिसतारियै।
ह्वै करि मगन काहू दिन तन सुधि भूली, एक पग नूपुर सो गिरचौ, न सँभारियै॥
लाल अति रंग भरे, आनी जति भंग भई, पाँव निज खोलि आय बाँध्यो सुख भारियै।
फेरि सुधि आई, देखि धारा सी बहाई नैन, कीरति यौं छाई, जग भक्ति लाखो प्यारियै॥६११॥

अर्थ—एक दिन नाचते-नाचते आप ऐसे आनन्द-विभोर हो गये कि शरीरकी सुध न रही। आपको यह भी पता नहीं लगा कि पैरका घुँघरू खुल गया है। आपने उसे बाँधा नहीं और नाचते रहे। नृत्यके प्रभावसे प्रभु भी भावनामें डूबे हुए थे, किन्तु नूपुरके खुल जानेके कारण जब यति (सम) नष्ट हो गई—अर्थात् तालके अनुसार जब समपर घुँघरू नहीं बजे, तो आपने श्रीचरणोंमेंसे नूपुर खोलकर कृष्णदासजीके बाँध दिया और ऐसा कर बड़ा सुख माना। बादमें जब कृष्णदासजीने देखा कि उनका नूपुर तो पृथ्वीपर पड़ा है और उसके स्थानमें दूसरा विद्यमान है, तो यथार्थ घटनाका पता लगा। प्रभुकी दयालुताका विचार कर आपकी

कीर्ति संसारमें फैल गई। इस घटनाका लोगोंपर ऐसा प्रभाव पड़ा कि भगवानकी भक्ति उन्हें भी प्यारी लगने लगी और सब भजनमें प्रवृत्त हो गये।

मूल (छप्पय)

चितसुख-टीकाकार भक्ति सर्वोपरि राखी।
(श्री) दामोदर तीर्थ राम अर्चन-विधि भाखी॥
चंद्रोदय हरि भक्ति नरसिंहारनि कीनी।
माधो मधुसूदन सरस्वती परम-हंस कीरति लीनी॥
प्रबोधानंद, रामभद्र, जगदानंद कलिजुग धनि।
परम धर्म प्रतिपोषकौं संन्यासी ए मुकुट-मनि ॥१८१॥

अर्थ--वेदान्त-सिद्धान्तके अनुयायी होते हुए भी निम्न-लिखित संन्यासी महानुभावोंने, जिन्हें संन्यासियोंका मुकुट-मणि कहा जाना चाहिये, स्वरचित ग्रन्थों द्वारा परम-धर्म--भगवद्-भक्तिका प्रतिपादन और समर्थन किया—

१ श्रीचित्सुखानन्द सरस्वतीने श्रीमद्भगवद्गीता पर 'चित्सुखी' नामक टीका लिखी और उसमें भक्तिको ज्ञान, कर्म आदिकी अपेक्षा श्रेष्ठ सिद्ध किया। २ श्रीदामोदरतीर्थने 'रामार्चन चन्द्रिका' लिखकर राम-पूजनकी विधिका विस्तारसे वर्णन किया। ३ श्रीनृसिंहारण्यने 'हरि-चन्द्रोदय' ग्रन्थको लिखा। ४ श्रीमधुसूदन सरस्वतीने 'भक्तिरसायन' आदि ग्रन्थ बनाये ५ श्रीमाधवानंदजी भी इसी प्रकारके हरि-भक्त संन्यासी थे। ये दोनों महानुभाव—मधुसूदन सरस्वती तथा माधवानंदजी परमहंस करके माने जाते थे। ६ श्रीप्रबोधानन्दजी, ७ श्रीरामभद्र सरस्वती, ८ श्रीजगदानंदजी भी कलियुगमें हरि-भक्त बनकर धन्य हुए।

इन संन्यासी भक्तोंमें-से जिन चारकी गाथाएँ भक्त-दाम-गुण-चित्रनी, पत्र ४५३-४५४ पर प्राप्त हुई हैं, उन्हें नीचे दिया जाता है—

(१) **श्रीदामोदरजी**—भगवानका नाम जाप करते-करते एक बार आपको श्रीयुगल-मूर्तिके दर्शन प्राप्त हुए और उसी समय दिव्य-ज्ञान भी प्राप्त हो गया। आपने उस लोक-कल्याणकारी ज्ञानका उपदेश संसारको किया और अनेक ग्रन्थोंकी रचना द्वारा उसे चिरस्थायी बनाया।

(२) **श्रीनरसिंहारण्यजी**—आपको भक्ति अत्यन्त प्यारी थी। उसी अद्भुत प्रीतिसे सम्बन्धित एक ग्रन्थ भी आपने रचा। विवेक द्वारा काम, क्रोध, मद, लोभ-मोह आदि मनके अमंगलकारी विकारोंके त्यागपर विशेष जोर दिया और भक्तके शील, सन्तोष, नम्रता, सार-ग्राहकता आदि गुणोंकी प्रशंसा की। आपके अनुसार भक्ति, ज्ञान, वैराग्य—इन तीनों प्रभु-प्राप्तिके साधनोंमें भक्ति ही सर्वश्रेष्ठ है।

(३) श्रीरामभद्रजी—किसी स्थानपर बहुत समयसे आप ज्ञानोपदेश कर रहे थे। आपके प्रवचनोंको सुननेके लिए हजारों भक्तोंकी भीड़ वहाँ हर समय लगी रहती थी। जब वर्षा-ऋतु आई तो चतुर्मासमें किसी अन्य स्थानपर रहनेके विचारसे आपने इस स्थानसे प्रस्थानकी तैयारी कर दी। उसी दिन रातको प्रभुने स्वप्न देकर यह कहा कि चतुर्मासमें कहीं अन्यत्र न जाकर आप यहीं रहें, किन्तु यह आज्ञा आपने न मानी और चल दिए। रास्तेमें चलते-चलते आपको एक नदी मिली और उसके प्रवाहमें गिरकर आप बहने लगे। उस समय प्रभुकी बातका ध्यान आपको आया। आप उन्हींका स्मरण करने लगे। तभी भगवान अत्यन्त सुन्दर रूप बनाकर आए और श्रीरामभद्रजीको बाहर निकाल कर स्वयं नदीमें गिर पड़े। उस समय श्रीविग्रहकी सुन्दरतापर आप इतने मुग्ध हो गए कि उनके साथ पुनः आप भी धारामें कूद पड़े। भगवान इस भक्ति-भावनासे बड़े प्रभावित हुए और उन्हें पुनः नदीसे निकालकर बाहर ले आए और छातीसे लगा लिया। इस समय श्रीरामभद्रजीकी आँखोंसे अनायास आँसुओंका प्रवाह फूट पड़ा और वे उस आनन्दमें एक दम निमग्न हो गए।

४—श्रीगदानन्दजी—आपकी जैसी प्रीति श्रीरामजीके चरणोंमें थी वैसी संसारमें विरले ही लोगों की होती है। आपको जिस किसी भी स्थानपर सन्त मिलते वहीं परिक्रमा लगाते और घर लाकर आदर-सत्कार करते।

एक बार काशीमें आपने देखा कि यात्रा करनेवाले दो गुरु-भाइयोंमें-से एक मर गया है और दूसरा उसके लिए बिलख-बिलख कर रो रहा है। आप वहाँ गए और बोले—"भैया तुम्हारे गुरु-भाई तो जीवित पड़े हैं; अभी इनकी मृत्यु तो एक माह बाद होगी, फिर तुम इनके लिए रो क्यों रहे हो?"

आपका इतना कहना हुआ कि उसका गुरु-भाई तत्क्षण जाग पड़ा। दोनोंने गिरकर श्रीगदानन्दजीके चरणोंमें प्रणाम किया और उनके इस चमत्कारकी चर्चा गाँव-गाँवमें कर दी।

अन्तमें आपके कथानुसार उस यात्रीकी मृत्यु ठीक एक माह बाद ही हो गई।

भक्ति-रस-बोधिनी

(श्रीप्रबोधानन्द सरस्वती)

श्री प्रबोधानंद, बड़े रसिक आनंद-कंद, श्री चैतन्य (चन्द्र) जू के पारषद प्यारे हैं।
राधाकृष्ण-कुंज-केलि निपट नवेलि कही, झेलि रस-रूप दोऊ किये दृग-तारे हैं॥
वृंदावन-वास को हुलास लै प्रकाश कियौ, दियौ सुख-सिंधु, कर्म-धर्म सब टारे हैं।
ताही सुनि-सुनि कोटि-कोटि जन रंग पायौ, बिपिन सुहायौ, बसे तन मन वारे हैं॥६१२॥

अर्थ—श्रीप्रबोधानन्दजी बड़े भावुक और भगवदानन्दमें मग्न रहनेवाले भक्त थे। आप महाप्रभु श्रीकृष्णचैतन्यजीके प्रिय पार्षद थे। आपने राधा-कृष्णकी नित्य-लीलाओंका बड़ा अपूर्व और नये दृष्टि-कोणसे वर्णन किया और युगल-स्वरूपकी रूप-माधुरीके रसको पीकर उन्हें अपनी आँखोंकी पुतलियाँ बना लिया। आपने अपने काव्यमें वृन्दावन-धाममें वास करनेसे प्राप्त होनेवाले आनन्दको सर्व-साधारणके लिए भोग्य बनाया और इस प्रकार उन्हें उस सुख-समुद्रमें अवगाहन करनेका सौभाग्य प्रदान किया। सिवा हरि-भक्तिके आपने अन्य सब कर्म तथा धर्माचरणोंको अग्राह्य ठहराया। आपके बनाये हुए ग्रन्थोंका अनुशीलन कर करोड़ों लोगों

ने प्रेम-सुखका अनुभव किया। वृन्दावन-वास आपको ऐसा प्यारा था कि उसपर आपने तन, मन न्यौछावर कर दिया।

मूल (छप्पय)

(श्रीद्वारकादासजी)

सरिता 'कूकस' गाँव-सलिल में ध्यान धर्यो मन।
रामचरण अनुराग सुदृढ़ जाके साँचौ पन॥
सुत कलत्र धन धाम ताहि सों सदा उदासी।
कठिन मोह को फंद तरकि तोरी कुल-फाँसी॥
'कील्ह' कृपा बल भजन के ज्ञान खड्ग माया हनी।
अष्टांग जोग तन त्यागियो 'द्वारिकादास' जानै दुनी॥१८२॥

अर्थ—श्रीद्वारकादासजी अपने 'कूकस' नामक गाँवके पास बहनेवाली नदीके जलमें खड़े हो कर भजन किया करते थे। श्रीरामचन्द्रजीके चरणोंमें आपका सच्चा प्रेम था और नियम-पूर्वक उन्हींकी उपासना करते थे। स्त्री, पुत्र, धन, घर आदि सब सांसारिक प्रपञ्चोंसे विमुख रह कर आपने कठिन मोह-जालके सब बन्धन तोड़ कर फेंक दिये थे। अपने गुरुदेव श्रीकील्ह-देवकी कृपासे आप भजनमें प्रवृत्त हुए और उसीके बलपर ज्ञान-रूपी तलवारसे अविद्याका नाश कर अष्टाङ्ग-योगकी विधिसे इस शरीरको छोड़ परम-धाममें जा पहुँचे।

श्रीद्वारकादासजी—से सम्बन्धित एक वार्ता भक्तदाम-गुण-चित्रनी, पत्र ४५५ के आधारपर नीचे दी जाती है—

श्रीद्वारकादासजीने अष्टाङ्ग-योग द्वारा समाधिस्थ होकर प्राण-परित्याग किए थे। वैराग्यके घोड़े पर चढ़ कर श्रीकील्हजीकी कृपासे आपने संसारको जीत लिया था। आपने भक्तिको उस वैराग्य-अश्वकी लगाम, ध्यानको धनुष, सात्त्विक गुणको प्रत्यंचा (धनुषकी डोरी) और जीव (आत्मा) को बाण बनाकर श्रीरामजीकी प्रीतिको लक्ष्य बनाया और श्रीराम-प्रेमके अधिकारी बने। ज्ञानकी तलवार और धैर्यका कवच धारण करके प्रभु-प्राप्तिके मार्गमें काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि शत्रुओं द्वारा फैलाए गए मायाके जालको आपने एक दम काट फेंका।

इस प्रकार नदीके पुनीत प्रवाहमें बैठकर आपने प्रभुका स्मरण करते हुए इस भौतिक शरीरको त्याग दिया और श्रीसाकेतमें जाकर भगवान श्रीराघवेन्द्रके चरणोंकी शरण प्राप्त की।

मूल (छप्पय)

(श्रीपूर्णजी)

उदै अस्त परबत गहर मधि सरिता भारी ।
जोग जुगति बिस्वास तहाँ दृढ़ आसन धारी ॥
ब्याघ्र सिंघ गुंजै खरा कछु संक न मानै ।
अर्द्ध न जातै पौन उलटि ऊरध कौं आनै ॥
साखि शब्द निर्मल कहा कथिया पद निर्वान ।
पूरन प्रगट महिमा अनँत करि है कौन बखान ॥१८३॥

अर्थ—उदयाचल और अस्ताचलके मध्यमें बहने वाली नदियोंमें सबसे गहरी नदी श्री गंगाजीके पास हिमालय-पर्वतकी कन्दरामें रहते हुए श्रीपूर्णजी योगके साधनोंका अवलंबन कर भगवान्‌में दृढ़ विश्वास रखकर समाधि लगाते थे। पास ही में शेर-चीता आदि हिंसक जानवर खड़े हुए गरजते रहते थे (किन्तु आप उनसे तनिक भी नहीं डरते थे)। आसन मारकर समाधि लगाते समय आप अपान-वायुको प्राण-वायुमें मिलाकर ब्रह्मांडको ले जाते थे, नीचे नहीं आने देते थे। आपने बड़ी सुन्दर साखियाँ (शिक्षाके पद) कहे और निर्वाण-पद (मोक्ष) को प्राप्त किया। श्रीपूर्णजीकी महिमा अनन्त है। उसका वर्णन कौन कर सकता है ?

बालकरामजीकी टीका भक्तदाम-गुण-चित्रनी पत्र, ४४५ के आधारपर पूर्णजीसे सम्बन्धित एक वार्ता नीचे दी जाती है—

एक बार आपको कोई बीमारी हो गई जो केवल ओगरा (एक प्रकार की जड़ी) से ही ठीक हो सकती थी। आपके पास कोई भी व्यक्ति ऐसा नहीं था जो उस जड़ीको ले आता। तब भगवान स्वयं उसे लाए और आपको रोग-मुक्त किया।

जहाँ श्रीपूर्णजीका आश्रम था उसके पासके ही नगरमें एक यवन बादशाह रहता था। एक बार उसकी शाहजादी श्रीपूर्णजीपर रीझ गई और उसने अपने पितासे हठ-पूर्वक कहा कि वह श्रीपूर्णजीके अतिरिक्त और किसीके साथ शादी करना नहीं चाहती। बादशाह अपनी पुत्रीको बहुत प्यार करता था। वह पूर्णजीके पास आया और बोला—"स्वामीजी ! मैं एक चीजकी आपसे फरमाइश करता हूँ ?" श्रीपूर्णानन्दजीने पूछा—"क्या ?" वह बोला—"महाराज ! मेरी शाहजादी आपके साथ शादी करना चाहती है।" आपने इस शर्तपर कि हमारा तुम्हारी शाहजादीसे अङ्ग-सङ्गका सम्बन्ध नहीं होगा, विवाह करना स्वीकार कर लिया। शाहजादी भी इस शर्तसे सहमत थी।

बादमें श्रीपूर्णजीने उससे विवाह तो कर लिया, किन्तु भजनमें कोई बाधा नहीं आने दी और न काम-क्रोध आदि विकारको ही पैदा होने दिया।

मूल (छप्पय)

(श्रीलक्ष्मणभट्टजी)

सदाचार मुनि-वृत्ति भजन भागौत उजागर।
भक्तनि सों अति प्रीति भक्ति दसधा को आगर॥
संतोषी सुठि सील हृदै स्वारथ नहिं लेसी।
परम धर्म प्रतिपाल संत मारग उपदेसी॥
श्री भागौत बखान के नीर छीर बिवरन करयौ।
श्री रामानुज पद्धति प्रताप 'भट्ट लछिमन' अनुसरयौ॥१८४॥

अर्थ—श्रीलक्ष्मणभट्टजी मुनियों-जैसा जीवन व्यतीत करने वाले भजनानन्दी एवं सदाचारी भगवद्-भक्त थे। आप भक्तोंसे बड़ी प्रीति करते थे और दशधा-भक्तिके स्थान थे। आप अत्यन्त संतोषी, परम सुशील, निस्स्वार्थ, परम-धर्म (भक्ति-मार्ग) का पालन करने वाले थे और लोगोंको इसका उपदेश देते थे कि सन्तोंके आदर्श क्या हैं। श्रीमद्भागवतकी कथा कहकर भट्टजीने उसी प्रकार सत् और असत् पदार्थका विवेचन किया जैसे कि हंस दूध और जलका करता है। इस प्रकार भट्ट श्रीलक्ष्मणजी श्रीरामानुज-संप्रदायके सिद्धान्तोंका अनुगमन कर भक्ति-मार्गमें प्रवृत्त हुए।

भक्तदाम-गुण-चित्रनी पत्र ४५६ के आधारपर श्रीलक्ष्मणभट्टजीका वृत्त नीचे दिया जाता है—

रामानुज-सम्प्रदायमें दीक्षित श्रीलक्ष्मणभट्टजी परम सदाचारी-मुनि-व्रतको धारण करनेवाले, बड़े भजनानन्दी सन्त थे। आप श्रीमद्भागवतकी कथा बड़ी सुन्दर किया करते थे। एक बार आपने किसी वैश्य-शिष्यके यहाँ कथाका आयोजन किया और जो कुछ भी भेंट मिली उसे एक सन्तको साधु-सेवा करनेके लिए दे डाला।

इसी प्रकार आपके पास दो जगहसे कथाका निमन्त्रण आया—राजाके यहाँसे और सन्तके यहाँ से। आप राजाके यहाँ न जाकर सन्तके यहाँ गए; क्योंकि उसकी भक्ति महान् थी।

एक बार कहीं जाते हुए रास्तेमें ही श्रीठाकुरजीके भोग-रागका समय हो जानेपर श्रीलक्ष्मण भट्टजी ने रसोई तैयार की। वे ठाकुरजीका भोग रखनेकी तैयारीमें ही थे कि कुछ यवनोंने वहाँ आकर मना करनेपर भी आपका चौका छू लिया। इसपर आप दूर जाकर पुनः शुद्धिके साथ रसोई बनाने लगे।

श्रीभट्टजीकी रसोईको अपवित्र करके यवन बड़ा प्रसन्न हो रहा था। उसी समय उसके पेटमें दर्द उठा और प्रति-क्षण लघुशंका (पेशाब) लगने लगी। उसके सारे कपड़े मूत्रमें तरबतर हो गए। यह देखकर यवन पहिचान गये कि यह श्रीभट्टजीको सतानेका ही परिणाम है। वे आपके पास आए और अपराध क्षमा कर देनेकी प्रार्थना की। आपने साधु-सेवाके लिए कुछ द्रव्य लेकर प्रभुसे प्रार्थना करके उसे रोग-मुक्त करवा दिया।

मूल (कुण्डलिया)

(स्वामी श्रीकृष्णदास पयहारीजी)

गलतें गलित अमित गुण, सदाचार सुठि नीति ।
दधीचि पर्छें दूजी करी, कृष्णदास कलि जीति ॥
कृष्णदास कलि जीति न्यौंति नाहर पल दीयौ ।
अतिथि धर्म प्रतिपालि, प्रगट जस जग में लीयौ ॥
उदासीनता (की) अवधि, कनक कामिनि नहिं रातो ।
रामचरण-मकरंद रहत निसि दिन मदमातो ॥१८५॥

अर्थ—श्रीकृष्णदास पयहारी 'गलता' (जयपुर) की गद्दीपर विराजमान थे। अमित दिव्य-गुणोंके कारण आपकी बुद्धि परिपक्व थी। आप ऊँची कोटिके सदाचारी और नीतिज्ञ थे। महर्षि दधीचिके बाद आपने ही, कलिकालके माया-जालसे मुक्त रह कर शारीरिक त्याग का आदर्श उपस्थित किया। (आप दधीचि-गोत्रमें ही उत्पन्न हुए थे।)

एक बार कृष्णदासजीने अपनी गुफाके सामने आए हुए एक सिंहका आतिथ्य-सत्कार अपने शरीरमेंसे मांस काटकर किया और, इस प्रकार, स्पष्टरूपसे अतिथि-धर्मका पालन कर संसारमें यशके भागी हुए। वैराग्यकी आप सीमा थे और धन-सम्पत्ति अथवा स्त्रियोंके जालमें आप कभी नहीं फँसे। भौंरा जिस प्रकार फूलोंके परागको पीकर मस्त हो जाता है, उसी प्रकार श्रीरामचन्द्रजीके चरणोंमें मन लगाकर आप आनन्दित रहते थे।

भक्ति-रस-बोधिनी

बैठे हे गुफा में, देखि सिंह द्वार आय गयौ लयौ यों विचारि "हो अतिथ आज आयो है।"
दई जांघ काटि डारि "कीजिये अहार प्रभू," महिमा अपार धर्म कठिन बतायो है ॥
दियौ दरसन आय, सौंच मैं रह्यौ न जाय, निपट सचाई, दुख जानौ न बिलायो है।
अन्न जल देवे ही कों खीजत जगत नर, करि कौन सकै, जन-मन भरमायो है ॥६१३॥

अर्थ—एक बार स्वामी श्रीकृष्णदासजी गलताकी गुफामें बैठे थे कि दरवाजे पर एक सिंह आकर खड़ा होगया। आपने सोचा—"अहो! आज तो अतिथि-देव आगए।" उनका आतिथ्य करनेके लिए आपने अपनी जाँघमेंसे मांसका टुकड़ा काट उसके सामने रखते हुए कहा—"भोजन करिये।" धर्मकी महिमा अपार है और धर्मका पालन करना सहज काम नहीं है। आपकी ऐसी धर्म-निष्ठा देखकर श्रीरामचन्द्रजीसे नहीं रहा गया। उन्होंने आकर दर्शन दिये। स्वामीजीको मनकी मुराद मिल गई; घायल जाँघका दर्द न-जाने कहाँ चला गया, रुधिर मिट गया।

लोग अतिथिको अन्न और जल देनेमें ही बगलें झाँकते हैं और यहाँ स्वामीजीने अपना मांस काट कर दे दिया ! ऐसा त्याग करना किसके बूतेका है ? लोग तो इस वृत्तान्त को सुनकर हैरान हो जाते हैं ।

वि० सं० १७७६ में पूर्ण हुए एक संग्रहमें उपलब्ध मूल भक्तमालमें आगेके छप्पय १८६ से १९३ तक आठ छप्पय नहीं मिलते ।

(मूल छप्पय)

(श्रीगदाधरदासजी)

लाल-बिहारी जपत रहत निसि-बासर फूल्यौ ।
सेवा सहज सनेह सदा आनँद-रस भूल्यौ ॥
भक्तनि सौं अति प्रीति रीति सब ही मन भाई ।
आसय अधिक उदार रसन हरि कीरति गाई ॥
हरि-बिस्वास हिय आनि कै सुपने हुँ आन न आस की ।
भली भाँति निबही भगति सदा 'गदाधरदास' की ॥१८६॥

अर्थ—श्रीगदाधरदासजी प्रफुल्लित मनसे दिन-रात राधा-कृष्णका नाम जपा करते थे और आनन्दके रसमें झूमते हुए सहज स्नेहसे सेवा करते थे । हरिभक्तोंसे प्रेम करनेकी आपकी रीति सबको अच्छी लगती थी । आपका अन्तःकरण अत्यन्त उदार था और अपनी जिह्वासे आप सदा भगवानका यशोगान किया करते थे । हृदयमें एकमात्र भगवानका भरोसा रखकर आपने स्वप्नमें भी किसीसे कुछ आशा नहीं रक्खी । इस रीतिसे जीवन बिताते हुए गदाधरजी ने सदा भक्ति-धर्मका पालन किया ।

भक्ति-रस-बोधिनी

बुरहानपुर ढिग बाग तामैं बैठे आय, करि अनुराग गृह त्याग पागे स्याम सौं ।
गाँव में न जात, लोग किते हा हा खात, सुख मानि लियौ गात, नहीं काम और काम सौं ॥
परयौ अति मेह, देह बसन भिजाय डारे, तब हरि-प्यारे बोले सुर अभिराम सौं ।
रहै एक साहु भक्त कह्यो जाय "ल्यावौ उन्हें मन्दिर करावौ, तेरौ भरयौ घर दाम सौं" ॥६१४॥

अर्थ—श्रीगदाधरदासजी घर-द्वार छोड़ भगवानके प्रेममें पगे हुए बुरहानपुर (मध्य-प्रदेश) के पास एक बागमें रहते थे । लोगोंके बहुत अनुरोध करने पर भी आप गाँवमें पैर नहीं रखते थे । सिवा भगवानका भजन करनेके आप और किसी कामसे प्रयोजन नहीं रखते थे; क्योंकि इसीमें आपको सुख मिलता था ।

एक बार बड़ी भारी वर्षा हुई और शरीर पर पहिननेके आपके सब वस्त्र भीग गये । तब भगवानने मधुर वाणीमें अपने एक भक्त-सेठको आज्ञा दी कि 'तुम्हारे पास बहुतेरा धन है; गदाधरदासजीको अभी लिवा लाओ और उनके लिये एक सुन्दर मन्दिर बनवा दो ।'

भक्ति-रस-बोधिनी

नीठि-नीठि ल्याये हरि बचन सुनाए जब, तब करवायौ ऊँचौ मन्दिर सँवारिकै।
प्रभु पधराये, नाम 'लाल' औ 'बिहारी' स्याम अति अभिराम रूप रहत निहारिकै॥
करैं साधु-सेवा जामें निपट प्रसन्न होत, बासी न रहत अन्न, सोवैं पात्र झारि कै।
करत रसोई कोई, राखी ही छिपाय सामा आये घर संत, आप कही 'ज्यावौ प्यारि कै' ॥६१५॥

अर्थ—सेठने गदाधरदासजीको भगवानकी आज्ञा सुनाई, तब कहीं आप बड़ी कठिनाईसे गाँवमें गए। विशाल मन्दिर बन जानेके बाद आपने उसमें ठाकुर-विग्रहकी प्रतिष्ठा की और उनका नाम रक्खा 'श्रीलालविहारीजी'। सेवा-विग्रहके सुन्दर स्वरूपको देख-देखकर आप दिन रात उसीमें मग्न रहते

सन्तोंकी सेवा आप इस प्रकार करते थे कि वे प्रसन्न होकर लौटते। ठाकुरजीकी सेवाके लिये जो सामान आता, उसे दूसरे दिनके लिए बचाकर नहीं रखते थे—सोते तो पात्रोंको झाड़कर। परन्तु रसोई करनेवाले तो भगवानके भोगके लिए कुछ बचाकर रख ही लेते थे। संयोगसे एक बार रातको सन्त आए। तब आपने सेवकोंसे कहा—"जो कुछ सामग्री हो उसीसे सन्तोंको भोजन कराओ।"

भक्ति-रस-बोधिनी

बोल्यौ "प्रभु भूखे रहैं, ताके लिये राख्यौ कछु," भाख्यौ तब आप, "काल्हि भोर और आवैगो।"
करिकै प्रसाद दियौ, लियौ, सुख पायौ, तब सेवा-रीति देखि कही "जग जस गावैगो॥"
प्रात भये, भूखे हरि, गये तीन जाम टरि, रहे कोप भरि, कहै कबधौं छुटावैगो।
आयौ कोऊ ताही समै, दो-सत रुपैया धरे, बोले "गुरु सीस लै कै मारो, कितौ पावैगो" ॥६१६॥

अर्थ—शिष्यने गुरु श्रीगदाधरजीसे निवेदन किया—"ठाकुरजी भूखे न रह जायँ, इसलिए मैंने थोड़ा-सा सामान बचाकर रख छोड़ा है।" इसपर आपने आज्ञा दी—"निकालो उसे और सन्तोंको खिलाओ; प्रातःकाल कहीं न कहींसे और आ जायगा।" आज्ञानुसार रसोई तैयार कर सन्तोंको भोजन कराया गया। गदाधरजीने भी सन्तोंकी प्रसादी ली और बड़ा सुख माना। आपकी ऐसी सेवा-भावना देखकर सन्तोंने कहा—"संसार आपके यश गावेगा।"

प्रातःकाल हुआ, पर कहींसे भी भोग-सामग्री नहीं आई और तीन पहर तक ठाकुरजी भूखे ही रहे आये। इसपर आपके शिष्य झुँझलाकर कहने लगे—"न-जाने प्रभु इस दुखसे हमें कब छुटकारा देंगे?" उसी समय किसीने आकर दो-सौ रुपए गदाधरजीको भेंट किए। आपने कहा—"इन्हें इसके ही माथे मारो; देखें कितना खाता है?"

भक्ति-रस-बोधिनी

डर्‌यौ वह साहु "मत मोपै कछु कोप कियौ" कियौ समाधान, सब बात समझाई है।
तब तौ प्रसन्न भयौ, अन्न लगै जितौ देत, सेवा-सुख, लेत साधु रुचि उपजाई है॥
रहे कोऊ दिन, पुनि मधुपुरी बास लियौ, पियौ ब्रज-रस लीला अति सुखदाई है।
लाल लै लड़ाए, संत नीके भुगताए, गुन जाने जिते गाए, मति सुंदर सगाई है ॥६१७॥

अर्थ—गदाधरजीकी बात सुनकर सेठको शंका हुई कि स्वामीजी नाराज तो नहीं होगए। तब गदाधरजीने सब बातें समझाकर उसकी शंकाका निवारण किया। तब सुनकर सेठ बड़ा प्रसन्न हुआ और ठाकुरजीके भोग-रागमें जितना सामान लगता था, सबका प्रबन्ध कर दिया। साधु-सेवाकी ओर उसकी रुचि अब और भी बढ़ गई।

कुछ दिन बुरहानपुरके मन्दिरमें रहकर गदाधरजी मथुरा चले आये। वहाँ रहते हुए आपने आनन्द-दायक ब्रज-लीलाके रसका पान किया। इस प्रकार आपने श्यामा-श्यामको लाड़ लड़ाया और श्रद्धा-सहित सन्तोंकी सेवा की।

टीकाकार कहते हैं कि 'गदाधरदासजीके जितने गुण मुझे मालूम थे, उनका मैंने अपनी बुद्धिसे गान किया है।'

मूल (छप्पय)

(श्रीनारायणदासजी)

भक्ति-जोग-जुत सुदृढ़ देह निज बल करि राखी।
हिये सरूपानंद लाल जस रसना भाखी॥
परिचै प्रचुर प्रताप जानि मनि रहस सहायक।
श्रीनारायण प्रगट मनों लोगनि सुखदायक॥
नित सेवत संतनि सहित दाता उत्तर-देस गति।
हरि-भजन सींव स्वामी सरस श्रीनारायणदास अति॥१८७॥

अर्थ—श्रीनारायणदासजीने, नियमित और सदाचारपूर्ण जीवन-चर्य्याके बलपर, अपने शरीरको दृढ़ भक्ति-योगके उपयुक्त बनाया और हृदयमें ब्रह्मानन्दका आस्वादन करते हुए भी वाणी द्वारा श्यामसुन्दरके नाम और यशका वर्णन किया। आपने लोगोंको अपने भक्ति-बलका परिचय दिया और ज्ञानियोंमें अग्रगण्य होनेके कारण रहस्यमय भगवत्-तत्त्वको हृदयंगम करने में लोगोंकी सहायता की। लोक-कल्याणके लिए स्वयं नारायणने मानों आपमें अवतार लिया था। आप श्रद्धा और प्रेमसे सदा सन्तोंकी सेवा करते थे। उत्तर-प्रदेशके निवासियोंका कल्याण तो आपके ही हाथों हुआ। स्वामी श्रीनारायणदासजी, इस प्रकार, हरि-भजनके सर्वोच्च आदर्श थे। आपका हृदय बड़ा भावुक था।

भक्ति-रस-बोधिनी

आये बद्रीनाथ जू ते, मथुरा निहारि नैन चैन भयौ, रहें जहाँ केसौजू को द्वार है।
आवें दरसनी लोग, जूतिन को सोग हिये, रूपको न भोग होत, कियौ यों बिचार है॥
करें रखवारी, सुख पावत हैं भारी, कोऊ जानै न प्रभाव, उर भाव सो अपार है।
आयौ एक दुष्ट, पोट पुष्ट, सोऊ सीस दई, लई चले मग, ऐसौ धीरज को सार है॥६१८॥

अर्थ—स्वामी श्रीनारायणदासजी बद्रीनाथसे मथुरा आये। वहाँकी शोभा देखकर आप बड़े आनन्दित हुए और श्रीकेशवदेवजीके मन्दिरके दरवाजेपर रहने लगे। आपने सोचा, दर्शन करनेके लिये मन्दिरमें आने वाले लोग दर्शनका लाभ इसलिये पूरा-पूरा नहीं उठा पाते कि उन्हें यह डर बना रहता है कि बाहरसे कोई जूते न चुरा ले जाय। उनकी रखवाली करनेका काम आपने ले लिया और बड़े आनन्दित हुए। बाहरसे देखनेपर कोई यह नहीं पहिचान पाता था कि आप कितने प्रभावशाली महात्मा हैं और हृदयमें प्रभु-सेवाका कैसा अक्षय भंडार भरा हुआ है।

एक दिन एक दुष्टने, आपके वैष्णव-वेषका तनिकभी विचार न कर, आपके सिरपर एक भारी गठरी लाद दी और उसे ले चलनेको कहा। आप बिना किसी प्रकारकी आपत्ति किये उसे लेकर साथ-साथ चल दिये। ऐसे धीर व्यक्ति थे आप।

भक्ति-रस-बोधिनी

कोऊ बड़ो नर, देखि मग पहिचान लिये, किये परनाम भूमि पर, भरि नेह कौ।
जानि के प्रभाव लीने पांव महादुष्ट हूं नै, कष्ट अति पायौ, छुट्यौ अभिमान देह कौ॥
बोले आप, "चिंता जिनि करौ, तेरौ काम होत," नैन नीर-सोत, "मुख देखौं नहीं गेह कौ"।
भयौ उपदेश, भक्ति-वेस उन जान्यौ, साधु-सक्ति कौ बिसेस, इहाँ जानौ भाव मेह कौ॥६१९॥

अर्थ—श्रीनारायणदासजी जब दुष्टकी गठरी सिरपर लिये जा रहे थे, तो किसी प्रभु-भक्तने उन्हें पहिचान लिया और बड़ी श्रद्धा-सहित साष्टांग प्रणाम किया। दुष्टने उनका यह प्रभाव देखकर पैर पकड़ लिये और देहाभिमानको भूलकर पछताने लगा कि 'हाय! मैंने यह क्या किया?' स्वामीजीने इसपर उससे कहा—"तुम चिन्ता मत करो; तुम्हारा यह काम ठीक हो गया—अर्थात्, मेरे बोझा उठानेसे तुम्हारा कल्याण हो गया।" अब तो वह दुष्ट फूट-फूट कर रोने लगा और बोला—"अब मैं घरवालोंका मुँह नहीं देखूँगा।" उस वैराग्य-भावनासे सन्तुष्ट होकर स्वामीजीने उसे भगवद्-भक्तिका उपदेश दिया। उस व्यक्तिको भी अब मालूम हो गया कि भक्तिके क्षेत्रमें विचरने वाले कैसे उदार और क्षमाशील होते हैं। इस वृत्तान्तसे साधुओंके प्रभावकी विशेषता जानी जा सकती है। वह विशेषता यह है कि साधु लोग मेघके समान ऊँच-नीच सब पर कृपा द्वारा बरसते हैं। उनमें किसीके प्रति भेद-भाव नहीं होता।

मूल (छप्पय)

(श्रीभगवानदासजी)

भजन भाव आरूढ़ गुन वलित ललित जस।
श्रोता श्री भागौत रहसि ज्ञाता अच्छर रस॥
मथुरा पुरी निवास आस पद संतनि इक चित।
श्रीयुत 'खोजी' 'स्याम' धाम सुखकर अनुचर हित॥
अति गंभीर सुधीर मति हुलसत मन जाके दरस।
'भगवानदास' श्री सहित नित सुहृद सील सज्जन सरस॥१८८॥

अर्थ—श्रीभगवानदासजी भजन-भावनापर आरूढ़ रहते थे; आपका अन्तःकरण प्रभुके रहस्यमय और मनोऽभिराम यशसे परिपूर्ण था। श्रीमद्‌भागवतके आप भावुक श्रोता थे और उसमें वर्णित कथाओंके रहस्य तथा शैलीके सौंदर्यके मर्मज्ञ थे। मथुरापुरीमें आप रहते थे और एकमात्र सन्तोंके चरण-रजकी अभिलाषा रखते थे। श्रीयुत 'खोजी' तथा 'स्यामदासजी'के वंश के आप सुखदाई और हितैषी शिष्य थे। आप बड़े धीर -गम्भीर बुद्धिके थे और साथ ही ऐसे भावुक थे कि दर्शन करते ही मन प्रसन्न हो जाता था। श्रीभगवानदासजी, इस प्रकार, भक्ति-रूपिणी लक्ष्मीके कृपापात्र, प्राणि-मात्रके बन्धु, अत्यन्त सज्जन और रसिक-स्वभावके थे।

भक्ति-रस-बोधिनी

जानिबे कों पन पृथीपति मन आई, यों दुहाई ले दिवाई "माला-तिलक न धारियें।"
मानि आनि प्रान लोभ केतकिनि त्याग किये, छिपे नहीं जात, जानि बेस मारि डारियें॥
भगवान दास उर भक्ति सुखरास भरयौ, करयौ लै सुवेस बेस रीति लागी प्यारियें।
रीझ्यौ नृप देखि, रीझि मथुरा निवास पायौ, मन्दिर करायौ 'हरिदेव' सों निहारियें॥६२०

अर्थ—एक बार बादशाहने सोचा कि तिलक-माला-धारियोंकी परीक्षा करनी चाहिए कि इनमें कितने सच्चे भक्त हैं और कितने वेषधारी हैं। उसने मथुरामें ढिंढोरा पिटवा दिया कि जो कोई कण्ठी-तिलक धारण करता हुआ देखा जायगा, वह मार दिया जायगा। बादशाह की आज्ञाके अनुसार बहुतसे लोगोंने प्राण-रक्षाके लिये कण्ठी पहिनना और तिलक लगाना छोड़ दिया; जिन्होंने नहीं छोड़ा वे अपने-अपने घरोंमें घुसकर बैठ गये कि बादशाहने देखलिया तो बिना मारे नहीं छोड़ेगा!

परन्तु भगवानदासजी, उससे डरने वाले नहीं थे। भक्ति-जन्य आनन्दसे उनका मन भरा हुआ था। विधि-पूर्वककंठी-तिलक धारण कर आपने भक्तका सुन्दर वेष बनाया—इस वेषसे आपको बड़ा प्रेम था—और बादशाहके सामने जा पहुँचे। बादशाह आपकी दृढ़ निष्ठा

और निर्भयताको देखकर बड़ा प्रसन्न हुआ और कुछ माँगनेको कहा। आपने जीवन-पर्य मथुरामें रहनेकी आज्ञा माँगी। बादशाहने यह प्रार्थना स्वीकार कर ली। इसके उपरान्त अ मथुरामें ही रहे। आपका बनवाया हुआ 'हरदेव'जीका मन्दिर वहाँ अभी विद्यमान और देखा जा सकता है।

मूल (छप्पय)

(श्रीकल्याणदासजी)

जगन्नाथ कौ दास निपुन अति प्रभु मन भायौ।
परम पारषद समुझि जानि प्रिय निकट बुलायौ॥
प्रान पयानो करत नेह रघुपति सों जोर्यौ।
सुत दारा धन धाम मोह तिनुका ज्यों तोर्यौ॥
कौंधनी ध्यान उर में लस्यो 'राम' नाम मुख जानकी।
भक्त पच्छ उधारता यह निबही 'कल्याण' की॥१८६॥

अर्थ—नौनेरके रहनेवाले श्रीकल्याणदासजी प्रभु श्रीजगन्नाथजीके निपुण सेवक थे—अर्थात् दास्यता करनेमें बड़े निपुण थे और प्रभुको प्यारे लगते थे। अपना पार्षद मानकर और प्रिय समझ कर श्रीजगन्नाथजीने इन्हें अपने पास बुला लिया। प्राण-त्याग करनेके समय पुत्र-स्त्री, सम्पत्ति, घर-द्वारके बन्धनको आपने तिनकाके समान तोड़ डाला। यदि किसीमें आसक्ति बनाये रक्खी तो केवल श्रीरामचन्द्रजी में। अन्तमें भगवान राघवेन्द्रकी कौंधनीका ध्यान करते-करते और मुखसे 'राम-जानकी' का उच्चारण करते हुए आप परम-गतिको प्राप्त हुए। इस प्रकार भक्तोंका पक्ष करना और उनके सम्बन्धमें उदारतासे व्यवहार करना—ये दोनों बातें कल्याणदासजीकी निभ गईं।

भक्त-नाम-गुण चित्तनी, पत्र ४६१ के आधारपर श्रीकल्याणदासजीका चरित्र नीचे दिया जाता है—

ब्राह्मण-जातिके सन्त-सेवी, परम वैष्णव श्रीकल्याणदासजीने अपनी कन्याके विवाहमें बाहिले लोगोंकी इच्छाके प्रतिकूल भी सबसे पहिले सन्तोंको भोजन कराया और ब्राह्मणोंसे कह दिया कि हमारे तो ये सन्त ही सर्वस्व हैं। यह थी आपकी सन्त-भक्ति जिसे देखकर आश्चर्य-चकित रह जाना पड़ता है।

इसी प्रकार जब आपका अन्त-समय पास आया तो भगवान्ने कह दिया कि 'अमुक दिन अब तुम्हें मेरी सन्निधि प्राप्त हो जायगी।' इस वाणीको सुनकर आप बड़े प्रसन्न हुए और अन्तकालमें भगवान का स्मरण करते हुए सुख-पूर्वक प्राण परित्याग किए।

मूल (छप्पय)
(श्रीसन्तदास और श्रीमाधवदासजी)

'संतराम' सद्वृत्ति जगत छोई करि डारचौ।
महिमा महा प्रवीन भक्ति वित्त धर्म विचारचौ॥
बहुरचो 'माधवदास' भजन बल परचौ दीनौ।
करि जोगिनि सौं बाद बसन पावक प्रति लीनौ॥
परम धर्म बिस्तार हित प्रगट भये नाहिन तथा।
सोदर 'सोभूराम' के सुनौ संत तिनकी कथा॥१६०॥

अर्थ—हे सन्त-जनो! श्रीसोभूरामजीके दोनों सहोदर भाइयोंकी कथा सुनिए—सदाचारी वृत्तिसे रहनेवाले श्रीसन्तदासजीने इस संसारको छोई (सीठी) के समान तुच्छ वस्तु जान कर त्याग दिया और चूँकि आप सार-असारके विवेकमें बड़े चतुर थे और भक्ति-वित्, अर्थात् भक्ति के ज्ञाता थे, अतः उसी भक्तिकी महिमापर विचार किया और उसे अपनाया।

श्रीसन्तदासजीके दूसरे भाई माधवदासजी थे। उन्होंने अपने भजन-बलका परिचय इस प्रकार दिया कि एक बार कनफटा जोगियों से आपका वाद-विवाद होगया। जोगियोंने कहा—"हम अपनी सींगी-मुद्रा आदिको आगमें डाले देते हैं; उधर आप अपनी कण्ठी-माला को आगमें डाल दीजिए; फिर देखेंगे कि किसकी वस्तुएँ जल जाती हैं और किसकी रह जाती हैं।" माधवदासजीने अपनी कण्ठी-मालाको तो आगमें डाला नहीं, केवल अपने वस्त्रका एक छोर डाल दिया। भक्तिकी महिमा ऐसी हुई कि कनफटोंकी शृङ्गी और मुद्रा जल गईं और वस्त्र इनका आगमेंसे अछूता निकल आया।

सर्वश्रेष्ठ-धर्म भक्तिके प्रचारके लिये श्रीसोभूरामजीके दोनों भाइयोंने जैसा किया, वैसा कोई दूसरा नहीं कर सका।

भक्त-दाम-गुण चित्रनी, पत्र ४६२ के आधारपर श्रीसन्तदासजी एवं माधवदासजीका वृत्त नीचे दिया जाता है—

श्रीसन्तदास एवं माधवदासजी दोनों स्वभूराम देवाचार्यजीके गुरु-भाई थे। इनमें पहिले सन्तदासजीकी वार्ता सुनिए। एक बार आपके हृदयमें उत्कट वैराग्य पैदा हुआ और संसारका परित्याग कर एक जङ्गलमें रहने लगे। नगर-निवासियोंने कहा—"स्वामीजी! आप नगरमें ही निवास करें; वहाँ भोजन-सामग्री आसानीसे आजाया करेगी। यहाँ आपके पास कौन आया करेगा?"

आपने कहा—"यहाँ मैं अपने प्राण-प्यारे गोविन्दके पास रहूँगा, जिनके पास रहते हुए दुनियाँकि किसी भी व्यक्तिकी मुझे आवश्यकता नहीं।"

यह कह कर आप जङ्गलमें आकर प्रभुके भजनमें दिन-भर सब कुछ भूले रहे। रातको जब आपको कुछ भूख मालूम पड़ी, तो भगवानने नगरके हाकिमको भेजकर आपके भोजनका प्रबन्ध करवा दिया

दूसरे दिन प्रातःकालसे तो नगरके लोगोंकी घटा ही उधर उमड़ पड़ी और आपके सामने खाद्य-पदार्थोंका पहाड़-सा खड़ा कर दिया।

यह है आपकी अनन्यता और प्रभुकी अनुकम्पाका उदाहरण। भला इसे सुनकर कौन भावुक नहीं रीझ जायगा ?

अब श्रीमाधवदासजीकी कथा सुनिए। एक बार किसी योगीके द्वारा दीक्षा दिए गए राजाको भक्तिका उपदेश देकर आपने वैष्णव बना लिया। इसपर योगी आपके पास आया और बोला—"हमारे शिष्यको वैष्णवी दीक्षा देनेका तुम्हें क्या अधिकार था ?"

आप बोले—"इस प्रश्नका उत्तर तो बड़ा सरल है। इन्द्रादि देवता और ब्रह्मा-शङ्कर आदि महादेवों द्वारा पूजित श्रीविष्णु भगवान सबसे बड़े हैं। त्रिलोक-तारिणी गङ्गा उनके चरणसे निकली हैं। उन्हीं प्रभुके दास होनेके कारण अन्य देवताओंके उपासकोंसे हमारा अधिकार अधिक है।"

इसपर योगी नाराज हो गया उसने योग-बलसे अग्नि प्रज्वलितकी और अपने शरीरका वस्त्र उसमें डाल दिया। चारों ओर खड़े व्यक्तियोंने देखा कि उसे अग्नि जला नहीं पायी। इसके बाद योगी माधवदासजीसे बोला—"आप भी कुछ चमत्कार दिखलाइए।"

माधवदासजीने कहा—'इस बार हमारे और आपने दोनोंके वस्त्रोंको आगमें डालो।"

ऐसा ही किया गया। लोगोंने देखा कि अबकी बार माधवदासजीका वस्त्र तो ज्योंका त्यों बना रहा और योगीका जलकर राख हो गया।

यह चमत्कार देख योगीकी भी आँखें खुल गईं और वह वैष्णव-मार्ग (पद्धति) का अनुगामी बनकर सन्तोंका उपासक बन गया।

मूल (छप्पय)

(श्रीकन्हरदासजी)

कृष्ण भक्तिको थंभ ब्रह्मकुल परम उजागर।
छमासील गंभीर सबै लच्छन कौ आगर॥
सर्वसु हरिजन जानि हृदै अनुराग प्रकासै।
असन बसन सनमान करत अति उज्ज्वल आसै॥
'सोभूराम' प्रसाद तें कृपा दृष्टि सब पर बसी।
बूड़िए बिदित 'कन्हर' कृपाल आत्माराम आगम दरसी॥१६१॥

अर्थ—श्रीकान्हरदासजी कृष्ण-भक्तिके आधारभूत स्तंभ (खंभा) के समान थे। आप ब्राह्मण-कुलमें उत्पन्न परम यशस्वी महानुभाव अत्यन्त क्षमाशील, स्वभावके गंभीर और सब शुभ लक्षणोंसे युक्त थे। हरि-भक्तोंको अपना सर्वस्व जानकर आप उनसे हृदयसे प्रेम करते

थे और भोजन, वस्त्र आदिसे उनका आदर-सत्कार करते थे। आपका अन्तःकरण अत्यन्त निष्कपट था। आप श्रीसोभूरामजीके अतीव कृपा-पात्र थे और सब लोगों पर अपनी कृपा-दृष्टि रखते थे। इस प्रकार बूड़िया गाँवके श्रीकन्हरदासजी बड़े दयावान्, आत्मामें रमण करने वाले और शास्त्रोंके ज्ञाता थे।

भक्तदाम-गुण-चित्रणी पत्र ४६३ के आधारपर श्रीकन्हरदासजीका वृत्त नीचे दिया जाता है—

श्रीसोभूरामदेवाचार्यजीके शिष्य कान्हरदासजी बूड़ियाके रहने वाले थे। आप सन्तोंको प्रायः सुन्दर-सुन्दर वस्त्र दान किया करते थे। एक बार आपने महोत्सव किया और उसमें सन्त पधारे। भोजन करनेसे पूर्व उन्होंने वस्त्र माँगे। आपने भंडारीसे कहा—"सभी सन्तोंको वस्त्र दिखलादो, वे अपनी रुचिके अनुसार छाँट लेंगे।"

भंडारीके द्वारा वस्त्र दिखाए जाने पर सन्तोंने कहा—"ये तो घटिया किस्मके हैं; कोई बढ़िया टिकाऊ-से कपड़े दीजिए।"

यह सुन भंडारी भुँझला उठा। कन्हरदासजी यह कब देख सकते थे? आपने उसे डाँटते हुए कहा—"तू सन्तोंकी महिमाको नहीं जानता है, इसी लिए ऐसा व्यवहार करता है। तुझे यह पता नहीं कि यह समस्त धन इन्हींकी कृपाका परिणाम है।"

आपने भंडारीको बाजार भेज कर सन्तोंके मन-पसन्द वस्त्र खरीदवाए और अत्यन्त आदर-पूर्वक भोजन कराया।

सन्तोंके प्रति आपका अपार प्रेम था। आप अवसर यह बात पहिले ही से बतला दिया करते थे कि 'इतने साधु आज आवेंगे उनके भोजनका प्रबन्ध होना चाहिए।'

मूल (छप्पय)

(श्रीगोविन्ददासजी 'भक्तमाली')

रुचिर-सील घन-नील लील-रुचि सुमति सरित पति।
बिविध भक्ति अनुरक्त ब्यक्त बहु चरित चतुर अति॥
लघु दीरघ सुर सुद्ध बचन अविरुद्ध उचारन।
बिस्व बास बिस्वास दास परिचय बिस्तारन॥
जानि जगत हित सब गुननि सु सम 'नरायनदास' हिय।
'भक्त-रत्न-माला' सुधन 'गोबिंद' कंठ बिकास किय॥१९२॥

अर्थ—श्रीगोविन्ददासजीका स्वभाव बड़ा सुन्दर था। मेघोंके समान कान्ति वाले भगवान श्रीरामचन्द्रजीकी लीलाओंमें आपका सहज अनुराग था। प्रतिभाके समुद्र थे आप। अनेक प्रकारके, अर्थात् सब सम्प्रदायानुयायी भक्तोंमें आप अनुराग रखते थे और उनके विविध

चरित्रोंका वर्णन करनेमें आप बड़े प्रवीण थे। 'भक्तमाल' को पढ़ते समय ह्रस्व-दीर्घ स्वरोंका आप यथावत् उच्चारण करते थे और वाक्योंमें शब्दोंकी योजना इस प्रकार ठीक-ठीक रखते थे कि सुनते ही अर्थकी संगति बैठ जाय। विश्वात्मा प्रभुमें दृढ़ विश्वास रखने वाले भक्तोंका परिचय आप विस्तार-पूर्वक कहते थे। श्रीनारायणदासजी (श्रीनाभास्वामी) ने यह देख कर कि आप जीव-मात्रके हितैषी हैं तथा भगवद्-भक्ति और सन्त-सेवा आदि गुणोंमें अपने (नाभास्वामी) के समान हैं, आपको 'भक्तमाल' पढ़ाया। श्रीगोविन्ददासजीने भी भक्त-रूपी रत्नोंकी इस माला (संग्रह) को अपने कंठका हार बनाया—अर्थात् उसे कंठस्थ किया।

भक्तदाम-गुण-चित्रनी, पृष्ठ ४६४ में गोविन्ददासजीके सम्बन्धमें जो कुछ लिखा है उसका आशय इस प्रकार है—

एक बार प्रभुने आपको आज्ञा दी कि नाभादासजीकी भक्तमालका गान करो। इसके श्रवणसे संसारमें भक्तिका प्रचार होगा और सुखका विस्तार होगा। आपने प्रभुकी इस आज्ञाको शिरोधार्य किया और भक्तमालमें वर्णित अत्यन्त ही मोहक चरित्रोंका सर्वत्र विस्तार किया।

मूल (छप्पय)

(श्रीनृपमणि जगतसिंहजी)

श्रीयुत नृपमनि 'जगतसिंह' दृढ़ भक्ति-परायन।
परम प्रीति किये सुबश शील लक्ष्मी नारायन॥
जासु सुजस सहज ही कुटिल कलि कल्य जु घायक।
आज्ञा अटल सुभगट सुभट कटकनि सुख दायक॥
अति ही प्रचंड मारतंड सम तम खंडन दोरदंड वर।
भक्तेश भक्त भवतोषकर संत नृपति 'वासौ' कुंवर॥१९३॥

अर्थ—राजाओंके शिरोमणि श्रीजगतसिंह बड़े निष्ठावान् भक्त थे। आपने अपनी अगाध प्रीति तथा दैन्यसे लक्ष्मीनारायणको अपने वशमें कर लिया था। उन भक्तोंमें से आप जिनकी कीर्तिका गान करनेसे कठिन कलियुगके पापोंका नाश हो जाता है। आपकी आज्ञाके उल्लंघन करनेका किसीमें साहस नहीं होता था। ऐसे वीर योद्धा थे कि आपको देखकर वीरोंकी सेनाएँ प्रोत्साहित हो उठती थीं। आपके दोनों भुजदंड प्रचंड सूर्यके समान भय-रूपी अन्धकारको दूर करने वाले थे। श्रीजगतसिंहजी, इस प्रकार, भक्तोंके स्वामी भगवानके परम-भक्त, प्रभुको प्रसन्न करने वाले सन्त आनन्दसिंहजी और वासोदेईके पुत्र हुए।

भक्ति-रस-बोधिनी

जगता को पन मन सेवा श्री नारायणजू, भयौ ऐसौ पारायण, रहै डोला संग ही।
लरिबे कों चलै आगै, आगें सदा पाछे रहै, ल्यावें जल सीस ईस भरची हियौं रंग ही॥
सुनि जसवंत जयसिंह कै हुलास भयौ, देख्यौ दिल्ली माँझ, नीर ल्यावत अभंग ही।
भूमि परि बिनै करी "धरी देह तुम हीं ने, जाते पायौ नेह" भीजि गये यों प्रसंग ही॥६२१॥

अर्थ—श्रीजगतसिंहजी मनसे और प्रणसे श्रीनारायणकी सेवामें ऐसे अनुरक्त थे कि जहाँ-कहीं जाते भगवानका डोला आपके साथ ही रहता था। जब आप युद्धमें भाग लेनेके लिए जाते, तो भगवानका डोला पीछे रहता था, परन्तु अन्य अवस्थाओंमें आप सेवककी भाँति डोलेके पीछे-पीछे चलते थे। प्रभुके प्रेममें डूबे हुए आप सेवा-पूजाके लिए जल स्वयं लाते थे।

एक बार दिल्लीमें किसी अवसर पर सब राजपूत-राजे इकट्ठे हुए। वहाँ जयसिंह और जसवन्तसिंहजीके मनमें यह इच्छा पैदा हुई कि आपको जल लाते हुए देखना चाहिए। उन दोनोंने जब आपको नियमसे इस प्रकार जल लाते देखा, तो पृथ्वी पर मस्तक टेक कर विनय करने लगे—"आपका ही शरीर धारण करना सफल है जिसके द्वारा भगवानमें ऐसा स्नेह पाया है।" इस प्रकार जगतसिंहजीकी प्रशंसा करते-करते दोनों राजे भगवद्-भक्तिमें स्वयं विभोर हो गये।

भक्ति-रस-बोधिनी

नृपति जैसिंह जू सों बोल्यौ "कहा नेह मेरे? तेरी जो बहिन ताकी गंध को न पाऊँ मैं।
नाम 'दीपकुँवरि' सो बड़ी भक्तिमान जानि, वही रसखानि ऐ पै कछुक लड़ाऊँ मैं॥
सुनि सुख भयौ भारी, हुती रिस यातें, टारी लिये गाँव काढि फेरि दिये हरि ध्याऊँ मैं।
लिखि कै पठाई "बाई करै सोई करन दीजै, कीजै साधु-सेवा करि निसि दिन गाऊँ मैं"॥६२२॥

अर्थ—अपनी प्रशंसा सुनकर राजा जगतसिंहजी जयसिंहजीसे बोले—"मुझमें क्या भक्ति है? सच्ची भक्तिमती तो आपकी बहिन दीपकुँवरिजी हैं जिनके प्रेमकी गंध तक मैं नहीं पा सकता। प्रेमकी खान तो वे हैं। मैं तो उन्हींकी रीतिका अनुसरण करता हुआ थोड़ा-बहुत लाड़ भगवानको लड़ाता हूँ।"

जगतसिंहजीके मुखसे यह सुनकर जयसिंह बड़े आनन्दित हुए। कुछ दिनोंसे किसी कारणवश वे अपनी बहिनसे रुष्ट रहते थे। वह नाराजगी उन्होंने हृदयसे निकाल दी और उस की छीनी गई जागीर फिर उसे लौटा दी। मंत्रियोंको आपने यह लिखित आज्ञा भेज दी कि 'बाईजी जिस प्रकार सेवा-पूजा और साधु-सत्कार करना चाहें, उन्हें करने दिया जाय। उनकी कृपासे मेरा भी अनुराग भगवानके प्रति होगया है और अब मैं उनके ही गुण गाया करता हूँ।'

जगतसिंहजी कहाँके राजा थे यह पता नहीं चलता है। जयपुर नरेश मानसिंहके पुत्र जगतसिंहजी अवश्य थे सं० १६३५ में उनका जन्म एवं १६५६ में परलोकवास होगया था, सम्भवतः वही राजकुमार जगतसिंह रहे हों।

मूल (छप्पय)

(श्रीगिरिधरग्वालजी)

प्रेमी भक्त प्रसिद्ध गान अति गद गद बानी।
अंतर प्रभुसों प्रीति प्रगट रहै नाहिन छानी॥
नृत्य करत आमोद विपिन तन बसन बिसारैं।
हाटक पट हित दान रीझि तत काल उतारैं॥
'मालपुरैं' मंगल करन रास रच्यौ रस रंग कौ।
'गिरिधरन ग्वाल' गोपाल कौ सखा साँच लौ संग कौ॥१६४॥

अर्थ—श्रीगिरिधरग्वालजी प्रसिद्ध प्रेमी भक्त थे। अत्यन्त गद्गद् कण्ठसे जब आप प्रभुके गुण-गान करते, तो आपके अन्तरकी प्रीति छिपानेसे भी नहीं छिपती थी। श्रीवृन्दावन में प्रेम-विह्वल होकर जब आप नाचते, तो शरीर तथा उसपर पहिने हुए वस्त्र-आभूषणोंका ध्यान आपको नहीं रह जाता था। यदि कोई भगवानका भक्त प्रभुके गुण गाते हुए आपको मिल जाता, तो आप रीझकर अपने सुवर्णके आभूषण तथा वस्त्र उतार कर उसे दे देते थे। एक बार 'मालपुरा' नामक गाँवमें भक्तोंके कल्याणके लिये एक 'रास' का आयोजन किया गया जिसमें आपने अपना सर्वस्व प्रभु पर न्यौछावर कर दिया। श्रीगिरिधर-ग्वालजी गोपाल के सच्चे सखा और संगी करके माने जाते थे।

भक्ति-रस-बोधिनी

गिरिधर ग्वाल, साधु-सेवा ही को ख्याल जाके, देखि यों निहाल होत प्रीति साँची पाई है।
संत तन छूटे हूँ तै लेत चरणामृत जो, और सब रीति कही का पै जात गाई है॥
भये द्विज पंच इक ठौरे सो प्रपंच मान्यौ, आन्यौ सभा माँझ कहैं "छोड़ो न सुहाई है।
जाके हो प्रभाव मत लेवो, मैं प्रभाव जानों मृतक यों बुद्धि ताको बारो," सुनि भाई है॥६२३॥

अर्थ—श्रीगिरिधर ग्वालजी प्रति-क्षण साधु-सेवाके ही संबन्धमें सोचा करते थे। संतोंको देखते ही आप अपनेको धन्य मानने लगते थे। संतोंके प्रति आपकी सच्ची भावनाका इससे बढ़कर प्रमाण और क्या हो सकता है कि किसी संतका शरीर छूट जाने पर भी आप उसका चरणोदक लिए बिना नहीं मानते थे। तत्कालीन ब्राह्मण-समाजको उनका यह आचरण बहुत अखरता था। एक दिन उन्होंने इसी विषयको लेकर पंचायत जोड़ी और उसमें गिरिधर ग्वालजीको बुलाकर मृतक वैष्णवोंका चरणामृत न लेने पर जोर दिया। आपने उत्तर दिया—"वैष्णवोंके प्रति जिसके हृदयमें श्रद्धाका अभाव हो, वह चरणोदक न ले; मैं तो उनके प्रभाव को जानता हूँ। मरनेके बाद भी सन्तोंमें मेरी मृतक-बुद्धि नहीं होती, क्योंकि मैं जानता हूँ कि

संत लोग कभी मरते नहीं हैं । वे तो प्रभु-रूप हो जाते हैं ।'' आपकी यह बात लोगोंको बड़ी अच्छी लगी ।

विशेष—अन्यत्र प्राप्त विवरणोंसे विदित होता है कि गिरिधर ग्वालजी अत्यन्त सम्पन्न भक्त थे । कहते हैं, 'मालपुरा' के रासमें उन्होंने तीन लाख रुपये न्योछावर किये थे । इससे भी अद्भुत बात यह है कि आप एक नामी मल्ल थे । कहते हैं, तत्कालीन दिल्लीपतिने आपको बुलाकर अपने दरबारके सर्व-श्रेष्ठ पहलवानसे कुश्ती लड़नेको कहा । गिरिधरजीने लड़नेसे इन्कार कर दिया; पर बादशाहके सामने एक प्रस्ताव यह रक्खा कि दरबारका पहिलवान पहले उनकी गर्दनपर रगड़ा मारे, बादमें वे उसकी गर्दनको उसी प्रकार रगड़ेंगे । बादशाह राजी हो गया । दरबारी पहलवानने गिरिधरजीकी गर्दनपर कसकर एक-दो हाथ जमाये, तो उनकी नाकसे एक धार रक्त प्रवाहित होने लगा । बादमें गिरिधरजीकी बारी आई, तो उन्होंने पहली ही रगड़में पहलवानके प्राण ले लिए । यह सब कृपा भगवानके सखा होने की थी ।

मूल (छप्पय)

(श्रीगोपाली देवीजी)

प्रगट अंग में प्रेम नेम सों मोहन-सेवा ।
कलिजुग कलुस न लग्यौ दास तें कबहु न छेवा ॥
बानी सीतल सुखद सहज गोविंद धुनि लागी ।
लच्छन कला गँभीर धीर संतनि अनुरागी ॥
अंतर सुद्ध सदा रहै रसिक भक्ति निज उर धरी ।
'गोपाली' जन-पोषकों जगत जसोदा अवतरी ॥१९५

अर्थ—श्रीगिरिधरग्वालकी माता श्रीगोपालीजीके अंग-अंगसे प्रेम टपकता था । आप नियम-पूर्वक मोहनलालकी सेवा-पूजा करती थीं । कलियुगकी दूषित भावनाओंसे आपका स्पर्श तक नहीं हुआ था और इसीलिये आपने कभी भगवद्-भक्तोंसे किसी प्रकारका दुराव नहीं किया । आपकी वाणी स्वभावसे ही कोमल और सुख देने वाली थी । गोविन्द नामके उच्चारण करनेकी तो आपको धुन सवार थी । सती-साध्वी नारीके सब शुभ लक्षण आपमें विद्यमान थे । आप नृत्य, वाद्य आदि कलाओंकी जानकार थीं, प्रकृतिकी गंभीर और सन्तोंमें श्रद्धा रखने वाली । आपका हृदय निष्कपट था और उसमें वात्सल्य-रसकी भक्तिका वास था । हरि-भक्तों के पोषणके लिए श्रीगोपालीजीमें मानों यशोदाजीने अवतार लिया था ।

भक्त-दाम-गुण-चित्रनी, पत्र ४६६ के आधारपर श्रीगोपालीदेवीजीकी एक वार्ता नीचे दी जाती है—

एक बार श्रीगोपाली बाईके घर, जिस समय आप ठाकुरजीका भोग लगा रही थीं, भगवान सन्त-वेश बनाकर आए और बोले—"ठाकुरजी भोग लगा रहे हैं क्या ?"

गोपाली देवीने कहा—"ठाकुरजी तो कुछ भोग लगाते ही नहीं, सुगन्ध-मात्र लेते हैं।"

सन्त-वेशधारी प्रभु बोले—"खाते तो हैं, पर उन्हें कोई हाथसे खिलाये तब न।"

इस बातको सुनकर गोपाली बाईको विश्वास हो गया और जब वे भगवानको हाथसे खिलाने लगीं तो उन्होंने सचमुच खा लिया। इस कार्यसे गोपाली बाईको जो आनन्द हुआ उसका वर्णन कैसे किया जा सकता है।

श्रीगोपाली देवी प्रभुको भोजन करानेकी इस रीतिके प्रकट करनेवाले सन्तको प्रसाद पवानेकी इच्छासे पंक्तिकी ओर घूमीं तो वहाँ उन्हें न पाया। यह देखकर आप समझ गईं कि यह तो साक्षात् प्रभुने ही आकर मुझे कृतार्थ किया है।

दूसरी बार आप पुनः श्रीठाकुरजीको हाथसे भोजन कराने लगीं। इस बार उन्होंने एक किनका (कण-मात्र) भी नहीं लिया। यह देखकर तो श्रीगोपाली बाईको बड़ा दुःख हुआ और वे हठ करके बैठ गईं। तब भगवानने आकाशवाणी द्वारा बतलाया कि 'हमने तो एक बार खा लिया अब तो हमारे सन्तोंको ही खिलाइए; उनको खिलाना ही हमें खिलाना है।"

भगवानकी इस आज्ञाको सुनकर गोपाली बाई सन्तोंकी मनोभिलाषाको पहिलेसे ही जान जातीं और उनकी फिर वैसी ही सेवा किया करतीं।

एक बार वस्त्रकी अभिलाषा लेकर एक सन्त आपके यहाँ आए। आपने उन्हें भोजन कराया और बादमें वस्त्र बनवानेके लिए कपड़ा देते हुए कहा—"लीजिए सन्त-भगवान! जो चाहो सो बनवा लेना।" इसी प्रकार भोजनके लिए भी विभिन्न रुचि लेकर सन्त पधारते और आप उन्हें वही रुचिकर भोजन कराकर सत्कृत करतीं।

मूल (छप्पय)

(श्रीरामदासजी)

सीतल परम सुसील बचन कोमल मुख निकसैं।
भक्त उदित रबि देखि हृदौ बारिज जिमि बिकसैं॥
अति आनँद मन उमगि संत परिचर्या करई।
चरन धोय दंडौत बिबिध भोजन बिस्तरई॥
'बछवन' निवास बिस्वास हरि जुगल चरन उर जगमगत।
'श्रीरामदास' रस रीति सों भली भाँति सेवत भगत॥१६६॥

अर्थ—श्रीरामदासजीके मुखसे हर समय, विनयपूर्ण, कोमल और मधुर-वाणी ही निक-

लगी थी सूर्य्यको उदित होते देख कर जिस प्रकार कमल खिल उठते हैं, वैसे ही आपका हृदय सन्तोंके दर्शन कर प्रफुल्लित हो जाता था। मनमें पूर्ण उल्लास रखकर आप बड़ी उत्कण्ठा और चावसे सन्तोंकी सेवा करते थे और उनका चरणोदक लेकर साष्टांग प्रणाम कर उन्हें विविध प्रकारके भोजन कराते थे। ब्रज-मण्डलमें 'वत्स-वन' नामक स्थानमें आप रहते थे। प्रभुमें आपका असीम विश्वास था और उन्हींके चरण-युगलोंको अपने हृदय-मन्दिरमें विराजमान कर उनकी आराधना करते थे। इस प्रकार श्रीरामदासजी भक्ति-मार्गमें प्रतिपादित रस-रीतिके अनुसार भगवद्-भक्तोंकी सेवा करते थे।

भक्ति-रस-बोधिनी

सुनि एक साधु आयौ भक्ति-भाव देखिबे कौं, बैठे रामदास, पूछै "रामदास कौन है?"
उठे आप धोये पांय, "आवै रामदास अब," "रामदास कहो, मेरे चाव और गौन है॥"
"चलौ जू प्रसाद लीजै, दीजै रामदास आनि," यही रामदास, पग धारौ निज भौन है"।
लपटानौ पाँयन सों, आयन समात नाहिं, भायन सों भरयौ हिये लाई जस औन है॥६२४॥

अर्थ—एक बार श्रीरामदासजीकी सन्त-भक्तिकी परीक्षा लेनेके लिए एक साधु उस स्थान पर गया जहाँ रामदासजी बैठे थे और पूछने लगा—"रामदास कौन है?" आप उठे, उठकर सन्त-महोदयको दण्डवत् की और बोले—"रामदास अभी आता है; फिर पैर धोकर चरणोदक लेनेके उपरान्त कहा—प्रसाद ग्रहण करनेकी कृपा करें।" इसपर आगन्तुक सन्त-महोदय बोले—"पहले यह बतलाइए कि रामदासजी कहाँ हैं; उन्हींको देखनेकी मुझे तीव्र उत्कण्ठा है।" आपने उत्तरमें निवेदन किया—"चलिये, प्रसाद पाइए; रामदास भी उपस्थित हो जायगा।" सन्त-महोदय कब माननेवाले थे? जब वे भोजन करनेके लिये किसी प्रकार भी तैयार नहीं हुए, तो आप बोले—"आप अपने घरमें पधारिये; प्रसाद लीजिए। आपका सेवक रामदास यही है।" यह सुनते ही सन्त-महाशय रामदासजीके पैरोंपर आ पड़े। उनका हृदय उत्कण्ठा और भक्ति-भावसे भर गया। बोले—"धन्य हैं आप! आपके यशकी चाँदनीसे आज सारा संसार उज्ज्वल हो रहा है।"

भक्ति-रस-बोधिनी

बेटी कौ बिवाह, घर बड़ौ उत्साह भयौ, किये पकवान नाना, कोठे माँझ धरे हैं।
करें रखवारी सुत, नाती दियें तारी रहैं, और ही लगाई तारी खोल्यौ नहीं डरे हैं॥
आये गृह संत तिन्हैं पोट बँधवाई दई, पायौ यों अनंत सुख, ऐसे भाव भरे हैं।
सेवा श्री बिहारीलाल, गाई पाक सुघ्घताई, मेरे मन भाई, सब साधु उर हरे हैं॥६२५॥

अर्थ—श्रीरामदासजीकी पुत्रीके विवाहके अवसरपर बड़े उत्साहके साथ अनेक प्रकारके पदार्थ तैयार किये गए और उन्हें कोठोंमें भरकर ताले डाल दिये गए। आपके पुत्र तथा नातियोंने यह सब किया; क्योंकि उन्हें डर था कि उनके पिताजी तथा बाबाजी कहीं सन्तोंको

न खिला दें। किन्तु रामदासजी कब मानने वाले थे ? ज्योंही सन्त लोग घरपर पधारे, त्योंही आपने परतालियाँ लगा कर ताले खोल डारे और सन्तोंको पकवानोंकी पोटलियाँ बाँध दीं। यह सब करके आप बड़े आनन्दित हुए; क्योंकि सन्तोंके प्रति आपका ऐसा ही श्रद्धा-भाव था। आप श्रीविहारीलालकी सेवा बड़े प्रेमसे करते और और बड़ी सफाई और स्वच्छताके साथ प्रसाद बना कर भोग रखते थे। आपकी सचाईने सब सन्तोंका मन हर लिया था। टीकाकार श्रीप्रियादासजी कहते हैं कि 'मुझे भी उनकी सचाई बड़ी अच्छी लगी और इसीलिए मैंने उसका यहाँ गान किया है।

मूल (छप्पय)

(श्रीरामरायजी)

भक्ति ज्ञान बैराग जोग अंतर-गति पाग्यौ।
काम क्रोध मद लोभ मोह मत्सर सब त्याग्यौ॥
कथा कीरतन मगन सदा आनँद रस झूल्यौ।
संत निरखि मन मुदित उदित रबि पंकज फूल्यौ॥
बैर-भाव जिन द्रोह किय तासु पाग खसि भ्वैं परी।
बिप्र सारसुत घर जनम राम राय हरि रति करी॥१६७॥

अर्थ—श्रीरामरायजीका अन्तःकरण भक्ति, ज्ञान, वैराग्य और योगमें पगा हुआ था। आपने काम, क्रोध, लोभ मोह, मात्सर्य आदि सांसारिक विकारोंको सदाके लिये त्याग दिया था। कथा-कीर्तनमें मग्न रहते हुए आप सदा आनन्दमें आन्दोलित रहते थे। सूर्यको देखकर जिस प्रकार कमल विकसित हो जाते हैं, उसी प्रकार सन्तोंके दर्शन कर आप अपने मनमें प्रसन्न होते थे। जिन लोगोंने आपसे वैर-भाव निबाहा उनकी पगड़ी पृथ्वीपर गिरती देखी गई—अर्थात् उन्हें आपसे नीचा देखना पड़ा। श्रीरामरायजीने, इस प्रकार, सारस्वत ब्राह्मण-वंशमें जन्म लेकर भगवानसे प्रीति की।

भक्त-दाम-गुण-चित्रनी, पत्र ४६६ के आधारपर श्रीरामरायजीसे संबंधित एक वार्ता नीचे दीजाती है—

सारस्वत-कुल-भूषण श्रीरामरायजी कामादि विकारोंसे दूर रहकर भगवानके भजन और चिन्तनमें ही अपना संपूर्ण समय व्यतीत करते थे। आप सांसारिक लोगोंको परम पुनीत भक्तिका उपदेश देनेमें बड़े कुशल थे।

एक बार आपके प्रताप और यशको न सह सकने वाले कुछ अज्ञानी व्यक्तियोंने आपसे कुतर्क करना प्रारम्भ कर दिया, किन्तु आपके सामने वे ठहर न सके, परास्त होकर भाग जाना पड़ा। रास्तेमें जाते समय वे लोग विचार करने लगे 'रामरायको रातमें मार कर भगा देना चाहिए।'

उन अज्ञानी लोगोंके द्वारा इतना सोचते ही उनके सिरकी पगड़ियाँ उड़-उड़ कर जमीन पर गिरने लगीं। उन लोगोंने कई बार उन्हें उठाकर अपने सिर पर रखा, पर वे न ठहरीं। अन्तमें वे समझ गए कि श्रीरामरायजी कोरे कथक्कड़ और उपदेशक ही नहीं, भगवानके अनन्य भक्त भी हैं।

सब लोग श्रीरामरायजीके पास लौट कर आए और उनसे अपने अपराधके लिए क्षमा याचना की।

मूल (छप्पय)

(श्रीभगवतमुदितजी—श्रीमाधवदासजीके पुत्र)

कुंजविहारी केलि सदा अभ्यन्तर भासै।
दंपति सहज सनेह प्रीति परमिति परकासै॥
अननि भजन रस रीति पुस्ट मारग करि देखी।
विधि निषेध बल त्यागि पागि रति हृदय विसेखी॥
'माधव' सुत संमत रसिक तिलक दाम धरि सेव लिय।
'भगवन्त मुदित उदार जस रस रसना आस्वाद किय ॥१९८॥

अर्थ—श्रीभगवतमुदितजीका हृदय-प्रदेश श्रीकुंजविहारीजीकी नित्य-विहार-लीलासे सदा प्रकाशित रहता था। वह राधा-कृष्णकी पारस्परिक सहज प्रीति और स्नेहकी भावनासे सदा अनुप्राणित रहता था। अनन्य-भावसे भजन करनेकी रसपूर्ण रीतिको आपने सर्वश्रेष्ठ मार्ग जानकर अपनाया। लौकिक और शास्त्रीय विधि-निषेधोंकी चिन्ता न कर आपका हृदय विशेषकर श्रीराधाकृष्णके प्रेममें ही पगा रहता था। श्रीमाधवदासजीके पुत्र श्रीभगवतमुदितजीने सब रसिकोंके द्वारा समर्थित कंठी-तिलक धारण कर सेवाके व्रतको अपनाया और भगवानके उदार यशको अपनी वाणीसे गाकर उसके आनन्दका अनुभव किया।

भक्ति-रस-बोधिनी

सूबा के दिवान भगवंत रसवंत भये, वृंदावन वासिन की सेवा ऐसी करी है।
विप्र कं गुसाई साधु कोऊ ब्रजवासी जाहु, देत बहु धन एक प्रीति मति हरी है॥
सुनी गुरुदेव अधिकारी श्रीगोबिंददेव, नाम हरिदास 'जाय देखें' चित धरी है।
सोग्यताई सीधौ प्रभु दूध-भात माँगि लियौ, कियौ उत्साह तऊ, पेखैं अरबरी है ॥६२६॥

अर्थ—श्रीभगवतमुदितजी आगराके सूबेदार नवाब शुजा उल्मुल्कके मुख्य मंत्री थे। आप बड़े रसिक थे और वृन्दावन-वासियोंके ऐसे भक्त कि ब्राह्मण, गोस्वामी, साधु, व्रजवासी जो कोई पहुँच जाता उसे बहुत-सा रुपया देकर संतुष्ट करते थे। व्रजवासियोंके प्रेमने आपके हृदयको अपनी ओर खींच लिया था।

आपके गुरुजीका नाम श्रीहरिदासजी था जोकि श्रीगोविन्ददेवजीके मन्दिरके अधिकारी थे। उनके मनमें भी एक बार यह इच्छा पैदा हुई कि भगवतमुदितजीसे मिलना चाहिए। श्री हरिदासजी स्वयं ऐसे असाधारण कोटिके भक्त थे कि स्वयं प्रभु श्रीगोविन्ददेवजीने भी एक बार उनसे दूध-भात माँगा था। इतने पर भी वह अपने शिष्यसे मिलनेके लिए आतुर हो उठे। यह शिष्यकी ही महिमा है।

भक्ति-रस-बोधिनी

सुनी गुरु आवत, अमावत न कितूँ अंग, रंग भरि तिया सों यों कही, "कहा कीजियै।"
बोली, "घरबार पर संपति भंडार सब भेंट करि दीजै, एक धोती धारि लीजियै"॥
रीझे सुनि बानी "साँची भक्ति तैं ही जानी, मेरे अति मनमानी", कहि आँखें जल भीजियै।
यही बात परी कान, श्रीगुसाईं लई जान, आये फिरे वृन्दावन मन मति भीजिए॥६२७॥

अर्थ—गुरुदेवको आता हुआ सुनकर भगवतमुदितजी फूले नहीं समाये। गुरुके प्रेम-रंग में रँगकर अपनी स्त्रीसे बोले—"गुरुदेवके सत्कारके लिये क्या करना चाहिये?" स्त्रीने उत्तर दिया—"घर-द्वार, समस्त संपत्ति, कोष गुरु-देवकी भेंट कर दीजिये और अपने पास पहिननेको केवल एक धोती छोड़ दीजिये।" अपनी पत्नीकी यह बात सुन आप बड़े प्रसन्न हुए और बोले—"सच्चे हृदयसे भक्ति करना तुम्हीं जानती हो; तुम्हारी यह बात मुझे बड़ी अच्छी लगी है।" यह कहते-कहते उनकी आँखोंसे आँसू प्रवाहित होने लगे।

किसी प्रकार गुसाईं श्रीहरिदासजीके कानों तक यह बात पहुँच गई। आपने श्रीभगवत मुदितजीके पास जाना स्थगित कर दिया और उलटे पैरों वृन्दावन लौट आये। आप अपने शिष्यकी भावना पर बड़े प्रसन्न हुए।

भक्ति-रस-बोधिनी

रह्यो उतसाह, उर दाह को न पारावार, कियौ ले विचार, आज्ञा माँगि वन आये हैं।
रहे, सुख लहे, नाना पद रचि कहे, एक रस निबहे, ब्रजबासी ला छुटाये हैं॥
कीनी घर चोरी, तऊ नेंकु नासा मोरी नाहिं, बोरी मति रंग, लाल प्यारी दृग छाये हैं।
बड़े बड़भागी, अनुरागी, रति लागी, जन माधव रसिक बात सुनी पिता पाये हैं॥६२८॥

श्रीभगवतमुदितजीको जब पता लगा कि गुरुदेव वृन्दावनको लौट गए, तो उनका सारा उत्साह ठंडा पड़ गया। उनके हृदयके दुःखकी सीमा न थी। आपने गुरुदेवके दर्शन करनेका निश्चय किया और सूबेदारसे आज्ञा माँग कर वृन्दावन पहुँचे और गुरुदेवके दर्शन किये। कुछ पदोंकी भी रचना की और इस प्रकार एकान्त भावसे प्रीतिका निबाह करते हुए आप आगरा को लौट गए। वहाँ आपने जेलखानेमें पड़े हुए कई ब्रजवासियोंको छुड़ाया।

एक बार ब्रजके कुछ चोरोंने आपके घरका सारा सामान चुरा लिया, पर इससे आपकी भौंहें जरा भी टेढ़ी न हुईं, बल्कि आप और भी प्रसन्न हुए। आपका मन तो भगवद्-भक्तिमें

डूबा हुआ था और आँखोंमें प्रिया-प्रियतमकी छवि समाई हुई थी। आप वास्तवमें बड़े सौभाग्यशाली और सच्चे अनुरागी थे। आपकी भगवत्-प्रीतिका यश सारे संसारमें व्याप्त था। यह तो हुई श्रीभगवतमुदितजीकी कथा। अब उनके पिता श्रीमाधव-रसिकजीका वृत्तान्त सुनिये।

भक्ति-रस-बोधिनी

(श्रीमाधवदासजी)

आयौ अंतकाल जानि के सुधि पिछानि, सब आगरे तें लैकै चले वृन्दावन जाइयै।
आए आधौ दूर, सुधि आई, बोले चूर ह्वै कै "कहाँ लिये जात करे?" कही "ओई ध्याइयै"॥
कह्यौ "फेरो तन वन जाइबे कौ पात्र नहीं, जरै बास आवै प्रिय पिय कौ न भाइयै।
आन हारौ होई सोई जाइगौ जुगल पास", ऐसे भाव-रासि ताही ठौर चलि आइयै॥६२६॥

अर्थ—श्रीमाधवदासजीका अन्त-समय आया हुआ जान कर लोग उन्हें आगरासे वृन्दावनके लिए ले चले। आधी दूर आने पर श्रीमाधवदासजीको होश आया। आपने दुखी होकर पूछा—"अरे दुष्टो! मुझे कहाँ लिये जाते हो?" लोगोंने कहा—"जिसका आप नित्य ध्यान किया करते थे उस वृन्दावन को।" आपने कहा—"लौट चलो; यह शरीर वृन्दावन ले जानेके योग्य नहीं। जब यह जलाया जायगा, तो इसमेंसे उत्कट दुर्गन्ध निकलेगी जोकि प्रिया-प्रियतमको असह्य होगी। जिसके भाग्यमें जुगलकिशोरके चरणोंमें जाना बदा है, वह तो जायगा ही, फिर वृन्दावनके वातावरणको दूषित क्यों किया जाय?"

ऐसी भावना थी श्रीवृन्दावनके विषयमें श्रीभगवतमुदितजीकी। आप लौट कर आगरा आगए और वहीं शरीर छोड़ा।

विशेषविचारणीय—श्रीप्रियादासजीने भगवतमुदितजीको गोविन्ददेवजीके अधिकारी श्रीहरिदासजी का शिष्य बतलाया है, किन्तु कुछ लोगोंका अनुमान है कि गौड़ीय वैष्णव होते हुए भी भगवतमुदितजी श्रीराधावल्लभीय रस-सिद्धान्तकी ओर आकृष्ट रहे होंगे; क्योंकि आपने प्रबोधानन्द सरस्वतीके एक 'शतक'का जो अनुवाद व्रज-भाषामें किया है उसके मंगलाचरणमें श्रीचैतन्य-वंदना-प्रसंगमें हित शब्दका भी प्रयोग किया है*

इष्ट चन्द वर, राधाजीवन प्राण धन। हित संगी रंगी भजन, कहत सुनत कल्याण धन॥

यह अनुवाद १७०७ के चैत्र-मासमें पूर्ण हुआ। 'भक्तमाल'में दिये गए भगवतमुदितजीपर लिखे छप्पयको यदि प्रक्षिप्त न माना जाय, तो इनका अर्थ यह होगा कि 'भक्तमाल' के रचना-काल (१६५० वि.) से पूर्व भगवतमुदितजी भक्तके रूपमें प्रसिद्धि प्राप्त कर चुके होंगे। किन्तु यह धारणा अन्य ऐतिहासिक प्रमाणोंके साथ मेल नहीं खाती, वस्तुतः सम्वत् १७७६ तक यह छप्पय भक्तमालमें समाविष्ट ही नहीं हो सका था।

*"हित" शब्दके भ्रमसे ही मिश्रबन्धु आदि कई लेखकोंने ध्रुवदास आदिको भी राधावल्लभीय लिख डाला है। वस्तुतः केवल 'हित' शब्दसे ही सम्प्रदाय निश्चित नहीं होता।

मूल (छप्पय)

(श्रीलालमती देवीजी)

गौर स्याम सों प्रीति प्रीति जमुना कुंजनि सों।
बंसीबट सों प्रीति प्रीति ब्रज-रज-पुंजनि सों॥
गोकुल गुरुजन प्रीति प्रीति घन बारह बन सों।
पुर मथुरा सों प्रीति प्रीति गिरि गोवर्धन सों॥
बास अटल बृंदाबिपिन दृढ़ करि सो नागरि कियौ।
दुर्लभ मानुष देह कौ 'लालमती' लाहौ लियौ॥१६६॥

अर्थ—श्रीलालमतीजीका हार्दिक प्रेम श्रीराधाकृष्ण, यमुना, यमुना-तटवर्ती कुञ्ज, वंशी-वट, व्रजकी रज, गोकुल, गोकुल-निवासी गुरुजन, सघन बारह वन, मथुरापुरी और गिरि गोवर्द्धनसे था। इस नागरी (विदग्ध महिला) ने अविचल भावसे वृन्दावन-वास किया और इस प्रकार इस दुर्लभ मानव-शरीरका लाभ उठाया।

भक्त-दाम-गुण चित्रनी, पद्य ४७० के आधारपर लालमती देवीका वृत्त नीचे दिया जाता है—

श्रीलालमती देवीका शरीर यद्यपि वृद्धावस्थाके कारण अत्यन्त क्षीण हो गया था, पर अब भी भक्ति-भावनामें किसी प्रकारकी शिथिलता नहीं आई थी। सन्तोंके प्रति सद्भावना, गुरुके प्रति श्रद्धा और भगवानकी भक्तिसे आपका मन सदा भरा-पूरा रहता था।

एक बार जब प्रभुका साक्षात्कार करनेकी अभिलाषा आपकी अत्यन्त बलवती हो गई तब स्वप्न में भगवानने कहा—"प्रातःकाल होते ही यमुना-किनारेकी कुञ्जोंमें आ जाओ; वहाँ मेरे दर्शन मिल जावेंगे।"

सवेरा होते ही लालमतीजी अपनी एक दासीके साथ यमुना-पुलिनकी ओर चल दीं और किनारे पर जाकर देखा कि मधुर-मूर्ति श्रीश्यामसुन्दर वंशी हाथमें लेकर मुस्करा रहे हैं। प्रभुकी मोहिनी-मूर्ति को देखकर आँखोंमें आनन्दके अश्रु भरकर आप दासीसे गुणोंका गान करने लगीं। पर उस बेचारीको वहाँ कृष्णकी छाया भी दिखाई नहीं पड़ी। बादमें वंशीधरने अपनी मुरलीकी तानसे समस्त वायु-मंडलको सरस बना दिया। उसकी स्वर-लहरी लालमतीजी और दासी दोनोंने सुनी। दोनोंका हृदय आनन्दसे भर गया।

कुछ समयके बाद श्रीकृष्ण कूदकर यमुनाके प्रवाहमें विलीन हो गये, पर श्रीलालमतीजी न-जाने कब तक भूली-सी वहीं खड़ी रहीं। श्रीबालकरामजी कहते हैं कि प्रभुके दर्शन प्राप्त करनेमें लालमतीजी की एक मात्र भक्ति-प्रीति ही सहायक थी। भगवान प्रेमके वशमें हमेशा ही रहते हैं। जिस-जिसने उनसे प्रेम किया उसने लालमतीजीके समान प्रत्यक्ष दर्शनोंका सुख प्राप्त किया।

मूल (कुण्डलिया)

कविजन करत बिचार बड़ौ कोउ ताहि भनिज्जै।
कोउ कह अवनी बड़ी जगत आधार फनिज्जै॥
सो धारी सिर सेस सेस सिव भूषन कीनौ।
सिव आसन कैलास भुजा भरि रावन लीनौ॥
रावन जीत्यौ बालि बालि राघौ इक सायक दँडे।
'अगर' कहैं त्रैलोक हरि उर धरैं तेई बड़े॥२००॥

अर्थ—कवियोंने सोच समझ कर अपनी बुद्धिके अनुसार किसी न किसीको सबसे बड़ा बताया है। कुछ कहते हैं कि पृथ्वी सबसे बड़ी है; क्योंकि यह समस्त संसारको धारण किये हुए है। उस पृथ्वीको शेषनाग अपने फणों पर धारण किए हुए हैं, शेषको शिवजीने अपने सिरका भूषण बनाया, रावणने शिवजीके निवास-स्थान कैलाशको अपनी भुजाओं पर उठा लिया; रावणको बालिने जीता, बालिको श्रीरामचन्द्रजीने एक बाणसे मार गिराया। अग्रदासजी के मतमें तीनों लोकोंमें जो व्यक्ति इन श्रीरामचन्द्रको अपने हृदयमें धारण करते हैं वे ही सबसे बड़े हैं।

मूल (छप्पय)

नेह परसपर अघट निबाहि चारौं जुग आयौ।
अनुचर कौ उतकर्ष स्याम अपने मुख गायौ॥
ओत-प्रोत अनुराग प्रीति सब ही जग जानैं।
पुर प्रवेश रघुबीर भृत्य कीरति जु बखानैं॥
अगर अनुग गुन बरन तें सीता पति नित होयँ बस।
हरि सुजस प्रीति हरिदास कैं त्यौं भावै हरिदास जस॥२०१॥

अर्थ—भगवान और भक्तोंका पारस्परिक प्रेम चारों युगोंमें निभता आया है। यह प्रेम अक्षय और एक-रस रहता है। श्रीमद्भागवतके एकादश स्कंधमें भगवान्‌ने अपने श्रीमुखसे (उद्धव-उपदेश प्रकरणमें) अपने भक्तोंकी महिमाका वर्णन किया है। यह सारा संसार जानता है कि भगवान अपने भक्तोंके प्रति अनुराग-भावनासे ओत-प्रोत रहते हैं और भक्त भगवद्-विषयक प्रीतिसे। वनवासके उपरान्त अयोध्या-पुरीमें प्रवेश करते समय श्रीरामचन्द्रजीने वसिष्ठ, सुमन्त्र आदिसे अपने भृत्य हनुमान् और सुग्रीवकी कीर्तिका वर्णन किया था। स्वामी श्रीअग्रदासजी कहते

हैं कि भक्तोंके गुण वर्णन करनेसे श्रीजानकीनाथ प्रभु वशमें रहते हैं। श्रीहरिका यश सुनने जैसे भक्तोंकी प्रीति है, वैसे ही भगवानको भी अपने दासों का यश सुनना अच्छा लगता है

श्रीमद्भागवतमें भगवान कहते हैं :—

निरपेक्षं मुनिं शान्तं निर्वैरं समदर्शिनम्। अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यङ्घ्रिरेणुभिः ॥

साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयं त्वहम्। मदन्यं ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि ॥

—निष्काम, मुनि-वृत्ति वाले, शान्त, वैर रहित, समदर्शी भक्त का मैं इस उद्देश्यसे अनुसरण करता हूँ कि उसकी चरण-रजसे मैं पवित्र हो जाऊँ।

साधु लोग मेरे हृदय हैं, मै साधुओंका हृदय हूं। न वे मेरे सिवा और किसी को जानते है और न मै उनके अतिरिक्त अन्य किसी को।

रामचरित-मानसमें भगवान श्रीरामचन्द्रजी कहते हैं—

ये सब सखा सुनहु मुनि मेरे, भये समर सागर कहँ बेरे।
मम हित लागि जन्म इन हारे, भरतहुँ ते मोहि अधिक पियारे ॥

मूल (छप्पय)

दुर्वासा प्रति स्याम दास-बसता हरि भाखी।
ध्रुव गज पुनि प्रह्लाद राम शबरी फल साखी॥
राजसूय यदुनाथ चरण धोय जूंठ उठाई।
पांडव विपति निवारि दियौ विष विषया पाई॥
कलि विशेष परचौ प्रगट आस्तिक ह्वै कै चित धरौ।
उतकर्ष सुनत सन्तनि कौ अचरज कोऊ जिन करौ॥२०२॥

अर्थ—भगवान श्रीकृष्णचन्द्रने दुर्वासा ऋषिसे स्पष्ट शब्दोंमें कहा कि 'मैं भक्तोंके पराधीन हूँ। ध्रुव, गजराज, प्रह्लादके वृत्तान्त तथा श्रीरामचन्द्रजी द्वारा शबरीके फल खाना इस बातके साक्षी हैं। राजसूय-यज्ञमें भगवानने ब्राह्मणोंके चरण धोये और उनकी जूठन उठाई। पांडवों पर आई हुई अनेक विपत्तियोंसे भगवानने उनकी रक्षा की। इसी प्रकार चन्द्रहास भक्तने विषके बदलेमें विषया नामक स्त्रीको प्राप्त किया। कलियुगमें भगवानने अपनी दयालुताका विशेष परिचय दिया है और अपने भक्तोंको अपनाया है, (नामदेव, कर्माबाई त्रिलोचन आदि, इसके उदाहरण हैं)। आस्तिक-बुद्धिसे इस विषय पर विचार करनेकी आवश्यकता है; फिर कोई सन्देह नहीं बाकी रहेगा। संतोंके इस उत्कर्षकी बात सुनकर किसीको आश्चर्य करनेकी आवश्यकता नहीं है!

विशेष—छप्पय संख्या २०० से २०२ तक फुटकर पद्य हैं। इनमेंसे प्रथम दो छप्पयोंमें तो स्वामी अग्रदासजीकी छाप है। स्पष्ट-रूपसे ये छप्पय नाभाजीकी लेखनीसे निकले हुए नहीं हैं। बहुत सम्भव

यही है कि उनके गुरु श्रीअग्रदासजी द्वारा ही निर्मित हैं और नाभाजीने गुरुके सम्मानके निमित्त ही, सम्भवतः, भक्तमालमें उनका समावेश कर दिया है। विषय-प्रतिपादन और रचनाकी दृष्टि से भी ये छप्पय अग्रदासजी-रचित ही प्रतीत होते हैं।

दोहा

पादप पेड़हिं सींचते, पावैं अँग-अँग पोष।
पूरवजा ज्यों बरन ते, सब मानियो सँतोष ॥२०३॥

अर्थ—जिस प्रकार वृक्षकी जड़को सींचनेसे उसकी शाखा, पत्ते आदि सब अंग-प्रत्यंग पुष्ट हो जाते हैं, उसी प्रकार वर्तमान भक्तोंके पूर्वाचार्य महोदयोंके चरित्रका वर्णन करनेसे दूसरे सब भक्तोंको, जिनके चरित्र इस 'भक्तमाल' में कहनेसे रह गए हैं, सन्तोष कर लेना चाहिए।

भक्त जिते भूलोक में, कथे कौन पै जायँ।
समुँद पान सर्धा करै, कहँ चिरिया पेट समायँ ॥२०४॥

अर्थ—संसारमें जितने भगवद्-भक्त हैं उन सबके चरित्रका वर्णन करनेकी सामर्थ्य किसमें है? यदि कोई चिड़िया सब समुद्रोंका जल पी लेनेका विचार करे, तो यह कैसे सम्भव है?

श्रीमूर्ति सब वैष्णव, लघु दीरघ गुननि अगाध।
आगे पीछे बरन ते, जिनि मानौ अपराध ॥२०५॥

अर्थ—शालग्रामजीकी मूर्ति या तुलसी-दल छोटा हो या बड़ा, सबकी महिमा एक-जैसी है; उसी प्रकार वैष्णव-गण चाहे छोटे हों या बड़े, अपने अपरिमित गुणोंके कारण महान् ही हैं। 'भक्तमाल' में उनमेंसे किसीका वर्णन पहले कर दिया गया हो और किसीका बादमें, तो यह अपराध क्षन्तव्य है।

फल की सोभा लाभ तरु, तरु सोभा फल होय।
गुरू शिष्य की कीर्ति में, अचरज नाहीं कोय ॥२०६॥

अर्थ—जैसे वृक्षमें लगे रहनेसे फलोंकी शोभा होती है और फलोंसे वृक्षकी, उसी प्रकार गुरुकी कीर्तिसे शिष्यकी महिमा बढ़ती है और शिष्यकी कीर्तिसे गुरु की। इसमें आश्चर्य करने की कोई बात नहीं है।

चारि जुगन में जे भगत, तिन के पद की धूरि।
सर्वसु सिर धरि राखि हौं, मेरी जीवन मूरि ॥२०७॥

अर्थ—चारों युगोंमें जितने भी भक्त हुए हैं और होंगे, उनके चरणोंकी धूलि मेरे मस्तक पर रहे; क्योंकि वही मेरा सर्वस्व है।

जग कीरति मंगल उदैं, तीनों ताप नसाइ।
हरिजन कौ गुन बरन ते, हरि हिरदैं अटल बसाइ॥२०८॥

अर्थ—भगवानके भक्तोंका चरित्र वर्णन करनेसे संसारमें कीर्ति और कल्याण दोनों मिलते हैं, तीनों प्रकारके दुःख नष्ट होते हैं और अविचल-भावसे भगवानका हृदयमें वास होता है।

हरिजन कौ गुन बरन ते, जो नर करैं असूया आइ।
इहाँ उदर बाढ़ै बिथा, अरु परलोक नसाइ॥२०९॥

अर्थ—भगवद्-भक्तोंके गुणोंके वर्णनको जो लोग निन्दाकी दृष्टिसे देखते हैं (गुणोंमें दोषोद्‌भावना करते हैं) उन्हें इस जन्ममें अनेक प्रकारके पेटके रोगोंका शिकार होना पड़ता है और उनका परलोक भी बिगड़ जाता है।

जो हरि प्राप्ति की आस है, तो हरिजन को गुन गाय।
न तरु सुकृत भुँजे बीज लों, जनम-जनम पछिताय॥२१०॥

अर्थ—यदि भगवानको प्राप्त करना चाहते हो, तो भगवद्-भक्तोंका गुण-गान करो, ऐसा न करनेवालोंके जन्ममें किए गए सब धर्म और पुण्य भुने हुए बीजकी तरह निष्फल हो जाते हैं और मनुष्यको जन्म-भर पछताना पड़ता है।

भक्त दाम संग्रह करैं, कथन श्रवन अनुमोद।
सो प्रभु कैं प्यारो पुत्र ज्यों, बैठे हरिकी गोद॥२११॥

अर्थ—जो 'भक्तमाल' का संग्रह एवं कथा और अनुमोदन करता है वह प्यारे पुत्रकी भाँति प्रभुकी गोदमें जा बैठता है।

अच्युत कुल जस यक बेरहूँ, जाकी मति अनुरागी।
उनकी भक्ति भजन सुकृत को, निहचै होय बिभागी॥२१२॥

अर्थ—अच्युत-कुल, अर्थात् वैष्णवोंके यशोगानमें जिसका एक बार भी अनुराग हो गया, वह व्यक्ति निस्सन्देह सब सन्तोंके भजन और पुण्यका भागीदार हो जाता है।

भक्तदाम जिन-जिन कथी, तिनकी जूँठनि पाय।
मो मतिसारु अच्छर द्वै, किनौं सिलौं बनाय॥२१३॥

अर्थ—वाल्मीकि, शुकदेव प्रभृति जिन-जिन महानुभावोंने भगवद्-भक्तोंके चरित्र वर्णन किये हैं, उन्हींका उच्छिष्ट पाकर मैंने 'भक्तमाल' की रचना की है। इसे एक प्रकारसे सिलौं (फसल काटनेके बाद खेतमें बिखरा हुआ धान्य) का संग्रह समझना चाहिए। मेरी तुच्छ बुद्धिका यह नमूना है।

काहू के बल जोग जग, कुल करनी की आस।
भक्त नाम माला अगर, उर बसो नरायनदास ॥२१४॥

अर्थ——किसीको योगका भरोसा है, किसीको यज्ञका, किसीको कुलका और किसीको अपने अच्छे कार्योंकी ही आशा होती है; पर मेरी तो यही अभिलाषा है कि गुरु श्रीस्वामी अग्रदेवजीकी कृपासे मुझ नारायणदासके हृदयमें भक्तोंकी यह माला बसे।

॥ मूल भक्तमाल समाप्त ॥

(गुरु-प्रशस्ति)

भक्ति-रस-बोधिनी

रसिकाई कविताई जीन्ही दीनी तिनि पाई भई सरसाई हिये नव-नव चाय हैं।
उर रंग-भवन में राधिकारवन बसें लसें ज्यों मुकुर मध्य प्रतिबिंब भाय हैं॥
रसिक-समाजमें बिराज रसराज कहैं, चहैं मुख सब फलैं सुख समुदाय हैं।
जन मन हरि लाल मनोहर नाँव पायो, उनहू को मन हरि लीनो ताते राय हैं॥६३०॥

अर्थ——टीकाकार श्रीप्रियादासजी अपने गुरुदेव श्रीमनोहरदासजीका प्रशस्ति-गान करते हुए कहते हैं——

मेरे गुरुदेव श्रीमनोहरदासजीने जिन-जिन व्यक्तियोंको रसिकता और कवित्व-भावना प्रदान की, सबको वह फलवती सिद्ध हुई——उनके हृदयमें सरसता तथा नवीन उत्साहका संचार हुआ। गुरुदेवके हृदय-रूपी रंग-भवनमें श्रीराधिकारमणजी उतने ही स्पष्ट-रूपमें अंकित थे जितनेमें कि दर्पणमें रूपका प्रतिबिम्ब रहता है। रसिक-मंडलीके मध्यमें विराजमान होकर जब आप उज्ज्वल शृङ्गार-रसका वर्णन करते थे तो उपस्थित समुदाय चकित होकर आपके मुखकी ओर एकटक देखा करता था और आनन्दमें फूला नहीं समाता था। श्रीकृष्णका 'मनोहर' नाम तो इसलिए है कि वे मनुष्योंका मन हरण करते हैं, परन्तु मेरे गुरु भगवानने प्रभु मनोहरलालका भी मन हर लिया, अतः वे सच्चे अर्थों में 'मनोहरदास' थे।

भक्ति-रस-बोधिनी

इनहीं के दास-दास 'प्रियादास' जानो, तिन लै बखानो मानो टीका सुखदाई है।
गोवर्द्धननाथ जू कें हाथ मन परयो ज्याको करयो वास वृंदावन लीला मिलि गाई है॥
मति अनुमान कह्यो लह्यो सुख संतनि, के अंत कौन पावै जोई गावै हिय आई है।
धर बड़ जानि अपराध मेरो क्षमा कीजै, साधु गुणग्राही, यह मानि मैं सुनाई है॥६३१॥

अर्थ——प्रियादास इन्हीं मनोहरदासजीके दासोंका दास है जिसने कि 'भक्तमाल' की यह सुखदायिनी टीका की है। उसका मन श्रीगोवर्द्धन नाथजीके हाथोंमें पड़ गया; फल यह

हुआ कि उसे वृन्दावनमें निवास करनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ और वहाँ रहते हुए भगवान और भागवतोंकी इस सम्मिलित लीलाका उसने वर्णन किया। जैसा उसने सन्तोंके मुँहसे सुना था, वैसा ही भक्तोंके चरित्रका उसने वर्णन किया। सन्तोंके चरित्रकी थाह कौन पा सकता है? सर्वांशमें उनके चरित्रका गान करना अत्यन्त कठिन कार्य है। अतः जितना भी अंश बुद्धिमें आया, उतना ही गाया। यदि इन कथाओंके कहनेमें कहीं कोई घटा-बढ़ी आगई हो, तो साधु-सन्त-गण मेरा अपराध क्षमा करें। सज्जन लोग केवल गुणोंको ही ग्रहण करते हैं, यह जान कर ही मैंने अपनी तुच्छ बुद्धिके अनुसार यह कथा सुनाई है।

भक्ति-रस-बोधिनी

कीनी भक्तमाल सुरसाल नाभा स्वामी जू नै, तरे जीव-जाल, जग जन मन पोहनी।
'भक्ति-रस-बोधिनी' सो टीका मति सोधनी है, बाँचत कहत अर्थ लागै अति सोहनी॥
जो पै प्रेमलछिना की चाह अवगाहि याहि मिटै उरदाह नैकु नैननि हू जोहनी।
टीका अरु मूल नाम भूल जात सुनै जब रसिक अनन्य मुख होत विश्वमोहनी॥६३२॥

अर्थ—श्रीनाभास्वामीजीने मधुर-रससे परिपूर्ण 'भक्तमाल' का निर्माण किया। यह माला मनके धागेमें गुँथकर रह जाती है। इसका श्रवण करनेसे अनेक जीवोंका उद्धार हो गया। उसीकी यह 'भक्ति-रस-बोधिनी' टीका है जिसके पठन-पाठनसे राग-द्वेषसे कलुषित बुद्धि भी शुद्ध हो जाती है। पढ़ने और अर्थ (व्याख्या) करनेमें यह बहुत सुन्दर लगती है। यदि किसीको प्रेमलक्षणा भक्तिकी अभिलाषा है, तो उसे चाहिए कि इसका निरंतर अनुशीलन करे। वैसे केवल मनके नेत्रोंसे देखने मात्रसे यह हृदयके सन्तापको दूर कर देती है। इस टीकाकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसको प्रेमसे सुनते समय यह स्मरण नहीं रहता कि हम मूलको सुन रहे हैं या टीकाकार-द्वारा की गई मूलकी व्याख्या को, और भगवत्-रसिक अनन्य महानुभावोंके मुखसे जब यह कही जाती है, तब तो सारा संसार मुग्ध हो जाता है।

भक्ति-रस-बोधिनी

नाभा जू को अभिलाष पूरन लै कियो मैं तो, ताकी साखि प्रथम सुनाई नीके गाइकै।
भक्ति विस्वास जाके, ताही कों प्रकास कीजै भीजै रंग हियौ लीजै संतनि लड़ाइकै॥
संवत प्रसिद्ध दस सात सत उनहत्तर फाल्गुन हो मास बदी सप्तमी बिताइकै।
नारायणदास सुख-रास भक्तमाल लै कै 'प्रियादास' दास उर बसो रहौ छाइकै॥६३३॥

अर्थ—श्रीप्रियादासजी कहते हैं—मैंने तो श्रीनाभा स्वामीजीकी अभिलाषाको ही पूरा किया है। उसकी साक्षी मैंने प्रारम्भमें ही गान करके बतला दी है। जिसके हृदयमें भक्त और भगवानके प्रति श्रद्धा हो, उसीको यह (टीका अथवा मूल) सुनानी चाहिए; अभक्त और नास्तिकको नहीं। यदि भक्ति-पूर्ण हृदय इसे सुनता है, तो वह प्रेम-रंगमें डूब जायगा और सन्तोंकी सेवा करेगा।

विक्रमीय सम्वत् १७६९ की फाल्गुन कृ० सप्तमीको यह 'भक्ति-रस-बोधिनी' टीका समाप्त हुई।

अन्तमें प्रियादासजीकी अभिलाषा है कि स्वामी श्रीनारायणदासजी (श्रीनाभा-स्वामी) आनन्द प्रदान करनेवाले 'भक्तिमाल' ग्रन्थ-सहित अपने सेवक मुझ प्रियादासके हृदयमें विराजमान रहें।

भक्ति-रस-बोधिनी

भगिनि जरावो लै कै, जल मैं बुड़ावौ, भावै सूरी पै चढ़ावौ, घोरि गरल पियायबौ।
बीछू कटवावौ, कोटि साँप लपटावौ, हाथी आगे डरवावौ, ईति भीति उपजायबौ॥
सिंह पै खवावौ, चाहौ भूमि गड़वावौ, तीखी अनी बिंधवावौ, मोहिं दुःख नहीं पायबौ।
ब्रजजन प्रान-कान्ह बात यह कान करौ, भक्ति सों विमुख ताको मुख न दिखायबौ॥६३४॥

॥ इति श्रीभक्ति-रस-बोधिनी टीका समाप्त ॥

अर्थ—ग्रन्थ-समाप्तिपर श्रीप्रियादासजी कहते हैं—व्रजवासियोंके प्राण-स्वरूप हे श्रीकृष्णचन्द्र ! मुझे चाहे आगमें डालकर जलाइये, जलमें डुबाइये, शूलीपर चढ़ाकर मार डालिये, जहर पिलाइये, बिच्छूसे कटवाइए, करोड़ों सर्पोंसे लिपटवाइये, हाथीके आगे पटक दीजिए, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, दुर्भिक्ष आदि प्राकृतिक बाधाओंसे डराइए, सिंहसे खवाइए, पृथ्वीमें गड़वाइए अथवा तीखे शस्त्रसे छिदवाइए—इस सबका मुझे कष्ट नहीं होगा; पर हे प्रभो ! एक बात यह मेरी मान लीजिएगा कि हरि-विमुख व्यक्तिके मुँह देखनेका पाप मुझे न भोगना पड़े।

॥ इति श्रीभक्तिरसायन भाषाटीका समाप्त ॥

फाल्गुन शु० रङ्गभरी ११, सम्वत् २०१६ वि०

॥ श्रीः ॥

श्रीभक्तनामावली (वर्णमाला-क्रमानुसार)

भक्तोंके नाम — पृष्ठ

भक्तमाल-साहित्य का विवरण

मिश्र-बन्धु-विनोद, प्रथम भागके पृ. १६०, १७२, और ३७६ में भक्तमालकी खोज सम्बन्धी सूचनायें देते हुए नागरी-प्रचारिणीके सन् १६११ तकके खोज विवरणोंका संकेत किया गया है।

मिश्रबन्धुओंसे पूर्व सेंगरजीने अपने शिवसिंह सरोजमें कवि संख्या ४०२ पर भक्तमालका उल्लेख किया है। उन्होंने भक्तमालके १०८ ही छप्पय माने हैं। सम्भवतः उन्हींके आधार पर डा० ग्रीयर्सन साहबने भक्तमाल और उनके रचयिताका उल्लेख करते हुए छप्पयोंकी कुल संख्या १०८ ही मानी है।£

नागरी-प्रचारिणीके सन् १६११ तकके खोज विवरणोंमें भक्तमालकी एक पुरानी प्रतिका संकेत इस प्रकार से मिलता है—

खोज विवरण सन् १६०६–११ सं० २११ 'नारायणदास (नाभादास) भगतिमाल, पत्र ८१ मान ६×५½ इन्ची प्रतिपत्र ६ पंक्ति परिमाण ६८३ अनुष्टुप् श्लोक, प्राप्ति स्थान—नीमराना राजा लाइब्रेरी। आदिमें इसके आरम्भिक ४ दोहे हैं जिन्हें "साषी" कहा है और अन्तमें ग्रंथ समाप्ति इस प्रकार दी है।

भगतिदास जिन-जिन कथी तिन-तिन भूंठनि पाइ।
मैं मतिसार अछिर है, कीन्हों सिलो बनाइ ॥१६३॥
काहू के बल जग जोगकौं कुल करनीको आस।
भगतनाम माला अगर उर बसो नरायनदास ॥१६४॥

इति श्री दासानिदास नराइनदास कृत भक्तमाल सम्पूर्णं। लिषितं रामदास प्रोहित पारीष। पठनार्थं साह हरीराम तत्पुत्र घासीराम संवत् १७७० वर्षे कातिक शुक्लपक्ष ६ गुरुवार।''

इसी प्रतिका संकेत खोज विवरण सन् १६२६–२८ पृ० ८०२ पर किया गया है। खोजमें प्राप्त मूल भक्तमालकी प्रतियोंमें सबसे पुरानी प्रति यही है। इसमें छन्दोंकी कुल संख्या १६४ दी गई है। इससे ज्ञात होता है २० छन्द आगेकी प्रतियोंमें बढ़ाकर लिखे गये होंगे। खोज-विवरण सन् १६०१ संख्या ५५ पर 'भक्तिरस-बोधिनी'का विवरण है। खोज-विवरण १६०२ सं० १२६ की प्रति वि० सम्वत् १८३५ की लिखी हुई है। खोज-विवरण सन् १६०४ में १३६-१३७ संख्यावाली प्रतियां क्रमसे संवत् १८४१ और १८६४ की लिखी हुई बतलाई गई हैं।

खोज-विवरण (ना० प्र० का०) सन् १६१२–१४ पृ० ५२ और सं० ३७ बी० में नाभाजीके भक्तमाल का उल्लेख है। ८½×५ इन्ची साइजके ४० पत्रोंवाली इस प्रतिका प्राप्ति स्थान—'गोस्वामी पुरुषोत्तमलाल जी वृन्दावन' बतलाया है। रचनाकाल और लिपि-कालका उल्लेख नहीं है। परिमाण ४२६ श्लोकोंका दिया हुआ है और आदि अन्तका सन्दर्भ भी दिया है, जिससे स्पष्ट होता है कि वह विवरण नाभाजी वाले मूल भक्तमालका ही है, किन्तु अन्तमें "इति श्रीभक्तिमाल चरणदासकृत सम्पूर्णम्", ऐसा उल्लेख किया गया है।

इसी विवरणके पृ० १६६ सं० १३६ बी० में "भक्तमाल-महिमा" का परिचय दिया गया है, जो १३½×६½ इन्ची ३ पत्रोंमें पूर्ण हुआ है और उसका परिमाण १०० अनुष्टुप श्लोकोंका है। रचना-काल लिपि-काल नहीं है। रचयिताका नाम पुरुषोत्तम और प्राप्ति-स्थान—"गोस्वामी बद्रीलालजी, वृन्दावन" दिया गया है। यह माहात्म्य दोहा-कवित्त-आदि ५८ छन्दोंमें पूर्ण हुआ है।

खोज-विवरण सन् १६१७–१६ पृ० २८८ सं० १३८ पर 'भक्ति-रस-बोधिनी' टीका-सहित सं० १८६१ की प्रतिका उल्लेख है, जो स्योपुरमें लिखी गई थी।

इसी विवरणके पृ० २५६ सं० ११७ पर १२×६ इन्ची २८० पत्रोंवाली भक्तमालकी प्रतिकी सूचना है। इसकी टीका ब्रजभाषा गद्यमें है। किन्तु परिमाण ६२८ श्लोकोंके समान ही दिया है।® प्राप्ति-स्थान—रघुनन्दन प्रसाद पाठक, मु. सिरसा, तहसील मेजा, जि. इलाहाबाद। सम्भवतः टिप्पणीयुक्त ही है।

खोज-विवरण सन् १६२०–२२ पृ० ३६४–६६ तक सं० १५५ ए० और बी० दो प्रतियोंका विवरण

देखिए—£ The Modern Vernacular Literature of Hindustan Page-27

® प्रचलित पाठवाली प्रतियोंके अनुसार भक्तमालका परिमाण ८०० अनुष्टुप छन्दोंके लगभग है।

है, जिनमें पहली सं० १८९९ और दूसरी १९३० की लिखी हुई है। दोनों ही प्रतियाँ 'भक्ति-रस-बोधिनी' टीका-सहित हैं, किन्तु पहलीका परिमाण ३२४७ और दूसरीका ८४२ ही बतलाया गया है।+

खोज-विवरण १९२३–२५ पृ० सं० १०६९ सं० २८९ बी० यह मूल भक्तमालकी प्रति संवत् १९१६ की लिखी हुई है, किन्तु १४×७ इञ्ची ६० पत्र, प्रतिपत्र पंक्ति २४ का परिमाण १२६० श्लोकोंका बतलाया है।

पृ० ११५८ सं० ३२३ ए० और बी० दो का विवरण है, पहली १८९७ और दूसरी १९१८ की लिखी हुई है। परिमाण क्रमशः ४६०२ और ३६७३ दिया है। पहली प्रतिके अन्तमें नाभाजीकी परम्परा और पीपाजीकी प्रशंसाका वर्णन है।

खोज-विवरण १९२६–२८ पृ० ५२६ संख्या ३६१ ए० और बी० दोनोंका लिपिकाल क्रमशः सं० १८६५ और १९१३ तथा परिमाण, ३७४० और १०७९२ है।

'बिहार राष्ट्र-भाषा परिषद्', पटनाके हस्त-लिखित पोथियोंके विवरण पृ० ८ में भक्तमाल रस-बोधिनी और उसपर लालदासकी टिप्पणीका भी उल्लेख है। लिपिकाल १९०७ १४×९३ इञ्ची साइजके ३५४ पत्रों वाली यह प्रति कई टीकाओंसे युक्त है। अन्त में लिखा गया है कि श्रीनाभास्वामीजीने जो मूल लिखा था उसकी प्रियादासजीने टीका की, श्री वैष्णवदासजीने टिप्पणी की, उसीको मैंने (लाल दासजीने) लिखा है। इसके आदि और अन्तमें कुछ पद्य हैं, जिनमें नाभाजीकी वन्दना एवं प्रशंसा की गई है।

दूसरी प्रति संवत् १९३४ की लिखी हुई है। इसके पृ० ९३ हैं। प्रतिपत्र पंक्ति २६ के लगभग हैं। यह भी लालदासकी ही टीकावाली है, किन्तु विवरणमें नाम लालचदास दिया है।

तीसरी प्रति १६ पत्रोंकी है और प्रतिपत्र पंक्ति ३० हैं। अंतमें अपनारायण और प्रियादासजीका सूक्ष्म परिचय भी दिया है। यह किसी कबीर पंथी सन्त द्वारा लिखी गई है।

पुरातत्त्वान्वेषण-मन्दिर 'जोधपुर' राजस्थानमें बीसों पुरानी प्रतियाँ हैं। इनमें पाठ भेद बहुत मिलता है। एक प्रति ग्रं. सं. ६५७१ में 'केशव भट्ट नर मुकुटमणि' इस छप्पय पर आठ कवित्त और कुछ पद भी हैं जो अन्य प्रतियोंमें नहीं मिलते। कुछ प्रतियोंमें प्रियादासजीकी टीकाके वे चार कवित्त जो कृष्णचैतन्यमहाप्रभुकी टीकाके थे भ्रमसे केशव भट्टजीके कवित्तके साथ जुड़ गये थे। इस प्रतिमें उनके अतिरिक्त जो अन्य कवित्त हैं वे सब प्रियादास जीकी टीकाके केवल एक कवित्तके ही विवरण स्वरूप हैं, अतः वे यहाँ दिये जाते हैं—

"गये सब दौरि जहाँ काजी की है पौरि
अति कियौ तिन सोर अबु लीजिये पुकार है।
आजु कोउ ऐसो एक आयौ है जु मथुरा में
संग हैं हजार शिष्य तेजको न पार है॥
लेकै भरकारे मरकारे भाँति भाँति कह्यौ
क्योंरे अधर्मी हिन्दु धर्म कियौ ख्वार है।
होहु तुम रांड कियो पुरुषारथ भांड जोइ
हरिसौं विमुख ताको नहीं वार पार है॥
काजी अति डर्यौ हिये पर्यौ खरभरौ
यह कौन आय अर्यौ अब करौं को उपाय मैं।
रचे भूत बैताल मूंठि डीठि माया जाल
सुदर्शन किये ख्याल सहज सुभाय मैं॥
असुर के तन मैं लै अग्नि लगाय दई
दई दई कहैं वई काहा कियो हाय मैं।
ये तो हैं बड़े परतापी मैं तो रह्यौं बड़ो पापी
यह मन थापी, अब परौं भट पाँय मैं॥
आय पांय पर्यौ नीर नैननितें ढर्यौ
बैन कहै मर्यौ मर्यौ प्रभु मेरी रक्षा कीजिये।
तब स्वामी कह्यौ तुम निकृष्ट लह्यौ
तोहि लेंहू मैं बचाय एक सीख सुनि लीजिये॥
फेरि जो अधर्म ऐसो करौ मैं न कर्म सब
मेटौंसब धर्म सदा सीतल ह्वै जीजिये।

+ प्रचलित पाठके अनुसार 'भक्ति रस-बोधिनी' टीका-सहित भक्तमालका परिमाण ३३०० श्लोकोंके लगभग है।

और जिते बादी हरि विमुख प्रमादी तिन्हैं
 ल्याये मत मारग मैं नीधा रस भीजिये ॥
जिते हिन्दु तुरकनि ने तुरक से करि डारे
 मरे हुते मारे ते लौ स्वामी जू पै आये हैं।
प्रभु कह्यौ आवो अब दुष्ट जिनि पावो
 केशवराय गुन गावो जमुना जल मैं न्हाये हैं ॥
जिन्हीं गये वस्त्र ल्याये तिनकों लै पहिराये
 हिन्दू के चिन्ह पाये जग जस गाये हैं।
तुरक लिया कोन धरि आये सब पांय परि
 प्रभु दया करि नारि नर दरसाये हैं ॥

इस प्रतिके पृ० १३१ में 'भक्ति-रस-बोधिनी' टीका के पश्चात् भक्तमाल सुननेके अधिकारी और अनधिकारियोंके सम्बन्धमें चार कवित्त हैं और एक छन्द नाभाजीकी स्तुतिका है।

इसी प्रकारका पाठ ग्रन्थ सं० ७८३१ वाली प्रतिमें है। लालदासजीने प्रियादासजीकी टीकापर यह एक टिप्पणिरूपमें टीका की होगी, ऐसा प्रतीत होता है। ऐसी प्रतियाँ और भी यत्र-तत्र बहुतसी हैं जिनमें मूल और टीकाके कवित्तोंके पाठमें बहुत विभेद देखा जाता है। हिन्दी विद्यापीठ आगरामें एक प्रति देखी गई है, जो संवत् १८२७ आश्विन सुदी ८ को दिल्लीमें लिखी गई थी। इस प्रतिमें श्रीनाभाजीके (१४८ वें) छप्पयकी टीकाका पहला कवित्त प्रचलित पुस्तकोंके पाठसे सर्वथा भिन्न है, वह यहाँ दिया जाता है—

आगे गुरु गेह यों सनेह सौं लै सेवा करैं,
 धरैं हिये सांचो भाव अति मति भीजियै।
टहल लगाये लोग होत नाना सुख भोग,
 दूरि भये श्रम लोग सेवा करि कीजियै ॥
पागे उर दृढ़ भाव आग्यो जग जसवाव,
 मन-बच-क्रम काय लै प्रत्यक्ष कीजियै।
धाम पथराय सुत पाय कैं प्रनाम करौ,
 धरी ब्रजभूमि उर बसे रस पीजियै ॥
 (कवित्त सं० ५५४)

राजकीय सरस्वती-भवन, उदयपुरके प्राचीन हस्त-लिखित ग्रन्थोंके संग्रहमें भक्तमालकी पाँच प्रतियाँ हैं।* जिनका लिपिकाल क्रमशः इस प्रकार है—१-सम्वत् १७२४, २-सं० १७८६ (सचित्र), ३-सं० १८६६, ४-सं० १९३२ और पाँचवीं प्रति बालकरामजीकी टीका सहित है।

श्रीबिहारीजीका बड़ा मन्दिर मु० हस्तेड़ाके संग्रह से इस अङ्कके सम्पादनमें तीन प्रतियोंका उपयोग हुआ है—

१—आँडुसरमें लिखित—लिपिकाल सं० १८३६।

२—हस्तेड़ामें लिखित—लिपिकाल सं० १८३१ इसके अन्तमें समस्त छन्दोंका सङ्कलन ३३।२१८।६३३ इस प्रकार दिया गया है।

३—वृन्दावनमें वैष्णव केशवदास द्वारा सं० १७७३ में लिखित प्रतिके अनुसार वि० सं० १८१० से पूर्व वैष्णव रूपदास द्वारा सूरत में लिखित।

पं० श्रीउदयशङ्करजी शास्त्री, हिन्दी विद्यापीठ, आगराके निजी संग्रह की हस्तलिखित तीन प्रतियों का इस अङ्कमें उपयोग किया गया है—उनमें दो का लिपिकाल नहीं है। एक प्रतिमें लिपिकाल सं० १८६७ ज्येष्ठ सु० ११ बुधवार उल्लिखित है। सं० १८२७ और १७२९ की लिखी हुई प्रतियाँ भी आपके द्वारा देखनेको मिलीं।

इनके अतिरिक्त शास्त्रीजीके संग्रहसे एक प्रति वि० संवत् १९४६ की मुद्रित प्रति तथा मार्तण्डबुवा-कृत-"भक्त-प्रेमामृत" नामक मराठी टीका जो सम्वत् १९३८ फाल्गुन सुदी ८ मङ्गलवार को पूर्ण हुई थी, मिली है। सं० १९८४ में चित्रशाला छापा-खानामें इसका मुद्रण हुआ था।

महीपति कृत—भक्तलीलामृत, संतलीलामृत और भंजरीमाला (दूसरा तीसरा खण्ड) तथा अङ्ग्रेजीमें अनूदित "भक्तलीलामृत", भक्तविजय, इन सबमें यद्यपि अधिकतर दक्षिणके सन्तोंके ही चरित्र हैं, तथापि कुछ उत्तर भारतके भक्तोंका भी उल्लेख हुआ है।

---

* पत्र संख्या एफ० बी० जी० २०३। दि० २५-१०-१९५८ ई० को इन प्रतियों की सूचना वहाँ के अध्यक्ष श्री मोतीलालजी मेनारिया के एक पत्र द्वारा प्राप्त हुई थी; किन्तु दुर्भाग्यवश बहुत कुछ प्रयत्न करने पर भी इन पुस्तकों के दर्शन नहीं हो सके, न विवरण ही प्राप्त हो सका। अतः इस अंक में उनका उपयोग नहीं किया जा सका है।

खड़िरामकृत—'भक्तविरदावली' (पद्यात्मक) अपूर्ण। 'भक्तसुमिरणी प्रकाश' एवं श्रीहनुमानप्रसाद पोद्दार लिखित 'भक्तसुमन' 'भक्तसरोज' 'भक्तरत्नाकर' 'भक्तसप्त रत्न', 'मुस्लिम सन्तोंके चरित' आदि बीसों पुस्तकें हैं।

आपके संग्रहमें प्राप्त सं० १८६२ में लिखित चाल-बालजी कृत भक्तमालसे विशेष सहायता प्राप्त हुई है।

भक्तमाली पं० श्रीजगन्नाथप्रसादजी, वृन्दावनके यहाँसे सम्वत् १८४० की हस्त-लिखित प्रति प्राप्त हुई

बाबा श्रीकृष्णदासजी कुसुमसरोवर, गोवर्धन द्वारा एक संस्कृत पद्यानुवादवाली प्रति मिली है, जो आपाजी पंतकी प्रेरणासे बालगणेश द्वारा सम्वत् १६४३ में रची गई थी। रचयिताने स्वयं उसका उल्लेख इस प्रकार किया है—

खनागाष्टादशशतके, शके हि माघस्य राकायाम्।
पर्वणि समर्पितं ते, सौन्दर्याब्धे मया कृत्वा॥

यह संस्कृतानुवाद-मार्तण्डबुवाके मराठी अनुवाद के पश्चात् किया गया था और सम्भवतः उसकी यह प्रतिलिपि० वि० सं० १६५४ में किसीने की होगी। ज्ञात होता है इस प्रतिके अन्तमें किसीने "सम्वत् १८५४ मार्ग० वदी १३ भवेत् कुशलम्" ऐसी पंक्ति लिखकर लिपिकालमें भ्रान्ति उत्पन्न करना चाहा है। अपनी लिपिको मूल लिपिसे मिलानेके लिये स्याही का मेल और अक्षरोंकी मोड़ आदि कई प्रयत्न किये गये हैं, किन्तु रचनाकारके उल्लेखसे विपरीत होनेके कारण उसका यह सब रहस्य खुल जाता है।

दूसरी प्रति महाराजा ईश्वरीसिंहजी द्वारा संस्कृत में अनूदित करायी हुई और तीसरी प्रति व्रजजीवन-दासकृत भक्तमाल आपसे मिली, किन्तु ये दोनों ही प्रति अपूर्ण हैं।

श्रीवृन्दावनमें भी कई स्थानोंमें हस्तलिखित प्रतियाँ हैं, जैसे श्रीगिरिधारीजीके मन्दिर पुराना शहर, वेष्टन नं० २ सं० १; पडरोनाबाबावाली कुंज, बजाजा, सटीक भक्तमाल, वेष्टन नं० ३०/२ और भक्तमालके हस्त० वेष्टन नं० ३।५, एवं श्रीरसिक बिहारीजीके मंदिरकी प्रतियाँ; तथा गो० श्रीराधाचरण पुस्तकालयमें हस्त-लिखित प्रतियोंका संग्रह; किन्तु इन सबका प्रयोग इस भक्तमालमें नहीं किया गया है।

श्रीसर्वेश्वर कार्यालय, श्रीनिकुञ्जके प्राचीन संग्रहमें भी कई प्रतियाँ हैं। उनमें कुछ अपूर्ण हैं। इन प्रतियोंमें सं० १८६६ वाली प्रतिका इस अङ्कमें विशेष उपयोग किया गया है।

मूल भक्तमालकी सबसे पुरानी प्रति, जो यहाँपर उपलब्ध है, वह एक २६ ग्रन्थोंके संग्रहमें सम्मिलित है। इस संग्रहकी पूर्ति सं० १७७६ श्रावण कृष्ण पक्ष १३ शनिवारको रामचन्द्र दुबे द्वारा हुई थी। इसमें कुल ३६२ पृष्ठ हैं, जिनमें ४१ से ६३ पृष्ठ तक भक्तमाल है। अनुमानतः यह प्रति श्रीप्रियादासजी द्वारा टीका किये जाने से पहले की है।

टीकाकार और टिप्पणिकार

(१) श्रीप्रियादासजीने सं० १७६९ में भक्तमाल पर 'भक्ति-रस-बोधिनी' टीका लिखी थी, जो आज सर्वत्र प्रसिद्ध हो चुकी है।

(२) श्रीबालकरामजीने सम्वत् १८३३ में दोहा, चौपाई, कवित्त, सवैया आदि विभिन्न छन्दोंमें 'भक्तदाम-गुण-चित्रनी' नामक एक टीका की थी। उसका विशेष प्रचार नहीं हो पाया। यह प्रति भी पण्डित उदयशङ्करजी शास्त्री से ही प्राप्त हुई।

(३) वैष्णवदासजीने सम्वत् १८४४ के लगभग 'भक्तमाल-बोधिनी' नामक टीका भक्तमाल माहात्म्य 'तथा' भक्तमाल प्रसंग लिखे थे।ॐ सम्भवतः वही टीका आजकल टिप्पणिके रूपसे प्रचलित है।

(४) वैष्णवदासजीके पश्चात् लालदासजीने भी टिप्पणि-रूपमें ही टीका लिखी होगी।

(५) भक्तमालके टिप्पणिकारोंमें एक नाम

ॐ मिश्र बन्धु-विनोद, द्वितीय भाग पृ० ८२६, स०१९५०, खोज से इन का समय १७८९ भी मिलता है। अन्न त्रैवार्षिक रिपोर्ट।

जमालका भी लिया जाता है। मिश्र-बन्धु-विनोद प्रथम भाग पृ० ३४८ सं० १३२ पर उनका जन्म सं० १६०२ और रचना-काल १६२७ बतलाया गया है। जमाल-पचीसी और भक्तमालकी टिप्पणी—ये दोनों उनके साधारण श्रेणीके गूढ़ काव्य माने गये हैं।+

भक्त-नामावलियाँ—

पुस्तक-रूपसे भक्त-नामावलियोंके लिखनेवालों में पहला नाम ध्रुवदासजीका और दूसरा नाम भगवत-रसिकजीका लिया जाता है। ध्रुवदासजीने सं० १६८१ से ८६ के मध्यमें भक्त-नामावली लिखी। लगभग १०८ महानुभावोंके नामोंकी यह माला बनाई गई होगी, किन्तु श्रीरूपकलाजीने श्रीराधाकृष्णदासजीके लेखके आधार पर उसमें १२२ नाम माने हैं।×

भगवत-रसिकजीका कविता-काल मिश्रबन्धुओंने सं० १६२७ माना है, किन्तु वह उनकी भ्रांति है। उनका समय १८५० के लगभग है। उनसे पूर्व तो महाकवि किशोरदासजीने भक्त-नामावलीमें अपने गुरुदेव श्रीपीताम्बरदेवजी तक १५० से भी अधिक महानुभावोंका स्मरण किया है।

यद्यपि किशोरदासजीने नाभाजीका नामोल्लेख किया है,किन्तु नाभाजीकी प्रचलित भक्तमालके अनुक्रमसे उन्होंने नामावली नहीं दी। ध्रुवदासजीने नारायण नामसे ही नाभाजीका उल्लेख किया है।

भक्त-सुमिरणी—

श्रीप्रियादासजी आदिके द्वारा भक्तमालके अनुक्रमसे भक्त-सुमिरिणियाँ बनाई गई हैं। सम्वत् २००७ में बाबा कृष्णदास कुसुम-सरोवर द्वारा एक भक्तसुमिरिनी प्रकाशित हुई है। किन्तु खोज-विवरणोंमें कहीं भी प्रियादासजीकी इस कृतिका उल्लेख नहीं मिलता। हाँ, प्रियादासजीके एक शिष्य चैनरायजीकृत भक्तसुमिरिणीका पता अवश्य चलता है,जिसका रचनाकाल सं० १७६६ माना जाता है।* सम्भव है यह वही भक्तसुमिरिणी हो या प्रियादासजीकी यह कृति कहीं छिपी हुई पड़ी रही होगी। कुछ समीक्षकोंका कहना है कि 'भक्ति-रस-बोधिनी' टीकाकार प्रियादासजीकी कृति नहीं, उनकी टीका के साथ यह मेल नहीं खाती, अतः यह प्रियादासजी कोई और ही रहे होंगे। ऐसा अनुमान इसके साथ प्रकाशित चाह-वेलीसे लगाया जाता है।

सन् १९१७–१९ के खोज-विवरणसे गो० राधाचरणजीके पुस्तकालयसे जिस चाह-वेलिका विवरण लिया गया था उसमें मुद्रित चाह-वेलीके आरम्भिक ८ दोहे नहीं थे।

एक प्रियादासजी रीवांमें भी हो गये हैं। नाम साम्यके कारण सम्भव है ये दोनों रचनायें भक्ति-रस-बोधिनीकार प्रियादासजीकी मान ली गई हों एवं पुष्टिके लिये वन्दनाके आठ दोहे और जोड़ दिये गये हों।

संस्कृत भक्तमाल—

यह भक्तमाल वेणीराम शर्मा मैथिलके पुत्र चन्द्रदत्त मैथिल द्वारा रची गई थी। नाभाजी और प्रियादासजीके आधार पर ही यह संस्कृत पद्यानुवाद किया हुआ है। गोविन्द ठाकुर आदि कुछ मैथिल भक्तोंके चरित्र विशेष हैं। १४६ सर्ग और ६७०० श्लोकोंका यह सुन्दर चयन है।

श्रीबालगणककृत और जयपुर-नरेशकी प्रेरणासे रचित—ये दो सं० भक्तमाल और भी हैं।

भक्त-चरित्रावली—

खोज विवरण सन् १९३२–३४ पृष्ठ १६२ पर इसका उल्लेख मिलता है। यह ब्रह्माजीकी कथा से आरम्भ होती है। ३६ पृष्ठोंमें भूमिका, ईश्वर तथा विद्याकी विवेचना और भक्तिकी महिमा है। प्राप्ति स्थान—नारायणसिंह ठाकुर, बरसाना।

भगवतमुदितजीकृत, 'रसिक-अनन्यमाल' उत्तम दासजीकृत 'अनन्यमाल' एक राधावल्लभ भक्तमाल और बतलाई जाती है। श्रीवृन्दावनदासजीकृत रसिक अनन्यचरित्रावली में लगभग दोसौ भक्तोंकी कथा हैं।

भक्तकल्पद्रुम—

पडरौना नरेश श्रीईश्वरी प्रताप रायने उर्दू भक्तमालका ही यह हिन्दी-रूपान्तर किया है। चौबीस

+ यह प्रति अभी देखनेमें नहीं आई है। सं० १६२७ में जब भक्तमालकी रचना ही नहीं हो पाई थी तब टिप्पणी कैसे? यह विचारणीय है। × भक्तमाल छप्पय ११७ की टीका। मिश्रबन्धुविनोद प्रथम भाग पृ० ३४८ सं० १३३। * मिश्रबन्धुविनोद द्वितीय भाग पृ० ५०२ सं० ६३५।

निष्ठाओंमें २६६ भक्तोंका चरित्र-वर्णन किया गया है। नाभाजीकी भाँति इसमें भी किसी-किसी भक्त का नाम दो-दो निष्ठाओंमें आगया है।

इन्हीं २४ निष्ठाओंके अनुसार रामकोट जि० सीतापुर-निवासी पं० जियालाल त्रिपाठीने सं० १९४९ में 'भक्ताम्बुधि' नामकछन्दोबद्ध भक्तमाल रची थी, जिसमें ७४८६ छन्दोंमें दोसौ साठि भक्तोंका परिचय दिया गया है। भक्तकल्पद्रुम और 'भक्ताम्बुधि' में ८।६ भक्तोंकी संख्या का अन्तर है।

'भक्तमाल और अरिल्ल भक्तमाल'

ये दोनों सम्भवतः एक ही व्यक्ति ब्रज-जीवनदासजीकी रचनायें हैं। इन दोनोंका सूक्ष्म विवरण ना० प्र० स० काशीकी खोज विवरण (रिपोर्ट) सन् १९०९ और ११ पृ० ६० सं० ३४ ए० और बी० में दिया गया है लिपिकाल नहीं है रचना काल संम्वत् १९१४ बतलाया गया है। प्राप्ति स्थान—'पं० महावीर प्रसाद गाजीपुर' लिखा है।

अरिल्लभक्तमाल १४२ अरिल्ल छन्दोंमें पूर्ण हुआ है। प्राप्ति स्थान—गोस्वामी गोवर्धनलालजी राधा-रमणका मन्दिर त्रिमुहानी मिरजापुर, दिया गया है।

उत्तरार्द्ध-भक्तमाल—यह स्वर्गीय बाबू श्री-भारतेन्दु हरिश्चन्द्रजीने लिखी थी। जो मुद्रित हो चुकी है। गोस्वामी राधाचरणजी वृन्दावनवालों ने एक भक्तमाल लिखी थी, किन्तु ये दोनों २० वीं शताब्दीकी रचनायें हैं। वृन्दावनके गोपालराय कविने वि० २० वीं शताब्दी के प्रारम्भमें एक भक्त-मालकी रचना की थी। जो गो० राधाचरणजीके पुस्तकालय वृन्दावनमें बतलाया जाता है।

बङ्गला भक्तमाल—बाबा कृष्णदासजी जिनका मुख्यनाम लालदास बतलाया जाता है उन्हींकी रची हुई है। इसके रचने का उद्देश्य स्वयं ग्रन्थ-कारने व्यक्त कर दिया है—

> यथा यथा प्रियादास संक्षेपे ले अति।
> बरनिला ता प्रवेशय साधारणमति॥
> सेहि सेहि कोन कोन स्थाने किछु-किछु।
> बिस्तार करिया कहि तार पाछू पाछू॥

अर्थात् प्रियादासजीके अनुसार होते हुए भी इसमें उनसे अधिक भक्तोंका चरित्र दिया गया है। रचनाकाल और लिपिकाल का उल्लेख नहीं मिलता है।

नागरीदासजीकी पदप्रसंग-मालामें भी यद्यपि भक्तोंकी नामावली दी है जिसमें लगभग ३६ भक्तों की नामावली है, किन्तु उनका कोई स्वतन्त्र संकलन नहीं किया गया।

मलूकदासजीके ज्ञान-बोधमें भी ६०-६५ भक्तोंके नामोंका उल्लेख मिलता है। मिश्रबन्धु विनोदमें उनका कविताकाल १६८५ सम्वत् लिखा है।ॐ एक दूसरे मलूकदासजी (क्षत्रिय साधु) और हो गये हैं, उन्होंने भक्तविरुदावली आदि की रचना की थी। उनका कविताकाल १८९४ माना है।‡

ग्रन्थ—भक्तमाल

वि० सं० १७७७में दादू-पन्थी श्रीराघोदासजीने एक भक्तमाल लिखा था। उस पर आगे चल कर सं० १८५८ में चतुरदासजीने छन्दोबद्ध टीकाकी है। श्रीमङ्गलदासजी दादू विद्यालय, जयपुर, देवकीनन्दन पुस्तकालय, कामवन और पुरातत्त्व मन्दिर, जोधपुर (ग्रन्थ सं० ११६४४) आदि स्थलोंमें क्रमशः सम्वत् १८७८, १९३२, १८८० की लिखी हुई प्रतियाँ मिलती हैं, इस भक्तमालमें चतुस्सम्प्रदायी वैष्णव-भक्तोंके पश्चात् संन्यासी, जोगी, जैनी, बौद्ध, यवन फकीर, नानक-पन्थी, कबीर, दादू निरंजनी आदि सम्प्रदायों के भक्तोंका भी उल्लेख है।

राघवदासजीके पश्चात् सं० १८०९ में बाल-कालजी ने ५११ छप्पय और ३७ दोहोंमें एक विस्तृत भक्तमाल लिखा, जिसमें नाभाजी और राघवदासजीके भक्तमालोंमे वर्णित भक्तोंसे बहुत अधिक भक्तोंका नामोल्लेख किया है। इसकी सं० १८६२ की लिखी हुई, प्रति पं० श्रीउदय-शङ्करजीके संग्रहसे प्राप्त हुई और ग्रन्थ संख्या १०८६६, १०८६६, १०८७२ और ११०१२ यह चार प्रतियाँ जोधपुर पुरातत्त्व-मन्दिरमें देखी गई, अन्तिम दो प्रतियोंका लिपिकाल क्रमशः सम्वत् १८८१ और १८७२ है।

ॐ 'मिश्र बन्धुविनोद द्वितीय भाग पृ० ५०३ सं० ३८४। ‡ वही द्वितीय भाग पृ० ७७२ सं० ६४०।

सम्वत् १८०७ में हंसुआ फतेपुरके चन्ददासजीने भक्त-विहारकी रचनाकी थी, जिसमें भक्तमाल वर्णित भक्तोंके अतिरिक्त और भी कुछ भक्तोंका वर्णन किया गया है।

ना० प्र० स० काशीके सन् १९२०-२२ के खोज-विवरण पृ० १८६ सं० २६ बी० पर इसका परिमाण ८१५६ श्लोकोंका बतलाया है और प्राप्तिस्थान, 'पंडित भैरूँप्रसाद हंसुआ (फतेपुर)' दिया गया है।

उसकी एक प्रति प्रयाग हिन्दी साहित्य सम्मेलन के संग्रहालयमें भी (वेष्टन सं० १३१३ पुस्तक संख्या १९९२) है, किन्तु उसमें लिपिकाल नहीं दिया गया है।

हंसुआ वाली २६२ पेजकी प्रतिके ६१ ही अनुराग लिखे हैं। और 'लाखन डोम' तक ही भक्तोंकी सूचि दी गई हैं। किन्तु साहित्य सम्मेलनवाली प्रतिमें अनुराग और भक्तोंके चरित्र अधिक हैं।

रामरसिकावली—रीवाँ नरेश महाराजा रघुराजसिंहजीने संवत् १९२१ में 'रामरसिकावली' भक्तमाल दोहा, चौपाई, छन्दोंमें लिखा था। इसमें बीसवीं शताब्दीके कुछ भक्तोंकी कथायें और भी जोड़ दी गई हैं। अन्तमें बघेलवंशागम निर्देश भी सम्मिलित कर दिया गया है, ज्ञात होता है—इस भक्तमाल की रचना अधिकतर युगलानन्दजीके द्वारा सम्पन्न हुई है।

'रसिकप्रकाश-भक्तमाल'—सम्वत् १८६६ में श्रीजीवारामजी (युगलप्रिया जो रामचरणजी के शिष्य थे) ने इसकी रचना की थी। ये छपरा जिले के महात्मा शङ्करदासजी के पुत्र थे। इन्होंने २३५ छन्दोंमें ११५ रसिक-भक्तोंका परिचय दिया है। सम्वत् १९१९ में उनके शिष्य श्रीजानकी रसिकशरणजी ने ६१६ कवित्तोंमें प्रस्तुत भक्तमाल की विस्तृत टीका लिखी थी। हुलिया स्वामी कृत एक टीका वृन्दावन में और मिली है। एक भक्तनामावली 'नृपतिराम' ने भी बनाई थी, ना० प्र० खोजविवरण सन् १९१७-१९ पृ० १४५ सं० ५१ सी. में इसे ध्रुवदासजीकी कृति लिखा गया है, किन्तु उनकी नामावलीसे वह भिन्न है, मूल विवरणमें नृपतिरामका स्पष्ट उल्लेख भी है।

इसी विवरणके पृ० २५६ सं० ११७ पर भक्तमाल की एक गद्यात्मक टीका का विवरण और दिया गया है। पृ० ३०१ सं० १४४ डी. पर रामदयालकृत "भक्ति-रस-बोधिनी" का विवरण छपा है, जिसके ४ पत्रोंमें १२० श्लोकोंका परिमाण दिया है, किन्तु उसका विषय भक्ति-सम्बन्धी ही है।

इसी प्रकार गुमानीलाल कायस्थ, हरिवर कायस्थ, रामरसरंगमणिजी, मियाँसिंह रामदयाल, लालदास आदि की क्रमशः 'भक्तमाल' 'हरिभक्ति-प्रकाशिका', 'वालिक-प्रकाश', 'भक्त-विनोद', 'भक्त-सुमिरणी', 'भक्त-उरवशी' आदि भक्तमाल सम्बन्धी रचनायें हैं।

कीर्तिसिंह का गुरुमुखी भक्तमाल, तपस्वीरामजी सीतारामीय का "रमूजे माह वफा", भानुप्रताप तिवारीका "भक्तमाल अङ्ग्रेजी खर्रा" और डा० विलसन और ग्राउस साहब के लेख भी उल्लेखनीय हैं। अन्वेषण द्वारा भक्तमाल सम्बन्धी और भी बहुतसा साहित्य उपलब्ध हो सकता है।

इस अङ्कके सम्पादनमें भक्तमाल और उसके उपयुक्त साहित्यकी छानबीन करते समय हस्त-लिखित पुस्तकोंकी बहुत खोज की गई। सैकड़ों पुरानी प्रतियोंका पता चला, कुछ सज्जनोंके निजी संग्रहोंमें भी इस सम्बन्धकी सामग्रीका पता चला, उनमें बहुतसे सज्जनोंने दिखलाई और बहुतसे सज्जनोंने बहाने बाजियाँ भी की। बीकानेर, अलवर आदि के बहुतसे राजकीय संग्रहालयोंमें भी खोज की गई।

पुरातत्त्व मंदिर जोधपुरमें इस सम्बन्ध की अच्छी सामग्री संप्राप्त है। वहाँकी कुछ प्रतियोंका ब्यौरा ऊपर दिया जा चुका है। लिपिकाल की दृष्टि से वहाँ की अवशिष्ट कुछ भक्तमालकी प्रतियों की एक सूचि अन्वेषकों सुविधार्थ यहाँ दी जाती है—

ग्रन्थ सं०—२२७४, ५४००, ५४०६, ५४७६, ६५७१, ६६३६, ७३२२, ७८३१, ८६२७, ११०४३,
लि० का०सं०—१८३६, १९वीं श. नहीं, १९००, १८६४, १८७०, १९२५, १८५६, १९१२, १८७६,
ग्रंथ संख्या—११५४२, ११५५२, ११५६२, १२१५, १२७४, ६०५४, ११५४४।
लि० का. सं०—नहीं, १८४०, १८९५, १९वीं शता. १८४२, १८०७, १८वीं शताब्दी।

श्रीभक्तमालके छप्पयोंमें आये हुए ग्रामोंकी तालिका

★

ग्रामोंके नाम	छप्पय-संख्या	ग्रामोंके नाम	छप्पय-संख्या
अयोध्या	९८	थानेश्वर	६४
आगरा	१६७	द्वारिका	१०१, १०१
आमेर	११६	ध्रुवक्षेत्र (मथुरा)	१४७
उड़ीसा	७१, १०१	नरहर (आगड़)	१११
ओड़ीवलियो (आड़ावला)	१६६	बद्रीनाथ	१०१
ओली	१६६, १३९	बंवेरैं (बंवैरैं)	१६४
फरौली	११४	बंशीवट	१९९
कालख	१४९	बांगोली	१५७
काशी	३५	बिलौंदा	१२८
कासोर	१५७	बूंदी	१०६
कुंजन (वृन्दावन)	१९९	बूड़िया	१९१
कुंडा	१७७	बृन्दावन	१५५, १५६, १६०, १९९
कुकस	१८२	बेरछा	१६९
खुरदहा	५३	भेला	१६६
खयारा	१६५	मथुरा	११७, १३९, १८९, १८८, १९९
गलता	१८५	मधुपुरी (मथुरा)	१५२
गम्भीर	१०५	मांडौठी	१०६
गुढ़ीला	१०५	मालपुर	१६४
गुज्जरघर (गुजरात)	१०८	मेड़ता	१०६, ११७
गुनौरे	१४९	वच्छवन	१९६
गोकुल	१९९	रामपुर	११०
गोमा	१४९	शेषशायी	१४७
गोवर्द्धन	१९९	सरयू (अयोध्या)	९८
चटथावल	१०६	सलखान	१०६
चटियाना	१०६	सांगानेर	१४९
जमुना (वृन्दावन)	१९९	सींपला	१०५
जैतारण	१४९	सुनपथ	१०६
जोधपुर	९८	सुहेला	१९६
जोबनेर	१०६	हुण्डियासराय	१४५
टोड़ा	११७	हरषांपुर	१६४
डोड़ा (टोड़ा)	१४९	हुसंगाबाद	१९१

श्रीभक्तमाल-माहात्म्य

*

दोहा—श्रीनारायणदास सु कृति भक्तनि की माल। पुनि ताकी टीका करी प्रियादास सु रसाल ॥१॥
ताकी साधुनि के यहैं कहत महातम बानि। तैं ग्रंथनिमत आधुनिक परचे रस की खानि ॥२॥
भक्तन की महिमा कही कपिल सु रिषि भगवान। नारायन सौं विकनि हू मैं कहा करौं बखान ॥३॥

तृतीये कपिलवाक्यं—त एते साधवः साध्वी सर्वसंगविवर्जिताः। संगस्तेष्वथते प्रार्थ्यः संगदोष-हरा हि ते ॥१
पंचमे ऋषिवाक्यं—महत्सेवां द्वारमाहुर्विमुक्तेस्तमोद्वारं योषितां संगिसंगम्।
महान्तस्ते समचित्ताः प्रशान्ता विमन्यवः सुहृदः साधवो ये ॥२॥
दशमे कृष्णवाक्यं—सन्तो दिशंति चक्षूंषि बहिरर्कसमुत्थितः। देवता बांधवाः सन्तः संतमात्माहमेव च ॥३
नवमे नारायणवाक्यं—अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतंत्र इव द्विज। साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तिर्भक्तजनप्रियः ॥४
प्रथमे—तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम्। भगवत्संगिसंगस्य मर्त्यानां किमुताशिषः ॥५॥

दोहा—सब संसार सु आरसी गन महिमा प्रतिबिम्ब। रविहग बिधि सूझै नहीं त्यौं अधिको वह बिम्ब ॥६
और सार अंक श्रवन कौ अतिफल हरि निरधार। सो याके श्रोता कहैं महिमा अगम अपार ॥७
भयो यहै हरि पातिकी कोई सुनि हरषाइ। तहाँ दोइ इतिहास हैं सुनियें चित्त लगाइ ॥८

चौपाई—(श्री) प्रियादासजू के सुनिमकर। श्री गोवर्धननाथ नाम कर।
ते श्री भक्तमाल रंग छये। पढ़ि सांभरि की रामति गये ॥९॥
मग में श्री गोविंद देव जो। तिनके दरशन को गमने सो।
तहाँ श्री राधारमण पुजारी। हरिप्रिय रसिक अनन्य सुभारी ॥१०॥
तिनि सु तिनें राखे अटकाय। भक्तमाल सुनिबे के चाय।
होन लगी तहाँ भक्त सुमाल। तहाँ बिराजत गोविंदलाल ॥११॥
कछुक दिनां लों बाँचत भए। पुनि सांभरि की रामति गये।
यही कौल कीनों निरधार। करि हैं पूर्ण बगदती बार ॥१२॥
रामति करि जब बगदे सही। काल्हि कथा कहिहौं तब कही।
पै कहाँ ते रहि सँभार सु नांहीं। तब श्रीजू निशि सुपने मांहीं ॥१३॥
कही पुजारी जू सौं यही। हमनि सुनि मन ह्वैकै रह्यो।
श्री रैदास भक्त की अहो। कथा भई अब आगे कहौ ॥१४॥

दोहा—सुनि सुपुजारी के हगन पानी बह्यो अपार। याके श्रोता आपु हैं यह कीनौं निरधार ॥१५॥

चौपाई—सुनि दूजो इतिहास सुनो अब। श्री प्रियादास टीका कीनों तब।
तब ब्रज परिकरमा कों गए। फिरत फिरत होडिल जाइ छए ॥१६॥
जहाँ श्री लालदास सु महन्त। जन सेवी अनन्य रसवंत।
सब समाज तिनि राख्यौं सही। भक्तमाल कहिये यह कही ॥१७॥
सुनन लगे सब लोग सभागी। भक्तमाल तहाँ हौंन सु लागी।
इक दिन तहँ निशि आए चोर। सबै बस्तु लीनी ढक-टोर ॥१८॥

ठाकुर हू कौं लेते गए । हरि ही के ये कौतुक नए।
प्रात भयें सब ही दुख छाये । श्रीप्रियादासजी अति अकुलाये ॥१९॥
कथा कही न रसोई कीनी । बहुरची या दुख में मति भीनी।
ठाकुर कौं ए करत न प्यारे । तातें चोरन संग पधारे ॥२०॥
तब ती श्रीमहन्त यों कही । हरि तो त्यागि गये मोहि सही।
तुमहू त्याग करेंगे यों पें । मेरी गति कहा ह्वै है तो पें ॥२१॥
तातें हरि इच्छा मन दीजें । कथा कहो हर सोई कीजें।
तब श्रीप्रियादास यों कही । अब तें कथा न कहि हौं सही ॥२२॥
श्रीनाभा जू यों बरनी पुनि । ज्यौं जनकी प्यारे हरि गुनगनि।
त्यौं जन कौं गुन प्यारे महा । है हरि हू कौं कहिये कहा ॥२३॥
यह सब अभी झूंठ झलकात । तातें कही सुमिथ्या बात।
यौं सब दिन सब भूखे रहे । हरि तब चोरनि सौं कहे ॥२४॥
मोहि जहां को तहां करि आवौ । नातर तुम बहुतें दुख पावौ।
दुहरे दुःख परे है मो पर । चौहर दुख डारूंगो तुम पर ॥२५॥
इक यो भक्त रहे दुख मांहीं । पुनि मैं भक्तमाल सुनि नांहीं।
सुनि उठि चोर उठे अधराति । ठाकुर को लै हरषत गात ॥२६॥
गावत बजावत नांचत आए । संग सबै सामिग्री लाए।
प्रात होंत पायौ नहीं सही । इक द्विज आइ सबनि सौं कही ॥२७॥
चोर तिहारे ठाकुर लावत । गावत बजावत नाचत आवत।
सुनि सब साध निपट सुखाये । गावत नाचत सनमुख धाये ॥२८॥
सुधि बुधि गई प्रेम में छाये । आइ परसपर लपटत भाये।
चोर कछु कहि सकें न बतियां । दृग भरि आवत फाटत छतियां ॥२९॥
आंसू पोंछि कछुक जब कहे । सो सुधि आवै पुनि जकि रहै।
कहन लगे हरि इह है कही । दुहरे दुःख परे मोपै सही ॥३०॥
तुम चौहरी दुख अब भली । ह्वै है नातर मुहि लै चलौ।
इक तौ मोहि भयौ दुख यही । मेरे जन भूखे रहे सही ॥३१॥
दूजौ बडो दुःख यह लहौ । भक्तमाल इह सुनी न अहो।
सुनि इह बात सबै मुरझाए । भई मूरछा हिएं सिराए ॥३२॥
गृह लाए बड उतसव कीन्हौं । सब को मन जन चरितन भीनौं।
ताके श्रोता हैं हरि आप । सबनि जानि इह तजि दई ताप ॥३३॥

दोहा—हाथ कंकन हि आरसी कहा दिखावै माहि। हरि श्रोता बिन सबन के यौं मन अटके नाहि ॥३४

चौपाई—श्रोता वक्ता को फल सोई । कापै कहि आवत है जोई।
जो लिखाय उर राखै याहि । अंत समै हरि प्राप्ति कराहि ॥३५॥
तहां एक सुनियै इतिहास । आयो कोउ प्रियादासजी पास।
तिनि कही भक्तमाल जो आइ । हे प्रभु दीजै मोहि लिखाइ ॥३६॥

तिनन काहि कहिहौ सुखरासि । कहन सुनन कछु है अभ्यास ॥
तिन कही मैं कछु कहि नहिं जानौं । सुनिबे हू की गति न पिछानौं ॥३७॥
आपु कही तौ करि हौं कहा । तिनि इक बात कही तब महा ॥
ए महाराज मैं भुविविहारी । गृहकानन मैं अटक्यौ भारी ॥३८॥
साधु संग को नहिं कोई गरी । ताते मैं इह मन मैं करी ॥
भरतीबार हिये पर धरि हौं । इतने साधुन संग उबरि हौं ॥३९॥
सुनि इह बात नेत्र-भरि आये । बहुत बड़ाई करि सुख छाये ॥
ताकौं पोथी दई लिखाय । सो लै घर गमन्यौं सुख पाय ॥४०॥
गृहकानन मैं अटक्यो भारी । आई ताहि मीचु भयकारी ॥
जम के दूतन आय दबायौ । दयो त्रास पुनि कंठ रुकायौ ॥४१॥
बेटा पोते ढिग बिललात । नैंन सैंन दै कही सुबात ॥
भक्तमाल की पोथी लाय । मो छाती सौं देहु लगाय ॥४२॥
तिन उठाय पोथी रसभरी । तुरत पिता के हिय पै धरी ॥
धरतहि जम के दूत भजे यौं । सूरन के आगे कायर ज्यौं ॥४३॥
कंठ खुल्यौ नैननि जल ढार्यौ । हरे कृष्ण गोविन्द उचार्यौ ॥
पुनि सब भक्तन दरसन कीनौं । हिये मांझ आनन्द सुभीनौं ॥४४॥
सुत हरषत पुनि पूछी अहो । कहा भयौ सो हम सौं कहो ॥
तिन कही जमदूतन दुख दीनौं । भक्तनि सब उबारि मैं लीनौं ॥४५॥
नामदेव रैदास कबीर । धना सैन पीपा कविधीर ॥
ठाढ़े मो सौं कहत हैं बात । हमरे संग आओ है तात ॥४६॥
सो मैं अब इनके संग जैहौं । जमदूतन के मुख न चितैहौं ॥
इह कहि राम-कृष्ण उच्चारत । नैंन मूंदि हरि कौं उर धारत ॥४७॥
प्रान त्यागि हरि कौं मिलि गयौ । बेटनि कौं अति ही सुख भयौ ॥
तब तैं तिननि नियम इह भज्यौ । तिन कोऊ कुल मैं तन तज्यौ ॥४८॥
तिन यह धर्यौ ग्रन्थ हिय लै यौं । तुलसी चरनामृत मुख मैं ज्यौं ॥
तिन कौ कुटम बनन कौ आयौ । तिननि सबै यह चरित सुनायौ ॥४९॥
सो हम लिखन कियौ है सही । और कही मन मै कहा रही ॥
शेष महेश बिरंचि के गुन गावैं । तेऊ चरन-रेनु मन लावैं ॥५०॥

एकादशे भगवद्वाक्यं—'निरपेक्षं मुनिं शान्तं निर्वैरं समदर्शिनम् ।'

आपु तें अधिक दास कौं गावैं । जनकी महिमा कहा कहि आवैं ॥
अब याके श्रोता वक्ता सुनि । उत्तम तू न दोइ इक में पुनि ॥५१॥
छप्पय—पढ़िपाठ धन चाह निपुन श्रोता नहिं जानैं । प्रश्न ताहि उत्तर न देहि नाहिन तनमानै ॥
सुनि बाधिकै बात मूर्ख हिय धरि न सकैं पुनि । सबै शास्त्र पढ़ि लिये सार नाहिन लियौ गुनि ॥
पूछत बार रिसाय अति छिमा नहीं जाके दिलैं । बहुत बार श्रोता करै सो ऐसो वक्ता मिलै ॥५२॥
चौपाई—इम ये दोष कहे वक्ता के । पुनि और सु बरनौं श्रोता के ॥५३॥ (३)

दोहा—व्यास वक्ता सोइ जानियें जाकें लोभ न काम । श्रोता सो पहचानियें ताकें तनमन स्याम ॥५[illegible]

स्कन्दपुराणे श्लोक—प्रवराश्रातका हंसाः शुकमीनादयस्तथा अवरा वृकभूरंडवृषोष्ट्राद्याः प्रकीर्तिताः ॥[illegible]

छप्पय—अन्यमनस्क दृग डोल पदन खेदक असमंजस । स्थित अधीर श्रुति मंद पलक झपकें निद्रा वश
प्रश्न प्रसंग न मिलत मधुर अनुमोदन अक्रिय । वाद रसिक रस छद्दर अनभिज्ञ अलापत अप्रिय
रसिक अनन्य विलास मत थाव कहत अनभै सुकृत । दस दोष रहित श्रोता मिलै तो उज्ज्वल [illegible]
वरषै अमृत ॥५६

(वार्ता—पदच्छेद कहा—कहा मेरे नैनन में घर कियो स्याम, श्रोता कहै—चूल्हो चाकी क[illegible]
धरै होइगो । प्रश्न प्रसंग न मिलैगो—वक्ता कहै रास पचाध्याई, श्रोता कहै जानकी कैसें हरी ।

चौपाई—श्रीप्रियादास अति ही सुखकारी । भक्तमाल टीका विस्तारी ।
तिन की पौत्र परम रँग भीनों । नाम वैष्णवदास सु कीनों ॥५७॥
तिन हरि साधु कृपा तैं कीनी । भक्तमाल महिमा कहि दीनी ।

दोहा—भक्तमालके ग्रंथकों लेत भक्त चलि आय । भेष विमुख हिग ही रहै रहे कीच लपटाय ॥५८॥

चौपाई—जो या माहातम में चित लावैं । सो तो परमधाम पद पावैं ॥
अब श्रीभक्तमाल मन देई । ताते वही निरंतर सेई ॥५९॥

कवित्त—होलिर कहायो, औ झडूला हू कहायो, लाल लालाजी कहायो फिर दूलहै कहायो रे,
दास जू कहायो पुनि बाबा जू कहायो, बड़ो बाबा जू कहायो, तब बाजि नहीं आयो रे ।
मृतक कहायो पुनि प्रेत हू कहायो देव पित्र हू कहायो सबरेन मिलि गायो रे,
कार्कों को कहियत निपट नि[illegible] मन, बैठि संत संग हरि भक्त न कहायो रे ॥६०॥
कौन काको तात-मात कौन काको बंधु भ्रात, जौलौं इह देह तौलौं नेह नातो अपनों,
नारी के छुवत हू तो नारी हू तौ न्यारी होति तऊ न अनारी छांडै नारी-नारो जपनों ।
करिकैं सम्हार पुरुषोत्तम बिचारि देखौ इह संसार सब सोवत को सपनों,
छांडि गिरधारी जो तैं और दरबारी सौ तू हाथ लै कुठारी पाव मारतु है अपनो ॥६१॥
ऐ रे मन मेरे तोमें औगुन घनेरे सब लोभ ही के चेरे संग लोभ ही के जारि [illegible]
पुन औ कलिश मित्र चित्र के से दरसन है कहै तु तुम्हें एक सांची तेरी हारि है ।
जाहि तू न जानत न मानत मरोर भरयौ डोलतु है काची और कौन की उबारि है,
होगी सोर सिव्वाति करैंगे जम बिदति मैं मुदित के आयें कोऊ मदति न करि है ॥६२॥
रे मन तू मोह मैं समोइबो करत फेरि लोभ की लपेटन मैं रोइबो करत है,
काम के अधीन जोइ जोइबो करत फेरि क्रोध बस जीवन बिगोइबो करतु है ।
भने अमरेश बीज बोइबो करत जैसो होइबो करत तैसो ढोइबो करतु है,
ऊपर की देह ताहि धोइबो करत नित सोइबो करत दिन खोइबो करतु है ॥६३॥
धदक करीले कोट विकट मवासे तेरे कुंजर तुरंगन के पुंज हू बिलाइगी,
जोरि धरयौ जोर सौं करोरनि को धन सो तो धरनी की धसक पताल ठहराइगो ।
फेरि ऐसो समयो न पावै पावै हरिनाम कहि कादर कपूत क्रूर पाछैं पछिताइगो,
खाइ लै खवाइ लै रे सरचि खुसी सौं खूब एक दिना अकेलो पसारैं हाथ जाइगो ॥६४॥

दोहा—जम करि मुहकर हर पर्यो हहरि हहरि चित लाई । विषय तृषा परिहरि अजहूं नर हरि के गुन गाइ ॥६५॥

इति श्रीभक्तमाल माहात्म्य संपूर्ण वैष्णवदासकृत समाप्त । सं० १८८९ मिती महावदी ६ लिखितं श्रीवृन्दावन मध्ये ।